❀ णमो सुअस्स ❀

जैनशास्त्रमाला -पञ्चम रत्नम्

श्री विपाकसूत्रम्

संस्कृत-च्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानविनोदिनीहिन्दीभाषाटीकासहितं च

— अनुवादक —

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के आचार्यप्रवर जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर,

साहित्यरत्न परमपूज्य **श्री आत्मारामजी** महाराज के सुशिष्य

श्री ज्ञानमुनि जी

— संशोधक —

संस्कृतप्राकृतविशारद पण्डितरत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज

— प्रकाशक —

जैनशास्त्रमाला कार्यालय

जैन स्थानक, लुधियाना (पंजाब)

प्रथमावृत्ति १०००
महावीराब्द २४८०
विक्रमाब्द २०१०



लागत १०)
धर्मप्रचारार्थ—
मूल्य ६)

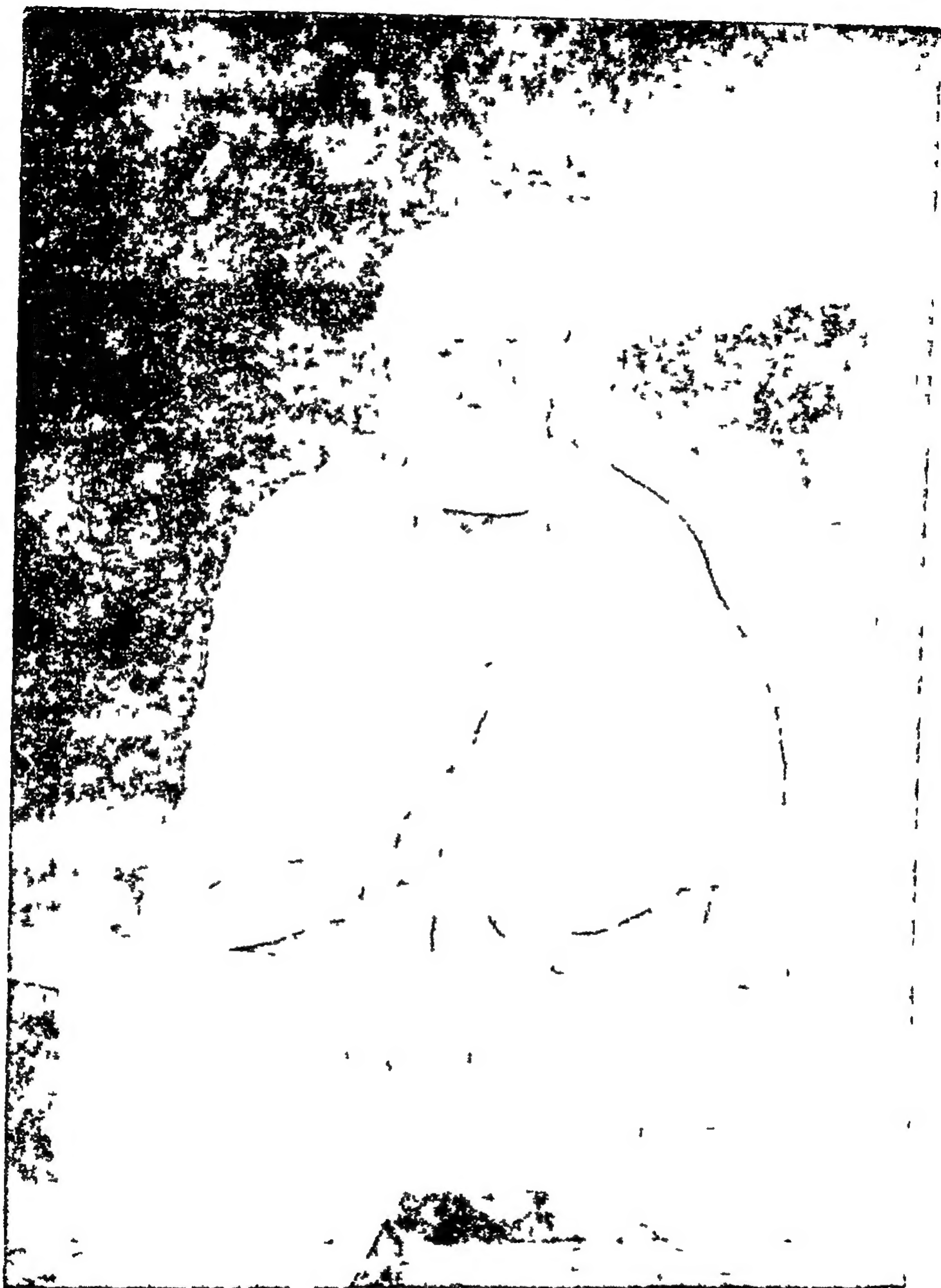
प्रकाशक—
जैन शास्त्रमाला कार्यालय
जैन स्थानक, लुधियाना
(पंजाब)

प्राप्तिस्थान—
१—जैनशास्त्रमाला कार्यालय
जैन स्थानक, लुधियाना (पंजाब)
२—लाला गूजरमल प्यारेलाल जैन
चौडा बाजार, लुधियाना (पंजाब)

मुद्रक—
१—सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रैस
निज़ाम रोड, लुधियाना

२—बाग इलैक्ट्रिक प्रैस
लालूमल स्ट्रीट, लुधियाना.

❁ महामहिम श्री स्वामी शालिग्राम जी महाराज ❁



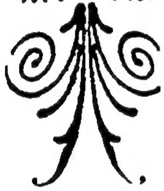
(चित्र केवल परिचय के लिए है)

जन्म सम्वत् १९२४	दीक्षा स० १९४६	स्वर्गवास स० १९९९
भदलवड (पैप्सू)	खरड (अम्बाला)	लुधियाना (पंजाब)

पूज्यपाद, सद्गुणरत्नाकर, बालब्रह्मचारी, पुनीतचरित्र, मुनिपुङ्गव, परमतेजस्वी, परमयशस्वी, ज्योतिर्विद्, प्रवर्तकपदविभूषित, सघहितैषी, परमसयमी, आदर्श मुनिराज, स्वनामधन्य, क्षमाश्रमण श्री १००८ श्री स्वामी **शालिग्राम** जी महाराज की सेवा मे ससम्मान—

समर्पण

आप श्री ने मुझ बाल पर जो अनुपम उपकार किये हैं, उन्हे अक्षरों मे व्यक्त करने को यह लेखनी असमर्थ है। ससार के समस्त धर्मों से विशिष्ट, विलक्षण अथच प्रामाणिक जैनधर्म को प्राप्त करने का पुनीत अवसर यह अनुचर आप के ही मगलमय अमृतोपदेशों से उपलब्ध कर सका है। अधिक क्या इस द्विपद जन्तु को साधुता के पथ का पथिक बनाने का श्रेय भी आप ही को है। आप श्री ने इसे अन्तर्जगत को आलोकित करने वाले शास्त्राभ्यास जैसे दिव्य आलोक के दान देने का अनुग्रह किया है। आप श्री के उपकारों की कहा तक गणना की जाए? वे सख्या की परिधि से बाहिर हैं। आप श्री के उपकारों से उऋण होने मे यह अनुचर तनिक भी समर्थ नहीं है।



आप के उन संस्मरणीय उपकारों का ही आभार मानता हुआ आप का यह चरणदास श्री विपाकश्रुत की "आत्मज्ञानविनोदिनी" नामक यह हिन्दीभाषाटीका आप श्री की सेवा में सादर समर्पण कर रहा है। कृपया इसे स्वीकार कर दास को कृतार्थ करने का अनुग्रह करते हुए भविष्य मे भी इसी भाँति जैन आगमों के अनुवाद करने की शक्ति प्रदान करें।

प्रार्थी—

—ज्ञानमुनि

महामहिम मुनिराज श्री शालिग्राम जी महाराज

[जीवन और साधना की एक झाँकी]

——.०——

पूज्यपाद प्रात स्मरणीय गुरुदेव **श्री शालिग्राम जी महाराज** का जीवन एक आदर्श जीवन था।

पजाब (पैप्सू) के भदलवड गाव मे आप का जन्म हुआ था--संवत् १६२४ मे। पिता श्री कालूराम जी वैश्य-वश के मध्यवित्त गृहस्थ थे। माता मीठे स्वभाव की एक मधुरभाषिणी महिला थी। दोनो ही सहज-शांतिमय और छल-प्रपचहीन जीवन बिताते थे। आर्थिक स्थिति साधारण थी, परन्तु सतोप और धैर्य जैसे अद्वितीय रत्नो के मालिक वे अवश्य थे।

- कालूराम जी तीन पुत्रो के पिता हुए।

हमारे महाराज जी उन मे से मझले थे। शैशवकाल मे ही आप का नाम शालिग्राम पडा और समूची आयु आप इसी नाम से प्रख्यात रहे। उन दिनो किसे पता था कि आगे चल कर यह वालक एक विरक्त महात्मा के रूप मे सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त करेगा ?—वहुतेरे इस से पथप्रदर्शन पाएगे ?

छ वर्ष की आयु मे वालक शालिग्राम को अपने गाव की ही पाठशाला मे दाखिल कर दिया गया। विद्याग्रहण करने मे आप आरम्भ से ही दत्तचित्त रहे पहले अक्षराभ्यास, फिर आरभिक पाठावली का अध्ययन।

पढाई का क्रम इस प्रकार आगे चला। शालिग्राम जी वचपन की परिधि पार कर के किशोरावस्था मे आ पहुचे।

जैसे जैसे उम्र वढती गई, ज्ञान और अनुभूति के दायरे भी उसी तरह वढते गये। शालिग्राम की अन्तर्दृष्टि पाठ्यपुस्तको अथवा अध्यापको एव सहपाठियो तक ही सीमित नहीं रह पायी। वह अपने आप भी वहुत कुछ सोचा करते।

प्रकृति उन की उस उच्छृखल आयु मे भी कोमल ही थी। राह चलते समय यदि कोई कीडी पैर के नीचे आ जाती तो शालिग्राम की अन्तरात्मा हाय-हाय कर उठती, स्नायुओ का स्पदन रुक सा जाता। गाडी मे जुते वैल की पीठ पर चावुक पडने की आवाज सुनकर उन का हृदय कापने लगता। अपनी उम्र के दूसरे लडको पर मा-वाप की पिटाई पडती तो हमारे चरित्रनायक की आखो के कोर गीले नजर आते। लडको का स्वभाव चचल होता है—मन चचल, आखे च चल, कान और होठ चचल, हाथ-पैर चचल! दिल और दिमाग चचल! परन्तु शालिग्राम अपनी चपलताओ पर काबू पा गये थे। इन के मु ह मे कभी दुर्वाच्य नहीं निकलता था! खेल के समय भी कुत्ते या वछडे को या साथी को कंकड फेंक कर इन्हो ने कभी मारा नहीं होगा!

वुद्धि वडी तीव्र थी, पढ़ने मे जी खूब लगता था। शेप समय मा-वाप की आज्ञाओ के

पालन में और साधुओं-संतों की परिचर्या में बीतता था। अध्यापक और पास-पड़ोस के बड़े-बूढ़े लोग भी शालिग्राम को आदर्श बालक मानते थे। उन के लिए सब के हृदय में समान स्नेह था।

समझदार और योग्य जान कर पिता ने शालिग्राम को धंधे में लगा लिया। धंधे में वह लग तो गये लेकिन पढ़ाई का जो चस्का पड़ गया था नहीं छूटा। स्वाध्याय और संतों की संगति अवकाश का समय वह इन्हीं कामों में लगाते। आगे चल कर ज्योतिष से उन्हें काफी दिलचस्पी हो गई थी। यह अभिरुचि शालिग्राम जी महाराज के जीवन में हमने अंत तक देखी है।

माता और पिता ने विवाह के लिए तरुण शालिग्राम पर बेहद दबाव डाला, परन्तु वह टस से मस नहीं हुए। इस विषय में उन्हें साथियों ने भी काफी-कुछ समझाया-बुझाया, लेकिन शालिग्राम जी ब्रह्मचर्य-पालन के अपने संकल्प से तिलमात्र भी नहीं डिगे।

पीछे एक अद्भुत घटना घटी। शालिग्राम कहीं से वापस आ रहे थे।

साथ में और कोई नहीं था, भाई था। रास्ते में श्मशान पड़ता था।

वहां संयोग से उस समय एक चिता जल रही थी।

दोनों भाई चिता के क़रीब से गुजर कर आगे बढ़े

फिर एक अजीब-सी आवाज आने लगी सू सू सू सू, फू फू फू फू ऐसा प्रतीत हुआ कि चिता के अंगारे उन दोनों का पीछा कर रहे हैं। आगे आगे दो तरुण पथिक और उनके पीछे पीछे चिता के अनगिनित अंगारे!! आगे आगे जीवन और पीछे पीछे मृत्यु!!!

शालिग्राम इस से जरा भी नहीं घबराये। अपने हृदय को उन्हों ने बे-काबू नहीं होने दिया।

भाई लेकिन बुरी तरह डर गया था। उस के हाथ-पैर तो कांप ही रहे थे, कलेजा भी मुंह को आ रहा था। चला नहीं जाता था उस से। स्थिति बड़ी विषम हो गई थी

आखिर शालिग्राम जी भाई को घर उठा लाये।

कुछ दिन बाद शालिग्राम ने अपने दूसरे भाई के मुंह पर मक्खियां भिनभिनाती देखीं वह समझ गये कि अब यह भी नहीं जीएगा।

इन घटनाओं का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि शालिग्राम को अपने पार्थिव शरीर के प्रति घोर विरक्ति हो गई।

अब शीघ्र से शीघ्र साधु हो जाने का संकल्प उन्हों ने मन ही मन ले लिया।

२० वर्ष की आयु थी, समूचा जीवन सामने था।

मसें भींग रहीं थी यह विशाल और विलक्षण संसार उन्हें अपनी ओर चुमकार रहा था, पुचकार रहा था बार बार।

सौभाग्य से उन्हें महामहिम वयोवृद्ध श्री स्वामी जयरामदास जी महाराज की शुभ संगति प्राप्त हो गई। महाराज जी ने इस रत्न को अच्छी तरह पहचान लिया। पहुंचे हुए एक सिद्ध को एक साधक मिला।

अन्ततो गत्वा संवत् १९४९ में खरड़ (जि० अम्बाला, पंजाब) में श्री शालिग्राम जी ने जैन-मुनि की दीक्षा प्राप्त की। उक्त श्री स्वामी जयराम दास जी महाराज ही आपके दीक्षागुरु हुए।

तत्पश्चात् आप का अध्ययन नये सिरे से आरम्भ हुआ।

थोड़े ही समय मे आपने आगमों का अनुशीलन पूरा कर लिया। मन, वचन और कर्म—सभी दृष्टियों से शालिग्राम जी भगवान् महावीर की अहिंसक एव परमार्थी सेना के एक विशिष्ट क्षमतासपन्न सैनिक बन गए।

आपके अंदर सेवा-भावना तो बिल्कुल अनोखी थी। चाहे छोटी उम्र के हो, चाहे बडी उम्र के—सभी प्रकार के साधु आप की सेवाओं के सुफल प्राप्त करते रहे। क्या रात, क्या दिन, और क्या शाम, क्या सुबह बीमार साधुओ की परिचर्या मे आपको अपने स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का ध्यान नहीं रहता था।

आचार्य **श्री मोती राम जी महाराज** और गणावच्छेदक **श्री गणपति राय जी महाराज** की सेवा मे आपके जीवन का पर्याप्त काल व्यतीत हुआ।

जैनधर्मदिवाकर, आचार्यप्रवर हमारे महामान्य शिक्षक **पूज्य श्री आत्मोराम जी महाराज** आपके ही शिष्य है।

इन पूज्य श्री को देखकर हमे प्रात स्मरणीय उन श्री शालिग्राम जी महाराज के अनुपम व्यक्तित्व का कुछ आभास अनायास ही मिल जाता है। कबीर ने कहा है—

निराकार की आरसी, साधो ही की देह।
लखो जो चाहे अलख को, इन मे ही लखि लेह॥

और मै तो परमश्रद्धेय श्री शालिग्राम जी महाराज के ऋणो से कभी उऋण हो ही नहीं सकता। आपकी कृपा न हुई होती तो इन आखो के होते हुए भी मे आज अंधा ही रह जाता। त्याग और विराग के इस महा मार्ग पर आप ही मुझे ले आये पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज "जीवित विश्वकोष" कहे जाते है, इन का अन्तेवासित्व मुझ मन्दमति को आप की ही अनुकपा से हासिल हुआ, अन्यथा मै आज कहा का कहां पडा रह जाता।

महाराज जी के अतिम दिन लुधियाना मे ही बीते। कई एक रोगों के कारण आपकी अतिम घड़िया बड़ी कष्टमय गुजरीं। पर महाराज की आतरिक शाति कभी भंग नहीं हुई, मनोबल हमेशा अजेय रहा। इन का अतिम क्षण प्रशांत धीरता का प्रतीक बनकर आज भी इन आखो के सामने मौजूद है—

नोदेति, नाऽस्तमायाति, सुखे दुःखे मुखप्रभा।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य, स जीवन्मुक्त उच्यते॥

इस प्रकार आप एक जीवन्मुक्त महात्मा थे। आप का शरीरान्त सवत् १९९६ मे हुआ। उस समय आप की सेवा मे श्रीवर्धमानस्थानाकवासी श्रमणसघ के आचार्य परमपूज्य गुरुदेव प्रात स्मरणीय श्रीआत्माराम जी महाराज और इन की शिष्यमडली, मत्री परमपूज्य श्री पृथ्वी चन्द जी म०, गणी श्री श्यामलाल जी म०, कविरत्न श्री अमरचन्द जी म० आदि मुनिराज भी उपस्थित थे।

—ज्ञान मुनि

प्रकाशकीय निवेदन

जैन शास्त्र प्राकृत भाषा में है। प्राय साधुसमाज ही इसे पढ़ता या पढ़ाता है। गृहस्थसमाज प्राकृत भाषा का जानकार न होने के कारण प्राय शास्त्रों में प्रतिपादित जीवननिर्माण के महान् तत्त्वों के बोध से वञ्चित ही रहता है। अत हमारे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जैनागमो का हिन्दी भाषा में अनुवाद होना चाहिए। अनुवाद भी इतना सुन्दर, सरल एव सरस हो कि हिन्दी का साधारण जानकार व्यक्ति भी उससे बोध प्राप्त कर सके। इस कार्य के लिये शास्त्रों के मर्मज्ञ किसी विद्वान मुनि के सहयोग की आवश्यकता थी। सौभाग्यवश हमें श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसघ के आचार्य जैनधर्मदिवाकर साहित्यरत्न जैनागमरत्नाकर परमपूज्य श्री आत्माराम जी महाराज का मधुर सहयोग प्राप्त हो गया। आचार्य श्री जी ने इस पुण्यमय आगमसेवाकार्य में सहयोग देने का हमें पूरा विश्वास दिलाया। बस फिर क्या था ? आचार्य श्री के आशीर्वाद से काम चालू कर दिया गया।

हम नहीं समझ पाते हैं कि आचार्य श्री जी महाराज के चरणो में किन शब्दो में अपनी कृतज्ञता प्रकट करे ?, आचार्य श्री जी ने हमारी समाज पर हिन्दी भाषा में नया चिन्तन प्रदान करने का जो महान अनुग्रह किया है उस के लिए हम आचार्य श्री के सदा ऋणी रहेंगे।

हम ने जो ऊपर अपने विचारो का प्रदर्शन किया है, उन्हे कार्यरूप में परिणत हुए लगभग १८ साल हो चुके हैं। उस समय हिन्दी का क्षेत्र व्यापक नहीं था किन्तु भारत के स्वतत्र होने के अनन्तर आज तो हिन्दी भाषा ने राष्ट्रभाषा का उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। परिणामस्वरूप अब हिन्दी भाषा किसी प्रान्त या जाति की भाषा न रह कर समूचे भारत की भाषा बन गई है। ऐसी दशा में हिन्दी का प्रचार एव प्रसार व्यापक होना स्वाभाविक ही है। अब हिन्दी में साहित्य के सभी तत्त्व अपना उचित स्थान प्राप्त करते जा रहे हैं। हिन्दी किसी भी दृष्टि से अब अपूर्ण नहीं कही जा सकती। हिन्दी की इस परिपूर्णता से आज उसकी लोकप्रियता पहले की अपेक्षा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अत हिन्दी में प्रकाशित साहित्य ही आज अधिकतया लोकभोग्य हो सकता है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

जैन शास्त्रमाला कार्यालय को स्थापित हुए १८ वर्ष हो चुके हैं। यह कार्यालय आगमो के प्रकाशन में दिन प्रतिदिन उन्नति एव प्रगति करता जा रहा है। यह हमारे लिए सन्तोष एव हर्ष की बात है। शास्त्रमाला ने सर्वप्रथम श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र का प्रकाशन कराया था। जैनसमाज ने उस का आशा से बढ़कर सम्मान करके हमें पर्याप्त प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप शास्त्रमाला श्री अनुत्तरोपपातिकदशा, श्री उत्तराध्ययन सूत्र (तीन भाग) तथा श्री दशवैकालिक सूत्र के अनन्तर श्री विपाक सूत्र का प्रकाशन कराने में भी सफल हो सकी है। आर्थिक विषमता एव असुविधा होने पर भी शास्त्रप्रकाशन करते रहना जैन शास्त्रमाला कार्यालय का ही काम था। हर्ष का स्थान है कि शास्त्रमाला अपने उद्देश्य की पूर्ति में आशातीत सफलता प्राप्त करती जा रही है।

शास्त्रों के प्रकाशन का श्रेय हमारे शास्त्रमाला के प्रबन्धको की अपेक्षा उन दानी सज्-

नुभावों को अधिक है जिन के सत्प्रयास एवं धन के सदुपयोग से शास्त्र प्रकाशित हो सके हैं। धन के स्वामी तो लाखों मिल सकते हैं किन्तु धार्मिक कार्यों में धन लगाने वाले कोई विरले ही होते हैं। हमें प्रसन्नता है कि वर्षों से शास्त्रमाला कार्यालय दानी महानुभावों के पुण्यमय मधुर सहयोग से आगमसेवा का लाभ उठाता आ रहा है।

जैन शास्त्रमाला कार्यालय के सदस्य को ६२५ रुपये देने होते हैं। इन रुपयों द्वारा शास्त्रों का प्रकाशन होता है। प्रकाशित शास्त्र शास्त्रमाला द्वारा बेचे जाते हैं। शास्त्रविक्रय से प्राप्त धन द्वारा पुन शास्त्रों का प्रकाशन किया जाता है। शास्त्रमाला के ये सभी काम व्यवस्थित तथा नियमबद्ध किए जाते हैं।

शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित शास्त्रों का कितना सम्मान हुआ और वे कितने लोकप्रिय बने? इस का उत्तर सक्षेप में इतना ही दिया जा सकता है कि जिस काम का आरम्भ आठ व्यक्तियों में हुआ था, आज उस में ५८ व्यक्ति अपना सहयोग दे रहे हैं, जिनमें कई एक बहिनें भी हैं। सदस्यों की संख्या का बढ जाना ही शास्त्रमाला की लोकप्रियता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। शास्त्रमाला के सदस्यों के पवित्र नाम नीचे की पंक्तियों में दिए जाते हैं—

१ श्री खजाञ्चीराम जी जैन, लाहौर वाले, प्रोपराइटर– मेहरचन्द लक्ष्मणदास, कूचा चेला दरियागञ्ज, देहली।
२ स्वर्गीय श्री आशाराम जी जैन कसूरवाले।
३ स्वर्गीय श्री सन्तलाल जी जैन, प्रोपराइटर– ला० मल्लीमल सन्तलाल जैन चौड़ा बाजार लुधियाना।
४ श्री सोहनलाल जी जैन, प्रोपराइटर– ला० मिट्ठीमल बाबूराम जैन, चौड़ा बाजार लुधियाना।
५ स्वर्गीय बाबू परमानन्द जी वकील कसूर वाले।
६ श्री गोपीराम जी प्रोपराइटर– कन्हैयालाल वृजलाल, डब्बी बाजार, होशियारपुर।
७ स्वर्गीय श्री रोचीशाह जी जैन, रावलपिंडी वाले।
८ स्वर्गीय श्री तेजशाह जी रावलपिंडी वाले।
९ श्री शालिग्राम जी जैन, जम्मू।
१० श्री बख्शीराम चिमनलाल जी जैन, जनरल मर्चैंट्स लुधियाना।
११ श्री नन्दलाल जी जैन, दलाल, लुधियाना।
१२ ,, बूमीराम एण्ड सन्स, जालन्धर छावनी।
१३ ,, मंगलसेन रोशनलाल जी जैन, भटिण्डा।
१४ ,, लद्धेशाह जी जैन लाहौर वाले, सदर बाजार देहली।
१५ ,, तेलूराम जैन, ठेकेदार, जालंधर छावनी।
१६ ,, हुकुमचन्द जी जैन, प्रोपराईटर– जैन साइकल कम्पनी, घण्टाघर लुधियाना।
१७ ,, रामजीदास जी जैन, प्रोपराईटर– नौहरियामल रामजीदास, लोहे वाले, मालेरकोटला।
१८ बहिन देवकी देवी जी जैन, प्रिंसिपल- जैन गर्ल्ज हाई स्कूल, लुधियाना।
१९ श्री बलायतीराम जी जैन, प्रोपराईटर– मय्याशाह एण्ड सन्ज, रावलपिंडी वाले, न्यू देहली।
२० श्री सावित्री देवी जी जैन, सुपुत्री-ला० मुन्शीराम जी जैन अर्जीनवीस जीरा वाले। अब आपने श्रद्धेया जैनधर्मोपदेशिका महासती श्रीचन्दा जी म० के चरणों में जैनदीक्षा अङ्गीकार करली है।
२१ श्री बलायतीराम जी, प्रोपराईटर– ला० गेन्दामल बलायतीराम, जनरल मर्चैंट्स, कनाट प्लेस, न्यू देहली।
२२ श्री सावनमल जी नाहर, स्यालकोट वाले, बजाज, गली कर्तारराम, लुधियाना।
२३ श्री चरणदास जी जैन, प्रोपराईटर– पिक्चर-पैलेस टॉकी, पटियाला।

२४ श्री अमरनाथ जी लाहौर वाले, प्रोपराईटर– लाला चन्दशाह अमरनाथ, सदर बाजार देहली।

२५ श्री हंसराज जी, प्रोपराईटर– लाला तुलसीदास नगीनचन्द लोहे वाले, चौड़ाबाजार लुधियाना।

२६ श्री महेन्द्रकुमारी जैन, सुपुत्री लाला अतरचन्द जी जैन गुडगाँवा छावनी। अब आपने श्रद्धेय परमपूज्य जैनधर्मोपदेशिका महासती श्री चन्दा जी महाराज के चरणों में जैनदीक्षा धारण कर ली है। आजकल आप साध्वी हैं।

२७ श्री देशराज जी जैन रईस, सुलतानपुर लोधी (कपूरथला)

२८ श्री मुन्शीराम जी जैन, प्रोपराईटर-लाला मोहनलाल जुगल किशोर, तालाब बाजार, लुधियाना।

२९ श्री शिवप्रशाद जी, प्रोपराईटर– ला० श्री चन्द शिवप्रशाद जैन, अम्बाला शहर।

३० श्री बनारसीदास जी ओसवाल, कपूरथला-निवासी की पुण्यस्मृति में उनके सुपुत्र श्री मानिकचन्द जी जैन ने जैनशास्त्रमाला की सदस्यता के लिए ६७५) रुपए दान में दिए।

३१ श्री चूनीलाल जी ओसवाल, सुपुत्र लाला बनारसीदास जी कपूरथला।

३२ ,, दौलतराम जी जैन वकील, समराला, (लुधियाना)

३३ श्री बालकराम जी जैन बजाज, प्रोपराईटर– फैन्सी स्टोर, चौड़ा बाजार, लुधियाना।

३४ श्री धनीराम जी जैन, प्रोपराईटर–ला० धनीराम भगवानदास जैन, सुलतानपुर लोधी (कपूरथला)

३५ श्री कुञ्जलाल जी जैन, प्रोपराईटर– ला० कुञ्जलाल शीतल प्रशाद जैन, सदर बाजार, देहली।

३६ श्री प्यारेलाल जी जैन सराफ, प्रोपराईटर–ला० निक्कामल प्यारेलाल जैन, लुधियाना।

३७ स्वर्गीय श्री मुन्शीराम जी जैन रईस, फरीदकोट।

३८ स्वर्गीय ,, खूबचन्द जी जैन जौहरी देहली।

३९ स्वर्गीय ,, बाकेराय जी जैन, मन्त्री–एस० एस० जैन युवकसभा लुधियाना।

४० श्री अच्छरूमल जी जैन, प्रोपराईटर– ला० चाननलाल अच्छरूमल जैन पटियाला।

४१ ,, चूनीशाह जी स्यालकोट वाले, प्रोपराईटर– लाला चूनीशाह पन्नालाल जैन।

४२ ,, कुन्दनलाल जी अग्रवाल जैन, रामामंडी (पटियाला)

४३ स्वर्गीय श्री राधूशाह जी जैन लिगा, रावलपिंडी वाले। प्रोपराईटर– लाला काकूशाह राधूशाह जैन देहली।

४४ बहिन श्री चन्द्रापति जी, सुपुत्री रोहतकनिवासी स्वर्गीय लाला शेरसिंह जी जैन।

४५ स्वर्गीय श्री नत्थूशाह जी स्यालकोट वाले, प्रोपराईटर–ला० नत्थूशाह मोतीशाह जैन, देहली।

४६ श्री जयदयालशाह जी नाहर, स्यालकोट वाले, प्रोपराईटर– लाला शंकरदास जयदयाल, देहली तथा रंगून।

४७ स्वर्गीय श्री हंसराज जी, प्रोपराईटर– ला० नन्दलाल हंसराज सराफ, होश्यारपुर।

४८ श्री मोहनलाल जी बैंकर, बनूड़ (पटियाला)

४९ श्री हरिराम जी थापर, प्रोपराईटर– लाला हरिराम मुलखराज बजाज लुधियाना।

५० स्वर्गीय श्री वैष्णवदास जी जैन प्रोपराईटर– ला० वैष्णवदास लक्ष्मीचन्द जैन, बाजार बीकानेरिया, अमृतसर व बम्बई।

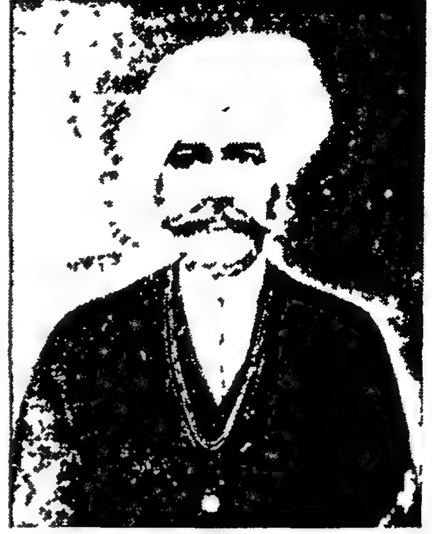
५१ श्री मोतीलाल जी जौहरी ओसवाल जैन देहली।

५२ श्रीमती हुक्मदेवी जी जैन, धर्मपत्नी ला० रूपलाल जी जैन फरीदकोट वाले।

इन दानी महानुभावों के चित्र जैनशास्त्रमाला के चतुर्थरत्न श्री दशवैकालिक सूत्र में दे दिए गए हैं। इन के अतिरिक्त कुछ नए सदस्य भी हैं। शास्त्रमाला के इन नए सदस्यों के चित्र अग्रिम पृष्ठों पर दिए जा रहे हैं।



श्री सत्यप्रकाश जी फगवाडा
प्रोपराईटर ला साइया मल जगन्नाथ
नवाशहर, फगवाडा तथा जालन्धर।



श्री सन्तराम जी जैन
प्रोपराईटर ला० हरनामदास सन्तराम जैन
बाजार बीकानेरिया, अमृतसर



श्रीमती भाग्यवती जी जैन
माता–ला० सीताराम, ओमप्रकाश,
श्यामलाल जैन, लुधियाना



श्रीमती उत्तमदेवी जी जैन
माता-लाला ताराचन्द जैन बिजली वाले जम्मू।
माता उत्तमीदेवी ५० साल से तपस्या में ही अपना जीवन लगा रही है। आप धन्य है।



श्रीमती द्रौपदी देवी जी जैन
धर्मपत्नी ला० चूनी लाल जी जैन कपूरथला। श्री द्रौपदी देवी जी ला० नत्थूमल जी फगवाड़ा वाला की सुपुत्री और श्री मुन्शी राम जी की बहिन हैं।



श्रीमती विष्णदेवी जी जैन
माता—ला० नन्दलाल, बरकतराम तुलसीराम जी
जैतो मण्डी (पैप्सू)

ऊपर के छः नग सदस्यों में चार बहिनें हैं। इन बहिनों में धार्मिक अनुष्ठानों के लिए जो उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस का श्रेय हमारी महामान्य जैनधर्मोपदेशिका बालब्रह्मचारिणी स्वनामधन्या महासती स्वर्गीय श्री चन्दा जी महाराज की शिष्यानुशिष्याएं संस्कृतप्राकृतविशारदा, विदुषी श्री लज्जावती जी महाराज तथा तपस्विनी, समयज्ञा श्री सौभाग्यवती जी महाराज को ही है। इन ही के पावन उपदेशों से उपरोक्त बहिनों के हृदयों में धार्मिकता एवं सच्चरित्रता का सचार हो पाया है। फलतः ये बहिनें धार्मिक प्रभावना के निमित्त धार्मिक कार्यों में यथावसर अपना पुण्य सहयोग सदा देती रहती हैं। अतः हम पूज्य महासती जी महाराज के तथा इन सभी बहिनों के अत्यन्तात्यन्त कृतज्ञ हैं।

इस के अतिरिक्त विपाकसूत्र के प्रकाशन में शाहकोटनिवासी लाला रामशरणदास पद्मराज जी जैन ने ७५१), पट्टीनिवासी लाला पन्नालाल टेकचन्द जी जैन ने १२५), सुलतानपुरनिवासी श्री दुर्गादास सरदारी लाल जी जैन ने १५०), श्री रूपचन्द जी जैन ने १००) तथा भक्त श्री कर्म चन्द जी जैन ने ५) रुपए देकर श्री विपाक सूत्र की प्रेसकापी बनाने में हमें सहयोग दिया है। हम शास्त्रमाला की ओर से इन के भी धन्यवादी हैं। आदरणीय पण्डित श्री झण्डूलाल जी शास्त्री के भी हम आभारी हैं। आप का प्रूफसंशोधन में हमें सहयोग प्राप्त होता रहा है।

अन्त में हम उन सब महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्हों ने श्री विपाकसूत्र के प्रकाशन में तन से, मन से तथा धन से सहयोग देने का अनुग्रह किया है।

मंत्री— जैनशास्त्रमालाकार्यालय,
जैनस्थानक, लुधियाना (पंजाब)



❁ कर्म-मीमांसा ❁

(लेखक-पण्डितप्रवर श्री स्वामी फूल चन्द जी महाराज पंजाबी, श्रमण)

जैन शास्त्रों का विषयनिरूपण सर्वांगपूर्ण है। जड-चेतन, आत्मा-परमात्मा, दुःख-सुख, संसार-मोक्ष, आस्रव-संवर, कर्मबन्ध तथा कर्मक्षय इत्यादि समस्त विषयों का जितना सूक्ष्म गंभीर और सुस्पष्ट विवेचन जैनागमों में है अन्यत्र मिलना कठिन है। जैन विचारधारा विचारजगत में और आचार-जगत में एक अपूर्व प्रकाश डालने वाली है। हम साधारणरूप से जिस को विचार समझते हैं वह विचार नहीं, वह तो स्वच्छन्द मन का विकल्पजाल है। जो जीवन में अद्भुतता नवीनता और दिव्य दृष्टि उत्पन्न करे वही जैन विचारधारा है।

जैनसूत्र—भूले भटके भव्य प्राणियों के लिये मार्गप्रदर्शक बोर्ड है, उन्मार्ग से हटा कर सन्मार्ग की ओर प्रगति कराने के लिये ही अरिहंत भगवन्तों ने मार्गप्रदर्शक बोर्ड स्थापन किया है। सूत्र वही होता है जो वीतराग का कथन हो। तर्क या युक्ति से अकाम्य हो। जो प्रत्यक्ष या अनुमान से विरुद्ध न हो। कुमार्ग का नाशक हो, सर्वाभ्युदय करने वाला हो और जो सन्मार्ग का प्रदर्शक हो। इत्यादि सभी लक्षण श्री विपाकसूत्र में पूर्णतया पाए जाते हैं अतः जिज्ञासुओं के लिये प्रस्तुत सूत्र उपादेय है।

इस सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रतिभाशाली पण्डितप्रवर मुनि श्री ज्ञान चन्द्र जी ने किया है। अनुवाद न अति संक्षिप्त है और न अति विस्तृत। अध्ययन करते हुए जिन २ विषयों पर जिज्ञासुओं के हृदय में सन्देह का होना संभव था उन २ विषयों को मुनि जी ने अपनी मस्तिष्क की उपज से पूर्वपक्ष उठा कर अनेकों प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाण देकर शंकास्पद स्थलों को उत्तरपक्ष के द्वारा सुस्पष्ट कर दिया है। इसी से लेखक की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

विपाकसूत्र अङ्ग सूत्रों में ग्यारहवां सूत्र है। इस सूत्र में किस विषय का वर्णन आता है? इस का उत्तर यदि अत्यन्त संक्षेप से दिया जाय तो "विपाक"* इस शब्द से ही दिया जा सकता है अर्थात् यह शब्द सुनते ही सुज्ञजनों को विषय की प्रतीति हो सकती है।

प्रस्तुत सूत्र के बीस अध्ययन हैं। पहिले के दस अध्ययनों में अशुभ कर्म-विपाक का वर्णन है। पिछले दस अध्ययनों में शुभकर्म-विपाक वर्णित है। कर्मसिद्धान्त को सरल सुगम तथा सुस्पष्ट

---

*चूर्णीकार ने विपाकसूत्र का निर्वाचन इस प्रकार किया है —

विविधः पाकः, अथवा विपचनं विपाकः कर्मणां शुभोऽशुभो वा। विपचनं विपाकः शुभाशुभकर्मपरिणाम इत्यर्थः। जम्मि सुत्ते विपाको कहिज्जइ तं विपाकसुत्तं। तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतं। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

नाना प्रकार से पकना, विशेष कर के कर्मों का शुभ अशुभ रूप में पकना, अर्थात् शुभाशुभ कर्मपरिणाम को ही विपाक कहते हैं, जिस सूत्र में विपाक कहा जाए उसे विपाकसूत्र अथवा विपाकश्रुत कहते हैं।

बनाने के लिये आगमकारों ने यथार्थ उदाहरण दे कर भव्य प्राणियों के हित के लिये प्रस्तुत सूत्र में वीस जनों के इतिहास प्रतिपादन किए हैं। जिस से पापों से निवृत्ति और धर्म में प्रवृत्ति मुमुक्षु जन कर सकें।

सदा स्मरणीय—जैनागमों में कृष्णपक्षी (अनेक पुद्गलपरावर्तन करने वाले) तथा अभव्य जीवों के इतिहास के लिये बिलकुल स्थान नहीं है किन्तु सूत्रों में जहां कहीं भी इतिहास का उल्लेख मिलता है तो उन्हीं का मिलता है जो चरमशरीरी हों या जिन का संसार-भ्रमण अधिक से अधिक देश-ऊन-अर्द्ध-पुद्गलपरावर्तन शेष रह गया हो, इस से अधिक जिन की संसारयात्रा है, उन का वर्णन जैनागम में नहीं आता है। जिन का वर्णन आगम में आया है वह चाहे किसी भी गति में हो अवश्य तरणहार है। इस बात की पुष्टि के लिये भगवती सूत्र के १५वें शतक का गोशालक, तिलों के जीव, निरयावलिका सूत्र में कालीकुमार आदि दस भाई, विपाकसूत्र में दुःखविपाक के दस जीव इत्यादि आखीर में ये सभी मोक्षगामी हैं।

एक जन्म में उपार्जित किए हुए पापकर्म, रोग-शोक, छेदन-भेदन, मारणपीटन आदि दुःखपूर्ण दुर्गतिगर्त्त में जीव को धकेल देते हैं। यदि किसी पुण्ययोग से वह सुकुल में भी जन्म लेता है तो वहां पर भी वे ही पूर्वकृत दुष्कृत उसे पुनः पापकर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं, जिस से पुनः जीव दुःख के गर्त्त में गिर जाता है। इसी प्रकार दुःखपरम्परा चलती ही रहती है।

कर्मों का स्वरूप-कम्मुणा उवाही जायइ—आचाराङ्ग अ० ३, उ० १। अर्थात् कर्मों से ही जन्म, मरण, वृद्धत्व, शारीरक दुःख, मानसिक दुःख, संयोग वियोग, भवभ्रमण आदि उपाधियां पैदा होती हैं।

किरइ जिएण हेऊहिं जेणं तो भण्णए कम्मं—अर्थात् जो जीव से किसी हेतु द्वारा किया जाता है उसे कर्म कहते हैं।

जब घनघातिकर्मग्रहग्रस्त आत्मा में शुभ और अशुभ अध्यवसाय पैदा होते हैं, तब उन अध्यवसायों में चुम्बक की तरह एक अद्भुत आकर्षण शक्ति पैदा होती है। जैसे चुम्बक के आसपास पड़े हुए निश्चेष्ट लोहे के छोटे २ कण आकर्षण से खींचे चले आते हैं और साथ चिपक जाते हैं, एवं राग द्वेषात्मक अध्यवसायों में जो कशिश है, वह भाव आस्रव है। उस कशिश से कर्मवर्गणा के पुद्गल खींचे चले आना वह द्रव्य आस्रव है। आत्मा और कर्म-पुद्गलों का परस्पर क्षीरनीर भांति हिलमिल जाना बन्ध कहाता है।

जीव का कर्म के साथ संयोग होने को बन्ध और उसके वियोग होने को मोक्ष कहते हैं। बन्ध का अर्थ वास्तविक रीति से सम्बन्ध होना यहां अभीष्ट है। ज्यों त्यों कल्पना से सम्बन्ध होना नहीं समझ लेना चाहिए। आगे चलकर वह बन्ध चार भागों में विभक्त हो जाता है, जैसेकि-प्रकृति-बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभावबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन में से प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध मन, वाणी और काय के योग (परिस्पन्द-हरकत) से होता है। स्थिति और अनुभाव बन्ध कषाय से होता है। मन वाणी और काय के व्यापार को योग कहते हैं। कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों पर छा जाना, यह योग का कार्य है। उन कर्मवर्गणा के पुद्गलों का दीर्घकाल तक या अल्प काल तक ठहरना और उन में दुःख सुख देने की शक्ति पैदा करना, कटुक तथा मधुर, मन्दरस तथा तीव्र रस पैदा करना कषाय पर निर्भर है। जहां तक योग और कषाय दोनों का व्यापार चालू है,

वहां तक कर्मबन्ध नहीं रुकता, बन्धक्षय विना जन्मान्तर नहीं रुकता, इसी प्रकार भवपरम्परा चलती ही रहती है।

यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि क्या भिन्न २ समय में भिन्न २ कर्मों का बन्ध होता है? या एक समय में सभी कर्मों का बन्ध हो जाता है?

इस का उत्तर यह है कि सामान्यतया कर्मों का बन्ध इकट्ठा ही होता है, परन्तु बन्ध होने के पश्चात् सातों या आठों कर्मों को उसी में से हिस्सा मिल जाता है। यहां खुराक तथा विष का दृष्टान्त लेना चाहिये। जिस प्रकार खुराक एक ही स्थान से समुच्चय ली जाती है, किन्तु उस का रस प्रत्येक इन्द्रिय को पहुंच जाता है और प्रत्येक इन्द्रिय अपनी २ शक्ति के अनुकूल उसे ग्रहण कर उस रूप से परिणमन करती है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता। अथवा किसी को सर्प काटले तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है, किन्तु उस का प्रभाव विषरूपेण प्रत्येक इन्द्रिय को भिन्न २ प्रकार से समस्त शरीर में होता है, एव कर्म बन्धते समय मुख्य उपयोग एक ही प्रकृति का होता है परन्तु उस का बटवारा परस्पर अन्य सभी प्रकृतियों के सम्बन्ध को लेकर ही मिलता है।

जिस हिस्से में सर्पदंश होता है उस को यदि तुरन्त काट दिया जाय तो चढ़ता हुआ जहर रुक जाता है एव आत्मप्रनिरोध करने से कर्म का बन्ध पड़ता हुआ भी रुक जाता है। यथा अन्य किसी प्रयोग से चढ़ा हुआ विष औषधप्रयोग से वापिस उतार दिया जाता है तथैव यदि प्रकृति का रस मन्द कर दिया जाए तो उस का बल कम हो जाता है। मुख्यरूपेण एक प्रकृति बन्धती है, और इतर प्रकृतियां उस में से भाग लेती है, ऐसा उनका स्वभाव है।

प्रश्न—सूत्रों में कर्मबन्ध करने के भिन्न २ कारण बताए है, वे कारण जब सेवन किए जाएं तभी उस प्रकृति का बन्ध होता है। जैसे कि ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मों का बन्ध होता है। जब उन में से किसी का भी सेवन नहीं किया फिर उस का बन्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर—कर्मों का बन्ध तो होता ही रहता है। प्रत्येक समय में सात या आठ कर्म संसारी जीव बांधता ही रहता है। आयुकर्म जीवन भर में एक ही बार बांधा जाता है। शेष सात कर्म समय २ में बन्धते ही रहते है और उन का बटवारा भी होता ही रहता है, किन्तु कर्मबन्ध के जो मुख्य २ कारण बताए है उन के सेवन करने से तो अनुभागबन्ध अर्थात् फल में कटुता या मधुरता दीर्घकालिक स्थिति दोनों का बन्ध पड़ता है। यदि उन कारणों का सेवन न किया जाए तो रस में मन्दता रहती है और अल्पकालिक स्थिति होती है।

प्रश्न—कर्मवर्गणा के पुद्गल क्या बन्ध होने से पूर्व ही पुण्यरूप तथा पापरूप में नियत होते है या अनियत?

उत्तर—नहीं। कर्मवर्गणा के पुद्गल न कोई पुण्यरूप ही है और न पापरूप ही। किन्तु शुभ अध्यवसाय से खैंचे हुए कर्मपुद्गल अशुभ होते हुए भी शुभरूप में परिणमन हो जाते है, और अशुभ अध्यवसाय के द्वारा खैंचे हुए कर्मपुद्गल शुभ होते हुए भी अशुभ बन जाते है। जैसे कि प्रसन्ना गौ सूखे तृण खाती है और उस को पोषकतत्त्व श्वेत तथा मधुर दुग्ध बना देता है। प्रत्युत इसी तरह

को कृष्णसर्प विषैला बना देता है।

जैन सिद्धान्त मानता है कि वस्तु अनन्त पर्यायों का पिण्ड है। सहकारी साधनों को पाकर पर्याय बदलती है। कभी शुभ से अशुभ रूप में तो कभी अशुभ से शुभ रूप में ढलते बदलती ही रहती है, अर्थात् काल चक्र के साथ २ पर्यायचक्र भी घूमता रहता है। एवं कर्म पुद्गल भी सकर्मा आत्मा के शुभ अध्यवसाय को पाकर पुण्य तथा पाप रूप में परिणमन हो जाते हैं।

पुण्य पाप के रस में तरतमता—शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग-रस की मात्रा अधिक होती है और पाप प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा हीन निष्पन्न होती है। इससे उलटा अशुभ योग की तीव्रता के समय पाप प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अधिक होता है और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध न्यून होता। शुभयोग की तीव्रता में कषाय की मन्दता होती है और अशुभ योग की तीव्रता में कषाय की उत्कटता होती है, यह क्रम भी स्मरणीय है॥

कर्मबन्ध पर अनादि और सादि का विचार—आठों ही कर्म किसी विवक्षित संसारी जीव में प्रवाह से अनादि हैं। पूर्व काल में ऐसा कोई समय नहीं था कि जिस समय किसी एक जीव में आठों कर्मों में से किसी एक कर्म की सत्ता नहीं थी। पीछे से वह कर्म स्पृष्ट तथा बद्ध हुआ हो। तो कहना पड़ेगा कि आठों कर्मों की सत्ता अनादि से विद्यमान है।

कर्म सादि भी है क्योंकि किसी विवक्षित समय का बन्धा हुआ कर्म अपनी २ स्थिति के मुताबिक आत्मप्रदेशों में ठहर कर और अपना फल देकर आत्मप्रदेशों से झड़ जाता है, परन्तु बीच २ में अन्य कर्मों का बन्ध भी चालू ही रहता है। वह बन्ध नहीं रुकता जब तक कि गुणस्थानों का आरोहण नहीं होता अर्थात् जब तक जीव आत्मविकास की ओर अग्रसर नहीं होता तब तक कर्म-प्रकृतियों का बन्ध चालू ही रहता है, रुकता नहीं। तीन कार्य समय २ में होते ही रहते हैं जैसेकि कर्मों का बन्ध, पूर्व कृत कर्मों का भोग और भुक्त कर्मों की निर्जरा।

अनेकान्त दृष्टि से कर्मविचार-प्रश्न—क्या कर्म आत्मा से भिन्न है ? या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उस का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि अभिन्न है तो कर्म ही आत्मा का अपर नाम है, जीव और ब्रह्म की तरह ? । **उत्तर**—अनेकान्तवादी इसका उत्तर एक ही वाक्य में देता है, जैसे कि आत्मा से कर्म कथंचित् भिन्नाभिन्न है, अथवा भेदविशिष्ट अभेद या अभेदविशिष्ट भेद ऐसा भी कह सकते हैं। इस सूक्ष्म थ्योरी को समझने के लिए पहले स्थूल उदाहरण की आवश्यकता है। हम ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना है। सूक्ष्म से अमूर्त की ओर जाना है, अतः पहले स्थूल उदाहरण के द्वारा इस विषय का समझिए। जैसे हमारा यह स्थूल शरीर भी आत्मा से कथंचित् भिन्नाभिन्न है। यदि स्थूल शरीर को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानेंगे तो भिन्न शरीर जीव-परित्यक्त कलेवर की तरह सुख दुःख आदि नहीं वेद सकता, यदि स्थूल शरीर को सर्वथा अभिन्न माना जाए तो किसी की मृत्यु नहीं होनी चाहिए, अर्थात् शरीर का तीन काल में भी वियोग नहीं होना चाहिये। जैसे द्रव्य से द्रव्यत्व भिन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि द्रव्य से द्रव्यत्व अभिन्न है। अतः स्याद्वादी का कहना है, कि सजीव स्थूल शरीर आत्मा से कथंचित् भिन्नाभिन्न है। उपरोक्त दोषापत्ति सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानने में है।

अब इसी विषय को दूसरी शैली से समझिए— निश्चय नय की दृष्टि से कर्म आत्मा से भिन्न है, क्योंकि आत्मा के गुण आत्मा में ही अवस्थित है, कर्मों के गुण कर्मों में स्थित है, परस्पर गुणों का आदानप्रदान नहीं होता। कर्मों की पर्याय कर्मों में परिवर्तित होती है, और आत्मा की पर्याय आत्मा मे, इस दृष्टि से आत्मा और कर्म भिन्न २ पदार्थ है। व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा और कर्म में अभेद है। जब तक दोनों में अभेदभाव न माना जाए तब तक जन्म, जरा, मरण तथा दुःख आदि अवस्थाएं नहीं बन सकतीं। अभेद दो प्रकार का होता है— १—एक सदा कालभावी अर्थात् अनादि अनन्त, जैसे कि आत्मा और उपयोग का अभेद, द्रव्य और गुण का अभेद, सम्यक्त्व और ज्ञान का अभेद। इसे नैत्यिक सम्बन्ध भी कह सकते है। दूसरा अभेद औपचारिक होता है, यह अभेद अनादि सान्त और सादि सान्त यों दो प्रकार का होता है। आत्मा के साथ अज्ञानता, वासना, मिथ्यात्व और कर्मो का सम्बन्ध अनादि है। इन का विनाश भी किया जा सकता है, इस लिए इस अभेद को अनादि सान्त भी कहते है। दूध दधि और मक्खन तीनों में घृत अभेद से रहा हुआ है, इस सबन्ध को सादि सान्त अभेद भी कह सकते है। हमारा प्रकृत साध्य अनादि सान्त अभेद है।

कर्मों का कर्ता कर्म है या जीव ?— इस के आगे अब प्रश्न पैदा होता है कि क्या कर्मों का कर्ता कर्म ही है ? या जीव है ?, इस जटिल प्रश्न का उत्तर भी नयों के द्वारा ही जिज्ञासुजन समझने का प्रयत्न करें। जैसे हिसाब के प्रश्नों को हल करने के लिये तरीके होते हैं जिन्हें गुर भी कहते है। एवमेव आध्यात्मिक प्रश्नों का हल करने के जो तरीके हैं उन्हें नय कहते है या स्याद्वाद भी कहते है। एकान्त निश्चय नय से अथवा एकान्त व्यवहार नय से जाना हुआ वस्तुतत्त्व सब कुछ असम्यक् तथा मिथ्या है, और अनेकान्त दृष्टि से जाना हुआ तथा देखा हुआ सब कुछ सम्यक् है। अतः ये पूर्वोक्त दोनों नय जैन-दर्शन के नेत्र है, यदि ऐसा कहा जाए तो अनुचित न होगा।

अरूपी रूपी के बन्धन मे कैसे पड़ सकता है—प्रश्न— आत्मा अरूपी (अमूर्त) है और कर्म रूपी हैं। अरूपी आत्मा रूपी कर्म के बन्धन मे कैसे पड सकता है ?, उत्तर—यह प्रश्न बडे २ विचारकों के मस्तिष्क मे चिरकाल से घूम रहा है। अन्य दर्शनकार इस उलझी हुई गुत्थी को सुलझाने में अभी तक असमर्थ रहे, किन्तु जैनदर्शनकार जिनभद्र गणी क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक भाष्य की १६३६ वीं गाथा तथा बृहद्वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्र सूरि जी लिखते है—अहवा पच्चक्खं चिय जीवोवनिबंधणं जह सरीरं चिट्ठइ कम्मयमेव भवन्तरे जीवसजुत्तं। अथवा-यथेदं बाह्य स्थूलशरीरं जीवोपनिबंधनं जीवेन सह सम्बद्धं प्रत्यक्षोपलभ्यमानमेव तिष्ठति सर्वत्र चेष्टते एवं भवान्तरं गच्छता जीवेन सह संयुक्तं कार्मणशरीरं प्रतिपद्यस्व। अर्थात् जैसे-प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थूल शरीर में आत्मा ठहरी हुई है। एव आत्मा कर्मशरीर में अनादिकाल से बद्ध है अबद्ध से बद्ध नहीं, और मुक्त से भी बद्ध नहीं, अर्थात् अनादि से है। जैनागम तो किसी भी ससारी जीव को कथचित् रूपी मानता है।* एकान्त अरूपी जीव तो मुक्तात्मा ही है क्योंकि वे कार्मण शरीर तथा तैजस शरीर से भी विमुक्त है। वैदिक दर्शन-

---

* सरूवि चेव अरूवि चेव। ठा० २, उ० पहला

कार भी तीन प्रकार के शरीरप्रतिपादन करते है, जैसेकि-स्थूलशरीर कारणशरीर, तथा सूक्ष्मशरीर। जब जीव स्थूल शरीर को छोड कर अन्य स्थूल शरीर को धारण करने के लिये जाता है तो उस समय भी वह कारण तथा सूक्ष्म शरीरी होता है। शरीर भौतिक ही होता है काल्पनिक नहीं। भौतिक पदार्थ रूपवान होते है, जैसे पृथ्वी आदि परमाणु भी सरूपी होते है। उन परमाणुओं का बना हुआ सूक्ष्म शरीर होता है। जहा सशरीरता है वहा सरूपता है। जहा सरूपता नहीं वहा सशरीरता भी नहीं जैसे मुक्तात्मा। शरीर से कर्म, कर्म से शरीर यह परम्परा अनादि से चली आरही है। आयुष्कर्म ने आत्मा को शरीर मे जकडा हुआ है। आयु कर्म न सुख देता है और न दु ख किन्तु सुख दु ख, वेदने के लिये जीव को शरीर में ठहराए रखना ही उस का काम है। पहले की बांधी हुई आयु के क्षीण होने से पूर्व ही अगले भव की आयु बाध लेता है। शृंखलाबद्ध की तरह सम्बन्ध हो जाने पर वही आयु नवीन शरीर मे आत्मा को अवरुद्ध करती है। आयुबन्ध मोहनीयकर्म के निमित्त से बाधा जाता है। आयुबध के साथ जितने कर्मो का बध होता है वह बन्ध प्राय निकाचित बन्ध होता है। अत कर्मबद्ध जीव कथंचित् सरूपी है। एकान्त अरूपी नहीं। जो एकान्त अरूपी है, अमूर्त है, वह कदापि पौद्गलिक वस्तु के बन्धन मे नहीं पड सकता है। यदि अरूपी अशरीरी भी कर्म के बधन में पड जाए तो मुक्तता व्यर्थ सिद्ध हो जाएगी, अत ससारी जीव पहले कभी भी अशरीरी नहीं थे। सदा काल से सशरीरी है। जो सशरीरी है वे सब बद्ध है।

उदय अधिकार—जो कर्म परिपक्व हो कर रसोन्मुख हो जाए उसे उदय कहते है। उदय दो प्रकार का होता है, जैसे कि-प्रदेशोदय और विपाकोदय। प्रदेशोदय तो समस्त ससारी जीवो के प्रतिक्षण आठो कर्मो का रहता ही है ऐसा कोई ससारी जीव नही जिस के प्रदेशोदय न हो। प्रदेशोदय से सुख दु ख का अनुभव नहीं होता जैसे गगनमडल मे सूक्ष्म रज कण या जलकण घूम रहे है। हमारे पर भी उन का आघात हो रहा है लेकिन हमे कोई महसूस नहीं होता एव प्रदेशोदय भी समझ लेना। किन्तु विपाकोदय से ही सुख दु ख का भान होता है। विपाकोदय ही विपाकसूत्र का विषय है। कर्मफल दो तरीके से वेदे जाते है। स्वय उदीयमान होने से दूसरा उदीरणा के द्वारा उदयाभिमुख करने से। जैसे फल अपनी मौसम मे स्वय तो पकते ही है किन्तु अन्य किसी विशेष प्रयत्न के द्वारा भी पकाए जा सकते है। पाठक इतना अवश्य स्मरण रक्खे कि प्रयत्न के द्वारा उन्हीं फलो को पकाया जा सकता है जो पकने के योग्य हो रहे है। जो फल अभी बिल्कुल कच्चे ही हो वे नहीं पकाए जा सकते है। ठीक कर्मफल के विषय मे भी यह ही दृष्टान्त माननीय है। जो कर्म उदय के सर्वथा अयोग्य है उसे उपशान्त कहते है। अत उसकी उदीरणा नहीं हो सकती।

अथवा *शास्त्रीय परिभाषानुसार—जो अन्य किसी बाह्य निमित्त की अनपेक्षा से स्वय उदय होकर फल देवे उसे औपक्रमिक वेदना कहते है। जो कर्म स्वत या परत जीव द्वारा अथवा इष्ट अनिष्ट पुद्गल के द्वारा उदीरणा कर के उदीयमान हो उसे अभ्युपगमिक वेदना कहते है। वेदना का तात्पर्य यहा फल भोगने से है वह चाहे दु खरूप मे हो या सुखरूप मे। आठ कर्मो की प्रकृतिया पुद्गलविपाका

*कतिविहा ण भंते! वेयणा पण्णत्ता?, गोयमा! दुविहा वेयणा पण्णत्ता अब्भोवगमियाए उवक्कमियाए। (प्रज्ञापना सूत्र का ३५ वा पद)

है और कुछ जीवविपाका। पुद्गलविपाका उसे कहते हैं जो प्रकृति शरीररूप परिणत हुए पुद्गलपरमाणुओं में अपना फल देती है, जैसे कि पाचो शरीर, छ संहनन, छ संस्थान इत्यादि नामकर्म की ३७ प्रकृतियां पुद्गलविपाका कहलाती हैं। जो कर्मप्रकृति जीव में ही अपना फल देती है उसे जीवविपाका कहते हैं, जैसे कि ४७ घातिकर्मों की प्रकृतियां, वेदनीय, गोत्र, तीर्थंकरनाम तथा त्रसदशक तथा स्थावरदशक इत्यादि नामकर्म की प्रकृतियां जीवविपाका कहलाती हैं। जैसे कोई अनभिज्ञ व्यक्ति औषधि खाता है। उस से होने वाले हित अहित को वह नहीं जानता किन्तु उसे विपाककाल में दु ख सुख वेदना पड़ता है। इसी प्रकार कर्मग्रहणकाल में भविष्यत् में होने वाले हित अहित को नहीं जानता है। परन्तु कर्मविपाककाल में विवश होकर दु ख सुख को वेदना ही पड़ता है।

दार्शनिक दृष्टि से कर्मफलविषयक प्रश्नोत्तर—प्रश्न—कर्म रूपी है और दु ख सुख अरूपी है। कारण रूपी हो और कार्य अरूपी हो, यह बात मस्तिष्क में तथा हृदय में कैसे जच सकती है?

उत्तर—दु ख और सुख आदि आत्मधर्म हैं। आत्मधर्म होने से आत्मा ही उन का समवायी कारण है। कर्म असमवायी कारण है। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव निमित्त कारण हैं। दु ख सुख आदि आत्मधर्म हैं, इस की पुष्टि के लिए आगमप्रमाण लीजिए—उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में जीव का लक्षण करते हुए सूत्रकार फरमाते हैं कि—

जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेण च दसणेण चेव सुहेण य दुहेण य ॥ १० ॥

अर्थात् जीव चेतना लक्षण वाला है, ज्ञान दर्शन सुख और दु ख द्वारा पहचाना जाता है। अत दु ख सुख आत्मधर्म हैं।

प्रश्न—दु ख यदि आत्मधर्म है तो कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के पश्चात् दु खानुभूति क्यों नहीं होती? यदि होती है तो मुक्त होना व्यर्थ है?

उत्तर—जैसे कार्य के प्रति समवायी कारण अनिवार्यतया अपेक्षित है वैसे ही असमवायी कारण निमित्त कारण भी अपेक्षित हैं। असमवायी कारण तथा निमित्त कारण के बिना अर्थात् इन के सर्वथा अभाव होने पर आत्मा में दु ख अवस्तु है। क्योंकि दु ख तो केवल औदयिक अवस्था में ही होता है। औदयिक भाव के अभाव होने पर दु ख का भी आत्मा में अभाव ही हो जाता है। औदयिक भाव का और दु ख का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। जहां औदयिक भाव है वहां दु ख है, जहां दु ख नहीं वहां औदयिक भाव भी नहीं।

प्रश्न—सुख भी आत्मधर्म है, आत्मा में सुख समवायी कारण में रहा हुआ है। उपर्युक्त असमवायी कारण कर्म तथा निमित्तकारण के सर्वथा आत्यन्तिक अभाव होने पर दु ख की तरह सुख का भी मुक्तात्मा में अभाव ही हो जाना चाहिए?, इधर मुक्तात्मा में सुख का अभाव होना आगमसम्मत नहीं, क्यों कि आगमपाठ यह है—

अउल सुह सपन्ना उवमा जस्स नत्थि उ सिद्धाण सुहगमी सव्वागारो समाएज्जा।

ऐसी स्थिति में इधर कूआँ उधर खाई वाली दशा होती है।

उत्तर—सुख दो प्रकार का होता है, पहला औदयिक और दूसरा आध्यात्मिक। औदयिक सुख के सहकारी साधन भौतिक पदार्थ है। इस सुख के भाजन पुण्यात्मा है। मुक्तात्मा में औदयिक सुख का तो दुःख की तरह ही आत्यन्तिक अभाव है, परन्तु आध्यात्मिक सुख अनन्त है। वह सुख एक बार आविर्भूत हो कर फिर सदाकालभावी है। केवलज्ञान व केवलदर्शन की तरह एक रस है, अक्षीण है, अपर्यवसित है, अव्याबाध है।

प्रश्न—क्या मूर्तिमान पुद्गल अपने आह्लाद, परिताप, अनुग्रह, उपघात आदि गुणों से अमूर्त आत्मा को प्रभावित कर सकता है ?

उत्तर—हां जो आत्मा कर्म से कथचित् अभिन्न है उस को पुद्गल अपने प्रभाव से कथचित् प्रभावित कर सकता है। जैसे सुपथ्य भोजन करने से क्षुधानिवृत्तिजन्य आह्लादकता, अग्नि, विद्युत् अहिविष आदि के स्पर्श से परिताप। विज्ञान, धृति, स्मृति इत्यादि आत्मधर्म होने से अमूर्त है। मदिरापान से विज्ञान का उपघात होता है। विष खाने से धृति का और पिपीलिका (भूरी कीडी) खाए जाने से स्मृति का उपघात होता है। जीवातु जैसी औषधि पीयूष आदि पदार्थ सेवन करने से विज्ञान विकसित होता है। विपाक्त शरीर निर्विष, दिल और दिमागी ताकत को बल देने से उपनेत्र (ऐनक) आदि से अनुग्रह करता है। सिद्धात्मा पर पुद्गल का कोई प्रभाव नहीं पडता क्योंकि वह अशरीरी है। सशरीरी आत्मा पर ही पुद्गल का प्रभाव पड सकता है।

कर्मविपाक संसारस्थ प्राणी भोगते है, अत अब संसारस्वरूप भी समझना आवश्यकीय है। जब तक किसी के स्वरूप को न समझा जाए तब तक वह पदार्थ हेय या उपादेय कदापि नहीं बन सकता है।

संसार का स्वरूप—संसार शब्द सम् पूर्वक, सृ गतौ धातु घञ् प्रत्यय से बना हुआ है, जिस का अर्थ होता है—संसरण करना स्थानान्तर होते रहना। रूपान्तर होते रहना ही संसार का उपलक्षण अर्थ है।

यह संसार जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक आदि अनन्त दुःखों से भरा हुआ। उन अनन्त दुःखों के भाजन सकर्मा जीव ही बने हुए है। जैन सूत्रकारों ने जिज्ञासुओं की सुविधा के लिये संसार को चार भागों में विभक्त किया है। जैसे कि द्रव्यत संसार, क्षेत्रत संसार, कालत संसार, भावत संसार।

१—चतुर्गति, चौरासी लाख योनि में जन्म धारण करना ही द्रव्यत संसार है।

२—१४ राजलोक में परिभ्रमण करना ही क्षेत्रत संसार है।

३—कायस्थिति, भवस्थिति तथा कर्मस्थिति पूर्ण करना, नाना प्रकार की पर्याय धारण करना ही कालत संसार है।

४—घनघातिकर्मों का बन्ध तथा उन का उदय ही भावत संसार है।

जो जीव द्रव्यत संसारी है, वे क्षेत्रत तथा कालत संसारी अवश्य है, परन्तु भावत संसारी वे हों और न भी हों, जैसे अरिहंत देव। वे घनघाती कर्मों से सर्वथा रहित है। सिर्फ भवोपग्राही कर्म

शेष है, उन से जन्मान्तर की प्राप्ति नहीं होती। यावत् आयुस्थिति है तावत् मनुष्यपर्याय है, अत वे द्रव्यत ससारी है, भावत ससारी नहीं। यहा शका हो सकती है कि सिद्ध भगवान को क्षेत्रत ससारी अवश्य मानना पडेगा, क्योंकि सिद्धशिला से ऊपर के क्रोश के छठे भाग मे सिद्ध भगवान विराजमान है। वह स्थान भी १४ राजूलोक के अतर्गत ही है, फिर वे असंसारसमावर्तक कैसे रहे ? जब कि उसी स्थान मे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव भी वर्तमान है, उन्हे ससारी कहा है ?

समाधान—सिद्ध भगवान सदैव अचल है, न अपने गुणो से चलित होते है और नाहि ससरण करते है, अर्थात स्थानान्तर होते है। अत वे सर्वथा असंसारी ही है। तत्रस्थ एकेन्द्रिय जीवो मे घनघाती कर्म विद्यमान है अत वे सर्वथा ससारी ही है, जो जीव भावत ससारी है। वे द्रव्यत क्षेत्रत तथा कालत नियमेन ससारी ही है, वस्तुत वे ही क्लेश के भाजन है।

एक जन्म मे उपार्जित किए हुए पाप कर्म जीव को रोग, शोक, छेदन, भेदन, मारण पीडन आदि दु खपूर्ण दुर्गति मे धकेल देते है। यदि किसी पुण्ययोग से जीव राजघराने मे या श्रेष्ठिकुल मे जन्म प्राप्त करता है, तो वहां पर भी वे ही पूर्वकृत पापकर्म उसे पुन पापोपार्जन करने के लिये प्रेरित करते है, जिस से वह पुन दु खगर्त मे गिर जाता है।

ततो वि य उवट्टित्ता, संसार बहु अणुपरियटंति ।
बहुकम्मलेवलित्ताण, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥

यह गाथा साधक को सावधान बनाने के लिए पर्याप्त है।

कारण मे कार्य की उत्पत्ति—जो हमे इहभविक दु ख और सुखमय जीवन दृष्टिगोचर होता है, वह कार्य है। उस का कारण अन्य जन्मकृत पाप और पुण्य है, और जो इहभविक मे क्रियमाण अशुभ और शुभ कर्म है, वे भविष्यत्कालिक जीवन मे होने वाले दु ख सुख के कारण है।

कर्मवाद का अर्थ यही होता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर है, और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर निर्भर है। हमारा कोई कर्म व्यर्थ नहीं जाता। हमे किसी प्रकार का फल बिना कर्म के नहीं मिलता। कर्म और फल का यह अविच्छेद्य सम्बन्ध ही विपाकसूत्र की नींव है।

धन्यवाद—प्रस्तुत सूत्र के हिन्दी अनुवादक श्रीयुत पण्डित जैनमुनि श्री ज्ञान चन्द्र जी है। आप की श्रुतभक्ति सराहनीय है। बेशक इस सूत्र के लेखन तथा प्रकाशन मे अनेकों बाधाए आगे आई किन्तु आप ने एडी की जगह पर अगूठा नही रखा, अग्रसर होते ही गए आखिर मे सफलता-लक्ष्मी ने सहर्ष आप के कठ मे जयमाला डाली।

आप की विपाकसूत्र पर आत्मज्ञानविनोदिनी नामक हिन्दीव्याख्या स्थानकवासी सम्प्रदाय मे अभी तक अपूर्व है, ऐसा मेरा विचार है। सुललित हिन्दीव्याख्या के न होने से बहुत से जिज्ञासुगण उक्त सूत्रविषयक ज्ञान से वचित रह हुए थे। अब वह अपूर्णता अनथक प्रयास से आप ने बहुत कुछ पूर्ण करदी है। एतदर्थ धन्यवाद।

संशोधकीय विज्ञप्ति

जैनवाङ्मय मे कर्मवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, और उस ने उस के बहुत बड़े भाग को अपना विषय बना रखा है। श्री भगवती सूत्र, श्री प्रज्ञापना सूत्र और श्री उत्तराध्ययन आदि आगमग्रथो मे कर्मसम्बन्धी गम्भीर तथा विस्तृत विवेचन किया गया है। इस के अतिरिक्त बहुत से ऐसे आगमेतर ग्रथ भी उपलब्ध है, जिन मे मात्र कर्मो के सम्बन्ध मे ही सूक्ष्म से सूक्ष्म मीमांसा की गई है। उन मे "–कर्मप्रकृति और सात हजार श्लोकप्रमाण इस की (कर्मप्रकृति की) चूर्णी, आठ हजार और तेरह हजार श्लोकप्रमाण वाली इस की दो वृत्तिया, नौ हजार श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति तथा १८८५० श्लोकप्रमाण बृहद्वृत्तिसहित पञ्च सग्रह, 'छह कर्मग्रन्थ बालावबोध' इस एक ही नाम वाले तीन ग्रन्थो की तीन भिन्न २ आचार्यो द्वारा रचनाए की गई है, जिन की श्लोकसख्या क्रमश दस हजार, बारह हजार और सतरह हजार है। बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण टीकासहित 'महाकर्म प्राभृतषट्खण्डागम' और चौरासी हजार श्लोकप्रमाण चूर्णीव्याख्यासमन्वित कषायप्राभृत–" आदि कर्मविषयक रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध है। इन उपरोक्त विशालकाय आगमेतर ग्रन्थो मे भी कर्मतत्त्व की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा की गई है। अधिक क्या कहा जाए जैनकथानक के अधिकाश भाग मे भी कर्मविषयक वर्णन ही उपलब्ध हो रहा है।

प्रस्तुत श्री विपाकसूत्र की रचना भी कर्मतत्त्व को बतलाने के उद्देश्य से ही की गई है। यह तथ्य इस सूत्र के नाम और प्रतिपाद्य विषय से सहज ही अवगत किया जा सकता है। कर्मतत्त्व जैसे दुरूह विषय को जनसाधारण भी सुगमता से समझ सके, इस उद्देश्य से इस सूत्र मे सरल कथानकपद्धति अपनाई गई है।

जैनसाहित्य मे कर्मवाद को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, यह कथन उपरोक्त आगमो और आगमभिन्न ग्रथो के पर्यालोचन से स्वत ही प्रमाणित हो जाता है। कर्मतत्त्व को जाने बिना जैनसिद्धान्त का यथार्थ अथच परिपूर्ण बोध नहीं हो सकता, यही कारण है कि जैनसिद्धान्त मे दार्शनिक और कथानक पद्धति के द्वारा कर्मवाद से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण साहित्य का सर्जन किया गया है।

प्रकृत श्री विपाकसूत्र के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम का नाम है—दुखविपाक और द्वितीय का नाम है—सुखविपाक। अन्याय, अत्याचार, क्रूरता, निर्दयता, चौर्यवृत्ति, कामवासना और परिग्रह के द्वारा प्राणी कैसे २ घोर कर्मो का बन्ध कर लेते है, तथा कर्मबन्ध के अनुरूप कैसे २ भीषण एव रोमाञ्चकारी फलो का उपभोग करते है, इस प्रकार का वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध मे किया गया है।

दाता, पात्र, द्रव्य और विधि आदि की विशेषताओ से युक्त दान करने से प्राणी नाना प्रकार के सुखो का परिभोग करते हुए अन्त मे सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के द्वारा सिद्धगति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं, इत्यादि विषय का द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे प्रतिपादन किया गया है।

इस विपाकसूत्र के अनुवादक पण्डित मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी है। मुनि श्री जी ने इस

अनुवाद को सर्वाङ्गपूर्ण एव सुन्दर बनाने के लिये भरसक प्रयत्न किया है। मूल और टीका मे आए प्रत्येक विषय का स्पष्ट, सरल और विस्तृत विवेचन किया गया है, यही इस अनुवाद की विशेषता है। अनुवादक मुनि श्री जी का परिश्रम सर्वथा प्रशसनीय है।

इस अनुवाद तथा सशोधन की सफलता का सर्वोपरि श्रेय तो जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, परमपूज्य गुरुदेव श्री श्री श्री १००८ आचार्यप्रवर श्री आत्माराम जी महाराज को ही है, जिन की असीम कृपादृष्टि तथा आशीर्वाद से यह महान कार्य सम्पन्न हो पाया है, तथापि मुनि श्री जी के प्रेमभरे आग्रह से मैंने भी इसके सशोधन एव सम्पादन मे यथाशक्ति भाग लिया है। सशोधक का स्थान तो बहुत ऊंचा होता है, जिसके लिए मै अपने को योग्य नहीं पाता हू, परन्तु इस बात का अवश्य हर्ष है, कि इस कारण आगमसेवा का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत श्री विपाकसूत्र कर्मवाद से सम्बन्ध रखता है, और कर्मतत्त्व का निरूपण इस मे कथानकों के द्वारा किया गया है। इस सूत्र के परिशीलन से मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि इस में वर्णित कई एक कथाओं का सकलन एक कठिन कार्य है। फिर भी इस ओर अनुवादक मुनि श्री जी ने जहा अधिक से अधिक ध्यान दिया है, वहा मैंने भी इसे यथाशक्य अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। भाषा, भाव और सङ्कलन आदि की अपेक्षा से इसे विशुद्ध बनाने के लिये पूरा २ प्रयास किया गया, फिर भी इस विशालकाय शास्त्र में त्रुटियो का रह जाना असम्भव नहीं, अत अपनी स्खलनाओं के लिये वाचकवृन्द से विनम्र क्षमायाचना करता हुआ मै अपनी सक्षिप्त विज्ञप्ति को समाप्त करता हू।

मुनि हेमचन्द्र.



स्वाध्याय

जैनशास्त्रों के पर्यालोचन से पता चलता है कि अध्यात्म जगत में स्वाध्याय भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस की महिमा के परिचायक अनेकानेक पद जैनागमों में यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। आत्मिक ज्ञानज्योति को आवृत करने वाले *ज्ञानावरणीय कर्म का इस को नाशक बता कर आधिभौतिक, दैहिक तथा दैविक इन सभी दुःखों** का इसे विमोक्ता बतलाया है। साराश यह है कि स्वाध्याय की उपयोगिता एवं महानता को जैनागमों में विभिन्न पद्धतियों से वर्णित किया गया है।

यह ठीक है कि स्वाध्याय द्वारा मानव आत्मविकास कर सकता है और वह इस मानव को परम्परया जन्म मरण के भीषण दुःखजाल से छुटकारा दिलाकर परम साध्य निर्वाण पद को उपलब्ध करवा देता है, परन्तु यह (स्वाध्याय) विधिपूर्वक होना चाहिए, विधिपूर्वक किया हुआ स्वाध्याय ही इष्टसिद्धि का कारण बनता है। यदि विधिशून्य स्वाध्याय होगा तो वह ***अनिष्ट का कारण भी बन सकता है। इस लिए शास्त्रों का स्वाध्याय करने से पूर्व उस की विधि अर्थात् उस के पठनीय समय असमय का बोध अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए।

श्री स्थानांगसूत्र में अस्वाध्यायकाल का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। वहां बत्तीस अस्वाध्याय लिखे हैं। दश आकाशसम्बन्धी, दश औदारिकसम्बन्धी, चार महा प्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं के पूर्व की पूर्णिमाएं और चार सन्ध्याएं, ये ३२ अस्वाध्याय हैं। तात्पर्य यह है कि इन में शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अन्य ग्रन्थों में अस्वाध्यायकाल के सम्बन्ध में कुछ मतभेद भी पाया जाता है परन्तु विस्तारभय से प्रस्तुत में उसका वर्णन नहीं किया जा रहा है। प्रस्तुत में तो हमें श्री स्थानांगसूत्र के आधार पर ही बत्तीस अस्वाध्यायों का विवेचन करना है। अस्तु, बत्तीस अस्वाध्यायों का नामनिर्देशपूर्वक संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है—

(१) उल्कापात—आकाश से रेखा वाले तेजःपुञ्ज का गिरना, अथवा पीछे से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना उल्कापात कहलाता है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

---

* सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? सज्झाएणं जीवे नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ। (उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९, सूत्र १८)

** सज्झाए वा सव्वदुक्खविमोक्खणे— (उत्तराध्ययनसूत्र अ० २६)

*** अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने से होने वाली हानि को टीकाकार महानुभाव के शब्दों में—एतेषु स्वाध्यायं कुर्वतां क्षुद्रदेवता छलनं करोति—इन शब्दों में कहा जा सकता है। इन शब्दों का भाव इतना ही है कि अस्वाध्यायकाल में स्वाध्याय करने से कोई क्षुद्र देवता पढ़ने वाले को पीडित कर सकता है।

(२) **दिग्दाह**—किसी एक दिशा-विशेष में मानो बड़ा नगर जल रहा हो, इस प्रकार ऊपर की ओर प्रकाश दिखाई देना और नीचे अन्धकार मालूम होना, दिग्दाह कहलाता है। दिग्दाह के होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) **गर्जित**—बादल गर्जने पर दो प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

(४) **विद्युत्**—बिजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय करने का निषेध है।

आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत् की अस्वाध्याय नहीं होती, क्योंकि वर्षाकाल में ये प्रकृतिसिद्ध-स्वाभाविक होते हैं।

(५) **निर्घात**—बिना बादल वाले आकाश में व्यन्तरादिकृत गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(६) **यूपक**—शुक्लपक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपक है। इन दिनों में चन्द्र-प्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या की समाप्ति मालूम नहीं होती। अतः तीनों दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना निषिद्ध है।

(७) **यक्षादीप्त**—कभी कभी किसी दिशा-विशेष में बिजली सरीखा, बीचबीच में ठहर कर, जो प्रकाश दिखाई देता है उसे यक्षादीप्त कहते हैं। यक्षादीप्त होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(८) **धूमिका**—कार्तिक से ले कर माघ मास तक का समय मेघों का गर्भमास कहा जाता है। इस काल में जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूंवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है। यह धूमिका कभी कभी अन्य मासों में भी पड़ा करती है। धूमिका गिरने के साथ ही सभी वस्तुओं को जल-क्लिन्न कर देती है। अतः यह जब तक गिरती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(९) **महिका**—शीत काल में जो श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूंवर पड़ती है, वह महिका कहलाती है। यह भी जब तक गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय रहता है।

(१०) **रज-उद्घात**—वायु के कारण आकाश में जो चारों ओर धूल छा जाती है, उसे रजउद्घात कहते हैं। रजउद्घात जब तक रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

ये दश आकाशसम्बन्धी अस्वाध्याय हैं।

(११-१३) **अस्थि, मांस और रक्त**—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के अस्थि मांस और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हों तो सम्भवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना मना है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार डाले तो एक दिन-रात अस्वाध्याय रहता है।

इसी प्रकार मनुष्यसम्बन्धी अस्थि, मांस और रक्त का अस्वाध्याय भी समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि इन का अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्रियों के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का एवं बालक और बालिकाओं के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) **अशुचि**–टट्टी और पेशाब यदि स्वाध्यायस्थान के समीप हो और वे दृष्टिगोचर होते हों अथवा उन की दुर्गन्ध आती हो तो वहां स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१५) **श्मशान**–श्मशान के चारों तरफ सौ-सौ हाथ तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१६) **चन्द्रग्रहण**– चन्द्र-ग्रहण होने पर जघन्य आठ और उत्कृष्ट बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि उगता हुआ चन्द्र ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एवं चार प्रहर आगामी दिवस के—इस प्रकार आठ प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रभात के समय ग्रहण-सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के, चार प्रहर रात्रि के एवं चार प्रहर दूसरे दिन के—इस प्रकार बारह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

पूर्ण ग्रहण होने पर भी बारह प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए। यदि ग्रहण अल्प-अपूर्ण हो तो आठ प्रहर तक अस्वध्यायकाल रहता है।

(१७) **सूर्यग्रहण**– सूर्यग्रहण होने पर जघन्य बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। अपूर्ण ग्रहण होने पर बारह और पूर्ण तथा पूर्ण के लगभग होने पर सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

सूर्य अस्त होते समय ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के और आठ आगामी अहोरात्रि के—इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। यदि उगता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो उस दिन रात के आठ एवं आगामी दिन रात के आठ—इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१८) **पतन**–राजा की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा सिंहासनारूढ न हो, तब तक स्वाध्याय करना निषिद्ध है। नये राजा के हो जाने के बाद भी एक दिन रात तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

राजा के विद्यमान रहते भी यदि अशान्ति एवं उपद्रव हो जाय तो जब तक अशान्ति रहे तब तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। शांति एवं व्यवस्था हो जाने के बाद भी एक अहोरात्रि के लिए अस्वाध्याय रखा जाता है।

राजमंत्री की, गॉव के मुखिया की, शय्यातर की तथा उपाश्रय के आस-पास में सात घरों के अन्दर अन्य किसी की मृत्यु हो जाय तो एक दिन रात के लिए अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(१९) **राजव्युद्ग्रह**–राजाओं के बीच संग्राम हो जाय तो शान्ति होने तक तथा उस के बाद भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(२०) **औदारिकशरीर**–उपाश्रय में पंचेन्द्रिय तिर्यंच का अथवा मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो सौ हाथ के अन्दर स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

ये दश औदारिक—सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को औदारिक अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि उन के विमान पृथ्वी के बने होते हैं।

(२१-२८) **चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा**–आषाढ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्ति-

क पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा—ये चार महोत्सव हैं। उक्त महापूर्णिमाओं के बाद आने वाली प्रतिपदा महाप्रतिपदा कहलाती है। चारों महापूर्णिमाओं और चारों महाप्रतिपदाओं मे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(२९-३२) प्रातःकाल, दुपहर, सायंकाल और अर्द्ध रात्रि—ये चार सन्ध्याकाल है। इन संध्याओं मे भी दो घडी तक स्वाध्याय नहीं करना *चाहिए।

इन बत्तीस अस्वाध्यायों का विस्तृत विवेचन तो श्री स्थानागसूत्र, व्यवहारभाष्य तथा हरिभद्रीयावश्यक मे किया गया है। अधिक के जिज्ञासु पाठक महानुभाव वहा देख सकते हैं।

आगमग्रन्थों मे श्री विपाकसूत्र का भी अपना एक मौलिक स्थान है, अत श्री विपाकसूत्र के अध्ययन या अध्यापन करते या कराते समय पूर्वोक्त ३२ अस्वाध्यायकालों के छोडने का ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दों मे इन अस्वाध्यायकालों मे श्री विपाकसूत्र का पठन पाठन नहीं करना चाहिए। इसी बात की सूचना देने के लिए प्रस्तुत मे ३२ अस्वाध्यायो का विवरण दिया गया है।

---

*- ऊपर कहे गए ३२ अस्वाध्यायो का भाषानुवाद प्राय कविरत्न श्री अमर चन्द्र जी महाराज द्वारा अनुवादित श्रमणसूत्र मे से साभार उद्धृत किया गया है।



"णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स"

प्राक्कथन

भारत के लब्धप्रतिष्ठ जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों ही प्राचीन धर्मों का समानरूप से यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि मानव जीवन का अन्तिम साध्य उस के आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता और उस से प्राप्त होने वाला प्रतिभाप्रकर्षजन्य पूर्णबोध अथच स्वरूपप्रतिष्ठा अर्थात् परमकैवल्य या मोक्ष है, उस के प्राप्त करने में उक्त तीनों धर्मों में जितने भी उपाय बतलाये गये हैं, उन सब का अन्तिम लक्ष्य आत्मसम्बद्ध समस्त कर्माणुओं का क्षीण करना है। आत्मसम्बद्ध समस्त कर्मों के नाश का नाम ही *मोक्ष है। दूसरे शब्दों में आत्मप्रदेशों के साथ **कर्मपुद्गलों का जो सम्बन्ध है, उस से सर्वथा पृथक् हो जाना ही मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का अर्थ है—पूर्वबद्ध कर्मों का विच्छेद और नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव। तात्पर्य यह है कि एक बार बांधा हुआ कर्म कभी न कभी तो क्षीण होता ही है, परन्तु कर्म के क्षयकाल तक अन्य कर्मों का बन्ध भी होता रहता है, अर्थात् एक कर्म के क्षय होने के समय ***अन्य कर्म का बन्ध होना भी सम्भव अथच शास्त्रसम्मत है। इसलिये सम्पूर्ण कर्मों अर्थात् बद्ध और बांधे जाने वाले समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय, आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना ही मोक्ष है।

यद्यपि बौद्ध और वैदिक साहित्य में भी कर्मसम्बन्धी विचार है तथापि वह इतना अल्प है कि उस का कोई विशिष्ट स्वतन्त्र ग्रन्थ उस साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, इस के विपरीत जैन-दर्शन में कर्मसम्बन्धी विचार नितांत सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत है। उन विचारों का प्रतिपादकशास्त्र कर्मशास्त्र कहलाता है। उस ने जैन साहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रक्खा है, यदि कर्मशास्त्र को जैन साहित्य का हृदय कह दिया जाए तो उचित ही होगा।

कर्मशब्द की अर्थविचारणा—कर्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—**क्रियते इति कर्म**—

---

* **कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः** । (तत्त्वार्थसूत्र अ० १०, सू० ३।)

** जिस में रूप, रस, गन्ध स्पर्श और संस्थान हो, उसे पुद्गल कहते हैं, जो पुद्गल कर्म बनते हैं वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अथवा धूलि होती है, जिस को इन्द्रियां स्वयं तो क्या यन्त्रादि की सहायता से भी नहीं जान पातीं। सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम अवधि ज्ञान के धारक योगी ही उस रज का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। जो रज कर्मपरिणाम को प्राप्त हो रही है या हो चुकी है उसी रज की **कर्मपुद्गल** संज्ञा होती है।

*** यह जीव समय २ पर कर्मों की निर्जरा भी करता है और कर्मों का बन्ध भी करता है, अर्थात् पुराने कर्मों का विच्छेद और नवीन कर्मों का बन्ध इस जीव में जब तक बना रहता है तब तक इस को पूर्णबोध—केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

अर्थात् जो किया जावे वह कर्म कहलाता है। कर्म शब्द के लोक और शास्त्र में अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। लौकिक व्यवहार या काम धन्धे के अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार होता है, तथा खाना पीना, चलना, फिरना आदि क्रिया का भी कर्म के नाम से व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार कर्मकाण्डी मीमांसक याग आदि क्रियाकलाप के अर्थ में, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण आदि चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के लिए नियत किये गये कर्मरूप अर्थ में, पौराणिक लोग व्रत नियमादि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, व्याकरण के निर्माता— कर्ता जिस को अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता हो। अर्थात् जिस पर कर्ता के व्यापार का फल गिरता हो—उस अर्थ में, और नैयायिक लोग *उत्क्षेपणादि पांच सांकेतिक कर्मों में कर्मशब्द का व्यवहार करते हैं और गणितज्ञ लोग योग और गुणन आदि में भी कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु जैन दर्शन में इन सब अर्थों के अतिरिक्त एक पारिभाषिक अर्थ में उस का व्यवहार किया गया है, उस का पारिभाषिक अर्थ पूर्वोक्त सभी अर्थों से भिन्न अथच विलक्षण है। उस के मत में कर्म यह नैयायिकों या वैशेषिकों की भान्ति क्रियारूप नहीं किन्तु पौद्गलिक अर्थात् द्रव्यरूप है। वह आत्मा के साथ प्रवाहरूप से अनादि सम्बन्ध रखने वाला अजीव-जड द्रव्य है। जैन—सिद्धान्त के अनुसार कर्म के भावकर्म और द्रव्यकर्म ऐसे दो प्रकार हैं। इन की व्याख्या निम्नोक्त है—

१— **भावकर्म**—मन, बुद्धि की सूक्ष्म क्रिया या आत्मा के रागद्वेषात्मक संकल्परूप परिस्पन्दन को **भावकर्म** कहते हैं।

२— **द्रव्यकर्म**—कर्माणुओं का नाम द्रव्यकर्म है अर्थात् आत्मा के अध्यवसायविशेष से कर्माणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होने पर उन की **द्रव्यकर्म** संज्ञा होती है। द्रव्यकर्म जैन-दर्शन का पारिभाषिक शब्द है इस के समझने के लिये कुछ अन्तर्दृष्टि होने की आवश्यकता है।

जब कोई आत्मा किसी तरह का संकल्प विकल्प करता है तो उसी जाति की कार्मण वर्गणायें उस आत्मा के ऊपर एकत्रित हो जाती हैं अर्थात् उस की ओर खिंच जाती हैं उसी को जैन परिभाषा में **आस्रव** कहते हैं और जब ये आत्मा में सम्बन्धित हो जाती हैं तो इन की जैन मान्यता के अनुसार **बन्ध** संज्ञा हो जाती है। दूसरे शब्दों में आत्मा के साथ कर्मवर्गणा के अणुओं का नीर क्षीर की

---

*उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि—अर्थात् उत्क्षेपण-- ऊपर फैंकना, अपक्षेपण--नीचे गिराना, आकुञ्चन—समेटना प्रसारण– फैलाना और गमन—चलना, ये पांच कर्म कहलाते हैं। नैयायिकों के मत में द्रव्यादि सात पदार्थों में कर्म यह तीसरा पदार्थ है और वह उत्क्षेपणादि भेद से पांच प्रकार का होता है।

भान्ति लोलीभाव–हिलमिल जाना बन्ध कहलाता है। बन्ध के—१–प्रकृतिबन्ध,* २–स्थितिबन्ध, ३–अनुभागबन्ध और ४–प्रदेशबन्ध ये चार भेद है। सामान्यतया इसी को ही द्रव्यकर्म कहते है और इस के—द्रव्यकर्म के आठ भेद होते है। ये आठो ही आत्मा की मुख्य २ आठ शक्तियो को या तो विकृत कर देते है या आवृत करते है। ये आठ भेद—१–ज्ञानावरणीय, २–दर्शनावरणीय, ३–वेदनीय, ४–मोहनीय, ५–आयु, ६–नाम, ७–गोत्र और ८–अन्तराय, इन नामो से प्रसिद्ध है। ये द्रव्यरूप कर्म के मूल आठ भेद है और इन्हीं नामो से इन का जैनशास्त्रो मे विधान किया गया है। इन की अर्थ-विचारणा इस प्रकार है—

---

*स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसंचयः ॥१॥

अर्थात् स्वभाव का नाम प्रकृति है, समय के अवधारण— इयत्ता को स्थिति कहते है, रस का नाम अनुभाग है और दलसचय को प्रदेश कहते है। प्रकृतिबन्ध आदि पदो का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

१–**प्रकृतिबन्ध**–जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्‌गल मे भिन्न २ स्वभावो अर्थात शक्तियो का उत्पन्न होना **प्रकृतिबन्ध** है।

२–**स्थितिबन्ध**–जीव के द्वारा गृहीत कर्मपुद्‌गलो मे अमुक काल तक अपने स्वभावो का त्याग न कर जीव के साथ लगे रहने की कालमर्यादा को **स्थितिबन्ध** कहते है।

३–**अनुभाग (रस) बन्ध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्‌गलो मे रस के तरतम-भाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का उत्पन्न होना **रसबन्ध** कहलाता है।

४–**प्रदेशबन्ध**—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणुओं वाले कर्मस्कन्धो का सम्बन्ध होना **प्रदेशबन्ध** कहलाता है।

अथवा– **प्रकृतिबन्ध** आदि पदो की व्याख्या निम्नप्रकार से भी की जा सकती है—

१–कर्मपुद्‌गलो मे जो ज्ञान को आवरण करने, दर्शन को रोकने और सुख दुःख देने आदि का स्वभाव बनता है वही स्वभावनिर्माण **प्रकृतिबन्ध** है।

२–स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक समय तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्‌गलो मे निर्मित होती है, यह कालमर्यादा का निर्माण ही **स्थितिबन्ध** है।

३–स्वभावनिर्माण के साथ ही उस मे तीव्रता, मन्दता आदि रूप मे फलानुभव कराने वाली विशेषताये बर्तती है, ऐसी विशेषता ही **अनुभागबन्ध** है।

४–ग्रहण किये जाने पर भिन्न २ स्वभावो मे परिणत होने वाली कर्मपुद्‌गलराशि स्वभावानुसार अमुक २ परिमाण मे बट जाती है, यह परिमाणविभाग ही **प्रदेशबन्ध** कहलाता है।

१–**ज्ञानावरणीय**–* जिस के द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाए उस का नाम **ज्ञान** है। जो कर्म ज्ञान का आवरण-आच्छादन करने वाला हो, उसे **ज्ञानावरणीय** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य को बादल आवृत कर लेता है, अथवा जैसे नेत्रों के प्रकाश को वस्त्रादि पदार्थ आच्छादित कर देते है, उसी प्रकार जिन कर्माणुओं या कर्मवर्गणाओं के द्वारा इस जीवात्मा का ज्ञान आवृत (ढका हुआ) हो रहा है, उन कर्माणुओं या कर्मवर्गणाओं का नाम **ज्ञानावरणीय** कर्म है।

२–**दर्शनावरणीय**—पदार्थों के सामान्य बोध का नाम **दर्शन** है। जिस कर्म के द्वारा जीवात्मा का सामान्य बोध आच्छादित हो उसे **दर्शनावरणीय** कहा जाता है। यह कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे—द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है ठीक उसी प्रकार यह कर्म भी आत्मा के चक्षुर्दर्शन (नेत्रों के द्वारा होने वाला पदार्थ का सामान्य बोध) आदि में रुकावट डालता है।

३–**वेदनीय**—जिस कर्म के द्वारा सुख दुःख की उपलब्धि हो उस का नाम **वेदनीय** कर्म है। यह कर्म मधुलिप्त असिधारा के समान है। जैसे—मधुलिप्त असिधारा को चाटने वाला मधु के रसास्वाद से आनन्द तथा जिह्वा के कट जाने से दुःख दोनों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीव सुख और दुःख दोनों का अनुभव करता है।

४–**मोहनीय**—जो कर्म स्व पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुँचाता है, अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का और चारित्रगुण का घात करता है, उसे **मोहनीय कर्म** कहते हैं। यह कर्म मदिराजन्य फल के समान फल करता है। जिस प्रकार मदिरा के नशे में चूर हुआ २ पुरुष अपने कर्तव्याकर्तव्य के भान से च्युत हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को भी निज हेयोपादेय का ज्ञान नहीं रहता।

५–**आयु**—जिस कर्म के अवस्थित रहने से प्राणी जीवित रहता है और क्षीण हो जाने से मृत्यु को प्राप्त करता है, उसे **आयुष्कर्म** कहते है। यह कर्म कारागार (जेल) के समान है, अर्थात् जिस प्रकार कारागार में पड़ा हुआ कैदी अपने नियत समय से पहले नहीं निकल पाता उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा अपनी नियत भवस्थिति को पूरा किये बिना मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता।

६–**नाम**—जिस कर्म के प्रभाव से अमुक जीव नारकी है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य और अमुक देव है—इस प्रकार के नामों से सम्बोधित होता है, उसे **नामकर्म** कहते हैं। यह कर्म चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है। उसी प्रकार नामकर्म भी इस जीवात्मा को अनेक प्रकार की अवस्थाओं में परिवर्तित करता है।

---

*नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा। वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य। एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३३)

७-**गोत्र**—जिस कर्म के द्वारा यह जीवात्मा ऊँच और नीच कुल में उत्पन्न हो अर्थात् ऊँच नीच संज्ञा से सम्बोधित किया जाए, उस का नाम **गोत्रकर्म** है। यह कर्म कुलाल (कुम्हार) के समान है। जैसे—कुलाल छोटे तथा बडे भाजनो को बनाता है, उसी प्रकार गोत्रकर्म के प्रभाव से इस जीव को ऊँच और नीच पद की उपलब्धि होती है।

८-**अन्तराय**—जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियो का घात करता है वह कर्म **अन्तराय** कहलाता है। अन्तराय कर्म राजभडारी के समान होता है। जैसे--राजा ने द्वार पर आये हुए किसी याचक को कुछ द्रव्य देने की कामना से भडारी के नाम पत्र लिख कर याचक को तो दिया, परन्तु याचक को भडारी ने किसी कारण से द्रव्य नहा दिया, या भडारी ही उसे नहीं मिला। भडारी का इन्कार या उस का न मिलना ही अन्तराय कर्म है। कारण कि पुण्यकर्म-वशात् दानादि सामग्री के उपस्थित होते हुए भी इस के प्रभाव से कोई न कोई ऐसा विघ्न उपस्थित हो जाता है कि देने और लेने वाले दोनो ही सफल नहीं हो पाते।

कर्मों की आठ मूल प्रकृतिये ऊपर कही जा चुकी है, इन की *उत्तर प्रकृतिये १५८ है। ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५, कुल मिला कर †१५८ उत्तरप्रकृति या उत्तरभेद होते है। इन समस्त उत्तरभेदो का विस्तृत वर्णन तो जैनागमो तथा उन से सकलित किये गये कर्मग्रन्थो मे किया गया है, परन्तु प्रस्तुत मे इन का प्रकरणानुसारी सक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है—

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म** के ५ भेद है, जिनका विवरण नीचे की पक्तियो मे है—

१–**मतिज्ञानावरणीय**—इन्द्रियो और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे **मतिज्ञान** कहते है। इस ज्ञान को आवरण--आच्छादन करने वाले कर्म को **मतिज्ञानावरणीय** अथवा **मतिज्ञानावरण** कहते है।

२–**श्रुतज्ञानावरणीय**—शास्त्रो के वाचने तथा सुनने से जो अर्थज्ञान होता है, अथवा–मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिस मे हो ऐसा ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को **श्रुतज्ञानावरणीय** या **श्रुतज्ञानावरण** कर्म कहते है।

३–**अवधिज्ञानावरणीय**—इन्द्रियो तथा मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए रूप वाले द्रव्य का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते है, इस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को **अवधिज्ञानावरणीय** कहते है।

---

*कर्मो के मूलभेद मूलप्रकृति और उत्तरभेद उत्तरप्रकृतिये कहलाती है।

† इह नाणदसणावरणवेदमोहाउनामगोयाणि।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥३॥ (कर्मग्रथ भाग १)

४–**मनःपर्यवज्ञानावरणीय**—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिए हुए जिस से संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जाना जाए उसे मनःपर्यवज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को **मनःपर्यवज्ञानावरणीय** कहते हैं।

५--**केवलज्ञानावरणीय**—संसार के भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल के सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत्—एक साथ जानना, केवलज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को **केवलज्ञानावरणीय** कहते हैं।

(२) **दर्शनावरणीय कर्म** के ६ भेद हैं। इन का संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है—

१--**चक्षुर्दर्शनावरणीय**—आंख के द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं, उस सामान्य ग्रहण अर्थात् ज्ञान को रोकने वाला कर्म **चक्षुर्दर्शनावरणीय** कहलाता है।

२--**अचक्षुर्दर्शनावरणीय**—आंख को छोड़ कर त्वचा, जिह्वा, नाक, कान और मन से पदार्थों के सामान्य धर्म का जो ज्ञान होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। इस के आवरण करने वाले कर्म को **अचक्षुर्दर्शनावरणीय** कहा जाता है।

३--**अवधिदर्शनावरणीय**—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। इस के आवरण करने वाले कर्म को **अवधिदर्शनावरणीय** कहते हैं।

४--**केवलदर्शनावरणीय**—संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है, उसे केवलदर्शन कहते हैं। इस के आवरण करने वाले कर्म को **केवलदर्शनावरणीय** कहा जाता है।

५--**निद्रा**—जो सोया हुआ जीव थोड़ी सी आवाज से जाग पड़ता है अर्थात् जिसे जगाने में परिश्रम नहीं करना पड़ता, उस की नींद को निद्रा कहते हैं और जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का नाम भी **निद्रा** है।

६–**निद्रानिद्रा**— जो सोया हुआ जीव बड़े जोर से चिल्लाने पर, हाथ द्वारा जोर २ से हिलाने पर बड़ी मुश्किल से जागता है, उस की नींद को निद्रानिद्रा कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उस कर्म का भी नाम **निद्रानिद्रा** है।

७--**प्रचला**—खड़े २ या बैठे २ जिस को नींद आती है, उस की नींद को प्रचला कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उस कर्म का भी नाम **प्रचला** है।

८--**प्रचलाप्रचला**—चलते फिरते जिस को नींद आती है, उस की नींद को प्रचलाप्रचला कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उस कर्म का भी नाम **प्रचलाप्रचला** है।

९--**स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि**—जो जीव दिन में अथवा रात में सोचे हुए काम को

नींद की हालत मे कर डालता है, उस की नींद को स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि कहते हैं। यह निद्रा जिसे आती है उस मे उस निद्रा की दशा मे वासुदेव का आधा बल आ जाता है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का नाम **स्त्यानर्द्धि** या **स्त्यानगृद्धि** है।

(३) **वेदनीय कर्म** के २ भेद हैं। उन का नामनिर्देशपूर्वक विवरण निम्नोक्त है–

१--सातवेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषयसम्बन्धी सुख का अनुभव होता है, उसे **सातवेदनीय** कहते हैं।

२--असातवेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति मे अथवा प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति से दु ख का अनुभव होता है, उसे **असातवेदनीय** कहते है।

(४) **मोहनीय कर्म** के— १–दर्शनमोहनीय और २– चारित्रमोहनीय, ऐसे दो भेद हैं। जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना यह दर्शन है अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान को दर्शन कहते है। यह आत्मा का गुण हे। इस के घातक कर्म को **दर्शनमोहनीय** कहा जाता है और जिस के द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को पाता है उसे चारित्र कहते हैं। इस के घात करने वाले कर्म को **चारित्रमोहनीय** कहते हैं। **दर्शनमोहनीय कर्म** के ३ भेद निम्नोक्त है—

१--सम्यक्त्वमोहनीय—जिस कर्म का उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त हो कर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है, वह **सम्यक्त्वमोहनीय** है।

२--मिथ्यात्वमोहनीय— जिस कर्म के उदय से तत्त्वों के यथार्थरूप की रुचि न हो, वह **मिथ्यात्वमोहनीय** कहलाता है।

३--मिश्रमोहनीय—जिस कर्म के उदयकाल मे यथार्थता की रुचि या अरुचि न हो कर दोलायमान स्थिति रहे, उसे **मिश्रमोहनीय** कहते है।

चारित्रमोहनीय के **कषायमोहनीय** और **नोकषायमोहनीय** ऐसे दो भेद उपलब्ध होते है। १– जिस कर्म के उदय से क्रोध, मान, माया आदि कषायों की उत्पत्ति हो, उसे **कषायमोहनीय** कहते हैं, और २– जिस कर्म के उदय से आत्मा मे हास्यादि नोकषाय (कषायों के उदय के साथ जिन का उदय होता है, अथवा कषायों को उत्तेजित करने वाले हास्य आदि) की उत्पत्ति हो, उसे **नोकषायमोहनीय** कहते है। **कषायमोहनीय** के १६ भेद होते है, जो कि निम्नोक्त है—

१--अनन्तानुबन्धी क्रोध– जीवनपर्यन्त बना रहने वाला क्रोध अनन्तानुबन्धी कहलाता है, इस मे नरकगति का बन्ध होता है और यह सम्यग् दर्शन का घात करता है। पत्थर पर की गई रेखा जैसे नहीं मिटती, उसी भांति यह क्रोध भी किसी भी तरह शान्त नहीं होने पाता।

२--अनन्तानुबन्धी मान—जो मान-अहंकार जीवनपर्यन्त बना रहता है, वह अनन्ता

नुबन्धी मान कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन का घातक और नरकगति का कारण बनता है। जैसे–भरसक प्रयत्न करने पर भी वज्र का खभा नम नहीं सकता, उसी प्रकार यह मान भी किसी प्रकार दूर नहीं किया जा सकता।

३--अनन्तानुबन्धिनी माया—जो माया जीवन भर बनी रहती है, वह अनन्तानुबन्धिनी माया कहलाती है। यह माया सम्यग्दर्शन की घातिका और नरकगति के बन्ध का कारण होती है। जैसे कठिन बांस की जड का टेढापन किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह माया भी किसी उपाय से दूर नहीं होती।

४—अनन्तानुबन्धी लोभ—यह जीवन--पर्यन्त बना रहता है। सम्यग्दर्शन का घातक और नरकगति का दाता होता है। जैसे– मजीठिया रग कभी नहीं उतरता, उसी भाति यह लोभ भी किसी उपाय से दूर नहीं हो पाता।

५—अप्रत्याख्यानी क्रोध—यह एक वर्ष तक बना रहता है, यह देशविरतिरूप चारित्र का घातक होने के साथ २ तिर्यञ्च गति का कारण बनता है। जैसे-सूखे तालाब आदि मे दरारे पड जाती है, वह पानी पडने पर फिर भर जाती है, इसी भाति यह क्रोध किसी कारणविशेष से उत्पन्न होकर कारण मिलने पर शान्त हो जाता है।

६ —अप्रत्याख्यानी मान—इस की स्थिति, गति और हानि अप्रत्याख्यानी क्रोध के समान है। जैसे हड्डी को मोडने के लिये कई प्रकार के प्रयत्न करने पडते हैं, उसी भाति यह मान भी बडे प्रयत्न से दूर किया जाता है।

७—अप्रत्याख्यानी माया—इस की गति, स्थिति और हानि अप्रत्याख्यानी क्रोध की भाति है। जैसे–भेड के सींग का टेढापन बडी कठिनता से दूर किया जाता है, वैसे ही यह माया बडी कठिनाई से दूर की जाती है।

८—अप्रत्याख्यानी लोभ—इस की गति, स्थिति और हानि अप्रत्याख्यानी क्रोध के तुल्य है। जैसे—शहर की नाली के कीचड का रग बडी कठिनाई से हटाया जा सकता है, उसी भाति यह लोभ भी बडी कठिनाई से दूर किया जा सकता है।

९—प्रत्याख्यानी क्रोध—इस की स्थिति ४ मास की है, यह सर्वविरतिरूप चारित्र का घातक होने के साथ २ मनुष्यायु के बन्ध का कारण बनता है। जैसे रेत मे गाडी के पहियो की रेखा वायु आदि के झोंकों से शीघ्र मिट जाती हैं, वैसे ही यह क्रोध उपाय करने से शान्त हो जाता है।

१०—प्रत्याख्यानी मान—इस की स्थिति, गति और हानि प्रत्याख्यानी क्रोध के तुल्य है। जैसे काठ का खभा तैलादि के द्वारा नमता है, उसी प्रकार यह मान कुछ प्रयत्न करने से ही नष्ट हो सकता है।

११—प्रत्याख्यानी माया—इस की गति, स्थिति और हानि प्रत्याख्यानी क्रोध के तुल्य है।

जैसे मार्ग में चलते हुए बैल के मूत्र की रेखा धूल आदि से मिट जाती है, उसी भांति यह माया थोड़े से प्रयत्न द्वारा दूर की जा सकती है।

१२—प्रत्याख्यानी लोभ—इस की गति, स्थिति और हानि प्रत्याख्यानी क्रोध के समान है। जैसे दीपक के काजल का रंग प्रयत्न करने पर ही छूटता है, उसी भांति यह भी प्रयत्न द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

१३—संज्वलन क्रोध—इस की स्थिति दो महीने की है। यह वीतरागपद का घातक होने के साथ २ देवगति के बन्ध का कारण बनता है। जैसे पानी पर खींची हुई रेखा शीघ्र ही मिट जाती है, उसी भांति यह क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

१४—संज्वलन मान—इस की स्थिति एक मास की है, वीतरागपद का घात करने के साथ २ यह देवगति का कारण बनता है। जैसे—तिनके को आसानी से नमाया जा सकता है, इसी प्रकार यह मान शीघ्र दूर किया जा सकता है।

१५—संज्वलन माया—इस की स्थिति १५ दिन की है। गति और हानि से यह संज्वलन क्रोध के तुल्य है। जैसे ऊन के धागे का बल आसानी से उतर जाता है इसी प्रकार यह माया भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

१६—संज्वलन लोभ—इस की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इस की गति और हानि संज्वलन क्रोध के समान है। जैसे हल्दी का रंग धूप आदि से शीघ्र ही छूट जाता है, इसी तरह यह लोभ भी शीघ्र ही दूर हो जाता है।

नोकषाय के ६ भेद होते हैं। इन का नामनिर्देशपूर्वक विवरण निम्नोक्त है—

१—हास्य—जिस कर्म के उदय से कारणवश अर्थात् भांड आदि की चेष्टा को देख कर अथवा बिना कारण (अर्थात् जिस हँसी में बाह्य पदार्थ कारण न हो कर केवल मानसिक विचार निमित्त बनते हैं) हँसी आती है, वह हास्य है।

२—रति—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थों में अनुराग हो, प्रीति हो, वह कर्म रति कहलाता है।

३—अरति—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण पदार्थों से अप्रीति हो उद्वेग हो, वह कर्म अरति कहलाता है।

४—शोक—जिस कर्म के उदय होने पर कारणवश अथवा बिना कारण के ही शोक की प्रतीति हो, वह कर्म शोक कहा जाता है।

५—भय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण भय हो, उसे भय कहते हैं।

६—जुगुप्सा—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण मलादि बीभत्स पदार्थों को देख कर घृणा होती है, वह कर्म जुगुप्सा कहलाता है।

७—स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ भोग करने की अभिलाषा होती है वह स्त्रीवेद कहा जाता है। अभिलाषा में दृष्टान्त करीषाग्नि का है। करीष सूखे गोबर को कहते है, उस की आग जैसे २ जलाई जाए वैसे २ बढती रहती है। इसी प्रकार पुरुष के करस्पर्शादि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढती जाती है।

८—पुरुषवेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ भोग करने की अभिलाषा होती है, वह कर्म पुरुषवेद कहलाता है। अभिलाषा में दृष्टान्त तृणाग्नि का है। तृण की आग शीघ्र ही जलती है और शीघ्र ही बुझती है इसी भॉति पुरुष को अभिलाषा शीघ्र होती है और स्त्रीसेवन के बाद शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

९—नपुंसकवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह नपुंसकवेद कर्म कहलाता है। अभिलाषा में दृष्टान्त नगरदाह का है। नगर में आग लगे तो बहुत दिनों में नगर को जलाती है और उस आग को बुझाने में भी बहुत दिन लगते है, इसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषयसेवन से तृप्ति भी नहीं हो पाती।

(५)—आयुष्कर्म के ४ भेद होते है। जिस कर्म के उदय से देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक इन गतियों में जीवन को व्यतीत करना पडता है, वह अनुक्रम से १—देवायुष्य, २—मनुष्यायुष्य, ३—तिर्यञ्चायुष्य और ४—नरकायुष्य कर्म कहलाता है।

(६)—नामकर्म के १०३ भेद होते है। इन का सक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है—

१—नरकगतिनामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो, जिस से वह नारक कहलाता है। उस कर्म को नरकगतिनामकर्म कहते है।

२—तिर्यञ्चगतिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव तिर्यञ्च कहलाता है।

३—मनुष्यगतिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव मनुष्यपर्याय को प्राप्त करता है।

४—देवगतिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव देव अवस्था को प्राप्त करता है।

५—एकेन्द्रियजातिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को केवल एक त्वगिन्द्रिय की प्राप्ति होती है।

६—द्वीन्द्रियजातिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को त्वचा और जिह्वा ये दो इन्द्रिये प्राप्त होती है।

७—त्रीन्द्रियजातिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को त्वचा, जिह्वा और नासिका ये तीन इन्द्रिये प्राप्त होती है।

८—चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को त्वचा, जिह्वा, नासिका और नेत्र ये चार इन्द्रिये प्राप्त होती है।

९—पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को त्वचा, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कान ये पांच इन्द्रियें प्राप्त होती है।

१०—औदारिकशरीरनामकर्म—उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, इस कर्म से ऐसा शरीर उपलब्ध होता है।

११—वैक्रियशरीरनामकर्म—जिस शरीर से एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना, बडा शरीर धारण करना, आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य और अदृश्य शरीर धारण करना आदि अनेकविध क्रियाएँ की जा सकती है उसे वैक्रियशरीर कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो वह वैक्रियशरीरनामकर्म कहलाता है।

१२—आहारकशरीरनामकर्म—१४ पूर्वधारी मुनि महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान तीर्थंकर से अपना सन्देह निवारण करने अथवा उन का ऐश्वर्य देखने के लिए जब उक्त क्षेत्र को जाना चाहते है तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्ध स्फटिक सा निर्मल जो शरीर धारण करते है, उसे आहारक शरीर कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो वह आहारकशरीरनामकर्म कहलाता है।

१३—तैजसशरीरनामकर्म—आहार के पाक का हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतललेश्या के निर्गमन का हेतु जो शरीर है, वह तैजस शरीर कहलाता है। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती हो, वह तैजसशरीरनामकर्म कहलाता है।

१४ कार्मणशरीरनामकर्म—जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को कार्मणशरीर कहते है। इसी शरीर से जीव अपने मरणस्थान को छोड कर उत्पत्तिस्थान को प्राप्त करता है। जिस कर्म के उदय से इस शरीर की प्राप्ति हो वह कार्मणशरीरनामकर्म कहलाता है।

१५—औदारिकअंगोपांगनामकर्म—औदारिक शरीर के आकार में परिणत पुद्गलों से अंगोपांगरूप अवयव इस कर्म के उदय से बनते है।

१६—वैक्रियअंगोपांगनामकर्म—इस कर्म के उदय से वैक्रियशरीररूप में परिणत पुद्गलों में अंगोपांगरूप अवयव बनते है।

१७—आहारकअंगोपांगनामकर्म—इस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप में परिणत पुद्गलों से अंगोपांगरूप अवयव बनते है।

१८—औदारिकसंघातननामकर्म—इस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य होता है अर्थात् एक दूसरे के पास व्यवस्था से स्थापित होते है

१९—वैक्रियसंघातननामकर्म—इस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सामीप्य होता है।

२०-आहारकसंघातननामकर्म—इस कर्म के उदय से आहारक शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य होता है।

२१-तैजससंघातननामकर्म—इस कर्म के उदय से तैजस शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सामीप्य होता है।

२२-कार्मणसंघातननामकर्म—इस कर्म के उदय से कार्मण शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य होता है।

२३-औदारिकऔदारिकबन्धननामकर्म—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है।

२४-औदारिकतैजसबन्धननामकर्म—इस कर्म के उदय से औदारिक दल का तैजस दल के साथ सम्बन्ध होता है।

२५-औदारिककार्मणबन्धननामकर्म—इस कर्म के उदय से औदारिक दल का कार्मण दल के साथ सम्बन्ध होता है।

२६-वैक्रियवैक्रियबन्धननामकर्म—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय पुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है

इसी भाँति—**२७-वैक्रियतैजसबन्धननामकर्म, २८-वैक्रियकार्मणबन्धननामकर्म, २९-आहारकआहारकबन्धननामकर्म, ३०-आहारकतैजसबन्धननामकर्म, ३१-आहारककार्मणबन्धननामकर्म, ३२-औदारिकतैजसकार्मणबन्धननामकर्म***, **३३-वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननामकर्म, ३४-आहारकतैजसकार्मणबन्धननामकर्म, ३५-तैजसतैजसबन्धननामकर्म, ३६-तैजसकार्मणबन्धननामकर्म, ३७-कार्मणकार्मणबन्धननामकर्म**, इन का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इतना ध्यान रहे कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिये इन के सम्बन्ध कराने वाले नामकर्म भी नहीं हैं।

३८-वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्म—वज्र का अर्थ है—कीला। ऋषभ-वेष्टनपट्ट को कहते हैं। दोनों तरफ मर्कटबन्ध—इस अर्थ का परिचायक नाराचशब्द है। मर्कटबन्ध से बंधी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो उसे वज्र ऋषभनाराचसंहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त हो, उस कर्म का नाम भी वज्र ऋषभनाराचसंहनननामकर्म है।

३९-ऋषभनाराचसंहनननामकर्म—दोनों तरफ हाडों का मर्कटबन्ध हो, तीसरे हाड का वेष्टन भी हो, लेकिन भेदने वाला हाड का कीला न हो उसे ऋषभनाराचसंहनन कहते हैं। जिस कर्म

* इस कर्म के उदय से औदारिकदल का तैजस और कार्मण दल के साथ सम्बन्ध होता है।

के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे **ऋषभनाराचसंहनननामकर्म** कहते है।

४०–**नाराचसंहनननामकर्म**—जिस संहनन मे दोनो ओर मर्कटबन्ध हो किन्तु वेष्टन और कीला न हो, उसे नाराचसंहनन कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है, उसे **नाराचसंहनननामकर्म** कहते है।

४१–**अर्धनाराचसंहनननामकर्म**—जिस संहनन मे एक तरफ मर्कटबन्ध हो और दूसरी तरफ कीला हो उसे अर्धनाराच संहनन कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे **अर्धनाराचसंहनननामकर्म** कहते है।

४२–**कीलिकासंहनननामकर्म**—जिस संहनन मे मर्कटबन्ध और वेष्टन न हो किन्तु कीले से हड्डियां मिली हुई हो वह कीलिकासंहनन कहलाता है। जिस कर्म के उदय से इस संहनन की प्राप्ति हो उसे **कीलिकासंहनननामकर्म** कहते है।

४३–**सेवार्तकसंहनननामकर्म**—जिस मे मर्कटबन्ध, वेष्टन और कीला न हो कर यूंही हड्डियां आपस मे जुडी हुई हो वह सेवार्तकसंहनन कहलाता है। जिस कर्म से इस संहनन की प्राप्ति होती है, उसे **सेवार्तकसंहनननामकर्म** कहते है।

४४–**समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म**—पालथी मार कर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयवलक्षण शुभ हों, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे **समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म** कहते है।

४५–**न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म**—बड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते है। उस के समान जिस शरीर मे नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों किन्तु नाभि से नीचे के अवयव हीन हों, उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से इस की प्राप्ति होती है, उसे **न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म** कहते है।

४६–**सादिसंस्थाननामकर्म**—जिस शरीर मे नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और ऊपर के अवयव हीन होते है, उसे सादिसंस्थान कहते है। जिस कर्म के उदय से इस की प्राप्ति होती है उसे **सादिसंस्थाननामकर्म** कहते है।

४७–**कुब्जसंस्थाननामकर्म**—जिस शरीर के साथ पैर, सिर, गरदन आदि अवयव ठीक हों किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हो, उसे कुब्जसंस्थान कहते है, जिसे कुबडा भी कहा जाता है। जिस कर्म के उदय से इस संस्थान की प्राप्ति होती है उसे **कुब्जसंस्थाननामकर्म** कहते है।

४८–**वामनसंस्थाननामकर्म**—जिस शरीर मे हाथ पैर आदि अवयव छोटे हो और छाती

पेट आदि पूर्ण हों उसे वामनसंस्थान कहते हैं। जिसे बौना भी कहा जाता है। जिस कर्म के उदय से इस की प्राप्ति होती है उसे **वामनसंस्थाननामकर्म** कहते हैं।

४६–**हुडसंस्थाननामकर्म**—जिस के सब अवयव बेढब हों, प्रमाणशून्य हों, उसे हुण्ड-संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उस **हुडसंस्थाननामकर्म** कहते हैं।

५०–**कृष्णवर्णनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला होता है।
५१–**नीलवर्णनामकर्म**— ,, ,, ,, तोते के पंख जैसा हरा ,, ।
५२–**लोहितवर्णनामकर्म**— ,, ,, ,, हिंगुल या सिन्दूर जैसा लाल ,, ।
५३–**हारिद्रवर्णनामकर्म**— ,, ,, ,, हल्दी ,, पीला ,, ।
५४–**श्वेतवर्णनामकर्म**— ,, ,, ,, शङ्ख ,, सफेद ,, ।
५५–**सुरभिगन्धनामकर्म**— ,, ,, जीव के शरीर की कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्धि होती है।

५६–**दुरभिगन्धनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर की लहसुन या सडे पदार्थों जैसी गन्ध होती है।

५७–**तिक्तरसनामकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चरचरा होता है।

५८–**कटुरसनामकर्म**–इस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस नीम या चरायते जैसा कटु होता है।
५९–**कषायरसनामकर्म**– ,, ,, ,, ,, ,, आंवले या बहेडे ,, कसैला ,, ।
६०–**आम्लरसनामकर्म**– ,, ,, ,, ,, ,, नींबू या इमली ,, खट्टा ,, ।
६१–**मधुररसनामकर्म**– ,, ,, ,, ,, ,, ईख ,, मीठा ,, ।
६२–**गुरुस्पर्शनामकर्म**– ,, ,, ,, का शरीर लोहे ,, भारी , ।
६३–**लघुस्पर्शनामकर्म**— ,, ,, जीव का शरीर आक की रुई ,, हलका ,, ।
६४–**मृदुस्पर्शनामकर्म**— ,, ,, ,, ,, मक्खन ,, कोमल ।
६५–**कर्कशस्पर्शनामकर्म** ,, , ,, . गाय की जीभ ,, खुरदरा ,, ।
६६–**शीतस्पर्शनामकर्म**–,, ,, ,, ,, कमलदण्ड या बर्फ जैसा ठण्डा होता है।
६७–**उष्णस्पर्शनामकर्म**–,, ,, ,, ,, अग्नि के समान उष्ण होता है।
६८–**स्निग्धस्पर्शनामकर्म**–,, ,, ,, ,, घृत के समान चिकना होता है।
६९–**रूक्षस्पर्शनामकर्म**–,, ,, ,, ,, राख के समान रूखा होता है।

७०-देवानुपूर्वीनामकर्म—इस कर्म के उदय से *समश्रेणि से गमन करने वाला जीव विश्रेणिस्थित अपने उत्पत्तिस्थान देवगति को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि सीधे जाते हुए बैलों को जैसे नाथ के द्वारा घुमा कर दूसरे मार्ग पर चलाया जाता है, उसी तरह यह कर्म भी स्वभावत: समश्रेणि पर चलते हुए जीव को घुमा कर विश्रेणिस्थित अपने उत्पत्तिस्थान देवगति को प्राप्त करा देता है।

७१-मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म—इस कर्म के प्रभाव से समश्रेणि से प्रस्थित जीव विश्रेणिस्थित अपने उत्पत्तिस्थान मनुष्यगति को प्राप्त करता है।

७२--तिर्यञ्चानुपूर्वीनामकर्म—इस कर्म के प्रभाव से समश्रेणी से प्रस्थित जीव विश्रेणिस्थित अपने उत्पत्तिस्थान तिर्यञ्चगति को प्राप्त करता है।

७३-नरकानुपूर्वीनामकर्म—इस कर्म के प्रभाव से समश्रेणि से प्रस्थित जीव विश्रेणिस्थित अपने उत्पत्तिस्थान नरकगति को प्राप्त करता है।

७४-शुभविहायोगतिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ होती है जैसे कि— हाथी, बैल, हंस आदि की चाल शुभ होती है।

७५-अशुभविहायोगतिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ होती है। जैसे कि ऊंट, गधा आदि की चाल अशुभ होती है।

७६-पराघातनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव बडे २ बलवानों की दृष्टि में भी अजेय समझा जाता है। अर्थात् जिस जीव को इस कर्म का उदय होता है वह इतना प्रबल मालूम देता है कि बडे २ बली भी उस का लोहा मानते हैं। राजाओं की सभा में उस के दर्शन मात्र से अथवा केवल वाक्कौशल से बलवान् विरोधियों के भी छक्के छूट जाते हैं।

७७-उच्छ्वासनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वासलब्धि से युक्त होता है। शरीर से बाहिर की हवा को नासिका द्वारा अन्दर खींचना **श्वास** है और शरीर के अन्दर की हवा को नासिका द्वारा बाहिर छोडना **उच्छ्वास** कहलाता है।

७८-आतपनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न हो कर भी उष्ण प्रकाश करता है। सूर्यमण्डल के बाहिर एकेन्द्रियकाय जीवों का शरीर ठण्डा होता है, परन्तु आतपनामकर्म के उदय से वह उष्ण प्रकाश करता है। सूर्यमण्डल के एकेन्द्रिय जीवों को छोड कर अन्य

---

*जीव की स्वाभाविक गति श्रेणि के अनुसार होती है। आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं। एक शरीर को छोड दूसरा शरीर धारण करने के लिये जीव जब समश्रेणि से अपने उत्पत्तिस्थान के प्रति जाने लगता है तब आनुपूर्वीनामकर्म उस को विश्रेणिपतित उत्पत्तिस्थान पर पहुँचा देता है। जीव का उत्पत्तिस्थान यदि समश्रेणि में हो तो आनुपूर्वीनामकर्म का उदय नहीं होता अर्थात् वक्रगति में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है, ऋजु गति में नहीं।

जीवों को आतपनामकर्म का उदय नहीं होता। यद्यपि अग्निकायों के जीवों का शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है परन्तु वह आतपनामकर्म के उदय से नहीं किन्तु उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय से है और लोहित-वर्णनामकर्म के उदय से प्रकाश करता है।

७९-उद्योतनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतल प्रकाश फैलाता है। लब्धिधारी मुनि जब वैक्रियशरीर धारण करते हैं तब उन के शरीर में से, देव जब अपने मूल शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब उस शरीर में से, चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल और तारामण्डल के पृथिवीकायिक जीवों के शरीर में से, जुगनू, रत्न और प्रकाश वाली औषधियों से जो प्रकाश निकलता है, वह उद्योतनामकर्म के कारण होता है।

८०-अगुरुलघुनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है और न हलका, अर्थात इस कर्म के प्रभाव से जीवों का शरीर इतना भारी नहीं होता कि जिसे सभालना कठिन हो जाये और इतना हलका भी नहीं होता कि हवा में उड जाये।

८१-तीर्थंकरनामकर्म—इस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।

८२-निर्माणनामकर्म—इस कर्म के उदय से अंगोपांग शरीर में अपनी २ जगह व्यवस्थित होते हैं। इसे चित्रकार की उपमा दी गई है। जैसे चित्रकार हाथ, पैर आदि अवयवों को यथोचित स्थान पर बना देता है, उसी प्रकार निर्माणनामकर्म का काम अवयवों को उचित स्थान में व्यवस्थित करना होता है।

८३-उपघातनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों-प्रतिजिह्वा (पडजीभ) चौरदन्त (ओठ से बाहिर निस्सृत दांत), रसौली, छटी अंगुली आदि से क्लेश पाता है।

८४-त्रसनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय द्वीन्द्रिय आदि की प्राप्ति होती है।

८५-बादरनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर बादर होता है। नेत्रादि के द्वारा जिस की अभिव्यक्ति हो सके वह बादर-स्थूल कहलाता है।

८६-पर्याप्तनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव अपनी २ पर्याप्तियों से युक्त होते हैं। पर्याप्ति का अर्थ है- जिस शक्ति के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में बदल देने का काम होता है।

८७-प्रत्येकनामकर्म—इस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी बनता है। जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी तथा आम्रादि फलों के एक शरीर का स्वामी एक ही जीव होता है।

८८-स्थिरनामकर्म—इस कर्म के उदय से दान्त, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल होते हैं।

८९-शुभनामकर्म—इस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं। हाथ, सिर आदि शरीर के अवयवों के स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नहीं होती। जैसे-कि पांव के स्पर्श से होती

है, यही नाभि के ऊपर के अवयवों में शुभत्व है।

९०–सुभगनामकर्म–इस कर्म के उदय से किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी जीव सब का प्रीतिभाजन बनता है।

९१–सुस्वरनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकर होता है। जैसे कि कोयल, मोर आदि जीवों का स्वर प्रिय होता है।

९२–आदेयनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य होता है।

९३–यशःकीर्तिनामकर्म–इस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैलती है। किसी एक दिशा में नाम (प्रशंसा) हो तो उसे कीर्ति कहते हैं और सब दिशाओं में होने वाले नाम को यश कहते हैं। अथवा दान, तप, आदि के करने से जो नाम होता है वह कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है वह यश कहलाता है।

९४–स्थावरनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहते हैं। सर्दी, गर्मी से बचने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वयं नहीं जा सकते। जैसे वनस्पति के जीव।

९५–सूक्ष्मनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्मशरीर (जो किसी को रोक न सके और न स्वयं ही किसी से रुक सके) प्राप्त होता है। इस नामकर्म वाले जीव ५ स्थावर हैं और ये सब लोकाकाश में व्याप्त हैं, आंखों से नहीं देखे जा सकते।

९६–अपर्याप्तनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाता।

९७–साधारणनामकर्म–इस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही शरीर मिलता है अर्थात् अनन्त जीव एक ही शरीर के स्वामी बनते हैं। जैसे आलू, मूली आदि के जीव।

९८–अस्थिरनामकर्म—इस कर्म के उदय से कान, भौंह, जिह्वा आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं।

९९–अशुभनामकर्म–इस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव पैर आदि अशुभ होते हैं। पैर का स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही इस का अशुभत्व है।

१००–दुर्भगनामकर्म—इस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी अप्रिय लगता है।

१०१–दुःस्वरनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश--सुनने में अप्रिय, लगता है।

१०२–अनादेयनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव का वचन युक्तियुक्त होते हुए भी अनादरणीय होता है।

१०३–अयशःकीर्तिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का संसार में अपयश और अपकीर्ति फैलती है।

(७) गोत्रकर्म के दो भेद होते हैं। इनका संक्षिप्त पर्यालोचन निम्नोक्त है–

१–उच्चगोत्र—इस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है।

२–नीचगोत्र—इस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है। धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह उच्चकुल कहलाता है। जैसेकि इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश आदि। तथा अधर्म और अनीति के पालन से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह नीचकुल कहा जाता है। जैसेकि— वधिककुल, मद्यविक्रेतृकुल, चौरकुल आदि।

(८) अन्तरायकर्म के ५ भेद होते हैं। इन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१–दानान्तरायकर्म—दान की वस्तुएं मौजूद हों, गुणवान पात्र आया हो, दान का फल जानता हो, तो भी इस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता।

२–लाभान्तरायकर्म—दाता उदार हो, दान की वस्तुएं स्थित हों, याचना में कुशलता हो, तो भी इस कर्म के उदय से लाभ नहीं हो पाता।

३–भोगान्तरायकर्म—भोग के साधन उपस्थित हों, वैराग्य न हो, तो भी इस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग नहीं कर सकता है। जो पदार्थ एक बार भोगे जाएं उन्हें भोग कहते हैं। जैसेकि– फल, जल, भोजन आदि।

४–उपभोगान्तरायकर्म—उपभोग की सामग्री अवस्थित हो, विरतिरहित हो, तथापि इस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता। जो पदार्थ वार २ भोगे जाएं उन्हें उपभोग कहते हैं। जैसेकि– मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

५–वीर्यान्तरायकर्म*—वीर्य का अर्थ है– सामर्थ्य। बलवान् रोगरहित एवं युवा व्यक्ति भी इस कर्म के उदय से सत्त्वहीन की भांति प्रवृत्ति करता है और साधारण से काम को भी ठीक तरह से नहीं कर पाता।

बन्ध और उस के हेतु—पुद्गल की वर्गणाएं– प्रकार अनेक हैं, उन में से जो वर्गणाएं कर्म-रूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं, जीव उन्हीं को ग्रहण कर के निज आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्टरूप से जोड़ लेता है अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्म सम्बन्ध वाला होने से मूर्तवत् हो जाने के कारण मूर्त कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है। जैसे दीपक बत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण कर के अपनी उष्णता से उसे ज्वालारूप में परिणत कर लेता है। वैसे ही जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर के उन्हें कर्मरूप में परिणत कर लेता है। आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही †बन्ध कहलाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच ‡बन्धहेतु हैं। मिथ्यात्व का अर्थ है– मिथ्यादर्शन। यह

*कर्मों की १५८ उत्तरप्रकृतियों का स्वरूप प्रायः अनन्तरूप पं० सुखलाल जी से अनुवादित कर्मग्रन्थ प्रथम भाग से साभार उद्धृत किया गया है।

†सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। (तत्त्वा० ८।२)

‡ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः। (तत्त्वा० ८।१)

सम्यग्दर्शन से उलटा होता है। मिथ्यादर्शन दो प्रकार का होता है। पहला वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और दूसरा वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे मे फर्क इतना है कि पहला बिल्कुल मूढदशा मे भी हो सकता है जबकि दूसरा विचारदशा मे ही होता है। विचारशक्ति का विकास होने पर भी जब अभिनिवेश– आग्रह के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर भी अतत्त्व मे पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है। यह उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कही जाती है। जब विचारदशा जागृत न हुई हो तब अनादिकालीन आवरण के भार के कारण सिर्फ मूढता होती है, उस समय जैसे तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता वैसे अतत्त्व का भी श्रद्धान नहीं होता, इस दशा मे सिर्फ मूढता होने से तत्त्व का अश्रद्धान कह सकते है, वह नैसर्गिक-उपदेशनिरपेक्ष होने से अनभिगृहीत कहा गया है। दृष्टि या पन्थ सम्बन्धी जितने भी ऐकान्तिक कदाग्रह है वे सभी अभिगृहीत मिथ्यादर्शन है जो कि मनुष्य जैसी विकसित जाति मे हो सकते है और दूसरा अनभिगृहीत तो कीट, पतग आदि जैसी मूर्च्छित चैतन्य वाली जातियों में सभव है। अविरति दोषो से विरत न होने का नाम है। प्रमाद का मतलब है–आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यो मे आदर न रखना. कर्तव्य, अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना। कषाय अर्थात् समभाव की मर्यादा का तोडना। योग का अर्थ है–मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति। ये जो [1]कर्मबन्ध के हेतुओं का निर्देश है वह सामान्यरूप से है। यहा प्रत्येक मूलकर्मप्रकृति के बन्धहेतुओं का वर्णन कर देना भी प्रसंगोपात्त होने से आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) ज्ञानावरणीयकर्म के **तत्प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन** और **उपघात** ये ६ बन्धहेतु होते है। इनका भावार्थ निम्नोक्त है—

१–ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनो पर द्वेष करना या रखना अर्थात् तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय कोई अपने मन ही मन मे तत्त्वज्ञान के प्रति,उस के वक्ता के प्रति किंवा उस के साधनो के प्रति जलते रहते है, यही **तत्प्रदोष-ज्ञानप्रद्वेष** कहलाता है।

२–कोई किसी से पूछे या ज्ञान का साधन मागे तब ज्ञान तथा ज्ञान के साधन अपने पास होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मै नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं वह **ज्ञाननिह्नव** है।

---

[1] बन्ध के हेतुओ की सख्या के बारे मे तीन परम्पराए देखने मे आती है। एक परम्परा के अनुसार कषाय और योग ये दोनो ही बन्ध के हेतु है। दूसरी परम्परा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओ की है। तीसरी परम्परा उक्त चार हेतुओ मे प्रमाद को और बढाकर पाच बन्धहेतुओं का वर्णन करती है। इस तरह से सख्या और उसके कारणनामो मे भेद रहने पर भी तात्त्विक-दृष्ट्या इन परम्पराओं मे कुछ भी भेद नही है। प्रमाद एक तरह का असयम ही तो है, अत वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही है। इसी दृष्टि से कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थो मे सिर्फ चार बन्धहेतु कहे गये हैं। बारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असयम ये दोनो कषाय के स्वरूप से अलग नही पडते, अत कषाय और योग इन दोनो को ही बन्धहेतु गिनाना प्राप्त होता है।

३–ज्ञान अभ्यस्त और परिपक्व हो तथा वह देने योग्य भी हो, फिर भी उस के अधिकारी ग्राहक के मिलने पर उसे न देने की जो कलुषित वृत्ति है वह **ज्ञानमात्सर्य** है।

४–कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति में किसी को बाधा पहुचाना ही **ज्ञानान्तराय** है।

५–दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो तब वाणी अथवा शरीर से उस का निषेध करना वह **ज्ञानासादन** है।

६–किसी ने उचित ही कहा हो फिर भी अपनी उलटी मति के कारण उसे अयुक्त भासित होने से उलटा उस के दोष निकालना **उपघात** कहलाता है।

(२) **दर्शनावरणीयकर्म के बन्धहेतु**–ज्ञानावरणीय के बन्धहेतु ही दर्शनावरणीय के बन्धहेतु है, अर्थात् दोनो के बन्धहेतुओं में पूरी २ समानता है, अन्तर केवल इतना ही है कि जब पूर्वोक्त प्रद्वेष निह्नवादि ज्ञान, ज्ञानी या उस के साधन आदि के साथ सम्बन्ध रखते हो, तब वे **ज्ञानप्रद्वेष, ज्ञाननिह्नव** आदि कहलाते है और दर्शन-सामान्यबोध, दर्शनी अथवा दर्शन के साधनों के साथ सम्बन्ध रखते हो, तब वे **दर्शनप्रद्वेष, दर्शननिह्नव** *आदि कहलाते है।

(३) **वेदनीयकर्म** की मूल प्रकृतियें—सातवेदनीय और असातवेदनीय इन दो भेदों में विभक्त है। जिस कर्म के उदय से सुखानुभव हो वह सातवेदनीय और जिस के उदय से दुःख की अनुभूति हो वह कर्म असातवेदनीय कहलाता है। असातवेदनीय का बन्ध दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन, इन कारणों से होता है।

१–बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीडा का होना **दुःख** है। २–किसी हितैषी के सम्बन्ध के टूटने से जो चिन्ता या खेद होता है वह **शोक** है। ३–अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है वह **ताप** है। ४–गद्‌गद् स्वर से आँसु गिराने के साथ रोना, पीटना **आक्रन्दन** है। ५– किसी के प्राण लेना **वध** है। ६– वियुक्त व्यक्ति के गुणों का स्मरण होने से जो करुणाजनक रुदन होता है वह **परिदेवन** कहलाता है। उक्त दुःखादि ६ और उन जैसे अन्य भी ताडन,तर्जन आदि अनेक निमित्त जब अपने में, दूसरे में या दोनों में ही पैदा किये जाए तब वे उत्पन्न करने वाले के **असातवेदनीयकर्म** के †बन्धहेतु बनते हैं।

सातवेदनीय कर्म के बन्धहेतु–भूत– अनुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातवेदनीय कर्म के बन्धहेतु है। इनका विवेचन निम्नोक्त है—

प्राणिमात्र पर अनुकम्पा रखना **भूतानुकम्पा** है अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख मानने का जो भाव है वह **अनुकम्पा** है। अल्पांशरूप से व्रतधारी गृहस्थ और सर्वांशरूप से व्रतधारी त्यागी इन दोनों पर विशेषरूप से अनुकम्पा रखना **व्रत्यनुकम्पा** है। अपनी वस्तु का दूसरों को

*तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः। (तत्त्वार्थ० ६।११)

†दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य। (तत्त्वार्थ० ६।१२)

नम्र भाव से अर्पण करना **दान** है। **सरागसंयम आदि योग** का अर्थ है-सरागसयम, सयमासंयम, अकामनिर्जरा और वालतप इन सबो मे यथोचित ध्यान देना। ससार की कारणरूप तृष्णा को दूर करने मे तत्पर होकर सयम स्वीकार लेने पर भी जबकि मन मे राग के सस्कार क्षीण नहीं होते तब वह सयस **सरागसयम** कहलाता है। कुछ सयम का स्वीकार करना **संयमासंयम** है। अपनी इच्छा से नही किन्तु परतन्त्रता से जो भोगो का त्याग किया जाता है वह **अकामनिर्जरा** है। बाल अर्थात यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि वालो का जो अग्निप्रवेश, जलपतन, गोवर आदि का भक्षण, अनशन आदि तप है वह **बालतप** कहा जाता है। धर्मदृष्टि से क्रोधादि दोषो का शमन **क्षांति** कहलाता है। लोभवृत्ति और तत्समान दोषों का जो शमन है वह [1]**शौच** कहलाता है।

(४) **मोहनीयकर्म** की **दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय** एसी दो मूल प्रकृतियें होती है। १—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझना दर्शन है, और दर्शन का घात करने वाला कर्म दर्शन-**मोहनीय है**। २—जिस के द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह चारित्र है **और उस का घातक कर्म चारित्रमोहनीय है**।

(क) **दर्शनमोहनीय के बन्धहेतु—१-केवली-अवर्णवाद**-केवली—केवलज्ञानी का अवर्णवाद अर्थात् केवली के असत्य दोषो को प्रकट करना। जैसे सर्वज्ञत्व के सभव का स्वीकार न करना, और ऐसा कहना कि सर्वज्ञ होकर भी उसने मोक्ष के सरल उपाय न बतला कर जिन का आचरण शक्य नही ऐसे दुर्गम उपाय क्यो कर बतलाये है? इत्यादि।

२-श्रुत का अवर्णवाद—अर्थात् शास्त्र के मिथ्या दोषो को द्वेषबुद्धि से वर्णन करना, जैसे यह कहना कि ये शास्त्र अनपढ लोगो की प्राकृतभाषा मे, किवा पण्डितो की जटिल सस्कृतादि भाषा मे रचित होने से तुच्छ है, अथवा इन मे विविध व्रत, नियम तथा प्रायश्चित्त का अर्थहीन एव परेशान करने वाला वर्णन है, इत्यादि।

३—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध सघ के मिथ्या दोषो का जो प्रकट करना है, वह **संघ-अवर्णवाद** कहलाता है। जैसे यो कहना कि साधु लोग व्रत नियम आदि का व्यर्थ क्लेश उठाते है, साधुत्व तो सभव ही नहीं, तथा उस का कुछ अच्छा परिणाम भी तो नहीं निकलता। श्रावको के बारे मे ऐसा कहना कि स्नान, दान आदि शिष्ट प्रवृत्तिया नही करते और न पवित्रता को ही मानते है, इत्यादि।

४-धर्म का अवर्णवाद—अर्थात् अहिसा आदि महान् धर्मो के मिथ्या दोष बतलाना। जैसे यो कहना कि धर्म प्रत्यक्ष कहा दीखता है? और जो प्रत्यक्ष नही दीखता उस के अस्तित्व का सभव ही कैसा? तथा ऐसा कहना कि अहिंसा से मनुष्यजाति किवा राष्ट्र का पतन हुआ है, इत्यादि।

५-देवो का अवर्णवाद—अर्थात उन की निन्दा करना, जैसे यो कहना कि देवता तो है ही

---

[1] भूतव्रत्यनुकम्पा दान सरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य। (तत्त्वा० ६।१३)

नहीं और हो भी तो व्यर्थ ही है, क्योंकि शक्तिशाली हो कर भी यहां आकर हम लोगों की मदद क्यों नहीं *करते ?, इत्यादि ।

(ख) **चारित्रमोहनीय के बन्धहेतुओं** को संक्षेप में- कषाय के उदय से होने वाला तीव्र †आत्मपरिणाम, ऐसा ही कहा जा सकता है । विस्तार से कहें तो उन्हें निम्नोक्त शब्दों में कह सकते हैं-

१-स्वयं कषाय करना और दूसरों में भी कषाय पैदा करना तथा कषाय के वश हो कर अनेक तुच्छ प्रवृत्तियें करना।

२-सत्यधर्म का उपहास करना, गरीब या दीन मनुष्य की मश्खरी करना, ठट्ठेबाजी की आदत रखना ।

३-विविध क्रीडाओं में संलग्न रहना, व्रत, नियमादि योग्य अंकुश में अरुचि रखना ।

४-दूसरों को बेचैन बनाना, किसी के आराम में खलल डालना, हल्के आदमी की संगति करना आदि ।

५-स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों की शोकवृत्ति को उत्तेजित करना ।

६-स्वयं डरना और दूसरों को डराना ।

७-हितकर क्रिया और हितकर आचरण से घृणा करना ।

८-९-१०-स्त्रीजाति, पुरुषजाति तथा नपुंसकजाति के योग्य संस्कारों का अभ्यास करना ।

(५) **आयुष्कर्म** की नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार मूलप्रकृतियें-मूल-भेद होती हैं । इन के बन्धहेतुओं का विवरण निम्नोक्त है--

१-**नरकायुष्कर्म के बन्धहेतु**--बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह, ये नरकायु के ‡बन्धहेतु हैं। प्राणियों को दुःख पहुंचे ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना **आरम्भ** है । यह वस्तु मेरी है और मैं इसका मालिक हूं, ऐसा संकल्प रखना **परिग्रह** है जब आरम्भ और परिग्रह वृत्ति बहुत ही तीव्र हो तथा हिंसा आदि क्रूर कर्मों में सतत प्रवृत्ति हो, दूसरों के धन का अपहरण किया जाये किंवा भोगों में अत्यन्त आसक्ति बनी रहे, तब वे नरकायु के बन्धहेतु होते हैं ।

२-**तिर्यञ्चायुष्कर्म के बन्धहेतु**--माया तिर्यञ्चायु का ††बन्धहेतु है । छलप्रपंच करना किंवा कुटिलभाव रखना **माया** है । उदाहरणार्थ--धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से मिथ्या बातों को मिला कर उन का स्वार्थबुद्धि से प्रचार करना तथा जीवन को शील से दूर रखना आदि सब माया कहलाती है और यही तिर्यञ्चायु के बन्ध का कारण बनता है ।

३-**मनुष्यायुष्कर्म के बन्धहेतु**--अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, स्वभाव की मृदुता और सरलता ये मनुष्यायु के ‡‡बन्धहेतु हैं । तात्पर्य यह है कि आरम्भवृत्ति तथा परिग्रहवृत्ति को कम करना

---

*केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । (तत्त्वा० ६।१४।)

†कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य । (तत्त्वा० ६।१५।)

‡बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः । (तत्त्वा० ६।१६।) ††माया तैर्यग्योनस्य । (तत्त्वा०-६।१७।) ‡‡अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवमार्जवं च मानुषस्य । (तत्त्वा० ६।१८।)

स्वभाव से अर्थात विना कहे सुने मृदुता वा सरलता का होना ये मनुष्यायुष्कर्म के बन्धहेतु है।

४–**देवायुष्कर्म के बन्धहेतु–सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप** ये *देवायु के बन्धहेतु है। हिंसा, असत्य, चोरी आदि महान् दोषो से विरतिरूप सयम के लेने के बाद भी कषायों का कुछ अश जब बाकी रहता है तब वह **सरागसंयम** कहलाता है। हिसाविरति आदि व्रत जब अल्पाशरूप मे धारण किए जाते है तब वह **संयमासंयम** कहलाता है। पराधीनता के कारण या अनुसरण-अनुकरण के लिए जो अहितकर प्रवृत्ति किंवा आहारादि का त्याग है वह **अकामनिर्जरा** है और बालभाव से अर्थात् विवेक के बिना ही जो अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वतप्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन किया जाता है वह **बालतप** है।

६–**नामकर्म** की शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म ये दो मूलप्रकृतिया है। इन के बन्ध-हेतुओ का विवरण निम्नोक्त है–

१–**अशुभनामकर्म के बन्धहेतु**—योग की वक्रता और विसवाद ये अशुभनामकर्म के बन्धहेतु है। १–मन, वचन और काया की कुटिलता का नाम योगवक्रता है। कुटिलता का अर्थ है–सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ। २–अन्यथा प्रवृत्ति कराना किंवा दो स्नेहियो के बीच भेद डालना विसवादन है।

२–**शुभनामकर्म के बन्धहेतु**—इसके विपरीत अर्थात् योग की अवक्रता और अविसवाद शुभनामकर्म के बन्धहेतु हैं। ‡ तात्पर्य यह है कि अशुभनामकर्म के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है उस से उलटा अर्थात मन, वचन और काया की सरलता--प्रवृत्ति की एकरूपता तथा सवादन अर्थात दो के बीच भेद मिटा कर एकता करा देना किंवा उलटे रास्ते जाते हुए को अच्छे रास्ते लगा देना, ये **शुभनामकर्म** के बन्धहेतु है।

७–**गोत्रकर्म** के नीचगोत्र और उच्चगोत्र ऐसे दो मूलभेद है। इनके बन्धहेतुओं का संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है—

१—**नीचगोत्र के बन्धहेतु--परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणो का आच्छादन और असद्गुणो का प्रकाशन** ये नीचगोत्र के बन्धहेतु है। दूसरे की निन्दा करना **परनिन्दा** है। निन्दा का अर्थ है सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति। अपनी बडाई करना यह **आत्मप्रशंसा** है अर्थात सच्चे या झूठे गुणो को प्रकट करने की जो वृत्ति है वह प्रशसा है। दूसरों मे यदि

---

*सरागसयमसयमासयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य। (तत्त्वा० ६।२०)

†योगवक्रताविसवादन चाशुभस्य नाम्नः। (तत्त्वा० ६।२१) ‡विपरीतं शुभस्य। (तत्त्वा० ६।२२)

*परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य (तत्त्वा० ६।२४)

गुण हों तो उन्हें छिपाना और उन के कहने का प्रसंग पड़ने पर भी द्वेष से उन्हें न कहना, यही दूसरों के **सद्गुणों का आच्छादन** है। तथा अपने में गुण न होने पर भी उन का प्रदर्शन करना यही निज के **असद्गुणों का प्रकाशन** कहलाता है।

२–**उच्चगोत्र के बन्धहेतु–परप्रशंसा आत्मनिन्दा, असद्गुणोद्भावन, स्वगुणाच्छादन, नम्रप्रवृत्ति** और **निरभिमानता** ये उच्चगोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं। दूसरों के गुणों को देखना **परप्रशंसा** कहा जाता है। अपने दोषों को देखना **आत्मनिन्दा** है। अपने दुर्गुणों को प्रकट करना **असद्गुणोद्भावन** है। अपने विद्यमान गुणों को छिपाना **स्वगुणाच्छादन** है। पूज्य व्यक्तियों के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना **नम्रवृत्ति** है। ज्ञानसम्पत्ति आदि में दूसरे से अधिकता होने पर भी उस के कारण गर्व धारण न करना **निरभिमानता** है।

इस के अतिरिक्त गोत्र के विषय में कहीं पर **जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, लाभमद, विद्यामद** और **ऐश्वर्यमद** इन आठ मदों को **नीचगोत्र** के बन्ध का कारण माना गया है और इन आठों प्रकार के मदों के परित्याग को **उच्चगोत्र** के बन्ध का हेतु कहा है।

८–**अन्तरायकर्म के बन्धहेतु**–दानादि में विघ्न डालना अन्तरायकर्म का *बन्धहेतु है। अर्थात् किसी को दान देने में या किसी से कुछ लेने में अथवा किसी के भोग उपभोग आदि में बाधा डालना किंवा मन में वैसी प्रवृत्ति लाना **अन्तरायकर्म** के बन्धहेतु है।

इस प्रकार सामान्यतया आठों ही कर्मों की मूलप्रकृतियों और बन्ध के प्रकार तथा बन्ध के †हेतुओं का विवेचन करने से जैनदर्शन की कर्मसम्बन्धी मान्यता का भलीभाँति बोध हो जाता है। कर्मों के सम्बन्ध में जितना विशद वर्णन जैन ग्रन्थों में है, उतना अन्यत्र नहीं, यह कहना कोई अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। जैनवाङ्मय में कर्मविषयक जितना सूक्ष्म पर्यालोचन किया गया है, वह विचारशील दार्शनिक विद्वानों के देखने और मनन करने योग्य है। अस्तु,

कर्म सादि है या अनादि ? यह एक बहुत पुराना और महत्त्व का दार्शनिक प्रश्न है, जिस का उत्तर भिन्न २ दार्शनिक विद्वानों ने अपने २ सिद्धान्त के या विचार के अनुसार दिया है। जैन दर्शन का इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना है कि कर्म सादि भी है और अनादि भी। व्यक्ति की अपेक्षा यह

---

*विघ्नकरणमन्तरायस्य। (तत्त्वा० ६।२६) बन्ध का स्वरूप तथा बन्धहेतुओं का जो ऊपर निरूपण किया गया है, वह जैनजगत के महान तत्त्वचिन्तक तथा दार्शनिक **पण्डित सुखलाल जी** के तत्त्वार्थसूत्र से उद्धृत किया गया है।

†आठों कर्मों के बन्धहेतु, कर्मग्रन्थों में भिन्न २ रूप में प्रतिपादन किये हैं। नवतत्त्व में कर्मबन्ध के कारण ८५ लिखे हैं।

सादि और प्रवाह की अपेक्षा से *अनादि है। जैन सिद्धान्त कहता है कि प्राणी सोते, जागते, उठते, बैठते और चलते फिरते किसी न किसी प्रकार की चेष्टा– हिलने चलने की क्रिया करता ही रहता है, जिस से वह कर्म का बन्ध कर लेता है। इस अपेक्षा से कर्म सादि अर्थात् आदि वाला कहा जाता है, परन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला ? इसे कोई भी नहीं बतला सकता। भविष्य के समान भूतकाल की गहराई भी अनन्त (अन्तरहित) है। अनादि और अनन्त का वर्णन, अनादि और अनन्त शब्द के अतिरिक्त और किसी तरह भी नहीं किया जा सकता। इसीलिये दार्शनिकों ने इसे बीजांकुर या बीजवृक्ष न्याय से उपमित किया है। तात्पर्य यह है कि जैसे बीज से उत्पन्न हुआ वृक्ष बीज को उत्पन्न करता है अर्थात् बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज को उत्पन्न होते देखा जाता है, तब इन दोनों में प्रथम किसे कहना या मानना चाहिये ? इस के निर्णय में सिवाय "–ये दोनों ही प्रवाह से अनादि हैं। इस की सम्बन्ध-परम्परा अनादि है–" यह कहने के और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जीवात्मा के साथ कर्म का जो सम्बन्ध, है उस की परम्परा भी अनादि है। इस दृष्टि से विचार करने पर कर्मसम्बन्ध को अनादि ही कहना या मानना होगा।

इस विषय में कुछ विचारकों की तर्फ से यह प्रश्न होता है कि अगर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है, अनादिकाल से चला आता है तो उस का भविष्य में भी इसी प्रकार चलता रहेगा ? तात्पर्य यह है कि जो वस्तु अनादि है, जिस का आदि नहीं तो उस का कभी अन्त भी नहीं होगा। और यदि कर्मों को अनादि अनन्त मान लिया जावे अर्थात् कर्म और जीव के सम्बन्ध को आदि और अन्त से शून्य स्वीकार कर लिया जावे तब तो उस का कभी विच्छेद ही नहीं हो सकेगा ?

इस विषय को समाहित करने के लिये सर्वप्रथम इन पदार्थों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। पदार्थ चार तरह के होते हैं—१–अनादि अनन्त, २–अनादि सान्त, ३–सादि अनन्त और ४–सादि सान्त। जिस का न आदि हो न अन्त हो उसे **अनादिअनन्त** कहते हैं। जिस का आदि न हो और अन्त हो वह **अनादि सान्त** कहलाता है। जिस का आदि हो और अन्त न हो वह **सादि अनन्त** है, और जिस का आदि भी हो और अन्त भी वह **सादि सान्त** कहलाता है। इन में आत्मा और पुद्गल अनादि अनन्त है। आत्मा और कर्मसंयोग अनादि सान्त है। मोक्ष सादि अनन्त और घटपट का संयोग सादि सान्त है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध आदि होने पर बीजगत उत्पादक शक्ति की तरह सान्त--अन्त वाला है। जैसे बीज में अंकुरोत्पादक शक्ति अनादि है और जब उस को (बीज को) भट्टी में भून दिया जाता है तब वह शक्ति नष्ट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बद्ध कर्मों को जब जप, तप और ध्यानरूप अग्नि के द्वारा जला दिया जाता है, उन की निर्जरा कर दी जाती है तो कर्ममल से विशुद्ध हुई आत्मा मोक्ष में जा विराजती है। फिर उस का जन्म नहीं होता, वह सदा अपने स्वरूप में ही रमण करती रहती है।

एक और उदाहरण लीजिये—देवदत्त नाम के व्यक्ति के पिता, पितामह आदि की पूर्व-

---

*संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि या।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि या॥ (उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० १३१)

परम्परा के आरम्भ का निर्णय सर्वथा अशक्य होने से वह परम्परा अनादि ही रहती है, परन्तु आज उस के सन्यासी हो जाने पर उस परम्परा का अन्त हो जाता है। इसी तरह जीव और कर्म के सम्बन्ध की अनादि परम्परा का विच्छेद भी शास्त्रविहित क्रियानुष्ठान के आचरण से हो जाता है, अन्यथा कर्मसम्बन्ध के विच्छेदार्थ किया जाने वाला सदनुष्ठानमूलक सभी पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। इस लिये आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी अन्त वाला है। ऐसी स्थिति में जीव और कर्मों के सम्बन्ध का कभी विच्छेद नहीं होगा ? यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यदि संक्षेप में कहें तो आत्मा और कर्म दोनों का संयोग प्रवाह से अनादि सान्त है, परन्तु यह अनादित्व भी निखिल कर्मसापेक्ष्य है, किसी एक कर्म की अपेक्षा वह सादि अथच सान्त है। इसलिये आत्मकर्मसंयोग अनादि सान्त भी है और सादि सान्त भी।

मोक्ष को सभी दार्शनिकों ने सादि अनन्त माना है। अमुक आत्मा का अमुक समय कर्मबन्धनों से आत्यन्तिक छुटकारा प्राप्त करना मोक्ष की आदि है और कर्मविच्छेद के अनन्तर फिर कभी उस आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध नहीं होगा, यही मोक्ष की अनन्तता है।

किसी भी भारतीय दर्शन ने मोक्षगत आत्मा का पुनरागमन स्वीकार नहीं किया। **न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते**–। (छां० उप० प्र० ८, ख० १५) अर्थात् जीव मुक्ति से फिर नहीं लौटता। **अनावृत्तिशब्दात्**– अर्थात् मुक्ति से जीव लौटता नहीं (वेदान्तसूत्र)। **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। तदुच्छित्तिरेव पुरुषार्थः** (सांख्यदर्शन)। **न मुक्तस्य बन्धयोगोपि, अपुरुषार्थत्वमन्यथा, वीतरागजन्मादर्शनात्** (न्यायदर्शन)। इत्यादि जैनेतर दर्शनों के भी शतशः प्रमाण इस की पुष्टि में उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त सिद्धान्त (मोक्ष से पुनरावर्तन मानने का सिद्धान्त) युक्तियुक्त भी प्रतीत नहीं होता। कर्मविच्छेद कहो, अज्ञाननिवृत्ति कहो या अविद्यानाश कहो, इन सब का तात्पर्य लगभग समान ही है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति या अविद्या का नाश होता है। जिन कारणों से कर्मबन्ध या अज्ञान अथवा अविद्या का नाश होता है, वे मोक्ष में बराबर विद्यमान रहते हैं। दूसरे शब्दों में–जन्ममरणरूप संसार के कारणों का उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है, उन का समूलघात हो जाता है। तब मोक्ष से वापिस लाने वाला ऐसा कौन सा कारण बाकी रह जाता है, जिस के आधार पर हम यह कह सकें या मान सकें कि मुक्त हुई आत्मा कुछ समय के बाद फिर इस संसार में आवागमन करती है ? यदि वहां पर किसी प्रकार के कारण के असद्भाव से भी आगमनरूप कार्य को मानें तब तो–"**कारणाभावे कार्यसत्त्वमिति व्यतिरेकव्यभिचारः**–अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का उत्पन्न होना व्यतिरेकव्यभिचाररूप दोष आता है। इसलिये मोक्षगत आत्मा की पुनरावृत्ति का सिद्धान्त जहां अशास्त्रीय है वहां युक्तिविकल भी है।

कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष कर्म का फल है और कर्म का फल सीमित अथच नियत होने से अन्त वाला है, इसीलिये मोक्ष भी अनित्य है, परन्तु वे लोग वास्तव में यह विचार नहीं करते कि जिसे कैवल्य-मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है वह कर्म का फल नहीं किन्तु कर्मों के आत्यन्तिक विनाश से निष्पन्न होने वाली आत्मा की स्वाभाविक-स्वरूपस्थिति मात्र है, जिस की उपलब्धि ही कर्मों के

विनाश से हो उसे कर्म का फल कहना वा मानना उस के (मोक्ष के) स्वरूप से अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है।

यदि वास्तविकरूप से विचार किया जाये तो जो लोग मुक्तात्मा का पुनरावर्तन मानते हैं वे मोक्ष को मानते ही नहीं। उन के मत में स्वर्गविशेष ही मोक्ष है और वह कर्म का फलरूप होने से अनित्य भी है। जैन दर्शन इसे कल्प-देवलोक के नाम से अभिहित करता है, तथा अन्य भारतीय दर्शन भी इसी *भाँति मानते है। परन्तु मुक्तात्मा का- कैवल्यप्राप्त आत्मा का पुनरावर्तन किसी ने भी †स्वीकार नहीं किया।

कुछ लोग इस विषय में यह युक्ति देते है कि जहां २ वियोग है, वहां २ सम्बन्ध की सादिता है। अर्थात् ससार में जितनी सयुक्त वस्तुएं हैं उन का पूर्वरूप कभी वियुक्त भी था। वस्त्र के साथ मल का संयोग है और मल के सयोग से रहित अवस्था भी वस्त्र की उपलब्ध होती है। अत सयोग और वियोग ये दोनो ही सादि हैं। अनादि सयोग कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान निम्नोक्त है—

सिद्धान्त कहता है कि आत्मा और पुद्गल अनादि अनन्त पदार्थ हैं। जब पुद्गल आत्मा से सम्बन्धित होता है तो उस की कर्म संज्ञा होती है। आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि और किसी एक कर्म की अपेक्षा सादि तथा अभव्य जीव की अपेक्षा अनन्त और भव्य जीव की अपेक्षा सान्त है। संयोग वियोगमूलक ही होता है और अनादि संयोग कहीं पर भी नहीं मिलता, यह कहना भ्रांतिपूर्ण है क्योकि खान से निस्सृत सुवर्ण में मृत्तिका का सयोग अनादि देखा जाता है। जैसे यह सयोग अनादि है इस का अग्नि आदि के प्रयोग से वियोग उपलब्ध होता है, इसी भाँति आत्मा और कर्म का संयोग भी अनादि है। इस में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती और यह भी तप जपादि के सदनुष्ठानों से विनष्ट किया जा सकता है। इस के अतिरिक्त जो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा के साथ सम्बन्धित कर्मों या कर्मदलिकों का जब वियोग होता है तो क्या उन का फिर से सयोग नहीं हो सकता ?, लोक में दो विभक्त पदार्थों का सयुक्त होना और सयुक्तों का पृथक होना प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी भाँति यह कर्मसम्बद्ध आत्मा भी किसी निमित्तविशेष से कर्मों से पृथक् होने के अनन्तर किसी निमित्तविशेष के मिलने पर फिर भी कर्मों से सम्बद्ध हो सकता है। अत मोक्ष सादि अनन्त न रह कर सादि सान्त ही हो जाता है। इस शका का समाधान यह है- कि जहाँ २ वियोग है वहां २ सादिसयोग है। यह व्याप्ति दूषित है अर्थात् वियुक्त पदार्थों का सयोग अवश्य होता है यह कोई नियम नहीं है। ससार में ऐसे पदार्थ भी दृष्टिगोचर होते है कि जहाँ सयोग का नाश तो होता है अर्थात् सयुक्त पदार्थ विभक्त तो होते है परन्तु विभक्तों का फिर सयोग नहीं होता। उदाहरणार्थ- धान्य और आम्रफल आदि को उपस्थित किया जा सकता है। जैसे—धान्य पर से उस का

*ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशाल, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (भगवद्गीता)

†यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम। (भगवद्गीता)

छिलका उतर जाने पर उस का फिर [1]संयोग नहीं होता। इसी प्रकार आम्रवृक्ष पर से टूटा हुआ आम्र फल फिर उस से नहीं जोडा जा सकता। तात्पर्य यह है कि चावल और छिलके के संयोग का नाश तो प्रत्यक्ष सिद्ध है परन्तु इन का फिर से संयुक्त होना देखा नहीं जाता। पृथक् हुआ छिलका और चावल दोनों फिर से पूर्व की भाँति मिल जावें, ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिये आत्मा से विभक्त-पृथक् हुए कर्मों का आत्मा के साथ फिर कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस के अतिरिक्त आत्म-सम्बन्ध कर्मों का विनाश हो जाने के बाद उन को फिर से उज्जीवित करने वाला कोई निमित्तविशेष वहा पर नहीं होता। अत आत्म कर्म सम्बन्ध-संयोग अनादि सान्त है और इन का वियोग सादि-अनन्त है। दूसरे शब्दों मे—उक्त सम्बन्ध के नाश का फिर नाश नहीं होता, यह कह सकते है

आत्मा कर्मपुद्गलो को किस प्रकार ग्रहण करता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे उष्ण तैल की पूरी अथवा शरीर मे तैल लगाकर कोई धूलि मे लेटे तो धूलि उस के शरीर मे चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि के प्रभाव से जीवात्मा के प्रदेशों मे जब परिस्पन्द होता है, हलचल होती है, तब जिस आकाश मे आत्मा के प्रदेश होते है वहीं के अनन्त पुद्गलपरमाणु जीव के एक २ प्रदेश के साथ सम्बद्ध हो जाते है। इस प्रकार जीव और कर्म का आपस मे दूध और पानी, आग और लोहे के समान सम्बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि दूध और पानी तथा आग और लोहे का जैसे एकीभाव हो जाता है उसी प्रकार जीव और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध समझना चाहिये।

सुखदु ख, सम्पत्तिविपत्ति, ऊंचनीच आदि जो अवस्थायें दृष्टिगोचर होती है, उन के होने मे काल, स्वभाव पुरुषार्थ आदि अन्यान्य कारणों की भाँति कर्म भी एक कारण है। कर्मवादप्रधान जैनदर्शन अन्य दर्शनो की भाँति ईश्वर को उक्त अवस्थाओं का कारण नहीं मानता। जैनदर्शन तथा वैदिकदर्शन मे यही एक विशिष्ट भिन्नता है। तथा जैनदर्शन को वैदिकदर्शन से पृथक् करने मे यह भी एक मौलिक कारण है।

प्रश्न—सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते है। कोई भी प्राणी बुरे कर्म का फल नहीं चाहता और कर्म स्वय जड होने से किसी चेतन प्रेरणा के बिना फल देने मे असमर्थ है, अत कर्म फल भुगताने मे ईश्वर नामक किसी शक्तिविशेष की कल्पना औचित्यपूर्ण ही है। अन्यथा कर्मफल असम्भव हो जाएगा? अर्थात् कर्मजड होता हुआ फल देने मे कैसे सफल हो सकता है?

उत्तर—यह सत्य है कि कर्म जड है और यह भी सत्य है कि प्राणी स्वकृत कर्म का अनिष्ट फल नहीं चाहते, परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि चेतन के संसर्ग से कर्मों मे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिस से वह अपने अच्छे और बुरे फल को नियत समय पर प्रकट कर देता

---

[1] जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीयेसु दड्ढेसु न जायन्ति भवांकुरा॥　　(दशाश्रुतस्कंध दशा ५)

अर्थात् जैसे दग्ध हुआ बीज अंकुर नहीं देता, उसी प्रकार कर्मरूप बीज के दग्ध हो जाने से मानव जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त नहीं करता।

है। कर्मवाद यह मानता है कि चेतन का सम्बन्ध होने पर ही जड कर्म फल देने में समर्थ होता है। कर्मवाद यह भी कहता है कि फल देने के लिये ईश्वररूप चेतन की प्रेरणा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि सभी जीव चेतन है, वे जैसा कार्य करते हैं उस के अनुसार उन की बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिस से बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते है कि जिस से उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात है। मात्र चाह न होने से कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता। कारणसामग्री के एकत्रित हो जाने पर कार्य स्वत ही होना आरम्भ हो जाता है। *उदाहरणार्थ-एक व्यक्ति मदिरापान करता है और चाहता है कि मुझे बेहोशी न हो तथा कोई व्यक्ति धूप मे खडा हो कर उष्ण पदार्थों का सेवन करता है और चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। ऐसी अवस्था मे वह मदिरासेवी तथा आतप और उष्णतासेवी व्यक्ति क्या मूर्च्छा और घाम से बच सकता है? नहीं। साराश यह है कि न चाहने से कर्मफल नहीं मिलेगा, यह कोई सिद्धान्त नही है। इस के अतिरिक्त ईश्वर को किसी भी प्रमाण से कर्मफलप्रदाता सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष से तो यह असिद्ध है ही, क्योंकि ईश्वर को किसी भी व्यक्ति ने आजतक कर्मफल देते हुए नहीं देखा। अत प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर कर्मफलदाता सिद्ध नहीं होता।

अनुमान के लिये †पक्ष, सपक्ष और विपक्ष आदि का निश्चित होना अत्यावश्यक है। कारण कि विना इसके अनुमान नहीं बनता। यहा पर सपक्ष तो इस लिए नहीं है कि आज तक यह सिद्ध नहीं हो सका कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर फल देता है। तथा विपक्ष इस लिये नहीं कि ऐसा कोई भी स्थान नहीं है कि जहां ईश्वर कर्मफलप्रदाता न हो और जीव कर्मफल भोगते हों। जिस पक्ष के साथ सपक्ष और विपक्ष न हो वह झूठा होता है। जेसे— जहा २ धूम है वहा २

---

*एक और उदाहरण लीजिये—जैसे कोई व्यक्ति रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर अस्वास्थ्यकर भोजन करता है तो उस के शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो जाती है। वह व्यक्ति उस व्याधि का तनिक भी इच्छुक नहीं है। उसकी इच्छा तो यही है कि उसके शरीर मे कोई व्याधि उत्पन्न न हो परन्तु स्वास्थ्यविरुद्ध तथा हानिप्रद भोजन करने का फल व्याधि के रूप मे उस को अपनी इच्छा के विरुद्ध भोगना ही पडता है। इसी प्रकार मनुष्य को अपने कर्मों का फल अपनी इच्छा के न होते हुए भी भोगना ही पडता है।

†सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः, यथा--धूमवत्त्वे सति हेतौ पर्वतः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः-यथा तत्रैव महानसम्। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः-यथा तत्रैव महाह्रदः। (तर्कसंग्रह) अर्थात् जिस मे साध्य का सन्देह हो उसे पक्ष कहते है। जैसे—धूमहेतु हो तो पर्वत पक्ष है। अर्थात इस पर्वत मे अग्नि है कि नहीं? इस प्रकार से पर्वत सन्देहस्थानापन्न है, अत वह पक्ष है। जिसमे साध्य का निश्चय पाया जाए वह सपक्ष कहलाता है। जैसे—महानस—रसोई। महानस में अग्निरूप साध्य सुनिश्चित है, अत महानस सपक्ष है। जिस मे साध्य के अभाव का निश्चय पाया जाये उसे विपक्ष कहते हैं, जैसे—महाह्रद—सरोवर है। सरोवर मे अग्नि का अभाव सुनिश्चित है अत यह विपक्ष कहलाता है।

अग्नि है और जहां आग नहीं वहां धूम भी नहीं। इस अन्वयव्यतिरेक रूप व्याप्तिगर्भित (पर्वतो वह्निमान् अर्थात् यह पर्वत वह्नि-अग्नि वाला है) अनुमान में, महानस सपक्ष और जलहृद विपक्ष तथा पर्वत पक्ष का अस्तित्व अवस्थित है। इसी प्रकार ईश्वरकर्तृत्व अनुमान में *अन्वयव्यतिरेक-रूप से हेतुसाध्य का सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता है? क्योंकि ईश्वरवादी कोई भी ऐसा स्थान नहीं मानता जहाँ कर्मफल हो और उस में ईश्वर कारण न हो।

शब्द प्रमाण भी साधक नहीं हो सकता, क्योंकि अभी तक यह भी सिद्ध नहीं हो सका कि जिस को शब्द प्रमाण कहते है, वह स्वयं प्रमाण कहलाने की योग्यता भी रखता है कि नहीं? तात्पर्य यह है कि ईश्वरभाषित होने पर ही शब्द में प्रामाण्य की व्यवस्था हो सकती है परन्तु जब ईश्वर ही असिद्ध है तो तदुपदिष्ट शब्द की प्रामाणिकता सुतरां ही असिद्ध ठहरती है।

ईश्वर जीवों को फल किस प्रकार देता है? यह भी विचारणीय है। वह स्वयं-साक्षात् तो दे नहीं सकता क्योंकि वह निराकार है और यदि वह साकारावस्था में प्रत्यक्षरूपेण कर्मों का फल दे तो इस बात को स्वीकार करने में कौन इन्कार कर सकता है। परन्तु ऐसा तो देखा नहीं जाता। यदि वह राजा आदि के द्वारा जीवों को अपने कर्मों का दण्ड दिलाता है तो ईश्वर के लिये बड़ी आपत्तियां खड़ी होती है। मात्र परिचयार्थ कुछ एक नीचे दी जाती है—

१—कदाचित् ईश्वर को किसी धनिक के धन को चुरा या लुटा कर उस धनिक के पूर्वकर्म का फल देना अभिमत है, तो ईश्वर इस कार्य को खुद तो आकर करेगा नहीं किन्तु किसी चोर या डाकू से ही वह ऐसा करायेगा तो इस दशा में जिस चोर या डाकू द्वारा ईश्वर ऐसा फल उस को दिलवायेगा, वह चोर ईश्वर की आज्ञा का पालक होने से निर्दोष होगा, फिर उसे दोषी ठहरा कर जो पुलिस पकड़ती है और दण्ड देती है वह ईश्वर के न्याय से बाहिर की बात होगी। यदि उसे भी ईश्वर के न्याय में सम्मिलित कर चोर को चोरी करने की सजा पुलिस द्वारा दिलाना आवश्यक समझा जाए तो यह ईश्वर का अच्छा अन्धेर न्याय है कि इधर तो स्वयं धनिक को दण्ड देने के लिये चोर को उस के घर भेजे और फिर पुलिस द्वारा उस चोर को पकड़वादे। क्या यह—चोर से चोरी करने की कहे और शाह से जागने की कहे—इस कहावत के अनुसार ईश्वर में दोगलापन नहीं आ जावेगा? इसी प्रकार जो ईश्वर ने प्राणदण्ड देने के लिये कसाई, चाण्डाल तथा सिंह आदि जीव पैदा किये हैं, तदनुसार वे प्रतिदिन हजारों जीवों को मार कर उन के कर्मों का फल उन्हें देते हैं, वे भी निर्दोष समझने चाहियें, क्योंकि वे तो ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं। यदि ईश्वर उन्हें निर्दोष माने तब उस के लिये अन्य सभी जीव जो कि दूसरों को किसी न किसी प्रकार की हानि पहुंचाते हैं, निर्दोष ही होने चाहियें। यदि उन्हें दोषी माने तो महान् अन्याय होगा, क्योंकि राजा की आज्ञानुसार अपराधियों को अपराध का दण्ड देने वाले जेलर, फांसी लगाने वाले चाण्डाल आदि जब न्याय से निर्दोष माने जाते हैं तब

---

*साध्यसाधनयोः साहचर्यमन्वयः, तदभावयोः साहचर्यं व्यतिरेकः। अर्थात् साध्य और साधन के साहचर्य का अन्वय कहते हैं और दोनों के अभाव के साहचर्य को व्यतिरेक कहते हैं। जैसे—जहां २ धूम (साधन) है, वहां २ अग्नि (साध्य) है, जैसे-महानस। इस को अन्वय कहते हैं और जहां वह्नि का अभाव है, वहां धूम का भी अभाव है, यथा—सरोवर। इसे व्यतिरेक कहते हैं।

उन के समान ईश्वर की प्रेरणानुसार अपराधियों को अपराध का दण्ड देने वाले दोषी नहीं होने चाहिये ?

२–ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, अत उस के द्वारा दी हुई अशुभ कर्मो की सजा अलघनीय, अनिवार्य और अमिट होनी चाहिए, किन्तु ससार मे ऐसा दृष्टिगोचर नही होता। देखिये—ईश्वर ने किसी व्यक्ति को उस के किसी अशुभकर्म का दण्ड देकर, उस के नेत्र की नजर कमजोर कर दी, वह अब न तो दूर की वस्तु साफ देख सकता है और न छोटे२ अक्षरो की पुस्तक ही पढ सकता है। ईश्वर का दिया हुआ यह दण्ड अमिट होना चाहिये था, परन्तु उस व्यक्ति ने नेत्र-परीक्षक डाक्टर से अपने नेत्रस्वास्थ्य के सरक्षण एव परिवर्धन के लिये एक उपनेत्र (ऐनक) ले लिया, उस उपनेत्र को लगा कर उस ने ईश्वर से दी हुई सजा को निष्फल कर दिया। वह ऐनक से दूर की चीज साफ देख लेता है, और बारीक से बारीक अक्षर भी पढ़ लेता है।

ईश्वर जापान मे बार २ भूकम्प भेज कर उस को विनष्ट करना चाहता है परन्तु जापानी लोगो ने हलके मकान बना कर भूकम्पो को बहुत कुछ निष्फल बना दिया है। इसी भॉति ईश्वर की भेजी हुई प्लेग, हैजा आदि बीमारियों को डाक्टर लोग, सेवासमितिया अपने प्रबल उपायो से बहुत कम कर देते है। इस के अतिरिक्त कर्मो का फल भुगताने के लिये भूकम्प भेजते समय ईश्वर को यह भी ख्याल नहीं रहता कि जहा मेरी उपासना एव आराधना होती है, ऐसे मन्दिर, मस्जिद आदि स्थानो को नष्ट कर अपने उपासको की सम्पत्ति को नष्ट न होने दूं।

३–ससार जानता है कि चोर आदि की सहायता लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध भी है। जो लोग चोर आदि की सहायता करते है वे शासनव्यवस्था के अनुसार दण्डित किये जाते है। ऐसी दशा मे जो ईश्वर को कर्मफलदाता मानते है और यह समझते है कि किसी का जो दु ख मिलता है वह उस के अपने कर्मो का फल है और फल भी ईश्वर का दिया हुआ है। फिर वे यदि किसी अन्धे की, लूले लगडे आदि दु खी व्यक्ति की सहायता करते है। यह ईश्वर के साथ विद्रोह नहीं तो और क्या है ? क्या ये ईश्वर के चोर की सहायता नहीं कर रहे है ? और क्या ईश्वर ऐसे द्रोही व्यक्तियो पर प्रसन्न रह सकेगा ? तथा ऐसे दया, दान आदि सदनुष्ठानो का कोई महत्त्व रह सकेगा ? उत्तर स्पष्ट है, कदापि नहीं।

४–यदि ईश्वर जीवो के किये हुए कर्मो के अनुसार उन के शरीरादि बनाता है तो कर्मों की परतन्त्रता के कारण वह ईश्वर नहीं हो सकता, जैसेकि—जुलाहा। तात्पर्य यह है कि जो स्वतन्त्र है, समर्थ है, उसी के लिये ईश्वर सज्ञा ठीक हो सकती है। परतन्त्र के लिये नहीं हो सकती। 'जुलाहा यद्यपि कपडे बनाता है परन्तु परतन्त्र है और असमर्थ है। इसलिये उसे ईश्वर नहीं कह सकते।

५–किसी प्रान्त मे किसी सुयोग्य न्यायशील शासक का शासन हो तो उस के प्रभाव से चोरो, डाकुओ आदि का चोरी आदि करने मे साहस ही नहीं पडता और वे कुमार्ग छोड कर सन्मार्ग पर चलना आरम्भ कर देते है। जिस से प्रान्त मे शाति हो जाती है और वहा के लोग निर्भयता के साथ

कर्मापेक्षः शरीरादिर्देहिना घटयेद्यदि। न चैवमीश्वरो न स्यात् पारतन्त्र्यात् कुविन्दवत्।

(सृष्टिवादपरीक्षा मे श्री चन्द्रसेन वैद्य)

आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लग जाते हैं। इस के विपरीत यदि कोई शासक लोभी हो, कामी हो, कर्तव्यपालन की भावना से शून्य हो उस के शासन में अनेकविध उपद्रव होते हैं और सर्वतोमुखी अराजकता का प्रसार होता है, लोग दुःख के मारे त्राहि २ कर उठते हैं। स्वर्गतुल्य जीवन भी नारकीय बन जाता है, ऐसा संसार में देखा जाता है। परन्तु यह समझ में नहीं आता जब कि संसार का शासक ईश्वर दयालु भी है, सर्वज्ञ भी है तथा सर्वदर्शी भी है, फिर भी संसार में बुराई कम नहीं होने पाती। मांसाहारियों, व्यभिचारियों और चोरों आदि लोगों का आधिक्य ही दृष्टिगोचर होता है। धर्मियों की संख्या बहुत कम मिलती है। ऐसी दशा में प्रथम तो ईश्वर संसार का शासक है ही नहीं यह ही कहना होगा। यदि—तुष्यतु दुर्जनन्याय—से मान भी लें तो वह कोई योग्य शासक नहीं कहा जा सकता और वह ईश्वरत्व से सर्वथा शून्य एवं कल्पनामात्र है।

६—जो लोग ईश्वर को न्यायाधीश के तुल्य बतलाते हैं और कहते हैं कि जैसे न्यायाधीश अपराधियों को उन के अपराधानुसार दण्डित करता है, उसी भांति ईश्वर भी संसार की व्यवस्था को भंग नहीं होने देता और यदि कोई व्यवस्था भंग करता है तो उसे तदनुसार दण्ड देता है। इस का समाधान निम्नोक्त है—

सब से प्रथम अपराधी को दंड देने में क्या हार्द रहा हुआ है ? यह जान लेना आवश्यक है। देखिये—जब कोई मनुष्य चोरी करता है तो उस पर राज्य की ओर से अभियोग चलाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि उस व्यक्ति ने चोरी की है, तो न्यायाधीश उस को कारागार, जुर्माना आदि का उपयुक्त दंड देता है। वह अपराधी व्यक्ति तथा अन्य लोग यह जान जाते हैं कि उस व्यक्ति ने चोरी की थी, इसलिये उस को दंड मिला है। चोरी का अपराध तथा उसके फलस्वरूप दंड का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति एवं साधारण जनता डर जाती है और चोरी आदि कुवृत्तियों का साहस नहीं करती। यही उद्देश्य दण्ड देने में रहा हुआ है। परन्तु यदि किसी देश का शासक या न्यायाधीश किसी व्यक्ति को पकड़वा कर कारागार में डाल दे और उस पर न तो अभियोग चलावे, न यही प्रकट करे कि उसने क्या अपराध किया है ? ऐसी दशा में जनता उस व्यक्ति को निर्दोष एवं उस शासक या न्यायाधीश को अन्यायी, स्वेच्छाचारी समझेगी। अपराध एवं उसके फलस्वरूप दंड का ज्ञान न होने से जनता कभी भी उस व्यवस्था से शिक्षित नहीं हो सकेगी, और नाहि वह अपराध करने से डरेगी। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति मनुष्ययोनि में जन्म लेता है और जन्म से ही अन्धा, पंगु आदि दूषित शरीर धारण करता है, तो उस व्यक्ति, उस के सम्बन्धी एवं उस के देशवासियों को यह ज्ञात नहीं होगा कि उस व्यक्ति के जीव ने पूर्वजन्म में अमुक पापकर्म किया था, जिस के फलस्वरूप उस को इस जन्म में यह दूषित शरीर मिला है। इसी प्रकार जब किसी मनुष्य के शरीर में कुष्ठ आदि रोग हो जाता है तो उस व्यक्ति या अन्य मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं होता कि उस ने अमुक २ पापकर्म पूर्व या इस जन्म में किये हैं, जिन के कारण इन की यह दुरवस्था हो रही है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि दण्ड देने का यह अभिप्राय कि मनुष्य को उस के पापकर्म का ऐसा कठोर दंड दिया जावे कि जिस से वह स्वयं तथा जनसमाज ऐसा भयभीत हो जावे कि डर कर भविष्य में उस पापकर्म को न करे—मनुष्य के दैनिक कार्यों से नहीं पाया जाता।

इस के अतिरिक्त जो दड देने का सामर्थ्य रखता है, उस मे अपराध रोकने की शक्ति भी होनी चाहिये। यदि किसी शासक मे यह बल है कि डाकुओ के दल को, उस के अपराध के दडस्वरूप कारागृह (जेल) मे बन्द कर सकता है अथवा प्राणदड दे सकता है तो उस शासक मे यह भी शक्ति होती है कि यदि उस को यह ज्ञात हो जावे कि डाकुओं का दल अमुक घर मे अमुक समय पर डाका डाल कर धनापहरण एव गृहवासियो की हत्या करेगा तो डाका डालने से पहले ही उन २ डाकुओ के दल को पुलिस अथवा सेना के द्वारा डाका डालने के महान अपराध से रोके। कर्मफलप्रदाता ईश्वर तो सर्वशक्तिसम्पन्न, दयालु, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है। वह जानता है कि कौन क्या अपराध करेगा ? तब उसे चाहिये कि अपराध करने वाले की भावना बदल दे अथवा उसके मार्ग मे ऐसी बाधाए उपस्थित करदे कि जिस से वह अपराध कर ही न सके। यदि वह अपराध करने वाले के इरादे को जानता है और अपराध रोकने का सामर्थ्य भी रखता है परन्तु रोकता नहीं, अपराध करने देता है, और फिर अपराध के फलस्वरूप उसे दड देता है तो उस को दयालु वा न्यायी नहीं कहा जासकता, उसे तो स्वेच्छाचारी और कर्त्तव्यविमुख ही कहना होगा।

७–ससार मे अनन्त जीव है। प्रत्येक जीव मन, वचन और काया से प्रतिक्षण कुछ न कुछ कार्य करता ही रहता है। क्षण २ की क्रियाओ का इतिहास लिखना एव उनका फल देना यदि असभव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य है। जब एक जीव के क्षण २ के कार्य का व्योरा रखना एव उस का फल देना इतना कठिन है तो ससार के अनन्त जीवो की क्षण २ क्रियाओ का व्योरा रखना एव उन का फल देना, उस विशेष चेतन व्यक्ति के लिये कैसे सम्भव होगा ? इस के अतिरिक्त ससार के अनन्त जीवो के क्षण २ मे कृतकर्मो के फल देने मे लगे रहने से उस विशेष चेतन व्यक्ति का चित्त कितना चिन्तित या व्यथित होगा और वह कैसे शान्ति और अपने आनन्दस्वरूप मे मग्न रह सकेगा ? इन प्रश्नो का कोई सन्तोषजनक उत्तर समझ मे नहीं आता।

ऊपर के ऊहापोह से यह निश्चित हो जाता है कि जीवो के कर्मफल भुगताने मे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। प्रत्युत कर्म स्वत ही फलप्रदान कर डालता है। जैनेतर धर्मशास्त्र भी इस तथ्य का पूरा २ समर्थन करते है। भगवद्गीता मे लिखा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ (अ० ५।१४)

अर्थात् ईश्वर न तो सृष्टि बनाता है और न कर्म ही रचता है और न कर्मो के फल को ही देता है। प्रकृति ही सब कुछ करती है। तात्पर्य यह है कि जो जैसा करता है वह वैसा फल पा लेता है।

नादत्ते कस्यचित् पाप न चैव सुकृत विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (अ० ५।१५)

अर्थात् ईश्वर किसी का न तो पाप लेता है तथा न किसी का पुण्य ही लेता है। अज्ञान से आवृत होने के कारण जीव स्वय मोह मे फस जाते हैं।

साराश यह है कि कर्मफलप्रदाता ईश्वर नहीं है, इस तथ्य के पोषक अनेकों प्रवचन शास्त्र

मे उपलब्ध होते हैं, और पूर्वोक्त युक्तियो के अतिरिक्त अन्य भी अनेको युक्तियां पाई जाती हैं, जिन से यह भलीभाँति सिद्ध हो सकता है कि ईश्वर कर्म का फल नहीं देता, परन्तु विस्तारभय से अधिक कुछ नहीं लिखा जाता। अधिक के जिज्ञासुओं को जैनकर्मग्रन्थो का अध्ययन अपेक्षित है।

कर्मवादप्रधान जैनदर्शन सुख दु:ख मे मात्र कर्म को ही कारण नहीं मानता किन्तु साथ मे पुरुषार्थ को भी वही स्थान देता है जो उस ने कर्म को दिया है। कर्म और पुरुषार्थ को समकक्षा मे रखने वाले अनेक वाक्य उपलब्ध होते है। जैसेकि—

यथा ह्येकेन चक्रेण, न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना, दैवं न सिध्यति ॥१॥

अर्थात्–कर्म और पुरुषार्थ जीवनरथ के दो चक्र है। रथ की गति और स्थिति दो चक्रों के औचित्य पर निर्भर है। दो मे से एक के द्वारा अर्थ की सिद्धि या अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जैनदर्शन मात्र कर्मवादी या पुरुषार्थवादी ही है--यह कथन भी यथार्थ नहीं है। प्रत्युत जैनदर्शन कर्मवादी भी है और पुरुषार्थवादी भी। अर्थात् वह दोनो को सापेक्ष *स्वीकार करता है।

जैनदर्शन के कथनानुसार ये दोनो ही अपने २ स्थान मे असाधारण हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन को अनेकान्तदर्शन भी कहा जाता है। उस के मत मे वस्तु मात्र ही अनेकान्त (भिन्न २ पर्याय वाली) है और इसी रूप मे उस का आभास होता है।

सामान्य रूप से कर्म दो भागो मे विभक्त है। शुभकर्म तथा अशुभकर्म। शुभकर्म प्राणियो की अनुकूलता (सुख) मे कारण होता है और अशुभकर्म जीवो की प्रतिकूलता (दु:ख) मे हेतु होता है। शास्त्रीय परिभाषा मे ये दोनो पुण्यकर्म और पापकर्म के नाम से विख्यात हैं। पुण्य के फल को सुखविपाक और पाप के फल को दु:खविपाक कहा जाता है। सुखविपाक और दु:खविपाक के स्वरूप का प्रतिपादक शास्त्र विपाकश्रुत कहलाता है।

---

*समन्तभद्राचार्यकृत देवागमस्तोत्र मे कर्मपुरुषार्थ पर सुन्दर ऊहापोह किया गया है। जैसेकि—

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्, दैवं पौरुषतः कथम् ?
दैवतश्चेद् विनिर्मोक्षः, पौरुषं निष्फलं भवेत ॥८८॥
पौरुषादेव सिद्धिश्चेत, पौरुषं दैवतः कथम् ?
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात, सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

भावार्थ—यदि दैव–कर्म से ही प्रयोजन सम्पन्न होता है तो पुरुषार्थ के बिना दैव की निष्पत्ति हुई कैसे ? और यदि केवल दैव से ही जीव मुक्त हो जाए तो संयमशील व्यक्ति का पुरुषार्थ निष्फल हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि यदि पौरुष से ही कार्यसिद्धि अभिमत है तो दैव के बिना पौरुष कैसे हुआ ? और मात्र पौरुष से ही यदि सफलता है तो पुरुषार्थी प्राणियो का पुरुषार्थ निष्फल क्यो जाता है ?, आचार्यश्री ने इन पद्यो मे कर्म और पुरुषार्थ दोनो को ही सम्मिलित रूप मे कार्यसाधक बतलाते हुए बडी सुन्दरता से अनेकान्तवाद का समर्थन किया है।

जैनागमों की संख्या–वर्तमान में पूर्वापरविरोध से रहित अथच स्वतःप्रमाणभूत जैनागम ३२ माने जाते हैं। उन में ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और एक आवश्यक सूत्र है। ये कुल ३२ होते हैं। उन में ११ अङ्गसूत्र निम्नलिखित हैं—

१–आचाराङ्ग, २–सूत्रकृताङ्ग, ३–स्थानाङ्ग, ४–समवायाङ्ग, ५–भगवती, ६–ज्ञाताधर्मकथा, ७–उपासकदशा, ८–अन्तकृद्दशा, ९–अनुत्तरोपपातिकदशा, १०–प्रश्नव्याकरण, *११–विपाकश्रुत।

१–औपपातिक, २–राजप्रश्नीय, ३–जीवाभिगम, ४–प्रज्ञापना, ५–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ६–सूर्यप्रज्ञप्ति, ७–चन्द्रप्रज्ञप्ति, †८–निर्यावलिका, ९–कल्पावतंसिका, १०–पुष्पिका, ११–पुष्पचूलिका, १२–वृष्णिदशा, ये बारह उपाङ्ग कहलाते हैं।

चार मूलसूत्र— १–नन्दी, २–अनुयोगद्वार, ३–दशवैकालिक, ४–उत्तराध्ययन।

चार छेद सूत्र— १–बृहत्कल्प, २–व्यवहार, ३–निशीथ और ४–दशाश्रुतस्कन्ध।

इस प्रकार अङ्ग, उपाङ्ग, मूल और छेद सूत्रों के संकलन से यह संख्या ३१ होती है, उस में आवश्यकसूत्र के संयोग से कुल आगम ३२ हो जाते हैं। ये ३२ सूत्र अर्थरूप से तीर्थंकरप्रणीत हैं तथा सूत्ररूप से इन का निर्माण गणधरों ने किया है और वर्तमान में उपलब्ध आगम आर्य सुधर्मास्वामी की वाचना के हैं, ऐसी जैनमान्यता है। अङ्गसूत्रों में श्रीविपाकश्रुत का अन्तिम स्थान है, यह बात ऊपर के वर्णन से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। अब रह गई यह बात कि विपाकश्रुत में क्या वर्णन है ? इस का उत्तर निम्नोक्त है—

विपाकश्रुत यह अन्वर्थ संज्ञा है। अर्थात् विपाकश्रुत यह नाम अर्थ की अनुकूलता से रखा गया है। इस का अर्थ है— वह शास्त्र जिस में विपाक–कर्मफल का वर्णन हो। कर्मफल का वर्णन भी दो प्रकार से होता है। प्रथम–सिद्धान्तरूप से, द्वितीय–कथाओं के रूप से। विपाकश्रुत में कर्मविपाक का वर्णन कथाओं के रूप में किया गया है, अर्थात् इस आगम में ऐसी कथाओं का संग्रह है, जिन का अंतिम परिणाम यह हो कि अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म किया था, उसे अमुक फल मिला। फल भी दो प्रकार का होता है—सुखरूप और दुःखरूप। फल के द्वैविध्य पर ही विपाकश्रुत के दो विभाग हैं। एक दुःखविपाक दूसरा सुखविपाक। दुःखविपाक में दुःखरूप फल का और सुखविपाक में सुखरूप फल का वर्णन है। दुःखविपाक के दश अध्ययन हैं। इन में दस ऐसे व्यक्तियों का जीवनवृत्तान्त वर्णित है कि जिन्हों ने पूर्वजन्म में अशुभ कर्मों का उपार्जन किया था। सुखविपाक के भी दश अध्ययन हैं। उन में दश ऐसे व्यक्तियों का जीवनवृत्तान्त अङ्कित है कि जिन्हों ने पूर्वजन्म में शुभकर्मों का उपार्जन किया था। दोनों श्रेणियों के व्यक्तियों को फल की प्राप्ति भी क्रमशः दुःख और सुख रूप हुई। दोनों के समुदाय का नाम विपाकश्रुत है। आधुनिक शताब्दी में जो विपाकश्रुत उपलब्ध है उस में तथा प्राचीन विपाकश्रुत में अध्ययनगत तथा विषयगत कितनी विभिन्नता है ? इस का उत्तर श्रीसमवायाङ्ग सूत्र तथा श्रीनन्दीसूत्र

*यद्यपि अङ्गसूत्र बारह हैं इसीलिए इस का नाम द्वादशाङ्गी है, तथापि बारहवां अङ्ग दृष्टिवाद इस समय अनुपलब्ध है, इसलिये अङ्गों की संख्या ग्यारह उल्लेख की गई है।

†इस का दूसरा नाम कल्पिका भी है।

में स्पष्टरूप से दिया गया है। आगमोदयसमिति द्वारा मुद्रित श्रीसमवायाङ्ग सूत्र के पृष्ठ १२५ पर विपाकश्रुत में प्रतिपादित विषय का जो निर्देश किया गया है, वह निम्नोक्त है—

से किं तं विवागसुयं ? विवागसुए णं सुक्कडदुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ। से समासओ दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–दुहविवागे चेव सुहविवागे चेव। तत्थ णं दस दुहविवागाणि दस सुहविवागाणि। से किं तं दुहविवागाणि ? दुहविवागेसु णं दुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखण्डा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ नगरगमणाइं संसारपबन्धे दुहपरम्पराओ य आघविज्जन्ति। से तं दुहविवागाणि। से किं तं सुहविवागाणि ? सुहविवागेसु सुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखण्डा रायाणो अम्मापिअरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयइड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं परियागा पडिमाओ संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाया पुणबोहिलाहा अन्तकिरियाओ य आघविज्जन्ति। दुहविवागेसु ण पाणाइवायअलियवयणचोरिक्ककरणपरदारमेहुणससंगयाए महतिव्वकसायइंदियप्पमायपावप्पओयअसुहज्झवसाणसंचियाणं कम्माणं पावगाणं पावअणुभागफलविवागा णिरयगतितिरिक्खजोणिबहुविहवसणसयपरंपरापबद्धाणं मणुयत्ते वि आगयाणं जहा पावकम्मसेसेण पावगा होन्ति फलविवागा वहवसणविणासनासाकन्नुट्ठंगुट्ठकरचरणनहच्छेयणजिब्भछेयणअंजणकडग्गिदाहगयचलणमलणफालणउल्लंबणसूललयालउडलट्ठिभंजणतउसीसगतत्ततेल्लकलकलअहिसिंचणकुंभीपागकंपणथिरबंधणवेहवज्झकत्तणपतिभयकरकरपल्लीवणादिदारुणाणि दुक्खाणि अणोवमाणि बहुविविहपरंपराणुबद्धा ण मुञ्चन्ति पावकम्मवल्लीए अवेइत्ता हु णत्थि मोक्खो। तवेण धिइधणियबद्धकच्छेण सोहणं तस्स वा वि हुज्जा: एत्तो य सुहविवागेसु णं सीलसंजमणियमगुणतवोवहाणेसु साहूसु सुविहिएसु अणुकंपासयप्पओगतिकालमइविसुद्धभत्तपाणाइं पययमणसा हियसुहनीसेसतिव्वपरिणामनिच्छियमई पयच्छिऊणं पयोगसुद्धाइं जह य निव्वत्तेंति उ बोहिलाभं जह य परित्तीकरेंति नरनरयतिरियसुरगमणविपुलपरियट्टअरतिभयविसायसोगमिच्छत्तसेलसंकडं अन्नाणतमंधकारचिविखल्लसुदुत्तारं जरमरणजोणिसंखुभियचक्कवालं सोलसकसायसावयपयडचंडं अणाइयं अणवदग्गं संसारसागरमिणं जह य णिबंधति आउगं सुरगणेसु जह य अणुभवन्ति सुरगणविमाणसोक्खाणि अणोवमाणि ततो य कालन्तरे चुआणं इहेव नरलोगमागयाणं आउवपुपुण्णरूवजातिकुलजम्मआरोग्गबुद्धिमेहाविसेसा मित्तजणसय-

णधणधन्नविभवसमिद्धसारसमुदयविसेसा बहुविहकामभोगुब्भवाणसोक्खाण सुहविवगोत्तमेसु अणुवरयपरंपराणुबद्धा असुभाणं सुभाणं चेव कम्माणं भासिया बहुविहा विवागा विवागसुयम्मि भगवया जिणवरेण सम्वेगकारणत्था अन्ने वि य एवमाइया बहुविहा वित्थरेणं अत्थपरूवणया आघविज्जंति। विवागसुअस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, जाव संखेज्जाओ संगहणीओ। से णं अंगट्ठयाए एक्कारसमे अंगे, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं प० संखेज्जाणि अक्खराणि, अणंता गमा, अणंता पज्जवा जाव एवं चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति से तं विवागसुए।

इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

प्रश्न—विपाकश्रुत क्या है ? अर्थात् उस का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—विपाकश्रुत में सुकृत और दुष्कृत अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के फल कहे गये है। वह कर्मफल सक्षेप से दो प्रकार का कहा गया है। जैसेकि— दु खविपाक—दु खरूप कर्मफल और सुखविपाक-सुखरूप कर्मफल। दु खविपाक के दस अध्ययन है। इसी भाँति सुखविपाक के भी दस अध्ययन है।

प्रश्न—दु खविपाक मे वर्णित दस अध्ययनो का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—दु खविपाक के दस अध्ययनों मे दु खरूप विपाक—कर्मफल को भोगने वालो के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन— व्यन्तरदेवों के स्थानविशेष, वनखण्ड— भिन्न २ भाँति के वृक्षो वाले स्थान, राजा, मातापिता, समवसरण— भगवान् का पधारना और बारह तरह की सभाओं का मिलना, धर्माचार्य— धर्मगुरु, धर्मकथा, नगरगमन— गौतम स्वामी का पारणे के लिये नगर मे जाना, ससारप्रबन्ध-जन्म मरण का विस्तार और दु खपरम्परा कही गई है। यही दु खविपाक का स्वरूप है।

प्रश्न—सुखविपाक क्या है ? और उस का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—सुखविपाक मे सुखरूप कर्मफलो को भोगने वाले जीवों के नगर, उद्यान, चैत्य-व्यन्तरायतन, वनखण्ड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक सम्बन्धी ऋद्धिविशेष, भोगो का परित्याग, प्रव्रज्या-दीक्षा, श्रुतपरिग्रह—श्रुत का अध्ययन, तपउपधान-उपधान तप या तप का अनुष्ठान, पर्याय—दीक्षापर्याय, प्रतिमा-अभिग्रहविशेष,सलेखना-शरीर, कषाय आदि का शोषण अथवा अनशनव्रत से शरीर के परित्याग का अनुष्ठान.भक्तप्रत्याख्यान-अन्नजलादि का त्याग पादपोपगमन— जैसे वृक्ष का टहना गिर जाता है और वह ज्यो का त्यो पडा रहता है इसी भाँति जिस दशा में सथारा किया गया है, विना कारण आमरणान्त उसी दशा मे पडे रहना. देवलोकगमन— देवलोक मे जाना, सुकुल मे— उत्तमकुल मे उत्पत्ति, पुनर्बोधिलाभ—पुन सम्यक्त्व को प्राप्त करना, अन्तक्रिया— जन्ममरण से मुक्त होना, ये सब तत्त्व वर्णित हुए हैं।

दु खविपाक मे प्राणातिपात— हिंसा अलीकवचन—असत्य वचन, चौर्यकर्म— चोरी, परदार-

मैथुनसंसर्ग अर्थात् दूसरे की स्त्री के साथ मैथुन का सेवन करना तथा जो महान् तीव्र कषाय-क्रोध,मान, माया और लोभ, इन्द्रियों का प्रमाद-असत्प्रवृत्ति, पापप्रयोग-हिंसादि पापों में प्रवृत्ति,अशुभ अध्यवसाय-संकल्प होते हैं, उन सब से सचित अशुभ कर्मों के अशुभ रस वाले कर्मफल कहे गये हैं। तथा नरकगति और तिर्यंचगति में बहुत से और नाना प्रकार के सैंकडों कष्टों में पड़े हुए जीवों को मनुष्यगति को प्राप्त करके शेष पाप कर्मों के कारण जो अशुभ फल होते हैं, उन का स्वरूप निम्नोक्त है—

वध-यष्टिद्वारा ताडित करना,वृषणविनाश-नपुंसक बनाना,नासिका-नाक, कर्ण-कान, ओष्ठ-होठ, अंगुष्ठ-अंगूठा, कर-हाथ चरण-पांव, नख-नाखुन इन सब का छेदन-काटना, जिह्वा का छेदन, अजन-तपी हुई सलाई से आंखो मे अञ्जन डालना अथवा क्षारतैलादि से देह की मालिश करना, कटाग्निदाह-मनुष्य को कट-चटाई में लपेट कर आग लगाना, अथवा कट-ग्रामविशेष में लपेट कर आग लगा देना, हाथी के पैरों के नीचे मसलना, कुल्हाडे आदि से फाडना, वृक्षादि पर उलटा लटका कर बांधना, शूल, लता- बैंत, लकुट- लकडी, यष्टि- लाठी, इन सब से शरीर का भञ्जन करना, शरीर की अस्थि आदि का तोडना, तपे तथा कलकल शब्द करते हुए त्रपु-रांगा, सीसक- सिक्का और तैल से शरीर का अभिषेक करना, कुम्भीपाक-भाजनविशेष में पकाना, कम्पन अर्थात् शीतकाल में शीतल जल से छींटे दे कर शरीर को कम्पाना, स्थिरबन्धन- बहुत कस कर बांधना, वेध- भाले आदि से भेदन करना, वर्धकर्तन- चमडी का उखाडना, प्रतिभयकर- पल २ में भय देना, करप्रदीपन-कपडों से लपेट तैल छिड़क कर मनुष्य के हाथों में आग लगाना इत्यादि अनुपम तथा दारुण दुःखों का वर्णन किया गया है।

इस के अतिरिक्त विपाकसूत्र में यह भी बताया गया है कि, दुःखफलों को देने वाली पापकर्म-रूपी बेल के कारण नाना प्रकार दुःखों की परम्परा से बन्धे हुए जीव कर्मफल भोगे बिना छूट नहीं सकते, प्रत्युत अच्छी तरह कमर बांध कर तप और धीरज के द्वारा ही उस का शोधन हो सकता है। इस के अतिरिक्त सुखविपाक के अध्ययनों में वर्णित पदार्थ निम्नोक्त हैं—

हितकारी, सुखकारी तथा कल्याणकारी तीव्र परिणाम वाले और संशय रहित मति वाले व्यक्ति शील- ब्रह्मचर्य अथवा समाधि, संयम- प्राणातिपात से निवृत्ति, नियम- अभिग्रहविशेष, गुण- मूलगुण तथा उत्तरगुण और तप- तपस्या करने वाले, सत्क्रियाएं करने वाले साधुओं को अनुकम्पाप्रधान चित्त के व्यापार तथा देने की त्रैकालिक मति अर्थात् दान दूंगा यह विचार कर हर्षानुभूति करना, दान देते हुए प्रमोदानुभव करना तथा देने के अनन्तर हर्षानुभव करना, ऐसी त्रैकालिक बुद्धि से विशुद्ध तथा प्रयोगशुद्ध- लेने और देने वाले व्यक्ति के प्रयोग-व्यापार की अपेक्षा से शुद्ध भोजन को आदरभाव से देकर जिस प्रकार सम्यक्त्व का लाभ करते हैं और जिस प्रकार नर- मनुष्य, नरक, तिर्यंच और देव इन चारों गतियों में जीवों के गमन- परिभ्रमण के विपुल- विस्तीर्ण, परिवर्तन-सक्रमण से युक्त, अरति- संयम में उद्वेग, भय, विषाद, दीनता, शोक, मिथ्यात्व- मिथ्याविश्वास, इत्यादि शैलों- पर्वतों से व्याप्त, अज्ञानरूप अन्धकार में युक्त, विषयभोग, धन और अपने सम्बन्धी आदि में आसक्तिरूप कर्दम- कीचड से सुदुस्तर- जिस का पार करना बहुत कठिन है जरा-बुढ़ापा मरण- मृत्यु और योनि- जन्मरूप सक्षुभित- विलोडित, चक्रवाल- जलपरिमाडल्य (जल का चक्र

कार श्रमण) से युक्त, १६ कपायरूप श्वापद– हिंसक जीवों से अत्यन्त रुद्र–भीषण, अनादि अनन्त संसार सागर को परिमित करते है, और देवों की आयु को बांधते है, देवविमानो के अनुपम सुखों का अनुभव करते है, वहां से च्यव कर इसी मनुष्यलोक में आये हुए जीवो की *आयु, शरीर, पुण्य, रूप, जाति, कुल, जन्म, आरोग्य, बुद्धि तथा मेधा की विशेषताए पाई जाती है। इस के अतिरिक्त मित्रजन, स्वजन–पिता, पितृव्य आदि, धन, धान्यरूप लक्ष्मी–समृद्धि, नगर, अन्त पुर, कोप–खजाना, कोष्ठागार– धान्यगृह, बल– सेना, वाहन–हाथी, घोडे आदि रूप सम्पदा, इन सब के सारसमुदाय की विशेपताए तथा नाना प्रकार के कामभोगों से उत्पन्न होने वाले सुख ये सभी उपरोक्त विशेपताए स्वर्गलोक से आए हुए जीवों में उपलब्ध होती है।

जिनेन्द्र भगवान् ने संवेग– वैराग्य के लिए विपाकश्रुत में अशुभ और शुभ कर्मों के निरन्तर होने वाले बहुत से विपाकों-फलों का वर्णन किया है। इसी प्रकार की अन्य भी बहुत सी अर्थप्ररूपणाए (पदार्थविस्तार) कथन की गई है। श्रीविपाकसूत्र की वाचनाए (सूत्र और अर्थ का प्रदान अर्थात् अध्यापन) परिमित है। अनुयोगद्वार–व्याख्या करने के प्रकार, सख्येय (जिनकी गणना की जा सके) है और संग्रहणिया– पदार्थों का संग्रह करने वाली गाथाए, सख्येय है।

विपाकसूत्र अङ्गो की अपेक्षा ११ वा अङ्ग है इस के २० अध्ययन है और इस के बीस †उद्देशनकाल तथा बीस ही समुद्देशनकाल है। पदों का प्रमाण संख्यात लाख है अर्थात् इस में एक करोड़ ८४ लाख ३२ हजार पद है। अक्षर– वर्ण सख्येय है। गम अर्थात एक ही सूत्र से अनन्तधर्म-विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन अथवा वाच्य–पदार्थ और वाचक-पद अथवा शास्त्र का तुल्यपाठ जिस का तात्पर्य भिन्न हो, अनन्त है। पर्याय-समान अर्थों के वाचक शब्द भी अनन्त है। इसी प्रकार यावत विपाकश्रुत में ‡चरण-पाच महाव्रत आदि ७० बोल और करण– पिण्डविशुद्धि आदि जैनशास्त्रप्रसिद्ध

---

*आयु की विशेपता का अभिप्राय है कि अन्य जीवों की अपेक्षा आयु का शुभ और दीर्घ होना। इसी भॉति शरीर की विशेपता है–सहनन का स्थिर– दृढ होना। पुण्य की विशेपता है– उस का बराबर बने रहना। रूप की विशेपता है–अति सुन्दर होना। जाति और कुल का उत्तम होना ही जाति और कुल की विशेपता है। जन्म की विशेपता का हार्द है–विशिष्ट क्षेत्र और काल में जन्म लेना। आरोग्य-नीरोगता की विशेपता उस के निरन्तर बने रहने में है। औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों का चरमसीमा को प्राप्त करना बुद्धि की विशेपता है। अपूर्व श्रुत को ग्रहण करने की शक्ति की प्रकर्पता ही मेधा की विशेपता है।

†शिष्य के– महाराज मैं कौन सा सूत्र पढूं ? इस प्रश्न पर गुरुदेव का आचाराङ्ग आदि सूत्र के पढने के लिये सामान्यरूप से कहना उद्देशन कहलाता है, परन्तु गुरु के किए गए "श्रीआचारागसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन को पढो।–" इस प्रकार के विशेप आदेश को समुद्देशन कहते हैं। गुरु से आदिष्ट सूत्र के अध्ययनार्थ नियतकाल को उद्देशनकाल, इसी भॉति गुरु से आदिष्ट अमुक अध्ययन के पठनार्थ नियतकाल को समुद्देशन काल कहा जाता है।

‡ पाच महाव्रत, दस प्रकार का यतिधर्म, १७ प्रकार का सयम, १० प्रकार का वैयावृत्य,

७० *बोलों की प्ररूपणा (विशेषरूप से वर्णन) की गई है।

श्रीसमवायांगसूत्र की भाँति श्रीनन्दीसूत्र में भी श्रीविपाकसूत्रविषयक जो वर्णन उपलब्ध होता है, उस का उल्लेख निम्नोक्त है—

से किं तं विवागसुयं ? विवागसुए णं सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ। तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा। से किं तं दुहविवागा? दुहविवागेसु णं दुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा निरयगमणाइं संसारभवपवंचा दुहपरंपराओ दुक्कुलपच्चायाईओ दुल्लहबोहियत्तं आघविज्जइ, से तं दुहविवागा। से किं तं सुहविवागा? सुहविवागेसु णं सुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुहपरंपराओ सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अन्तकिरियाओ आघविज्जन्ति। विवागसुयस्स णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तिओ, से णं अंगट्ठयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति पण्णविज्जन्ति परूविज्जन्ति दंसिज्जन्ति निदंसिज्जन्ति उवदंसिज्जन्ति, से एवं आया, एवं नाया एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से तं विवागसुयं।

इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

प्रश्न—श्रीविपाकश्रुत क्या है ? अर्थात् उस का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—श्रीविपाकसूत्र में सुख और दुःख रूप विपाक—कर्मफल का वर्णन किया गया है और वह दश दुःख-विपाक तथा दश सुखविपाक, इन दो विभागों में विभक्त है। रहा "—दुःखविपाक के दश

---

९ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियें, १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र, १२ प्रकार का तप, १ क्रोधनिग्रह, २ माननिग्रह ३ मायानिग्रह, ४ लोभनिग्रह, इन ७० बोलों का नाम चरण है।

*चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, ५ प्रकार की समितियें, १२ प्रकार की भावनाएं, १२ प्रकार की प्रतिमाएं— प्रतिज्ञाएं, ५ प्रकार का इन्द्रियनिग्रह, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ प्रकार की गुप्तियां, ४ प्रकार के अभिग्रह, इन ७० बोलों को करण कहा जाता है।

अध्ययनो मे क्या वर्णन है ? यह प्रश्न, इस का समाधान निम्नोक्त है—

दु खविपाक के दश अध्ययनों मे दु.खविपाकी–दु.खरूपकर्मफल को भोगने वाले जीवों के नगरों, उद्यानों, वनखण्डों, चैत्यों, समवसरणों, राजाओं, मातापिताओं, धर्माचार्यों, धर्मकथाओं, लोक और परलोक की विशेष ऋद्धियों, नरकगमन, संसार के भवों का विस्तार, दु खपरम्परा, नीच कुलों मे उत्पत्ति, सम्यक्त्व की दुर्लभता इत्यादि विषयो का वर्णन किया गया है । यही दु खविपाक का स्वरूप है।

प्रश्न–श्रीविपाकश्रुतसम्बन्धी सुखविपाक के दस अध्ययनो मे क्या वर्णन है ?

उत्तर–सुखविपाक के दस अध्ययनो मे सुखविपाकी-सुखरूप कर्मफल का अनुभव करने वाले जीवों के नगर, उद्यान, वनखण्ड, चैत्य, समवसरण, राजा और मातापिता, धर्माचार्य, धर्मकथाए, लोक और परलोक की विशिष्ट ऋद्धियें, भोगो का त्याग, प्रव्रज्याए, दीक्षापर्याय, श्रुत–आगम का ग्रहण, तप-उपधान-उपधानतप अर्थात् सूत्र वाचने के निमित्त किया जाने वाला तप अथवा तप का अनुष्ठान, संलेखना–संथारा, भक्तप्रत्याख्यान-आहारत्याग, पादपोपगमन-संथारे का एक भेद, देवलोकगमन, सुखपरम्परा, अच्छे कुल मे उत्पत्ति, फिर से सम्यक्त्व की प्राप्ति, ससार का अत करना, यह सब वर्णित हुआ है ।

विपाकश्रुत की परिमित वाचनाएं है । सख्येय–सख्या करने योग्य, अनुयोगद्वार है । सख्येय वेढ-छन्दविशेष है । सख्येय श्लोक हैं । संख्येय निर्युक्तिया है । निर्युक्ति का अर्थ है—सूत्र के अर्थ की विशेषरूप से युक्ति लगा कर घटना करना अथवा सूत्र के अर्थ की युक्ति दर्शाने वाला वाक्य अथवा ग्रन्थ । सख्येय सग्रहणिया है । सग्रहणी सग्रहगाथा को कहते है । सख्येय प्रतिपत्तिया है । प्रतिपत्ति का अर्थ है— श्रुतविशेष, गति, इन्द्रिय आदि द्वारो मे से किसी एक द्वार के द्वारा समस्त ससार के जीवों को जानना अथवा प्रतिमा आदि अभिग्रहविशेष ।

विपाकश्रुत अगो मे ११वा अङ्ग है । इस के दो श्रुतस्कन्ध हैं। इस के बीस अध्ययन है। बीस उद्देशनकाल और बीस ही समुद्देशनकाल है । इस के पदों का प्रमाण सख्येय हजार है अर्थात् इस मे एक करोड ८४ लाख ३२ हजार पद है। इस मे सख्येय अक्षर है । इस मे अनन्त गम है। अनन्त पर्याय हैं। इस मे परिमित सूत्रों और अनन्त स्थावरों का वर्णन है । इस मे जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित शाश्वत-अनादि अनन्त और अशाश्वत अर्थात कृत (प्रयोगजन्य, जैसे घटपटादि पदार्थ) तथा विस्रसा (जो प्राकृतिक हैं, जैसे सध्याभ्रराग-सायकाल के वादलों का रग आदि) भाव-पदार्थ कहे गए है, जिनका स्वरूप प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिपादित है तथा निर्युक्ति, सग्रहणी आदि के द्वारा अनेक प्रकार से जो व्यवस्थापित हैं। जो सामान्य अथवा विशेषरूप मे वर्णित हुए है, नामादि के भेद मे जिन का निरूपण-कथन किया गया है, उपमा के द्वारा जिन का प्रदर्शन किया गया है । हेतु और दृष्टान्त के द्वारा जिन का उपदर्शन किया गया है और जो निगमण द्वारा निश्चितरूपेण शिष्य की बुद्धि मे स्थापित किये गए हैं।

इस सुखविपाकसूत्र के अनुसार आचरण करने वाला आत्मा तद्रूप अर्थात् सुखरूप हो जाता है, इसी भॉति इस का अध्ययन करने वाला व्यक्ति इस के पदार्थों का ज्ञाता एव विज्ञाता हो जाता है । साराश यह है कि सुखविपाक मे इस प्रकार से चरण और करण की प्ररूपणा की गई है । यही सुखविपाक का स्वरूप है ।

मैथुनसंसर्ग अर्थात् दूसरे की स्त्री के साथ मैथुन का सेवन करना तथा जो महान् तीव्र कषाय-क्रोध,मान, माया और लोभ, इन्द्रियों का प्रमाद-असत्प्रवृत्ति, पापप्रयोग-हिंसादि पापों में प्रवृत्ति,अशुभ अध्यवसाय-संकल्प होते है, उन सब से संचित अशुभ कर्मों के अशुभ रस वाले कर्मफल कहे गये हैं। तथा नरक-गति और तिर्यंचगति में बहुत से और नाना प्रकार के सैकड़ों कष्टों में पड़े हुए जीवों को मनुष्यगति को प्राप्त करके शेष पाप कर्मों के कारण जो अशुभ फल होते है, उन का स्वरूप निम्नोक्त है—

वध-यष्टिद्वारा ताडित करना,वृषणविनाश-नपुंसक बनाना,नासिका-नाक, कर्ण-कान, ओष्ठ-होठ, अंगुष्ठ-अंगूठा, कर-हाथ चरण-पांव, नख-नाखुन इन सब का छेदन-काटना, जिह्वा का छेदन, अंजन-तपी हुई सलाई से आंखों में अञ्जन डालना अथवा क्षारतैलादि से देह की मालिश करना, कटाग्निदाह-मनुष्य को कट-चटाई में लपेट कर आग लगाना, अथवा कट-वांसविशेष में लपेट कर आग लगा देना, हाथी के पैरों के नीचे मसलना, कुल्हाड़े आदि से फाड़ना, वृक्षादि पर उलटा लटका कर बांधना, शूल, लता- बैंत, लकुट- लकड़ी, यष्टि- लाठी, इन सब से शरीर का भञ्जन करना, शरीर की अस्थि आदि का तोड़ना, तपे तथा कलकल शब्द करते हुए त्रपु-रांगा, सीसक- सिक्का और तैल से शरीर का अभिषेक करना, कुम्भीपाक-भाजनविशेष में पकाना, कम्पन अर्थात शीतकाल में शीतल जल से छींटे दे कर शरीर को कम्पाना, स्थिरबन्धन- बहुत कस कर बांधना, वेध- भाले आदि से भेदन करना, वर्धकर्तन- चमड़ी का उखाड़ना, प्रतिभयकर- पल २ में भय देना, करप्रदीपन- कपड़ों में लपेट तैल छिड़क कर मनुष्य के हाथों में आग लगाना इत्यादि अनुपम तथा दारुण दुःखों का वर्णन किया गया है।

इस के अतिरिक्त विपाकसूत्र में यह भी बताया गया है कि, दुःखफलों को देने वाली पापकर्म-रूपी बेल के कारण नाना प्रकार दुःखों की परम्परा से बन्धे हुए जीव कर्मफल भोगे बिना छूट नहीं सकते, प्रत्युत अच्छी तरह कमर बांध कर तप और धीरज के द्वारा ही उस का शोधन हो सकता है। इस के अतिरिक्त सुखविपाक के अध्ययनों में वर्णित पदार्थ निम्नोक्त हैं—

हितकारी, सुखकारी तथा कल्याणकारी तीव्र परिणाम वाले और संशय रहित मति वाले व्यक्ति शील- ब्रह्मचर्य अथवा समाधि, संयम- प्राणातिपात से निवृत्ति, नियम- अभिग्रहविशेष, गुण- मूलगुण तथा उत्तरगुण और तप- तपस्या करने वाले, सत्क्रियाएं करने वाले साधुओं को अनुकम्पाप्रधान चित्त के व्यापार तथा देने की त्रैकालिक मति अर्थात दान दूंगा यह विचार कर हर्षानुभूति करना, दान देते हुए प्रमोदानुभव करना तथा देने के अनन्तर हर्षानुभव करना, ऐसी त्रैकालिक बुद्धि से विशुद्ध तथा प्रयोगशुद्ध- लेने और देने वाले व्यक्ति के प्रयोग-व्यापार की अपेक्षा से शुद्ध भोजन को आदरभाव से देकर जिस प्रकार सम्यक्त्व का लाभ करते हैं और जिस प्रकार नर- मनुष्य, नरक, तिर्यंच और देव इन चारों गतियों में जीवों के गमन- परिभ्रमण के विपुल- विस्तीर्ण, परिवर्तन- संक्रमण से युक्त, अरति- संयम में उद्वेग, भय, विषाद, दीनता, शोक, मिथ्यात्व- मिथ्याविश्वास, इत्यादि शैलों- पर्वतों से व्याप्त, अज्ञानरूप अन्धकार से युक्त, विषयभोग, धन और अपने सम्बन्धी आदि में आसक्तिरूप कर्दम- कीचड़ से सुदुस्तर- जिस का पार करना बहुत कठिन है, जरा-बुढ़ापा, मरण- मृत्यु और योनि- जन्मरूप संक्षुभित- विलोडित, चक्रवाल- जलपरिमण्डल (जल का गोल

कार श्रमण) से युक्त, १६ कपायरूप श्वापद– हिंसक जीवो से अत्यन्त रुद्र–भीषण, अनादि अनन्त ससार सागर को परिमित करते है, और देवो की आयु को बांधते है, देवविमानो के अनुपम सुखो का अनुभव करते है, वहां से च्यव कर इसी मनुष्यलोक मे आये हुए जीवो की *आयु, शरीर, पुण्य, रूप, जाति, कुल, जन्म, आरोग्य, बुद्धि तथा मेधा की विशेषताए पाई जाती है। इस के अतिरिक्त मित्रजन, स्वजन–पिता, पितृव्य आदि, धन, धान्यरूप लक्ष्मी–समृद्धि, नगर, अन्त पुर, कोप–खजाना, कोष्ठागार– धान्यगृह, वल– सेना, वाहन–हाथी, घोडे आदि रूप सम्पदा, इन सव के सारसमुदाय की विशेषताए तथा नाना प्रकार के कामभोगो से उत्पन्न होने वाले सुख ये सभी उपरोक्त विशेषताए स्वर्गलोक से आए हुए जीवो मे उपलब्ध होती है।

जिनेन्द्र भगवान् ने सवेग– वैराग्य के लिए विपाकश्रुत मे अशुभ और शुभ कर्मो के निरन्तर होने वाले वहुत से विपाको-फलो का वर्णन किया है। इसी प्रकार की अन्य भी वहुत सी अर्थप्ररूपणाए (पदार्थविस्तार) कथन की गई है । श्रीविपाकसूत्र की वाचनाए (सूत्र और अर्थ का प्रदान अर्थात् अध्यापन) परिमित है। अनुयोगद्वार–व्याख्या करने के प्रकार, सख्येय (जिनकी गणना की जा सके) है और सग्रहणिया– पदार्थो का सग्रह करने वाली गाथाए, सख्येय है ।

विपाकसूत्र अङ्गो की अपेक्षा ११ वा अङ्ग है इस के २० अध्ययन है और इस के वीस †उद्देशनकाल तथा वीस ही समुद्देशनकाल है। पदो का प्रमाण सख्यात लाख है अर्थात् इस मे एक करोड़ ८४ लाख ३२ हजार पद है। अक्षर– वर्ण सख्येय है। गम अर्थात एक ही सूत्र से अनन्तधर्म-विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन अथवा वाच्य–पदार्थ और वाचक-पद अथवा शास्त्र का तुल्यपाठ जिस का तात्पर्य भिन्न हो, अनन्त है। पर्याय-समान अर्थो के वाचक शब्द भी अनन्त है। इसी प्रकार यावत विपाकश्रुत मे ‡चरण-पाच महाव्रत आदि ७० वोल और करण– पिण्डविशुद्धि आदि जैनशास्त्रप्रसिद्ध

---

*आयु की विशेषता का अभिप्राय है कि अन्य जीवो की अपेक्षा आयु का शुभ और दीर्घ होना। इसी भॉति शरीर की विशेषता है–सहनन का स्थिर– दृढ होना। पुण्य की विशेषता है– उस का वरावर वने रहना। रूप की विशेषता है–अति सुन्दर होना। जाति और कुल का उत्तम होना ही जाति और कुल की विशेषता है। जन्म की विशेषता का हार्द है–विशिष्ट क्षेत्र और काल मे जन्म लेना। आ-रोग्य-नीरोगता की विशेषता उस के निरन्तर वने रहने मे है। औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों का चरमसीमा को प्राप्त करना बुद्धि की विशेषता है। अपूर्व श्रुत को ग्रहण करने की शक्ति की उत्कर्षता ही मेधा की विशेषता है।

†शिष्य के– महाराज मै कौन सा सूत्र पढू ? इस प्रश्न पर गुरुदेव का आचाराङ्ग आदि सूत्र के पढने के लिये सामान्यरूप से कहना उद्देशन कहलाता है, परन्तु गुरु के किए गए "श्रीआचारागसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन को पढो–" इस प्रकार के विशेष आदेश को समुद्देशन कहते है। गुरु से आदिष्ट सूत्र के अध्ययनार्थ नियतकाल को उद्देशनकाल, इसी भॉति गुरु से आदिष्ट अमुक अध्ययन के पठनार्थ नियतकाल को समुद्देशन काल कहा जाता है ।

‡ पाच महाव्रत, दस प्रकार का यतिधर्म, १७ प्रकार का सयम, १० प्रकार का वैयावृत्य,

७० *बोलों की प्ररूपणा (विशेषरूप से वर्णन) की गई है।

श्रीसमवायांगसूत्र की भाँति श्रीनन्दीसूत्र में भी श्रीविपाकसूत्रविषयक जो वर्णन उपलब्ध होता है, उस का उल्लेख निम्नोक्त है—

से किं तं विवागसुयं ? विवागसुए णं सुक्कडदुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ। तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा। से किं तं दुहविवागा ? दुहविवागेसु णं दुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा निरयगमणाइं संसारभवपवंचा दुहपरंपराओ दुक्कुलपच्चायाईओ दुल्लहबोहियत्तं आघविज्जइ, से तं दुहविवागा। से किं तं सुहविवागा ? सुहविवागेसु णं सुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइयाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुहपरंपराओ सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अन्तकिरियाओ आघविज्जन्ति। विवागसुयस्स णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तिओ, से णं अंगट्ठयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जन्ति पण्णविज्जन्ति परूविज्जन्ति दंसिज्जन्ति निदंसिज्जन्ति उवदंसिज्जन्ति, से एवं आया, एवं नाया एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, से तं विवागसुयं।

इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

प्रश्न—श्रीविपाकश्रुत क्या है ? अर्थात् उस का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—श्रीविपाकसूत्र में सुख और दुःख रूप विपाक—कर्मफल का वर्णन किया गया है और वह दश दुःख-विपाक तथा दश सुखविपाक, इन दो विभागों में विभक्त है। प्रश्न—दुःखविपाक के दश

---

६ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियें, १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र, १२ प्रकार का तप, १ क्रोधनिग्रह, २ माननिग्रह ३ मायानिग्रह, ४ लोभनिग्रह, इन ७० बोलों का नाम चरण है।

*चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, ५ प्रकार की समितियें, १२ प्रकार की भावनाएं, १२ प्रकार की प्रतिमाएं—प्रतिज्ञाएं, ५ प्रकार का इन्द्रियनिग्रह, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ प्रकार की गुप्तियां, ४ प्रकार के अभिग्रह इन ७० बोलों को करण कहा जाता है।

अध्ययनो मे क्या वर्णन है ? यह प्रश्न, इस का समाधान निम्नोक्त है—

दु:खविपाक के दश अध्ययनों मे दु:खविपाकी—दु:खरूपकर्मफल को भोगने वाले जीवो के नगरो, उद्यानो, वनखण्डो, चैत्यो, समवसरणो, राजाओं, मातापिताओ, धर्माचार्यों, धर्मकथाओं, लोक और परलोक की विशेष ऋद्धियों, नरकगमन, संसार के भवों का विस्तार, दु:खपरम्परा, नीच कुलों मे उत्पत्ति, सम्यक्त्व की दुर्लभता इत्यादि विषयो का वर्णन किया गया है। यही दु:खविपाक का स्वरूप है।

प्रश्न—श्रीविपाकश्रुतसम्बन्धी सुखविपाक के दस अध्ययनो मे क्या वर्णन है ?

उत्तर—सुखविपाक के दस अध्ययनो मे सुखविपाकी-सुखरूप कर्मफल का अनुभव करने वाले जीवो के नगर, उद्यान, वनखण्ड, चैत्य, समवसरण, राजा और मातापिता, धर्माचार्य, धर्मकथाए, लोक और परलोक की विशिष्ट ऋद्धिये, भोगो का त्याग, प्रव्रज्याए, दीक्षापर्याय, श्रुत—आगम का ग्रहण, तप-उपधान-उपधानतप अर्थात् सूत्र वाचने के निमित्त किया जाने वाला तप अथवा तप का अनुष्ठान, सलेखना—सथारा, भक्तप्रत्याख्यान-आहारत्याग, पादपोपगमन-सथारे का एक भेद, देवलोकगमन, सुखपरम्परा, अच्छे कुल मे उत्पत्ति, फिर से सम्यक्त्व की प्राप्ति, ससार का अत करना, यह सब वर्णित हुआ है।

विपाकश्रुत की परिमित वाचनाएं है। सख्येय—संख्या करने योग्य, अनुयोगद्वार है। सख्येय वेढ-छन्दविशेष है। सख्येय श्लोक हैं। संख्येय निर्युक्तिया है। निर्युक्ति का अर्थ है—सूत्र के अर्थ की विशेषरूप से युक्ति लगा कर घटना करना अथवा सूत्र के अर्थ की युक्ति दर्शाने वाला वाक्य अथवा ग्रन्थ। सख्येय सग्रहणिया है। सग्रहणी सग्रहगाथा को कहते है। सख्येय प्रतिपत्तिया है। प्रतिपत्ति का अर्थ है— श्रुतविशेष, गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के द्वारा समस्त ससार के जीवों को जानना अथवा प्रतिमा आदि अभिग्रहविशेष।

विपाकश्रुत अगों मे ११वा अङ्ग है। इस के दो श्रुतस्कन्ध है। इस के बीस अध्ययन हैं। बीस उद्देशनकाल और बीस ही समुद्देशनकाल है। इस के पदो का प्रमाण सख्येय हजार है अर्थात इस में एक करोड ८४ लाख ३२ हजार पद है। इस में सख्येय अक्षर है। इस मे अनन्त गम हैं। अनन्त पर्याय है। इस में परिमित सूत्रो और अनन्त स्थावरों का वर्णन है। इस मे जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित शाश्वत-अनादि अनन्त और अशाश्वत अर्थात कृत (प्रयोगजन्य, जैसे घटपटादि पदार्थ) तथा विस्रसा (जो प्राकृतिक हैं, जैसे सध्याभ्रराग-सायकाल के बादलों का रग आदि) भाव-पदार्थ कहे गए है, जिनका स्वरूप प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिपादित है तथा निर्युक्ति, सग्रहणी आदि के द्वारा अनेक प्रकार से जो व्यवस्थापित हैं। जो सामान्य अथवा विशेषरूप से वर्णित हुए है, नामादि के भेद मे जिन का निरूपण-कथन किया गया है, उपमा के द्वारा जिन का प्रदर्शन किया गया है। हेतु और दृष्टान्त के द्वारा जिन का उपदर्शन किया गया है और जो निगमन द्वारा निश्चितरूपेण शिष्य की बुद्धि मे स्थापित किये गए है।

इस सुखविपाकसूत्र के अनुसार आचरण करने वाला आत्मा तद्रूप अर्थात सुखरूप हो जाता है इसी भॉति इस का अध्ययन करने वाला व्यक्ति इस के पदार्थों का ज्ञाता एव विज्ञाता हो जाता है। साराश यह है कि सुखविपाक मे इस प्रकार से चरण और करण की प्ररूपणा की गई है। यही सुखविपाक का स्वरूप है।

श्री समवायाग और नन्दीसूत्र के परिशीलन से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि आजकल जो विपाकश्रुत उपलब्ध है, वह पुरातन विपाकश्रुत की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त तथा लघुकाय है। विपाकश्रुत के इस ह्रास का कारण क्या है ? यह प्रश्न सहज ही मे उपस्थित हो जाता है। इस का उत्तर पूर्वाचार्यों ने जो दिया है, वह निम्नोक्त है—

भगवान् महावीर स्वामी के प्रवचन का स्वाध्याय प्रथम मौखिक ही होता था, आचार्य शिष्य को स्मरण करा दिया करते थे और शिष्य अपने शिष्य को कण्ठस्थ करा दिया करते थे। उसी क्रम अर्थात् गुरुपरम्परा से आगमों का स्वाध्याय होता था। भगवान् महावीर के लगभग १५० वर्षों के पश्चात देश मे दुर्भिक्ष पडा। दुर्भिक्ष के प्रभाव से जैनसाधु भी नहीं बच पाये। अन्नाभाव के कारण, आहारादि के न मिलने से साधुओं के शरीर और स्मरणशक्ति शिथिल पड गई। जिस का परिणाम यह हुआ कि कण्ठस्थ विद्या भूलने लगी। जैनेन्द्र प्रवचन के इस ह्रास से भयभीत होकर जैनमुनियों ने अपना समेलन किया और उसके प्रधान स्थूलिभद्र जी बनाये गये। स्थूलिभद्र जी के अनुशासन मे जिन २ मुनियो को जो २ आगमपाठ स्मरण मे थे, उन का सकलन हुआ जोकि पूर्व की भॉति अग तथा उपाग आदि के नाम से निर्धारित था। भगवान महावीर स्वामी के लगभग ६०० वर्षो के अनन्तर फिर दुर्भिक्ष पडा। उस दुर्भिक्ष मे भी जैन मुनियों का काफी ह्रास हुआ। मुनियों के ह्रास से जैनेन्द्र प्रवचन का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। तब प्रवचन को सुरक्षित रखने के लिये मथुरा मे स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता मे फिर मुनिसम्मेलन हुआ। इस मे भी पूर्व की भॉति आगमपाठों का सग्रह किया गया। तब से उस सग्रह का ही स्वाध्याय होने लगा। काल की विचित्रता से दुर्भिक्ष द्वारा राष्ट्र फिर आक्रान्त हुआ। इस दुर्भिक्ष मे तो जनहानि पहिले से भी विशेष हुई। भिक्षाजीवी सयमशील जैनमुनियों की क्षति तो अधिक शोचनीय हो गई। समय की इस क्रूरता से निर्ग्रन्थप्रवचन को सुरक्षित रखने के लिये श्रीदेवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण (वीरनिर्वाण स० ९८०) ने वलभी नगरी में मुनिसम्मेलन किया। उस सम्मेलन मे इन्हो ने पूर्व की भॉति आगमपाठों का सकलन किया और उसे लिपिबद्ध कराने का बुद्धिशुद्ध प्रयत्न किया। तथा उन की अनेकानेक प्रतिया लिखा कर योग्य स्थानों में भिजवादीं। तब से इन आगमों का स्वाध्याय पुस्तक पर से होने लगा। आज जितने भी आगम ग्रन्थ उपलब्ध है वे सब देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण द्वारा सम्पादित पाठों के आदर्श हैं। इन मे वे ही पाठ सकलित हुए है जो उस समय मुनियों के स्मरण मे थे। जो पाठ उन की स्मृति मे नहीं रहे उन का लिपिबद्ध न होना अनायास ही सिद्ध है। अत प्राचीन सूत्रो का तथा आधुनिक काल मे उपलब्ध सूत्रों का अध्ययनगत तथा विषयगत भेद कोई आश्चर्य का स्थान नहीं रहता। यह भेद समय की प्रबलता को आभारी है। समय के आगे सभी को नतमस्तक होना पडता है।

विपाकसूत्र में वर्णित जीवनवृत्तान्तों से यह भलिभॉति ज्ञात हो जाता है कि कर्म से छूटने पर सभी जीव मुक्त हो जाते है, परमात्मा बन जाते है। इस से–परमात्मा ईश्वर एक ही है, यह सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं ठहरता है। वास्तव मे देखा जाय तो जीव और ईश्वर मे यही अन्तर है कि जीव की सभी शक्तिया आवरणों से घिरी हुई होती है और ईश्वर की सभी शक्तिया विकसित है, परन्तु जिस समय जीव

अपने सभी आवरणो को हटा देता है, उस समय उस की सभी शक्तियें प्रकट हो जाती है। फिर जीव और ईश्वर मे विपमता की कोई बात नहीं रहती। जिस कर्मजन्य उपाधि से घिरा हुआ आत्मा जीव कहलाता है उस के नष्ट हो जाने पर वह ईश्वर के नाम से अभिहित होता है। इसलिये ईश्वर एक न हो कर अनेक है। सभी आत्मा तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही है। केवल कर्मजन्य उपाधि ही उस के ईश्वरत्व को आच्छादित किए हुए है, उस के दूर होते ही ईश्वर और जीव मे कोई अन्तर नहीं रहता। केवल बन्धन के कारण ही जीव मे रूपो की अनेकता है। विपाकश्रुत का यह वर्णन भी जीव को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए बल देता है और मार्ग दिखलाता है।

समवायाङ्गसूत्र के ५५ वे समवाय मे जो यह लिखा है कि—**समणे भगवं महावीरे अन्तिमराइयंसि पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं वागरित्ता सिद्धे बुद्धे जाव पहीणे**—अर्थात् पावानगरी मे महाराज हस्तिपाल की सभा में कार्तिक की अमावस्या की रात्रि मे चरमतीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी ने ५५ ऐसे अध्ययन-जिन मे पुण्यकर्म का फल प्रदर्शित किया है और ५५ ऐसे अध्ययन जिन मे पापकर्म का फल व्यक्त किया गया है, धर्मदेशना के रूप मे फरमा कर निर्वाण उपलब्ध किया, अथच जन्म मरण के कारणों का समूलघात किया। इस से प्रतीत होता है कि ५५ अध्ययन वाला कल्याणफलविपाक और ५५ अध्ययन वाला पापफलविपाक प्रस्तुत विपाकश्रुत से विभिन्न है। क्योंकि इन विपाको का निर्माण भगवान ने जीवन की अन्तिम रात्रि मे किया है और विपाकश्रुत उस के पूर्व का है। एकादश अङ्गो का अध्ययन भगवान् की [1]उपस्थिति मे होता था। अत विपाकश्रुत उन से भिन्न है और वे विपाकश्रुत से भिन्न है।

श्री स्थानागसूत्र मे विपाकश्रुत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के दश अध्ययनो का वर्णन मिलता है, वहा का पाठ इस प्रकार है—

---

[1]कल्पसूत्र मे जो यह लिखा है कि उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययन भगवान् महावीर स्वामी ने कार्तिक अमावस्या की निर्वाणरात्रि मे फरमाये थे। इस पर यह आशका होती है कि अङ्ग सूत्रों मे चतुर्थ अङ्गसूत्र श्री समवायाङ्गसूत्र के ३६ वे समवाय मे उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययनो का सकलन कैसे हो गया? तात्पर्य यह है कि जब अङ्गसूत्र भगवान् महावीर स्वामी के उपस्थिति मे अवस्थित थे और उत्तराध्ययनसूत्र उन्हो ने अपने निर्वाणरात्रि मे फरमाया, कालकृत इतना भेद होने पर भी उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन अङ्गसूत्र मे कैसे सकलित कर लिये गये? इस प्रश्न का समाधान निम्नोक्त है—

भगवान महावीर स्वामी के समय मे ६ वाचनाए चलती थीं, अन्तिम वाचना श्री सुधर्मा स्वामी जी की कहलाती है। आज का उपलब्ध अङ्गसाहित्य श्री सुधर्मास्वामी जी की ही वाचना है। पूर्व की ८ वाचनाओं का विच्छेद हो गया। अन्तिम वाचना श्री सुधर्मास्वामी तथा श्री जम्बूस्वामी के प्रश्नोत्तरो के रूप मे प्राप्त होती है और महावीर स्वामी के निर्वाणानन्तर श्री सुधर्मास्वामी ने इस मे भी उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो का भी सकलन कर लिया। अत सुधर्मास्वामी की वाचना के अङ्गसूत्र मे उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययनो का वर्णित होना कोई दोषावह नहीं है।

दस दसाओ प० तं०—कम्मविवागदसाओ संखेवितदसाओ। कम्मविवाग-दसाओ—इस पद की व्याख्या वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इस प्रकार की है—

कर्मणः—अशुभस्य विपाकः—फलं कर्मविपाकः, तत्प्रतिपादका दशाध्ययनात्मकत्वाद् दशाः कर्मविपाकदशाः, विपाकश्रुताख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनात्मक एव, नचासाविहाभिमतः उत्तरत्र विवरियमाणत्वादिति—

अर्थात् अशुभ कर्मफल प्रतिपादन करने वाले दश अध्ययनों का नाम कर्मविपाकदशा है। यह विपाकश्रुत का प्रथमश्रुतस्कन्ध है। विपाकश्रुत के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भी दश अध्ययन हैं, उन का आगे विवरण होने से यहां उल्लेख नहीं किया जाता। श्री स्थानांगसूत्र में दश अध्ययनों के जो नाम लिखे हैं, वे निम्नोक्त हैं—

कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा प० तं०—१—मियापुत्ते, २--गोत्तासे, ३-अंडे ४--सगडे इ यावरे। ५--माहणे ६--णंदिसेणे य, ७--सोरिए य ८ -उदुम्बरे। ६--सहसुद्दाहे, आमलते, १०--कुमारे लेच्छइ ति य। (स्थानांग सू० ७५५)

विपाकश्रुत में इन नामों के स्थान में निम्नोक्त नाम दिये गए हैं—

१—मियापुत्ते य, २—उज्झियए, ३—अभग्ग, ४—सगडे, ५—बहस्सई, ६--नन्दी। ७--उम्बर, ८--सोरियदत्ते य, ६--देवदत्ता य १०--अन्जू य ॥१॥

स्थानाङ्गसूत्र में जिन नामों का निर्देश किया गया है उन नामों में से इन में आंशिक भिन्नता है। इस का कारण यह है कि श्रीस्थानाङ्गसूत्र में कथानायकों का नाम ही कहीं पूर्वजन्म की अपेक्षा से रक्खा गया है और कहीं व्यवसाय की दृष्टि से। जैसे- गोत्रास और उज्झितक। उज्झितक पूर्वजन्म में गोत्रास के नाम से विख्यात था। इसी प्रकार अन्य नामों की भिन्नता के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। यह भेद बहुत साधारण है अतएव उपेक्षणीय है।

मांगलिक विचार

प्रश्न—प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण करना आवश्यक होता है, यह बात सभी आर्य प्रवृत्तियों तथा विद्वानों से सम्मत है। मङ्गलाचरण भले ही किसी इष्ट का हो, परन्तु उस का आराधन अवश्य होना चाहिये। सभी प्राचीन लेखक अपने २ ग्रन्थ में मंगलाचरण का आश्रयण करते आए हैं। मंगलाचरण इतना उपयोगी तथा आवश्यक होने पर भी विपाकश्रुत में नहीं किया गया, यह क्यों? अर्थात् इसका क्या कारण है?

उत्तर—मंगलाचरण की उपयोगिता को किसी तरह भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, परन्तु यह बात न भूलनी चाहिए कि सभी शास्त्रों के मूलप्रणेता श्रीअरिहन्त भगवान हैं। ये आगम उनकी रचना होने से स्वयं ही [१]मंगलरूप हैं। मंगलाचरण इष्टदेव की आराधना के लिये किया जाता

[१]मंगलम् इष्टदेवतानमस्कारादिरूपम्, अस्य च प्रणेता सर्वज्ञस्तस्य चापरनमस्कार्याभावान्मंगलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मंगलविधानम्। गणाभगणामपि तीर्थकृदुक्तानुवादित्वान्मंगलाकरणम्।अस्मदाद्यपेक्षया तु सर्वमेव शास्त्रं मंगलम्। (सूत्रकृतांगसूत्र शीलांकाचार्य)

है, परन्तु जहा निर्माता स्वय इष्टदेव हो वहां अन्य मगल की क्या आवश्यकता है ?

प्रश्न–यह ठीक है कि मूलप्रणेता श्री अरिहन्त भगवान को मगलाचरण की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु गणधरो को तो अपने इष्टदेव का स्मरणरूप मगल अवश्य करना ही चाहिए था ?

उत्तर–यह शका भी निर्मूल है। कारण कि गणधरो ने तो मात्र श्री अरिहन्त देव द्वारा प्रतिपादित अर्थरूप आगम का सूत्ररूप मे अनुवाद किया है। उन की दृष्टि मे तो वह स्वय ही मगल है। तब एक मगल के होते अन्य मगल का प्रयोजन कुछ नहीं रहता, अत श्री विपाकश्रुत मे मगलाचरण नहीं किया गया ।

प्रस्तुत टीका के लिखने का प्रयोजन

यद्यपि विपाकश्रुत के संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और इगलिश आदि भाषाओ मे बहुत से अनुवाद भी मुद्रित हो चुके है, परन्तु हिन्दीभाषाभाषी ससार के लिए हिन्दी भाषा मे एक ऐसे अनुवाद की आवश्यकता थी जिस मे मूल, छाया, पदार्थ और मूलार्थ के साथ मे विस्तृत विवेचन भी हो। जिन दिनो मेरे परमपूज्य गुरुदेव प्रधानाचार्य श्री १००८ **श्री आत्मा राम जी महाराज** श्रीस्थानाग सूत्र का हिन्दी अनुवाद कर रहे थे, उन दिनो मै आचार्य श्री के चरणो मे श्री विपाकश्रुत का अध्ययन कर रहा था। विपाकश्रुत की विषयप्रणाली का विचार करते हुए मेरे हृदय मे यह भाव उत्पन्न हुआ कि क्या ही अच्छा हो कि यदि पूज्य श्री के द्वारा अनुवादित श्री उत्तराध्ययन और दशाश्रुतस्कन्ध आदि सूत्रों की भॉति विपाकश्रुत का भी हिन्दी मे अनुवाद किया जाए। आचार्य श्री को इस के लिये प्रार्थना की गई परन्तु स्थानागादि के अनुवाद मे सलग्न होने के कारण आपने अपनी विवशता प्रकट करते हुए इस के अनुवाद के लिए मुझे ही आज्ञा दे डाली। सामर्थ्य न होते हुए भी मैने मस्तक नत किया और उन्हीं के चरणों का आश्रय लेकर स्वय ही इस के अनुवाद मे प्रवृत्त होने का निश्चय किया। तदनुसार इस शुभ कार्य को आरम्भ कर दिया। प्रस्तुत विवरण लिखने मे मुझे कितनी सफलता मिली है ? इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक स्वय ही कर सकते है। मै तो इस विषय मे केवल इतना ही कह सकता हू कि यह मेरा प्राथमिक प्रयास है, तथा मेरा ज्ञान भी स्वल्प है, अत इस मे सिद्धान्तगत त्रुटियो का होना भी सभव है और भावगत विषमता भी असम्भव नहीं है।

अन्त मे इस ज्ञानसाध्य विशाल कार्य और अपनी स्वल्प मेधा का का विचार करते हुए अपने सहृदय पाठको से आचार्य श्री हेमचन्द्र की जी सूक्ति मे विनम्र निवेदन करने के अतिरिक्त और कुछ भी कहने मे समर्थ नहीं हू —

क्वाह पशोरपि पशुः, वीतरागस्तवः क्व च ।
उत्तितीर्षुररण्यानि, पद्भ्यां पंगुरिवास्म्यतः ॥७॥
तथापि श्रद्धामुग्धोऽहं, नोपालभ्यः स्खलन्नपि ।
विशृंखलापि वाग्वृत्तिः, श्रद्दधानस्य शोभते ॥८॥

(वीतराग स्तोत्र)

अर्थात् कहा मैं पशुसदृश अज्ञानियों का भी अज्ञानी–महामूढ और कहा वीतराग प्रभु की स्तुति ? तात्पर्य यह है कि दोनों की परस्पर कोई तुलना नहीं है। मेरी तो उस पंगु जैसी दशा है जो कि अपने पांव से जगलों को पार करना चाहता है। फिर भी श्रद्धामुग्ध–अत्यन्त श्रद्धालु होने के कारण मैं स्खलित होता हुआ भी उपालम्भ का पात्र नहीं हूं, क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति की टूटी फूटी वचनावली भी शोभा ही पाती है।

नामकरण

विपाकश्रुत की प्रस्तुतटीका का नाम "आत्मज्ञानविनोदनी" रक्खा गया है। अपनी दृष्टि से यह इस का अन्वर्थ नामकरण है। जो जीवात्मा सांसारिक विनोद में आसक्त न रह कर आध्यात्मिक विनोद की अनुकूलता में प्रयत्नशील रहते हैं तथा आत्मरमण को ही अपना सर्वोत्तम साध्य बना लेते हैं। उन के विनोद में यह कारण बने इस भावना से यह नाम रखा गया है। इस के अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि यह टीका मेरे परमपूज्य गुरुदेव आचार्यप्रवर श्री आत्माराम जी महाराज के विनोद का भी कारण बने, इस विचार से यह नामकरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि पूज्य आचार्य श्री आगमों के चिन्तन, मनन और अनुवाद में ही लगे रहते हैं, आगमों का प्रचार एवं प्रसार ही उन के जीवन का सर्वतोमुखी ध्येय है। उन की भावना है कि समस्त आगमों का हिन्दीभाषानुवाद हो जावे। उस भावना की पूर्ति में विपाकश्रुत का यह अनुवाद भी कथमपि कारण बने। बस इसी अभिप्राय से प्रस्तुत टीका का उक्त नामकरण किया गया है।

टीका लिखने में सहायक ग्रन्थ

इस विपाकसूत्र की टीका तथा प्रस्तावना लिखने में जिन २ ग्रन्थों की सहायता ली गई है, उन के नामों का निर्देश तत्तत्स्थल पर ही कर दिया गया है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि उन ग्रन्थों के अनेकों ऐसे भी स्थल हैं जो ज्यों के त्यों उद्धृत किये गए हैं। जैसे पण्डित श्री सुखलाल जी का तत्त्वार्थसूत्र तथा कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० की जवाहरकिरणावली की व्याख्यानमाला की पांचवीं किरण सुबाहुकुमार तथा श्रावक के बारह व्रत में से अनेकों स्थल ज्यों के त्यों उद्धृत किये गए हैं। जिन ग्रन्थों की सहायता ली गई है उन का नामनिर्देश करने का प्राय पूरा २ प्रयत्न किया गया है, फिर भी यदि भूल से कोई रह गया हो तो उस के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

आभारप्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं महामहिम स्वनामधन्य श्री श्री श्री १००८ श्रीमज्जैनाचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज के सुशिष्य मंगलमूर्ति जैनाचार्य श्री मोतीराम जी महाराज के सुशिष्य गणावच्छेदकपदविभूषित पुण्यश्लोक श्री स्वामी गणपतिराय जी महाराज के सुशिष्य स्थविरपदविभूषित परिपूतचरण श्री जयरामदास जी महाराज के सुशिष्य प्रवर्तकपदालकृत परमपूज्य श्री स्वामी शालिग्राम जी महाराज महाराज के सुशिष्य परमवन्दनीय गुरुदेव श्री जैनधर्मदिवाकर,साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर परमपूज्य श्री वर्धमानश्रमणसघ के आचार्यप्रवर श्री आत्माराम जी महाराज के पावन चरणों का आभार मानता

हू। आप की असीम कृपा से ही मै प्रस्तुत हिन्दीटीका लिखने का साहस कर पाया हू। मैने आप श्री के चरणो मे विपाकश्रुत का अध्ययन करके उस के अनुवाद करने की जो कुछ भी क्षमता प्राप्त की है, वह सब आपश्री की ही असाधारण कृपा का फल है, अत इस विषय मे परमपूज्य आचार्य श्री का जितना भी आभार माना जाय उतना कम ही है। मुझे प्रस्तुत टीका के लिखते समय जहा कहीं भी पूछने की आवश्यकता हुई, आपश्री का ही उस के लिए कष्ट दिया गया और आपश्री ने अस्वस्थ रहते हुए भी सहर्ष मेरे सशयास्पद हृदय को पूरी तरह समाहित किया, जिस के लिये मै आप श्री का अत्यन्तान्त अनुगृहीत एव कृतज्ञ रहूँगा।

इस के अनन्तर मैं अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता, सस्कृतप्राकृतविशारद, सम्माननीय पण्डित श्रीहेमचन्द्र जी महाराज का भी आभारी हूँ। आप की ओर से इस अनुवाद मे मुझे पूरी २ सहायता मिलती रही है। आप ने अपना बहुमूल्य समय मेरे इस अनुवाद के सशोधन मे लगाया है और इस ग्रन्थ के सशोधक बन कर इसे अधिकाधिक स्पष्ट, उपयोगी एव प्रामाणिक बनाने का महान अनुग्रह किया है, जिस के लिये मैं आपश्री का हृदय मे अत्यन्तात्यन्त आभारी हू। तथा मेरे लघुगुरुभ्राता सेवाभावी श्रीरत्नमुनि जी का शास्त्रभडार मे से शास्त्र आदि का ढूण्ढ कर निकाल कर देने आदि का पद पद पर सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता। मैं मुनि श्री का भी हृदय से कृतज्ञ हू। इस के अतिरिक्त जिन २ ग्रन्थों* और टीकाओ का इस अनुवाद मे उपयोग किया गया है उन के कर्ताओ का भी हृदय से आभार मानता हू। अन्त मे आगमो के पण्डितो और पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि--

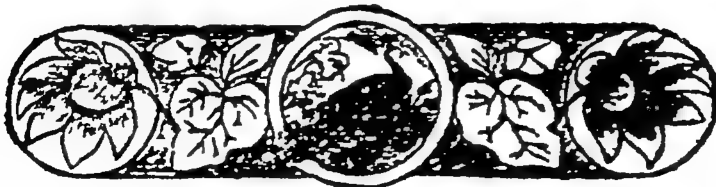
गच्छतः स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः॥

इस नीति का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत टीका मे जो कोई भी दोष रह गया हो उसे सुधार लेने का अनुग्रह करे और मुझे उस की सूचना देने की कृपा करे। इस के अतिरिक्त निम्न पद्य को भी ध्यान मे रखने का कष्ट करे —

नात्रातीव प्रकर्तव्यं, दोषदृष्टिपर मनः।
दोषे ह्यविद्यमानेऽपि, तच्चित्तानां प्रकाशते॥

लुधियाना, जैनस्थानक,
पौष शुक्ला १०, स० २०१०

—ज्ञानमुनि



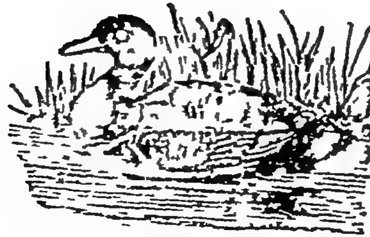
*जिन २ ग्रन्थो का श्रीविपाकसूत्र की व्याख्या एव प्रस्तावना लिखने मे सहयोग लिया गया है उन के नाम प्रस्तुत सूत्र के परिशिष्ट न० १ मे दिये जा रहे हैं।

श्रीविपाकसूत्र हिन्दीभाषाटीकासहित



✻ विषयानुक्रमणिका ✻

अथ द्वितीय अध्याय



श्री

विपाक-सूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानविनोदिनीहिन्दीभाषाटीकासहितं च

श्री

विपाकसूत्र हिंदीभाषाटीकासहित

का

दुःखविपाक नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध

विनम्र विनिवेदन

पाठक महानुभावों से सानुरोध निवेदन है कि वे श्री विपाकसूत्र का स्वाध्याय करने से पूर्व परिशिष्ट नं० ३ को देख कर अशुद्ध स्थलों को शुद्ध कर के पढ़ें।

"नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स"

श्री विपाक सूत्र

मूल—तेणं[1] कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्ज-सुहम्मे णामं अणगारे जाइसंपन्ने, वण्णओ। चोद्दसपुव्वी चउणाणोवगए पचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूव जाव विहरइ। परिसा निग्गया। धम्म सोच्चा निसम्म जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिस पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अंतेवासी अज्जजंबू णामं अणगारे सत्तुस्सेहे जहा गोयमसामी तहा जाव झाणकोट्ठोवगए विहरति। तते णं अज्जजंबू णामं अणगारे जायसड्ढे जाव जेणेव अज्जसुहम्मे अणगारे तेणेव उवागए, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदति नमसति वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासति, पज्जुवासित्ता एवं वयासी।

पदार्थ—तेणं कालेणं—उस काल में। तेणं समएणं—उस समय में। चंपा णाम—चम्पा नाम की। णयरी—नगरी। होत्था—थी। वण्णओ—वर्णक—वर्णन ग्रन्थ अर्थात् नगरी का वर्णन औपपातिक सूत्र में किये गये वर्णन के समान जान लेना[2], उसनगरी के बाहिर ईशान कोण में। पुण्णभद्दे चेइए—पूर्णभद्र

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगर्यभूत्। वर्णकः। पूर्णभद्र चैत्यम्। वर्णकः। तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तेवासी आर्यसुधर्मा नामानगारो जातिसम्पन्नः। वर्णकः। चतुर्दशपूर्वी चतुर्ज्ञानोपगतः पञ्चभिरनगारशतैः सार्द्धं सपरिवृतः पूर्वानुपूर्व्या चरन् यावद् यत्रैव पूर्णभद्रं चैत्यं यथा—प्रतिरूप यावद् विहरति। परिषद् निर्गता। धर्मं श्रुत्वा निशम्य यस्या एव दिशः प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता। तस्मिन् काले तस्मिन् समये आर्यसुधर्मणोऽन्तेवासी आर्यजम्बूर्नामानगारः सप्तोत्सेधो यथा गौतमस्वामी तथा यावद् ध्यानकोष्ठोपगतः विहरति। ततः आर्यजम्बूर्नामानगारो जातश्रद्धो यावद् यत्रैवार्यसुधर्माऽनगारस्तत्रैवोपगतः, त्रिरादक्षिण-प्रदक्षिणं करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपास्ते, पर्युपास्यैवमवदत्।

(२) 'वण्णओ' पद से सूत्रकार का अभिप्राय वर्णन ग्रन्थ से है अर्थात् जिस प्रकार श्री औपपातिक आदि सूत्रों में नगर, चैत्य आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है उसी प्रकार यहां पर भी नगरी आदि का वर्णन जान लेना चाहिये।

नाम का एक उद्यान था। वण्णओ—वर्णक-वर्णन ग्रन्थ पूर्ववत्। तेणं कालेणं—उस काल में। तेणं समएणं—उस समय में। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के। अंतेवासी—शिष्य। जाइसंपण्णे—जातिसम्पन्न। चोद्दसपुव्वी—चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता। चउणाणोवगए—चार ज्ञानों के धारक। वण्णओ—वर्णक पूर्ववत्। अज्जसुहम्मे णामं अणगारे—आर्य सुधर्मा नाम के अनगार-(अगार रहित) साधु। पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं—पांच सौ साधुओं के साथ अर्थात्—संपरिवुडे—उन साधुओं से घिरे हुए। पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे—क्रमशः विहार करते हुए। जाव—यावत्। पुण्णभद्दे चेइए—पूर्णभद्र चैत्य उद्यान। जेणेव—जहां पर था। अहापडिरूवं—साधु वृत्ति के अनुरूप अवग्रह-स्थान ग्रहण करके। जाव—यावत्। विहरइ—विहरण कर रहे हैं। परिसा—जनता। निग्गया—निकली। धम्मं—धर्म कथा। सोच्चा—सुन करके। निसम्म—हृदय में धारण करके। जामेव दिसं पाउब्भूया—जिस ओर से आई थी। तामेव दिसं पडिगया—उसी ओर चली गई। तेणं कालेणं—उस काल में। तेणं समएणं—उस समय में। अज्जसुहम्मस्स—आर्य सुधर्मा स्वामी के। अंतेवासी—शिष्य। सत्तुस्सेहे—सात हाथ प्रमाण शरीर वाले। जहा—जिस प्रकार। गोयमसामी—गौतम स्वामी, जिन का आचार भगवती सूत्र में वर्णित है। तहा—उसी प्रकार के आचार को धारण करने वाले। जाव—यावत्। झाणकोट्ठोवगए—ध्यान रूप कोष्ठ को प्राप्त हुए। विहरंति—विराजमान हो रहे हैं। तते णं—उस के पश्चात्। अज्जजम्बू णामं अणगारे—आर्य जम्बू नामक अनगार—मुनि। जायसड्ढे—श्रद्धा से युक्त। जाव—यावत्। जेणेव—जिस स्थान पर। अज्जसुहम्मे अणगारे—आर्य सुधर्मा अनगार विराजमान थे। तेणेव उवागए—उसी स्थान पर आकर के। तिक्खुत्तो—तीन बार। आयाहिणपयाहिणं—दाहिनी ओर से आरम्भ करके पुनः दाहिनी ओर तक प्रदक्षिणा को। करेति—करते हैं। करेत्ता—करके। वन्दति—वन्दना करते हैं। नमंसति—नमस्कार करते हैं। वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना तथा नमस्कार करके। जाव—यावत् पज्जुवासति—भक्ति करने लगे। पज्जुवासित्ता—भक्ति करके। एवं—इस प्रकार। वयासी—कहने लगे।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय में चम्पा नाम की एक नगरी थी। चम्पा नगरी का वर्णन औपपातिक सूत्रगत वर्णन के समान जान लेना चाहिये। उस नगरी के बाहिर ईशान कोण में पूर्णभद्र नाम का एक चैत्य—उद्यान था। उस काल और उस समय में श्रमण भगवान महावीर स्वामी के शिष्य चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता, चार ज्ञानों के धारक, जाति सम्पन्न [जिन की माता सम्पूर्ण गुणों से युक्त अथवा जिस का मातृ पक्ष विशुद्ध हो] पांच सौ अनगारों से सम्परिवृत आर्य सुधर्मा नाम के अनगार—मुनि क्रमशः विहार करते हुए पूर्णभद्र नामक चैत्य में मुनिजनोचित अवग्रह-स्थान ग्रहण कर विराजमान हो रहे हैं। धर्म कथा सुनने के लिये परिषद्—जनता नगर से निकल कर वहां आई, धर्म कथा सुनकर उसे हृदय में मनन एवं धारण कर जिस ओर से आई थी उसी ओर चली गई। उस काल तथा उस समय में आर्य सुधर्मा स्वामी के शिष्य, जिन का शरीर सात हाथ का है, और जो गौतम स्वामी के समान मुनि-वृत्ति का पालन करने वाले तथा ध्यानरूप कोष्ठ को प्राप्त हो रहे हैं, आर्य जम्बू नामक अनगार विराजमान हो रहे हैं। तदनन्तर जातश्रद्ध [श्रद्धा से

सम्पन्न आर्य श्री जम्बू स्वामी श्री सुधर्मा स्वामी के चरणों में उपस्थित हुए, दाहिनी ओर से बाईं ओर तीन बार अञ्जलिबद्ध हाथ घुमाकर आवर्तन रूप प्रदक्षिणा करने के अनन्तर वन्दना और नमस्कार करके उनकी सेवा करते हुए इस प्रकार बोले।

टीका— आगमों के संख्या-बद्ध क्रम में **प्रश्न व्याकरण** दशवां और **विपाक श्रुत** ग्यारवां अंग है, अत प्रश्न व्याकरण के अनन्तर विपाक श्रुत का स्थान स्वाभाविक ही है। वर्तमान काल में उपलब्ध प्रश्न-

---

ऋषभदत्त की धर्मपत्नी का नाम धारिणी था। दम्पती सुख पूर्वक समय व्यतीत कर रहे थे। एक बार गर्भकाल में सेठानी धारिणी ने जम्बू वृक्ष को देखा। पुत्रोत्पत्ति होने पर बालक का स्वप्नानुसारी नाम जम्बू कुमार रखा गया। जम्बू कुमार के युवक होने पर आठ सुयोग्य कन्याओं के साथ इनकी सगाई कर दी गई। उसी समय श्री सुधर्मा स्वामी के पावन उपदेश से इन्हें वैराग्य होगया, सांसारिकता से मन हटा कर साधु जीवन अपनाने के लिये अपने आप को तैयार कर लिया, तथापि माता पिता के प्रेमभरे आग्रह से इन का विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह में इन्हें करोड़ों का सम्पत्ति मिली थी।

कुमार का हृदय विवाह से पूर्व ही वैराग्यतरंगों में तरङ्गित था, श्री सुधर्मा स्वामी के चरणकमलों का भ्रमर बन चुका था, इसी लिये नववधूओं के शृंगार, हावभाव इन्हें प्रभावित न कर सके और वे समस्त सुन्दरियें इन्हें अपने मोह–जाल में फसाने में सफल न हो सकी।

प्रभव राजगृह का नामी चोर था। विवाह में उपलब्ध प्रीतिदान—दहेज को चुराने के लिये ५०० शूरवीर साथियों का नेतृत्व करता हुआ वह कुमार के विशाल रमणीय भवन में आ धमका था। ताला तोड देने और लोगों को सुला देने की अपूर्व विद्याओं के प्रभाव से उसे किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। भवन के आंगन में पड़े हुए मोहरों के ढेरों की गठरियें बांध ली गईं, और भवन से बाहिर स्थित प्रभव ने साथियों को उन्हें उठा ले चलने का आदेश दिया।

कुमार प्रभव के इस कुकृत्य से अपरिचित नहीं थे, धन आदि की ममता का समूलोच्छेद कर लेने पर भी "**चोरी होने से जम्बू साधु हो रहा है**" इस लोकापवाद से बचने के लिये उन्हों ने कुछ अलौकिक प्रयास किया। भवन के मध्यस्थ सभी चोरों के पांव भूमी से चिपक गये। शक्ति लगाने पर भी वे हिल न सके। इस विकट परिस्थिति में साथियों की कथा सुन और देख प्रभव सन्न सा रह गया और गहरे विचार-सागर में डूब गया। प्रभव विचारने लगा—मेरी विद्या ने तो कभी ऐसा विश्वास-घात नहीं किया था न जाने यह क्या सुन और देख रहा हूँ, प्रतीत होता है यहां कोई जागता अवश्य है। ओह! अब समझा, विद्या देते समय गुरु ने कहा था—इस का प्रभाव मात्र संसारी जीवन पर होगा। धर्मी पर यह कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगी। सम्भव है यहां कोई धर्मात्मा ही हो, जिसने यह सब कुछ कर डाला है देखूं तो सही। प्रभव ऊपर जाने लगा क्या देखता है—सौंदर्य की साक्षात् प्रतिमायें आठ युवतियें सो रही हैं। सांसारिकता की उत्तेजक सामग्री पास में बिखरी पड़ी है। परन्तु एक तेजस्वी युवक किसी विचार धारा में सलग्न दिखाई दे रहा है। प्रभव युवक का तेज सह न सका। और उससे अत्यधिक प्रभावित होता हुआ सीधा वहीं पहुंचा, और विनय पूर्वक कहने लगा—

आदरणीय युवक! जीवन में मैं न जाने कितने अद्भुत–आश्चर्यजनक, और साहस-पूर्ण कार्य किये हैं जिनकी एक लम्बी कहानी बन सकती है। साम्राज्य की बड़ी से बडी शक्ति मेरा बाल बांका

व्याकरण नाम का दशवा अग दश अध्ययनो मे विभक्त है जिनमे प्रथम के पाच अध्ययनो में पाच आस्रवो का वर्णन है और अन्त के पाच अध्ययनो मे पाच सम्वरो का निरूपण किया गया है तथा

नही कर सका मैने कभी किसी से हार नही मानी किंतु आज मे आपके अपूर्व विद्यावल से पराजित हो गया हूं और अपनी विद्या शक्ति को आप के सन्मुख हतप्रभ पारहा हूं । मैं आप का अपराधी होने के नाते दण्डनीय होने पर भी कुछ दान चाहता हूं वह है मात्र आप की अपूर्व विद्या का दान । मुझ पर अनुग्रह कीजिए और अपना विद्यार्थी बनाइए एव विद्यादान दीजिए ।

कुमार प्रभव को देखते ही सब स्थिति समझ गये और उससे कहने लगे—भाई ! मै तो स्वय विद्यार्थी बनने जारहा हूं । सूर्योदय होते ही गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी के पास साधुता ग्रहण करना चाह रहा है । सयमी बन कर जीवन व्यतीत करूंगा ससारी जीवन से मुझे घृणा है ।

प्रभव के पाव तले से जमीन निकल गई, वह हैरान था, अप्सराओं को मात कर देने वाली ये सुकुमारिये त्याग दी जायेगी ? हत ! कितना कठिन काम है ! इन पदार्थो के लिये तो मनुष्य सर धुनता है, लोक-लाज आत्मसम्मान जैसी दिव्य आत्म-विभूति को लुटाकर मुह काला कर लेता है और मानव होकर पशुओं से भी अधम जीवन यापन करने के लिये तैयार हो जाता है । पर यह युवक बडा निराला है जो स्वर्ग-तुल्य देवियो को भी त्याग रहा है । वाह-वाह जीवन तो यह है, यदि सत्य कहूं तो त्याग इसी का नाम है, त्याग ही नहीं यह तो त्याग की भी चरम सीमा है ।

एक मै भी हूं, सारा जीवन घोर पाप करते करते व्यतीत हो रहा है सर पर भीषण पापो का भार लदा पडा है, न जाने कहा कहा जन्म मरण के भयकर दु खो मे पाला पडेगा और कहा कहा भीषण यातनायें सहन करनी होगी । अहह ! कितना पामर जीवन है मेरा । प्रभव की विचार-धारा बदलने लगी ।

कुमार के अनुपम आदर्श त्याग ने प्रभव के नेत्र खोल दिये । उसकी अतर्ज्योति चमक उठी । दानवता का अड्डा उठने लगा । बुराई का दैत्य हृदय से भाग निकला । वह दानव से मानव होगया—लोहे से सोना बन गया जिस अपूर्व तत्त्व पर कभी विचार भी नहीं किया था उसका स्रोत बह निकला । आग के परमाणु नष्ट होने पर जल जैसे शात हो जाता है—अपने स्वभाव को पा लेता है । वैसे ही दुर्भावनाओ की आग शात होते ही प्रभव शात होगया और अपने आप को पहचानने लगा ।

प्रभव सोचने लगा—इतना कोमल शरीरी युवक जब साधक बन सकता है आत्मसाधना के कष्ट झेल सकता है तो क्या बडे बडे योद्धा का मुह मोडने वाला मेरा जीवन साधना नहीं कर सकेगा और उसके कष्ट नहीं झेल सकेगा ? क्या नहीं ! मै भी तो मनुष्य हूं, इन्हीं का सजातीय हूं जो ये कर सकते है वह मै भी कर सकता हू । यह सोच कर प्रभव बोला—सम्माननीय युवक ! आप के त्यागी जीवन ने मुझ जैसे पापी को बदल दिया है और बहुत कुछ सोच समझ लेने के अनन्तर अब मैने यह निश्चय कर लिया है कि आज से आप मेरे गुरु और मै आपका शिष्य, जो मार्ग आप चुनोगे उसी का पथिक बनूगा मै ही नहीं अपने ५०० सो साथियो को इसी मार्ग का पथिक बनाऊगा ।

चोर जैसे अधम प्राणी भी जिस ससर्ग मे सुधर गये, तो भला कुमार की उन आठो अर्धांगिनिओ में परिवर्तन क्या न होता ? वे भी बदलीं, काफी वाद-विवाद के अनतर इन्हो ने भी । नाम से निभन और संयम पथ पर चलने की स्वीकृति दे दी और व दीक्षित होने के लिये तैयार हो गई ।

एकादशवें अंग –विपाक श्रुत में संवर-जन्य शुभ तथा आश्रव-जन्य अशुभ कर्मों के विपाक-फल का वर्णन मिलता है । इस प्रकार इन दोनों में पारस्परिक सम्बध रहा हुआ है ।

प्रस्तुत सूत्र—"**विपाक श्रुत** मे आचार्य अभयदेव सूरि ने '**तेणं कालेणं तेणं समएणं**' का "**तस्मिन् काले तस्मिन् समये**" जो सप्तम्यन्त अनुवाद किया है वह दोषावायक नहीं है कारण कि अर्द्ध-मागधी भाषा में सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग भी देखा जाता है । किसी किसी आचार्य का मत है कि यहां 'णं" वाक्यालंकारार्थक है और 'ते" प्रथमा का बहुवचन है जो कि यहां पर अधिकरण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु दोनों विचारों में से आद्य विचार का ही बहुत से आचार्य समर्थन करते हैं आचार्य प्रवर श्री हेमचन्द्र जी के शब्दानुशासन में भी सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग पाया जाता है, यथा -सप्तम्या द्वितीया [८। ३। १३७] सप्तम्याः स्थाने द्वितीया भवति । विज्जुज्जोयं भरइ रत्तिं। **आर्षे तृतीयापि दृश्यते** । तेणं कालेणं तेणं समएणं—तस्मिन् काले तस्मिन् समये इत्यर्थः ।

जैन सिद्धान्त कौमुदी (अर्द्धमागधि व्याकरण) में शतावधानी पंडित रत्नचन्द्र जी म० ने सप्तमी के स्थान पर तृतीया का विधान किया है वे लिखते हैं—

आधारेऽपि । २ । २ । १९ : क्वचिदधिकरणेऽपि वाच्ये तृतीया स्यात् । "**तेणं कालेणं-तेणं समएणं**" जेणामेव सेणिए राया तेणामेव उवागच्छइ—यस्मिन्नेव श्रेणिको राजा तस्मिन्नेव उपागच्छतीत्यर्थः । इत्यादि उदाहरणों तथा व्याकरण के नियमों से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग शास्त्र-सम्मत ही है ।

"**तेणं[1] कालेणं तेणं समएणं**" इस पाठ में काल और समय शब्द का पृथक् पृथक् प्रयोग किया गया है जब कि काल और समय यह दोनों समानार्थक हैं, व्यवहार में भी काल तथा समय

आठों सुकुमारियें, प्रभव चोर उसके ५ सौ साथी एवं अन्य अनेकों धर्म-प्रिय नर-नारी, जम्बूकुमार के नेतृत्व में आर्य—प्रवर श्री सुधर्मा स्वामी जी महाराज की शरण में उपस्थित होते हैं और उनसे संयम के साधना-क्रम को जान कर तथा अपने समस्त हानि लाभ को विचार कर अंत में श्री सुधर्मा स्वामी से दीक्षा—व्रत स्वीकार कर लेते हैं और अपने को मोक्ष पथ के पथिक बना लेते हैं

मूलसूत्र में जिस जम्बू का वर्णन है ये हमारे वही जम्बू हैं जो आठ पत्नियों को एक अरब ९९ करोड़ मोहरें—स्वर्णमुद्राओं की सम्पत्ति को तिनके की भांति त्याग कर साधु बने थे और जिन्हों ने उग्रसाधना के प्रताप से कैवल्य को प्राप्त किया था । आज का निर्ग्रन्थ—प्रवचन इन्हीं के प्रश्नों और श्री सुधर्मा स्वामी के उत्तरों में उपलब्ध हो रहा है । महामहिम श्री जम्बू स्वामी ही इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम केवली एवं सर्वदर्शी थे । इनका गुणानुवाद जितना भी किया जाए उतना ही कम है, तभी तो कहा है—"**यति न जम्बू सारिखा**" ।

(१) "**कालेणं**' —कलयति मासोऽयं सम्वत्सरोऽयं - इत्यादि रूपेण निश्चिन्वति तत्त्वज्ञा यमिति कलनं—संख्यानं पाक्षिकोऽयं मासिकोऽयमित्यादिरूपेण निरूपणं कालः सोऽस्मिन्नस्तीति । कालानां समया-दीनां समूह इति वा कालः । वस्तुतस्तु '**वट्टणालक्खणो कालो**" इति भगवद्-वचनात् कलयति नवजी-र्णादि-रूपतया प्रवर्तयति वस्तु–पर्यायमिति कालस्तस्मिन् । तस्मिन् हीयमानलक्षणे समये—सम-सम्यक् अयते गच्छतीति समयोऽवसरस्तस्मिन् ।

के दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, फिर यहां पर सूत्रकार ने इन दोनों शब्दों का पृथक् २ प्रयोग क्या किया है ?

इस का समाधान आचार्य अभयदेव सूरि के शब्दों में इस प्रकार है—

'अथ काल-समययोः को विशेषः ? उच्यते, सामान्यो वर्तमानावसर्पिणी चतुर्थारक-लक्षणः कालः, विशिष्टः पुनस्तदेकदेशभूतः समयः' अर्थात् सूत्रकार को काल शब्द से सामान्य वर्तमान अवसर्पिणी काल - भेद का चतुर्थ आरक अभिप्रेत है और समय शब्द से इसी अवसर्पिणी कालीन चतुर्थ आरक का एक देश अभिमत है। अर्थात् यहां पर काल शब्द अवसर्पिणी काल के चौथे आरे का बोधक है और समय शब्द से चौथे आरे के उस भाग का ग्रहण करना है जब यह कथा कही जा रही है।

"होत्था" - यहां पर सूत्रकार ने होत्था-अभूत् यह अतीत काल का निर्देश किया है। इस स्थान में शंका होती है कि चम्पा नाम की नगरी तो आज भी विद्यमान है, फिर यहां अतीत काल का प्रयोग क्या ? इसका उत्तर स्पष्ट है—यह सत्य है कि चम्पा नगरी[1] आज भी है तथापि अवसर्पिणी काल के स्वभाव से पदार्थों में गुणों की हानि होने के कारण वर्णन ग्रन्थ (औपपातिक सूत्र) में वर्णन की हुई चम्पानगरी श्री सुधर्मा स्वामी जी के समय में जैसे थी वैसी न रहने से यहां पर अतीत का प्रयोग किया गया है जो उपयुक्त ही है। सारांश यह है कि चम्पा नगरी[2] थी, यह भूत कालीन प्रयोग असंगत नहीं है।

"वण्णओ-वर्णकः" इसमें सूत्रकार को जो चम्पानगरी का वर्णन ग्रन्थ अभिप्रेत है वह औपपातिक सूत्र में देख लेना चाहिये।

सूत्रकार ने मूल पाठ में **"वण्णओ"** पद का दोबार ग्रहण किया है। उस में प्रथम का चम्पानगरी से सम्बन्धित है और दूसरा पूर्णभद्र चैत्य के वर्णन से सम्बन्ध रखता है। पूर्णभद्रचैत्य का वर्णन औपपातिक सूत्र में विस्तार पूर्वक किया गया है जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासा वहां से पूर्ण करनी चाहिये। किसी किसी प्रति में **"वण्णओ"** यह द्वितीय पद नहीं है। अर्थात् कहीं कहीं **'पुण्णभद्दे चेइए वण्णओ'** इस पाठ के अन्तर्गत जो **"वण्णओ"** पद है वह नहीं पाया जाता, केवल **"पुण्णभद्दे चेइए"** इतना उल्लेख देखने में आता है।

अर्थात्—तत्व के ज्ञाता महीना वर्ष आदि रूप से जिसका का कलन (निश्चय) करते हैं उसे काल कहते हैं अथवा यह पखवाड़े का है महीने का है इस प्रकार के कलन (संख्या-गिनती) को काल कहते हैं अथवा कलाओं -समयों के समूह को काल कहते हैं परन्तु भगवान् ने निश्चय काल का वर्तना रूप लक्षण कहा है। अर्थात् जो द्रव्य का पर्यायों को नई अथवा पुरानी करता है वही निश्चय काल है।

(१) नगरी शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—

नगरी न गच्छन्तीति नगाः-वृक्षाः पर्वताश्च तद्वदचलत्वादुन्नतत्वाच्च प्रासादादयोऽपि ते सन्ति यस्यां सा इति निरुक्तिः। नकरी इति छायापक्षे तु—न विद्यते करः गोमहिष्यादीनामष्टादशविधो राजग्राह्यो भागः (महसूल) यत्र सेत्यर्थः।

(२) यद्यपि इदानीमप्यस्ति सा नगरी तथाऽप्यवसर्पिणी-कालस्वभावेन हीयमानत्वाद् वस्तुस्वभावानां तत्-सम्बन्धिस्वरूपस्य सुधर्म—स्वामिकाले नास्तीति कृत्वाऽतीतकालेन निर्देशः कृतः (वृत्तिकार)

आर्य सुधर्मा स्वामी का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने "जाइसंपण्णे" इत्यादि पदों का उल्लेख किया है। "जाइ संपन्ने"–जातिसम्पन्न" शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। (१) जिस की माता में मातृजनोचित समस्त गुण विद्यमान हों, (२) जिस का मातृपक्ष विशुद्ध-निर्मल हो । इसमें आर्यसुधर्मा स्वामी की जाति (मातृपक्ष) की उत्तमता का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त सूत्रगत "वएण ओ-मर्णक" पद से ज्ञाताधर्मकथाग सूत्रगत अन्य पाठ का समावेश करना सूत्रकार को अभिप्रेत है। वह सूत्र इस प्रकार है—

" कुलसपन्ने, बल-रूप-विणय-णाण-दसण-चरित्त-लाघवसपन्ने, ओयंसी, तेयंसी, वच्चसी, जसंसी, जियकोहे, जियमाणे, जियमाए, जियलोहे, जियइंदिए, जियनिद्दे, जियपरिसहे जीवियासमरण-भयविप्पमुक्के, तवप्पहाणे गुणप्पहाणे एवं करण-चरण-निग्गह-णिच्छय-अज्जव-मद्दव-लाघव-खति-गुत्ति-मुत्ति-विज्जामंत-बंभ वय-नय-नियम-सच्च-सोय-णाण-दंसण-चारित्ते ओराले घोरे घोरव्वए घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढ-सरीरे संखित्त—विउलतेउल्लेसे[1] ."

"चोद्दसपुव्वी–चतुर्दशपूर्वी" इस पद से सूचित होता है कि आर्य सुधर्मा स्वामी चतुर्दश पूर्वों के पूर्ण ज्ञाता थे। श्री नन्दी सूत्र में चतुर्दश पूर्वों के नामों का निर्देश इस प्रकार किया है—

"उप्पायपुव्वं[2] (१) अग्गाणीयं (२) वीरियं (३) अत्थिनत्थिप्पवायं (४) नाणप्पवायं (५) सच्चप्पवायं (६) आयप्पवायं (७) कम्मप्पवायं (८) पच्चक्खाणप्पवायं (९) विज्जाणुप्पवायं (१०) अवज्झं (११) पाणाऊ (१२) किरिया-विसालं (१३) लोक बिंदुसारं[3] (१४)।

(नन्दी सूत्र, पूर्वगत दृष्टिवाद–विचार)

भावार्थ

(१) उत्पादपूर्व—इस पूर्व में सभी द्रव्य और सभी पर्यायों के उत्पाद को लेकर प्ररूपणा की गई है।

---

(१) छाया—कुलसम्पन्न बल-रूप-विनय-ज्ञान-दर्शन-चरित्र-लाघवसम्पन्न ओजस्वी तेजस्वी वचस्वी (वर्चस्वी) यशस्वी जितक्रोध जितमान जितमाय जितलोभ जितेन्द्रिय जितनिद्र जितपरिषह जीविताशा-मरणभय-विप्रमुक्त तपःप्रधान गुणप्रधान एवं करणचरणनिग्रह-निश्चयार्जव—मार्दव-लाघव-क्षान्ति-गुप्ति-मुक्ति-विद्यामन्त्र-ब्रह्म व्रत-नय-नियम-सत्य-शौच ज्ञान-दर्शन चरित्र उदार घोर घोरव्रत घोरतपस्वी घोरब्रह्मचर्यवासी उज्झितशरीर सक्षिप्त-विपुलतेजोलेश्य.

(२) छाया—उत्पादपूर्वम् १ अग्रायणीयम् २ वीर्य ३ अस्तिनास्तिप्रवादम् ४ ज्ञान-प्रवादम् ५ सत्य-प्रवाद ६ आत्म-प्रवादम् ७ कर्म-प्रवादम् ८ प्रत्याख्यान-प्रवादम् ९ विद्यानुप्रवादम् १० अवन्ध्यम् ११ प्राणायु १२ क्रियाविशालम् १३ लोकबिन्दुसारम् ।

(३) कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य प्रवर श्री हेमचन्द्र जी ने अभिधान–चिन्तामणि ग्रन्थ–रत्न के देव नामक द्वितीय–काण्ड में जो चतुर्दश पूर्वों का उल्लेख किया है वह निम्न प्रकार से है—

पूर्वाणि चतुर्दशापि पूर्वगते ॥ १६० ॥
उत्पादपूर्वमाग्रायणीयमथ वीर्यतः प्रवाद स्यात् ।
अस्तेर्ज्ञानात् सत्यात् तदात्मनः कर्मणश्च परम ॥ १६१ ॥
प्रत्याख्यानं विद्या-प्रवाद-कल्याण-नामधेये च ।
प्राणावाय च क्रियाविशालमथ लोकबिन्दुसारमिति ॥१६२॥

(२) **अग्रायणीय-पूर्व**—इसमें सभी द्रव्य सभी पर्याय और सभी जीवों के परिमाण का वर्णन है।

(३) **वीर्य-प्रवाद-पूर्व**—इस मे कर्मसहित और विना कर्म वाले जीवों तथा अजीवों के वीर्य (शक्ति) का वर्णन है।

(४) **अस्ति-नास्ति-प्रवाद-पूर्व**—संसार में धर्मास्तिकाय आदि जो वस्तुएं विद्यमान है तथा आकाश—कुसुम आदि जो अविद्यमान हैं उन सब का वर्णन इस पूर्व में है।

(५) **ज्ञान-प्रवाद-पूर्व**—इसमें मति ज्ञान आदि ज्ञान के ५ भेदों का विस्तृत वर्णन है।

(६) **सत्य-प्रवाद-पूर्व**—इसमें सत्यरूप संयम या सत्य वचन का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(७) **आत्म-प्रवाद-पूर्व**—इसमें अनेक नय तथा मतों की अपेक्षा से आत्मा का वर्णन है।

(८) **कर्मप्रवाद-पूर्व**—इसमें आठ कर्मों का निरूपण प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेश आदि भेदों द्वारा विस्तृत रूप में किया गया है।

(९) **प्रत्याख्यान-प्रवाद-पूर्व**—इसमे प्रत्याख्यानों का भेद प्रभेद पूर्वक वर्णन है।

(१०) **विद्यानु-प्रवाद-पूर्व**—इस पूर्व मे विविध प्रकार की विद्याओं तथा सिद्धियों का वर्णन है।

(११) **अवन्ध्य-पूर्व** इसमें ज्ञान, तप, संयम आदि शुभ फल वाले तथा प्रमाद आदि अशुभफल वाले अवन्ध्य अर्थात् निष्फल न जाने वाले कार्यों का वर्णन है।

(१२) **प्राणायुप्रवाद-पूर्व**—इसमें दश प्राण और आयु आदि का भेद प्रभेद पूर्वक विस्तृत वर्णन है।

(१३) **क्रिया-विशाल-पूर्व**—इसमें कायिकी, आधिकरणिकी आदि तथा संयम मे उपकारक क्रियाओं का वर्णन है।

(१४) **लोक-विन्दु सार-पूर्व**— संसार मे श्रुत ज्ञान मे जो शास्त्र बिंदु की तरह सब से श्रेष्ठ हैं, वह लोक बिंदुसार है।

पूर्व का अर्थ है—तीर्थ का प्रवर्तन करते समय तीर्थ-कर भगवान जिस अर्थ का गणधरों को पहले पहल उपदेश देते हैं अथवा गणधर पहले पहल जिस अर्थ को सूत्र रूप मे गूंथते है उसे पूर्व कहते हैं।

व्याख्या—सर्वांगेभ्य पूर्व-तीर्थकरैरभिहितत्वात् पूर्वाणि तानि यथा—सर्वद्रव्याणां चोत्पाद-प्रज्ञप्तिरुत्पादम् । १ । सर्वद्रव्याणां पर्यायाणां सर्व-जीव-विशेषाणां च अग्र परिमाण वर्ण्यते यत्र तद् अग्रायणीयम् । २ । जीवानामजीवानां च सकर्मेतराणां च वीर्य प्रवदतीति वीर्य-प्रवादम् । ३ । अस्तीति नास्तिरूपलक्षणं, तत्र यल्लोके यथाऽस्ति यथा वा नास्ति अथवा स्याद्-वादाभिप्रायेण तदेवास्ति नास्तीति प्रवदति अस्ति-नास्ति-प्रवादम् । ४ । मतिज्ञानादिपञ्चकं स-भेदं प्रवदतीति ज्ञान-प्रवादम् । ५ । सत्य संयम सत्यवचनं वा तत् सभेद सप्रतिपक्षं च यत् प्रवदति तत् सत्य-प्रवादम् । ६ । नयदर्शनैरात्मानं प्रवदति आत्म प्रवादम । ७ । ज्ञानावरणाद्यष्टविधं कर्म प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशादिभेदैरन्यैश्चोत्तर-भेदैर्भिन्नं प्रवदति कर्म प्रवादम । ८ । सर्व प्रत्याख्यान-स्वरूपं प्रवदति प्रत्याख्यान प्रवादम तदेकदेशं प्रत्याख्यानम , भीमवत । ९ । विद्यातिशयान् प्रवदति विद्याप्रवाद । १० । कल्याणफल-हेतुत्वात कल्याणम् अवन्ध्यमिति चोच्यते । ११ । आयु-प्राणविधान सर्व सभेदम् अन्ये च प्राणा वर्णिता यत्र तत् प्राणायम् । १२ । कायिक्यादय संयमाद्याश्च क्रिया विशाला सभेदा यत्र तत क्रिया-विशालम । १३ । लोके श्रुतलोके वा बिन्दुरिवाक्षरस्य सर्वोत्तम सर्वाक्षरसन्निपात परिनिष्ठितत्वेन लोकबिन्दुसारम् । १४ ।

(अभिधान चिन्तामणि)

'**चउणाणोवगए-चतुर्ज्ञानोपगतः**" यह विशेषण, परम-पूज्य आर्य सुधर्मा स्वामी को चतुर्विध ज्ञान के धारक सूचित करता है, अर्थात उन में मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यव ये चारों ज्ञान विद्यमान थे । इस में सूत्रकार को उन में ज्ञान-सम्पत्ति का वैशिष्ट्य बोधित करना अभिप्रेत है ? जैनागमों में ज्ञान पांच[1] प्रकार का बतलाया गया है जैसे कि—

(१) **मतिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्यदेश में रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है । इस का दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान भी है ।

(२) **श्रुतज्ञान**— वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला; इन्द्रिय मन कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान है अथवा —मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो ऐसा ज्ञान श्रुत-ज्ञान कहलाता है ।

(३) **अवधिज्ञान**—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए रूपी-द्रव्य का बोध कराने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है ।

(४) **मनःपर्यवज्ञान**— इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए संज्ञी जीवों के मनोगतभावों का जिससे जाना जाय वह मन पर्यव ज्ञान है

(५) **केवलज्ञान**—मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों का युगपत् हस्तामलक के समान बोध जिस से होता है वह केवलज्ञान है ।

इन पूर्वोक्त पंचविध ज्ञानों में से आर्य सुधर्मा स्वामी ने प्रथम के चारों ज्ञानों को प्राप्त किया हुआ था ।

" **....चरमाणे जाव जेणेव**" इस पाठ में "**जाव-यावत्**" पद से "**गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेण विहरमाणे**" [ग्रामानुग्राम द्रवन् सुखसुखेन विहरन्] अर्थात् अप्रतिबद्ध-विहारी होने के कारण ग्राम और अनुग्राम [*विवक्षित ग्राम के अनन्तर का ग्राम] में चलते हुए साधुवृत्ति के अनुसार सुखपूर्वक विहरणशील—यह जानना ।

"**अहापडिरूवं जाव विहरइ**" इस पाठ में उल्लेख किये गये "**जाव—यावत्**" शब्द से—"**उग्गहं उग्गिण्हइ अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे**" [अवग्रह उद्गृह्णाति यथा- प्रतिरूपमवग्रहमुद्गृह्य सयमेन तपसा आत्मान भावयन्] अर्थात् साधु वृत्ति के अनुकूल अवग्रह—आश्रय उपलब्ध कर सयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए— भावनायुक्त करते हुए विचरण करने लगे— यह ग्रहण करना । तब इस समग्र आगमपाठ का सकलित अर्थ यह हुआ कि—उस काल तथा उस समय में जातिसम्पन्न कुलसम्पन्न और बल, रूपादिसम्पन्न, चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता चतुर्विध ज्ञान के धारक तथा पांचसौ साधुओं के साथ क्रमशः विहार करते हुए पूर्णभद्र नामक चैत्य में साधु-वृत्ति के अनुकूल अवग्रह-

---

(१) क— नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—आभिणिबोहियणाणं, सुयणाणं, ओहिणाणं, मणपज्जवणाणं केवलणाणं । छाया—ज्ञानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम् , मन — पर्यवज्ञानम् केवलज्ञानम् , । [अनुयोग-द्वार सूत्र]

ख—मति-श्रुतावधि-मन -पर्याय-केवलानि ज्ञानम् ,,

[तत्त्वार्थ सू० १ । ९ ।]

* ग्रामश्चानुग्रामश्च ग्रामानुग्राम विवक्षित-ग्रामानन्तरग्राम त द्रवन् गच्छन् एकस्माद् ग्रामादनन्तर ग्राममनुल्लघयन्नित्यर्थ ।

आश्रय ग्रहण कर विचरने लगे । आर्य सुधर्मा स्वामी के पधारने पर नगर की श्रद्धालु जनता उनके दर्शनार्थ एवं धर्मोपदेश सुनने के लिये आई और धर्मोपदेश सुनकर उसे हृदय मे धारण कर चली गई ।

"**अज्जसुहम्मस्स अन्तेवासी अज्ज-जम्बू णामं अणगारे सत्तुस्सेहे**" इस पाठ से आर्य सुधर्मा स्वामी के वर्णन के अनन्तर अब सूत्र-कार उनके प्रधान शिष्य श्री जम्बूस्वामी के सम्बन्ध मे कहते हैं—

जम्बूस्वामी का शारीरिक मान* सात हाथ का था। सूत्रकार ने इन के विषय मे अधिक कुछ न लिखते हुए केवल गौतम स्वामी के जीवन के समान इनके जीवन को बतला कर इनकी आदर्श साधुचर्या का संक्षेप में परिचय दे दिया है। श्री गौतम स्वामी के साधुजीवन की शारीरिक मानसिक और आत्म-सम्बन्धी विभूति का वर्णन श्री भगवती सूत्र [श १.उ०१,] मे किया [1] गया है।

"**जायसड्ढे जाव जेणेव**" इस पाठ मे उल्लिखित "**जाव**" शब्द से निम्नलिखित इतना और जान लेने की सूचना हैं, जैसा कि **जायसंसए, जायकोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे, उप्पन्नसंसए, उप्पन्नकोउहल्ले, संजायसड्ढे, संजायसंसए, संजायकोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे, समुप्पन्नसंसए, समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए, उट्ठेइ, उट्ठाए, उट्ठेत्ता** । [**छाया**—जातसंशय., जातकुतूहल:, उत्पन्नश्रद्ध., उत्पन्नसंशय., उत्पन्न-

---

* जैन शास्त्रो मे नापने के परिमाणो का अगुलों द्वारा बहुत स्पष्ट वर्णन मिलता है। अगुल तीन प्रकार के होते हैं —(१) प्रमाणागुल (२) आत्मागुल (३) और उत्सेधागुल । जो वस्तु शाश्वत है— जिस का नाश नही होता, वह प्रमाणागुल से नापी जाती है, ऐसी वस्तु का जहा परिमाण कहा गया हो, वहा प्रमाणागुल से ही समझना चाहिए । आत्मागुल से तत्तत्कालीन नगर आदि का परिमाण बतलाया जाता है । इस पाचवे आरे को साढे दस हजार वर्ष बीतने पर उस समय के जो अगुल होगे उन्हे उत्सेधागुल कहते हैं । जम्बू स्वामी का शरीर उत्सेधागुल से सात हाथ का था । इस प्रकार यद्यपि जम्बू स्वामी के हाथ मे उन का शरीर साढे तीन हाथ का ही था परन्तु पाचवे आरे के साढे दस हजार वर्ष बीत जाने पर यह साढे तीन हाथ ही सात हाथ के बराबर होंगे, इसी बात को दृष्टि मे रख कर ही जम्बूस्वामी का शरीर सात हाथ लम्बा बतलाया गया है ।

(१) भगवती सूत्र का वह स्थल दर्शनीय एव मननीय होने से पाठकों के अवलोकनार्थ यहा पर उद्धृत किया जाता है —

"**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंते—वासी इदंभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंस-संठाण-संठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेस्से चोद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ**" ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूति-र्नामाऽनगारः गौतमसगोत्रः सप्तोत्सेध., समचतुरस्रसंस्थानसंस्थित. वज्रर्षभनाराचसंहनन कनकपुलकनिकषपद्मगौर उग्रतपा दीप्ततपा तप्ततपा उदार घोर घोरगुण घोरतपस्वी घोरब्रह्मचर्यवासी उच्छूढशरीर संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य चतुर्दशपूर्वी चतुर्ज्ञानोपगत सर्वाक्षरसन्निपाती श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूर-सामन्ते ऊर्ध्वजानु अधःशिरा ध्यानकोष्ठोपगत संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति ॥

अर्थात् उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ-प्रधान अन्तेवासी शिष्य

कुतूहलः, सजातश्रद्धः, सजातसशयः, सजातकुतूहलः, समुत्पन्नश्रद्धः, समुत्पन्नसशयः, समुत्पन्नकुतूहलः, उत्थायोत्तिष्ठति, उत्थया उत्थाय [भगवती सू० श० १ उ० १ सू० ८]

जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिर लाल जी म० ने भगवती सूत्र के प्रथम शतक पर बहुत सुन्दर व्याख्यान दिये हैं। जो ६ भागों में प्रकाशित हो चुके हैं, पूर्वोक्त पदों का वहां बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। पाठकों के लाभार्थ हम वहां का प्रसगानुसारी अश उद्धृत करते हैं –

इन्द्रभूति नामक अनगार भगवान् के पास सयम और तपस्या के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं, जो कि गौतम गोत्र वाले हैं, जिन का शरीर सात हाथ प्रमाण का है, जो पालथी मार कर बैठने पर शरीर की ऊंचाई और चौडाई बराबर हो ऐसे सस्थान वाले हैं, जिन का वज्रर्षभनाराच सहनन[1] है, जो सोने की रेखा के समान और पद्मपराग (कमल के रज) के समान वर्ण वाले हैं, जो उग्रतपस्वी (साधारण मनुष्य जिस की कल्पना भी नहीं कर सकता उसे उग्र कहते हैं उग्र तप के करने वाले को उग्र तपस्वी कहते हैं), दीप्ततपस्वी (अग्नि के समान जाज्वल्यमान को दीप्तकहते हैं, कर्म रूपी गहन वन को भस्म करने में समर्थ तप के करने वाले को दीप्त तपस्वी कहते हैं), तप्ततपस्वी (जिस तप से कर्मों को सन्ताप हो—कर्म नष्ट हो जायें, उस तप के करने वाले को तप्ततपस्वी कहते हैं), महातपस्वी (स्वर्ग प्राप्ति आदि की आशा से रहित निष्काम भावना से किये जाने वाले महान तप के करने वाले को महातपस्वी कहते हैं), जो उदार हैं, जो आत्म शत्रुओं को विनष्ट करने में निर्भीक हैं, जो दूसरों के द्वारा दुष्प्राप्य गुणों को धारण करने वाले हैं, जो घोर तप के अनुष्ठान से तपस्वी पद से अलकृत हैं, जो दारुण ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाले हैं, जो शरीर पर ममत्व नहीं रख रहे हैं, जो अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तु के दहन में समर्थ ऐसी विस्तीर्ण तेजोलेश्या विशिष्ट—तपोजन्य लब्धिविशेष) को सक्षिप्त किये हुए हैं, जो १४ पूर्वों के ज्ञाता हैं, जो चार ज्ञानों के धारण करने वाले हैं, जिन को समस्त अक्षर-सयोग का ज्ञान है, जिन्हों ने उत्कुटुक नाम का आसन लगा रखा है, जो अधोमुख हैं, जो धर्म तथा शुक्ल ध्यान रूप कोष्ठक में प्रवेश किये हुए हैं, तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोष्ठक में धान्य सुरक्षित रहता है उसी प्रकार ध्यान रूप कोष्ठक में प्रविष्ट हुए आत्म-वृत्तिओं को सुरक्षित किये हुए हैं, अर्थात् जो अशुभ वातावरण से रहित हैं, और जो विशुद्ध चित्त वाले हैं।

यहां पर परमतपस्वी और परमवर्चस्वी भगवान् गौतमस्वामी के साधुजीवन के साथ आर्य जम्बूस्वामी के जीवन की तुलना कर के उन का उत्कर्ष बतलाना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस प्रकार गौतमस्वामी अपना साधु-जीवन व्यतीत करते थे उसी प्रकार की जीवनचर्या जम्बूस्वामी ने की थी—यह बतलाना इष्ट है।

---

(१) जैनशास्त्रों में सहनन के छः भेद उपलब्ध होते हैं। उन में सर्वोत्तम वज्रर्षभ-नाराच सहनन है। ऋषभ का अर्थ पट्टा है और वज्र का अर्थ कीली है, नाराच का अर्थ है दोनों ओर खीच कर बंधा होना, ये तीनों बातें जहां विद्यमान हों, उसे वज्रर्षभनाराच सहनन कहते हैं। जैसे लकडी में लकडी जोडने के लिये पहले लकडी की मजबूती देखी जाती है फिर कीली देखी जाती है और फिर पत्ती देखी जाती है। अर्थात् गौतम स्वामी का शरीर हड्डी की दृष्टि से सुदृढ एव सबल था।

जायसड्ढे (जातश्रद्ध) । जात का अर्थ प्रवृत्त और उत्पन्न दोनों हो सकते हैं । यहां जात का अर्थ प्रवृत्त है । यहां श्रद्धा का अर्थ विश्वास करना श्रद्धा कहलाता है, लेकिन यहां श्रद्धा का अर्थ इच्छा है । तात्पर्य यह हुआ कि जम्बू[1]स्वामी की प्रवृत्ति इच्छा में हुई । किस प्रकार की इच्छा में प्रवृत्ति ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जिन तत्त्वों का वर्णन किया जायगा, उन्हें जानने की इच्छा से जम्बूस्वामी की प्रवृत्ति हुई । इस प्रकार तत्त्व जानने की इच्छा में जिस की प्रवृत्ति हो उसे जातश्रद्ध कहते हैं ।

जातसंशय अर्थात् संशय में प्रवृत्ति हुई । यहां इच्छा की प्रवृत्ति का कारण बतलाया गया है, जम्बूस्वामी की इच्छा में प्रवृत्ति होने का कारण उन का संशय है, क्योंकि संशय होने से जानने की इच्छा होती है । जो ज्ञान निश्चयात्मक न हो, जिस में परस्पर विरोधी अनेक पक्ष मालूम पड़ते हों वह संशय कहलाता है । जैसे- यह रस्सी है या सर्प ? इस प्रकार का संशय होने पर उस निवारण करने के लिये यथार्थता जानने की इच्छा उत्पन्न होती है जम्बूस्वामी को तत्त्वविषयक इच्छा उत्पन्न हुई क्योंकि उन्हें संशय[2] हुआ था ।

संशय संशय में भी अन्तर होता है, एक संशय श्रद्धा का दूषण माना जाता है और दूसरा श्रद्धा का भूषण । इसी कारण से शास्त्रों में संशय के सम्बन्ध में दो प्रकार की बातें कही गई हैं । एक जगह कहा है—'**संशयात्मा विनश्यति** ।" शंका-शील पुरुष नाश को प्राप्त हो जाता है । दूसरी जगह कहा है—"**न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति** ।"

संशय उत्पन्न हुए बिना—संशय किए बिना मनुष्य को कल्याण-मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता । तात्पर्य यह है कि एक संशय आत्मा का घातक होता है और दूसरा संशय आत्मा का रक्षक होता है । जम्बूस्वामी का यह संशय अपूर्व ज्ञान-ग्रहण का कारण होने से आत्मा का घातक नहीं है प्रत्युत साधक है ।

"**जायकोउहल्ले-जातकुतूहल**" । जम्बू स्वामी को कौतूहल हुआ उनके हृदय में उत्सुकता उत्पन्न हुई । उत्सुकता यह कि मैं आर्य श्री सुधर्मास्वामी से प्रश्न करूंगा तब वे मुझे अपूर्व वस्तुतत्त्व समझावेंगे उस समय उन के मुखारविन्द से निकले हुए अमृतमय वचन श्रवण करने में कितना आनंद होगा ! ऐसा विचार करके जम्बूस्वामी को कौतूहल हुआ ।

यहां तक '**जायसड्ढे, जायसंसए**' और '**जायकोउहल्ले**', इन तीनों पदों की व्याख्या की गई है इसके आगे कहा गया है—'**उप्पन्नसड्ढे, उप्पन्नसंसए, उप्पन्नकोउहल्ले**" अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न हुई संशय उत्पन्न हुआ और कौतूहल उत्पन्न हुआ ।

---

(१) भगवती सूत्र में तो श्री गौतम स्वामी का और भगवान् महावीर का नामोल्लेख किया गया है परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में श्री जम्बू स्वामी का और श्री सुधर्मा स्वामी का प्रसंग चल रहा है, इसलिये यहां श्री जम्बू स्वामी का और श्री सुधर्मा स्वामी का नामोल्लेख करना ही उचित प्रतीत होता है ।

(२) भगवान् महावीर का सिद्धान्त है कि—"**चलमाणे चलिए**" अर्थात् जो चल रहा है वह चला । यहां—चलता है यह कथन वर्तमान का बोधक है और चला यह अतीत काल का । तात्पर्य यह कि "चलता" यह वर्तमान काल की बात है, और 'चला' यह अतीत काल की । यहां पर संशय होता है कि जो बात वर्तमान काल की है वह भूतकाल की कैसे कह दी गई ? साधारणदृष्टि से इस प्रकार के कथन में एक ही काल में तत्काल में दोष आता है, तथापि वर्तमान में अतीत काल का

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि "जायसड्ढे" और "उप्पन्नसड्ढे" में क्या अन्तर है ? ये दो विशेषण अलग २ क्या कहे गये हैं ? इस का उत्तर यह है कि श्रद्धा जब उत्पन्न हुई तब वह प्रवृत्त भी हुई, जो श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई उसकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती ।

इस कथन में यह तर्क किया जा सकता है कि श्रद्धा में जब प्रवृत्ति होती है तब स्वयं प्रतीत हो जाती कि श्रद्धा उत्पन्न हुई है । अर्थात्—श्रद्धा प्रवृत्त हुई है तो उत्पन्न हो ही गई है फिर प्रवृत्ति और उत्पत्ति को अलग २ कहने की क्या आवश्यकता थी ? उदाहरण के लिये— एक बालक चल रहा है । चलते हुए उस बालक को देख कर यह तो आप ही समझ में आ जाता है कि बालक उत्पन्न हो चुका है । उत्पन्न न हुआ हो तो चलता ही कैसे ! इसी प्रकार जम्बूस्वामी की प्रवृत्ति श्रद्धा में हुई है, इसी से यह बात समझ में आ जाती है कि उनमें श्रद्धा उत्पन्न हुई थी । फिर श्रद्धा की प्रवृत्ति बतलाने के पश्चात् उस की उत्पत्ति बतलाने की क्या आवश्यकता है ?

प्रयोग किया गया है, यह क्यों ? यह था भगवान् गौतम के सशय का अभिप्राय, जो टीकाकार ने भगवती सूत्र में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में जम्बू स्वामी को जो सशय हुआ उससे उन को क्या अभिमत था ? इसके उत्तर मे टीकाकार मौन है। कल्पना-उद्यान मे पर्यटन करने से जो कल्पना-पुष्प चुन पाया हूँ, उन्हें पाठकों के कर कमलों में अर्पित कर देता हूं। कहां तक उनमे औचित्य है ! यह पाठक स्वयं विचार करें ।

श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र के अनन्तर श्री विपाक सूत्र का स्थान है । प्रश्न व्याकरण में ५ आस्रवों तथा ५ संवरों का सविस्तर वर्णन है। विपाक सूत्र में २० कथानक हैं, जिन में कुछ आश्रवसेवी व्यक्तियों के विषादान्त जीवन का वर्णन है और वहां ऐसे कथानक भी सकलित हैं, जिन में साधुता के उपासक सच्चरित्री मानवों के प्रसादान्त जीवनों का परिचय कराया गया है। जब श्री जम्बू स्वामी ने प्रश्न-व्याकरण का अध्ययन कर लिया, उस पर मनन एवं उसे धारण कर लिया, तब उनके हृदय मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने आस्रव और संवर का स्वरूप तो अवगत कर लिया है परन्तु मै यह नहीं समझ पा रहा हूं कि कौन आस्रव क्या फल देता है ? आस्रव-जन्य कर्मों का फल स्वयमेव उदय मे आता है या किसी दूसरे के द्वारा ? कर्मों का फल इसी भव में मिलता है, या परभव में ? कर्म जिस रूप मे किये हैं उसी रूप में उन का भोग करना होगा, या किसी अन्य रूप मे ? अर्थात् यदि यहां किसी ने किसी की हत्या की है तो क्या परभव मे उसी जीव के द्वारा उसे अपनी हत्या करा कर कर्म का उपभोग करना होगा, या उस कर्म का फल अन्य किसी दु:ख के रूप मे प्राप्त होगा ? इत्यादि विचारों का प्रवाह उन के मानस में प्रवाहित होने लगा। जिसे "जातसंशय" पद से सूत्रकार ने अभिव्यक्त किया है। "रहस्यं तु केवलिगम्यम् ।" श्रद्धेय श्री घासी लाल जी म० अपनी विपाकसूत्रीय टीका मे भी विपाकमूलक सशय का अभिप्राय लिखते हैं । उन्हों ने लिखा है—

जात-संशय :—जात: प्रवृत्त सशयो यस्य स तथा । दशमाङ्गे प्रश्नव्याकरणसूत्रे भगवत्-प्रोक्तमास्रव-संवरयो: स्वरूपं धर्माचार्यसमीपे श्रुत तद्विपाक-विषये सशयोत्पत्त्या जातसशय इति भाव: । अर्थात् श्री जम्बू स्वामी ने पहले भगवान् द्वारा प्रतिपादित दशमांग प्रश्नव्याकरण नामक सूत्र मे आस्रव और संवर के भाव श्री सुधर्मा स्वामी के पास सुने थे, अत: उनके विपाक के विषय मे उन्हें सशय की उत्पत्ति हुई ।

इस तर्क का उत्तर यह है कि—प्रवृत्ति और उत्पत्ति मे कार्य-कारणभाव प्रदर्शित करने के लिये दोनो पद पृथक २ कहे गये हैं। कोई प्रश्न करे कि श्रद्धा मे प्रवृत्ति क्यो हुई? तो इसका उत्तर होगा कि, श्रद्धा उत्पन्न हुई थी।

कार्य-कारण भाव बतलाने मे कथन मे सरसता आती है, सुन्दरता आती है, और शिष्य की बुद्धि मे विशदता आती है। कार्यकारणभाव प्रदर्शित करने से वाक्य अलकारिक बन जाता है। सादी और अलकारयुक्त भाषा मे अन्तर पड जाता है। अलकारमय भाषा उत्तम मानी जाती है। अतएव कार्यकारण भाव दिखलाना भाषा का दूषण नही है, भूषण है। इस समाधान को सानी पृथक स्पष्ट करने के लिये साहित्य—शास्त्र का प्रमाण देखिए—**प्रवृत्त-दीपामप्रवृत्तभास्करां प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरीम्"** अर्थात् जिस मे दीपको की प्रवृत्ति हुई, सूर्य की प्रवृत्ति नही है ऐसी चन्द्रमा के प्रकाश वाली रात्रि समझी।

इस कथन मे भी कार्यकारणभाव की घटना हुई है। '**प्रवृत्त दीपाम्**" कहने से "**अप्रवृत्त—भास्करा**" का बोध हो ही जाता है, क्योंकि सूर्य की प्रवृत्ति होने पर दीपक नही जलाये जाते। अत जब दीपक जलाए गए है तो सूर्य प्रवृत्त नही है, यह जानना स्वाभाविक है, फिर भी यहा सूर्य की प्रवृत्ति का अभाव अलग कहा गया है। यह कार्यकारण भाव बतलाने के लिये ही है। कार्यकारण भाव यह कि सूर्य नहीं है अत दीपक जलाए गये हैं।

जैसे यहा कार्य कारणभाव प्रदर्शित करने के लिये अलग दो पदो का ग्रहण किया गया है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण मे भी कार्यकारणभाव दिखलाने के लिये ही "**जायसड्ढे**" और "**उप्पन्न-सड्ढे**" इन दो पदो का अलग २ प्रयोग किया गया है। श्रद्धा मे प्रवृत्ति होने से यह स्वत. सिद्ध है कि श्रद्धा उत्पन्न हुई लेकिन वाक्यालंकार के लिये जैसे उक्तवाक्य मे सूर्य नही है यह दुबारा कहा गया है, उसी प्रकार यहा "**श्रद्धा उत्पन्न हुई**" यह कथन किया गया है।

"**जायसड्ढे**" और "**उप्पन्नसड्ढे**" की ही तरह '**जायसंसए**" और "**उप्पन्नसंसए**" तथा '**जायकोउहल्ले**" और "**उप्पन्नकोउहल्ले**" पदो के विषय मे भी समझ लेना चाहिये।

इन ६ पदो के पश्चात् कहा है—"**सजायसड्ढे, सजायससए सजायकोउहल्ले**" और "**समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नससए समुप्पन्नकोउहल्ले**"। इस प्रकार ६ पद और कहे गये है।

अर्वाचीन और प्राचीन शास्त्रो मे शैली सम्बन्धी बहुत अन्तर है. प्राचीन ऋषि पुनरुक्ति का इतना ख्याल नही करते थे. जितना ससार के कल्याण का करते थे। उन्हों ने जिस रीति से ससार का भलाई अधिक देखी, उसी रीति को अपनाया और उसी के अनुसार कथन किया, यह बात जैनशास्त्रो के लिये ही लागू नही होती वरन् सभी प्रचीनशास्त्रो के लिये लागू है। गीता मे अर्जुन को बोध देने के लिये एक ही बात विभिन्न शब्दो द्वारा दोहराई गई है। एक साधारण उदाहरण पर विचार करने से यह बात समझ मे आ जायगी—किसी का लडका सम्पत्ति लेकर परदेश जाता हो तो उसे घर मे भी सावधान रहने की चेतावनी दी जाती है। घर से बाहर भी चेताया जाता है कि सावधान रहना और अन्तिम बार विदा देते समय भी चेतावनी दी जाती है। एक ही बात बार बार कहना पुनरुक्ति ही है लेकिन पिता होने के नाते मनुष्य अपने पुत्र को बार बार समझाता है। यही पिता पुत्र का सम्बन्ध सामने रख कर महापुरुषो ने शिक्षा के लाभप्रद बातो को बार बार दोहराया है। ऐसा करने मे कोई हानि नही। वरन् लाभ ही होता है।

अन्तिम ६ पदों में से पहले के तीन पद इस प्रकार हैं—**"संजायसड्ढे, संजायसंसए, संजायकोउहल्ले"** । इन तीनों पदों का अर्थ वैसे ही है, जैसा कि **"जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोउहल्ले"** पदों का बतलाया जा चुका है। अन्तर केवल यही है, कि इन पदों में 'जाय' के साथ **'सम्'** उपसर्ग लगा हुआ है। 'जाय' का अर्थ है प्रवृत्त और 'सम्' उपसर्ग अत्यन्तता का बोधक है। जैसे - मैंने कहा, इस स्थान पर व्यवहार में कहते हैं— 'मैंने खूब कहा' मैं बहुत चला' इत्यादि। इस प्रकार जैसे अत्यन्तता का भाव प्रकट करने के लिये बहुत या खूब शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रीय भाषा में अत्यन्तता बतलाने के लिये **'सम्'** शब्द लगाया जाता है, अतएव तीनों पदों का यह अर्थ हुआ कि— बहुत 'श्रद्धा हुई' बहुत संशय हुआ और बहुत कौतूहल हुआ और इसी प्रकार **"समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए"** और **"समुप्पन्नकोउहल्ले"** पदों का का भाव भी समझ लेना चाहिये।

इन पदों के इस अर्थ में आचार्यों में किंचित् मतभेद है। कोई आचार्य इन बारह पदों का अर्थ अन्य प्रकार से भी करते हैं। वे 'श्रद्धा' पद का अर्थ 'पूछने की इच्छा' करते हैं। और कहते हैं कि श्रद्धा अर्थात् 'पूछने की इच्छा' संशय से उत्पन्न होती है और संशय कौतूहल से उत्पन्न हुआ। यह सामने ऊंची सी दिखाई देने वाली वस्तु मनुष्य है या ठूंठ है इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय कहलाता है, इस प्रकार व्याख्या करके आचार्य एक दूसरे पद के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्थात् श्रद्धा के साथ संशय का, और संशय से कौतूहल का सम्बन्ध जोड़ते हैं। कौतूहल का अर्थ उन्होंने यह किया है हम यह बात कैसे जानेंगे ? इस प्रकार की उत्सुकता को कौतूहल कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या करके वे आचार्य कहते हैं कि इन बारह पदों के चार चार हिस्से करने चाहिये। इन चार हिस्सों में एक हिस्सा अवग्रह का है, एक ईहा का है, एक अवाय का है और एक धारणा का है। इस प्रकार इन चार विभागों में बारह पदों का समावेश हो जाता है।

दूसरे आचार्य का कथन है कि इन बारह पदों का समन्वय दूसरी ही तरह से करना चाहिये। उनके मन्तव्य के अनुसार बारह पदों के भेद करके उन्हें अलग अलग करने की आवश्यकता नहीं है। जात, संजात, उत्पन्न, समुत्पन्न इन सब पदों का एक ही अर्थ है। प्रश्न होता कि एक ही अर्थ वाले इतने पदों का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका वे उत्तर देते हैं कि— भाव के बहुत स्पष्ट करने के लिये इन पदों का प्रयोग किया गया है।

एक ही बात को बार बार कहने से पुनरुक्ति दोष आता है। अगर एक ही भाव के लिये अनेक पदों का प्रयोग किया गया तो यहां पर भी यह दोष क्या न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर उन आचार्यों ने यह दिया है कि—स्तुति करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। शास्त्रकार ने विभिन्न पदों द्वारा एक ही बात कह कर श्री गौतमस्वामी की प्रशंसा की है अतएव बार बार के इस कथन को पुनरुक्ति दोष नहीं कहा जा सकता, इसका प्रमाण यह है —

वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निंदन् ।
यत् पदमसकृद् ब्रूते तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥

अर्थात् हर्ष या भय आदि किसी प्रबल भाव से विक्षिप्त मन वाला वक्ता, किसी की प्रशंसा या निन्दा करता हुआ अगर एक ही पद को बार-बार बोलता है तो उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता।

जिन आचार्य के मतानुसार इन बारह पदों को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में विभक्त किया गया है। उनके कथन के आधार पर यह प्रश्न हो सकता है कि अवग्रह आदि का

क्या अर्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है—

इन्द्रिया और मन के द्वारा होने वाले मति ज्ञान के ये चार भेद हैं। अर्थात् हम जब किसी वस्तु को किसी इन्द्रिय या मन द्वारा जानते हैं तो वह ज्ञान किस क्रम से उत्पन्न होता है यही क्रम बतलाने के लिये शास्त्रों मे चार भेद कहे गये है। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य समझता है कि मन और इन्द्रिय से एकदम जल्दी ही ज्ञान हो जाता है। वह समझता है मैने आख खोली और पहाड देख लिया। अर्थात् उसको समझ के अनुसार इन्द्रिय या मन की क्रिया होते ही ज्ञान हो जाता है ज्ञान होने मे तनिक भी देर नही लगती। किन्तु जिन्होने आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन किया है उन्हे मालूम है कि ऐसा नही होता। छोटी से छोटी वस्तु देखने मे भी बहुत समय लग जाता है। मगर वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हमारी स्थूलकल्पना शक्ति मे नही आता। इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने मे कितना काल लगता है, यह बात नीचे दिखाई जाती है।

जब हम किसी वस्तु को जानना या देखना चाहते हैं तब सर्व-प्रथम दर्शनोपयोग होता है। निराकार ज्ञान को जिस मे वस्तु का अस्तित्व मात्र प्रतीत होता है, जैनदर्शन मे दर्शनोपयोग कहते हैं। दर्शन हो जाने के अनन्तर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह दो प्रकार का है (१) व्यञ्जनावग्रह और २) अर्थावग्रह। मान लीजिए कोई वस्तु पडी है, परन्तु उसे दीपक के बिना नही देख सकते। जब दीपक का प्रकाश उसे पडता है, तब वह वस्तु को प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार इन्द्रियो द्वारा होने वाले ज्ञान मे जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ज्ञान होता है उस वस्तु के परमाणु इन्द्रिया मे लगते हैं। उस वस्तु का और इन्द्रिय का सम्बन्ध व्यंजन कहलाता है। व्यजन का वह अवग्रह-ग्रहण व्यजनावग्रह कहलाता है। यह व्यजनावग्रह आख से और मन से नही होता क्योकि आख और मन का वस्तु के परमाणुओ के साथ सम्बन्ध नही होता, ये दोनो इन्द्रिया पदार्थ का स्पर्श किए बिना ही पदार्थ को जान लेती हैं, अर्थात् अप्राप्यकारी हैं। शेष चार इन्द्रियो मे ही व्यजनावग्रह होता है अर्थात्—आख और मन को छोड कर शेष चार इन्द्रिया से पहले व्यजनावग्रह ही होता है।

व्यजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होता है। व्यजनावग्रह द्वारा अव्यक्त-रूप से जानी हुई वस्तु को "यह कुछ है" इस रूप मे जानना अर्थावग्रह कहलाता है अर्थात् अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रह को एक चरम पुष्ट अश ही है। अवग्रह के इन दोनो भेदो मे से अर्थावग्रह तो पाचो इन्द्रिया मे और मन मे भी होता है अत एव उस के छ भेद हैं। व्यजनावग्रह आख को छोड कर चार इन्द्रिया मे ही होता है। वह मन एव आख से नही होता। तात्पर्य यह है कि-इन्द्रिया और मन मे ज्ञान होने मे पहले अवग्रह होता है। अवग्रह एक प्रकार का सामान्य ज्ञान है। जिसे यह ज्ञान होता है उसे स्वय भी मालूम नही होता कि मुझे क्या ज्ञान हुआ। लेकिन विशिष्ट ज्ञानियो ने इस भी देखा है, जिस प्रकार कपडा फाडते समय एक एक तार का टूटना मालूम नही होता है लेकिन तार टूटते अवश्य है। तार न टूटे तो कपडा फट नही सकता। इस प्रकार अवग्रह ज्ञान स्वय मालूम नही पडता मगर वह होता अवश्य है। अवग्रह न होता तो आगे के ईहा, अवाय, धारणा आदि ज्ञानो का होना सभव नहीं था। क्योकि बिना अवग्रह के ईहा, बिना ईहा के अवाय और बिना अवाय, के धारणा नहीं होती। ज्ञानो का यह क्रम निश्चित है।

अवग्रह के बाद ईहा होती है। यह कुछ है इस प्रकार का अर्थावग्रह ज्ञान जिस वस्तु के विषय मे हुआ था। उसी वस्तु के सम्बन्ध मे भेद के विचार को ईहा कहते हैं। यह वस्तु अमुक गुण की है, इसलिये अमुक होनी चाहिये। इस प्रकार का कुछ कुछ कच्चा या पक्का ज्ञान ईहा कहलाता है।

ईहा के पश्चात् अवाय का ज्ञान होता है। जिस के सम्बन्ध में ईहा ज्ञान हुआ है, उसके सम्बन्ध में निर्णय-निश्चय पर पहुँच जाना अवाय है। "यह अमुक वस्तु ही है" इस ज्ञान को अवाय कहते हैं। "यह खडा हुआ पदार्थ ठूण्ठ होना चाहिये" इस प्रकार का ज्ञान ईहा और यह पदार्थ यदि मनुष्य होता है तो बिना हिले डुले एक ही स्थान पर खडा न रहता, इस पर पक्षी निर्भय हो कर न बैठता, इसलिये यह मनुष्य नहीं है, ठूण्ठ ही है, इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है। अर्थात्-जो है उसे स्थिर करने वाला और जो नहीं हैं, उसे उठाने वाला निर्णय रूप ज्ञान अवाय है।

चौथा ज्ञान धारणा है। जिस पदार्थ के विषय मे अवाय हुआ है, उसी के सम्बन्ध मे धारणा होती है। धारणा स्मृति और सस्कार ये एक ही ज्ञान की शाखायें हैं। जिस वस्तु मे अवाय हुआ है उसे कालान्तर मे स्मरण करने के योग्य सुदृढ बना लेना धारणा ज्ञान है। कालान्तर मे उस पदार्थ को याद करना स्मरण है और स्मरण का कारण सस्कार कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि अवाय से होने वाला वस्तुतत्त्व का निश्चय कुछ काल तक तो स्थिर रहता है और मन का विषयान्तर से सम्बन्ध होने पर वह लुप्त हो जाता है परन्तु लुप्त होने पर भी मन पर ऐसे सस्कार छोड जाता है कि जिस से भविष्य मे किसी योग्यनिमित्त के मिल जाने पर उस निश्चय किए हुए विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सततधारा, धाराजन्य सस्कार तथा सस्कारजन्य स्मृति ये सब धारणा के नाम से अभिहित किए जाते हैं। यदि सक्षेप मे कहें तो अवाय द्वारा प्राप्त ज्ञान का दृढ सस्कार धारणा है।

पहले आचार्य का कथन है कि जम्बूस्वामी को प्रथम श्रद्धा, फिर सशय और कौतूहल मे प्रवृत्ति हुई। ये तीनो अवग्रह ज्ञान रूप हैं। प्रश्न होता है कि यह कैसे मालूम हुआ कि जम्बू स्वामी को पहले पहल अवग्रह हुआ ? इस का उत्तर यह है—पृथ्वी मे दाना बोया जाता है। दाना, पानी का सयोग पाकर पृथ्वी मे गीला होता है—फूलता है और तब उस मे से अकुर निकलता है। अकुर जब तक पृथ्वी मे बाहर मे नहीं निकलता, तब तक दीख नही पडता। मगर जब अकुर पृथ्वी से बाहिर निकलता है, तब उसे देख कर हम यह जान लेते हैं कि यह पहले छोटा अकुर था जो दीख नहीं पड़ता था, मगर था वह अवश्य, यदि छोटे रूप मे न होता तो अब बडा होकर कैसे दीख पडता ? इस प्रकार बड़े को देख कर छोटे का अनुमान हो ही जाता है। कार्य को देख कर कारण को मानना ही न्याय सगत है। बिना कारण के कार्य का होना असभव है।

इसी प्रकार कार्य कारण के सम्बन्ध से यह भी जाना जा सकता है कि जो ज्ञान ईहा के रूप में आया है वह अवग्रह के रूप मे अवश्य था, क्योंकि बिना अवग्रह के ईहा का होना सम्भव नहीं है। जम्बूस्वामी छद्मस्थ थे। उन्हे जो मतिज्ञान होता है वह इन्द्रिय और मन से होता है। इन्द्रिय तथा मन से होने वाले ज्ञान में बिना अवग्रह के ईहा नही होती।

साराश यह है कि पहले के "जायसड्ढे, जायसंसए" और "जायकोउहल्ले" ये तीन पद अवग्रह के हैं। "उप्पन्नसड्ढे, उप्पन्नसंसए" और "उप्पन्नकोउहल्ले" ये तीन पद ईहा के हैं। "संजायसड्ढे, संजायसंसए" और "संजायकोउहल्ले" ये तीन पद अवाय के हैं। और "समुप्पन्नसड्ढे, समुप्पन्नसंसए" तथा "सप्पुन्नकोउहल्ले" ये तीनों पद धारणा के हैं।

इसके आगे जम्बूस्वामी के सम्बन्ध मे कहा है कि "उट्ठाए उट्ठेइ" अर्थात् जम्बूस्वामी उठने के लिये तैयार हो कर उठते हैं। प्रश्न—होता है कि यहां "उट्ठाए उट्ठेइ" ये दो पद क्यो दिये गये हैं ? इसका

यह उत्तर है कि – दोनों पद सार्थक हैं। देखिए—पहिले पद में सूचित किया है कि जम्बूस्वामी उठने को तैयार हुए। दूसरे पद में सूचित किया है कि वे उठ खड़े हुए। दोनों पद न देकर यदि एक ही पद होता तो उठने के आरम्भ का ज्ञान तो होता परन्तु **"उठ कर खड़े हुए"**—यह ज्ञान न हो पाता। जैसे – बोलने के लिये तैयार हुए इस कथन में यह सन्देह रह जाता है कि बोले या नहीं ?, इसी प्रकार एक पद रखने में यहां भी सन्देह रह जाता।

"आर्य जम्बू स्वामी, आर्य सुधर्मास्वामी को विधिवत् वन्दना नमस्कार कर उन की सेवा में उपस्थित हुए और उपस्थित हो कर इस प्रकार निवेदन करने लगे '—इस भावार्थ को सूचित करने वाले **"नमंसित्ता जाव पज्जुवासति पज्जुवासित्ता एवं वयासी"** इस पाठ में आये हुए **"जाव-यावत्"** शब्द को निम्नांकित पाठ का उपलक्षण समझना, जैसे कि—

"अज्जसुहम्मस्स थेरस्स णच्चासएणे नातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं ' [आर्यसुधर्मण स्थविरस्य नात्यासन्ने नातिदूरे शुश्रूषमाण नमस्यन् अभिमुख प्राजलिपुट, विनयेन . "]

श्री जम्बूस्वामी ने आर्य सुधर्मास्वामी के प्रति क्या निवेदन किया अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[1]जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दसमस्स अंगस्स पण्हावागरणाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, एक्कारसमस्स णं भंते ! अंगस्स विवागसुयस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? तते णं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबु अणगारं एवं वयासी एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं एक्कारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयखंधा पण्णत्ता, तंजहा—दुह-विवागा य सुह-विवागा य। जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं एक्कारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयखंधा पण्णत्ता, तंजहा—दुहविवागा य सुहविवागा य। पढमस्स णं भंते ! सुयखंधस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं कइ अज्झयणा पण्णत्ता ? तते णं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबु अणगारं एवं वयासी—एवं खलु जम्बू !

---

(१) छाया—यदि भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन दशमस्यांगस्य प्रश्नव्याकरणानामयमर्थः प्रज्ञप्तः । एकादशस्य भदन्त ! अंगस्य विपाकश्रुतस्य श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?, ततः आर्यसुधर्माऽनगारो जम्बूमनगारमेवमवदत् - एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेनैकादशस्यांगस्य विपाकश्रुतस्य द्वौ श्रुतस्कन्धौ प्रज्ञप्तौ तद्यथा—दुःखविपाकाश्च सुखविपाकाश्च । यदि भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेनैकादशस्यांगस्य विपाकश्रुतस्य द्वौ श्रुतस्कन्धौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा - दुःखविपाका, सुखविपाकाश्च । प्रथमस्य भदन्त ! श्रुतस्कन्धस्य दुःखविपाकानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कत्यध्ययनानि प्रज्ञप्तानि ? ततः आर्यसुधर्माऽनगारो जम्बूमनगारमेवमवादीत्—

एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन दुःखविपाकानां दशाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मृगापुत्र (१) उज्झितकः (२) अभग्न (३) शकट (४) बृहस्पति (५) नन्दी (६) उम्बर (७) शौरिकदत्तश्च (८) देवदत्ता च (९) अञ्जूश्च (१०) ॥ यदि भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन दुःखविपाकानां दशाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मृगापुत्रो यावदञ्जूश्च । प्रथमस्य भदन्त ! अध्ययनस्य दुःखविपाकानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ? ततः स सुधर्माऽनगारो जम्बूमनगारमेवमवादीत्—एवं खलु जम्बू ! ।

समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—मियाउत्ते (१) उज्झियते (२) अभग्ग (३) सगडे (४) वहस्सती (५) नंदी (६) उंबर (७) सोरियदत्ते य (८) देवदत्ता य (९) अंजू य (१०) ॥ जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—मियाउत्ते जाव अंजू य । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? तते णं से सुहम्मे अणगारे जंबुं अणगारं एवं वयासी—एवं खलु जंबू ! ।

पदार्थ—**जति**—यदि । **णं**—यह पद वाक्य-सौन्दर्य के लिये है, ऐसा सर्वत्र जानना । **भंते !**—हे भगवन् ! । **समणेणं जाव संपत्तेणं**—यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने । **पण्हावागरणाणं**-प्रश्न-व्याकरण । **दसमस्स**—दशम । **अंगस्स**—अंग का । **अयमट्ठे**—यह अर्थ । **पण्णत्ते**-प्रतिपादन किया है । **भंते !**—हे भगवन् ! । **विवागसुयस्स**—विपाकश्रुत । **एक्कारसमस्स**—एकादशवें । **अंगस्स**—अङ्ग का । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं मोक्ष**—सम्प्राप्त । **समणेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने । **के**—क्या । **अट्ठे**—अर्थ । **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है । **तते णं**—तदनन्तर । **अज्जसुहम्मे अणगारे**—आर्य सुधर्मा अनगार ने । **जम्बु अणगारं**—जम्बू नामक अनगार को । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहा । **जम्बू !**—हे जम्बू ! । **खलु**—निश्चय से । **एवं**—इसप्रकार । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्षसम्प्राप्त **समणेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने । **विवागसुयस्स**—विपाकश्रुत । **एक्कारसमस्स**—एकादशवें । **अंगस्स**—अङ्ग के । **दो**—दो । **सुयखंधा**—श्रुतस्कन्ध । **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं । **तंजहा**—जैसे कि । **दुहविवागा य**—दुःख-विपाक तथा । **सुहविवागा य**—सुखविपाक । **भंते !**—हे भगवन् ! । **जति णं**—यदि । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्ष-सम्प्राप्त । **समणेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने । **विवागसुयस्स**—विपाकश्रुत नामक । **एक्कारसमस्स**—एकादशवें । **अंगस्स**—अङ्ग के । **दो**—दो । **सुयखंधा**—श्रुतस्कन्ध । **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं । **तंजहा**—जैसे कि । **दुहविवागा य**—दुःखविपाक तथा । **सुहविवागा य**—सुखविपाक । **भंते !**—हे भगवन् । **पढमस्स**—प्रथम । **दुहविवागाणं**—दुःखविपाक नामक । **सुयखंधस्स**—श्रुतस्कन्ध के । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्ष को प्राप्त हुए । **समणेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने । **कइ**—कितने । **अज्झयणा**—अध्ययन । **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **अज्जसुहम्मे अणगारे**—आर्य सुधर्मा अनगार ने **जम्बु अणगारं**—जम्बू अनगार को । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहा । **जम्बू !**—हे जम्बू ! । **खलु**—निश्चय से । **एवं**—इस प्रकार । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्षसम्प्राप्त । **समणेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने । **दुहविवागाणं**-दुःख-विपाक के । **दस**—दश । **अज्झयणा**—अध्ययन । **पण्णत्ता**—प्रतिपादन किये हैं । **तंजहा**—जैसे कि । **मियाउत्ते य**—मृगापुत्र । (१) **उज्झियते**—उज्झितक । (२) **अभग्ग**—अभग्न । (३) **सगडे**—शकट । (४) **वहस्सती**—बृहस्पति । (५) **नंदी**—नन्दी । (६) **उम्बर**—उम्बर । (७) **सोरियदत्ते य**-शौरिक दत्त । (८) **देवदत्ता य**—देवदत्ता । (९) **अंजू य**—तथा अञ्जू । (१०) **भंते !**—हे भगवन् ! । **जति णं**—यदि । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्षसम्प्राप्त । **समणेणं**—श्रमण भगवान् महावीर ने । **दुहविवागाणं**—दुःखविपाक के । **दस**—दश **अज्झयणा**-अध्ययन । **पण्णत्ता**—कथन किये हैं । **तंजहा**—जैसे कि । **मियाउत्ते**—मृगापुत्र । **जाव**—

यावत् । **अंजू य**—और अजू । **भंते** !—हे भगवन् ! । **दुहविवागाणं**—दु ख-विपाक के । **पढमस्स**—प्रथम । **अज्झयणस्स**—अध्ययन का । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्षसम्प्राप्त । **समणेणं** - श्रमण भगवान् महावीर ने । **के अट्ठे**—क्या अर्थ । **पण्णत्ते**— कथन किया है । **तते णं**—तदनन्तर । **से सुहम्मे अणगारे**—वह सुधर्मा अनगार । **जंबु अणगार**—जम्बू अनगार को । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगे । **जम्बू** !—हे जम्बू ! । **खलु**—निश्चयार्थक है । **एव**—इसप्रकार ।

मूलार्थ— हे भगवन् ! प्रश्नव्याकरण नामक दशम अग के अनन्तर मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत नामक एकादशवे अग का क्या अर्थ फरमाया है ? तदनन्तर आर्य सुधर्मा अनगार ने जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहा हे जम्बू ! मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत नामक एकादशवे अग के दो श्रुतस्कन्ध प्रतिपादन किये हैं, जैसे कि—दु खविपाक और सुखविपाक । हे भगवन् ! यदि मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने एकादशवें विपाकश्रुत नामक अग के दो श्रुतस्कन्ध फरमाये हैं, जैसे कि दु खविपाक और सुखविपाक, तो हे भगवन् ! दु ख-विपाक नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमण भगवान् महावीर ने कितने अध्ययन कथन किये हैं ? तदनन्तर इसके उत्तर में आर्य सुधर्मा अनगार जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहने लगे—हे जम्बू ! मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने दु खविपाक नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के दश अध्ययन प्रतिपादन किये हैं जैसे कि—मृगापुत्र (१) उज्झितक (२) अभग्न (३) शकट (४) बृहस्पति (५) नन्दी (६) उम्बर (७) शौरिकदत्त (८) देवदत्ता (९) और अञ्जू (१०) । हे भगवन् ! मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने दु.खविपाक के मृगापुत्र आदिक दश अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कथन किया है ? उत्तर में सुधर्मा अनगार कहने लगे—हे जम्बू ! उसका अर्थ इस प्रकार कथन किया है — ।

टीका—श्री जम्बू स्वामी ने अपने सद्‌गुरु श्रीसुधर्मा स्वामी की पर्युपासना-सेवा करते हुए बड़े विनम्र भाव से उन के श्री चरणों मे निवेदन किया कि हे भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रश्न-व्याकरण नाम के दशवे अग का जो अर्थ प्रतिपादन किया है वह तो मैंने आपके श्री मुख से सुन लिया है, अब आप यह बतलाने की कृपा करें कि उन्हों ने विपाकश्रुत नाम के ग्यारवे अग का क्या अर्थ कथन किया है ? ।

जम्बू स्वामी के इस प्रश्न में विपाकश्रुत नाम के ग्यारवे अ ग के विषय को अवगत करने की जिज्ञासा सूचित की गई है, जिस के अनुरूप ही उत्तर दिया गया है। "विपाकश्रुत" का सामान्य अर्थ है—विपाक-वर्णन-प्रधान शास्त्र । पुण्य और पापरूप कर्म के फल को विपाक कहते हैं, उस के प्रतिपादन करने वाला श्रुत—शास्त्र विपाकश्रुत कहलाता है । साराश यह है कि जिस में शुभाशुभ कर्मफल का विविध प्रकार से वर्णन किया गया हो उस शास्त्र या आगम को विपाकश्रुत कहा जाता है ।

यहा पर "**समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं**" इस वाक्य में उल्लेख किया गया "**जाव-यावत्**" यह पद भगवान् महावीर स्वामी के सम्बन्ध में उल्लेख किये जाने वाले अन्य विशेषणों को सूचित करता है, वे विशेषण "**आइगरेणं तित्थगरेणं** इत्यादि हैं, जो कि श्री भगवती, समवायाङ्ग आदि सूत्रों में उल्लेख किये गये हैं, पाठक वहा से देख लेवें ।

प्राणि वर्ग के शुभाशुभ कर्मों के फल का प्रतिपादक शास्त्र आगम परम्परा में विपाकश्रुत के नाम से प्रसिद्ध है [१], और यह द्वादशाग रूप प्रवचन-पुरुष का एकादशवा अग होने के कारण ग्यारवे अग के नाम

---

(१) विपाक —पुण्यपापरूपकर्मफल तत्प्रतिपादनपर श्रुत—'आगमो' - विपाकश्रुतम [अभयदेव सूरि]

से विख्यात है। इसके दुःखविपाक और सुखविपाक नाम के दो श्रुतस्कन्ध हैं। यहा प्रश्न होता है कि श्रुतस्कन्ध किसे कहते हैं? इस का उत्तर यह है कि विभाग—विशेष श्रुतस्कन्ध है, अर्थात् आगम के एक मुख्यविभाग अथवा कतिपय अध्ययनों के समुदाय का नाम श्रुतस्कन्ध है। प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले का नाम दुःखविपाक और दूसरे का सुखविपाक है। जिसमें अशुभकर्मों के दुःखरूप विपाक-परिणामविशेष का दृष्टान्त पूर्वक वर्णन हो उसे दुःखविपाक, और जिस में शुभकर्मों के सुखरूप फल–विशेष का दृष्टान्त पूर्वक प्रतिपादन हो उसे सुखविपाक कहते हैं।

भगवन्! दुःखविपाक नामक प्रथमश्रुतस्कन्ध के कितने अध्ययन हैं? जम्बू स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मास्वामी ने उस के दश अध्ययनों को नामनिर्देशपूर्वक कह सुनाया। उन के"—(१) मृगापुत्र, (२) उज्झितक, (३) अभग्नसेन, (४) शकट (५) बृहस्पति (६) नन्दिवर्धन (७) उम्बरदत्त, (८) शौरिकदत्त, (९) देवदत्ता (१०) और अञ्जू—"ये दश नाम हैं। मृगापुत्रादि का सविस्तर वर्णन तो यथास्थान आगे किया जायेगा, परन्तु संक्षेप में यहा इन का मात्र परिचय करा देना उचित प्रतीत होता है—

(१) **मृगापुत्र** – एक राजकुमार था, यह दुष्कर्म के प्रकोप से जन्मान्ध इन्द्रियविकल बीभत्स, एव भस्मक आदि व्याधियो से परिपीड़ित था। एकादि के भव में यह एक प्रान्त का शासक था परन्तु आततायी, निर्दयी, एव लोलुपी बन कर इसने अनेकानेक दानवीय कृत्यों से अपनी आत्मा का पतन कर डाला था, जिसके कारण इसे अनेकानेक भीषण विपत्तिए सहनी पड़ी। आज का जैनससार इसे मृगालोढे के नाम से स्मरण करता है (२) **उज्झितक**— विजयमित्र नाम के सार्थवाह का पुत्र था, गोत्रासक के भव में इसने गो, बैल, आदि पशुओं के मासाहार एव मदिरापान जैसे गर्हित पाप कर्मों से अपने जीवन को पतित बना लिया था, उन्हीं दुष्ट कर्मों के परिणाम में इसे दुःसह कष्टों को सहन करना पडा। (३) **अभग्नसेन** —विजय चोरसेनापति का पुत्र था, निर्णय के भव में यह अण्डो का अनार्य व्यापार किया करता था, अण्डो के भक्षण में यह बड़ा रस लेता था जिस के कारण इसे नरकों में भयकर दुःख सहन करने पडे। (४) **शकट**—सार्थवाह सुभद्र का पुत्र था। छणिक के भव में यह कसाई था मासहारी था, देवदुर्लभ अनमोल मानवजीवन को दूषित प्रवृत्तियों में नष्ट कर इस ने अपनी जीवन नौका को दुःखसागर में डुबो दिया था। (५) **बृहस्पति** - राजपुरोहित सोमदत्त का पुत्र था, राजपुरोहित महेश्वरदत्त के भव में यह ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्ण के हजारो जीवित बालकों के हृदयमास-पिण्डों को निकाल कर उन से हवन किया करता था, इस प्रकार के दानवी कृत्यों से इसने अपने भविष्य को अन्धकार-पूर्ण बना लिया था जिसके कारण इसे जन्म जन्मान्तर भटकना पडा। (६ **नन्दीवर्धन** - मथुरानरेश श्रीदाम का पुत्र था, दुर्योधन कोतवाल के भव में यह अपराधियो के साथ निर्दयता एव पशुता पूर्ण व्यवहार किया करता था, उन के अपराधों का इसके पास कोई मापक (पैमाना) नहीं था, जो इसके मन में आया वह इसने उन पर अत्याचार किया। इसी क्रूरता से इसने भीषण पापो का सग्रह किया, जिस ने इसे नारकीय दुःखों से परिपीडित कर डाला (७) **उम्बरदत्त** —सागरदत्त सार्थवाह का पुत्र था, वैद्य धन्वन्तरी के भव में यह लोगों को मासाहार का उपदेश दिया करता था। मास–भक्षण–प्रचार इस के जीवन का एक अग बन चुका था। जिस के परिणामस्वरूप नारकीय दुःख भोगने के अनन्तर भी इसे पाटलिषण्ड नगर की सडको पर भीषण रोगों से आक्रान्त एक कोढी के रूप में धक्के खाने पड़े थे। (८) **शौरिक**—समुद्रदत्त नामक मछुवे (मच्छी मारने वाले) का पुत्र था, श्रीद के भव में यह राजा का रसोईया था, मासाहार इस के जीवन का लक्ष्य बन चुका था, अनेकानेक मूक पशुओं के जीवन का अन्त करके इसने महान पाप कर्म एकत्रित किया था, यही कारण है कि नरक के असह्य दुःख को भोगने के अनन्तर भी इसे इस भव में तड़प तड़प कर मरना पड़ा

(९) **देवदत्ता**—रोहीतक-नरेश पुष्यनन्दी की पट्टराणी थी। सिंहसेन के भव में इस ने अपनी प्रिया श्यामा के मोह में फस कर अपनी मातृतुल्य ४९९ देवियों को आग लगा कर भस्म कर दिया था। इस क्रूर कर्म से इस ने महान् पापकर्म उपार्जित किया। इस भव में भी इसने अपनी सास के गुह्य अंग में अग्नि तुल्य देदीप्यमान लोहदण्ड प्रविष्ट करके उस के जीवन का अन्त कर दिया। इस प्रकार के नृशंस कृत्यों से इसे दुःख सागर में डूबना पड़ा (१०) **अञ्जू**—महाराज विजयमित्र की अर्धांगिणी थी। पृथिवीश्री गणिका के भव में इस ने सदाचार-वृक्ष का बड़ी क्रूरता से समूलोच्छेद किया था, जिस के कारण इसे नरक में दुःख भोगना पड़ा और यहां भी इसे योनिशूल जैसे भयंकर रोग से पीड़ित हो कर मरना पड़ा।

प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में मृगापुत्र आदि के नामों पर ही अध्ययनों का निर्देश किया गया है। क्योंकि दश अध्ययनों में क्रमशः इन्हीं दशों के जीवनवृत्तान्त की प्रधानता है। जैसे कि प्रधानरूप से राजकुमार मृगापुत्र के वृत्तान्त से प्रतिबद्ध होने के कारण प्रथम अध्ययन मृगापुत्रीय अध्ययन के नाम से विख्यात हुआ। इसी भांति अन्य अध्ययनों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

भगवन्! दुःखविपाक नाम के प्रथमश्रुतस्कन्ध के दश अध्ययनों में से प्रथम के अध्ययन का क्या अर्थ है अर्थात् उस में किस विषय का प्रतिपादन किया गया है? जम्बूस्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में आर्य सुधर्मास्वामी प्रथम अध्ययनगत विषय का वर्णन आरम्भ करते हैं, जैसे कि—

मूल—[1]**तेणं कालेणं तेणं समएणं मियग्गामे णामं णगरे होत्था वण्णओ। तस्स मियग्गामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए चंदणपायवे णामं उज्जाणे होत्था। वण्णओ। सव्वोउय० वण्णओ। तत्थ णं सुहम्मस्स जक्खाययणे होत्था चिरातीए, जहा पुण्णभद्दे। तत्थ णं मियग्गामे णगरे विजए णामं खत्तिए राया परिवसति। वण्णओ। तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स मिया णामं देवी होत्था, अहीण०। वण्णओ। तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स पुत्ते मियादेवीए अत्तए मियापुत्ते नामं दारए होत्था, जाति-अन्धे, जाति-मूए, जाति-बहिरे, जाति-पंगुले, हुण्डे य वायवे। नत्थि णं तस्स दारगस्स हत्था वा पाया वा कण्णा वा अच्छी वा नासा वा केवल से तेसिं अंगोवंगाणं** [2]**आगिई आगितिमित्ते। तते णं सा मिया देवी तं मियापुत्तं दारगं रहस्सियंसि भूमिघरंसि रहस्सितेणं भत्तपाणएणं पडिजागरमाणी विहरति।**

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये मृगाग्रामो नाम नगरमभूत्। वर्णकः। तस्य मृगाग्रामस्य नगरस्य बहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चन्दनपादपं नामोद्यानमभवत्। सर्वर्तु क० वर्णकः। तत्र सुधर्मणो यक्षस्य यक्षायतनमभूत्, चिरादिकं, यथा पूर्णभद्रम्। तत्र मृगाग्रामे नगरे विजयो नाम क्षत्रियो राजा परिवसति। वर्णकः। तस्य विजयस्य क्षत्रियस्य मृगा नाम देव्यभूत्, अहीन० वर्णकः। तस्य विजयस्य क्षत्रियस्य पुत्रो मृगादेव्या आत्मजो मृगापुत्रो नाम दारकोऽभवत्। जात्यन्धो, जातिमूको जातिबधिरो, जातिपंगुलो, हुण्डश्च वायव्यः। न [1]स्तस्तस्य दारकस्य हस्तौ वा पादौ वा कर्णौ वा अक्षिणी वा नासे वा। केवलं तस्य तेषामंगोपांगानामाकृतिराकृतिमात्रम्। ततः सा मृगादेवी तं मृगापुत्रं दारकं राहसिके भूमिगृहे राहसिकेन भक्तपानकेन प्रतिजागरयन्ती विहरति।

(२) अङ्गावयवानामाकृतिराकारः, किंविशेषाह—आकृतिमात्रमाकारमात्रं नोचितस्वरूपेत्यर्थः।

---

(१) स्तः के स्थान पर हेमशब्दानुशासन के "अत्थिस्त्यादिना ॥८।३।१४८॥" इस सूत्र से 'अत्थि' यह प्रयोग निष्पन्न हुआ है। यहां अस्ति का अत्थि नहीं समझना।

पदार्थ—**तेणं कालेणं**—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय में। **मियग्गामे**—मृगाग्राम। **णामं**—नामक। **णगरे**—नगर। **होत्था**—था। **वण्णओ**—वर्णक-वर्णन प्रकरण पूर्ववत्। **तस्स**—उस। **मियग्गामस्स**—मृगाग्राम नामक। **णगरस्स**—नगर के। **बहिया**—बाहिर। **उत्तरपुरत्थिमे**—उत्तर-पूर्व। **दिसिभाए**—दिग्भाग अर्थात् ईशान कोण में। **चंदणपायवे**—चन्दनपादप। **णाम** नामक। **उज्जाणे**—उद्यान। **होत्था**—था। **सव्वोउय०**—जो कि सर्व ऋतुओं में होने वाले फल पुष्पादि से युक्त था। **वण्णओ**—वर्णक-वर्णन प्रकरण पूर्ववत्। **तत्थ णं**—उस उद्यान में। **सुहम्मस्स जक्खस्स**—सुधर्मा नामक यक्ष का। **जक्खाययणे**—यक्षायतन। **होत्था**—था। **चिरातीए**—जो कि पुराना था शेषवर्णन—**जहा पुण्णभद्दे**—पूर्णभद्रकी भांति समझ लेना। **तत्थ णं**—उस। **मियग्गामे**—मृगाग्राम **णगरे**—नगर में। **विजए णाम**—विजय नामक। **खत्तिए**—क्षत्रिय। **राया**—राजा। **परिवसति**—रहता था। **वण्णओ**—वर्णनप्रकरण पूर्ववत्। **तस्स**—उस। **विजयस्स**—विजय नामक। **खत्तियस्स**—क्षत्रिय की। **मिया णाम**—मृगा नामक। **देवी**—देवी। **होत्था**—थी **अहीण०**—जिसकी पांचों इन्द्रियें सम्पूर्ण अथच निर्दोष थीं। **वण्णओ**—वर्णनप्रकरण पूर्ववत्। **तस्स**—उस। **विजयस्स**—विजय। **खत्तियस्स**—क्षत्रिय का। **पुत्ते**—पुत्र। **मियादेवीए**—मृगादेवी का। **अत्तए**—आत्मज। **मियापुत्ते**—मृगापुत्र। **णामं**—नामक। **दारए**—बालक। **होत्था**—था, जो कि। **जातिअन्धे**—जन्म से अन्धा। **जातिमूए**—जन्म काल से मूक-गूंगा। **जाति-बहिरे**—जन्म से बहरा। **जातिपंगुले**—जन्म से पंगुल-लूला लंगडा। **हुण्डे य**—हुंड—जिस के शारीरिक अवयव अपने २ प्रमाण में पूरे नहीं हैं, तथा—**वायव्वे**—उसका शरीर वायुप्रधान था। **तस्स दारगस्स**—उस बालक के। **हत्था वा**—हाथ। **पाया वा**—पांव। **कण्णा वा**—कान। **अच्छी वा**—आंखें। **नासा वा**—और नाक। **नत्थि ण**—नहीं थी। **केवल**—केवल। **से**—उसके। **तेसिं अंगोवंगाणं**—उन अंगोपांगों की। **आगिई**—आकृति। **आगितिमित्ते**—आकारमात्र थी, अर्थात् उचित स्वरूप वाली नहीं थी। **तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **मियादेवी**—मृगादेवी। **त**—उस। **मियापुत्त**—मृगापुत्र। **दारग**—बालक की। **रहस्सियसि**—गुप्त। **भूमिघरंसि**—भूमिगृह-भोरे में **रहस्सितेणं**—गुप्तरूप से। **भत्तपाणएणं**—आहार पानी के द्वारा। **पडिजागरमाणी**—सेवा करती हुई। **विहरति** विहरण कर रही थी।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय में मृगाग्राम नामक एक सुप्रसिद्ध नगर था। उस मृगाग्राम नामक नगर के बाहिर उत्तर पूर्व दिशा के मध्य अर्थात् ईशान कोण में सम्पूर्ण ऋतुओं में होने वाले फल पुष्पादि से युक्त चन्दन-पादप नामक एक रमणीय उद्यान था। उस उद्यान में सुधर्मा नामक यक्ष का एक पुरातन यक्षायतन था। जिसका वर्णन पूर्णभद्र के समान जानना। उस मृगाग्राम नामक नगर में विजय नाम का एक क्षत्रिय राजा निवास करता था। उस विजय नामक क्षत्रिय राजा की मृगा नाम की राणी थी जोकि सर्वांगसुन्दरी, रूप-लावण्य से युक्त थी। उस विजय क्षत्रिय का पुत्र और मृगादेवी का आत्मज मृगापुत्र नाम का एक बालक था। जो कि जन्मकाल से ही अन्धा, गूंगा, बहरा, पंगु, हुण्ड और वातरोगी (वात रोग से पीडित) था। उसके हस्त, पाद, कान, नेत्र और नासिका भी नहीं थी। केवल इन अंगोपांगों का मात्र आकार ही था और वह आकार-चिन्ह भी उचित स्वरूप वाला नहीं था। तब मृगादेवी गुप्त भूमिगृह (मकान के नीचे का घर) में गुप्तरूप से आहारादि के द्वारा उस मृगापुत्र बालक का पालन पोषण करती हुई जीवन बिता रही थी।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं

कि हे जम्बू ? जब इस अवसर्पिणी का चौथा आरा व्यतीत हो रहा था, उस समय मृगाग्राम नाम का एक नगर था, उसके बाहिर ईशान कोण मे चन्दन पादप नाम का एक बड़ा ही रमणीय उद्यान था, जोकि सर्व ऋतुओं के फल पुष्पादि से सम्पन्न था। उस उद्यान मे सुधर्मा नाम के यक्ष का एक पुरातन स्थान था। मृगाग्राम नगर में विजय नाम का एक राजा था। उसकी मृगा देवी नाम की एक स्त्री थी? जोकि परम सुन्दरी, भाग्यशालिनी और आदर्श पतिव्रता थी, उसके मृगापुत्र नाम का एक कुमार था, जो कि दुर्दैववशात् जन्म काल से ही सर्वेन्द्रियविकल और अंगोपांग से हीन केवल श्वास लेने वाला मांस का एक पिंड विशेष था। मृगापुत्र की माता मृगादेवी अपने उस बालक को एक भूमि गृह में स्थापित कर उचित आहारादि के द्वारा उसका संरक्षण और पालन पोषण किया करती थी।

प्रस्तुत आगम पाठ में चार स्थान पर "वण्णओ-वर्णक" पद का प्रयोग उपलब्ध होता है। प्रथम का नगर के साथ, दूसरा उद्यान के साथ, तीसरा-विजय राजा और चौथा मृगादेवी के साथ। जैनागमों की वर्णन शैली का परिशीलन करते हुए पता चलता है कि उन मे उद्यान, चैत्य, नगरी, सम्राट, सम्राज्ञी तथा संयमशील साधु और साध्वी आदि का किसी एक आगम में सांगोपांग वर्णन कर देने पर दूसरे स्थान में अर्थात् दूसरे आगमों में प्रसंगवश वर्णन की आवश्यकता को देखते हुए विस्तार भय से पूरा वर्णन न करते हुए सूत्रकार उस के लिये "वण्णओ" यह सांकेतिक शब्द रख देते हैं। उदाहरणार्थ-चम्पानगरी का सांगोपांग वर्णन औपपातिक सूत्र में किया गया है। और उसी में पूर्णभद्र नामक चैत्य का भी सविस्तर वर्णन है। विपाकश्रुत मे भी चम्पा और पूर्णभद्रका उल्लेख है, यहा पर भी उन का—नगरी और चैत्य का सांगोपांग वर्णन आवश्यक है, परन्तु ऐसा करने से ग्रन्थ का कलेवर-आकार बढ जाने का भय है, इसलिये यहा 'वण्णओ' पद का उल्लेख कर के औपपातिक आदि सूत्रगत वर्णन की ओर संकेत कर दिया गया है। इसीप्रकार सर्वत्र समझलेना चाहिये। प्रस्तुत पाठ में मृगाग्राम नाम नगर का वर्णन उसी प्रकार समझना जैसा कि औपपातिक सूत्र में चम्पा नगरी का वर्णन है, अन्तर केवल इतना ही है कि जहां चम्पा के वर्णन मे स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है वहा मृगाग्राम नामक नगर में पुल्लिंग का प्रयोग कर लेना। इसी प्रकार उद्यानादि के विषय मे जान लेना। विजय राजा के साथ "वण्णओ" का जो प्रयोग है उस मे औपपातिक सूत्रगत राजवर्णन समझ लेना। इसी भांती मृगादेवी के विषय में "वण्णओ" पद से औपपातिक सूत्रगत राज्ञी वर्णन की ओर संकेत किया गया है।

महाराणी मृगादेवी ने अपने तनुज, मृगापुत्र की इस नितान्त घोरदशा मे भी रक्षा करने में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रक्खी, उस श्वास लेते हुए मांस के लोथड़े को एक गुप्त प्रदेश में सुरक्षित रक्खा और समय पर उसे खान पान पहुँचाया तथा दुर्गन्धादि से किसी प्रकार की भी घृणा न करते हुए अपने हाथों से उसकी परिचर्या की। यह सब कुछ अकारण मातृस्नेह को ही आभारी है, इसी दृष्टि से नीतिकारों ने "पितुः शतगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते" कहा है और मातृदेवो भव" इत्यादि शिक्षा वाक्य भी तभी चरितार्थ होते हैं। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गर्भावास मे माता पिता के जीवित रहने तक दीक्षा न लेने का जो संकल्प किया था, उसका मातृस्नेह ही तो एक कारण था।

जैनागमों मे जीव के छः संस्थान (आकार) माने हैं। उन मे छठा संस्थान हुण्डक है। हुण्डक का अर्थ है—जिस शरीर के समस्त अवयव बेढब हों अर्थात् जिस में एक भी अवयव शास्त्रोक्त-प्रमाण के अनुसार न हो। मृगापुत्र हुण्डक संस्थान वाला था, इस बात को बतलाने के लिए सूत्रकार ने उसे 'हुण्ड'

कहा है। तात्पर्य यह है कि —जिस प्रमाण में अङ्ग[1] और उपांग की रचना होनी चाहिये थी, उस प्रकार की रचना का उस (मृगापुत्र) के शरीर में अभाव था, जिस से उस की आकृति बड़ी बीभत्स एवं दुर्दर्शनीय बन गई थी।

सूत्रकार ने मृगापुत्र को "वायवे-वायव" भी कहा है। वायव शब्द से उन का अभिप्राय 'वात-व्याधि से पीडित व्यक्ति' से है। वात—वायु के विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि-रोग का नाम वातव्याधि है। चरकसंहिता (चिकित्सा-शास्त्र) अध्याय २०, में लिखा है कि वात के विकार से उत्पन्न होने वाले रोग असंख्येय होते हैं, परन्तु मुख्यरूप में उन की (वातजन्य रोगों की) संख्या ८० है। नखभेद, विपादिका, पादशूल, पादभ्रंश, पादसुप्ति, और गुल्फग्रह इत्यादि ८० रोगों में से मृगापुत्र को कौनसा रोग था ? एक था या अधिक थे ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में सूत्रकार और टीकाकार दोनों ही मौन हैं। वात व्याधि से पीडित व्यक्ति के पीठ का जकड़ जाना, गरदन का टेढ़ा होना, अंगों का सुन्न रहना, मस्तकविकृति इत्यादि अनेकों लक्षण चरक-संहिता में लिखे हैं। विस्तार भय से यहां उन का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। जिज्ञासु वहीं से देख सकते हैं।

अब सूत्रकार मृगापुत्र का वर्णन करने के अनन्तर एक जन्मान्ध पुरुष का वर्णन करते हैं —

मूल—[2]तत्थ णं मियग्गामे नगरे एगे जातिअंधे पुरिसे परिवसति। से णं एगेणं सचक्खुतेणं पुरिसेणं पुरतो दंडएणं पगड्ढिज्जमाणे २ फुट्टहडाहडसीसे मच्छियाचडगरपहकरेणं अण्णिज्जमाणमग्गे मियग्गामे णगरे गिहे गिहे कालुणवडियाए वित्तिं कप्पेमाणे विहरति। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिते। जाव परिसा निग्गया। तते णं से विजए खत्तिए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जहा कूणिए तहा निग्गते जाव पज्जुवासति, तते णं से जाति-अन्धे पुरिसे तं महया जणसद्दं च जाव सुणेत्ता तं पुरिसं एवं वयासी—किण्णं देवाणुप्पिया ! अज्ज मियग्गामे इंदमहे इ वा जाव निग्गच्छति ? तते णं से पुरिसे तं जातिअंध-पुरिसं एवं वयासी—नो खलु देवा० ! इंदमहे जाव निग्गए, एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे जाव विहरति, तते णं एए जाव निग्गच्छन्ति। तते णं से जातिअंध-पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! अम्हे वि समणं भगवं जाव पज्जुवासामो, तते णं से जाति-अंधपुरिसे पुरतो दंडएणं पगड्ढिज्जमाणे २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागते, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदति-नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासति। तते णं समणे विजयस्स तीसे य धम्ममाइक्खइ परिसा जाव पडिगया। विजए वि गए। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स जेट्ठे अंतेवासी

(१) अंग शब्द से—१—मस्तक, २-वक्षःस्थल, ३—पीठ, ४—पेट, ५,६—दोनों भुजाएं, और ७, ८—दोनों पांव, इन का ग्रहण होता है, तथा उपांग-शब्द से अंग के अवयवभूत कान, नाक, नेत्र एवं अंगुली आदि का बोध होता है।

(२) छाया—तत्र मृगाग्रामे नगरे एको जात्यन्धः पुरुषः परिवसति। स एकेन सचक्षुष्केण पुरुषेण पुरतो दण्डेन प्रकृष्यमाणः २ स्फुटितात्यर्थशीर्षो मक्षिकाप्रधानसमूहेनान्वीयमानमार्गो मृगाग्रामे नगरे गृहे गृहे का-

इंदभूती णामं अणगारे जाव विहरति । तते णं से भगवं गोतमे त जातिअंधपुरिसं पासति पासित्ता जायसड्ढे एवं वयासी—अत्थि णं भंते ! केइ पुरिसे जातिअंधे जायअंधारूवे ? हंता अत्थि । कहि णं भंते ! से पुरिसे जातिअंधे जायअंधारूवे ? ।

पदार्थ— **तत्थ णं**—उस । **मियग्गामे**—मृगाग्राम । **णगरे**—नगर में । **एगे**—एक । **जातिअंधे**—जन्मान्ध । **पुरिसे**—पुरुष । **परिवसति**—रहता था । **एगेणं**—एक । **सचक्खुतेणं**—चक्षु वाले । **पुरिसेणं**—पुरुष से । **दंडएणं**—दण्ड के द्वारा । **पुरतो**—आगे को । **पगड्ढिज्जमाणे**—लेजाया जाता हुआ । [1]**फुट्टहडाहडसीसे**—जिस के शिर के बाल अत्यन्त अस्तव्यस्त बिखरे हुए थे । **मच्छियाचडगरपहकरेणं**—मक्षिकाओं के विस्तृत समूह से । **अणिगज्जमाणमग्गे**—जिस का मार्ग अनुगत हो रहा था अर्थात् जिसके पीछे मक्षिकाओं के बडे २ झुण्ड लगे रहते थे । **से**—वह–जन्मान्ध पुरुष । **मियग्गामे णगरे**—मृगाग्राम नगर में । **गिहे २**—घर घर में । **कालुणवडियाए**—कारुण्य-दैन्यवृत्ति से **वित्तिं**—आजीविका । **कप्पेमाणे विहरति**—चलाता हुआ विहरण कर रहा था । **तेणं कालेणं**—उस काल में । **तेणं समएणं**—उस समय में । **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर । [ग्रामानुग्राम विहार करते हुए] **जाव समोसरिते**—यावत् मृगाग्राम नगर के चन्दनपादप उद्यान में पधार गये । **जाव**—यावत् । **परिसा निग्गया**—नगर निवासी जनता श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के दर्शनार्थ नगर से निकली । **तते णं**—तदनन्तर । **से विजए खत्तिए**—वह विजय नामक क्षत्रिय राजा । **इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे**—भगवान् महावीर स्वामी के आगमनवृत्तान्त को जान कर । **जहा**—जिस प्रकार । **कूणिए**—कूणिक राजा भगवान् के दर्शनार्थ गया था । **तहा निग्गते**—उसी प्रकार भगवान् के दर्शनार्थ

रुण्यवृत्त्या वृत्तिं कल्पयन् विहरति । तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृत । यावत् परिषद् निर्गता । तत स विजय क्षत्रियोऽनया कथया लब्धार्थः सन् यथा कूणिकस्तथा निर्गतो यावत् पर्युपास्ते । तत स जात्यन्ध पुरुषस्त महाजनशब्द च यावत् श्रुत्वा त पुरुष एवमवदत् किं ननु देवानुप्रिय ! अद्य मृगाग्रामे इन्द्रमहो[1] वा यावन्निर्गच्छति ? तत. स पुरुषस्त जात्यन्ध – पुरुष एवमवादीत्—नो खलु देवा० ! इन्द्रमहो यावन्निर्गत एव खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो यावत् विहरति,—तत एते यावन्निर्गच्छन्ति । तत स जात्यन्ध. पुरुष त पुरुषमेवमवादीत्–गच्छावो देवानुप्रिय ! आवामपि श्रमण भगवन्त यावत् पर्युपास्वहे । तत. स जात्यन्धपुरुष, पुरतो दण्डेन प्रकृष्यमाणो २ यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रैवोपागत उपागत्य त्रिकृत्व [2]आदक्षिणप्रदक्षिण करोति कृत्वा वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपास्ते तत. श्रमणो विजयाय तस्यै च धर्ममाख्याति, परिषद् प्रतिगता । विजयोऽपि गत । तत तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नामागारो यावत् विहरति । तत स भगवान् गौतमस्त जात्यन्धपुरुष पश्यति, दृष्ट्वा जातश्रद्धो यावदेवमवादीत्–अस्ति भदन्त ! कश्चित्पुरुषो जात्यन्धो जातान्धरूप ? हन्त अस्ति । कुत्र भदन्त ! स पुरुषो जात्यन्धो जातान्धरूप ? ।

(१) स्फुटित–स्फुटितकेशसञ्चयत्वेन विकीर्णकेश हडाहड —अत्यर्थं, शीर्ष शिरो यस्येति भाव ।

---

(१) "इन्दमहे इ वा" यहां पठित 'इ' कार वाक्यालङ्कारार्थक है । इस लिये इस की छाया नहीं दी गई । 'वा' पद समुच्चयार्थक है ।

(२) आदक्षिणाद् आ दक्षिणहस्तात् आरभ्य प्रदक्षिण परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणस्त करोतीति भाव (भगवती सूत्रे वृत्तिकार)।

नगर से चला। **जाव पज्जुवासति**—यावत् समवसरण मे जाकर भगवान् की पर्युपासना करने लगा। **तते ण** तदनन्तर। **से**—वह। **जातिअंधे पुरिसे**—जन्मान्ध पुरुष। **त महया जणसद्द च**—मनुष्यों के उस महान् शब्द को। **जाव**—यावत्। **सुणेत्ता**—सुनकर। **त पुरिस** उस पुरुष को **एव वयासी** - इस प्रकार कहने लगा। **देवाणुप्पिया!** —हे देवानुप्रिय!। **किएण**—क्या। **अज्ज**—आज। **मियग्गामे** - मृगाग्राम मे। **इंदमहे इ वा** -इन्द्रमहोत्सव है **जा १** —यावत्। **निगच्छति**—नागरिक जा रहे हैं ?। **तते ण** तदनन्तर। **से पुरिसे** वह पुरुष। **त जातिअंधपुरिसं**—उस जन्मान्ध पुरुष को। **एव वयासी** – इस प्रकार कहने लगा **देवा०!** —हे देवानुप्रिय!। **खलु**—निश्चय ही। **नो इदमहे याव निग्गहे**—ये लोग इन्द्रमहोत्सव के कारण बाहर नही जा रहे हैं किन्तु **देवाणुप्पिया!**—हे देवानुप्रिय!। **एव खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **समणे जाव विहरति** -श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधार रहे हैं। **तते ण एए जाव निग्गच्छति**—उसी कारण से ये लोग वहा जा रहे हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से** - वह। **जातिअंधे पुरिसे**—जन्मान्ध पुरुष। **त पुरिस**—उस पुरुष को। **एव वयासी** -इस प्रकार कहने लगा। **देवाणुप्पिया!** —हे देवानुप्रिय!। **अम्हे वि** हम दोनो भी **गच्छामो**—चलते हैं और चल कर **समण**—श्रमण। **भगव**—भगवान् की। **जाव** यावत् (हम)। **पज्जुवासामो** पर्युपासना-सेवा करेंगे। **तते णं**—तत् पश्चात्। **से**—वह। **जातिअन्धे पुरिसे** -जन्मान्ध पुरुष। **दडएणं**—दण्ड द्वारा। **पुरतो**—आगे को। **पगड्ढिज्जमाणे**—ले जाया जाता हुआ। **जेणेव**—जहा। **समणे भगव महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे। **तेणेव**—वहा पर। **उवागते**—आ गया। **उवागच्छित्ता**—वहा आ कर वह। **तिक्खुत्तो**- तीन बार। **आयाहिणं पयाहिणं**—दक्षिण ओर से आरम्भ करके प्रदक्षिणा (आवर्त्तन)। **करेति**—करता है। **करेत्ता**—प्रदक्षिणा करके। **वदति**—वन्दना करता है। **नमसति**—नमस्कार करता है। **वदित्ता नमसित्ता**—वन्दना तथा नमस्कार कर के। **जाव**—यावत्। **पज्जुवासति** पर्युपासना-सेवा मे उपस्थित होता है। **तते ण** - तत् पश्चात्। **समणे** श्रमण भगवान् महावीर। **विजयस्स**—विजय और। **तीयसे**—उस-परिषद् के प्रति। **धम्ममाइक्खई**—धर्मोपदेश करते हैं। **परिसा जाव पडिगया**—धर्मोपदेश सुन कर परिषद् चली गई। **विजए वि** -विजय राजा भी। **गए**—चला गया। **तेणं कालेणं**—उस काल मे। **तेणं समएणं**—उस समय मे। **समणस्स** श्रमण भगवान् महावीर के। **जेट्ठे अतेवासी**—प्रधान शिष्य। **इंदभूती णामं अणगारे**—इन्द्रभूति नामक अनगार। **जाव विरहति** - यावत् विहरण कर रहे हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से** वे। **भगवं** - भगवान्। **गोतमे**—गौतम स्वामी। **तं**—उस। **जातिअंधपुरिस**—जन्मान्ध पुरुष को। **पासति**—देखते हैं **पासिता**—देखकर। **जायसड्ढे**—जातश्रद्ध-प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले भगवान् गोतम। **जाव**—यावत्। **एव वयासी**—इस प्रकार बोले। **भंते!** हे भगवन्!। **अत्थि णं केइ पुरिसे**—क्या कोई ऐसा पुरुष भी है, जो कि। **जातिअंधे**—जन्माध हो ?। **जायअन्धारूवे**—जन्मान्धरूप हो ?। **हता अत्थि**—भगवान् ने कहा, हा, ऐसा पुरुष है। **भन्ते!**—हे भदन्त!। **कहि णं**—कहा है। **से पुरिसे**—वह पुरुष, जो कि। **जातिअंधे**—जन्मान्ध तथा। **जायअन्धारूवे**—जन्मान्धरूप है ?।

मूलार्थ—उस मृगाग्राम नामक नगर में एक जन्मान्ध पुरुष रहता था, आखों वाला एक मनुष्य उस की लकडी पकड़े रहा करता था, उस लकडी के सहारे वह चला करता था, उस के शिर के बाल अत्यन्तात्यन्त बिखरे हुए थे, अत्यन्त मलिन होने के कारण उस के पीछे मक्खिओ के झुण्डो के झुण्ड लगे रहते थे, ऐसा वह जन्मान्ध पुरुष मृगाग्राम के प्रत्येक घर मे भिक्षावृत्ति से अपनी आजीविका चला रहा था। उस काल तथा उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी नगर के बाहर चन्दनपादप उद्यान में पधारे [उन के पधारने

का समाचार मिलते ही] उनके दर्शनार्थ जनता नगर से चल पडी। तदनन्तर विजय नामक क्षत्रिय राजा भी महाराज कूणिक की तरह भगवान् के चरणों में उपस्थित हो कर उन की पर्युपासना सेवा करने लगा। नगर के कोलाहलमय वातावरण को जान कर वह जन्मान्ध पुरुष, उस पुरुष के प्रति इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिय! (हे भद्र!) क्या आज मृगाग्राम में इन्द्रमहोत्सव है जिस के कारण जनता नगर से बाहर जा रही है? उस पुरुष ने कहा—हे देवानुप्रिय! आज नगर में इन्द्रमहोत्सव नहीं किन्तु [बाहर चन्दन पादप नामा उद्यान में] श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे हैं, वहा यह जनता उनके दर्शनार्थ जा रही है। तब उस अन्धे पुरुष ने कहा—चलो हम भी चलें, चलकर भगवान् की पर्युपासना-सेवा करेंगे तदनन्तर दण्ड के द्वारा आगे को ले जाया जाता हुआ वह पुरुष जहा पर श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे वहा पर आ गया, आकर उस जन्मान्ध पुरुष ने भगवान की तीन बार दाहिनी ओर से आरम्भ करके प्रदक्षिणा की प्रदक्षिणा कर के वन्दना[1] और नमस्कार किया, तत्पश्चात् वह भगवान् की पर्युपासना-सेवा में तत्पर हुआ। तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने विजय राजा और परिषद्-जनता को धर्मोपदेश दिया भगवान् की कथा को सुनकर राजा विजय तथा परिषद् चली गई। उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति नाम के अनगार [गौतम गणधर] भी वहा विराजमान थे। भगवान् गौतम स्वामी ने अन्धे पुरुष को देखा देखकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से निवेदन किया—क्या भदन्त! कोई ऐसा पुरुष भी है कि जो जन्मान्ध तथा जन्मान्धरूप हो? भगवान् ने फर्माया—हा, गौतम! है गौतम स्वामी ने पुन पूछा—हे भदन्त! वह पुरुष कहा है जो जन्मान्ध (जिस के नेत्रो का आकार तो है परन्तु उस मे देखने की शक्ति न हो) और जन्मान्धरूप (जिस के शरीर में नेत्रों का आकार भी नहीं बन पाया, अत्यन्त कुरूप) है?।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में एक जन्मान्ध व्यक्ति के जीवन का परिचय कराया गया है। सूत्रकार कहते हैं, कि मृगाग्राम नगर में वह निवास किया करता था, उस के पास एक सहायक था जो लाठी पकड कर उसे चलने में सहायता देता था, पथ-प्रदर्शक का काम किया करता था। उस जन्मान्ध की शारीरिक अवस्था बडी घृणित थी सिर के बाल अत्यन्त बिखरे हुए थे, पागल के पीछे जैसे सैकडों उद्दण्ड बालक लग जाते हैं और उसे तंग करते हैं, वैसे ही उस व्यक्ति को मक्खियों के झुण्डों के झुण्ड घेरे हुए रहते थे जो उस की अन्तर्वेदना को बढाने का कारण बन रहे थे। वह मृगाग्राम के प्रत्येक घर में घूम २ कर भिक्षा वृत्ति द्वारा अपने दु खी जीवन को जैसे तैसे चला रहा था।

"मच्छियाचडगरपहकरेणं अरिणज्जमाणमग्गे—मक्षिकाप्रधानसमूहेनान्वीयमानमार्गः"[2] यह उल्लेख तो उस अन्धपुरुष की अत्यधिक शारीरिक मलिनता का पूरा २ निदर्शक है। मानो वह अन्धपुरुष दरिद्र नारायण की सजीव चलती फिरती हुई मूर्ति ही थी।

उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी चन्दनपादप नामा उद्यान में पधारे, उन के आगमन का समाचार मिलते ही नगर की जनता दर्शनार्थ नगर से उद्यान की ओर प्रस्थित हुई। इधर विजय नरेश भी भगवान् महावीर स्वामी के पधारने की सूचना मिलने पर महाराजा कूणिक की भाति बडे प्रसन्नचित्त से राजोचित महान् वैभव के साथ नगर से उद्यान की ओर

---

(१) वचन से स्तुति करना वन्दना है, काया से प्रणाम करना नमस्कार कहलाता है।

(२) **"मच्छियाचडगरपहकरेणं"**—मक्षिकाणा प्रसिद्धाना चटकर प्रधानो विस्तरवान् य प्रहकर समूह स तथा, अथवा—मक्षिकाणा चटकराणा तद् वृन्दाना य प्रहकर. स तथा तेन **"अन्निज्जमाणमग्गे"** अन्वीयमानमार्गोऽनुगम्यमानमार्ग मलाविल हि वस्तु प्रायो मक्षिकाभिरनुगम्यत एवेति भाव [वृत्तिकार]

चल पड़े। उद्यान के समीप जा कर तीर्थाधिपति भगवान् वर्द्धमान के अतिशय विशेष को देखते हुए विजय नरेश अपने आभिषेक्य हस्तिरत्न-प्रधान हस्ती से उतर पड़े और पांच[1] प्रकार के अभिगम (मर्यादा विशेष, अथवा सम्मान सूचक व्यापार) से श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुए। तदनन्तर भगवान् को तीन बार दाहिनी ओर से आरम्भ कर के प्रदक्षिणा की और तत्पश्चात् वन्दना नमस्कार करके कायिक[2] वाचिक और मानसिकरूप से उन की पर्युपासना करने लगे।

"**महावीरे जाव समोसरिते**" यहां पर उल्लेख किये गये "**जाव-यावत्**" पद से औपपातिक सूत्र के समस्त दशम सूत्र का ग्रहण करना। तथा "**जाव परिसा निग्गया**" इस आगम पाठ में पठित "**जाव-यावत्**" पद से औपपातिक सूत्रीय २७ वां समग्र सूत्र ग्रहण करना चाहिये। इस सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने के अनन्तर नगर में उत्पन्न होने वाले आनन्दपूर्ण शुभ वातावरण का, तथा नाना प्रकार के भिन्न २ वेष बनाकर एवं भिन्न भिन्न विचारों को लिये हुए नागरिकों का श्रमण भगवान् वीर प्रभु के चरणों में उपस्थित होने का सुन्दर रूपेण अथ च परिपूर्णरूपेण वर्णन किया गया है जो कि अवश्य अवलोकनीय है।

'**निग्गते जाव पज्जुवासति**" यहां पर दिया गया "**जाव-यावत्**" पद औपपातिक सूत्र के २८ वें सूत्र से ले कर ३२ वें सूत्र पर्यन्त समस्त आगम पाठ का सूचक है। इस पाठ में महाराजा कूणिक अजातशत्रु का प्रारम्भ से लेकर जिनेंद्र भगवान् महावीर स्वामी के चरणारविन्दों में पूरे वैभव के साथ उपस्थित होने का सविस्तर वर्णन दिया गया है, जिस का विस्तार भय से यहां उल्लेख नहीं किया गया।

"**तते णं से जातिअंधे**" इत्यादि पाठ में एक बूढ़े जन्मांध याचक व्यक्ति का वीर प्रभु के चरणों में पहुँचने का जो निर्देश किया है वह भी बड़ा रहस्य पूर्ण है। मानव हृदय की आन्तरिक परिस्थिति कितनी विलक्षण और अंधकार तथा प्रकाश पूर्ण हो सकती है इसका यथार्थ अनुभव किसी अतीन्द्रियदर्शी को ही हो सकता है?

आज मृगाग्राम नाम के प्रधान नगर में चारों ओर बड़ी चहल पहल दिखाई दे रही है। प्रत्येक नर नारी का हृदय प्रसन्नता के कारण उमड़ रहा है। प्रत्येक स्त्री पुरुष बाल वृद्ध और युवक आनंद

---

(१) पांच प्रकार के अभिगम (सम्मानविशेष) का निर्देश शास्त्र में इस प्रकार किया है—

१—पुष्प, पुष्पमाला आदि सचित्त द्रव्यों का परित्याग करना।

२—वस्त्र, आभूषण आदि अचित्त द्रव्यों का परित्याग न करना।

३—एकशाटिका—असयूत वस्त्र का उत्तरासंग करना, अर्थात् उस से मुख को ढांपना।

४—भगवान् के दृष्टिगोचर होते ही अंजलीप्रग्रह करना अर्थात् हाथ जोड़ना।

५—मानसिक वृत्तियों को एकाग्र करना।

(२) **कायिक-पर्युपासना**—हस्त और पाद को संकोचते हुए विनय पूर्वक दोनों हाथ जोड़कर भगवान् के सन्मुख सविवेक-विवेक पूर्वक स्थित होना कायिक पर्युपासना कहलाती है।

वाचिक पर्युपासना—जिनेन्द्र भगवान् महवीर द्वारा प्रतिपादित हुए वचनों को सुनकर, भगवन्! आपकी यह वाणी इसी प्रकार है, यह असंदिग्ध है, यह हमें इष्ट है, इस प्रकार विनयपूर्वक धारण करना वाचिक पर्युपासना है।

मानसिक पर्युपासना— सांसारिक बन्धनों से भयरूप संवेग को धारण करना, अर्थात् धार्मिक तीव्र अनुराग को उपलब्ध करना ही मानसिक पर्युपासना कही जाती है।

[औपपातिक—सूत्र, पर्युपासनाधिकार]

मे विभोर होते हुए चन्दनपादप उद्यान की ओर जा रहे हैं आज हमारे अहोभाग्य से श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का इस नगर मे पधारना हुआ है हमें उन के पुण्य दर्शन का अलभ्यलाभ होगा, उन का पुनीत दर्शन चतुर्गति रूप संसार समुद्र से निकाल कर, कर्मजन्य दुखों से सुरक्षित कर, एव जन्म मरण के बन्धन से छुड़ा कर निष्कर्म बनादेने वाला है । उन के पुनीत कथामृत का पान कर के हमारे विकल हृदयो को पूर्ण शान्ति मिलेगी । इस प्रकार की विशुद्ध भावना से भावित प्रत्येक नर नारी एक दूसरे से आगे निकलने का प्रयत्न कर रहा हैं । नगर के हर एक विभाग व मार्ग म भी यही चर्चा हो रही है, अर्थात् पुरुषसिंह, पुरुषोत्तम श्री महावीर स्वामी ग्रमानुग्राम विहार करते हुए आज नगर के बाहिर चन्दन पादप उद्यान मे पधारे ह यह हमार नगर का परम अहोभाग्य है ! इसप्रकार जनता आपस मे कह रही है । साराश यह है कि वीर प्रभु क पधारने का सारे नगर मे आनन्दमय कोलाहल हो रहा है ।

दर्शनार्थ जाने वाले सद्गृहस्थों मे से कई एक कहते हैं कि हम गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अनगार (साधु) वृत्ति को धारण करेंगे । कुछ कहते हैं हम तो देशविरति (श्रावक) धर्म को अंगीकार करेंगे । क्योकि साधु वृत्ति का आचरण अत्यन्त कठिन है । हम मे उस के यथावत् पालन करने की शक्ति नहीं है तथा कितने एक भगवान् की भक्ति के कारण जा रहे हैं । कई एक शिष्टाचार की दृष्टि से पहुँच रहे हैं तात्पर्य यह है कि नगर के हर एक छोटे बडे व्यक्ति के हृदय मे भगवान् के दर्शन की लालसा बढी हुई है। तदनुसार नागरिक स्नानादि क्रियाओ से निवृत्त हो, यथाशक्ति वस्त्राभरणादि पहन और सुगन्धित पदार्थो से सुरभित हो कर पृथक् पृथक् यानादि के द्वारा तथा पैदल उद्यान की ओर प्रस्थान कर रहे हैं । उन का मन वीर प्रभु के चरण कमलो का भृंग बनने के लिये आतुर हो रहा है।

पाठक, अभी उस जन्मांध व्यक्ति को भूले न होंगे कि जो मृगाग्राम मे भिक्षावृत्ति के द्वारा अपना जीवन निर्वाह कर रहा है। वह भिक्षार्थ नगर मे घूम रहा है। उद्यान की ओर जाने वाले नागरिकों के उत्साहपूर्ण महान् शब्द को सुन कर उस ने अपने साथी पुरुष को पूछा कि महानुभाव ! क्या आज मृगाग्राम मे कोई इन्द्रमहोत्सव है ? अथवा स्कन्द या रुद्रादि का महोत्सव है ? जो कि ये अनेक उग्र, उग्रपुत्र आदिक नागरिक लोग बडी सजधज से आनन्द म विभोर होते हुए चले जा रहे हैं ?

यहा पर **'जणसद्दं च जाव सुणेता'** इस पाठ मे उल्लिखित **"जाव-यावत्"** पद से औपपातिक सूत्रीय २७ वे सूत्र मे पठित पाठ का प्रारम्भिक अश ग्रहण करना जिस में नगर के उत्साहपूर्ण वातावरण का सुचारु वर्णन हैं ।

"इंदमहे इ वा जाव निग्गच्छति" और **"इंदमहे जाव निग्गए"** इन पाठो के "जाव-यावत्" पद से श्री राजप्रश्नीय उपाग के उत्तरार्धगत १४८ वे सूत्र के प्रारम्भिक पाठ का ग्रहण करना, जिस मे इन्द्रमहोत्सव स्कन्दमहोत्सव, रुद्रमहोत्सव, मुकुन्दमहोत्सव इत्यादि १८ उत्सवों का निर्देश किया गया है तथा वहा उद्यान में जाने वाले नागरिकों की अवस्था का भी बडा सुन्दर चित्र खींचा हैं ।

उस जन्मान्ध व्यक्ति के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए उस के साथ वाले पुरुष ने कहा कि महानुभाव ! ये नागरिक लोगों के झुंड किसी इन्द्र या स्कन्दादि महोत्सव के कारण नहीं जा रहे किन्तु आज इस नगर के बाहर चन्दनपादप उद्यान म श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पधारना हुआ है, ये लोग उन्हों के दर्शनार्थ उद्यान को ओर जा रहे हैं । तब तो हम भी वहा चलेंगे, वहां चलकर हम भी भगवान् की पर्युपासना से अपने आत्मा को पुनीत बनाने का अलभ्य लाभ प्राप्त करेंगे, इस प्रकार उस जन्मान्ध व्यक्ति ने बडी उत्सुकता से अपनी हार्दिक लालसा को अभिव्यक्त किया । तदनन्तर वह अपने साथी पुरुष के साथ

चन्दनपादप उद्यान में पहुंचा और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित हो कर उन्हें सविधि वन्दना नमस्कार कर के उचित स्थान पर बैठ गया।

किसी भी मानवी व्यक्ति के जीवन की कीमत उस के बाहर के आकार पर से नहीं आंकी जा सकती, जीवन का मूल्य तो मानव के हृदयगत विचारों पर निर्भर रहता है। जिन का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा से है। एक परम दरिद्र और कुरूप व्यक्ति के आन्तरिक भाव कितने मलिन अथवा विशुद्ध हैं, इस का अनुमान उस की बाहरी दशा से करना कितनी भ्रान्ति है ?, यह उस जन्मान्ध व्यक्ति के जीवन वृत्तान्त से भली भांति सुनिश्चित हो जाता है जो कि सात्विक भाव से प्रेरित होता हुआ वीर प्रभु की सेवा में उपस्थित हो गया है। और उन की मंगलमय वाणी का लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहा है।

तदनन्तर विजय नरेश और समस्त परिषद् के उचित स्थान पर बैठ जाने पर, धर्म प्रेमी प्रजा की मनोवृत्तिरूप कुमुदिनी के राकेश-चन्द्रमा, धर्मप्राण, जनता के हृदय-कमल के सूर्य, अपनी कैवल्य विभूति से जगत को आलोकित करने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी दिव्य वाणी के द्वारा विश्वकल्याण की भावना से धर्म देशना[1] देना आरम्भ किया। संसार के भव्यात्माओं को निष्कर्म बना देने वाली वीर प्रभु की धर्म देशना को सुन कर तथा उसे हृदय में धारण कर अत्यधिक प्रसन्न चित्त से भगवान् को विधि पूर्वक वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर उपस्थित श्रोतृवर्ग अपने २ स्थान को लौट गया। तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गौतमस्वामी ने उस जन्मांध व्यक्ति को देखा और उन्हों ने भगवान् से पूछा कि भगवन् ! कोई ऐसा व्यक्ति भी है जो कि [2]जन्मांध होने के अतिरिक्त जन्मांधरूप भी हो ? इस का उत्तर भगवान् ने दिया कि हां, गौतम ! ऐसा पुरुष है जो कि जन्मांध और जन्मांधरूप भी है।

"समणे जाव विहरति" इस पाठ के अन्तर्गत "जाव-यावत्" पद से औपपातिक सूत्र के दशवें सूत्र की ओर संकेत किया गया है, उस में वीर भगवान् के समुचित सद्गुणों का बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है।

"तते णं एए जाव निगच्छंति" पाठ के 'जाव-यावत्" पद से औपपातिक सूत्र २७ वें सूत्र का ग्रहण अभीष्ट है। तथा **"भगवं जाव पज्जुवासामो"** में आये हुए "जाव-यावत्" पद से औपपातिक के दशवें सूत्र का ग्रहण करना, तथा **"नमंसित्ता जाव पज्जुवासति'** पाठ के **"जाव-यावत्"** पद से औपपातिक सूत्र के ३२ वें सूत्र के अंतिम अंश का ग्रहण सूचित किया गया है। इसी प्रकार से **'परिसा जाव-पडिगया"** पाठ में उल्लिखित **"जाव-यावत्"** पद औपपातिक के ३५ वें सूत्र का परिचायक है। तथा विजय नरेश के प्रस्थान में जो कूणिक नृप का उदाहरण दिया है उस का वर्णन औपपातिक के ३६ वें सूत्र में है, इसके अतिरिक्त **'इंदभूती णामं अणगारे जाव विरहति"** पाठ में आये हुए "जाव-यावत्" पद से गौतम स्वामी के साधु जीवन का वर्णन करने वाले प्रकरण का निर्देश है, उस का उल्लेख जम्बूस्वामी के वर्णन प्रसंग में कर दिया गया है।

---

(१) भगवान की उस धर्मदेशनारूप सुधा का पान करने की इच्छा रखने वालों को **"औपपातिक सूत्र"** के देशनाधिकार का अवलोकन तथा मनन करने का यत्न करना चाहिये।

(२) जन्मांध का अर्थ है—जो जन्मकाल से अंधा हो, नेत्र ज्योतिहीन हो, और जिस के नेत्रों की उत्पत्ति ही नहीं हो पाई, उसे जन्मांध रूप कहते हैं। दोनों में अन्तर इतना होता है कि जन्मांध के नेत्रों का मात्र आकार होता है, उस में देखने की शक्ति नहीं होती, जब कि जन्मांधरूप के नेत्रों का आकार भी नहीं बनने पाता, इसलिये यह अत्यधिक कुरूप एवं बीभत्स होता है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि वीर प्रभु की धर्म देशना को सुन कर परिषद् वापिस अपने २ स्थान में लौट गई, परन्तु वह जन्माध वृद्ध व्यक्ति अभी तक अपने स्थान से नहीं उठा। ऐसा मालूम होता है कि भगवान् के द्वारा वर्णन किये गये कर्म जन्य सुखों एव दु खों के विपाक पर विचार करते हुए निज की दयनीय दशा का ख्याल करके अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों के भार से भारी हुई अपनी आत्मा को धिक्कार रहा हो। उस समय चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता इन्द्रभूति नामा अनगार ने उसे देखा और देखते ही वे बडे विस्मय को प्राप्त हुए। उन को उस वृद्ध व्यक्ति पर बडी करुणा आई, जिस के फल स्वरूप उन्हों ने भगवान् से प्रश्न किया।

"जायसड्ढे-जातश्रद्ध" यह पद सूचित करता है कि उस जन्माधपुरुष के विषय में गौतमस्वामी ने जो भगवान् से प्रश्न किया है उस में उस व्यक्ति की वर्तमान दयाजनक अवस्था की ही बलवती प्रेरणा है। वस्तुत. महापुरुषों में यही विशेषता होती है कि वे दूसरों के जीवन में उपस्थित होने वाले दु खों को देख कर उन के मूल कारण को ढूढते हैं तथा स्वय अधिक रूप में द्रवित होते हैं, अर्थात् उन का हृदय करुणा से एक दम भर जाता है।

"जायसड्ढे जाव एवं" इस पाठ में दिये गये **"जाव-यावत्"** पद से भगवतीसूत्र १ । १ । ७ । का आंशिक पाठ अभिप्रेत है। जिस की व्याख्या इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों पर की जा चुकी है। प्रस्तुत प्रकरण में जो सशय का अभिप्राय है वह गौतमस्वामी ने स्वय स्पष्ट करदिया है।

कर्मों की विचित्रता से विस्मित हुए गौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से जन्माध और जन्मांधरूप के जानने की इच्छा प्रकट की थी, उस के विषय में भगवान् ने उस का जो अनुरूप उत्तर दिया, अब सूत्रकार उस का उल्लेख करते हुए इस प्रकार कहते हैं।

मूल–[1]एवं खलु गोतमा! इहेव मियग्गामे णगरे विजयस्स पुत्ते मियादेवीए अत्तए मियाउत्ते णामं दारए जातिअंधे जातअंधारूवे णत्थि णं तस्स दारगस्स जाव अगितिमित्ते, तते णं मियादेवी जाव पडिजागरमाणी २ विहरति। तते णं से भगवं गोतमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामि णं भंते!, अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते (समाणे) मियापुत्तं दारयं पासित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! तते णं से भगवं गोतमे समणेणं भगवया अब्भणुण्णाते समाणे हट्ठतुट्ठे समणस्स भगवओ अंतिताओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता अतुरियं जाव सोहेमाणे २ जेणेव मियग्गामे णगरे तेणेव उवागच्छति। उवागच्छित्ता, मियग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं अणुपविस्सइ। अणुप्पविसित्ता जेणेव मियाए देवीए गिहे तेणेव उवागच्छति। तते णं सा मियादेवी भगवं गोतमं एज्जमाणं पासति

(१) छाया–एवं खलु गौतम! इहैव मृगाग्रामे नगरे विजयस्य पुत्र मृगादेव्या आत्मजो मृगापुत्रो नाम दारक जात्यधो जातान्धकरूप, स्तस्तस्य दारकस्य यावदाकृतिमात्र, तत सा मृगादेवी यावत् प्रतिजागरयन्ति २ विहरति। तत स भगवान् गौतम श्रमण भगवन्त महावीर वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत् इच्छामि भदन्त! अह युष्माभिरभ्यनुज्ञातो मृगापुत्र दारक द्रष्टुम। यथासुख देवानुप्रिय!, तत स भगवान् गौतम श्रमणेन भगवताऽभ्यनुज्ञात सन् हृष्टतुष्ट. श्रमणस्य भगवतोऽन्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति,

पासित्ता हट्ठ० जाव एवं वयासी—संदिसतु णं देवाणुप्पिया! किमागमणपयोयणं ? तते णं भगवं गोतमे मियं देवि एवं वयासी—अहएणं देवाणुप्पिए! तव पुत्तं पासित्तुं हव्वमागते, तते णं सा मियादेवी मियापुत्तस्स दारगस्स अणुमग्गजायए चत्तारि पुत्ते सव्वालंकारविभूसिए करेति, करेत्ता भगवतो गोतमस्स पाएसु पाडेति, पाडेत्ता एवं वयासी—एए णं भंते! मम पुत्ते पासह, तते णं से भगवं गोतमे मियं देवि एवं वयासी—नो खलु देवाणुप्पिए! अहं एए तव पुत्ते पासिउं हव्वमागए, तत्थ णं जे से तव जेट्ठे पुत्ते मियापुत्ते दारए जातिअंधे जाव अन्धारूवे जएणं तुमं रहस्सियंमि भूमिघरंसि रहस्सिएणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी २ विहरसि, तं णं अहं पासिउं हव्वमागते। तते णं सा मियादेवी भगवं गोतमं एवं वयासी—से के णं गोतमा! से तहारूवे णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एसमट्ठे मम ताव रहस्सकते तुब्भं हव्वमक्खाते जतो णं तुब्भे जाणह ? ॥

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। खलु—निश्चय से। गोतमा!—हे गौतम!। इहेव—इसी। मियग्गामे णगरे—मृगाग्राम नगर में। विजयस्स पुत्ते—विजय नरेश का पुत्र। मियादेवीए अत्तए—मृगादेवी का आत्मज। मियाउत्ते—मृगापुत्र। णामं—नामक। दारए—बालक, जो कि। जातिअंधे—जन्म से अन्धा तथा जातअंधारूवे—जातान्धकरूप है। तस्स—उस। दारगस्स—शिशु के [हस्त आदि अवयव]। नत्थि—नहीं हैं। जाव—यावत् हस्तादि अवयवों के। आगितिमित्ते—मात्र आकार-चिन्ह हैं। तते ण—तदनन्तर। सा मियादेवी—वह मृगादेवी। जाव—यावत् उस की रक्षा मे। पड़िजागरमाणी—सावधान रहती हुई। विहरति—विहरण कर रही है। तते णं—तदनन्तर। से—उस। भगवं गोतमे—भगवान् गौतम ने। समण—श्रमण। भगवं—भगवान्। महावीरं—महावीर स्वामी को। वंदति—वन्दन किया। नमसति—नमस्कार किया। वदित्ता नमसित्ता—वन्दन तथा नमस्कार करके। एवं—इस प्रकार वे। वयासी—कहने लगे। भंते हे भगवन्!। अहं—मैं। तुब्भेहिं—आप श्री से। अब्भणुण्णाते समाणे—अभ्यनुज्ञात हो कर अर्थात् आप श्री से आज्ञा प्राप्त कर। मियापुत्तं—मृगापुत्र। दारयं—बालक को। पासित्तए—देखना। णं—वाक्यालंकारार्थक है। इच्छामि—चाहता हूँ ? [भगवान् ने कहा]। देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिय!

प्रतिनिष्क्रम्य अत्वरित यावच्छोधमानो २ यत्रैव मृगाग्राम नगरं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य मृगाग्राम नगर मध्यमध्येनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य यत्रैव मृगादेव्या गृह तत्रैवोपागच्छति। तत सा मृगादेवी भगवन्त गौतममायान्त पश्यति, दृष्ट्वा हृष्ट० यावदेवमवदत्—सदिशतु देवानुप्रिय! किमागमनप्रयोजनम् ? ततो भगवान् गौतमो मृगा देवीमेवमवदत्—अह देवानुप्रिये! तव पुत्र द्रष्टु शीघ्रमागत। तत सा मृगादेवी मृगापुत्रस्य दारकस्यानुमार्गजाताश्चतुर पुत्रान् सर्वालकारविभूषितान् करोति, कृत्वा भगवतो गौतमस्य पादयो. पातयति पातयित्वैवमवदत्—एतान् भदन्त! मम पुत्रान् पश्यत तत स भगवान् गौतमो मृगा देवीमेवमवदत्—नो खलु देवानुप्रिये! अहमेतान् तव पुत्रान् द्रष्टु शीघ्रमागत तत्र य स तव ज्येष्ठ पुत्रो मृगापुत्रो दारको जात्यन्धो यावदन्धकरूप., य त्व राहसिके भूमिगृहे राहसिकेन भक्तपानेन प्रतिजागरयन्ती विहरसि, तमह द्रष्टु शीघ्रमागत। तत सा मृगादेवी भगवन्त गौतममेवमवदत्—को गौतम! स तथारूपो ज्ञानी वा तपस्वी वा येन तवैषोऽर्थो मम तावत् रहस्यकृतस्तुभ्य शीघ्रमाख्यातो यतो यूय जानीथ ?।

अर्थात् हे भद्र ! । **अहासुहं**—जैसे तुम को सुख हो। **तते णं**—तदनन्तर । **से भगवं गोतमे**—वह भगवान् गौतम, जो कि । **समणेणं भगवया**—श्रमण भगवान् के द्वारा । **अब्भणुण्णाते समाणे**—अभ्यनुज्ञात–आज्ञा प्राप्त कर चुके हैं, और । **हट्ठतट्ठे**—अति प्रसन्न हैं । **समणस्स**—श्रमण । **भगवओ**—भगवान् के । **अतितातो**—पास से । **पडिनिक्खमइ**—चल दिये । **पडिनिक्खमित्ता**—चल कर । **अतुरियं जाव सोहेमाणे**—अशीघ्रता से यावत् ईर्या-समिति पूर्वक गमन करते हुए । **जेणेव**—जहां । **मियग्गामे णगरे**—मृगाग्राम नगर था । **तेणेव**—उसी स्थान पर । **उवागच्छति**—आते हैं । **उवागच्छित्ता**—आ कर । **मज्झंमज्झेणं**—नगर के मध्यमार्ग से । **मियग्गामं णगरं**—मृगाग्राम नगर में । **अणुपविस्सइ**—प्रवेश करते हैं । **अणुप्पविस्सित्ता**—प्रवेश करके । **जेणेव**—जहां पर । **मियादेवीए**—मृगादेवी का । **गिहे**—घर था । **तेणेव**—उसी स्थान पर । **उवागच्छति**—आते हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—उस मृगादेवी ने । **एज्जमाणं**—आते हुए । **भगवं गोतमं**—भगवान् गौतम स्वामी को । **पासति**—देखा, और वह उन्हें । **पासित्ता**—देख कर । **हट्ठ०**—प्रसन्न हुई । **जाव**—यावत् **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगी । **देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! अर्थात् हे भगवन् ! । **किमागमण-पयोयणं ?**—आप के पधारने क्या प्रयोजन है ? । **संदिसतु**—वह बतलावें । **तते णं**—उस के अनन्तर । **भगवं गोतमे**—भगवान् गौतम । **मियं देविं**—मृगादेवी को । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगे । **देवाणुप्पिए !**—हे देवानुप्रिये ! अर्थात् हे भद्रे ! । **अहं**—मैं । **तव**—तेरे । **पुत्ते**—पुत्र को । **पासित्तुं**—देखने के लिये । **हव्वमागते**—शीघ्र अर्थात् अन्य किसी स्थान पर न जाकर सीधा तुम्हारे घर, आया हूं । **तते णं**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी । **मियापुत्तस्स दारगस्स**—मृगापुत्र बालक के । **अणुमग्गजायए**—पश्चात् उत्पन्न हुए । **चत्तारि पुत्ते**—चार पुत्रों को । **सव्वालंकारविभूसिए**—सर्व अलंकारों से विभूषित । **करेति**—करती है । **करेत्ता**—कर के । **भगवतो गोतमस्स**—भगवान् गौतम स्वामी के । **पाएसु**—चरणों में । **पाडेति**—डालती है । **पाडेत्ता**—नमस्कार कराने के पश्चात् वह । **एवं वयासी**—इस प्रकार बोली । **भंते !**—हे भगवन् ! । **एए णं**—इन । **मम पुत्ते**—मेरे पुत्रों को । **पासह**—देख लें । **तते णं**—तदनन्तर । **भगवं गोतमे**—भगवान् गौतम ने । **मियं देविं**—मृगादेवी को । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा । **देवाणुप्पिए !**—हे देवानुप्रिये ! । **अहं**—मैं । **एए तव पुत्ते**—तेरे इन पुत्रों को । **पासित्तु**—देखने के लिये । **नो हव्वमागए**—शीघ्र नहीं आया हूं किन्तु । **तत्थ णं**—इन में । **जे से तव जेट्ठे पुत्ते**—तुम्हारा वह ज्येष्ठ पुत्र जो कि । **जातिअंधे**—जन्म से अन्धा । **जाव अंधारूवे**—यावत् अंधरूप है, और जो । **मियापुत्ते दारए**—मृगापुत्र के नाम का बालक है, तथा । **जण्णं तुमं**—जिस को तू । **रहस्सियंसि भूमिघरंसि**—एकान्त के भूमिगृह (भोरे) में । **रहस्सियएणं भत्तपाणेणं**—गुप्तरूप से खान पान आदि के द्वारा **पडिजागरमाणी विहरसि**—पालन पोषण में सावधान रह रही है । **तं णं**—उस को । **अहं**—मैं । **पासित्तु**—देखने के लिये । **हव्वमागते**—शीघ्र आया हूं । **तते णं**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी । **भगवं गोतमं**—भगवान् गौतम स्वामी के प्रति । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगी । [1] **गोतमा !**—

---

(१) "**संदिसन्तु णं देवाणुप्पिया !**–" तथा "–**एए णं भंते ! मम पुत्ते**" इत्यादि पाठों में मृगादेवी ने भगवान् गौतम को देवानुप्रिय या भदन्त के सम्बोधन से सम्बोधित किया है, परन्तु इस पाठ में उस ने "**गोतमा !**" इस सम्बोधन से उन्हें पुकारा है, ऐसा क्यों ? गुरुओं को उन्हीं के नाम से पुकारना कहां की शिष्टता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां मृगादेवी को शिष्टता से सन्देह वाली कोई बात प्रतीत नहीं

हे गौतम ! । से के णं—वह कौन । तहारूवे -तथारूप—ऐसे । णाणी—ज्ञानी । तवस्सी वा—अथवा तपस्वी हैं। जेण —जिस ने । तव एसमट्ठे—आपको यह बात, जो कि । मम ताव रहस्सकते—मैंने गुप्त रक्खी थी । तुब्भ हव्वं.क्खाते—तुम्हे शीघ्र ही बतलादी । जतो णं—जिस से कि । तुब्भे जाणह तुम ने उसे जान लिया ।

मूलार्थ हे गौतम ! इसी मृगाग्राम नामक नगर में विजय नामक क्षत्रिय राजा का पुत्र मृगादेवी का आत्मज मृगापुत्र नामक बालक है जो कि जन्म काल से अंधा और जन्मांधकरूप है, उस के हाथ, पांव नेत्र आदि अंगोपांग भी नहीं हैं, केवल उन अंगोपांगों के आकार-चिन्ह ही हैं। महाराणी मृगादेवी उस का पालन पोषण बड़ी सावधानी के साथ कर रही हैं। तदनन्तर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में वंदना नमस्कार कर के उन से प्रार्थना की, कि भगवन् ! आप की आज्ञा से मैं मृगापुत्र को देखना चाहता हूँ ?, इस के उत्तर में भगवान् ने कहा कि गौतम ! जैसे तुम्हें सुख हो [वैसा करो, इस में हमारी तर्फ से कोई प्रतिबन्ध नहीं है] । अब श्रमण भगवान् द्वारा आज्ञा प्राप्त कर प्रसन्न हुए गौतम स्वामी भगवान् के पास से मृगापुत्र को देखने चले[१] । ईर्यासमिति (विवेक पूर्वक चलना) का यथाविधि पालन करते हुए भगवान् गौतम स्वामी ने नगर के मध्यभाग से नगर में प्रवेश किया । जिस स्थान पर मृगादेवी का घर था, वे वहां पर पहुँच गये । तदनन्तर मृगादेवी ने गौतम स्वामी को आते हुए देखा और देख कर प्रसन्न-चित्त से नतमस्तक होकर उन से इस प्रकार निवेदन किया—हे देवानुप्रिय ! अर्थात् हे भगवन् ! आप के आगमन का क्या प्रयोजन है ? अर्थात् आप किस-प्रयोजन के लिये यहां पर पधारे हैं ? उत्तर में भगवान् गौतम स्वामी ने मृगादेवी से कहा—हे देवानप्रिये !, अर्थात् हे भद्रे !, मैं तुम्हारे पुत्र को देखने के लिये ही आया हूँ। तब मृगादेवी ने मृगापुत्र के पश्चात् उत्पन्न हुए २ पुत्रों को वस्त्राभूषणादि से अलंकृत कर भगवान् गौतम के चरणों में डाल कर निवेदन किया कि भगवन् ! ये मेरे पुत्र हैं इन को आप देख लीजिए । यह सुन कर भगवान् गौतम मृगादेवी से बोले—हे देवानुप्रिये ! मैं तुम्हारे इन पुत्रों को देखने के लिये यहां पर नहीं आया हूँ, किन्तु तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र मृगापुत्र जो जन्मांध और जन्मांधकरूप है, तथा जिस को तुम ने एकांत के भूमिगृह में रक्खा हुआ है एवं जिस का तुम गुप्तरूप से सावधानता-पूर्वक खान पान आदि के द्वारा पालन पोषण कर रही हो, उसे देखने के लिये आया हूँ । यह सुन कर मृगादेवी ने भगवान् गौतम से (आश्चर्य—चकित हो कर) निवेदन किया—भगवन् ! वह ऐसा ज्ञानी अथवा तपस्वी कौन है ? जिस ने मेरी इस रहस्य—पूर्ण गुप्त वार्ता को आप से

होती परन्तु अपने अत्यन्त गुप्त रहस्य के प्रकाश में आ जाने से मृगादेवी हक्की बक्की सी रह गई, जिस के कारण उस के मुख से सहसा "गोतमा !" ऐसा निकल गया है, जो सम्भ्रान्त दशा के कारण शिष्टता का घातक नहीं कहा जा सकता। हृदयगत चंचलता में यह सब कुछ सम्भव होता है।

(१) प्रश्न चरम-तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी सर्वज्ञ थे, सर्वदर्शी थे, उन की ज्ञान ज्योति से कोई पदार्थ ओझल नहीं था। यही कारण है कि उन की वाणी में किसी प्रकार की विषमता नहीं होती थी, वह पूर्णरूपेण यथार्थ ही रहती थी । परन्तु अनगार गौतम मृगापुत्र को स्वयं अपनी आंखों से देखने जा रहे हैं जब कि भगवान् से उस का समस्त वृत्तान्त सुन लिया जा चुका है । क्या यह भगवद्—वाणी पर अविश्वास नहीं ? ।

कहा, जिस से आप ने उस गुप्त रहस्य को जाना है ।

टीका—भगवन् ! अन्धकरूप [जिस के नेत्रों की उत्पत्ति भी नहीं हो पाई] में जन्मा हुआ वह पुरुष कहां है ? गौतम स्वामी ने बड़ी नम्रता से प्रभु वीर के पवित्र चरणों में निवेदन किया। गौतम ! इसी मृगाग्राम नगर में मृगादेवी की कुक्षि से उत्पन्न विजयनरेश का पुत्र मृगापुत्र नाम का बालक है, जो कि अन्धकरूप में ही जन्म को प्राप्त हुआ है, अतएव जन्मान्ध है, तथा जिसके हाथ, पैर, नाक, आंख और कान भी नहीं हैं, केवल उन के आकार-चिन्ह ही हैं। उस की माता मृगादेवी उसे एक गुप्त भूमिगृह में रख कर गुप्तरूप से ही खान पान पहुँचाकर उन का संरक्षण कर रही है । भगवान् ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, जिसकी यथार्थता में किसी भी प्रकार के सन्देह को अवकाश नहीं है।

"दारगस्स जाव आगितिमित्ते" तथा **"मियादेवी जाव पडिजागरमाणी"** इन दोनों स्थलों में पढ़े गये **"जाव-यावत्"** पद से पूर्व पठित आगम-पाठ का ग्रहण करना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है।

"जाति-अन्धे" और **"जायअन्धारूवे"** इन दोनों पदों के अर्थ-विभेद पर प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री अभयदेव सूरि जी इस प्रकार लिखते हैं—

"जाति-अन्धे" त्ति—जातेरारभ्यान्धो जात्यन्धः स च चक्षुरुपघातादपि भवतीत्यत आह—'जाय-अंधारूवे' त्ति जातमुत्पन्नमन्धकं नयनयोरादित एवानिष्पत्तेः कुत्सिताङ्गं रूपं-स्वरूपं यस्यासौ जातान्धकरूपः"—तात्पर्य यह है कि **"जात्यन्ध"** और **"जातान्धकरूप"** इन दोनों पदों में प्रथम पद से तो जन्मान्ध अर्थात् जन्म से लेकर होने वाला अन्धा यह अर्थ विवक्षित है, और दूसरे में यह अर्थ अभिप्रेत है कि जो किसी बाह्यनिमित्त से अन्धा न हुआ हो किन्तु प्रारम्भ से ही जिसके नेत्रों की निष्पत्ति-उत्पत्ति नहीं हो पाई

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, भगवान् गौतम ने जब भी भगवान् महावीर से कोई पृच्छा की है तो उस में मात्र जनहित की भावना ही प्रधान रही है। उन के प्रश्न सर्वजनहिताय एवं सुखाय ही होते थे अन्यथा उपयोग लगाने पर स्वयं जान सकने की शक्ति के धनी होते हुए भी वे भगवान् से ही क्यों पूछते हैं ? उत्तर स्पष्ट है, भगवान् से पूछने में उन का यही हार्द है कि दूसरे लोग भी प्रभु-वाणी का लाभ ले लें—अन्य भावुक व्यक्ति भी जीवन को समुज्ज्वल बनाने में अग्रेसर हो सकें, सारांश यह है कि भगवान् की वाणी से सर्वतोमुखी लाभ लेने का उद्देश्य ही अनगार गौतम की पृच्छा में प्रधानतया कारण हुआ रहा है।

प्रस्तुत प्रकरण में भी उसी सद्भावना का परिचय मिल रहा है । यदि अनगार गौतम मृगापुत्र को देखने न जाते तो अधिक संभव था कि मृगापुत्र के अतीत और अनागत जीवन का इतना विशिष्ट ऊहापोह (सोच विचार) न हो पाता और नाही मृगापुत्र का जीवन आज के पापी मानव के लिये पापनिवृत्ति में सहायक बनता। यह इसी पृच्छा का फल है कि आज भी यह मृगापुत्र का जीवन मानवदेहधारी दानव को अशुभ कर्मों के भीषण परिणाम दिखाकर उन से निवृत्त करा कर मानव बनाने में निमित्त बन रहा है, एवं इसी पृच्छा के बल पर प्रस्तुत जीवन की विचित्र घटनाओं से प्रभावित होकर अनेकानेक नर नारियों ने अपने अन्धकार- पूर्ण भविष्य को समुज्ज्वल बना कर मोक्ष पथ प्राप्त किया है और भविष्य में करते रहेंगे।

भगवान् गौतम की किसी भी पृच्छा में अविश्वास को कोई स्थान नहीं। वे तो प्रभु वीर के परम श्रद्धालु, परम सुविनीत, आज्ञाकारी शिष्यरत्न थे। उन में अविश्वास का ध्यान भी करना उन को समझने में भूल करना है।

जन्मान्ध तो जन्मकाल से किसी निमित्त द्वारा चक्षु के उपघात हो जाने पर भी कहा जा सकता है अर्थात् ऐसे व्यक्ति को भी जन्मांध कह सकते हैं जिस के नेत्र जन्मकाल में नष्ट हो गये हों, परन्तु जातान्धकरूप उसे कहते हैं कि जिसके जन्मकाल से ही नेत्रों का असद्भाव हो—नेत्र न हों। यही इन पदों में अर्थ विभेद है जिसके कारण सूत्रकार ने इन दोनों का पृथक् २ ग्रहण किया है।

तदनन्तर अज्ञानान्धकाररूप पातक समूह को दूर करने में दिवाकर (सूर्य) के समान श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को विधि पूर्वक वन्दना नमस्कार कर भगवान् गौतम स्वामी ने उनसे सविनय निवेदन किया कि भगवन् ! यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं उस मृगापुत्र नामक बालक को देखना चाहता हूँ ? ।

"तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते" इस पद में गौतम स्वामी की विनीतता की प्रत्यक्ष झलक है जो कि शिष्योचित सद्गुणों के भव्यप्रसाद की मूल भित्ति है। हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम को सुख हो, यह था प्रभु महावीर की तर्फ से दिया गया उत्तर। इस उत्तर में भगवान् ने गौतम स्वामी को जिगमिषा (जाने की इच्छा) को किसी भी प्रकार का व्याघात न पहुँचाते हुए सारा उत्तरदायित्व उन के ही ऊपर डाल दिया है, और अपनी स्वतन्त्रता को भी सर्वथा सुरक्षित रक्खा है।

तदनन्तर जन्मान्ध और हुण्डरूप मृगापुत्र को देखने की इच्छा से सानन्द आज्ञा प्राप्तकर शान्त तथा हर्षित अन्तःकरण से श्री गौतम अनगार भगवान् महावीर स्वामी के पास से अर्थात् चन्दन पादपोद्यान से निकल कर ईर्यासमिति का पालन करते हुए मृगाग्राम नामक नगर की ओर चल पड़े।

यहां पर गौतम स्वामी के गमन के सम्बन्ध में सूत्रकार ने **'अतुरियं जाव सोहेमाणे—अत्वरित यावत् शोधमानः'** यह उल्लेख किया है। इस का तात्पर्य यह है कि मृगापुत्र को देखने की उत्कण्ठा होने पर भी उन की मानसिक वृत्ति अथच चेष्टा और ईर्यासमिति आदि साधुजनोचित आचार में किसी प्रकार का अन्तर[1] नहीं आने पाया। वे बड़ी मन्दगति से चल रहे हैं, इस में कारण यह है कि उन का मन स्थिर है—मानसिक वृत्ति में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है। वे असम्भ्रान्त रूप से जा रहे हैं अर्थात् उन की गमन क्रिया में किसी प्रकार की व्यग्रता दिखाई नहीं देती, क्योंकि उन में कायिक चपलता का अभाव है। इसी लिये वे युगप्रमाण भूत भूभाग के मध्य ईर्यासमिति पूर्वक (सम्यक्तया अवलोकन करते हुए) गमन करते हैं। यह सब अर्थ **"जाव"-यावत्"** शब्द से सगृहीत हुआ है **"सोहेमाणे—शोधमानः"** का अर्थ है युग—(साढ़े तीन हाथ) प्रमाण भूमि को देख कर विवेकपूर्वक चलना। इस में सन्देह नहीं कि महापुरुषों का गमन भी सामान्य पुरुषों के गमन से विलक्षण अथच आदर्श रूप होता है। वे इतनी सावधानी से चलते हैं कि मार्ग में पड़े हुए किसी क्षुद्रजीव को हानि पहुँचने नहीं पाती, फिर भी वे स्थान पर आकर उसकी आलोचना करते हैं यह उनकी महानता है, एवं शिष्यसमुदाय को अपने कर्तव्यपालन की ओर आदर्श प्रेरणा है।

तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी मृगाग्राम नगर के मध्य में से होते हुए मृगादेवी के घर में पहुंचे तथा उन को आते देख मृगादेवी ने बड़ी प्रसन्नता से उन का विधिपूर्वक स्वागत किया और पधारने का प्रयोजन पूछा।

---

(१) यावत्—करणादिदं दृश्यम् अचवलमसंभंते जुगंतर—पलोयणाए दिट्ठीए पुरओ रियं—त्वराचपल-कायचापल्यभावात्, क्रियाविशेषणे चैते तथा असम्भ्रान्तो भ्रम-रहित, युगं यूपस्तत्प्रमाणो भूभागोऽपि युगं तस्यान्तरे मध्ये प्रलोकनं यस्या. सा तथा तया दृष्ट्या-चक्षुषा "रियं" इति ईर्या गमनं तद्विषयो मार्गोऽपीर्याऽतस्ताम् ।

"पासित्ता हट्ठ० जाव वयासी" इस पाठ मे उल्लेख किय गये "जाव-यावत्" पद मे भगवती-सूत्रीय १५ वे शतक के निम्नलिखित पाठ के ग्रहण करने की ओर सकेत किया गया है—

..हट्ठतट्ठचित्तमाणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाणहियया खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ गोयमं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ २ तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति करित्ता वंदित्ता णमंसित्ता .　।

साराश यह है कि महाराणी मृगावती अपने घर की ओर आते हुए भगवान् गौतम स्वामी को देख कर अधिक हर्षित हुई, तथा प्रसन्न चित्त से शीघ्र ही आसन पर से उठ कर सात आठ कदम आगे गई, और उन को दाहिनी तर्फ मे तीन वार प्रदक्षिणा दे कर वन्दना तथा नमस्कार करती है, वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर विनयपूर्वक उन से पूछती हैं कि भगवन्! फर्माइये आप ने किस निमित्त से यहा पर पधारने की कृपा की है? ।

महाराणी मृगादेवी का गौतम स्वामी के प्रति आगमन–प्रयोजन–विषयक प्रश्न नितरा समुचित एव बुद्धिगम्य है, कारण कि आगमन विषयक अवगति-ज्ञान होने के अनन्तर ही वह उन की इच्छित वस्तु देने मे समर्थ हो सकेगी तथा उपकरण आदिक वस्तु का दान भी प्रयोजन के अन्तगत ही होता है, इस लिये महाराणी मृगादेवी की पृच्छा को किसी प्रकार से असघटित नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वह युक्तियुक्त एव स्वाभाविक है

प्रयोजन-विषयक प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी ने अपने आगमन का प्रयोजन बतलाते हुए कहा कि—देवि! मै केवल तुम्हारे पुत्र को देखने के लिये यहा आया हूँ। यह सुन मृगादेवी ने अपने चारो पुत्रो को जो कि मृगापुत्र के पश्चात् जन्मे हुए थे—वस्त्र भूषणादि मे अलकृत कर के गौतम स्वामी की सेवा मे उपस्थित करते हुए कहा कि भगवन्! ये मेरे पुत्र हैं, इन्हे आप देख लीजिये मृगादेवी के सुन्दर और समलकृत उन चारो पुत्रो को अपने चरणो में झुके हुए देखकर गौतम स्वामी बोले—महाभागे! मै तुम्हारे इन पुत्रो को देखने की इच्छा से यहा पर नहीं आया, किन्तु तुम्हारे मृगापुत्र नाम के ज्येष्ठ पुत्र—जो कि जन्मकाल से ही अन्धा तथा पगुला है और जिस को तुमने एक गुप्त भूमिगृह मे रक्खा हुआ है तथा जिस का गुप्तरूप मे तुम पालन पोषण कर रही हो—को देखने के लिये मैं यहा आया हूँ। गौतम स्वामी को इस अश्रुतपूर्व विस्मयजनक वाणी सुनकर मृगादेवी एकदम अवाक् सी रह गई! उस ने आश्चर्यान्वित होकर गौतम स्वामी से कहा कि भगवन्! इस गुप्तरहस्य का आप को कैसे पता चला? वह ऐसा कौन सा अतिशय ज्ञानी या तपस्वी है जिस ने आप के सामने इस गुप्तरहस्य का उद्घाटन किया? इस वृत्तान्त को तो मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं जानता, परन्तु आपने उसे कैसे जाना? मृगादेवी का गौतम स्वामी के कथन से विस्मित एव आश्चर्यान्वित होना कोई अस्वाभाविक नहीं? यदि कोई व्यक्ति अपने किसी अन्तरग वृत्तान्त को सर्वथा गुप्त रखना चाहता हो, और वह अधिक समय तक गुप्त भी रहा हो, एव उसे सर्वथा गुप्त रखने का वह भरसक प्रयत्न भी कर रहा हो, ऐसी अवस्था मे अकस्मात् ही कोई अपरिचित व्यक्ति उस रहस्यमयी गुप्त घटना को यथावत् रूपेण प्रकाश मे ले आवे तो सुनने वाले को अवश्य ही आश्चर्य होगा? वह सहसा चौक उठेगा, बस यही दशा उस समय मृगादेवी की हुई! वह एकदम सम्भ्रान्त और चकित सी हो गई? इसी के फलस्वरूप उस ने गौतम स्वामी के विषय मे "भन्ते!" की जगह "गोतमा!" ऐसा सम्बोधन कर दिया।

जातिअधे जाव अंधारूवे' में पठित "जाव-यावत्" पद से "जातिमूए, जातिवहिरे, जातिपगुले" इत्यादि पूर्व प्रतिपादित पदो का ग्रहण करना जो कि मृगापुत्र के विशेषण रूप है। तथा 'इच्छमाणए"

इस वाक्य में उल्लेख किये गये "हव्व" पद का आचार्य अभयदेवसूरि शीघ्र अर्थ करते हैं जैसे कि— "हव्व ति शीघ्रम्"। परन्तु उपासक—दशांग की व्याख्या में श्रद्धेय श्री घासी लाल जी महाराज ने उस का "अकस्मात्" अर्थ किया है और लिखा है कि मगध देश में आज भी 'हव्व-हव्य" शब्द अकस्मात् (अचानक) अर्थ में प्रसिद्ध है। हव्यम्—अकस्मात्, हव्यमित्ययं शब्दोऽद्यापि मागधे अकस्मादर्थे प्रसिद्धः। (पृष्ठ ११४)।

स्वकीय गुप्त वृत्तान्त को श्री गौतमस्वामी द्वारा उद्घाटित हो जाने से चकित हुई मृगादेवी का गौतम स्वामी से किसी अतिशय ज्ञानी वा तपस्वी सम्बन्धी प्रश्न भी रहस्य पूर्ण है। नितान्त गुप्त अथवा अन्तःकरण में रही हुई बात को यथार्थ रूप में प्रकट करना, विशिष्ट ज्ञान पर ही निर्भर करता है, विशिष्ट ज्ञान के धारक मुनिजनों के बिना—जिन की आत्मज्योति विशिष्ट प्रकार के आवरणों से अनाच्छन्न होकर पूर्णरूपेण विकास को प्राप्त कर चुकी हो—दूसरा कोई व्यक्ति अन्तःकरण में छिपी हुई बात को प्रकट नहीं कर सकता। अत एव मृगादेवी ने भगवान् गौतम से जो कुछ पूछा है उसमें यही भाव छिपा हुआ है।

मृगादेवी के उक्त प्रश्न का गौतमस्वामी ने जो उत्तर दिया अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तते णं भगवं गोतमे मियं देविं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए! मम धम्मायरिए समणे भगवं जाव, ततो णं अहं जाणामि। जावं च णं मियादेवी भगवया गोतमेणं सद्धिं एयमट्ठं संलवति ताव च णं मियापुत्तस्स दारगस्स भत्तवेला जाया**

(१) छाया—ततो भगवान् गौतमो मृगा देवीमेवमवदत्—एवं खलु देवानुप्रिये! मम धर्माचार्यः श्रमणो भगवान् यावत् ततोऽहं जानामि। यावच्च मृगादेवी भगवता गौतमेन सार्द्धमेतमर्थं संलपति तावच्च मृगापुत्रस्य दारकस्य भक्तवेला जाता चाप्यभवत्। ततः सा मृगादेवी भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—यूयं भदन्त! इहैव तिष्ठत, यावदहं युष्मभ्यं मृगापुत्रं दारकमुपदर्शयामि, इति कृत्वा यत्रैव भक्तपानगृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य वस्त्रपरिवर्तं करोति, कृत्वा काष्ठशकटिकां गृह्णाति, गृहीत्वा विपुलेनाशनपानखादिमस्वादिम्ना भरति भृत्वा तां काष्ठशकटिकामनुकर्षन्ती २ यत्रैव भगवान् गौतमस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य भगवन्तं गौतममेवमवदत्—एत यूयं भदन्त! मामनुगच्छत, यावदहं युष्मभ्यं मृगापुत्रं दारकमुपदर्शयामि। ततः स गौतमो मृगादेवीं पृष्ठतः समनुगच्छति। ततः सा मृगादेवी तां काष्ठशकटिकामनुकर्षन्ती २ यत्रैव भूमिगृहं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य चतुष्पुटेन वस्त्रेण मुखं बध्नाति भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—यूयमपि च भदन्त! मुखपोतिकया मुखं बध्नीत। ततो भगवान् गौतमो मृगादेव्या एवमुक्तः सन् मुखपोतिकया मुखं बध्नाति। ततः सा मृगादेवी पराङ्मुखी भूमिगृहस्य द्वारं विघाटयति। ततो गन्धो निर्गच्छति। स यथा नामाहिमृतकस्य वा यावत् ततोऽपि चानिष्टतरश्चैव यावद् गन्धः प्रज्ञप्तः।

(२) प्रश्न—घर आदि में अकेली स्त्री के साथ खड़ा होना और उस के साथ संलाप करना शास्त्रों में निषिद्ध* है। प्रस्तुत कथासदर्भ में राजकुमार मृगापुत्र को देखने के निमित्त गये भगवान गौतम स्वामी का महारानी मृगादेवी से वार्तालाप करने का वृत्तान्त स्पष्ट ही है। क्या यह शास्त्रीय मर्यादा की उपेक्षा नहीं?

* समरेसु अगारेसु, सन्धीसु य महापहे। एगो एगत्थिए सद्धिं, नेव चिट्ठे न संलवे ॥२६॥
(उत्तराध्ययन—सूत्र, अ० १)

यावि होत्था । तते णं सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी—तुब्भे णं भंते ! इह चेव चिट्ठह जा णं अहं तुब्भं मियापुत्तं दारयं उवदंसेमि त्ति कट्टु जेणेव भत्तपाण-घरए तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता वत्थपरियट्टं करेति, करेत्ता कट्ठ—सगडियं गेण्हति २ विपुलस्स असणपाण—खातिम-सातिमस्स भरेति २ तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी २ जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छति २ भगवं गोतमं एवं वयासी—एह णं तुब्भे भंते! ममं [मए सद्धि] अणुगच्छह जा णं अहं तुब्भं मियापुत्त दारयं उवदंसेमि। तते णं से भगवं गोतमे मियं देवि पिट्ठओ समणुगच्छति। तते णं सा मियादेवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी २ जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छति २ चउप्पुडेणं वत्थेणं मुह बंधमाणी भगवं गोतमं एव वयासी—तुब्भे वि य णं भंते ! [1]मुहपोत्तियाए मुहं बन्धह। तते णं भगवं गोतमे मियादेवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बधति । तते णं सा मियादेवी परंमुही भूमीघरस्स दुवारं विहाडेति। तते णं गंधो निग्गच्छति । से जहा नामए अहिमडे इ वा जाव ततो वि य ण अणिट्ठतराए चेव जाव गंधे पण्णत्ते ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । **भगवं गोतमे**—भगवान् गौतम स्वामी ने । **मियं देविं**—मृगादेवी को। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा। **देवाणुप्पिए**!—हे देवानुप्रिये! अर्थात् हे भद्रे!।

उत्तर—शास्त्रों में व्यवहार पाच प्रकार के कहे गये हैं। (१) आगम, (२) श्रुत, (३ आज्ञा (४) धारणा और (५) जीत । मोक्षाभिलाषी आत्मा की प्रवृत्ति का नाम व्यवहार है । केवल-ज्ञानी, मन-पर्याय-ज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी दशपूर्वी और नवपूर्वी की प्रवृत्ति को आगम व्यवहार कहा गया है आगम—व्यवहारी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसारी होते हैं। इन पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है । आगम व्यवहार के अभाव मे शास्त्रों के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले श्रुत व्यवहारी होते हैं । इनके लिये मात्र शास्त्रीय मर्यादा ही मार्ग-दर्शिका होती है । जहा शास्त्र मौन है, वहा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसारी गुरु आदि द्वारा दिया गया आदेश आज्ञा-व्यवहार है। आज्ञा-व्यवहारी को गुरु चरणों द्वारा सम्प्राप्त आज्ञा का ही अनुसरण करना होता है। आज्ञा व्यवहार की अनुपस्थिति में गुरु परम्परा मे चलित व्यवहार का नाम धारणा व्यवहार है । धारणा व्यवहारी को पूर्वजों की धारणा के अनुसार ही प्रवृत्ति करनी पडती है। द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और सहनन आदि का विचार कर गीतार्थ मुनियों द्वारा निर्धारित व्यवहार जीत व्यवहार होता है, जीत व्यवहारी के लिये अतीत समाचारी मान्य होने पर भी वर्तमान सघसमाचारी का पालन करना आवश्यक होता है ।

भगवान गौतम आगम व्यवहारी थे । आगमव्यवहारियों पर श्रुत व्यवहार लागू नहीं होता । अत भगवान गौतम का महारानी मृगादेवी से किया गया सलाप आदिक व्यवहार शास्त्र विरुद्ध नहीं है ।

(१) मुखपोतिका—मुखप्रोञ्छनिका, रज —प्रस्वेदादि—प्रोञ्छनार्थं यद् वस्त्रखण्ड हस्तेध्रियते सा मुखप्रोञ्छनिकेत्युच्यते ।

मम धम्मायरिए—मेरे धर्माचार्य (गुरुदेव) । **समणे भगवं जाव**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं । **ततो णं**—उन से । **अहं जाणामि**—मैं जानता हूं, अर्थात् प्रभु महावीर स्वामी ने मुझे यह रहस्य बताया है । **जावं च णं**—जिस समय । **मियादेवी**—मृगादेवी । **भगवया गोतमेणं**—भगवान् गौतम के । **सद्धिं**—साथ । **एयमट्ठं**—इस विषय में । **संलवति**—सलाप-सभाषण कर रही थी । **तावं च णं**—उसी समय । **मियापुत्तस्स**—मृगापुत्र । **दारगस्स**—बालक का । **भत्त- वेला**—भोजन समय । **जाया यावि होत्था**—भी हो गया था । **तते णं**—तब । **सा मियादेवी**—उस मृगादेवी ने । **भगवं गोयमं**—भगवन् गौतम स्वामी के प्रति । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहा । **भन्ते !**—हे भदन्त ! अर्थात् हे भगवन् ! । **तुब्भे णं**—आप । **इह चेव**—यहां पर । **चिट्ठह**—ठहरें । **जा णं**—जब तक । **अहं**—मैं । **तुब्भं**—आप को । **मियापुत्तं**—मृगापुत्र । **दारयं**—बालक को । **उवदंसेमि त्ति**—दिखलाती हूं, ऐसे । **कट्टु**—कह कर । **जेणेव**—जहां पर । **भत्तपाणघरए**—भोजनालय —भोजन बनाने का स्थान, था । **तेणेव**—वहां पर । **उवागच्छति**—आती है । **उवागच्छित्ता**—आ कर । **वत्थपरियट्टं**—वस्त्र परिवर्तन । **करेति**—करती है । **करेत्ता**—वस्त्रपरिवर्तन कर के । **कट्ठसगडियं**—काठ की गाडी को । **गेण्हति**—ग्रहण करती है, ग्रहण कर के । **विपुलस्स**—अधिक मात्रा में । **असण-पाण-खातिम-सातिमस्स**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम से । **भरेति २**—उसे भरती है, भर कर । **तं कट्ठसगडियं**—उस काष्ठ—शकटी को । **अणुकड्ढमाणी**—खेंचती हुई । **जेणेव**—जहां पर । **भगवं गोतमे**—भगवान् गौतम थे । **तेणेव**—वहीं पर । **उवागच्छति २**—आती है, आ कर । **भगवं**—भगवान् । **गोतमं**—गौतम स्वामी के प्रति । **एवं वयासी**—इस प्रकार बोली । **भंते !**—हे भदन्त ! । **एह णं तुब्भे**—आप पधारें, अर्थात् । **ममं अणुगच्छह**—मेरे पीछे २ चलें । **जा णं**—यावत् । **अहं तुब्भं**—मैं आप को । **मियापुत्तं दारगं**—मृगापुत्र बालक को । **उवदंसेमि**—दिखलाती हूं । **तते णं**—तत्पश्चात् । **से भगवं गोतमे**—वे भगवान् गौतम । **मियं देविं पिट्ठओ**—मृगादेवी के पीछे । **समणुगच्छति**—चलने लगे **तते णं**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी । **तं कट्ठसगडियं**—उस काष्ठ—शकटी को । **अणुकड्ढमाणी**—खेंचती हुई । **जेणेव भूमिघरे**—जहां पर भूमि-गृह था । **तेणेव**—वहां पर । **उवागच्छति २**—आती है, आकर । **चउप्पुडेण वत्थेणं**—चार पुट वाले वस्त्र से । **मुहं बंधमाणी**—मुख को बांधती हुई—अर्थात् नाक बांधती हुई । **भगवं**—भगवान् । **गोतमं**—गौतम स्वामी को । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगी । **भंते !**—हे भगवन् ! । **तुब्भे वि य णं**—आप भी । **मुहपोत्तियाए**—मुख के वस्त्र से । **मुहं**—मुख को अर्थात् नाक को । **बंधह**—बांध ले । **तते णं**—तब । **मियादेवीए**—मृगादेवी के । **एवं**—इस प्रकार । **वुत्ते समाणे**—कहे जाने पर । **भगवं गोतमे**—भगवान् गौतम । **मुहपोत्तियाए मुहं बन्धति**—मुख के वस्त्र के द्वारा मुख को—नाक को बान्ध लेते हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी । **परंमुही**—पराङ्मुख हुई २ । **भूमिघरस्स दुवारं**—भूमीगृह के दरवाजे को । **विहाडेति**—खोलती है । **ततो णं गंधो निग्गच्छति**—उस में गन्ध निकलती है । [1]**से**—वह-गन्ध । **जहा**—जैसे । **नामए**—वाक्यालङ्कारार्थक है । **अहिमडे इ वा जाव**—यावत् मरे हुए सर्प की दुर्गन्ध होती है । **ततो वि य णं**—उस से भी । **अणिट्ठतराए चेव**—अधिक अनिष्ट (अवाञ्छनीय) । **जाव**—यावत् । **गंधे पण्णत्ते**—गन्ध थी ।

---

(१) "से जहा नामए" त्ति तद्यथा नामेति वाक्यालङ्कारे । (वृत्तिकार)

मूलार्थ—तब भगवान् गौतम स्वामी ने मृगादेवी को कहा —हे देवानुप्रिये ? अर्थात् हे भद्रे ! इस बालक का वृत्तान्त मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने मेरे को कहा था, इसलिये मैं जानता हूं । जिस समय मृगादेवी भगवान् गौतम के साथ सलाप-सभाषण कर रही थी उसी समय मृगापुत्र बालक के भोजन का समय हो गया था । तब मृगादेवी ने भगवान् गौतम स्वामी ने निवेदन किया कि हे भगवन् ! आप यहीं ठहरे, मैं आप को मृगापुत्र बालक को दिखलाती हूं इतना कहकर वह जिस स्थान पर भोजनालय था वहा आती है आकर प्रथम वस्त्र परिवर्तन करती है-वस्त्र बदलती है, वस्त्र बदल कर काष्ठशकटी-काठ की गाडी को ग्रहण करती है, तथा उस में अशन, पान, खादिम और स्वादिम को अधिक मात्रा में भरती है तदनन्तर उस काष्टशकटी को खेंचती हुई जहा भगवान् गौतम स्वामी थे वहा आती है आकर उसने भगवान् गौतम स्वामी से कहा भगवन् ! आप मेरे पीछे आए मैं आप श्री को मृगापुत्र बालक को दिखलाती हूं । तब भगवान् गौतम मृगादेवी के पीछे २ चलने लगे । तदनन्तर वह मृगादेवी काष्ठ-शकटी को खेचती हुई जहा पर भूमिगृह था वहा पर आई, आकर चतुष्पुट—चार पुट वाले वस्त्र से अपने मुख को —अर्थात् नाक को बान्धती हुई भगवान् गौतम स्वामी से बोली—भगवन् ! आप भी मुख के वस्त्र से अपने मुख को बाधलें अर्थात् नाक बान्ध ले । तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी ने मृगादेवी के इस प्रकार कहे जाने पर मुख के वस्त्र से अपने मुख-नाक को बान्ध लिया। तत्पश्चात् मृगादेवी ने परामुख हो कर (पीछे को मुख करके) जब उस भूमिगृह के द्वार—दरवाजे को खोला तब उस में से दुर्गन्ध आने लगी, वह दुर्गन्ध मृत सर्प आदि प्राणियों की दुर्गन्ध के समान ही नही प्रत्युत उस से भी अधिक अनिष्ट थी ।

टीका—मृगादेवी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् गौतम स्वामी ने रहस्योद्घाटन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसका विवरण इस प्रकार है—

गौतम स्वामी बोले—महाभागे ! इसी नगर के अन्तर्गत चन्दन पादप नामा उद्यान मे मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान हैं, वे सर्वज्ञ अत एव सर्वदर्शी हैं, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के वृत्तान्त को जानने वाले हैं। वहा उन की व्याख्यान-परिषद् मे आये हुए एक अन्धे व्यक्ति को देखकर मैंने प्रभु से पूछा—भदन्त ! क्या कोई ऐसा पुरुष भी है जो कि जन्मान्ध होने के अतिरिक्त जन्मान्धरूप (जिस के नेत्रों की उत्पत्ति भी नहीं हुई है) भी हो ? तब भगवान् ने कहा हा, गौतम ! है । कहा है भगवन् ! वह पुरुष ? मैंने फिर उन्हें पूछा । मेरे इस कथन के उत्तर मे भगवान् ने तुम्हारे पुत्र का नाम बतलाया और कहा कि इसी मृगाग्राम नगर के विजयनरेश का पुत्र तथा मृगादेवी का आत्मज मृगापुत्र नामक बालक है जो कि जन्मान्ध और जन्मान्धरूप भी है इत्यादि । अत तुम्हारे पुत्र-विषयक मैने जो कुछ कहा है वह मुझे मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से प्राप्त हुआ है। भगवान् का यह कथन सर्वथा अभ्रान्त एव पूर्ण सत्य है उस के विषय मे मुझे अणुमात्र भी अविश्वास न होने पर भी केवल उत्सुकतावश मैं तुम्हारे उस पुत्र को देखने के लिये यहा पर आ गया हूँ । आशा है मेरे इस कथन से तुम्हारे मन का भलीभांति समाधान हो गया होगा। यह था महारानी मृगादेवी के रहस्योद्घाटन सम्बन्धी प्रश्न का गौतम स्वामी की ओर से दिया गया सप्रेम उत्तर जिस की कि उसे अधिक आकांक्षा अथच जिज्ञासा थी ।

भगवान् गौतम स्वामी और महारानी का आपस मे वार्तालाप हो ही रहा था कि इतने मे मृगापुत्र के भोजन का समय भी हो गया । तब मृगादेवी ने भगवान् गौतम स्वामी से कहा कि भगवन् ! आप यहीं विराजें, मै अभी आप को उसे (मृगापुत्र को) दिखाती हूँ, इतना कहकर वह भोजन-शाला की ओर गई,

वहां जाकर उस ने पहले अपने वस्त्र बदले, फिर काष्ठशकटी—लकड़ी की एक छोटी सी गाड़ी ली और उस में विपुल—अधिक प्रमाण में—अशन (रोटी दाल आदि), पान (पानी), खादिम (मिठाई तथा दाख, पिस्ता आदि) और स्वादिम (पान-सुपारी आदि) रूप चतुर्विध आहार को ला कर भरा, तदनन्तर उस आहार से परिपूर्ण शकटी को स्वयं खेंचती हुई वह गौतम स्वामी के पास आई और उन से नम्रता पूर्वक इस प्रकार बोली—भगवन्! पधारिये, मेरे साथ आइए, मैं आप को उसे (मृगापुत्र को) दिखलाती हूं। महाराणी मृगादेवी की विनीतता पूर्ण वचनावली को सुनकर भगवान् गौतम स्वामी भी महाराणी मृगादेवी के पीछे २ चलने लगे। काष्ठशकटी का अनुकर्षण करती हुई मृगादेवी भूमिगृह के पास आई वहां आकर उसने स्वास्थ्यरक्षार्थ चतुष्पुट—चार पुट वाले (चार तहों वाले) वस्त्र से मुख को बांधा अर्थात् नाक को बान्धा और भगवान् गौतम स्वामी से भी स्वास्थ्य की दृष्टि से मुख के वस्त्र द्वारा मुख-नाक बान्ध लेने की प्रार्थना की, तदनुसार श्री गौतम स्वामी ने भी मुख के वस्त्र से अपने नाक को आच्छादित कर लिया।

प्रश्न—जब भगवान् गौतम स्वामी ने मुखवस्त्रिका से अपना मुख बान्ध ही रखा था, फिर उन्हें मुख बान्धने के लिये महाराणी मृगादेवी के कहने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जैसे हम जानते हैं कि भगवान् गौतम ने मुख-वस्त्रिका से मुख बान्ध रखा था वैसे महाराणी मृगादेवी भी जानती थी, इस में सन्देह वाली कोई बात नहीं है, तथापि मृगादेवी ने जो पुनः मुख बान्धने की भगवान से अभ्यर्थना की है, उस अभ्यर्थना के शब्दों को न पकड़ कर उस के हार्द को जानने का यत्न कीजिए।

सर्व प्रथम न्यायदर्शन की लक्षणा जान लेनी आवश्यक है। लक्षणा का अर्थ है—[1]तात्पर्य (वक्ता के अभिप्राय) की उपपत्ति-सिद्धि न होने से शक्यार्थ (शक्ति—संकेत द्वारा बोधित अर्थ) का लक्ष्यार्थ (लक्षण द्वारा बोधित अर्थ) के साथ जो सम्बन्ध है। स्पष्टता के लिये उदाहरण लीजिए—

"**गङ्गायां घोषः**" इस वाक्य में वक्ता का अभिप्राय है कि गंगा के तीर पर घोष (आभीरों की-पल्ली) है, परन्तु यह अभिप्राय गंगा के शक्य रूप अर्थ द्वारा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि गंगा का शक्यार्थ है—जल प्रवाह-विशेष। उस में घोष का होना असंभव है, इस लिये यहां गंगा पद से उस का जल-प्रवाह रूप शक्यार्थ न लेकर उस के सामीप्य सम्बन्ध द्वारा लक्ष्यार्थ—तीर को ग्रहण किया जाता है।

इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में जो "**मुहपोत्तियाए मुहं बंधह**" यह पाठ आता है। इस में मुख-शब्द लक्षणा द्वारा नासिका का ग्राहक है—बोधक है। क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में महाराणी मृगादेवी का अभिप्राय गौतम स्वामी को दुर्गन्ध से बचाने का है। और यह अभिप्राय मुख के शक्यरूप अर्थ का ग्रहण करने से उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि गन्ध का ग्राहक घ्राण (नाक) है न कि मुख, इसलिये यहां तात्पर्य की उपपत्ति न होने से मुख शब्द द्वारा इस के शक्यार्थ को न लेकर सामीप्यरूप सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ-नाक ही का ग्रहण करना चाहिये। जो कि महाराणी मृगादेवी को अभिमत है।

हमारा लौकिक व्यवहार भी ऊपर के विवेचन का समर्थक है। देखिए—कोई मित्रमण्डल गोष्ठी में संलग्न है, सामने से भीषण दुर्गन्ध से अभिव्याप्त एक कुष्ठी आ रहा है। मण्डल का नायक उसे देखते ही बोल उठता है, मित्रो! मुख ढक लो। नायक के इतना कहने मात्र से साथी अपना २ नाक ढक लेते हैं। यह ठीक है नाक का मुख के साथ अतिनिकट का सम्बन्ध होने से मुख का ढका जाना अस्वाभाविक

(१) लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका—८२)

नहीं है, परन्तु कहने वाले का अभिप्राय नाक के ढक लेने से होता है, क्योंकि नाक ही गन्ध का ग्रहण करने वाला है।

प्रश्न—यदि मुख-पद के लक्ष्यार्थ का ग्रहण न करके इसके शक्यार्थ का ग्रहण किया जाए तो क्या बाधा है?

उत्तर—प्रस्तुत प्रकरण मे दुर्गन्ध से बचाव की बात चल रही है। गन्ध का ग्राहक घ्राण है। घ्राण को ढके या बान्धे बिना दुर्गन्ध से बचा नहीं जा सकता। परन्तु महारानी मृगादेवी नाक को बान्धने की बात न कह कर मुख बान्धने के लिये कह रही हैं। मुख गन्ध का ग्राहक न होने से महारानी का यह कथन व्यवहार से विरुद्ध पड़ता है, अतः यहां तात्पर्य की उपपत्ति न होने के कारण लक्षणा द्वारा मुखपद से नाक का ग्रहण करना ही होगा। दूसरी बात यह है कि यदि यहां मुख का शक्यार्थ ही अपेक्षित होता तो "[1]**मुहपोत्तियाए मुहं बन्धेह**" इस पाठ की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्यों कि मुख को आवृत करने के लिये किसी बाह्य आवरण की आवश्यकता नहीं है वहां तो ओंठ ही आवरण का काम दे जाते हैं। ऐसी एक नहीं अनेकों-बाधाओं के कारण यहां मुखपद से नाक का ग्रहण करना ही शास्त्रसम्मत है।

प्रश्न—"**मुहपोत्तियाए मुहं बन्धेह**" इस पाठ मे जो "**बन्धेह**" यह पद है, इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान गौतम के मुख पर मुख-वस्त्रिका नहीं थी परन्तु उन्होंने महारानी मृगादेवी के कहने पर बांधी थी। पहले यह कहा जा चुका है कि भगवान् गौतम के मुखवस्त्रिका बन्धी हुई थी, यह परस्पर मे विरोध की बात क्यों?

उत्तर—सब से पहिले जैन शास्त्रों में मुख-वस्त्रिका की मान्यता किस आधार पर है इस पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। भगवती सूत्र मे लिखा है—

पतितपावन भगवान् महावीर स्वामी अपनी शिष्यमण्डली सहित राजगृह नगर मे विराजमान थे। भगवान् के प्रधान शिष्य अनगार गौतम भगवान् से एक बार भगवान् के चरणों मे नमस्कार करने के अनन्तर हाथ जोड़कर सविनय निवेदन करने लगे—

भगवन्! शक्र देवेन्द्र देवराज सावद्य[2] (पाप युक्त) भाषा बोलते हैं या निरवद्य (पाप रहित)?

भगवान् बोले— गौतम! देवेन्द्र देवराज सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की भाषा बोलते हैं।

गौतम—भगवन्! देवेन्द्र देवराज सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं, यह कहने का क्या अभिप्राय है?

भगवान्—गौतम! देवेन्द्र देवराज जब सूक्ष्मकाय-वस्त्र अथवा हस्तादि से मुख को बिना ढक कर बोलते हैं तो वह उन की सावद्य भाषा होती है, परन्तु जब वे वस्त्रादि से मुख को ढक कर भाषा

(१) यहां पर मुखपोतिका-मुखवस्त्रिका शब्द एक वस्त्रखण्ड का बोधक है, जिस से धूलि पसीना आदि पोंछने का काम लिया जाता है। आठ तहों वाली मुखवस्त्रिका का यहां पर ग्रहण नहीं, क्योंकि उस का इतना बड़ा आकार नहीं होता कि दुर्गन्ध के दुष्परिणाम से पूर्णरूपेण बचने के लिये उसे ग्रीवा के पीछे ले जाकर गांठ देकर बांध दिया जाए। सूत्रकार '**मुहपोत्तियाए मुहं बंधेह**" इस पाठ मे "**बन्धेह**" पद का प्रयोग करते हैं। "**बंधेह**" का अर्थ होता है—बान्ध लो।

(२) भगवती—सूत्र शतक १६ उद्देशक २ सूत्र ५६८।

का प्रयोग करते हैं तब वह निरवद्य भाषा कहलाती है। भाषा का द्वैविध्य मुख को आवृत करने और खुले रखने से होता है।

खुले मुख से बोली जाने वाली भाषा वायुकाया के जीवों की नाशिका होने मे सावद्य और वस्त्रादि से मुख को ढक कर बोले जाने वाली भाषा जीवों की संरक्षिका होने से निरवद्य भाषा कहलाती है।

इस प्रकार के वर्णन से स्पष्ट है कि मुख की यतना किये विना—मुख को वस्त्रादि से आवृत किये विना भाषा का प्रयोग करना सावद्य कर्म होता है। सावद्य प्रवृत्तियों मे अलग रहना ही साधुजीवन का महान् आदर्श रहा हुआ है, यही कारण है कि सावद्य प्रवृत्ति से बचने के लिये साधु मुख पर मुखवस्त्रिका का प्रयोग करते आ रहे हैं।

अब जरा मूल-प्रसग पर विचार कीजिए—जब महाराणी मृगादेवी अपने ज्येष्ठ पुत्र मृगापुत्र को दिखाने के लिये भौरे मे जाती है, तब वहां की भीषण एव असह्य दुर्गन्ध से स्वास्थ्य दूषित न होने पावे, इस विचार मे अपना नाक बान्धती हुई, भौरे के दुर्गन्धमय वायुमण्डल से अपरिचित भगवान् गौतम से भी नाक बान्ध लेने की अभ्यर्थना करती है। तब भगवान् गौतम ने भौरे का स्वस्थ्यनाशक दुर्गन्ध-पूर्ण वायुमण्डल जान कर और राणी की प्रेरणा पा कर पसीना आदि पोंछने के उपवस्त्र से अपने नाक को बान्ध लिया। यदि यहां बोलने का प्रसग होता और सावद्य प्रवृत्ति से बचाने के लिये भगवान गौतम को मुख पर मुखवस्त्रिका लगाने की प्रेरणा की जाती तो यह शका अवश्य मान्य एव विचारणीय थी' परन्तु यहां तो केवल दुर्गन्ध से बचाव करने की बात है। बोलने का यहां कोई प्रसग नहीं।

"बन्धेह" पद से जो "—संयोग वियोग मूलक होता है इसी प्रकार मुख का बन्धन भी अपने पूर्वरूप खुले रहने का प्रतीक है—" यह शका होती है उस का कारण इतना ही है कि शकाशील व्यक्ति मुख का शब्दरूप अर्थ ग्रहण किये हुए है जब कि यहां मुख शब्द अपने लक्ष्यार्थ का बोधक है। मुख का लक्ष्यार्थ है नाक, नाक का बान्धना शास्त्रसम्मत एव प्रकरणानुसारी है। जिस के विषय मे पहले काफी विचार किया जा चुका है।

मुख-वस्त्रिका मुख पर लगाई जाती थी इस की पुष्टि जैनदर्शन के अतिरिक्त वैदिक दर्शन मे भी मिलती है। शिवपुराण मे लिखा है—

हस्ते पात्र दधानाश्च **तुण्डे वस्त्रस्य धारका.**। मलिनान्येव वस्त्राणि, धारयन्तोऽल्पभाषिण ॥

[अध्याय २१ श्लोक २५]

अस्तु अब विस्तार भय से इस पर अधिक विवेचन न करते हुए प्रकृत विषय पर आते हैं—

तदनन्तर जब महाराणी मृगादेवी ने मुख को पीछे की ओर फेर कर भूमिगृह के द्वार का उद्घाटन किया, तब वहां से दुर्गन्ध निकली, वह दुर्गन्ध मरे हुए सर्पादि जीवों की दुर्गन्ध से भी भीषण होने के कारण अधिक अनिष्ट—कारक थी। यहां पर प्रस्तुतसूत्र के—"**अहिमडे इ वा जाव ततो वि**" पाठ मे उल्लिखित हुए "**जाव—यावत्**" पद से निम्नोक्त पदों का ग्रहण करना अभीष्ट है—

गोमडे इ (१) वा जाव मयकुहिय-विणट्ठ-किमिण-वावण्ण-दुरभिगंधे किमिजालाउले ससत्ते असुइ-

(१) मृत गाय के यावत् (अर्थात्—कुत्ता, गिरगट, मार्जार, मनुष्य, महिष, मूषक, घोडा, हस्ती, सिंह व्याघ्र, वृक (भेडिया), और) चीता के कुथित—सड़े हुए, अतएव विनष्ट शोथ आदि विकार से युक्त, कई प्रकार के कृमियों से युक्त, गीदड़ आदि द्वारा खाए जाने के कारण विरूपता को प्राप्त,

विगय-विभत्थ-दरिसणिज्जे, भवेयारूवे सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे एत्तो अणिट्ठतराए चेव ।
(ज्ञाताधर्मकथांग – सूत्र अ० १२, सूत्र ९१)

"अणिट्ठतराए चेव जाव गन्धे" पठान्तर्गत "जाव" पद से "अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुन्नतराए चेव अमणामतराए चेव" इन पदों का भी संग्रह कर लेना चाहिये।

अब सूत्रकार अग्रिम प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1]तते णं से मियापुत्ते दारए तस्स विपुलस्स असण—पाण- -खाइमखाइमस्स गंधेणं अभिभूते समाणे तंसि विपुलंसि असण-पाण-खाइमसाइमंसि मुच्छिए ४ तं विपुलं असणं ४ आसएणं आहारेति २ खिप्पामेव विद्धंसेति। ततो पच्छा पूयत्ताए य सोणियत्ताए

तीव्रतर दुर्गन्ध से युक्त, जिस में कीडों का समूह बिल बिला रहा है और इसी लिये स्पर्श के अयोग्य होने से अशुचि चित्त में उद्वेग-वृत्ति का कारण होने से विकृत और देखने के अयोग्य होने से बीभत्स शरीरों से जिस प्रकार असह्य दुर्गन्ध निकलती है उस से भी अनिष्ट दुर्गन्ध वहां से निकल रही थी।

(१) छाया—ततः स मृगापुत्रो दारकस्तस्य विपुलस्याशनपानखादिमस्वादिम्नो गन्धेनाभिभूतः सन् तस्मिन् विपुले अशनपानखादिमस्वादिम्नि मूर्छितः ४ तं विपुलमशनं ४ आस्येनाहरति, आहृत्य क्षिप्रमेव विध्वंसयति। ततः पश्चात् पूयतया च शोणितया च परिणमयति। तदपि च पूयं च शोणितं चाहरति। ततो भगवतो गौतमस्य तं मृगापुत्रं दारकं दृष्ट्वाऽयमेतद्रूपः [2]आध्यात्मिकः ६ समुदपद्यत, अहो अयं दारकः पुरा [3]पुराणानां दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां अशुभानां पापानां कृतानां कर्मणां फलवृत्ति-विशेषं प्रत्यनुभवन् विहरति। न मया दृष्टा नरका वा नरयिका वा, प्रत्यक्षं खल्वयं पुरुषो नरक—प्रतिरूपिकां वेदनां वेदयति इति कृत्वा मृगां देवीमापृच्छते, आपृच्छ्य मृगाया देव्या गृहात् प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य मृगाग्रामान्नगरान् मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गम्य यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिरादक्षिणं प्रदक्षिणं करोति कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—एवं खल्वहं युष्माभिरभ्यनुज्ञातः सन् मृगाग्रामं नगरं मध्यमध्येनानुप्राविशम्। अनुप्रविश्य यत्रैव मृगाया देव्या गृहं तत्रैवोपागतः। ततः सा मृगादेवी मामायान्तं पश्यति दृष्ट्वा हृष्ट० तदेव सर्वं यावत् पूयं च शोणितं च हरति। ततो ममायमाध्यात्मिकः ६ समुदपद्यत अयं दारकः पुरा यावद् विहरति।

---

(१) मुच्छिए ४ इत्यत्र 'गढिए गिद्धे अज्झोववन्ने' इति पदत्रयमन्यद् द्रष्टव्यम्, एकार्थान्येतानि चत्वार्यपीति वृत्तिकारः।

(२) आध्यात्मिक पद से निम्नोक्त पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है—आध्यात्मिक—आत्मगत, चिन्तित—पर्यालोचित (पुनः पुनः स्मृत), कल्पित—कल्पनायुक्त, प्रार्थित—जिज्ञासित, मनोगत—मनोवर्ती, संकल्प—विचार।

(३) पुरा पुराणानां जरठानां कक्खडीभूतानामित्यर्थः, पुरा पूर्वकाले दुश्चीर्णानां—प्राणातिपातादिदुश्चरितहेतुकानाम् दुष्प्रतिक्रान्तानाम्—दुर्गब्दोऽभावार्थः, तेन प्रायश्चित्त—प्रतिपत्त्यादिनाऽप्रतिक्रान्तानामनिवर्तितविपाकानामित्यर्थः, अशुभानाम्—असुखहेतूनां, पापानाम् दुष्टस्वभावानाम् कर्मणाम्—ज्ञानावरणादीनाम्, पापकम् अशुभम्, फलवृत्तिविशेषं—फलरूपं परिणामरूपं यो वृत्तिविशेषः—अवस्थाविशेषः—स्तमिति भावः।

य परिणामेइ तं पि य णं पूयं च सोणियं च आहारेति। तते णं भगवतो गोतमस्स तं मियापुत्तं दारयं पासित्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिते ६ समुप्पज्जित्था —अहो णं इमे दारए पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्ति-विसेसं पच्चणुभवमाणे विहरति, ण मे दिट्ठा णरगा वा णेरइया वा पच्चक्खं खलु अयं पुरिसे नरय—पडिरूवियं वेयणं वेएति त्ति कट्टु मियं देविं आपुच्छति २ मियाए देवीए गिहाओ पडिनिक्खमति २ मियग्गामं णगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण—पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मियग्गामं णगरं मज्झंमज्झेणं अणुपविसामि २ जेणेव मियाए देवीए गिहे तेणेव उवागते तते णं सा मियादेवी ममं एज्जमाणं पासति २ हट्ठ० तं चेव सव्वं जाव पूयं च सोणियं च आहारेति । तते णं मम इमे अज्झत्थिते ६ समुप्पज्जित्था, —अहो णं इमे दारए पुरा जाव विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**— तदनन्तर । **से मियापुत्ते दारए**—उस मृगापुत्र बालक ने । **तस्स विपुलस्स**—उस महान् । **असण-पाण-खाइमसाइमस्स** - अशन, पान, खादिम और स्वादिम के । **गंधेणं**—गन्ध से । **अभिभूते समाणे**—अभिभूत-आकृष्ट तथा । **तंसि विपुलंसि**—उस महान् । **असण-पाण-खाइमसाइमंसि**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम में । **मुच्छिए**—मूर्छित हुए ने । **तं विपुलं**—उस महान् । **असणं ४**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम का । **आसएणं**—मुख से । **आहारेति**—आहार किया, और । **खिप्पामेव**—शीघ्र ही । **विद्धंसेति**—वह नष्ट हो गया, अर्थात् जठराग्नि द्वारा पचा दिया गया **तता पच्छा**—तदनन्तर वह । **पूयत्ताए य**—पूय-पीव और । **सोणियत्ताए**—शोणित-रुधिर रूप में । **परिणामेति**—परिणमन को प्राप्त हो गया और उसी समय उस का उसने वमन कर दिया। **तं य णं**—और उस वान्त । **पूयं च**—पीव और । **सोणियं च पि**—शोणित-रक्त का भी वह मृगापुत्र । **आहारेति**—आहार करने लगा, अर्थात् उस पीव और खून को वह चाटने लगा । **तते णं**—उस के पश्चात् । **भगवतो गोतमस्स**—भगवान् गौतम के । **तं मियापुत्तं दारयं**—उस मृगापुत्र बालक को । **पासित्ता**—देख कर । **अयमेयारूवे**—इस प्रकार के । **अज्झत्थिते ६**— विचार । **समुप्पज्जित्था**—उत्पन्न हुए। **अहो णं** - अहो-अहह ! । **इमे दारए**—यह बालक । **पुरा**—पहले । **पोराणाणं**—प्राचीन । **दुच्चिण्णाणं**—दुश्चीर्ण-दुष्टता से उपार्जन किये गये । **दुप्पडिक्कंताणं**—दुष्प्रतिक्रान्त—जो धार्मिक क्रियानुष्ठान से नष्ट नहीं किये गये हों । **असुभाणं**—अशुभ । **पावाणं**—पापमय । **कडाणं कम्माणं**—किये हुए कर्मों के । **पावगं**—पापरूप। **फलवित्तिविसेसं**—फलवृत्ति विशेष - विपाक का । **पच्चणुभवमाणे**—अनुभव करता हुआ । **विहरति**—समय व्यतीत कर रहा है । **मे**—मैंने । **णरगा वा**—नरक अथवा । **णेरइया वा**—नारकी । **ण दिट्ठा**—नहीं देखे । **अयं पुरिसे**—यह पुरुष-मृगापुत्र । **नरयपडिरूवियं**—नरक के प्रतिरूप-सदृश । **पच्चक्खं**— प्रत्यक्ष—रूपेण । **वेयणं**—वेदना का । **वेएति**—अनुभव कर रहा है। **त्ति कट्टु**—

ऐसा विचार कर भगवान् गौतम । **मियं देविं अपुच्छति**—मृगादेवी से जाने के लिये पूछते[1] हैं। **मियाए देवीए**—मृगादेवी के। **गिहाओ**—गृह में। **पडिनिक्खमति**—निकलते हैं, निकल कर। **मियग्गाम**—मृगाग्राम। **णगरं**—नगर के। **मज्झंमज्झेणं**—मध्य में से ही कर उस से। **निग्गच्छति२**—निकल पड़ते हैं, निकल कर। **जेणेव**—जहां पर। **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे। **तेणेव**—वहीं पर। **उवागच्छति**—आ जाते हैं। **उवागच्छित्ता**—आ कर। **समणं भगवं**—श्रमण भगवान्। **महावीरं**—महावीर स्वामी की। **आयाहिणपयाहिणं**—दक्षिण की ओर से आवर्तन कर प्रदक्षिणा। **करेति**—करते हैं। **करेत्ता**—प्रदक्षिणा करने के पश्चात्। **वदति नमसति**—वन्दना तथा नमस्कार करते हैं। **वंदित्ता नमसित्ता**—वन्दना एवं नमस्कार करके। **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **अहं**—मैंने। **तुब्भेहिं**—आप के द्वारा। **अब्भणुण्णाए समाणे**—अभ्यनुज्ञात होने पर। **मियग्गामं णगरं**—मृगाग्राम नगर के। **मज्झंमज्झेणं**—मध्य मार्ग से हो कर, उस में। **अणुपविसामि२**—प्रवेश किया, प्रवेश करके। **जेणेव**—जहां पर। **मियाए देवीए**—मृगा देवी का। **गिहे**—घर था। **तेणेव उवागते**—उसी स्थान पर चला आया। **तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **मियादेवी**—मृगादेवी। **ममं एज्जमाणं**—मुझ को आते हुए। **पासति २**—देखती है, देख कर। **हट्ठ०**—अत्यन्त प्रसन्न हुई और। **तं चेव सव्वं**—उस ने अपने सभी पुत्र दिखलाये। **जाव**—यावत् (पूर्व वर्णित शेष वर्णन समझना)। **पूयं च सोणियं च**—पूय-पीब और रुधिर का। **आहारेति**—उस बालक ने आहार किया। **तते णं**—तदनन्तर। **ममं**—मुझे। **इमे अज्झत्थिए**—ये विचार। **समुप्पज्जित्था**—उत्पन्न हुए। **अहो णं**—अहो-आश्चर्य अथवा खेद है। **इमे दारए**—यह बालक। **पुरा**—पूर्वकृत प्राचीन कर्मों का फल भोगता हुआ। **जाव**—यावत्। **विहरति**—समय व्यतीत कर रहा है।

मूलार्थ—तदनन्तर उस महान् [2]अशन, पान, खादिम, स्वादिम के गन्ध से अभिभूत-आकृष्ट तथा उस में मूर्छित हुए उस मृगापुत्र ने उस महान् अशन पान खादिम और स्वादिम का मुख से आहार किया। और जठराग्नि से पचाया हुआ वह आहार शीघ्र ही पाक और रुधिर के रूप में परिणत-परिवर्तित हो गया और साथ ही मृगापुत्र बालक ने पाकादि में परिवर्तित उस आहार का वमन (उलटी) कर दिया, और तत्काल ही उस वान्त पदार्थ को वह चाटने लगा अर्थात् वह बालक अपने द्वारा वमन किए हुए पाक आदि को भी खा गया। बालक की इस अवस्था को देख कर भगवान् गौतम के चित्त में अनेक प्रकार की कल्पनाएं उत्पन्न होने लगीं। उन्हों ने सोचा कि यह बालक पूर्व जन्मों के

---

(१) भगवान् गौतम ने जो महाराणी मृगादेवी से पूछा है उस का अभिप्राय केवल महाराणी को "अब मैं जा रहा हूँ" ऐसा सूचित करना है। आज्ञा प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्हों ने राणी से यह पृच्छा नहीं की।

(२) (क)—रोटी, दाल, व्यञ्जन, तण्डुल चावल आदिक सामग्री अशन शब्द से विवक्षित है।

(ख) पेय-पदार्थों का ग्रहण पान शब्द से किया गया है।

(ग) दाख, पिस्ता, बादाम आदि मेवा, तथा मिठाई आदि खाने योग्य पदार्थ खादिम के अन्तर्गत हैं।

(घ) पान सुपारी, इलायची और लवंगादि मुखवास पदार्थ स्वादिम शब्द से गृहीत हैं।

दुश्चीर्ण [दुष्टता से किये गये] दुष्प्रतिक्रान्त [जिन के विनाश का कोई उपाय नहीं किया गया] और अशुभ पाप-कर्मों के पाप रूप फल को पा रहा है। नरक तथा नारकी मैंने नहीं देखे। यह पुरुष-मृगापुत्र नरक के समान वेदना का प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ प्रतीत हो रहा है। इन विचारों से प्रभावित होते हुए भगवान् गौतम ने मृगादेवी से पूछ कर अर्थात् अब मैं जा रहा हूँ, ऐसा उसे सूचित कर, उस के घर से प्रस्थान किया—वहां से वे चल दिये। नगर के मध्यमार्ग से चल कर जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां पर पहुँच गये, पहुंच कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की दाहिनी तर्फ से प्रदक्षिणा कर के उन्हें वन्दना तथा नमस्कार किया, वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर वे भगवान् से इस प्रकार बोले—

भगवन्! आप श्री की आज्ञा प्राप्त कर मैंने मृगाग्राम नगर में प्रवेश किया, तदनन्तर जहां मृगादेवी का घर था मैं वहां पहुँच गया। मुझे देखकर मृगादेवी को बड़ी प्रसन्नता हुई, यावत् पूय-पीव शोणित-रक्त का आहार करते हुए मृगापुत्र की दशा को देख कर मेरे चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि—अहह! यह बालक महापापरूप कर्मों के फल को भोगता हुआ कितना निकृष्ट जीवन बिता रहा है।

टीका—भोजन का समय हो चुका है, मृगापुत्र भूख से व्याकुल हो रहा होगा, जल्दी करूँ, उस के लिये भोजन पहुचाऊँ साथ में भगवान् गौतम भी उसे देख लेंगे, इस तरह से दोनों ही कार्य सध जायेंगे इन विचारों से प्रेरित हुई महाराणी मृगादेवी ने जब पर्याप्त मात्रा मे अशन (रोटी, दाल आदि), पान (पानी आदि पेय पदार्थ) आदि चारों प्रकार का आहार एक काठ की गाडी मे भर कर मृगापुत्र के निवास स्थान (भोंरे) पर पहुँचा दिया, तब भोजन की मधुर गन्ध से आकृष्ट (खिंचा हुआ) मृगापुत्र उस में मूर्च्छित (आसक्त) होता हुआ मुख द्वारा उस को ग्रहण करने लगा, खाने लगा, भूख से व्याकुल मानस को शान्त करने लगा।

कर्मों का प्रकोप देखिए—जो भोजन शरीर के पोषण का कारण बनता है, स्वास्थ्यवर्धक होता है, वही भोजन कर्म-हीन मृगापुत्र के शरीर मे बडा विकराल एव मानस को कम्पित करने वाला कटु परिणाम उत्पन्न कर देता है। मृगापुत्र ने भोजन किया ही था कि जठराग्नि के द्वारा उस के पच जाने पर वह तत्काल ही पाक और रक्त के रूप में परिणत हो गया। दुष्कर्मों के प्रकोप को मानो इतने में सन्तोष नहीं हुआ, प्रत्युत वह उसे—मृगापुत्र को और अधिक विडम्बित करना चाह रहा है इसी लिये मृगापुत्र ने मानो पीव और खून का वमन किया और उस वान्त पीव एव खून को भी वह चाटने लग गया दूसरे शब्दों मे कहे तो मृगापुत्र ने जिस आहार का सेवन किया था वह तत्काल ही पीव और रुधिर के रूप मे बदल गया और साथ ही उस पाक और खून का उसने वमन किया। जैसे कुत्ता वमन को खा जाता है वैसे ही वह मृगापुत्र उस वमन (उल्टी) को खाने लग पडा।

---

(१) यहां प्रश्न होता है कि मूल मे कहीं '**वमइ**' ऐसा पाठ नहीं है, फिर "**मृगापुत्र ने पाक और रुधिर का वमन किया**" ऐसा अर्थ किस आधार पर किया गया है? इस का उत्तर लेने से पूर्व यह विचार लेना चाहिये कि "**वमइ**" के अर्थाभाव मे सूत्रार्थ सगत रहता है या नहीं। देखिए—"**मृगापुत्र ने आहार ग्रहण कर लिया, शीघ्र ही उस का ध्वंस हो गया, उस के पश्चात् वह पीव और रुधिर के रूप में परिणत हो गया, एवं उस पीव तथा रुधिर को वह खाने लग पड़ा—**" यह है मूलसूत्र का भावार्थ। यहां शका होती है कि जिस भोजन को एक बार खाया जा चुका है, और जिसे जठराग्नि ने पचा डाला है एव विभिन्न रसो मे जो परिणत भी हो चुका है। उस को दोबारा कैसे खाया

मृगापुत्र की यह दशा कितनी बीभत्स एव करुणा जनक है यह कहते नही बनता। नेत्रादि इन्द्रियो का अभाव तथा हस्तपादादि अगोपाग से रहित केवल मास पिंड के रूप मे अवस्थित होने पर भी उसकी आहार सम्बन्धी चेष्टा को देखते हुए तो जीवोपार्जित अशुभकर्मो के विपाकोदय की भयकरता अथवा कर्म-गति की गहनता के लिये अवाक् रह जाने के सिवा और कोई गति नहीं है अस्तु।

परम-दयनीय दशा मे पडे हुए उस मृगापुत्र को देखकर करुणालय भगवान् गौतम स्वामी के उदार हृदय मे कैसे विचार उत्पन्न हुए, उस का वर्णन सत्रकार ने **"तते णं भगवतो गोतमस्स तं मियापुत्तं... पोराणाणं जाव विहरति"** इन पदों द्वारा किया है।

मृगापुत्र की नितान्त शोचनीय अवस्था को देख कर भगवान् गौतम अनगार अत्यन्त व्यथित हुए और सोचने लगे कि इस बालक ने पूर्व जन्मों मे किन्हीं बडे ही भयकर कर्मो का बन्ध किया है, जिन का विच्छेद या निर्जरा किसी धार्मिक क्रियानुष्ठान से भी इसके द्वारा नहीं की जा सकी। उन्हीं अशुभ पाप कर्मो का फल प्राप्त करता हुआ यह बलक ऐसा जघन्यतम नारकी जीवन व्यतीत कर रहा है।

भगवान् गौतम के ये विचार उन की मनोगत करुणावृत्ति के सूचक हैं। उन से यह भली भाति सूचित हो जाता है कि उनके करुणापूरित हृदय में उस बालक के प्रति कितना सद्भावपूर्ण स्थान है उन का हृदय मृगापुत्र की दशा को देखकर विह्वल हो उठा, करुणा के प्रवाह से प्रवाहित हो उठा। इसी लिये वे कहते हैं कि मैंने नरक और नारकी जीवों का तो अवलोकन नहीं किया किन्तु यह बालक साक्षात् नरक प्रतिरूप वेदना का अनुभव करता हुआ देखा जा रहा है। तात्पर्य यह है कि इसकी वर्तमान शोचनीय दशा नरक की विपत्तियो से किसी प्रकार कम प्रतीत नहीं होती।

इस प्रकार विचार करते हुए भगवान् गौतम महाराणी से पूछ कर अर्थात् अच्छा, देवि ! अब मैं जा रहा हूँ, ऐसा उसे सूचित कर उसके घर से चल पड़े और नगर के मध्यमार्ग से होते हुए भगवान् महावीर स्वामी के चरणो मे उपस्थित हुए। वहा उन्हो ने दाहिनी तर्फ से तीन बार प्रदक्षिणा कर विधिपूर्वक वन्दना तथा नमस्कार किया, उस के अनन्तर उन से वे इस प्रकार निवेदन करने लगे—

जा सकेगा ? व्यवहार भी इस बात की पुष्टि में कोई साक्षी नहीं देता। अर्थात् एक बार भक्षित एव रुधिरादि रूप मे परिणत शरीरस्थ पदार्थ का पुन भक्षण व्यवहार विरुद्ध पडता है। परन्तु सूत्रकार के **"त पि य णं पूयं च सोणियं च आहारेति"** ये शब्द स्पष्टतया यह कह रहे हैं कि मृगापुत्र ने उस रुधिर तथा पीव का आहार किया। तब सूत्रार्थ के सगत न रहने पर '**सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया**' के सिद्धान्त से "**वमइ**" इस पद का *अध्याहार करना ही पडेगा इस पद के अध्याहार से सूत्रार्थ की सगति नितरा सुन्दर रहती है और वह व्यवहार विरुद्ध भी नहीं पडती। आप ने देखा होगा कि—कुत्ता वमन (उल्टी) करता है फिर उसे चाट लेता है, खा जाता है। ऐसी ही स्थिति मृगापुत्र की थी उस ने भी पाकादि का वमन किया और फिर वह उसे चाटने लग पडा। इस अर्थ-विचारणा मे कोई विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत होती। अथवा यह भी हो सकता है कि—सूत्र सकलन करने समय प्रस्तुत प्रकरण मे "**वमइ**" यह पाठ छूट गया हो। **रहस्यन्तु केवलिगम्यम्।**

---

* सदिग्ध अर्थ के निर्णय मे अध्याहार का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है, देखिए **अपकर्षेणानुवृत्त्या वा, पर्यायेणाथवा पुन। अध्याहारापवादाभ्या, क्रियते ह्यर्थनिर्णयः।** अर्थात् अपकर्ष (आगे का सम्बन्ध), अनुवृत्ति (पीछे का सम्बन्ध), पर्याय (क्रमश होना अथवा विकल्प से होना) अध्याहार (असगति दूर करने लिये सगत को अपनी ओर से जोडना), अपवाद (अनेक की प्राप्ति मे बलवत्प्राप्ति का नियम) इन सब के द्वारा सदिग्ध अर्थ का निर्णय होता है।

भगवन् ! आपकी आज्ञानुसार मैं महाराणी मृगादेवी के घर गया, जहां पीव और रुधिर का आहार करते हुए मैंने मृगापुत्र को देखा और देख कर मुझे यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह बालक पूर्वकृत अत्यन्त कटुविपाक वाले पाप कर्मों के कारण नरक के समान वेदना का अनुभव करता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा है,इत्यादि ।

भगवान् गौतम अनगार का अथ से इति पर्यन्त समस्त वृत्तान्त का भगवान् महावीर स्वामी से निवेदन करना उन की साधुवृत्ति में भारण्ड पक्षी से भी विशेष सावधानता तथा धर्म के मूलस्रोत विनय की पराकाष्ठा का होना सूचित करता है। महापुरुषों का प्रत्येक आचरण संसार के सन्मुख एक उच्च आदर्श का स्थान रखता है। अत: पाठकों को महापुरुषों की जीवनी से इसी प्रकार की ही जीवनोपयोगी शिक्षाओं को ग्रहण करना चाहिये । तभी जीवन का कल्याण सम्भव हो सकता है ।

"हट्ठ० तं चेव सव्वं जाव पूय च" यहां पठित और **"पुरा जाव विरहति"** यहां पठित **"जाव-यावत्"** पद पूर्व के पाठों का बोधक है जिन की व्याख्या पीछे की जा चुकी है।

तदनन्तर गौतम स्वामी ने मृगापुत्र के विषय में जो कुछ पूछा और भगवान् ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं —

मूल—[1]**से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसि ? किंनामए वा किंगोत्तए वा कयरंसि गामंसि वा नगरंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरित्ता केसिं वा पुरा पोराणाणं जाव विहरति ?**

पदार्थ—भंते !—भगवन् ! । **से णं पुरिसे**—वह पुरुष-मृगापुत्र । **पुव्वभवे**—पूर्वभव में । **के आसि ?**— कौन था ? । **किंनामए वा**—किस नाम वाला तथा । **किंगोत्तए**—किस गोत्र वाला था ? । **कयरंसि गामंसि वा**–किस ग्राम अथवा । **नगरंसि वा**—नगर में रहता था ? । **किं वा दच्चा**—क्या दे कर । **किं वा भोच्चा**— क्या भोगकर । **किं वा समायरित्ता**—क्या आचरण कर । **केसिं वा पुरा**—किन पूर्व । **पोराणाणं**—प्राचीन कर्मों का फल भोगता हुआ । **जाव**—यावत् । **विहरति**—इस प्रकार निकृष्ट जीवन व्यतीत कर रहा है ?

मूलार्थ—भदन्त ! वह पुरुष [मृगापुत्र] पूर्वभव में क्या था ? किस नाम का था ? किस गोत्र का था ? किस ग्राम अथवा किस नगर में रहता था ? तथा क्या दे कर, क्या भोग कर, किन २ कर्मों का आचरण कर और किन २ पुरातन कर्मों के फल को भोगता हुआ जीवन बिता रहा है ?

टीका—प्रभो ! यह बालक पूर्व भव में कौन था ? किस नाम तथा गोत्र से प्रसिद्ध था ? एवं किस ग्राम या नगर में निवास करता था ? क्या दान देकर किन भोगों का उपभोग कर, क्या समाचरण कर, तथा कौन से पुरातन पापकर्मों के प्रभाव से वह इस प्रकार का नरकतुल्य यातनाओं का अनुभव कर रहा है ? यह था मृगापुत्र के सम्बन्ध में गौतमस्वामी का निवेदन, जिसे ऊपर के सूत्रगत शब्दों में सुचारु रूप से व्यक्त किया गया है ।

टीकाकार महानुभाव ने नाम और गोत्र शब्द में अर्थगत भिन्नता को **"—नाम याहच्छिकमभिधानं, गोत्रं तु यथार्थंकुलम्—"** इन पदों से अभिव्यक्त किया है । अर्थात् नाम याहच्छिक होता है, इच्छानुसारी होता है। उस में अर्थ की प्रधानता नहीं भी होती, जैसे किसी का नाम

(१) छाया—स भदन्त ! पुरुषः पूर्वभवे क आसीत् ? किंनामको वा किंगोत्रको वा कतरस्मिन् ग्रामे वा नगरे वा किं वा दत्त्वा किं वा भुक्त्वा किं वा समाचर्य केषां वा पुरा पुराणानां यावत् विहरति ?

है – शान्ति शान्ति नाम वाला व्यक्ति अवश्य ही शान्ति (सहिष्णुता) का धनी होगा, यह आवश्यक नहीं है, परन्तु गोत्र में ऐसी बात नहीं होती, गोत्र पद सार्थक होता है, किसी अर्थविशेष का द्योतक होता है जैसे— **'गौतम'** एक गोत्र—कुल (वंश) का नाम है। गोतम शब्द किसी (पूर्वज) प्रधान—पुरुषविशेष का सूचक है, अतएव वह सार्थक है।

"पाणाणं जाव विहरति" यहां पठित 'जाव-यावत्' पद—"**दुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्कन्ताणं असुहाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणे**–"इन पदों का बोधक है। इन की व्याख्या पीछे कर दी गई है। अब भगवान् के द्वारा दिये गये उक्त प्रश्नों के उत्तर को सूत्रकार के शब्दों में सुनिये—

मूल—[1]**गोयमा! इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोतमं एव वयासी एवं खलु गोतमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सयदुवारे णाम नगरे होत्था,** [2]**रिद्धत्थिमिय०** [3]**वण्णओ। तत्थ णं सयदुवारे णगरे धणवती णामं राया होत्था। तस्स णं सयदुवारस्स णगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरत्थिमे दिसीभाए विजयवद्धमाणे णाम खेडे होत्था रिद्ध० तस्स णं विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंच गामसयाइं आभोए यावि होत्था। तत्थ णं विजयवद्धमाणे खेडे एक्काई नाम रट्ठकूडे होत्था, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे। से णं ए-**

(१) **छाया**—गोतम! [1]इति श्रमणो भगवान् महावीरो भगवन्तं गोतममेवमवदत्—एवं खलु गोतम! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे शतद्वारं नाम नगरमभवत्, ऋद्धिस्तिमित० वर्णकः तत्र शतद्वारे नगरे धनपतिर्नाम राजाऽभवत्। तस्य शतद्वारस्य नगरस्यादूरसामन्ते दक्षिणपौरस्त्ये दिग्भागे विजयवर्द्धमानो नाम खेटोऽभवत्, ऋद्ध०। तस्य विजयवर्द्धमानस्य खेटस्य पञ्च ग्रामशतान्याभोगश्चाप्यभवत्। तत्र विजयवर्द्धमाने खेटे एकादिर्नाम राष्ट्रकूटोऽभवद्, अधार्मिकः यावत् दुष्प्रत्यानन्दः। स एकादी राष्ट्रकूटो विजय—वर्द्धमानस्य खेटस्य पञ्चानां ग्रामशतानामाधिपत्यं यावत् पालयमानो विहरति। ततः स एकादिः विजयवर्द्धमानस्य खेटस्य पञ्च ग्रामशतानि बहुभिः करैश्च भरैश्च वृद्धिभिश्च लञ्चाभिश्च पराभवैश्च देयैश्च भेद्यैश्च कुन्तकैश्च लञ्छपोषैश्चादीपनैश्च पान्थकुट्टैश्चावपीलयन् २ विधर्मयन् २ तर्जयन् २ ताडयन् २ निर्धनान् कुर्वन् २ विहरति

(२) मूलमंत्र के—**रिद्धत्थिमिय०** पद से सूत्रकार को "**रिद्धत्थिमियसमिद्धे**" यह पाठ अभिमत है इस में (१) रिद्ध (२) स्तिमित (३) समृद्ध ये तीन पद हैं। रिद्ध शब्द का अर्थ सम्पत्–सम्पन्न होता है, स्तिमित शब्द स्वचक्र और पर चक्र के भय से विमुक्त का बोधक है, और समृद्ध शब्द से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए धन एवं धान्यादि से परिपूर्ण का ग्रहण होता है। ये सब नगर के विशेषण हैं।

(३) **वण्णओ**—वर्णक पद से सूत्रकार को औपपातिक सूत्र के नगर-सम्बन्धी वर्णन-प्रकरण का ग्रहण करना अभिमत है।

(१) वृत्तिकार ने "**गोयमा! इ**" इन पदों की व्याख्या"—**गौतम! इत्येवमामन्त्र्य इति गम्यते—**" इन शब्दों में की है। अर्थात् हे गोतम! इस प्रकार सम्बोधन करके, यह अर्थ वृत्तिकार को इष्ट है। परन्तु जब आगे "**गोतमा!**" ऐसा सम्बोधन पड़ा हुआ है फिर पहले सम्बोधन की क्या आवश्यकता था? इस सम्बन्ध में वृत्तिकार ने कुछ नहीं लिखा। मेरे विचार में तो मात्र सूत्रों का प्राचीन शैली ही इस में कारण प्रतीत होता है। अन्यथा "**गोयमा! इ**" इस पाठांश का अभाव प्रस्तुत प्रकरण में कोई बाधक नहीं था।

क्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंचण्हं गामसयाणं आहेवच्चं जाव पालेमाणे विहरति। तते णं से एक्काई विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंचगामसयाइं बहूहिं [1] करेहि य भरेहि य विद्धीहि य उक्कोडाहि य पराभवेहि य दिज्जेहि य भिज्जेहि य कुन्तेहि य लंछपोसेहि य आलीवणेहि य पंथकोट्टेहि य ओवीलेमाणे २ विहम्मेमाणे २ तज्जेमाणे २ तालेमाणे २ निद्धणे करेमाणे २ विहरति।

पदार्थ—**गोयमा! इ**—हे गौतम! इस प्रकार आमन्त्रण कर। **समणे**—श्रमण। **भगवं**—भगवान्। **महावीरे**—महावीर **भगवं**—भगवान्। **गोतमं**—गौतम के प्रति। **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **गोतमा!**—हे गौतम!। **तेणं कालेणं**—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय में। **इहेव**—इसी। **जंबुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत। **भारहे वासे**—भारतवर्ष में। **सयदुवारे**—शतद्वार। **णामं**—नामक। **नगरे**—नगर। **होत्था**—था। **रिद्धत्थिमिते०**—जोकि गगन चुम्बी उन्नत भवनों से विभूषित, धनधान्यादि से पूर्ण तथा समृद्धिशाली और भय से रहित था। **वण्णओ**—वर्णनग्रन्थ पूर्ववत्। **तत्थ णं**—उस। **सयदुवारे**—शतद्वार नामक। **नगरे**—नगर में **धणवती**—धनपति नाम का। **राया**—राजा। **होत्था**—था। **तस्स णं**—उस। **सयदुवारस्स**—शतद्वार। **णगरस्स**—नगर के। **अदूरसामंते**—थोड़ी दूर। **दाहिणपुरत्थिमे**—दक्षिण पूर्व। **दिसीभाए**—दिग्विभाग—अग्नि कोण में। **विजयवद्धमाणे**—विजयवर्द्धमान। **णामं**—नामक। **खेडे**—खेट—नदी और पर्वतों से वेष्टित नगर। **होत्था**—था, जो कि। **रिद्ध०**—समृद्धशाली था। **तस्स णं**—उस। **विजयवद्धमाणस्स खेडस्स**—विजय वर्द्धमान खेट का। **पंच गामसयाइं**—पांच सौ ग्रामों का। **आभोए**—आभोग-विस्तार। **यावि होत्था**—था। **तत्थ**—उस। **विजयवद्धमाणे खेडे**—विजयवर्द्धमान खेट में। **एक्काई नाम**—एकादि नाम का। **रट्ठकूडे**—राष्ट्रकूट-राजा की ओर से नियुक्त प्रतिनिधि। **होत्था**—था, जो कि। **अहम्मिए**—अधार्मिक—धर्म रहित, अथवा धर्म-विरोधी। **जाव**—यावत्। **दुप्पडियाणंदे**—दुष्प्रत्यानन्द—असंतोषी जो कि किसी तरह से प्रसन्न न किया जा सके। **होत्था**—था। **से णं एक्काई रट्ठकूडे**—वह एकादि नामक राजप्रतिनिधि। **विजयवद्धमाणस्स खेडस्स**—विजयवर्द्धमान खेट के। **पंचण्हं गामसयाणं**—पांच सौ ग्रामों का। **आहेवच्चं**—आधिपत्य कर रहा था अर्थात् विजय वर्द्धमान खेट के पांच सौ ग्राम उसके सुपुर्द किये हुए थे। **जाव**—यावत्। **पालेमाणे**—पालन-रक्षण करता हुआ। **विहरति**—विहरण कर रहा था। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—**एक्काई**—वह एकादि। **विजयवद्धमाणस्स खेडस्स**—विजय वर्द्धमान नामक खेट के। **पंच गामसयाइं**—

---

(१) करैः क्षेत्राद्याश्रित्य राजदेयद्रव्यैः, भरैः तेषां प्राचुर्यैः, वृद्धिभिः—कुटुम्बिना वितीर्णस्य धान्यस्य द्विगुणादेर्ग्रहणैः लञ्चाभिः घूस इति भाषा, पराभवैः तिरस्कारकरणैः, देयैः अनाभवद्दातव्यैः, भेद्यैः—यानि पुरुषमारणाद्यपराधमाश्रित्य ग्रामादिषु दण्डद्रव्याणि निपतन्ति, कौटुम्बिकान् प्रति च भेदेनोद्ग्राह्यन्ते तानि भेद्यानि अतस्तैः, कुन्तकैः 'एतावद् द्रव्यं त्वया देयम्' इत्येवं नियन्त्रणया नियोगिस्य देशादेर्यत् समर्पणं तैः लञ्छपोषैः—लञ्छाश्चौरविशेषाः सम्भाव्यन्ते, तेषां पोषाः पोषणानि तैः, आदीपनकैः—व्याकुललोकानां मोषणार्थं ग्रामादिप्रदीपनकैः, पान्थकुट्टैः—पान्थानां शस्त्राघातेण धनापहरणैः अवपीलयन् बाधयन्, विधर्मयन् स्वाचारभ्रष्टान् कुर्वन्, तर्जयन्—कृतावष्टम्भास्तर्जयन् 'ज्ञास्यथ रे! मम इदमिदं च न दत्थ, इत्येवं भेषयन्, ताडयन्—कशाचपेटादिभिरिति भावः।

पाच सौ ग्रामों को। **बहूहि**—बहुत से। **करेहि**—करों से। **भरेहि य**—उन की प्रचुरता से। **विद्धीहि य**—द्विगुण आदि ग्रहण करने से। **उक्कोडाहि य**—रिश्वतों से। **पराभवेहि य**—दमन करने से। **दिज्जेहि य**—अधिक व्याज से। **भिज्जेहि य**—हननादि का अपराध लगा देने से। **कुन्तेहि य**—धन ग्रहण के निमित्त किसी को स्थान आदि के प्रबन्धक बना देने से। **लंछपोसेहि य**—चौर आदि व्यक्तियों के पोषण से। **आलीवणेहि य**—ग्रामादि को जलाने से। **पंथकोट्टेहि य**—पथिकों के हनन (मार-पीट) से। **ओवीलेमाणे २**—व्यथित- पीडित करता हुआ। **विहम्मेमाणे २**—अपने धर्म से विमुख करता हुआ। **तज्जेमाणे २**—निरस्कृत करता हुआ। **तालेमाणे २**—कशादि से ताडित करता हुआ। **निद्धणे करेमाणे २**—प्रजा को निर्धन -धन रहित करता हुआ। **विरहति**—विहरण कर रहा था- अर्थात् प्रजा पर अधिकार जमा रहा था।

मूलार्थ—हे गौतम ! इस प्रकार आमंत्रण करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम के प्रति कहा—हे गौतम ! उस काल और उस समय मे इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष मे शतद्वार नाम का एक समृद्धिशाली नगर था। वहा के लोग बडी निर्भयता से जीवन बिता रहे थे। आनन्द का वहां सर्वतोमुखी प्रसार था। उस नगर मे धनपति नाम का एक राजा राज्य करता था। उस नगर के [1]अदूरसामन्त–कुछ दूरी पर दक्षिण और पूर्व दिशा के मध्य अर्थात् अग्निकोण मे विजयवर्द्धमान नाम का एक खेट—नदी और पर्वतों से घिरा हुआ, अथवा धूलि के प्राकार से वेष्टित नगर था, जो कि ऋद्धि समृद्धि आदि से परिपूर्ण था। उस विजयवर्द्धमान खेट का पाच सौ ग्रामों का विस्तार था उस मे एकादि नाम का एक राष्ट्रकूट—राजनियुक्त प्रतिनिधि प्रान्ताधिपति था जो कि महा अधर्मी और दुष्प्रत्यानन्दी-परम असन्तोषी, साधुजनविद्वेषी अथवा दुष्कृत करने मे ही सदा आनन्द मानने वाला था। वह एकादि विजय वर्द्धमान खेट के पांच सौ ग्रामो का आधिपत्य-शासन और पालन करता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था।

तदनन्तर वह एकादि नाम का राजप्रतिनिधि विजयवर्द्धमान खेट के पाच सौ ग्रामों को, करों-महसूलों से, करसमूहों से, किसान आदि को दिये गये धान्य आदि के द्विगुण आदि के ग्रहण करने से, दमन करने से, अधिक व्याज से, हत्या आदि के अपराध लगा देने से, धन के निमित्त किसी को स्थानादि का प्रबन्धक बना देने से, चोर आदि के पोषण से, ग्राम आदि के दाह कराने-जलाने से और पथिको का घात करने से लोगो को स्वाचार से भ्रष्ट करता हुआ तथा जनता को दुःखित, तिरस्कृत (कशादि से) ताडित और निर्धन-धन-रहित करता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था।

टीका—मृगापुत्र के पूर्वभव सम्बन्धी किये गये गौतम स्वामी के प्रश्नों का सांगोपांग उत्तर देने के निमित्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया कि गौतम ! इस जम्बुद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष मे शतद्वार नामक एक नगर था जोकि नगरोचित गुणों से युक्त और पूर्णरूपेण समृद्ध था। उस नगर मे महाराज धनपति राज्य किया करते थे। उस नगर के निकट विजय वर्द्धमान नाम का एक [2]खेट था जो कि वैभवपूर्ण और सुरक्षित था उसका विस्तार पाच सौ ग्रामों का था, तात्पर्य यह है कि जिस तरह आज भी मंडल जिले के अन्तर्गत अनेक शहर कस्बे और ग्राम होते हैं। उसी भांति विजय वर्द्धमान खेट मे भी पाच सौ ग्राम थे अर्थात् वह पांच सौ ग्रामों का एक प्रान्त था। खेट के प्रधान अधिकारी का नाम-जिसे प्रजा के

(१) जो न तो अधिक दूर और न अधिक समीप हो उसे अदूरसामन्त कहा जाता है।

(२) जिस के चारों ओर धूलि-मिट्टी का कोट बना हुआ हो ऐसे नगर को खेट के नाम से पुकारा जाता है।

शासनार्थ राज्य की ओर से नियुक्त किया हुआ था, एकादी था। वह पूरा धर्म विरोधी धार्मिक क्रियानुष्ठानों का प्रतिद्वन्द्वी और साधुपुरुषों का द्वेषी अथवा पूर्ण असन्तोषी-किसी से सन्तुष्ट न किया जाने वाला था।

यहां पर **"अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे"** पाठगत **"जाव-यावत्"** पद से—**'अधम्माणुए, अधम्मिट्ठे, अधम्मक्खाई, अधम्मपलोई, अधम्मपलज्जणे, अधम्मसमुदाचारे, अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे दुस्सीले दुव्वए"** [छाया—अधर्मानुग, अधर्मिष्ट, अधर्माख्यायी, अधर्मप्रलोकी, अधर्मप्ररजन, अधर्मसमुदाचारः अधर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन् दुःशील दुर्व्रत] इन पदों का भी ग्रहण करलेना। ये सब पद उसकी—एकादि की अधार्मिकता बोधनार्थ ही प्रयुक्त किये गये है। दूसरे शब्दों में कहें तो ये सब पद उसकी अधार्मिकता के व्याख्यारूप ही हैं, जैसे कि—

(१) **अधर्मानुग**—अधर्म का अनुसरण करने वाला, अर्थात् जिस में श्रुत और चारित्ररूप धर्म का सद्भाव न हो ऐसे आचार विचार का अनुयायी व्यक्ति।

(२) **अधर्मिष्ट**—जिस को अधर्म ही इष्ट हो—प्रिय हो, अथवा जो विशेष रूप से अधर्म का अनुसरण करने वाला हो वह अधर्मिष्ट कहलाता है।

(३) **अधर्माख्यायी**—अधर्म का कथन, वर्णन, प्रचार करने वाला।

(४) **अधर्मप्रलोकी**—सर्वत्र अधर्म का प्रलोकन—अवलोकन करने वाला।

(५) **अधर्मप्ररजन**—अधर्म में अत्यधिक अनुराग रखने वाला।

(६) **अधर्मसमुदाचार**—अधर्म ही जिसका आचार हो, इसीलिये वह अधर्म से वृत्ति—आजीविका को चलाने वाला, दुष्टस्वभावी और व्रतादि से शून्य-रहित होता है।

एकादि नामक राष्ट्रकूट विजयवर्द्धमान खेट के अन्तर्गत पांचसौ ग्रामों का शासन अथच संरक्षण करता हुआ जीवन बिता रहा था। मण्डल (प्रान्त विशेष) में आजीविका करने वाले राज्याधिकारी को राष्ट्रकूट कहा जाता है—**"राष्ट्रकूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिकः—वृत्तिकार।**

"आहेवच्चं जाव पालेमाणे" इस पाठ के **"जाव-यावत्"** पद से—**"पोरेवच्चं, सामित्तं, भट्टित्तं महत्तर-गत्तं, आणाईसरसेणावच्चं, कारेमाणे"** [[1]पुरोवर्तित्वम्, स्वामित्वम्, भर्तृत्वम्, महत्तरकत्वम्, आज्ञेश्वरसेनापत्यं कारयन्] इन पदों का भी संग्रह करना चाहिये।

सूत्रकार ने प्रथम राष्ट्रकूट को अधर्मी—धर्म विरोधी कहा है, अब सूत्रकार उसके अधर्ममूलक गर्हित कृत्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि एकादि राष्ट्रकूट पांचसौ ग्रामों में निवास करने वाली प्रजा को निम्नलिखित कारणों द्वारा आचार भ्रष्ट, तिरस्कृत, ताडित एवं पीडित कर रहा था जैसे कि—क्षेत्र आदि में उत्पन्न होने वाले पदार्थों के कुछ भाग को कर महसूल के रूप में ग्रहण करना (२) करों—टैक्सों में अन्धाधुन्ध वृद्धि करके सम्पत्ति को लूट लेना, (३) किसान आदि श्रमजीवी वर्ग को दिये गये अन्नादि के बदले दुगना तिगुना कर ग्रहण करना (४) अपराधी के अपराध को दबा देने के निमित्त उत्कोच—रिश्वत लेना (५) अनाथ प्रजा की उचित पुकार अपने स्वार्थ के लिये दबा देना, अर्थात् यदि प्रजा अपने हित के लिये कोई न्यायोचित आवाज उठाये तो उस पर राज्य-विद्रोह के बहाने दमन का चक्र चलाना (६) ऋणी व्यक्ति से अधिक मात्रा में ब्याज लेना (७) निर्दोष व्यक्तियों पर हत्यादि का अपराध लगाकर उन्हें दण्डित करना (८) अपने

(१) पुरोवर्तित्व-अग्रेसरत्व (मुख्यत्व), स्वामित्व नायकत्व भर्तृत्व पोषणकर्तृत्व, महत्तरकत्व-उत्तमत्व, आज्ञेश्वर सेनापत्य-आज्ञा की प्रधानता वाले स्वामी की सेना का नेतृत्व करता हुआ।

स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये किसी अयोग्य व्यक्ति को किसी स्थान का प्रबन्धक बना देना, तात्पर्य यह है कि किसी अयोग्य पुरुष को धन लेकर किसी प्रान्त का प्रबन्धक नियुक्त कर देना (९) चोरों का पोषण करना, अर्थात् उन से चोरी करा कर उस में से हिस्सा लेना, अथवा बदमाशों के द्वारा शान्ति स्वयं भंग कराकर फिर सख्ती से नियन्त्रण करना (१०) व्याकुल जनता को ठगने के लिये ग्राम आदि को जलादेना (११) मार्ग में चलने वालों को लूटना, अर्थात् पथिकों-मुसाफिरों को मरवा कर उन के धन का अपहरण करना।

दुराचारी मनुष्य अपने अचिरस्थायी सुख वा स्वार्थ के लिये गर्हित से गर्हित कार्य करने में भी सङ्कोच नहीं करता, यही कारण है कि वह दुःख-मिश्रित सुख के लिये अनेक जन्मों में भोगे जाने वाले दुःखों का संग्रह कर लेता है। एकादि नामक राष्ट्रकूट उन्हीं पतित व्यक्तियों में से एक था, वह अपने स्वार्थ की वर्तमान कालीन सुखसामग्री को सन्मुख रखता हुआ अनाथ प्रजा को पीडित कर रहा था। और अपने प्रभुत्व के मद में अन्धा होता हुआ हजारों जन्मों में भोगे जाने वाले दुःखों का सामान पैदा कर रहा था। अतः बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह केवल अपनी वर्तमान परिस्थिति का ही ध्यान न करता हुआ अपनी भूत और भावी अवस्था का भी ध्यान रक्खे। जिस से कि जीवन क्षेत्र में आध्यात्मिक विकास को भी कुछ अवकाश मिल सके।

अब सूत्रकार एकादि राष्ट्रकूट की पतित मानसिक वृत्तियों द्वारा उपार्जित कर्मों के फल स्वरूप भयंकर रोगों का वर्णन करते हुए इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से एक्काई रट्ठकूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स बहूणं राईसर० जाव सत्थवाहाणं अण्णेसिं च बहूणं गामेल्लगपुरिसाणं बहूसु कज्जेसु कारणेसु य मंतेसु गुज्झेसु निच्छएसु य ववहारेसु सुणमाणे भणति न सुणेमि, असुणमाणे भणति सुणेमि, एवं पस्समाणे भासमाणे गेण्हमाणे जाणमाणे। तते णं से एक्काई रट्ठकूडे एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे, एयसमायारे सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणमाणे विहरति। तते णं तस्स एगाइयस्स

---

(१) छाया—ततः स एकादी राष्ट्रकूटो विजयवर्द्धमानस्य खेटस्य बहूनां राजेश्वर० यावत् सार्थवाहानामन्येषां च बहूनां ग्रामेयकपुरुषाणां बहुषु [1]कार्येषु कारणेषु च मन्त्रेषु गुह्येषु निश्चयेषु व्यवहारेषु च शृण्वन् भणति न शृणोमि, अशृण्वन् भणति शृणोमि, एवं पश्यन् भाषमाणो गृह्णन् जानन्। ततः स एकादी राष्ट्रकूटः [2]एतत्कर्मा एतत्प्रधान एतद्विद्य एतत्समाचारः सुबहु पापं कर्म कलिकलुषं समर्जयन् विहरति। ततः तस्यैकादे राष्ट्रकूटस्य अन्यदा कदाचित् शरीरे युगपदेव षोडश रोगातङ्काः प्रादुर्भूता तद्यथा—

श्वासः १ कासः २ ज्वरः ३ दाहः ४ कुक्षिशूलम् ५ भगन्दरः ६ अर्शः ७ अजीर्णम् ८ दृष्टिमूर्धशूले ९—१० अरोचकः ११ अक्षिवेदना १२ कर्णवेदना १३ कण्डूः १४ दकोदरः १५ कुष्ठः १६।

---

(१) "कज्जेसु" त्ति कार्येषु प्रयोजनेषु अनिष्पन्नेषु, 'कारणेसु'त्ति सिषाधयिषितप्रयोजनोपायेषु विषयभूतेषु ये मन्त्रादयो व्यवहारान्तास्तेषु तत्र मन्त्रा पर्यालोचनानि, गुह्यानि रहस्यानि, निश्चया वस्तुनिर्णया व्यवहारा विवादास्तेषु विषयभूतेषु इति वृत्तिकारः।

(२) "एयकम्मे" त्ति एतद्-व्यापारः एतदेव वा काम्यं कमनीयं यस्य स तथा "एयप्पहाणे" त्ति एतत्प्रधानः एतन्निष्ठ इत्यर्थः। "एयविज्जे" त्ति एषैव विद्या विज्ञानं यस्य स तथा। "एयसमायारे" त्ति एतज्जीतकल्प इत्यर्थः। (वृत्तिकार)

रट्ठकूडस्स अण्णया कयाइ सरीरगंसि जमगसमगमेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया तं जहा—सासे १ कासे २ जरे ३ दाहे ४ कुच्छिसूले ५ भगंदरे ६ अरिसे ७ अजीरते ८ दिट्ठी ९ मुद्धसूले १० अकारए ११ अच्छिवेयणा १२ कण्णवेयणा १३ कंडू १४ दओदरे १५ कोढे १६ ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । से एक्काई रट्ठकूडे—वह एकादि राष्ट्रकूट । विजयवद्धमाणस्स खेडस्स—विजयवर्द्धमान खेट के । बहूणं—अनेक । राईसर० जाव सत्थवाहाणं—राजा से लेकर सार्थवाह पर्यन्त । अन्नेसिं च—तथा अन्य । बहूणं—अनेक । गामेल्लगपुरिसाणं—ग्रामीण पुरुषों के । बहुसु—बहुत से । कज्जेसु—कार्यों में । कारणेसु य—कारणों—कार्यसाधक हेतुओं में । मंतेसु—मन्त्रों—कर्तव्य का निश्चय करने के लिये किये गये गुप्त विचारों में । गुज्झेसु निच्छएसु—गुप्त निश्चयों निर्णयों में तथा । ववहारेसु—व्यवहारों में—विवादों में अथवा व्यवहारिक बातों में । सुणमाणे—सुनता हुआ । भणति—कहता है । न सुणेमि—मैंने नहीं सुना । असुणमाणे भणति—न सुनता हुआ कहता है सुणेमि—सुनता हूँ । एवं—इसी प्रकार । पस्समाणे—देखता हुआ । भासमाणे—बोलता हुआ । गेण्हमाणे—ग्रहण करता हुआ । जाणमाणे—जानता हुआ [भी विपरीत ही कहता है] । तते णं—तदनन्तर । से एक्काई रट्ठकूडे—वह एकादि राष्ट्रकूट । एयकम्मे—इस प्रकार के कर्म करने वाला । एयप्पहाणे—इस प्रकार के कर्मों में तत्पर । एयविज्जे—इसी प्रकार की विद्या—विज्ञान वाला । एयसमायारे—इस प्रकार के आचार वाला । सुबहु—अत्यधिक । कलिकलुसं—कलह (दु:ख) का कारणीभूत होने से मलिन । पावं कम्मं—पाप कर्म । समज्जिणमाणे—उपार्जन करता हुआ । विहरति—जीवन व्यतीत कर रहा था । तते णं—तदनन्तर । तस्स—उस । एगाइयस्स—एकादि । रट्ठकूडस्स—राष्ट्रकूट के । अण्णया कयाइ—किसी अन्य समय । सरीरगंसि—शरीर में । जमगसमगमेव—युगपद्—एक साथ ही । सोलस—सोलह । रोगायंका—रोगातंक—कष्टसाध्य अथवा असाध्य रोग । पाउब्भूया—उत्पन्न हो गये । तंजहा—जैसे कि । सासे—श्वास । कासे—कास । जरे—ज्वर । दाहे—दाह । कुच्छिसूले—उदर—शूल । भगंदरे—भगंदर । अरिसे—अर्श—बवासीर । अजीरते—अजीर्ण । दिट्ठी—दृष्टिशूल—नेत्रपीडा मुद्धसूले—मस्तकशूल—शिरोवेदना । अकारए—अरुचि—भोजन की इच्छा का न होना । अच्छिवेयणा—आंख में दर्द होना । कण्णवेयणा—कर्णपीडा । कंडू—खुजली । दओदरे—दकोदर, जलोदर—उदर—रोग का भेद विशेष । कोढे—कुष्ठरोग ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह राष्ट्रकूट [प्रान्त विशेष का अधिपति] एकादि विजयवर्द्धमान खेट के अनेक राजा—माण्डलिक, ईश्वर—युवराज, तलवर—राजा के कृपापात्र, अथवा जिन्हों ने राजा की ओर से उच्च आसन (पदवी विशेष) प्राप्त किया हो ऐसे नागरिक लोग, तथा माडंबिक—मडम्ब[1] के अधिपति, कौटुम्बिक—कुटुम्बों के स्वामी श्रेष्ठी और सार्थवाह—सार्थनायक तथा अन्य अनेक ग्रामीण पुरुषों के कार्यों में, कारणों में, गुप्तमंत्रों—मंत्रणाओं, निश्चयों और विवादसम्बन्धी निर्णयों अथवा व्यवहारिक बातों में सुनता हुआ कहता है कि मैंने नहीं सुना, नहीं सुनता हुआ कहता है

---

(१) जिसके निकट दो दो योजन तक कोई ग्राम न हो उस प्रदेश को मडम्ब कहते हैं । —"मडम्बं च योजनद्वयाभ्यन्तरेऽविद्यमानग्रामादिनिवेशाः सन्निवेशविशेषाः प्रसिद्धाः [वृत्तिकार]

कि मैने सुना है, इसी प्रकार देखता हुआ, बोलता हुआ, ग्रहण करता हुआ और जानता हुआ भी यह कहता है कि मैने देखा नही, बोला नही, ग्रहण किया नही और जाना नहीं। तथा इस से विपरीत नही देखे, नही बोले, नही ग्रहण किये, और नही जाने हुए के सम्बन्ध में कहता है कि मैने देखा है, बोला है, ग्रहण किया है तथा जाना है। इस प्रकार के वंचनामय व्यवहार को उस ने अपना कर्तव्य समझ लिया था। मायाचार करना ही उसके जीवन का प्रधान कार्य था और प्रजा को व्याकुल करना ही उस का विज्ञान था, एव उस के मत मे मनमानी करना ही एक सर्वोत्तम आचरण था। वह एकादि राष्ट्रकूट कलह- दु ख के हेतु भूत अत्यन्त मलिन पापकर्मो का उपार्जन करता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था। तदनन्तर किसी समय उसके शरीर में एक साथ ही सोलह प्रकार के रोगातक—जीवन के लिये अत्यन्त कष्टोत्पादक, कष्टसाध्य अथवा असाध्य रोग उत्पन्न हो गए। जैसेकि—श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिमूल, भगदर, अर्श, अजीर्ण दृष्टिशूल, मस्तकशूल, अरुचि, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, कडू—खुजली, जलोदर और कुष्ठरोग।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे एकादि राष्ट्रकूट के नैतिक जीवन का चित्रण किया गया है। वह विजय-वर्द्धमान खेट मे रहने वाले माडलिक, युवराज आदि तथा अन्य ग्रामीण पुरुषो के अनेकविध कार्यों, कारणों, गुप्त-निश्चयो और विवादनिर्णयों अथवा व्यवहारिक बातो की यथारुचि अवहेलना करने मे प्रवृत्त था, तदनुसार सुने हुए को वह कह देता था कि मैने नही सुना और नहीं सुनने पर कहता कि मैने सुना है, इसी प्रकार देखने, बोलने, ग्रहण करने और जानने पर भी—मैने नहीं देखा, नही बोला, नहीं ग्रहण किया और नही जाना तथा न देखने, न बोलने, न ग्रहण करने और न जानने पर कहता कि मे देखता हूँ, बोलता हूँ, ग्रहण करता और जानता हूँ। साराश यह है कि उस की प्रत्येक क्रिया मनमानी और प्रजा के लिये सर्वथा अहितकर थी।

"**—राईसर० जाव सत्थवाह णं—**" के "**जाव – यावत**' पद मे —'**तलवर –माडंबिय-कोडुंबियसत्थवाहाणं —**' पाठ का ग्रहण कर लेना। इन पदो का अर्थ पदार्थ मे किया जा चुका है।

तब एवविध कर्मो मे समुद्यत एव पातकमय कर्मो के आचरण मे निपुण वह एकादि दुःखो के उत्पादक अत्यन्त नीच और भयानक पापकर्मो का सचय करता हुआ जीवन बिता रहा था। परन्तु स्मरण रहे कि शास्त्रीय कथन के अनुसार किये हुए पाप कर्मो का फल भोगना अवश्य पडता है। कर्मो के बिना भोगे उन से छुटकारा कभी नहीं हो सकता। उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान महावीर स्वामी इस बात का निम्नोक्त शब्दो द्वारा समर्थन करते हैं, जैसे कि—

तेणे[1] जहा सन्धिमुहे गहोए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मुक्खु अत्थि ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४—३)

अर्थात्—सेंध लगाता हुआ पकडा जाने वाला चोर जिस प्रकार अपने किए हुए पापकर्मो से मारा जाता है, उसी प्रकार शेष जीव भी इस लोक तथा परलोक मे अपने किये हुए कर्मो को

(१) छाया— स्तेनो यथा सन्धि—मुखे गृहीत, स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एव प्रजा प्रेत्येह च लोके, कृताना कर्मणा न मोक्षोऽस्ति ॥

भोगे बिना छुटकारा नहीं पा सकते। तात्पर्य यह है कि कर्मों का फल भोगना अवश्यभावी है, बिना भोगे कर्मों से छुटकारा नहीं हो पाता। तथा **"अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते"** अर्थात् यह जीव अत्यन्त उग्र पुण्य और पाप का फल यहीं पर भोग लेता है—इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार एकादि राष्ट्रकूट के शरीर में एक साथ ही सोलह रोगातक उत्पन्न हुए। जो रोग अत्यन्त कष्टजनक हों तथा जिन का प्रतिकार कष्टसाध्य अथवा असाध्य हो उन्हें रोगातक कहते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) श्वास (२) कास (३) ज्वर (४) दाह (५) कुक्षिशूल (६) भगन्दर (७) अर्श—बवासीर (८) अजीर्ण (९) दृष्टिशूल (१०) मस्तकशूल (११) अरोचक (१२) अक्षिवेदना (१३) कर्णवेदना (१४) कण्डू—खुजली (१५) दकोदर—जलोदर (१६) कुष्ठ—कोढ। ये १६ रोग एकादि के शरीर में एक दम उत्पन्न हो गए। श्वास, कास आदि रोगों का सांगोपांग व्याख्यान तो वैद्यक ग्रन्थों में से जाना जा सकेगा परन्तु संक्षेप में यहां इन का मात्र परिचय करा देना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) श्वास—अभिधान राजेन्द्र कोश में श्वास शब्द का—**"अतिशयत ऊर्ध्वश्वासरूपरोग-भेद—"** यह अर्थ लिखा है, इसका भाव है—तेजी से सांस का ऊपर उठना अर्थात्—दम का फूलना, दमे की बीमारी। श्वास एक प्रसिद्ध रोग है, इसके—[1]महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास, और क्षुद्रश्वास ये पांच भेद कहे हैं [2] जब वायु कफ के साथ मिलकर प्राण जल और अन्न के बहने वाले स्रोतों को रोक देता है तब अपने आप कफ से रुका हुआ वायु चारों ओर स्थित होकर श्वास को उत्पन्न करता है।

(२) कास—कासरोग भी वात, पित्त, कफ, क्षत और क्षय भेद से पांच प्रकार का है। इस का निदान और लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है—

धूमोपघाताद्रजसस्तथैव, व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च।
विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य, वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥१॥
प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः, संभिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषः मनीषिभिः कास[3] इति प्रदिष्टः ॥२॥

(माधवनिदाने कासाधिकार)

अर्थात्- नाक तथा मुख में रज और धूम के जाने से, अधिक व्यायाम करने से, नित्य प्रति रूक्षान्न के सेवन से, कुपथ्यभोजन से, मलमूत्र के अवरोध तथा आती हुई छींक को, रोकने से, प्राणवायु अत्यन्त दुष्ट होकर और दुष्ट उदान वायु से मिलकर कफ पित्त युक्त हो सहसा मुख से बाहर निकले, उस का

---

(१) महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पंचधा।
भिद्यते स महाव्याधि श्वास एको विशेषतः ॥१५॥

(२) यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग् व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥१७॥

[माधवनिदाने - श्वासाधिकार]

(३) (क) **कसति शिरः कंठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः**। अर्थात् जो वायु कंठ से ऊपर सिर की ओर जाय उस को कास कहते हैं।

(ख) अभिधान राजेन्द्र कोष में कास शब्द का **"—केन जलेन कफात्मकेन अश्यते व्याप्यते इति कासः—"** ऐसा अर्थ लिखा है। इस का भाव है—कफ का बढ़ना, अर्थात् खांसी का रोग।

शब्द फूटे कास्य पात्र के समान हो, मनीषी-वैद्यलोग उसे कास-अर्थात् खासी का रोग कहते हैं।

(३) ज्वर — **स्वेदावरोध सन्ताप, सर्वांगग्रहण तथा।**
युगपद् यत्र रोगे तु, स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥१४३॥
[वगसेने ज्वराधिकार.]

अर्थात्—पसीना न आना, शरीर मे सन्ताप का होना, और सम्पूर्ण अगों मे पीडा का होना, ये सब लक्षण जिस रोग मे एक साथ हों उस को ज्वर कहते हैं। ज्वर के वातज्वर, पित्तज्वर, कफज्वर द्विदोषज्वर इत्यादि अनेकों भेद लिखे हैं। जिन्हे वैद्यक ग्रन्थों मे जाना जा सकता है।

(४) दाह— एक प्रकार का रोग है, जिस से शरीर मे जलन प्रतीत होती है। माधवनिदान आदि वैद्यक ग्रन्थों मे दाह—रोग सात प्रकार का बतलाया गया है, जैसे कि—प्रथम प्रकार मे मदिरा के सेवन करने से पित्त और रक्त दोनों प्रकुपित हो कर समस्त शरीर मे दाह पैदा कर देते हैं, यह दाह केवल त्वचा मे अनुभव किया जाता है। द्वितीय प्रकार मे रक्त का दबाव बढ जाने से देह मे अग्निदग्ध के समान तीव्र जलन होती है, आखे लाल हो जाती हैं, त्वचा ताम्बे की तरह तप जाती है, तृष्णा बढ जाती है और मुख मे लोहे जैसी गन्ध आती है। तृतीय प्रकार मे—गला, ओठ मुंह, नाक, पक जाते हैं, पसीना अधिक आता है, निद्राभाव, वमन, तीव्र अतिसार दस्त), मूर्च्छा, तन्द्रा, और कभी २ प्रलाप भी होने लगता है। चतुर्थ प्रकार मे—प्यास के रोकने से शरीरगत अब्धातु (जल) प्रकुपित हो कर शरीर मे दाह उत्पन्न करता है। गल, ओठ और तालु सूखने लगता है एव शरीर कापने लग जाता है। पाचवा दाह हथियार की चोट से निसृत रक्त से जिसके कोष्ठ भर गये हैं, उस को हुआ करता है, यह अत्यन्त दुस्तर होता है। छठे प्रकार मे—मूर्च्छा, तृष्णा होती है, स्वर मन्द पड जाता है, शरीर मे दाह के साथ साथ रोगी क्रियाहीनता का अनुभव करता है। सातवा दाह—मर्माभिघात होने के कारण होता है, यह असाध्य होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों के शब्दों में यदि कहा जाए तो-**कैलशियम, पैन्टोथेनेट** (Calcium, Pantothenate) नामक द्रव्य की कमी के आ जाने से हाथ तथा पाव में जलन हो जाती है—यह कह सकते हैं।

(५) **कुक्षिशूल**—पार्श्वशूल का ही दूसरा नाम कुक्षिशूल है। शूलरोग मे प्राय वात को ही प्राधान्य प्राप्त है। वगसेन के शूलाधिकार मे लिखा है कि—वृद्धि को प्राप्त हुआ वायु हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक और बस्ति स्थान मे शूल को उत्पन्न करता है। **वायु प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकबस्तिदेशे।**

शूल (वायु के प्रकोप से होने वाला एक प्रकार का तेज दर्द) यह एक भयकर व्याधि है और इसकी गणना सद्य प्राणहर व्याधियों मे है।

(६) भगन्दर— **गुदस्य द्व्यंगुले क्षेत्रे, पार्श्वतः पिटिकार्तिकृत्।**
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः, स च पंचविधो मतः ॥१॥
(माधवनिदाने भगन्दराधिकार)

अर्थात्—गुदा के समीप एक बाजू पर दो अगुल ऊची एक पिटिका-फुन्सी होती है, जिस मे पीडा अधिक हुआ करती है, उस पिटिका—फुन्सी के फूट जाने के अनन्तर की अवस्था को भगन्दर कहते हैं और वह पाच प्रकार का है। अभिधान चिन्तामणी काण्ड ३ श्लोक १२१ की व्याख्या मे आचार्य हेमचन्द्र जी ने भगन्दर शब्द की निरुक्ति या व्युत्पत्ति इस प्रकार की है **"भगं दारयतीति भगन्दर"** भग अर्थात् गुह्य और मुष्क—गुदा तथा अण्डकोष के मध्यवर्ती स्थान को जो विदीर्ण करे उस का नाम भगन्दर है[1]। किसी किसी आचार्य का यह

---

(१) शब्दस्तोम महानिधि कोष मे भग शब्द से गुह्य और मुष्क के मध्यवर्ती स्थान का ग्रहण

मत है कि भगाकार विदीर्ण होने से इस का नाम भगन्दर, है, अर्थात् भगाकार विदीर्ण होता है इस कारण इस को भगन्दर कहते हैं। वास्तव मे ऊपर उल्लेख किये गये भगन्दर के लक्षण के साथ भगन्दर शब्द की निरुक्ति कुछ अधिक मेल खाती है।

(७) **अर्श** - इसका आम प्रचलित नाम बवासीर है। यह ६ प्रकार की होती है—(१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) त्रिदोषज (५) रक्तज (६) सहज। इस का निदान और लक्षण इस प्रकार कहा है—

दोषास्त्वङ् मांसमेदांसि, सन्दूष्य विविधाकृतीन्।
मांसांकुरानपानादौ, कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगु ॥ २ ॥

(माधवनिदाने अर्शोधिकार)

अर्थात्—दुष्ट हुए वातादि दोष, त्वचा, मास और मेद को दूषित करके गुदा मे अनेक प्रकार के आकार वाले मास के अकुर (मस्सा) को उत्पन्न करते हैं उन को अर्श—अर्थात् बवासीर कहते हैं। उक्त षड्विध अर्श रोग मे त्रिदोषज कष्टसाध्य और सहज असाध्य है।

(८) **अजीर्ण**—जीर्ण अर्थात् किये हुए भोजनादि पदार्थों का सम्यक् पाक न होना अजीर्ण है। यह रोग जठराग्नि की मन्दता के कारण होता है। वैद्यकग्रन्थो मे—मन्द तीक्ष्ण विषम और सम इन भेदों से जठराग्नि चार प्रकार की [१]बतलाई है। इन मे कफ की अधिकता से मन्द, पित्त के आधिक्य मे तीक्ष्ण, वायु की विशेषता से विषम और तीनों की समानता से सम अग्नि होती है। इन मे सम अग्निवाले मनुष्य को तो किया हुआ यथेष्ट भोजन समय पर अच्छे प्रकार से पच जाता है। और मन्दाग्नि वाले पुरुष को स्वल्प मात्रा मे किया हुआ भोजन भी नहीं पचता तथा जो विषमाग्नि वाला होता है उसको कभी पच भी जाता है और कभी नहीं भी पचता। तथा जो तीक्ष्ण अग्नि वाला होता है उसको तो भोजन पर भोजन, अथवा अत्यन्त भोजन भी किया हुआ पच जाता है। इन मे जो मन्दाग्नि या विषम अग्नि वाला पुरुष होता है उसी पर अजीर्ण रोग का आक्रमण होता है। अजीर्ण रोगके प्रधानतया चार भेद बतलाये हैं जैसे कि —(१) आम अजीर्ण (२) विदग्ध अजीर्ण (३) विष्टब्ध अजीर्ण और (४) रसशेष अजीर्ण। इन की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) आम—अजीर्ण मे कफ की प्रधानता होती है, इस मे खाया हुआ भोजन पचता नहीं है।
(२) विदग्ध—अजीर्ण मे पित्त का प्राधान्य होता है, इस मे खाया हुआ भोजन जल जाता है।
(३) विष्टब्ध—अजीर्ण मे वायु की अधिकता होती है, इस मे खाया हुआ अन्न बध सा जाता है।
(४) रसशेष—अजीर्ण मे खाया हुआ अन्न भली भाति नहीं पचता।

किया है—**भगन्दरम्—भग गुह्यमुष्कमध्यस्थानं दारयतीति**　　**स्वनामाख्याते रोगभेदे**— तब भगशब्द से आचार्य हेमचन्द्र जी को भी सम्भवत यही अभिमत होगा ऐसा हमारा विचार है।

(१) मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषम, समश्चेति चतुर्विध।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनल ॥ १ ॥

[वगसेने अजीर्णाधिकार]

(२) आम विदग्ध विष्टब्ध, कफपित्तानिलैस्त्रिभि।
अजीर्ण केचिदिच्छान्ति, चतुर्थ रस—शेषत ॥ २७ ॥　　(वगसेने)

वैद्यक ग्रन्थों मे अजीर्ण रोग की उत्पत्ति के कारणों और लक्षणों का इस प्रकार निर्देश किया है—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च, संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥
ईर्षाभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीड़ितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥

[माधवनिदान में अजीर्णाधिकार]

अर्थात्—अधिक जल पीने से, भोजन समय के उलघन से, मल मूत्रादि के वेग को रोकने से, दिन मे सोने और रात्रि मे जगने से, समय पर किया गया हित मित और लघु-हलका भोजन भी मनुष्य को नहीं पचता । तात्पर्य यह है कि इन कारणों से अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है। इस के अतिरिक्त ईर्षा, भय, क्रोध और लोभ से युक्त तथा शोक और दीनता एव द्वेष पीडित मनुष्य का भी खाया हुआ अन्न पाक को प्राप्त नहीं होता अर्थात् नहीं पचता । ये अजीर्ण रोग के अन्तरग कारण हैं । और इस का लक्षण निम्नोक्त है—

ग्लानिर्गौरवमाटोपो, भ्रमो मारुत-मूढता । निबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा, सामान्याजीर्ण-लक्षणम् ॥

(वगसेने)

अर्थात्—ग्लानि भारीपन, पेट मे अफारा और गुडगुडाहट, भ्रम तथा अपान वायु का अवरोध, दस्त का न आना अथवा अधिक आना यह सामन्य अजीर्ण के लक्षण हैं।

(९) **दृष्टिशूल**—इस रोग का निदान ग्रन्थों में इस नाम से तो निर्देश किया हुआ मिलता नहीं, किन्तु आम युक्त नेत्ररोग के लक्षण वर्णन में इसका उल्लेख देखने मे आता है, जैसे कि—

उदीर्णवेदनं नेत्रं, रागोद्रेकसमन्वितम् । घर्षनिस्तोदशूलाश्रुयुक्तमामान्वितं विदु. ॥

अर्थात्—जिस रोग में नेत्रो मे उत्कट वेदना-पीडा हो, लाली अधिक हो, करकराहट हो-रेत गिरने से होने वाली वेदना के समान वेदना हो, सुई चुभाने सरीखी पीडा हो, तथा शूल हो और पानी बहे, ये सब लक्षण आमयुक्त नेत्ररोग के जानने ।

(१०) **मूर्ध-शूल**— मस्तक शूल की गणना शिरोरोग में है। यह-शिरोरोग ग्यारह प्रकार का होता है, जैसे कि—

शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभि । सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥१॥
सूर्यावर्तानन्त-वात-शखकोऽर्द्धावभेदकै । एकादशविधस्यास्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥२॥

(वगसेने)

अर्थात्—(१) वात (२) पित्त (३) कफ (४) सन्निपात (५) रक्त (६) क्षय और (७) कृमि इन कारणों से उत्पन्न होने वाले सात तथा (८) सूर्यावर्त (९) अनन्त-वात (१०) अर्द्धावभेदक और ११) शखक, इन चार के साथ शिरोरोग ग्यारह प्रकार का है, इन सब के पृथक् पृथक लक्षण निदान ग्रन्थों से जान लेने चाहियें । यहा विस्तार भय से उनका उल्लेख नहीं किया गया ।

(११)**अरोचक**—भोजनादि में अरुचि-रुचिविशेष का न होना अरोचक का प्रधान लक्षण है। वगसेन तथा माधव निदान प्रभृति वैद्यक ग्रन्थो मे लिखा है कि—वातादि दोष, भय क्रोध और अति-लोभ के कारण तथा मन को दूषित करने वाले आहार, रूप और गन्ध के सेवन करने से पाच प्रकार का अरोचक रोग उत्पन्न होता है, जैसे कि—

वातादिभि शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशन-रूपगंधै. अरोचका स्यु ॥१॥ [वगसेने]

(१२) **अक्षिवेदना**—यह कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है। किन्तु वात-प्रधान नेत्र रोग में अर्थात्—

वाताभिष्यन्द में यह समाविष्ट किया जा सकता है, जैसे कि—

निस्तोदनस्तंभन—रोमहर्ष—संघर्षपारुष्य—शिरोभितापाः।
विशुष्कभाव शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥५॥

[माधवनिदाने नेत्ररोगाधिकार]

अर्थात्—वाताभिष्यन्द—वातप्रधान नेत्ररोग में सूई चुभाने सरीखी पीडा या तोडने नोचने सरीखी पीड़ा होती है, इस के अतिरिक्त नेत्रों में स्तंभन, जड़ता, रोमाच, करकराहट—रेता पड़ने सरीखी रड़क, और रूक्षता होती है तथा मस्तकपीड़ा और नेत्रों से शीतल आंसू गिरते हैं।

(१३) कर्ण वेदना—इसका अपर नाम कर्णशूल है। इस का निदान और लक्षण इस तरह वर्णित किया गया है—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरन्, समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।
करोति दोषैश्च यथा स्वमावृतः, स कर्णशूलः कथितो दुरासदः ॥ १ ॥

(माधवनिदाने कर्णरोगाधिकार)

अर्थात्—कुपित हुआ वायु कान में दोषों के साथ आवृत हो कर कानों में विपरीत गति से विचरण करे तब उस से कानों में जो अत्यन्त शूल—वेदना (दर्द) होती है उसे कर्णशूल कहते हैं। यह रोग कष्ट साध्य बतलाया गया है।

(१४) कण्डू—यह उपरोग है और [1]पामाका अवान्तर भेद है। इसी कारण वैद्यक ग्रन्थों में इसका स्वतन्त्र रूप से नाम निर्देश न करके भी चिकित्सा प्रकरण में इसका बराबर स्मरण किया है।

(१५) दकोदर—इस का दूसरा नाम जलोदर है और उसका लक्षण यह है—

स्निग्धं महत्तत्परिवृद्धनाभि—समाततं पूर्णमिवाम्बुना च।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कंपते च, शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥ २४ ॥

(माधवनिदाने उदररोगाधिकार)

अर्थात्—जिस में पेट चिकना, बड़ा, तथा नाभि के चारों ओर ऊंचा हो और तनासा मालूम होता हो, पानी की पोट भरी सरीखा दिखाई दे, जिस प्रकार पानी से भरी हुई मशक हिलती है उसी प्रकार हिले अर्थात् जिस तरह मशक में भरा हुआ जल हिलता है उसी प्रकार पेट में हिले, तथा गुड़ गुड़ शब्द करे और कांपे उस को दकोदर अथवा जलोदर कहते हैं। यह रोग प्रायः असाध्य ही होता है।

(१६) कुष्ठ—कोढ़ का नाम है। यह एक प्रकार का रक्त और त्वचा सम्बन्धी रोग है, यह सक्रामक और घिनौना होता है। वैद्यक ग्रन्थों में कुष्ठ रोग के १८ प्रकार—भेद बतलाए हैं। उन में सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ हैं[2]। इन में वात पित्त और कफ ये तीनों दोष

---

(१) पामा यह क्षुद्रकुष्ठों में परिगणित है, इसका लक्षण यह है—

सूक्ष्मा बह्वयः पिटिकाः स्राववत्यः पामेत्युक्ता कण्डूमत्यः सदाहा—

अर्थात्—जिस में त्वचा पर छोटी २ स्राव युक्त खुजली सहित दाह वाली अनेक पिटिका—फुन्सियें हों उसे पामा कहते हैं।

(२) महाकुष्ठ—(१) कपाल (२) औदुम्बर (३) मण्डल (४) ऋक्षजिह्व (५) पुण्डरीक (६) सिध्म और (७) काकण, ये सात महा कुष्ठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। और ११ क्षुद्रकुष्ठ हैं, जैसे कि—

कुपित होकर त्वचा रुधिर मांस और शरीरस्थ जलको दूषित कर के कुष्ठ रोग को उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य यह है कि वात पित्त, कफ, रस रुधिर मांस तथा लसीका इन सातों के दूषित होने अर्थात् बिगड़ने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता। इन में पहले के तीन—वात पित्त और कफ तो दोष के नाम से प्रसिद्ध हैं और बाकी के चारों रस रुधिर, मांस और लसीका—की दूष्य संज्ञा है। इस प्रकार संक्षेप से ऊपर वर्णन किये गये १६ रोगों ने एकादि नाम के राष्ट्रकूट पर एक बार ही आक्रमण कर दिया अर्थात् ये १६ रोग एक साथ ही उसके शरीर में प्रादुर्भूत हो गये। वास्तव में देखा जाय तो अत्युग्रपापों का ऐसा ही परिणाम हो सकता है। अस्तु।

अब पाठक एकादि राष्ट्रकूट की अग्रिम जीवनी का वर्णन सुनें जो कि सूत्रकार के शब्दों में इस तरह वर्णित है—

मूल—[1]तते णं से एक्काई रट्ठकूडे सोलसहिं रोगातंकेहिं अभिभूते समाणे कोडुंबिय-पुरिसे सद्दावेति २ एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! विजयवद्धमाणे खेडे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-महापह-पहेसु महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वयह—एवं खलु देवाणुप्पिया! एक्काइ० सरीरगंसि सोलस रोगातंका पाउब्भूता तंजहा—सासे १ कासे २ जरे

---

(१) चम (२) किटिम (३) वैपादिक (४) अलसक (५) दद्रु—मंडल (६) चर्मदल (७) पामा (८) कच्छु (९) विस्फोटक (१०) शतारु (११) विचर्चिका, ये ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ के नाम से विख्यात हैं। इनके पृथक २ लक्षण और चिकित्सा सम्बन्धी सम्पूर्ण वर्णन चरक, सुश्रुत और वागभट्ट से लेकर वंगसेन तक के समस्त आयुर्वेदीय ग्रन्थों में पर्याप्त है अतः वहीं से देखा जा सकता है।

(१) छाया—ततः स एकादी राष्ट्रकूटः षोडशभी रोगातंकैरभिभूतः सन् कौटुम्बिक—पुरुषान् शब्दाययति, शब्दाययित्वा एवमवदत्—गच्छत यूयं देवानुप्रियाः! विजयवर्द्धमाने खेटे शृंगाटक-त्रिक-चतुष्क चत्वर—महापथपथेषु महता शब्देन उद्घोषयन्तः २ एवं वदत एवं खलु देवानुप्रियाः! एकादि० शरीरे षोडश रोगातंकाः प्रादुर्भूताः, तद्यथा—श्वासः १ कासः २ ज्वरः ३ यावत् कुष्ठः। तद् य इच्छति देवानुप्रियाः! वैद्यो वा वैद्यपुत्रो वा ज्ञायको वा ज्ञायक-पुत्रो वा चिकित्सकः चिकित्सकपुत्रो वा, एकादेः राष्ट्रकूटस्य तेषां षोडशानां रोगातंकानामेकमपि रोगातंकमुपशमयितुम् तस्य एकादी राष्ट्रकूटो विपुलमर्थसम्प्रदानं करोति द्विरपि त्रिरपि उद्घोषयत, उद्घोष्य एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयत। ततस्ते कौटुम्बिक-पुरुषा यावत् प्रत्यर्पयन्ति,ततो विजयवर्द्धमाने खेटे इमामेतद्रूपामुद्घोषणां श्रुत्वा निशम्य बहवो वैद्याश्च शस्त्रकोशहस्तगताः स्वेभ्य स्वेभ्यो गृहेभ्य प्रतिनिष्क्रामन्ति, प्रतिनिष्क्रम्य विजयवर्द्धमानस्य खेटस्य मध्यमध्येन यत्रैव एकादिराष्ट्रकूटस्य गृहं तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागम्य एकादिशरीरं परामृशन्ति, परामृश्य तेषां रोगाणां निदानं पृच्छन्ति पृष्ट्वा एकादिराष्ट्रकूटस्य बहुभिरभ्यंगैरुद्वर्तनाभिश्च स्नेहपानैश्च वमनैश्च विरेचनाभिश्च सेचनाभिश्च, अवदाहनाभिश्च अवस्नानैश्च अनुवासनाभिश्च बस्तिकर्मभिश्च निरुहैश्च शिरावेधैश्च तक्षणैश्च प्रतक्षणैश्च शिरोबस्तिभिश्च तर्पणैश्च पुटपाकैश्च छल्लिभिश्च, मूलैश्च कन्दैश्च पत्रैश्च पुष्पैश्च फलैश्च, बीजैश्च शिलि-काभिश्च, गुटिकाभिश्च औषधैश्च भैषज्यैश्च इच्छन्ति तेषां षोडशानां रोगातंकानामेकमपि रोगातंकमुपशम-यितुं नो चैव सशक्नुवन्ति उपशमयितुं। ततस्ते बहवो वैद्या वैद्यपुत्राश्च ६ यदा नो सशक्नुवन्ति तेषां षोडशानां रोगातंकानामेकमपि रोगातंकमुपशमयितुं, तदा श्रान्तास्तान्ताः परितान्ता यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतास्तामेवदिशं प्रतिगताः।

३ जाव कोढ़े १६। तं जो णं इच्छति देवाणुप्पिया! वेज्जो वा वेज्जपुत्तो वा जाणओ वा जाणयपुत्तो वा तेइच्छिओ वा तेइच्छिय-पुत्तो वा एगातिस्स रट्ठकूडस्स तेसिं सोलसएहं रोगातंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तते, तस्स णं एक्काई रट्ठकूड़े विपुल अत्थसंपयाणं दलयति, दोच्चंपि तच्चंपि उग्घोसेह २ त्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणेह। ततेणं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पच्चप्पिणंति। तते ण से विजयवद्धमाणे खेड़े इमं एयारूवं उग्घोसणं सोच्चा णिसम्म बहवे वेज्जा य ६ सत्थकोसहत्थगया सएहिं सएहिं गेहेहिंतो पड़िनिक्खमंति २ त्ता विजयवद्धमाणस्स खेडस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव एगाइ—रट्ठकूड़स्स गेहे तेणेव उवागच्छंति २ त्ता एगाइ—सरीरयं परामुसंति २ त्ता तेसिं रोगाण निदाणं पुच्छति २ त्ता एक्काइ—रट्ठकूड़स्य बहूहि अब्भंगेहि य उव्वट्टणाहि य सिणेहपाणेहि य वमणेहि य विरेयणाहि य सेयणाहि य अवदाहणाहि य अवण्हाणेहि य अणुवासणाहि य वत्थिकम्मेहि य निरूहेहि य सिरावेधेहि य तच्छणेहि य पच्छणेहि य सिरोवत्थीहि य तप्पणेहि य पुड़पागेहि य छल्लीहि य मूलेहि य कंदेहि य पत्तेहि य पुप्फेहि य फलेहि य बीएहि य सिलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भेसज्जेहि य इच्छंति तेसिं सोलसएहं रोयातकाणं एगमवि रोयायंकं उवसामित्तए, णो चेव णं संचाएंति उवसामित्तते। तते णं बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य ६ जाहे नो संचाएंति तेसिं सोलसएहं रोयातंकाणं एगमवि रोयायंकं उवसामित्तए, ताहे संता तंता परितंता जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगता।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। **सोलसहि**—उक्त सोलह प्रकार के। **रोगातंकेहि**—भयानक रोगों से। **अभिभूते समाणे**—खेद को प्राप्त। **से एक्काई**—वह एकादि नामक। **रट्ठकूडे**—राष्ट्रकूट। **कोडुंबियपुरिसे**—कौटुम्बिक पुरुषों—सेवकों को। **सद्दावेति २ त्ता**—बुलाता है, बुलाकर। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहता है। **देवाणुप्पिया!**—हे देवानुप्रियो! अर्थात् हे महानुभावो!। **तुब्भे णं**—तुम लोग। **गच्छह**—जाओ तथा। **विजयवद्धमाणे खेडे**—विजय वर्द्धमान खेट के। **सिंघाड़ग**—त्रिकोणमार्ग। **तिय**—त्रिक मार्ग—जहां तीन रास्ते मिलते हों। **चउक्क**—चतुष्क—जहां पर चार रास्ते इकट्ठे होते हों। **चच्चर**—चत्वर—जहां चार से भी अधिक रास्ते मिलते हों। **महापह**—महापथ—राजमार्ग—जहां बहुत से मनुष्यों का गमना—गमन होता हो और। **पहेसु**—सामान्य मार्गों में। **महया २ सद्देणं**—बड़े ऊंचे स्वर से। **उग्घोसेमाणा २**—उद्घोषणा करते हुए। **एव**—इस प्रकार। **वयह**—कहो। **देवाणुप्पिया!**—हे महानुभावो!। **एव खलु**—इस प्रकार निश्चय ही **एक्काइ०**—एकादि राष्ट्रकूट के। **सरीरगंसि**—शरीर में। **सोलस**—सोलह। **रोगातंका**—भयकर रोग। **पाउब्भूता**—उत्पन्न हो गये हैं। **तंजहा**—जैसे कि। **सासे**—श्वास १। **कासे**—कास २ **जरे**—ज्वर ३। **जाव**—यावत्। **कोढे १६**—कुष्ठ। **त**—इस लिये। **देवाणुप्पिया!**—हे महानुभावो!। **जे**—जो। **वेज्जो वा**—वैद्य—शास्त्र तथा चिकित्सा में कुशल, अथवा। **वेज्जपुत्तो वा**—वैद्य-पुत्र अथवा। **जाणओ वा**—ज्ञायक—केवल शास्त्र में कुशल, अथवा। **जाणयपुत्तो वा**—

ज्ञायक—पुत्र अथवा। **तेइच्छिओ वा**—चिकित्सक - केवल चिकित्सा—इलाज करने में निपुण, अथवा। **तेइच्छियपुत्तो वा**—चिकित्सक-पुत्र। **एगातिस्स रट्ठकूडस्स**—एकादि नामक राष्ट्रकूट के। **तेसिं**—उन। **सोलसण्हं**—सोलह। **रोगातंकाणं**—रोगातंकों में से। **एगमवि रोगातंकं**—एक रोगातक को भी। **उवसामित्तते**—उपशान्त करना। **इच्छति**—चाहता है। **तस्स णं**—उसको। **एक्काई**—एकादि। **रट्ठकूडे**—राष्ट्रकूट। **विपुल**—बहुत सा। **अत्थसंपयाणं दलयति**—धन प्रदान करेगा, इस प्रकार। **दोच्चं पि**—दो बार **तच्चं पि**—तीन बार। **उग्घोसेह २ त्ता**—उद्घोषणा करो, उद्घोषणा कर के। **एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह**— इस आज्ञप्ति-आज्ञा का प्रत्यर्पण करो, वापिस आकर निवेदन करो, तात्पर्य यह है कि मेरी इस आज्ञा का यथाविध पालन किया गया है, इसकी सूचना दो। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **कोडुंबियपुरिसा**—कौटुम्बिक-सेवक पुरुष। **जाव**—यावत् एकादि की आज्ञानुसार उद्घोषणा कर के **पच्चप्पिणंति**—वापिस आकर निवेदन करते हैं अर्थात् हम ने घोषणा कर दी है ऐसी सूचना दे देते हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—उस। **विजयवद्धमाणे**—विजयवर्द्धमान। **खेडे**—खेट में। **इमं एयारूवं**—इस प्रकार की। **उग्घोसणं**—उद्घोषणा को। **सोच्चा**—सुनकर तथा। **णिसम्म**— अवधारण कर **बहवे**—अनेक। **वेज्जा य ६**—वैद्य, वैद्य-पुत्र, ज्ञायक, ज्ञायक-पुत्र, चिकित्सक,-चिकित्सक-पुत्र। **सत्थकोसहत्थगया**—शस्त्रकोष-औजार रखने की पेटी (बक्स) हाथ में लेकर। **सएहिं सएहिं**—अपने अपने। **गेहेहितो**—घरों से। **पडिनिक्खमंति**—निकल पड़ते हैं। **२ त्ता**—निकल कर। **विजयवद्धमाणस्स**—विजय वर्द्धमान नामक। **खेडस्स**—खेट के। **मज्झंमज्झेणं**—मध्य भाग में जाते हुए। **जेणेव**—जहा। **एगाइरट्ठकूडस्स**—एकादि राष्ट्रकूट का। **गेहे**—घर था। **तेणेव**—वहा पर। **उवागच्छंति**—आते हैं। **२ त्ता**—आकर। **एगाइसरीरं**— एकादि राष्ट्रकूट के शरीर का। **परामुसंति २ त्ता**—स्पर्श करते हैं, स्पर्श करने के अनन्तर। **तेसिं रोगाणं** — उन रोगों का। **निदाणं** — निदान (मूलकारण)। **पुच्छन्ति २ त्ता**—पूछते हैं, पूछ कर। **एक्काइरट्ठकूडस्स**— एकादि राष्ट्रकूट के। **तेसिं**—उन। **सोलसण्हं**—सोलह। **रोयातंकाणं**—रोगातकों में से। **एगमवि**—किसी एक। **रोयातंकं**—रोगातक को। **उवसामित्तए**—उपशात करने के लिये। **बहूहिं**—अनेक। **अब्भंगेहि य**— अभ्यंग—मालिश करने से। **उव्वट्टणाहि य**—उद्वर्तन—वटणा वगैरह मलने से। **सिणेहपाणेहि य**—स्नेहपान कराने—स्निग्धपदार्थों का पान कराने से। **वमणेहि य**—वमन कराने से। **विरेयणाहि य**—विरेचन देने—मल को बाहर निकालने से। **सेयणाहि य**—सेचन—जलादि सिंचन करने अथवा स्वेदन करने से। **अवदाहणाहि य**—दागने से। **अवण्हाणेहि य**—अवस्नान—विशेष प्रकार के द्रव्यों द्वारा संस्कारित—जल द्वारा स्नान कराने से। **अणुवासणाहि य**—अनुवासन कराने—अपान—गुदाद्वार से पेट में तैलादि के प्रवेश कराने से। **वत्थिकम्मेहि य**—बस्ति कर्म करने अथवा गुदा में वर्ति आदि के प्रक्षेप करने से। **निरुहेहि य**—निरुह-औषधियें डाल कर पकाए गए तैल के प्रयोग से (विरेचन विशेष से) तथा। **सिरावेहेहि य**—शिरावेध— नाड़ी वेध करने से। **तच्छणेहि य**—तक्षण करने—क्षुरक—छुरा उस्तरा आदि द्वारा त्वचा को काटने से। **पच्छणेहि य**—पच्छ लगाने से तथा सूक्ष्म विदीर्ण करने से। **सिरोवत्थीहि य**—[1]शिरोवस्तिकर्म से। **तप्पणेहि य**—तैलादि स्निग्ध पदार्थों के द्वारा शरीर का उपबृंहण करने अर्थात् तृप्त करने से, एव। **पुडपागेहि य**—पाक विधि से निष्पन्न औषधियों से। **छल्लीहि य**—छालों से अथवा रोहिणी प्रभृति वन—लताओं से। **मूलेहि य**—वृक्षादि के मूलों—

---

(१) मस्तक पर चमडे की पट्टी बान्धकर उस में नाना विधि द्रव्यों से संस्कार किये गये तेल को भरने का नाम शिरो—वस्ती है।

जड़ों से। **कंदेहि य**—कन्दों से। **पत्तेहि य**—पत्रों से। **पुप्फेहि य**— पुष्पों से। **फलेहि य**—फलों से। **बीएहि य**—बीजों से। **सिलियाहि य**—चिरायता से। **गुलियाहि य**—गुटिकाओं—गोलियों से। **ओसहेहि य**—औषधियों—जो एक द्रव्य से निर्मित हों, और। **भेसज्जेहि य**—भैषज्यों— अनेक द्रव्यों से निर्माण की गई औषधियां, के उपचारों से। **इच्छंति**—प्रयत्न करते हैं, अर्थात् इन पूर्वोक्त नाना विध उपचारों से एकादि राष्ट्रकूट के शरीर में उत्पन्न हुए सोलह रोगों में से किसी एक रोग को शमन करने का यत्न करते हैं परन्तु। **उवसामित्तते**—उपशमन करने में वे। **णो चेव**—नहीं। **संचाएंति**—समर्थ हुए अर्थात् उन में से एक रोग को भी वे शमन नहीं कर सके। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **बहवे**—बहुत से। **वेज्जा य वेज्जपुत्ता य ६**—वैद्य और वैद्यपुत्र आदि। **जाहे**—जब। **तेसिं**—उन। **सोलसण्ह**—सोलह। **रोयातंकाणं**—रोगातंकों में से। **एगमवि रोयायंकं**—किसी एक रोगातंक को भी। **उवसामित्तए**—उपशान्त करने में। **णं**—वाक्यालंकारार्थक है। **णो चेव संचाएंति**—समर्थ नहीं हो सके। **ताहे**—तब। **संता**—श्रान्त। (देह के खेद से खिन्न) तथा। **तंता**—तान्त-(मन के दुःख से दुःखित) और **परितंता**—परितान्त-(शरीर और मन दोनों के खेद से खिन्न) हुए २। **जामेव दिसं**—जिस दिशा से अर्थात् जिधर से। **पाउब्भूता**—आये थे। **तामेव दिसं**—उसी दिशा को अर्थात् उधर को ही। **पडिगता**—चले गये

मूलार्थ— तदनन्तर वह एकादि राष्ट्रकूट सोलह रोगातंकों से अत्यन्त दुःखी हुआ २ कौटुम्बिक पुरुषों—सेवकों को बुलाता है बुला कर उन से इस प्रकार कहता है कि – हे[1] देवानुप्रियो! तुम जाओ, और विजयवर्द्धमान खेट के शृंगाटक [त्रिकोणमार्ग] त्रिक त्रिपथ [जहां तीन रास्ते मिलते हों] चतुष्क चतुष्पथ [जहां पर चार मार्ग एकत्रित होते हों] चत्वर [जहां पर चार से अधिक मार्गों का संगम हो] महापथ—राज मार्ग और अन्य साधारण मार्गों पर जा कर बड़े ऊंचे स्वर से इस तरह घोषणा करो कि – हे महानुभावो! एकादि राष्ट्रकूट के शरीर में श्वास, कास, ज्वर यावत् कुष्ठ ये १६ भयंकर रोग उत्पन्न हो गये हैं। यदि कोई वैद्य या वैद्यपुत्र, ज्ञायक या ज्ञायक-पुत्र एवं चिकित्सक या चिकित्सकपुत्र उन सोलह रोगातंकों में से

---

(१) जैनागमों में किसी को सम्बोधित करने के लिये प्रायः देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग अधिक उपलब्ध होता है। इस का क्या कारण है? इस प्रश्न के समाधान के लिये देवानुप्रिय शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक है। प्राकृत-शब्द-महार्णव नाम के कोष में देवानुप्रिय शब्द के भद्र, महाशय, महानुभाव, सरलप्रकृति—इतने अर्थ लिखे हैं। अर्द्ध मागधी कोषकार देव के समान प्रिय, देववत् प्यारा ऐसा अर्थ करते हैं। अभिधानराजेन्द्र कोष में सरल स्वभावी यह अर्थ लिखा है यही अर्थ टीकाकार आचार्य अभय देव सूरि ने भी अपनी टीकाओं में अपनाया है। कल्पसूत्र के व्याख्याकार समय—सुंदर जी गणी अपनी व्याख्या में लिखते हैं— "—**हे देवानुप्रिय! सुभग! अथवा देवानपि अनुरूपं प्रीणातीति देवानुप्रियः, तस्य सम्बोधनं हे देवानुप्रिय!**—" गणी श्री जी के कहने का अभिप्राय यह है कि—देवानुप्रिय शब्द के दो अर्थ होते हैं—प्रथम सुभग। सुभग शब्द के अर्थ हैं—यशस्वी, तेजस्वी इत्यादि। दूसरा अर्थ है—जो देवताओं को भी अनुरूप—यथेच्छ प्रसन्न करने वाला हो उसे देवानुप्रिय कहते हैं। अर्थात्—वक्ता देवानुप्रिय शब्द के सम्बोधन से सम्बोधित व्यक्ति का उस में देवों को प्रसन्न करने की विशिष्ट योग्यता बता कर सम्मान प्रकट करता है। सारांश यह है कि देवानुप्रिय एक सम्मान सूचक सम्बोधन है, इसी लिये ही सूत्रकार ने यत्र तत्र इसका प्रयोग किया है।

किसी एक रोगातंक को भी उपशान्त करे तो एकादि राष्ट्रकूट उस को बहुत सा धन देगा। इस प्रकार दो वार, तीन वार उद्घोषणा करके मेरी इस आज्ञा के यथावत् पालन की मुझे सूचना दो। तदनन्तर वे कौटुम्बिक पुरुष एकादि राष्ट्रकूट की आज्ञानुसार विजयवर्द्धमान खेट में जा कर उद्घोषणा करते हैं और वापिस आ कर उस को एकादि राष्ट्रकूट को सूचना दे देते हैं। तत्पश्चात् विजयवर्द्धमान खेट में इस प्रकार की उद्घोषणा का श्रवण कर अनेक वैद्य, वैद्यपुत्र, ज्ञायक, ज्ञायकपुत्र चिकित्सक और चिकित्सकपुत्र हाथ में शस्त्रपेटिका [शस्त्रादि रखने का बक्स या थैला] लेकर अपने २ घरों से निकल पड़ते हैं निकल कर विजयवर्द्धमान खेट के मध्य में से होते हुए जहां एकादि राष्ट्रकूट का घर था वहां पर आ जाते हैं, आ कर एकादि राष्ट्रकूट के शरीर का स्पर्श करते हैं, शरीर—सम्बन्धी परामर्श करने के बाद रोगों का निदान पूछते हैं अर्थात् रोगविनिश्चयार्थ विविध प्रकार के प्रश्न पूछते हैं, प्रश्न पूछने के अनन्तर उन १६ रोगातंकों में से अन्यतम-किसी एक ही रोगातंक को उपशान्त करने के लिये अनेक अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, सेचन, अथवा स्वेदन, अवदाहन, अवस्नान, अनुवासन, वस्तिकर्म, निरुह, शिरावेध, तक्षण, प्रतक्षण शिरोवस्ति, तर्पण [इन क्रियाओं से] तथा पुटपाक, त्वचा, मूल, कन्द, पत्र, पुष्प फल और बीज एवं शिलिका (चिरायता) के उपयोग से तथा गुटिका, औषध, भैषज्य आदि के प्रयोग से प्रयत्न करते हैं अर्थात् इन पूर्वोक्त साधनों का रोगोपशान्ति के लिये उपयोग करते हैं। परन्तु इन पूर्वोक्त नानाविध उपचारों से वे उन १६ रोगों में से किसी एक रोग को भी उपशान्त करने में समर्थ न हो सके। जब उन वैद्य और वैद्यपुत्रादि से उन १६ रोगातंकों में से एक रोगातंक का भी उपशमन न हो सका तब वे वैद्य और वैद्यपुत्रादि श्रान्त, तान्त और परितान्त होकर जिधर से आये थे उधर को ही चल दिये।

टीका—एकादि राष्ट्रकूट ने रोगाक्रान्त होने पर अपने अनुचरों को कहा कि तुम विजयवर्द्धमान खेट के प्रसिद्ध २ स्थलों पर जाकर यह घोषणा कर दो कि एकादि राष्ट्रकूट के शरीर में एक साथ ही श्वास कासादि १६ भीषण रोग उत्पन्न हो गये हैं, उन के उपशमन के लिये वैद्यों, ज्ञायकों और चिकित्सकों को बुला रहे हैं। यदि कोई वैद्य, ज्ञायक या चिकित्सक उन के किसी एक रोग को भी उपशान्त कर देगा तो उसको भी वह बहुत सा धन देकर सन्तुष्ट करेगा। अनुचरों ने अपने स्वामी की इच्छानुसार नगर में घोषणा कर दी। इस घोषणा को सुन कर खेट में रहने वाले बहुत से वैद्य, ज्ञायक और चिकित्सक वहां उपस्थित हुए। उन्हों ने शास्त्रविधि के अनुसार विविध प्रकार के उपचारों द्वारा एकादि के शरीरगत रोगों को शान्त करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उस में वे सफल नहीं हो पाये। समस्त रोगों का शमन तो अलग रहा, किसी एक रोग को भी वे शान्त न कर सके। तब सब के सब म्लान मुख से आत्मग्लानि का अनुभव करते हुए वापिस आ गये। प्रस्तुतसूत्र का यह संक्षिप्त भावार्थ है जो कि उस से फलित होता है।

यहां पर एकादि राष्ट्रकूट का अनुचरों द्वारा घोषणा कराना सूचित करता है कि उस के गृहवैद्यों-घरेलू चिकित्सकों के उपचार से उसे कोई लाभ नहीं हुआ। एकादि राष्ट्रकूट एक विशाल प्रान्त का अधिपति था और धनसम्पन्न होने के अतिरिक्त एक शासक के रूप में वह वहां विद्यमान था। तब उसके वहां निजी वैद्य न हों और उन से उस ने चिकित्सा न कराई हो, यह सम्भव ही नहीं हो सकता। परन्तु गृह वैद्यों के उपचार से लाभ न होने पर अन्य वैद्यों को बुलाना उस के लिये अनिवार्य हो जाता है। एतदर्थ ही एकादि राष्ट्रकूट को घोषणा करानी पड़ी हो, यह अधिक सम्भव है। तथा "बहुरत्ना वसुन्धरा" इस अभियुक्तोक्त

के अनुसार संसार में अनेक ऐसे गुणी पुरुष होते हैं जो कि पर्याप्त गुणसम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी अप्रसिद्ध रहते हैं, और विना बुलाये कहीं जाते नहीं। ऐसे गुणी पुरुषों से लाभ उठाने का भी यही उपाय है जिसका उपयोग एकादि राष्ट्रकूट ने किया अर्थात् घोषणा करादी।

सांसारिक परिस्थिति में अर्थ का प्रलोभन अधिक व्यापक और प्रभुत्व शाली है। [1]"अर्थस्य पुरुषोदास दासस्त्वर्थो,न कस्यचित्" इस नीति-वचन को सन्मुख रखते हुए नीतिकुशल एकादि ने गुणिजनों के आकर्षणार्थ अर्थ का प्रलोभन देने में भी कोई त्रुटि नहीं रक्खी, अपने अनुचरों द्वारा यहां तक कहलवादिया कि अगर कोई वैद्य या चिकित्सक प्रभृति गुणी पुरुष, उसके १६ रोगों में से एक रोग को भी शान्त कर देगा तो उसे भी वह पर्याप्त धन देगा, इस से यह तो अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि समस्त रोगों को उपशान्त करने वाला कितना लाभ प्राप्त कर सकता है। अर्थात् उस के लाभ की तो कोई सीमा नहीं रहती।

दो या तीन बार बड़े ऊंचे स्वर से घोषणा करने का आदेश देने का प्रयोजन मात्र इतना ही प्रतीत होता है कि इस विज्ञप्ति से कोई अज्ञात न रह जाय। एतदर्थ ही उद्घोषणा स्थानों के निर्देश में शृङ्गाटक, त्रिपथ, चतुष्पथ और महापथ एवं साधारणपथ आदि का उल्लेख किया गया है।

शृङ्गाटक-त्रिकोण मार्ग को कहते हैं। त्रिक—जहां पर तीन रास्ते मिलते हों। चतुष्क – चतुष्पथ, चार मार्गों के एकत्र होने के स्थान का नाम है जिसे आम भाषा में "चौक" कहते हैं। चत्वर—चारमार्गों से अधिक मार्ग जहां पर समिलित होते हों उसकी चत्वर संज्ञा है। महापथ-राजमार्ग का नाम है, जहां कि मनुष्य समुदाय का अधिक संख्या में गमनागमन हो। पथ सामान्य मार्ग को कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में वैद्य, ज्ञायक और चिकित्सक, ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन के अर्थ-विभेद की कल्पना करते हुए वृत्तिकार के कथनानुसार जो वैद्यकशास्त्र और चिकित्सा दोनों में निपुण हो वह वैद्य, और जो केवल शास्त्रों में कुशल हो वह ज्ञायक तथा जो मात्र चिकित्सा में प्रवीण हो वह चिकित्सक कहा[2] जाता है।

यहां पर एक बात विचारणीय प्रतीत होती है वह यह कि "—वेज्जो वा वेज्जपुत्ता वा—" इत्यादि पाठ में वैद्य के साथ, वैद्य पुत्र का, ज्ञायक के साथ ज्ञायक-पुत्र का एवं चिकित्सक के साथ चिकित्सक-पुत्र का उल्लेख करने का सूत्रकार का क्या अभिप्राय है? तात्पर्य यह है कि वैद्य और वैद्यपुत्र में क्या अन्तर है, जिसके लिये उसका पृथक् २ प्रयोग किया गया है? वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। "वैद्यपुत्र" का सीधा और स्पष्ट अर्थ है—वैद्य का पुत्र-वैद्य का लड़का। इसीप्रकार ज्ञायकपुत्र और चिकित्सक-पुत्र का भी, ज्ञायक का पुत्र चिकित्सक का पुत्र-बेटा यही प्रसिद्ध अर्थ है। एवं यदि वैद्य का वैद्य पुत्र है ज्ञायक का पुत्र ज्ञायक और चिकित्सक का पुत्र भी चिकित्सक है तब तो वह वैद्य ज्ञायक एवं चिकित्सक के नाम से ही सुगृहीत हैं, फिर इस का पृथक् निर्देश क्यों? अगर उस में—वैद्यपुत्र में

(१) यह सम्पूर्ण वचन इस प्रकार है—

अर्थस्य पुरुषो दासो, दासस्त्वर्थो न कस्यचित। इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥१॥

कहते हैं कि दुर्योधनादि कौरवों का साथ देते हुए एक समय महारथी भीष्म पितामह से युधिष्ठर प्रभृति किसी संभावित व्यक्ति ने पूछा कि आप अन्यायी कौरवों का साथ क्या दे रहे हो? इसके उत्तर में उन्हों ने कहा कि संसार में पुरुष तो अर्थ का दास-धन का गुलाम है परन्तु अर्थ-धन किसी का भी दास-गुलाम नहीं, यह बात अधिकांश सत्य है, इसलिये महाराज! कौरवों के अर्थ ने-धन प्रलोभन ने मुझे बान्ध रक्खा है।

(२) "वेज्जो व" त्ति वैद्यशास्त्रे चिकित्सायां च कुशलः। "वेज्जपुत्तो व" त्ति तत्पुत्रः "जाणुओ व" त्ति ज्ञायकः केवल-शास्त्रकुशलः। "तेगिच्छिओ व" त्ति चिकित्सामात्रकुशलः। [अभयदेवसूरिः]

वैद्योचित गुणों का असद्भाव है तब तो उस का आकारित करना तथा उस का वहा जाना ये सब कुछ उपहास्यास्पद ही हो जाता है। हा ! अगर "वैद्यपुत्र" आदि शब्दों को यौगिक न मान कर रूढ अर्थात् सज्ञा-वाचक मान लिया जाय तात्पर्य यह है कि वैद्यपुत्र का "वैद्य का पुत्र" अर्थ न कर के "वैद्यपुत्र" इस नाम का कोई व्यक्ति विशेष माना जाय तब तो इस के पृथक् निर्देश की कथमपि उपपत्ति हो सकती है। परन्तु इस मे भी यह आशका बाकी रह जाती है कि जिस प्रकार वैद्य शब्द से—आयुर्वेद का ज्ञाता और चिकित्सक कर्म में निपुण यह अर्थ सुगृहीत होता है उसी प्रकार "वैद्य-पुत्र" शब्द का भी कोई स्वतत्र एव सुनिश्चित अर्थ है ? जिसका कहीं पर उपयोग हुआ या होता हो ? टीकाकार महानुभावों ने भी इस विषय मे कोई मार्ग प्रदर्शित नहीं किया तब प्रस्तुत आगम पाठ मे वैद्य पुत्र आदि शब्दों की पृथक् नियुक्ति किस अभिप्राय से की गई है ? विद्वानों को यह अवश्य विचारणीय है।

पाठकों को इतना स्मरण अवश्य रहे कि हमारे इस विचार-सन्दोह मे हमने अपने सन्देह को ही अभिव्यक्त किया है, इस मे किसी प्रकार के आक्षेप प्रधान विचार को कोई स्थान नहीं। हम आगमवादी अर्थात् आगम-प्रमाण का सर्वेसर्वा अनुसरण करने और उसे स्वत प्रमाण मानने वाले व्यक्तियों में से हैं। इस लिये हमारे आगम-विषयक श्रद्धा-पूरित हृदय में उस पर—आगम पर आक्षेप करने के लिये कोई स्थान नहीं। और प्रस्तुत चर्चा भी श्रद्धा—पूरित हृदय मे उत्पन्न हुई हार्दिक सन्देह भावना मूलक ही है। किसी आगम में प्रयुक्त हुए किसी शब्द के विषय में उसके अभिप्राय से अज्ञात होना हमारी छद्मस्थता को ही आभारी है। तथापि हमें गुरु चरणों से इस विषय मे जो समाधान प्राप्त हुआ है वह इस प्रकार है—

वैद्य शब्द प्राचीन अनुभवी वृद्ध वैद्य का बोधक है और वैद्यपुत्र उनकी देखरेख मे उनके हाथ नीचे काम करने वाले लघु वैद्य का परिचायक है।

किसी विशिष्ट रोगी के चिकित्सा क्रम मे इन दोनों की ही आवश्यकता रहती है। वृद्ध वैद्य के आदेशानुसार लघु वैद्य के द्वारा रोगी का औषधोपचार जितना सुव्यवस्थित रूप से हो सकता है उतना अकेले वैद्य से नहीं हो सकता। आजकल के आतुरालयों हस्तपतालों मे भी एक सिवल सर्जन और उसके नीचे अन्य छोटे डॉक्टर होते हैं। इसी भांती उस समय मे भी वृद्ध वैद्यों के साथ विशेष अनुभव प्राप्त करने की इच्छा मे शिष्य रूप में रहने वाले अन्य लघुवैद्य होते थे जो कि उस समय वैद्यपुत्र के नाम से अभिहित किये जाते थे। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने वैद्य के साथ वैद्यपुत्र का उल्लेख किया है।

यहा पर सूत्रकार ने एकादि राष्ट्रकूट के उपलक्ष्य में उसके रुग्ण शरीर सम्बन्धी औषधोपचार के विधान मे सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धति का निर्देश कर दिया है। रोगी को रोगमुक्त करने एव स्वास्थ्ययुक्त बनाने मे इसी चिकित्सा क्रम का वैद्यक ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है। पाठकगण प्रस्तुत सूत्रगत पाठों मे वर्णित चिकित्सा सम्बन्धी विशेष विवेचन तो वैद्यक ग्रन्थों के द्वारा जान सकते हैं, परन्तु यहा तो उस का मात्र दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

(१) **अभ्यंग** – तैलादि स्निग्ध पदार्थों को शरीर पर मलना अभ्यग कहलाता है, इसका दूसरा नाम तैल-मर्दन है। सरल शब्दों में कहें तो शरीर पर साधारण अथवा औषधि-सिद्ध तैल की मालिश को अभ्यग कहते हैं।

(२) **उद्वर्तन**—अभ्यग के अनन्तर उद्वर्तन का स्थान है। उबटन लगाने को उद्वर्तन कहते हैं, अर्थात् –तैलादि के अभ्यग मे जनित शरीरगत जो बाह्य स्निग्धता है उस को एव शरीर गत अन्य मल को दूर करने के लिये जो अनेकविध पदार्थों से निष्पन्न उबटन है उस का अगोपागों

पर जो मलना है वह ही उद्वर्तन कहलाता है ।

(३) **स्नेहपान**—घृतादि स्निग्ध—चिकने पदार्थों के पान को स्नेह पान कहते हैं ।

(४) **वमन**—उलटी या कै का ही संस्कृत नाम वमन है । चरक संहिता के कल्प स्थान में इस की परिभाषा इस प्रकार की गई है —**तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्**, अर्थात् ऊर्ध्व भागों द्वारा दोषों का निकालना—मुख द्वारा दोषों का निष्कासन वमन कहलाता है ।

यद्यपि वैद्यक—ग्रन्थों में वमन विरेचनादि से पूर्व स्वेदविधि का विधान[1] देखने में आता है, और यहां पर उस का उल्लेख वमन तथा विरेचन के अनन्तर किया गया है, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार को इन का क्रम पूर्वक निर्देश करना अभिमत नहीं, अपितु रोग—शान्ति के उपायों का नियोजन ही अभिप्रेत है, फिर वह क्रमपूर्वक हो या क्रमविकल । अन्यथा अवदाहन तथा अवस्नान के अनन्तर अनुवासनादि बस्तिकर्म का सूत्रकार उल्लेख न करते ।

(५) **विरेचन**—अधोद्वार से मल का निकालना ही विरेचन है । चरक संहिता कल्पस्थान में विरेचन शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है । **"अधोभागं विरेचनसंज्ञकमुभयं वा शरीरमल—विरेचनाद् विरेचनशब्द लभते"** अर्थात्—अधो भाग से दोषों का निकालना विरेचन कहलाता है, अथवा शरीर के मल का रेचन करने से उर्ध्वविरेचन तथा अधोविरेचन इस प्रकार दोनों को विरेचन शब्द से पुकारा जा सकता है । इन में उर्ध्वविरेचन की वमन संज्ञा है और अधोविरेचन को विरेचन कहा है । संक्षेप से कहें तो मुख द्वारा मलादि का अपसरण वमन है, और गुदा के द्वारा मल निस्सारण की विरेचन संज्ञा है ।

(६) [2]**स्वेदन**—स्वेदन का सामान्य अर्थ पसीना देना है ।

(७) **अवदाहन**—गर्म लोहे की कोश आदि से चर्म (फोडे फुन्सी आदि) पर दागने को अवदाहन कहते हैं । बहुत सी ऐसी व्याधियें हैं जिनकी दागना ही चिकित्सा है । चरकादि ग्रन्थों में इस का कोई विशेष उल्लेख देखने में नहीं आता ।

(८) **अवस्नान**—शरीर की चिकनाहट को दूर करने वाले अनेकविध द्रव्यों से मिश्रित तथा संस्कारित जल से स्नान कराने को अवस्नान कहते हैं ।

(९, १०, ११) **अनुवासना—वस्तिकर्म—निरुह**— शार्ङ्गधर संहिता [अ ५] में बस्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

---

(१) येषां नस्यं विधातव्यं, बस्तिश्चैवापि देहिनाम् ।
शोधनीयाश्च ये केचित्, पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः ॥ १ ॥

अर्थात्—जिस को नस्य (वह दवा या चूर्णादि जिसे नाक के रास्ते दिमाग में चढ़ाते हैं) देना हो, बस्तिकर्म करना हो, अथवा वमन या विरेचन के द्वारा शुद्ध करना हो उसे प्रथम स्वेदित करना चाहिये, उसके शरीर में प्रथम स्वेद देना चाहिए । [वंगसेन में स्वेदाधिकार]

(२) मूल में उल्लेख किये गये **"सेयण"** के सेचन और स्वेदन ये दो प्रतिरूप होते हैं । यहां पर सेचन की अपेक्षा स्वेदन का ग्रहण करना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है । कारण कि चिकित्साविधि में स्वेदन का ही अधिकार है । सेचन नाम की कोई चिकित्सा नहीं । और यदि **"सेचन"** प्रतिरूप के लिये ही आग्रह हो तो सेचन का अर्थ जलसिंचन ही हो सकता है । उसका उपयोग तो प्रायः मूर्छा-रोग में किया जाता है ।

वस्तिर्द्विधानुवासाख्यो-निरूहश्च ततः परम्।
वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद् वस्तिरिति स्मृतः ॥१॥

अर्थात् वस्ति दो प्रकार की होती है—१—अनुवासना वस्ति, २—निरूह वस्ति । इस विधान में यथा नियम निर्धारित औषधियों का वस्ति चर्म (निर्मित कोथली) द्वारा प्रयोग किया जाता है इस लिये इसे वस्ति कहते हैं । तथा सुश्रुत—संहिता में अनुवासना तथा निरूह इन दोनों की निरुक्ति इस प्रकार की है

"—**अनुवसन्नपि न दुष्यति, अनुदिवसं वा दीयते इत्यनुवासनावस्तिः**—"[जो अनुवास-वासी हो कर भी दूषित न हो, अथवा जो प्रतिदिन दी जाय उसे अनुवासना—वस्ति कहते हैं] —"**दोष-निर्हरणाच्छरीररोहणाद्वा निरूह**"—[दोषों का निर्हरण-नाश कराने के कारण अथवा शरीर का निःशेषतया सम्पूर्ण रूप से रोहण कराने के कारण इसे निरूह-निरूहवस्ति कहा है]

आचार्य अभयदेव सूरि ने वस्ति कर्म का अर्थ "चर्मवेष्टन द्वारा शिर आदि अंगों को स्निग्ध—स्नेह पूरित करना, अथवा गुदा में वर्त्ति आदि का प्रक्षेप करना" यह किया है । और अनुवास, निरूह तथा शिरोवस्ति को वस्ति कर्म का ही अवान्तर भेद माना है । इस के अतिरिक्त अनुवास और निरूह वस्ति के स्वरूप में अन्तर न मानते हुए उन के प्रयोगों में केवल द्रव्य कृत विशेषता का ही स्वीकार किया है तात्पर्य यह है कि अनुवासना में जिन औषधि—द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, निरूह वस्ति में उनसे भिन्न द्रव्य उपयुक्त[1] होते हैं ।

वंगसेन के वस्ति कर्माधिकार प्रकरण में वस्ति सम्बन्धी निरूपण इस प्रकार किया है—

कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते । यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासन—संज्ञकः ॥४॥
वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद् वस्तिरिति स्मृतः । निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः ॥५॥
निरूहो दोषहरणा-द्रोहणादथवा तनोः, आस्थापयेद् वयो देहं यस्मादास्थापनः स्मृतः ॥६॥
निशानुवासात् स्नेहोऽन्वासनश्चानुवासनः ॥७॥
विरक्तसम्पूर्णहिताशनस्य, आस्थाप्यशय्यामनुदीयते यत्।
तदुच्यते चाप्यनुवासनं च, तेनानुवासश्च बभूव नाम ॥८॥
उत्कृष्टावयवे दानाद् वस्तिरुत्तरसंज्ञितः ॥९॥ इत्यादि

अर्थात्—क्वाथ और दूध के द्वारा जो वस्ति दी जाती है उस को निरूह वस्ति कहते हैं । तथा घी अथवा तैलादि के द्वारा जो वस्ति दी जाय उसे अनुवासन कहा है ।

मृगादि के मूत्राशय की कोथली रूप साधन के द्वारा पिचकारी दी जाती है इस कारण इस पिचकारी को वस्ति कहते हैं । विद्वानों ने निरूह वस्ति का अपर नाम "**आस्थापना**" वस्ति भी कहा है । निरूह वस्ति दोषों का अपहरण करती है, अथवा देह का आरोपण करती है, इस कारण इसकी निरूह संज्ञा है । और आयु तथा देह को स्थापन करती है इसकारण इसे आस्थापनवस्ति कहते हैं ॥६॥

---

(१) '**अनुवासणाहि य**" त्ति—अपानेन जठरे तैलप्रक्षेपणैः । '**वत्थिकम्मेहि य**" त्ति चर्मवेष्टन—प्रयोगेण शिरःप्रभृतीनां स्नेहपूरणैः, गुदे वा वर्त्यादिप्रक्षेपणैः । '**निरूहेहि य**" त्ति निरूहः अनुवास एव केवलं द्रव्यकृतो विशेषः । प्रागुक्त—वस्तिकर्माणि सामान्यानि अनुवासना—निरूह—शिरोवस्तयस्तद् भेदाः ।

अनुवासनावस्ति में रात्रि के समय स्नेह के अनुवासित होने के कारण इसको अनुवासनावस्ति कहते हैं अथवा अच्छे प्रकार से विरेचन होने पर उत्तम प्रकार से पथ्य करने पर शय्या मे स्थापित कर के पश्चात् यह अनुवासना दी जाती है इस लिये इसको अनुवासनावस्ति कहते हैं"॥७—८॥ तथा उत्कृष्ट अवयव मे दी जाने वाली वस्ति की उत्तर संज्ञा है।

इस वर्णन में वस्तिकर्म के भेद और उन भेदों की निर्वचन—पूर्वक व्याख्या तथा निरूह और अनुवासना म द्रव्यकृत विशेषता आदि सम्पूर्ण विषयों का भली भांति परिचय करा दिया गया है। तथा इस मे वृत्तिकार के वस्ति—सम्बन्धी निर्वचनों का भी अच्छी तरह से समर्थन हो जाता है।

(१२) **शिरावेध**—शिरा नाम नाडी का है उस का वेध - वेधन करना शिरावेध कहलाता है इसी का दूसरा नाम नाड़ी वेध है। शिरावेध की प्रक्रिया का निरूपण चक्रदत्त मे बहुत अच्छी तरह से किया गया है। पाठक वहीं से देख सकते हैं।

(१३, १४) **तक्षण--प्रतक्षण**—साधारण कर्तन कर्म को तक्षण, और विशेष रूपेण कर्तन को प्रतक्षण कहते हैं। वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि के कथनानुसार - क्षुर, लवित्र - चाकू आदि शस्त्रों के द्वारा त्वचा का (चमडी का) सामान्य कर्तन—काटना, तक्षण कहलाता है और त्वचा का सूक्ष्म विदारण अर्थात् बारीक शस्त्र से त्वचा की पतली छाल का विदारण करना प्रतक्षण[1] है।

(१५) **शिरोवस्ति**— सिर मे चर्मकोश देकर बान्धकर उस में औषधि—द्रव्य—संस्कृत तैलादि को पूर्ण करना–भरना; इस प्रकार के उपचार—विशेष का नाम शिरोवस्ति है [शिरोवस्तिभि · शिरसि बद्धस्य चर्मकोशस्य द्रव्य-संस्कृत तैलाद्या पूरण लक्षणाभिरिति वृत्तिकार] चक्रदत्त मे शिरोवस्ति का विधान पाया जाता है, विस्तारभय मे यहा नहीं दिया जाता। पाठक वहीं से देख सकते हैं।

(१६) **तर्पण—**स्निग्ध पदार्थों से शरीर के बृहण अर्थात् तृप्त करने को तर्पण कहते[2] हैं। चक्रदत्त के चिकित्सा--प्रकरण मे तर्पण सम्बन्धी उल्लेख पाया जाता है। पाठक वहीं से देख सकते हैं।

(१७) **पुटपाक**—अमुक रस का पुट दे कर अग्नि मे पकाई हुई औषधि को पुट-पाक कहते हैं। पुटपाक का सांगोपांग वर्णन चक्रदत्त के रसायनाधिकार मे किया गया है। प्राकृत-शब्द-महार्णव कोश में पुटपाक के दो अर्थ किये हैं—(१) पुट नामक पात्रों से औषधि का पाक-विशेष (२) पाक से निष्पन्न औषधि-विशेष।

(१८) **छल्ली**—त्वचा-छाल को छल्ली कहते हैं। (१९, २०) **मूल, कन्द**—मूली-गाजर और जिमीकन्द तथा आलू आदि का नाम है। (२१) **शिलिका** से चरायता आदि औषधि का ग्रहण समझना (२२) **गुटिका**—अनेक द्रव्यों को महीन पीस कर अमुक औषधि के रस की भावना आदि से निर्माण की गई गोलियें गुटिका कहलाती हैं। (२३ २४) **औषध, भेषज्य**—एक द्रव्यनिर्मित औषध के नाम से तथा अनेक-द्रव्य संयोजित भैषज्य के नाम से ख्यात है।

"**संता, तंता, परितंता**" इन तीनों पदों मे अर्थगत विभिन्नता वृत्तिकार के शब्दों में निम्नलिखित है—

'**संत**" त्ति श्रान्ता देह खेदेन '**तंत**" त्ति - तान्ता मन खेदेन, "**परितंत**" त्ति - उभय-खेदेनेति" अर्थात् शारीरिक खेद से मानसिक खेद से, तथा दोनों के श्रम से खेदित हुए। तात्पर्य यह है

(१) "तच्छणेहि य" त्ति क्षुरादिना त्वचस्तनूकरणं। "पच्छणेहि य" त्ति ह्रस्वैस्त्वचो विदारणं।
(२) तर्पणं स्नेहादिभि शरीरस्य बृहणं [वृत्तिकार]

कि उन का शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का श्रम व्यर्थ जाने—निष्फल होने से वे अत्यन्त खिन्नचित्त हुए और वापिस लौट गए ।

इस प्रकार एकादि राष्ट्रकूट के शरीर—गत रोगो की चिकित्सा के निमित्त आये हुए वैद्य, ज्ञायक और चिकित्सकों के असफल होकर वापिस जाने के अनन्तर एकादि राष्ट्रकूट की क्या दशा हुई अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं एक्काइ० विज्जेहि य पडियाइक्खिए परियारगपरिचत्ते निव्विण्णोसहभेसज्जे सोलसरोगातंकेहि अभिभूते समाणे रज्जे य रट्ठे य जाव अंतेउरे य मुच्छिते रज्जं च आसाएमाणे पत्थेमाणे पीहेमाणे अहिलसमाणे अट्टदुहट्टवसट्टे अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं परमाउं पालयित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोससागरोवमट्ठितीएसु नेरइएसु णेरइयत्ताए उववन्ने । से णं ततो अणंतरं उव्वट्टिता इहेव मियग्गामे णगरे विजयस्स खत्तियस्स मियाए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । **विज्जेहि य**—वैद्यों के द्वारा । **पड़ियाइक्खिए**—प्रत्याख्यात-निषिद्ध किया गया । **परियारगपरिचत्ते**—परिचारकों-नौकरों द्वारा परित्यक्त-त्यागा गया । **निव्विण्णोसहभेसज्जे**—औषध और भैषज्य से निर्विण्ण-विरक्त, उपराम । **सोलसरोगातंकेहि**—१६ रोगातंकों से । **अभिभूते समाणे**—खेद को प्राप्त हुआ । **एक्काइ०**—एकादि राष्ट्रकूट । **रज्जे य**—राज्य में । **रट्ठे य**—और राष्ट्र में । **जाव**—यावत् । **अन्तेउरे य**—अन्त पुर—रणवास में । **मुच्छिते**—मूर्छित-आसक्त तथा । **रज्जं च**—राज्य और राष्ट्र का । **आसाएमाणे**—आस्वादन करता हुआ । **पत्थेमाणे**—प्रार्थना करता हुआ । **पीहेमाणे**—स्पृहा-इच्छा करता हुआ । **अहिलसमाणे**—अभिलाषा करता हुआ । **अट्ट**—आर्त—मानसिक वृत्तियों से दु खित **दुहट्ट**—दु खार्त - देह से दु खी अर्थात् शारीरिक व्यथा से आकुलित । **वसट्टे**—वशार्त - इन्द्रियों के वशीभूत होने से पीड़ित । **अड्ढाइज्जाइ वाससयाइं**—अढाई सौ वर्ष ।**परमाउं**—परमायु, सम्पूर्ण आयु । **पालयित्ता**—पालन कर । **कालमासे** - कालमास मे । **कालं किच्चा**—काल— मृत्यु को प्राप्त कर । **इमीसे**—इस **रयणप्पहाए**—रत्नप्रभा नामक । **पुढवीए**—पृथिवी-नरक मे । **उक्कोस-सागरोवमट्ठितीएसु**— उत्कृष्ट सगरोपम स्थिति वाले । **नेरइएसु**—नारकों मे । **णेरइयत्ताए**—नारकरूप से । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ । **ततेण**—तदनन्तर । **से**—वह एकादि । **अणंतरं**—अन्तर रहित बिना अन्तर के । **उव्वट्टित्ता**—नरक से निकल कर । **इहेव**—इसी । **मियग्गामे**—मृगाग्राम नामक । **णगरे**—नगर मे । **विजयस्स**—विजय नामक । **खत्तियस्स**—क्षत्रिय की । **मियाए देवीए**—मृगादेवी की । **कुच्छिंसि**—कुक्षि मे—उदर मे । **पुत्तत्ताए**—पुत्ररूप से **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ ।

मूलार्थ—तदनन्तर वैद्यों के द्वारा प्रत्याख्यात [अर्थात् इन रोगों का प्रतिकार हमसे

---

(१) **छाया**—तत एकादिर्वैद्यैश्च प्रत्याख्यात परिचारकपरित्यक्त निर्विण्णौषधभैषज्य षोडशरोगातकैः अभिभूत. सन् राज्ये च राष्ट्रे च यावद् अन्त पुरे च मूर्छित ४ राज्य च आस्वदमान प्रार्थयमान स्पृहमाण अभिलषमाण आर्तदु खार्तवशार्त. अर्द्धतृतीयानि वर्षशतानि परमायु पालयित्वा कालमासे काल कृत्वा, अस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या उत्कृष्टसागरोपमस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्न , स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य, इहैव मृगाग्रामे नगरे विजयस्य क्षत्रियस्य मृगाया देव्या कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न ।

नहीं हो सकता, इस प्रकार कहे जाने पर] तथा सेवकों से परित्यक्त, औषध और भैषज्य से निर्विण्ण-दुःखित, सोलह रोगातकों से अभिभूत, राज्य और राष्ट्र-देश यावत् अन्तःपुर-रणवास में मूर्छित-आसक्त, एवं राज्य और राष्ट्र का आस्वादन, प्रार्थना, स्पृहा-इच्छा और अभिलाषा करता हुआ वह एकादि आर्त—मनोव्यथा से व्यथित, दुःखार्त-शारीरिक पीडा से पीडित और वशार्त—इन्द्रियाधीन होने से परतन्त्र—स्वाधीनता रहित होकर जीवन व्यतीत करके २५० वर्ष की पूर्णायु को भोग कर यथासमय काल करके इस रत्नप्रभा पृथिवी—नरक में उत्कृष्ट सागरोपम की स्थिति वाले नारकों में नारकी—रूप से उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् वह एकादि का जीव भवस्थिति पूरी होने पर नरक से निकलते ही इसी मृगाग्राम नगर में विजय क्षत्रिय की मृगावती नामक देवी की कुक्षि-उदर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ।

टीका—पापकर्मों का विपाक-फल कितना भयकर होता है यह एकादि राष्ट्रकूट की इस प्रकार की शोचनीय दशा से भली भांति प्रमाणित हो जाता है, तथा आगामी जन्म मे उन मन्द कर्मों का फल भोगते समय किस प्रकार की असह्य वेदनाओं का अनुभव करना पड़ता है, यह भी इस सूत्रलेख में सुनिश्चित हो जाता है। एकादि राष्ट्रकूट अनुभवी वैद्यों के यथाविधि उपचार से भी रोगमुक्त नहीं हो सका, उस के शरीरगत रोगों का प्रतिकार करने में बड़े २ अनुभवी चिकित्सक भी असफल हुए, अन्त में उन्हों ने उसे जवाब दे दिया। इसी प्रकार उसके परिचारकों ने भी उसे छोड दिया। और उस ने भी औषधोपचार से तग आकर अर्थात् उस से कुछ लाभ होते न देखकर औषधि – सेवन को त्याग दिया। ये सब कुछ स्वोपार्जित अशुभ कर्मों की विचित्र लीला का ही सजीव चित्र है।

अष्टाग हृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ में लिखा है कि "—**यथाशास्त्र तु निर्णीता, यथाव्याधि-चिकित्सिता । रोगा ये न शाम्यन्ति, ते ज्ञेयाः कर्मजा बुधैः ॥१॥** अर्थात् जो रोग शास्त्रानुसार सुनिश्चित और चिकित्सित होने पर भी उपशान्त नही होते उन्हें कर्मज रोग समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि १६ प्रकार के भयकर रोगों में अभिभूत अथच तिरस्कृत होने पर तथा अनेकविध शारीरिक और मानसिक वेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करने पर भी एकादि राष्ट्रकूट के प्रलोभन में कोई अन्तर नही पडा। वह निरन्तर राज्य के उपभोग और राष्ट्र के शासन का इच्छुक बना रहता है। अभी तक भी उसकी काम-वासनाओं अर्थात विषय वासनाओं में कमी नहीं आई। इससे अधिक पामरता और क्या हो सकती है। तब इस प्रकार के पामर जीवों का मृत्यु के बाद नरक – गति में जाना अवश्यभावी होने से एकादि राष्ट्रकूट भी मर कर रत्न-प्रभा नाम के प्रथम नरक में गया। उसने एकादि के भव में २५० वर्ष की आयु तो भोगी मगर उस का बहुत सा भाग उसे आर्त दुःखार्त और वशार्त दशा में ही व्यतीत करना पड़ा। तात्पर्य यह है कि उसकी आयु का बहुत सा शेष भाग शारीरिक तथा मानसिक दुःखानुभूति में ही समाप्त हुआ।

"रज्जे य रट्ठे य जाव अंतेउर" यहा पर उल्लेख किये गये "जाव-यावत्" पद से "कोस य कोट्ठागारे य वले य वाहणे य पुरे य" इन पदों का ग्रहण समझना। तथा "मुच्छिए, गढिए, गिद्धे, अज्झोववन्न" (मूर्छित, ग्रथित, गृद्ध, अध्युपपन्न) इन चारो पदों का अर्थ समान है। इसी प्रकार "आसाएमाणे, पत्थेमाणे, पीहेमाणे, अहिलसमाणे" ये पद भी समानार्थक हैं।

"अट्ट-दुहट्ट वसट्ट—आर्तदुःखार्तवशार्त." की व्याख्या में आचार्य अभयदेव सूरि लिखते हैं कि –"आर्तो मनसा दुःखित, दुःखार्तो देहेन, वशार्तस्तु इन्द्रियवशेन पीड़ित, अर्थात् आर्त शब्द मनोजन्य दुःख, दुःखार्त शब्द देहजन्य दुःख और वशार्त शब्द इन्द्रियजन्य दुख का सूचक है। इन तीनों शब्दों में कर्मधारय समास है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों शब्द विभिन्नार्थक होने से यहा प्रयुक्त किये गये हैं।

रत्नप्रभा नाम के प्रथम नरकस्थान मे उत्पन्न होने वाले जोवों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की मानी गई है और जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। दशक्रोड़ा – क्रोड़ी पल्योपम प्रमाण काल (जिसके द्वारा नारकी और देवता की आयु का माप किया जाता है) की सागरोपम सज्ञा है।

"ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता" इस वाक्य मे प्रयुक्त हुआ "अणंतर" यह पद सूचित करता है कि एकादि का जीव पहली नरक से निकल कर सीधा मृगादेवी की ही कुक्षि मे आया, अर्थात् नरक मे निकल कर मार्ग में उसने कहीं अन्यत्र जन्म धारण नहीं किया।

नारक जीवन की स्थिति पूरी करने के अनन्तर ही एकादि का जीव मृगादेवी के गर्भ मे पुत्ररूप से अवतरित हुआ अर्थात् मृगादेवी के गर्भ में आया, उसके गर्भ मे आते ही क्या हुआ ? अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हुए प्रतिपादन करते हैं—

मूल— तते णं तीसे मियाए देवीए सरीरे वेयणा पाउब्भूता, उज्जला जाव जलंता। जप्पभिति च णं मियापुत्ते दारए मियाए देवीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए उववन्ने, तप्पभिति च णं मियादेवी विजयस्स खत्तियस्य अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा, अमणामा जाया यावि होत्था।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। **तीसे**—उस। **मियाए देवीए**—मृगादेवी के। **सरीरे**—शरीर में। **उज्जला**—उत्कट। **जाव**—यावत्। **जलंता**—जाज्वल्यमान —अति तीव्र। **वेयणा**—वेदना। **पाउब्भूता**—प्रादुर्भूत-उत्पन्न हुई। **णं**—वाक्यालकारार्थ मे जानना। **जप्पभिति च णं**—जब से। **मियापुत्ते**—मृगापुत्र नामक। **दारए**—बालक। **मियाए देवीए**—मृगादेवी की। **कुच्छिंसि**—कुक्षि-उदर मे। **गब्भत्ताए**—गर्भरूप से। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ। **तप्पभिति**—तब से लेकर। **च णं**—च समुच्चयार्थ मे और णं-वाक्यालकारार्थ मे है। **मियादेवी**—मृगादेवी। **विजयस्स खत्तियस्स**—विजय नामक क्षत्रिय को। **अनिट्ठा**—अनिष्ट। **अकंता**— सौन्दर्य रहित। **अप्पिया**—अप्रिय। **अमणुण्णा** — अमनोज्ञ- असुन्दर। **अमणामा**—मन से उतरी हुई। **जाया यावि होत्था**—हो गई अर्थात् उसे अप्रिय लगने लगी।

मूलार्थ—तदनन्तर उस मृगादेवी के शरीर मे उज्ज्वल यावत् ज्वलन्त—उत्कट एव जाज्वल्यमान वेदना उत्पन्न हुई—तीव्रतर वेदना का प्रादुर्भाव हुआ। जब से मृगापुत्र नामक बालक मृगादेवी के उदर मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ तब से लेकर वह मृगादेवी विजय नामक क्षत्रिय को अनिष्ट, अमनोहर, अप्रिय, असुन्दर, मनको न भाने वाली—मन से उतरी हुई सी लगने लगी।

टीका—पुण्यहीन पापी जीव जहा कहीं भी जाते हैं वहा अनिष्ट के सिवा और कुछ नहीं होता। तदनुसार एकादि का जीव नरक से निकलकर जब मृगादेवी के उदर मे आया तो उसके सुकोमल शरीर मे तीव्र वेदना उत्पन्न हो गई। इसके अतिरिक्त उसके गर्भ मे आते ही सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वांग-सम्पूर्ण परमसुन्दरी [जो कि विजय नरेश की प्रियतमा थी] मृगादेवी विजय नरेश को सर्वथा अप्रिय और सौन्दर्य-रहित प्रतीत होने लगी। पुण्य शाली और पापिष्ट आत्माओं की पुण्य और पापमय विभूति का इन्हीं लक्षणों से अनुमान किया जाता है।

---

(१) छाया—ततस्तस्या मृगाया देव्या शरीरे वेदना प्रादुर्भूता, उज्ज्वला यावज्ज्वलन्ती। यत्प्रभृति च मृगापुत्रो दारको मृगाया देव्या कुक्षौ गर्भतया उपपन्न तत्प्रभृति च मृगादेवी विजयस्य क्षत्रियस्य अनिष्टा, अकान्ता अप्रिया, अमनोज्ञा, अमनोमा जाता चाप्यभवत्।

"उज्जला जाव जलता" इस वाक्य मे दिये गये ' जाव-यावत् " पद से " विउला, कक्कसा, पगाढा, चंडा, दुहा, तिव्वा, दुरहियासा—" इन पदो का ग्रहण करना। अर्थदृष्ट्या इन पदो मे कोई विशेष भिन्नता नहीं है। इस प्रकार "अणिट्ठा, अकंता, अप्पिया, अमणुण्णा, अमणामा।" ये पद भी समानार्थक ही समझने चाहियें।

तत्पश्चात् क्या हुआ ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं तीसे मियाए देवीए अण्णया कयाइ [2]पुव्वरत्ता-वरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियाए जागरमाणीए इमे एयारूवे अज्झत्थिते समुप्पन्ने—एवं खलु अहं विजयस्स खत्तियस्स पुव्विं इट्ठा ६ धेज्जा वेसासिया अणुमया आसि, जप्पभिति च णं मम इमे गब्भे कुच्छिंसि गब्भत्ताए उववन्ने, तप्पभिति च णं विजयस्स खत्तियस्स अहं अणिट्ठा जाव [3]अमणामा जाया यावि होत्था। नेच्छति णं विजए खत्तिए मम नामं वा गोत्तं वा गिण्हित्तते, किमंग पुण दंसणं वा परिभोगं वा। तं सेयं खलु मम एयं गब्भं बहूहिं गब्भ-साडणाहि य पाडणाहि य गालणाहि य मारणाहि य साडेत्तए वा ४ एवं संपेहेति २ बहूणि खाराणि य कडुयाणि य तूवराणि य गब्भसाडणाणि य खायमाणी य पीयमाणी य इच्छति तं गब्भं साडित्तए वा ४ नो चेव णं से गब्भे सडइ वा ४। तते णं सा मियादेवी जाहे नो संचाएति तं गब्भं साडित्तए वा ताहे संता तंता परितंता अकामिया असयंवसा तं गब्भं दुहं-दुहेणं परिवहति।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि**—मध्य—रात्रि मे। **कुडुम्ब-जागरियाए**—कुटुम्ब की चिन्ता के कारण। **जागरमाणीए**—जागती हुई। **तीसे**—उस। **मियाए देवीए**—मृगादेवी को। **इमे एयारूवे**—यह इस प्रकार का। **अज्झत्थिते**—विचार। **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **अहं**—मै। **पुव्विं**—पहले। **विजयस्स खत्तियस्स**—विजय क्षत्रिय को **इट्ठा**—इष्ट-प्रीतिकारक। **धेज्जा**—चिन्तनीय। **वेसासिया**—विश्वासपात्र तथा। **अणुमया**—अनुमत-

(१) छाया—ततः तस्या मृगादेव्या अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापररात्रकालसमये कुटुम्बजागर्यया जाग्रत्या अयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ५ समुत्पन्नः—एवं खल्वहं विजयस्य क्षत्रियस्य पूर्वमिष्टा ५ ध्येया विश्वासिता अनुमताऽऽसम्। यत् प्रभृति च ममायं गर्भः कुक्षौ गर्भतया उपपन्नः, तत्प्रभृति च विजयस्य क्षत्रियस्याहं अनिष्टा यावदमनोमा जाता चाप्यभवम्, नेच्छति विजयः क्षत्रियो मम नाम वा गोत्रं वा ग्रहीतुम्, किमंग पुनर्दर्शनं वा परिभोगं वा, तत् श्रेयः खलु ममैतं गर्भं बहुभिर्गर्भशाटनाभिश्च पातनाभिश्च गालनाभिश्च मारणाभिश्च शाटयितुं वा ४ एवं सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य बहूनि क्षाराणि च कटुकानि च, तुवराणि च गर्भशाटनानि ४ खादन्ती च पिबन्ती च इच्छति तं गर्भं शाटयितुं वा ४ नो चैव स गर्भः शटति वा ४। ततः सा मृगादेवी यदा नो सशक्नोति तं गर्भं शाटयितुं वा ४ तदा श्रान्ता, तान्ता, परितान्ता, अकामा अस्ववशा तं गर्भं दुःखदुःखेन परिवहति।

(२) पूर्वरात्रापररात्रकालसमये, रात्रेः पूर्वभागः पूर्वरात्रः, रात्रेरपरो भागः अपररात्रः, तावेव तदुभय-मिलितो यः कालः समयः स मध्यरात्रः तस्मिन्नित्यर्थः।

(३) न मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुनः स्मरणतो या सा अमनोमा अर्थात् मन को अत्यन्त अनिष्ट।

सम्मत। आसि—थी, परन्तु। जप्पभिंति च णं—जब से। मम—मेरे। कुच्छिंसि—उदर में। इमे—यह गब्भे—गर्भ। गब्भत्ताए—गर्भरूप से। उववन्ने—उत्पन्न हुआ है। तप्पभिंति च णं—तब से। विजयस्स खत्तियस्स—विजय क्षत्रिय को। अहं—मैं। अणिट्ठा—अप्रिय। जाव—यावत्। अमणामा—मन से अग्राह्य। जाया यावि होत्था—हो गई हूं। विजए खत्तिए—विजय क्षत्रिय तो। मम—मेरे। नामं वा—नाम तथा। गोत्तं वा—गोत्र का भी। गिण्हित्तते—ग्रहण करना-स्मरण करना भी। नेच्छति—नहीं चाहते। किमंग पुण—तो फिर। दंसणं वा—दर्शन तथा। परिभोगं वा—परिभोग भोगविलास की तो बात ही क्या है? । त—अत। खलु—निश्चय ही। मम—मेरे लिये यही। सेयं—श्रेयस्कर है—कल्याणकारी है कि मैं। एयं गब्भं—इस गर्भ को। बहूहिं—अनेकविध। गब्भसाडणाहिं य—गर्भ शातनाओं अर्थात् गर्भ को खण्ड खण्ड कर के गिराने रूप क्रियाओं द्वारा। पाडणाहि य—पातनाओं-अखण्डरूप से गिराने रूपी क्रियाओं से। गालणाहि य—गालनाओं-द्रवीभूत करके गिराने रूप क्रियाओं से तथा। मारणाहि य—मारणाओं—मारण रूप क्रियाओं द्वारा। साडेत्तए वा ४—शातना, पातना गालना, और मारणा के लिये। सपेहेइ विचार करती है, विचार करके। गब्भमाडणाणि य—गर्भ के गिराने वाली। बहूणि—अनेक प्रकार की। खराणि—खर—खारी। कडुयाणि य—कटु, कड़वी। तूवराणि य—कषाय रस युक्त, कसैली औषधियों को। खायमाणी य—खाती हुई पीयमाणी य—पीती हुई। तं गब्भं—उस गर्भ को। साडित्तए वा४—शातन, पातन गालन और मारण करने की। इच्छति—इच्छा करती है, परन्तु। से गब्भे—उस गर्भ का। नो चेव णं—नहीं। सडइ ४—शातन, पातन, गालन और मारण हुआ। तते णं—तदनन्तर। सा मियादेवी—वह मृगादेवी। जाहे—जब। तं गब्भं—उस गर्भ का। साडित्तए वा ४—शातनादि करने म नो संचाएति—समर्थ नहीं हुई। ताहे—तब। संता—श्रान्त—थकी हुई। तंता—मन से दुःखित हुई। परितन्ता—शारीरिक और मानसिक खेद मे खिन्न हुई। अकामिया—अभिलाषा रहित हुई। असयंवसा—विवश-परतन्त्र हुई। तं गब्भं—उस गर्भ को। दुहं-दुहेणं—अत्यन्त दुःख से। परिवहति—धारण करती है अर्थात् धारण करने की इच्छा न होते हुए भी विवश होती हुई धारण कर रही है।

मूलार्थ—तदनन्तर किसी काल मे मध्य रात्रि के समय कुटुम्ब-चिन्ता से जागती हुई उस मृगादेवी के हृदय मे यह सकल्प—विचार उत्पन्न हुआ कि मैं पहले तो विजय नरेश का इष्ट—प्रिय, ध्येय- चिन्तनीय, विश्वास - पात्र और सम्माननीय थी परन्तु जब से मेरे उदर मे यह गर्भस्थ जीव गर्भरूप से उत्पन्न हुआ है तब से विजय नरेश को मै अनिष्ट यावत् अप्रिय लगने लग गई हू। इस समय विजय नरेश तो मेरे नाम तथा गोत्र का भी स्मरण करना नहीं चाहते, तो फिर दर्शन और परिभोग—भोगविलास की तो आशा ही क्या है? अत मेरे लिये यही उपयुक्त एव कल्याणकारी है कि मैं इस गर्भ को गर्भपात के हेतुभूत अनेक प्रकार की शातना (गर्भ को खण्ड २ कर के गिरा देने वाले प्रयोग) पातना (अखण्डरूप मे गर्भ को गिरा देने वाले प्रयोग) गालना (गर्भ को द्रवी–भूत करके गिराने वाला प्रयोग) और मारण (मारने वाला प्रयोग) द्वारा गिरा दूं—नष्ट कर दू। वह इस प्रकार विचार करती है और विचार कर गर्भ—पात मे हेतु भूत क्षारयुक्त--खारी कडवी, और कसैली औषधियों का भक्षण तथा पान करती हुई उस गर्भ को गिरा देना चाहती है। अर्थात् शातना आदि उक्त उपायों से गर्भ को नष्ट कर देना चाहती है। परन्तु वह गर्भ उक्त उपायों से भी नाश को प्राप्त नहीं हुआ। जब वह मृगादेवी इन पूर्वोक्त उपायो से उस गर्भ को नष्ट करने मे समर्थ

नहीं हो सकी तब शरीर से श्रान्त, मन से दुःखित तथा शरीर और मन से खिन्न होती हुई इच्छा न रहते हुए विवशता के कारण अत्यन्त दुःख के साथ उस गर्भ को धारण करने लगी।

टीका—पतिपरायणा साध्वी स्त्री के लिये संसार में अपने पति से बढ़ कर कोई भी वस्तु इष्ट अथवा प्रिय नहीं होती। पतिदेव की प्रसन्नता के सन्मुख वह हर प्रकार के सांसारिक प्रलोभन को तुच्छ समझ कर ठुकरा देती है। उस की दृष्टि में पतिप्रेम का सम्पादन करना ही उसके जीवन का एक मात्र ध्येय होता है, अतः पतिप्रेम से शून्य जीवन को वह एक प्रकार का अनावश्यक बोझ समझती है। जिस को उठाये रखना उस के लिये असह्य हो जाता है। यही दशा पतिव्रता मृगादेवी की हुई जब कि उसने अपने आपको पतिप्रेम से वंचित पाया। कुछ समय पहले उसके पतिदेव का उस पर अनन्य अनुराग था। वे उसे गृहलक्ष्मी समझकर उसका हार्दिक स्वागत किया करते और उसकी आदर्श सुन्दरता पर सदा मुग्ध रहते। इसके अतिरिक्त हर एक सांसारिक और धार्मिक काम काज में उसकी सम्मति लेते तथा उसकी सम्मति के अनुसार ही प्रस्तावित काम काज को सुनिश्चित रूप प्राप्त होता। परन्तु आज वे उस से सर्वथा परामुख हो रहे हैं। उसका नाम तक भी लेने को तैयार नहीं। आज वह प्रेमालाप मधुर-सभाषण एवं सांसारिक और धार्मिक विषयों की विनोदमयी चर्चा उसके लिये स्वप्न सी हो गई। ऐसे क्यों? क्या सचमुच मुझसे ऐसी ही कोई भारी अवज्ञा हुई है, जिस के फलस्वरूप मेरे स्वामी विजय नरेश ने एक प्रकार से मुझे त्याग ही दिया है। वह तो मुझे दिखाई नहीं देती। फिर इसका कारण क्या? इस विचार परम्परा में उलझी हुई मृगादेवी को ध्यान आया कि जब से मेरे गर्भ में यह कोई जीव आया है तब से ही महाराज मुझ से रुष्ट हुए हैं अतः उन के रोष अथ च परामुखता का यही एक कारण हो सकता है। तब यदि इस गर्भ का ही समूलघात कर दिया जाय तो सम्भव है [नहीं नहीं सुनिश्चित है] कि महाराज का फिर मेरे ऊपर पूर्ववत् ही स्नेहानुराग हो जायगा और उनके चरणों की उपासना का मुझे सुअवसर प्राप्त होगा, यह था मध्यरात्री के समय कौटुम्बिक चिन्ता में निमग्न हुई मृगादेवी का चिन्तामूलक अध्यवसाय या संकल्प, जिस से प्रेरित हुई उस ने गर्भपात के हेतुभूत उपायों को व्यवहार में लाने का निश्चय किया और तदनुसार गर्भ को गिराने वाली औषधियों का यथाविधि प्रयोग भी किया, परन्तु इस में वह सफल नहीं हो पाई।

उस के इस प्रकार विफल होने में विपाकोन्मुख अशुभकर्म के सिवा और कोई भी मौलिक कारण दिखाई नहीं देता। अवश्यभावी भाव का प्रतिकार कठिन ही नहीं किन्तु अशक्य अथ च अपरिहार्य होता है। यही कारण है कि सर्वथा अनिच्छा होने पर भी उसे मृगादेवी को गर्भधारण करने में विवश होना पड़ा।

"किमंग पुण" यह अव्यय—समुदाय अर्द्धमागधी—कोष के मतानुसार "—क्या कहना? उस में तो कहना ही क्या? अथवा सामान्य बात तो यह है और विशेष बात तो क्या करना—" इन अर्थों में प्रयुक्त होता है।

शातना गर्भ को खण्ड खण्ड करके गिरादेने वाली क्रिया विशेष का नाम [**शातना गर्भस्य खण्डशो भवनेन पतनहेतवः**] अथवा शातना गर्भ को खण्ड खण्ड करके गिरादेने वाली औषधादि का नाम है। पातना—जिन क्रियाओं या उपायों से खण्डरूप में ही गर्भ का पात किया जा सके, वे पातन के नाम से प्रसिद्ध हैं। [**पातना यैरुपायैरखण्ड एव गर्भः पतति**] गालना—जिन प्रयोगों से गर्भ द्रवीभूत होकर नष्ट हो जाय उन्हें गालना कहते हैं—(**यैर्गर्भो द्रवीभूय क्षरति**) तथा गर्भ की मृत्यु के कारण भूत उपाय विशेष की मारण संज्ञा है।

अब सूत्रकार मृगापुत्र की गर्भगत अवस्था का वर्णन करते हैं—

मूल :— [1]तस्स णं दारगस्स गब्भगयस्स चेव अट्ठ णालीओ अब्भंतरप्पवहाओ अट्ठ णालीओ बाहिरप्पवहाओ अट्ठ पूयप्पवहाओ अट्ठ सोणियप्पवहाओ, दुवे दुवे कण्णंतरेसु दुवे २ अच्छितरेसु दुवे २ नक्कंतरेसु दुवे २ धमणि-अंतरेसु अभिक्खणं २ पूय च सोणिय च परिस्सवमाणीओ २ चेव चिट्ठंति । तस्स णं दारगस्स गब्भगयस्स चेव अग्गिए नामं वाही पाउब्भूते । जेणं से दारए आहारेति से णं खिप्पामेव विद्धंमागच्छति, पूयत्ताए य सोणियत्ताए य परिणमति । तं पि य से पूयं च सोणियं च आहारेति ।

पदार्थ—**गब्भगयस्स चेव**—गर्भ गत ही । **तस्स णं**—उस । **दारगस्स**—बालक की । **अट्ठ**—आठ । **णालीओ**—नाडियें जोकि । **अब्भतंरप्पवहाओ**—अन्दर वह रही हैं तथा । **अट्ठ णालीओ**—आठ नाडियें । **बाहिरप्पवहाओ**—बाहिर की ओर बहती हैं उनमें प्रथम की । **अट्ठ णालीओ**—आठ नाडियो मे । **पूयप्पवहाओ**—पूय-पीव बह रही हैं । **अट्ठ**—आठ नाडियों मे । **सोणियप्पवहाओ**—शोणित—रुधिर बह रहा है । **दुवे २**—दो दो । **कण्णंतरेसु**—कर्ण छिद्रों में । **दुवे २**—दो दो । **अच्छितरेसु**—नेत्र छिद्रों म । **दुवे २**—दो दो । **नक्कंतरेसु**—नासिका के छिद्रों मे । **दुवे २**—दो दो । **धमणीअंतरेसु**—धमनी नामक नाडियों के मध्य में । **अभिक्खणं २**—बार बार । **पूयं च**—पूय और । **सोणिय च**—शोणित-रक्त का **परिस्सवमाणीओ २**—परिस्राव करती हुई । **चेव**—समुच्चयार्थक है। **चिट्ठति**—स्थित हैं अर्थात् पूय और शोणित को बहा रही हैं तथा । **गब्भगयस्स चेव**—गर्भगत ही । **तस्स ण दारगस्स**—उस बालक के शरीर मे । **अग्गिए णामं**—अग्निक—भस्मक नाम की । **वाही**—व्याधि—रोग विशेष का । **पाउब्भूते**—प्रादुर्भाव हो गया । **जेणं**—जिसके कारण जो कुछ । **से**—वह । **दारए**—बालक । **आहारेति**—आहार करता है । **से णं**—वह । **खिप्पामेव**—शीघ्र ही । **विद्धंसमागच्छति**—नाश को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जठराग्नि द्वारा पचा दिया जाता है तथा वह । **पूयत्ताए य**—पूयरूप में और । **सोणियत्ताए य**—शोणितरूप मे । **परिणमति**—परिणमन हो जाता बदल जाता है तदनन्तर **से**—वह बालक **तं पि य**—उस । **पूयं च**—पूय का तथा । **सोणियं च**—शोणित-लहू का । **आहारेति**—आहार-भक्षण करता है ।

मूलार्थ गर्भगत उस बालक के शरीर मे अन्दर तथा बाहर बहने वाली आठ नाडियों मे से पूय और रुधिर बहता था । इस प्रकार शरीर के भीतर और बाहर की १६ नाडियो मे से पीव और रुधिर बहा करता था । इन १६ नाडियों मे से दो दो नाड़ियें कर्ण विवरों—कर्ण छिद्रों मे इसी प्रकार दो दो नेत्र विवरों मे, दो दो नासिका-विवरों और दो २ धमनियों[2] से बार २ पूय तथा रक्त का स्राव किया करती थी अर्थात् इन से पूय और रक्त बह रहा था । और गर्भ में ही उस बालक के शरीर में अग्निक—भस्मक नाम की व्याधि उत्पन्न हो गई थी जिस के कारण वह बालक जो कुछ खाता वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता था,

---

(१) छाया—तस्य दारकस्य गर्भगतस्यैवाष्ट नाड्योऽभ्यन्तर-प्रवहा, अष्ट नाड्यो बहिःप्रवहा, अष्ट पूयप्रवहा, अष्ट शोणितप्रवहा, द्वे द्वे कर्णान्तरयो, द्वे २ अक्ष्यन्तरयो, द्वे २ नासान्तरयो, द्वे धमन्यन्तरयो । अभीक्ष्णं २ पूय च शोणित च परिस्रवन्त्य परिस्रवन्त्यश्चैव तिष्ठन्ति । तस्य दारकस्य गर्भगतस्यैवाग्निको नाम व्याधि प्रादुर्भूत । यत् स दारक आहरति तत् क्षिप्रमेव—विध्वंसमागच्छति पूयतया शोणिततया च परिणमति । तदपि च स पूय च शोणित चाहरति ।

(२) हृदयकोष्ट के भीतर की नाडि का नाम धमनी है ।

अर्थात् पच जाता था तथा तत्काल ही वह पूय-पीव और शोणित-रक्त के रूप मे परिणत हो जाता था । तदनन्तर वह बालक, उस पूय और शोणित को भी खा जाता था ।

---

(१) गर्भगत जीव माता के खाए हुए आहार मे पुष्टि को प्राप्त होता है, यह कथन सर्व—सम्मत है परन्तु मृगापुत्र के जीव की दुष्कर्मवशात् इस मे कुछ विलक्षण ही स्थिति है । मृगापुत्र का जीव माता द्वारा किये गए आहार को जहा रस के रूप मे ग्रहण करता है वहा वह जठराग्नि के द्वारा रस के पचाए जाने और उस के पूय और रुधिर के रूप मे परिणत हो जाने पर उस पूय और रुधिर को भी दोबारा आहार के रूप मे ग्रहण करता है । जो कि स्थूल-दृष्ट्या प्रकृति—विरुद्ध ठहरता है ।

गर्भ के बाहिर आने पर मृगापुत्र के द्वारा गृहीत आहार का पूय और रुधिर के रूप में परिणत हो जाना, उस परिणत पदार्थ का वमन हो जाना, तदनन्तर उस वान्त पदार्थ का मृगापुत्र के द्वारा ग्रहण कर लेना तो असगत नहीं ठहरता । क्योंकि ये सब व्यवहार-सिद्ध है हों । परन्तु गर्भस्थ जीव का दोबारा आहार ग्रहण करना कैसे सगत ठहरता है ? यह अवश्य विचारणीय है ।

विद्वानो के साथ ऊहापोह करने से मैं जो समाधान कर पाया हूँ, वह पाठको के सामने रख देता हूँ । उस में कहा तक औचित्य है ? यह वे स्वय विचार करें ।

सर्व-प्रथम तो यह समझ लेना चाहिये कि कर्मों की विलक्षण स्थिति को सम्मुख रखते हुए मृगापुत्र के जीव का जो चित्रण शास्त्रकारों ने किया है वह कोई आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि कर्मराज के न्यायालय मे दुष्कर सुकर है और सुकर दुष्कर । तभी तो कहा है—**कर्मणां गहना गतिः** ।

इस के अतिरिक्त गर्भगत जीव के आहार-ग्रहण मे और हमारे आहार भक्षण मे विशिष्ट अन्तर है । हम जिस प्रकार आहार ग्रहण करने मे मुख, जिह्वा आदि की क्रियाओं मे प्रवृत्त होते हैं उस प्रकार की भक्षण-क्रिया गर्भगत जीव मे नहीं होती ।

मृगापुत्र के जीवन परिचय मे "—गर्भस्थ मृगापुत्र के शरीर की आठ अन्दर की नाड़ियें और आठ बाहिर की नाडियें पूय और रुधिर का परिस्राव कर रही थीं—" यह ऊपर कह ही दिया गया है । यहा प्रश्न होता है कि मृगापुत्र के शरीर की नाडियें जो पूय और रुधिर का परिस्राव कर रही थीं, वह कहा जाता था ? मृगापुत्रीय शरीर के ऊपर तो जरायु का बन्धन पडा हुआ है जो कि प्राकृतिक है, पूय और रुधिर को बाहिर जाने का अन्य कोई मार्ग नहीं, तब वह क्या जरायु मे एकत्रित होता रहता था या उस के निर्गमन का कोई और साधन था ?

इसी प्रश्न का समाधान सूत्रकार ने—**तं पि य से पूयं च सोणियं च आहारेति**—इन शब्दों द्वारा किया है । अर्थात् वह मृगापुत्र का जीव उस पूय और रुधिर को आहार के रूप में ग्रहण कर लेता था ।

सूत्रकार का यह पूर्वोक्त कथन बडा गभीर एव युक्ति—पूर्ण है । क्योंकि—मृगापुत्र जो आहार ग्रहण करता है, वह तो पूय और रुधिर के रूप मे परिणत हो जाता है, और उसके शरीर की आठ अन्दर की और आठ बाहिर की नाडियें उस पूय और रुधिर का स्रवण कर रही हैं । ऐसी स्थिति मे उस के शरीर का निर्माण किस तत्त्व से हो सकेगा ? यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिस का उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है कि नाडियों से परिस्रवित पूय और रुधिर को वह (मृगापुत्र का जीव) ग्रहण कर लेता था, जो उस के शरीर-निर्माण का कारण बनता था । **रहस्यं तु केवलि-गम्यम्** ।

मृगापुत्र के जीव का यह कितना निकृष्ट एव घृणास्पद वृत्तान्त है, यह कहते नहीं बनता ।

टीका—अत्युग्र पापकर्मों के आचरण का क्या परिणाम होता है ? यह जानने के इच्छुकों के लिये मृगापुत्र का यह एक मात्र उदाहरण ही काफी है। गर्भावास में ही अन्दर तथा बाहिर की ओर पूय तथा रक्त का स्राव करने वाली अभ्यन्तर और बाहिर की शिराओं-नाडियों से पूय और रुधिर का बहना, शरीर में भयकर अग्निक–¹भस्मक रोग का उत्पन्न होना, खाये हुए अन्नादि का उसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र नष्ट हो जाना अर्थात् उस का पचजाना एव उस का पूय और रुधिर के रूप में परिणमन हो जाना और उस का भी भक्षण कर लेना ये सब इतना बीभत्स और भयावना दृश्य है कि उस का उल्लेख करते हुए लेखनी भी सकोच करती है। तब गर्भस्थ मृगापुत्र की अथवा नरक से निकल कर मृगादेवी के गर्भ मे आये हुए एकादि के जीव की उपयुक्त दशा की ओर ध्यान देते हुए भर्तृहरि के स्वर मे स्वर मिलाकर '**नमस्तत् कर्मणे**' [अर्थात् कर्मदेव को नमस्कार हो] कहना नितरा उपयुक्त प्रतीत होता है।

गर्भस्थ मृगापुत्र के शरीर मे भीतर और बाहिर की ओर प्रवाहित होने वाली नाडियों मे से आठ पूय को प्रवाहित करती थीं और आठ से रक्त प्रवाहित होता था। इस प्रकार पूय और रक्त को प्रवाहित करने वाली १६ नाडियें थी। इनका अवान्तर विभाग इस प्रकार है—

दो दो कानो के छिद्रों में, दो दो नेत्रों के विवरों मे, दो दो नासिका के रध्रो मे और दो दो दोनों धमनियों में, अन्दर और बाहर से पूय तथा रक्त को प्रवाहित कर रही थी। यह—"**अट्ठ णालीओ**" से लेकर "**परिस्सवमाणीओ २ चेव चिट्ठंति**" तक के मूल पाठ का तात्पर्य है। वृत्तिकार ने भी यही भाव अभिव्यक्त किया है—

शरीरस्याभ्यन्तर एव रुधिरादि स्रवन्ति यास्तास्तथोच्यन्ते, शरीराद्बहिः पूयादि स्रवन्ति यास्तास्तथोक्ता। एता एव षोडश विभज्यन्ते कथमित्याह — द्वे पूयप्रवाहे द्वे च शोणितप्रवाहे। ते च क्वेत्याह—श्रोत्ररन्ध्रयोः, एवमेताश्चतस्र, एवमन्या अपि व्याख्येया नवर धमन्यः कोष्ठहड्डान्तराणि।

अब सूत्रकार मृगापुत्र के जन्म सम्बन्धी वृत्तान्त का वर्णन करते हुए इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं—

मूल— ²**तते ण सा मियादेवी अण्णया कयाती णवण्हं मासाण बहुपडिपुण्णाण दारगं पयाया जातिअंध जाव आगितिमित्तं। तते णं सा मियादेवी तं दारगं हुंडं अन्धारूवं पासति २ त्ता भीया ४ अम्मधाति सद्दावेति २त्ता एव वयासी—गच्छह णं देवा० ! तुम एयं दारग**

कर्मों का प्रकोप ऐसा ही भीषण एव हृदय कम्पा देने वाला होता है। अत सुखाभिलाषी पाठकों को पाप कर्मों से सदा दूर ही रहना चाहिये।

(१) भस्मक रोग वात, पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होने वाली एक भयकर व्याधि है। इस मे खाया हुआ अन्नादि पदार्थ शीघ्रातिशीघ्र भस्म हो जाता है–नष्ट हो जाता है। शार्ङ्गधर सहिता [अध्याय ७] मे इस का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निः, क्षणाद्रस शोषयति प्रसह्य।
युक्त क्षणाद् भस्म करोति यस्मात्तस्मादय भस्मक–सज्ञकस्तु॥

अर्थात्— जिस रोग में बढी हुई वायु युक्त अग्नि रसो को क्षणभर में सुखा देती है, तथा खाए हुए भोजन को शीघ्रातिशीघ्र भस्म कर देती है उसे भस्मक कहते हैं।

(२) छाया—तत सा मृगादेवी अन्यदा कदाचित् नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारक प्रजाता, जात्यन्ध

एगन्ते उक्कुरुडियाए उज्झाहि । तते णं सा अम्मधाती मियाए देवीए तहत्ति एतमट्ठं पडिसुणेति २त्ता जेणेव विजए खत्तिए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता करयलपरिग्गहियं [1]जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी ! मियादेवी नवण्हं जाव आगितिमित्तं, तते णं सा मियादेवी तं हुंडं अन्ध पासति २त्ता भीया मम सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवा० ! एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि, तं सन्दिसह णं सामी ! तं दारगं अहं एगंते उज्झामि उदाहु मा ?

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **अण्णया कयाती**—अन्य किसी समय । **सा मियादेवी** - उस-मृगादेवी ने । **नवण्ह मासाणं**—नव मास । **पडिपुण्णाण**—परिपूर्ण होने पर । **दारगं**—बालक को । **पयाया**—जन्म दिया जोकि— । **जातिअंधं**—जन्म से अन्धा । **जाव** - यावत् । **आगिति-मित्त** —आकृति मात्र था । **तते णं**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी । **तं**—उस । **हुडं**—अव्यवस्थित अगों वाले । **जाति-अंध**—जन्म से अधे । **दारयं**—बालक को **पासति**—देखती है । **२त्ता**—देख कर । **भीया ४**—भय को प्राप्त हुई, त्रास को प्राप्त हुई, उद्विग्नता एव व्याकुलता को प्राप्त हुई, और भयातिरेक से उस का शरीर काम्पने लग पड़ा । **अम्माधातिं**—धाय माता को । **सद्दावेति**—बुलाती है । **२त्ता**—बुलाकर । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगी । **देवा०**! —हे देवानुप्रिये ! । **तुम**—तुम **गच्छह ण**—जाओ । **एयं दारग**—इस बालक को । **एगते** - एकान्त मे । **उक्कुरुडियाए** - कूड़ा —कचरा डालने की जगह पर । **उज्झाहि**—फैंक दो । **तते ण**—तदनन्तर । **सा**—वह । **अम्माधाती**—धाय माता । **मियाए देवीए**—मृगादेवी के । **एतमट्ठं**— इस अर्थ-प्रयोजन को । **तहत्ति**—तथास्तु—बहुत अच्छा, इसप्रकार कह कर । **पडिसुणेति**—स्वीकार करती है । **२त्ता**—स्वीकार करके । **जेणेव**—जहा पर । **विजए खत्तिए**—विजय क्षत्रिय था ।—**तेणेव**—वहा पर । **उवागच्छति २त्ता**—आती है, आकर । **करयलपरिग्गहियं**— दोनों हाथ जोड कर । **एव वयासी**—इस प्रकार बोली । **एव खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **सामी** !-- हे स्वामिन् ! **मियादेवी**—मृगादेवी ने । **नवण्हं** - नौ मास पूरे होने पर जन्मान्ध । **जाव**—यावत् । **आगितिमित्त**—आकृति मात्र बालक को जन्म दिया है । **तते ण**—तदनन्तर । **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी । **तं**—

यावत् आकृतिमात्रम् । तत. सा मृगादेवी त दारक हुण्डमन्धकरूप पश्यति दृष्ट्वा [1]भीता ४ अम्बाधात्री शब्दयति शब्दयित्वा एवमवादीत्-गच्छ त्व देवानुप्रिये ! एत दारक एकान्ते अशुचिराशौ उज्झ । ततः सा अम्बाधात्री मृगाया. देव्या 'तथेति, एतमर्थ प्रतिशृणोति प्रतिश्रुत्य यत्रैव विजय क्षत्रिय तत्रैवोपागच्छति उपागत्य करतल-परिगृहीत यावदेवमवदत्—एव खलु स्वामिन् ! मृगादेवी नवसु यावदाकृतिमात्रम् , तत सा मृगादेवी त हुण्ड-मन्ध पश्यति दृष्ट्वा भीता ४ मा शब्दयति शब्दयित्वा एवमवदत् गच्छ त्व देवानुप्रिये ! एत दारक एकान्ते अशुचिराशौ उज्झ ! तत् सन्दिशत स्वामिन् ! त दारक अहमेकान्ते उज्झामि उताहो मा ?

(१) "—करयल—" इत्यत्र "करयलपरिग्गहियं दसणह अंजलि मत्थए कट्टु" इत्यादि दृश्यमिति वृत्तिकारः ।

(१) भीता भययुक्ता भयजनक-विकृताकारदर्शनात् , इत्यत्र त्रस्ता, उद्विग्ना, सजातभया इत्येतानि पदान्यपि द्रष्टव्यानि । त्रस्ता —त्रासमुपगता, अयमस्माक कीदृशमशुभ विधास्यतीति चिन्तनात् । उद्विग्ना —व्याकुला, कम्पमानहृदयेति यावत् । सजातभया —भयजनितकम्पेन प्रचलितगात्रेति भाव. ।

उस। **हुडं**—विकृताग—भद्दी आकृति वाले। **अंधं**—अन्धे बालक को। **पासति २ त्ता**—देखती है, देखकर। **भीया**—भयभीत हुई। **ममं**—मेरे को। **सद्दावेति २त्ता**—बुलाती है बुलाकर। **एवं वयासी**—वह इस प्रकार कहने लगी। **देवा०**!—हे देवानुप्रिये!। **तुम**—तुम। **गच्छह णं**—जाओ। **एयं दारगं**—इस बालक को। **एगंते**—एकान्त में ले जाकर। **उक्कुरुडियाए**—कूडे कचरे के ढेर पर। **उज्झाहि**—फैंक दो। **तं**—इसलिये **सामी**!—हे स्वामिन्!। **संदिसह णं**—आप आज्ञा दे कि क्या। **अहं**—मै। **तं दारगं**—उस बालक को। **एगंते**—एकान्त में। **उज्झामि**—छोड दू —फेक दू। **उदाहु**—अथवा। **मा**—नहीं।

मूलार्थ—तत्पश्चात् लगभग नौ मास पूर्ण होने पर मृगादेवी ने एक जन्मान्ध यावत अवयवों की आकृत मात्र रखने वाले बालक को जन्म दिया। तदनन्तर हुंड—विकृताग तथा अन्ध रूप उस बालक को देख कर भय-भीत, त्रस्त, उद्विग्न—व्याकुल तथा भय से कांपती हुई मृगादेवी ने धायमाता को बुलाकर इस प्रकार कहा कि हे देवानुप्रिये! तुम जाओ, इस बालक को ले जाकर एकात मे किसी कूडे कचरे के ढेर पर फेंक आओ। तदनन्तर वह धायमाता मृगादेवी के इस कथन को तथास्तु—बहुत अच्छा, कह कर स्वीकृत करती हुई जहा पर विजय नरेश थे, वहा पर आई और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगी कि हे स्वामिन्! लगभग नौ मास के पूर्ण हो जाने पर मृगादेवी ने एक जन्मान्ध यावत् अवयवों की आकृति मात्र रखने वाले बालक को जन्म दिया है, उस हुंडरूप—भद्दी आकृति वाले जन्मान्ध बालक को देख कर वह भयभीत हुई और उसने मुझे बुलाकर कहा कि हे देवानुप्रिये! तुम जाओ और इस बालक को ले जा कर एकात मे किसी कूडे कचरे के ढेर पर फेंक आओ। अतः हे स्वामिन्! आप बतलाये कि मै उसे एकान्त मे ले जा कर फैंक आऊं या नही?

टीका—कर्मराज के प्रकोप से जिस बच्चे के हाथ पाव तथा आख कान प्रभृति कोई भी अग प्रत्यग सम्पूर्ण न हो, किन्तु इनकी केवल आकृति अर्थात् आकार मात्र ही हो ऐसे हुडरूप—नितान्त भद्दे स्वरूप वाले, मात्र श्वास लेते हुए मास-पिड को देख कर, और जिसने गर्भस्थ होते ही मुझे पतिप्रेम से भी वञ्चित कर दिया था अब न जाने इस पापात्मा के कारण कौन २ सा मेरा अनिष्ट होगा इत्यादि विचारो से प्रेरित होती हुई मृगादेवी का भयभीत—भय सत्रस्त, व्याकुल तथा भय से कम्पित होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। तथा इस प्रकार के अदृष्टपूर्व, निन्दास्पद—जिसे देखकर छोटे बडे सभी को घृणा हो और जिस के कारण जन्म देने वाली का अपवाद हो—पुत्र को घर में रखने की अपेक्षा बाहिर फैंक देना ही हित-कर है, इस धारणा से धायमाता को बुलाकर उसे तत्काल के जन्मे हुए अगप्रत्यंग-हीन केवल श्वास लेने वाले मासपिड-मास के लोथडे को बाहिर लेजाकर फेंक देने को कहना भी मृगादेवी को कोई निंदास्पद प्रतीत नहीं हुआ, इसी लिये उसने धायमाता को ऐसा (पूर्वोक्त) आदेश दिया।

धायमाता का मृगादेवी की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए विजय नरेश के पास जाकर सारी वस्तु-स्थिति को उनके सामने रखना और उनकी अनुमति मागना भी उसकी बुद्धिमत्ता और दीर्घदर्शिता का ही सूचक है। इसी लिये उसने बडी गभीरता से सोचना आरम्भ किया कि मृगादेवी ने तत्काल के जन्मे हुए जिस बच्चे को बाहिर फैंकने का आदेश दिया है, उसके स्वरूप को देख कर तो उसका बाहिर फेंक देना ही उचित है, परन्तु जब तक महाराज की इसमें अनुमति न हो तब तक इस में प्रवृत्त होना मेरे लिये योग्य नहीं है। क्योकि एक राजकुमार को [फिर भले ही वह किसी

प्रकार का भी क्यों न हो] केवल उसको माता के कह देने मात्र से बाहिर फैंक देना पूरा २ खतरा मोल लेना है । इस लिये जब तक इसके पिता विजय नरेश को इस घटना से अवगत न किया जाय और उनकी आज्ञा प्राप्त न की जाय तब तक इस बच्चे का फैंकना तो अलग रहा किन्तु फेंकने का सकल्प करना भी नितान्त मूर्खता है और विपत्ति को आमंत्रित करना है । इन्ही विचारों से प्रेरित हो कर उस धायमाता ने विजय नरेश को बालक के जन्म—सम्बन्धी सारे वृत्तान्त को स्पष्ट शब्दों में कह सुनाया तथा अन्त में महाराणी मृगादेवी की उक्त आज्ञा का पालन किया जाय अथवा उस से इनकार कर दिया जाय इसका यथोचित आदेश मांगा।

इस सारे सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि राजा महाराजाओं के यहां जो धायमातायें होती थी वे कितनी व्यवहार कुशल और नीति निपुण हुआ करती थीं तथा अपने उत्तरदायित्व को—अपनी जिम्मेदारी को किस हद तक समझा करती थीं यह महाराणी मृगादेवी की धायमाता के व्यवहार से अच्छी तरह व्यक्त हो जाता है ।

"जातिअंध जाव आगितिमित्तं" यहां पठित **"जाव-यावत"** पद से ' **—जाइअंधे—**" से आगे के "**—जाइमूए—**" इत्यादि सभी पदों के ग्रहण की ओर संकेत किया गया है। तथा "**हुंड**' शब्द का वृत्तिकार सम्मत अर्थ है—जिस के अंग प्रत्यंग सुव्यवस्थित न हों अर्थात् जिस के शरीर गत अंगोपांग नितान्त विकृत –भद्दे हो उसे हुंड कहते हैं। '**हुंड' त्ति अव्यवस्थितांगावयवम्**। तथा मूलगत "**भीया**" पद के आगे जो ४ का अंक दिया है उसका तात्पर्य—" **भीया, तत्था, उव्विग्गा, संजायभया-भीता, त्रस्ता उद्विग्ना, सजातभया**" इन चारों पदों की संकलना से है । वृत्तिकार अभयदेव सूरि के मत मे ये चारों ही पद भय की प्रकर्षता के बोधक अथच समानार्थक हैं । '**भीया, तत्था, उव्विग्गा, संजायभया' भयप्रकर्षाभिधानायैकार्था.** शब्दाः। तथा **"उक्कुरुडिया"** यह देशीय प्राकृत का पद है इस का अर्थ होता है अशुचिराशि, अर्थात् कूड़े कचरे का ढेर या कूडा करकट फैंकने का स्थान।

धायमाता से प्राप्त हुए पुत्र जन्म—सम्बन्धी सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर विजय नरेश ने क्या किया अब सूत्र-कार उसका वर्णन करते हैं –

मूल—[१]**तते णं से विजए तीसे अम्म० अंतिते सोच्चा तहेव संभंते उट्ठाते उट्ठेति उट्ठेत्ता जेणेव मियादेवी तेणेव उवागच्छति २ मियं देविं एवं वयासी-देवाणु० ! तुब्भ पढ़म—गब्भे, तं जइ णं तुमं एयं एगंते उक्कुरुड़ियाए उज्झसि तो णं तुब्भ पया नो थिरा भविस्सति, तेणं तुमं एयं दारगं रहस्सियंसि भूमीघरंसि रहस्सितेणं भत्तपाणेणं पडिजागरमाणी २ विहराहि, तो णं तुब्भ पया थिरा भविस्संति। तते णं सा मियादेवी विजयस्स खत्तियस्स तहत्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति २त्ता तं दारगं रह० भूमिघर० भत्त० पडिजागरमाणी विहरति । एवं**

(१) छाया—तत स विजयस्तस्या अम्बा० अन्तिकात् श्रुत्वा तथैव सम्भ्रान्त उत्थायोत्तिष्ठति उत्थाय यत्रैव मृगादेवी तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य मृगा देवी एवमवदत् देवानु० ! तव प्रथमगर्भ, तद् यदि त्वमेतमेकान्तेऽशुचिराशावुज्झसि ततस्तव प्रजा नो स्थिरा भविष्यन्ति । तेन त्व एत दारक राहस्यिके भूमिगृहे राहसिकेन भक्तपानेन प्रतिजाग्रती २ विहर ततस्तव प्रजा स्थिरा भविष्यन्ति । तत सा मृगादेवी विजयस्य क्षत्रियस्य "**तथेति**"एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तं दारक राहस्यिके भूमिगृहे राहसिकेन भक्तपानेन प्रतिजाग्रती विहरति। एव खलु गौतम ! मृगापुत्रो दारक पुरा पुराणाना यावत् प्रत्यनुभवन् विहरति।

खलु गोयमा ! मियापुत्ते दारए [1] पुरा पोराणाणं जाव पच्चणुभवमाणे विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **से विजए**—वह विजय नरेश। **तीसे**—उस। **अम्म०**—धाय माता के। **अंतिते**—पास से यह। **सोच्चा**—सुन कर। **तहेव**—तथैव अर्थात् जिस रूप में बैठा था उसी रूप में। **संभंते**—सम्भ्रान्त-व्याकुल हुआ। **उट्ठाते**—उठकर। **उट्ठेति**—खड़ा होता है। **उट्ठेत्ता**—खड़ा हो कर। **जेणेव**—जहां **मियादेवी**—मृगादेवी थी। **तेणेव**—वहीं पर **उवागच्छति**—आता है। **२ त्ता**—आकर। **मियं देविं**—मृगादेवी को। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहता है। **देवाणु०**!—हे देवानुप्रिये!। **तुज्झं**—तुम्हारा यह। **पढमगब्भे**—प्रथम गर्भ है। **त जइ णं तुम**—इसलिये यदि तुम। **एय**—इस को। **एगते**—एकान्त। **उक्कुरुड़ियाए**—कूड़े कचरे के ढेर पर। **उज्झसि**—फेंक दोगी। **तो ण**—तो। **तुज्झ पया**—तेरी प्रजा—सन्तति। **नो थिरा भविस्संति**—स्थिर नहीं रहेगी। **तेणं**—अत। **तुम**—तुम। **एयं दारगं**—इस बालक को। **रहस्सियसि**—गुप्त। **भूमी-घरसि**—भूमि गृह में। **रहस्सितेणं**—गुप्त। **भत्तपाणेणं**—भक्त पान-आहारादि से। **पडिजागरमाणी**—सेवा-पालनपोषण करती हुई। **विहराहि**—विहरण करो, समय व्यतीत करो। **तो णं**—तब। **तुज्झ पया**—तुमारी प्रजा-सन्तान। **थिरा**—स्थिर–चिर स्थायी। **भविस्संति**—रहेगी। **तते णं**—तदनन्तर। **सा मियादेवी**—वह मृगादेवी। **विजयस्स**-विजय। **खत्तियस्स**—क्षत्रिय के। **एयमट्ठं**—इस कथन को। **तहत्ति**—स्वीकृति सूचक "तथेति" (बहुत अच्छा) यह कहती हुई। **विणएणं**—विनय पूर्वक। **पडिसुणेति**—स्वीकार करती है। **२ त्ता**—स्वीकार करके। **त दारगं**—उस बालक को। **रह०**—गुप्त। **भूमिघर०**—भूमि गृह में। **भत्त०**—आहारादि के द्वारा। **पडिजागरमाणी**—पालन पोषण करती हुई। **विहरति**—समय व्यतीत करने लगी। **गोयमा**!—हे गौतम!। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **मियापुत्ते**—मृगापुत्र नामक। **दारए**—बालक **पुरा**—प्राचीन। **पुराणाणं**—पूर्व काल में किये हुए कर्मों का। **जाव**—यावत्। **पच्चणुभवमाणे**—प्रत्यक्ष रूप से फलानुभव करता हुआ। **विहरति**—समय बिता रहा है।

मूलार्थ—तदनन्तर उस धायमाता से यह सारा वृत्तान्त सुनकर सम्भ्रांत-व्याकुल से हो विजय नरेश जैसे ही बैठे थे वैसे उठ कर खड़े हो गये और जहां पर मृगादेवी थी वहां पर आये आकर उस से इस प्रकार बोले कि हे भद्रे! यह तुम्हारा प्रथम गर्भ है यदि तुम इसको किसी एकान्त स्थान में अर्थात कूड़े कचरे के ढेर पर फिकवा दोगी तो तुम्हारी प्रजा—सन्तान स्थिर नहीं रहेगी, अत फेंकने की अपेक्षा तुम इस बालक को गुप्त भूमिगृह (भौरा) में रखकर गुप्त रूप से भक्तपानादि के द्वारा इस का पालन पोषण करो। ऐसा करने से तुम्हारी भावी प्रजा—आगामी सन्तति स्थिर—चिरस्थायी रहेगी। तत्पश्चात् मृगादेवी ने विजय नरेश के इस कथन को विनय पूर्वक स्वीकार किया, और वह उस बालक को गुप्त भूमिगृह में स्थापित कर गुप्त रूप से आहार—खान पान आदि के द्वारा उस का संरक्षण करने लगी। भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! इस प्रकार मृगापुत्र स्वकृत पूर्व के पाप कर्मों का प्रत्यक्ष फल भोगता हुआ समय बिता रहा है।

---

(१) "पुरा पोराणाणं" त्ति पुरा पूर्वकाले "कृतानाम्" इति गम्यम अत एव "पुराणाना" चिरन्तनानाम्। इह च यावत्करणात् —"दुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्कंताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं"—इति द्रष्टव्यमिति भाव।

टीका—धाय माता के द्वारा सर्वांगविकल जन्मान्ध पुत्र का जन्म तथा उसे बाहिर फिकवा देने सम्बन्धी मृगादेवी का अनुरोध आदि सम्पूर्ण खेदजनक वृत्तान्त को सुनकर विजय नरेश किंकर्तव्य विमूढ से हो गये, हैरान से रह गये, उन का मन व्याकुल हो उठा। उन्हो ने धायमाता को कुछ भी उत्तर न देते हुए उसी समय सीधा मृगादेवी की ओर प्रस्थान किया। मृगादेवी के पास आकर उसे आश्वासन देते हुए बोले कि प्रिये ! तुम्हारा यह प्रथम गर्भ है। मेरे विचार में इसे बाहिर फैंकना तुम्हारे लिये हितकर न होगा। यदि तुम इसे बाहिर फिंकवाने का साहस करोगी तो तुम्हारी भावी प्रजा-आगामी सन्तति को हानि पहुंचेगी, वह चिरस्थायी नहीं होगी। अत तुम इस बच्चे को किसी गुप्त भूमीगृह मे रखकर गुप्तरूप से इसके पालन पोषण का यत्न करो ताकि इस पुण्यकर्म से तुम्हारी भावी प्रजा को चिरस्थायी होने का अवसर प्राप्त हो, मेरी दृष्टि में यह उपाय ही हितकर है। महाराज की इस सम्मति को आज्ञारूप समझकर महाराणी मृगादेवी ने बडे नम्रभाव से स्वीकार किया और उनके कथनानुसार मृगापुत्र का यथाविधि पालन पोषण करने मे प्रवृत्त हो गई।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गोतम अनगार से कहा कि हे गौतम ! तुम्हारे पूर्वोक्त प्रश्न "—भगवन् ! यह मृगापुत्र पूर्वजन्म में कौन था ?—" इत्यादि का यह उत्तर है। इस से यह भली भाति स्पष्ट हो जाता है कि पुराकृत पापकर्मो के कारण ही कटुफल का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता हुआ यह मृगापुत्र अपने जीवन को विता रहा है।

इस कथा सन्दर्भ में विजय नरेश की धार्मिकता और दयालुता की जितनी सराहना की जावे उतनी ही कम है। **"जीवन देने से ही जीवन मिलता है"** इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार मृगापुत्र को जीवन दान देने का फल यह हुआ कि उसके बाद मृगादेवी ने अन्य चार पुत्रो को जन्म दिया और वे सर्वांगसम्पूर्ण रूपसौन्दर्ययुक्त और विनीत एव दीर्घायु हुए।

जिस जीव ने पूर्व भव में जितना आयुष्य बान्धा है उतने का उपभोग करने में उसे कर्मवाद के नियमानुसार पूरी स्वतन्त्रता है। उस मे किसी को हस्ताक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। अथवा यूँ कहिये कि कर्मवाद के न्यायालय मे आयुकर्म की ओर से इस प्राणी को [फिर वह मनुष्य अथवा पशु या पक्षी आदि कोई भी क्या न हो] जितना जीवन मिला है उस के व्याघात का उद्योग करना मानो न्यायोचित आज्ञा का विरोध करना है, जिसके लिये कर्मवाद की ओर से यथोचित दण्ड का विधान है। इसी न्यायोचित सिद्धान्त की भित्ति पर अहिंसावाद के भव्य प्रासाद का निर्माण किया गया है। जिसके अनुसार किसी के जीवन का अपहरण करना मानों आत्म अपहरण करना ही है। क्यों कि जीवन का इच्छुक पर-जीवन का घातक कभी नहीं हो सकता। जैन परिभाषा के अनुसार भावमूलक द्रव्यहिंसा ही कर्म बन्धन का हेतु हो सकती है, इस लिये हिंसा के भाव से हिंसा करने वाला मानव प्राणी पर की हिंसा करने से पूर्व अपने आत्मा का अवहनन करता है ऐसे ही प्राणी शास्त्रीय दृष्टि से आत्मघाती माने जाते हैं।

विजय नरेश के अन्दर धर्म की अभिरुचि थी। महापुरुषों के सहवास में उसके विवेक चक्षु कुछ उघड़े हुए थे। अहिंसा—तत्त्व को उस ने खूब समझा हुआ था। इसी के फलस्वरूप उसने महाराणी मृगादेवी को तत्काल के जन्मे हुए उक्त बालक को बाहिर फैंकने के स्थान में उसके सरक्षण की सम्मति दी। जिस से उस के पापभीरु आत्मा को सन्तोष प्राप्त होने के अतिरिक्त मृगादेवी की आत्मा को भी भारी सान्त्वना मिली।

पाठक अभी यह भूले नहीं होंगे कि भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण मे उपस्थित होने वाले एक जन्मान्ध व्यक्ति को देख कर गौतम स्वामी ने भगवान् से "—प्रभो ! क्या कोई ऐसा पुरुष भी है जो जन्मान्ध (नेत्र का आकार होने पर भी नेत्रज्योति से हीन) होने के साथ साथ जन्मान्धकरूप (नेत्राकार से रहित) भी

हो ?— ' यह पृच्छा की थी। जिस के उत्तर में भगवान् ने विजय नरेश के ज्येष्ठपुत्र मृगापुत्र का नाम बताया था। उसे देखने के पश्चात् गौतम स्वामी ने भगवान् से मृगापुत्र के पूर्व जन्म का वृत्तान्त पूछा था। जिसको भगवान् ने सुनाना आरम्भ किया था। एकादि राष्ट्रकूट के रूप में मृगापुत्र के पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुना देने पर भगवान् ने कहा कि—हे गौतम ! यह तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। इस से तुम्हें अवगत हो गया होगा कि मृगापुत्र अपने ही पूर्वकृत प्राचीन कर्मों का यह अशुभ फल पा रहा है। इसी भाव को सूत्रकार ने '**—एवं खलु गोयमा ! मियापुत्ते** ' इत्यादि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है।

वीर प्रभु से मृगापुत्र के पूर्वभव सम्बन्धी वृत्तान्त को सुनकर परम सन्तोष को प्राप्त हुए गौतम स्वामी ने उसके—मृगापुत्र के आगामी भव के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से जो कुछ भगवान् से निवेदन किया अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल— [1]**मियापुत्ते णं भंते ! दारए इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?**

पदार्थ भंते !—हे भगवन् ! । **मियापुत्ते**—मृगापुत्र नामक । **दारए**—बालक । **णं**—वाक्यालंकारार्थक है । **इओ**—यहां से । **कालमासे**—कालमास - मरणावसर में । **कालं किच्चा**—काल करके । **कहिं**—कहां । **गमिहिति**—जायगा ? और । **कहिं**—कहां पर । **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगा ?

मूलार्थ—हे भगवन् ! मृगापुत्र नामक बालक मृत्यु का समय आने पर यहां से काल कर के कहां जायगा और कहां पर उत्पन्न होगा ?

टीका—पहली नरक से निकल कर इस नारकीय अवस्था में पड़े हुए मृगापुत्र के आगामी जन्म के सम्बन्ध में गौतम स्वामी की ओर से वीर प्रभु के चरणों में जो प्रश्न किया गया है वह बड़ा ही महत्त्व—पूर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार की दुरवस्था का अनुभव करने वाले जीवों की आगामी जन्मों में क्या दशा होती है ? इस विषय का ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षु पुरुष के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना कि वर्तमान में अतीत अवस्था का । तात्पर्य यह है कि जीवों की वर्तमान ऊंच नीच दशा से उनके पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का सामान्य रूप से ज्ञान होने पर भी विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रहती है, किसी प्रकार उसकी पूर्ति हो जाने पर भविष्य की जिज्ञासा तो और भी उत्कट हो जाती है। अर्थात् यदि किसी एक व्यक्ति के पूर्व जन्म का यथावत् वृत्तान्त किसी अतिशय ज्ञानी से प्राप्त हो जाय तो उस व्यक्ति के भविष्य के विषय में अपने आप जिज्ञासा उठती है। जिस की पूर्ति के लिये अन्तःकरण लालायित बना रहता है। सद्भाग्य से उस की पूर्ति हो जाने पर विकास—गामी आत्मा का अपने गन्तव्य मार्ग को परिष्कृत करने–सुधारने का साधु अवसर मिल जाता है। इसी उद्देश को लेकर वीर भगवान् से गौतम स्वामी ने मृगापुत्र के आगामी भवों के सम्बन्ध में पूछने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न को सुन कर उसके उत्तर में वीर प्रभु ने जो कुछ फरमाया अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[2]**गोतमा ! मियापुत्ते दारए छव्वीसं वासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे**

---

(१) छाया—मृगापुत्रो भदन्त ! दारक इतः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोपपत्स्यते ?
(२) छाया—गौतम ! मृगापुत्रो दारकः षड्विंशतिं वर्षाणि परमायु पालयित्वा कालमासे कालं

कालं किच्चा इहेव जंबुदीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले सीहकुलंसि सीहत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ सीहे भविस्सति अहम्मिए जाव साहसिते, सुबहुं पावं कम्म समज्जिणति २ कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढ़वीए उक्कोससागरोवमट्ठिइएसु [1]जाव उववज्जिहिति। से ण ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति। तत्थ णं काल किच्चा दोच्चाए पुढ़वीए उक्कोसियाए तिन्निसागरोवमट्ठिई उववज्जिहिति। से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि कालं किच्चा तच्चाए पुढवीए सत्तसागरो०। ततो सीहेसु। तयाणतरं चउत्थीए। उरगो। पंचमीए। इत्थी। छट्ठीए। मणुओ। अहेसत्तमाए। ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता से जाइं इमाइं जलयरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छ–कच्छभ–गाह–मगर–सुंसुमारादीणं अद्धतेरसजातिकुलकोडीजोणिपमुहसतसहस्साइं तत्थ णं एगमेगंसि जोणीविहाणंसि अणेगसयसहस्सक्खुत्तो उद्दाइत्ता २ तत्थेव भुज्जो २ पच्चायाइस्सति। से ण ततो उव्वट्टित्ता चउप्पएसु एव उरपरिसप्पेसु, भुयपरिसप्पेसु, खहयरेसु, चउरिंदिएसु तेइंदिएसु, बेइंदिएसु, वणप्फइकडुयरुक्खेसु, कडुयदुद्धिएसु, वाउ०, तेउ०, आउ०, पुढवि० अणेगसतसहस्सक्खुत्तो०। से ण ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सुपतिट्ठपुरे नगरे गोणत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे अण्णया कयाती पढमपाउसंसि गंगाए महाणदीए खलीणमट्टियं खणमाणे तडीए पेल्लिते समाणे कालगते तत्थेव सुपइट्ठपुरे नगरे सिट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाइस्सति। से ण तत्थ उम्मुक्क० जाव जोव्वणमणुप्पत्ते तहा–रूवाणं थेराणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सति। से णं तत्थ अणगारे भविस्सति इरियासमिते जाव बंभयारी। से ण तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं ततो अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं० जहा दढपतिण्णे, सा चेव वत्तव्वया कलाउ जाव सिज्झिहिति। एवं

कृत्वा इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे वैताढ्यगिरिपादमूले सिंहकुले सिंहतया प्रत्यायास्यति। स तत्र सिंहो भविष्यति अधार्मिको यावत् साहसिक, सुबहु पाप कर्म यावत् समर्जयिष्यति। स तत्र कालमासे काल कृत्वा, अस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या उत्कृष्टसागरोपमस्थितिकेषु यावदुपपत्स्यते। स ततोऽनन्तर–मुद्वृत्य सरीसृपेषूपपतस्यते। तत्र काल कृत्वा द्वितीयाया पृथिव्या उत्कृष्टतया त्रिसागरोपमस्थिति-रुपपत्स्यते। स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य पक्षिषूपपत्स्यते। तत्रापि काल कृत्वा तृतीयाया पृथिव्या सप्तसागरो०। ततः सिंहेषु। तदनन्तर चतुर्थ्याम्। उरग। पञ्चम्याम्। स्त्री। षष्ठ्याम्। मनुज। अध सप्तम्याम्। ततोऽनन्तरमुद्वृत्य स यानीमानि जलचरपचेन्द्रियतिर्यग्योनिकाना मत्स्य-कच्छप-ग्राह-मकर-सुसुमारादीना

(१) 'सागरा जाव' त्ति सागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए इति द्रष्टव्यमिति वृत्तिकार।

खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि ।

॥ पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**गोतमा !**—हे गौतम ! । **मियापुत्ते**—मृगापुत्र । **दारए**—बालक । **छव्वीसं**—२६ । **वासाति**—वर्ष की । **परमाउयं**—उत्कृष्ट आयु । **पालइत्ता**—पाल कर-भोग कर । **कालमासे**—मृत्यु का समय आने पर । **कालं किच्चा**—काल करके । **इहेव**—इसी । **जंबु० दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत । **भारहे वासे**—भारत वर्ष में । **वेयड्ढगिरि-पायमूले** वैताढ्य पर्वत की तलहटी में । **सीहकु-**

अर्द्धत्रयोदश—जाति [1]कुलकोटीयोनि-प्रमुखशतसहस्राणि तत्र एकैकस्मिन् योनिविधानेऽनेकशतसहस्रकृत्वो मृत्वा २ तत्रैव भूयो भूय प्रत्यायास्यति, स ततः उद्वृत्य चतुष्पदेषु एवं उरःपरिसर्पेषु भुजपरिसर्पेषु, खचरेषु, चतुरिन्द्रियेषु, त्रीन्द्रियेषु, द्वीन्द्रियेषु, वनस्पतिकटुकवृक्षेषु, कटुकदुग्धेषु, वायुषु, तेजस्सु, अप्सु, पृथिवीषु, अनेकशतसहस्रकृत्व० । स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य, सुप्रतिष्ठपुरे नगरे गोतया प्रत्यायास्यति, स तत्रोन्मुक्त—बालभावोऽन्यदा कदाचित् प्रथमप्रावृषि गगाया महानद्या. खलीन-मृत्तिका खनन् तस्या (पतितायाम्) पीडित सन् कालगत, तत्रैव सुप्रतिष्ठपुरे नगरे श्रेष्ठिकुले पुत्रतया प्रत्यायास्यति । स तत्र उन्मुक्त० यावद यौवनमनुप्राप्त, तथारूपाणा स्थविराणामन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य मुण्डो भूत्वा अगारादनगारता प्रव्रजिष्यति । स तत्र अनगारो भविष्यति, ईर्यासमितो यावद् ब्रह्मचारी । स तत्र बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्याय पालयित्वा आलोचित—प्रतिक्रान्त समाधिप्राप्त. कालमासे काल कृत्वा सौधर्मे कल्पे देवतयोपपत्स्यते । स ततोऽनन्तर शरीर त्यक्त्वा महाविदेहे वर्षे यानि कुलानि भवन्ति आढ्यानि यथा दृढप्रतिज्ञ, सैव वक्तव्यता, कला यावत् सेत्स्यति । एव खलु जम्बू ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन दु ख—विपाकाना प्रथमस्याध्ययनस्यायमर्थ प्रज्ञप्त । इति ब्रवीमि । प्रथमाध्ययन समाप्तम् ॥

---

(१) लोक—प्रकाश नामक ग्रन्थ में कुलकोटि की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—

कुलानि योनि-प्रभवान्याहुस्तानि बहून्यपि । भवन्ति योनावेकस्यां नानाजातीयदेहिनाम् ॥ ६६ ॥
कृमिवृश्चिककीटादि—नानाक्षुद्राङ्गिनां यथा । एक—गोमयपिण्डान्त कुलानि स्युरनेकशः ॥ ६७ ॥

योनि की परिभाषा इस प्रकार की है—

तैजसकार्मणवन्तो युज्यन्ते यत्र जन्तव स्कन्धैः । औदारिकादियोग्यैः स्थानं तद्योनिरित्याहु ॥४३॥
व्यक्तितोऽसंख्येयभेदास्ता संख्याऽऽसां नैव यद्यपि। तथापि समवर्णादिजातिभिर्गणना गता ॥४४॥

(लोकप्रकाश सर्ग ३, द्रव्यलोक)

अर्थात्—जो योनि मे जीवसमूह पैदा होते हैं वे कुल कहलाते हैं। एक योनि में भी नानाजातीय प्राणियों के वे कुल अनेक सख्यक होते हैं।१

२—जिस प्रकार एक गोमय पिण्ड से कृमि, वृश्चिक, कीट आदि नानाप्रकार के क्षुद्र प्राणियों के अनेक कुल होते हैं उसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

३—तैजस और कार्मण शरीर वाले प्राणी जहा औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलस्कन्धों से युक्त हों, वह स्थान योनि कहलाता है।

४—ये योनिया व्यक्ति—भेद से असख्यात भेद वाली मानी जाती हैं अत इन की सख्या यद्यपि नियत नहीं हैं, तथापि समान वर्ण, गन्ध, रस आदि की अपेक्षा एक जातीयता की दृष्टि से इन की गणना की गई है।

लसि—सिंह कुल में । सीहत्ताए—सिंह रूप मे । पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा । तत्थ—वहा पर । से णं—वह । सीहे—सिंह । अहम्मिए—अधर्मी । जाव—यावत् । साहसिते—साहसी । भविस्सति—होगा । सुबहुं—अनेकविध । पाव—पापरूप । कम्मं—कर्म । समज्जिणति २—एकत्रित करेगा, करके । से—वह सिंह । कालमासे मृत्यु समय आ जाने पर । कालं किच्चा—काल कर के । इमीसे—इस रयणप्पभाए—रत्न प्रभा नामक । पुढवीए—पृथिवी में-नरक मे । उक्कोससागरोवमट्ठिइएसु—उत्कृष्ट सागरोपम स्थिति वाले नारकों में अर्थात् जिन की उत्कृष्ट स्थिति सागरोपम की है, उन नारकियों में । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा । ततो णं—तदनन्तर । से—वह सिंह का जीव । अणंतरं—अन्तर रहित, बिना व्यवधान के । उव्वट्टित्ता—निकल कर अर्थात् पहली नरक से निकल कर सीधा ही । [1]सरीसवेसु—भुजाओं अथवा छाती के बल से चलने वाले तिर्यञ्च प्राणिओं की योनियों में । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा । तत्थ णं—वहा पर । कालं किच्चा—काल करके । दोच्चाए पुढवीए—दूसरी नरक मे । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा, वहा उसकी । उक्कोसियाए—उत्कृष्ट । तिन्निसागरोवमट्ठिई—तीन सागरोपम की स्थिति होगी ततो णं—वहा से । उव्वट्टित्ता—निकल कर । अणंतरं—व्यवधान रहित-सीधा ही । पक्खीसु—पक्षियों मे । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा । तत्थ वि—वहा पर भी । कालं किच्चा—काल करके । सत्तसागरो०—सप्त सागरोपमस्थिति वाली । तच्चाए—तीसरी । पुढवीए—नरक में उत्पन्न होगा । ततो—वहा से । सीहेसु—सिंह-योनि में उत्पन्न होगा । तयाणंतरं—उसके अनन्तर । चउत्थीए—चतुर्थ नरक मे उत्पन्न होगा, वहा से निकल कर । उरगो—सर्प होगा, वहा से मर करके । पंचमोए—पाचवीं नरक मे उत्पन्न होगा, वहा से निकल कर । इत्थी—स्त्री-रूप में जन्म लेगा, वहा से काल करके । छट्ठीए—छठे नरक मे उत्पन्न होगा, वहा से निकल कर । मणुआ—पुरुष बनेगा, वहा पर काल करके । अहे सत्तमाए—सब से नीची सातवीं नरक में उत्पन्न होगा । ततो—वहा से । उव्वट्टित्ता—निकल कर । अणंतरं—अन्तर-व्यवधान रहित । से—वह । जाइं इमाइं—जो यह । जलयर—जलचर-जल मे रहने वाले । पंचिंदिय-पञ्चेन्द्रिय-पाच इन्द्रियों वाले जीव जिन के आख, कान, नाक, जिव्हा-रसना और स्पर्श ये पाच इन्द्रिये हैं, ऐसे । तिरिक्खजोणियाणं—तिर्यग् योनिवाले । मच्छ—मत्स्य । कच्छभ—कच्छप कछुआ । गाह—ग्राह-नाका । मगर—मगर मच्छ । सुंसुमारादीणं—सुंसुमार आदि की । अद्धतेरसजातिकुलकोडी जोणिपमुहसयसहस्साइं—जाति—जलचरपचेन्द्रिय की योनिया (उत्पत्तिस्थान) ही प्रमुख—उत्पत्तिस्थान हैं जिनके ऐसी जो कुल-कोटिया (कुल—जीवसमूह, कोटि प्रकार) हैं उन की सख्या साढे बारह लाख है । तत्थ णं—उन मे से । एगमेगंसि—एक एक । जोणीविहाणंसि—योनिविधान मे-योनि भेद

(१) प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद मे लिखा है कि – स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों के दो भेद हैं, जैसे कि—चतुष्पद और परिसर्प । परिसर्प स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों के—भुजपरिसर्प और उर परिसर्प ऐसे दो भेद होते हैं । भुजपरिसर्प शब्द से भुजाओं से चलने वाले नकुल, मूषकादि जीवों का ग्रहण होता है, और उर परिसर्प शब्द छाती से चलने वाले साप, अजगर आदि जन्तुओं का परिचायक है । परिसर्प का ही [1]पर्यायवाची सरीसृप शब्द है जिस का प्रस्तुत प्रकरण मे वर्णन चल रहा है । यहा लिखा है कि सिंह के रूप मे आया हुआ मृगापुत्र का जीव आयु पूर्ण करके सरीसृपों की योनि में उत्पन्न हुआ, परन्तु प्रज्ञापनासूत्र के मतानुसार सरीसृप शब्द से सर्पादि और नकुलादि दोनों का बोध होता है, यहा प्रकृत में दोनो मे किस का ग्रहण किया जाए ? यह विचारणीय है ।

(१) अभिधान राजेन्द्र कोष मे "—सरीसृप गोधादिषु भुजोरुभ्यां सर्पणशीलेषु तिर्यक्षु—" (पृष्ठ ५६०) ऐसा लिखा है, जो सरीसृप और परिसर्प को पर्यायवाची होने की ओर सकेत करता है ।

में। **अणेगसयसहस्सक्खुत्तो**—लाखों बार। **उद्दाइत्ता२**—उत्पन्न हो कर। **तत्थेव**—वहीं पर। **भुज्जो २**—पुन पुन —बार बार। **पच्चायाइस्सति**—उत्पन्न होगा अर्थात् जन्म मरण करता रहेगा। **ततो णं**—वहा से। **स**—वह। **उव्वट्टित्ता**—निकल कर। **चउप्पएसु**—चतुष्पदों—चौपायों मे। **एवं**—इसी प्रकार। **उरपरिसप्पेसु** - छाती के बल चलने वालों में। **भुयपरिसप्पेसु**—भुजा के बल चलने वालो मे तथा। **खहयरेसु**—आकाश में उड़ने वालो मे। **चउरिंदिएसु**—चार इन्द्रिय वालों मे। **तेइंदिएसु**—तीन इन्द्रिय वालों में। **बेइन्दिएसु**—दो इन्द्रिय वालों में। **वणप्फइ**—वनस्पति सम्बन्धी। **कडुयरुक्खेसु** - कटु—कड़वे वृक्षों मे। **कडुयदुद्धिएसु**—कटु दुग्ध वाले अर्कादि वनस्पतियों मे। **वाउ०**—वायु काय में। **तेउ०** - तेजस्काय में। **आउ०**—अप् काय मे। **पुढवी०**—पृथिवी काय में। **अणेगसयसहक्खुत्तो०**—लाखों बार जन्म मरण करेगा। **ततो णं** वहा से। **उव्वट्टित्ता**—निकल कर। **अणंतरं**—व्यवधान रहित। **से**—वह। **सुपतिट्ठपुरे**—सुप्रतिष्ठपुर नामक। **णगरे**—नगर मे। **गोणत्ताए**—वृषभ के रूप में। **पच्चायाहिति** - उत्पन्न होगा। **तत्थ ण**—वहा पर। **उम्मुक्कबालभावे**—त्याग दिया है बालभाव बाल्य अवस्था को जिसने अर्थात् युवावस्था को प्राप्त होने पर। **से**—वह। **अण्णया कयाती**—किसी अन्य समय। **पढमपाउसंसि**—प्रथम वर्षा ऋतु मे अर्थात् वर्षर्तु के आरम्भ काल में। **गंगाए**—गगा नामक। **महाणदीए**—महानदी के। **खलीणमट्टियं**—किनारे पर स्थित मृत्तिका मट्टी का। **खणमाणे**—खनन करता हुआ,—उखाड़ता हुआ। **तडीए**—किनारे के गिर जाने पर। **पेल्लित्ते समाणे**—पीड़ित होता हुआ। **कालगते**—मृत्यु को प्राप्त हो गया मृत्यु प्राप्त करने के अनन्तर। **तत्थेव**—उसी। **सुपइट्ठपुरे**—सुप्रतिष्ठ पुर नामक। **णगरे**—नगर में। **सिट्ठिकुलंसि**—श्रेष्ठि के कुल में। **पुत्तत्ताए**—पुत्ररूप से। **पच्चायाइस्सति**—उत्पन्न होगा। **तत्थ णं**—वहा पर। **उम्मुक्क०**—बाल भाव का परित्याग कर। **जाव** - यावत्। **जोव्वणमणुप्पत्ते**—युवावस्था को प्राप्त हुआ। **से**—वह। **तहारूवाणं**—तथारूप-साधु जनोचित गुणो को धारण करने वाले। **थेराणं**—स्थविर वृद्ध जैन साधुओ के। **अतिए**—पास। **धम्मं**- धर्म को। **सोच्चा** सुन कर। **निसम्म**—मनन कर। **मुंडे भवित्ता**—मुडित हो कर। **अगाराओ**—अगार से। **अणगारियं**—अनगार धर्म को। **पव्वइस्सति** ग्रहण करेगा। **तत्थ**—वहा पर। **से ण**— वह। **अणगारे**—अनगार साधु। **इरियासमिते**—ईर्यासमिति से युक्त। **जाव**—यावत्। **बंभयारी**— ब्रह्मचारी। **भविस्सति**— होगा। **से णं**— वह। **तत्थ**—उस अनगार धर्म मे। **बहूइं वासाइं**—बहुत वर्षो तक। **सामण्ण-परियाग**—यथाविधि साधुवृत्ति का। **पाउणित्ता**—पालन करके **आलोइयपडिक्कते**—आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर। **समाहिपत्ते**—समाधि को प्राप्त होता हुआ। **कालमासे**—काल मास मे। **काल किच्चा**—काल करके। **सोहम्मे कप्पे**—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे। **देवत्ताए**—देवरूप से। **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगा। **ततो ण**—तत् पश्चात्। **से**—वह। **अणंतरं**—अन्तर रहित। **चयं**—शरीर को। **चइत्ता**—छोड़ कर—देवलोक से च्यवकर। **महाविदेहे वासे**- महाविदेह क्षेत्र मे। **जाइ** जो। **अड्ढाइं** - आढ्य-सम्पन्न। **कुलाइं**—कुल। **भवति**—होते हैं, उन मे उत्पन्न होगा। **जहा**—जैसे। **दढपतिण्णे**—दृढप्रतिज्ञ था। **सा चेव**— वही। **वत्तव्वया**—वक्तव्यता—कथन। **कलाउ** कलाये सीखेगा। **जाव**—यावत्। **सिज्झिहिति**—सिद्ध पद को प्राप्त करेगा अर्थात् मुक्त हो जायगा। **एवं खलु जंबू!**—हे जम्बू! इस प्रकार निश्चय ही। **जाव** - यावत्। **सम्पत्तेणं**—मोक्ष सम्प्राप्त। **समणेणं**—श्रमण। **भगवया**— भगवान्। **महावीरेणं** - महावीर ने। **दुहविवागाणं**—दु ख विपाक के। **पढमस्स**—प्रथम। **अज्झयणस्स**—अध्ययन का। **अयमट्ठे**—यह पूर्वोक्त अर्थ। **पण्णत्ते** प्रतिपादन किया है। **त्ति**—इस प्रकार। **बेमि** मैं कहता हूं। **पढमं**- प्रथम। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्त**—समाप्त हुआ।

मूलार्थ—गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि—हे गौतम ! यह मृगापुत्र २६ वर्ष की पूर्ण आयु भोग कर काल—मास में काल कर के इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष के वैताढ्य पर्वत की तलहटी में सिंह रूप से सिंहकुल में जन्म लेगा, अर्थात् यह वहां सिंह बनेगा, जोकि महा अधर्मी और साहसी बन कर अधिक से अधिक पाप कर्मों का उपार्जन करेगा। फिर वह सिंह समय आने पर काल करके इस रत्नप्रभा नाम की पृथिवी—पहली नरक में—जिसकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, उस में उत्पन्न होगा, फिर वह वहां से निकल कर सीधा भुजाओं के बल से चलने वाले अथवा पेट के बल चलने वाले जीवों की योनि में उत्पन्न होगा। वहां से काल कर के दूसरी पृथवी—दूसरी नरक-जिसकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की है—में उत्पन्न होगा। वहां से निकल कर सीधा पक्षियोनि में उत्पन्न होगा, वहां पर काल करके तीसरी नरक भूमी—जिसकी उत्कृष्टस्थिति सात सागरोपम की है, में उत्पन्न होगा। वहां से निकल कर सिंह की योनि में उत्पन्न होगा। वहां पर काल करके चौथी नरक—भूमि में उत्पन्न होगा। वहां से निकल कर सर्प बनेगा। वहां से पांचवी नरक में उत्पन्न होगा, वहां से निकल कर स्त्री बनेगा। वहां से काल करके छठी नरक में उत्पन्न होगा। वहां से निकल कर पुरुष बनेगा। वहां पर काल करके सब से नीची सातवा नरक-भूमी में उत्पन्न होगा। वहां से निकल कर जो ये जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुंसुमार आदि जलचर पञ्चेन्द्रिय जाति में योनियां—उत्पत्तिस्थान हैं, उन योनियों से उत्पन्न होने वाली कुल कोटियों (कुल—जीवसमूह, कोटि—भेद) की सख्या साढ़े बारह लाख है, उन के एक एक योनि-भेद में लाखों बार जन्म और मरण करता हुआ इन्हीं में बार २ उत्पन्न होगा अर्थात् आवागमन करेगा। तत् पश्चात् वहां से निकल कर चौपायों में, छाती के बल चलने वाले, भुजा के बल चलने वाले तथा आकाश में विचरने वाले जीवों में एवं चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और दो इन्द्रिय वाले प्राणियों तथा वनस्पतिगत कटु वृक्षों, और कटु दुग्ध वाले वृक्षों में, वायु, तेज, जल और पृथिवी काय में लाखों बार उत्पन्न होगा।

तदनन्तर वहां से निकल कर वह सुप्रतिष्ठ पुर नाम के नगर में वृषभ—(बैल) रूप से उत्पन्न होगा। जब वह बाल भाव को त्याग कर युवावस्था में आवेगा तब गंगा नाम की महानदी के किनारे की मृत्तिका को खोदता हुआ नदी के किनारे के गिर जाने पर पीडित होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जायगा, मृत्यु को प्राप्त होने के बाद वह वहीं सुप्रतिष्ठ पुर नामक नगर में किसी श्रेष्ठी के घर पुत्र रूप से उत्पन्न होगा वहां पर बालभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त करने के अनन्तर वह साधु—जनोचित सद्-गुणों से युक्त किन्हीं ज्ञान वृद्ध जैन साधुओं के पास धर्म को सुनेगा, सुनकर मनन करेगा तदनन्तर मुंडित होकर अगारवृत्ति को त्याग कर अनगार धर्म को प्राप्त करेगा अर्थात् गृहस्थावास से निकल कर साधु—धर्म को अंगीकार करेगा। उस अनगार—धर्म में ईर्यासमितियुक्त यावत् ब्रह्मचारी होगा। वहां बहुत वर्षों तक श्रामण्यपर्याय—दीक्षाव्रतका पालन कर आलोचना और प्रतिक्रमण से आत्मशुद्धि करता हुआ समाधि को प्राप्त कर समय आने पर काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होगा। तदनन्तर देवभव की स्थिति पूरी हो जाने पर वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में, जो धनाढ्य कुल हैं उन में उत्पन्न होगा, वहां उसका कलाभ्यास, प्रव्रज्याग्रहण यावत् मोक्षगमन इत्यादि सब वृत्तांत दृढ़-प्रतिज्ञ की भांती जान लेना।

सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि—हे जम्बू ! इस प्रकार निश्चय ही श्रमण भगवान् महावीर ने

जोकि मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं, दुःख-विपाक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार मैंने प्रभु से सुना है उसी प्रकार मैं तुम से कहता हूं।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—कर्म के वशीभूत होता हुआ यह जीव संसार-चक्र में घटीयन्त्र की तरह निरन्तर भ्रमण करता हुआ किन किन विकट परिस्थितियों में से गुजरता है और अन्त में किसी विशिष्ट पुण्य के उदय से मनुष्य भव में आकर धर्म की प्राप्ति होने से उसका उद्धार होता है, इन सब विचारणीय बातों का परिज्ञान मृगापुत्र के आगामी भवों के इस वर्णन से भली भांति प्राप्त हो जाता है। इस वर्णन में मुमुक्षु जीवों के लिये आत्मसुधार की पर्याप्त सामग्री है अतः विचारशील पुरुषों को इस वर्णन से पर्याप्त लाभ उठाने का यत्न करना चाहिये. अस्तु सूत्रकार के भाव को मूलार्थ में प्रायः स्पष्ट कर दिया गया है। परन्तु कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जिन की व्याख्या अभी अवशिष्ट है अतः उन शब्दों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जाती है—

वैताढ्यपर्वत—भरत क्षेत्र के मध्य भाग में वैताढ्य नाम का एक पर्वत है। जो कि २५ योजन ऊंचा और ५० योजन चौडा है। उस के ऊपर नव कूट हैं जिनपर दक्षिण और उत्तर में विद्याधरों की श्रेणियां हैं, उन में विद्याधरों के नगर हैं, और दो आभियोगिक देवों की श्रेणियां हैं, इन में देवों के निवास स्थान हैं। उसके मूल में दो गुफायें हैं एक तिमिस्रा दूसरी खण्डप्रपात गुफा है। वे दोनों बन्द रहती हैं। जब कोई चक्रवर्ती दिग्विजय करने के लिये निकलता है तब दण्डरत्न से उन का द्वार खोलकर काकिणीरत्न से मांडला लिखकर अर्थात् प्रकाश कर अपनी सेना सहित उस गुफा में से उत्तर भारत में जाता है। इन गुफाओं में दो नदियां आती हैं एक उम्मगजला, दूसरी निम्मग्गजला। वे दोनों तीन तीन योजन चौडी हैं। चुल्लहिमवन्त नामक पर्वत के ऊपर से निकली हुई गंगा और सिंधु नामक नदियां भी इन गुफाओं में से दक्षिण भारत में प्रवेश करती हैं।

नरक-भूमियें शास्त्रों में सात नरक-भूमिएं (नरक भूमि वह स्थान है जहां मरने के बाद जीवों को जीवित अवस्था में किये गये पापों का फल भोगना पडता है) कही हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— (१) रत्नप्रभा (२) शर्कराप्रभा (३) वालुकाप्रभा (४) पंकप्रभा (५) धूमप्रभा (६) तमःप्रभा और (७) महातमःप्रभा[१]। इन नरकों या नरक—भूमियों में उत्पन्न होने वाले जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम की है। इन में रत्न प्रभा नामकी पहली नरक भूमी के तीन काण्ड-हिस्से हैं, और उसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की बतलाई गई है और अन्त की सातवीं नरक की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण तेतीस सागरोपम है।

सागरोपम—यह जैनसाहित्य का कालपरिमाण सूचक पारिभाषिक शब्द है। जैन तथा बौद्ध वाङ्मय के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं पल्योपम तथा सागरोपम आदि शब्दों का उल्लेख देखने में नहीं आता।

---

(१) रत्न-शर्करा-वालुका-पंक-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो।
घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥१॥

अर्थात् रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा ये सात भूमियें हैं जो घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं एक दूसरी के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक अधिक विस्तीर्ण हैं।

(२) इन सातों नरकों की स्थिति का वर्णन निम्नोक्त है—

"तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः" अर्थात् उन नरकों में रहने वाले प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

सागरोपम यह पद एक संख्याविशेष का नाम है। अंकों द्वारा उसे प्रकट नहीं किया जा सकता, अतः उसे समझाने का उपाय उपमा है। उपमा द्वारा ही उस की कल्पना की जा सकती है इसी कारण उसे उपमासंख्या कहते हैं और इसीलिये सागर शब्द के बदले सागरोपम शब्द का व्यवहार किया जाता है। सागरोपम का स्वरूप इस प्रकार है—

चार कोस लम्बा और चार कोस चौड़ा तथा चार कोस गहरा एक कूआ हो, कुरुक्षेत्र के युगलिया के ७ दिन के जन्मे बालक के बाल लिये जाएं। युगलिया के बाल अपने बालों से ४०९६ गुना सूक्ष्म होते हैं उन बालों के बारीक से बारीक टुकडे काजल की तरह किये जायें, चर्मचक्षु से दिखाई देने वाले टुकडों से असंख्य गुने छोटे टुकड़े हों अथवा सूर्य की किरणों में जो रज दिखाई देती हैं, उस से असंख्य गुने छोटे हों, ऐसे टुकडे करके उस कूए में ठसाठस भरदिये जावें। सौ सौ वर्ष व्यतीत होने पर एक एक टुकड़ा निकाला जाय, इस प्रकार निकालते २ जब वह कूप खाली हो जावे तब एक पल्योपम होता है। ऐसे दस कोडाकोड़ी कूप जब खाली हो जाएं तब एक सागरोपम होता है। एक क्रोड को एक क्रोड की संख्या से गुना करने पर जो गुणन फल आता है वह कोड़ाकोडी कहलाता है।

उत्कृष्ट सागरोपम-स्थिति वाले का अर्थ है—अधिक से अधिक एक सागरोपम काल तक नरक में रहने वाला। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रथम नरक भूमी के प्रत्येक नारकी की सागरोपम की ही स्थिति होती है क्योंकि यहां पर जो नरक भूमियों की एक से क्रमशः ३३ सागरोपम तक की स्थिति बतलाई है, वह उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) बतलाई है, जघन्य तो इससे बहुत कम होती है। जैसे पहले नरक की उत्कृष्टस्थिति एक सागरोपम की और जघन्य दस हजार[1] वर्ष की है, तात्पर्य यह है कि प्रथम नरक—भूमी में गया हुआ जीव वहां अधिक से अधिक एक सागरोपम तक रह सकता है और कम से कम १० हाजार वर्ष तक रह सकता है।

यहां पर मृगापुत्र के पहली से सातवीं नरक भूमी में जाने तथा उनमें निकल कर अमुक २ योनि में उत्पन्न होने का जो क्रम वद्ध उल्लेख है उसका सैद्धान्तिक निष्कर्ष इस प्रकार समझना चाहिये—

'असंज्ञी प्राणी मर कर पहली भूमी नरक में उत्पन्न हो सकते हैं आगे नहीं। भुजपरिसर्प, पहली दो भूमी तक, पक्षी तीन भूमी तक, सिंह चार भूमी तक उरग पांचवीं भूमी तक, स्त्री छठी भूमी तक और मत्स्य तथा मनुष्य मरकर सातवीं नरक भूमी तक जा सकते हैं[2]।

तिर्यंच और मनुष्य ही, नरक में उत्पन्न हो सकता है, देव और नारक नहीं। इसका कारण यह है कि उन में वैसे अध्यवसाय का सद्भाव नहीं होता। तथा नारकी मर कर फिर तुरन्त न तो नरक गति में ही पैदा होता है और न देवगतियों में, किन्तु वे मर कर सिर्फ तिर्यंच और मनुष्य गति में ही उत्पन्न हो सकते हैं[3]।

---

(१) दसवर्ष-सहस्राणि प्रथमायां। तत्त्वार्थसूत्र, ४—४४।

(२) असण्णी खलु पढमं दोच्चं पि सिरीसवा, तइय पक्खी। सीहा जंति चउत्थि, उरगा पुण पंचमिं पुढविं ॥१॥ छट्ठिं च इत्थियाओ मच्छा मणुआ य सत्तमिं पुढविं। एसो परमो वाओ, बोधव्वो नरगपुढवीणं ॥२॥ [प्रज्ञापना सूत्र, छठा पद]

(३) नेरइए णं भंते! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। एवं निरंतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे। नेरइए णं भंते! नेरइहितो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जेज्जा? अत्थेगतिए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ....। नेरइए णं भंते! नेरइहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मणुस्सेसु उववज्जेज्जा? गोयमा! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा, अत्थेगतिए णो उववज्जेज्जा। [प्रज्ञापना सूत्र २० । २५०]

"—[1]अद्धतेरस जाति-कुलकोडी-जोणि-पमुह-सत-सहस्साइं-अर्द्ध-त्रयोदश-जाति-कुल-कोटी योनि-प्रमुख-शतसहस्राणि —" इन पदों का भावार्थ है कि—मत्स्य आदि जलचर पचेन्द्रिय जाति में जो योनिया —उत्पत्तिस्थान हैं, उन योनियों में उत्पन्न होने वाली कुलकोटियो की सख्या साढे बारह लाख है ।

जाति कुलकोटि आदि शब्दों की अर्थ-विचारणा से पूर्वोक्त पद स्पष्टतया समझे जा सकेंगे, अत इन के अर्थों पर विचार किया जाता है—

जाति —शब्द के अनेको अर्थ हैं, परन्तु प्रकृत मे यह शब्द एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों का परिचायक है जलचर पचेन्द्रिय का प्रस्तुत प्रकरण मे प्रसग चल रहा है । अत प्रकृत में जाति शब्द से जलचरपचेन्द्रिय का ग्रहण करना है ।

कुलकोटी - जीवसमूह को कुल कहते हैं, और उन कुलो के विभिन्न भेदो-प्रकारो को कोटी कहते हैं । जिन जीवों का वर्ण, गन्ध आदि सम हैं , वे सब जीव एक कुल के माने जाते हैं और जिन का वर्ण गन्ध आदि विभिन्न है, वे जीवसमूह विभिन्न कुलों के रूप मे माने गए हैं ।

उत्पत्तिस्थान एक होने पर भी अर्थात् एक योनि से उत्पन्न जीवसमूह भी विभिन्न वर्ण गन्धादि के होने से विभिन्न कुल के हो सकते हैं । इस को स्थूलरूप मे समझने के लिये गोमय-गोबर का उदाहरण उपयुक्त रहेगा —

वर्षतु के समय उस में-गोबर मे बिच्छू आदि नानाप्रकार के विभिन्न आकार रखने वाले जीव उत्पन्न होने के कारण वह गोबर) उन जीवों की एक योनि है, उस मे कृमि, वृश्चिक आदि नाना जातीय जीवसमूह अनेक कुलों के रूप मे उत्पन्न होते हैं । अस्तु ।

यहा '—क्या गोबर के समान मत्स्यादि की योनियों में भी विभिन्न जीव उत्पन्न हो सकते हैं ? —' यह प्रश्न उत्पन्न होता है । जिस का उत्तर यह है कि - विकलत्रय (विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव जैसी स्थिति जलचर और पञ्चेन्द्रिय प्राणियों मे नही है । वहा के कुलों मे विभिन्न वर्णादि तथा विभिन्न आकृतियो के जलचरत्व आदि रूप ही लिये जायेंगे, हा, उन कुलो मे सम्मूर्छिम (स्त्री और पुरुष के समागम के बिना उत्पन्न होने वाले प्राणी) एव गर्भज (गर्भाशय मे उत्पन्न होने वाले प्राणी) की भेद विवक्षा नहीं है ।

समाचार पत्र हिन्दुस्तान दैनिक में एक समाचार छपा था कि एक गाय को सिंहाकार बछड़ा पैदा हुआ है । आकृति की दृष्टि से तो वह बाह्यत सिंह जातीय है परन्तु शास्त्र की दृष्टि से वह गोजातीय ही है यही एक योनि से उत्पन्न जीवसमूहों की कुलकोटि की विभिन्नता का रहस्य है ।

योनि — का अर्थ है-उत्पत्तिस्थान । तैजस कार्मण शरीर को तो आत्मा साथ लेकर जाता है, फलत जिस स्थान पर औदारिक और वैक्रियशरीर के योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर तत्तत् शरीर का निर्माण करता है, वह स्थान योनि कहलाता है ।

योनियो की सख्या नीयत नहीं है, वे असख्य हैं । फिर भी जिन योनियों का परस्पर वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श आदि एक जैसा है उन अनेक योनियों को भी जाति की दृष्टि से एक गिना जाता है, और इस प्रकार विभिन्न वर्णादि की अपेक्षा से योनियों के ८४ लाख भेद माने जाते हैं । जैसा कि प्रज्ञापनासूत्र की वृत्ति में लिखा है -

(१) इन पदो की व्याख्या टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरी के शब्दों म निम्नोक्त है—

"—जातौ पचेन्द्रियजातौ या कुलकोटय तास्तया ताश्च ता योनिप्रमुखाश्च चतुर्लक्षसख्यपञ्चेन्द्रि योत्पत्तिस्थानद्वारकास्ता जातिकुलकोटि-योनिप्रमुखा , इद च विशेषण परपद प्राकृतत्वात् । इदमुक्त भवति पञ्चेन्द्रियजातौ या योनय तत्प्रभवा या कुलकोट्यस्तासा लक्षाणि सार्द्धद्वादश प्रज्ञप्तानि, तत्र योनिर्यथा- गोमय , तत्र चैकस्यामपि कुलानि विचित्राकार कृम्यादय.।

"—केवलमेव विशिष्टवर्णादियुक्ता. संख्यातीता. स्वस्थाने व्यक्तिभेदेन यानयः जाति—मधिकृत्य एकैव योनिर्गण्यते—" ।

अर्थात्—जिन उत्पत्ति-स्थानो का वर्ण, गन्ध आदि सम है वे सब सामान्यत एक योनि हैं, और जिन का वर्ण, गन्ध आदि विषम है, विभिन्न हैं, व सब उत्पत्तिस्थान पृथक् २ योनि के रूप मे स्वीकार किए जाते हैं अस्तु ।

तब इस अर्थविचारणा से प्रकृतोपयोगी तात्पर्य यह फलित हुआ कि मृगापुत्र का जीव सातवीं नरक से निकल कर तिर्यग योनि के जलचर पञ्चेन्द्रिय मत्स्य कच्छप आदि जीवों (जिन की कुलकोटियों की सख्या साढे बारह लाख है) के प्रत्येक योनिभेद में लाखों बार जन्म और मरण करेगा ।

'खतीणमट्टिय खणमाणे' इन पदों का अर्थ है—नदी के किनारे की मट्टी को खोदता हुआ'। तात्पर्य यह है कि मृगापुत्र का जीव जब वृषभ रूप में उत्पन्न होकर युवावस्था को प्राप्त हुआ तब वह गगा नदी के किनारे की मट्टी को खोद रहा था परन्तु अकस्मात् गगा नदी के किनारे के गिर जाने पर वह जल में गिर पडा और जल प्रवाह मे प्रवाहित होने के कारण वह अत्यधिक पीडित एव दुःखी हो रहा था अन्त मे वहीं उस की मृत्यु हो गई

"उम्मुक्क० जाव जोव्वण—' पाठ गत "जाव - यावत" पद से निम्नलिखित समग्र पाठ का ग्रहण समझना—

"उम्मुक्कबाल - भावे, विण्णायपरिणयमित्ते², जोव्वणमणुप्पत्तो—उन्मुक्त—बालभाव, विज्ञकपरिणतमात्रो यौवनमनुप्राप्त —" अर्थात् जिसने बाल अवस्था को छोड दिया है, तथा बुद्धि के विकास से जो विज्ञ—हेयोपादेय का ज्ञाता एव युवावस्था को प्राप्त हो चुका है ।

"—तहारूवाणं थेराणं —" यहां पठित तथारूप और स्थविर शब्द के अर्थ निम्नोक्त हैं—

तथोक्त शास्त्रानुमोदित गुणों को धारण करने वाले की तथारूप सज्ञा है, अर्थात् जिसके जीवन में आगम-विहित गुण पाये जायें उसे तथारूप कहते हैं ।

स्थविर—वृद्ध को स्थविर कहते हैं । स्थविर तीन प्रकार के होते हैं (१) वय-स्थविर (२) प्रव्रज्या-स्थविर और (३) श्रुतस्थविर । साठ वर्ष की आयुवाले को वय-स्थविर कहते हैं । बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला प्रव्रज्या-स्थविर है और स्थानांग, समवायांग, आदि आगमों के ज्ञाता की श्रुत-स्थविर सज्ञा है ।

इसी प्रकार मुण्डित भी द्रव्यमुण्डित और भावमुण्डित, इन भेदों से दो प्रकार के होते हैं (१) सिर का लोच कराने वाला या मुण्डवाने वाला द्रव्यमुण्डित (२) परिग्रह आदि को त्याग कर दीक्षा ग्रहण करने वाला भाव -मुण्डित कहलाता है । तथा अगार का मतलब घर अथवा गृहस्थाश्रम से है । उस से निकल कर त्यागवृत्ति-- साधुधर्म को अंगीकार करना अनगार धर्म है ।

जैसा कि ऊपर भी मूलार्थ में कहा गया है कि भगवान् ने फरमाया कि गौतम ! सुप्रतिष्ठ-

---

(१) खतीणमट्टियं—" त्ति खतानामाकाशस्था छिन्नतटोपरिवर्तिनी मृत्तिकामिति वृत्तिकार

अर्थात्—गगा नदी के किनारे की भूमी का निम्न भाग जल प्रवाह मे प्रवाहित हो रहा था ऊपर का अवशिष्ट भाग ज्यों का त्यों आकाश—स्थित था, जब वृषभ अपने स्वभावानुसार उस पर खड़ा हो कर मृत्तिका खोदने लगा तब उसके भार से वह आकाशस्थ किनारा गिर पडा जिस से वह वृषभ जल प्रवाह से प्रवाहित हो कर मृत्यु का ग्रास बन गया ।

(२) "विण्णायपरिणयमित्ते"--तत्र विज्ञ एव विज्ञक, स चासो परिणतमात्रश्च बुद्धयादिपरिणामापन्न एव च विज्ञकपरिणतमात्र [अभयदेवसूरि]

पुर नगर के श्रेष्ठ कुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होने वाला यह मृगापुत्र का जीव दीक्षित हो कर ईर्यासमिति का पालक तथा ब्रह्मचारी होगा, और वहां पर अनेक वर्षो तक संयम—व्रत को पाल कर आलोचना और प्रतिक्रमण द्वारा समाविस्थ होता हुआ समय आने पर काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। इस कथन से विकासगामी अर्थात् विकास मार्ग की ओर प्रस्थान करने वाला आत्मा एक न एक दिन अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त करने में सफल हो ही जाता है। यह भली भांति सूचित हो जाता है।

"इरियासमिते जाव बंभयारी" इस में उल्लिखित 'जाव-यावत्" पद से —**"ईरियासमिया, भासासमिया, एसणासमिया, आयाणभंडमत्त—निक्खेवणासमिया, उच्चारपासवण-खेलसिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिया, मणसमिया, वयसमिया कायसमिया, मणगुत्ता, वयगुत्ता, काय-गुत्ता, गुत्ता, गुत्तिंदिया, गुत्तबंभयारी"** [ईर्यासमिता, भाषासमिता, एषणासमिता, आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणासमिता, उच्चार—प्रश्रवण—खेलसिंघाणजल्ल—परिष्ठापनिकासमिता, मनःसमिता, वचःसमिता, कायसमिता, मनोगुप्ता., वचोगुप्ता., कायगुप्ताः, गुप्ता, गुप्तेन्द्रिया, गुप्तब्रह्मचारिण] इस अवशिष्ट पाठ का ग्रहण करना।

"आलोइयपडिक्कते—आलोचितप्रतिक्रान्त"— अर्थात् आत्मा में लगे हुए दोषों को गुरुजनों के समीप निष्कपट भाव से प्रकाशित करके उन की आज्ञानुसार दोषों से दूर हटने वाले अर्थात् प्रायश्चित करने वाले को आलोचित–प्रतिक्रान्त कहते हैं।

आलोचना—गुरुजनों के आदेशानुसार पाप निवृत्ति के लिये प्रायश्चित करना।

प्रतिक्रमण—प्रमाद वश शुभयोग से गिर कर अशुभयोग को प्राप्त करने के बाद शुभ योग को प्राप्त करना अर्थात् अशुभ व्यापार से निवृत्त हो कर शुभ योगों में प्रवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। दूसरे शब्दों में-सावद्य प्रवृत्ति में जितने आगे बढ़े थे उतने ही पीछे हट जाना तथा निरवद्य प्रवृत्ति में सावधान हो जाना अथवा साधु तथा गृहस्थ द्वारा प्रातः सायं करणीय एक अत्यावश्यक अनुष्ठान को प्रतिक्रमण कहते हैं। आलोचना और प्रतिक्रमण की फलश्रुति का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र [अध्याय २९] में इस प्रकार है—

प्रश्न—हे भदन्त! आलोचना से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—आलोचना से यह जीव मोक्षमार्ग के विघातक, अनन्तसंसार को बढाने वाले, माया निदान और मिथ्यादर्शनरूप शल्यों को दूर करदेता है तथा ऋजुभाव-सरलता को प्राप्त करता है। ऋजुभाव प्राप्त करके माया से रहित होता हुआ यह जीव स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नहीं बान्धता और पूर्व में बन्धे हुए की निर्जरा' कर देता है।

---

(१) प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं एतदुक्तं भवति—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव गमन-मिति। उक्तं च —" **स्वस्थानाद् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशं गतः।**
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ १ ॥
क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात् स्मृतः ॥२॥

(२) आलोयणाएणं भंते! जीवे किं जणयइ? आलोयणाएणं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंत—संसार—वद्धणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय—नपुंसग—वेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥५॥

प्रश्न—हे भगवन्! प्रतिक्रमण से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर—[1]प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को ढांपता है, अर्थात् ग्रहण किये हुए व्रतों को दोषों से बचाता है। फिर शुद्ध व्रतधारी होकर आस्रवों को रोकता हुआ आठ प्रवचन माताओं में [पांच समिति और तीन गुप्ति के पालन में] सावधान होजाता है, तथा विशुद्ध—चारित्र को प्राप्त करके उससे अलग न होता हुआ समाधि पूर्वक संयम-मार्ग में विचरता है।

"—समाहिपत्ते--समाधिप्राप्तः--" पद का अर्थ है समाधि को प्राप्त हुआ। सूत्रकृताङ्ग के टीकाकार श्री शीलाङ्काचार्य के मतानुसार समाधि दो प्रकार की होती है (१) द्रव्यसमाधि और (२) भाव समाधि।

मनोहर शब्द आदि पांच विषयों की प्राप्ति होने पर जो श्रोत्रादि इन्द्रियों की पुष्टि होती है, उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं, अथवा परस्पर विरोध नहीं रखने वाले दो द्रव्य अथवा बहुत द्रव्यों के मिलाने से जो रस बिगड़ता नहीं किन्तु उसकी पुष्टि होती है उसे द्रव्यसमाधि कहते हैं जैसे दूध और शक्कर, तथा दही और गुड़ मिलाने से अथवा शाकादि में नमक मिर्च आदि मिलाने से रस की पुष्टि होती है। अत एव इस मिश्रण को द्रव्यसमाधि कहते हैं। अथवा जिस द्रव्य के खाने और पीने से शान्ति प्राप्त होती रहे उसे द्रव्य समाधि कहते हैं। अथवा तराजू के ऊपर जिस वस्तु को चढ़ाने से दोनों बाजू समान हों उसे द्रव्यसमाधि कहते है।

भाव समाधि, दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप भेद से चार प्रकार की है। जो पुरुष दर्शनसमाधि में स्थित है वह जिन भगवान के वचनों में रंगा हुआ अन्तःकरण वाला होने के कारण वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान कुबुद्धिरूपी वायु से विचलित नहीं किया जा सकता है। ज्ञान समाधि वाला पुरुष ज्यों ज्यों शास्त्रों का अध्ययन करता है त्यों त्यों वह भावसमाधि में प्रवृत्त हो जाता है। चारित्र समाधि में स्थित मुनि दरिद्र होने पर भी विषय-सुख में निस्पृह होने के कारण परमशान्ति का अनुभव करता है। कहा भी है कि—[2] जिस के राग, मद और मोह नष्ट हो गये हैं वह मुनि तृण की शय्या पर स्थित हो कर भी जो आनन्द अनुभव करता है, उसे चक्रवर्ती राजा भी कहां पा सकता है? तप समाधि वाला पुरुष भारी तप करने पर भी ग्लानि का अनुभव नहीं करता तथा क्षुधा और तृषा आदि से वह पीडित नहीं होता। अस्तु। प्रस्तुत प्रकरण में जो समाधि का वर्णन है वह भाव-समाधि का वर्णन ही समझना चाहिये।

तदनन्तर मृगापुत्र का जीव प्रथम देवलोक से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में दृढप्रतिज्ञ की भान्ति धनी कुलों में उत्पन्न होगा, तथा मनुष्य की सम्पूर्ण कलाओं में निपुणता प्राप्त कर दृढ—प्रतिज्ञ की तरह ही प्रव्रज्या धारण कर अनगार वृत्ति के यथावत् पालन से अष्टविध कर्मों का विच्छेद करता हुआ सिद्धगति-मोक्ष को प्राप्त करेगा। इस कथन से संसार के आवागमन चक्र में घटीयन्त्र की तरह निरन्तर भ्रमण करने वाले जीव की जीवन यात्रा अर्थात् जन्म मरण परम्परा का पर्यवसान कहां पर होता है और वह सदा के लिये सर्वप्रकार के दुःखों का अन्त करके वैभाविक परिणामों से रहित होता हुआ स्वस्वरूप में कब रमण करता

छाया—आलोचनया भदन्त! जीवः किं जनयति? आलोचनया मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानां मोक्षमार्गविघ्नानाम्, अनन्तसंसारवर्द्धनानामुद्धरणं करोति। ऋजुभावं च जनयति। ऋजुभावं प्रतिपन्नश्च जीवः अमायी स्त्रीवेदनपुंसकवेदं च न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति॥५॥

(१) पडिक्कमणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबल—चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ॥११॥

छाया—प्रतिक्रमणेन भदन्त! जीवः किं जनयति? प्रतिक्रमणेन व्रतछिद्राणि पिदधाति पिहितव्रतच्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धास्रवोऽशबलचरित्रश्चाष्टसु प्रवचनमातृषूपयुक्तोऽपृथक्त्वः सुप्रणिहितो विहरति।

(२) तृणसंस्तार-निविष्टोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः यत् प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि।

है ? इस की स्पष्ट सूचना मिलती है।

१"अणतरं चयं चइत्ता" इस के दो अर्थ हैं—(१) चय—शरीर को, चइत्ता—छोड़ कर, अर्थात् तदनन्तर शरीर को छोड़ कर, और दूसरा। (२) चयं—च्यवन चइत्ता—करके अर्थात् च्यवकर अणतर—सीधा—व्यवधानरहित [उत्पन्न होता है] ऐसा अर्थ है।

महाविदेह—पूर्वमहाविदेह, पश्चिममहाविदेह, देवकुरु और उत्तर—कुरु इन चार क्षेत्रों की महाविदेह संज्ञा है। इन में पूर्व के दो कर्मभूमी और उत्तर के दो क्षेत्र अकर्मभूमी हैं। पूर्व तथा पश्चिम महाविदेह में चौथे आरे जैसा समय रहता है और देव तथा उत्तर कुरु में पहले आरे जैसा समय रहता है, और कृषि वाणिज्य तथा तप, संयम आदि धार्मिक क्रियाओं का आचरण जहां पर होता हो उसे कर्म भूमि कहते हैं—कृषिवाणिज्य—तप—संयमानुष्ठानादिकर्म—प्रधाना भूमयः कर्मभूमयः। और जहां कृषि आदि व्यवहार न हो उसे अकर्मभूमी कहते हैं।

"अड्ढाइ" इस पद से —दित्ताइ, वित्ताइ, विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाण—वाहणाइ बहुधणजायरूवरययाइ, आओगपओगसंपउत्ताइ, विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइ, बहु—दासी—दासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइ, बहुजणस्स अपरिभूयाइ—" इस पाठ का ग्रहण करना ही सूत्रकार को अभिमत है।

सूत्रकार महानुभाव ने "जहा दढपतिण्णे— यथा दृढ़प्रतिज्ञ" और "सा चेव वत्तव्वया—सैव वक्तव्यता" इत्यादि उल्लेख में दृढप्रतिज्ञ नाम की किसी व्यक्ति—विशेष का स्मरण किया है और आढ्यकुल में उत्पन्न हुए मृगापुत्र के जीव की अथ से इति पर्यन्त सारी जीवन—चर्या को उसी के समान बतलाया है। इस में दृढप्रतिज्ञ कौन था ? कहां था ? जन्म के बाद उसने क्या किया ? तथा अन्त में उस का क्या बना ? इत्यादि बातों की जिज्ञासा का अपने आप ही पाठकों के मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस लिये दृढप्रतिज्ञ के जीवन पर भी विहंगम दृष्टि-पात कर लेना उचित प्रतीत होता है।

दृढ प्रतिज्ञ का जीव पूर्वभव में अम्बड परिव्राजक सन्यासी के नाम से विख्यात था। उस की जीवन—चर्या का उल्लेख औपपातिक सूत्र में किया गया है अम्बड परिव्राजक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का अनन्य उपासक था। वह शास्त्रों का पारगामी और विशिष्ट आत्मविभूतियों से युक्त और देशविरति चारित्र-सम्पन्न था। इस के अतिरिक्त वह एक सम्प्रदाय का आचार्य अथच अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में और शास्त्रार्थ करने में बड़ा सिद्धहस्त था। उस की विशिष्ट लब्धि का इससे पता चलता है कि वह सौ घरों में निवास किया करता था[२]। उसी अम्बड परिव्राजक का जीव आगामी भव में दृढप्रतिज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। माता के गर्भ में आते ही माता पिता की धर्म में अधिक दृढता[३] होने से उन्हों ने बालक का "दृढ़प्रतिज्ञ" ऐसा गुण निष्पन्न नाम रक्खा। दृढ - प्रतिज्ञ का जन्म एक समृद्धिशाली प्रतिष्ठित कुल में हुआ आठ वर्ष का होने पर विद्याध्ययनार्थ उसे एक योग्य कलाचार्य अध्यापक को सौंप दिया गया प्रतिभाशाली दृढप्रतिज्ञ के

---

(१) '—अणतरं चयं चइत्ता—" त्ति—अनन्तरं शरीरं त्यक्त्वा, च्यवनं वा कृत्वा, [टीकाकार]

(२) "—तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अम्मडे परिव्वायए कम्पिल्लपुरे नयरे घरसए जाव वसहिं उवेइ—"।

(३) "—इमं एयारूवं गोणं गुणणिप्फण्णं नामधेज्जं काहिंति - जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढाइण्णा तं होउ णं अम्हं दारए दढपइण्णे नामेणं तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति दढपइण्णेति—"।

शिक्षक-गुरु ने पूरे परिश्रम के साथ उसे हर एक प्रकार की विद्या में निपुण कर दिया । वह पढ़ना लिखना गणित और शकुन आदि ७२ कलाओं में पूरी तरह प्रवीण हो गया । उस के उपलक्ष्य में दृढ़प्रतिज्ञ के माता पिता ने भी उसके शिक्षागुरु को यथोचित पारितोषिक देकर उसे प्रसन्न करने का यत्न किया । शिक्षासम्पन्न और युवावस्था को प्राप्त हुए दृढ़प्रतिज्ञ को देखकर उसके माता पिता की तो यही इच्छा थी कि अब उसको किसी योग्य कन्या के साथ विवाह संस्कार करके उसे सांसारिक विषयभोगों के उपभोग करने का यथेच्छ अवसर दिया जाय । परन्तु जन्मान्तरीय संस्कारों से उद्बुद्ध हुए दृढ़प्रतिज्ञ को ये सांसारिक विषयभोग आपातरमणीय (जिन का मात्र आरम्भ सुखोत्पादक प्रतीत हो) और आत्म बन्धन के कारण अतएव तुच्छ प्रतीत होते थे । उनके-विषय भोगों के अचिरस्थायी माधुर्य का उस के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं था । उस के पुनीत हृदय में वैराग्य की उर्मियें उठ रही थीं । संसार के ये तुच्छ विषयभोग संसारीजीवों को अपने जाल में फंसाकर उसको पीछे से जो दुर्दशा करते हैं उस को वह जन्मान्तरीय संस्कारों तथा लौकिक अनुभवों से भली भांति जानता था । इस लिये उसने विषय भोगों की सर्वथा उपेक्षा करते हुए तथारूप स्थविरों के सहवास में रहकर आत्म कल्याण करने को ही सर्वश्रेष्ठ माना । फलस्वरूप वह उनके पास दीक्षित हो गये, और संयममय जीवन व्यतीत करते हुए, समिति और गुप्तिरूप आठों प्रवचनमाताओं की यथाविधि उपासना में तत्पर हो गये । उन्हीं के आशीर्वाद से, अष्टविध कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करके कैवल्यविभूति को उपलब्ध करता हुआ दृढ़प्रतिज्ञ का आत्मा अपने ध्येय में सफल हुआ । अर्थात् उस ने जन्म और मरण से रहित हो कर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त करके स्वस्वरूप को प्राप्त कर लिया । तदनन्तर शरीर त्यागने के बाद वह सिद्धगति-मोक्षपद को प्राप्त हुआ । यह दृढ़प्रतिज्ञ के निवृत्तिप्रधान सफल जीवन का संक्षिप्त वर्णन है ।

दृढ़प्रतिज्ञ का जीवन वृत्तान्त ज्ञात है अर्थात सूत्र में उल्लेख किया गया है, इसलिये उसके उदाहरण से मृगापुत्र के भावी जीवन को संक्षेप में समझा देना ही सूत्रकार को अभिमत प्रतीत होता है । एतदर्थ ही सूत्र में "जहा दढ़पइण्णे" यह उल्लेख किया गया है ।

यहां पर "सिज्झिहिति-सेत्स्यति" यह पद निम्नलिखित अन्य चार पदों का भी सूचक है । इस तरह ये [1]पांच पद होते हैं, जैसे कि-

(१) **सेत्स्यति** - सिद्धि प्राप्त करेगा, कृतकृत्य हो जावेगा

(२) **भोत्स्यते**-केवल ज्ञान के द्वारा समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानेगा ।

(३) **मोक्ष्यति**-सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो जावेगा ।

(४) **परिनिर्वास्यति** - सकल कर्मजन्य सन्ताप से रहित हो जावेगा ।

(५) **सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति**- अर्थात सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देगा ।

इस प्रकार मृगापुत्र के अतीत अनागत और वर्तमान वृत्तान्त के विषय में गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने जो कुछ फरमाया उस का वर्णन करने के बाद आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! मोक्षप्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने दुःखविपाक के दस अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ प्रतिपादन किया है ।

प्रस्तुत अध्ययन में जो कुछ वर्णन है उसका मूल जम्बू स्वामी का प्रश्न है । श्री जम्बू स्वामी

---

(१) "सेत्स्यति" इत्यादि पदपंचकमिति, तत्र सेत्स्यति कृतकृत्यो भविष्यति, भोत्स्यते केवलज्ञानेन सकलज्ञेयं ज्ञास्यति, मोक्ष्यति - सकलकर्मवियुक्तो भविष्यति, परिनिर्वास्यति सकल-कर्म-कृतसन्ताप-रहितो भविष्यति, किमुक्त भवति-सर्वदुःखानामन्तं करिष्यतीति वृत्तिकार ।

ने अपने गुरु आर्य सुधर्मा स्वामी से जो यह पूछा था कि—विपाकश्रुत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के दश अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ है ? मृगापुत्र का अथ से इति पर्यन्त वर्णन ही आर्य सुधर्मा स्वामी की ओर से जम्बू स्वामी के प्रश्न का उत्तर है। कारण कि मृगापुत्र का समस्त जीवन वृत्तान्त सुनाने के बाद वे कहते हैं कि हे जम्बू ! यही प्रथम अध्ययन का अर्थ है जिस को मैंने श्रमण भगवान् महावीर से सुना है और तुम को सुनाया है।

"त्ति बेमि-इति ब्रवीमि" इस प्रकार मैं कहता हूँ। यहां पर इति शब्द समाप्ति अर्थ का बोधक है। तथा 'ब्रवीमि' का भावार्थ है कि मैंने तीर्थंकर देव और गौतमादि गणधरों से इस अध्ययन का जैसे स्वरूप सुना है वैसा ही तुम से कह रहा हूँ इस में मेरी निजी कल्पना कुछ नहीं है।

इस कथन से आर्य सुधर्मा स्वामी की जो विनीतता बोधित होती है उस के उपलक्ष्य में उन्हें जितना भी साधु-वाद दिया जावे उतना ही कम है। वास्तव में धर्मरूप कल्पवृक्ष का मूल ही विनय है "—विणयमूल हि धम्मो—"।

सारांश—यह अध्ययन मृगापुत्रीय अध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है। इस में मृगापुत्र के जीवन की तीन अवस्थाओं का वर्णन पाया जाता है—अतीत वर्तमान और अनागत। इन तीनों ही अवस्थाओं में उपलब्ध होने वाला मृगापुत्र का जीवन हृदय तंत्री को स्तब्ध कर देने वाला है। उसकी वर्तमान दशा [जो कि अतीत दशा का विपाकरूप है] को देखते हुए कहना पड़ता है कि मानव के जीवन में भयंकर से भयंकर और कल्पनातीत परिस्थिति का उपस्थित होना भी अस्वाभाविक नहीं है। मृगापुत्र की यह जीवन कथा जितनी करुणा जनक है उतनी बोधदायक भी है। उसने पूर्व भव में केवल स्वार्थ तत्परता के वशीभूत होकर जो जो अत्याचार किये उसी का परिणाम रूप यह दण्ड उसे कर्मवाद के न्यायालय से मिला है। इस पर से विचारशील पुरुषों को जीवन-सुधार का जो मार्ग प्राप्त होता है उस पर सावधानी से चलने वाला व्यक्ति इस प्रकार की उग्रयातनाओं के ग्रास से बहुत अंश में बच जाता है अतः विचारवान पुरुषों को चाहिये कि वे अपने आत्मा के हित के लिये पर का हित करने में अधिक यत्न करें। और इस प्रकार का कोई आचरण न करें कि जिस से परभव में उन्हें अधिक मात्रा में दु:खमयी यातनाओं का शिकार बनना पड़े। किन्तु पापभीरु होकर धर्माचरण की ओर बढ़ें। यही इस कथावृत्त का सार है। मृगापुत्रीय अध्ययन विशेषतः अधिकारी लोगों के सन्मुख एक सुन्दर मार्ग-दर्शक के रूप में उपस्थित हो उन्हें कर्तव्य विमुखता का दुष्परिणाम दिखा कर कर्तव्य-पालन की ओर सजीव प्रेरणा देता है, अतः अधिकारी लोगों को अपने भावी जीवन को दुष्कर्मों से बचाने का यत्न करना चाहिए तभी जीवन को सुखी एवं निरापद बनाया जा सकेगा।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

अथ द्वितीय अध्याय

जीवन का मूल्य कर्तव्यपालन में है। कर्तव्यशून्य जीवन का संसार में कोई महत्त्व नहीं। कर्तव्य की परिभाषा है—सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित नियमों को जीवन में लाना और उनके आचरण में प्रतिहारी की भांति सावधान रहना—किसी प्रकार का भी प्रमाद नहीं करना। कर्तव्यपालक व्यक्ति ही वास्तव में अहिंसा भगवती का आराधक बन सकता है।

अहिंसा सुखों की जननी है अथ च [1]स्वर्गों का देने वाली है। अहिंसा की आराधना जीवात्मा को कर्मजन्य संसार चक्र से निकाल कर मोक्ष में पहुँचा देने वाली है। परन्तु अहिंसा का पालन आचरण-शुद्धि पर निर्भर है। आचरणहीन- आचरणशून्य जीवन का संसार में कोई मान नहीं और नाही उसे धर्मशास्त्र[2] पवित्र कर सकते हैं।

आचरण- शुद्धि, आचरण की महानता एवं विशिष्टता के बोध होने के अनन्तर ही अपनाई जा सकती है, अथवा यूं कहें कि आचरणशुद्धि आचरणहीन मनुष्य के कर्मजन्य दुष्परिणाम का भान होने के अनन्तर सुचारुरूप से की जा सकती है, और उस में ही दृढता की अधिक संभावना रहती है।

इसी लिये सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र के उज्झितक नामक द्वितीय अध्ययन में आचरण-हीनता का दुष्परिणाम दिखाकर आचरणशुद्धि के लिये बलवती प्रेरणा की है। उस द्वितीय अध्ययन का आदिम सूत्र निम्नप्रकार है—

मूल—[3]**जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स**

---

(१) **का स्वर्गदा ? प्राणभृतामहिंसा**—अर्थात् स्वर्ग देने वाली कौन है ? उत्तर—प्राणिमात्र की अहिंसा—दया।

(२) **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**—अर्थात् आचारहीन मनुष्य को धर्मशास्त्र भी पवित्र नहीं कर सकते तात्पर्य यह है कि—आचारभ्रष्ट व्यक्ति का शास्त्राध्ययन भी निष्फल है।

(३) छाया—यदि भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन दुःखविपाकानां प्रथमस्याध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः। द्वितीयस्य भदन्त ! अध्ययनस्य दुःखविपाकानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ? ततः स सुधर्मा-नगारो जम्बू-अनगारमेवमवदत्—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाणिजग्रामं नाम नगरमभूत्, ऋद्धि० तस्य वाणिजग्रामस्य उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे दूतिपलाशं नामोद्यानमभूत्। तत्र दूतिपलाशे सुधर्मणो यक्षस्य यक्षायतनमभूत्। तत्र वाणिजग्रामे मित्रो नाम राजाऽभवत्। वर्णकः। तस्य मित्रस्य राज्ञः श्री नाम देवी अभूत्। वर्णकः। तत्र वाणिजग्रामे कामध्वजा नाम गणिका अभूत्। अहीन० यावत् सुरूपा, द्वासप्ततिकला-पण्डिता चतुःषष्टिगणिकागुणोपेता,+ एकोनत्रिंशद्विशेष्या रममाणा, एकविंशति रति—गुणप्रधाना, द्वात्रिंशत्—पुरुषोपचारकुशला प्रतिबोधितसुप्तनवाङ्गा, अष्टादशदेशीभाषा—विशारदा, शृङ्गारागारचारुवेषा गीतरतिगान्धर्वनाट्यकुशला, संगतगत० सुन्दरस्तन० उच्छ्रितध्वजा, सहस्रलाभा, विस्तीर्णछत्रचामरबालव्यजनिका, कर्णी-रथप्रयाता चाप्यभवत्। बहूनां गणिकासहस्राणामाधिपत्यं यावत् विहरति।

+ एकोनत्रिंशद् विशेषाणां समाहार इति एकोनत्रिंशद्-विशेषी तस्यामिति भावः।

अयमट्ठे पण्णत्ते, दोच्चस्स णं भंते! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव सपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? तते णं से सुहम्मे अणगारे जम्बू-अणगारं एवं वयासी—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे णामं नगरे होत्था ऋद्धि०। तस्स णं वाणियग्गामस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए दूतिपलासे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं दूइपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था। तत्थ णं वाणियग्गामे मित्ते णाम राया होत्था। वण्णओ। तस्स णं मित्तस्स रण्णो सिरी णाम देवी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं वाणियग्गामे कामज्झया णामं गणिया होत्था अहीण० जाव सुरूवा । वावत्तरीकलापंडिया, चउसट्ठिगणियागुणोववेया, एगूणतीसविसेसे रममाणी, एक्कवीसरतिगुणप्पहाणा, बत्तीसपुरिसोवयारकुसला, णवंगसुत्तपडिबोहिया, अट्ठारसदेसी-भासाविसारया, सिंगारागारचारुवेसा, गीयरतिगंधव्वनट्टकुसला, [1]संगतगत० सुंदरत्थण० ऊसियज्झया सहस्सलंभा, विदिण्णछत्तचामरवालवियाणिया, कण्णीरहप्पयाया यावि होत्था । बहूणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं जाव विहरति ।

पदार्थ—भंते !—हे भगवन् ! । **जति णं**—यदि । **समणेणं**—श्रमण । **जाव**—यावत् । **संपत्तेणं**—सप्राप्त, भगवान् महावीर ने । **दुहविवागाणं**—दुःख विपाक के । **पढमस्स**—प्रथम । **अज्झयणस्स**—अध्ययन का । **अयमट्ठे**—यह पूर्वोक्त अर्थ । **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है तो । **भंते !**—हे भगवन् ! । **समणेणं**—श्रमण । **जाव** यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्ष प्राप्त भगवान् महावीर ने । **दुहविवागाणं**—दुःख विपाक गत **दोच्चस्स**—दूसरे । **अज्झयणस्स**—अध्ययन का **के अट्ठे**—क्या अर्थ । **पण्णत्ते**—कथन किया है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह **सुहम्मे अणगारे** सुधर्मा अनगार-श्री सुधर्मा स्वामी **जम्बू-अणगारं**—जम्बू अनगार के प्रति । **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **जंबू !**—हे जम्बू ! । **तेणं कालेणं**—उस काल में तथा । **तेणं समएणं**—उस समय में । **वाणियग्गामे**—वाणिज ग्राम । **णाम**—नामक **नगरे**—नगर **होत्था**—था । [2]**रिद्ध०**—जो कि समृद्धि पूर्ण था । **तस्स णं**—उस । **वाणियग्गामस्स** वाणिज ग्राम के । **उत्तरपुरत्थिमे**—उत्तर पूर्व । **दिसिभाए**—दिशा के मध्य भाग, अर्थात् ईशान कोण में । **दूतिपलासे**—दूति पलाश । **णाम**—नाम का । **उज्जाणे** उद्यान । **होत्था**—था । **तत्थ णं**—उस । **दुइपलासे**—दूतिपलाश उद्यान में । **सुहम्मस्स**—सुधर्मा नाम के ।

---

(१) संगत—गत हसित-भणित ... विहितविलास—सललितसलाप,निपुणयुक्तोपचारकुशला, संगतेषु—समुचितेषु गतहसित—भणित-विहित विलाससललित सलापेषु निपुणा,' तत्र गत गमन राजहंसादिवत् , हसित स्मित, भणित—वचन कोकिलवीणादिस्वरेण युक्त विहित चेष्टित, विलासो नेत्रचेष्टा, सललितसलापा वक्रोक्त्यालकारसहित परस्पर भाषण तेषु निपुणा चतुरा, तथा युक्तेषु समुचितेषूपचारेषु कुशलेति भाव.

(२) " —रिद्धत्थिमियसमिद्धे—ऋद्धिस्तिमितसमृद्धम् " ऋद्ध—नभ स्पर्शि—बहुल—प्रासाद—युक्त बहुजनसकुल च । स्तिमित—स्वचक्रपरचक्रभयरहित,समृद्ध—धनधान्यादि—महर्द्धिसम्पन्नम् अत्र पदत्रयस्य कर्मधारय । अर्थात् नगर में गगनचुम्बी अनेक बड़े २ ऊंचे प्रासाद थे. और वह नगर अनेक मानव जनों से व्याप्त था । वहां पर प्रजा सदा स्वचक्र और पर—चक्र के भय से रहित थी और वह नगर धन, धान्य आदि महा ऋद्धियों से सम्पन्न था ।

जक्खस्स—यक्ष का। **जक्खायतणे**—यक्षायतन। **होत्था**—था। **तत्थ णं वाणियग्गामे**—उस वाणिजग्राम नामक नगर में। **मित्ते**—मित्र। **णामं**—नाम का। **राया होत्था**—राजा था। **वण्णओ**—वर्णक-वर्णन प्रकरण पूर्ववत् जानना। **तस्स णं**—उस। **मित्तस्स रण्णो**—मित्र राजा की। **सिरी णामं**—श्री नाम की। **देवी**—देवी-पटराणी। **होत्था**—थी। **वण्णओ**—वर्णक पूर्ववत् जानना। **तत्थ णं वाणियग्गामे**—उस वाणिज ग्राम नगर में। **अहीण०**—सम्पूर्ण पचेन्द्रियों से युक्त शरीर वाली। [1]**जाव**—यावत्। **सुरूवा**—परम सुन्दरी। **बावत्तरीकलापंडिया**—७२ कलाओं में प्रवीण। **चउसट्ठिगणिया-गुणोववेया**—६४ गणिका-गुणों में युक्त। **एगूणतीसविसेसे** २९विशेषों में। **रममाणी**—रमण करने वाली। **एक्कवीसरतिगुणप्पहाणा**—२१ प्रकार के रति गुणों में प्रधान। **बत्तीसपुरिसोवयारकुसला** काम—शास्त्र प्रसिद्ध पुरुष के ३२ उपचारों में कुशल। **णवंगसुत्तपडिबोहिया**—सुप्त नव अंगों से जागृत अर्थात् जिस के नौ अंग दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक रसना-जिव्हा, एक त्वक् त्वचा और मन, ये नव जागे हुए हैं। **अट्ठारसदेसीभासाविसारया**— अठारह देशों की अर्थात् अठारह प्रकार की भाषा में प्रवीण। **सिंगारागारचारुवेसा**—शृङ्गार प्रधान वेष युक्त, जिसका सुन्दर वेष मानों शृङ्गार का घर ही हो, ऐसी। **गीयरतिगंधव्वनट्टकुसला**—गीत (संगीतविद्या), रति (कामक्रीड़ा) गान्धर्व (नृत्ययुक्त गीत), और नाट्य (नृत्य) में कुशल। **संगतगत०**—मनोहर गत गमन आदि से युक्त। **सुंदरत्थण०**—कुचादि गत सौन्दर्य से युक्त। **सहस्सलंभा**—गीत, नृत्य आदि कलाओं से सहस्र (हजार) का लाभ लेने वाली अर्थात् नृत्यादि के उपलक्ष्य में हजार मुद्रा लिया करती थी। **ऊसियज्झया**—जिसके विलास भवन पर ध्वजा फहराती रहती थी। **विदिण्णछत्तचामरवालवियाणिया**—जिसे राजा की कृपा से छत्र तथा चमर एवं बालव्यजनिका सम्प्राप्त थी। **वावि**—तथा। [2]**कण्णीरहप्पयाया**—कर्णीरथ नामक रथविशेष में गमन करने वाली। **कामज्झया णामं**—

(१) "—जाव यावत्—" पद से "—**अहीण-पडिपुण्ण-पंचिंदिय-सरीरा, लक्खण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्माणप्पमाण-पडिपुण्णसुजाय-सव्वंगसुंदरंगी, ससिसोमाकारा, कंता, पियदंसणा, सुरूवा**—इन पदों का ग्रहण करना। इन का अर्थ निम्नोक्त है—

लक्षण की अपेक्षा अहीन (समस्त लक्षणों से युक्त), स्वरूप की अपेक्षा परिपूर्ण (न अधिक ह्रस्व और न अधिक दीर्घ, न अधिक पीन और न अधिक कृश) अर्थात् अपने २ प्रमाण में विशिष्ट पांचों इन्द्रियोंसे उस का शरीर सुशोभित था। हस्त की रेखा आदि चिन्ह रूप जो स्वस्तिक आदि होते हैं उन्हें लक्षण कहते हैं। मसा, तिल आदि जो शरीर में हुआ करते हैं, वे व्यञ्जन कहलाते हैं इन दोनों प्रकार के चिन्हों से यह गणिका सम्पन्न थी। जल से भरे कुण्ड में मनुष्य के प्रविष्ट होने पर जब उसमें द्रोण (१६ या ३२ सेर) परिमित जल बाहिर निकलता है तब वह पुरुष मान वाला कहलाता है, यह मान शरीर की अवगहना-विशेष के रूप में ही प्रस्तुत प्रकरण में संगृहीत हुआ है। तराजू पर चढा कर तोलने पर जो अर्धभार (परिमाण विशेष) प्रमाण होता है वह उन्मान है, अपनी अंगुलियों द्वारा एक सौ आठ अंगुलि परिमित जो ऊंचाई होती है वह प्रमाण है, अर्थात् उस गणिका के मस्तक से लेकर पैर तक के समस्त अवयव मान उन्मान, एवं प्रमाण से युक्त थे, तथा जिन अवयवों की जैसी सुन्दर रचना होनी चाहिये, वैसी ही उत्तम रचना से वे सम्पन्न थे। किसी भी अंग की रचना न्यूनाधिक नहीं थी। इसलिये उस का शरीर सर्वांगसुन्दर था। उस का आकार चन्द्र के समान सौम्य था। वह मन को हरण करने वाली होने से कमनीय थी। उस का दर्शन भी अन्तःकरण को हर्षजनक था इसी लिये उस का रूप विशिष्ट शोभा से युक्त था।

(२) कर्णीरथप्रयाताऽपि, कर्णीरथः प्रवहणविशेषः तेन प्रयातं गमनं यस्याः सा। कर्णीरथो हि केषाञ्चिदेव ऋद्धिमतां भवति सोऽपि तस्या अस्तीत्यतिशयप्रतिपादनार्थोऽपि शब्दः।

कामध्वजा नाम की एक। **गणिया**—गणिका। **होत्था**—थी, तथा। **बहूणं गणियासहस्साण**—हजारों गणिकाओं का। **आहेवच्चं**—आधिपत्य-स्वामित्व करती हुई। **जाव**—यावत्। **विहरति**—समय व्यतीत कर रही थी।

मूलार्थ—हे भगवन्! यदि मोक्ष—संप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दु:ख-विपाक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन्! विपाक-श्रुत के द्वितीय अध्ययन का मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थ कथन किया है? तदनन्तर अर्थात् इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा अनगार ने जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहा कि—हे जम्बू! उस काल तथा उस समय में वाणिजग्राम नाम का एक समृद्धिशाली नगर था। उस नगर के ईशान कोण में दूतिपलाश नाम का एक उद्यान था उस उद्यान में सुधर्मा नामक यक्ष का एक यक्षायतन था।

उस नगर में मित्र नाम का राजा और उसकी श्री नाम की राणी थी। तथा उस नगर में अन्यून पंचेन्द्रिय शरीर युक्त यावत् सुरूपा—रूपवती, ७२ कलाओं में प्रवीण, गणिका के ६४ गुणों से युक्त, २९ प्रकार के विशेषों—विषय के गुणों में रमण करने वाली, २१ प्रकार के रति गुणों में प्रधान, ३२ पुरुष के उपचारों में निपुण, जिस के प्रसुप्त नव अंग जागे हुए हैं, १८ देशों की भाषा में विशारद, जिसकी सुन्दर वेष भूषा शृंगार-रस का घर बनी हुई है एवं गीत, रति और गान्धर्व, नाट्य तथा नृत्य कला में प्रवीण, सुन्दर गति—गमन करने वाली कुचादिगत सौन्दर्य से सुशोभित, गीत, नृत्य आदि कलाओं से सहस्र मुद्रा कमाने वाली, जिस के विलास भवन पर ऊंची ध्वजा लहरा रही थी, जिसको राजा की ओर से पारितोषिक रूप में, छत्र तथा चामर—चॅवर, बालव्यजनिका—चॅवरी या छोटा पंखा, मिली हुई थी, और जो कर्णीरथ में गमनागमन किया करती थी, ऐसी काम—ध्वजा नाम की एक गणिका—वेश्या जोकि हजारों गणिकाओं पर आधिपत्य—स्वामित्व कर रही थी, वहां निवास किया करती थी।

टीका—प्रथम अध्ययन की समाप्ति के अनन्तर श्री जम्बू स्वामी ने आर्य सुधर्मा स्वामी से बड़ी नम्रता से निवेदन किया कि भगवन्! जिनेन्द्र भगवान् श्री महावीर स्वामी ने दु:ख विपाक (जिस में मात्र पाप जन्य क्लेशों का वर्णन पाया जाय) के प्रथम [मृगापुत्र नामक] अध्ययन का जो अर्थ प्रतिपादन किया है, उस का तो मैंने आप श्री के मुख से बड़ी सावधानी के साथ श्रवण कर लिया है परन्तु भगवान् ने इसके दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है अर्थात् दूसरे अध्ययन में किस की जीवनी का कैसा वर्णन किया है? इस से मैं सर्वथा अज्ञात हूँ, अत: आप उसका भी श्रवण करा कर मुझे अनुगृहीत करने की कृपा करें। यह मेरी आप के श्री चरणों में अभ्यर्थना है।

यह प्रश्न जहां जम्बूस्वामी की श्रवण—विषयक तीव्ररुचि का संसूचक है, वहां आर्य सुधर्मा स्वामी के कथन की सार्थकता का भी द्योतक है। प्रतिपादक की यही विशेषता है, कि श्रोता की श्रवणेच्छा में प्रगति हो, श्रोता की इच्छा में प्रगति का होना ही, वक्ता की विशेषता की कसौटी है। जिस प्रकार वक्ता समयज्ञ एवं सिद्धांत के प्रतिपादन में पूर्णतया समर्थ होना चाहिये, उसी प्रकार श्रोता भी प्रतिभाशाली तथा विनीत होना आवश्यक है। इस प्रकार श्रोता और वक्ता का संयोग कभी सद्भाग्य से ही होता है।

इस सूत्र से भी यही सूचित होता है कि जो ज्ञान विनय—पूर्वक उपार्जित किया गया हो

वही सफल होता है वही उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं । इस लिये जो शिष्य गुरुचरणों में रह कर उन से विनय—पूर्वक ज्ञानोपार्जन करने का अभिलाषी होता है, उस पर गुरुजनों की भी असाधारण कृपा होती है। उसी के फल स्वरूप वे उसे ज्ञानविभूति से परिपूर्ण कर देते हैं। इस विधि से जिस व्यक्ति ने अपने आत्मा को ज्ञान—विभूति से अलंकृत किया है, वही दूसरों को अपनी ज्ञान-विभूति के वितरण से उन की अज्ञान—दरिद्रता को दूर करने में शक्ति—शाली हो सकता है। इस लिये प्रत्येक विद्यार्थी को गुरुजनों से विद्याभ्यास करते समय हर प्रकार से विनयशील रहने का यत्न करना चाहिये, अन्यथा उसका अध्ययन सफल नहीं हो सकता ।

जम्बू स्वामी के उक्त प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मा स्वामी ने " **एवं खलु जंबू !** " इत्यादि सूत्र में जो कुछ फरमाया है, उसका विवरण इस प्रकार है—

हे जम्बू ! वाणिजग्राम नाम का एक सुप्रसिद्ध और समृद्धिशाली नगर था, उस नगर के ईशान कोण में दूतिपलाश नाम का एक रमणीय उद्यान था, उस उद्यान में एक यक्षायतन भी था जो कि सुधर्मा यक्ष के नाम से प्रसिद्ध था । वहां—नगर में मित्र नाम के एक राजा राज्य करते थे । जो कि पूरे वैभवशाली थे । उन की पटराणी का नाम श्री देवी था, वह भी सर्वांग—सुन्दरी और पतिव्रता थी। इस के अतिरिक्त उस नगर में कामध्वजा इस नाम की एक सुप्रसिद्ध राजमान्य गणिका—वेश्या रहती थी जिस के रूपलावण्य और गुणों का अनेक विशेषणों द्वारा सूत्रकार ने वर्णन किया है ।

वाणिज ग्राम—इस शब्द का अर्थ, षष्ठी तत्पुरुष समास से वाणिजों—वैश्यों का ग्राम ऐसा होता है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में **"वाणिज ग्राम"** यह नगर का विशेषण है, इसलिये *व्यधिकरण बहुव्रीहि समास से उसका अर्थ यह किया जा सकता है—जिस में वाणिजो-व्यापारियों का ग्राम-समूह रहे उसे **"वाणिज-ग्राम"** कहते हैं। तथा नगर शब्द की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में इसप्रकार वर्णित है—

पुण्यपापक्रियाविज्ञैः दयादानप्रवर्त्तकैः, कलाकलापकुशलैः सर्ववर्णैः समाकुलम्, भाषाभिर्विविधाभिश्च युक्तं नगरमुच्यते ।

अर्थात्—पुण्य और पापकी क्रियाओं के ज्ञाता, दया और दान में प्रवृत्ति करने वाले, विविध कलाओं में कुशल पुरुष, तथा जिस में चारों वर्ण निवास करते हों और जिस में विविध भाषायें बोली जाती हों उसे नगर कहते हैं । इसकी निरुक्ति निम्नलिखित है—

"नगरं न गच्छन्तीति नगा वृक्षा पर्वताश्च तद्वदचलत्वादुन्नतत्वाच्च प्रासादादयोऽपि, ते सन्ति यस्मिन्निति नगरम् ।

हमारे विचार में प्रथम वाणिज नामक एक साधरण सा ग्राम था। कुछ समय के बाद उस में व्यपारी लोग बाहिर से आकर निवास करने लगे । व्यापार के कारण वहां की जन-सख्या में वृद्धि होने लगी एक समय वह आया कि जब यह ग्राम व्यापार का केन्द्र—गढ माना जाने लगा, और उस में जन—सख्या काफी हो गई । तब यहां राजधानी भी बन गई, उसके कारण इस का वाणिज-ग्राम नाम न रह कर वाणिजग्राम—नगर प्रसिद्ध हो गया । आज भी हम ग्रामों को नगर और नगरों को ग्राम होते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। जिस की जन-सख्या प्रथम हजारों की थी आज उसी की जन-सख्या लाखों तक पहुँच गई है । समय बड़ा विचित्र है। उसकी विचित्रता सर्वानुभव—सिद्ध है । तथा उसी विचित्रता के आधार पर ही हमने यह

* वाणिजानां ग्रामः—समूहो यस्मिन् स वाणिजग्राम इति व्यधिकरण—बहुव्रीहिः।

कल्पना की है ।

नगर का वर्णक (वर्णन-प्रकरण) प्रथम अध्ययन में कहा जा चुका है, एव महाराज मित्र और महाराणी श्री देवी का वर्णक भी प्रथम अध्ययन कथित वर्णक के तुल्य ही जान लेना। केवल नाम भेद है, वर्णक पाठ में भिन्नता नहीं । तात्पर्य यह है कि वर्णक पद से नगर, राजा, राणी आदि के विषय में किसी नाम से भी सूत्र में एक बार जो वर्णन कर दिया गया है, उस वर्णन का सूचक यह "**वरणओ-वर्णक**" पद है ।

कामध्वजा गणिका—काम वजा एक प्रतिष्ठित वेश्या थी । सूत्रगत वर्णन मे प्रतीत होता है, कि वह रूप लावण्य मे अद्वितीय, सगीत और नृत्यकला मे पारगत तथा राजमान्य थी। इस से यह निश्चित होता है कि वह कोई साधारण बाजारु स्त्री नहो थी किन्तु एक कलाप्रदर्शक सुयोग्य व्यक्ति की तरह प्रतिष्ठा—पूर्वक कलाकार स्त्री के रूप मे अपना जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री थी। उस के अंगोपाग आदि मे किसी प्रकार की न्यूनता या विकृति नही थी, उसका शरीर लक्षण, व्यजनादि से युक्त, मानादि से पूर्ण और मनोहर था ।

"**बावत्तरीकलापंडिया—द्वासप्ततिकलापंडिता**" अर्थात् वह काम-वजा ७२ कलाओं मे प्रवीण थी। कला का अर्थ है किसी कार्य को भली भाति करने का कौशल। पुरुषों में कलाएं ७२ होती हैं। इन कलाओं मे से अब तक कई कलाओं का विकास हुआ है और कई एक का विनाश। इन मे कुछ ऐसी भी हैं, जिन मे कई प्रकार के परिवर्तन और सशोधन हुए हैं। उन कलाओ के नाम ये हैं—

(१) **लेखन-कला**— लिखने की कला का नाम है। इस कला के द्वारा मनुष्य अपने विचारों को बिना बोले दूसरों पर भली भाति प्रकट कर सकता है।

(२) **गणित-कला**—इस कला से वस्तुओं की सख्या और उन के परिमाण या नाप तौल का उचित ज्ञान हो जाता है ।

(३) **रूपपरावर्तन-कला**—इस कला के द्वारा लेप्य, शिला, सुवर्ण, मणि, वस्त्र और चित्र आदि मे यथेच्छ रूप का निर्माण किया जा सकता है।

(४) **नृत्य-कला**— इस कला मे सुर, ताल आदि की गति के अनुसार अनेकविध नृत्य के प्रकार सिखाए जाते हैं।

(५) **गीत-कला**– इस कला मे "—**किस समय कौनसा स्वर आलापना चाहिये? अमुक स्वर के अमुक समय आलापने से क्या प्रभाव पडता है?** —" इन समस्त विकल्पों का बोध हो जाता है।

(६) **ताल-कला**—इस कला के द्वारा सगीत के सात स्वरो (१—षड्ज, २—ऋषभ ३—गान्धार ४ मध्यम, ५—पचम, ६ धैवत, ७— निषाद) के अनुसार अपने हाथ या पैरों की गति को, ढोल, मृदग या तबला पर या केवल ताली अथवा चुटकी बजा कर एव जमीन पर पैर की डाट लगाकर साधा जाता है।

(७) **वादित्र कला**—इस कला से सगीत के स्वरभेद और ताल, लाग, डाट आदि की गति को निहार कर बाजा बजाना सीखा जाता है।

(८) **बांसुरी बजाने की कला**—इस कला से बासुरी और भेरी आदि को अनेकों प्रकार से बजाना सिखाया जाता है।

(९) **नरलक्षण-कला**—इस कला से "—**कौन मनुष्य किस प्रकृति वाला है? कौन मनुष्य**

किस पद और किस काम के लिये उपयुक्त एव अनुकूल है ?—" इत्यादि बाते केवल मनुष्य के शरीर और उसके रहन सहन एव उसके बोली चाली, खान पान आदि को देख कर जानी जा सकती हैं।

(१०) **नारीलक्षण-कला**—इस कला मे नारियो की जातिया पहचानी जाती हैं और किस जाति वाली स्त्री का किस गुण वाले पुरुष के साथ सम्बन्ध होना चाहिये ?जिस मे उनकी गृहस्थ की गाड़ी सुखपूर्वक जीवन की सड़क पर चल सके । इन समस्त बातो का ज्ञान होता है।

(११) **गजलक्षण-कला**—इस कला मे हाथियो की जाति का बोध होता है और अमुक रग, रूप, आकार, प्रकार का हाथी किस के घर में आ जाने से वह दरिद्री से धनी या धनी से दरिद्री बन जायगा, यह भी इसी कला से जाना जाता है।

(१२) **अश्व-लक्षण-कला**—इस कला मे घोडों की परीक्षा करनी सिखाई जाती है, और श्याम पैर या चारों पैर सफेद जिसके हों ऐसे घोडों का शुभ या अशुभ होना इस कला मे जाना जा सकता है।

(१३) **दण्डलक्षण-कला**—इस कला में—किस परिमाण की लम्बी तथा मोटी लकड़ी रखनी चाहिये ? राजाओं, मन्त्रियो के हाथों मे कितना लम्बा और किस मुटाई का दण्ड होना चाहिये ? दण्ड का उपयोग कहा करना चाहिये ? इत्यादि बातो का ज्ञान हो जाता है । इस के अतिरिक्त सब प्रकार के कायदे कानूनों की शिक्षा का ज्ञान भी इस कला मे प्राप्त किया जाता है।

(१४) **रत्न--परीक्षाकला**—इस कला से—रत्नों की जाति का, उनके मूल्य का एव रत्न अमुक पुरुष को अमुक समय धारण करना चाहिये इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है ।

(१५) **धातुवाद--कला**—इस कला से—धातुओं के खरा खोटा होने की पहचान करना सिखाया जाता है । उन का घनत्व और आयतन निकालने की क्रिया का ज्ञान कराया जाता है । अमुक जमीन और अमुक जलवायु मे अमुक २ धातुए बहुतायत मे बनती रहती हैं और मिलती हैं, इत्यादि अनेकों बातों का ज्ञान इस कला मे प्राप्त किया जाता है ।

(१६) **मंत्रवाद-कला**—इस कला से आठ सिद्धिये और नव निधिये आदि कैसे प्राप्त होतीं हैं ? किस मन्त्र से किस देवता का आह्वान किया जाता है ? कौन मन्त्र क्या फल देता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान प्राप्त होता है ।

(१७) **कवित्व-शक्तिकला**—इस कला से कविता बनानी आती है तथा उस के स्वरूप का बोध होता है । कवि लोग जो **'गागर में सागर'** को बन्द कर देते हैं, यह इसी कला के ज्ञान का प्रभाव है ।

(१८) **तर्क—शास्त्र—कला**—इस कला से—मनुष्य जगत के प्रत्येक कारण से उस के कारण को और किसी भी कारण से उस के कार्य को क्रमपूर्वक निकाल सकने का कौशल प्राप्त कर लेता है । इस कला से मनुष्य का मस्तिष्क बहुत विकसित हो जाता है ।

(१९) **नीति—शास्त्र कला**—इस कला मे—मनुष्य सद् असद या खरे-खोटे के विवेक का एव नीतियों का परिचय प्राप्त कर लेता है । नीति शब्द से राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति, साधारणनीति और व्यवहारनीति आदि सम्पूर्ण नीतियो का ग्रहण हो जाता है ।

(२०) **तत्त्वविचार—धर्मशास्त्र—कला**—इस कला से—धर्म और अधम क्या है ? पुण्य पाप में क्या अन्तर है ? आत्मा कहा से आती है ? और अन्त में उसे जाना कहा है ? मोक्षसाधन के लिये मनुष्य को क्या क्या करना चाहिये ? इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है ।

(२१) **ज्योतिपशास्त्र—कला**—इस कला से—ग्रह क्या है? उपग्रह किसे कहते हैं? ये कितने हैं? कहा हैं? और कैसे स्थित हैं? ग्रहण का क्या मतलब है? दिन रात छोटे बडे क्यो होते हैं? ऋतुये क्यो बदलती हैं? सूर्य पृथ्वी से कितनी दूर है? गणित—ज्योतिप और फलित-ज्योतिप मे क्या अन्तर है? इत्यादि आकाश सम्बन्धी अनेको बातो का ज्ञान होता है।

(२२) **वैद्यकशास्त्र—कला**—इस कला से—हमारे शरीर की भीतरी बनावट कैसी है? भोजन का रस कैसे और शरीर के कौन से भाग मे तैयार होता है? हड्डियें कितनी हैं? उन के टूटने के कौन २ कारण हैं? और कैसे उन्हे ठीक किया जाता है? ज्वरादि की उत्पत्ति एव उस का उपशमन कैसे होता है? इत्यादि बातो का ज्ञान हो जाता है।

(२३) **पड्भापा कला**—इस कला से सस्कृत शोरसेनी, मागधी प्राकृत, पैशाची और अपभ्रश इन छ भापाओ का ज्ञान उपलब्ध किया जाता है।

(२४) **योगाभ्यास-कला**—इस कला से सासारिक विपयों से मन हटाकर परमात्म—भाव की ओर लगाए रखने का ज्ञान कराया जाता है। इस के द्वारा ८४ आसनो की सावना की जाती है। इस कला के द्वारा योग के आठो अगों आदि की शिक्षा दी जाती है।

(२५) **रसायन—कला**—इस कला से—कई बहुमूल्य धातुऐ, जडी बूटियों के सयोग से तैयार की जाती है।

(२६) **अंजन-कला**—इस मे—नेत्रज्योति मे वृद्धि करने वाले तरह तरह के अजनों को तैयार करने की विधि सिखाई जाती है।

(२७) **स्वप्नशास्त्र-कला**—इस कला से—स्वप्न कब आते हैं? क्यों आते हैं? इन का क्या स्वरूप है? कितने प्रकार के होते हैं? मध्यरात्रि के पहले और पीछे आने वाले स्वप्नों में से किस का प्रभाव अधिक होता है? स्वप्न बुरा है, या अच्छा है? यह कैसे जाना जा सकता है? इत्यादि अनेको प्रकार की बातो का बोध होता है।

(२८) **इन्द्रजाल—कला**—इस कला मे—हाथ की सफाई के अनेकों काम सीखना तथा दिखाना किसी चीज के टुकड़े टुकड़े करके पीछे उसे उस के पहले के रूप मे ला दिखाना, लौकिक दृष्टि मे किसी पुरुप को निर्जीव बना करके, सब के देखते देखते फिर से उसे सजीव बना देना, किसी की दृष्टि को ऐसा बान्ध देना कि उसे जो कहा जाए वही दिखे, किसी चीज को टुकडे २ करके मुख द्वारा खा जाना और फिर उसे उस के पूर्वरूप में ही नाक या बगल या कान की ओर से निकाल कर दिखाना, इत्यादि बातों की पूरी २ शिक्षा दी जाती है।

(२९) **कृपि—कर्म—कला**—इस कला मे भूमी की प्रकृति कैसी होती है? इस भूमी मे कौन सी वस्तु अधिकता मे उत्पन्न हो सकती है? अमुक वस्तु या अनाज या वृक्ष, लताऐ अमुक समय मे लगाऐ जाने चाहिये? उन्हे अमुक २ खाद देने से वे खूब फलते और फूलते हैं खेती के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के किन २ औजारों की आवश्यकता है? इत्यादि बातो का सागोपाग ज्ञान कृपक लोगों को कराया जाता है।

(३०) **वस्त्रविधि-कला**—इस कला के द्वारा वस्त्र किन किन पदार्थो से बनाए जाते हैं? उन की उपज कहा, कब और कैसे, उत्तम मे उत्तम रूप मे की जा सकती है? जिस कपास के तन्तु जितने ही अधिक लम्बे अधिक निकलते हैं, वह कैसा होता है? उत्तम या अधम कोटि के कपास, ऊन, टसर, रेशम, या पश्म की क्या पहचान है? इत्यादि बातो का पूरा पूरा ज्ञान लोगों को कराया जाता है।

(३१) द्यूतकला—का शाब्दिक अर्थ है जूआ। जूआ भी प्राचीन काल में कलाओं में परिगणित होता था। इस का उद्देश्य केवल मनोविनोद रहता था। इस में होने वाली हार जीत शाब्दिक एवं मनोविनोद का एक प्रकार समझी जाती थी। मनोविनोद के साथ २ यह विजेता बनने के लिये बौद्धिक प्रगति का कारण भी बनता था। परन्तु ज्यों २ समय बीतता गया त्यों २ इस कला का दुरुपयोग होने लगा। यह मात्र मनोविनोद की प्रक्रिया न रह कर जीवन के लिये अभिशाप का रूप धारण कर गई। उसी का यह दु:खान्त परिणाम हुआ कि धर्मराज युधिष्ठिर जैसे मेधावी व्यक्ति भी सती—शिरोमणी द्रोपदी जैसी आदर्श महिलाओं को दाव पर लगा बैठे और अन्त में उन्हें वनों में जीवन की घड़ियां व्यतीत करनी पड़ीं। नल ने भी इसी कला के दुरुपयोग से अपने साम्राज्य से हाथ धोया था। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं। सारांश यह है। कि पहले समय में इस कला को मनोविनोद का एक साधन समझा जाता था।

(३२) व्यापारकला—इस कला द्वारा, विशेषरूपेण लेन देन या खरीदने बेचने का काम करना सिखाया जाता है। व्यापार में सचाई और ईमानदारी की कितनी अधिक आवश्यकता है? सम्पत्ति के बढ़ाने के प्रधान साधन कौन २ से हैं? कल कारखाने कहां डाले जाते हैं? कौन सा व्यापार कहां पर सुविधा—पूर्वक हो सकता है? इत्यादि बातों का भी इस कला द्वारा भान कराया जाता है।

(३३) राजसेवा—कला—इस कला द्वारा लोगों को राजसेवा का बोध कराया जाता है। राजा को राज्य की रक्षा और हर प्रकार की उन्नति के लिये केवल बन्धे हुए टैक्स दे कर ही अलग हो जाना राजसेवा नहीं है, परन्तु राज्य पर या राजा पर कोई मामला आ पड़ने पर तन से, मन से और धन से सहायता पहुंचाना और उस की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व भी लगाने में संकुचित न होने का नाम राज—सेवा है। इत्यादि बातें भी इस कला के द्वारा सिखाई जाती हैं।

(३४) शकुनविचार-कला—इस कला के द्वारा तरह २ के शकुन और अपशकुन को जानने की शक्ति मनुष्य में भली भांति आ जाती है। प्रत्येक काम को आरम्भ करते समय लोग शकुन को सोचने लगते हैं। पशु पक्षियों की बोली से उन के चलते समय दाहिने या बाएं आ पड़ने से, किसी सधवा या विधवा के सन्मुख आ जाने से, इत्यादि कई बातों से शुभ या अशुभ शकुन की जानकारी इस कला के द्वारा हो जाती है।

(३५) वायुस्तम्भन कला—वायु को किस तरह रोका जा सकता है? उस का रुख मन-चाही दिशा में किस प्रकार घुमाया जा सकता है? रुकी हुई वायु के बल और तोल का अन्दाजा कैसे लगाया जाता है? उसका कितना जबरदस्त बल होता है? उससे कौन ५ से काम लिये जा सकते हैं? इत्यादि आवश्यक और उपयोगी अनेकों बातें इस कला के द्वारा सिखाई जाती हैं।

(३६) अग्निस्तम्भन कला—धधकती हुई अग्नि बिना किसी वस्तु को हानि पहुंचाए वहीं की वहीं कैसे ठहराई जा सकती है? चारों ओर से धकधक करती हुई अग्नि में प्रवेश कर और मन चाहे उतने समय तक उस में ठहर कर बाल २ सुरक्षित उस में से कैसे निकला जा सकता सकता है? और आग के दहकते हुए अंगारों को हाथ या मुंह में कैसे रखा जा सकता है? इत्यादि अनेकों हितकारी बातों का ज्ञान इस कला द्वारा प्राप्त किया जाता है।

(३७) मेघवृष्टि-कला—मेघ कितने प्रकार के होते हैं? उनके बनने का समय कौन सा है? मूसलाधार वर्षा करने वाले मेघ कैसे रंगरूप के होते हैं? इन्द्र धनुष क्या है? वर्षा के समय ही क्यों

दिखाई देता है ? अलग अलग प्रकार का क्यों होता है ? म-याह्न में वह क्यों नहीं दीखता ? बिजली क्या है ? क्यों प्रकट होती है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा किया जाता है।

(३८) **विलेपन-कला**—विलेपन क्या है ? यह देश, काल और पात्र की प्रकृति को पहचान कर शरीर को ताजा नीरोग सुगन्धित और यथोचित गर्म या ठण्डा रखने के लिये कैसे बनाया जाता है ? किन २ पदार्थों से बनता है ? इस का उपयोग कब २ करना चाहिए ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा होता है।

(३९) **मर्दन या घर्षण—कला**—धर्मार्थकाममोक्षाणां, शरीर मूलमावनम्—, के नियमानुसार यदि शरीर ही ठीक नहीं तो सारा मानव जीवन ही किरकिरा है। शरीर का घर्षण करने से त्वचा के सब छिद्र कैसे खोले जा सकते हैं ? मर्दन करने की शास्त्रीय विधियें कौन २ सी हैं ? तैल आदि का मर्दन मास में अधिक से अधिक कितनी बार करना चाहिये ? हाथ की रगड से शरीर में विद्युत् का प्रवाह कैसे होने लगता है ? तैलादि का मर्दन अपने हाथ से करने में और की अपेक्षा क्या विशेषता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा हो जाता है।

(४०) **ऊर्ध्वगमन-कला**—वाष्प (भाफ) कैसे पैदा किया जाता है ? उस की शक्ति का असर क्या किसी खास तर्फ ही पड सकता है ? या दाहिने बाऐं ऊपर नीचे जिधर भी चाहें उस से काम ले सकते हैं ? उडनखटोले और अनेकों प्रकार के अन्य वायुयानों की रचना कैसे होती है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा होता है।

(४१) **सुवर्णसिद्धि-कला**—इस कला के द्वारा खान से सोना निकालने के अतिरिक्त अन्य अमुक अमुक पदार्थों के साथ २ अमुक २ जडी बूटियों के रस, अमुक २ मात्रा में मिला कर अमुक परिमाण की गरमी के द्वारा उस घोल को फूंकने से सोना बन ने की विधि का ज्ञान प्राप्त होता है।

(४२) **रूपसिद्धि-कला**—अपने रूप को कैसे निखारना चाहिए ? इस के लिये शरीर के भीतर किन २ पदार्थों को पहुँचाना होता है ? और बाहिर किन २ विलेपनों का व्यवहार करना चाहिये ? ताकि चर्म में आमरण झुर्रियां न पडें, शरीर के डील डौल को सुसगठित बनाकर उसे सदा के लिये वैसा ही गठीला और चुस्त बनाए रखने के लिये प्रति दिन किस प्रकार के व्यायाम करने चाहियें ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा हो जाता है।

(४३) **घाटबन्धन—कला**—घाट, पुल नदी, नालों के बांध आदि कैसे बनाए जाते हैं ? कहां बान्धना इनका आवश्यक और टिकाऊ तथा कम खर्चीला होता है ? सडकें, नालियां, मोरियां कहां और कैसे बनाई जानी चाहियें ? तरह २ के मकानों का निर्माण कैसे किया जाता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा किया जाता है।

(४४) **पत्रछेदन-कला**—किसी भी वृक्ष के कितने ही ऊंचे या नीचे या मध्य भाग वाले किसी भी निर्धारित पत्र को उस के निश्चित स्थान पर किसी भी निशाने द्वारा किसी निर्धारित समय के केवल एक ही बार में वेधने का काम इस कला के द्वारा सिखाया जाता है।

(४५) **मर्मभेदन कला**—इस कला के द्वारा शरीर के किसी खास और निश्चित भाग को किसी आयुध द्वारा छेदन करने का काम सिखाया जाता है।

(४६) **लोकाचार—कला**—लोकाचार-व्यवहार से अपना तथा संसार का उपकार कैसे होता है ? लोकाचार से भ्रष्ट होने पर मनुष्य का सारा ज्ञान व्यर्थ कैसे हो जाता है ? लोक-आचार को धर्म की जड कहते हैं सो कैसे ? आचार से दीर्घायु की प्राप्ति कैसे होती है ? सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और

पापात्मा इत्यादि प्रकार के जो प्राणी ससार मे पाये जाते हैं, इन में से प्रत्येक के साथ किस प्रकार का यथोचित आचार-व्यवहार किया जाए ? ये सब बातें इस कला द्वारा जानी जाती हैं।

(४७) **लोकरञ्जन- कला**—इस कला के द्वारा पुरुषों को भांति २ से लोकरञ्जन करने की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती है। उदाहरण के लिए—कोई आदमी लोकरञ्जनार्थ इस प्रकार कई तरह से हसता या रोता है कि दर्शकों को तो वह हसता या रोता हुआ नजर आता है, पर सचमुच मे वह न तो आप हसता ही है और न रोता ही है।

(४८) **फलाकर्षण-कला**—फलो का आकर्षण ऊपर दाहिने या बाए न होते हुए पृथिवी की ओर ही क्यों होता है? प्रत्येक पदार्थ पृथ्वी मे ऊपर की ओर चाहे फेंका जाए, या कोई अपनी मर्जी स कितना ही ऊपर क्यों न उड जाए, तब भी अन्त मे उसे पृथ्वी पर ही गिरना पडता है, या उसी की ओर आना पड़ता है, यह क्यों होता है? इत्यादि बातो का ज्ञान इस कला के द्वारा होता है।

(४९) **अफल-अफलन-कला**—वे चीजे जो वास्तव में फलवान् होने की योग्यता रखते हुए भी फलती नहीं हैं, मुख्यत दो भागो मे विभाजित की जाती हैं—एक तो स्थावर, जैसे वृक्ष, लतायें आदि और दूसरी जगम वस्तुये, जो चलती फिरती हैं जैसे मनुष्य या पशु आदि। कोई वृक्ष या लता फलती नहीं है तो क्या कारण है? कौन सा खाद उसे पहुँचाया जाए, तो वह फिर से फलवान् हो जाए या उस में कोई कीड़ा आदि न लग पाए? इसी प्रकार पुरुषों के सन्तान नहीं होती है तो इस का मूलकारण क्या है? क्या पुरुष की जननेन्द्रिय किसी दोष से दूषित है? या पुरुष का वीर्य सन्तानोत्पादन करने मे अशक्त है? अथवा स्त्री का ही रज किसी विशेष दोष से सन्तानोत्पादन करने मे असमर्थ है? इत्यादि बातो का ज्ञान इस कला के द्वारा किया जाता है।

(५०) **धार-बन्धन-कला**—छुरे, भाले, तलवार आदि शस्त्रों की पैनी मे पैनी धार को मन्त्र, तन्त्र या आत्मबल आदि किसी अन्य साधन द्वारा निष्फल बना कर उस पर दौडते २ चले जाना या इन शस्त्रों के द्वारा किसी पर प्रहार तो करना पर उसे तनिक भी चोट न पहुचने देना अथवा बहते हुए पानी की धार को वहीं की वहीं रोक देना अथवा धारा को दो भागों में विभक्त करके मध्य म मे मार्ग निकाल लेना, इत्यादि बातों की शिक्षा इस कला द्वारा दी जाती है।

(५१) **चित्र-कला**—लेखक, कवि जिन बातों को लिख कर बडे २ विशाल ग्रन्थ तैयार कर देते हैं और पढे लिखे लोगों का मनोरञ्जन करते हैं एव जीवन का पाठ पढाते हैं, परन्तु उन सभी लम्बी चौडी बातों को एक चित्रकार चित्र के द्वारा ससार के सन्मुख उपस्थित कर देता है, जिस को देख कर अनपढ लोग मनोरञ्जन कर लेते हैं एव जिस मे वे अपने को शिक्षित भी कर पाते हैं इस कला में चित्र-निर्माण के सभी विकल्पों को सिखाया जाता है।

(५२) **ग्रामवसावन-कला**—ग्राम कैसे और कहां बसाए जाते हैं? पहाडो के ऊपर मरुभूमी मे और दलदल के पास ग्राम क्यों नहीं बसाये जाते? छोटी छोटी पहाड़ियां और धारों को तलाइयां और मैदानों की भूमियां ही बस्तियों के लिये क्यों चुनी जाती है? कौन सी बस्ती बड़ी और कौन छोटी बन जाती है? इत्यादि बातों का बोध इस कला के द्वारा कराया जाता है।

(५३) **कटक-उतारण-कला**—छावनियां कहां डाली जानी चाहियें? उन की रचना कैसे करनी चाहिये? उन के रसद का प्रबन्ध कहां, कैसे और कितना करके रखना चहिये? शत्रु से कैसे सुरक्षित रहा जा सकता है? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(५४) **शकटयुद्धकला**—रथी का युद्ध रथी के साथ कैसे, कहा और कब तक होना चाहिये? रथी को कहा तक युद्धकला मे परिचित होना चाहिये ? रथ को किन किन अस्त्र, शस्त्रो से सुसज्जित रखना चाहिये ? इत्यादि बातो की शिक्षा इस कला के द्वारा दी जाती है।

(५५) **गरुड़-युद्ध-कला**—सेना की रचना आगे से छोटी, पतली और पीछे से क्रमश मोटी क्यो रखनी चाहिये ? सेना की ऐसा रचना करने से और शत्रुया पर छापा मारने मे क्या तात्कालिक प्रभाव रहता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(५६) **दृष्टि-युद्ध-कला**—आखो मे आखे मिला कर परपक्ष के लोगों को कैसे बलहीन एव निकम्मे बनाया जा सकता है ? इत्यादि बातो का ज्ञान इस कला के द्वारा कराया जाता है।

(५७) **वाग्-युद्ध-कला**—युक्तिवाद, तर्कवाद और बुद्धिवाद की सहायता से पर पक्ष के विषय का खण्डन करना और स्वपक्ष का मण्डन करना और भाति भाति के सामान्य और गूढ विषयों पर शास्त्रार्थ करना, इत्यादि बातो का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(५८) **मुष्टि-युद्ध-कला**—हाथों को बान्धकर मुष्टि बना कर और उन के द्वारा नाना प्रकार से विधिपूर्वक घूसामारी खेल कर परपक्ष को पराजित करना, इत्यादि बाते इस कला के द्वारा सिखाई जाती हैं।

(५९) **बाहु-युद्ध-कला**—इस मे मुष्टि के स्थान पर भुजाओं से युद्ध करने की शिक्षा दी जाती है।

(६०) **दण्ड-युद्ध-कला**—इस कला में दण्डों के द्वारा युद्ध करना सिखाया जाता है। कैसे और कितने लम्बे दण्ड होने चाहिये और किस ढग से चलाये जाने चाहिये ? ताकि शत्रु से अपने को सुरक्षित रखा जा सके ? इत्यादि बाते भी इस कला से सिखाई जाती है।

(६१) **शास्त्र-युद्धकला**—इस कला के द्वारा पठित शास्त्रीय ज्ञान को खण्डन मण्डन के रूप में बोल कर या लिख कर प्रकट करने की युक्तिया सिखाई जाती हैं।

(६२) **सर्प-मर्दनकला**—सर्प के काटे हुओं की सजीवनी औषधिया कौन कौन सी हैं ? वे कौन-सी जडी बूटिया हैं जिनके सूघने या सुघा देने मात्र से भयकर से भयकर जहरीले सर्पों का विष दूर किया जा सकता है ? सर्पों को कील कर कैसे रखा जा सकता है ? इत्यादि बाते इस कला के द्वारा सिखाई जाती हैं।

(६३) **भूतादि-मर्दन-कला**—भूतादि क्या हैं ? ये मुख्यतया कितने प्रकार के होते हैं ? इन मे निर्बल और सबल जातियो के कौन से भूत होते हैं ? इन को वश मे करने की क्या रीति होती है ? कौन से मन्त्र तथा तन्त्रो के आगे इन की शक्तिया काम नहीं कर पाती ? उन्हे कैसे, कहा, कब और कितने समय तक सिद्ध करना पड़ता हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा सिखाया जाता है।

(६४) **मन्त्रविधि-कला**—मन्त्रों के जप जाप की कौन सी विधि है ? कौन मन्त्र, कब, कहा कैसे और कितने जप-जाप के पश्चात सिद्ध होता है ? जाप मे जब वे सिद्ध हो जाते हैं तब सम्पूर्ण ऐहिक इच्छाओ की पूर्ति कैसे होती है ? उन मे दैहिक, दैविक, और भौतिक बाधाये निर्मूल कैसे की जाती हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला द्वारा कराया जाता है।

(६५) **यन्त्रविधिकला**—मुख से मन्त्रों का उच्चारण करते हुए किसी धातु के पत्रों या भोजपत्र या साधारण कागज या दीवाल आदि पर नियमित खाने बनाना और उन में परिमित अकों का भरना यन्त्र का लिखना कहलाता है। यह यन्त्र कब लिखे जाते हैं ? मनोरथो के भेद से ये मुख्यतया कितने प्रकार के होते हैं ? इत्यादि बातो का ज्ञान इस कला के द्वारा किया जाता है।

(६६) **तन्त्रविधिकला**—तरह २ के टोने करना, उतारे करना और विधान के साथ उन्हे बस्तियों,

के चारास्तों पर रखना भूठी पतलों को भोजन के पश्चात् कील को खोलना, धान की मुट्ठी आदि उतार कर किसी के सिरहाने रखना आदि २ कामों की विधियां इस कला के द्वारा लोगों को बताई जाती हैं। कलाकारों का कहना है कि इस कला के द्वारा कई प्रकार की दैहिक, दैविक और भौतिक बाधायें आसानी के साथ निर्मूल की जा सकती हैं।

(६७) **रूप-पाक-विधिकला**—अपने रूप को निखारने लिये ऋतु, काल, देश की प्रकृति और अपनी प्रकृति का मेल मिला कर कौन २ पाकों का सेवन करते रहना चाहिए ? ये पाक कैसे और कौन २ पदार्थों के कितने २ परिमाण में बनते हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला में लोगों को कराया जाता है।

(६८) **सुवर्ण-पाक-विधिकला**—इस कला के द्वारा पुरुष अनेक विधियों से नानाविध सुवर्ण के पाकों का निर्माण सीखा करते थे। इस में प्रथम विधिपूर्वक सोने को शोधना फिर उस के नियमित परिमाण के साथ अन्यान्य आवश्यक पदार्थों तथा जड़ी बूटियों को मिलाकर पाक तैयार करना, तदनन्तर उस का विधि के अनुसार सेवन करना, इत्यादि बातें भी इस कला में बताई जाती हैं।

(६९) **बन्धनकला**—किसी पर मन्त्र और दृष्टि आदि के बल से ऐसा प्रभाव डालना कि जिस से वह औरों की निगाह में बद्ध प्रतीत न हो सके परन्तु वह स्वयं को बद्ध समझता रहे। यही इस कला का उद्देश्य है।

(७०) **मारणकला**—केवल मन्त्रों की सिद्धि और दृष्टिबल से बिना किसी भी प्रकार का किसी पुरुषविशेष से युद्ध किए, यहां तक कि बिना उसे देखे भाले केवल उस का नाम और स्थान मालूम कर एवं बिना किसी भी प्रकार के शस्त्रों का उस पर प्रयोग किए उस के सिर को धड़ से अलग कर देना या अन्य किसी भी प्रकार से उसे मार गिराना इस कला का काम है।

(७१) **स्तम्भन-कला**—किसी व्यक्ति विशेष से अपने पराए किसी वैर का बदला लेने के लिये उसे किसी नियत काल तक के लिये स्तम्भित कर रखना इस कला से लोग जान पाते हैं।

(७२) **संजीवन-कला**—किसी मृतप्राय या मृतक दिखने वाले व्यक्ति को जो अकाल में ही किसी कारण-विशेष से मृत्यु को प्राप्त होता दिखाई दे रहा हो, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि विधियों के बल या किसी भी प्रकार की सजीवनी जड़ी को उस के मृतप्राय शरीर से स्पर्श करा कर उसे पुनर्जीवित कर देना इस कला द्वारा लोग जान पाते हैं[1]।

शास्त्रों में ७२ कलायें पुरुषों की मानी जाती हैं, किन्तु प्रकृत सूत्र में उन कलाओं का एक नारी में सूचित करने का अर्थ है कि उस नारी के महान् पांडित्य को अभिव्यक्त करना, और टीकाकार का कहना है कि प्राय पुरुष ही इन कलाओं का अभ्यास करते हैं, स्त्रियां तो प्राय इन का ज्ञान मात्र रख सकती हैं। **लेखाद्या** [2]**शकुनरुतपर्यन्ता गणित—प्रधाना कला प्रायः पुरुषाणामेवाभ्यासयोग्याः,**

---

(१) यह कला वर्णन स्वर्गीय, जैनदिवाकर, प्रसिद्धवक्ता, पण्डित श्री चौथमल जी महाराज द्वारा विरचित "**भगवान् महावीर का आदर्श-जीवन**" नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है। शाब्दिक रचना में कुछ आवश्यक अन्तर रखा गया है और आवश्यक एवं प्रकरणानुसारी भाव ही सकलित किये गए हैं। कहीं वर्णन में स्वतन्त्रता से भी काम लिया गया है।

(२) इस वर्णन से प्रतीत होता है कि टीकाकार श्री अभयदेवसूरि के मत में ७२ कलाओं में से प्रथम की लेखन-कला है और अन्तिम कला का नाम शकुनरुतकला है, परन्तु हमने जिन कलाओं का वर्णन ऊपर किया है, उन में पहली तो वृत्तिकार की मान्यतानुसार है परन्तु अन्तिम कला में भिन्नता है। इस का कारण यह है कि कलाओं का वर्णन प्रत्येक ग्रन्थ में प्रायः भिन्न भिन्न रूप से पाया जाता है। ऐसा क्यों है ? यह विद्वानों के लिये विचारणीय है।

स्त्रीणां तु विशेया एव प्राय इति।

'**चउसट्ठि-गणिया—गुणोववेया—चतुष्पष्टिगणिका—गुणोपेता**—अर्थात् वह कामध्वजा गणिका, कामसूत्र वर्णित गणिका के ६४ गुण अपने म रखती थी। वात्स्यायन कामसूत्र मे अष्टविध आलिगन वर्णित हुए हैं, उन आठो में प्रत्येक के आठ आठ भेद होने से ६४ भेद गणिका के गुण कहलाते हैं। **वात्स्यायनोक्तान्यालिंगनादीन्यष्टौ वस्तूनि, तानि च प्रत्येकमष्टभेदत्वाच्चतुःषष्टिर्भवन्ति चतु षष्ट्या गणिकागुणैरुपेता या सा तथेति वृत्तिकार।**

"**एगूणतीसविसेसे रममाणी—एकोनत्रिंशद्विशेष्यां रममाणा**—" यहा पठित जो विशेष पद है उस का अर्थ है—विषय अथवा विषय के गुण। विषय के गुण २९ होते हैं, इन में कामध्वजा गणिका रमण कर रही थी अर्थात् गणिका विषय के २९ गुणों से सम्पन्न थी। वात्स्यायन कामसूत्र आदि ग्रन्थों में विषयगुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

"—**एक्कवीसरतिगुणप्पहाणा—एकविंशतिरतिगुणप्रधाना**—" अर्थात् कामध्वजा गणिका २१ रतिगुणों में प्रधान-निपुण थी। मोहनीयकर्म की उस प्रकृति का नाम रति है जिस के उदय से भोग मे अनुरक्ति उत्पन्न होती है, अथवा मैथुनक्रीड़ा का नाम भी रति है। रति के गुण (भेद) २१ होते हैं, उन मे यह गणिका निपुण थी। रतिगुणों का सागोपाग वर्णन वात्स्यायन कामसूत्र आदि ग्रन्थो मे किया गया है।

"—**बत्तीस—पुरिसोवयार—कुसला—द्वात्रिंशत्—पुरुषोपचारकुशला**—" अर्थात् पुरुषो के ३२ उपचारों में वह कामध्वजा गणिका कुशल थी। उपचार का अर्थ होता है—आदर, सत्कार अथवा सभ्योचित व्यवहार। इन उपचारो मे वह गणिका सिद्धहस्त थी। उपचारों का सविस्तृत व्याख्यान वात्स्यायन कामसूत्र आदि ग्रन्थों मे किया गया है।

"—**नवंगसुत्तपडिबोहिया—प्रतिबोधितसुप्तनवांगा**—"अर्थात् जगा लिये हैं सोये हुए नवाग जिसने, तात्पर्य यह है कि बाल्यकाल मे सोये हुए नव अग जिस के इस समय जागे हुए हैं अथवा जिसके नेत्र प्रभृति नव अग पूर्णरूप से जागृत हैं। इसका भावार्थ यह है कि मानवी व्यक्ति की बाल्य अवस्था मे उस के दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक जिह्वा, एक त्वचा और एक मन ये नौ अग जागे हुए नही होते अर्थात् इन मे किसी प्रकार का विकार (कामचेष्टा) उत्पन्न हुआ नहीं होता ये उस समय निर्विकार-विकार से रहित होते हैं। यहा निर्विकार की सुप्त और विकृत की प्रबुद्ध—जागृत सज्ञा है। जिस समय युवावस्था का आगमन होता है उस समय ये नो ही अ ग जाग[1] उठते हैं, अर्थात् इन मे विकार उत्पन्न हो जाता है। इस से सूत्रकार ने उक्त विशेषण द्वारा कामध्वजा को नवयुवती प्रमाणित किया है।

"—**अट्ठारस—देसीभासा—विसारया—अष्टादशदेशीभाषा—विशारदा**—" अर्थात् १—चिलात (किरात-देश), २—बर्बर (अनार्य देशविशेष), ३—बकुश (अनार्य देशविशेष) ४—यवन (अनार्य देशविशेष), ५—पह्नव (अनार्य देशविशेष) ६—इसिन (अनार्य देशविशेष) ७—चारुकिनक, ८—लासक (अनार्य देशविशेष), ९—लकुश (अनार्यदेशविशेष), १०—द्रविड (भारतीय देश), ११—सिंहल द्वीप (लका द्वीप), १२—पुलिंद (अनार्य देशविशेष), १३—अरब (अरबदेश) १४—पक्कण (अनार्य देशविशेष), १५—बहली (भारत वर्ष का एक उत्तरीय देश), १६—मुरुण्ड (अनार्य देशविशेष), १७—शबर (अनार्य देशविशेष), १८—पारस(फारस ईरान) इन

(१) द्वे श्रोत्रे, द्वे चक्षुषी द्वे घ्राणे, एका जिव्हा, एक त्वक् एक च मन इत्येतानि नवागानि सुप्तानीव सुप्तानि यौवनेन प्रतिबोधितानि—स्वार्थग्रहणपटुता प्रापितानि यस्या सा तथा (वृत्तिकार)

१८ [1]देशों की भाषा-बोली में कामध्वजा गणिका सुपरिचित थी, इस वर्णन में यह स्पष्ट हो जाता है कि गणिका जहां काम-शास्त्र वर्णित विशेष रतिगुण आदि में निपुणता लिये हुए थी वहां वह भाषाशास्त्र के वैदुष्य में भी परिपूर्ण थी, और असाधारण एवं सर्वतोमुखी मस्तिष्क की स्वामिनी थी।

'—सिंगारागारचारुवेसा-शृङ्गारागारचारुवेषा—अर्थात् उस का सुन्दर वेश शृङ्गार—रस का घर बना हुआ था। तात्पर्य यह है कि उस की वेष-भूषा इतनी मनोहर थी कि उस में वह शृङ्गार - रस की एक जीतीजागती मूर्ति प्रतीत होती थी।

"—गीय-रति गन्धव्व-नट्ट कुसला—गीत—रतिगान्धर्वनाट्यकुशला—अर्थात् वह गीत, रति गान्धर्व और नाट्य आदि कलाओं में प्रवीण थी। तात्पर्य यह है कि वह एक ऊंचे दर्जे की कलाकार थी। गीत संगीत का ही दूसरा नाम है। रति-क्रीडाविशेष को कहते हैं। गान्धर्व—नृत्ययुक्त संगीत का नाम है, और केवल नृत्य की नाट्य संज्ञा है [गान्धर्वं नृत्युक्तगीतम्, नाट्यं तु नृत्यमेवेति वृत्तिकारः]

"—संगत गत—" इस निर्देश में ग्रहण किया जाने वाला समस्त पाठ वृत्तिकार अभयदेव सूरि के उल्लेखानुसार निम्नलिखित है—

"संगय-गय-भणिय-विहिय-विलास सललिय-संलाव-निउण जुत्तोवयार—कुसला" इति इत्थम् संगतान्युचितानि गीतादीनि यस्याः सा तथा सललिता प्रसन्नतोपेता ये संलापास्तेषु निपुणा या सा तथा, युक्ता संगता ये उपचारा व्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः" अर्थात् उस के गमन, वचन और विहित-चेष्टायें, समुचित थीं, वह मन को लुभाने वाले सम्भाषण में निपुण थी, और व्यवहारज्ञ एवं व्यवहार कुशल थी।

" सुन्दरत्थण०" आदि समग्रपाठ का वृत्ति में विवरण पूर्वक इस प्रकार निर्देश किया है—

" सुन्दर त्थण-जहण-वयण—कर-चरण-नयण-लावण्ण-विलास-कलिया " इति व्यक्तम्, नवरं जघनं पूर्वः कटिभागः लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयता, विलासः स्त्रीणां चेष्टाविशेषः "। अर्थात् उस के स्तन, जघन (कमर का अग्रभाग), वदन (मुख), कर (हाथ), चरण और नयन प्रभृति अंगप्रत्यंग बहुत सुन्दर

---

(१) स्थानाङ्गसूत्र मे १८ देशों का नाम कहीं देखने में नहीं आया परन्तु राजप्रश्नीय आदि सूत्रों मे १८ देशों की दासियों का वर्णन मिलता है, उसी के आधार में ये १८ नाम संकलित किये गए हैं।

(२) कामी पुरुष स्त्री के स्तन, मुखादि अंगों को किन २ से उपमित करते हैं, अर्थात् इन को किस २ की उपमा देते हैं तथा ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में उन का वास्तविक स्वरूप क्या है? उस के लिये भर्तृहरि जी का निम्नोक्त श्लोक अवश्य अवलोकनीय है—

स्तनौ मांस-ग्रन्थी, कनककलशावित्युपमितौ ।
　　मुखं श्लेष्मागारं, तदपि च शशाकेन तुलितम् ॥
स्रवन्मूत्र-क्लिन्नं, करिवरकरस्पर्द्धि जघनम् ।
　　अहो ! निन्द्यं रूपं, कविजनविशेषैः गुरुकृतम् ॥ १ ॥ [वैराग्यशतक]

अर्थात्—यह कितना आश्चर्य है कि स्त्री के नितान्त गर्हित स्वरूप को कविजनों ने अत्यन्त सुन्दर पदार्थों से उपमित करके कितना गौरवान्वित कर दिया है जैसे कि—उसके वक्षस्थल पर लटकने वाली मांस की ग्रन्थियां—स्तनों को दो स्वर्ण घटों के समान बतलाया, श्लेष्मा बलगम के आगार रूप मुख को चन्द्रमा से उपमित किया और सदा मूत्र के परिस्राव से भीगे रहने वाले जघनों उरुओं को श्रेष्ठ हस्ती की सूंड से स्पर्द्धा करने वाले कहा है। तात्पर्य यह है कि कवि-जनों का यह अविचारित पक्षपात है जो कि वास्तविकता से दूर है।

थे और रूप वर्ण लावण्य (आकृति की सुन्दरता) हास तथा विलास (स्त्रियों की विशेष चेष्टा) बहुत मनोहर था।

"—ऊसियधया-उच्छ्रितध्वजा—" अर्थात् काम-ध्वजा गणिका के विशाल भवन पर ध्वजा (छोटा ध्वज) फहराया करती थी। ध्वज किसी भी राष्ट्र की पुण्यमयी संस्कृति का एवं राष्ट्र के तथागत पुरुषों के अमर इतिहास का पावन प्रतीक हुआ करता है। ध्वज को किसी भी स्थान पर लगाने का अर्थ है—अपनी संस्कृति एवं अपने अतीत राष्ट्रिय पूर्वजों के प्रति अपना सम्मान प्रकट करना तथा अपने राष्ट्र के गौरवानुभव का प्रदर्शन करना। ध्वज का सम्मान राष्ट्र के प्रत्येक निवासी का सम्मान होता है और उस का अपमान राष्ट्र के प्रत्येक निवासी के अपमान का सूचक बनता है इसी दृष्टि को सन्मुख रखते हुए राष्ट्रिय भावना के धनी लोग ध्वज को अपने मकानों पर लहरा कर अपने राष्ट्र के अतीत गौरव का प्रदर्शन करते हैं। सारांश यह है कि काम-ध्वजा गणिका का मानस राष्ट्रिय-भावना से समलंकृत था, वह गणिका होते हुए भी अपने राष्ट्र की संस्कृति एवं उसके इतिहास के प्रति महान् सम्मान लिये हुए थी, और साथ में वह उस का प्रदर्शन भी कर रही थी।

"—सहस्सलंभा—सहस्रलाभा—" अर्थात् वह कामध्वजा गणिका अपनी नृत्य, गीत आदि किसी भी कला के प्रदर्शन में हजार मुद्रा ग्रहण किया करती थी, अथवा सहवास के इच्छुक को एक सहस्र मुद्रा भेंट करनी होती थी अर्थात् उस के शरीर आदि का आतिथ्य उसे ही प्राप्त होता था जो हजार मुद्रा अर्पण करे।

"—विदिण्ण-छत्त—चामरवालवियाणिया—वितीर्णछत्रचामरवालव्यजनिका—" अर्थात् राजा की ओर से दिया गया है छत्र, चामर-चॅवर और वालव्यजनिका—चॅवरी या छोटा पंखा जिस को ऐसी, अर्थात् कामध्वजा गणिका की कलाओं से प्रसन्न हो कर राजा ने उसे पारितोषिक के रूप में ये सन्मान सूचक छत्र, चामरादि दिये हुए थे। इन विशेषणों से कामध्वजा के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि वह कोई साधारण बाजार में बैठने वाली वेश्या नहीं थी अपितु एक प्रसिद्ध कलाकार तथा राजमान्य असाधारण गणिका थी।

"—कण्णीरहप्पयाया—कर्णीरथप्रयाता—" अर्थात् वह गणिका कर्णीरथ के द्वारा आती जाती थी, अर्थात् उस के गमनागमन के लिये कर्णीरथ प्रधानरथ नियुक्त था। कर्णीरथ यह उस समय एक प्रकार का प्रधान रथ माना जाता था, जो कि प्रायः समृद्धि—शाली व्यक्तियों के पास होता था।

"आहेवच्चं जाव विहरति" इस पाठ में उल्लिखित 'जाव यावत्' पद से सूत्रकार को क्या विवक्षित है? उस का सविवरण निर्देश वृत्तिकार के शब्दों में इस प्रकार है—

"—आहेवच्च—" त्ति आधिपत्यम् अधिपतिकर्म, इह यावत्करणादिदं दृश्यम् "—पोरेवच्चं—" पुरोवर्तित्वमग्रेसरत्वमित्यर्थः। "—भट्टित्त—भर्तृत्वं पोषकत्वम् "—सामित्त—" स्वस्वामि—सम्बन्धमात्रम्, "—महत्तरगत्तं—"महत्तरगत्वं शेषवेश्या—जनापेक्षया महत्तमताम् "—आणाईसरसेणावच्चं—" आज्ञेश्वर-आज्ञा—प्रधानो यः सेनापतिः, सैन्यनायकस्तस्य भावः कर्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यम्, "—कारेमाणा—" कारयन्ती परैः "—पालेमाणा—" पालयन्ती स्वयमिति। अर्थात् वह गणिका हजारों गणिकाओं का आधिपत्य और पुरोवर्तित्व करती थी। तात्पर्य यह है कि उन सब में वह प्रधान तथा अग्रेसर थी उन की पोषिका—पालन पोषण करने वाली थी। उन के साथ उस का सेविका और स्वामिनी जैसा सम्बन्ध था। सारांश यह है कि सहस्रों वेश्याएं उसकी आज्ञा में रहती थीं और वह उनकी पूरी २

देख रेख रखती थी। संक्षेप में कहें तो कामध्वजा वाणिजग्राम नगर की सर्व-प्रधान राजमान्य और सुप्रसिद्ध कलाकार वेश्या थी।

इस प्रकार से प्रस्तुत सूत्र में कामध्वजा गणिका के सांसारिक वैभव का वर्णन प्रस्तावित किया गया है। इस में सन्देह नहीं कि स्त्री-जाति की प्रवृत्ति प्रायः संसाराभिमुखी होती है वह सांसारिक विषय—वासनाओं की पूर्ति के लिये विविध प्रकार के साधनों को एकत्रित करने में व्यस्त रहती है। परन्तु इस में भी शंका नहीं की जा सकती कि जब उस की यह प्रवृत्ति कभी सदाचाराभिगामिनी बन जाती है और उस की हृदय—स्थली पर धार्मिक भावनाओं का स्रोत बहने लग जाता है तो वही स्त्री जाति संसार के सामने एक ऐसा पुनीत आदर्श उपस्थित करती है, कि जिस में संसार को एक नये ही स्वरूप में अपने आप को अवलोकन करने का पुनीत अवसर प्राप्त होता है। स्त्री जाति उन रत्नों की खान है कि जिन का मूल्य संसार में आंका ही नहीं जा सकता। जिन महापुरुषों की चरण-रज से हमारी यह भारत वर्ष धरा पुण्य भूमि कहलाने का गौरव प्राप्त करती है उन महापुरुषों को जन्म देने वाली यह स्त्री जाति ही तो है। हमारे विचारानुसार तो संसार के उत्थान और पतन दोनों में ही स्त्री-जाति को प्राधान्य प्राप्त है। अस्तु।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र में प्रस्तुत अध्ययन के नायक का वर्णन करते हैं—

मूल—[१]तत्थ णं वाणियग्गामे विजयमित्ते नामं सत्थवाहे परिवसति अड्ढे०। तस्स णं विजयमित्तस्स सुभद्दा नामं भारिया होत्था। अहीण०। तस्स णं विजयमित्तस्स पुत्ते सुभद्दाए भारियाए अत्तए उज्झितए नामं दारए होत्था, अहीण० जाव सुरूवे।

पदार्थ—तत्थ णं—उस। **वाणियग्गामे**—वाणिज—ग्राम नामक नगर में। **विजयमित्ते**—विजय—मित्र। **णामं**—नाम का। **सत्थवाहे**—सार्थवाह-व्यापारी यात्रियों के समूह का मुखिया। **परिवसति**—रहता था जो कि। **अड्ढे०**—धनी-धनवान् था। **तस्स णं**—उस। **विजयमित्तस्स**—विजयमित्र की। **अहीण०**—अन्यून पञ्चेन्द्रिय शरीर सम्पन्न। **सुभद्दा**—सुभद्रा। **नामं**—नाम की। **भारिया**—भार्या। **होत्था**—थी। **तस्स णं**—उस। **विजयमित्तस्स**—विजयमित्र का। **पुत्ते**—पुत्र। **सुभद्दाए भारियाए**—सुभद्रा भार्या का। **अत्तए**—आत्मज। **उज्झितए**—उज्झितक। **नामं**—नाम का। **दारए**—बालक। **होत्था**—था जोकि। **अहीण०**—अन्यून पञ्चेन्द्रिय शरीर सम्पन्न। **जाव**—यावत्। **सुरूवे**—सुन्दर रूप वाला था।

मूलार्थ—उस वाणिजग्राम नगर में विजयमित्र नाम का एक धनी सार्थवाह-व्यापारी वर्ग का मुखिया निवास किया करता था। उस विजय मित्र की सर्वांग—सम्पन्न सुभद्रा नाम की भार्या थी। उस विजयमित्र का पुत्र और सुभद्रा का आत्मज उज्झितक नाम का एक सर्वांग—सम्पन्न और रूपवान् बालक था।

टीका—कामध्वजा गणिका के वर्णन के अनन्तर सूत्रकार उज्झितक के माता पिता का वर्णन कर रहे हैं। वाणिज—ग्राम नगर में विजयमित्र नाम का एक सार्थवाह (व्यापारी वर्ग के मुख्य-

(१) **छाया**—तत्र वाणिजग्रामे विजय—मित्रो नाम सार्थवाहः परिवसति आढ्यः०। तस्य विजयमित्रस्य सुभद्रा नाम भार्याऽभूत्। अहीन०। तस्य विजयमित्रस्य पुत्रः सुभद्रायाः भार्याया आत्मजः उज्झितको नाम दारकोऽभूत्। अहीन० यावत् सुरूपः।

नायक को अथवा यात्री—समूह के प्रधान को सार्थवाह कहते हैं) निवास किया करता था। जोकि बडा धनवान् था उसकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। तथा उनके उज्झितक नाम का एक बालक था जोकि सुन्दर शरीर अथच मनोहर आकृति वाला था।

सूत्रकार के "—अड्ढे०—" इस सांकेतिक पाठ से "**—दित्ते, वित्थिरण-विउल-भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइरणे, बहुधण-बहुजायरूवरयय, आओगपओगसंपउत्ते, विच्छड्डियविउलभत्तपाणे, बहुदासीदासगामहिसगवेलयप्पभूए, बहुजणस्स अपरिभूए—**" [छाया—दीप्तो, विस्तीर्ण-विपुल भवन-शयनासन यान—वाहनाकीर्णो, बहुधन-बहुजातरूपरजत, आयोगप्रयोगसप्रयुक्तो, विच्छर्दित—विपुल-भक्तपानो, बहुदासीदासगोमहिषगवेलकप्रभूतो, बहुजनस्य अपरिभूत] यह ग्रहण करना। इस का अर्थ निम्नोक्त है—

वह विजयमित्र सार्थवाह दीप्त तेजस्वी, विस्तृत और विपुल भवन (मकान), शयन (शय्या), और आसन (चौकी आदि), यान गाडी आदि), और वाहन (घोडे आदि) तथा धन, सुवर्ण और रजत (चान्दी) की बहुलता से युक्त था अधमर्णो ऋण लेने वाले) को वह अनेक प्रकार से व्याज पर रुपया दिया करता था। उसके यहा भोजन करने के अनन्तर भी बहुत सा अन्न बाकी बच जाता था, उसके घर मे दास, दासी आदि पुरुष और गाय, भैस और बकरी आदि पशु थे, तथा वह बहुतों से भी पराभव को प्राप्त नहीं हो पाता था अथवा जनता मे वह सशक्त एव सम्माननीय था।

"**—अहीण०—**" इस सकेत से वह समस्त पाठ जो कि प्रथम अध्ययन मे वर्णित मृगादेवी के सम्बन्ध में वर्णित किया गया है, उसका ग्रहण समझना।

"**—अहीण० जाव सुरुवे—**" इस पाठ के "**जाव-यावत्**" पद से—'**—अहीण पडिपुरण-पंचिंदियसरीरे, लक्खणवंजणगुणोववेये, माणुम्माणप्पमाण पडिपुरणसुजायसव्वंगसुंदरंगे, ससिसोमाकारे, कंते, पियदंसणे —**' [छाया—अहीन परिपूर्ण—पञ्चेन्द्रियशरीर, लक्षणव्यञ्जनगुणोपेत, मानोन्मान-प्रमाणपरिपूर्णसुजातसर्वांगसुन्दराग शशिसौम्याकार, कान्त, प्रियदर्शन] यह समस्त पाठ ग्रहण करना। अर्थात् वह उज्झितक कुमार कैसा था? इस का वर्णन इस पाठ मे किया गया है। तात्पर्य यह है कि उसकी पाचों इन्द्रिये सम्पूर्ण एव निर्दोष थी ? और उसका शरीर [1] लक्षण, व्यजन और

---

(१) **लक्षण**—विद्या, धन और प्रभुत्व आदि के परिचायक हस्तगत (हाथ की रेखाओं में बने हुए) स्वस्तिक आदि ही यहा पर लक्षण शब्द से अभिप्रेत हैं।

व्यंजन—शरीरगत मस्सा तिलक आदि चिन्हों की व्यजन सज्ञा है।

गुण—विनय, सुशीलता और सेवा-भाव आदि गुण कहे जाते हैं।

मान—जिसके द्वारा पदार्थ मापा जाय उसे मान कहते हैं। अथवा कोई पुरुष जल मे भरे हुए कुंड में प्रवेश करे और प्रवेश करने पर यदि कुंड मे से एक द्रोण— [चार आढक प्रमाण-१६ सेर] प्रमाण जल बाहिर निकल जावे तो वह पुरुष मानयुक्त कहलाता है।

उन्मान—मान से अधिक अथवा अर्द्धभार को उन्मान कहते हैं।

प्रमाण—अपनी अंगुलि से १०८ अंगुलि पर्यन्त ऊंचाई की प्रमाण सज्ञा है, जिस पुरुष की इतनी ऊंचाई हो वह प्रमाणयुक्त कहलाता है।

इस प्रकार मान, उन्मान और प्रमाण युक्त, यथा योग्य अवयवो मे सघटित शरीर वाले पुरुष को **सुजातसर्वांगसुन्दर** कहा जाता है।

प्रियदर्शन—जिस के देखने से मन मे आकर्षण पैदा हो, अथवा जिस का दर्शन मन को लुभावे उसे प्रियदर्शन कहते हैं।

गुणों से युक्त था, तथा मान, उन्मान और प्रमाण से परिपूर्ण, एव अगोपाग—गत सौन्दर्य से भरपूर था, वह चन्द्रमा के समान सौम्य (शान्त), कान्त—मनोहर और प्रियदर्शन था, अर्थात् कुमार उज्झितक में शरीर के सभी शुभ लक्षण विद्यमान थे।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के वाणिजग्राम नगर में पधारने के विषय में कहते हैं—

मूल—[1]तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे। परिसा निग्गता राया निग्गओ जहा कूणिओ निग्गओ। धम्मो कहिओ। परिसा राया य पडिगओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती जाव लेसे छट्ठंछट्ठेणं जहा पण्णत्तीए पढमाए जाव जेणेव वाणियग्गामे तेणेव उवा०। वाणियग्गामे उच्चणीय० अडमाणे जेणेव रायमग्गे तेणेव ओगाढे।

पदार्थ—तेणं कालेणं—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय मे। **समणे**—श्रमण। **भगवं**—भगवान्। **महावीरे**—महावीर। **समोसढे**—पधारे। **परिसा निग्गता**—परिषद्—नगर की जनता भगवान् के दर्शनार्थ नगर से निकली। **जहा**—जिस प्रकार। **कूणिओ निग्गओ**—महाराज कूणिक नगर से निकला था उसी प्रकार। **राया**—वाणिजग्राम का राजा मित्र भी। **निग्गओ**—नगर से भगवान् के दर्शनार्थ निकला। **धम्मो**—भगवान् ने धर्मोपदेश। **कहिओ**—फरमाया। **परिसा य**—और परिषद्—जनता तथा। **राया**—राजा। **पडिगओ**—वापिस चले गये। **तेणं कालेणं** उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय में। **समणस्स**—श्रमण। **भगवओ**—भगवान्। **महावीरस्स**—महावीर के। **जेट्ठे**—ज्येष्ठ। **अंतेवासी**—शिष्य। **इंदभूती**—इन्द्रभूति। **जाव**—यावत्। **लेसे**—तेजोलेश्या को सक्षिप्त किये हुए। **छट्ठंछट्ठेणं**—वेले २ की तपस्या करते हुए। **जहा**—जिस प्रकार **पण्णत्तीए**—श्री भगवती सूत्र में प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार। **पढमाए**—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय कर। **जाव**—यावत्। **जेणेव**—जहा। **वाणियग्गामे**—वाणिजग्राम नगर है। **तेणेव** वहीं पर। **उवा०** आ जाते हैं। **वाणियग्गामे**—वाणिजग्राम नगर में। **उच्चणीय०**—ऊच, नीच सभी घरो में भिक्षार्थ **अडमाणे**—फिरते हुए। **जेणेव**—जहा। **रायमग्गे** —राजमार्ग—प्रधान मार्ग है। **तेणेव**—वहां पर **ओगाढे**—पधारे।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वाणिजग्राम नामक नगर मे [नगर के बाहिर ईशान कोण मे अवस्थित दूतीपलाश नामक उद्यान मे] पधारे। प्रजा उनके दर्शनार्थ नगर से निकली और वहां का राजा भी कूणिक नरेश की तरह भगवान् के दर्शन करने को चला, भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया, उपदेश को सुन कर प्रजा और राजा दोनो वापिस आ गये। उस काल तथा उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार जो कि तेजो—लेश्या को सक्षिप्त करके अपने अन्दर धारण किये हुए हैं

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर समवसृत। परिषद् निर्गता। राजा निर्गतो यथा कूणिको निर्गत। धर्म कथितः। परिषद् राजा च प्रतिगत.। तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूति यावत् लेश्य. षष्ठषष्ठेन यथा प्रज्ञप्तौ प्रथमायां यावत् यत्रैव वाणिजग्रामस्तत्रैवोपा० वाणिजग्रामे उच्चनीच० अटन् यत्रैव राजमार्गं तत्रैवावगाढ.।

तथा बेले २ पारणा करने वाले हैं, एवं भगवती सूत्र में वर्णित जीवनचर्या चलते हुए भिक्षा के लिये वाणिजग्राम नगर में गए वहां ऊंच नीच अर्थात् साधारण और असाधारण सभी घरों में भिक्षा के निमित्त भ्रमण करते हुए राजमार्ग पर पधारे।

टीका—उस काल तथा समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वाणिजग्राम के बाहिर ईशान कोण में स्थित दूतीपलाश नामक उद्यान में पधारे। भगवान् के आगमन की सूचना मिलते ही नागरिक लोग भगवान् के दर्शनार्थ नगर से निकल पड़े। इधर महाराज मित्र ने भी कूणिक नरेश की भांति बड़ी सजधज से प्रभुदर्शनार्थ नगर से प्रस्थान किया तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भगवान् महावीर के चम्पा नगरी में पधारने पर महाराज कूणिक बड़े समारोह के साथ उनके दर्शन करने गये थे उसी प्रकार मित्र नरेश भी गये। तदनन्तर चारों [1]प्रकार की परिषद् के उपस्थित हो जाने पर भगवान् ने उसे धर्म का उपदेश दिया। धर्मोपदेश सुन कर राजा तथा नागरिक लोग वापिस अपने २ स्थान को चले गये, अर्थात् भगवान् के मुखारविन्द से श्रवण किये हुए धर्मोपदेश का स्मरण करते हुए सानन्द अपने २ घरों को वापिस आगये।

प्रस्तुत सूत्र में "**धम्मो कहिओ**" इस संकेत से औपपातिक सूत्र में वर्णित धर्मकथा की सूचना देनी सूत्रकार को अभीष्ट है। यद्यपि भगवान् का धर्मोपदेश तो अन्यान्य आगमों में भी वर्णित हुआ है, परन्तु इस में विशेष रूप से वर्णित होने के कारण सूत्रों में उल्लिखित उक्त पदों से औपपातिक सूत्रगत वर्णन की ओर ही संकेत किया गया है। इसी शैली को प्रायः सर्वत्र अपनाया गया है।

"—**इंदभूती जाव लेसे**—" पाठान्तर गत "—**जाव—यावत्**—" पद से "—**इन्दभूती अणगारे गोयमसगोत्ते**—" से ले कर "—[2]**संखित्तविउलतेयलेसे**"—पर्यन्त समग्र पाठ का ग्रहण समझना।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ [3]अन्तेवासी—प्रधान शिष्य गौतम-गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार षष्ठभक्त [बेले २ पारना करना] की तपश्चर्या रूप तप के अनुष्ठान से आत्मशुद्धि में प्रवृत्त हुए भगवान् की पर्युपासना में लगे हुए थे। समस्त वर्णन व्याख्या—प्रज्ञप्ति में लिखा गया है। व्याख्या—प्रज्ञप्ति-भगवती सूत्र का वह पाठ इस प्रकार है—

छट्ठंछट्ठेण अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तए णं से भगवं गोयमे छट्ठ—क्खमणपारणगंसि—" इत्यादि।

"—**पढमाए जाव**" यहां के "—**जाव-यावत्**—" पद से "—**पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेति, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाती, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेति, भायणवत्थाणि पडिलेहेति, भायणाणि पमज्जति, भायणाइं उग्गाहेति, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति २ समणं ३ वंदति २ एवं वयासी-इच्छामि णं भंते!**

(१) औपपातिक सूत्र के ३४वें सूत्र में "—**इसिपरिसाए, मुणिपरिसाए, जइपरिसाए, देवपरिसाए**—" ऐसा उल्लेख पाया जाता है, उसी के आधार पर चार प्रकार की परिषद् का निर्देश किया है। वैसे तो परिषद् के (१) ज्ञा (२) अज्ञा (३) दुविदग्धा ये तीन भेद होते हैं। गुण दोष के विवेचन में हंसनी के समान और गंभीर विचारणा के द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को अवगत करने वाली को "ज्ञा" परिषद् कहते हैं। अल्प ज्ञान वाली परन्तु सहज में ही उपदेश को ग्रहण करने में समर्थ परिषद् का नाम "अज्ञा" है। इन दोनों से भिन्न को दुविदग्धा कहते हैं।

(२) इस समग्र पाठ के लिये देखो भगवती सूत्र, श० १, उ० १, सू० ७।

(३) अन्ते समीपे वसतीत्येव शीलोऽन्तेवासी—शिष्य, अन्तेवासी सम्यग् आज्ञाविधायी, इतिभाव.।

तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियग्गामे णगरे उच्चणीयमज्झिमकुलाई घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह। तए णं भगवं गोयमे समणेणं ३ अब्भणुण्णाते समाणे समणस्स ३ अंतियातो पडिनिक्खमति, अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतरपलोयणाते दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे "—इस पाठ का स्मरण करना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है। इस समग्रपाठ का भावार्थ इस प्रकार है—

तपोमय जीवन व्यतीत करने वाले भगवान् गौतम स्वामी निरन्तर षष्ठतप—बेले २ पारना, द्वारा आत्म-शुद्धि में प्रवृत्त होते हुए पारणे के दिन प्रथम पहर में स्वाध्याय करते, दूसरे में ध्यानारूढ होते, तीसरे पहर में कायिक और मानसिक चापल्य से रहित होकर मुखवस्त्रिका की तथा भाजन एवं वस्त्रों की प्रतिलेखना करते हैं। तदनन्तर पात्रों को झोली में रख कर और झोली को ग्रहण कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में उपस्थित होकर वन्दना नमस्कार करने के पश्चात् निवेदन करते हैं कि भगवन्! आप की आज्ञा हो तो मैं बेले के पारणे के निमित्त भिक्षार्थ वाणिजग्राम में जाना चाहता हूं। प्रभु के "—जैसा तुमको सुख हो करो परन्तु विलम्ब मत करो—" ऐसा कहने पर वे—गौतम स्वामी भगवान् के पास से चल कर ईर्यासमिति का पालन करते हुए वाणिजग्राम में पहुंच जाते हैं, वहां साधु वृत्ति के अनुसार धनी निर्धन आदि सभी घरों में भ्रमण करते हुए राजमार्ग में पधार जाते हैं।

वहां पहुंचने पर गौतम स्वामी ने जो कुछ देखा अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—(१)तत्थ णं बहवे हत्थी पासति, सन्नद्धबद्धवम्मियगुडिते, उप्पीलियकच्छे, उद्दामियघंटे, णाणामणिरयणविविहगेविज्जउत्तरकंचुइज्जे, पडिकप्पिते, झयपडागवरपंचामेल—आरूढहत्थारोहे गहियाउहपहरणे। अण्णे य तत्थ बहवे आसे पासति, सन्नद्धबद्धवम्मियगुडिते, आविद्धगुडे, ओसारियपक्खरे, उत्तरकंचुइय-ओचूलमुहचंडाधर-चामरथासकपरिमंडियकडीए, आरूढअस्सारोहे, गहियाउहपहरणे। अण्णे य तत्थ बहवे पुरिसे पासति, सन्नद्धबद्धवम्मियकवए, उप्पीलियसरासणपट्टीए, पिणद्धगेवेज्जे, विमलवरबद्धचिंधपट्टे, गहियाउहपहरणे। तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासति अवओडगबंधणं उक्खित्तकण्णनासं, नेहतुप्पियगत्तं, वज्झकरकडिजुयनियत्थं, कंठे गुणरत्तमल्लदामं, चुण्ण-

(१) छाया—तत्र बहून् हस्तिनः पश्यति, सन्नद्धबद्धवर्मिकगुडितान्, उत्पीडितकक्षान्, उद्दामितघण्टान्, नानामणिरत्नविविधग्रैवेयकोत्तरकञ्चुकितान्, प्रतिकल्पितान्, ध्वजपताकावरपञ्चापीडाऽऽरूढहस्त्यारोहान्, गृहीतायुधप्रहरणान्। अन्यांश्च तत्र बहूनश्वान् पश्यति, सन्नद्धबद्धवर्मिकगुडितान्, आविद्धगुडान्, अवसारितपक्खरान्, उत्तरकञ्चुकिताऽवचूलकमुखचण्डाधर-चामरस्थासकपरिमण्डितकटिकान्, आरूढाश्वारोहान्, गृहीतायुधप्रहरणान्। अन्यांश्च तत्र बहून् पुरुषान् पश्यति सन्नद्धबद्धवर्मितकवचान् उत्पीडितशरासनपट्टिकान्, पिनद्धग्रैवेयकान्, विमलवरबद्धचिन्ह-पट्टान् गृहीतायुधप्रहरणान्, तेषां च पुरुषाणां मध्यगतमेकं पुरुषं पश्यति, अवकोटकबन्धनम्, उत्कृत्तकर्णनासम्, स्नेहस्नेहितगात्रम् वध्यकरकटियुगनिवसितं, कण्ठे गुणरक्तमाल्यदामानं, चूर्णगुण्डितगात्रम्, सत्रस्तं, वध्यप्राणप्रियम् (वाह्यप्राणप्रियम्) तिलतिलं चैव छिद्यमानम्, काकणीमांसानि खाद्यमानम्, पापं, कर्कशतैर्हन्यमानम्, अनेकनरनारी-सपरिवृतं चत्वरे चत्वरे खण्डपटहेनोद्घोष्यमाणम्, इदं चैतद्रूपमुद्घोषणं शृणोति नो खलु देवानुप्रियाः! उज्झितकस्य दारकस्य कश्चिद् राजा वा राजपुत्रो वाऽपराध्यति, आत्मनस्तस्य स्वकानि कर्माण्यपराध्यन्ति।

गुडियगत्तं, वुणणयं, वज्भपाणपीयं, तिलंतिलं चेव छिज्जमाणं, कागणिमंसाइं खावियंतं पावं, कक्करसएहि हम्ममाणं, अणेगनरनारिसंपरिवुडं, चच्चरे चच्चरे खंडपडहएणं उग्घोसिज्जमाणं इमं च णं एयारूवं उग्घोसणं सुणेति—नो खलु देवाणुप्पिया ! उज्झियगस्स दारगस्स केई राया वा राय-पुत्ते वा अवरज्झति, अप्पणो से सयाइं कम्माइं अवरज्झंति ।

पदार्थ—तत्थ णं—वहा पर । **वहवे**—अनेक । **हत्थी**—हाथियों को । **पासति**—देखते हैं जो कि । **सन्नद्धबद्ध-वम्मियगुडिते**—युद्ध के लिये उद्यत हैं, जिन्हे कवच पहनाये हुए हैं तथा जिन्हों ने शरीर रक्षक उपकरण [झूला] आदि धारण किये हुए हैं । **उप्पीलिय-कच्छे**—दृढ उरोबन्धन-उदरबन्धन से युक्त हैं । **उद्दामियघंटे**—जिन के दोनो ओर घण्टे लटक रहे हैं । **णाणामणिरयणविविहगेविज्ज-उत्तरकंचुइज्जे**—नाना प्रकार के मणि, रत्न, विविध भाति के ग्रैवेयक—ग्रीवा के भूषण तथा बखतर विशेष से युक्त । **पडिकप्पिते**—परिकल्पित विभूषित अर्थात् कवचादि पूर्ण सामग्री से युक्त । **झयपडागवरपंचामेल-आरूढहत्थारोहे**—ध्वज और पताकाओं से सुशोभित, पच शिरोभूषणों से युक्त, तथा हस्त्यारोहों—हाथीवानों—हाथी को हाकने वालों से युक्त, अर्थात् उन पर महावत बैठे हुए हैं । **गहियाउहपहरणे**—आयुध और प्रहरण ग्रहण किये हुए हैं अर्थात्—उन हाथियों पर आयुध (वह शस्त्र जो फैंका नही जाता, तलवार आदि) तथा प्रहरण (वह शस्त्र जो फैंका जा सकता है, तीर आदि) लदे हुए हैं अथवा उन हाथियों पर बैठे हुए महावतो ने आयुधों और प्रहरणों को धारण किया हुआ है। **अण्णे य**— और भी । **तत्थ**—वहा पर । **वहवे**—बहुत से । **आसे**—अश्वों-घोडों को । **पासति**—देखते हैं जो कि । **सन्नद्धवद्धवम्मियगुडिते**—युद्ध के लिए उद्यत हैं, जिन्हें कवच पहनाये गये हैं, तथा जिन्हे शारीरिक रक्षा के उपकरण पहनाये गये हैं । **आविद्धगुडे**—सोने चादी की बनी हुई झूल से युक्त । **ओसारियपक्खरे**—लटकाये हुए तनुत्राण से युक्त । **उत्तरकंचुइयओचूलमुहचंडाधर-चामर-थासक परिमंडियकडीए**—बखतर विशेष से युक्त, लगाम से अन्वित मुख वाले क्रोध पूर्ण अधरों से युक्त तथा चामर, स्थासक (आभरण विशेष) से परिमंडित-विभूषित है कटि-भाग जिनका ऐसे । **आरूढअस्सारोहे**—जिन पर अश्वारोही घुडसवार आरूढ हो रहे हैं । **गहियाउहपहरणे**—आयुध और प्रहरण ग्रहण किए हुए हैं अर्थात् उन घोडो पर आयुध और प्रहरण लादे हुए हैं अथवा उन पर बैठने वाले घुडसवारो ने आयुधो और प्रहरणो को धारण किया हुआ है । **अण्णे य**—और भी । **तत्थ णं**—वहा पर । **पुरिसे**—पुरुषों को । **पासति**—देखते हैं, जोकि । **सन्नद्धवद्धवमियकवए**—कवच को धारण किये हुए हैं जो कवच दृढ बन्धनों से बन्धे हुए एव लोहमय कसूलकादि से युक्त हैं । **उप्पीलियसरासणपट्टीए**—जिन्हो ने शरासनपट्टिका-धनुष खेंचने के समय हाथ की रक्षा के लिये बाधा जाने वाला चर्मपट्ट चमडे की पट्टी, कस कर बाधी हुई है **पिणद्धगेविज्जे**—जिन्हों ने ग्रैवेयक कण्ठाभरण धारण किये हुए हैं । **विमलवरवद्धचिंधपट्टे**—जिन्होंने उत्तम तथा निर्मल चिन्हपट्ट-निशानी रूप वस्त्र खड धारण किए हुए हैं । **गहियाउहपहरणे**—जिन्हो ने आयुध और प्रहरण ग्रहण किये हुए हैं ऐसे पुरुषों को देखते हैं । **तेसिं च णं**—उन । **पुरिसाणं**—पुरुषों के । **मज्झगय** मध्यगत । **एगं**—एक । **पुरिसं**—पुरुष को । **पासति**—देखते हैं, **अवओडगवंधणं**—गले और दोनो हाथों को मोड कर पृष्ठभाग में जिस के दोनों हाथ रस्सी से बान्धे हुए हैं । **उक्कित्तकण्णनासं**—जिस के कान और नाक कटे हुए हैं । **नेहत्तुप्पियगत्त**—जिस का शरीर घृत से स्निग्ध किया हुआ है । **वज्झकरकडिजुयनियत्थं**—जिस के कर और कटिप्रदेश में वध्यपुरुषोचित वस्त्र-युग्म धारण किया हुआ है । अथवा बन्धे हुए हाथ जिस के कडियुग (हथ-

कड़ियों) पर रखे हुए हैं अर्थात् जिस के दोनों हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं। **कंठे गुणरत्तमल्लदामं**—जिस के कण्ठ में कण्ठसूत्र-धागे के समान लाल पुष्पों की माला है। **चुण्णगुंडियगत्तं**—जिस का शरीर गेरु के चूर्ण से पोता हुआ है। **चुण्णयं**—जो कि भय से त्रास को प्राप्त हो रहा है। **वज्झपाणपीय**—जिसे प्राण प्रिय हो रहे हैं अर्थात् जो जीवन का इच्छुक है। **तिलं तिलं चेव छिज्जमाणं** जिस को तिल तिल कर के काटा जा रहा है। **काकणीमंसाइं खाविज्जंतं**—जिसे शरीर के छोटे छोटे मांस के टुकड़े खिलाये जा रहे हैं अथवा जिस के मांस के छोटे २ टुकड़े काक आदि पक्षियों के खाने योग्य हो रहे हैं। **पावं**—पापी पापात्मा। **कक्करसएहिं**—सैंकड़ों पत्थरों से अथवा सैंकड़ों चाबुकों से। **हम्ममाणं**-मारा जा रहा है। **अणेगनरनारीसंपरिवुडं**—जो अनेक स्त्री पुरुषों से घिरा हुआ है। **चच्चरे चच्चरे**—प्रत्येक चत्वर [जहां पर चार से अधिक रास्ते मिलते हैं उसे चत्वर कहते हैं] में। **खंडपडहएणं**-फूटे हुए ढोल से। **उग्घोसिज्जमाणं**—उद्घोषित किया जा रहा है। वहां पर। इस **च णं एयारूवं**-इस प्रकार की। **उग्घोसणं**—उद्घोषणा को। **सुणेति**—सुनते हैं। **एवं खलु देवाणुप्पिया!**—इस प्रकार निश्चय ही हे महानुभावो!। **उज्झियगस्स दारगस्स**—उज्झितक नामक बालक का। **केई** किसी। **राया वा** राजा अथवा। **रायपुत्ते वा**-राजपुत्र ने। **नो अवरज्झति**—अपराध नहीं किया किन्तु **से**—उस के। **सयाइं कम्माइं**—अपने ही कर्मों का। **अवरज्झति**—अपराध—दोष है।

मूलार्थ—वहां-राजमार्ग में उन्हों ने—भगवान गौतम स्वामी ने अनेक हाथियों को देखा, जो कि युद्ध के लिये उद्यत थे, जिन्हें कवच पहनाए हुए थे और जो शरीररक्षक उपकरण-झूल आदि से युक्त थे तथा जिन के उदर—पेट दृढ़ बन्धन से बान्धे हुए थे। जिनके झूले के दोनों ओर बड़े २ घण्टे लटक रहे थे एवं जो मणियों और रत्नों से जड़े हुए ग्रैवेयक (कण्ठाभूषण) पहने हुए थे तथा जो उत्तरकंचुक नामक तनुत्राण विशेष एवं अन्य कवचादि सामग्री धारण किये हुए थे। जो ध्वजा, पताका तथा [1] पञ्चविध शिरोभूषणों से विभूषित थे। एवं जिन पर आयुध और प्रहरणादि लिये हुए हाथीवान-महावत सवार हो रहे थे अथवा जिन पर आयुध और प्रहरण लदे हुए थे।

इसी भांति वहां पर अनेक अश्वों को देखा, जोकि युद्ध के लिये उद्यत तथा जिन्हें कवच पहनाये हुए थे, और जिन्हें शारीरिक उपकरण धारण कराये हुए थे। जिन के शरीर पर झूलें पड़ी हुई थीं, जिनके मुख में लगाम दिये गये थे और जो क्रोध से अधरों-होठों को चबा रहे थे। एवं चामर तथा स्थासक-आभरण विशेष से जिन का कटिभाग विभूषित हो रहा था और जिन पर बैठे हुए घुड़सवार आयुध और प्रहरणादि से युक्त थे अथवा जिन पर आयुध और प्रहरण लदे हुए थे।

इसी प्रकार वहां पर बहुत से पुरुषों को देखा, जिन्हों ने दृढ़ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलकादि से युक्त कवच शरीर पर धारण किये हुए थे। उनकी भुजा में शरासन पट्टिका—धनुष खैंचते समय हाथ की रक्षा के निमित्त बांधी जाने वाला चमड़े की पट्टी—बंधी हुई थी। गले में आभूषण धारण किये हुए थे। और उनके शरीर पर उत्तम चिन्हपट्टिका-वस्त्रखण्डनिर्मित चिन्ह-निशानीविशेष लगी हुई थी तथा आयुध और प्रहरणादि को धारण किये हुए थे।

(१) हाथी के शिर के पांच आभूषण बतलाए गए हैं जैसे कि—तीन ध्वजाएं और उन के बीच में दो पताकाएं।

उन पुरुषो के मध्य मे भगवान् गौतम ने एक और पुरुष को देखा जिस के गले और हाथो को मोड कर पृष्ठ—भाग के साथ दोनो हाथो को रस्सी से बान्धा हुआ था। उस के कान और नाक कटे हुए थे। शरीर को घृत से स्निग्ध किया हुआ था, तथा वह वध्य-पुरुषोचित वस्त्र—युग्म से युक्त था अर्थात उसे वध करने के योग्य पुरुष के लिये जो दो वस्त्र नियत होते हैं वे पहनाये हुए थे अथवा जिस के दोनो हाथो मे हथकडियां पडी हुई थीं, उसके गले मे कण्ठसूत्र के समान रक्त पुष्पो की माला थी और उसका शरीर गेरु के चूर्ण से पोता गया था। जो भय से सन्त्रस्त तथा प्राण धारण किये रहने का इच्छुक था, उस के शरीर को तिल तिल करके काटा जा रहा था और शरीर के छोटे छोटे मास—खड उसे खिलाये जा रहे थे अथवा जिस के मास के छोटे २ टुकडे काक आदि पक्षियो के खाने योग्य हो रहे थे, ऐसा वह पापी पुरुष सैकडो पत्थरो या चाबुको से अवहनन किया जा रहा था और अनेको नर नारियों से घिरा हुआ प्रत्येक चुराहे आदि पर उद्घोषित किया जा रहा था अर्थात् जहां पर चार या इससे भी अधिक रास्ते मिले हुए हो ऐसे स्थानो पर फूटे हुए ढोल से उस के सम्बन्ध मे घोषणा—मुनादी की जा रही थी। जो कि इस प्रकार थी—

हे महानुभावो! उज्झितक बालक का किसी राजा अथवा राजपुत्र ने कोइ अपराध नही किया किन्तु यह इसके अपने ही कर्मों का अपराध है—दोष है। जो यह इस दुरवस्था को प्राप्त हो रहा है।

टीका—भिक्षा के लिये वाणिजग्राम नगर में भ्रमण करते हुए गौतम स्वामी राजमार्ग पर आ जाते हैं, वहा पर उन्होंने बहुत से हाथी, घोडे तथा सैनिको के दल को देखा। जिस तरह किसी उत्सव विशेष के अवसर पर अथवा युद्ध के समय हस्तियो, घोडो और सैनिको को शृगारित, सुसज्जित एव शस्त्र, अस्त्रादि से विभूषित किया जाता है उसी प्रकार वे हस्ती, घोडे और सैनिक हर प्रकार की उपयुक्त वेष-भूषा से सुसज्जित थे। उन के मध्य मे एक अपराधी पुरुष उपस्थित था, जिसे वध्य भूमी की ओर ले जाया जा रहा था, और नगर के प्रसिद्ध २ स्थानो पर उसके अपराध की सूचना दी जा रही थी। प्रस्तुत सूत्र मे हस्तियो घोडो और सैनिको के स्वरूप का वर्णन करने के अतिरिक्त उज्झितक कुमार नाम के वध्य—व्यक्ति की तात्कालिक दशा का भी बडा कारुणिक चित्र खैंचा गया है।

"**—सन्नद्धबद्धवम्मियगुडिते—सन्नद्धबद्धवर्मिकगुडितान्**"— इस पद की टीकाकार निम्न-लिखित व्याख्या करते हैं—

"**—सन्नद्धाः सन्नह्यो कृतसन्नाहा**[१] **तथा बद्धं वर्म—त्वक्त्राण—विशेषो येषां ते बद्ध-वर्माणस्त एव बद्धवर्मिकाः तथा गुडा महास्तनुत्राणविशेषः सा संजाता येषां ते गुडितास्ततः कर्मधारयोऽतस्तान्**"—अर्थात् सन्नद्ध—युद्ध के लिये उपस्थित होने जैसी सजावट किये हुए हैं अथवा युद्ध के लिये जो पूर्ण रूपेण तैयार हैं। बद्धवर्मिक—जिन पर वर्म—कवच बाधा गया है उन्हे बद्धवर्मा कहते हैं। स्वार्थ मे क-प्रत्यय होने से उन्हीं को बद्धवर्मिक कहा जाता है। गुडा का अर्थ है—शरीर को सुरक्षित रखने वाला महान झूल। गुडा—झूल से युक्त को गुडित कहते हैं। सन्नद्ध, बद्धवर्मिक, और

---

(१) "—सन्नाह—" पद के सस्कृत—शब्दार्थ कौस्तुभ मे तीन अर्थ किये हैं (१) कवच और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होने की क्रिया को, अथवा (२) युद्ध करने जाते जैसी सजावट को भी सन्नाह कहते हैं (३) कवच का नाम भी सन्नाह है (पृष्ठ ८९०)।

"—सन्नद्ध—" शब्द के भी अनेकों अर्थ लिखे हैं—युद्ध करने को लैस, तैयार, किसी भी वस्तु से पूर्णतया सम्पन्न होना आदि आदि।

गुडित इन तीनों पदों का कर्मधारय समास है। -

" -उप्पीलियकच्छे—उत्पीडितकक्षान् उत्पीडिता गाढतरबद्धा कक्षा उरोबन्धनं येषां ते तथा तान् " अर्थात् हाथी की छाती में बांधने की रस्सी को कक्षा कहते हैं । उन हस्तियों की कक्षा के द्वारा उदर—बन्धन बड़ी दृढ़ता के साथ किया हुआ है ताकि शिथिलता न होने पावे ।

"—उद्दामियघंटे -उद्दामित-घण्टान्, उद्दामिता अपनीतबन्धना प्रलम्बिता घण्टा येषां ते तथा तान् -" अर्थात् उद्दामित का अर्थ है बन्धन से रहित, लटकना तात्पर्य यह है कि झूल के दोनों ओर घण्टे लटक रहे हैं ।

"—णाणा-मणि-रयण-विविह-गेविज्ज-उत्तरकंचुइज्जे—नाना-मणिरत्न विविध ग्रैवेयक उत्तर-कञ्चुकितान् नानामणिरत्नानि विविधानि ग्रैवेयकानि ग्रीवाभरणानि उत्तरकञ्चुकाश्च तनुत्राणविशेषाः सन्ति येषां ते तथा तान्—" अर्थात् वे हाथी नाना प्रकार के मणि, रत्न, विविध भांति के ग्रैवेयक - ग्रीवाभरण और उत्तरकंचुक कवच आदि से विभूषित हैं। यदि मणि रत्न पद को व्यस्त न मानकर समस्त (एक मान) लिया जाय तो उसका अर्थ चक्रवर्ती के १४ रत्नों में से "एक मणिरत्न" यह होगा। परन्तु उसका प्रकृत में कोई सम्बन्ध नहीं है। कंठ के भूषण का नाम ग्रैवेयक है।

अथवा '—णाणामणिरयणविविहगेविज्जउत्तरकंचुइज्जे—" का अर्थ दूसरी तरह से निम्नोक्त हो सकता है ।

"—नानामणिरत्नखचितानि विविधग्रैवेयकानि येषां ते, नानामणिरत्नविविधग्रैवेयकाश्च, उत्तरकंचुकाश्च इति नानामणिरत्नविविधग्रैवेयकउत्तरकंचुका ते सजाता येषां ते, तानिति भाव. —" अर्थात् – हाथियों के गले में ग्रैवेयक डाले हुए हैं, जो कि अनेकविध मणियों एवं रत्नों से खचित थे, और उन हाथियों के उत्तरकंचुक भी धारण किये हुए हैं।

"—पडिकप्पिए—परिकल्पितान्, कृतसन्नाहादिसामग्रीकान्—" अर्थात् परिकल्पित का अर्थ होता है सजाया हुआ। तात्पर्य यह है कि—उन हाथियों को कवचादि सामग्री से बड़ी अच्छी तरह से सजाया गया है ।

'—झय-पडाग-वर-पंचामेल-आरूढ-हत्थारोहे—ध्वज-पताका वर-पञ्चापीडारूढ हस्त्यारोहान्, ध्वजा —गरुडादिध्वजा, पताका —गरुडादिवर्जितास्ताभिर्वरा ये ते तथा पञ्च आमेलका —शेखरका येषां ते तथा आरूढा हस्त्यारोहा—महामात्रा येषु ते तथा—" अर्थात् जिस पर गरुड आदि का चिन्ह अंकित हो उसे ध्वजा और गरुडादि चिन्ह से रहित को पताका कहते हैं । आमेलक - फूलों की माला, जो मुकुट पर धारण की जाती है, अथवा शिरो भूषण को भी आमेलक कहते हैं । तात्पर्य यह है कि उन हस्तियों पर ध्वजा—पताका लहरा रही है और उन को पांच शिरो—भूषण पहनाए हुए हैं तथा उन पर हस्तिपक (महावत) बैठे हुए हैं ।

"—गहियाउहपहरणे—" गृहीतायुधप्रहरणान्, गृहीतानि आयुधानि प्रहरणाय येषु, अथवा आयुधान्यक्षेप्याणि प्रहरणानि तु क्षेप्याणीति—" अर्थात् सवारों ने प्रहार करने के लिये जिन पर आयुध-शस्त्र ग्रहण किये हुए हैं। यदि गृहीत पद का लादे हुए अर्थ करें तो इस समस्त पद का "—प्रहार करने के लिए जिन पर आयुध लादे हुए हैं —" ऐसा अर्थ होता है ।

अथवा —आयुध का अर्थ है- वे शस्त्र जो फैंके न जा सकें गदा, तलवार, बन्दूक आदि। तथा प्रहरण शब्द से फेंके जाने वाले शस्त्र, जैसे—तीर, गोला, बम्ब आदि का ग्रहण होता है । इस अर्थ —विचारणा से उक्त —वाक्य का—जिन पर आयुध और प्रहरण अर्थात् न फेंके जाने वाले और फेंके जाने वाले शस्त्र लदे हुए हैं, या सवारों ने ग्रहण किये हुए हैं, — यह अर्थ सम्पन्न होता है ।

इस भांति गौतम स्वामी ने राजमार्ग मे सब तरह से सुसज्जित किये हुए घोड़े देखा। घोडों के विशेषणों की व्याख्या हाथियों के विशेषणों के तुल्य जान लेनी चाहिये, परन्तु जिन विशेषणों मे अन्तर है उन की व्याख्या निम्नोक्त है—

"—**आविद्धगुडे**—' आविद्धगुडान्, आविद्धा परिहिता गुडा येषां ते तथा, अर्थात् उन घोडों को भूले पहना रखी हैं।

ऊपर के हस्तिप्रकरण मे गुडा का अर्थ भूल लिखा है जो कि एक हाथी का अलंकारिक उपकरण माना जाता है परन्तु प्रस्तुत अश्वप्रकरण में भी गुडा का प्रयोग किया है जब कि यह घोडा का उपकरण नहीं है। व्यवहार भी इसका साक्षी नहीं है फिर भी यहा गुडा का प्रयोग किया गया है, ऐसा क्यो है? इसका उत्तर स्वयं वृत्तिकार देते हैं

'—**गुडा च यद्यपि हस्तिनां तनुत्राणे रूढा तथापि देशविशेषापेक्षया अश्वानामपि संभवति**। अर्थात् गुडा (भूल) यद्यपि हस्तियो के तनुत्राण मे प्रसिद्ध है, फिर भी देशविशेष की अपेक्षा से यह घोड़ा के लिये संभव हो सकता है।

'—**ओसारियपक्खरे**—" अवसारितपक्खरान्, अवसारिता अवलम्बिता पक्खरा तनुत्राणविशेषा येषा ते तथा तान्—' अर्थात् पक्खर नामक तनुत्राण कवच लटक रहे हैं, तात्पर्य यह है कि उन घोडों को शरीर की रक्षा करने वाले पक्खर नामक कवच धारण करा रखे हैं।

'—**उत्तरकंचुइय—ओचूलमुहचंडाधरचामरथासक—परिमंडियकडिए**—" उत्तरकञ्चुकित-अवचूलक-मुखचण्डाधर—चामर—स्थासक—परिमण्डितकटिकान्, उत्तरकञ्चुक तनुत्राणविशेष एव येषामस्ति ते तथा, तथाऽवचूलकैर्मुखं चण्डाधरं—रौद्रावरौष्ठ येषा ते तथा तथा चामरैः स्थासकैश्च दर्पणैः परिमण्डिता कटी येषां ते तथा—" अर्थात् उत्तरकंचुक एक शरीर रक्षक उपकरणविशेष का नाम है, इस को वे घोडे धारण किये हुए हैं। अवचूल कहते हैं—घोड़े के मुख में दी जाने वाली वल्गा लगाम। उन घोड़ो के मुख लगामो से युक्त हैं इसलिये उनके अधरोष्ठ क्रोधपूर्ण एवं भयानक दिखाई देते हैं। और उन घोडों के कटि भाग चामरों (चामर-चमरी गाय के बालो से निर्मित होता है) और दर्पणों से अलंकृत हैं।

"—**आरुढ-अस्सारोहे**—" आरूढाश्वारोहान्, आरूढा अश्वारोहा येषु—" अर्थात् उन घोडों पर घुडसवार आरूढ हैं—बैठे हुए हैं।

तदनन्तर गौतम स्वामी ने नाना प्रकार के मनुष्यों को देखा। वे भी हर प्रकार से सन्नद्ध, बद्ध हो रहे हैं। पुरुषों के विशेषणों की व्याख्या निम्नोक्त है—

''—**सन्नद्ध-बद्ध-वम्मिय कवए**—सन्नद्धबद्ध—वर्मितकवचान्' की व्याख्या राज प्रश्नीय सूत्र मे श्री मलय गिरि जी ने इस प्रकार की है—

"**कवचं-तनुत्राणं, वर्म लोहमय-कसूलकादिरूपं संजातमस्येति वर्मितं, सन्नद्धं शरीरारोपणात् बद्धं गाढतरबन्धनेन बन्धनात्, वर्मितं कवचं येन स सन्नद्ध-बद्ध वर्मितकवच**" अर्थात् प्रस्तुत पदसमूह में चार पद हैं। इन में कवच (लोहे की कड़ियों के जाल का बना हुआ पहनावा जिसे योद्धा लडाई के समय पहनते हैं, ज़िरह बक़तर) विशेष्य है और १—सन्नद्ध २ बद्ध तथा ३—वर्मित ये तीनों पद विशेषण हैं। सन्नद्ध का अर्थ है—शरीर पर धारण किया हुआ। बद्ध शब्द से, दृढतर बन्धन मे बान्धा हुआ— यह अर्थ विवक्षित है और वर्मित पद लोहमय कसूलकादि मे युक्त का बोधक है'। साराश यह है कि उन मनुष्यों ने कवचों को शरीर पर धारण किया हुआ है जो कि मजबूत बन्धनों से बान्धे हुए हैं, एवं जो लोहमय कसूलकादि से युक्त हैं।

"—**उप्पीलियसरासणपट्टिए**—उत्पीडित-शरासन-पट्टिकान्, उत्पीडिता कृतप्रत्यञ्चारोपणा शरासनपट्टिका-धनुर्यष्टिर्बाहुपट्टिका वा यैस्ते तथा तान्—" अर्थात् उन पुरुषों ने धनुष की यष्टियों पर डोरियें लगा रक्खी हैं अथ च शरासनपट्टिका—धनुष खेंचने के समय भुजा की रक्षा के लिये बान्धी जाने वाली चमड़े की पट्टी को उन पुरुषों ने बान्ध रखा है।

शरासनपट्टिका पद की "—**शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽस्मिन्निति शरासनम्, इषुधिस्तस्य पट्टिका शरासनपट्टिका**—" यह व्याख्या करने पर इस का तूणीर (तरकश) यह अर्थ होगा अर्थात् उन पुरुषों ने तूणीर को धारण किया हुआ है।

"—**पिणद्धगेविज्जे**—" पिनद्धग्रैवेयकान्, पिनद्ध परिहित ग्रैवेयक यैस्ते तथा तान्—" अर्थात् उन पुरुषों ने ग्रैवेयक—कण्ठाभूषण धारण किए हुए हैं।

"—**विमलवरबद्धचिंधपट्टे**—" विमलवरबद्धचिन्हपट्टान्, विमलो वरो बद्धश्चिन्हपट्टो-नेत्रादि-मयो यैस्ते तथा तान्—" अर्थात्—उन पुरुषों ने निर्मल और उत्तम चिन्ह-पट्ट बान्धे हुए हैं। सैनिकों की पहचान तथा अधिकारविशेष की सूचना देने वाले कपड़े के बिल्ले चिन्हपट कहलाते हैं।

शस्त्र-अस्त्र आदि से सुसज्जित उन पुरुषों के मध्य में भगवान् गौतम स्वामी ने एक पुरुष को देखा। उस पुरुष का परिचय कराने के लिये सूत्रकार ने उस के लिये जो विशेषण दिए हैं, उनकी व्याख्या निम्न प्रकार से है—

"—**अवओडगबन्धणं**—अवकोटकबन्धन, रज्ज्वा गल हस्तद्वय च मोटयित्वा पृष्ठभागे हस्तद्व-यस्य बन्धन यस्य स तथा तम्—" अर्थात् गल और दोनों हाथों को मोड कर पृष्ठभाग पर रज्जू के साथ उस पुरुष के दोनों हाथ बान्धे हुए हैं। इस बन्धन का उद्देश्य है—वध्य व्यक्ति अधिकाधिक पीड़ित हो और वह भागने न पाए।

—"**उक्कित्तकण्णनासं**—उत्कृत्तकर्णनासम्, अर्थात् उस पुरुष के कान और नाक दोनों ही कटे हुए हैं। अपराधी के कान और नाक को काटने का अभिप्राय उसे अत्यधिक अपमानित एवं बिडम्बित करने में होता है।

"—**नेहतुप्पियगत्तं**—स्नेहस्नेहितगात्रम्, अर्थात् उस पुरुष के शरीर को घृत से स्निग्ध किया हुआ है। वध्य के शरीर को घृत से स्नेहित करने का पहले समय में क्या उद्देश्य होता था? इस सम्बन्ध में टीकाकार महानुभाव मौन हैं। तथापि शरीर को घृत से स्निग्ध करने का अभिप्राय उसे कोमल बना और उस पर प्रहार करके उस वध्य को अधिकाधिक पीडित करना ही सभव हो सकता है।

"—**वज्झ-करकडिजुयनियत्थं**—वध्य—करकटि—युग—निवसितम्, वध्यश्चासौ करयो.—हस्तयो. कट्या कटीदेशे युग-युग्म निवसित एव निवसितश्चेति समासोऽतस्तम् अथवा वध्यस्य यत्करटिकायुग—निन्द्यचीवरिकाद्वय तन्निवसितो य· स तथा तम्—" अर्थात् उस मनुष्य के हाथों और कमर में वस्त्रों का जोड़ा पहनाया हुआ था। **अथवा**—मृत्युदण्ड से दण्डित व्यक्ति को फांसी पर लटकाने के समय दो निन्द्य (घृणास्पद) वस्त्र पहनाए जाते हैं, उन निन्दनीय वस्त्रों को करकटि सज्ञा है। उस वध्य व्यक्ति को निन्दनीय वस्त्रों का जोडा पहना रखा है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन समय में ऐसी प्रथा थी कि वध्य पुरुष को अमुक वस्त्रयुगम (दो वस्त्र) पहनाया जाता था। उस वस्त्रयुगम को धारण करने वाला मनुष्य वध्य-कर-कटि-युग-निवसित कहलाता था।

"**वज्झ-कर-कडि-जुय-नियत्थ**—" इस पद का अर्थ अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है, जो कि निम्नोक्त है—

"बद्ध—कर—कडि—युग—न्यस्तम् बद्धो करौ कडियुगे न्यस्तौ—निक्षिप्तौ यस्य स तथा तम्, कडि इति लोहमय बन्धनं, हथकड़ी, इति भाषाप्रसिद्धम्—" अर्थात् उस वध्य पुरुष के दोनों हाथों में हथकडिया पड़ी हुई हैं।

"—कंठे गुणरत्तमल्लदामं—" कण्ठे गुणरक्त—माल्य दामानम्, कण्ठे—गले गुण इव कण्ठ-सूत्रमिव रक्त लोहित माल्यदाम पुष्पमाला यस्य स तथा तम् " अर्थात् उस वध्य पुरुष के गले मे गुण—डोरे के समान लाल पुष्पों की माला पहनाई हुई है। जो "—यह वध्य व्यक्ति है " इस बात की समूचिका है।

"—चुण्णगुंडियगत्तं—"चूर्णगुण्डितगात्रम्, चूर्णेन गैरिकेन गुण्डित—लिप्त गात्र—शरीर यस्य स तथा तम्—" अर्थात् उस वध्य पुरुष का शरीर गैरिक—गेरु के चूर्ण से सलिप्त हो रहा है, तात्पर्य यह है कि उस के शरीर पर गेरु का रग अच्छी तरह मसल रखा है। जो कि दर्शक को "—यह वध्य व्यक्ति है—" इस बात की ओर सकेत करता है।

"—वज्झपाणपीयं"—वध्य—प्राण—प्रियम्, अथवा बाह्यप्राणप्रियम् वध्या बाह्या वा प्राणा.—उच्छ्वासादय प्रतीता: प्रिया यस्य स तथा तम्—" अर्थात्—जिस को वध्य—वधार्ह (मृत्युदण्ड के योग्य) उच्छ्वास आदि प्राण प्रिय हैं, अथवा—उच्छ्वास आदि बाह्य प्राण जिस को प्रिय हैं तात्पर्य यह है कि वह वध्य पुरुष अपनी चेष्टाओं द्वारा "—मेरा जीवन किसी तरह से सुरक्षित रह जाय—" यह अभिलाषा अभिव्यक्त कर रहा है। वास्तव मे देखा जाए तो प्रत्येक जीव ही मृत्यु से भयभीत है। बुरी से बुरी अवस्था मे भी कोई मरना नही चाहता, सभी को जीवन प्रिय है। इसी जीवन-प्रियता का प्रदर्शन उस वध्य—व्यक्ति द्वारा अपनी व्यक्त या अव्यक्त चेष्टाओं द्वारा किया जा रहा है।

"—तिलं—तिलं चेव छिज्जमाणं—तिल—तिल चैव छिद्यमानम्—" अर्थात्—उस वध्य पुरुष का शरीर तिल तिल करके काटा जा रहा है, जिस प्रकार तिल बहुत छोटा होता है उस के समान उस के शरीरगत मास को काटा जा रहा है। अधिकारियों की ओर से जो वध्य व्यक्ति के साथ यह दुर्व्यवहार किया जा रहा है, जहा वह उन की महान् निर्दयता एव दानवता का परिचायक है वहा इस से यह भी भली भाति सूचित हो जाता है कि अधिकारी लोग उस वध्य व्यक्ति को अत्यन्तात्यन्त पीडित एव विडम्बित करना चाह रहे हैं।

"—काकणिमसाइं खावियंतं—काकणीमासानि खाद्यमानम्, काकणीमासानि तद्देहोत्कृत्त—ह्रस्वमासखण्डानि खाद्यमानम्, अर्थात्—उस वध्य पुरुष के शरीर से निकाले हुए छोटे छोटे मास के टुकडे उसी को खिलाए जा रहे हैं। अथवा "—कागणी लघुतराणि मांसानि—मांसखण्डानि काकादिभि खाद्यानि यस्य स तथा तम्—" ऐसी व्याख्या करने पर तो "—उस वध्य पुरुष के छोटे २ मास के टुकड़े काक आदि पक्षियों के खाद्य—भक्षणयोग्य हो रहे हैं " ऐसा अर्थ हो सकेगा।

इस के अतिरिक्त सूत्रकार ने उसे पापी कहा है जो कि उसके अनुरूप ही है। उस की वर्तमान दशा से उस का पापिष्ट होना स्पष्ट ही दिखाई देता है। तथा उसको सैकड़ों ककडों से मारा जा रहा है अर्थात् लोग उस पर पत्थरों की वर्षा कर रहे थे। इस विशेषण से जनता की उसके प्रति घृणा सूचित होती है।

टीकाकार ने "कक्करसएहिं हम्ममाणं" के स्थान में "—खक्खरसएहिं हम्ममाणं—" ऐसा पाठ मान कर उस की निम्न लिखित व्याख्या की है—

खर्वरा-अश्वोत्त्रासनाय चर्ममया वस्तुविशेषा· स्फुटितवंशा वा तैर्हन्यमानं ताड्यमानम्" अर्थात्

अश्व को सन्त्रस्त करने के लिये चमडे का चाबुक या टूटे हुए बांस वगैरह से उसे ताडित किया जा रहा है।

इस व्यक्ति की ऐसी दशा क्यों हो रही है ? उस के चारों ओर स्त्री पुरुषों का जमघट क्यों लगा हुआ है ? वह जनता के लिये एक घृणोत्पादक घटना—रूप क्यों बना हुआ है ? इस का उत्तर स्पष्ट है, उस ने कोई ऐसा अपराध किया है जिस के फल स्वरूप यह सब कुछ हो रहा है, बिना अपराध के किसी को दण्ड नहीं मिलता और अपराधी का दण्ड भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, यह एक प्राकृतिक नियम है। इसी के अनुसार यह उद्घोषणा थी कि इस व्यक्ति को कोई दूसरा दण्ड देने वाला नहीं है किन्तु इस के अपने कर्म ही इसे दण्ड दे रहे हैं अर्थात् राज्य की ओर से इस के साथ जो व्यवहार हो रहा है वह इसी के किये हुए कर्मों का परिणाम है।

मनुष्य जो कुछ करता है उसी के अनुसार उसे फल भोगना पड़ता है है । देखिए भगवान् महावीर स्वामी ने कितनी सुन्दर बात कही है—

[1]जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए ।
एगं तु दुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥२३॥
[श्री सूत्रकृतांग० अध्ययन ५, उद्दे० २]

अर्थात् जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, वही उस को दूसरे भव में प्राप्त होता है। जिस ने एकान्त दुःखरूप नरक भव का कर्म बान्धा है वह अनन्त दुःखरूप नरक को भोगता है।

उद्घोषणा एक खण्डपटह के द्वारा की जा रही थी। खण्डपटह फूटे ढोल का नाम है। उस समय घोषणा या मुनादि की यही प्रथा होगी और आज भी प्रायः ऐसी ही प्रथा है कि मुनादि करने वाला प्रसिद्ध २ स्थानों पर पहले ढोल पीटता या घंटी बजाता है फिर वह घोषणा करता है। इसी से मिलता जुलता रिवाज उस समय था।

राजमार्ग पर जहां कि चार, पांच रास्ते इकट्ठे होते हैं-यह घोषणा की जा रही है कि हे महानुभावो ! उज्झितक कुमार को जो दण्ड दिया जा रहा है इस में कोई राजा अथवा राज—पुत्र कारण नहीं अर्थात् इस में किसी राज -कर्मचारी आदि का कोई दोष नहीं, किन्तु यह सब इस के अपने ही किये हुए पातकमय कर्मों का अपराध है दूसरे शब्दों में कहें तो इस को दण्ड देने वाले हम नहीं हैं किन्तु इस के अपने कर्म ही इसे दण्डित कर रहे हैं।

इस उल्लेख में, फलप्रदाता कर्म ही है कोई अन्य व्यक्ति नहीं यह भी भली भांति सूचित किया गया है।

उज्झितक कुमार की इस दशा को देखकर श्री गौतम स्वामी के हृदय में क्या विचार उत्पन्न हुआ और उस के विषय में उन्हों ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से क्या कहा ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[2]तते णं से भगवओ गोतमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिते ५

---

(१) यद् यादृशं पूर्वमकार्षीत् कर्म तदेवागच्छति सम्पराये।
एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा वेदयन्ति दुःखिनस्तमनन्तदुःखम् ॥

(२) छाया—ततस्तस्य भगवतो गौतमस्य तं पुरुषं दृष्ट्वाऽयमाध्यात्मिकः ५ समुदपद्यत, अहो अयं पुरुषः यावद् निरयप्रतिरूपां वेदनां वेदयति, इति कृत्वा वाणिजग्रामे नगरे उच्चनीचमध्यमकुले अटन् यथापर्याप्तं समुदानं (भैक्ष्यम्) गृह्णाति गृहीत्वा वाणिजग्रामस्य नगरस्य मध्यमध्येन यावत् प्रतिदर्शयति श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—एवं खलु अहं भदन्त ! युष्मा-

समुप्पज्जित्था, अहो णं इमे पुरिसे जाव निरयपडिरूवियं वेयणं वेदेति, त्ति कट्टु वाणियग्गामे णगरे उच्चनीयमज्झिमकुले अडमाणे अहापज्जत्तं समुयाणं गेण्हति २ त्ता वाणियग्गामं नगरं मज्झंमज्झेणं जाव पडिदंसति. समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसति २ एवं वयासि-एवं खलु अहं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे वाणियग्गामे तहेव जाव वेएति । से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसि ? जाव पच्चणुभवमाणे विहरति ?

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर। से—उस। भगवतो गोतमस्स—भगवान् गौतम को। तं पुरिसं—उस पुरुष को। पासित्ता—देख कर। इमे—यह। अज्झत्थिते—आध्यात्मिक-संकल्प। समुप्पज्जित्था—उत्पन्न हुआ। अहो णं—अहह—खेद है कि। इमे पुरिसे—यह पुरुष। जाव—यावत्। निरयड़िरूवियं—नरक के सदृश। वेयणं—वेदना का। वेदेति—अनुभव कर रहा है। त्ति कट्टु—ऐसा विचार कर। वाणियग्गामे—वाणिजग्राम नामक। णगरे—नगर में। उच्चनीयमज्झिमकुले—ऊंचे नीचे—धनिक निर्धन तथा मध्य कोटी के गृहों में। अड़माणे—भ्रमण करते हुए। अहापज्जत्तं—आवश्यकतानुसार। समुयाणं—सामुदानिक—भिक्षा, गृहसमुदाय से प्राप्त भिक्षा। गेण्हति २त्ता—ग्रहण करते हैं, ग्रहण कर के। वाणियग्गामं नगरं—वाणिज—ग्राम नगर के। मज्झंमज्झेणं—मध्य में से। जाव—यावत्। पडिदंसति—भगवान् को भिक्षा दिखलाते हैं तथा। समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को। वंदति णमंसति—वन्दना और नमस्कार करते हैं, वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर। एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगे। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। भंते !—हे भगवन् !। अहं—मैं। तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे—आप श्री से आज्ञा प्राप्त कर। वाणियग्गामे—वाणिजग्राम नगर में गया। तहेव—तथैव। जाव—यावत्, एक पुरुष को देखा जो कि नरक सदृश वेदना को। वेएति—अनुभव कर रहा है। भंते !—हे भगवन् !। से णं—वह। पुरिसे—पुरुष। पुव्वभवे—पूर्वभव में। के आसि—कौन था ?। जाव—यावत्। पच्चणुभवमाणे—वेदना का अनुभव करता हुआ। विहरति—समय बिता रहा है ?

मूलार्थ—तदनन्तर उस पुरुष को देख कर भगवान् गौतम को यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि अहो ! यह पुरुष कैसी नरक तुल्य वेदना का अनुभव कर रहा है। तत्पश्चात् वाणिजग्राम नगर में उच्च, नीच, मध्यम अर्थात् धनिक, निर्धन और मध्य कोटि के घरों में भ्रमण करते हुए आवश्यकतानुसार भिक्षा लेकर वाणिजग्राम नगर के मध्य में से होते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास आये और उन्हें लाई हुई भिक्षा दिखलाई। तदनन्तर भगवान् को वन्दना नमस्कार करके उन से इस प्रकार कहने लगे—

हे भगवन् ! आप की आज्ञा से मैं भिक्षा के निमित्त वाणिज—ग्राम नगर में गया और वहां मैंने नरक सदृश वेदना का अनुभव करते हुए एक पुरुष को देखा। भदन्त ! वह पुरुष पूर्व भव में कौन था ? जो यावत् नरक तुल्य वेदना का अनुभव करता हुआ समय बिता रहा है ?

टीका—भगवान् से आज्ञा प्राप्त कर भिक्षा के निमित्त भ्रमण करते हुए गौतम स्वामी ने वहां

भिरभ्यनुज्ञातः सन् वाणिजग्रामे तथैव यावत् वेदयति । स भदन्त ! पुरुषः पूर्वभवे कः आसीत् ? यावत् प्रत्यनुभवन् विहरति ?

के राजमार्ग में जो कुछ देखा और देखने के बाद उस पुरुष की पापकर्मजन्य हीनदशा पर विचार करते हुए वे वापिस भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए और लाई हुई भिक्षा दिखाकर उन को वन्दना नमस्कार करके वहां का अथ से इति पर्यन्त सम्पूर्ण वृत्तान्त भगवान से कह सुनाया । सुनाने के बाद उस पुरुष के पूर्व–भव–सम्बन्धी वृत्तान्त को जानने की इच्छा से भगवान् से गौतम स्वामी ने पूछा कि भदन्त ! यह पुरुष पूर्वभव में कौन था ? कहां रहता था ? और उस का क्या नाम और गोत्र था ? एवं किस पापमय कर्म के प्रभाव से वह इस हीन दशा का अनुभव कर रहा है ?

'अज्झत्थिते ५'' यहां दिये हुए ५ के अंक से—' कप्पिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए, संकप्पे—'' इस समग्र पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभीष्ट है। आध्यात्मिक का अर्थ आत्मगत होता है। कल्पित शब्द हृदय में उठने वाली अनेक-विध कल्पनाओं का वाचक है । चिन्तित शब्द से—बार बार किए गए विचार, यह अर्थ अभिमत है। प्रार्थित पद का अर्थ है—इस दशा का मूल कारण क्या है इस जिज्ञासा का पुनः २ होना। मनोगत शब्द—जो विचार अभी बाहिर प्रकट नहीं किया गया, केवल मन में ही है—इस अर्थ का परिचायक है। संकल्प शब्द सामान्य विचार के लिये प्रयुक्त होता है ।

"—अहो णं इमे पुरिसे जाव निरय—" इस वाक्य में पठित " —जाव - यावत् —" पद से "—अहो णं इमे पुरिसे पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे विहरइ, न मे दिट्ठा नरगा वा नेरइया वा पच्चक्खं खलु अयं पुरिसे निरय—पडिरूवियं वेयणं वेएइ त्ति कट्टु —" इस समग्रपाठ का ग्रहण करना । इस पाठ की व्याख्या प्रथम अध्ययन के पृष्ठ ४७ पर कर दी गई है। पाठक वहीं से देख सकते हैं ।

"—मज्झंमज्झेणं जाव पडिदंसेति—" यहां पठित "—जाव-यावत्—" पद से "—निग्गच्छति २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ एसणमणेसणं आलोएइ २ भत्तपाणं—इन पदों का ग्रहण समझना। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

वाणिजग्राम नगर के मध्य में से हो कर निकले, निकल कर जहां भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां पर आए, आकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट बैठ कर गमनागमन का प्रतिक्रमण किया अर्थात् आने और जाने में होने वाले दोषों से निवृत्ति की, तदनन्तर एषणीय (निर्दोष) और अनेषणीय (सदोष) आहार की आलोचना (विचारणा अथवा प्रायश्चित के लिये अपने दोषों को गुरु के सन्मुख निवेदन करना) की, तदनन्तर भगवान वीर को आहार पानी दिखलाया ।

"—तहेव जाव वेएति—" यहां पठित "—तहेव तथैव—" पद का अभिप्राय है—भगवान से आज्ञा ले कर जैसे अनगार गौतम बेले के पारणे के लिये गये थे इत्यादि वैसा कह लेना अर्थात् गौतम स्वामी भगवान् से कहने लगे—प्रभो ! आप की आज्ञा लेकर मैं वाणिजग्राम नगर के उच्च नीच और मध्य सभी घरों में भिक्षार्थ भ्रमण करता हुआ राजमार्ग पर पहुँच गया, वहां मैंने हाथी देखे इत्यादि वर्णन जो सूत्रकार पहले कर आए हैं उसी को तथैव—वैसे ही, इस पद से अभिव्यक्त किया गया है । और "—जाव-यावत्—" पद से वर्णक—प्रकरण को संक्षिप्त किया गया है । वह वर्णक-पाठ निम्नोक्त है —

"—नयरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलानि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे जेणेव

रायमग्गे तेणेव ओगाढे, तत्थ णं बहवे हत्थी पासमि सन्नद्धबद्धवम्मियगुडिते-से ले कर-अहो णं इमे पुरिसे जाव निरयपडिरूवियं वेयणं—" यहां तक के पाठ का ग्रहण सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों की व्याख्या इसी अध्ययन के पृष्ठ १२१ से लेकर १३१ तक के पृष्ठों में कर दी गई है।

"—आसि ? जाव पच्चणुभवमाणे—" यहां पठित "—जाव—यावत्—" पद से किंनामए वा किंगोत्तए वा कयरंसि गामंसि वा नगरंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरित्ता केसिं वा पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं असुहाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं—" इन पदों का ग्रहण करना। इन पदों की व्याख्या पृष्ठ ५१ पर की जा चुकी है।

समुदान—शब्द का कोषकारों ने "—भिक्षा, या १२ कुल की, या ऊंच कुल समुदाय की गोचरी—भिक्षा—" ऐसा अर्थ लिखा है। परन्तु आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पिण्डैषणाध्ययन के द्वितीय उद्देश में आहार—ग्रहण की विधि का वर्णन बड़ा सुन्दर किया गया है। वहां लिखा है—

साधु, (१) उग्रकुल (२) भोगकुल, (३) राजन्यकुल, (४) क्षत्रियकुल, (५) इक्ष्वाकुकुल, (६) हरिवंश कुल (७) गोष्ठकुल (८) वैश्यकुल, (९) नापितकुल, (१०) वर्धकिकुल, (११) ग्रामरक्षककुल (१२) तन्तुवायकुल, इन कुलों और इसी प्रकार के अन्य अनिन्द्य एवं प्रामाणिक कुलों में भी भिक्षा के लिये जा सकता है। सारांश यह है कि अनेक घरों से थोड़ी २ ग्रहण की गई भिक्षा[1] को समुदान कहते हैं।

तथा "**भिक्षा ला कर दिखाना**" इस में विनय सूचना के अतिरिक्त शास्त्रीय नियम का भी पालन होता है। गोचरी करने वाले भिक्षु के लिये यह नियम है कि भिक्षा ला कर वह सब से प्रथम पूजनीय रात्निक रत्नाधिक ज्ञानदर्शन और चारित्र में श्रेष्ठ, अथवा साधुत्व प्राप्ति की अवस्था से बड़ा, दीक्षा वृद्ध। को दिखावे अन्य को नहीं। दूसरे शब्दों में साधु गृहस्थों से साधुकल्प के अनुसार चारों प्रकार का भोजन एकत्रित कर सर्व प्रथम रत्नाधिक को ही दिखावे। यदि वह गुरु आदि से पूर्व ही किसी शिष्य आदि को दिखाता है तो उसको [2]आशातना लगती है। कारण कि ऐसा करना विनय-धर्म की अवहेलना करना है। आगमों में भी यही आज्ञा है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में लिखा है—

---

(१) स्थानांग आदि सूत्रों में निग्रन्थ—साधु को नौ कोटियों से शुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान लिखा है। नौ कोटियां निम्नोक्त हैं—

(१) साधु आहार के लिये स्वयं जीवों की हिंसा न करे (२) दूसरे द्वारा हिंसा न करावे (३) हिंसा करते हुए का अनुमोदन न करे अर्थात् उस की प्रशंसा न करे, (४) आहार आदि स्वयं न पकावे, (५) दूसरे से न पकवावे (६) पकाते हुए का अनुमोदन न करे (७) आहार आदि स्वयं न खरीदे, (८) दूसरे को खरीदने के लिये न कहे, (९) खरीदते हुए किसी व्यक्ति का अनुमोदन न करे। ये समस्त कोटियां मन, वचन और काया रूप तीनों योगों से ग्रहण करनी होती हैं।

(२) "**आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणः तस्य शातना—खण्डना इत्याशातना**—"अर्थात्—जिस क्रिया के करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ह्रास अथवा भंग होता है उस को आशातना कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो—अविनय या असभ्यता का नाम आशातना है—यह कहा जा सकता है।

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पड़िगाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स उवदंसेइ पच्छा रायणियस्स आसायणा सेहस्स[1] । [दशाश्रुत० ३ दशा, १५]

अर्थात् शिष्य, अशन पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों को लेकर गुरुजनों से पूर्व ही यदि शिष्य आदि को दिखाता है तो उस को आशातना लगती है ।

तथा आहार दिखलाने के बाद फिर आलोचना करनी भी [2]अत्यावश्यक है । तात्पर्य यह है कि अमुक पदार्थ अमुक गृहस्थ के घर से प्राप्त किया अमुक गृहस्थ ने इस प्रकार भिक्षा दी अमुक मार्ग में अमुक पदार्थ का अवलोकन किया एवं अमुक दृश्य को देख कर अमुक प्रकार की विचार धारा उत्पन्न हुई इत्यादि प्रकार की आलोचना भी सर्व प्रथम रत्नाधिक से ही करे अन्यथा आशातना लगती है जिस से सम्यग् दर्शन में क्षति पहुचने की सम्भावना रहती है इसी शास्त्रीय दृष्टि को सन्मुख रख कर गौतम स्वामी ने लाया हुआ आहार सर्व प्रथम भगवान् को ही दिखलाया तदनन्तर वन्दना नमस्कार कर के अपनी गोचरी-यात्रा में उपस्थित हुआ सम्पूर्ण दृश्य उनके सन्मुख अपने शब्दों में उपस्थित किया । तदनन्तर जिज्ञासु भाव से गौतम स्वामी ने भगवान् के सन्मुख उपस्थित हो कर उस वध्य पुरुष के पूर्वभव के विषय में पूछा ।

यहां पर सन्देह होता है कि गौतम स्वामी स्वयं चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता और चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यव, के धारक थे ऐसी अवस्था में उन्हों ने भगवान् से पूछने का क्या यत्न किया ? क्या वे उस व्यक्ति के पूर्वभव को स्वयं नहीं जान सकते थे ?

इस विषय में आचार्य अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र श० १ उद्दे० १ में स्वयं शंका उठा कर उस का जो समाधान किया है, उस का उल्लेख कर देना ही हमारे विचार में पर्याप्त है । आप लिखते हैं—

"—अथ कस्माद् भगवन्तं गौतमः पृच्छति ? विरचितद्वादशाङ्गतया, विदितसकलश्रुतविषयत्वेन, निखिलसंशयातीतत्वेन च सर्वज्ञकल्पत्वात्तस्य आह च—

[3]संखाइए उ भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । ण य णं अणाइसेसी वियाणइ एस छउमत्थो ॥१॥ इति नैवम् उक्तगुणत्वेऽपि छद्मस्थतयाऽनाभोगसंभवाद्, यदाह—

नहि नामाऽनाभोगः छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । यस्माद् ज्ञानावरणं ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥१॥ इति, अथवा जानत एव तस्य प्रश्न संभवति, स्वकीयबोधसंवादनार्थम्, अज्ञलोकबोधनार्थम्, शिष्याणां वा स्ववचसि प्रत्ययोत्पादनार्थम्, सूत्ररचनाकल्पसंपादनार्थश्चेति—" । इन शब्दों का भावार्थ निम्नोक्त है—

प्रश्न—गौतम स्वामी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि द्वादशांगी के रचयिता हैं, सकलश्रुत-विषय के ज्ञाता हैं, निखिल संशयों से अतीत—रहित (जिन के सम्पूर्ण संशय विनष्ट हो चुके) हैं तथा जो

---

(१) छाया—शैक्षोऽशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्रतिगृह्य तत्पूर्वमेव शैक्षतरकस्योपदर्शयति पश्चाद् रात्निकस्याशातना शैक्षस्य ।

(२) उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा । आलोए गुरुसगासे जं जहा गहियं भवे ॥ ९० ॥ (दशवैकालिक सू० अ० ५ उ० १ ।)

(३) संख्यातीतांस्तु भवान् कथयति यद् वा परस्तु पृच्छेत् । न चानतिशेषी विजानात्येष छद्मस्थः ॥१॥

सर्वज्ञकल्प अर्थात् सब जानातीति सर्वज्ञ, -विश्व के भूत् भविष्यत् और वर्तमान कालीन समस्त पदार्थों का यथावत् ज्ञान रखने वाला, के समान हैं। कहा भी है कि दूसरों के पूछने पर यह छद्मस्थ (सम्पूर्ण ज्ञान से वञ्चित) गौतम स्वामी संख्यातीत भवों—जन्मों का कथन करने वाले और अतिशय ज्ञान वाले हैं फिर उन्हों ने अर्थात् अनगार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से यह प्रश्न - कि भदन्त! यह व यपुरुष पूर्वभव में कौन था? आदि क्या पूछा? सारांश यह है कि छद्मस्थ भगवान् गौतम जब कि दूसरों के पूछने पर संख्यातीत भवों का वर्णन करने वाले अथ च संशयातीत माने जाते हैं तो फिर उन्हों ने भगवान् के सन्मुख अपने संशय को समाधानार्थ क्यों रखा?

उत्तर—उपरोक्त प्रश्न का समाधान यह है कि शास्त्र में गौतम स्वामी के जितने गुण वर्णन किये गये हैं उन में वे सभी गुण विद्यमान हैं, वे सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता भी हैं और संशयातीत भी हैं। ये सब होने पर भी गौतम स्वामी अभी छद्मस्थ हैं छद्मस्थ होने से उन में अपूर्णता का होना असंभव नहीं अर्थात् छद्मस्थ में ज्ञानातिशय होने पर भी न्यूनता—कमी रहती ही है, इसलिये कहा है कि छद्मस्थ के अनाभोग (अपरिपूर्णता अथवा अनुपयोग) नहीं है, यह बात नहीं है तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ का आत्मा 'विकास की उच्चतर भूमिका तक तो पहुँच जाता है परन्तु वह आत्मविकास की पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अभी उस में ज्ञान को आवृत करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म की सत्ता विद्यमान है, जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का समूल नाश नहीं होता तब तक आत्मा में तद्गत शक्तियों का पूर्णविकास नहीं होता इसलिये चतुर्विध ज्ञान सम्पन्न होने पर भी गौतम स्वामी में छद्मस्थ होने के कारण उपयोगशून्यता का अंश विद्यमान था जिस का केवली—सर्वज्ञ में सर्वथा असद्भाव होता है।

एक बात और है कि यह नियम नहीं है कि अनजान ही प्रश्न करे जानकार न करे। जो जानता है वह भी प्रश्न कर सकता है। कदाचित् गौतम स्वामी इन प्रश्नों का उत्तर जानते भी हों तब भी प्रश्न करना संभव है। आप कह सकते हैं कि जानी हुई बात को पूछने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर यह है कि उस बात पर अधिक प्रकाश डलवाने के लिये अपना बोध बढ़ाने के लिये, अथवा जिन लोगों को प्रश्न पूछना नहीं आता, या जिन्हें इस विषय में विपरीत धारणा हो रही है उन के लाभ के लिये, उन्हें बोध कराने के लिये गौतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछा है। भले ही गौतम स्वामी उस प्रश्न का समाधान करने में समर्थ होंगे तथापि भगवान् के मुखारविन्द से निकलने वाला प्रत्येक शब्द विशेष प्रभावशाली और प्रमाणिक होता है, इस विचार से ही उन्हों ने भगवान के द्वारा इस प्रश्न का उत्तर चाहा है।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी जानते हुए भी अनजानों की वकालत करने के लिये, अपने ज्ञान में विशदता लाने के लिये, शिष्यों को ज्ञान देने के लिये और अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न कराने लिये यह प्रश्न कर सकते हैं।

अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न कराने का अर्थ यह है—मान लीजिये किसी महात्मा ने किसी जिज्ञासु को किसी प्रश्न का उत्तर दिया, लेकिन उस जिज्ञासु को यह संदेह उत्पन्न हुआ कि इस विषय में भगवान् न मालूम क्या कहते? उस ने जा कर भगवान् से वही प्रश्न पूछा। भगवान् ने भी वही उत्तर दिया। श्रोता को उन महात्मा के वचनों पर प्रतीति हुई। इस प्रकार अपने वचनों की दूसरों को प्रतीति कराने के लिये भी स्वयं प्रश्न किया जा सकता है।

इस के अतिरिक्त सूत्र रचना का क्रम गुरु शिष्य के सम्वाद में होता है। अगर शिष्य नहीं होता तो गुरु स्वयं शिष्य बनता है। इस तरह सुधर्मा स्वामी इस प्रणाली के अनुसार भी गौतम स्वामी और भगवान्

महावीर के प्रश्नोत्तर करा सकते हैं। अस्तु, निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि गौतम स्वामी ने उक्त कारणों में से किस कारण से प्रेरित हो कर प्रश्न किया था।

श्री गौतम गणधर के उक्त प्रश्न का श्रमण भगवान् महावीर ने जो उत्तर दिया, अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे नामं नयरे होत्था, रिद्ध०। तत्थ णं हत्थिणाउरे णगरे सुणंदे णामं राया होत्था महया हि०। तत्थ णं हत्थिणाउरे नगरे बहुमज्झदेसभाए महं एगे गो-मंडवे होत्था, अणेगखंभसयसंनिविट्ठे, पासाइए ४, तत्थ णं बहवे णगरगोरूवा णं सणाहा य अणाहा य णगरगावीओ य णगरबलीवद्दा य णगरपड्डियाओ य णगरवसभा य पउरतणपाणिया निब्भया निरुवसग्गा सुहंसुहेणं परिवसंति।**

पदार्थ—**एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **गोतमा !**—हे गौतम !। **तेणं कालेणं**—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय में। **इहेव**—इसी। **जंबुद्दीवे दीवे**—जम्बू द्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत। **भारहे वासे**—भारतवर्ष में। **हत्थिणाउरे**—हस्तिनापुर। **नामं**—नामक। **णगरे**—नगर। **होत्था**—था। **रिद्ध०**—अनेक विशाल भवनों से युक्त, भयरहित तथा धनधान्यादि से भरपूर था। **तत्थ णं हत्थिणाउरे णगरे**—उस हस्तिनापुर नगर में। **सुणंदे**—सुनन्द। **णामं**—नाम का। **महया हि०**—महाहिमवान् -हिमालय के समान महान। **राया**—राजा। **होत्था**—था। **तत्थ णं हत्थिणाउरे णगरे**—उस हस्तिनापुर नगर के। **बहुमज्झदेसभाए**—लग भग मध्य प्रदेश में। **एगे**—एक। **महं**—महान। **अणेगखंभसयसंनिविट्ठे**—सैंकड़ों स्तम्भों से निर्माण को प्राप्त हुआ। **पासाइए ४**—मन को प्रसन्न करने वाला, जिस को देखते २ आंखें नहीं थकती थीं, जिसे एक बार देख लेने पर भी पुनर्दर्शन की लालसा बनी रहती थी, जिस की सुन्दरता दर्शक के लिये देख लेने पर भी नवीन ही प्रतिभासित होती थी। **गोमंडवे**—गोमण्डप - गोशाला। **होत्था**—था। **तत्थ णं**—वहां पर। **बहवे**—अनेक। **णगरगोरूवा**—नगर के गाय बैल आदि चतुष्पाद पशु। **णं**—वाक्यालङ्कारार्थक है। **सणाहा य**—सनाथ-जिस का कोई स्वामी हो। **अणाहा य**—और अनाथ—जिस का कोई स्वामी न हो, पशु जैसे कि—**णगरगावीओ य**—नगर की गौयें। **णगरबलीवद्दा य**—नगर के बैल। **णगरपड्डियाओ य**—नगर की छोटी गायें या भैंसें, पंजाबी भाषा में पड्डिका का अर्थ होता है—कट्टियें या बच्छियें। **णगर-वसभा**—नगर के सांढ। **पउरतणपाणिया**—जिन्हें प्रचुर घास और पानी मिलता था। **निब्भया**—भय से रहित। **निरुवसग्गा**—उपसर्ग से रहित। **सुहंसुहेणं**—सुख-पूर्वक। **परिवसंति**—निवास करते थे।

---

(१) छाया—एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे हस्तिनापुरं नाम नगरमभूत् ऋद्ध०। तत्र हस्तिनापुरे नगरे सुनन्दो नाम राजा बभूव महा हि०। तत्र हस्तिनापुरे नगरे बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको गोमण्डपो बभूव। अनेकस्तम्भशत—सन्निविष्टः प्रासादीयः ४। तत्र बहवो नगरगोरूपाः सनाथाश्च अनाथाश्च नगरगाव्यश्च नगरबलीवर्दाश्च नगरपड्डिकाश्च नगर—वृषभाश्च प्रचुरतृणपानीयाः निर्भया निरुपसर्गा सुखसुखेन परिवसन्ति।

मूलार्थ—हे गौतम! उस पुरुष के पूर्व—भव का वृत्तान्त इस प्रकार है—उस काल तथा उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष मे हस्तिनापुर नामक एक समृद्धिशाली नगर था। उस नगर मे सुनन्द नाम का राजा था जो कि महाहिमवन्त—हिमालय पर्वत के समान पुरुषो मे महान था। उस हस्तिनापुर नामक नगर के लगभग मध्य प्रदेश मे सैंकड़ो स्तम्भों से निर्मित प्रासादीय (मन मे प्रसन्नता पैदा करने वाला, दर्शनीय (जिसे बारम्बार देखने पर भी आंखे न थके), अभिरूप (एक बार देखने पर भी जिसे पुन देखने की इच्छा बनी रहे) और प्रतिरूप (जब भी देखा जाय तब ही वहा नवीनता प्रतिभासित हो) एक महान गोमडप (गोशाला)था, वहा पर नगर के अनेक सनाथ और अनाथ पशु अर्थात् नागरिक गौएं, नागरिक बैल, नगर की छोटी २ बछडिये अथवा कट्टिए एव साढ सुख पूर्वक रहते थे। उन को वहा घास और पानी आदि पर्याप्त रूप मे मिलता, और वे भय तथा उपसर्ग आदि से रहित हो कर घूमते।

टीका—श्री गौतम अनगार के पूछने पर वीर प्रभु बोले गौतम! उस व्यक्ति के पूर्व भव का वृत्तान्त इस प्रकार है—

इस अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बीत रहा था जब कि इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष नामक भूप्रदेश मे हस्तिनापुर नाम का एक नगर था जो कि पूर्णतया समृद्ध था, अर्थात् उस नगर में बडे २ गगन—चुम्बी विशाल भवन थे, धन धान्यादि मे सम्पन्न नागरिक लोग वहा निर्भय हो कर रहते थे, चोरी आदि का तथा अन्य प्रकार के आक्रमण का वहा सन्देह नहीं था तात्पर्य यह है कि वह नगरोचित गुणो से युक्त और पूर्णतया सुरक्षित था। उस नगर मे महाराज सुनन्द राज्य किया करते थे।

"—रिद्ध०—"यहां दिये गए बिन्दु मे—**रिद्धत्थिमियसमद्धे, पमुइयजणजाणवये, आइण्ण-जणमणुस्से**—से लेकर—**उत्ताणणयणपेच्छणिज्जे, पासाइए, दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे**—यहा-तक के पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदो में प्रथम के—[1]**रिद्धत्थिमियसमिद्धे**—पद की व्याख्या पृष्ठ ५२ पर की जा चुकी है. शेष पदों की व्याख्या औपपातिक सूत्र में वर्णित चम्पानगरी के वर्णक प्रकरण मे देखी जा सकती है।

'—महयाहि०—" यहा की बिन्दु से—**महयाहिमवतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे, अच्चंत-विसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए णिरंतरं**—से लेकर—**मारिभयविप्पमुक्कं, खेमं, सिव, सुभिक्ख, पसंतडिम्बडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरति**—यहा तक के पाठ को ग्रहण करने की सूचना सूत्रकार ने दी है। इन पदो की व्याख्या औपपातिक सूत्र के छठे सूत्र मे देखी जा सकती है। प्रस्तुत प्रकरण में जो सूत्रकार ने—[2]**महयाहिमवतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे**—इस साकेतिक पद का आश्रयण किया है, उस की व्याख्या निम्नोक्त है—

महाराज सुनन्द महाहिमवान् (हिमालय) पर्वत के समान महान् थे और मलय (पर्वतविशेष) मदर—मेरुपर्वत महेन्द्र (पर्वतविशेष अथवा इन्द्र) के समान प्रधानता को लिए हुए थे।

उसी हस्तिनापुर के लगभग मध्य प्रदश मे एक गोमडप था, जिस मे सैंकड़ों खभे लगे हुए थे और वह देखने योग्य था।

---

(१) ऋद्धं—भवनादिभिर्वृद्धिमुपगतम्, **स्तिमितम्**—भयवर्जितम्, **समृद्धम्**—धनादियुक्तमिति वृत्तिकार।

(२) महाहिमवदादय· पर्वतास्तद्वत् सारः प्रधानो यः स तथेति वृत्तिकारः।

उस में नगर के अनेक चतुष्पाद पशु रहते थे, उन को घास और पानी आदि वहा पर्याप्त रूप मे मिलता था, वे निर्भय थे उनको वहा किसी प्रकार के भय या उपद्रव की आशका नहीं थी, इस लिये वे सुखपूर्वक वहां पर घूमते रहते थे । उन में ऐसे पशु भी थे जिन का कोई मालिक नहीं था, और ऐसे भी थे कि जिन के मालिक विद्यमान थे । यदि उसको एक प्रकार की गोशाला या पशुशाला कहे तो समुचित ही है । गोमडप और उस में निवास करने वाले गाय, बलीवर्द, वृषभ तथा महिष आदि के वर्णन से मालूम होता है कि वहा के नागरिकों ने गोरक्षा और पशु- सेवा का बहुत अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था । दूध देने वाले और बिना दूध के पशुओं के पालन पोषण का यथेष्ट प्रबन्ध करना मानव समाज के अन्य धार्मिक कर्तव्यों मे से एक है । इस मे वहा की प्रजा की प्रशस्त मनोवृत्ति का भी बखूबी पता चल जाता है ।

"—पासाइए ४—" यहा दिए गए चार के अक से **"– दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे"**— इन तीन पदों का ग्रहण करना है । इन चारों पदों का भाव निम्नोक्त है—

"– प्रासादीयः—मन प्रसन्नताजनक, दर्शनीयः—यस्य दर्शने चक्षुषोः श्रान्तिर्न भवति अभिरूप.—यस्य दर्शन पुन पुनरभिलषितं भवति, प्रतिरूप —नवं नवमिव दृश्यमान रूपं यस्य—," अर्थात् गोमण्डप देखने वाले के चित्त मे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला था, उसे देखने वाले की आखे देख २ कर थकती नहीं थीं, एक बार उस गोमण्डप को देख लेने पर भी देखने वाले की इच्छा निरन्तर देखने की बनी रहती थी, वह गोमण्डप इतना अद्भुत बना हुआ था कि जब भी उसे देखो तब ही उस मे देखने वाले को कुछ नवीनता प्रतिभासित होती थी ।

बलीवर्द का अर्थ है—खस्सी (नपुसक) किया हुआ बैल । **पड्डिका** छोटी गो या छोटी भैंस को कहते हैं । **वृषभ** शब्द साड का बोधक है । जिस का कोई स्वामी न हो वह **अनाथ** कहलाता है, और स्वामी वाले को **सनाथ** कहते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र मे "णगरगारूवा" इस पद मे तो सामान्य रूप से सभी पशुओं का निर्देश किया, है और आगे के 'णगरगाविओ" आदि पदो मे उन सब का विशेष रूप से निर्देश किया गया है ।

अब सूत्रकार आगे का वर्णन करते है, जैसे कि—

मूल——[1]तत्थ णं हत्थिणाउरे नगरे भीमो नामं कूडग्गाहे होत्था [2]अधम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला नामं भारिया होत्था, [3]अहीण० । तते णं सा उप्पला कूडग्गाहिणी अण्णया कयाती आवण्णसत्ता जाया यावि होत्था । तते णं तीसे उप्पलाए कूडग्गाहिणीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते।

पदार्थ—**तत्थ णं**—उस । **हत्थिणाउरे**—हस्तिनापुर नामक । **नगरे**—नगर में । **भीमे**— भीम । **नामं**—नामक । **कूडग्गाहे**—कूटग्राह—धोके से जीवों को फसाने वाला । **होत्था**—रहता था ।

---

(१) छाया—तत्र हस्तिनापुरे नगरे भीमो नाम कूटग्राहो बभूव, अधार्मिको यावत् दुष्प्रत्यानन्दः । तस्य भीमस्य कूटग्राहस्य, उत्पला नाम भार्याऽभूत्, अहीन० । तत सा उत्पला कूटग्राहिणी अन्यदा कदाचित् आपन्नसत्त्वा जाता चाप्यभवत् । ततस्तस्या उत्पलाया कूटग्राहिण्या त्रिषु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु अयमेतद्रूप दोहद प्रादुर्भूतः ।

(२) **"अहम्मिए"** त्ति धर्मेण चरति व्यवहरति वा धार्मिकस्तन्निषेधादधार्मिक इत्यर्थ ।

(३) **"—अहीण—"** अहीणपडिपुण्णपचेन्दियसरीरेत्यादि दृश्यमिति वृत्तिकारः ।

जो कि । **अधम्मिए**—अधर्मी । **जाव**—यावत् । **दुप्पडियाणंदे**—बडी कठिनता से प्रसन्न होने वाला था । **तस्स णं**—उस । **भीमस्स**—भीम नामक । **कूडग्गाहस्स**—कूटग्राह की । **उप्पला**—उत्पला । **नामं**—नाम की । **भारिया**—भार्या । **होत्था**—थी जो कि । **अहीण** —अन्यून पचेन्द्रिय शरीर वाली थी । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **उप्पला**—उत्पला नामक । **कूटग्गाहिणी** - कूटग्राह की स्त्री । **अण्णया** —अन्यदा । **कयाती**—किसी समय । **आवण्णसत्ता**—गर्भवती । **जाया यावि होत्था**—हो गई थी । **तते णं**—तदनन्तर । **तीसे**—उस । **उप्पलाए**—उत्पला नामक । **कूडग्गाहिणीए**—कूटग्राह की स्त्री को । **बहुपडिपुण्णाण**—परिपूर्ण—पूरे । **तिण्हं मासाणं** —तीन मास के पश्चात् अर्थात् तीन मास पूरे होने पर । **अयमेयारूवे**—यह इस प्रकार का । **दोहले** दोहद - मनोरथ जोकि गर्भिणी स्त्रियों को गर्भ के अनुरूप उत्पन्न होता है । **पाउब्भूते**—उत्पन्न हुआ ।

मूलार्थ—उस हस्तिनापुर नगर मे महान् अधर्मी यावत् कठिनाइ से प्रसन्न होने वाला भीम नाम का एक कूटग्राह [धोखे से जीवों का फसाने वाला] रहता था उस की उत्पला नाम की स्त्री थी जो कि अन्यून पचेन्द्रिय शरीर वाला थी । किसी समय वह उत्पला गर्भवती हुई, लगभग तीनमास के पश्चात् उसे इस प्रकार का दोहद-गर्भिणी स्त्री का मनोरथ, उत्पन्न हुआ ।

टीका—उस हस्तिनापुर नगर में भीम नाम का एक कूटग्राह रहता था जो कि बडा अधर्मी था । धोखे से जीवों को फंसाने वाले व्यक्ति को कूटग्राह कहते हैं [**कूटेन (कपटेन) जीवान् गृण्हातीति कूटग्राह**] तथा धर्म का आचरण करने वाला धार्मिक और धर्मविरुद्ध आचरण करने वाला व्यक्ति अधार्मिक कहलाता है।

"अधम्मिए, जाव दुप्पडियाणंदे ' यहा पठित **"जाव"** पद से निम्नलिखत पदों का भी ग्रहण समझ लेना—

[1]'अधम्माणुए, अधम्मिट्ठे, अधम्मक्खाई, अधम्मपलोई, अधम्मपलज्जणे, अधम्मसमुदाचारे, अधम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणे, दुस्सीले, दुव्वए— " । इन पदो की व्याख्या प्रथम अध्ययन के पृष्ठ ५५ पर की जा चुकी है ।

उस भीम नामक कूटग्राह की उत्पला नाम की भार्या थी जोकि रूप सम्पन्न तथा सर्वांगसम्पूर्ण थी। वह किसी समय गर्भवती हो गई, तीन मास पूरे होने पर उस को आगे कहा जाने वाला दोहद उत्पन्न हुआ ।

तीन मास के अनन्तर गर्भवती स्त्री को उस के गर्भ मे रहे हुए जीव के लक्षणानुसार कुछ सकल्प उत्पन्न हुआ करते हैं जो दोहद या दोहला के नाम मे व्यवहृत होते हैं। उन पर से गर्भ में आये हुए जीव के सौभाग्य या दौर्भाग्य का अनुमान किया जाता है। जिस प्रकृति का जीव गर्भ में आता है उसी के अनुसार माता को दोहद उत्पन्न हुआ करता है ।

---

(१) **"—अहम्माणुए—"** अधर्मान् पापलोकान् अनुगच्छतीत्यधर्मानुग **" —अधम्मिट्ठे— "** अतिशयेनाधर्मो—धर्मरहितोऽधर्मिष्ट । **" —अहम्मक्खाई— "**अधर्मभाषणशील अधार्मिकप्रसिद्धिको वा । **'अहम्मपलोई"** अधर्मानेव परसम्बन्धिदोषानेव प्रलोकयति प्रेक्षते इत्येवंशीलोऽधर्मप्रलोकी । **"—अहम्मपलज्जणे—"** अधर्म एव हिसादौ प्ररज्यते अनुरागवान् भवतीत्यधर्मप्ररजन. **"—अहम्मसमुदाचारो— "** अधर्मरूप. समुदाचार समाचारो यस्य स अधर्मसमुदाचार । **"—अहम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे —"** अधर्मेण पापकर्मणा वृत्ति जीविका कल्पयमान —कुर्वाणः तच्छील । **"—दुस्सीले—"**दुष्टशील । **"दुव्वए"** अविद्यमाननियम इति । **"—दुप्पडियाणंदे—"**दुष्प्रत्यानन्दः बहुभिरपि सन्तोषकारणैरनुत्पद्यमानसन्तोष इत्यर्थ । (वृत्तिकार)।

अब सूत्रकार आगे के सूत्र में उत्पला के दोहद का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]धएणाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव सुलद्धे जम्मजीवियफले, जाओ णं बहूणं नगरगोरूवाणं सणाहाण य जाव वसभाण य ऊहेहि य थणेहि य वसणेहि य छिप्पाहि य ककुहेहि य वहेहि य कन्नेहि य अच्छीहि य नासाहि य जिब्भाहि य ओट्ठेहि य कंवलेहि य सोल्लेहि य तलितेहि य भज्जितेहि य परिसुक्केहि य लावणिएहि य सुरं च मधुं च मेरगं च जातिं च सीधुं च पसएणं च आसाएमाणीओ विसाएमाणीओ परिभाएमाणीओ परिभुंजेमाणीओ दोहलं विणेंति, तं जइ णं अहमवि बहूणं नगर जाव विणेज्जामि, त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्खा भुक्खा निम्मंसा उलुग्गा उलुग्गसरीरा नित्तेया दीण-विमण-वयणा पंडुल्लइयमुही ओमंथियनयणवयणकमला जहोइयं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारहारं अपरिभुंजमाणी करयलमलिय व्व कमलमाला ओहय० जाव झियाति। इमं च णं भीमे कूडग्गाहे जेणेव उप्पला कूडग्गाहिणी तेणेव उवा० २ ओहय० जाव पासति २ त्ता एवं वयासी—किएणं तुमं देवाणुप्पिए! ओहय० जाव झियासि? तते णं सा उप्पला भारिया भीमं कूड० एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! ममं तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दोहले पाउब्भूते—धएणाओ णं ४ जाओ णं बहूणं गो० ऊहेहि य० लावणिएहि य सुरं च ५ आसा० ४ दोहलं विणिति। तते णं अहं देवाणु०! तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव झियामि। तते णं से भीमे कूड० उप्पलं भारियं एवं वयासी—मा णं तुमं देवाणु०! ओहय० जाव झियाहि, अहं णं तं

(१) छाया—धन्यास्ता अम्बा यावत् सुलब्ध जन्मजीवितफलम्, या बहूना नगरगोरूपाणा सनाथाना च यावत् वृषभाणा चोधोभिश्च स्तनैश्च वृषणैश्च पुच्छैश्च ककुदैश्च वहैश्च कर्णैश्च अक्षिभिश्च नासाभिश्च जिह्वाभिश्च ओष्ठैश्च कम्बलैश्च शूल्यैश्च तलितैश्च भृष्टैश्च परिशुष्कैश्च लावणिकैश्च सुरा च मधु च मेरक च जातिं च सीधु च प्रसन्ना च आस्वादयन्त्यो विस्वादयन्त्य. परिभाजयन्त्य परिभुजाना दोहद विनयन्ति तद् यद्यहमपि बहूना नगर० यावत् विनयामि, इति कृत्वा तस्मिन् दोहदेऽविनीयमाने शुष्का बुभुक्षा निर्मांसाऽवरुग्णाऽवरुग्णशरीरा निस्तेजस्का दीनविमनोवदना पाण्डुरितमुखी अवमथितनयनवदनकमला यथोचित पुष्पगन्धमाल्यालंकारहारमपरिभुंजाना करतलमर्दितेव कमलमालाऽपहत० यावत् ध्यायति। इतश्च भीमः कूटग्राहो यत्रैवोत्पला कूटग्राही तत्रैवोपा० २ अपहत० यावत् पश्यति, दृष्ट्वा एवमवदत्—किं त्वं देवानुप्रिये! अपहत० यावत् ध्यायसि? तत सा उत्पला भार्या भीमं कूटग्राहं एवमवादीत् एवं खलु देवानुप्रिय! मम त्रिषु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दोहद प्रादुर्भूत., धन्या ४ या बहूना गो० ऊधोभिश्च० लावणिकैश्च सुरा च ५ आस्वा० ४ दोहद विनयन्ति। ततोऽहं देवानुप्रिय! तस्मिन् दोहदेऽविनीयमाने यावत् ध्यायामि। ततः स भीम कूट० उत्पला भार्यामेवमवदत्—मा त्वं देवानुप्रिये! अपहत० यावत् ध्यासी। अहं तत् तथा करिष्यामि यथा तव दोहदस्य सम्प्राप्तिर्भविष्यति। ताभिरिष्टाभिर्यावत् समाश्वासयति।

तहा करिस्सामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सइ । ताहि इट्ठाहि जाव समासासेति ।

पदार्थ— ताओ वे । **अम्मयाओ**—माताये । **धरणाओ**—धन्य हैं। **जाव**—यावत्। **सुलद्धे**—उन्हों ने ही प्राप्त किया है। **जम्मजीवियफले**—जन्म और जीवन के फल को । **णं**—वाक्यालंकार में है। **जाओ णं**—जो। **बहूणं**—अनेक । **सणाहाण य ५**—सनाथ और अनाथ आदि । **नगरगोरूवाणं**—नागरिक पशुओं । **जाव**—यावत् । **वसभाण य**—वृषभों के । **ऊहेहिं य**—ऊधलेवा-वह थैली जिस में दूध भरा रहता हैं। **थणेहिं य**—स्तन। **वसणेहिं य**—वृषण-अण्डकोष। **छिप्पाहिं य**—पुच्छ-पूंछ। **ककुहेहिं य**—ककुद-स्कन्ध का ऊपरी भाग। **वहेहिं य**—स्कन्ध। **कन्नेहिं य**—कर्ण। **अच्छीहिं य**—नेत्र । **नासाहिं य**—नासिका। **जिब्भाहिं य**—जिव्हा। **ओट्ठेहिं य**—ओष्ठ। **कवलेहिं य**—कम्बल—सास्ना—गाय के गले का चमडा । **सोल्लेहि य**—शूल्य—शूलाप्रोत मास । **तलितेहि य**—तलित—तला हुआ। **भज्जेहिं य**—भुना हुआ । **परिसुक्केहि य**—परिशुष्क—स्वत सूखा हुआ। **लावणिएहिं य**—लवण से सस्कृत मास। **सुरं च**— सुरा। **मधुं च**—मधु—पुष्पनिष्पन्न सुराविशेष । **मेरगं च**—मेरक— मद्य विशेष जो कि ताल फल से बनाई जाती है। **जातिं च**—मद्य विशेष जो कि जाति कुसुम के वर्ण के समान वर्ण वाली होती है। **सीधुं च**—सीधु—मद्य विशेष जो कि गुड़ और धातकी के मेल से निर्माण की जाती हैं। **पसरणं च**—प्रसन्ना—मद्यविशेष जो कि द्राक्षा आदि से निष्पन्न होती है, इन सब का। **आसाएमाणीओ**—आस्वाद लेती हुई । **विसाएमाणीओ**—विशेष आस्वाद लेती हुई । **परिभाएमाणीओ**—दूसरों को देती हुई । **परिभुंजेमाणीओ**—परिभोग करती हुई। **दोहलं**-दोहद—गर्भिणी स्त्री का मनोरथ, को। **विणेंति**-पूर्ण करती हैं। **तं जइ णं**-सो यदि। **अहमवि**—मैं भी। **बहूणं**—अनेक। **नगर०**—नागरिक । **जाव**—यावत् । **विणेज्जामि**—अपने दोहद को पूर्ण करू । **त्ति कट्टु**—यह विचार कर। **तंसि**—उस। **दोहलंसि**—दोहद के। **अविणिज्जमाणंसि**—पूर्ण न होने से। **सुक्खा**—सूखने लगी । **भुक्खा**—बुभुक्षित के समान हो गई अर्थात् भोजन न करने से बल रहित हो कर भूखे व्यक्ति के समान दीखने लगी । **निम्मंसा**—मास रहित अत्यन्त दुर्बल सी हो गई । **उलुग्गा**—रोगिणी। **उलुग्गसरीरा**—रोगी के समान शिथिल शरीर वाली। **नित्तेया**—निस्तेज तेज से रहित। **दीणविमणवयणा**—दीन तथा चितातुर मुख वाली । **पंडुल्लइयमुही**—जिस का मुख पीला पड़ गया है । **ओमंथियनयणवयणकमला**—जिस के नेत्र तथा मुख कमल मुर्झा गया। **जहोइय**—यथोचित। **पुप्फ-वत्थगंधमल्लालंकारहार**—पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माल्य-फूलों की गुथी हुई माला, अलंकार—आभूषण और हार का। **अपरिभुंजमाणी** उपभोग न करने वाली। **करयलमलिय व्व-कमलमाला**-कर-तल से मदित कमल-माला की तरह । **ओहय०**—कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से रहित। **जाव**—यावत्। **झियाति**—चिन्ताग्रस्त हो रही है। **इमं च णं**—और इधर। **भीमे कूडग्गाहे**-वह भीम नामक कूटग्राह। **जेणेव**— जहा पर। **उप्पला**—उत्पला नाम की। **कूडग्गाहिणी**—कूटग्राहिणी कूटग्राह की स्त्री थी। **तेणेव** वहीं पर। **उवा० २**—आता है, आ कर। **ओहय० जाव**—उसे सूखी हुई उत्साह रहित यावत् किंकर्तव्यविमूढ एव चिन्ताग्रस्त । **पासति**—देखता है। **२त्ता** देख कर **एवं वयासी**—उसे इस प्रकार कहने लगा-। **देवाणुप्पिए** !-हे भद्रे ! । **तुमं**—तुम । **किरणं**—क्यो। **ओहय० जाव**—इस तरह सूखी हुई यावत् चिन्ताग्रस्त हो रही हो?। **झियाति**—आर्तध्यान मे मग्न हो रही हो? । **तते णं**-तदनन्तर। **सा**—वह। **उप्पला भारिया**—उत्पला भार्या—स्त्री। **भीमं**—भीम नामक। **कूड०**—कूटग्राह मे। **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगी। **देवाणुप्पिया**! —हे महानुभाव!। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **मम**—मेरे को। **तिण्हं मासाणं**—तीन मास के । **बहुपडिपुण्णाणं**—परि-

पूर्ण हो जाने पर। **दोहले**—यह दोहद। **पाउब्भूते**—उत्पन्न हुआ कि। **धराणाओ ण ४**—धन्य हैं वे माताय **जाओ णं**—जो। **बहूणं णो०**—अनेक चतुष्पाद पशुओं के। **ऊहेहि य०**—ऊधस् आदि के, तथा। **लावणि-एहि य** लवणसस्कृत मास और। **सुरं ५**—सुरा आदि का। **आसा४**—आस्वादन करती हुई। **दोहलं**—दोहद। **विणिनि**—पूर्ण करती हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **देवाणु०!**—हे महानुभाव! । **तंसि**—उस। **दोहलंमि**—दोहद के। **अविणिज्जमाणंसि**—पूर्ण न होने से। **जाव**—यावत् कि कर्तव्यविमूढ हुई मैं। **झियामि**—चिन्तातुर हो रही हूँ। **तते ण**—तदनन्तर। **से**—वह। **भोमे**—भीम नामक। **कूड०**—कूटग्राह। **उप्पलं भारियं**—उत्पला भार्या को। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा। **देवाणु०!**—हेसुभगे **तुमं**—तू। **मा णं**—मत। **ओहय०**—हतोत्साह। **जाव**—यावत्। **झियाहि**—चिन्तातुर हो। **अहं ण**—मैं। **तं**—उस का **तहा**—तथा—वैसे। **करिस्सामि**—यत्न करूंगा। **जहा णं**—जैसे। **तव**—तुम्हारे **दोहलस्स**—दोहद की। **संपत्ती**—सम्प्राप्ति—पूर्ति। **भविस्सइ**—हो जाय। **ताहिं इट्ठाहिं**—उन इष्ट वचनों से। **जाव**—यावत्। **समासासेति**—उसे आश्वासन देता है।

मूलार्थ—धन्य है वे मातायें यावत् उन्हो ने ही जन्म तथा जीवन को भली भांति सफल किया है अथवा जीवन के फल को पाया है जो अनेक अनाथ या सनाथ नागरिक पशुओं यावत् वृषभों के ऊधस्, स्तन, वृषण, पुच्छ, ककुद, स्कन्ध, कर्ण, नेत्र, नासिका, जिव्हा, ओष्ठ तथा कम्बल-सास्ना जो कि शूल्य [शूला—प्रोत], तलित (तलेहुए), भृष्ट-भुनेहुए, शुष्क [स्वय सूखे हुए] और लवण-सस्कृत मांस के साथ सुरा, मधु, मेरक, जाति, सीधु और प्रसन्ना—इन मद्यों का सामान्य और विशेष रूप से आस्वादन, विस्वादन, परिभाजन तथा परिभोग करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। काश! मैं भी भी उसी प्रकार अपने दोहद को पूर्ण करूं। इस विचार के अनन्तर उस दोहद के पूर्ण न होने से वह उत्पला नामक कूटग्राह की स्त्री सूख गई—[रुधिर क्षय के कारण शोषणता को प्राप्त हो गई] बुभुक्षित हो गई, मांसरहित—अस्थि शेष हो गई, अर्थात मास के सूख जाने से शरीर को अस्थियें दीखने लग गई शरीर शिथिल पड़ गया। तेज—कान्ति रहित हो गई। दीन तथा चिन्तातुर मुख वाली हो गई। बदन पीला पड गया। नेत्र तथा मुख मुर्झा गया, यथोचित पुष्प, वस्त्र, गन्ध माल्य, अलंकार और हार आदि का उपभोग न करती हुई करतल मर्दित पुष्प माला की तरह म्लान हुई उत्साह रहित यावत् चिन्ता—ग्रस्त हो कर विचार ही कर रही थी कि इतने में भीम नामक कूटग्राह जहां पर उत्पला कूटग्राहिणी थी वहां पर आया और आकर उसने यावत् चिन्ताग्रस्त उत्पला को देखा, देख कर कहने लगा कि—

हे भद्रे! तुम इस प्रकार शुष्क, निर्मांस यावत् हतोत्साह हो कर किस चिन्ता में निमग्न हो रही हो ? अर्थात् ऐसी दशा होने का क्या कारण है ? तदनन्तर उस की उत्पला नामक भार्या ने उस से कहा कि स्वामिन्! लग भग तीन मास पूरे होने पर यह दोहद उत्पन्न हुआ कि वे मातायें धन्य हैं कि जो चतुष्पाद पशुओं के ऊधस् और स्तन आदि के लवण-सस्कृत मांस का सुरा आदि के साथ आस्वादनादि करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। तदनन्तर हे नाथ! उस दोहद के पूर्ण न होने पर शुष्क और निर्मांस यावत् हतोत्साह हुई मैं सोच रही हूं अर्थात मेरी इस दशा का कारण उक्त प्रकार से दोहद की अपूर्ति-पूर्ण न होना है। तब कूटग्राह भीम ने अपनी उत्पला भार्या से कहा कि भद्रे! तूं चिन्ता मत कर मैं वही कुछ करूंगा, जिस से कि तुम्हारे इस दोहद की

पूर्ति हो जाएगी। इस प्रकार के इष्ट—प्रिय वचनों से उसने उसे आश्वासन दिया।

टीका—गत सूत्र पाठ में भीम नामक कूटग्राह को अधर्मी, पतित आचरण वाला और उसकी स्त्री उत्पला को सगर्भा—गर्भवती कहा गया है। अब प्रस्तुत सूत्र में उसके दोहद का वर्णन करते हैं।

उत्पला के गर्भ का लग भग तीन मास हो पूरे जाने पर उसे यह दोहद उत्पन्न हुआ कि वे मातायें धन्य हैं तथा उन्हों ने ही अपने जन्म और जीवन को सार्थक बनाया है जो सनाथ या अनाथ अनेकविध पशुओं जैसा कि नागरिक गौओं, बैलों पड्डिकाओं और सांढो के ऊधस्, स्तन, वृषण, पुच्छ ककुद, स्कन्ध, कर्ण, अक्षि नासिका, जिव्हा ओष्ठ तथा कम्बल—सास्ना आदि के मास जो शूलाप्रोत, तलित (तले हुए), भृष्ट, परिशुष्क और लावणिक—लवणसस्कृत हैं—के साथ सुरा मधु मेरक, जाति, सीधु और प्रसन्ना आदि विविध प्रकार के मद्य विशेषों का आस्वादन आदि करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। यदि मैं भी इसी प्रकार नागरिक पशुओं के विविध प्रकार के शूल्य (शूलाप्रोत) आदि मासों के साथ सुरा आदि का सेवन करू तो बहुत अच्छा हो, दूसरे शब्दों में यदि मैं भी पूर्वोक्त आचरण करती हुई उन माताओं की पंक्ति में परिगणित हो जाऊ तो मेरे लिये यह बडे ही सौभाग्य की बात होगी।

सगर्भा स्त्री को गर्भ रहन के दूसरे या तीसरे महीने मे गर्भगत जीव के भविष्य के अनुसार अच्छी या बुरी जो इच्छा उत्पन्न होती है उस को अर्थात् गर्भिणी के मनोरथ को दोहद कहते हैं।

"**अम्मयाओ जाव सुलद्धे**" इस में उल्लिखित "**जाव—यावत्**" पद से "**पुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ, तासि णं अम्मयाणं सुलद्धे जम्मजीवियफले**" [वे मातायें पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, तथा शुभलक्षणों वाली हैं एव उन माताओं ने ही जन्म और जीवन का फल प्राप्त किया है] इन पाठों का ग्रहण करना ही सूत्रकार को अभीष्ट है।

"—**सणाहाण य जाव वसभाण**—" यहा पठित "**—जाव—यावत्—**" पद से "—**अणाहाण य णगर—गावीण य णगरवलीवद्दाणं य** —" इत्यादि पदों का ग्रहण अभिमत है। इन पदों की व्याख्या पीछे कर दी गई है।

ऊधस्—गो आदि पशुओं के स्तनों के उपरी भाग को उधस् कहते हैं, जहा कि दूध भरा रहता है। पजाब प्रात में उसे लेवा कहते हैं। **स्तन**—जिस उपाग के द्वारा बच्चों को दूध पिलाया जाता है, उस उपाग विशेष की स्तन सज्ञा है। **वृषण** अण्ड—कोष का नाम है। **पुच्छ** या पूछ प्रसिद्ध ही है। **ककुद**—बैल के कन्धे के कुब्बड को ककुद कहते हैं, तथा बैल के कन्धे का नाम वह है। **कम्बल**—गाय के गले में लटके हुए चमडे की कम्बल सज्ञा है इसी का दूसरा नाम सास्ना है।

शूल पर पकाया हुआ मास **शूल्य** तथा तैल घृत आदि मे तले हुए को **तलित**, भुने हुए को **भृष्ट**, अपने आप सूखे हुए को **परिशुष्क** और लवणादि से सस्कृत को **लावणिक** कहते हैं।

सुरा—मदिरा, शराब का नाम है। **मधु**—शहद और पुष्पों से निर्मित मदिरा विशेष का नाम मधु है। **मेरक**—तालफल मे निष्पन्न मदिरा विशेष को मेरक कहते हैं **जाति**—मालती पुष्प के वर्ण के समान वर्ण वाले मद्यविशेष की सज्ञा है। **सीधु**—गुड़ और धातकी के पुष्पों (धव के फूलों) से निष्पन्न हुई मदिरा सीधु के नाम से प्रसिद्ध है। **प्रसन्ना**—द्राक्षा आदि द्रव्यों के सयोग से निष्पन्न की जाने वाली मदिरा प्रसन्ना कहलाती है। साराश यह है कि—सुरा, मधु, मेरक, जाति, सीधु, और प्रसन्ना

ये सब मदिरा के ही अवान्तर भेद हैं।

यद्यपि मेरक आदि शब्दों के और भी बहुत से अर्थ उपलब्ध होते हैं, परन्तु यहां पर प्रकरण के अनुसार इन का मद्यविशेष अर्थ ही ग्राह्य है । अत उसी का निर्देश किया गया है ।

"आसाएमाणीओ" आदि पदों की व्याख्या टीकाकार इस तरह करते हैं—

"आसाएमाणीउ" त्ति ईषत् स्वादयन्त्यो बहु च त्यजन्त्य इक्षुखण्डादेरिव । **"विसाएमाणीउ"** त्ति विशेषेण स्वादयन्त्योऽल्पमेव त्यजन्त्य खर्जूरादेरिव । **"परिभाएमाणीउ"** त्ति ददत्य. । **"परिभुंजेमाणीउ"** त्ति सर्वमुपभुञ्जाना अल्पमप्यपरित्यजन्त्य." अर्थात् इक्षुखण्ड (गन्ना) की भांति थोड़ा सा आस्वादन तथा बहुत सा भाग त्यागती हुई, तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इक्षुखण्ड गन्ने को चूस कर रस का आस्वाद लेकर शेष—[रस की अपेक्षा अधिक भाग] को फैंक दिया जाता है ठीक उसी प्रकार पूर्वोक्त पदार्थों को [जिन का अल्पांश ग्राह्य और बहु-अंश त्याज्य होता है] सेवन करती हुई, तथा खजूर—खजूर की भांति विशेष भाग का आस्वादन और अल्पभाग को छोड़ती हुई, तथा मात्र स्वयं ही आस्वादन न कर दूसरों को भी वितीर्ण करती—बांटती हुई और सम्पूर्ण का ही आस्वादन करती हुई दोहद को पूर्ण कर रही हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में उत्पला के दोहद का वर्णन किया गया है, उत्पला चाहती है कि मैं भी पुण्यशालिनी माताओं की तरह अपने दोहद को पूर्ण करूं, किन्तु ऐसा न होने से वह चिन्ताग्रस्त हो कर सूखने लगी और उस का शरीर मांस के सूखने से अस्थिपञ्जर सा हो गया । तथा वह सर्वथा मुर्झा गई ।

प्रस्तुत सूत्र पाठ में "—सुक्खा-शुष्का—" आदि सभी पद उस के विशेषण रूप में निर्दिष्ट हुए हैं । उन की व्याख्या इस प्रकार है—

१ "—शुष्का—" रुधिरादि के क्षय हो जाने के कारण उस का शरीर सूख गया । २ **बुभुक्षा**—भोजन न करने से बलहीन हो कर बुभुक्षिता सी रहती है । ३ **निर्मांसा**—भोजनादि के अभाव से शरीरगत मांस सूख गया है । ४ **अवरुग्णा**—उदास—इच्छाओं के भग्न हो जाने से उदास सी रहती है । ५ **अवरुग्णशरीरा**—निर्बल अथवा रुग्न शरीर वाली । ६ **निस्तेजस्का**—तेज—कांति रहित । ७ **दीन—विमनो—वदना**[१]—शोकातुर अथच चिन्ताग्रस्त मुख वाली । यहां—**दीना चासौ विमनोवदना च"**— ऐसा विग्रह किया जाता है । किसी २ प्रति में **"—दीणविमणहीणा—"** ऐसा पठान्तर मिलता है । टीकाकार इस विशेषण की निम्नोक्त व्याख्या करते हैं—

"—दीना दैन्यवती, विमनाः शून्यचित्ता हीणा च भीतेति कर्मधारयः—" अर्थात् वह दीनता, मानसिक अस्थिरता तथा भय से व्याप्त थी । ८ **—"पांडुरितमुही—"** उस का मुख पीला पड़ गया था । ९ **"—ओमथित-नयन-वदन-कमला—"** जिस के नेत्र तथा मुखरूप कमल मुर्झाये हुआ था । टीकाकर ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है—

"—अधोमुखी कृतानि नयनवदनरूपाणि कमलानि यया सा तथा—" अर्थात् जिस ने कमलसदृश नयन तथा मुख नीचे की ओर किये हुए हैं । इसी लिये वह यथोचित रूप से पुष्प, वस्त्र, गंध, माल्य [फूलों की माला] अलंकार—भूषण तथा हार आदि का उपभोग नहीं कर रही थी । तात्पर्य यह है कि दोहद की पूर्ति के न होने से उस ने शरीर का शृङ्गार करना भी छोड़ दिया था, और वह करतल मर्दित—हाथ के मध्य में रख कर हथेली से मसली गई कमल माला की भांति शोभा रहित, उदासीन और किंकर्तव्य विमूढ सी हो कर उत्साहशून्य एवं चिन्तातुर हो रही थी ।

---

(१) विमनस इव विगतचेतस इव वदनं यस्याः सेति भावः ।

"ओहय० जाव झियाति" इस वाक्य गत '—जाव—यावत्—" पद से—"—ओहयमण-संकप्पा" [जिस के मानसिक सकल्प विफल हो गये हैं] "करतलपल्हत्थमुही" [जिस का मुख हाथ पर स्थापित हो] अट्टज्झाणोवगया— [आर्तध्यान को प्राप्त] इस पाठ का ग्रहण करना चाहिए। इस का साराश यह है कि—उत्पला अपने दोहद की पूर्ति न होने पर बहुत दुःखी हुई। अधिक क्या कहे प्रतिक्षण उदास रहती हुई आर्तध्यान करने लगी।

एक दिन उत्पला के पति भीम नामक कूटग्राह उस के पास आये, उदासीन तथा आर्तध्यान मे व्यस्त हुई उत्पला को देख कर प्रेमपूर्वक बोले—देवि! तुम इतनी उदास क्यों हो रही हो? तुम्हारा शरीर इतना कृश क्यों हो गया? तुम्हारे शरीर पर तो मास दिखाई ही नहीं देता, यह क्या हुआ? तुम्हारी इस चिन्ता—जनक अवस्था का कारण क्या है? इत्यादि।

पतिदेव के सान्त्वना भरे शब्दों को सुन कर उत्पला बोली, महाराज! मेरे गर्भ को लगभग तीन मास पूरे हो जाने पर मुझे एक दोहद उत्पन्न हुआ है, उस की पूर्ति न होने से मेरी यह दशा हुई है। उसने अपने दोहद की ऊपर वर्णित सारी कथा कह सुनाई। उत्पला की बात को सुनकर भीम कूटग्राह ने उसे आश्वासन देते हुए कहा कि भद्रे! तू चिन्ता न कर, मैं ऐसा यत्न अवश्य करूंगा, कि जिस से तुम्हारे दोहद की पूर्ति भली भाति हो सकेगी। इस लिये तू अब सारी उदासीनता को त्याग दे।

"ओहय० जाव पासति"—"ओहय० जाव झियासि" "गो० सुरं च ५ आसाए०४" और "अविणिज्जमाणंसि जाव झियाहि" इत्यादि स्थलों में पठित "—जाव—यावत्—" पद से तथा बिन्दु और अको के सकेत से प्रकृत अध्ययन मे ही उल्लिखित सम्पूर्ण पाठ का स्मरण कराना सूत्रकार को अभीष्ट है।

"इट्ठाहिं जाव समासासेति" वाक्य के "—जाव—यावत्—" पद से "कंताहि, पियाहि, मणुन्नाहिं मणामाहि" इन पदों का ग्रहण करना। ये सब पद समानार्थक हैं। साराश यह है कि— नितात उदास हुई उत्पला को सान्त्वना देते हुए भीम ने बड़े कोमल शब्दो मे यह पूर्ण आशा दिलाई कि मैं तुम्हारे इस दोहद को पूर्ण करने का भरसक प्रयत्न करूंगा।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र मे उत्पला के दोहद की पूर्ति का वर्णन करते हैं—

मूल :—[2]**तते णं से भीमे कूड० अड्ढरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सण्णद्ध०**

---

(१) आर्ति नाम दुःख या पीडा का है, उस मे जो उत्पन्न हो उसे आर्त कहते हैं, अर्थात् जिस मे दुःख का चिन्तन हो उस का नाम आर्तध्यान है। आर्तध्यान के भेदोपभेदों का ज्ञान अन्यत्र करें।

(२) छाया—ततः स भीमः कूटग्राहोऽर्द्धरात्रकालसमये एकोऽद्वितीयः सनद्ध० यावत् प्रहरणः स्वस्माद् गृहान्निर्गच्छति, निर्गत्य हस्तिनापुरं मध्यमध्येन यत्रैव गोमण्डपस्तत्रैवोपागतः, उपागत्य बहूनां नगरगोरूपाणां यावद् वृषभाणां चाप्येकेषां ऊधांसि छिनत्ति, यावद् अप्येकेषां कम्बलान् छिनत्ति, अप्येकेषामन्यान्यान्यङ्गोपाङ्गानि विकृन्तति, विकृत्य यत्रैव स्वकं गृहं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य उत्पलायै कूटग्राहिण्यै उपनयति। ततः सा उत्पला भार्या तैर्बहुभिर्गोमांसैः शूल्यैः यावत् सुरां च ५ आस्वा० ४ तं दोहदं विनयति। ततः सा उत्पला कूटग्राही सम्पूर्णदोहदा, सम्मानितदोहदा, विनीतदोहदा, व्युच्छिन्नदोहदा, सम्पन्नदोहदा, तं गर्भं सुखसुखेन परिवहति।

जाव[1] पहरणे सयाओ गिहाओ निग्गच्छति २ हत्थिणाउरं मज्झंमज्झेणं जेणेव गोमंडवे तेणेव उवागते २ बहूणं णगरगोरूवाणं जाव वसभाण य अप्पेगइयाणं ऊहे छिंदति जाव अप्पेगइयाणं कंवलए छिंदति, अप्पेगइयाणं अण्णमण्णाइं अंगोवंगाइं वियंगेति २ जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छति २ उप्पलाए कूडग्गाहिणीए उवणेति । तते णं सा उप्पला भारिया तेहिं बहूहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं जाव सुरं च ५ आसा० ४ तं दोहलं विणेति। तते णं सा उप्पला कूडग्गाही संपुण्णदोहला संमाणियदोहला विणीयदोहला वोच्छिण्णदोहला संपन्नदोहला तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहति ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । से—वह । भीमे कूड०—भीम कूटग्राह । अद्धरत्तकाल-समयंसि—अर्द्धरात्रि के समय । एगे—अकेला । अबीए—जिस के साथ दूसरा कोई नहीं । सण्णद्ध०—दृढ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण किये । जाव—यावत् । पहरणे—आयुध और प्रहरण ले कर । सयाओ—अपने । गिहाओ—घर से । निग्गच्छति २—निकलता है, निकल कर । हत्थिणाउरं—हस्तिनापुर नामक नगर के । मज्झंमज्झेणं—मध्य में से होता हुआ । जेणेव—जहां । गोमंडवे—गोमंडप-गोशाला, था । तेणेव—वहां पर । उवागते २—आता है आकर । बहूणं—अनेक । णगरगोरूवाणं—नागरिक पशुओं के । जाव—यावत् । वसभाण य—वृषभों के मध्य में से । अप्पेगइयाणं—कई एक के । ऊहे—ऊधस् को । छिंदति—काटता है । जाव—यावत् । अप्पेगइयाणं—कई एक के । कंवलए—कम्बल-सास्ना को । छिंदति—काटता है । अप्पेगइयाणं—कई एक के । अण्णमण्णाइं—अन्यान्य । अंगोवंगाइं—अंगोपांगों को । वियंगेति २—काटता है काट कर । जेणेव—जहां पर । सए गेहे—अपना घर था । तेणेव—वहीं पर । उवागच्छति २—आता है, आकर । कूडग्गाहिणीए—कूटग्राहिणी । उप्पलाए—उत्पला को । उवणेति—दे देता है । तते णं—तदनन्तर । सा उप्पला भारिया—वह उत्पला भार्या । तेहिं—उन । बहूहिं—नाना प्रकार के । जाव—यावत् । सोल्लेहिं—शूलाप्रोत । गोमंसेहिं—गो के मांसों के साथ । सुरं च ५—सुरा प्रभृति मद्य विशेषों का । आसा० ४—आस्वादन आदि करती हुई । तं दोहदं—उस दोहद को । विणेति—पूर्ण करती है । तते णं—तदनन्तर । संपुण्णदोहला—सम्पूर्ण दोहद वाली । संमाणियदोहला—सम्मानित दोहद वाली । विणीयदोहला—विनीत दोहद वाली । वोच्छिन्नदोहला—व्युच्छिन्न दोहद वाली । सपन्नदोहला—सम्पन्न दोहद वाली । सा उप्पला कूडग्गाही—वह उत्पला कूटग्राही । तं गब्भं—उस गर्भ को । सुहंसुहेणं—सुख पूर्वक । परिवहति—धारण करती है ।

मूलार्थ—तदनन्तर भीम कूटग्राह अर्द्धरात्रि के समय अकेला ही दृढ़ बन्धनों से बद्ध और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण कर आयुध और प्रहरण लेकर घर से निकला और हस्तिनापुर नगर के मध्य में से होता हुआ जहां पर गोमण्डप था वहां पर आया आकर अनेक नागरिक पशुओं यावत् वृषभों में से कई एक के ऊधस् यावत् कई एक के कम्बल—सास्ना आदि एवं कई एक के अन्यान्य अंगोपांगों को काटता है, काट कर अपने घर आता है, और आकर अपनी उत्पला भार्या को दे देता

(१) "—जाव-यावत्—" पद से—सन्नद्ध—बद्ध—वम्मिय—कवए, उप्पीलियसरासणपट्टिए पिणद्ध—गेविज्जे, विमलवरबद्धचिंधपट्टे, गहियाउहपहरणे, इन पदों का ग्रहण समझना । इन की व्याख्या इसी अध्ययन के पृष्ठ १२८ आदि पर की जा चुकी है ।

है। तदनन्तर वह उत्पला उन अनेकविध शूल्य (शूला—प्रोत) आदि गोमांसों के साथ सुरा आदि का आस्वादन प्रस्वादन आदि करती हुई अपने दोहद को पूर्ति करती है इस भांति सम्पूर्ण दोहद वाली, सम्मानित दोहद वाली, विनीत दोहद वाली, व्युच्छिन्न दोहद वाली, और सम्पन्न दोहद वाली वह उत्पला कूटग्राही उस गर्भ को सुख पूर्वक धारण करती है।

टीका—उत्पला को अपने पति देव की तर्फ से दोहद-पूर्ति का आश्वासन मिला जिस से उसके हृदय को कुछ सान्त्वना मिली, यह गत सूत्र मे वर्णन किया जा चुका है।

उत्पला को दोहदपूर्ति का वचन दे कर भीम वहा से चल दिया, एकांत में बैठकर उत्पला की दोहद-पूर्ति के लिये क्या उपाय करना चाहिये ? इस का उसने निश्चय किया। तदनुसार मध्यरात्रि के समय जब कि चारों तर्फ सन्नाटा छाया हुआ था, और रात्रि देवी के प्रभाव से चारो ओर अन्धकार छाया हुआ था, एव नगर की सारी जनता निस्तब्ध हो कर निद्रादेवी की गोद मे विश्राम कर रही थी, भीम अपने बिस्तर से उठा और एक वीर सैनिक की भांति अस्त्र शस्त्रों से लैस हो कर हस्तिनापुर के उस गोमडप मे पहुचा, जिस का कि ऊपर वर्णन किया गया है। वहा पहुँच कर उसने पशुओं के ऊधस् तथा अन्य अगोपागों का मास काटा और उसे लेकर सीधा घर की ओर प्रस्थित हुआ, घर में आकर उसने वह सब मास अपनी स्त्री उत्पला को दे दिया। उत्पला ने भी उसे पका कर सुरा आदि के साथ उसका यथारुचि व्यवहार किया अर्थात् कुछ खाया, कुछ बाटा और कुछ का अन्य प्रकार से उपयोग किया। उस से उस के दोहद की यथेच्छ पूर्ति हुई तथा वह प्रसन्न चित्त से गर्भ का उद्वहन करने लगी।

सूत्रगत "एगे" और "अबीए" ये दोनों पद समानार्थक से हैं, परन्तु टीकार महानुभाव ने "एगे" का भावार्थ एकाकी—सहायक से रहित और "अबीए" इस पद का धर्मरूप सहायक से शून्य, यह अर्थ किया है ['एगे" त्ति सहायताभावात्। "अबीए" त्ति धर्मरूपसहायाभावात्]

तथा "सण्णद्ध० जाव पहरणे" और "गोरूवाण जाव वसभाण" एव 'छिदंति जाव अप्पेगइयाण—' इन स्थलों का "—जाव यावत्—" पद प्रकृत द्वितीय अध्ययन में ही पीछे पढे गये सूत्रपाठों का स्मारक है। पाठक वहीं से देख सकते है।

उत्पला अपने मनोभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुई। उस के दोहद की यथेच्छ पूर्ति हो जाने उसे असीम हर्ष हुआ। इसी से वह उत्तरोत्तर गर्भ को आनन्द पूर्वक धारण करने लगी। सूत्रकार ने भी उत्पला की आतरिक अभिलाषापूर्ति के सूचक उपयुक्त शब्दो का उल्लेख करके उस का समर्थन किया है। तथा उत्पला के विषय मे जो विशेषण दिये हैं उनमे टीकाकार ने निम्नलिखित अन्तर दिखाया है—

"—संपुण्णदोहल त्ति—" समस्त—वाछितार्थ—पूरणात्। "सम्माणियदोहल त्ति" वाछितार्थ-समानयनात्। "विणीयदोहल त्ति" वाञ्छाविनयनात्। "विछिन्नदोहल त्ति" विवक्षितार्थ—वाछानुबन्ध-विच्छेदात्। "संपन्नदोहल त्ति" विवक्षितार्थभोगसपाद्यानन्दप्राप्तेरिति, अर्थात् उत्पला कूटग्राहिणी को समस्त वाछितपदार्थों के पूर्ण होने के कारण **सम्पूर्णदोहदा**, इच्छित पदार्थों के समानयन के कारण **सम्मानितदोहदा**, इच्छा—विनयन के कारण **विनीतदोहदा**, विवक्षितपदार्थों की वाछा के अनुबन्ध-विच्छेद (परम्परा-विच्छेद) के कारण **व्युच्छिन्नदोहदा**, तथा इच्छित-पदार्थों के भोग उपलब्ध कर सानन्द होने के कारण **सम्पन्नदोहदा** कहा गया है।

अब सूत्रकार उत्पला के गर्भ की स्थिति पूरी होने के बाद के वृत्तान्त का वर्णन करते हैं —

मूल—[1] ततेणं सा उप्पला कूड० अरणया कयाती णवण्हं मासाणं बहुपडि-पुण्णाणं दारगं पयाता । तते णं तेणं दारएणं जायमेत्तेणं चेव [2]महया सद्देणं विग्घुट्ठे विस्सरे आरसिते । तते णं तस्स दारगस्स आरसियसद्दं सोच्चा निसम्म हत्थिणाउरे नगरे बहवे नगरगोरूवा जाव वसभा य भीया ४ उव्विग्गा सव्वओ समंता विप्पलाइत्था । तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरे एयारूवं नामधेज्जं करेंति, जम्हा णं इमेणं दारएणं जायमेत्तेणं चेव महया २ सद्देणं विग्घुट्ठे विस्सरे आरसिते । तते णं एयस्स दारगस्स आरसितसद्दं सोच्चा निसम्म हत्थिणाउरे णगरे बहवे नगरगोरूवा य जाव भीया ४ सव्वतो समंता विप्पलाइत्था, तम्हा णं होउ अम्हं दारए गोत्तासए नामेणं । तते णं से गोत्तासे दारए उम्मुक्कबालभावे जाव जाते यावि होत्था । तते णं से भीमे कूडग्गाहे अरणया कयाती कालधम्मुणा संजुत्ते । तते णं से गोत्तासे दारए बहूणं मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरिजणेणं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे भीमस्स कूडग्गाहस्स नीहरणं करेति, करेत्ता बहूइं लोइयमयकिच्चाइं करेति ।

(१) छाया—ततः सा उत्पला कूट० अन्यदा कदाचित् नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारकं प्रजाता ततस्तेन दारकेण जातमात्रेणैव महता शब्देन [1]विघुष्टं विस्वरमारसितम् । ततः एतस्य दारकस्य आरसितशब्दं श्रुत्वा निशम्य हस्तिनापुरे नगरे बहवो नगरगोरूपाश्च यावत् भीता ४ उद्विग्नाः सर्वतः समन्तात् विपलायाञ्चक्रिरे, ततस्तस्य दारकस्याम्बापितरौ इदमेतद्रूपं नामधेयं कुरुतः, यस्माद् आवयोरनेन दारकेण जातमात्रेणैव महता २ शब्देन विघुष्टं विस्वरमारसितम्, ततः एतस्य दारकस्यारसितशब्दं श्रुत्वा निशम्य हस्तिनापुरे नगरे बहवो नगरगोरूपाश्च यावत् भीता ४ सर्वतः समन्तात् विपलायाञ्चक्रिरे तस्माद् भवत्वयोर्दारको गोत्रासो नाम्ना । ततः स गोत्रासो दारकः उन्मुक्तबालभावो यावत् जातश्चाप्यभवत् । ततः स भीमः कूटग्राहोऽन्यदा कदाचित् कालधर्मेण संयुक्तः । ततः स गोत्रासो दारको बहुना [2]मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनेन सार्द्धं संपरिवृतो रुदन् क्रन्दन् विपलन् भीमस्य कूटग्राहस्य नीहरणं करोति । नीहरणं कृत्वा बहूनि लौकिक—मृतकृत्यानि करोति ।

(२) टीकाकार श्री अभयदेवसूरि "—महया २ सद्देणं विग्घुट्ठे विस्सरे आरसिते—" इस पाठ के स्थान पर —महया २ विग्घुट्ठे चिच्चीसरे आरसिते—" ऐसा पाठ मानते हैं । इस पाठ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं "—महया २ चिच्ची आरसिय—" महता महता चिच्चीत्येवं चीत्कारेणेत्यर्थः । "आरसिय" त्ति आरसितमारटितमित्यर्थः । अर्थात्—उस बालक ने "चिच्ची" इत्यात्मक चीत्कार के द्वारा महान् शब्द किया ।

(१) विघुष्टं—चीत्कृतम्, विस्वरं-कर्णकटुस्वरयुक्तम्, आरसितम्—क्रन्दितमिति भावः ।

(२) मित्र, ज्ञाति आदि शब्दों की व्याख्या निम्नोक्त श्लोकों में वर्णित की गई है, जैसे कि—
मित्तं सयेगरूवं हियमुवदिसइ पियं च वितणोइ । तुल्लायारवियारी सजाइवग्गो य सम्मया णाइ ।१।

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर । सा—उस । उप्पला—उत्पला नामक । कूड०—कूटग्राहिणी ने । अण्णया कयाती—अन्य किसी समय । नवण्हं मासाणं—नव मास । पडिपुण्णाणं—पूरे हो जाने पर । दारगं—बालक को । पयाता—जन्म दिया । तते णं—तत्पश्चात् । जायमेत्तेणं चेव—जन्म लेते ही । तेणं दारएणं—उस बालक ने । महया—महान । सद्देणं—शब्द से । आरसिते—भयकर आवाज की जो कि । विग्घुट्ठे—चीत्कारपूर्ण एव । विस्सरे—कर्णकटु थी । तते णं—तदनन्तर । तस्स—उस । दारगस्स—बालक का । आरसियसद्दं—आरसित शब्द-चिल्लाहट को । सोच्चा—सुन कर तथा । णिसम्म—अवधारण कर । हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर नामक । णगरे—नगर में । बहवे—अनेक । णगरगोरूवा—नागरिक पशु । जाव—यावत् । वसभा य—वृषभ । [1]भीया ४—भयभीत हुए । उव्विग्गा उद्विग्न हुए । सव्वओ समंता—चारो ओर । विप्पलाइत्था—भागने लगे। तते णं—तदनन्तर । तस्स दारगस्स—उस बालक के । अम्मापियरो—माता पिता, उस का । अयमेयारूवं—इस प्रकार का । नामधेज्जं—नाम । करेंति—रखने लगे । जम्हा णं—जिस कारण । अम्हं—हमारे । जायमेत्तेणं—जन्म लेते । चेव—ही । इमेणं—इस । दारएणं—बालक ने । महया २—महान । सद्देणं—शब्द से । आरसिते—भयानक आवाज की जो कि । विग्घुट्ठे—चीत्कार पूर्ण थी और । विस्सरे—कानों को कटु लगने वाली थी । तते णं—तदनन्तर । एयस्स—इस । दारगस्स—बालक के । आरसितसद्दं—चिल्लाहट के शब्द को । सोच्चा—सुन कर तथा । णिसम्म—अवधारण कर । हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर । णगरे—नगर मे । बहवे—अनेक । णगरगोरूवा य—नागरिक पशु । जाव—यावत् । भीया ४—भयभीत हुए । सव्वओ समंता—चारो तर्फ । विप्पलाइत्था—भागने लगे । तम्हा णं—इस लिये । अम्हं—हमारा । दारए—यह बालक । गोत्तासए—गोत्रास, इस । नामेणं—नाम से । होउ—हो । तते णं—तत् पश्चात् । से—वह । गोत्तासे—गोत्रास नामक । दारए—बालक । उम्मुक्कबालभावे—बालभाव को त्याग कर । जाव—यावत् । जाते यावि होत्था—युवावस्था को प्राप्त

माया पिउ-पुत्ताई, णियगो सयणो पिउव्वभायाई, । सम्बन्धी ससुराइ, दासाई परिजणो णेओ ।२।

पतच्छाया— मित्र सदैकरूप हितमुपदिशति प्रियं च वितनोति ।
तुल्याचारविचारी, स्वजातिवर्गश्च सम्मता ज्ञाति ॥१॥
माता-पितृ-पुत्रादिनिजक स्वजन पितृव्यभ्रात्रादि ।
सम्बन्धी श्वशुरादिर्दासादि परिजनो ज्ञेय ॥२॥

अर्थात मित्र सदा एक रूप रहता है, उस के मानस मे कभी अन्तर नही आने पाता, वह हितकारी उपदेश करता है, प्रीति को बढाता है । समान विचार और आचार वाला को ज्ञाति कहते हैं । माता पिता और पुत्र आदि निजक कहलाते हैं । पितृव्य—चाचा और भ्राता आदि को स्वजन कहते हैं । श्वशुर आदि को सम्बन्धी कहा जाता है और दास दासी आदि को परिजन कहा जाता है ।

(१) "—भीया—" यहा दिया गया ४ का अक "—तत्था, उव्विग्गा, संजायभया —" इन तीन पदों का संसूचक है । भीत आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

"—भीता—भययुक्ता भयजनकशब्दश्रवणाद्, त्रस्ता —त्रासमुपगता· "—कोप्यस्माकं प्राणा-पहारको जन्तु· समागत इति ज्ञानात्, उद्विग्ना व्याकुला —कम्पमानहृदया सञ्जातभया —भयजनितकम्पेन प्रचलितगात्रा —" अर्थात् हस्तिनापुर नगर के गौ, साण्ड आदि पशु भयोत्पादक शब्द को सुन कर भीत—भयभीत हुए और "—कोई हमारे प्राण लूटने वाला जीव यहा आगया है—" यह सोच कर त्रस्त हुए । उन का हृदय काम्पने लग पड़ा । हृदय के साथ साथ शरीर भी काम्पने लग गया ।

हो गया । **तते णं**—तदनन्तर । **से भीमे** वह भीम नामक । **कूडग्गाहे**—कूटग्राह । **अरणया**—अन्यदा **कयातो**—कदाचित्=किसी समय । **कालधम्मुणा**—काल धर्म से । **संजुत्ते**—सयुक्त हुआ अर्थात् काल कर गया मर गया । **तते ण**—तदनन्तर । **से**—वह । **गोत्तासे**—गोत्राम। **दारए**—बालक । **बहुणं**—अनेक । **मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेणं**—मित्र-सुहृद्, ज्ञातिजन, निजक—आत्मीय पुत्रादि, स्वजन पितृव्यादि, सम्बन्धी—श्वशुरादि, परिजन—दास दासी आदि के । **सद्धिं**—साथ । **संपरिवुडे**—सपरिवृत—घिरा हुआ। **रोअमाणे**—रुदन करता हुआ । **कंदमाणे**—आक्रन्दन करता हुआ। **विलवमाणे**—विलाप करता हुआ । **भीमस्स कूडग्गाहस्स**—भीम कूटग्राह का । **नीहरणं**—नीहरण—निकालना । **करेति २ त्ता**—करता है करके । **बहूइं**—अनेक । [1]**लोइयमयकिच्चाइं**—लौकिक मृतक कियाए । **करेति**—करता है ॥

मूलार्थ—तदनन्तर उस उत्पला नामक कूटग्राहिणी ने किसी समय नवमास पूरे हो जाने पर बालक को जन्म दिया । जन्मते ही उस बालक ने महान कर्णकटु एव चीत्कारपूर्ण भयकर शब्द किया, उस के चीत्कारपूर्ण शब्द को सुन कर तथा अवधारण कर हस्तिनापुर नगर के नागरिक पशु यावत् वृषभ आदि भयभीत हुए, उद्वेग को प्राप्त हो कर चारो तर्फ भागने लगे। तदनन्तर उस बालक के माता पिता ने इस प्रकार से उस का नामकरण सस्कार किया कि जन्म लेते ही इस बालक ने महान कर्णकटु और चत्कारपूर्ण भीषण शब्द किया है जिसे सुन कर हस्तिनापुर के गौ आदि नागरिक पशु भयभीत हुए और उद्विग्न हो कर चारों तर्फ भागने लगे, इसलिये इस बालक का नाम गोत्रास [गो आदि पशुओ को त्रास देने वाला] रक्खा जाता है। तदनन्तर गोत्रास बालक ने बालभाव को त्यागकर युवावस्था मे पदार्पण किया। तदनन्तर अर्थात् गोत्रास के युवक होने पर भीम कूटग्राह किसी समय कालधर्म को प्राप्त हुआ अर्थात् उस की मृत्यु हो गई। तब गोत्रास बालक ने अपने मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों से परिवृत हो कर रुदन, आक्रन्दन और विलाप करते हुए कूटग्राह का दाह—सस्कार किया और अनेक लौकिक मृतक क्रियाए की, अर्थात् और्ध्वदैहिक कर्म किया।

टीका—गर्भ की स्थिति पूरी होने पर भीम कूटग्राह की स्त्री उत्पला ने एक बालक को जन्म दिया, परन्तु जन्मते ही उस बालक ने बडे भारी कर्णकटु शब्द के साथ ऐसा भयकर चीत्कार किया कि उस को सुन कर हस्तिनापुर नगर के तमाम पशु भयभीत होकर इधर उधर भागने लग पडे।

प्रकृति का यह नियम है पुण्यशाली जीव के जन्मते और उस से पहले गर्भ में आते ही पारिवारिक अशाति दूर हो जाती है तथा आसपास का क्षुब्ध वातावरण भी प्रशान्त हो जाता है एव माता को जो दोहद उत्पन्न होते हैं वे भी भद्र तथा पुण्यरूप ही होते हैं। परन्तु पापिष्ट जीव के आगमन में सब कुछ इस से विपरीत होता है। उस के गर्भ में आते ही नानाप्रकार के उपद्रव होने लगते हैं। माता के दोहद भी सर्वथा निकृष्ट एव अधर्म—पूर्ण होते हैं प्रशान्त वातावरण में भयानक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और उस का जन्म अनेक जीवो के भय और सत्रास का कारण बनता है । तात्पर्य यह है कि पुण्यवान् और पापिष्ट जीव आते ही अपने स्वरूप का परिचय करा देते

---

(१) लौकिकमृतकृत्यानि=अग्निसस्कारादारभ्य तन्निमित्तकदानभोजनादिपर्यन्तानि कर्माणीति भाव । अर्थात्—अग्निसंस्कार से लेकर पिता के निमित्त किए गए दान और भोजनादि कर्म लौकिकमृतक कृत्य शब्द से सगृहीत होते हैं ।

है इसी नियम के अनुसार उत्पला के गर्भ से जन्मा हुआ बालक हस्तिनापुर के विशाल गोमण्डप में रहने वाले गाय आदि अनेकों मूक प्राणियों के भय और सन्त्रास का कारण बना।

जैनागमों का पर्यालोचन करने से पता चलता है कि उत्पन्न होने वाले बालक या बालिका के नाम करण में माता पिता का गुणनिष्पत्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था, बालक के गर्भ में आते ही माता पिता को जिन जिन बातों की वृद्धि या हानि का अनुभव होता, अथच जन्म समय उन्हें उत्पन्न हुए बालक में जो विशेषता दिखाई देती, उसी के अनुसार वह बालक का नामकरण करने का यत्न करते, स्पष्टता के लिये उदाहरण लीजिए —

श्रमण भगवान् महावीर का परमपुण्यवान् जीव जब त्रिशला माता के गर्भ में आया तब से उन के यहां धन-धान्यादि सम्पूर्ण पदार्थों की वृद्धि होने लग पड़ी। इसी दृष्टि से उन्हों ने भगवान् का वर्द्धमान यह गुणनिष्पन्न नामकरण किया। अर्थात् उन का वर्द्धमान यह नाम रक्खा गया। इसी भांति धर्म में दृढता होने से दृढप्रतिज्ञ और देव का दिया हुआ होने से देवदत्त इत्यादि नाम रक्खे गये।

इसी विचार के अनुसार बालक के जन्म लेने पर उस के माता पिता उत्पला और भीम ने विचार किया कि जन्म लेते ही इस बालक ने बड़ा भयकर चीत्कार किया, जिस के श्रवण से सारे हस्तिनापुर के गो-वृषभादि जीव सत्रस्त हो उठे इसलिये इस का गुणनिष्पन्न नाम गोत्रासक (गो आदि पशुओं को त्रास पहुंचाने वाला) रखना चाहिये तदनुसार उन्हों ने उस का गोत्रास ऐसा नामकरण किया।

ससारवर्ती जीवों को पुत्र की प्राप्ति से कितना हर्ष होता है? और खास कर जिन के पहले पुत्र न हो, उन को पुत्र-जन्म से कितनी खुशी होती है? इस का अनुभव प्रत्येक गृहस्थ को अच्छी तरह से होता है। बड़ा होने पर वह धर्मात्मा निकलता है या महा अधर्मी, एव पितृभक्त निकलता है या पितृ-घातक, इस बात का विचार उस समय माता पिता को बिल्कुल नहीं होता और नाहीं इस की ओर उन का लक्ष्य जाता है किन्तु पुत्र प्राप्ति के व्यामोह में इन बातों को प्राय सर्वथा वे बिसारे हुए होते हैं। अस्तु। उत्पला और भीम को भी पुत्र प्राप्ति से बड़ा हर्ष हुआ। वे उसका बडी प्रसन्नता से पालन पोषण करने लगे और बालक भी शुक्लपक्षीय चन्द्र-कलाओं की भांति बढने लगा। अब वह बालकभाव का त्याग कर युवावस्था में प्रवेश कर रहा है अर्थात् गोत्रास अब बालक-शिशु नहीं रहा किन्तु युवक बन गया है। भीम और उत्पला पुत्र के रूप सौन्दर्य को देख कर फूले नहीं समाते। परन्तु समय की गति बडी विचित्र है। इधर तो भीम के मन में पुत्र के भावी उत्कर्ष को देखने की लालसा बढ रही है उधर समय उस ओर चेतावनी दे रहा है। गोत्रास के युवावस्था में पदार्पण करते ही भीम को काल ने आ ग्रसा और वह अपनी सारी आशाओं को सवरण कर के दूसरे लोक के पथ का पथिक जा बना।

पिता के परलोकगमन पर गोत्रास को बहुत दुःख हुआ, उसका रुदन और विलाप देखा नहीं जाता। अन्त में स्वजन सम्बन्धी लोगों द्वारा कुछ सान्त्वना प्राप्त कर उसने पिता का दाह-कर्म किया और तत्सम्बन्धी और्ध्वदैहिक कर्म के आचरण से पुत्रोचित कर्तव्य का पालन किया।

"—नगरगोरूवा जाव वसभा—" यहां पठित **"—जाव—यावत्—"** पद से **"—णं सणाहा य अणाहा य णगरगाविओ य णगरबलीवद्दा य णगरपड्डियाओ य णगर—"** यह पाठ ग्रहण करने की सूचना सूत्रकार ने दी है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १३७ पर दिया जा चुका है।

"—णगरगोरूवा जाव भीया—"। यहां का **"—जाव—यावत्—"** पद **—सणाहा य अणाहा य —"** से लेकर **"—णगरवसभा य—"** यहां तक के पाठ का परिचायक है।

"—बालभावे जाव जाते—" यहां पठित "—जाव—यावत्—" पद से —विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणमणुप्पत्ते—" इन पदों का ग्रहण होता है । इन का भावार्थ पृष्ठ ९७ पर दिया जा चुका है ।

सदा एकान्त हित का उपदेश देने वाले सखा को **मित्र** कहते है । समान आचार विचार वाले जाति—समूह को **ज्ञाति** कहते हैं । माता, पिता, पुत्र, कलत्र (स्त्री) प्रभृति को **निजक** कहते हैं । भाई चाचा, मामा, आदि को **स्वजन** कहते हैं । श्वशुर, जामाता, साले, बहनोई आदि को **सम्बंधी** कहते हैं । मन्त्री, नौकर, दास, दासी आदि को **परिजन** कहते हैं ।

अब सूत्रकार गोत्रास की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से सुनंदे राया गोत्तासं दारयं अन्नया कयाती सयमेव कूडग्गाहत्ताए ठवेति । तते णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे जाए यावि होत्था, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे । तते णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे कल्लाकल्लिं अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सन्नद्ध-बद्ध-कवए जाव गहियाउहपहरणे सयातो गिहातो निज्जाति, जेणेव गोमंडवे तेणेव उवा०, बहूणं णगरगोरूवाणं सणा० जाव वियंगेति २ जेणेव सए गिहे तेणेव उवा० । तते णं से गोत्तासे कूड० तेहिं बहूहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं जाव सुरं च ५ आसा० ४ विहरति । तते णं से गोत्तासे कूड० एयकम्मे प्प० वि० स० सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता पंच वाससयाइं परमाउं पालयित्ता अट्टदुहट्टोवगते कालमासे कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसं तिसागरो० णेरइयत्ताए उववन्ने ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । **से सुनंदे राया**—उस सुनन्द नामक राजा ने । **अन्नया कयाति**—अन्यदा कदाचित्—अर्थात् किसी अन्य समय पर । **गोत्तासं दारयं**—गोत्रास नामक बालक को । **सयमेव**—स्वयं—अपने आप ही । **कूडग्गाहत्ताए**—कूटग्राहित्वेन—कूटग्राहरूप से । **ठवेति**—स्थापित किया

---

(१) छाया—ततः स सुनन्दो राजा गोत्रासं दारकमन्यदा कदाचित् स्वयमेव कूटग्राहतया स्थापयति । ततः स गोत्रासो दारकः कूटग्राहो जातश्चाप्यभवत्, अधार्मिको यावत्[1] दुष्प्रत्यानन्दः ततः स गोत्रासो दारकः कूटग्राहः प्रतिदिनं अर्द्धरात्रकालसमये एकोऽद्वितीयः सन्नद्धबद्धकवचो यावद् गृहीतायुधप्रहरणः स्वस्माद् गृहाद् निर्याति, यत्रैव गोमण्डपस्तत्रैवोपा० बहूनां नगरगोरूपाणां सनाथानां यावत् विकृन्तति, विकृत्य यत्रैव स्वं गृहं तत्रैवोपा० । ततः स गोत्रासः कूट० तैर्बहुभिर्गोमांसैः शूल्यैर्यावत् सुरां च ५ आस्वा० ४ विहरति । ततः स गोत्रासः कूट० एतत्कर्मा प्र० [एतत्प्रधानः] वि० [एतद्विद्यः] स० [एतत्समाचारः] सुबहु पापं कर्म समर्ज्य पंच वर्षशतानि परमायुः पालयित्वा आर्त्त-दुःखार्तोपगतः कालमासे कालं कृत्वा द्वितीयायां पृथिव्यां उत्कृष्टत्रिसागरो० नैरयिकतयोपपन्नः ।

---

(१) "—यावत्—" पद से "—अधर्मानुगः, अधर्मिष्ठः, अधर्माख्यायी, अधर्मप्रलोकी, अधर्मप्ररजनः, अधर्मशीलसमुदाचारः, अधर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्, दुश्शीलः दुर्व्रतः—इन शब्दों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत सूत्र के पृष्ठ ५५ पर कर दी गई है ।

अर्थात् सुनन्द राजा ने गोत्रास को कूटग्राह के पद पर नियुक्त किया। **तते णं**—तदनन्तर। **गोत्तासे**—गोत्रास नामक। **दारए**—बालक। **कूडग्गाहे**—कूटग्राह। जाए **यावि होत्था**—होगया अर्थात् कूटग्राह के नाम से प्रसिद्ध हो गया, परन्तु। **अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे**—वह बड़ा ही अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द—बड़ी कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **कूडग्गाहे**—कूटग्राह। **गोत्तासे-दारए**—गोत्रास बालक। **कल्लाकल्लिं**—प्रति दिन-हर रोज। **अड्ढरत्तकालसमयंसि**—अर्द्धरात्रि के समय **एगे**—अकेला। **अबीए**—जिस के साथ दूसरा कोई नही। **सन्नद्धबद्धकवए**—सन्नद्ध—सैनिक की भाति सुसज्जित एव कवच बान्धे हुए। **जाव**—यावत्। **गहियाउहपहरणे**—आयुध और प्रहरण लेकर। **सयातो**—अपने। **गिहातो**—घर मे। **निज्जाति**—निकलता है, निकल कर। **जेणेव**—जहा पर। **गोमंडवे**—गोमडप है। **तेणेव**—वहा पर। **उवा०**—आता है, आकर **बहूण**—अनेक। **णगरगोरू-वाणं**—नागरिक पशुओ के। **सणाह०**—सनाथों के। **जाव**—यावत्। **वियंगेति २**—अगों को काटता है और उनके अगों को काट कर। **जेणेव**—जहां पर। **सए गिहे**—अपना घर है। **तेणेव**—वहीं पर। **उवा०**—आ जाता है। **तते णं**—तदनन्तर। **से गोत्तासे कूड०**—वह गोत्रास कूटग्राह। **तेहिं**—उन **बहूहिं**—बहुत से। **सोल्लेहि**—शूलपक्व। **गोमंसेहि जाव**—गो आदि यावत् नागरिक पशुओं के मासों के साथ। **सुरं च ५**—सुरा आदि का। **आसा०४**—आस्वादन आदि लेता हुआ। **विहरति**—जीवन व्यतीत करता है। **तते णं**—तदनन्तर। **से गोत्तासे कूड०**—गोत्रास नामक कूटग्राह। **एयकम्मे**—इन कर्मों वाला। **प्प०**—इस प्रकार के कार्यों मे प्रधानता रखने वाला। **वि०**—इस विद्या को जानने वाला। **स०**—एवविध आचरण करने वाला। **सुबहुं**—अत्यन्त। **पावं**—पाप। **कम्म**—कर्म का। **समज्जिणित्ता**—उपार्जन कर। **पंच वाससयाइं**—पाच सौ वर्ष की। **परमाउं**—परम आयु का। **पालयित्ता**—पालन कर अर्थात् उपभोग कर। **अट्टदुहट्टोवगते**—चिन्ताओं और दु खो से पीडित होकर **कालमासे**—कालमास—मरणावसर में। **कालं किच्चा**—काल करके। **उक्कोस**—उत्कृष्ट। **तिसागरो०**—तीन सागरोपम स्थिति वाली। **दोच्चाए**—दूसरी। **पुढवीए**—नरक में। **णेरइयत्ताए**—नारकरूप से **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—तत् पश्चात् सुनन्द राजा ने गोत्रास बालक को स्वयमेव कूटग्राह (छल कपट के प्रपच से परधन का अपहारक) के पद पर नियुक्त कर दिया। तदनन्तर अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द वह गोत्रास कूटग्राह प्रतिदिन अर्द्धरात्रि के समय सैनिक की भाति तैयार हो कर कवच पहन कर, एव शस्त्र अस्त्रो को ग्रहण कर अपने घर से निकलता है, निकल कर गोमडप मे जाता है, वहा पर अनेक गो आदि नागरिक पशुओं के अंगोपागो को काटकर अपने घर मे आ जाता है, आकर उन गो आदि पशुओ के शूल—पक्व मासों के साथ सुरा आदि का आस्वादन आदि करता हुआ जीवन व्यतीत करता है।

तदनन्तर वह गोत्रास कूटग्राह इस प्रकार के कर्मों वाला, इस प्रकार के कार्यो मे प्रधानता रखने वाला, एवंविध विद्या—पापरूप विद्या के जानने वाला तथा एवविध आचरणो वाला नाना प्रकार के पाप कर्मों का उपार्जन कर पाच सौ वर्ष की परम आयु को भोग कर चिन्ताओं और दु खों से पीडित होता हुआ कालमास मे—मरणावसर मे काल कर के उत्कृष्ट तीन सागरोपम की स्थिति वाले दूसरे नरक मे नारकरूप से उत्पन्न हुआ।

टीका—अधर्मी या धर्मात्मा, पापी अथवा पुण्यवान् जीव के लक्षण गर्भ से ही प्रतीत

होने लगते हैं । गोत्रास का जीव गर्भ मे आते ही अपनी पापमयी प्रवृत्ति का परिचय देने लग पड़ा था । उस की माता के हृदय में जो हिंसाजनक पापमय संकल्प उत्पन्न हुए उस का एकमात्र कारण गोत्रास का पाप—प्रधान प्रवृत्ति करने वाला जीव ही था । युवावस्था को प्राप्त होकर पितृ-पद को सभाल लेने के बाद उसने अपनी पापमयी प्रवृत्ति का यथेष्टरूप से आरम्भ कर दिया। प्रति-दिन अर्द्धरात्रि के समय एक सैनिक की भाति कवचादि पहन और अस्त्रशस्त्रादि मे लैस होकर हस्तना-पुर के गोमण्डप में आना और वहा नागरिक पशुओं के अगोपागादि को काटकर लाना, एव तद्गत मास को शूलादि मे पिरोकर पकाना और उस का मदिरादि के साथ सेवन करना यह सब कुछ उस की जघन्यतम हिंसक प्रवृत्ति का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। इसी लिये सूत्रकार ने उसे अधार्मिक, अधर्मानुरागी यावत् साधुजनविद्वेषी कहा है, तथा पाप—कर्मों का उपार्जन करके तीनसागरो-पम की उत्कृष्टस्थिति वाले दूसरे नरक मे उस का नारकरूप से उत्पन्न होना भी बतलाया है।

बुरा कर्म बुरे ही फल को उत्पन्न करता है। पुण्यसुख का उत्पादक और पाप दु ख का जनक है, इस नियम के अनुसार गोत्रास को उस के पापकर्मों का नरकगतिरूप फल प्राप्त होना अनिवार्य था। पापादि क्रियाओं मे प्रवृत्त हुआ जीव अन्त में दु ख—सवेदन के लिये दुर्गति को प्राप्त करता है। गोत्रास ने अनेक प्रकार के पापमय आचरणों से दुर्गति के उत्पादक कर्मों का उपार्जन किया और आयु की समाप्ति पर आर्तध्यान करता हुआ वह दूसरे नरक का अतिथि बना, वहा जाकर उत्पन्न हुआ।

"अट्ट-दुहट्टोवगए" इस पद की टीकाकार महानुभाव ने निम्नलिखित व्याख्या की है—

"आर्त, आर्तध्यानं दुर्घटं-दुःखस्थगनीयं दुर्वार(र्य)मित्यर्थः उपगत.—प्राप्तो यः स तथा—" अर्थात् बड़ी कठिनता से निवृत्त होने वाले आर्तध्यान[1] को प्राप्त हुआ। तथा प्रस्तुत सूत्रगत—

---

(१) आर्ति नाम दु.ख का है, उस मे उत्पन्न होने वाले ध्यान को [1]आर्तध्यान कहते हैं। वह चार भागों में विभाजित होता है, जैसे कि—

१—अमनोज्ञवियोगचिन्ता—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, विषय एव उन की साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उन के वियोग (हटाने) की चिन्ता करना तथा भविष्य मे भी उन का सयोग न हो, ऐसी इच्छा का रखना आर्तध्यान का प्रथम प्रकार है।

२—मनोज्ञ-संयोग-चिन्ता—पाचो इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय एवं उन के साधनरूप माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन आदि अर्थात् इन सुख के साधनों का सयोग होने पर उन के वियोग (अलग) न होने का विचार करना तथा भविष्य में भी उन के सयोग की इच्छा बनाए रखना, आर्तध्यान का दूसरा प्रकार है।

३—रोग-चिन्ता—शूल, सिरदर्द, आदि रोगों के होने पर उन की चिकित्सा में व्यग्र प्राणी का उन के वियोग के लिये चिन्तन करना तथा रोगादि के अभाव में भविष्य के लिए रोगादि के सयोग न होने की चिन्ता करना, आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है।

४—निदान (नियाना)—देवेन्द्र, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव के रूप, गुण और ऋद्धि को देख या सुन कर उन में आसक्ति लाना और यह सोचना कि मैंने जो सयम आदि धर्मकृत्य किए हैं उन के फलस्वरूप मुझे भी उक्त गुण एव ऋद्धि प्राप्त हो, इस प्रकार निदान (किसी व्रतानुष्ठान की फल-प्राप्ति की अभिलाषा) की चिन्ता करना, आर्तध्यान का चौथा प्रकार है।

---

(१) आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वहार· ॥३१॥
वेदनायाञ्च ॥३२॥ विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥३३॥ निदान च ॥३४॥
(तत्वार्थ सूत्र अ ९)

"ए० वि० स०" इन तीनों पदों से क्रमश "एयप्पहाणे" "एयविज्जे" "एयसमायारे" इन पदों का ग्रहण करना। इस तरह से—[1]एतत्कर्मा, एतत्प्रधान, एतद्विद्य और एतत्समाचार ये चार पद सकलित होते हैं।

सागरोपम की व्याख्या पहले अध्ययन के पृष्ठ ९४ पर की जा चुकी है। और स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट भेद से दो प्रकार की होती है। कम से कम स्थिति को जघन्यस्थिति और अधिक से अधिक स्थिति को उत्कृष्टस्थिति कहते हैं।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र मे गोत्रास की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हैं—

मूल—[2] तते णं सा विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जातनिंदुया यावि होत्था। जाया जाया दारगा विनिहायमावज्जंति। तते णं से गोत्तासे कूड० दोच्चाओ पुढवीओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव वाणियग्गामे णगरे विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तते णं सा सुभद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया। तते णं सा सुभद्दा सत्थवाही तं दारगं जातमेत्तयं चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेति २ दोच्चं पि गेण्हावेति २ आणुपुव्वेणं सारक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेति। तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो ठितिपडियं च चंदसूरदंसणं च जागरियं च महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं करेंति। तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो एक्कारसमे दिवसे निव्वत्ते, संपत्ते बारसाहे अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्ज करेंति। जम्हा णं अम्हं इमे दारए जायमेत्तए चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिते, तम्हा णं होउ अम्हं दारए उज्झियए

---

(१) १—**एतत्कर्मा**—जिस का "—गो आदि पशुओं की हिंसा का और मद्यपान-क्रिया का करना—" यह एक मात्र कर्तव्य हो।

२—**एतत्प्रधान**—हिंसा और मद्यपानादि क्रियाओं के करने में ही जो रात दिन तत्पर रहता हो।

३—**एतद्विद्य**—हिंसा और मद्य पान करना ही जिस के जीवन की विद्या (ज्ञान) हो।

४ **एतत्-समाचार**—गो आदिकों की हिंसा करना और मदिरा के नशे में मस्त रहना ही जिस का आचरण बना हुआ हो।

(२) **छाया**—ततः सा विजयमित्रस्य सार्थवाहस्य सुभद्रा भार्या जातनिंदुका चाप्यभवत्। जाता जाता दारका विनिघातमापद्यन्ते। ततः स गोत्रासः कूटग्राहो द्वितीयात् पृथिवीतोऽनन्तरमुद्वृत्य इहैव वाणिजग्रामे नगरे विजयमित्रस्य सार्थवाहस्य सुभद्राया भार्याया. कुक्षौ पुत्रतयोपपन्नः। ततः सा सुभद्रा सार्थवाही अन्यदा कदाचित् नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारकं प्रजाता। ततः सा सुभद्रा सार्थवाही तं दारकं जातमात्रमेव एकान्ते अशुचिराशौ उज्झयति, उज्झयित्वा द्विरपि ग्राहयति ग्राहयित्वा—ऽऽनुपूर्व्येण संरक्षन्ती संगोपयन्ती संवर्द्धयति। ततस्तस्य दारकस्याम्बापितरौ स्थितिपतितां च चन्द्रसूर्यदर्शनं च जागर्यां च महता ऋद्धिसत्कारसमुदयेन कुरुतः। ततस्तस्य दारकस्य अम्बापितरौ एकादशे दिवसे निवृत्ते सम्प्राप्ते द्वादशाहनीदमेतद्रूपं गौणं गुणनिष्पन्नं नामधेयं कुरुतः। यस्माद् आवाभ्या—मयं दारको जातमात्रक एवैकान्तेऽशुचिराशौ उज्झितः, तस्माद् भवत्वावयोर्दारक उज्झितको नाम्ना। ततः स उज्झितको दारकः पञ्चधात्रीपरिगृहीतः तद्यथा—क्षीरधात्र्या, मज्जन० मण्डन० क्रीडापन० अङ्कधात्र्या यथा दृढप्रतिज्ञो यावत् निर्वातनिर्व्याघातगिरिकन्दरमालीन इव चम्पकपादपः सुखसुखेन परिवर्धते,।

नामेण। तते णं से उज्झियए दारए पंचधातापरिग्गहिते, तंजहा—खीरधातीए १ मज्जण० २ मंडण० ३ कीलावण० ४ अंकधातीए ५ जहा दढपतिएणो जाव निव्वायनिव्वाघाय—गिरिकंदरमल्लीणे व्व चंपयपायवे सुहसुहेणं परिवड्ढति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। विजयमित्तस्स—विजयमित्र नामक। सत्थवाहस्स—सार्थवाह की। सुभद्दा—सुभद्रा नामक। सा—वह। भारिया—भार्या। जातनिंदुया—जातनिंदु का—जिसके बच्चे उत्पन्न होते ही मर जाते हों। यावि होत्था—थी। जाया जाया दारगा—उसके उत्पन्न होते ही बालक। विनिहायमावज्जंति—विनाश को प्राप्त हो जाते थे। तते णं—तदनन्तर। से गोत्तासे—वह गोत्रास। दोच्चाए—दूसरे। पुढवीओ—नरक से। अणंतरं—अन्तर रहित उव्वट्टित्ता—निकल कर। इहेव—इसी। वाणियग्गामे—वाणिजग्राम नामक। णगरे—नगर में। विजयमित्तस्स—विजयमित्र। सत्थवाहस्स—सार्थवाह की। सुभद्दाए भारियाए—सुभद्रा भार्या की। कुच्छिंसि—कुक्षि में। पुत्तत्ताए—पुत्र रूप मे। उववन्ने—उत्पन्न हुआ। तते णं—तदनन्तर। सा सुभद्दा—वह सुभद्रा। सत्थवाही—सार्थवाही ने। अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय मे नवण्हं मासाणं—नव मास के। बहुपडिपुण्णाणं—परिपूर्ण होने पर। दारगं—बालक को। पयाया—जन्म दिया। तते णं—तदनन्तर। सा सुभद्दा—वह सुभद्रा। सत्थवाही—सार्थवाही। जातमेत्तयं चेव—जातमात्र ही-उत्पन्न होते ही। तं दारगं—उस बालक को। एगंते—एकान्त। उक्कुरुडियाए—कूडे कर्कट के ढेर पर। उज्झावेति—डलवा देती है। दोच्चं पि—द्वितीयवार पुनः। गेण्हावेति—ग्रहण करा लेती है अर्थात् वहां मे उठवा लेती है और। आणुपुव्वेणं—क्रमशः। सारक्खमाणी—संरक्षण करती हुई। संगोवेमाणी—संगोपन करती हुई। संवड्ढेति—वृद्धि को प्राप्त कराती है। तते णं—तदनन्तर। तस्स उस। दारगस्स—बालक के। अम्मापियरो—माता पिता। ठितिपडियं च—स्थिति पतित—कुलमर्यादा के अनुसार पुत्र—जन्मोचित वधाई बांटने आदि की पुत्रजन्म—क्रिया तथा तीसरे दिन। चंदसूरदंसणं च—चन्द्रसूर्य दर्शन अर्थात् तत्सम्बन्धी उत्सव विशेष। जागरियं च—(छठे दिन) जागरणमहोत्सव। महया—महान। इड्ढिसक्कारसमुदएणं—ऋद्धि और सत्कार के साथ करेंति—करते हैं। तते णं—तदनन्तर। तस्स दारगस्स—उस बालक के। अम्मापितरो—माता पिता। एक्कारसमे ग्यारहवें। दिवसे। दिन के। निव्वत्ते—व्यतीत हो जाने पर। बारसाहे संपत्ते—बारहवें दिन के आने पर अयमेयारूवं—इस प्रकार का। [1]गोणं—गौण—गुण से सम्बन्धित। गुणनिप्फण्णं—गुणनिष्पन्न गुणानुरूप। नामधेज्जं—नाम। करेंति—करते हैं। जम्हा णं—जिस कारण। जायमेत्तए चेव—जातमात्र ही—जन्मते ही। अम्हं—हमारा। इमे—यह। दारए—बालक। एगंते—एकान्त। उक्कुरुडियाए—कूडा फैंकने की जगह पर। उज्झिते—गिरा दिया गया था। तम्हा णं—इसलिए। अम्हं—हमारा यह। दारए—बालक। उज्झियए—उज्झितक। नामेणं—नाम से। होउ—हो—प्रसिद्ध हो अर्थात् इस बालक का हम उज्झितक यह नाम रखते हैं। तते णं—तदनन्तर।

---

(१) गौण (गुण से सम्बन्ध रखने वाला) और गुण-निष्पन्न (गुण का अनुसरण करने वाला) इन दोनों शब्दों में अर्थगत कोई भिन्नता नहीं है। यहां प्रश्न होता है कि फिर इन दोनों का एक साथ प्रयोग क्यों किया गया? इस के उत्तर में आचार्य श्री अभयदेव सूरि का कहना है कि गौण शब्द का अर्थ अप्रधान भी होता है, कोई इस का प्रस्तुत में अप्रधान अर्थ ग्रहण न कर ले इस लिए सूत्रकार ने उसे ही स्पष्ट करने के लिए गुणनिष्पन्न इस पृथक् पद का उपयोग किया है।

से उज्झियए—वह उज्झितक। दारए—बालक। **पंचधातीपरिग्गहिते**—पाच धायमाताओं की देखरेख में रहने लगा। **तंजहा**—जैसे कि अर्थात् उन धायमाताओं के नाम ये हैं—। **खीरधातीए**—क्षीरधात्री—दूध पिलाने वाली। **मज्जण०**—स्नान धात्री—स्नान कराने वाली। **मंडण०**—मडनधात्री—वस्त्राभूषण मे अलकृत कराने वाली। **कीलावण०**—क्रीडापनधात्री—क्रीडा कराने वाली। **अंकधातीए**—अकधात्री - गोद मे खिलाने वाली, इन धायमाताओं के द्वारा। **जहा**—जिस प्रकार। **दढ्ढपतिण्णे**—दृढ—प्रतिज्ञ का। **जाव**—यावत्, वर्णन किया है, उसी प्रकार। **निव्वाय**—निर्वात—वायुरहित। **निव्वाघाय**—आघात से रहित। **गिरिकंदरमल्लीणे**—पर्वतीय कन्दरा में अवस्थित। **चंपयपायवे**—चम्पक वृक्ष की तरह। **सुहंसुहेण**—सुख पूर्वक। **परिवड्ढइ**—वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

मूलार्थ—तदनन्तर विजयमित्र सार्थवाह को सुभद्रा नाम की भार्या जो कि जातनिदु का थी अर्थात् जन्म लेते ही मरजाने वाले बच्चो को जन्म देने वाली थी। अतएव उसके उत्पन्न होते ही बालक विनाश को प्राप्त हो जाते थे। तदनन्तर वह कूटग्राह गोत्रास का जीव दूसरी नरक से निकल कर सीधा इसी वाणिजग्राम नगर के विजयमित्र सार्थवाह की सुभद्रा भार्या के उदर मे पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ—गर्भ मे आया। तदनन्तर किसी अन्य समय मे नवमास पूरे होने पर सुभद्रा सार्थवाही ने पुत्र को जन्म दिया। जन्म देते ही उस बालक को सुभद्रा सार्थवाही ने एकान्त मे कूड़ा गिराने की जगह पर डलवा दिया और फिर उसे उठवा लिया उठवा कर क्रमपूर्वक सरक्षण एव सगोपन करती हुई वह उसका परिवर्द्धन करने लगी।

तदनन्तर उस बालक के माता पिता ने महान् ऋद्धिसत्कार के साथ कुल मर्यादा के अनुसार पुत्र जन्मोचित वधाई बाटने आदि की पुत्रजन्म—क्रिया और तीसरे दिन चन्द्रसूर्य-दर्शन-सम्बन्धी [1]उत्सवविशेष, छठे दिन कुल मर्यादानुसार जागरिका—जागरण महोत्सव किया। तथा उसके माता-पिता ने ग्यारहवे दिन के व्यतीत होने पर बारहवे दिन उसका गौण—गुण से सम्बन्धित गुणनिष्पन्न—गुणानुरूप नामकरण इस प्रकार किया—चूकि उत्पन्न होते ही हमारा यह बालक जन्मते ही एकान्त अशुचि प्रदेश मे त्यागा गया था इसलिए हमारे इस बालक का उज्झितक कुमार यह नाम रखा जाता है। तदनन्तर वह उज्झितक कुमार [2]क्षीरधात्री, मज्जनधात्री, मडनधात्री, क्रीडापनधात्री, और अकधात्री इन पाच धायमातों से युक्त दृढ़प्रतिज्ञ की तरह यावत् निर्वात एव निर्व्याघात पर्वतीय कन्दरा मे विद्यमान चम्पक—वृक्ष की भाति सुख—पूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे गोत्रास के जीव का नरक से निकल कर मानव भव मे उत्पन्न होने का

---

(१) पुत्रजन्म के तीसरे दिन चन्द्र और सूर्य का दर्शन तथा छठे दिन जागरणमहोत्सव ये समस्त बाते उस प्राचीन समय की कुलमर्यादा के रूप में ही समझनी चाहिये। आध्यात्मिक जीवन से इन बातों का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

(२) क्षीरधात्री के सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार हैं—प्रथम तो यह कि जिस समय बालक के दुग्धपान का समय होता था। उस समय उसे माता के पास पहुँचा दिया जाता था, समय का ध्यान रखने वाली और बालक को माता के पास पहुँचाने वाली स्त्री को क्षीरधात्री कहते हैं। दूसरा विचार यह है कि—स्तनों में या स्तनगत दूध मे किसी प्रकार का विकार होने से जब माता बालक को दूध पिलाने मे असमर्थ हो तो बालक को दूध पिलाने के लिए जिस स्त्री का प्रबन्ध किया जाए उसे क्षीरधात्री कहते हैं। दोनो विचारों मे से प्रकृत मे कोन विचार आदरणीय है ? यह विद्वानो द्वारा विचारणीय है।

वर्णन किया गया है। वह दूसरी नरक से निकल कर सीधा वाणिजग्राम नगर के विजयमित्र सार्थवाह की सुभद्रा स्त्री की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ । इस का तात्पर्य यह है उस ने मार्ग में और किसी योनि में जन्मधारण नहीं किया। दूसरे शब्दों में उस का मानव भव में अनन्तरागमन हुआ, परम्परागमन नहीं ।

सुभद्रादेवी पहले जातनिंदुका थी, अर्थात् उस के बच्चे जन्मते ही मर जाते थे। **"जातनिंदुया—जातनिंदुका"** की व्याख्या टीकाकार ने इस प्रकार की है—

"जातान्युत्पन्नान्यपत्यानि निद्रुतानि निर्यातानि मृतानीत्यर्थो यस्याः सा जातनिद्रुता, अर्थात् जिस की सन्तान उत्पन्न होते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाय उसे **जातनिंदुआ**—जात—निद्रुता कहते हैं। कोषकारों के मत में **जातनिंदुया** पद का **जातनिदुका** यह रूप भी उपलब्ध होता है।

नवमास व्यतीत होने के अनन्तर सुभद्रादेवी ने बालक को जन्म दिया। उत्पन्न होने के अनन्तर उस ने बालक को कूडे कचरे में फेंकवा दिया, फिर उसे उठवा लिया गया । ऐसा करने का सुभद्रा का क्या आशय था? इस विचार को करते हुए यही प्रतीत होता है कि उस ने जन्मते ही बालक को इसलिए त्याग दिया कि उस को पहले बालकों की भाति उस के मर जाने का भय था। रूड़ी पर गिराने से संभव है यह बच जाए, इस धारणा से उस नवजात शिशु को रूडी पर फिंकवा दिया गया, परन्तु वह दीर्घायु होने से वहां—रूड़ी[1] पर मरा नहीं। तब उस ने उसे वहां से उठवा लिया।

बालक के जीवित रहने पर उस को जो असीम आनन्द उस समय हुआ, उसी के फलस्वरूप उस ने पुत्र का जन्मोत्सव मनाने में अधिक से अधिक व्यय किया, और पुत्र का गुणनिष्पन्न नाम उज्झितक रखा।

नाम करण की इस परम्परा का उल्लेख श्री अनुयोगद्वार सूत्र में भी मिलता है। वहां लिखा है—

[2]से किं तं जीवियनामे ? अवकरए उक्कुरुडए उज्झियए कज्जवए सुप्पए से तं जीवियनामे।

(स्थापना-प्रमाणाधिकार में)

---

(१) प्रस्तुत कथा—सन्दर्भ में लिखा है कि माता सुभद्रा ने नवजात बालक को रूडी पर गिरा दिया, गिराने पर वह जीवित रहा, तब उसे वहां से उठवा लिया। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्मराज के न्यायालय में जिसे जीवन नहीं मिला वह केवल रूडी पर गिरादेने से जीवन को कैसे उपलब्ध कर सकता है? जीवन तो आयुष्कर्म की सत्ता पर निर्भर है। रूड़ी पर गिराने से उस का क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में गिराए गए उस नवजात शिशु को जो जीवन मिला है उस का कारण उस का रूडी पर गिराना नहीं प्रत्युत उस का अपना ही आयुष्कर्म है। आयुष्कर्म की सत्ता पर ही जीवन बना रह सकता है। अन्यथा—आयुष्कर्म के अभाव में एक नहीं लाखों भी उपाए किये जाएँ तो भी जीवन बचाया नहीं जा सकता, एवं बढ़ाया नहीं जा सकता। रही रूड़ी पर गिराने की बात, उस के सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि प्रचीन समय में बच्चों को रूडी आदि पर गिराने की अन्धश्रद्धामूलक प्रथा - रूढ़ि चल रही थी जिस का आयुष्कर्म की वृद्धि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता था।

(२) —**"से किं तं जीवियहेउ"**मित्यादि इह यस्य जातमात्र किञ्चिदपत्य जीवननिमित्तमवकरादिष्वस्यति, तस्य चावकरकः, उत्कुरुटक इत्यादि यन्नाम क्रियते तज्जीविकाहेतोः, स्थापनानामाख्यायते—**"सुप्पए"** त्ति यः शूर्पे कृत्वा त्यज्यते तस्य शूर्पक एव नाम स्थाप्यते। शेष प्रतीतमिति—वृत्तिकार.।

अर्थात् जिस स्त्री की सन्तान उत्पन्न होते ही मरजाती है वह स्त्री लोकस्थिति की विचित्रता से जातमात्र (जिस की उत्पत्ति अभी २ हुई है) जिस किसी भी सन्तान को जीवनरक्षा के निमित्त अव-कर-कूडा कचरा आदि में फैंक देती है उस अपत्य का नाम अवकरक होता है। रूड़ी पर फैंके जाने से बालक का नाम उत्कुरुटक, छज्ज मे डाल कर फैंके जाने से बालक का नाम शूर्पक, लोकभाषा मे जिसे छज्जमल्ल कहते हैं, इत्यादि नाम स्थापित किये जाते हैं इसे ही जीवितनाम कहते हैं। अवकरक आदि नाम करण में अधिकरण (आधार) की मुख्यता है और उज्झितक आदि नामकरण में क्रिया की प्रधानता जाननी चाहिए।

इस के अतिरिक्त पाच धायमाताओं (वह स्त्री जो किसी दूसरे के बालक को दूध पिलाने और उस का पालनपोषण करने के लिये नियुक्त हो उसे धायमाता कहते हैं के द्वारा उस उज्झितक कुमार के पालनपोषण का प्रबन्ध किया जाना नवजात शिशु के प्रति अधिकाधिक ममत्व एव माता पिता का सम्पन्न होना सूचित करता है।

बालक को दूध पिलाने वाली धायमाता **क्षीरधात्री** कहलाती है। स्नान कराने वाली धायमाता **मज्जनधात्री,** वस्त्राभूषण पहनाने वाली **मण्डनधात्री,** क्रीडा कराने वाली **क्रीडापनधात्री** और गोद में लेकर खिलाने वाली धायमाता **अंकधात्री** कही जाती हैं। इन पाचों धाय माताओंद्वारा, वायु तथा आघात से रहित पर्वतीय कन्दरा मे विराजमान चम्पक वृक्ष की भाति सुरक्षित वह उज्झितक बालक दृढप्रतिज्ञ की तरह सुरक्षित होकर सानन्द वृद्धि को प्राप्त कर रहा था। दृढप्रतिज्ञ की बाल्यकालीन जीवन चर्या का वर्णन औपपातिक सूत्र अथवा राजप्रश्नीय सूत्र मे जान लेना चाहिये। उक्त सूत्र मे दृढप्रतिज्ञ की बाल्यकालीन जीवन—चर्या का सागोपाग वर्णन किया गया है।

"**—दढपतिराणे जाव निव्वाय—**" यहा पठित "**—दृढपतिराणे—**" पद से दृढप्रतिज्ञ का स्मरण कराना ही सूत्र कार को अभिमत है। दृढप्रतिज्ञ का सक्षिप्त जीवन—परिचय पृष्ठ १०० पर कराया जा चुका है। तथा "**—जाव-यावत्—**" पद से श्री ज्ञातासूत्रीय मेघकुमार नामक प्रथम अध्ययन का पाठ अभिमत है। जो कि निम्नोक्त है—

"—अन्नाहि बहूहि खुज्जाहि चिलाइयाहिं वामणी—वडभी—बव्बरी— वउसि—जोणिय—पल्हवि—इसिणिया—चारुगिणी—लासिया—लउसिय—दमिलि—सिहलि— आरवि —पुलिंदि—पक्कणि—बहलि—मुरुण्डि—सवरि—पारसीहि णाणादेसीहिं विदेसपरिमण्डियाहिं इंगिय-चिन्तिय—पत्थिय —वियाणाहिं सदेसणेवत्थगहियवेसाहि निउणकुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइअमहयरगवदपरिक्खित्ते हत्थाओ हत्थं संहरिज्जमाणे अंकाओ अंकं परिभुज्जमाणे परिगिज्जमाणे चालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे रम्मंसि मणिकोट्टिमतलंसि परिमिज्जमाणे—"

इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

अन्य बहुत सी कुब्जा-कुबड़ी, चिलाती—किरात देश के रहने वाली, अथवा भील जाति से सम्बन्ध रखने वाली, वामनी—बौनी (जिस का कद छोटा हो), वडभी—पीछे या आगे का अंग जिस का बाहिर निकल आया हो अथवा जिस का पेट बडा हो कर आगे निकला हुआ हो वह स्त्री, बर्बरा—बर्बर देश मे उत्पन्न स्त्री, बकुशा बकुशदेश में उत्पन्न स्त्री यवना—यवनदेश मे उत्पन्न स्त्री, पल्हविका—पल्हवदेशोत्पन्न स्त्री, इसिनिका—इसिनदेशोत्पन्न स्त्री, धोरुकिनिका—देशविशेष में उत्पन्न स्त्री, लासिका—

लासकदेशोत्पन्न स्त्री, लकुशिका—लकुशदेशोत्पन्न स्त्री, दमिला—द्रविडदेशोत्पन्न स्त्री, सिंहलि—सिंहल (लंका) देशोत्पन्न स्त्री, आरबी—अरबदेशोत्पन्न स्त्री, पुलिन्दी—पुलिन्ददेशोत्पन्न स्त्री, पक्कणी—पक्कणदेशोत्पन्न स्त्री, बहली—बहलदेशोत्पन्न स्त्री, मुरुण्डी—मुरुण्डदेशोत्पन्न स्त्री, शबरी—शबरदेशोत्पन्न स्त्री, पारसी—फारस—(ईरानदेशोत्पन्न स्त्री), इत्यादि नानादेशोत्पन्न तथा विदेशों के परिमण्डनों (अलंकारों) से युक्त, इंगित (नयनादि की चेष्टाविशेष) चिन्तित (मन से विचारित) और प्रार्थित—अभिलषित का विज्ञान रखने वाली, अपने अपने देश का नेपथ्य (परिधान आदि की रचना) और वेष (पहरावा) धारण करने वाली निपुण स्त्रियों के मध्य में भी अत्यन्त कौशल्य को धारण करने वाली और विनम्र स्त्रियों से युक्त, चेटिकासमूह—दासीसमूह, वर्षधर—नपुंसकविशेष कंचुकी—अन्तःपुर का प्रतिहारी, महत्तरक—अन्तःपुर के कार्यों का चिन्तन करने वाला इन सब के समूह से परिक्षिप्त—घिरा हुआ, हाथों हाथ ग्रहण किया जाता हुआ, एक गोद से दूसरी गोद का परिभोग करता हुआ, बालोचित गीतविशेषों द्वारा जिस का गान किया जा रहा है, जिस को चलाया जा रहा है, क्रीड़ा आदि के द्वारा जिस से लाड़ किया जा रहा है, एवं जो रमणीय मणियों से खचित फर्श पर चंक्रमण करता है अर्थात् बार २ इधर उधर जिसे घुमाया जा रहा है ऐसा वह बालक ।

प्रस्तुतसूत्र में उज्झितक कुमार की जन्म तथा बाल्य कालीन जीवन-चर्या का वर्णन किया गया है अब अग्रिम सूत्र में उस की आगे की जीवनचर्या का वर्णन किया जाता है—

मूल—[1]**तते णं से विजयमित्ते सत्थवाहे अन्नया कयाइ गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च चउव्विहं भण्डगं गेहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेणं उवागते । तते णं से विजयमित्ते तत्थ लवणसमुद्दे पोतविवत्तिए** [2]**णिव्वुड्डभंडसारे अत्ताणे असरणे कालधम्मुणा संजुत्ते । तते णं से विजयमित्तं सत्थवाहं जे जहा बहवे ईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-**

(१) छाया—ततः स विजयमित्रः सार्थवाहः अन्यदा कदाचित् गण्यं च धार्यं च मेयं च परिच्छेद्यं च चतुर्विधं भाण्डं गृहीत्वा लवणसमुद्रं पोतवहनेनोपागतः । ततः स विजयमित्रस्तत्र लवणसमुद्रे पोतविपत्तिको निमग्न—भाण्डसारोऽत्राणोऽशरणः कालधर्मेण संयुक्तः, ततस्तं विजयमित्रं सार्थवाहं ये यथा बहवे ईश्वर—तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिकेभ्य-श्रेष्ठिसार्थवाहाः लवणसमुद्रे पोतविपत्तिकं निमग्न—भाण्डसारं कालधर्मेण संयुक्तं शृण्वन्ति, ते तथा हस्तनिक्षेपं च बाह्यभाण्डसारं च गृहीत्वा एकान्तमपक्रामन्ति । ततः सा सुभद्रा सार्थवाही विजयमित्रं सार्थवाहं लवणसमुद्रे पोतविपत्तिकं निमग्नभाण्डसारं कालधर्मेण संयुक्तं शृणोति श्रुत्वा महता पतिशोकेनापूर्णा सती परशुनिकृत्तेव चम्पकलता धसेति धरणितले सर्वांगैः सन्निपतिता । ततः सा सुभद्रा सार्थवाही मुहूर्तान्तरेण आश्वस्ता सती बहुभिर्मित्र० यावत् परिवृता रुदती[1] क्रन्दन्ती विलपन्ती विजयमित्रस्य सार्थवाहस्य लौकिकानि मृतकृत्यानि करोति । ततः सा सुभद्रा सार्थवाही अन्यदा कदाचित् लवणसमुद्रावतरणं च लक्ष्मी—विनाशं च पोतविनाशं च पतिमरणं च अनुचिन्तयन्ती कालधर्मेण संयुक्ता ।

(२) **निमग्न-भाण्डसारः,** निमग्नानि जलान्तर्गतानि भाण्डानि पण्यानि तान्येव साराणि—धनानि यस्य स तथेति भावः ।

(१) **रुदती** अश्रूणि मुंचन्ती, **क्रन्दन्ती**-आक्रन्द—महाध्वनिं कुर्वाणा, **विलपन्ती**-आर्तस्वरं कुर्वतीति भावः ।

इब्भ-सेट्ठि-सत्थवाहा लवणसमुद्दे पोयविवत्तियं निव्वुड्डभंडसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेंति ते तहा हत्थनिक्खेवं च बाहिरभंडसारं च गहाय [1]एगंतं अवक्कमंति । तते णं सा सुभद्दा सत्थवाही विजयमित्तं सत्थवाहं लवणसमुद्दे पोत्तविवत्तियं निव्वुड्डभंडसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेति २ त्ता महया पतिसोएणं अप्फुरणा समाणी परसुनियत्ता विव चम्पगलता धमत्ति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं संनिवडिया । तते णं सा सुभद्दा सत्थवाही मुहुत्तंतरेणं आसत्था समाणी बहूहिं मित्त० जाव परिवुडा रोयमाणी कंदमाणी विलवमाणी विजय-मित्तस्स सत्थवाहस्स लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति । तते णं सा सुभद्दा सत्थवाही अन्नया कयाती लवणसमुद्दोत्तरणं च लच्छिविणासं च पोतविणासं च पतिमरणं च अणुचिंतेमाणी २ कालधम्मुणा संजुत्ता ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । **से**—वह । **विजयमित्ते**—विजयमित्र । **सत्थवाहे**—सार्थवाह-व्यापारियों का मुखिया । **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय । **पोयवहणेणं**—पोतवहन-जहाज द्वारा । **गणिमं च**—गिनती से बेची जाने वाली वस्तु, जिस का भाव सख्या पर हो, जैसे—नारियल आदि । **धरिमं च**—जो तराजू से तोल कर बेची जाये, जैसे—घृत, गुड आदि । **मेज्जं च**—जिस का माप किया जाये जैसे—वस्त्र आदि । **परिच्छेज्जं च**—जिस का क्रय-विक्रय परिच्छेद्य-परीक्षा पर निर्भर हो जैसे रत्न, नीलम आदि । **चउव्विहे**—चार प्रकार की । **भंडं**—भाड-बेचने योग्य वस्तुए । **गहाय**—लेकर । **लवणसमुद्द**—लवण समुद्र मे । **उवागते**—पहुचा । **तते णं**—तदनन्तर । **तत्थ**—उस । **लवणसमुद्दे**—लवण समुद्र में । **पोतविवत्तिए**—जहाज पर आपत्ति आने से । **निव्वुड्डभंडसारे**—जिस की उक्त चारों प्रकार की बेचने योग्य बहुमूल्य वस्तुये जलमग्न हो गई हैं तथा । **अत्ताणे**—अत्राण,[2] और । **असरणे**—अशरण[3] हुआ । **से**—वह । **विजयमित्ते**—विजयमित्र । **कालधम्मुणा**—कालधर्म—मृत्यु से । **संजुत्ते**—सयुक्त हुआ, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया । **तते णं**—तदनन्तर । **जहा**—जिस प्रकार । **जे**—जिन । **बहवे**—अनेक । **ईसर**—ईश्वर । **तलवर**—तलवर । **माडम्बिय**—माडम्बिक । **कोडुंबिय**—कौटुम्बिक **इब्भ**—इभ्य-धनी । **सेट्ठि**—श्रेष्ठी-सेठ । **सत्थवाहा**—सार्थवाहो ने । **लवणसमुद्दे**—लवण—समुद्र में । **पोयविवत्तियं**—जिस के जहाज पर आपत्ति आ गई है । **निव्वुड्डभंडसारे**—जिस का सार-भण्ड (महा—मूल्य वाले वस्त्राभूषण आदि) समुद्र में डूब गया है ऐसा । **कालधम्मुणा संजुत्तं**—काल—धर्म से सयुक्त हुए । **से**—उस । **विजयमित्ते**—विजयमित्र । **सत्थवाहे**—सार्थवाह को । **सुणेंति**—सुनते हैं । **तहा**—उस समय । **ते**—वे । **हत्थनिक्खेवं च**—जो पदार्थ अपने हाथ से लिया हुआ हो अर्थात् धरोहर । **बाहिरभंडसारं च**—तथा बाह्य-धरोहर से अतिरिक्त भाण्डसार-बहुमूल्य वाले वस्त्र आभूषण आदि

---

(१) एकान्तम्-अलक्षितस्थानम् अपक्रामन्ति वाणिजग्रामतः पलायित्वा प्रयान्तीत्यर्थः, अर्थात् ईश्वर और तलवर आदि लोग धरोहरादि को लेकर वाणिजग्राम से बाहिर ऐसे स्थान पर चले गये जिस का दूसरों को पता न चल सके ।

(२) जिस की कोई रक्षा करने वाला न हो वह अत्राण कहलाता है ।

(३) जिस का कोई आश्रय दाता न हो उसे अशरण कहते हैं ।

गहाय—ग्रहण कर । **एगंतं**—एकान्त में । **अवक्कमंति**—चले जाते हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **सुभद्दा सत्थवाही**—सुभद्रा सार्थवाही । **विजयमित्त**—विजयमित्र । **सत्थवाहे**-सार्थवाह को जिस के । **पातविवत्तियं**—जहाज पर विपत्ति आ गई है और । **निव्वुड्डभंडसारं** जिस का सारभाण्ड समुद्र में निमग्न हो गया है, ऐसे उस को । **लवणसमुद्दे**—लवणसमुद्र मे । **कालधम्मुणा**—काल-धर्म से । **संजुत्तं**—सयुक्त मरे हुए को । **सुणेति २ त्ता**—सुनती है, सुन कर । **महया**—महान् । **पतिसोएण**—पतिशोक से । **अप्फुण्णा समाणी**—व्याप्त हुई अर्थात् अत्यन्त दुःखित हुई २ । **परसुनियत्ता विव चंपग-लता** कुल्हाड़ी से काटी गई चम्पक (वृक्ष विशेष अथवा चम्पा के पेड़) की लता-शाखा[1] की भांति **धसत्ति**—धडाम से । **धरणीतलंसि**—जमीन पर । **सव्वंगेहिं**—सर्व अगों से । **संनिवडिया**— गिर पड़ी । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **सुभद्दा**—सुभद्रा । **सत्थवाही**—सार्थवाही । **मुहुत्तंतरेणं**—एक मुहूर्त्त के अनन्तर । **आसत्था समाणी**—आश्वस्त हुई—सावधान हुई । **बहूहिं**—अनेक । **मित्त०**—मित्र ज्ञाति आदि । **जाव**—यावत् सबन्धियों से । **परिवुड़ा**—घिरी हुई । **रायमाणी**—रुदन करती हुई । **कंदमाणी**—क्रन्दन करती हुई । **विलवमाणी** — विलाप करती हुई । **विजयमित्तस्स** — विजयमित्र **सत्थवाहस्स**—सार्थवाह की । **लोइयाइं**—लौकिक । **मियकिच्चाइं**—मृतक—क्रियाओं को । **करेति**—करती है । **तते णं**— तदनन्तर । **सा** — वह । **सुभद्दा** — सुभद्रा । **सत्थवाही** — सार्थवाही । **अन्नया कयाती**—किसी अन्य समय । **लवणसमुद्दोत्तरणं**—लवणसमुद्र में गमन । **लच्छिविणासं च**—लक्ष्मी—धन के विनाश । **पोतविणासं च**—जहाज़ के डूबने तथा । **पतिमरणं च**—पति के मरण का । **अणुचिंतेमाणी**—चिन्तन करती हुई । **कालधम्मुणा**—काल—धर्म से । **संजुत्ता**—सयुक्त हुई—मर गई ।

मूलार्थ—तदनन्तर किसी अन्य समय विजयमित्र सार्थवाह ने जहाज़ से गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य रूप चारप्रकार की पण्यवस्तुओं को लेकर लवणसमुद्र मे प्रस्थान किया, परन्तु लवणसद्र में जहाज़ पर विपत्ति आने से वह विजयमित्र की उक्त चारों प्रकार की महामूल्य वाली वस्त्र, आभूषण आदि वस्तुएं जलमग्न हो गई, और वह स्वय भी त्राणरहित एव शरणरहित होने से कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गया। तदनन्तर ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य-श्रेष्ठी और सार्थवाहों ने जब लवणसमुद्र मे जहाज़ के नष्ट तथा महामूल्य वाले क्रयाणक के जलमग्न हो जाने पर त्राण और शरण से रहित विजयमित्र की मृत्यु का वृत्तान्त सुना तब वे हस्तनिक्षेप और बाह्य (उस के अतिरिक्त) भाडसार को लेकर एकान्त स्थान मे चले गये।

सुभद्रा सार्थवाही ने जिस समय लवणसमुद्र मे जहाज़ पर सकट आ जाने के कारण भाडसार के जलमग्न होने के साथ साथ विजयमित्र की मृत्यु का वृत्तान्त सुना तब वह पतिवियोग—

(१) लता के अनेको अर्थो मे से बेल यह अर्थ अधिक प्रसिद्ध एव व्यवहार मे आने वाला है । बेल का अर्थ है— वह छोटा कोमल पौधा जो अपने बल पर ऊपर की ओर उठ कर बढ नही सकता। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे परशु (एक अस्त्र जिस में एक डण्डे के सिरे पर अर्द्ध चन्द्राकार लोहे का फाल लगा रहता है, कुल्हाड़ी विशेष) से काटी हुई चम्पक-लता की भांति धडाम से जमीन पर गिर पड़ी, ऐसा प्रसग चल रहा है, ऐसी स्थिति में यदि लता का अर्थ बेल करते हैं तो इस अर्थ मे यह भाव सकलित नहीं होता क्योंकि बेल तो स्वय जमीन पर होती हैं उस का धड़ाम से जमीन पर गिरना कैसे हो सकता है ? अतः प्रस्तुत प्रकरण में लता का शाखा अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

जन्य महान शोक से व्याप्त हुई कुठाराहत—कुल्हाडे से कटी हुई चम्पकवृक्ष की लता—शाखा की भांति धड़ाम से पृथिवी-तल पर गिर पडी ।

तदनन्तर वह सुभद्रा एक मुहूर्त के अनन्तर आश्वस्त हो तथा अनेक मित्र, ज्ञाति यावत् सम्बन्धिजनों से घिरी हुई और रुदन, क्रन्दन तथा विलाप करती हुई विजयमित्र के लौकिक मृतक क्रिया-कर्म को करती है । तदनन्तर वह सुभद्रा सार्थवाही किसी अन्य समय पर लवणसमुद्र पर पति का गमन लक्ष्मी का विनाश, पोत—जहाज का जलमग्न होना तथा पतिदेव की मृत्यु की चिन्ता में निमग्न हुई कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गई ।

टीका—प्रत्येक मानव उन्नति चाहता है और उस के लिये वह यत्न भी करता है । फिर वह उन्नति चाहे किसी भी प्रकार क्यों न हो । एक जितेन्द्रिय साधु व्यक्ति मन तथा इन्द्रियों के दमन एवं साधनामय जीवन व्यतीत करने में ही अपनी उन्नति मानता है । एक विद्यार्थी अपनी कक्षा में अधिक अक—नम्बर लेकर पास होने में उन्नति समझता है । इसी प्रकार एक व्यापारी की उन्नति इसी में है कि उसे व्यापार—क्षेत्र में अधिकाधिक लाभ हो । सारांश यह है कि हर एक जीव इसी लक्ष्य को सन्मुख रखकर प्रयास कर रहा है । इसी विचार से प्रेरित हुआ विजयमित्र सार्थवाह आर्थिक उन्नति की इच्छा से अवसर देख कर विदेश जाने को तैयार हुआ, तदर्थ उसने अनेकविध गणिम, धरिम, मेय, और परिच्छेद्य नाम को पण्य—वेचने योग्य वस्तुओं का संग्रह किया ।

गिणती में वेची जाने वाली वस्तु **गणिम** कहलाती है, अर्थात् जिस वस्तु का भाव संख्या पर नियत हो जैसे कि नारियल आदि पदार्थ, उसकी गणिम संज्ञा है । जो वस्तु तुला—तराजू में तोल कर वेची जाय, जैसे घृत, शर्करा आदि पदार्थ, उसे **धरिम** कहते हैं । नाप कर बेचे जाने वाले पदार्थ कपड़ा फीता आदि **मेय** कहलाते हैं तथा जिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय परीक्षाधीन हो उन्हें **परिच्छेद्य** कहते हैं । हीरा पन्ना आदि रत्नों का परिच्छेद्य वस्तुओं में ग्रहण होता है ।

विजयमित्र सार्थवाह ने इन चतुर्विध पण्य-वस्तुओं को एक जहाज में भरा और उसे ले कर वह लवणसमुद्र में विदेश-गमनार्थ चल पड़ा । चलते २ रास्ते में जहाज उलट गया अर्थात् किसी पहाड़ी आदि से टकराकर अथवा तूफान आदि किसी भी कारण से छिन्न भिन्न हो गया, उस में भरी हुई तमाम चीजें जलमग्न हो गईं और विजयमित्र सार्थवाह का भी वहीं प्राणान्त हो गया ।

कर्म की गति बड़ी विचित्र है । मानव प्राणी सोचता तो कुछ और है मगर होता है कुछ और । जिस विजयमित्र ने अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा से समुद्रयात्रा द्वारा विदेशगमन किया, वह समुद्र में सब कुछ विसर्जित कर देने के अतिरिक्त अपने जीवन को भी खो बैठा । इसी को दूसरे शब्दों में भावी—भाव कहते हैं, जो कि अमिट है ।

विजयमित्र सार्थवाह की इस दशा का समाचार जब वहां के ईश्वर, तलवर और माडम्बिक आदि लोगों को मिला तब वे मन में बड़े [1]प्रसन्न हुए, उन के लिये तो यह मृत्यु समाचार नहीं

(१) यह प्रकृति का नियम है कि जहां फूल होते हैं वहां कांटे भी होते हैं, इसी भांति जहां अच्छे विचारों के लोग होते हैं वहां गर्हित विचार रखने वाले लोगों की भी कमी नहीं होती । यही कारण है कि जब स्वार्थी लोगों ने विजयमित्र का परलोक गमन तथा उस की सम्पत्ति का समुद्र में जलमग्न हो जाना सुना तो परदुःख से दुःखित होने के कर्तव्य से च्युत होते हुए उन लोगों ने अपना स्वार्थ साधना आरम्भ किया और जिस के जो हाथ लगा वह वही ले कर चल दिया । धिक्कार है ऐसी जघन्यतम लोभवृत्ति को ।

था किन्तु उन की सौभाग्य—श्री ने उन्हें पुकारा ही ऐसा था। उन्हों ने हस्तनिक्षेप और उस के अतिरिक्त अन्य सारभाण्ड आदि को लेकर एकान्त में प्रस्थान कर दिया, साराश यह है कि विजयमित्र की विभूति में से जो कुछ किसी के हाथ लगा वह लेकर चलता बना।

ऐश्वर्य वाले को **ईश्वर** कहते हैं। राजा सन्तुष्ट हो कर जिन्हें पट्टबन्ध देता है, वे राजा के समान पट्टबन्ध से विभूषित लोग **तलवर** कहलाते हैं अथवा नगर रक्षक कोतवाल को तलवर कहते हैं। जो बस्ती भिन्न भिन्न हो उस मडम्ब और उस के अधिकारी को **माडम्बिक** कहते हैं। जो कुटुम्ब का पालन पोषण करते हैं या जिन के द्वारा बहुत से कुटुम्बों का पालन होता है उन्हें **कौटुम्बिक** कहते हैं। इभ का अर्थ है हाथी। हाथी के बराबर द्रव्य जिस के पास हो उसे **इभ्य** कहते हैं। जो नगर के प्रधान व्यापारी हों उन्हें **श्रेष्ठी** कहते हैं। जो गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य रूप खरीदने और बेचने योग्य वस्तुओं को लेकर आय लाभ के लिये देशान्तर जाने वालों को साथ ले जाते हैं और योग (नई वस्तु की प्राप्ति), क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) द्वारा उन का पालन करते हैं, तथा दुःखियों की भलाई के लिए उन्हें धन दे कर व्यापार द्वारा धनवान् बनाते हैं उन्हें **सार्थवाह** कहते हैं। ईश्वर आदि शब्दों के और अर्थ भी देखने में आते हैं। वे प्रस्तुत सूत्र के पृष्ठ ५७ पर दिए जा चुके हैं।

कर्मचक्र में फसा हुआ मनुष्य चारों तर्फ से दुःखी होता है। जो मित्र होते हैं वे शत्रु बन जाते हैं और अवसर मिलने पर उस की धनसम्पत्ति को हड़प करके स्वयं धनी होना चाहते हैं। साराश यह है कि रक्षक ही भक्षक बन जाते हैं, जिस का यह एक—विजयमित्र ज्वलन्त उदाहरण है।

जिस समय सुभद्रा ने पति का मरण और जहाज का डूबना सुना तो वह वृक्ष से कटी हुई लता—शाखा की भाति ज़मीन पर गिर गई और उसे कोई होश नहीं रही। थोड़ी देर के बाद होश आने पर वह रोने चिल्लाने और विलाप करने लगी। इसी अवस्था में उस ने पतिदेव का और्ध्व—दैहिक कृत्य (मरने के बाद किए जाने वाले कर्म, अन्त्येष्टिकर्म) किया, तथा कुछ समय बाद वह पति—वियोग की चिन्ता में निमग्न हुई मृत्यु को प्राप्त हो गई।

दुःखी हृदय ही दुःख का अनुभव कर सकता है। पिपासु को ही पिपासाजन्य दुःख की अनुभूति हो सकती है इसी भाति पति-वियोग-जन्य दुःख का अनुभव भी असहाय विधवा के सिवा और किसी को नहीं हो सकता। विजयमित्र सार्थवाह के परलोकगमन और घर में रही हुई धन सम्पत्ति के विनाश से सुभद्रा के हृदय को जो तीव्र आघात पहुँचा उसी के परिणाम स्वरूप उस की मृत्यु हो गई।

प्रस्तुत सूत्र में "**—हत्थनिक्खेव-हस्तनिक्षेप—**" और '**—बाहिरभण्डसार-बाह्यभाण्डसार—** इन पदों का प्रयोग किया गया है, आचार्य अभयदेव सूरि ने इन पदों की निम्नोक्त व्याख्या की है—

"**—हत्थनिक्खेवं च त्ति हस्ते निक्षेपो न्यासः समर्पणं यस्य द्रव्यस्य तद् हस्तनिक्षेप्, बाहिरभाण्डसारं च—" त्ति हस्तनिक्षेपव्यतिरिक्तं च भाण्डसारमिति—**" अर्थात् जो हाथ में दूसरे को सौंपा जाए उसे हस्तनिक्षेप कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो धरोहर का नाम हस्तनिक्षेप है। हस्तनिक्षेप के अतिरिक्त जो सारभाण्ड है उसे बाह्यभाण्डसार कहते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी की साक्षी के बिना अपने हाथ में दिया गया सारभाण्ड हस्तनिक्षेप और किसी की साक्षी से अर्थात् लोगों की जानकारी में दिया गया सारभाण्ड बाह्यभाण्डसार के नाम से विख्यात है।

सारभण्ड शब्द से महान् मूल्य वाले वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थ गृहीत होते हैं। और पुरातन वस्त्र, पात्र, आदि पदार्थों को असारभण्ड कहा जाता है। या यूं कहें कि—जो पदार्थ भार में लघु हलके हों,

किन्तु मूल्य में अधिक हो, जैसे रत्न, मणि आदि इन्हें सारभाण्ड कहा जाता है, इस के विपरीत जो भार मे अधिक एव मूल्य में अल्प हों जैसे लोहा, पीतल आदि पदार्थ ये असारभाण्ड कहलाते हैं।

अब सूत्रकार उज्झितक सम्बन्धी आगे का का वृत्तान्त लिखते हैं—

मूल—[1] तते णं णगरगुत्तिया सुभद्दं सत्थ० कालगयं जाणित्ता उज्झियगं दारगं साना गिहातो णिच्छुभति, णिच्छुभित्ता तं गिहं अन्नस्स दलयति । तते णं से उज्झियते दारए सयातो गिहातो निच्छूढे समाणे वाणियग्गामे नगरे सिंघाडग०[2] जाव पहेसु, जूयखलएसु, वेसियाघरएसु, पाणागारेसु य सुहंसुहेणं विहरइ । तते णं से उज्झितए दारए अणोहट्टिए अनिवारए सच्छंदमती सइरप्पयारे मज्जप्पसंगी चारजूयवेसदारप्पसंगी जाते यावि होत्था । तते णं से उज्झियते अन्नया कयाती कामज्झयाए गणियाए सद्धिं संपलग्गे जाते यावि होत्था । कामज्झयाए गणियाए सद्धिं विउलाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **ते णगरगुत्तिया**—वे नगररक्षक-नगर का प्रबन्ध करने वाले **सुभद्द**—सुभद्रा । **सत्थ०**—सार्थवाही को। **कालगतं**—मृत्यु को प्राप्त हुई । **जाणित्ता**—जानकर **उज्झियगं**—उज्झितक नामक । **दारयं**—बालक को । **सातो**—उसके अपने। **गिहाता**—घर से । **णिच्छुभंति**—निकाल देते हैं । **णिच्छुभित्ता**—निकाल कर । **त गिहं**—उस घर को । **अन्नस्स**—अन्य को । **दलयंति**—दे देते हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह। **उज्झियते**—उज्झितक । **दारए**—बालक । **सयातो गिहातो**—अपने घर से। **निच्छूढे समाणे**—निकाला हुआ। **वाणियग्गामे णगरे**—वाणिजग्राम नगर मे । **सिंघाडग०**—त्रिकोणमार्ग आदि । **जाव**—यावत् । **पहेसु**—सामान्य मार्गों पर । **जूयखलएसु**—द्यूतस्थानों—जूएखानो मे । **वेसियाघरएसु**—वेश्यागृहों में । **पाणागारेसु**—मद्य-स्थानों शराब खानों में । **सुहसुहेणं**—सुख-पूर्वक। **विहरइ**—परिभ्रमण कर रहा है। **तते णं**—

---

(१) छाया—ततस्ते नगरगौप्तिका सुभद्रा सार्थवाही कालगता ज्ञात्वा उज्झितक दारक स्वस्माद् गृहाद् निष्कासयन्ति निष्कास्य तद्गृहमन्यस्मै दापयन्ति । तत स उज्झितको दारक, स्वस्माद् गृहाद् निष्कासित, सन् वाणिजग्रामे नगरे शृंघाटक० यावत् पथेषु द्यूतागारेषु वेश्यागृहेषु पानागारेषु च सुखसुखेन विहरति । तत स दारकोऽनपघट्टकोऽ[1]निवारक स्वच्छन्दमति स्वैरप्रचारी मद्यप्रसंगी चौर्य्यद्यूतवेश्यादारप्रसंगी जातश्चाप्यभवत् । तत स उज्झितकोऽन्यदा कदाचित् कामध्वजया गणिकया सार्द्धं सम्प्रलग्नो जातश्चाप्यभूत् । कामध्वजया गणिकया सार्द्धं विपुलानुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति ।

(२) **जाव—यावत्**—पद से—**तिग—चउक्क—चच्चर—महापह**— इन पदों का ग्रहण समझना। इन पदों की व्याख्या पृष्ठ ६९ पर की जा चुकी है ।

---

(१) **अनिवारक**—नास्ति निवारको, "—**मवं कार्षी**—"रित्येव निषेधको यस्य स तथा प्रतिषेधकरहित इत्यर्थ । **स्वच्छन्दमति**, स्ववशा स्ववशेन वा मतिरस्येति स्वच्छन्दमति । अत एव **स्वैरप्रचार**—स्वैरमनिवारिततया प्रचारो यस्य स तथेति भाव ।

तदनन्तर । **से**—वह । **उज्झिअए**—उज्झितक । **दारए**—बालक । **अणोहट्टिए**—अनपघट्टक बलपूर्वक हाथ आदि से पकड़ कर जिसको कोई रोकने वाला न हो। **अणिवारए**—अनिवारक - जिस को वचन द्वारा भी कोई हटाने वाला न हो । **सच्छंदमती** स्वच्छंदमति—अपनी बुद्धि से ही काम करने वाला अर्थात् किसी दूसरे की न मानने वाला । **सइरप्पयारे**—निजमत्यनुसार यातायात करने वाला **मज्जप्पसंगी** मदिरा पीने वाला । **चोर**—चौर्य-कर्म । **जूय**—द्यूत—जूआ तथा । **वेसदार**—वेश्या और परस्त्री का । **पसंगी**—प्रसंग करने वाला अर्थात् चोरी करने, जूआ खेलने वेश्या - गमन और पर—स्त्रीगमन करने वाला । **जाते यावि होत्था**—भी हो गया । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **उज्झियते**—उज्झितक । **अन्नया**—अन्य । **कयाती**—किसी समय । **कामज्झयाए** काम-ध्वजा नामक । **गणियाए**—गणिका के । **सद्धिं**—साथ । **संपलग्गे**—सम्प्रलग्न-सलग्न । **जाते यावि होत्था**—हो गया अर्थात् उसका कामध्वजा वेश्या के साथ स्नेहसम्बन्ध स्थापित हो गया, तदनन्तर वह । **कामज्झयाए**—कामध्वजा । **गणियाए**—गणिका—वेश्या के । **सद्धिं**—साथ । **विउलाइं**—महान । **उरालाइं**—उदार— प्रधान । **माणुस्सगाइं** — मनुष्यसम्बन्धी । **भोगभोगाइं** — मनोज्ञ भोगों का **भुंजमाणे**—उपभोग करता हुआ । **विहरति**—समय विताने लगा ।

मूलार्थ—तदनन्तर नगर-रक्षक पुरुषों ने सुभद्रा सार्थवाही की मृत्यु का समाचार प्राप्त कर उज्झितक कुमार को घर से निकाल दिया, और उस का वह घर किसी दूसरे[1] को दे दिया। अपने घर से निकाला जाने पर वह उज्झितक कुमार वाणिजग्राम नगर के त्रिपथ, चतुष्पथ यावत् सामान्य मार्गों पर तथा द्यूतगृहों, वेश्यागृहों और पानगृहों में सुख-पूर्वक परिभ्रमण करने लगा। तदनन्तर बेरोकटोक स्वच्छन्दमति, एवं निरंकुश होता हुआ वह चौर्यकर्म, द्यूतकर्म, वेश्यागमन और परस्त्रीगमन में आसक्त हो गया। तत्पश्चात् किसी समय कामध्वजा वेश्या से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण वह उज्झितक उसी वेश्या के साथ पर्याप्त उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी विषय-भोगों का उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

टीका—कर्मगति की विचित्रता को देखिये । जिस उज्झितक कुमार के पालन पोषण के लिये पांच धायमाताएं विद्यमान थीं और माता पिता की छत्र छाया में जिसका राज-कुमारों जैसा पालन—पोषण हो रहा था । आज वह माता—पिता से विहीन—रहित धनसम्पत्ति से शून्य हो जाने के अतिरिक्त घर से भी निकाल दिया गया है । उसके लिये अब वाणिजग्राम नगर की गलियों, बाजारों तथा इसी प्रकार के स्थानों में घूमने फिरने और जहां तहां पड़े रहने के सिवा और कोई चारा नहीं । उसके ऊपर अब किसी का अंकुश नहीं रहा, वह जिधर जी चाहे जाता है, जहां मनचाहे रहता है दुर्दैव-वशात् उसे साथी भी ऐसे ही मिल गये । उन के सहवास से वह सर्वथा स्वेच्छाचारी और स्वच्छन्दमति हो गया । उसका अधिक निवास अब या तो जूएखानों में या शराबखानों में अथवा वेश्या के घरों में होने लगा । सारांश यह है कि निरंकुशता के कारण वह चोरी करने जूआ खेलने, शराब पीने और पर-स्त्रीगमन आदि के कुव्यसनों में आसक्त हो गया ।

(१) जिस व्यक्ति ने उज्झितक के पिता से रुपया लेना था, अधिकारी लोगों ने उज्झितक को निकाल कर रुपये के बदले उस का घर उस (उत्तमर्ण) को सौंप दिया।

"—विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख —अर्थात् विवेकहीन व्यक्तियो के पतित हो जाने के सैंकड़ों मार्ग हैं—, इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार दुर्दैववशात् उज्झितक कुमार का किसी समय वाणिजग्राम नगर की सुप्रसिद्ध वेश्या कामध्वजा मे स्नेहसम्बन्ध स्थापित हो गया। उस के कारण वह मनुष्य- सम्बन्धी विषय-भोगों का पर्याप्त-रूप से उपभोग करता हुआ आनन्द-पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

'अणाहट्टए' पद को व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों मे इस प्रकार है—

"यो बलात् हस्तादौ गृहीत्वा प्रवर्तमान निवारयति सोऽपघट्टकस्तदभावादनपघट्टक" अर्थात् जो किसी को बलपूर्वक हाथ आदि से पकड़ कर किसी भी कार्य विशेष से रोक देता है वह अपघट्टक-निवारक कहलाता है और इसके विपरीत जिस का कोई अपघट्टक — रोकने वाला न हो उसे अनपघट्टक कहते है। इस प्रकार का व्यक्ति ही कुसगदोष मे स्वच्छन्दमति और स्वेच्छाचारी हो जाता है।

" वेसदारप्पसगी " इस पद के वृत्तिकार ने दो[1] अर्थ किये हैं, जैसे कि—(१) वेश्या-गामी और परदार—गामी तथा २—वेश्या रूप स्त्रिया के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने वाला।

प्रस्तुत सूत्र मे वेश्या ओर दारा ये दो शब्द निर्दिष्ट हुए हैं। इन मे वेश्या का अर्थ है पण्य—स्त्री अर्थात् खरीदी जाने वाली बाजारू औरत। और दारा वह है जिसका विधि के अनुसार पाणिग्रहण किया गया हो। दारा शब्द की शास्त्रीय व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

"दारयन्ति पतिसम्बन्धेन पितृभ्रात्रादिस्नेहं भिन्दन्तीति दारा" अर्थात् पति के साथ सम्बन्ध जोड़ कर जो पिता भ्राता आदि स्नेह का दारण— विच्छेद करती है वह दारा कही जाती है। दूसरे की स्त्री को पर-स्त्री कहते हैं। साहित्य—ग्रन्थों मे स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीन भेद नायिका—स्त्री के किये गए हैं। इन मे स्वकीया स्वस्त्री का नाम है पर स्त्री को परकीया और वेश्या को सामान्या कहा है। वेश्या न तो स्वस्त्री है और न परस्त्री किन्तु सर्व—भोग्य होने से वह सामान्या कहलाती है। अत वेश्या और परस्त्री दोनों ही भिन्न २ पदार्थ हैं। वेश्या का कोई एक स्वामी-मालक या पति नहीं होता जब कि पर-स्त्री एक नियत स्वामी वाली होती है। इसी विभिन्नता को लेकर सूत्रकार ने " वेसदारप्पसंगी " इसमे दोनो का पृथक् रूप से निर्देश किया है जो कि उचित ही हैं।

"भोगभोगाइ" इस पद की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में "भोजनं भोग, - परिभोग भुज्यन्त इति भोगा शब्दादयो, भोगार्हा भोगा भोग-भोगा —मनोज्ञा शब्दादय इत्यर्थ —इस प्रकार है, अर्थात्—भोग शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है, जैसे कि—

(१) परिभोग करना (२) जिन शब्दादि पदार्थों का परिभोग किया जाए वे शब्द, रूप आदि भोग कहलाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण मे भोगभोग शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिस में से प्रथम के भोग शब्द का अर्थ है—भोगार्ह—भोगयोग्य और दूसरे भोग शब्द का "—शब्द रूप आदि—" यह अर्थ है। तात्पर्य यह है कि भोगभोग शब्द मनोज्ञ—सुन्दर शब्दादि का परिचायक है।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र में मित्र महापाल की महारानी के योनि—शूल का वर्णन करते हुए उज्झितक कुमार की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हैं—

---

(१) "—वेसदारप्पसंगी—" त्ति वेश्याप्रसगी कलत्रप्रसगी चेत्यर्थ, अथवा वेश्यारूपा ये दारास्त-त्प्रसगीति वृत्तिकार.।

मूल—[1] तते णं तस्स मित्तस्स रण्णो अन्नया कयाइ सिरीए देवीए जोणिसूले पाउब्भूते यावि होत्था । नो संचाएति विजयमित्ते राया सिरीए देवीए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए । तते णं से विजयमित्ते राया अन्नया कयाइ उज्झियय दारयं कामज्झयाए गणियाए गेहाओ णिच्छुभावेइ २ त्ता कामज्झयं गणियं अब्भितरियं ठावेति २ त्ता कामज्झयाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव[2] विहरति । तते णं से उज्झियए दारए कामज्झयाए गणियाए गेहातो निच्छुब्भमाणे समाणे कामज्झयाए गणियाए मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने अन्नत्थ कत्थइ सुइं च रतिं च धितिं च अविंदमाणे तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तयप्पियकरणे तब्भावणाभाविते कामज्झयाए गणियाए बहूणि अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणे २ विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **तस्स मित्तस्स**—उस मित्र नामक । **रण्णो**—राजा की । **सिरीए देवीए**—श्री नामक देवी के । **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय । **जोणिसूले**—योनि-शूल अर्थात् योनि मे उत्पन्न होने वाली तीव्र वेदना-विशेष । **पाउब्भूते**—उत्पन्न । **यावि होत्था**—हो गया, तब । **विजयमित्ते राया**—विजयमित्र राजा । **सिरीए देवीए**—श्री देवी के । **सद्धिं**—साथ । **उरालाइं**—उदार-प्रधान । **माणुस्सगाइं**—मनुष्य-सम्बन्धी । **भोगभोगाइं**—मनोज्ञ भोगों को । **भुंजमाणे**-उपभोग करता हुआ । **विहरित्तए**—विहरण करने मे । **नो संचाएति**—समर्थ नही रहा । **तते णं**—तदनन्तर । **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय । **से विजयमित्ते राया**—वह विजयमित्र राजा । **उज्झियय**—उज्झितक । **दारयं**—बालक को । **कामज्झयाए**—कामध्वजा । **गणियाए**— गणिका के । **गिहाओ**—घर से । **णिच्छुभावेइ**—निकलवा देता है । **२ त्ता**—निकलवा कर । **कामज्झयं**—कामध्वजा । **गणियं**—गणिका को । **अब्भितरियं**—भीतर अर्थात् अन्त:पुर मे । **ठवेति**—रखलेता है । **कामज्झयाए**—कामध्वजा । **गणियाए**—गणिका के । **सद्धिं**—साथ । **उरालाइं**—उदार-प्रधान **जाव**—यावत् भोगों का उपभोग करता हुआ । **विहरति**—समय व्यतीत करता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से उज्झियए दारए**—वह उज्झितक कुमार बालक । **कामज्झयाए**-कामध्वजा । **गणियाए**—

---

(१) छाया—ततस्तस्य मित्रस्य राज्ञ अन्यदा कदाचित् श्रिया. देव्या योनिशूलं प्रादुर्भूतं चाप्यभवत् । नो शशक्नोति विजयमित्रो राजा श्रिया देव्या सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहर्तुम् । तत स विजयमित्रो राजाऽन्यदा कदाचित् उज्झितकं दारकं कामध्वजाया गणिकाया गेहाद् निष्कासयति, निष्कास्य कामध्वजां गणिकामभ्यन्तरे स्थापयति स्थापयित्वा कामध्वजया गणिकया सार्द्धमुदारान् यावत् विहरति । तत स उज्झितको कामध्वजाया गणिकाया गृहाद् निष्कास्यमान सन् कामध्वजाया गणिकाया मूर्च्छितो, गृद्धो, ग्रथितोऽध्युपन्नोऽन्यत्र कुत्रापि स्मृतिं च रतिं च धृतिं चाविन्दमानस्तच्चित्तस्तन्मनास्तल्लेश्यस्तदध्यवसानस्तदर्थोपयुक्तस्तदर्पितकरणस्तद्भावनाभावित कामध्वजाया गणिकाया बहून्यन्तराणि च छिद्राणि च विवराणि च प्रतिजागरत् २ विहरति ।

(२) "जाव-यावत्" पद से "माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे" इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये ।

गणिका के । **गेहातो**—घर मे । **णिच्छुब्भमाणे समाणे**—निकाला हुआ । **कामज्झयाए गणियाए**—कामध्वजा गणिका मे । **मुच्छिते** मूर्छित—उसी के ध्यान मे पगला हुआ २ । **गिद्धे**—गृद्ध आकांक्षा वाला । **गढिते**—ग्रथित—स्नेह जाल मे बधा हुआ । **अज्झोववन्ने**—अध्युपपन्न अर्थात् उस म आसक्त हुआ २ । **अन्नत्थ कत्थइ**—और कहीं पर भी । **सुइं च**—स्मृति—स्मरण अर्थात् उसे प्रतिक्षण उसी का स्मरण—याद रहता है, वह किसी और का स्मरण नहीं करता । **रतिं च**—रति प्रीति अर्थात् उस वेश्या के अतिरिक्त उस का कहीं दूसरी जगह प्रेम नहीं है । **धितिं च**—धृति—मानसिक स्थिरता अर्थात् उस वेश्या के सानिध्य को छोड कर उस का मन कहीं स्थिरता एव शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, ऐसा वह उज्झितक कुमार स्मृति, रति और धृति को । **अविंदमाणे**- प्राप्त न करता हुआ । **तच्चित्ते**—तद्गतचित्त-उसी में - गणिका में चित्त वाला **तम्मणे**—उसी में मन रखने वाला । **तल्लेसे**—तद्विपयक परिणामो वाला । **तदज्झवसाणे** तद्विपयक अध्यवसाय अर्थात् भोगक्रिया सम्बन्धी प्रयत्न विशेष वाला । **तदट्ठोवउत्ते**—उसकी प्राप्ति के लिये उपयुक्त उपयोग रखने वाला । **तयप्पियकरणे**—उसी मे समस्त इन्द्रियो को अर्पित करने वाला अर्थात् उसी की ओर जिस की समस्त इन्द्रिये आकर्पित हो रही हैं । **तब्भावणाभाविते**—उसी की भावना करने वाला तथा । **कामज्झयाए**—कामध्वजा । **गणियाए**—गणिका के । **बहूणि अंतराणि य**—अनेक अन्तर अर्थात् जिस समय राजा का आगमन न हो । **छिद्दाणि य**—छिद्र—अर्थात् राजा के परिवार का कोई व्यक्ति न हो । **विवराणि**—विवर-कोई सामान्य मनुष्य भी जिस समय न हो । **पडिजागरमाणे**—ऐसे समय की गवेषणा करता हुआ । **विहरति**—विहरण कर रहा था ।

मूलार्थ—तदनन्तर उस विजयमित्र नाम। महीपाल-राजा की श्री नामक देवी को योनिशूल-योनि में होने वाला वेदना-प्रधान रोग विशेप उत्पन्न हो गया। इसलिए विजयमित्र नरेश राणी के साथ उदार-प्रधान मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोगो के सेवन मे समर्थ नहीं रहा। तदनन्तर अन्य किसी समय उस राजा ने उज्झितक कुमार को कामध्वजा गणिका के स्थान मे से निकलवा दिया और कामध्वजा वेश्या को अपने भीतर अर्थात् अन्त.पुर-रणवास मे रख लिया और उसके साथ मनुष्य-सम्बन्धी उदार-प्रधान विपय-भोगों का उपभोग करने लगा।

तदनन्तर कामध्वजा गणिका के गृह से निकाले जाने पर कामध्वजा वेश्या मे मूर्च्छित—उस वेश्या के ध्यान मे ही मूढ-पगला बना हुआ, गृद्ध—उस वेश्या की आकांक्षा—इच्छा रखने वाला, ग्रथित-उस गणिका के ही स्नेहजाल मे जकडा हुआ, और अध्युपपन्न—उस वेश्या की चिन्ता मे अत्याधक व्यासक्त रहने वाला वह उज्झितक कुमार और किसी स्थान पर भी स्मृति-स्मरण, रति-प्रीति और धृति-मानसिक शांति को प्राप्त न करता हुआ, उसी मे चित्त और मन लगाए हुए, तद्विपयक परिणाम वाला, तत्सम्बन्धी काम भोगों मे प्रयत्न -शील, उस की प्राप्ति के लिए उद्यत—तत्पर और तदर्पितकरण अर्थात् जिस का मन वचन और देह ये सब उसी के लिए अर्पित हो रहे हैं, अतएव उसी को भावना से भावित होता हुआ २ कामध्वजा वेश्या के अन्तर, छिद्र और विवरों की गवेपणा करता हुआ जीवन बिता रहा है।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ मे यह वर्णन कर चुके हैं कि—वाणिजग्राम नाम का एक सुप्रसिद्ध नगर था, महाराज मित्र वहा राज्य किया करते थे। उन की महाराणी का नाम श्री देवी था। दोनो वहा सानन्द जीवन बिता रहे थे।

आगमों में इस बात का वर्णन बड़े मौलिक शब्दों मे उपलब्ध किया जाता है कि पूर्व-सञ्चित कर्मों के आधार पर ही सुख तथा दु ख का परिणाम होता है। यदि पूर्व कर्म शुभ हो तो जीवन मे आनन्द रहता है और यदि अशुभ हो तो जीवन सकटो से व्याप्त हो जाता है। जिस तर्फ भी प्रवृत्ति होती है वहा हानि ही हानि के दर्शन होते हैं। शरीर में एक से अधिक रोग उत्पन्न होने लग जाते हैं, फिर रोग भी ऐसे कि जिन का प्रतिकार अत्य त कठिन हो। अनुभवी वैद्य भी जिन की चिकित्सा न कर पाये एव वे भी हार मान जाऐ यह सब कुछ स्वोपार्जित अशुभ कर्मा की ही महिमा है।

समय की गति बडी विचित्र है। आज जो जीव सुखमय जीवन बिता रहा है। कल वही असह्य दु खों का अनुभव करने लगता है। महाराणी श्री भी समय के चक्र में फसी हुई इसी नियम का उदाहरण बन रही थी। उसे योनिशूल ने आक्रमित कर लिया। योनिगत तीव्र वेदना से वह सदा व्यथित एव व्याकुल रहने लगी।

स्त्री की जननेन्द्रिय को **योनि** कहते हैं, तद्गत तीव्र वेदना का **योनिशूल** के नाम से उल्लेख किया जाता है। यह रोग कष्टसाध्य है, अगर इस का पूरी तरह से प्रतिकार न किया जाए तो स्त्री विषय-भोगों के योग्य नही रहती। इसी लिये विजयमित्र नरेश श्री देवी के साथ सासारिक विषय वासना की पूर्ति मे असफल रहते। दूसरे शब्दो मे कहे तो श्री देवी विजयमित्र की कामवासना पूरी करने मे अस-मर्थ हो गई थी।

मानव प्राणी पर मन का सब से अधिक नियन्त्रण है, उस की अनुकूलता जितनी हितकर है उस से कहीं अधिक अनिष्ट करने वाली उस की प्रतिकूलता है। अनुकूल मन मानव प्राणी को ऊचे से ऊचे स्थान पर जा बिठाता है, और प्रतिकूल हुआ वह मानव को नीचे से नीचे गर्त में गिरा देने से भी कभी नही चूकता। साराश यह है कि मन की निरकुशता अनेक प्रकार के अनिष्टों का सम्पादन करने वाली है। महाराज विजयमित्र का निरकुश मन श्री देवी के द्वारा नियत्रित न होने के कारण अशान्त, अथच व्यथित रहता था। काम-वासना की पूर्ति न होने से मित्रनरेश का मन नितान्त विकृत दशा को प्राप्त हो रहा था परन्तु उस का कर्तव्य उसे परस्त्री—सेवन मे रोक रहा था। प्रतिक्षण कामवासना तथा कर्तव्य—परायणता मे युद्ध हो रहा था। कभी कर्तव्य पर वासना विजय पाती और कभी वासना पर कर्तव्य को विजय लाभ होता। इस पारस्परिक सघर्ष में अन्ततो गत्वा कर्तव्य पर कामवासना को विजय लाभ हुआ, उस के तीव्र प्रभाव के आगे कर्तव्य को पराजित-परास्त होना पडा। विजय नरेश के हृदय पर कर्तव्य के बदले कामवासना ने ही सर्वेसर्वा अधिकार प्राप्त कर लिया, उस के चित्त से स्वस्त्री सन्तोष के विचार निकल गये, वहा अब परस्त्री या सामान्यास्त्री के उपभोग के अतिरिक्त और कोई लालसा नही रही और तदर्थ उस ने वहा पर रहने वाले कामध्वजा के कृपा पात्र उज्झितक कुमार को निकलवाया और बाद में कामध्वजा को अपने अन्त पुर मे रख लिया। अब वह अपनी काम-वासना को कामध्वजा वेश्या के द्वारा पूरी करने लगा।

प्रत्येक मानव प्राणी की यह उत्कट इच्छा रहती है कि उस का समस्त जीवन सुखमय व्यतीत हो, इसके लिये वह यथाशक्ति श्रम भी करता है परन्तु कर्म का विकराल चक्र मानव के महान् योजनारूपदुर्ग को आन की आन में भूमीसात् कर देता है। उज्झितक कुमार चाहता था कि कामध्वजा के सहवास मे ही उस का जीवन व्यतीत हो और वह निरन्तर ही मानवीय विषय—भोगो का यथेष्ट

उपभोग करता रहे। परन्तु **"सब दिन होत न एक समान**[1]**"** इस कहावत के अनुसार उज्झितक का वह सुख नष्ट होते कुछ भी देरी नहीं लगी। काम-वासना से वासित चित्त वाले मित्र नरेश ने कामध्वजा में आसक्त होते ही माव के काटे की तरह उसे —उज्झितक को वहां से निकलवा दिया और कामध्वजा पर अपना पूरा पूरा अधिकार कर लिया।

उज्झितक कुमार गरीब निर्धन अथच असहाय था यह सत्य है और यह भी सत्य है कि मित्र नरेश के मुकाबिले में उसकी कुछ भी गणना नहीं थी। परन्तु वह भी एक मानव था और मित्र नरेश की भांति उस में भी मानवोचित हृदय विद्यमान था। प्रेम फिर वह शुद्ध हो या विकृत, यह हृदय की वस्तु है उस में धनाढ्य या निधन का कोई प्रश्न नहीं रहता। यही कारण था कि कामध्वजा वेश्या ने एक निर्धन अथवा अनाथ युवक को अपने प्रेम का अतिथि बनाया और राजशासन में नियन्त्रित होने पर भी वह उज्झितक कुमार का परित्याग न कर सकी।

कामध्वजा के निवास-स्थान से बहिष्कृत किये जाने पर भी उज्झितक कुमार की कामध्वजागत मानसिक आसक्ति अथवा तद्गतप्रेमातिरेक में कोई कमी नहीं आने पाई। वह निरन्तर उस की प्राप्ति में यत्नशील रहता है, अधिक क्या कहें उसके मन को अन्यत्र कहीं पर भी किसी प्रकार की शांति नहीं मिलती। वह हर समय एकान्त अवसर की खोज में रहता है।

विषयासक्त मानव के हृदय में अपनी प्रेमी के लिये मोह जन्य विषयवासना कितनी जागृत होती है? उसका अनुभव काम के पुजारी प्रत्येक मानव को प्रत्यक्षरूप से होता है। परन्तु इस विकृत प्रेम—विकृत राग के स्थान में यदि विशुद्ध प्रेम का साम्राज्य हो तो अन्धकार-पूर्ण मानव हृदय में कितना आलोक होता है? इसका अनुभव तो विश्वप्रेमी साधु पुरुष ही करते हैं, साधारण व्यक्ति तो उससे वंचित ही रहते हैं।

कामध्वजा वेश्या के ध्यान में लीन हुआ उज्झितक कुमार उसके असह्य वियोग से पागल सा बन गया। उसकी मानसिक लग्न को व्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने जिन शब्दों का निर्देश किया है, उनके अर्थ की भावना करते हुए वे उस की हृदयगत लग्न के प्रतिबिम्बस्वरूप ही प्रतीत होते हैं। वृत्तिकार के शब्दों में उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

"मुच्छिए" मूर्च्छितो-मूढो दोषेष्वपि गुणाध्यारोपात्। "गिद्धे" तदाकांक्षावान् "गढिए" ग्रथितस्तद्विषयस्नेहतन्तुसन्दर्भित, "अज्झोववन्ने" आधिक्येन तदेकाग्रता गताऽध्युपपन्न अतएवान्यत्र कुत्रापि वस्त्वन्तरे "सुइं च" स्मृति-स्मरणम् "रइं च" रतिम्-आसक्तिम्, "धिइं च" धृतिं च चित्तस्वास्थ्यम्, "अविंदमाणे" अलभमानः, "तच्चित्ते" तस्यामेव चित्तं भावमनः सामान्येन वा मनो यस्य स तथा- "तम्मणे" द्रव्यमनः प्रतीत्य विशेषोपयोगं वा। "तल्लेसे" कामध्वजागताऽशुभात्मपरिणामविशेष लेश्या हि कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यजनित आत्मपरिणाम इति, "तदज्झवसाणे" तस्यामेवाऽध्यवसानं भोगक्रियाप्रयत्नविशेषरूपं यस्य-स तथा। "तदट्ठोवउत्ते" तदर्थं-तत्प्राप्तये उपयुक्त उपयोगवान् य स तथा, "तयप्पियकरणे" तस्यामेवार्पितानि—ढौकितानि करणानीन्द्रियाणि येन स तथा, "तब्भावणाभाविए" तद्—

---

(१) इस विषय में कविकुलशेखर कालीदास की निम्नलिखित उक्ति भी नितान्त उपयुक्त प्रतीत होती है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं, दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा, चक्रनेमिक्रमेण॥ [मेघदूत]

भावनया कामध्वजाचिन्तया भावितो-वासितो य स तथा, कामध्वजाया गणिकाया बहून्यन्तराणि च- राजगमनस्यान्तराणि "छिद्राणि य" छिद्राणि राजपरिवारविरलत्वानि "विवराणि" शेषजनविरहान्, पडिजागरमाणे, गवेषयन् । इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

अचेतनावस्था का ही दूसरा नाम मूर्छा है, अथवा दोषों में गुणों का आरोपण ही मूर्छा है। मूर्छा से युक्त मूर्छित कहलाता है। गृद्ध शब्द से लम्पट अर्थ अभिप्रेत है। अथवा यूं समझें कि जिसकी जिस में अभिकांक्षा है वह गृद्ध है। किसी भी विषय में स्नेहतन्तुओं से सम्बद्ध - व्यक्ति को ग्रथित कहा जाता है। किसी भी काम में अधिक एकाग्रता—प्राप्त व्यक्ति अध्युपपन्न कहलाता है। ये सारे विशेषण उज्झितक कुमार की मनोदशा के परिचायक हैं।

कामध्वजा में अत्यन्त आसक्त होने से उज्झितक कुमार को अन्यत्र कहीं पर भी मानसिक विश्रान्ति उपलब्ध नहीं होती। उसका भाव तथा द्रव्यमन उसी में संलग्न हो रहा है। तद्गत-चित्त और तद्गतमन इन दोनों में चित्त शब्द भाव मन का और मन शब्द द्रव्य मन का बोधक है। आत्मा का परिणाम विशेष अर्थात् कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से उत्पन्न होने वाले आत्मा के शुभ या अशुभ परिणाम को लेश्या कहते हैं, और "तल्लेश्य" शब्दगत लेश्या शब्द का अर्थ प्रकृत में अशुभ आत्म —परिणाम है। तात्पर्य यह है कि काम-ध्वजा वेश्यागत अशुभ आत्म —परिणाम है। तात्पर्य कि कामध्वजा वेश्यागत अशुभ आत्म परिणाम सम्पन्न वह है होने से उज्जितकुमार में सम्पन्न होने से उज्झितक कुमार को तल्लेश्य कहा गया है। प्रस्तुत प्रकरण में अध्यवसान का अर्थ है—भोग (सांसारिक वासना की क्रियायें-प्रयत्न विशेष। उस प्रयत्न – विशेष वाले व्यक्ति को तदध्यवसान कहते हैं। साराश यह है कि उज्झितक कुमार की काम-ध्वजा वेश्यागत तल्लीनता इतनी बढी हुई है कि मानों उसने कामध्वजा वेश्या की प्राप्ति में सफलता प्राप्त करली हो तथा उसके साथ वह वासना—पूर्ति में लगा हुआ हो। और उस गणिका की प्राप्ति में वह सतत सावधान रहता है, यह तदर्थोपयुक्त शब्द का भाव है। एवं उसने उसी के लिये अपनी समस्त इन्द्रियें अर्पण करदी हैं, इसी कारण से उसे तदर्पितकरण कहा है। इसी लिये वह कामध्वजा के प्रत्येक अंगप्रत्यंग तथा रूप, लावण्य और प्रेम की भावना से भावित हुआ तन्मय हो रहा था।

उज्झितक कुमार किसी ऐसे अवसर की खोज में था जिस में उसका कामध्वजा से मेल-मिलाप हो जाय। एतदर्थ वह उस समय को देख रहा था कि जिस समय कामध्वजा के पास अन्तर— राजा की उपस्थिति न हो, राजपरिवार का कोई आदमी न हो तथा कोई नागरिक भी न हो, तात्पर्य यह है कि जिस समय किसी अन्य व्यक्ति का वहां पर गमनागमन न हो ऐसे समय की वह प्रतीक्षा कर रहा था, , और उसके लिये वह यथाशक्ति प्रयत्न भी कर रहा था।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र में उज्झितक कुमार के उक्त प्रयत्न में सफल होने का उल्लेख करते हैं—

मूल—[1]तए णं से उज्झियए दारए अन्नया कयाइ कामज्झयाए गणियाए अंतरं लभेति। कामज्झयाए गणियाए गिहं रहस्सियगं अणुप्पविसइ २ त्ता कामज्झयाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति।

---

(१) छाया—ततः स उज्झितको दारकः अन्यदा कदाचित् कामध्वजाया गणिकाया अन्तरं लभते। कामध्वजाया गणिकाया गृहं राहस्यिकमनुप्रविशति, अनुप्रविश्य कामध्वजया गणिकया सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुंजानो विहरति।

पदार्थ—तए णं—तदनन्तर । अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । स—वह । उज्झियए—उज्झितक । दारए—बालक । कामज्झयाए—कामध्वजा । गणियाए—गणिका के । अंतरं—अन्तर—जिस समय राजा वहां आया हुआ नहीं था उस समय को । लभति—प्राप्त कर लेता है। कामज्झयाए—कामध्वजा । गणियाए—गणिका के । गिहं—गृह में । रहस्सियगं—गुप्त रूप से । अणुपविसइ—प्रवेश करता है । २ त्ता—प्रवेश कर के । कामज्झयाए गणियाए—कामध्वजा गणिका के । सद्धिं—साथ । उरालाइं—उदार-प्रधान । माणुस्सगाइं—मनुष्य-सम्बन्धी । भोग-भोगाइं—भोगपरिभोगों का । भुंजमाणे—उपभोग करता हुआ । विहरति—विहरण करने लगा-सानन्द समय बिताने लगा ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह उज्झितक कुमार किसी अन्य समय में कामध्वजा गणिका के पास जाने का अवसर प्राप्त कर गुप्त रूप से उसके घर में प्रवेश कर के कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य-सम्बन्धी उदार विषय—भोगों का उपभोग करता हुआ सानन्द समय व्यतीत करने लगा ।

टीका—साहस के बल से असाध्य कार्य भी साध्य हो जाता है, दुष्कर भी सुकर बन जाता है। साहसी पुरुष कठिनाइयों में भी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही चला जाता है, वह सुख अथवा दुःख, जीवन अथवा मरण की कुछ भी चिन्ता न करता हुआ अपने भगीरथ प्रयत्न से एक न एक दिन अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है । इसी दृष्टि से कामध्वजा को पुनः प्राप्त करने की धुन में लगा हुआ उज्झितक कुमार भी अपने कार्य में सफल हुआ । उसे काम-ध्वजा तक पहुंचने का अवसर मिल गया । उसकी मुर्झाई हुई आशालता फिर से पल्लवित हो गई।

वह कामध्वजा के साथ पूर्व की भांति विषय—भोगों का उपभोग करता हुआ सानन्द जीवन बिताने लगा । अन्तर केवल इतना था कि प्रथम वह प्रकट रूप से आता जाता और निवास करता था और अब उसका आना जाना तथा निवास गुप्तरूप से था । इसका कारण कामध्वजा का मित्रनरेश के अन्तःपुर में निवास था । उसी से परवश हुई कामध्वजा उज्झितक कुमार को प्रकट रूप से अपने यहां रखने में असमर्थ थी । परन्तु दोनों के हृदयगत अनुराग में कोई अन्तर नहीं था । तात्पर्य यह है कि वे दोनों एक दूसरे पर अनुरक्त थे । एक दूसरे को चाहते थे । अन्यथा यदि कामध्वजा का अनुराग न होता तो उज्झितक कुमार का लाख यत्न करने पर भी वहां प्रवेश करना सम्भव नहीं हो सकता था । अस्तु, इसके पश्चात् क्या हुआ ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—(१) इमं च णं मित्ते राया ण्हाते जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिते मणुस्स-वग्गुरापरिक्खित्ते जेणेव कामज्झयाए गणियाए गेहे तेणेव उवागच्छति २त्ता तत्थ णं उज्झि-

---

(१) छाया—इतश्च मित्रो राजा स्नातो यावत् प्रायश्चित्तः सर्वालंकारविभूषितः मनुष्यवागुरा-परिक्षिप्तो यत्रैव कामध्वजाया गणिकाया गृहं तत्रैवोपागच्छति । उपागत्य तत्रोज्झितकं दारकं काम-ध्वजया गणिकया सार्द्धमुदारान् भोगभोगान् यावत् विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा आशुरुप्तः ४ त्रिवलिकं भृकुटिं ललाटे संहृत्य उज्झितकं दारकं पुरुषैर्ग्राहयति ग्राहयित्वा यष्टिमुष्टिजानुकूर्परप्रहारसंभग्नमथि-तगात्रं करोति कृत्वा अवकोटकबन्धनं करोति कृत्वा एतेन विधानेन वध्यमाज्ञापयति । एवं खलु गौतम ! उज्झितको दारकः पुरा पुराणानां कर्मणां यावत् प्रत्यनुभवन् विहरति ।

यंय दारयं कामज्झयाए गणियाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं [1]जाव विहरमाणं पासति २ त्ता आसुरुत्ते ४ तिवलियभिउडिं निडाले साहट्टु उज्झियय दारयं पुरिसेहिं गेण्हावेति, गेण्हावित्ता अट्ठिमुट्ठिजाणुकोप्परपहारसंभग्गमहितग करेति करेत्ता अवओडगबंधणं करेति करेत्ता एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेति। एवं खलु गोतमा! उज्झियए दारए पुरा पोराणाणं कम्माणं [2]जाव पच्चणुभवमाणे विहरति।

पदार्थ—इमं च णं—और इतने में। मित्ते राया—मित्र राजा। ण्हाते—स्नान कर। जाव—यावत्। पायच्छित्ते—दुष्ट स्वप्न आदि के फल को निष्फल करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में तिलक एवं अन्य मांगलिक कृत्य करके। सव्वालंकारविभूसिते—सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित हो। मणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते—मनुष्यसमूह से घिरा हुआ। जेणेव—जहां कामज्झयाए—कामध्वजा। गणियाए—गणिका का। गिहे—घर था। तेणेव—वहीं पर। उवागच्छति २ त्ता—आता है आकर। तत्थ णं—वहां पर। कामज्झयाए गणियाए—कामध्वजा गणिका के। सद्धिं—साथ। उरालाइं—उदार—प्रधान। भोग—भोगाइं—भोगपरिभोगों में। जाव—यावत्। विहरमाणं—विहरणशील। उज्झिययं दारयं—उज्झितक कुमार बालक को। पासति २ त्ता—देखता है देख कर। आसुरुत्ते—क्रोध से लाल हुआ। निडाले—मस्तक पर। तिवलियभिउडिं—त्रिवलिका-तीन रेखाओं से युक्त भृकुटि (तिउड़ी) लोचन विकार विशेष को। साहट्टु—धारण कर अर्थात् क्रोधातुर हो भृकुटी चढ़ाकर। पुरिसेहिं—अपने पुरुषों द्वारा। उज्झिययं दारयं—उज्झितक कुमार को। गेण्हावेति—पकड़वा लेता है। गेण्हावेत्ता पकड़वा कर। अट्ठि—यष्टि लाठी। मुट्ठि—मुष्टि मुक्का, पंजाबी भाषा में इसे 'घसुन्न' कहते हैं। जाणु—जानु—घुटने। कोप्पर—कूर्पर कोहनी के। पहार—प्रहरणों से। संभग्ग—सभग्न—चूर्णित तथा। महित—मथित। गत्त गात्र वाला। करेति—करता है। करेत्ता—करके। अवओडगबंधणं—अवकोटक बन्धन [जिस में रस्सी से गला और हाथों को मोड़ कर पृष्ठ भाग के साथ बान्धा जाता है उसे अवकोटकबन्धन कहते हैं] से बद्ध। करेति—करता है अर्थात् उक्त बन्धन से बाधता है। करेत्ता—बाधकर। एएणं—इस। विहाणेणं—प्रकार से। वज्झं आणवेति—यह वध्य है ऐसी आज्ञा देता है। गोतमा!—हे गोतम! एवं—इस प्रकार। खलु—निश्चय ही। उज्झियए—उज्झितक। दारए—बालक। पुरा—पूर्व। पोराणाणं कम्माणं—पुरातन कर्मों के विपाक—फल का। जाव—यावत्। पच्चणुभवमाणे—अनुभव करता हुआ। विहरति—विहरण करता है।

मूलार्थ—इधर किसी समय मित्र नरेश स्नान यावत् दुष्ट स्वप्नों के फल को विनष्ट करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक कार्य कर के सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित हो मनुष्यों से आवृत हुआ कामध्वजा गणिका के घर पर गया। वहां उसने कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य—सम्बन्धी विषय—भोगों का उपभोग करते हुए उज्झितक कुमार को देखा, देखते ही वह क्रोध से लाल पीला हो गया, और मस्तक में त्रिवलिक-

(१) "—जाव—यावत्—" पद से "—भुंजमाणं—" इस पद का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

(२) "—जाव—यावत—" पद से "—दुच्चिण्णाणं, दुप्पडिक्कन्ताणं असुभाणं, पावाणं, कडाणं, कम्माणं, पावगं फलवित्तिविसेसं—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभीष्ट है। इन का अर्थ पृष्ठ ४७ पर दिया जा चुका है।

भृकुटि (तीन रेखाओं वाली त्रिउडि) चढ़ा कर अपने अनुचर पुरुषों द्वारा उज्झितक कुमार को पकड़वाया पकड़वा कर [1]यष्टि, मुष्टि (मुक्का), जानु और कूर्पर के प्रहारों से उसके शरीर को सभग्न, चूर्णित और मथित कर अवकोटक बन्धन से बान्धा और बान्ध कर पूर्वोक्त रीति से वध करने योग्य है ऐसी आज्ञा दी। हे गौतम! इस प्रकार उज्झितक कुमार पूर्वकृत पुरातन कर्मों का यावत् फलानुभव करता हुआ विहरण करता है—समय यापन कर रहा है।

टीका—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि उज्झितक कुमार को उसके साहस के बल पर सफलता तो मिली, उसे कामध्वजा के सहवास में गुप्तरूप से रहने का यथेष्ट अवसर तो प्राप्त हो गया, परन्तु उसको यह सफलता अचिरस्थायी होने के अतिरिक्त असह्य दुःख—मूलक ही निकली। उस का परिणाम नितान्त भयकर हुआ।

उज्झितक कुमार को इतना दुःख कष्ट से मिला? कैसे मिला? किसने दिया? और किस अपराध के कारण दिया? इत्यादि भगवान गौतम के द्वारा पूछे गये प्रश्नो के समाधानार्थ ही सूत्रकार ने प्रस्तुत कथासन्दर्भ का स्मरण किया है।

जिस समय उज्झितक कुमार कामध्वजा के घर पर उसके साथ कामजन्य विषय—भोगो के उपभोग मे निमग्न था उसी समय मित्रनरेश वहां आ जाते हैं और वहां उज्झितक कुमार को देखकर क्रोध से आग बबूला होकर उसे अनुचरो द्वारा पकड़वाकर खूब मारते पीटते तथा अवकोटक बन्धन से बन्धवा देते हैं और यह पूर्वोक्त रीति से वध करने के योग्य है, ऐसी आज्ञा देते हैं।

—"**एहाते जाव पायच्छित्ते**—" यहां पर पठित "**—जाव-यावत्—**" पद से "**—कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते—**" इन पदो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदो में से **कृतबलिकर्मा** के तीन अर्थ उपलब्ध होते हैं, जैसे कि—

(१) शरीर की स्फूर्ति के लिये जिसने तैल आदि का मर्दन कर रखा है। (२) काक आदि पक्षियो को अन्नादि दानरूप बलिकर्म मे निवृत्त होने वाला। (३) जिसने देवता के निमित्त किया जाने वाला कर्म कर लिया है।

---

(१) **अट्ठि**—शब्द के **अस्थि** और **यष्टि** ऐसे दो संस्कृत रूप बनते हैं। अस्थि शब्द हड्डी का परिचायक है और यष्टि शब्द से लाठी का बोध होता है। यदि प्रस्तुत प्रकरण में **अट्ठि**—का **अस्थि** यह रूप ग्रहण किया जावे तो प्रश्न उपस्थित होता है कि—इस से क्या विवक्षित है? अर्थात् यहां इस का क्या प्रयोजन है? क्यों कि प्रकृत प्रकरणानुसारी अस्थिसाध्य प्रहारादि कार्य तो मुष्टि (मुक्का), जानु (घुटना) और कूर्पर (कोहनी) द्वारा सभव हो ही जाते हैं, और सूत्रकार ने भी इन का ग्रहण किया है, फिर **अस्थि** शब्द का स्वतन्त्र ग्रहण करने में क्या हार्द रहा हुआ है? यदि **अस्थि** शब्द से अस्थि मात्र का ग्रहण अभिमत है तो मुष्टि आदि का ग्रहण क्यों? इत्यादि प्रश्नों का समाधान न होने के कारण हमारे विचारानुसार प्रस्तुत प्रकरण मे सूत्रकार को **अट्ठि** पद से **यष्टि** यह अर्थ अभिमत प्रतीत होता है। प्रस्तुत में मार पीट का प्रसग होने से यह अर्थ अधिक सगत ठहरता है।

व्याकरण से भी **अट्ठि** पद का **यष्टि** यह रूप निष्पन्न हो सकता है। सिद्धहैमशब्दानुशासन के अष्टमाध्याय के प्रथमपाद के २४५ सूत्र से यष्टि के यकार का लोप हो जाने पर उसी अध्याय के द्वितीय पाद के ३०५ सूत्र से ष्ठ के स्थान पर ठकार, ३६० सूत्र से ठकार को द्वित्व और ३६१ सूत्र से प्रथम ठकार को टकार हो जाने से अट्ठि ऐसा प्रयोग बन जाता है। **रहस्यं तु केवलिगम्यम्।**

"—कृतकौतुकमंगलप्रायश्चित्त—" इस पद का अर्थ है— दुष्ट स्वप्न आदि के फल को निष्फल करने के लिये जिस ने प्रायश्चित्त के रूप में कौतुक—कपाल पर तिलक तथा अन्य मांगलिक कृत्य कर रखे हैं।

"मणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते" इस पदकी व्याख्या वृत्तिकार ने निम्न प्रकार से की है—

"मनुष्याः वागुरेव मृगबन्धनमिव सर्वतो भवनात् तया परिक्षिप्तो यः स तथा" अर्थात् मृग के फसाने के जाल को वागुरा कहते हैं, जिस प्रकार वागुरा मृग के चारों ओर होती है, ठीक उसी प्रकार जिसके चारों ओर आत्मरक्षक मनुष्य ही मनुष्य हों दूसरे शब्दों में मनुष्यरूप वागुरा मे घिरे हुए को मनुष्यवागुरापरिक्षिप्त कहते हैं।

"—आसुरुत्ते—" इस पद के वृत्तिकार ने दो अर्थ किये हैं जैसे कि—

"आशु शीघ्रं रुप्त क्रोधेन विमोहिता य स आशुरुप्तः, आसुरं वा असुरसत्कं कोपेन दारुणत्वाद् उक्तं भणितं यस्य स आसुरोक्त" अर्थात् 'आशु' इस अव्ययपद का अर्थ है—शीघ्र, और रुप्त का अर्थ है क्रोध मे विमोहित तात्पर्य यह है कि जो शीघ्र ही क्रोध से विमोहित अर्थात् कृत्य और अकृत्य के विवेक से रहित हो जाय उसे आशुरुप्त कहते हैं। "आसुरुत्ते" का दूसरा अर्थ है—क्रोधाधिक्य से दारुण-भयंकर होने के कारण असुर (राक्षस) के समान उक्त—कथन है जिस का, अर्थात् जिस की वाणी क्रोधी राक्षसों जैसी हो उसे "आशुरुक्त" कहा जाता है। साराश यह है कि "आसुरुत्ते" के "आशुरुप्त." और "—आसुरोक्त." ये दो संस्कृत प्रतिरूप होते हैं। इस लिए उस से यहां पर दोनों ही अर्थ विवक्षित हैं।

तथा "आसुरुत्ते" के आगे दिये गये ४ के अंक से —"[1]रुट्ठे, कुविए, चंडिक्किए' और "मिसिमिसीमाणे—" इन पदों का ग्रहण कराना सूत्रकार को अभीष्ट है। इन पदों से मित्र नरेश के क्रोधातिरेक को बोधित कराया गया है।

"—तिवलियभिउडिं निडाले साहट्टु—इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार ने—त्रिवलिकां भृकुटिं लोचनविकारविशेषं ललाटे संहृत्य-विधाय—" इन शब्दों से की है। अर्थात् त्रिवलिका—तीन वलिओं—रेखाओं से युक्त को कहते हैं। भृकुटि—लोचनविकारविशेष भौंह को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मस्तक पर तीन रेखाओं वाली भृकुटि (तिउड़ी) चढा कर।

"—अवओडगबंधणं—अवकोटकबन्धनं—" की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में निम्नलिखित है

'—अवकोटनेन च ग्रीवायाः पश्चाद्भागनयनेन बन्धनं यस्य स तथा तम्—' अर्थात् जिस बन्धन मे ग्रीवा को पृष्ठ—भाग में ले जा कर हाथों के साथ बान्धा जाए उस बन्धन को अवकोटक—बन्धन कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे यह कथन किया गया है कि महीपाल मित्र ने उज्झितक कुमार को मथ डाला अर्थात् जिस प्रकार दही मथन करते समय दही का प्रत्येक कण २ मथित हो जाता है ठीक उसी प्रकार उज्झितक कुमार का भी मन्थन कर डाला तात्पर्य यह है कि उसे इतना पीटा इतना मारा कि उसका

---

(१) इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों मे निम्नोक्त है—

रुष्टः रोषवान्, कुपित. मनसा कोपवान् चाण्डिक्यितः दारुणीभूतः मिसिमिसीमाणो इत्यत्र क्रोधज्वालया ज्वलन्निति बोध्यम्। अर्थात्—रोष करने वाला रुष्ट, मन से क्रोध करने वाला कुपित, क्रोधाधिक्य के कारण भीषणता को प्राप्त चाण्डिक्यित, और क्रोध की ज्वाला से जलता हुआ अर्थात् दान्त पीसता हुआ मिसमिसीमाण कहलाता है।

प्रत्येक अंग तथा उपांग ताडना से बच नहीं सका, और राजा की ओर से नगर के मुख्य २ स्थानों पर उस की इस दशा का कारण उस का अपना ही दुष्कर्म है, ऐसा उद्घोषित करने के साथ २ बड़ी निर्दयता के साथ उस को ताडित एवं विडम्बित किया गया और अन्त में उसे वध्यस्थान पर ले जा कर शरीरान्त कर देने की आज्ञा दे दी गई।

मित्रनरेश की इस आज्ञा के पालन में उज्झितक कुमार की कैसी दुर्दशा की गई थी, यह हमारे सहृदय पाठक प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में ही देख चुके हैं।

पाठकों को स्मरण होगा कि वाणिजग्राम नगर में भिक्षार्थ पधारे हुए श्री गौतम स्वामी ने राजमार्ग पर उज्झितक कुमार के साथ होने वाले परम कारुणिक अथच दारुण दृश्य को देख कर ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से उसके पूर्व-भव सम्बन्धी वृत्तान्त को जानने की इच्छा प्रकट करते हुए भगवान् से कहा था कि भदन्त ! यह इस प्रकार की दुःखमयी यातना भोगने वाला उज्झितक कुमार नाम का व्यक्ति पूर्व-भव में कौन था ? इत्यादि।

अनगार गौतम गणधर के उक्त प्रश्न के उत्तर में ही यह सब कुछ वर्णन किया गया है। इसी लिये अन्त में भगवान् कहते हैं कि गौतम ! इस प्रकार से यह उज्झितक कुमार अपने पूर्वोपार्जित पाप—कर्मों के फल का उपभोग कर रहा है।

इस कथा—सन्दर्भ से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूक प्राणियों के जीवन को लूट लेना, उन्हें मार कर अपना भोज्य बनालेना, मदिरा आदि पदार्थों का सेवन करना एवं वासनापोषक प्रवृत्तियों में अपने अनमोल जीवन को गवादेना इत्यादि बुरे कर्मों का फल हमेशा बुरा ही होता है।

"**एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेति**" यहां दिये गये "एतद्" शब्द से सूत्रकार ने पूर्व—वृत्तान्त का स्मरण कराया है। अर्थात् उज्झितक कुमार को अवकोटकबन्धन से जकड़ कर उस विधान—विधि से मारने की आज्ञा प्रदान की है जिसे भिक्षा के निमित्त गए गौतम स्वामी जी ने राजमार्ग में अपनी आंखों से देखा था।

"**एतद्**"—शब्द का प्रयोग समीपवर्ती पदार्थ में हुआ करता है, जैसे कि—

इदमस्तु संनिकृष्टे, समीपतरवर्तिनि चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षे विजानीयात ॥ १॥

अर्थात्—इदम् शब्द का प्रयोग सन्निकृष्ट -प्रत्यक्ष पदार्थ में, एतद् का समीपतरवर्ती पदार्थमें अदस् शब्द का दूर के पदार्थ में और तद् शब्द का परोक्षपदार्थ के लिए प्रयोग होता है।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के धारक भगवान की ज्ञान— ज्योति में उज्झितक कुमार का समस्त वर्णन समीपतर होने से यहां एतत् शब्द का प्रयोग उचित ही है। **अथवा** जिसे गौतम स्वामी जी ने समीपतर भूतकाल में देखा था, इस लिये यहां एतद् शब्द का प्रयोग औचित्य रहित नहीं है।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र में उज्झितक कुमार के आगामी भवसम्बन्धी जीवन—वृत्तान्त का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—(१)उज्झियए णं भंते ! दारए इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छि-

---

(१) छाया —उज्भितको भदन्त ! दारक इत कालमासे काल कृत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोपपत्स्यते ?, गौतम ! उज्भितको दारक पञ्चविंशति वर्षाणि परमायु पालयित्वा अद्यैव त्रिभागावशेषे दिवसे

हिति ? कहिं उववज्जिहिति ? गोतमा ! उज्झियए दारए पणवीसं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलभिन्ने कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति । से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले वानरकुलंसि वानरत्ताए उववज्जिहिति। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तिरियभोएसु मुच्छिते गिद्धे गढ़िते अज्झोववन्ने जाते जाते वानरपेल्लए वहेहिति। तं एयकम्मे ४ कालमासे कालं किच्चा इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इंदपुरे नयरे गणिया-कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। तते णं त दारयं अम्मापियरो जायमेत्तय वद्धेहिति २ नपुंसगकम्म सिक्खावेहिंति। तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं णामधेज्जं करेहिति, होउ णं पियसेणे णामं णपुंसए। तते णं से पियसेणे णपुंसते उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुप्पत्ते विण्णायपरिणयमेत्ते रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरे भविस्सति। तते णं से पियसेणे णपुंसए इंदपुरे णगरे बहवे राईसर० जाव पभिइओ बहूहि विज्जापयोगेहि य

शूलभिन्न. कृतः सन् कालमासे काल कृत्वा अस्या रत्नप्रभायां पृथिव्या नैरयिकतयोपपत्स्यते। स ततोऽनन्तर-मुद्वृत्यैहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे वैताढ्यगिरिपादमूले वानरकुले वानरतयोपपत्स्यते। स तत्रोन्मुक्तबालभा-वस्तिर्यग्भोगेषु मूर्छितो गृद्धो ग्रथितोऽध्युपपन्नो जातान् जातान् वानरडिम्भान् हनिष्यति तद् एतत्कर्मा ४ काल-मासे काल कृत्वा इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे इन्द्रपुरे नगरे गणिका—कुले पुत्रतया प्रत्यायास्यति। ततस्त दारक अम्मापितरौ जातमात्रक वर्द्धयिष्यत वर्धयित्वा नपुंसककर्म शिक्षयिष्यत। ततस्तस्य दारकस्य अम्मापितरौ निर्वृत्तद्वादशाहस्य इदमेतद्रूपं नामधेय करिष्यत, भवतु प्रियसेनो नाम नपुसक तत स प्रियसेनो नपुसकः उन्मुक्तबालभावो यौवनकमनुप्राप्नो विज्ञानपरिणतमात्रो रूपेण च यौवनेन च लावण्येन च उत्कृष्ट उत्कृष्टशरीरो भविष्यति। ततः स प्रियसेनो नपुसक इन्द्रपुरे नगरे बहून् राजेश्वर० यावत् प्रभृतीन् बहुभिश्च विद्या प्रयोगैश्च मन्त्रचूर्णैश्च हृदयोड्डायनैश्च निह्नवनैश्च प्रस्नवनैश्च वशीकरणैश्च आभियोगिकैश्चाभियोज्य उदारान् मानुष्यकान भोगभोगान् भुंजानो विहरिष्यति। ततः स प्रियसेनो नपुसक [1]एतत्कर्मा ४ सुबहु पाप कर्म समर्ज्य एकविंश वर्षशत परमायु पालयित्वा कालमासे काल कृत्वा अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्या नैरयिकतयोपपत्स्यते। तत सरीसृपेषु, ससारस्तथैव यथा प्रथमो यावत् पृथिवी०। स ततोऽनन्तरमुद्वृत्यैहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे चम्पाया नगर्या महिषतया प्रत्यायास्यति। स तत्रान्यदा कदाचित् गौष्ठिकैर्जीविताद् व्यपरोपित सन तत्रैव चम्पाया नगर्या श्रेष्ठिकुले पुत्रतया प्रत्यायास्यति। स तत्रोन्मुक्तबालभावस्तथारूपाणा स्थविराणामन्तिके केवल बोधि० अनगार० सौधर्मे कल्पे० य। प्रथमो यावदन्त करिष्यतीति निक्षेपः।

॥ द्वितीयमध्ययन समाप्तम् ॥

(१) "—**एतत्कर्मा**—इस पद के आगे दिए गए चार के अंक से— **एतत्प्रधानः, एतद्विद्यः, एतत्समुदाचार**—इन पदों का ग्रहण समझना। यही जिस का कर्म हो उसे **एतत्कर्मा,** यही कर्म जिस का प्रधान हो अर्थात् यही जिस के जीवन की साधना हो उसे **एतत्प्रधान,** यही जिस की विद्या विज्ञान हो उसे **एतद्विद्य** और यही जिस का समुदाचार—आचरण हो अर्थात् जिस के विश्वासानुसार यही सर्वोत्तम आचरण हो उसे **एतत्समुदाचार** कहते हैं।

मंतचुण्णेहि य हियउड्डावणेहि य निण्हवणेहि य पण्हवणेहि य वसीकरणेहि य आभिओगिएहि य अभिओगित्ता उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सति। तते णं से पियसेणे णपुंसए एयकम्मे ४ सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता एक्कवीसं वाससयं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति, ततो सिरीसिवेसु संसारो तहेव जहा पढमे जाव पुढवी०। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टिता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपाए नयरीए महिसत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ अन्नया कयाइ गोट्ठिल्लिएहि जीवियाओ ववरोविए समाणे तत्थेव चंपाए नयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहारूवाणं थेराणं अंतिते केवलं बोहिं० अणगारे० सोहम्मे कप्पे० जहा पढमे जाव अंतं काहि त्ति निक्खेवो।

॥ बितियं अज्झयणं समत्तं॥

पदार्थ—भंते!—हे भगवन्!। उज्झियए णं—उज्झितक। दारए—बालक। इओ—यहां से। कालमासे—कालमास में—मृत्यु का समय आ जाने पर। कालं किच्चा—काल करके। कहिं—कहां। गच्छिहिति?—जायगा?। कहिं—कहां। उववज्जिहिति?—उत्पन्न होगा?। गोतमा!—हे गौतम!। उज्झियए दारए—उज्झितक बालक। पणवीसं—पच्चीस। वासाइं—वर्ष की। परमाउं—परम आयु। पालइत्ता—पाल कर—भोग कर। अज्जेव—आज ही। तिभागावसेसे—त्रिभागावशेष—जिस में तीसरा भाग शेष—बाकी हो। दिवसे—दिन में। सूलभिण्णे कए समाणे—शूली के द्वारा भेदन किये जाने पर। कालमासे—मरणावसर में। कालं किच्चा—काल कर-मृत्यु को प्राप्त हो कर। इमीसे—इस। रयणप्पहाए—रत्नप्रभा नामक। पुढवीए—नरक में। णेरइयत्ताए—नारकी रूप से। उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा। तते णं—वहां से। अणंतरं—अन्तर रहित। से—वह। उव्वट्टित्ता—निकल कर। इहेव—इसी। जंबुद्दीवे दीवे जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत। भारहे वासे—भारत वर्ष में। वेयड्ढगिरिपायमूले—वैताढ्य पर्वत की तलहटी—पहाड़ के नीचे की भूमि, में। वानरकुलंसि—वानर बन्दर के कुल में। वानरत्ताए—वानर रूप से। उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा। से णं तत्थ—वह वहां पर। उम्मुक्कबालभावे—बालभाव को त्याग कर। तिरियभोएसु—तिर्यंच-सम्बन्धी भोगों में। मुच्छिते—मूर्च्छित—आसक्त। गिद्धे—गृद्ध—आकांक्षा वाला। गढिते—ग्रथित—स्नेहजाल में आबद्ध। अज्झोववन्ने—अत्युपपन्न—जो अधिक संलग्नता को उपलब्ध कर रहा है, हो। जाते जाते—जातमात्र। वानरपेल्लए वानरों के बच्चों को। वहेहिति—मार डाला करेगा। तं—इस कारण वह। एयकम्मे ४—इन कर्मों का करने वाला। कालमासे—काल मास में। कालं किच्चा—काल कर। इहेव—इसी। जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारहे वासे—भारत वर्ष में। इंदपुरे—इन्द्रपुर नामक नयरे—नगर में। गणियाकुलंसि—गणिका के कुल में। पुत्तत्ताए—पुत्ररूप से। पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा। तते णं—तदनन्तर। अम्मापितरो—माता पिता। जायमेत्तयं—पैदा होने के अनन्तर अर्थात् तत्काल ही। तं—उस। दारयं—बालक को। वद्धेहिंति २—वर्द्धितक—नपुंसक—करेंगे। नपुंसगकम्मं—नपुंसक का कर्म। सिक्खावेहिंति—सिखावेंगे। तते णं—तदनन्तर। तस्स—उस। दारगस्स—बालक के। अम्मापितरो—

माता पिता। **णिव्वत्तबारसाहस्स**—बारहवें दिन के व्यतीत होने जाने पर। **इमं एयारूवं**—यह इस प्रकार का। **णामधेज्जं**—नाम। **करेंहिंति**—करेंगे। **पियसेणे**—प्रियसेन **णामं**—नामक। **णपुंसए**—नपुंसक। **होउ णं**—हो। **तते णं**—तदनन्तर। **से पियसेणे**—वह प्रियसेन। **णंपुसते**—नपुंसक। **उम्मुक्कबालभावे**—बाल्य अवस्था को त्याग कर। **जोव्वणगमणुप्पत्ते**—युवावस्था को प्राप्त हुआ। [1]**विण्णायपरिणयमेत्ते**—विज्ञान—विशेष ज्ञान और बुद्धि आदि में परिपक्वता को प्राप्त कर। **रूवेण य**—रूप से। **जोव्वणेण य**—यौवन से। **लावण्णेण य**—लावण्य—आकृति की सुन्दरता से। **उक्किट्ठे**—उत्कृष्ट-प्रधान। **उक्किट्ठसरीरे**—उत्कृष्टशरीर—सुन्दर शरीर वाला। **भविस्सति**—होगा। **तते णं** तदनन्तर। **से पियसेणे**—वह प्रियसेन। **णपुंसए**—नपुंसक। **इंदपुरे णयरे**—इन्द्रपुर नगर में **बहवे**—अनेक। **राईसर०**—राजा तथा ईश्वर। [2]**जाव**—यावत्। **पभिइओ**—अन्य मनुष्यों को। **बहूहि**—अनेक। **विज्जापओगेहि य**—विद्या के प्रयोगों से। **मंतचुण्णेहि य**—मंत्र द्वारा मन्त्रित चूर्ण-भस्म आदि के योग से। **हियउड्डावणेहि य**—हृदय को शून्य कर देने वाले। **णिण्हवणेहि य**—अदृश्य कर देने वाले। **पण्हवणेहि य**—प्रसन्न कर देने वाले। **वसीकरणेहि य**—वशीकरण करने वाले। **आभिओगिएहि य**—पराधीन करने वाले प्रयोगों से। **अभिओगित्ता**—वश में करके। **उरालाइं**—उदार-प्रधान। **माणुस्सयाइं**—मनुष्यसम्बन्धी। **भोगभोगाइं**—काम—भोगों का। **भुंजमाणे**—उपभोग करता हुआ। **विहरिस्सति**—विहरण करेगा। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **पियसेणे**—प्रियसेन। **णपुंसए**—नपुंसक। **एयकम्मे४**—इन कर्मों के करने वाला। **सुबहु**—अत्यन्त। **पाव**—पाप। **कम्मं**—कर्म का। **समज्जिणित्ता**—उपार्जन करके। [3]**एक्कवीसं वाससयं**—१२१ वर्ष की। **परमाउं**—परमायु को। **पालयित्ता**—भोग कर। **कालमासे**—कालमास में। **कालं किच्चा**—काल कर के। **इमीसे**—इस। **रयणप्पहाए** रत्नप्रभा नामक। **पुढवीए**—पृथिवी—नरक में। **णेरइयत्ताते**—नारकी रूप से। **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगा। **तता**—वहां से निकल कर। **सिरीसिवेसु**—सरीसृप—पेट के बल पर सर्पट चलने वाले सर्प आदि अथवा भुजा के बल पर चलने वाले नकुल आदि प्राणियों की योनि में जन्म लेगा। **संसारो**—संसार भ्रमण करेगा। **जहा**—जिस प्रकार। **पढमे**—प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। **तहेव**—उसी प्रकार। **जाव**—यावत्। **पुढवी०**—पृथिवीकाया में उत्पन्न होगा। **तओ**—वहां से। **अणंतरं** व्यवधान रहित। **से णं**—वह। **उव्वट्टित्ता**—निकल कर। **इहेव**—इसी। **जम्बुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत। **भारहे वासे**—भारतवर्ष में। **चंपाए**—चम्पा नाम की। **णयरीए**—नगरी में। **महिसत्ताए**—महिषरूप में अर्थात् भैंसे के भव में। **पच्चायाहिति**—उत्पन्न होगा। **से णं**—वह। **तत्थ**—वहां—उस भव में। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **गोट्ठिल्लिएहिं**—गौष्ठिकों के द्वारा अर्थात् एक मंडली के समवयस्कों द्वारा। **जीवियाओ**—जीवन से। **ववरोविए समाणे**—रहित किया हुआ। **तत्थेव**—उसी। **चंपाए**—चम्पा नामक। **णयरीए**—नगरी में। **सेट्ठिकुलंसि**—श्रेष्ठी के कुल में। **पुत्तत्ताए**—पुत्ररूप

---

(१) यहां—**विज्ञक** और **परिणतमात्र** ये दो शब्द हैं। विज्ञक का अर्थ है—विशेष ज्ञान वाला और बुद्धि आदि की परिपक्व अवस्था को प्राप्त परिणतमात्र कहलाता है।

(२) "—जाव—यावत—" पद से—**तलवर, माडम्बिक कौटुम्बिक, इभ्य श्रेष्ठी** और **सार्थवाह,** इन पदों का ग्रहण समझना। इन पदों की व्याख्या पृष्ठ१६५ पर की जा चुकी है।

(३) कोई इन पदों का अर्थ २१०० वर्ष भी करते हैं।

से । **पच्चायाहिति**—उत्पन्न होगा । **तत्थ**—वहां पर । **से णं**—वह । **उम्मुक्कबालभावे**—बाल्य-अवस्था को त्याग कर अर्थात् युवावस्था को प्राप्त हुआ । **तहारूवाणं**—तथारूप—शास्त्रवर्णित गुणों को धारण करने वाले । **थेराणं**- स्थविरों—वृद्ध जैन साधुओं के । **अंतिके**—पास । **केवलं**—केवल - निर्मल अर्थात् शंका कांक्षा आदि दोषों से रहित । **बोहिं०**—बोधिलाभ सम्यक्त्वलाभ प्राप्त करेगा, तदनन्तर । **अणगारे०** —अनगार होगा वहां से काल करके । **सोहम्मे कप्पे०**—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा शेष । **जहा पढमे**—जिस प्रकार प्रथम अध्याय में मृगापुत्रविषयक वर्णन किया गया है वैसे ही । **जाव**—यावत् । **अंतं**—कर्मों का अर्थात् जन्म मरण का अन्त- । **काहिति**—करेगा, इति शब्द समाप्ति का बोधक है । **निक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार की कल्पना कर लेनी चाहिए । **बितियं**—द्वितीय । **अज्झयणं**—अध्ययन । **समत्तं**—समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—भदन्त ! उज्झितक कुमार यहां से कालमास में—मृत्यु का समय आ जाने पर काल-करके कहां जाएगा ? और कहां उत्पन्न होगा ?

गौतम ! उज्झितक कुमार २५ वर्ष की पूर्णायु को भोग कर आज ही त्रिभागावशेष दिन में अर्थात् दिन के चौथे प्रहर में शूली द्वारा भेद को प्राप्त होता हुआ काल—मास में काल कर के रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी-नरक में नारकी रूप से उत्पन्न होगा । वहां से निकल कर सीधा इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष के वैताढ्य पर्वत के पादमूल-तलहटी (पहाड़ के नीचे की भूमि में वानर—कुल में वानर के रूप से उत्पन्न होगा । वहां पर बाल्य-भाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त होता हुआ वह तिर्यग्भोगों-पशुसम्बन्धी भोगों में मूर्च्छित-आसक्त, गृद्ध-आकांक्षावाला, ग्रथित-भोगों के स्नेहपाश से जकड़ा हुआ, और अध्युपपन्न—भोगों में ही मन को लगाए रखने वाला, हो कर उत्पन्न हुए वानर—शिशुओं का अवहनन किया करेगा। ऐसे कर्म में तल्लीन हुआ वह कालमास में काल करके इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष के इन्द्रपुर नामक नगर में गणिका—कुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा । माता पिता उत्पन्न हुए उस बालक को वर्द्धितक—नपुंसक करके नपुंसक कर्म सिखलावेंगे । बारह दिन के व्यतीत हो जाने पर उस के माता पिता उस का "प्रियसेन" यह नामकरण करेंगे । बालकभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त तथा विज्ञ—विशेष ज्ञान रखने वाला एवं बुद्धि आदि की परिपक्व अवस्था को उपलब्ध करने वाला वह प्रियसेन नपुंसक रूप, यौवन और लावण्य के द्वारा उत्कृष्ट—उत्तम और उत्कृष्टशरीर वाला होगा ।

तदनन्तर वह प्रियसेन नपुंसक इन्द्रपुर नगर के राजा ईश्वर यावत् अन्य मनुष्यों को अनेकविध विद्याप्रयोगों से, मंत्रों द्वारा मन्त्रित चूर्ण—भस्म आदि के योग से हृदय को शून्य कर देने वाले, अदृश्य कर देने वाले, वश में कर देने वाले तथा पराधीन—परवश कर देने वाले प्रयोगों से वशीभूत कर के मनुष्य—सम्बन्धी उदार—प्रधान भोगों का उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करेगा ।

वह प्रियसेन नपुंसक इन पापपूर्ण कामों को ही अपना कर्तव्य, प्रधान लक्ष्य, तथा विज्ञान एवं सर्वोत्तम आचरण बनाएगा इन दुष्प्रवृत्तियों के द्वारा वह अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके १२० वर्ष की परमायु का उपभोग कर काल—मास में काल करके इस रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारकी रूप से उत्पन्न होगा । वहां से निकल कर सरीसृप—छाती के बल से

चलने वाले सर्प आदि अथवा भुजा के बल से चलने वाले नकुल आदि प्राणियों की योनियों मे जन्म लेगा। वहां से उस का ससार—भ्रमण जिस प्रकार प्रथम अध्ययन—गत मृगापुत्र का वर्णन किया गया है उसी प्रकार होगा, यावत् पृथिवी—काया मे जन्म लेगा । वहां से निकल वह सीधा इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष की चम्पा नामक नगरी मे महिष—रूप से उत्पन्न होगा । वहा पर वह किसी अन्य समय गौष्ठिकों—मित्रमडली के द्वारा जीवन-रहित हो अर्थात् उन के द्वारा मारे जाने पर उसी चम्पा नगरी के श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा । वहा पर बाल्यभाव को त्याग कर यौवन अवस्था को प्राप्त होता हुआ वह तथारूप—विशिष्ट संयमी स्थविरों के पास शङ्का, कांक्षा आदि दोषों से रहित बोधि—लाभ को प्राप्त कर अनगार—धर्म को ग्रहण करेगा। वहा मे कालमास मे काल कर के सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे उत्पन्न होगा। शेष जिस प्रकार प्रथम अध्ययन मे मृगापुत्र के सम्बन्ध मे प्रतिपादन किया गया है यावत् कर्मों का अन्त करेगा. निक्षेप की कल्पना कर लेनी चाहिये ।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

टीका—प्रस्तुत सूत्र में श्री गौतम स्वामी ने पतित—पावन वीर प्रभु से विनय—पूर्वक प्रार्थना की कि भगवन्! जिस पुरुष के पूर्व—भव का वृत्तान्त अभी २ आप श्री ने सुनाने की कृपा की है, वह पुरुष यहा से काल कर के कहा जायगा? और कहा उत्पन्न होगा? यह भी बतलाने की कृपा करें।

इस प्रश्न में गौतम स्वामी ने उज्झितक कुमार के आगामी भवों के विषय मे जो जिज्ञासा की है, उस का अभिप्राय जीवात्मा की उच्चावच भवपरम्परा से परिचित होने के साथ साथ जीवात्मा के शुभाशुभ कर्मों का चक्र कितना विकट और विलक्षण होता है, तथा ससार-प्रवाह मे पड़े हुए व्यक्ति को जिस समय किसी महापुरुष के सहवास मे [1]सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति हो जाती है, तब से वह विकास की ओर प्रस्थान करता हुआ अन्त में अपने ध्येय को किस तरह प्राप्त कर लेता है? इत्यादि बातों की अवगति भी भली भान्ति हो जाती है । इसी उद्देश्य से गौतम स्वामी ने वीर प्रभु से उज्झितक के आगामी भवों को जानने की इच्छा प्रकट की है ।

गौतम स्वामी के सारगर्भित प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो कुछ फरमाया उस पर से हमारे ऊपर के कथन का भली भान्ति समर्थन हो जाता है । अब आप प्रभु वीर द्वारा दिए गए उत्तर को सुनें । भगवान ने कहा—

गौतम! जिस व्यक्ति के आगामी भव के विषय मे तुम ने पूछा है उसकी पूर्ण आयु २५ वर्ष की है, दूसरे शब्दों मे कहे तो इस उज्झितक कुमार ने पूर्व भव में आयुष्कर्म के दलिक इतने एकत्रित किये हैं जिन की आत्म—प्रदेशों से पृथक होने की अवधि २५ वर्ष की है । अत २५ वर्ष की आयु भोग कर वह उज्झितक कुमार आज ही दिन के तीसरे भाग में शूली पर लटका दिया जाएगा । मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर मानव—शरीर को छोड़ कर उज्झितक कुमार का जीव रत्नप्रभा नामक

(१) अनादि—कालीन ससार—प्रवाह म तरह २ के दु:खों का अनुभव करते २ योग्य आत्मा में कभी ऐसी परिणाम—शुद्धि हो जाती है जो उस के लिये अभी अपूर्व ही होती है, उस परिणाम—शुद्धि को अपूर्वकरण कहते हैं । उस से राग द्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है, जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य में आग्रह) की बाधक है। ऐसी राग और द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिये जागरूक बन जाता है । यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व है। (पण्डित सुखलाल जी)

प्रथम नरक में नारकी—रूप से उत्पन्न होगा । वहा की भवस्थिति को पूरी करके वह इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष के वैताढ्य पर्वत की तलहटी—पहाड के नीचे की भूमि में वानर कुल मे वानर नन्दर के शरीर को धारण करेगा । वहा युवावस्था को प्राप्त होता हुआ तिर्यंच—योनि के विषय भोगो मे अत्यधिक आसक्ति धारण करेगा । तथा यौवन को प्राप्त हो कर भविष्य मे मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी न बन जाय इस विचार धारा से या यू कहे अपने भावी साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिये वह उत्पन्न हुए वानर शिशुओं का अवहनन किया करेगा । तात्पर्य यह है कि—सांसारिक विषय—वासनाओं मे फसा हुआ वह बन्दर प्राणातिपात (हिंसा) आदि पाप कर्मों मे व्यस्त रह कर महान् अशुभ कर्म—वर्गणाओं का सग्रह करेगा ।

वहा की भवस्थिति पूरी होने पर वानर—शरीर का परित्याग कर के इन्द्रपुर नामक नगर मे गणिका के कुल में पुत्र—रूप से जन्म लेगा अर्थात् किसी वेश्या का पुत्र बनेगा जन्मते ही उस के माता पिता उसे वर्द्धितक अर्थात् नपुसक बना देंगे, और बारहवें दिन बडे आडम्बर के साथ उस का 'प्रियसेन'' यह नाम करण करेगे । प्रियसेन बालक वहा आनन्द पूर्वक बढेगा और उस के माता पिता किसी अच्छे अनुभवी योग्य शिक्षक के पास उस के शिक्षण का प्रबन्ध करेंगे और प्रियसेन वहा पर नपुसक—कर्म की शिक्षा प्राप्त करेगा । तात्पर्य यह है कि गाना, बजाना और नाचना आदिक जितने भी नपुसक के काम होते हैं, वे सब के सब उसको सिख लाये जाऐंगे, और प्रियसेन उन्हें दिल लगा कर सीखेगा तथा थोडे ही समय मे वह उन कामों मे निपुणता प्राप्त कर लेगा ।

बाल्यभाव को त्याग कर जब वह युवावस्था में पदार्पण करेगा । उस समय शिक्षा और बुद्धि के परिपाक के साथ २ रूप यौवन तथा शरीर लावण्य के कारण सबको बड़ा सुन्दर लगने लगेगा । तात्पर्य यह है कि वह बड़ा ही मेधावी अथ च परम सुन्दर होगा । वह अपने विद्या—सम्बन्धी मन्त्र, तन्त्र और चूर्णादि के प्रयोगों से इन्द्रपुर में निवास करने वाले धनाढ्य वर्ग को अपने वश मे करता हुआ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला होगा ।

इस प्रकार पूंजीपतियों को काबू मे करके वह प्रियसेन सासारिक विषय—वासनाओं से वासित होकर, किसी से किसी प्रकार का भी भय न रखता हुआ यथेच्छरूप से विषय भोगों का उपभोग करेगा । इस भाति सासारिक सुखों का अनुभव करता हुआ वह १२१ वर्ष की आयु को भोगेगा। आयु के समाप्त होने पर वह रत्नप्रभा नाम के प्रथम नरक मे उत्पन्न होगा । वहा से निकल कर वह सरीसृपों—छाती के बल से चलने वाले सर्प आदि अथवा भुजा से चलने वाले नकुल, मूषक आदि प्राणियों की योनियो मे जन्म लेगा । इस तरह से प्रथम अध्ययन मे वर्णित मृगापुत्र के जीव की भान्ति वह उच्चावच योनियों में भ्रमण करता हुआ अन्ततोगत्वा चम्पा नाम की प्रख्यात नगरी में महिषरूपेण—भैसे के रूप मे उत्पन्न होगा । यहा पर भी उसे शान्ति नहीं मिलेगी । वह गौष्ठिकों के द्वारा, अर्थात् उस नगरी की नवयुवक मण्डली के पुरुषो से मारा जाएगा और मर कर उसी चम्पा नगरी में किसी धनाढ्य सेठ के घर पुत्ररूप से जन्म लेगा । वहा उस का बाल्यकाल बडा सुख—पूर्वक व्यतीत होगा और युवावस्था को प्राप्त होते ही वह तपोमय जीवन व्यतीत करने वाले तथा—रूप स्थविरों की सुसगति को प्राप्त करेगा ।

उन के पास से धर्म का श्रवण करके उसे परम दुर्लभ अथच निर्मल सम्यक्त्व की प्राप्ति

होगी उस के प्रभाव से हृदय में वैराग्य उत्पन्न होगा और वह साधु–धर्म को अंगीकार करेगा । साधुधर्म का यथाविधि (विधि के अनुसार) पालन करके आयुष्कर्म की समाप्ति होने पर मानव–शरीर को त्याग कर सौधर्म देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होगा, वहां से च्यव कर महाविदेह में उत्पन्न होगा। वहां युवावस्था को प्राप्त होता हुआ संयम को ग्रहण करेगा और संयमानुष्ठान से कर्मों का क्षय करता हुआ अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेगा । यह उसके आगामी भवों का संक्षिप्त वृत्तान्त है, जो कि वीर प्रभु ने गौतम स्वामी को सुनाया था। इस पर से मानव प्राणी की सांसारिक यात्रा कितनी लम्बी और कितनी विकट एवं विलक्षण होती है ? इस का अनुमान सहज ही में किया जा सकता है।

"वेयड्ढगिरिपायमूले" इस में उल्लेख किये गये वैताढ्य पर्वत का वर्णन मृगापुत्र के भावी जन्मों के वर्णन में पृष्ठ ९४ पर कर दिया गया है । उसी भान्ति यहां पर भी समझ लेना चाहिये ।

'ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता" इस पाठ में उल्लेख किये गये "अणंतरं" पद का अर्थ है–अनन्तर व्यवधानरहित । इसे समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये –एक जीव पूर्वकृत पाप कर्मों के फल–स्वरूप रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारकीयरूप से उत्पन्न होता है । उसकी भवस्थिति पूरी होने पर वह नारकीय जीव वहां से निकल कर मनुष्यलोक में आकर मानवरूप में जन्म लेता है। वहां पर आयु समाप्त करके वह वैताढ्य पर्वत की तलहटी में जा उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार एक दूसरा जीव है जो पहले नरक में गया और वहां से निकल कर सीधा वैताढ्य पर्वत की तलहटी में जा उत्पन्न हुआ। अब विचार कीजिये कि दोनों ही जीव वैताढ्य पर्वत की तलहटी में उत्पन्न हो रहे हैं और दोनों ही पहली नरक से निकल कर आ रहे हैं। इन में प्रथम जीव तो परम्परा से (मध्य में मनुष्यभव कर के) आया हुआ है जब कि दूसरा साक्षात् -सीधा ही आया है । नरक से उद्वर्तन–निकलना तो दोनों का एक जैसा है, परन्तु पहले का उद्ववर्तन तो अन्तर–उद्वर्तन है और दूसरे का अनन्तर-उद्वर्तन कहलाता है ।

हमारे पूर्व–परिचित उज्झितक कुमार प्रथम नरक से निकलकर बिना किसी और भव करने के सीधे वैताढ्य पर्वत की तलहटी में जन्में, अत इन का निकलना अनन्तर–उद्वर्तन–कहलाता है। अनन्तर पद का यहां पर इसी आशय को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया गया है।

मच्छिअत और गृद्ध आदि पदों की व्याख्या ऊपर पृष्ठ १७३ पर की जा चुकी है। पाठक वहां पर देख सकते हैं ।

"एयकम्मे४" यहां पर दिया गया ४ का अंक उसके साथ के बाकी तीन पदों का ग्रहण करना सूचित करता है। वे तीनों पद इस प्रकार हैं–"एयप्पहाणे, एयविज्जे, एयसमुदायारे"। इन का भावार्थ पहले पृष्ठ १७९ के टिप्पण में लिखा जा चुका है, पाठक वहां पर देख सकते हैं ।

"वद्धेहिंति" इस क्रिया–पद के दो अर्थ देखने में आते हैं। प्रथम अर्थ–पालन पोषण करेंगे–यह प्रसिद्ध ही है और वृत्तिकार इसका दूसरा अर्थ करते हैं । वे लिखते हैं–

"वद्धेहिंति' त्ति वर्द्धितकं करिष्यत" अर्थात् उसे नपुंसक बनावेंगे । दूसरे शब्दों में कहें तो "–उसकी पुरुषत्व शक्ति को नष्ट कर डालेंगे–" यह कह सकते हैं ।।

आधुनिक शताब्दी (किसी सम्वत् के सैंकड़े के अनुसार एक से सौ वर्ष तक का समय) में उपलब्ध विपाकसूत्र की प्रतियों में "–तते णं तं दारयं अम्मापितरो जायमेत्तकं वद्धेहिंति २

नपुंसगकम्मं सिक्खावेहिंति । ततेणं तस्स दारगस्स अम्मापितरो णिव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं णामधेज्जं करेहिंति, होउ णं पियसेणे णामं णपुंसए—" ऐसा ही प्रायः पाठ उपलब्ध होता है। परन्तु हमारे विचारानुसार उस के स्थान में—**"तते णं तं दारयं अम्मापितरो जायमेत्तकं वद्धेहिंति । तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो णिव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं णामधेज्जं करेहिंति, हाउ णं पियसेणे णामं नपुंसए, तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो तं दारगं नपुंसगकम्मं सिक्खावेहिंति"** ऐसा पाठ होना चाहिये। इस का भावार्थ निम्नोक्त है—

माता पिता उत्पन्न होते उस बालक को नपुंसक—पुरुषत्व शक्ति से हीन करेंगे तथा बारहवें दिन उस बालक का प्रियसेन नपुंसक ऐसा नामकरण करेंगे तदनन्तर उसे नपुंसक का कर्म सिखलावेंगे।

यदि इस में इतना परिवर्तन या संशोधन न किया जाय तो एक महान् दोष आता है। वह यह कि जिसका अभी नामकरण संस्कार भी नहीं हुआ तथा जिसने अभी माता के दूध का भी सम्यक्तया पान नहीं किया, एवं जो सर्वथा अबोध है, ऐसे सद्योजात शिशु को किसी स्वतन्त्र विषय का अध्ययन कैसे कराया जा सकता है? अर्थात् नपुंसक कर्म कैसे सिखाया जा सकता है? यदि नामकरण संस्कार के अनन्तर नपुंसक—कर्म की शिक्षा का उल्लेख हो जाए तो कुछ संगत हो सकता है। उसका कारण यह है कि वहां 'तते' यह पद दिया है, जिस में बड़ी गुंजाइश है। "तते" का अर्थ है - तत् पश्चात्। तात्पर्य यह है कि नामकरण संस्कार के अनन्तर बाल्यावस्था के उल्लंघन से प्रथम का काल "तत्पश्चात्" पद से ग्रहण किया जा सकता है। हमारी इस कल्पना के औचित्यानौचित्य का विशेष विचार तो आगमों के विशेषज्ञ तथा विचार शील सहृदय पाठकों के विचार— विमर्श ही पर निर्भर करता है। हमने अपने विचारानुसार अपने भाव अभिव्यक्त कर दिये हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रियसेन के द्वारा राजादि धनिकों के वश में करने आदि का जो उल्लेख किया गया है, उस की वृत्तिकार सम्मत व्याख्या इस प्रकार है—

विद्यामन्त्र —चूर्ण —प्रयोगैः, किंविधैः इत्याह"—हियउड्डावणेहि य—" त्ति हृदयोड्डायनैः शून्यचित्तताकारकैः, "—णिण्हवणेहि य —" त्ति अदृश्यताकारकैः किमुक्तं भवति? अपहृतधनादिरपि परो धनापहारादिकं यैरपहुते—न प्रकाशयति तदपहवता अतस्तैः । "—पण्हवणेहि य—" त्ति प्रस्नवनैः. परः प्रस्तुतिं भजते प्रह्लत्तो भवतीत्यर्थः,"—वसीकरणेहि य—" त्ति वश्यताकारकैः, किमुक्तं भवति? "आभिओगिएहिं" त्ति अभियोगः पारवश्यं स प्रयोजनं येषां ते आभियोगिकाः अतस्तैः, अभियोगश्च द्वेधा यदाह—

[1]दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे स होइ नायव्वो ।
दव्वम्मि हुन्ति जोगा, विज्जा मंता य भावम्मि ॥ १ ॥

अर्थात् प्रस्तुत पाठ में **विद्याप्रयोग** और **मन्त्रचूर्ण** ये दो विशेष्य पद हैं और **हृदयोड्डायन, निह्नवन, प्रस्नवन, वशीकरण** और **आभियोगिक** ये विशेषण पद हैं। विद्या शब्द के "—शास्त्रज्ञान, विद्वत्ता इत्यादि अनेकों अर्थ मान्य होने पर भी प्रस्तुत प्रकरण में इस का"— देवी द्वारा अधिष्ठित अक्षर— पद्धति—"यह अर्थ अभिमत है। अर्थात् प्रियसेन जो कुछ लिख देता था वह देवी के प्रभाव से निष्फल नहीं जाता था। विद्या का प्रयोग विद्याप्रयोग कहलाता है। मन्त्र शब्द देवता को सिद्ध करने की शाब्दिक शक्ति का परिचायक है। चूर्ण भस्म आदि का नाम

१ द्विविध खल्वभियोगो, द्रव्ये भावे च भवति ज्ञातव्य ।
द्रव्ये भवन्ति योगा, विद्या मन्त्राश्च भावे॥ १ ॥

है, तब मन्त्रचूर्ण शब्द से "—मन्त्र द्वारा मन्त्रित चूर्ण—" यह अर्थ बोधित होता है। अर्थात् प्रियसेन के पास ऐसे चूर्ण थे जिन्हें वह मन्त्रित करके रखा करता या और उन से अपना मनोरथ साधा करता था। विद्याप्रयोगों और मन्त्र—चूर्णों द्वारा प्रियसेन क्या काम लिया करता था ? इसका उत्तर सूत्रकार ने **हृदयोड्डायन** इत्यादि विशेषणों द्वारा दिया है। इन की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) **हृदयोड्डायन**—हृदय को शून्य बना देने वाला अर्थात् हृदय का आकर्षण करने वाला।

(२) **निह्नवन**—पदार्थों को अदृश्य करने वाला अर्थात् जिसके प्रभाव से अपहृत धन वाले धनिक भी अपने अपहृत धन का प्रकाश नहीं कर पाते थे। दूसरे शब्दों में कहें तो ' वे विद्या-प्रयोग और मन्त्रचूर्ण ऐसे अद्भुत थे कि जिन के द्वारा किसी का धन चुराया भी गया हो, फिर भी वे अपहृत धन वाले अपने धनापहार की बात दूसरों को नहीं कहते थे—" यह कहा जा सकता है

(३) **प्रस्नवन**—दूसरों को प्रसन्न करने वाले अर्थात् प्रियसेन जिन पर विद्या और मन्त्र-चूर्ण का उपयोग करता वे झटिति अपने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे

(४) **वशीकरण**—वश में कर लेने वाले अर्थात् प्रियसेन जिन पर विद्या और मन्त्रचूर्ण का प्रयोग करता वे उस के वश में हो जाते थे।

(५) **आभियोगिक**—अभियोग का अर्थ है—परवशता। जिन का प्रयोजन पारवश्य हो, उन्हें आभियोगिक कहा जाता है। अभियोग द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। जिस में औषध आदि का योग हो, उसे **द्रव्याभियोग** कहते हैं और जिस में विद्या एवं मन्त्र का योग हो, वह **भावाभियोग** कहलाता है।

"—**जहा पढमे जाव पुढवी०**—"यहां पठित "—**जाव यावत्**—" पद से प्रथम अध्ययन गत "—**उव्वज्जिहिति। तत्थ णं कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसियाए**" से लेकर "—**तेउ० आउ० पुढविकाएसु अणेगसतसहस्सक्खुत्तो उववज्जिहिति**—" यहां तक का पाठ ग्रहण करना सूत्र—कार को अभिमत है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र की आगामी भव-सम्बन्धी जीवन का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार उज्झितक के विषय में भी जान लेना चाहिये। अन्तर मात्र नाम का है, अर्थात् प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का नाम निर्दिष्ट हुआ है जब कि इस में-दूसरे में उज्झितक कुमार का।

इस के अतिरिक्त जिस प्रकार प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र की अन्तिम जीवनी का विकास-प्रधान कथन किया गया है अर्थात् जिन जिन साधनों से श्रेष्ठी—पुत्र के भव में आकर मृगापुत्र ने अपने जीवन का उद्धार किया और वह देवलोक से च्यव कर महाविदेह के क्षेत्र में दीक्षित हो कर कर्म—रहित बना। ठीक उसी प्रकार उज्झितक कुमार ने भी तथारूप स्थविरों के पास से सम्य-क्त्व को प्राप्त कर के संयम के यथाविधि अनुष्ठान से कर्म—बन्धनों को तोड़ कर निर्वाण—पद को प्राप्त किया, इन सब बातों की सूचना प्रस्तुत अध्ययन में "**बोहिं० अणगारे० सोहम्मे कप्पे०**" और "—**जहा पढमे जाव**—" इत्यादि पदों के संकेत में दे दी गई है, ताकि विस्तार न होने पावे और प्रतिपाद्यार्थ समझ में आसके।

"—**बोहिं०**—" यहां दिये गये बिन्दु से "—**बोहिं बुज्झिहिति, केवलबोहिं बुज्झित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइहिति। से णं भविस्सइ** (अर्थात् बोधि-सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, सम्यक्त्व को प्राप्त करके वह गृहस्थावस्था को त्याग कर अनगार—धर्म में दीक्षित हो जायेगा—

साधु बन जायेगा)—" यहां तक के पाठ का ग्रहण समझना। और "अणगारे०" यहां के बिन्दु से "भविस्सइ ईरियासमिए जाव गुत्तबंभयारी। से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कन्ते कालमासे कालं किच्चा" यहां तक का पाठ ग्रहण करना तथा "—सोहम्मे कप्पे०—" यहां के बिन्दु से "—देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं ततो अणंतरं चयं चइत्ता महाविदेह—वासे जाइं कुलाइं भवन्ति अड्ढाइं—" यहां तक का पाठ ग्रहण करना सूत्रकार को अभीष्ट है। इन पदों का अर्थ प्रथम अध्ययन के पृष्ठ ९२ पर लिखा जा चुका है।

"जहा पढमे जाव अंतं" यहां पठित "जाव—यावत्" पद से औपपातिक सूत्र के "—दित्ताइं वित्ताइं विच्छिण्ण—विउल—भवण—सयणासन—जाण वाहणाइं" से ले कर "—चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सव्व-दुक्खाणमंतं—" यहां तक के पाठ का परिचायक है। इस पाठ का अर्थ पाठक वहीं देख सकेंगे।

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी के चरणकमलों में यह निवेदन किया था कि भगवन्! दुःख—विपाक के प्रथम अध्ययन का अर्थ तो मैंने समझ लिया है, अब आप कृपया यह बतलावें कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दूसरे अध्ययन में क्या अर्थ कथन किया है? जम्बू स्वामी के उक्त प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मा स्वामी ने पूर्वोक्त उज्झितक कुमार के जीवन का वर्णन सुनाना आरम्भ किया था। उज्झितक कुमार के जीवन का वर्णन करने के अनन्तर श्री सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बूस्वामी से कहा कि हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत के प्रथम स्कन्ध के दूसरे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कथन किया है। इस प्रकार मैं कहता हूं, तात्पर्य यह है कि भगवान् ने मुझे जिस प्रकार सुनाया है उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कह दिया है। मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। इन्हीं भावों को सूचित करने के निमित्त सूत्रकार ने "निक्खेवो" इस पद का उल्लेख किया है।

निक्षेप पद के कोषकारों के मत में उपसंहार और निगमन ऐसे दो अर्थ होते हैं। उपसंहार शब्द के "—मिला देना, संयोग कर देना, समाप्ति, भाषण या किसी पुस्तक का अन्तिम भाग जिस में उस का उद्देश्य अथवा परिणाम संक्षेप में बतलाया गया है—' इत्यादि अनेकों अर्थों का परिचायक है, और निगमन शब्द परिणाम, नतीजा इत्यादि अर्थों का बोध कराता है। अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रस्तुत प्रकरण में निक्षेप का कौन सा अर्थ अभिमत है?

हमारे विचारानुसार प्रस्तुत में निक्षेप का—उपसंहार—यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है, निगमन का अर्थ यहां संघटित नहीं हो पाता, क्योंकि प्रस्तुत में निक्षेप पद '—एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं बि यस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तं त्ति बेमि—' इन पदों का संसूचक है। इन पदों का प्रस्तुत द्वितीय अध्ययन में प्रतिपादित कथावृत्तान्त के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तब निगमन पद का अर्थ यहां कैसे संगत हो सकता है? हां यदि इन पदों में प्रस्तुत अध्ययन का परिणाम—नतीजा वर्णित होता तो निगमन पद का अर्थ संगत हो सकता था।

उपसंहार पद का भी यहां पर—मिला देना—यह अर्थ संगत हो सकेगा, क्योंकि यहां पर सूत्रकार का आशय अध्ययन की समाप्ति पर पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ने में है। पूर्वापर सम्बन्ध मिलाने वाले "एवं खलु जम्बू!" इत्यादि पद हैं। इन्हें ग्रहण कर लिया जाए यह सूचना देने के लिए ही सूत्रकार ने 'निक्खेवो" इस पद का उपन्यास किया है। दूसरे शब्दों में निक्षेप पद का अर्थ "—अध्ययन के पूर्वापर सम्बन्ध को मिलाने वाला समाप्ति—वाक्य—" इन शब्दों के द्वारा किया जा सकता

है । रहस्यं तु केवलिगम्यम् ।

प्रस्तुत अध्ययन मे मुख्यतया दो बातों का उल्लेख किया गया है जैसे कि— (१) मांसाहार और (२) व्यभिचार । मांसाहार यह जीव को कितना नीचे गिरा देता है ? और नरक गति में कैसे कल्पनातीत दुःखो का उपभोग कराता है ? तथा अव्यात्मिक जीवन का कितना पतन करा देता है ? यह उज्झितक कुमार के उदाहरण मे भली भान्ति स्पष्ट हो जाता है। साथ में व्यभिचार से कितनी हानि होती है ? उस के आचरण से मर्त्यलोक तथा नरकगति में कितनी यातनायें सहन करनी पड़ती हैं ? यह भी प्रस्तुत अध्ययनगत उज्झितक कुमार के जीवन—वृत्तान्त से भली भान्ति ज्ञात हो जाता है। सारांश यह है कि जीव का हिंसामय और व्यभिचार—परायण होना कितना भयंकर है ? इस का दिग्दर्शन कराना ही प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

पुण्य और पाप के स्वरूप तथा उस के फल—विशेष को समझाने का सरल से सरल यदि कोई उपाय है, तो वह आख्यायिकाशैली है। जो विषय समझ मे न आ रहा हो, जिसे समझने में बड़ी कठिनता प्रतीत होती हो तो वहां आख्यायिका—शैली का अनुसरण राम—बाण औषधि का काम करता है आख्यायिका—शैली को ही यह गौरव प्राप्त है कि उस के द्वारा कठिन से कठिन विषय भी सहज में अवगत हो सकता है और सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी उसे सुगमतया समझ सकता है। इसी हेतु से प्राचीन आचार्यों ने वस्तुतत्व को समझाने के लिए प्रायः इसी आख्यायिका—शैली का आश्रयण किया है । आख्यान के द्वारा एक बाल—बुद्धि जीव भी वस्तुतत्त्व के रहस्य को समझ लेता है, यह इस में रही हुई स्वाभाविक विलक्षणता है । प्रस्तुत सूत्र म भी इसी शैली का अनुसरण किया गया है । कहानी के द्वारा पाठकों को हिंसा के परिणाम तथा व्यभिचार के फल को बहुत अच्छी तरह से समझा दिया गया है। उज्झितक कुमार की इस कथा से प्रत्येक साधक व्यक्ति को यह शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये कि किसी प्राणी को कभी भी सताना नहीं चाहिये और वेश्या आदि की कुसंगति से दूर रहने का सदा यत्न करना चाहिये । वेश्या की कुसंगति से उज्झितक कुमार को कितना भयंकर कष्ट सहन करना पड़ा था ? यह उसके उदाहरण से बिल्कुल स्पष्ट ही है । भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि—

वेश्यासौ मदनज्वाला, रूपेन्धनविवर्द्धिता ।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते, यौवनानि धनानि च ॥

अर्थात्—वेश्या यह रूपलावण्य से धधकती हुई कामदेव की ज्वाला है, इस में कामी पुरुष प्रतिदिन अपने यौवन और धन का हवन करके अपने जीवन को नष्ट कर लेते हैं ।

इस अध्ययन के पढ़ने का सार भी यही है कि इस मे कहानी रूप से दी गई अमूल्य शिक्षाओं को जीवन मे लाकर अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने का यथाशक्ति अधिक से अधिक यत्न करना चाहिये क्योंकि मात्र पढ लेने से कुछ लाभ नहीं हुआ करता ।

(१)पक्षीगण आकाश मे सानन्द विचरने मे तभी समर्थ हो सकते हैं जब कि उन के पक्ष-पर मजबूत और सहीसलामत हो । दोनों में से यदि एक पक्ष—पर भी दुर्बल या निकम्मा है तो उसका स्वेछा—पूर्वक आकाश मे विचरण नहीं हो सकता । इस लिये दोनों पक्षों का स्वस्थ और सबल होना उसके आकाश—विहार के लिये अत्यन्त आवश्यक है । ठीक उसी प्रकार साधक व्यक्ति के लिये ज्ञान और तदनुरूप क्रिया आचरण दोनों की आवश्यकता है । अकेला ज्ञान कुछ भी कर नहीं पाता

---

(१) उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां, यथा खे पक्षीणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां, प्राप्यते शाश्वती गतिः ॥ १ ॥

यदि साथ में क्रिया-आचरण न हो। इसी भान्ति अकेली क्रिया-आचरण का भी कुछ मूल्य नहीं जब कि उसके साथ ज्ञान का सहयोग न हो। अतः ज्ञान—पूर्वक किया जाने वाला क्रियानुष्ठान आचरण ही कार्य—साधक हो सकता है। इसी लिये दीर्घदर्शी महर्षियों ने अपनी २ परिभाषा में उक्त सिद्धान्त का—"**ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष**"—इत्यादि वचनों द्वारा मुक्त कण्ठ से समर्थन किया है।

सारांश यह है कि पतित—पावन भगवान् महावीर स्वामी ने "—दु खजनिका हिंसा से बचो और भगवती अहिंसा—दया का पालन करो, व्यभिचार के दूषण से अलग रहो और सदाचार के भूषण से अपने को अलंकृत करो एवं ज्ञान—पूर्वक क्रियानुष्ठान का आचरण करते हुए अपने भविष्य को उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं अत्युज्ज्वल बनाने का श्रेय प्राप्त करो—" यह उपदेश कथाओं के द्वारा संसार—वर्ती भव्य जीवों को दिया है, अत. शास्त्र—स्वाध्याय से प्राप्त शिक्षाएं जीवन में उतार कर आत्मा का श्रेय साधन करना ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। यह सब कुछ गुरु मुख द्वारा शास्त्र के श्रवण और मनन से हो सकता है। इसी लिये शास्त्रकारों ने बार २ शास्त्र के श्रवण करने पर जोर दिया है।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

अथ तृतीय अध्याय

संसार का प्रत्येक प्राणी जीवन का अभिलाषी बना हुआ है, इसी लिये संसार की अन्य अनेकों वस्तुएं प्रिय होने पर भी उसे जीवन सब से अधिक प्रिय होता है। जीवन को सुखी बनाना उस का सब से बड़ा लक्ष्य है, जिस की पूर्ति के लिये वह अनेकानेक प्रयास भी करता रहता है।

मानव प्राणी को सुख की जितनी चाह है उस से ज्यादा दुःख से उसे घृणा है। दुःख का नाम सुनते ही वह तिलमिला उठता है। इस से (दुःख से) बचने के लिये वह बड़ी से बड़ी कठोर साधना करने के लिये भी सन्नद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सुखों को प्राप्त करने और दुःखों से विमुक्त होने की कामना प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। इसी लिये विचारशील पुरुष दुःख को साधन—सामग्री को अपनाने का कभी यत्न नहीं करते प्रत्युत सुख की साधनसामग्री को अपनाते हुए अधिक से अधिक आत्मविकास की ओर बढ़ने का निरन्तर प्रयास करते रहते हैं।

संसार में दो प्रकार के प्राणी उपलब्ध होते हैं, एक तो वे हैं जो—सभी सुखी रहना चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता—इस सिद्धान्त को हृदय में रखते हुए किसी को कभी दुःख देने की चेष्टा नहीं करते और जहां तक बनता है वे अपने सुखों का बलिदान करके भी दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा '—सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न दुःख पावे—" इस पवित्र भावना से अपनी आत्मा को भावित करते रहते हैं। इस के विपरीत दूसरे वे प्राणी हैं, जिन्हें मात्र अपने ही सुख की चिन्ता रहती है, और उस की पूर्ति के लिये किसी प्राणी के प्राण यदि विनष्ट होते हों तो उन का उसे तनिक ख्याल भी नहीं आने पाता, ऐसे प्राणी अपने स्वार्थ के लिये किसी भी जघन्य आचरण से पीछे नहीं हटते, और वे पर पीडा और पर—दुःख को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लेते हैं साथ में वे बुरे कर्म का फल बुरा होता है और वह अवश्य भोगना पड़ता है, इस पवित्र सिद्धान्त को भी अपने मस्तिष्क में से निकाल देते हैं। ऐसे मनुष्य अनेकों हैं और उन में से एक अभग्नसेन नाम का व्यक्ति भी है। प्रस्तुत तीसरे अध्ययन में इसी के जीवन - वृत्तान्त का वर्णन किया गया है। उस का उपक्रम करते हुए सूत्रकार इस प्रकार वर्णन करते हैं —

मूल—[1] तच्चस्स उक्खेवो एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरिमताले णामं

---

(१) छाया—तृतीयस्योत्क्षेपः। एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये पुरिमतालं नाम नगरमभवत्, ऋद्ध०। तस्य पुरिमतालस्य नगरस्योत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे अमोघदर्शि उद्यानम्। तत्र अमोघदर्शिनो यक्षस्य आयतनमभवत्। तत्र पुरिमताले महाबलो नाम राजाऽभूत्। तस्य पुरिमतालस्य नगरस्योत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे देशप्रान्ते अटवीसंश्रिता, शालाटवी नाम चोरपल्ल्यभवत्, विषम—गिरि-कन्दर—कोलम्बसंनिविष्टा, वंशी—कलंकप्राकार-परिक्षिप्ता, छिन्नशैलविषमप्रपातपरिखोपगूढा, अभ्यन्तर—पानीया, सुदुर्लभजलपर्यन्ता, अनेक—खंडी, विदितजनदत्तनिर्गमप्रवेशा, सुबहोरपि मोषव्यावर्तकजनस्य दुष्प्रध्वंस्या चाप्यभवत्। तत्र शालाटव्यां चोरपल्ल्यां विजयो नाम चोरसेनापतिः परिवसति अधार्मिको यावत्, लोहितपाणिः, बहुनगरनिर्गतयशाः, शूरो, दृढप्रहारः, साहसिकः, शब्दवेधी, असियष्टिप्रथममल्लः। स तत्र शालाटव्यां चोरपल्ल्यां पञ्चानां चोरशतानामाधिपत्यं यावत् विहरति।

नगरे होत्था, रिद्ध०[1] । तस्स णं पुरिमतालस्स नगरस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए अमोहदंसी उज्जाणे, तत्थ णं अमोहदंसिस्स जक्खस्स आययणे होत्था । तत्थ णं पुरिमताले महव्वले णामं राया होत्था । तस्स णं पुरिमतालस्स णगरस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए देसप्पंते अडवीसंठिया सालाडवी णाम चोरपल्ली होत्था, विसमगिरिकंदरकोलंबसंनिविट्ठा, वंसीकलंकपागारपरिक्खित्ता, छिण्णसेलविसमप्पवायफरिहोवगूढा, अब्भितर—पाणिया, सुदुल्लभजलपेरंता, अणेगखण्डी, विदितजणदिण्णनिग्गमप्पवेसा, सुबहुयस्स वि कूवियस्स जणस्स दुप्पहंसा यावि होत्था । तत्थ णं सालाड़वीए चोरपल्लीए विजए णाम चोरसेणावती परिवसति, [2]अहम्मिए जाव लोहियपाणी बहुणगरणिग्गतजसे, सूरे, दढप्पहारे, साहसिते, सद्दवेही, असिलट्ठिपढममल्ले । से णं तत्थ सालाड़वीए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसताण आहेवच्चं जाव विहरति ।

पदार्थ—**तच्चस्स**—तृतीय अध्ययन की । **उक्खेवो**—उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्ववत् जान लेनी चाहिए । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **जंबू !**—हे जम्बू ! । **तेणं कालेणं**—उस काल मे तथा । **तेणं समएणं**—उस समय में । **पुरिमताले**—पुरिमताल । **णामं**—नामक । **णगरे**—नगर । **होत्था**—था । **रिद्ध०**—जोकि ऋद्ध-भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—भय से रहित तथा समृद्ध—धनधान्यादि से सम्पन्न, था । **तस्स णं**—उस । **पुरिमतालस्स**—पुरिमताल नामक । **णगरस्स**—नगर के । **उत्तरपुरत्थिमे**—उत्तर पूर्व । **दिसीभाए**—दिग्भाग में—दिशा मे अर्थात् ईशान कोण में । **अमोहदंसी**—अमोघदर्शी नामक । **उज्जाणे**—उद्यान था । **तत्थ णं**—वहा पर । **अमोहदंसिस्स**—अमोघदर्शी नामक । **जक्खस्स**—यक्ष का । **आययणे**—आयतन—स्थान । **होत्था**—था । **तत्थ णं**—उस । **पुरिमताले**—पुरिमताल नगर में । **महव्वले**—महाबल । **णामं**—नामक । **राया**—राजा । **होत्था**—था । **तस्स णं**—उस । **पुरिमतालस्स**—पुरिमताल । **णगरस्स**—नगर के । **उत्तरपुरत्थिमे**—उत्तरपूर्व । **दिसीभाए**—दिग्भाग मे अर्थात् ईशान कोण मे । **देसप्पंते**—देशप्रान्त—सीमा पर । **अडवीसंठिया**—अटवी में स्थित । **सालाडवी**—शालाटवी । **णामं**—नामक । **चोरपल्ली**—चोर—

(१) "—**रिद्ध०**—यहा की बिन्दु से जिस पाठ का ग्रहण सूत्रकार ने सूचित किया है उस को पृष्ठ १३८ पर लिख दिया गया है ।

(२) "**अहम्मिए**" अधर्मेण चरतीत्यधार्मिक यावत्करणात्—'**अधम्मिट्ठे**" अतिशयेन निर्धर्म अधर्मिष्ट निस्त्रिंशकर्मकारित्वात्, '**अधम्मक्खाई**' अधर्ममाख्यातु शील यस्य स तथा, "**अधम्माणुए**" अधर्मकर्तव्येऽनुज्ञा—अनुमोदन यस्यासावधर्मानुज्ञ अधर्मानुगो वा, '**अधम्मपलोई**" अधर्ममेव प्रलोकयितु शील यस्यासावधर्मप्रलोकी "**अधम्मपज्जणे**" अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यते इति अधर्मप्ररजन "**अधम्मसीलसमुदायारे**" अधर्म एव शील—स्वभाव, समुदाचारश्च,—यत्किंचनानुष्ठान यस्य स तथा, "**अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे**" अधर्मेण—पापेन सावद्यानुष्ठानेनैव दहनाङ्कननिलाञ्छनादिना कर्मणा, वृत्ति वर्तन, कल्पयन्—कुर्वाणो "**हणछिन्दभिन्दवियत्तए**" हन—विनाशय, छिन्धि-द्विधा कुरु, भिन्द कुन्तादिना भेद विधेहि-इत्येव परानपि प्रेरयन् प्राणिनो विकृन्ततीति हनछिन्दभिन्द-विकर्तक, हन इत्यादय शब्दा सस्कृतेऽपि न विरुद्धाः अनुकरणरूपत्वादेषामिति भाव ।

पल्ली—चोरों के निवास का गुप्तस्थान । होत्था—थी, जो कि । विसमगिरिकन्दर—पर्वत की विषम-भयानक कन्दरा—गुफा के । कोलंब—प्रान्तभाग—किनारे पर । सन्निविट्ठा—संस्थापित थी । वंसी-कलंक—बांस की जाली की बनी हुई बाड़, तद्रूप । पागार—प्राकार-कोट से । परिक्खित्ता—परिक्षित-घिरी हुई थी । छिण्ण—विभक्त अर्थात् अपने अवयवों में कटे हुए । सेल—शैल—पर्वत के । विसम—विषम—ऊंचे नीचे । प्पवाय—प्रपात—गढ़, तद्रूप । फरिहोवगूढ़ा—परिखा—खाई से युक्त । अब्भिंतर-पाणिया—अन्तर्गत जल से युक्त अर्थात् उसके अन्दर जल विद्यमान था । सुदुल्लभजलपेरंता—उसके बाहिर जल अत्यन्त दुर्लभ था । अणेगखंडी—भागने वाले मनुष्यों के मार्गभूत अनेकों गुप्तद्वारों से युक्त । विदितजणदिण्णनिग्गमप्पवेसा—ज्ञात मनुष्य ही उस में से निर्गम और प्रवेश कर सकते थे, तथा । सुबहुयस्स वि—अनेकानेक । कूवियस्स—मोषव्यावर्तक—चोरों द्वारा चुराई हुई वस्तु को वापिस लाने के लिए उद्यत रहने वाले । जणस्स यावि—जन—मनुष्यों द्वारा भी । दुप्पहंसा—दुष्प्रध्वस्या अर्थात् उस का नाश न किया जा सके, ऐसी । होत्था—थी । तत्थ णं—वहां अर्थात् उस । सालाडवीए—शाला-टवी नामक । चोरपल्लीए—चोरपल्ली में । विजए णामं—विजय नामक । चोरसेणावती—चोरसेना-पति—चोरों का नायक । परिवसति—रहता था, जो कि । अहम्मिए—अधार्मिक । जाव—यावत् । लोहियपाणी—लोहितपाणि अर्थात् उस के हाथ रक्त से लाल रहते थे । बहुणगरणिग्गतजसे—जिस की प्रसिद्धि अनेक नगरों में हो रही थी । सूरे—शूरवीर । दढप्पहारे—दृढ़ता से प्रहार करने वाला । साहसिते—साहसी—साहस से युक्त । सद्दवेही—शब्दभेदी अर्थात् शब्द को लक्ष्य में रख कर बाण चलाने वाला । असिलट्ठिपढममल्ले—तलवार और लाठी का प्रथममल्ल—प्रधान-योद्धा था । से णं—वह विजय नामक चोरसेनापति । तत्थ सालाडवीए—उस शालाटवी नामक । चोरपल्लीए—चोरपल्ली में । पंचण्हं चोरसताणं—पांच सौ चोरों का । आहेवच्चं—आधिपत्य-स्वामित्व करता हुआ । जाव—यावत् । विहरति—समय बिता रहा था ।

मूलार्थ—तृतीय अध्ययन की प्रस्तावना पूर्व की भान्ति ही जान लेनी चाहिए । हे जम्बू ! उस काल और उस समय में पुरिमताल नामक एक नगर था, जो कि ऋद्ध—भवनादि की अधिकता से युक्त, स्तिमित—स्वचक्र (आन्तरिक उपद्रव) और परचक्र (बाह्य उपद्रव) के भय से रहित और समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण था । उस नगर के ईशान कोण में अमोघदर्शी नाम का एक उद्यान था । उस उद्यान में अमोघदर्शी नामक यक्ष का एक आयतन-स्थान था । पुरिमताल नगर में महाबल नाम का राजा राज्य किया करता था ।

नगर के ईशान कोण में सीमान्त पर स्थित अटवी में शालाटवी नाम की एक चोर—पल्ली (चोरों के निवास करने का गुप्त—स्थान) थी, जो कि पर्वतीय भयानक गुफाओं के प्रान्तभाग—किनारे पर स्थापित थी, बांस की बनी हुई बाड़रूप प्राकार से परिवेष्टित-घिरी हुई थी । विभक्त—अपने अवयवों से कटे हुए पर्वत के विषम (ऊंचे, नीचे) प्रपात—गर्त, तद्रूप परिखा-खाई वाली थी । उस के भीतर पानी का पर्याप्त प्रबन्ध था और उसके बाहिर दूर दूर तक पानी नहीं मिलता था । उसके अन्दर अनेकानेक खण्डी—गुप्त द्वार (चोर दरवाज़े) थे, और उस चोरपल्ली में परिचित व्यक्तियों का ही प्रवेश अथच निर्गमन हो सकता था । बहुत से मोषव्यावर्तक—चोरों की खोज लगाने वाले अथवा चोरों द्वारा अपहृत धनादि के वापिस लाने में उद्यत, मनुष्यों के द्वारा भी उस का नाश नहीं किया जा सकता था ।

उस शालाटवी नामक चोरपल्ली मे विजय नाम का चोरसेनापति रहता था, जो कि महा अधर्मी यावत् उस के हाथ खून से रगे रहते थे, उस का नाम अनेक नगरों मे फैला हुआ था। वह शूरवीर, दृढ़प्रहारी, साहसी, शब्दवेधी—शब्द पर बाण मारने वाला और तलवार तथा लाठी का प्रधान योद्धा था। वह सेनापति उस चोरपल्ली मे चोरों का आधिपत्य—स्वामित्व यावत् सेनापतित्व करता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था।

टीका—श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी से विनम्र शब्दों में निवेदन किया कि भगवन्! आप श्री ने विपाकसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के दूसरे अध्ययन का जो अर्थ सुनाया है, वह तो मैंने सुन लिया है। अब आप कृपया यह बतलाने का अनुग्रह करें कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने तीसरे अध्ययन का क्या अर्थ कथन किया है?, यह तीसरे अध्ययन की प्रस्तावना है, जिस को सूत्रकार ने मूलसूत्र मे '**तच्चस्स उक्खेवो**" इस पदों द्वारा सूचित किया है। इस की वृत्तिकार—सम्मत व्याख्या "**—तृतीयाध्ययनस्योत्क्षेप प्रस्तावना वाच्या, सा चैवम्—"जइ णं भंते! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दोच्चस्स उज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते, तच्चस्स णं भंते! के अट्ठे पएणत्ते?—**" इस प्रकार है। अर्थात् उत्क्षेप शब्द प्रस्तावना का परिचायक है। प्रस्तावना का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में श्री सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू स्वामी की प्रार्थना पर जो कुछ कथन किया है, उसका वर्णन किया गया है। श्री जम्बू स्वामी की जिज्ञासा—पूर्ति के निमित्त तृतीय अध्ययन-गत अर्थ का—प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ करते हुए श्री सुधर्मा स्वामी फरमाने लगे—

हे जम्बू! जब इस अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बीत रहा था, उस समय पुरिमताल नाम का एक सुप्रसिद्ध नगर था। जो कि नगरोचित समस्त गुणों से युक्त और वैभव—पूर्ण था उसके ईशान कोण मे अमोघदर्शी नाम का एक रमणीय उद्यान था। उस उद्यान में अमोघदर्शी नाम से प्रसिद्ध एक यक्ष का स्थान बना हुआ था।

पुरिमताल नगर का शासक महाबल नाम का एक राजा था। महाबल नरेश के राज्य की सीमा पर ईशान कोण में एक बड़ी विस्तृत अटवी थी। उस अटवी में शालाटवी नाम की एक चोरपल्ली थी।

वह चोरपल्ली पर्वत की एक विषम कन्दरा के प्रान्त भाग—किनारे पर अवस्थित थी। वह वंशजाल के प्राकार (चारदीवारी) मे वेष्टित और पहाडी खड्डो के विषम—मार्ग की परिखा से घिरी हुई थी। उस के भीतर जल का सुचारु प्रबन्ध था परन्तु उस के बाहिर जल का अभाव था। भागने या भाग कर छिपने वालों के लिये उस मे अनेक गुप्त दरवाजे थे। उस चोरपल्ली में परिचितो को ही आने और जाने दिया जाता था। अथवा यू कहें कि उस में सुपरिचित व्यक्ति ही आ जा सकते थे। अधिक क्या कहें वह शालाटवी नाम की चोरपल्ली चोरग्राही राजपुरुषों के लिये भी दुरधिगम अथच दुष्प्रवेश थी।

इस चोरपल्ली में विजय नाम का चोरसेनापति रहता था। वह बडे क्रूर विचारों का था, उसके हाथ सदा खून से रगे रहते थे। उस के अत्याचारो से पीड़ित सारा प्रान्त उसके नाम से काप उठता था। वह बडा निर्भय, बहादुर और सब का डट कर सामना करने वाला था। उस का प्रहार बडा तीव्र और अमोघ निष्फल न जाने वाला था। शब्द—भेदी बाण के प्रयोग में वह बडा निपुण था। तलवार और लाठी के युद्ध में भी वह सब में अग्रेसर था। इसी कारण वह ५००

चोरों का मुखिया बना हुआ था। पाच सौ चोर उस के शासन में रहते थे। शालाटवी का निर्माण ही कुछ ऐसे ढंग से हो रहा था कि जिस के बल से वह सर्व प्रकार से अपने को सुरक्षित रक्खे हुए था।

चोरपल्ली के सम्बन्ध मे सूत्रकार ने जो विशेषण दिये हैं, उन की व्याख्या निम्नोक्त है—

"—**विसम-गिरि-कन्दर-कोलव-सन्निविट्ठा**—विषम यद्गिरे. कन्दर-कुहर तस्य य. कोलम्ब:-प्रान्तस्तत्र सन्निविष्टा-सन्निवेशिता या सा तथा, कोलम्बो हि लोके अवनत वृक्षशाखाग्रमुच्यते इहोपचारत कन्दरप्रान्त. कोलम्बो व्याख्यात.—" अर्थात् विषम भयानक को कहते हैं। गिरि पर्वत का नाम है। कन्दरा शब्द गुफा का परिचायक है। कोलम्ब शब्द से किनारे का बोध होता है। सन्निवेशित का अर्थ है—सस्थापित। तात्पर्य यह है कि चोरपल्ली की स्थापना भयानक पर्वतीय कन्दराओं-गुफाओं के किनारे पर की गई थी। भीषण कन्दराओं के प्रान्त—भाग में चोरपल्ली के निर्माण का उद्देश्य यही हो सकता है कि उस मे कोई शत्रु प्रवेश न कर सके और वह खोजने पर भी किसी को उपलब्ध न हो सके और यदि कोई वहा तक जाने का साहस भी करे तो उसे मार्ग में अनेकविध बाधाओं का सामना करना पड़े, जिस से वह स्वयं ही हतोत्साह हो कर वहा से वापिस लौट जाए।

कोलम्ब शब्द का अर्थ है—झुकी हुई वृक्ष की शाखा का अग्रभाग। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में उपचार (लक्षणा) से कोलम्ब का अर्थ कन्दरा का अग्रभाग अर्थात् किनारा ग्रहण किया गया है।

"—**वंसी-कलंक-पागार-परिक्खित्ता**—वशीकलका वशजालमयी वृत्ति., सैव प्राकारस्तेन परिक्षिप्ता-वेष्टिता या सा तथा—"अर्थात् उस चोरपल्ली के चारों ओर एक वशजाल (वासों के समूह) की वृत्ति-बाड़ बनी हुई थी जो कि वहा चोरपल्ली की रक्षा के लिये एक प्राकार का काम देती थी। तात्पर्य यह है जिस प्रकार किले के चारों ओर प्राकार-कोट (चार दीवारी) निर्मित किया हुआ होता है, जो कि किले को शत्रुओं से सुरक्षित रखता है, इसी भाति चोरपल्ली के चारों ओर भी वासों के जाल से एक प्राकार बना हुआ था जो कि उसे शत्रुओं से सुरक्षित रखे हुए था।

"—**छिण्ण-सेल-विसम-प्पवाय-फरिहोवगूढा**—छिन्नो विभक्तोऽवयवान्तरापेक्षया य: शैलस्तस्य सम्बन्धिनो ये विषमा प्रपाता-गर्तास्त एव परिखा तयोपगूढा-वेष्टिता या सा तथा—"अर्थात् छिन्न का अर्थ है कटा हुआ, या यूं कहें-अपने अवयवों-हिस्सों से विभक्त हुआ। शैल पर्वत का नाम है। विषम भीषण या ऊचे नीचे को कहते हैं। प्रपात शब्द से गढे का बोध होता है। खाई के लिये परिखा शब्द प्रयुक्त होता है। तात्पर्य यह है कि पहाड़ों के टूट जाने से वहा जो भयकर गढे हो जाते हैं, वे ही उस चोरपल्ली के चारों ओर खाई का काम दे रहे थे।

पहले जमाने मे राजा लोग अपने किले आदि के चारों ओर खाई खुदवा दिया करते थे। खाई का उद्देश्य होता था कि जब शत्रु चारों ओर से आकर घेरा डाल दे तो उस समय उस खाई में पानी भर दिया जाए, जिस से शत्रु जल्दी जल्दी किले आदि के अन्दर प्रवेश न कर सके। इसी भान्ति चोरपल्ली के चारों ओर भी विशाल तथा विस्तृत पर्वतीय गर्त बने हुए थे, जो परिखा के रूप में होते हुए उसे (चोरपल्ली को) भावी सकटों से सुरक्षित रख रहे थे।

"—**अणेगखंडी**—अनेका नश्यता नराणा मार्गभूता: खण्डयोऽपद्वाराणि यस्या साऽनेकखण्डी—" अर्थात् उस चोरपल्ली में चोरों के भागने के लिये बहुत से गुप्तद्वार थे। गुप्तद्वार का अभिप्राय चोर—दर्वाजों से है। चोरपल्ली में गुप्तद्वारों के निर्माण का अर्थ था कि—यदि चोरपल्ली किसी समय प्रबल शत्रुओं से आक्रान्त होजाए तब शत्रुओं की शक्ति अधिक और अपनी शक्ति कम होने के कारण

वहा से सुगमता—पूर्वक भाग कर अपना जीवन बचा लिया जाए ।

" **विदित-जण-दिण्ण-निग्गम प्पवेसा**—विदितानामेव प्रत्यभिज्ञाताना जनाना दत्तो निर्गम प्रवेश्च यस्या सा तथा—" अर्थात् उस चोरपल्ली के अधिकारियों की ओर से वहा के प्रतिहारियों को यह कड़ी आज्ञा दे रखी थी कि चोरपल्ली मे परिचित—विश्वासपात्र व्यक्ति ही प्रवेश कर सकते हैं, और परिचित ही वहा से निकल सकते हैं । अधिकारियों की ऐसी आज्ञा का अभिप्राय इतना ही है कि कोई राजकीय गुप्तचर चोरपल्ली में प्रवेश न कर पाए और वहा से कोई बन्दी भी भाग न जाए । इन विशेषणों द्वारा वहा के अधिकारियो की योग्यता, दीर्घदर्शिता, रक्षासाधनो की ओर सतर्कता एव अनुशासन के प्रति दृढता का पूरा पूरा परिचय मिल जाता है ।

' —**कूवियस्स जणस्स दुप्पहंसा**—" यहा पठित " **कूवियस्स** " के स्थान पर "**कुवियस्स**" ऐसा पाठान्तर भी मिलता है ।' प्रथम "**कूविय**" पद को कोषकार देश्य पद (देश विशेष मे प्रयुक्त होने वाला) बतलाते हैं और इसका—मोषव्यावर्तक अर्थात् चुराई हुई चीज की खोज लगा कर उसे लाने वाला—ऐसा अर्थ करते हैं । तथा दूसरा "**कुविय**" यह पद यौगिक है, जिस का अर्थ होता है—कुपित अर्थात् क्रोध से पूर्ण । तात्पर्य यह है कि उस चोरपल्ली मे शस्त्र अस्त्रादि का और सैनिको का ऐसा व्यापक बल एकत्रित किया गया था कि वह चोरपल्ली मोषव्यावर्तकों से या क्रोधित शत्रुओं से भी प्रध्वस्या नही थी । दूसरे शब्दों मे कहे तो —इन से भी उस चोरपल्ली का ध्वस—नाश नही किया जा सकता था—यह कहा जा सकता है ।

सूत्रकार ने " **कूवियस्स**" का जो " **सुबहुयस्स** " यह विशेषण दिया हैं, इस से तो चोरपल्ली के रक्षा—साधनों की प्रचुरता का स्पष्टतया परिचय प्राप्त हो जाता है । साराश यह है कि मोषव्यावर्तकों या कोपाविष्ट व्यक्तियो की चाहे कितनी बडी संख्या क्यो न हो फिर भी वे चोरपल्ली पर अधिकार नही कर सकते थे और ना ही उसको कुछ हानि पहुँचा सकते थे ।

इन सब बातों से उस समय की परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश पडता है । ऐसी अटवियों में लोगो का आना जाना कितना भयग्रस्त और आपत्ति—जनक हो सकता था ? इस का भी अनुमान सहज मे ही किया जा सकता है ।

"**अहम्मिए जाव लोहियपाणी**"—यहा पठित—जाव-यावत्—पद से "**अधम्मिट्ठे, अधम्मक्खाई, अधम्माणुए, अधम्मपलोई, अधम्मपलज्जणे, अधम्मसीलसमुदायारे, अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ हणछिन्दभिन्दवियत्तए**"—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । अधर्मी आदि पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) **अधर्मी**—अधर्म—(पाप) पूर्ण आचरण करने वाला ।

(२) **अधर्मिष्ट**—अत्यधिक अधार्मिक अथवा अधर्म ही जिस को इष्ट-प्रिय है ।

(३) **अधर्माख्यायी**—अधर्म का उपदेश देना ही जिसका स्वभाव बना हुआ है ।

(४) **अधर्मानुज्ञ या अधर्मानुग**—धर्म—शून्य कार्यों का अनुमोदन-समर्थन करने वाला अथवा अधर्म का अनुगमन—अनुसरण करने वाला अर्थात् अधर्मानुयायी ।

(५) **अधर्म—प्रलोकी**—अधर्म को उपादेयरूप मे देखने वाला अर्थात् अधर्म ही उपादेय-ग्रहण करने योग्य है, यह मानने वाला ।

(६) **अधर्म-प्ररजन**—धर्म—विरुद्ध कार्यों से प्रसन्न रहने वाला ।

(७) **अधर्मशील—समुदाचार**—अधर्म करना ही जिस का शील—स्वभाव और 'समुदाचार—

आचार-व्यवहार बना हुआ हो।

(८) **अधर्मेण चेव वृत्तिं कल्पयन्**—का भाव है, अधर्म के द्वारा ही अपनी वृत्ति—आजीविका चलाता हुआ। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति जहा पापपूर्ण विचारो का धनी था वहा वह अपनी उदर-पूर्ति और अपने परिवार का पालन पोषण भी हिंसा, असत्य, चौर्यकर्म आदि अधर्म-पूर्ण व्यवहारों से ही किया करता था।

(९) **हनछिन्दभिन्दविकर्तक**—इस विशेषण मे सूत्रकार ने विजयसेन चोरसेनापति के हिंसक एव आततायी जीवन का विशेष रूप से वर्णन किया है। वह अपने साथियों से कहा करता था कि—**हन** -इसे मारो, **छिन्द**—इस के टुकडे २ कर दो, **भिन्द**—इसे कुन्त (भाला) से भेदन करो-फाड डालो, इस प्रकार दूसरों को प्रेरणा करने के साथ २ वह चोरसेनापति स्वय भी लोगो के नाक और कान आदि का विकर्तक–काटने वाला बन रहा था।

(१०) **लोहित-पाणी**—प्राणियों के अगोपागों के काटने से जिसके हाथ खून से रगे रहते थे। तात्पर्य यह है कि चोरसेनापति का इतना अधिक हिंसाप्रिय जीवन था कि वह प्राय किसी न किसी प्राणी का जीवन विनष्ट करता ही रहता था।

(११) **बहुनगरनिर्गतयशा**—अनेकों नगरों मे जिस का यश-प्रसिद्धि फैला हुआ था। अर्थात् विजयसेन चोरसेनापति अपने चोरी आदि कुकर्मों मे इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उस के नाम से उस प्रान्त का बच्चा २ परिचित था। उस प्रान्त में उस के नाम की धाक मची हुई थी।

(१२) **शूर**—वीर का नाम है। वीरता अच्छे कर्मों की भी होती है और बुरे कर्मों की भी। परन्तु विजयसेन चोरसेनापति अपनी वीरता का प्रयोग प्राय लोगो को लूटने और दु:ख देने मे ही किया करता था।

(१३) **दृढ़—प्रहार**—जिस का प्रहार (चोट पहुँचाना) दृढता-पूर्ण हो, अर्थात् जो दृढता से प्रहार करने वाला हो, उसे दृढप्रहार कहते हैं।

(१४) **साहसिक**—वह मानसिक शक्ति जिस के द्वारा मनुष्य दृढता—पूर्वक विपत्ति आदि का सामना करता है, उसे साहस कहते हैं। साहस का ही दूसरा नाम हिम्मत है। साहस से सम्पन्न व्यक्ति साहसिक कहलाता है।

(१५) **शब्दवेधी**—उस व्यक्ति का नाम है जो विना देखे हुए केवल शब्द से दिशा का ज्ञान प्राप्त कर के किसी भी वस्तु को बींधता हो।

(१६) **असियष्टिप्रथममल्ल**—विजयसेन चोरसेनापति असि—तलवार के और यष्टि लाठी के चलाने में प्रथममल्ल था। प्रथममल्ल का अर्थ होता है—प्रधान योद्धा।

आचार्य अभयदेव सूरि के मत में [1]"**असियष्टि**" एक पद है और वे इसका अर्थ खड्गलता-तलवार करते हैं।

"**आहेवच्चं जाव विहरति**"—यहा—पठित **जाव-यावत्**—पद मे—"**पोरेवच्च, सामित्तं, भट्टित्तं, महत्तरगत्तं, आणाईसरसेणावच्चं**" इन पदो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। आधिपत्य आदि पदों की व्याख्या इस प्रकार है—

---

(१) "**असिलट्ठि पढममल्ले**"—त्ति असियष्टि-खड्गलता, तस्या प्रथम, आद्य प्रधान इत्यर्थ, मल्लो योद्धा य स तथेति वृत्तिकार।

(१) **आधिपत्य**—अधिपति राजा का नाम है, उस का कर्म आधिपत्य कहलाता है। अर्थात् राजा लोगों के प्रभुत्व को आधिपत्य कहते हैं।

(२) **पुरोवर्तित्व**—आगे चलने वाले का नाम पुरोवर्ती है। पुरोवर्ती-मुख्य का कर्म पुरोवर्तित्व कहलाता है, अर्थात् मुख्यत्व को ही पुरोवर्तित्व शब्द मे अभिव्यक्त किया गया है।

(३) **स्वामित्व**—स्वामी नेता का नाम है। उस का कर्म स्वामित्व कहलाता है, अर्थात् नेतृत्व का ही पर्यायवाची स्वामित्व शब्द है।

(४) **भर्तृत्व**—पालन पोषण करने वाले का नाम भर्ता है। उसका कर्म भर्तृत्व कहलाता है। भर्तृत्व को दूसरे शब्दों में पोषकत्व से भी कहा जा सकता है।

(५) **महत्तरकत्व**—उत्तम या श्रेष्ठ का नाम महत्तरक है। उसका कर्म महत्तरकत्व कहलाता है। महत्तरकत्व कहे या श्रेष्ठत्व कहे यह एक ही बात है।

(६) **आज्ञेश्वरसैनापत्य**—इस पद के—"**आज्ञायामीश्वरः आज्ञेश्वरः आज्ञाप्रधान., आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापति. आज्ञेश्वरसेनापतिः, तस्य भाव कर्म वा आज्ञेश्वरसैनापत्यम्। अथवा-आज्ञेश्वरस्य आज्ञाप्रधानस्य यत् सैनापत्यं तदाज्ञेश्वरसैनापत्यम्**" इन विग्रहो से दो अर्थ निष्पन्न होते हैं। वे निम्नोक्त हैं—

(१) जो स्वय ही आज्ञेश्वर है और स्वय ही सेनापति है, उसे आज्ञेश्वरसेनापति कहते हैं। उस का भाव अथवा कर्म आज्ञेश्वरसैनापत्य कहलाता है। आज्ञेश्वर राजा का नाम है। सेना के सचालक को सेनापति कहा जाता है।

(२) आज्ञेश्वर का जो सेनापति उसे आज्ञेश्वरसेनापति कहते हैं, उसका भाव अथवा कर्म आज्ञेश्वरसैनापत्य कहलाता है।

प्रस्तुत प्रकरण मे सूत्रकार को प्रथम अर्थ अभिमत है, क्योंकि विजयसेन चोरसेनापति स्वय ही चोरपल्ली का राजा है, तथा स्वय ही उसका सेनापति बना हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र मे शालाटवी नामक चोरपल्ली का विवेचन तथा चोरसेनापति विजयसेन की प्रभुता का वर्णन किया गया है। अब अग्रिम सूत्र मे विजयसेन चोरसेनापति के कुकृत्यों का वर्णन किया जाता है—

मूल—[1] तते णं से विजए चोरसेणावती बहूणं चोराण य पारदारियाण य गंठि-भेयगाण य संधिछेयगाण य खंडपट्टाण य अन्नेसिं च बहूणं छिन्न-भिन्न-बाहिराहियाणं

---

(१) **छाया**—तत. स विजय चोरसेनापतिः बहूना चोराणा च पारदारिकाणा च ग्रन्थि—भेदकाना च सन्धिच्छेदकाना च खडपट्टाना चान्येषा च बहूना छिन्नभिन्नबहिष्कृताना कुटङ्कश्चाप्यभवत्। तत स विजयश्चोरसेनापति. पुरिमतालस्य नगरस्योत्तरपौरस्त्य जनपद बहुभिर्ग्रामघातैश्च, नगरघातैश्च गोग्रहणैश्च, बन्दिग्रहणैश्च, पान्थकुट्टैश्च, खत्तखननैश्चोत्पीडयन् २ विधर्मयन् २ तर्जयन् २ ताडयन् २ नि.स्थानान् निर्धनान् निष्कणान् कुर्वाणो विहरति। महाबलस्य राज्ञ अभीक्ष्ण २ कल्पाय गृह्णाति। तस्य विजयस्य चोरसेनापते स्कन्दश्री. नाम भार्याऽभवद् अहीन०। तस्य विजयचोरसेनापतेः पुत्रः स्कन्दश्रियो भार्याया आत्मज· अभग्नसेनो नाम दारकोऽभवद्, अहीनपरिपूर्णपञ्चेन्द्रिय—शरीरो विज्ञातपरिणतमात्र· यौवनकमनुप्राप्त।

कुडंगे यावि होत्था, तते णं से विजए चोरसेणावई पुरिमतालस्स णगरस्स उत्तरपुरत्थिमिल्लं जणवयं बहूहिं गामघातेहि य नगरघातेहि य गोग्गहणेहि य बंदीग्गहणेहि य पंथकोट्टेहि य खत्तखणणेहि य ओवीलेमाणे २ विहम्मेमाणे २ तज्जेमाणे २ तालेमाणे २ नित्थाणे निद्धणे निक्कणे करेमाणे विहरति, महब्बलस्स रगणो अभिक्खणं २ कप्पायं गेण्हति । तस्स णं विजयस्स चोरसेणावइस्स खंदसिरी णामं भारिया होत्था, अहीण० । तस्स णं विजयचोरसेणावइस्स पुत्ते खंदसिरीए भारियाए अत्तए अभग्गसेणे नामं दारए होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे विएणायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । **से**—वह । **विजए**—विजय । **चोरसेणावती**—चोरसेनापति—चोरों का सेनापति नेता । **बहूण**—अनेक । **चोराण य**—चोरों । **पारदारियाण य**—परस्त्रीलम्पटों । **गंठिभेयगाण य**—ग्रन्थिभेदकों—गाठ कतरने वालो । **संधिच्छेयगाण य**— सन्धिच्छेदकों-सान्ध लगाने वालों । **खडपट्टाण य**—जिन के ऊपर पहरने लायक पूरा वस्त्र भी नहीं, ऐसे जुआरी, अन्यायी धूर्त वगैरह । **अन्नेसिं च**—अन्य । **बहूणं**—अनेक । **छिन्न**—छिन्न—जिन के हाथ आदि अवयव काटे गये हों । **भिन्न**—भिन्न—जिनके नासिका आदि अवयव काटे गये हो । **बाहिराहियाणं**—बहिष्कृत—जो नगर आदि से बाहिर निकाल दिये गये हों अथवा—जो शिष्ट मण्डली से बहिष्कृत किये गये हों, उन के लिये । **कुडंगे**—कुटङ्क था, अर्थात् वंशगहन (बास के वन) के समान गोपक—रक्षा करने वाला था । **तते णं**—तदनन्तर । **से विजए**—वह विजय । **चोरसेणावई**—चोरसेनापति । **पुरिमतालस्स**—पुरिमताल । **नगरस्स**—नगर के । **उत्तरपुरत्थिमिल्लं**—ईशान कोणगत । **जणवयं**—जनपद—देश को । **बहूहि**—अनेक । **गामघातेहि य**—ग्रामों को नष्ट करने से । **नगरघातेहि य**—नगरों का नाश करने से । **गोग्गहणेहि य**—गाय आदि पशुओं के अपहरण से—चुराने से । **बंदिग्गहणेहि य**—कैदियों का अपहरण करने से । **पंथकोट्टेहि य**—पथिकों को लूटने से । **खत्तखणणेहि य**—खात (पाड) लगा कर चोरी करने से । **ओवीलेमाणे २**—पीडित करता हुआ । **विहम्मेमाणे २**—धर्म—भ्रष्ट करता हुआ । **तज्जेमाणे**—तर्जित—तर्जना—युक्त करता हुआ । **तालेमाणे २**—चाबुक आदि से ताडित करता हुआ । **नित्थाणे**—स्थानरहित । **निद्धणे**—निर्धन—धनरहित । **निक्कणे**—निष्कण-धान्यादि से रहित करता हुआ तथा । **महब्बलस्स**—महाबल नाम के । **रगणो**—राजा के । **कप्पायं**—राजदेय कर—महसूल को । **अभिक्खणं २**—बारम्बार । **गेण्हति**—ग्रहण करता था । **तस्स णं**—उस **विजयस्स**—विजय नामक । **चोरसेणावइस्स**—चोरसेनापति की । **खंदसिरी**—स्कन्दश्री । **णामं**—नामक । **भारिया**—भार्या । **होत्था**—थी । **अहीण०**—जो कि अन्यून एवं निर्दोष पञ्चेन्द्रिय शरीर से युक्त थी । **तस्स णं**—उस । **विजयचोरसेणावइस्स**—विजय नामक चोरसेनापति का । **पुत्ते**—पुत्र । **खंदसिरीए**—स्कन्दश्री । **भारियाए**—भार्या का । **अत्तए**—आत्मज । **अहीणपडिपुण्णपंचिन्दियसरीरे**—अन्यून एवं निर्दोष पाच इन्द्रिय वाले शरीर से युक्त । **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन । **नामं**—नाम का । **दारए**—बालक । **होत्था**—था, जोकि । **विएणायपरिणयमित्ते**—विज्ञात—विशेष ज्ञान रखने वाला एवं बुद्धि आदि की परिपक्व अवस्था को प्राप्त किये हुए था और । **जोव्वणगमणुपत्ते**—युवावस्था को प्राप्त किये हुए था अर्थात् बुद्धिमान् और युवक था ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह विजय नामक चोरसेनापति अनेक चोर, पारदारिक—परस्त्री—

लम्पट, ग्रन्थिभेदक (गांठ कतरने वाले), सन्धिच्छेदक (सेंध लगाने वाले), जुआरी, धूर्त तथा अन्य बहुत से छिन्न—हाथ आदि जिनके काटे हुए हैं, भिन्न—नासिका आदि से रहित और बहिष्कृत किये हुए मनुष्यों के लिए कुटङ्क—आश्रयदाता था ।

वह पुरिमताल नगर के ईशानकोणगत देश को अनेक ग्रामघात, नगरघात, गोहरण, वन्दी—ग्रहण, पथिक—जनों के धनादि के अपहरण तथा सेंध का खनन, अर्थात् पाड लगाकर चोरी करने से पीडित, धर्मच्युत, तर्जित, ताडित—ताडनायुक्त एव स्थान—रहित, धन और धान्य से रहित करता हुआ, महाबल नरेश के राज—देय कर—महसूल को भी बारम्बार स्वय ग्रहण करके समय व्यतीत कर रहा था ।

उस विजय नामक चोरसेनापति की स्कन्दश्री नाम की निर्दोष पाच इन्द्रियों वाले शरीर से युक्त परमसुन्दरी भार्या थी, तथा विजय चोरसेनापति का पुत्र स्कन्दश्री का आत्मज अभग्नसेन नाम का एक बालक था, जो कि अन्यून एव निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त अर्थात् सगठित शरीर वाला, विज्ञात—विशेष ज्ञान रखने वाला और बुद्धि आदि की परिपक्वता से युक्त एव युवावस्था को प्राप्त किये हुए था ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र—पाठ मे चोरसेनापति विजय के कृत्यों का दिग्दर्शन कराया गया है तथा साथ मे उसकी समयज्ञता एव दीर्घदर्शिता को भी सूचित कर दिया गया है ।

विजय ने सोचा कि जब तक मैं अनाथों की सहायता नही करूगा तब तक मैं अपने कार्य में सफल नही हो पाऊगा । एतदर्थ वह अनाथों का नाथ और निराश्रितों का आश्रय बना । उसने अङ्गोपाङ्गों से रहित व्यक्तियों तथा बहिष्कृत दीन—जनों की भरसक सहायता की, इस के अतिरिक्त स्वकार्य—सिद्धि के लिए उस ने चोरों, गांठकतरों, पर—स्त्री—लम्पटों और जुआरी तथा धूर्तों को आश्रय देने का यत्न किया । इस से उस का प्रभाव इतना बढा कि वह प्रान्त की जनता से राजदेय कर को भी स्वयं ग्रहण करने लगा तथा राजकीय प्रजा को पीड़ित, तर्जित और सन्त्रस्त करके उस पर अपनी धाक जमाने में सफल हुआ ।

विचार करने से ज्ञात होता है कि वह सामयिक नीति का पूर्ण जानकार था, ससार में लुटेरे और डाकू किस प्रकार अपने प्रभाव तथा आधिपत्य को स्थिर रख सकते हैं ? इस विषय में वह विशेष निपुण था ।

"पारदारियाण-पारदारिकाणं"—इत्यादि शब्दों की व्याख्या निम्नोक्त है—

"—पारदारियाण—परस्त्रीलम्पटाना—" अर्थात् जो व्यक्ति दूसरों की स्त्रियों मे अपनी वासना को तृप्त करता है, या यू कहें कि पर स्त्रियों से मैथुन करने वाला व्यभिचारी पारदारिक कहलाता है ।

"—गंठिभेयगाण—ग्रन्थीना भेदका-ग्रन्थिभेदका तेषा—" अर्थात् जो लोग कैंची आदि से लोगों की ग्रन्थियें—गांठें कतरते हैं, उन्हें ग्रन्थिभेदक कहा जाता है । टीकाकार श्री अभयदेव सूरि द्वारा की गई—घुघु रादिना ये ग्रन्थी छिन्दन्ति ते ग्रन्थिभेदका., इस व्याख्या मे प्रयुक्त घुघु र शब्द का कोषकार—सूअर की आवाज—ऐसा अर्थ करते हैं । इस से "—सूअर की आवाज जैसे शब्दों से लोगों को डरा कर उनकी गांठें कतरना—" यह अर्थ फलित होता है ।

"—सन्धिच्छेयाण—ये भित्तिसन्धीन् भिन्दन्ति ते सन्धिच्छेदका—" अर्थात् सन्धि शब्द के अनेकानेक अर्थ होते हैं, परन्तु प्रस्तुत—प्रकरण में सन्धि का अर्थ है–दीवारों का जोड़ । उस जोड़ का भेदन करने वाले सन्धिच्छेदक कहलाते हैं ।

"खण्डपट्टाण—खण्डः अपरिपूर्णः पट्टः परिधानपट्टो येषां मद्यद्यूतादिव्यसनाभिभूततया परिपूर्णपरिधानाप्राप्ते ते खण्डपट्टाः—द्यूतकारादयः, अन्यायव्यवहारिण इत्यन्ये, धूर्ता इत्यपरे—" अर्थात् खण्ड का अर्थ है—अपरिपूर्ण—अपूर्ण (अधूरा)। पट्ट कहते हैं—पहनने के वस्त्र को। मदिरा—सेवन एवं जूआ आदि व्यसनों में आसक्त रहने के कारण जिन को वस्त्र भी पूरे उपलब्ध नहीं होते, उन्हें खण्डपट्ट कहते हैं। या यूं कहें कि खण्डपट्ट द्यूतकार-जुआरी या मदिरासेवी-शराबी का नाम है।

कोई कोई आचार्य खण्डपट्ट शब्द की व्याख्या "अन्याय में व्यवहार—व्यापार करने वाले—" ऐसी करते हैं, और कोई २ खण्डपट्ट का अर्थ "धूर्त" भी करते हैं। चालबाज़ या धोखा देने वाले को धूर्त कहा जाता है।

"छिन्नभिण्णबाहिराहियाणं—छिन्ना हस्तादिषु भिन्ना नासिकादिषु "—बाहिराहि य—" त्ति नगराद् बहिष्कृताः, अथवा बाह्याः स्वाचार—परिभ्रंशाद् विशिष्टजनबहिर्वर्तिनः, "अहिय" त्ति अहिता ग्रामादिदाहकत्वाद्, अतः द्वन्द्वस्तेषाम्—" अर्थात् इस समस्त पद में तीन अथवा चार पद हैं। जैसे कि—(१) छिन्न (२) भिन्न (३) बहिराहित अथवा बाह्य और (४) अहित। छिन्न शब्द से उन व्यक्तियों का ग्रहण होता है, जिन के हाथ आदि कटे हुए हैं। भिन्न शब्द—जिन को नासिका आदि का भेदन हो चुका है—इस अर्थ का बोधक है। नगर से बहिष्कृत—बाहिर निकाले हुए को बहिराहित कहते हैं। आचार-भ्रष्ट होने के कारण जो शिष्ट मण्डली—उत्तम जनों से बहिर्वर्ती—बहिष्कृत हैं, वे बाह्य कहलाते हैं। अहितकारी अर्थात् ग्रामादि को जला कर जनता को दुःख देने वाले मनुष्य अहित शब्द से अभिव्यक्त किये गये हैं।

"कुडंग—कुटङ्क इव कुटङ्कः—वंशगहनमिव तेषामावरक —गोपकः—" अर्थात् बांसों के वन का नाम कुटङ्क है। कुटङ्क प्रायः गहन (दुर्गम) होता है, उस में जल्दी २ किसी का प्रवेश नहीं हो पाता। चोरी करने वाले और गांठें कतरने वाले लोग इसी लिए ऐसे स्थानों में अपने को छिपाते हैं, जिस से अधिकारी लोगों का वहां से उन्हें पकड़ना कठिन हो जाता है।

सूत्रकार ने विजयसेन चोरसेनापति को कुटक कहा है। इस का अभिप्राय यही है कि जिस तरह बांसों का वन प्रच्छन्न रहने वालों के लिए उपयुक्त एवं निरापद स्थान होता है, वैसे ही चोरसेनापति परस्त्रीलम्पट और ग्रन्थिभेदक इत्यादि लोगों के लिये बड़ा सुरक्षित एवं निरापद स्थान था। तात्पर्य यह है कि वहां उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती थी। अपने को वहां वे निर्भय पाते थे।

"गामघातेहि"—इत्यादि पदों की व्याख्या निम्नोक्त की जाती है—

(१) ग्रामघात—घात का अर्थ है नाश करना। ग्रामों-गांवों का घात, ग्रामघात कहलाता है। तात्पर्य यह है कि ग्रामीण लोगों की चल (जो वस्तु इधर उधर ले जाई जा सके, जैसे चान्दी, सोना रुपया तथा वस्त्रादि) और अचल— (जो इधर उधर न की जा सके, जैसे—मकानादि) सम्पत्ति को विजयसेन चोरसेनापति हानि पहुँचाया करता था। एवं वहां के लोगों को मानसिक, वाचनिक एवं कायिक सभी तरह की पीड़ा और व्यथा पहुंचाता था।

(२) नगरघात—नगरों का घात—नाश नगरघात कहलाता है, इस का विवेचन ग्रामघात की भान्ति जान लेना चाहिए।

(३) गोग्रहण—गो शब्द गो आदि सभी पशुओं का परिचायक है। गो का ग्रहण—अपहरण

(चुराना) गोग्रहण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि—विजयसेन चोरसेनापति लोगो के पशुओं को चुरा कर ले जाया करता था।

(४) **वन्दिग्रहण**—बन्दि शब्द से उस व्यक्ति का ग्रहण होता है—जिसे कैद (पहरे मे बन्द स्थान में रखना, कारावास) की सजा दी गई है, कैदी। बन्दियों का ग्रहण—अपहरण वन्दिग्रहण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति राजा के अपराधियो को भी चुरा कर ले जाता था।

(५) **पान्थकुट्ट**—पान्थ शब्द से पथिक का बोध होता है। कुट्ट-उन को ताड़ित करना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति मार्ग में आने जाने वाले व्यक्तियो को धनादि छीनने के लिये पीटा करता था।

(६) **खत्तखनन**—खत्त यह एक देश्य-देशविशेष में बोला जाने वाला, पद है। इस का अर्थ है—सेन्ध। सेन्ध का खनन—खोदना खत्तखनन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति लोगों के मकानों मे पाड़ लगा कर चोरी किया करता था।

ग्रामघात नगरघात, इत्यादि पूर्वोक्त क्रियाओं के द्वारा चोरसेनापति लोगो को दु ख दिया करता था। दु.ख देने के प्रकार ही सूत्रकार ने —"**ओवीलेमाणे**"इत्यादि पदों द्वारा अभिव्यक्त किये हैं। उन की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) **उत्पीडयन्**—उत्कृष्ट पीड़ा का नाम उत्पीडा है। अर्थात् विजयसेन चोरसेनापति लोगो को बहुत दु'ख देता हुआ।

(२) **विधर्मयन्**—धर्म से रहित करता हुआ। तात्पर्य वह है कि दानादि धर्म मे प्रवृत्ति धनादि के सद्भाव में ही हो सकती है। परन्तु विजयसेन चोरसेनापति लोगों की चल और अचल दोनो प्रकार की ही सम्पत्ति छीन रहा था, उन्हे निर्धन बनाता रहता था। तब धनाभाव होने पर दानादिधर्म का नाश स्वाभाविक ही है। इसी भाव को सूत्रकार ने **विधर्मयन्** पद से अभिव्यक्त किया है।

(३) **तर्जयन्**—तर्जना का अर्थ है, डाटना, धमकाना, डपटना। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति लोगो को धमकाता हुआ या लोगों को—**याद रखो, यदि तुम ने मेरा कहना नही माना तो तुम्हारा सर्वस्व छीन लिया जाएगा,**— इत्यादि दुर्वचनों से तर्जित करता हुआ।

(४) **ताडयन्**—ताडना का अर्थ है कोड़ों से पीटना। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति लोगो को चाबुकों से पीटता हुआ।

"**नित्थाणे**"—इत्यादि पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

(१) **निःस्थान**—स्थान से रहित अर्थात् विजय चोरसेनापति लोगो को उन के घर आदि स्थानों से निकाल देता था।

(२) **निर्धन**—धन से रहित अर्थात् विजय चोरसेनापति लोगो को उनकी चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति छीन कर धन से खाली कर देता था।

(३) **निष्करण**—करण से रहित। करण का अर्थ है--गेहू, चने आदि धान्यो के दाने। तात्पर्य यह है कि विजयसेन चोरसेनापति लोगों का समस्त धन छीन कर उन के पास दाना तक भी नही छोडता था।

"**कप्पायं**"—पद की व्याख्या श्री अभयदेव सूरि ने—**कल्प. उचितो य आय —प्रजातो द्रव्यलाभ स कल्पायोऽतस्तम्**—इन शब्दों के द्वारा की है। अर्थात् कल्प का अर्थ है—उचित। और आय शब्द लाभ—आमदनी का बोधक है। तात्पर्य यह है कि राजा प्रजा से जो यथोचित कर—महसूल

आदि के रूप में द्रव्य--धन ग्रहण करता है, उसे कल्पाय कहते हैं । विजयसेन चोरसेनापति का इतना साहस बढ चुका था कि वह लोगों से स्वय ही कर—महसूल ग्रहण करने लग गया था।

सारांश यह है कि—प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट वर्णित है कि विजयसेन चोरसेनापति प्रजा को विपत्तिग्रस्त करने मे किसी प्रकार की ढील नहीं कर रहा था। किसी को भेदनीति से, किसी को दण्डनीति से संकट में डाल रहा था, तथा किसी को स्थान—भ्रष्ट कर, किसी की गाय, भैंस आदि सम्पत्ति चुरा कर पीड़ित कर रहा था । जहां उस का प्रजा के साथ इतना क्रूर एवं निर्दय व्यवहार था, वहां वह महाबल नरेश को भी चोट पहुँचाने में पीछे नहीं हट रहा था । अनेकों बार राजा को लूटा, उसके बदले प्रजा से स्वय कर वसूला । यही उस के जीवन का कर्तव्य बना हुआ था।

विजयसेन चोरसेनापति की स्कन्दश्री नाम की बड़ी सुन्दरी भार्या थी और दोनों को सांसारिक आनन्द पहुंचाने वाला अभग्नसेन नाम का एक पुत्र भी उनके घर मे उद्योत करने वाला विद्यमान था । वह जैसा शरीर से हृष्ट एव पुष्ट था, वैसे वह विद्यासम्पन्न भी था।

"—**अहीण०**—" यहां दिये गये बिन्दु से—"**पडिपुरण पंचिंदियसरीरा, लक्खणवंजन-गुणोववेया**—" से लेकर "—**पियदंसणा सुरूवा**—" यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन पदों की व्याख्या पृष्ठ १०५ के टिप्पण में की जा चुकी है।

"**विराणय—परिणयमित्ते**—इस पद की '—**विज्ञात-विज्ञानमस्यास्तीति विज्ञातः, परिणत एव परिणतमात्रः—परिणतिमापन्न , विज्ञातश्चासौ परिणतमात्रः—इति विज्ञातपरिणतमात्रः, परिणतिः—अवस्थाविशेष इति यावत्**—" ऐसी व्याख्या करने पर "—विशिष्ट ज्ञानवाले व्यक्ति का नाम विज्ञात है तथा अवस्थाविशेष—प्राप्त व्यक्ति को परिणतमात्र कहते हैं—" यह अर्थ होगा । प्रस्तुत प्रकरण में अवस्था—विशेष शब्द से बाल्यावस्था के अतिक्रमण के अनन्तर की अवस्था विवक्षित है । तात्पर्य यह है कि यौवनावस्था से पूर्व की और बाल्यावस्था के अन्त की अर्थात् दोनों के मध्य की अवस्था वाले व्यक्ति का नाम परिणतमात्र होता है।

तथा "—**विज्ञातं-अवबुद्धं परिणतमात्रम्-अवस्थानन्तर येन स तथा, बाल्यावस्था—मतिक्रम्य परिज्ञातयौवनारम्भ इत्यर्थ**—" ऐसी व्याख्या करने से तो विज्ञातपरिणतमात्र पद का "—कोमारावस्था व्यतीत हो जाने पर यौवनावस्था के प्रारम्भ को जानने वाला—" यह अर्थ निष्पन्न होगा।

तथा—**विराणयपरिणयमित्ते**—ऐसा पाठ मानने पर और इस की—**विज्ञ एव विज्ञकः, स चासौ परिणतमात्रश्च बुद्धयादिपरिणामापन्न एव विज्ञकपरिणतमात्र**—ऐसी श्री अभयदेव सूरि कृत व्याख्या मान लेने पर अर्थ होगा—जो विज्ञ है अर्थात् विशेष ज्ञान रखने वाला है और जो बुद्धि आदि को परिणति को उपलब्ध कर रहा है । तात्पर्य यह है कि बाल्यकाल की बुद्धि आदि का परित्याग कर यौवन कालीन बुद्धि आदि को जो प्राप्त हो रहा है।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र मे प्रस्तुत अध्ययन के प्रधान नायक की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

मूल—(1)**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं० पुरिमताले नगरे समोसढ़े,**

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान्० पुरिमताले नगरे समवसृत. । परिषद् निर्गता । राजा निर्गतः। धर्म· कथितः । परिषद् राजा च प्रतिगत. । तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी गौतमो यावत् राजमार्ग समवगाढ़. । तत्र बहून्

परिसा निग्गया, राया निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा राया य पडिगओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी गोयमे जाव रायमग्गं समोगाढे तत्थ णं बहवे हत्थी पासती, बहवे आसे, पुरिसे सन्नद्धबद्धकवए, तेसि णं पुरिसाणं मज्झगतं एगं पुरिसं पासति अवओडय० जाव उग्घोसेज्जमाणं। तते णं तं पुरिसं रायपुरिसा पढमंसि चच्चरंसि निसियावेंति २, अट्ठ चुल्लपिउए अग्गओ घाएंति २ कसप्पहारेहि तालेमाणा २ कलुणं काकिणीमंसाइं खावेंति खावित्ता रुहिरपाणं च पाएंति। तदाणंतरं च णं दोच्चंसि चच्चरंसि अट्ठ चुल्लमाउयाओ अग्गओ घाएंति २ एवं तच्चे चच्चरे अट्ठ महापिउए, चउत्थे अट्ठ महामाउयाओ, पंचमे पुत्ते, छट्ठे सुण्हाओ, सत्तमे जामाउया, अट्ठमे धूयाओ, नवमे णत्तुया, दसमे णत्तुईओ, एक्कारसमे णत्तुयावई, वारसमे णत्तुइणीओ, तेरसमे पिउस्सियपतिया, चोद्दसमे पिउस्सियाओ, पण्णरसमे माउसियापतिया, सोलसमे माउस्सियाओ, सत्तरसमे मामियाओ, अट्ठारसमे अवसेसं मित्तनाइनियगसयणसंबधिपरियणं अग्गओ घातेंति २ त्ता कसप्पहारेहि तालेमाणे २ कलुणं कागिणीमंसाइं खावेंति, रुहिरपाणं च पाएंति।

पदार्थ—तेणं कालेणं—उस काल मे। **तेणं समएणं**—उस समय में। **समणे**—श्रमण **भगवं०**—भगवान् महावीर स्वामी। **पुरिमताले णगरे**—पुरिमताल नगर में। **समोगाढे**—पधारे। **परिसा**— परिषद्—जनता। **निग्गया**—निकली। **राया**—राजा। **निग्गओ**—निकला। **धम्मो**—धर्म का। **कहिओ**—उपदेश किया। **परिसा**—परिषद्—जनता। **राया य**—और राजा। **पडिगओ**—वापिस चले गये। **तेणं कालेणं**—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय मे। **समणस्स**—श्रमण। **भगवओ**—भगवान्। **महावीरस्स**—महावीर स्वामी के। **जेट्ठे**—ज्येष्ठ—प्रधान। **अंतेवासी**—शिष्य **गोयमे**—गोतम स्वामी। **जाव**—यावत्। **रायमग्ग**—राजमार्ग मे। **समोगाढे**—पधारे। **तत्थ णं**—वहा पर। **बहवे**—बहुत से। **हत्थी**—हस्तियों को। **पासति**—देखते हैं। **बहवे**—अनेकों। **आसे**—

हस्तिन पश्यति, बहूनश्वान् पुरुषान् [1]सन्नद्धबद्धकवचान्। तेषा पुरुषाणा मध्यगतमेकं पुरुषं पश्यति। अवकोटक० यावद् उद्घोष्यमाणं। ततस्तं पुरुषं राजपुरुषा प्रथमे चत्वरे निपादयन्ति, निपाद्याष्टौ क्षुद्रपितृनग्रतो घातयन्ति घातयित्वा कशाप्रहारैस्ताड्यमाना करुण काकिणीमासानि खादयन्ति, रुधिरपान च पाययन्ति। तदनन्तर च द्वितीये चत्वरे अष्ट क्षुद्रमातृरग्रतो घातयन्ति २ एव तृतीये चत्वरे अष्ट महापितृन्। चतुर्थेऽष्ट महामातृ। पञ्चमे पुत्रान्। षष्ठे स्नुषा। सप्तमे जामातृन्। अष्टमे दुहितृ। नवमे नप्तृन्। दशमे नप्तृ। एकादशे नप्तृकापतीन्। द्वादशे नप्तृभार्या। त्रयोदशे पितृष्वसृपतीन्। चतुर्दशे पितृष्वसृ। पञ्चदशे मातृष्वसृपतीन्। षोडशे मातृष्वसृ। सप्तदशे मातुलानी। अष्टादशेऽवशेष मित्रज्ञाति—निजक—स्वजन—सम्बन्धि—परिजनमग्रतो घातयति, घातयित्वा कशाप्रहारैस्ताड्यमाना २ करुण काकिणीमामानि खादयन्ति, रुधिरपान च पाययन्ति।

---

(१) **सन्नद्धबद्धकवचान्**—सन्नद्धाश्च ते बद्धकवचा इति सन्नद्धबद्धकवचा तान्, सन्नद्धा. शस्त्रादिभि सुसज्जिता। बद्धा कवचा लोहमयतनुत्राणा यैस्ते बद्धकवचा. तानिति भाव।

अश्वों–घोड़ों को देखते हैं और। **सन्नद्धबद्धकवए**–सैनिकों की भान्ति शस्त्रादि से सुसज्जित एव कवच पहने हुए। **पुरिसे**–पुरुषों को देखते हैं। **तेसिं णं**–उन। **पुरिसाणं**–पुरुषों के। **मज्झगत**–मध्य मे। **अवओडय०**–अवकोटकबन्धन–जिस बन्धन मे ग्रीवा को पृष्ठ भाग मे ले जाकर हाथों के साथ बाधा जाए उस बन्धन से युक्त। **जाव**–यावत्। **उग्घोसेज्जमाणं**–उद्घोषित। **एगं**–एक। **पुरिसं**–पुरुष को। **पासंति**–देखते हैं। **तते णं**–तदनन्तर। **तं पुरिसं**–उस पुरुष को। **रायपुरिसा**–राजपुरुष–राजकर्मचारी। **पढमंसि**–प्रथम। **चच्चरंसि**–चत्वर चार मार्गों से अधिक मार्ग जहा सम्मिलित हों, वहा पर। **निसियावेंति २ त्ता**–बैठा लेते हैं बैठा कर। **अट्ठ**–आठ। **चुल्लपिउए**–पिता के छोटे भाई–चाचों को। **अग्गओ**–आगे से। **घाएंति**–मारते हैं। **२ त्ता**–मार कर। **कसप्पहारेहिं**–कशा (चाबुक) के प्रहारों से। **तालेमाणा**–ताडित करते हुए। **कलुणं**–करुणा के योग्य उस पुरुष के। **काकिणीमंसाइं**–शरीर से उत्कृत्त–निकाले हुए मास के छोटे छोटे टुकडों को। **खावेंति**–खिलाते हैं। **खावित्ता**–खिला कर। **रुहिरपाणं च**–रुधिरपान। **पाएंति**–कराते हैं अर्थात् उसे रक्त–खून पिलाते हैं। **तदाणंतरं च**–तदनन्तर। **णं**–वाक्यालंकारार्थक है। **दोच्चंसि**–द्वितीय। **चच्चरंसि**–चत्वर पर ले जाते हैं, वहा पर। **अट्ठ**–आठ। **चुल्लमाउयाओ**–लघुमाताओं–चाचे की पत्नियों–चाचिओं को। **अग्गओ**–आगे से। **घाएंति**–मारते हैं। **एवं**–इसी प्रकार। **तच्चे**–तीसरे। **चच्चरे**–चत्वर पर। **अट्ठ**–आठ। **महापिउए**–महापिता–पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं–तायों को। **चउत्थे**–चतुर्थ चत्वर पर। **अट्ठ**–आठ। **महामाउयाओ**–महामाता–पिता के ज्येष्ठ भाई की धर्मपत्नियों–ताइयों को। **पंचमे**–पाचवे चत्वर पर। **पुत्ते**–पुत्रों को। **छट्ठे**–छठे चत्वर पर। **सुण्हाओ**–स्नुषाओ पुत्रवधुओं को। **सत्तमे**–सप्तम चत्वर पर। **जामाउया**–जामाताओं को। **अट्ठमे**–अष्टम चत्वर पर। **धूयाओ** लडकियों को। **नवमे**–नवम चत्वर पर। **णत्तुया**–नप्ताओं–पौत्रों अर्थात् पोतों और दौहित्रों अर्थात् दोहताओं–को। **दसमे**–दशमें चत्वर पर। **णत्तुईओ**–लड़की की पुत्रियों को और लड़के की लड़कियों को। **एक्कारसमे**–एकादशवें चत्वर पर। **णत्तुयावई**–नप्तृकापति अर्थात पौत्रियों–पोतियों–और दौहित्रियों–दोहतियों के पतियों को। **बारसमे**–बारहवे चत्वर पर। **णत्तुइणीओ**–नप्तृभार्या–पोतों और दोहताओं की स्त्रियों को। **तेरसमे**–तेरहवे चत्वर पर। **पिउस्सियपतिया**–पितृष्वसृपति - पिता की बहिनों के पतियों को अर्थात् पिता के बहनोइयों को। **चोद्दसमे**–चोदहवे चत्वर पर। **पिउस्सियाओ**–पितृष्वसा –पिता की बहिनों को। **पण्णरसमे**–पन्द्रहवे चत्वर पर। **माउसियापतिया**–मातृष्वसृपति–माता की बहिनों के पतियों को। **सोलसमे**–सोलहवे चत्वर पर। **माउस्सियाओ**–मातृष्वसा–माता की बहिनों को। **सत्तरसमे**–सतरहवे चत्वर पर। **मामियाओ**–मातुलानी–मामियों को। **अट्ठारसमे**–अठारवे चत्वर पर। **अवसेस**–अवशेष–बाक़ी बचे। **मित्त**–मित्र। **नाइ**–ज्ञातिजन–बिरादरी के लोग। **नियग**–निजक–माता आदि। **सयण**–स्वजन–मामा के पुत्र आदिक। **सम्बन्धि**–सम्बन्धी–श्वशुर एव साला आदि। **परियणं**–परिजन–दास दासी आदि को। **अग्गओ**–उस के आगे। **घातेंति २ त्ता**–मारते हैं, मार कर। **कसप्पहारेहिं**–कशा के प्रहारों से। **तालेमाणे**–ताडित करते हुए तथा। **कलुणं**–दयनीय–दया के योग्य उस पुरुष को। **कागिणीमंसाइं**–उस की देह से काटे हुए मास–खण्डों को। **खावेंति**–खिलाते हैं तथा। **रुहिरपाणं च**–रुधिर का पान। **पाएंति**–कराते हैं।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय मे पुरिमताल नगर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद्-जनता नगर से निकली तथा राजा भी प्रभु के दर्शनार्थ चला। भगवान् ने धर्म का प्ररूपण किया। धर्मोपदेश को श्रवण कर राजा तथा परिषद् वापिस अपने २ स्थान को लौट आई।

उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ–बड़े शिष्य श्री गौतम स्वामी यावत् राजमार्ग मे पधारे। वहा उन्हों ने अनेक हस्तियों, अश्वों तथा सैनिकों की भान्ति शस्त्रों से सुसज्जित एव कवच पहने हुए अनेकों पुरुषों को और उन पुरुषों के मध्य मे अवकोटक बन्धन से युक्त यावत् उद्घोषित एक पुरुष को देखा।

तदनन्तर राजपुरुष उस पुरुष को प्रथम चत्वर पर बैठा कर उस के आगे लघुपिताओं-चाचाओं को मारते हैं। तथा कशादि के प्रहारों से ताड़ित करते हुए वे राजपुरुष करुणाजनक स्थिति को प्राप्त हुए उस पुरुष को-उसके शरीर मे से काटे हुए मास के छोटे २ टुकड़ों को खिलाते हैं और रुधिर का पान कराते हैं। तदनन्तर द्वितीय चत्वर पर उस की आठ लघुमाताओं—चाचियों को उस के आगे ताड़ित करते हैं, इसी प्रकार तीसरे चत्वर पर आठ महापिताओं—पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं—तायों को, चौथे पर आठ महामाताओं—पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं की धर्मपत्नियों—ताइयों को, पाचवें पर पुत्रों को, छठे पर पुत्रवधुओं को, सातवे पर जामाताओ को, आठवे पर लड़कियों को, नवमे पर नप्ताओं को अर्थात् पौत्रों और दौहित्रों को, दसवें पर लड़के और लड़की के लड़कियों को अर्थात् पौत्रियों और दौहित्रियो को, एकादशवे पर नप्तृकापतियों को अर्थात् पौत्रियों और दौहित्रियो के पतियों को, बारहवे पर नप्तृभार्याओं को अर्थात् पौत्रों और दौहित्रों की स्त्रियों को, तेरहवे पर पिता की बहिनों के पतियों को अर्थात् फूफाओं को, चौदहवे पर पिता की भगिनियो को, पन्द्रहवे पर माता की बहिनों के पतियों को, सोलहवे पर मातृष्वसाओं अर्थात् माता की वहिनो को, सतरहवे पर मातुलानी—मामा की स्त्रियों को, अठारहवें पर शेष मित्र, ज्ञातिजन, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों को उस पुरुष के आगे मारते हैं तथा कशा (चाबुक) के प्रहारों से ताड़ित करते हुए वे राज—पुरुष दयनीय—दया के योग्य उस पुरुष को, उस के शरीर से निकाले हुए मांस के टुकडे खिलाते और रुधिर का पान कराते हैं।

टीका—सूत्रकार उस समय का वर्णन कर रहे हैं जब कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पुरिमताल नगर के किसी उद्यान मे विराजमान हो रहे हैं। तब वीर प्रभु के पधारने पर वहा का वातावरण बड़ा शान्त तथा गम्भीर बना हुआ था। प्रभु का आगमन सुन कर नगर की जनता मे उत्साह और हर्ष की लहर दौड़ गई। वह बड़ी उत्कण्ठा से भगवान् के दर्शनार्थ उद्यान की ओर प्रस्थित होने लगी। उस में अनेक प्रकार के विचार रखने वाले जीव मौजूद थे।

कोई कहता है कि मैं आज भगवान् से साधुवृत्ति को समझूंगा, कोई कहता है कि मैं श्रावक धर्म को जानने का यत्न करूंगा, कोई कहता है कि मै आज जीव, अजीव के स्वरूप को पूछूंगा, कोई सोचता है कि जिन प्रभु का नाम लेने मात्र से सन्तप्त हुआ हृदय शान्त हो जाता है, उसके साक्षात् दर्शनों का तो कहना ही क्या है? इत्यादि शुभ विचारों से प्रेरित हुई जनता उद्यान की ओर चली जा रही थी।

प्रजा की मनोवृत्ति से ही प्राय राजा की मनोवृत्ति का ज्ञान हो जाया करता है । प्राय: उसी राजा की प्रजा धार्मिक विचारों की होती है जो स्वयं धर्म का आचरण करने वाला हो। पुरिमताल नगर के महीपति भी किसी से कम नहीं थे। वीर भगवान् के शुभागमन का समाचार पाते ही वे भी उठे और अपने कर्मचारियों को तैयारी करने की आज्ञा फरमाई। तथा बड़ी सजधज के साथ वीर भगवान् के दर्शनार्थ नगर से निकले और वीर भगवान् के चरणों में उपस्थित हुए, तथा विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर भगवान् के सन्मुख उचित स्थान पर बैठ गये। नगर की अन्य जनता भी शान्ति—पूर्वक यथास्थान बैठ गई।

इस प्रकार नागरिक और नरेश आदि के यथास्थान बैठ जाने के बाद भगवान् ने अपनी अमृत वाणी से अनेक सन्तप्त हृदयों को शान्त किया, उन्हें धर्म का उपदेश देकर कृतार्थ किया। तदनन्तर राजा और प्रजा दोनों ही भगवान् के चरणों में हार्दिक भाव से श्रद्धाजलि अर्पण करते हुए अपने २ स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

जनता के चले जाने पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी जो कि तपश्चर्या की सजीव मूर्ति थे, षष्ठतप—बेले के पारणे के निमित्त पुरिमताल नगर में भिक्षार्थ जाने की आज्ञा मांगने लगे। आज्ञा मिल जाने पर वे नगर की ओर प्रस्थित हुए, और पुरिमताल नगर के राजमार्ग में पहुंचे। वहां उन्होंने निम्नोक्त दृश्य देखा—

बहुत से सुसज्जित हस्ती तथा शृंगारित घोडे एवं कवच पहने हुए अस्त्र शस्त्रों से सन्नद्ध अनेक सैनिक पुरुष खड़े हैं। उन के मध्य में अवकोटक—बन्धन से बन्धा हुआ एक पुरुष है, जिसके साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है । उस के साथ ही उस को दिये गये दंड के कारण की—इसके अपने कर्म ही इस की इस दुर्दशा का कारण हैं, राजा आदि कोई अन्य नहीं हैं—इस रूप से उद्घोषणा भी की जा रही थी। उद्घोषणा के अनन्तर राजकीय अधिकारी पुरुष उसे प्रथम चत्वर-चौतरे पर बिठाते हैं, तत्पश्चात् उसके सामने उसके आठ चाचों (पिता के लघु भ्राताओं) को बडी निर्दयता के साथ मारते हैं, और नितान्त दयाजनक स्थिति रखने वाले उस पुरुष को काकिणी—मांस-उस की देह से निकाले हुए छोटे छोटे मांस—खण्ड खिलाते तथा रुधिर का पान कराते हैं। वहां से उठ कर दूसरे चौतरे पर आते हैं, वहां उसे बिठाते हैं, वहां उस के सन्मुख उसकी आठ चाचिओं को लाकर बड़ी क्रूरता से पीटते हैं इसी प्रकार तीसरे, चोथे, पांचवें, छठे, सातवें आठवें, नवमें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें पन्द्रहवें, सोलहवें, सतरहवें, और अठारहवें चौंतरे पर भी उसके निजी सम्बन्धियों को कशा से पीटते हैं । उन सम्बन्धियों के नाम का निर्देश मूलार्थ में आ चुका है।

इस उल्लेख में दंड की भयंकरता का निर्देश किया गया है। दण्डित व्यक्ति के अतिरिक्त उसके परिवार को भी दंड देना, दंड की पराकाष्ठा है।

—**"गोयमे जाव रायमग्गं—"** यहां पठित जाव-यावत्—पद से—**'छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेइ'**—से ले कर**"—रियं सोहेमाणे जेणेव पुरिमताले णगरे तेणेव उवागच्छइ, पुरिमताले णगरे उच्चणीयमज्झिमकुलाइं अडमाणे जेणेव"**—यहां तक के पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों की व्याख्या द्वितीय अध्ययन के पृष्ठ १२३ पर दी जा चुकी है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां वाणिजग्राम नगर का नाम समुल्लिखित है और यहां पुरिमताल

नगर का। शेष वर्णन सम है।

"—**अवओडय० जाव उग्घोसेज्जमाणं**—" यहा पठित '—जाव-यावत्—' पद से सूत्रकार ने सूत्रपाठ को संक्षिप्त कर के पूर्ववर्णित दूसरे अध्ययनगत "—**उक्खित्तकण्णनास, नेहतुप्पियगत्त**" से लेकर "—**चच्चरे चच्चरे खण्डपडहएणं**"—यहा तक के पाठ के ग्रहण करने की सूचना दे दी है, जिस का कि प्रथम, पृष्ठ १०४ आदि पर उल्लेख किया जा चुका है।

"—**चच्चर**—" शब्द का संस्कृत प्रतिरूप "**चत्वर**"—होता है, जो कि कोषानुमत भी है। परन्तु टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने इसका संस्कृत प्रतिरूप "**चर्चर**" ऐसा माना है। "**पढमंसि चच्चरंसि, प्रथमे चर्च्चरे स्थानविशेषे**"—।

"—**कलुणं**"—यह पद क्रियाविशेषण है। इस की व्याख्या में वृत्तिकार लिखते हैं कि—"**कलुण त्ति करुणं करुणास्पदं तं पुरुषं, क्रियाविशेषणं चेदम्**" अर्थात् करुणास्पद—करुणा के योग्य को कलुण कहते हैं।

"—**काकिणीमांस**"—का अर्थ होता है, जिस को मांस खिलाया जा रहा है, उसी मनुष्य के शरीर में से अथवा किसी भी अन्य मनुष्य के शरीर में से कौडी जैसे अर्थात् छोटे छोटे निकाले गये मांस के टुकडे। ऐसे मांस खण्डों को खाना—**काकिणीमांसभक्षण** कहलाता है।

"—**मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरियणं**"—की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में इस प्रकार है—

"—**मित्राणि—सुहृदः, ज्ञातयः—समानजातीयाः, निजकाः—पितामातरश्च, स्वजनाः—मातुलपुत्रादयः, सम्बन्धिनः—श्वशुरश्यालादयः, परिजनः—दासीदासादिस्ततो द्वन्द्व अतस्तान् तत्**।" अर्थात् **मित्र**—सुहृद् का नाम है, तात्पर्य यह है कि जो साथी, सहायक और शुभचिन्तक हो, उसे **मित्र** कहते हैं। **ज्ञाति** शब्द से समान जाति (बिरादरी) वाले व्यक्तियों का ग्रहण होता है। **निजक** पद माता पिता आदि का बोधक है। **स्वजन** शब्द मामा के पुत्र आदि का परिचायक है। श्वशुर, साला आदि का ग्रहण **सम्बन्धी** शब्द से होता है। **परिजन** दास और दासी आदि का नाम है।

"—**चुल्लमाउयाओ**—" इस पद के दो अर्थ किये जाते हैं—एक तो पिता के छोटे भाइयों की स्त्रिएं, दूसरा—माता की लघुसपत्निएँ अर्थात् पिता की दो स्त्रिया हों उन में छोटी स्त्री भी क्षुद्रमाता कहलाती है। टीकाकार के शब्दों में "—**पितृलघुभ्रातृजायाः अथवा मातुर्लघुसपत्नी**—" यह कहा जा सकता है।

"—**णत्तुयावई**—" इस पद के भी दो अर्थ होते हैं, जैसे कि (१) पौत्री—पोती के पति और (२) दौहित्री—दोहती के पति[1]।

"—**अट्ठ चुल्लपिउए**—" इत्यादि पदों से सूचित होता है कि वध्य व्यक्ति का परिवार बड़ा विस्तृत था और उसके साथ ही रहता था, अथवा राजा से मिलने के कारण वध्य व्यक्ति ने अपने पारिवारिक व्यक्तियों को बुला लिया हो, यह भी संभव हो सकता है। राजा से मिलने आदि का समस्त वृत्तान्त अग्रिम जीवनी के अवलोकन से स्पष्ट हो जायगा।

वध्य व्यक्ति के सामने उसके परिवार को मारने तथा पीटने का तात्पर्य तो यह प्रतीत

(१) "—**णत्तुयावई" त्ति—नप्तृकापतीन्—पौत्रीणां दौहित्रीणां वा भर्तॄन्**—" (टीकाकार.)

होता है कि वध्य व्यक्ति की मनोवृत्ति को अधिक से अधिक आघात पहुँचाया जावे। **अथवा**—इस का यह मतलब भी हो सकता है कि उसके कामों में जो भी हिस्सेदार हैं, उन्हें भी दण्डित किया जाये। **या** यह कि उन को ताडना से दूसरी जनता को शिक्षा मिले कि भविष्य में अगर किसी ने अपराध किया तो अपराधी के अतिरिक्त उसके सगे सम्बन्धी भी दण्डित होने से नहीं बच सकेंगे। ताकि आगे को अपराध की बहुलता न होने पावे, इत्यादि।

अथवा—"**तते णं तं पुरिसं रायपुरिसा**"—इत्यादि पदों में पढ़े गये "**अग्गओ**" पद के आगे "**काउणं—कृत्वा**"—इस पद का सर्वत्र अध्याहार करके यह अर्थ भी सम्भव हो सकता है कि—उस पुरुष को राजपुरुषों ने चौंतरे पर बिठलाया, और उस के आठ चाचाओं को आगे कर लिया, तथा उनके आगे अर्थात् सामने उस वध्य पुरुष को निर्दयतापूर्वक मारा इत्यादि।

सगे सम्बन्धियों के सामने मारने या पीटने का अर्थ - दोषी या अपराधी को अधिकाधिक दुःखित करना होता है। यह अर्थ इस लिए अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि न्यायानुसार तो जो कर्म करे वही उसका फल भोगे। यह तो न्याय से सर्वथा विपरीत है कि अपराधी के साथ २ निरपराधी भी दंडित किये जाएं।

वध्यव्यक्ति के पारिवारिक लोग उसके कार्यों के सहयोगी थे, अनुमोदक थे, इसलिए उन्हें उसके सामने दण्डित किया गया है। **तथा**—वध्यव्यक्ति को अत्यधिक दुःखित करने के लिये उसके पारिवारिक व्यक्तियों के सामने उसे मारा पीटा गया है। इन दोनों अर्थों के अतिरिक्त तीसरा यह अर्थ भी असंभव नहीं है कि महाबल नरेश ने मात्र अपने क्रोधावेश के ही कारण वध्यव्यक्ति के निर्दोष परिवार को भी मारने की कडी आज्ञा दे डाली हो। **रहस्य तु केवलिगम्यम्।**

प्रस्तुत सूत्र में श्री गौतम स्वामी द्वारा अवलोकित करुणाजनक दृश्य का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार अग्रिम सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास श्री गौतम स्वामी द्वारा किये गये उक्त—विषय—सम्बन्धी प्रश्न का वर्णन करते हैं—

मूल— [1] तते णं से भगवं गोतमे तं पुरिसं पासति २ त्ता इमे एयारूवे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने जाव तहेव णिग्गते एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! तं चेव जाव, से णं भंते! पुरिसे पुव्वभवे के आसि ? जाव विहरति ?

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **भगवं**—भगवान्। **गोतमे**—गौतम। **तं**—उस। **पुरिसं**—पुरुष को। **पासति**—देखते हैं। **२ त्ता**—देख कर। **इमे**—यह। **एयारूवे**—इस प्रकार का। **अज्झत्थिए ५**—आध्यात्मिक—सकल्प ५। **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **जाव**—यावत्। **तहेव**—तथैव—पहले की भान्ति। **णिग्गते**—नगर से निकले, तथा भगवान् के समीप आकर। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगे। **भंते!**—हे भगवन्!। **अहं**—मैं। **एवं**—इस प्रकार आप की आज्ञा के अनुसार आहार के लिये गया। **खलु**—निश्चयार्थक है। **तं चेव**—उस देखे हुए दृश्य का। **जाव**—यावत् वर्णन किया तथा पूछा कि। **भंते!**—हे भगवन्!। **से णं**—वह। **पुरिसे**—पुरुष।

---

(१) **छाया**—ततः स भगवान् गौतमः तं पुरुषं पश्यति दृष्ट्वा अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः ५ समुत्पन्नो यावत् तथैव निर्गतः एवमवदत्—एवं खलु अहं भदन्त! तच्चैव यावत् स भदन्त! पुरुषः पूर्वभवे कः आसीत्? यावद् विहरति।

पुव्वभवे—पूर्व भव में । **के**—कौन । **आसि ?**—था ? । **जाव**—यावत् । **विहरति ?**—समय बिता रहा है ?

मूलार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम के हृदय में उस पुरुष को देख कर यह सकल्प उत्पन्न हुआ यावत् पूर्ववत् वे नगर से बाहिर निकले तथा भगवान् के पास आ कर निवेदन करने लगे - भगवन् ! मै आप की आज्ञानुसार नगर मे गया, वहा मैने एक पुरुष को देखा यावत् भगवन् ! वह पुरुष पूर्वभव मे कौन था ? जो कि यावत् विहरण कर रहा है—कर्मों का फल पा रहा है ?

टीका—पूर्वसूत्र मे सूत्रकार ने एक ऐसे पुरुष का वर्णन किया है, जिसे राजकीय पुरुषों ने बेडियों मे जकड़ रक्खा था, तथा जिस को बड़ी कठोरता से पीटा जा रहा था। उसे जब पतित—पावन भगवान् गौतम ने देखा तो देखते ही उनका रोम २ करुणाजन्य पीड़ा से व्यथित हो उठा और उनके मानस मे इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए कि अहो ! यह पुरुष कितनी भयानक वेदना को भोग रहा है ? यह ठीक है कि मैने नरकों को नहीं देखा है किन्तु इस पुरुष की दशा तो नारकियों जैसी ही प्रतीत हो रही है । तात्पर्य यह है कि जैसे नरक मे नारकी जीवों को परमाधर्मियो के द्वारा दु ख मिलता है, वैसे ही इस पुरुष को इन राजपुरुषो के द्वारा मिल रहा है।

अज्ञानी जीव कर्म करते समय कुछ नहीं सोचता किन्तु जिस समय उस को उसका फल भोगना पडता है, उस समय वह अपने किये पर पश्चाताप करता है, रोता और चिल्लाता है। पर फिर कुछ नहीं बनने पाता इत्यादि विचारों में निमग्न हुए गौतम स्वामी पुरिमताल नगर से निकले और ईर्यासमिति—पूर्वक गमन करते हुए भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुँचे, पहुँच कर वन्दना नमस्कार करने के बाद उन्हें उक्त सारा वृत्तान्त कह सुनाया और विनय—पूर्वक उस वध्य व्यक्ति के पूर्वभव सम्बन्धी वृत्तान्त को जानने की अभिलाषा प्रकट की।

"**अज्झत्थिए** ५"- यहा पर दिये गये ५ के अक से—**चिंतिए, कप्पिए, पत्थिए, मणोगए, संकप्पे**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन पदो की व्याख्या पृष्ठ १३३ पर की जा चुकी है ।।

"**समुप्पन्ने जाव तहेव**"—यहा पठित "—**जाव यावत्**—" पद से—**अहो णं इमे पुरिसे पुरा पोराणाण दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं असुभाणं पावाणं कडाण कम्माण पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे विहरति । न मे दिट्ठा नरगा वा नेरइया वा पच्चक्खं खलु अयं पुरिसे नरयपडिरूवियं वेयणं वेएति त्ति कट्टु पुरिमताले णगरे उच्चनीयमज्झिमकुलेसु अडमाणे अहापज्जत्तं समुयाणं गिण्हइ २ पुरिमतालस्स नगरस्य मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति २ जेणेव समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ एसणमणेसणे आलोएइ २ भत्तपाणं पडिदंसेइ २ समणं भगवं महावीरं वन्दति नमंसति** २—इन पदो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है, इन का भावार्थ निम्नोक्त है -

खेद है कि यह बालक पहले प्राचीन दुश्चीर्ण—दुष्टता मे उपार्जन किये गये, दुष्प्रतिक्रान्त-जो धार्मिक क्रियानुष्ठान मे नष्ट नहीं किये गये हों ऐसे अशुभ, पापमय, किए हुए कर्मों के पापरूप फलवृत्तिविशेष—फल का प्रत्यक्षरूप मे अनुभव करता हुआ समय बिता रहा है । नरक तथा नारकी मैने नहीं देखे । यह पुरुष नरक के समान वेदना का अनुभव करता हुआ प्रतीत हो रहा है।

ऐसा विचार कर भगवान् गौतम पुरिमताल नगर के उच्च, नीच तथा मध्यम कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए यथेष्ट सामुदानिक—अनेकविध घरों से उपलब्ध, भिक्षा ग्रहण कर पुरिमताल नगर के मध्य में से होकर निकलते हैं और जहां पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहां आते हैं और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप बैठ कर गमनागमन का प्रतिक्रमण (दोष निवृत्ति) करते हैं। एषणीय (निर्दोष) और अनेषणीय (सदोष) की आलोचना (चिन्तन या प्रायश्चित्त के लिये दोषों को गुरु के सन्मुख रखना) करते हैं। आलोचना कर के भगवान् को आहार पानी दिखलाते हैं। दिखला कर प्रभु को वन्दना तथा नमस्कार कर के, वे इस प्रकार निवेदन करने लगे।

"तं चेव जाव से"—यहां पठित "जाव-यावत्" पद से —**तुब्भेहिं अब्भणुरणाए समाणे पुरिमताले नयरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे जेणेव रायमग्गे तेणेव समोगाढे, तत्थ णं बहवे हत्थी पासामि बहवे आसे पासामि**—से लेकर—**रुहिरपाणं च पाएंति, तं पुरिसं पासामि २ अयं एयारूवे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने—अहो णं इमे पुरिसे पुरा पोराणं दुच्चिणाणं**—से लेकर—**नरयपडिरूवियं वेयणं वेएति**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। परन्तु इतना ध्यान रहे कि जहां पहले पाठों में **"पासति"** यह पाठ आया है वहां इस प्रकरण में **"पासामि"** इस पद की सकलना की गई है। क्योंकि पहले वर्णन मे तो सूत्रकार स्वयं भगवान् गौतम स्वामी का परिचय करा रहे हैं। जब कि इस वर्णन में भगवान् गौतम स्वयं अपना वृत्तान्त प्रभु वीर के चरणों में सुना रहे हैं। ऐसी स्थिति में **'पासामि"** (देखता हूं) ऐसे प्रयोग की सकलना करनी ही होगी, तभी पूर्वापर अर्थ की संगति हो सकती है।

"आसि ? जाव विहरति"—यहां पठित "जाव-यावत्" पद से—**"किंनामए वा किं गोत्तए वा कयरंसि गामंसि वा नगरंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा समायरित्ता केसिं वा पुरा पोराणाणं दुच्चिरणाणं दुप्पडिक्कन्ताणं असुहाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे"**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों का भावार्थ पृष्ठ ५१ पर दिया जा चुका है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ कथन किया, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[1] एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे

---

(१) छाया—एव खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे पुरिमताल नाम नगरमभवत्, ऋद्ध० । तत्र पुरिमताले उदितो नाम राजा अभवत् महा० । तत्र च पुरिमताले निर्णयो नाम अण्डवाणिजोऽभूत् आढ्यो यावदपरिभूतः, अधार्मिको यावद् दुष्प्रत्यानन्दः । तस्य निर्णयस्याण्डवाणिजस्य बहवः पुरुषाः दत्तभृतिभक्तवेतना कल्याकल्यि कुद्दालिकाश्च पत्थिकापिटकानि च गृह्णन्ति पुरितालस्य नगरस्य परिपर्यन्तेषु बहवः काक्यण्डानि च घूक्यण्डानि च पारापती—टिट्टिभी—बकी—मयूरी—कुक्कुट्य ण्डानि च, अन्येषां चैव बहूनां जलचर—स्थलचर—खचरादीनामण्डानि गृह्णन्ति, गृहीत्वा च पत्थिकापिटकानि भरन्ति, भृत्वा च यत्रैव निर्णयोऽण्डवाणिजस्तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य निर्णयस्याण्ड-वाणिजस्योपनयन्ति । ततस्तस्य निर्णयस्याण्डवाणिजस्य बहवः पुरुषाः दत्तभृति० बहूनि काक्यण्डानि च यावत् कुक्कुट्य ण्डानि च अन्येषां च बहूनां जलचरस्थलचरखचरादीनामण्डानि तवकेषु च कवल्लीषु च कन्दुषु च भर्जनकेषु चाङ्गारेषु च तलन्ति, भृज्जन्ति, पचन्ति, तलन्तो भृज्जन्त पचन्तश्च राजमार्गेऽन्तरापणे अण्ड-

पुरिमताले नामं नगरे होत्था, [1]रिद्ध० । तत्थ णं पुरिमताले उदिए नामं राया होत्था [2]महया० । तत्थ णं पुरिमताले निण्णए णामं अंडयवाणियए होत्था, अड्ढे [3]जाव अपरिभूते, अहम्मिए [4]जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं णिण्णयस्स अंडयवाणियगस्स बहवे पुरिसा दिण्णभति-भत्तवेयणा कल्लाकल्लिं कोद्दालियाओ य पत्थियापिडए य गेण्हन्ति, पुरिमतालस्स नगरस्स परिपेरंतेसु बहवे काइअंडए य घुइअंडए य पारेवइ-टिट्टिभि—वगि-मयूरी—कुक्कुडि-अंडए य अन्नेसिं चेव बहूणं जलयर-थलयर—खहयरमाईणं अंडाइ गेण्हंति गेण्हेत्ता पत्थियापिडगाइं भरेंति २ जेणेव निण्णए अंडवाणियए तेणेव उवा० २ निण्णयस्स अंडवाणियगस्स उवणेंति । तते णं तस्स निण्णयस्स अंडवाणियगस्स बहवे पुरिसा दिण्णभइ० बहवे काइअंडए य [5]जाव कुक्कुडि-अंडए य अन्नेसिं च बहूणं जलयर-थलयर-खहयरमाईणं अंडए तवएसु य कवल्लीसु य कंदूसु य भज्जणएसु य इंगालेसु य तलेंति भज्जेंति सोल्लिंति तलेंता भज्जेंता सोल्लंता य रायमग्गे अन्तरावणंसि अंडयपणिएणं वित्तिं कप्पेमाणा विहरन्ति । अप्पणा वि य णं से निण्णयए अंडवाणियए तेहिं बहूहिं काइ-अंडएहि य जाव कुक्कुडि--अंडएहि य सोल्लेहि तलिएहि भज्जिएहि सुरं च[6]

पण्येन वृत्तिं कल्पमाना विहरन्ति । आत्मनापि च स निर्णयोऽण्डवाणिजस्तैर्बहुभिः काक्यण्डैश्च यावत् कुक्कुट्यण्डैश्च पक्वैस्तलितैर्भृष्टैः सुरां च ५ आस्वादयन् ४ विहरति । तत स निर्णयोऽण्डवाणिज एतत्कर्मा ४ सुबहु पाप कर्म समर्ज्य एक वर्षसहस्र परमायु पालयित्वा कालमासे काल कृत्वा तृतीयाया पृथिव्या उत्कृष्टसप्तसागारोपमस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्न ।

(१) "रिद्ध०—" यहा के बिन्दु से जिन पदो का ग्रहण सूत्रकार को अभिमत है, उन के सम्बन्ध मे पृष्ठ १३८ पर लिखा जा चुका है ।

(२) "महया०" यहा के बिन्दु से क्या अपेक्षित है ? इस का उत्तर पृष्ठ १३८ पर दिया जा चुका है ।

(३) "अड्ढे जाव अपरिभूते" यहा पठित'—जाव—यावत्—'पद से जिन पदो का आश्रयण सूत्रकार को अभिमत है उनका विवरण पृष्ठ १२० पर दिया जा चुका है ।

(४) "अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे" यहा पठित'— जाव—यावत्—' पद से ग्रहण किये जाने वाले पदो का वर्णन पृष्ठ ५५ पर किया गया है ।

(५) यहा पठित—जाव—यावत्—' पद मे "—घुइ-अण्डए, पारेवइअण्डए, टिट्टिभि-अण्डए वगि—अण्डए, मयूरी—अण्डए—" इन पदों का ग्रहण सूत्रकार को अभिमत है, तथा "—काइअण्ड-एहि य जाव कुक्कुडि—अण्डएहि—" यहा पठित '—जाव—यावत—' पद मे पूर्वोक्त पदों का ही आश्रयण करना चाहिए, यहा मात्र प्रथमा और तृतीया विभक्ति का अन्तर है ।

(६)—सुरं च ५—यहा पर ५ इस अक से "—मधुं च मेरगं च जातिं च सीधुं च पसन्नं च" इन पदों का ग्रहण समझना । इन पदों की व्याख्या पृष्ठ १४४ पर की जा चुकी है ।

५ आसाएमाणे[1] ४ विहरति। तते णं से निराणए अंडवाणियए [2]एयकम्मे ४ सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता एगं वाससहस्सं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा तच्चाए पुढवीए उक्कोससत्तसागरोवमट्ठितीएसु णेरइएसु णेरइयत्ताए उववन्ने।

पदार्थ—**एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **गोतमा !**—हे गौतम ! । **तेणं कालेणं**—उस काल मे । **तेणं समएणं**—उस समय मे । **इहेव**—इसी । **जम्बुद्दीवे दीवे**—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत । **भारहे वासे**—भारत वर्ष मे । **पुरिमताले**—पुरिमताल । **नामं**—नामक । **नगरे**—नगर । **होत्था**—था, जो कि । **रिद्ध०**—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से पूर्ण, स्तिमित स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित तथा समृद्ध—उत्तरोत्तर बढते हुए धन धान्यादि से परिपूर्ण था। **तत्थ णं**—उस । **पुरिमताले**—पुरिमताल नगर में । **उदिए**—उदित । **नाम**—नामक । **राया**—राजा । **होत्था**—था । **महया०**—जो कि महा हिमवान्—हिमालय आदि पर्वतो के सदृश महान् था । **तत्थ णं पुरिमताले**—उस पुरिमताल नगर मे । **निराणए**—निर्णय । **नामं**—नामक । **अंडयवाणियए**—अडवाणिज—अडों का व्यापारी । **होत्था**—था जो कि । **अड्ढे** धनी । **जाव**—यावत् । **अपरिभूते**—अतिरस्कृत अर्थात् बड़ा प्रतिष्ठित था एव । **अहम्मिए**—अधार्मिक । **जाव**—यावत् । **दुप्पडियाणंदे**—दुष्प्रत्यानन्द—जो किसी तरह सन्तुष्ट न किया जा सके, ऐसा था । **तस्स**—उस । **णिराणयस्स**—निर्णय नामक । **अंडयवाणियगस्स**—अण्डवाणिज के । **वहवे**—अनेक । **दिराणभति-भत्तवेयणा**—दत्तभृतिभक्तवेतन—जिन्हें वेतनरूपेण भृति—पैसे आदि तथा । **भक्त**—घृत धान्यादि दिये जाते हों अर्थात् नौकर । **पुरिसा**—पुरुष । **कल्लाकल्लिं**—प्रति दिन । **कोद्दालियाओ य**—कुद्दाल—भूमी खोदने वाले शस्त्रविशेषों को तथा । **पत्थियापिडए य**—पत्थिकापिटक—बास से निर्मित पात्रविशेषा—पिटारियों को । **गेराहन्ति**—ग्रहण करते हैं, तथा । **पुरिमतालस्स**—पुरिमताल **णगरस्स**—नगर के । **परिपेरन्तेसु**—चारों ओर । **वहवे**—अनेक । **काइअंडए य**—काकी—कौए की मादा—के अडों को तथा । **घूइअंडए य**—घूकी—उल्लूकी (उल्लू की मादा) के अडों को । **पारेवइ**—कबूतरी के अडो को । **टिट्टिभि**—टिट्टिभी—टिटिहरी के अडो को । **वगि**—बकी—बगुली के अण्डों को । **मयूरी**—मयूरी—मोरनी के अडो को और । **कुक्कुडिअंडए य**—कुकडी—मुर्गी के अडो को । **अन्नेसिं चेव**—तथा और । **वहूणं**—बहुत से । **जयलर**—जलचर—जल मे चलने वाले । **थलयर**—स्थलचर—पृथिवी पर चलने वाले । **खहयरमाईण**—खेचर—आकाश मे विचरने वाले जतुओं के । **अंडाइं**—अण्डों को । **गेराहन्ति**—ग्रहण करते हैं । **गेराहेत्ता**—ग्रहण कर के । **पत्थियापिडगाइं**—बास की पिटारियों को । **भरंति**—भरलेते हैं । **२ त्ता**—भर कर । **जेणेव**—जहा पर । **निराणए**—निर्णय नामक । **अराडवाणियए**—अण्डवाणिज था । **तेणेव**—वहा पर । **उवा० २त्ता**—आते हैं, आकर । **निराणयस्स**—निर्णय नामक । **अंडवाणियगस्स**—अण्डवाणिज को । **उवणेंति**—

---

(१)—**आसाएमाणे ४**—यहा पर दिये गये ४ के अक से "—**विसाएमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे**—" इन पदों का ग्रहण करना चाहिए । इन की व्याख्या पृष्ठ १४५ पर की जा चुकी है । परन्तु इतना ध्यान रहे कि वहा स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है, जब कि यहा पुल्लिङ्ग है । तथापि अर्थ—विचारणा में कोई अन्तर नहीं है ।

(२)—**एयकम्मे ४**—यहा के ४ के अक से "—**एयप्पहाणे एयविज्जे**—" और "—**एयसमायरे**—" इन पदों का ग्रहण करना चाहिए । **एतत्कर्मा** आदि पदों का शब्दार्थ पृष्ठ १७९ की टिप्पण में दिया जा चुका है ।

दे देते हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **तस्स**—उस। **निराणयस्स**—निर्णय नामक। **अंडवाणियगस्स**—अण्डवाणिज के। **बहवे**—अनेक। **दिराणभइ०**—जिन्हे वेतन रूप से रुपया तथा भोजन दिया जाता है ऐसे नौकर। **पुरिसा**—पुरुष। **बहवे**—अनेक। **काइअंडए य**—काकी के अंडों को। **जाव**—**कुक्कुडिअंडए य**—मुर्गी के अडों को। **अन्नेसिं च**—तथा और। **बहूणं**—बहुत से। **जलयर**—जलचर। **थलयर**—स्थलचर। **खहयरमाईण**—खेचर आदि जन्तुओं के। **अंडए**—अण्डों को। **तवएसु य**—तवों पर। **कवल्लीसु य**—कवल्ली—गुड आदि पकाने का पात्र विशेष (कडाहा) में। **कंदूसु य**—कन्दु—एक प्रकार का बर्तन—जिस में माड आदि पकाया जाता हो अर्थात् हाडे में, अथवा चने आदि भूनने की कडाही में अथवा लोहे के पात्रविशेष में। **भज्जणएसु य**—भर्जनक—भूनने का पात्रविशेष। **इंगालेसु य**—अंगारों पर। **तलेंति**—तलते थे। **भज्जेंति** भूनते थे। **सोल्लिंति**—शूल से पकाते थे। **रायमग्गे**—राजमार्ग के। **अंतरावणंसि**—अन्तर—मध्यवर्ती, आपण-दुकान पर, अथवा राजमार्ग की दुकानों के भीतर। **अंडयपणिएण**—अण्डों के व्यापार से। **वित्ति कप्पेमाणा**—आजीविका करते हुए। **विहरंति**—समय व्यतीत करते थे। **अप्पणा वि य णं**—और स्वयं भी। **से**—वह। **निराणए**—निर्णय नामक। **अंडवाणियए**—अण्डों का व्यापारी। **तेहिं**—उन। **बहूहिं**—अनेक। **काइअंडएहिं य**—काकी के अण्डों। **जाव**—यावत्। **कुक्कुडिअंडएहिं य**—मुर्गी के अण्डों जो कि। **सोल्लेहि**—शूल से पकाये हुए। **तलिएहिं**—तले हुए। **भज्जिएहिं**—भूने हुए हैं—के साथ। **सुरं च ५**—पचविध सुरा आदि मद्य विशेषों का। **आसाएमाणे४**—आस्वादनादि करता हुआ। **विहरति**—समय बिता रहा था। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **निराणए**—निर्णय नामक। **अंडवाणियए**—अण्डवाणिज। **एयकम्मे ४**—इन्ही पाप कर्मों में तत्पर हुआ, इन्हीं पापपूर्ण कर्मों में प्रधान, इन्हीं कर्मों के विज्ञान वाला और यही पाप कर्म उस का आचरण बना हुआ था ऐसा वह निर्णय। **सुबहुं**—अत्यधिक। **पावं**—पापरूप। **कम्मं**—कर्म को। **समज्जिणित्ता**—उपार्जित करके। **एगं वाससहस्सं**—एक हजार वर्ष की। **परमाउं**—परम आयु को। **पालइत्ता** भोग कर। **कालमासे**—कालमास में—मृत्यु का समय आजाने पर। **कालं किच्चा**—काल कर के। **तच्चाए**—तीसरी। **पुढवीए**—पृथिवी-नरक में। **उक्कोस**—उत्कृष्ट। **सत्त**—सात। **सागरोवम**—सागरोपम की। **ट्ठितीएसु**—स्थिति वाले। **णेरइएसु**—नारकों में। **णेरइयत्ताए**—नारकीय रूप से। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम! उस काल तथा उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में पुरिमताल नामक एक विशाल भवनादि से युक्त, स्वचक्र और परचक्र के भय से विमुक्त एव समृद्धिशाली नगर था। उस पुरिमताल नगर में उदित नाम का राजा राज्य किया करता था, जो कि महा हिमवान्—हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् था। उस पुरिमताल नगर में निर्णय नाम का एक अण्डवाणिज—अण्डों का व्यापारी निवास किया करता था, जो कि आढ्य—धनी, अपरिभूत—पराभव को प्राप्त न होने वाला, अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द—परम असन्तोषी था।

निर्णय नामक अंडवाणिज के अनेक दत्तभृतिभक्तवेतन अर्थात् रुपया, पैसा और भोजन के रूप से वेतन ग्रहण करने वाले अनेकों पुरुष प्रतिदिन कुद्दाल तथा बांस की पिटारियों को ले कर पुरिमताल नगर के चारों ओर अनेक काकी (कौए की मादा) के अंडों को, घूकी (उल्लू की मादा)

के अंडों को कबूतरी के अंडों को, टिट्टिभी (टिटिहरी) के अंडों को, बगुली के अंडों को, मोरनी के अंडों को और मुर्गी के अंडों को तथा और भी अनेक जलचर, स्थलचर और खेचर आदि जन्तुओं के अंडो को लेकर बांस की पिटारियों मे भरते थे, भर कर निर्णय नामक अंडवाणिज के पास आते थे, आकर उस अंडवाणिज को अंडों से भरी हुई वे पिटारियां दे देते थे।

तदनन्तर निर्णय नामक अंडवाणिज के अनेक वेतनभोगी पुरुष बहुत से काकी यावत् कुकडी (मुर्गी) के अंडों तथा अन्य जलचर, स्थलचर और खेचर आदि जन्तुओं के अण्डों को तवों पर, कड़ाहों पर, हांडों मे और अंगारों पर तलते थे, भूनते थे तथा पकाते थे। तलते हुए, भूनते हुए, और पकाते हुए राजमार्ग के मध्यवर्ती आपणों—दुकानों पर अथवा—राजमार्ग की दुकानों के भीतर, अंडों के व्यापार से आजीविका करते हुए समय व्यतीत करते थे।

तथा वह निर्णय नामक अंडवाणिज स्वयं भी अनेक काकी यावत् कुकड़ी के अंडों जो कि पकाये हुए, तले हुए और भूने हुए थे, के साथ सुरा आदि पंचविध मदिराओं का आस्वादनादि करता हुआ, जीवन व्यतीत कर रहा था।

तदनन्तर वह निर्णय नामक अंडवाणिज इस प्रकार के पाप कर्मों के करने वाला, इस प्रकार के कर्मों मे प्रधानता रखने वाला इन कर्मों को विद्या—विज्ञान रखने वाला, और इन्ही कर्मों को अपना आचरण बना कर अत्यधिक पाप कर्मों को उपार्जित कर के एक सहस्र वर्ष की परम आयु को भोग कर कालमास-मृत्यु के समय में काल करके तीसरी पृथिवी—नरक मे उत्कृष्ट सात सागरोपम स्थिति वाले नारकों में नारकी रूप से उत्पन्न हुआ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया कि गौतम! भारतवर्ष मे पुरिमताल नामक एक नगर था, जो व्यापारियों की दृष्टि से, शिल्पियों की दृष्टि से एवं आर्थिक दृष्टि से पूर्ण वैभवशाली था। नगर विशाल होने के साथ साथ काफी चहलपहल वाला था। उस मे उदित नरेश का राज्य था जो कि महान् प्रतापी था। उस नगर मे निर्णय नाम का एक अंडवाणिज अंडों का व्यापारी रहता था जो कि काफी धनी और अपनी जाति में सर्व प्रकार से प्रतिष्ठित माना जाता था। परन्तु धर्म—सम्बन्धी कार्यों मे निर्णय बड़ा पराङ्मुख रहता था। उस के विचार सावद्य प्रवृत्ति की ओर अधिक झुके हुए थे अनाथ, मूक—प्राणियों के वध करने में प्रवृत्त होने से उसके विचार अधिक क्रूर हो गये थे। उस के अन्दर सांसारिक प्रलोभन बेहद बढ़ा हुआ था। इसीलिये उस का प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन था। सारांश यह है कि जीवहिंसा करना उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य बना हुआ था। उसी पर उसका जीवन निर्भर था।

निर्णय के अनेकों नौकर थे, जिन्हे जीवन—निर्वाह के लिये उसकी तर्फ से वृत्ति—आजीविका दी जाती थी। कई एक को अन्न दिया जाता था, अर्थात् कई एक को भोजन मात्र और कई एक को रुपया पैसा। ये नौकर पुरुष अपने स्वामी के आदेशानुसार काम करते तथा अपनी स्वामिभक्ति का परिचय देते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल उठते कुदाल और बांस की पिटारियों को उठाते और नगर के बाहिर चारों तरफ घूमते। जहां कहीं उन्हें काकी मयूरी, कपोती और कुकडी आदि पक्षियो के अंडे मिलते, वहीं से वे ले लेते। इसके अतिरिक्त अन्य जलचर स्थलचर तथा खेचर आदि जन्तुओं के अंडो की उन्हें जहां से प्राप्ति होती वहीं से लेकर वे अपनी २ पिटारियों को भर लेते थे, तथा लाकर निर्णय के सुपुर्द कर देते। यह उन का प्रतिदिन का काम था।

निर्णय ने जहा अडों को खोज कर लाने के लिये आदमी रक्खे हुए थे, वहा साथ मे उस ने ऐसे पुरुष भी रख छोड़े थे कि जो राजमार्ग मे स्थित दुकानों पर बैठ अडों का क्रयविक्रय किया करते। अडो को उबालकर, भून कर और पकाकर बेचते। तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को निर्णय ने जो काम सभाल रक्खा था, वह उसे पूरी सावधानी से करता था। इस वर्णन से यह पता चलता है कि निर्णय ने अडो का व्यवसाय काफी फैला रखा था।

पाठक कभी यह समझने की भूल न करे कि निर्णय का यह व्यवसाय केवल व्यापार तक ही सीमित था किन्तु वह स्वय भी मासाहारी था। अपने प्रतिदिन के भोजन को भी वह अडों से तैयार कराया करता और अनेक विधियों मे अडों का आहार करता। मास के साथ मदिरा का निकट सम्बन्ध होने से वह इस का भी पर्याप्त उपभोग करता। इस प्रकार के सावद्य व्यापार तथा आहारादि से निर्णय ने अपने जीवन में पाप-कर्मों का काफी सचय किया, जिस के फलस्वरूप उसे मरकर तीसरी नरक मे नारकी रूप से उत्पन्न होना पडा।

यह सच है कि जघन्य स्वार्थ मनुष्य को बुरे से बुरे काम की ओर प्रवृत्त करा देता है। स्वार्थ और मनुष्यता का अहिनकुल (साप और नेवले) की भान्ति सहज (स्वाभाविक) वैर है। मनुष्यता की स्थिति मे स्वार्थ का अभाव होता है और स्वार्थ के आधिक्य मे मनुष्यता नहीं रहने पाती। स्वार्थी जीव दूसरों के हित का नाश करने मे सकोच नहीं करता तथा निर्दोष प्राणियों के प्राणों का अपहरण करना उसके लिये एक साधारण सी बात हो जाती है। निर्णय नामक अडवाणिज भी इसी स्वार्थ-पूर्ण वृत्ति के कारण अगणित प्राणियों की हिसा कर रहा था। उसकी इस पापमय प्रवृत्ति ने उस के आत्मा को अधिक से अधिक भारी कर दिया। उसने ऐसे जघन्य कामों में पूरे एक हजार वर्ष व्यतीत किये।

इस भयकरातिभयकर अपराध के कारण उसे तीसरी नरक मे जाना पड़ा। तीसरी नरक की उत्कृष्ट स्थिति सात [1]सागरोपम की है, अर्थात् स्वकृत कर्मों के अनुसार उस में गया हुआ जीव अधिक से अधिक सात सागरोपम काल तक रहता है। इसलिये विचारशील पुरुष को पापकर्म से पृथक् रहने का ही सदा भरसक प्रयत्न करना चाहिये।

"दिण्णभतिभत्तवेयणा"—इस समस्त पद की व्याख्या करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि लिखते हैं—**"दत्तं भृतिभक्तरूपं वेतनं मूल्यं येषां ते तथा, तत्र भृतिः-द्रम्मादिवर्तना, भक्तं तु घृतकणादि—"** अर्थात् **वेतन** शब्द से उस द्रव्य का ग्रहण होता है जो किसी को कोई काम के बदले मे दिया जाए। **भृति** शब्द रुपए पैसे आदि का परिचायक है तथा **भक्त** शब्द घृत, धान्य आदि के लिये प्रयुक्त होता है। तात्पर्य यह है कि—निर्णय नामक अडो के व्यापारी ने जिन नोकरो को रखा हुआ था, उन मे से किन्हीं को वह वेतन के उपलक्ष्य मे रुपया, पैसा आदि दिया करता था और किन्हीं को घृत, गेहूँ आदि धान्य दिया करता था।

प्रतिदिन का दूसरा नाम कल्याकल्यि है। **कल्ये कल्ये च कल्याकल्यि अनुदिनमित्यर्थः**। तथा जमीन खोदने वाला शस्त्रविशेष **कुद्दालक** कहलाता है। बासों की बनी हुई पिटारी या टोकरी का नाम **पत्थिकापिटक** है। अथवा पत्थिका टोकरी और पिटक थैले का नाम है।

इसके अतिरिक्त **"तवएसु"** आदि पदों की तथा **"तलेंति"** आदि पदों की व्याख्या वृत्तिकार

(१) **सागरोपम**—शब्द का अर्थ पृष्ठ ९४ पर लिखा जा चुका है।

के शब्दों में इस प्रकार है -

"तवएसु य" - त्ति नवकानि-सुकुमारिकादितलनभाजनानि । "कवल्लीसु य" - त्ति कवल्यो-गुडादिपाकभाजनानि । 'कंदूसु य' त्ति कन्दवो मण्डकादिपचनभाजनानि "भज्जणएसु य" त्ति भर्जनकानि कर्पराणि धानापाकभाजनानि अंगाराश्च प्रतीता., 'तलेंति' अग्नौ स्नेहेन 'भज्जेंति' भृज्जन्ति धान्यवत् पचन्ति, 'सोल्लिंति य' ओदनमिव राध्यन्ति, खण्डशो वा कुर्वन्ति । इस पाठ का भावार्थ निम्नोक्त है -

सुकुमारिका - पूड़ा पकाने का लोहमय भाजन - पात्र तवा कहलाता है । गुड, शर्करा आदि पकाने का पात्र कवल्ली कहा जाता है, हिन्दी भाषा में इसे कड़ाहा कहते हैं। कन्दु उस पात्र का नाम है जिस पर रोटी पकाई जाती है भूनने का पात्र कड़ाही आदि भजनक कहा जाता है। दहकते हुए कोयले के लिये अंगार शब्द प्रयुक्त होता है।

अर्द्धमागधी कोषकार कन्दु शब्द के - लोहे का एक बर्तन, चने आदि भूनने की कड़ाही - ऐसे दो अर्थ करते हैं। प्राकृतशब्दमहार्णव के पृष्ठ २६७ पर 'कन्दु' का अर्थ "-जिस में माण्ड - (पकाए हुए चावलों में से निकाला हुआ लेसदार पानी) आदि पकाया जाता हो वह बर्तन हाण्डा-" ऐसा लिखा है । टीकाकार महानुभाव के मत में "तवक" और "कन्दु" दोनों में प्रथम पूड़ा पकाने का और दूसरा रोटी पकाने का पात्र है।

'तलेंति'-इस क्रियापद से- अग्नि पर तैल आदि से तलते हैं-कड़कड़ाते हुए घी या तेल में डाल कर पकाते हैं-ऐसा अर्थ अभिव्यक्त होता है। 'भज्जेंति" का अर्थ है-धाना (भूने हुए यव-जौ या चावल) की तरह भूनते थे-आग पर रख कर या गरम बालू पर डाल कर पकाते थे । "सोल्लिंति"-पद के दो अर्थ होते हैं, जैसे कि-१-चावल के समान पकाते थे तात्पर्य यह है कि जिस तरह चावल पकाये जाते हैं, उसी तरह निर्णय के नौकर अण्डों को पकाया करते थे। २-खण्ड २ किया करते थे।

परन्तु कोषकार "सोल्लिंति" इस क्रियापद का अर्थ-शूल (बड़ा लंबा और लोहे का नुकीला काण्टा) पर पकाते थे-ऐसा करते हैं।

अब सूत्रकार निर्णय अण्डवाणिज की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हुए कहते हैं-

मूल-'से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव सालाडवीए चोरपल्लीए विजयस्स चोरसेणावइस्स, खंदसिरीए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने । तते णं तीसे खंदसिरीए

---

(१) छाया - स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य इहैव शालाटव्या चोरपल्ल्या विजयस्य चोरसेनापते. स्कन्दश्रियो भार्याया' कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न । ततस्तस्य स्कन्दश्रियो भार्याया अन्यदा कदाचित् त्रिषु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु अयमेतद्रूप दोहद. प्रादुर्भूतः-धन्यास्ता अम्बा. ४ या बहुभिर्मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-सबन्धि-परिजन-महिलाभि., अन्याभिश्चोरमहिलाभि सार्द्धं सपरिवृता स्नाता यावत् प्रायश्चित्ता सर्वालंकारविभूषिता विपुलमशनं पान खादिम स्वादिम सुरा च ५ आस्वादयमाना ४ विहरन्ति । जिमितभुक्तोत्तरागता , पुरुषनेपथ्याः सन्नद्ध० यावत् प्रहरणा फलकै. निष्कृष्टैरसिभिः अंसागतैस्तूणैः सजीवैर्धनुर्भिः समुत्क्षिप्तै. शरै समुल्लासिताभिर्दामभि लम्बिताभिरवसारिताभिरूरुघण्टाभि क्षिप्रतूर्येण वाद्यमानेन महतोत्कृष्ट० यावत् समुद्ररवभूतमिव कुर्वाणा शालाटव्या चोरपल्ल्या सर्वत समन्तादवलोकयन्त्यः २ आहिण्डमाना २ दोहद विनयन्ति । तद् यद्यहमपि यावद् विनयामि इति कृत्वा तस्मिन् दोहदे अविनीयमाने यावद् ध्यायति ।

भारियाए अन्नया कयाइ तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूते, धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ ४ जा णं बहूहि मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरियण-महिलाहिं अन्नाहि य चोरमहिलाहि सद्धिं संपरिवुड़ा ण्हाया जाव पायच्छित्ता सव्वालंकार-विभूसिता विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसादेमाणा ४ विहरंति। जिमियभुत्तुत्तरागयाओ पुरिसनेवत्थिया सन्नद्ध० जाव पहरणा भरिएहि फलएहिं, णिक्किट्ठाहि असीहि अंसागतेहिं तोणेहि, सज्जीवेहिं धणूहि समुक्खित्तेहिं सरेहि समुल्लासियाहिं दामाहि लम्बियाहि अवसारियाहि उरुघंटाहि छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठ० जाव समुद्दरव-भूयं पिव करेमाणीओ सालाडवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंता ओलोएमाणीओ २ आहि-डेमाणीओ २ दोहलं विणेंति। तं जइ णं अहं पि जाव विणिज्जामि, त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव झियाति।

पदार्थ—से णं—वह—निर्णय नामक अण्डवाणिज—अण्डों का व्यापारी। **तओ**—वहा से-नरक से। **अणंतरं**—अन्तर रहित। **उव्वट्टित्ता**—निकल कर। **इहेव**—इसी। **सालाडवीए**—शालाटवी नामक। **चोरपल्लीए**—चोरपल्ली में। **विजयस्स**—विजय नामा। **चोरसेणावइस्स**—चोरसेनापति की। **खंदसिरीए**—स्कन्दश्री। **भारियाए**—भार्या की। **कुच्छिंसि**—कुक्षि मे—उदर मे। **पुत्तत्ताए**—पुत्ररूप से। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ। **तते णं**—तदनन्तर। **तीसे**—उस। **खंदसिरीए**—स्कन्द-श्री। **भारियाए**—भार्या को। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **तिण्हं मासाणं**—तीन मास। **बहुपडिपुण्णाण**—परिपूर्ण होने पर। **इमे**—यह। **एयारूवे**—इस प्रकार का। **दोहले**—दोहद गर्भ-वती स्त्री का मनोरथ। **पाउब्भूते**—उत्पन्न हुआ। **ताओ**—वे। [1] **अम्मयाओ ४**—माताये ४। **धण्णाओ णं**—धन्य हैं। **जा णं**—जो। **बहूहि**—अनेक। **मित्त**—मित्र। **णाइ**—ज्ञातिजन। **नियग**—निजक—पिता पुत्र आदि। **सयण**—स्वजन—चाचा, भाई, आदि। **सम्बन्धि**—सम्बन्धी—श्वशुर, साला आदि। **परियण**—परिजन—दास आदि की। **महिलाहिं**—स्त्रियो के तथा। **अन्नाहि य**—अन्य। **चोरमहिलाहिं**—चोर—महिलाओं के। **सद्धिं**—साथ। **संपरिवुड़ा**—सपरिवृत—घिरी हुई तथा। **ण्हाया**—नहाई हुई। [2]**जाव**—यावत्। **पायच्छित्ता**—अशुभ स्वप्नों के फल को विफल करने लिये प्राय-

(१) "**अम्मयाओ ४**"—यहा के ४ के अक से—"**सपुण्णाओ ण ताओ अम्मयाओ कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ कयलक्खणाओ, ण ताओ अम्मयाओ—**" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का भावार्थ निम्नोक्त है—

वे मातायें सपुण्या—पुण्य वालिया हैं, वे माताए कृतार्थ हैं—उन के प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं, वे माताये कृतपुण्या हैं—उन्हों ही ने पुण्य की उपार्जना की है, तथा वे माताये कृतलक्षणा हैं—सपूर्ण लक्षणों से युक्त हैं।

(२) "**ण्हाया जाव पायच्छित्ता**"—यहा पठित **जाव—यावत्** पद से "—**कयबलिकम्मा कय—कोउयमगल—**" इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये। इन पदों की व्याख्या पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर की जा चुकी है।

श्चित्त के रूप में तिलक और मागलिक कार्य करने वाली । **सव्वालंकारभूसिता**—सम्पूर्ण अलंकरणों से विभूषित हुई । **विपुल**—विपुल—बहुत । **असणं**—अशन—रोटी दाल आदि । **पाणं**—पान—पानी आदि पेय पदार्थ । **खाइमं**—खादिम—मेवा और मिष्टान्न आदि । **साइमं**—स्वादिम—पान सुपारी आदि सुगन्धित पदार्थों का । **सुरं च ५**—और पाच प्रकार की सुरा आदि का । **आसादेमाणा ४**—आस्वादन प्रस्वादन आदि करती हुई । **विहरंति** विहरण करती हैं । **जिमियभुत्तुत्तरागयाओ**—तथा जो भोजन करने के अनन्तर उचित स्थान पर आगई हैं । **पुरिसनेवत्थिया**—पुरुष—वेष को धारण किये हुए हैं । **सन्नद्ध०**—दृढ बन्धनों मे वाधे हुए और लोहमय कसूलक आदि से संयुक्त कवच—लोहमय बखतर को धारण किये हुए हैं । [1]**जाव**—यावत् । **पहरणा**—जिन्हों ने आयुध और प्रहरण ग्रहण किये हुए हैं । **भरिएहिं फलिएहिं**—वाम हस्त मे धारण किये हुए फलक—ढालों के द्वारा । **निक्किट्ठाहिं असीहिं**—कोश—म्यान (तलवार कटार आदि रखने का खाना) से निकली हुई कृपाणों के द्वारा । **अंसागतेहिं—तोणेहिं**—असागत स्कन्ध देश को प्राप्त तूण—इषुधि (जिस में बाण रक्खे जाते हैं उसे तूण या इषुधि कहते हैं) के द्वारा । **सजीवेहिं धणूहिं**—सजीव—प्रत्यचा—डोरी—से युक्त धनुषों के द्वारा । **समुक्खित्तेहिं सरेहिं**—लक्ष्यवेधन करने के लिये धनुष पर आरोपित किये गये शरों—बाणों द्वारा । **समुल्लासियाहिं दामाहिं**—समुल्लसित—ऊचे किये हुए पाशों—जालों अथवा शस्त्रविशेषों से । **लंबियाहिं**—लम्बित जो लटक रही हों । **अवसारियाहिं**—तथा अवसारित—चालित अर्थात् हिलाई जाने वाली । **उरुघंटाहिं**—जघा मे अवस्थित घटिकाओं से । **छिप्पतूरेण वज्जमाणेणं**—शीघ्रता से बजने वाले बाजे के बजाने से । **महया**—महान् । **उक्किट्ठ०**—उत्कृष्ट—आनन्दमय महाध्वनि आदि से । **जाव**—यावत् । **समुद्दरवभूयं पिव**—समुद्र शब्द के समान महान् शब्द को प्राप्त हुए के समान गगनमडल को । **करेमाणीओ**—करती हुईं । **सालाडवीए चोरपल्लीए**—शालाटवी नामक चोरपल्ली के । **सव्वओ समंता**—चारों तरफ का । **ओलोएमाणीओ**—अवलोकन करती हुई । **आहिंडेमाणीओ**—भ्रमण करती हुई । **दोहलं**—दोहद को । **विणेंति**—पूर्ण करती हैं । **तं**—सो । **जइ णं**—यदि । **अहं पि**—मै भी । **जाव**—यावत् । **विणिज्जामि**—दोहद को पूर्ण करू । **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार करने बाद । **तंसि दोहलंसि**—उस दोहद के । **अविणिज्जमाणंसि**—पूर्ण न होने पर । **जाव**—यावत् । **झियाति**—आर्तध्यान करती है ।

मूलार्थ—वह निर्णय नामक अण्डवाणिज नरक से निकल कर इसी शालाटवी नामक चोरपल्ली मे विजयनामा चोरसेनापति की स्कन्दश्री भार्या के उदर मे पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ । किसी अन्य समय लगभग तीन मास पूरे होने पर स्कन्दश्री को यह दोहद (संकल्प विशेष) उत्पन्न हुआ ।

वे माताएं धन्य हैं जो अनेक मित्रों की, ज्ञाति की, निजकजनों की, स्वजनों की, सम्बन्धियों की और परिजनों की महिलाओं—स्त्रियों तथा चोर—महिलाओं से परिवृत हो कर,

---

(१) "**सन्नद्ध० जाव पहरणा**"—यहा पठित जाव—यावत् पद से "**बद्धवम्मियकवया, उप्पीलियसरासणपट्टिया**"—से ले कर "**गहियाउह**"— इन पदों का ग्रहण सूत्रकार को अभिमत है । इन पदों का शब्दार्थ पृष्ठ १२४ पर लिखा जा चुका है । अन्तर मात्र इतना है कि वहा ये पद द्वितीयान्त तथा पुरुषों के विशेषण हैं, जब कि यहा प्रथमान्त और स्त्रियों के विशेषण हैं ।

स्नात यावत् अनिष्टोत्पादक स्वप्न को निष्फल करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में तिलक एवं मांगलिक कृत्यों को करके सर्व प्रकार के अलंकारों से विभूषित हो, बहुत से अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों तथा [1]सुरा, मधु, मेरक, जाति और प्रसन्ना इन मदिराओं का [2]आस्वादन, विस्वादन, परिभाजन और परिभोग करती हुई विचर रही है।

तथा भोजन करके जो उचित स्थान पर आ गई है, जिन्हों ने पुरुष का वेष पहना हुआ है और जो दृढ़ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच-लोहमय बख्तर को शरीर पर धारण किये हुए हैं, यावत् आयुध और प्रहरणों से युक्त है तथा जो वाम हस्त में धारण किये हुए फलक—ढालों से कोश-म्यान से बाहिर निकली हुई कृपाणों से, असगत—कन्धे पर रखे हुए शरधि—तरकशों से, सजीव—प्रत्यञ्चा—(डोरी) युक्त धनुषों से, सम्यक्तया उत्क्षिप्त—फेंके जाने वाले, शरों—बाणों से, समुल्लासित—ऊंचे किये हुए पाशों—जालों से अथवा शस्त्र विशेषों से, अवलम्बित तथा अवसारित—चालित जंघाघंटियों के द्वारा, तथा क्षिप्रतूर्य (शीघ्र बजाया जाने वाला बाजा) बजाने से महान् उत्कृष्ट—आनन्दमय महाध्वनि से, समुद्र के रव— शब्द को प्राप्त हुए के समान गगनमंडल को ध्वनित—शब्दायमान करती हुई, शालाटवी नामक चोरपल्ली के चारों तरफ का अवलोकन और उसके चारों तरफ भ्रमण कर दोहद को पूर्ण करती हैं।

क्या ही अच्छा हो, यदि मैं भी इसी भान्ति अपने दोहद को पूर्ण करूं, ऐसा विचार करने के पश्चात् दोहद के पूर्ण न होने से वह उदास हुई यावत आर्तध्यान करने लगी।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार पाठकों को पूर्व—वर्णित चोरसेनापति विजय की शालाटवी नामक चोरपल्ली का स्मरण करा रहे हैं। पाठकों को यह तो स्मरण ही होगा कि प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में यह वर्णन आया था कि पुरिमताल नगर के ईशान कोण में एक विशाल, भयंकर अटवी थी। उस में एक चोरपल्ली थी। जिस के निर्माण तथा आकारविशेष का परिचय पहले पृष्ठ १९३ पर दिया जा चुका है।

हमारे पूर्व परिचित निर्णय नामक अंडवाणिज का जीव जो कि स्वकृत पापाचरण से तीसरी नरक में गया हुआ था नरक की भवस्थिति को पूर्ण कर इसी चोरपल्ली में विजय की स्त्री स्कन्दश्री के गर्भ में पुत्ररूप से उत्पन्न होता है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि जीव दो प्रकार के होते हैं, एक शुभ कर्म वाले दूसरे अशुभ कर्म वाले। शुभ कर्म वाले जीव जिस समय माता के गर्भ में आते हैं, तो उस समय माता के संकल्प शुभ और जब अशुभ कर्म वाले जीव माता के गर्भ में आते हैं तो उस समय माता के संकल्प भी अशुभ अथच गर्हित होने लग जाते हैं। निर्णय नामक अंडवाणिज का जीव कितने अशुभ कर्म उपार्जित किये हुए था? इसका निर्णय तो पूर्व में आये हुए उसके जीवन—वृत्तान्त से सहज ही में हो जाता है। वह नरक से निकल कर सीधा स्कन्दश्री के गर्भ में आता है, उस को गर्भ में आये अभी तीन मास ही हुए थे कि उसकी माता स्कन्दश्री को दोहद उत्पन्न हुआ।

जीवात्मा के गर्भ में आने के बाद लगभग तीसरे महीने गर्भिणी स्त्री को गर्भगत जीव

(१) इन शब्दों के अर्थ के लिये देखो पृष्ठ १४४।

(२) इन पदों का अर्थ पृष्ठ १४५ पर लिखा जा चुका है।

के प्रभावानुसार मन में जो सकल्पविशेष उत्पन्न होते हैं, शास्त्रीय परिभाषा में उन्हे दोहद कहते हैं । स्कन्दश्री को निम्नलिखित दोहद उत्पन्न हुआ—

वे माताएं धन्य हैं जो अपनी सहेलियों नौकरानियों निजजनों, स्वजनों, सगे सम्बन्धियों तथा अपनी जाति की स्त्रियों एव अन्य योग्य महिलाओं के साथ एकत्रित हो कर स्नानादि क्रियाओं के बाद अनिष्टजन्य स्वप्नों को निष्फल करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में तिलक और मांगलिक कार्य करके वस्त्र भूषणादि से विभूषित होकर विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों और नाना प्रकार की मदिराओं का यथारुचि सेवन करती हैं । तथा जो इच्छित भोज्य सामग्री एव मदिरापान के अनन्तर उचित स्थान में आकर पुरुष के वेष को धारण करती हैं और अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित हो सैनिकों की तरह जिन्हों ने कवचादि पहने हुए हैं, बायें हाथ में ढालें और दाहिने में नगी तलवारें हैं । जिनके कन्धे पर तरकश प्रत्यञ्चा—डोरी से सुसज्जित धनुष हैं और चलाने के लिये बाणों को ऊपर कर रक्खा है और जो वाद्य—ध्वनि से समुद्र के शब्द को प्राप्त हुए के समान आकाशमडल को गुंजाती हुई तथा शालाटवी नामक चोरपल्ली का सर्व प्रकार से निरीक्षण करती हुई अपनी इच्छाओं की पूर्ति करती हैं । वे माताएं धन्य हैं, उन्हीं का जीवन सफल है ।

साराश यह है कि स्कन्दश्री के मन में यह सकल्प उत्पन्न हुआ कि जो गर्भवती महिलायें अपनी जीवन—सहचरियों के साथ यथारुचि सानन्द खान पान करती हैं, तथा पुरुष का वेष बनाकर अनेकविध शस्त्रों से सैनिक तथा शिकारी की भांति तैयार होकर नाना प्रकार के शब्द करती हुई बाहिर जगलों में सानन्द बिना किसी प्रतिबन्ध के भ्रमण करती हैं, वे भाग्यशालिनी हैं और उन्हों ने ही अपने मातृजीवन को सफल किया है, क्या ही अच्छा हो यदि मुझे भी ऐसा करने का अवसर मिले और मैं भी अपने को भाग्यशालिनी समझूं ।

विचार—परम्परा के अविश्रान्त स्रोत में प्रवाहित हुआ मानव प्राणी बहुत कुछ सोचता है और अनेक तरह की उधेड़बुन में लगा रहता है । कभी वह सोचता है कि मैं इस काम को पूरा करलूं तो अच्छा है, कभी सोचता है कि मुझे अमुक पदार्थ मिल जाये तो ठीक है । यदि आरम्भ किया काम पूरा हो जाता है तो मन में प्रसन्नता होती है, उसके अपूर्ण रहने पर मन उदासीन हो जाता है । परन्तु सफलता और विफलता, हर्ष और विषाद तथा हानि और लाभ ये दोनों साथ साथ ही रहते हैं । वीतरागता की प्राप्ति के बिना मानव में हर्ष, विषाद, हानि और लाभ जन्य क्षोभ बराबर बना रहता है ।

स्कन्दश्री भी एक मानव प्राणी है उस में सांसारिक प्रलोभनों की मात्रा साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक है । इसलिये उस में हर्ष अथवा विषाद भी पर्याप्त है । उसके दोहद—इच्छित सकल्प की पूर्ति न होने से उस में विषादकी मात्रा बढी और वह दिन प्रतिदिन सूखने लगी तथा दीर्घकालीन रोगों से व्याप्त होने की भान्ति उस की शारिरिक दशा चिन्ताजनक हो गई । उस का सारा समय आर्तध्यान में व्यतीत होने लगा ।

"जिमियभुत्तुत्तरागयाओ"—इस की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि इस प्रकार लिखते हैं—

"जेमिता—कृतभोजना, भुक्तोत्तरं—भोजनानन्तरं—आगता उचितस्थाने यास्ता तथा" अर्थात् जिस ने भोजन कर लिया है, उसे **जेमित** कहते हैं । भोजन के पश्चात् को कहते हैं—**भुक्तोत्तर** । भोजन करने के अनतर उचितस्थान में उपस्थित हुई महिलायें—**"जेमितभुक्तोत्तरागता"** कहलाती हैं ।

इस के अतिरिक्त "**भरिएहिं फलिएहिं**" इत्यादि पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में इस प्रकार है—

"**भरिएहिं**—हस्तपाशितैः, **फलएहिं**—[1]स्फटिकैः, **निक्किट्ठाहिं**—कोषकादाकृष्टैः, **असिहिं**, खड्गैः, **अंसागएहिं**—स्कन्धदेशमागतैः—पृष्ठदेशे बन्धनात्, **तोणेहिं**—शरधिभिः, **सजीवेहिं**—सजीवैः—कोट्यारोपितप्रत्यञ्चैः, **धणूहिं**—कोदण्डकैः, **समुक्खित्तेहिं सरेहिं**—निसर्गार्थमुत्क्षिप्तैः वाणैः, **समुल्लासियाहिं**—समुल्लसिताभिः, **दामाहिं**—पाशकविशेषैः, **दाहाहिं**—इति क्वचित्—तत्र प्रहरणविशेषैर्दीर्घवंशाग्रन्यस्तदात्ररूपैः. **ओसारियाहिं**—प्रलम्बिताभिः, **उरुघंटाहिं**—जघाघंटाभिः, **छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं** द्रुततूर्येण वाद्यमानेन, "**महया उक्किट्ठ०**" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्—"**महया उक्किट्ठसीहनायबोलकलकलरवेणं**"—तत्रोत्कृष्टश्चानन्दमहाध्वनिः. सिंहनादश्च प्रसिद्धः, बोलश्च वर्णाव्यक्तिवर्जितो ध्वनिरेव, कलकलश्च व्यक्तवचनः स एव तल्लक्षणो यो रवः स तथा तेन "**समुद्दरवभूयं पिव**"—जलधिशब्द—प्राप्तमिव तन्मयमिवेत्यर्थः. "**गगनमंडल**" इति गम्यते। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

(१) **भरित**—हस्तरूप पाश (जाल) से गृहीत अर्थात् हस्तबद्ध, (२) **फलक**—स्फटिक मणि के समान, (३) **निष्कृष्ट**—म्यान से बाहिर निकाली हुई, (४) **असि**—तलवार, (५) **अंसागत**—पृष्ठभाग पर बांधने के कारण कन्धे पर रखा हुआ, (६) **तूण**—इषुधि–तीर रखने का थैला, (७) **सजीव**—प्रत्यञ्चा (डोरी) से युक्त, (८) **धनुष**—फलदार तीर फैंकने का वह अस्त्र जो बांस या लोहे के लचीले डण्डे को झुकाकर उसके दोनों छोरों के बीच, डोरी बांधकर बनाया जाता है, (९) **समुत्क्षिप्त**—लक्ष्य पर फैंकने लिये धनुष पर आरोपित किया गया, (१०) **शर**—धार वाला फल लगा हुआ एक छोटा अस्त्र जो धनुष की डोरी पर खींच कर छोडा जाता है-बाण (तीर), (११) **समुल्लासित**—ऊंची की गई, (१२) **दाम**—पाशक विशेष अर्थात् फसाने की रस्सियां अथवा शस्त्रविशेष।

वृत्तिकार के मत से किसी २ प्रति में "**दामाहिं**" के स्थान पर "**दाहाहिं**" ऐसा पाठ भी पाया जाता। उस का अर्थ है—" वे प्रहरणविशेष जो एक लंबे बांस पर लगे हुए होते हैं—दाँते वगैरह जो कि पशु चराने वाले ग्रामीण लोग जंगल में पशु चराते हुए अपने पास वृक्षों की शाखायें काटने या किसी वन्य जीव का सामना करने के लिए रखते हैं।

(१३) **लम्बिता**—प्रलंबित-लटकती हुई, (१४) **अवसारिता**—हिलाई जाने वाली अथवा ऊपर को सरकाई जाने वाली, (१५) **क्षिप्रतूर्य**—शीघ्र शीघ्र बजाया जाने वाला वाद्य, (१६) **वाद्यमान**—बजाया जा रहा।

"**महया उक्किट्ठ० जाव समुद्दरव**" यहां पठित **जाव—यावत्** पद से **सिंहनाद** के, बोल के, कलकल के शब्दों से—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। उत्कृष्ट आदि पदों का अर्थ इस प्रकार है—

---

(१) वृत्तिकार को "**फलएहिं**" इस पाठ का "—**स्फटिक** (स्फटिक रत्न की कान्ति के के समान कान्ति वाली तलवारें)—यह अर्थ अभिप्रेत है। परन्तु हैमशब्दानुशासन के '**स्फटिके लः** । ८/१/१९७। **स्फटिक टस्य लो भवति । फलिहो**। और '**निकषस्फटिकचिकुरे हः** । ८/१/१८६। सूत्र से स्फटिक के ककार को हकारादेश हो जाता है, इस से **स्फटिक** का **फलिह** यह रूप बनता है। प्रस्तुत सूत्र में **फलक** पाठ का आश्रयण है। इसी लिये हमने इसका **फलक** (ढाल) यह अर्थ किया है।

(१) उत्कृष्ट—आनन्दमय महाध्वनि । (२) सिंहनाद—सिंह का नाद-गर्जना । (३) बोल—वर्णों की अव्यक्त ध्वनि अर्थात् जिस आवाज मे वर्णों की प्रतीति न हो । (४) कलकल—वह ध्वनि जिस में वर्णों की अभिव्यक्ति—प्रतीति होती है।

उत्कृष्ट, सिंहनाद, बोल और कलकल रूप जो शब्द हैं, उनके द्वारा समुद्र के शब्द को प्राप्त हुए के समान गगनमण्डल—आकाशमण्डल को करती हुई।

"अहमवि जाव विणिज्जामि"—यहां पठित "—जाव-यावत्—"पद से "बहूहिं मित्तणाइ-नियगसयणसंबन्धिपरियणमहिलाहिं अन्नाहि य चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा"—से लेकर "चोरपल्लीए सव्वओ समंता ओलोएमाणीओ २ आहिण्डेमाणीओ दोहलं" यहां तक के पाठ का ग्रहण समझना चाहिए। इन पदों का अर्थ पृष्ठ २१८ तथा २१९ पर कर दिया गया है।

"अविणिज्जमाणंसि जाव झियाति"—यहां पठित—जाव-यावत्—पद से "—सुक्खा, भुक्खा निम्मंसा ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा नित्तेया दीणविमणवयणा पंडुइयमुही ओमंथियनयण—वयण-कमला जहोइयं पुप्फवत्थगन्धमल्लालंकारहारं अपरिभुंजमाणी करयलमलिय व्व कमलमाला, ओहयमणसंकप्पा"—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १४५ पर दिया जा चुका है।

प्रस्तुत सूत्र में निर्णय का नरक से निकल कर स्कन्दश्री के उदर मे आने का तथा स्कन्दश्री को उत्पन्न दोहद का वर्णन सूत्रकार ने किया है। अब उसके दोहद की पूर्ति और बालक के जन्म का अग्रिम सूत्र मे वर्णन करते हैं—

मूल—[१]तते णं से विजए चोरसेणावती खंदसिरिं भारियं ओहत० जाव पासति २ एवं वयासी किण्णं तुमं देवाणु० ! ओहत० जाव झियासि ? तते णं सा खंदसिरी विजयं एवं वयासी एवं खलु देवाणु० ! मम तिण्हं मासाणं जाव झियामि। तते णं से विजए चोरसेणावती खंदसिरीए भारियाए अंतिते एयमट्ठं सोच्चा निसम्म खंदसिरिं भारियं एवं वयासी-अहासुहं देवाणुप्पिए ! त्ति एयमट्ठं पडिसुणेति । तते णं सा खंदसिरी भारिया विजएणं चोरसेणावतिणा अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठ० बहूहिं मित्त० जाव अन्नाहि य

---

(१) छाया—ततः स विजयश्चोरसेनापतिः स्कन्दश्रियं भार्यामपहत० यावत् पश्यति दृष्ट्वा एवमवदत् किं त्वं देवानुप्रिये ! अपहत० यावद् ध्यायसि ? ततः सा स्कन्दश्रीः विजयमेवमवादीत्-एवं खलु देवानु० ! मम त्रिषु मासेषु यावद् ध्यायामि । ततः स विजयश्चोरसेनापतिः स्कन्दश्रियः भार्याया अन्तिके एतमर्थं श्रुत्वा निशम्य स्कन्दश्रियं भार्यामेवमवादीत् – यथासुखं देवानुप्रिये ! इत्येतमर्थं प्रतिशृणोति । ततः सा स्कन्दश्रीः भार्या विजयेन चोरसेनापतिना अभ्यनुज्ञाता सती हृष्ट० बहुभिर्मित्र० यावदन्याभिश्च बहुभिश्चोरमहिलाभिः सार्द्धं संपरिवृता स्नाता यावद् विभूषिता विपुलमशनं ४ सुरां ५ आस्वादयन्ती ४ विहरति । जिमितभुक्तोत्तरागता पुरुषनेपथ्या सन्नद्धबद्ध० यावदाहिंडमाना दोहदं विनयति । ततः सा स्कन्दश्रीः भार्या सम्पूर्णदोहदा, सम्मानितदोहदा, विनीतदोहदा, व्युच्छिन्न-दोहदा, सम्पन्नदोहदा तं गर्भं सुखसुखेन परिवहति । ततः सा स्कन्दश्रीः चोरसेनापत्नी नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारकं प्रयाता ।

बहूहिं चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा एहाया जाव विभूसिता विपुलं असणं ४ सुरं च ५ आसादेमाणी ४ विहरति । जिमियभुत्तुत्तरागया पुरिसणेवत्थिया सन्नद्धबद्ध० जाव आहिंडेमाणी दोहलं विणेति, तते णं सा खंदसिरी भारिया संपुण्णदोहला संमाणियदोहला विणीयदोहला वोच्छिण्णदोहला सपन्नदोहला तं गब्भं सुहसुहेणं परिवहति । तते णं सा खंदसिरी चोरसेणावतिणी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाता ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **विजए**—विजय नामक । **चोरसेणावती**—चोर सेनापति—चोरों का नायक । **खंदसिरिं भारियं**—स्कन्दश्री स्त्री को जो कि । **ओहत०**—कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से विकल । **जाव**—यावत् आर्तध्यान से युक्त है। **पासति २**—देखता है देखकर । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगा । **देवाणु०!**—हे सुभगे ! । **तुमं**—तू । **किएणं**—क्या । **ओहत०**—कर्तव्य और अकर्तव्य के भान से शून्य हो कर। **जाव**[1]—यावत् । **झियासि**—आर्तध्यान कर रही हो ? । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **खंदसिरि**—स्कन्दश्री । **विजयं**—विजय के प्रति । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगी । **एवं खलु** इस प्रकार निश्चय ही । **देवाणु०!**—हे देवानुप्रिय ! अर्थात् हे स्वामिन् ! । **मम**—मुझे गर्भ धारण किए हुए । **तिण्हं मासाणं**—तीन मास हो गए हैं, अब मुझे एक दोहद उत्पन्न हुआ है, उस की पूर्ति न होने से मैं कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से रहित हुई । **जाव**[2]—यावत् । **झियामि**—आर्तध्यान कर रही हूँ । **तते णं**—तदनन्तर । **से विजए**—वह विजय । **चोरसेणावती**—चोरसेनापति । **खंदसिरीए भारियाए**—स्कन्दश्री भार्या के । **अंतिते**—पास से । **एयमट्ठं**—इस बात को । **सोच्चा**—सुन कर तथा । **णिसम्म**—हृदय में धारण कर । **खंदसिरिं भारियं**—स्कन्दश्री नामक भार्या को । **एवं**—**वयासी**—इस प्रकार कहने लगा । **देवाणुप्पिए !**—हे देवानुप्रिये ! अर्थात् हे सुभगे ! । **अहासुहं त्ति**—जैसा तुम को सुख हो वैसा करो, इस प्रकार से । **एयमट्ठं**—उस बात को । **पडिसुणेति**—स्वीकार करता है, तात्पर्य यह है कि विजय ने स्कन्दश्री के दोहद को पूर्ण कर देने की स्वीकृति दी । **तते णं**—

---

(१) **ओहत० जाव पासति**—यहां पठित जाव यावत् -पद से -**ओहतमणसंकप्पं**—इसका ग्रहण समझना । इस पद के दो अर्थ पाये जाते हैं जोकि निम्नोक्त हैं—

१—**अपहतमनसंकल्पा**—अपहतो मनसः संकल्पो यस्याः सा—अर्थात् संकल्प विकल्प रहित मन वाली । तात्पर्य यह है कि जिसके मन के संकल्प नष्ट हो चुके हैं, वह स्त्री ।

(२) **अपहतमनसंकल्पा**—कर्तव्याकर्तव्यविवेकविकला—अर्थात् कर्तव्य (करने के योग्य) और अकर्तव्य (न करने योग्य) के विवेक से रहित स्त्री । प्रस्तुत में—**ओहतमणसंकप्पं** - यह पद द्वितीयान्त विवक्षित है अतः यहां द्वितीयान्त अर्थ का ग्रहण करना चाहिये ।

(२) "**मासाणं जाव झियामि**—" यहां पठित जाव-यावत्—पद से '**बहुपडिपुण्णाणं इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूते, धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ**—से लेकर—**तं जइ णं अहमवि जाव विणिज्जामि त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्खा भुक्खा**—से लेकर—**ओहयमणसंकप्पा**—यहां तक के पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन पदों में से **बहुपडिपुण्णाणं**—से लेकर—**अविणिज्जमाणंसि**—यहां तक के पदों का अर्थ पृष्ठ २१८ तथा २१९ पर और **सुक्खा**—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १४२ पर किया जा चुका है ।

तदनन्तर । **सा**—वह । **खंदसिरी**—स्कन्दश्री । **भारिया**—भार्या । **विजएणं**— विजय नामक । **चोरसेणावतिणा**—चोरसेनापति के द्वारा । **अब्भणुण्णाया समाणी**—अभ्यनुज्ञात होने पर अर्थात् उसे आज्ञा मिल जाने पर । **हट्ठ०**—बहुत प्रसन्न हुई और । **बहूहिं**— अनेक । **मित्त०** — मित्रों की । **जाव**—यावत् । **अन्नाहि य**—और दूसरी । **बहूहि**—बहुत सी । **चोरमहिलाहिं**—चोर—महिलाओं के । **सद्धि**—साथ । **संपरिवुडा**—सपरिवृत हुई—घिरी हुई । **एहाया**—स्नान कर के । **जाव**—यावत् । **विभूसिता**—सम्पूर्ण अलकारों—आभूषणों से विभूषित हो कर । **विपुलं**—विपुल—पर्याप्त । **असणं ४**—अशनादि खाद्य पदार्थों । **सुरं च ५**—और सुरा आदि पचविध मद्यो का । **आसादेमाणी ४**—आस्वादन, विस्वादन आदि करती हुई । **विहरति**—विहरण कर रही है । **जिमियभुत्तुत्तरागया**—भोजन करने के अनन्तर उचित स्थान पर आकर । **पुरिसणेवत्थिया**—पुरुष के वेष से युक्त । **सन्नद्ध-बद्ध०**—दृढबन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच—लोहमय बखतर विशेष को शरीर पर धारण किये हुए । **जाव**—यावत् । **आहिंडेमाणी**—भ्रमण करती हुई । **दोहलं** दोहद को । **विणेति**—पूर्ण करती है । **तते णं**—तदनन्तर । **सा खंदसिरी भारिया**—वह स्कन्दश्री भार्या । **सपुण्णदोहला**—सम्पूर्णदोहदा अर्थात् जिस का दोहद पूर्ण हो गया है । **संमाणियदोहला**—सम्मानितदोहदा अर्थात् इच्छित पदार्थ ला कर देने के कारण जिस के दोहद का सन्मान किया गया है । **विणीयदोहला**— विनीतदोहदा अर्थात् अभिलाषा के निवृत्ति होने से जिस के दोहद की निवृत्ति हो गई है । **वोच्छिन्नदोहला**—व्युच्छिन्नदोहदा अर्थात् दोहद—इच्छित वस्तु की आसक्ति न रहने से उस का दोहद व्युच्छिन्न (आसक्ति—रहित) हो गया है । **सम्पन्नदोहला**—सम्पन्नदोहदा अर्थात् अभिलषित अर्थ—धनादि और भोग—इन्द्रियों के विषय से सम्पादित आनन्द की प्राप्ति होने से जिस का दोहद सम्पन्न हो गया है । **तं**—उस । **गब्भं**—गर्भ को । **सुहंसुहेणं**—सुख—पूर्वक । **परिवहति**—धारण करने लगी । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—उस । **खंदसिरी**—स्कन्दश्री । **चोरसेणावतिणी**—चोरसेनापति की स्त्री ने । **नवण्हं मासाणं**—नव मास के । **बहुपडिपुण्णाणं**—परिपूर्ण होने पर । **दारगं**—बालक को । **पयाता**—जन्म दिया ।

मूलार्थ—तदनन्तर विजयनामक चोरसेनापति ने आर्तध्यान करती हुई स्कन्दश्री को देख कर इस प्रकार कहा—

हे सुभगे ! तुम उदास हुई आर्तध्यान क्यों कर रही हो ? स्कन्दश्री ने विजय के उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा कि स्वामिन् ! मुझे गर्भ धारण किये हुए तीन मास हो चुके हैं, अब मुझे यह (पूर्वोक्त) दोहद (गर्भिणी स्त्री का मनोरथ) उत्पन्न हुआ है, उसके पूर्ण न होने पर, कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से रहित हुई यावत् मैं आर्तध्यान कर रही हू । तब विजय चोरसेनापति अपनी स्कन्दश्री भार्या के पास से यह कथन सुन और उस पर विचार कर स्कन्दश्री भार्या के प्रति इस प्रकार कहने लगा कि —हे प्रिये ! तुम इस दोहद की यथारुचि पूर्ति कर सकती हो और इसके लिये कोई चिन्ता मत करो ।

पति के इस वचन को सुन कर स्कन्दश्री को बडी प्रसन्नता हुई और वह हर्षातिरेक से अपनी सहचारियों तथा अन्य चोरमहिलाओं को साथ ले स्नानादि से निवृत्त हो, सम्पूर्ण अलकारों से विभूषित हो कर, विपुल अशन पानादि तथा सुरा आदि का आस्वादन, विस्वादन आदि करने लगी । इस प्रकार सब के साथ भोजन करने के अनन्तर उचित स्थान पर आकर

पुरुषवेष से युक्त हो तथा दृढ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को शरीर पर धारण कर के यावत् भ्रमण करती हुई अपने दोहद की पूर्ति करती है।

तदनन्तर वह स्कन्दश्री दोहद के सम्पूर्ण होने, समानित होने, विनीत होने, व्युच्छिन्न-अनुबन्ध—(निरन्तर इच्छा-आसक्ति) रहित अथच सम्पन्न होने पर अपने उस गर्भ को सुखपूर्वक धारण करती है। तत्पश्चात् उस चोरसेनापत्नी स्कन्दश्री ने नौ मास के पूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया।

टीका—किसी दिन चोरसेनापति विजय जब घर में आया तो उसने अपनी भार्या स्कन्दश्री को किसी और ही रूप में देखा, वह अत्यन्त कृश हो रही है, उस का मुखकमल मुर्झा गया है, शरीर का रग पीला पड़ गया है और चेहरा कान्तिशून्य हो गया है। तथा वह उसे चिन्ताग्रस्त मन से आर्तध्यान करती हुई दिखाई दी।

स्कन्दश्री की इस अवस्था को देख कर विजय को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बड़े अधीर मन से उसकी इस दशा का कारण पूछा और कहा कि प्रिये! तुम्हारी ऐसी शोचनीय दशा क्यों हुई? क्या किसी ने तुम्हें अनुचित वचन कहा है? अथवा तुम किसी रोगविशेष से अभिभूत हो रही हो? तुम्हारे मुखकमल की वह शोभा, न जाने कहा चली गई? तुम्हारा रूपलावण्य सब लुप्त सा हो गया है। प्रिये! कहो, ऐसा क्यों हुआ? क्या कोई आन्तरिक कष्ट है?

पतिदेव के इस सभाषण से थोडी सी आश्वसित हुई स्कन्दश्री बोली, प्राणनाथ! मुझे गर्भ धारण किये तीन मास हो चुके हैं, इस अवसर मे मेरे हृदय मे यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि—वे मातायें ही धन्य तथा पुण्यशालिनी हैं कि जो अपनी सहचरियों के साथ यथारुचि सानन्द सहभोज करती हैं और पुरुष-वेष को धारण कर सैनिकों की भाति अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित हो नाना प्रकार के शब्द करती हुई आनन्द पूर्वक जगलों में विचरती हैं, परन्तु मैं बडी हतभाग्य हू, जिसका यह सकल्प पूरा नहीं हो पाया।

प्राणनाथ! यही विचार है जिस ने मुझे इस दशा को प्राप्त कराया। खाना मेरा छूट गया, पीना मेरा नहीं रहा, हसने को दिल नहीं करता, बोलने को जी नहीं चाहता, न रात को नींद है, न दिन को शान्ति। सारांश यह है कि इन्हीं विचारों में ओतप्रोत हुई मैं आर्तध्यान में समय व्यतीत कर रही हूँ।

स्कन्दश्री के इन दीनवचनों को सुनकर विजय के हृदय को बडी ठेस पहुँची। कारण कि उस के लिये यह सब कुछ एक साधारण सी बात थी, जिसके लिये स्कन्दश्री को इतना शारीरिक और मानसिक दुःख उठाना पड़ा। उसका एक जीवन साथी उसकी उपस्थिति मे इतना दुःखी और वह भी एक साधारण सी बात के लिये, यह उसे सर्वथा असह्य था। उसे दुःख भी हुआ और आश्चर्य भी। दुःख तो इस लिये कि उसने स्कन्दश्री की ओर पर्याप्त ध्यान देने मे प्रमाद किया, और आश्चर्य इसलिये कि इतनी साधारण सी बात का उसने स्वय प्रबन्ध न कर लिया। अस्तु, वह पूरा २ आश्वासन देता हुआ अपनी प्रिय भार्या स्कन्दश्री से बोला कि—

प्रिये! उठो, इस चिन्ता को छोडो, तुम्हें पूरी २ स्वतन्त्रता है तुम जिस तरह चाहो, वैसा ही करो। उस मे जो कुछ भी कमी रहे, उसकी पूर्ति करना मेरा काम है। तुम अपनी इच्छा के अनुसार सम्बन्धिजनों को निमत्रण दे सकती हो, यहां की चोरमहिलाओं को बुला सकती हो, और पुरुष के वेष में यथेच्छ विहार कर सकती हो। अधिक क्या कहूं, तुम को अपने इस दोहद की यथेच्छ पूर्ति के लिये

पूरी पूरी स्वतन्त्रता है, उस मे किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं होगा। जिस २ वस्तु की तुम्हें आवश्यकता होगी वह तुम्हें समय पर बराबर मिलती रहेगी। इस सारे विचार—सन्दर्भ को सूत्रकार ने **"अहासुहं देवाणुप्पिए !"**—इस अकेले वाक्य में ओतप्रोत कर दिया है।

इस प्रकार पति के सप्रेम तथा सादर आश्वासन को पाकर स्कन्दश्री की सारी मुर्झाई हुई आशालताएं सजीव सी हो उठीं। उसे पतिदेव की तरफ से आशा से कहीं अधिक आश्वासन मिला। पतिदेव की स्वीकृति मिलते ही उसके सारे कष्ट दूर हो गये। वह एकदम हर्षातिरेक से पुलकित हो गई। बस, अब क्या देर थी। अपनी सहचरियों तथा अन्य सम्बन्धिजनों को बुला लिया। दोहद—पूर्ति के सारे साधन एकत्रित हो गये। सब से प्रथम उसने अपनी सहेलियों तथा अन्य सम्बन्धिजनों की महिलाओं के साथ विविध प्रकार के भोजनों का उपभोग किया। सहभोज के अनन्तर सभी एकत्रित होकर किसी निश्चित स्थान में गईं। सभी ने पुरुष—वेष से अपने आप को विभूषित करके सैनिकों की भान्ति अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित किया और सैनिकों या शिकारी लोगों की तरह धनुष को चढ़ा कर नाना प्रकार के शब्द करती हुई वे शालाटवी नामक चोरपल्ली के चारों ओर भ्रमण करने लगीं।

इस प्रकार अपने दोहद की यथेच्छ पूर्ति हो जाने पर स्कन्दश्री अपने गर्भ का यथाविधि बड़े आनन्द और उत्साह के साथ पालन पोषण करने लगी। तदनन्तर नौ मास पूरे हो जाने पर उसने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया।

इस कथा—सन्दर्भ में गर्भवती स्त्री के दोहद की पूर्ति कितनी आवश्यक तथा उसकी अपूर्ति से उसके शरीर तथा गर्भ पर कितना विपरीत प्रभाव पड़ता है—इत्यादि बातों के परिचय के लिये पर्याप्त सामग्री मिल जाती है।

"समाणी हट्ठ० वहहि"—यहां के बिन्दु से—**तुट्ठचित्तमाणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाणहियया, धाराहयकलंबुगं पिव, समुस्ससिअरोमकूवा**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का भावार्थ निम्नोक्त है—

(१) **हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया**—हृष्टतुष्टचित्तानन्दिता, हृष्ट हर्षित हर्षयुक्त' दोहदपूर्त्याश्वासनेन अतीव प्रमुदित, तुष्ट सन्तोषोपेत, धन्याऽहं यन्मे पति मदीयं दोहदं पूरयिष्यतीति कृतकृत्यम्, हृष्टं तुष्टं च यच्चित्तं तेनानन्दिता, हृष्टतुष्टचित्तानन्दिता—अर्थात् विजयसेन चोरसेनापति द्वारा दोहद की पूर्ति का आश्वासन मिलने से हृष्ट और "—मैं धन्य हूं जो मेरे पतिदेव मेरे दोहद की पूर्ति करेंगे—" इस विचार से सन्तुष्ट चित्त के कारण वह स्कन्दश्री अत्यन्त आनन्दित हुई।

अथवा—हर्ष को प्राप्त हृष्ट और सन्तोष को उपलब्ध तुष्ट—कृतकृत्य चित्त होने के कारण जो आनन्द को प्राप्त कर रही है, उसे **हृष्टतुष्टचित्तानन्दिता"** कहते हैं। चित्त के हृष्ट एवं तुष्ट होने के कारण यथा—प्रसङ्ग भिन्न २ समझ लेने चाहिए।

अथवा—हृष्टतुष्ट-अत्यन्त प्रमोद से युक्त चित्त होने के कारण जो आनन्दानुभव कर रही है, उसे **"हृष्टतुष्टचित्तानन्दिता"** कहते हैं।

(२) **पीइमणा**—प्रीतिमना, प्रीतिस्तृप्तिः उत्तमवस्तुप्राप्तिरूपा सा मनसि यस्या सा प्रीतमना—तृप्तचित्ता—अर्थात् जिस का मन अभिलषित उत्तम पदार्थों की प्राप्तिरूप तृप्ति को उपलब्ध कर रहा है, उस स्त्री को **प्रीतमना** कहते हैं।

(३) "—**परमसोमणस्सिया**—परमसौमनस्यिता, सातिशयप्रमोदभावमापन्ना—" अर्थात् अत्यन्त हर्षातिरेक को प्राप्त **परमसौमनस्यिता** कही जाती है।

(४) **हरिसवसविसप्पमाणहियया**—हर्षवशविसर्पद्धृदया, हर्षवशाद् विसर्पद् विस्तारयायि हृदय—मनो यस्या सा हर्षवशविसर्पद्धृदया—" अर्थात् हर्ष के कारण जिस का हृदय विस्तृत—विस्तार को प्राप्त हो गया है। तात्पर्य यह है कि हर्षातिरेक से जिसका हृदय उछल रहा है, उस स्त्री को **हर्ष वश-विसर्पद्-हृदया** कहते हैं।

(५) **धाराहयकलम्बुगं पिव समुस्ससियरोमकूवा**—धाराहतकदम्बकमिव समुच्छ्वसितरोमकूपा, धाराभि मेघवारिधाराभि आहत यत् कदम्बपुष्प तदिव समुच्छ्वसितानि समुत्थितानि रोमाणि कूपेषु—रोमरन्ध्रेषु यस्या सा—अर्थात् मेघ—जल की धाराओ से आहत कदम्ब—(देवताड नामक वृक्ष के) पुष्प के समान जो हर्ष के कारण रोमाञ्चित हो रही है।

"—**मित्त० जाव अण्णाहि**—"यहा पठित **जाव-यावत** पद से—**णाइ-नियग-सयण-संबन्धि-परियण—महिलाहिं**—इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये। ज्ञाति आदि पदों की व्याख्या पृष्ठ १५० के टिप्पण में कर दी गई है।

"—**ण्हाया जाव विभूसिता**—"यहा पठित **जाव-यावत्** पद से "—**कयबलिकम्मा कयको-उयमंगलपायच्छित्ता, सव्वालंकार**—" इन पदो का ग्रहण अभिमत है। कृतबलिकर्मा और कृतकौ—तुकमगलप्रायश्चित्त इन दोनो पदों की व्याख्या पृष्ठ १७६ और १७७ पर कर दी गई है सर्वालंकारविभूषित पद का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है।

"—**सन्नद्धबद्ध जाव आहिंडेमाणी**—यहा पठित **जाव यावत्** पद से '—**वम्मियकवया, उप्पीलियसरासणपट्टिया**—से ले कर—**गहियाउहपहरणा भरिएहिं फलएहिं**—" से लेकर '—**चोर-पल्लीए सव्वओ समन्ता ओलोएमाणी**—इन पदो का ग्रहण समझना चाहिये। —**सन्नद्धबद्धवम्मिय-कवया** इत्यादि पदों की व्याख्या पृष्ठ १२४ तथा **भरिएहिं** इत्यादि पदो की व्याख्या पृष्ठ २१९ पर कर दी गई है।

प्रस्तुत सूत्र में "—**संपुण्णदोहला, संमाणियदोहला, विणीयदोहला, वोच्छिण्णदोहला, संपन्नदोहला**—" ये पाच पद प्रयुक्त हुए हैं। यदि इन के अर्थों पर कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो ये समानार्थ से ही जान पड़ते हैं, इन मे अर्थ—भेद बहुत कम है, इन का उल्लेख दोहद की विशिष्ट पूर्ति के सूचनार्थ ही दिया हो, ऐसा अधिक सम्भव है। तथापि इन में जो अर्थगत सूक्ष्म भेद रहा हुआ है, उसे पदार्थ मे दिखला दिया गया है।

अब सूत्रकार उत्पन्न बालक की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हैं—

मूल—[1] तते णं विजए चोरसेणावती तस्स दारगस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं

---

(१) छाया—तत विजयश्चोरसेनापतिस्तस्य दारकस्य महता ऋद्धिसत्कारसमुदयेन दशरात्र स्थितिपतितं करोति। तत स विजयश्चोरसेनापतिस्तस्य दारकस्यैकादशे दिवसे विपुलमशनम् ४ उपस्कारयति, मित्रज्ञाति० आमन्त्रयति, आमन्त्र्य यावत् तस्यैव मित्रज्ञाति० पुरत एवमवादीत् यस्मादस्माकमस्मिन् दारके गर्भगते सति अयमेतद्रूपो दोहद० प्रादुर्भूत। तस्माद् भवतु अस्माक दारकोऽभग्नसेनो नाम्ना, तत सोऽभग्नसेन कुमार. पञ्चधात्री० यावत् परिवर्द्धते।

दसरत्त ठितिवडियं करेति। तते णं से विजए चोरसेणावती तस्स दारगस्स एक्कारसमे दिवसे असणं ४ उवक्खडावेति, मित्तनाति० आमंतेति २ जाव तस्सेव मित्तनाति० पुरओ एव वयासी—जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि समाणंसि इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूते, तम्हा णं होउ, अम्हं दारए अभग्गसेणे णामेणं। तते णं से अभग्गसेणे कुमारे पंचधाई० जाव परिवड्ढति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। विजए—विजय नाम। चोरसेणावती—चोरसेनापति। तस्स—उस। दारगस्स—बालक का। महया—महान। इड्ढीसक्कारसमुदएणं—ऋद्धि—वस्त्र सुवर्णादि, सत्कार—सम्मान के समुदाय से। दसरत्तं—दस दिन तक। ठिइवडियं—स्थिति—पतित—कुलक्रमागत उत्सव—विशेष। करेति—करता है। तते णं—तदनन्तर। से—वह। विजए—विजय। चोरसेणावती—चोरसेनापति। तस्स दारगस्स—उस बालक के। एक्कारसमे—एकादशवें। दिवसे—दिन। विपुलं—महान्। असणं ४—अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम को। उवक्खडावेति—तैयार कराता है, तथा। मित्तनाति०—मित्र, ज्ञाति, स्वजन आदि लोगों को। आमंतेति—आमन्त्रित करता है। जाव[1]—यावत्। तस्सेव—उसी। मित्तनाति०—मित्र और ज्ञाति

(१)—मित्तनाति० आमंतेति जाव तस्सेव—यहां के बिन्दु से—णियगसयणसंबन्धि—परियणं—इस पाठ का ग्रहण करना और जाव—यावत्—से "—तओ पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं पवराइं परिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकिय—सरीरे भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगए तेणं मित्तनाइनियगसंबन्धिपरिजणेणं सद्धिं तं विउलं असणपाणखाइमसाइमं आसाएमाणे विसाएमाणे परिभुंजेमाणे परिभाएमाणे विहरति जिमिअभुत्तुत्तरागए वि अ णं समाणे आयते चोक्खे परमसुइभूए तं मित्तनाइनियगसयणसम्बन्धिपरिजणं विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति सम्माणेति सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्तनाइनियगसयणसम्बन्धिपरिजणस्स—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ निम्नोक्त है—

उसके अनन्तर उस ने स्नान किया, [1]बलिकर्म किया, दुष्ट स्वप्नों के फल को निष्फल करने के लिए प्रायश्चित्त के रूप में मस्तक पर तिलक और अन्य मांगलिक कार्य किये, शुद्ध तथा सभा आदि में प्रवेश करने के योग्य, मंगल—पवित्र एवं प्रधान—उत्तम वस्त्र धारण किये और मूल्य में अधिक और भार में हलके हों, ऐसे आभूषणों से शरीर को अलंकृत—विभूषित किया, तदनन्तर भोजन के समय पर भोजन—मण्डप (वह मण्डप जहां भोजन का प्रबन्ध किया गया था) में उपस्थित हो कर वह विजय उत्तम एवं सुखोत्पादक आसन पर बैठ गया और उन मित्रों[2], ज्ञातिजनों निजजनों सम्बन्धिजनों और परिजनों के साथ विपुल (पर्याप्त) अशन—दाल रोटी आदि पान—पानी आदि पेय पदार्थ, खादिम—ग्राम मेवे आदि और मिठाई आदि पदार्थ तथा स्वादिम-पान सुपारी आदि पदार्थ का आस्वादन (थोड़ा सा खाना और बहुत सा छोड़ देना इक्षु खण्ड गन्ने—की भांति), विस्वादन (बहुत खाना और थोड़ा छोड़ना, जैसे खजूर आदि) परिभोग (जिस में सर्वांश खाने के काम आए, जैसे रोटी आदि) और परिभाजन (एक दूसरे को देना) करता हुआ विहरण करने लगा। भोजन करने के

(१) बलिकर्म—शब्द की व्याख्या पृष्ठ १७६ पर कर दी गई है।
(२) मित्र, ज्ञाति—आदि पदों के अर्थ के लिए देखो पृष्ठ—१५०।

जनों के । **पुरओ**—सामने । **एव**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगा । **जम्हा णं**—जिस कारण । **अम्हं**—हमारे । **इमंसि**-इस । **दारगंसि**—बालक के । **गब्भगयसि समाणंसि**—गर्भ मे आने पर । **इमे**—यह । **एयारूवे**—इस प्रकार का । **दोहले**—दोहद—गर्भिणी स्त्री का मनोरथ । **पाउब्भूते**—उत्पन्न हुआ और वह सब तरह से अभग्न रहा । **तम्हा णं**—इस लिए । **अम्हं**—हमारा । **दारए**—बालक । **अभग्गसेणे**—अभग्नमेन । **नामेणं**—इस नाम से । **होउ**—हो अर्थात् इस बालक का "**अभग्नसेन**" यह नाम रखा जाता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **अभग्गसेणे**—अभग्न-सेन । **कुमारे**—कुमार । [1]**पचधाई० जाव—५** धायमाताओ यावत् अर्थात् क्षीरधात्री—दूधपिलाने वाली मज्जनधात्री—स्नान कराने वाली, मडनधात्री—अलकृत करने वाली, क्रीडापनधात्री—खेल खिलाने वाली और अ कधात्री—गोद मे रखने वाली, इन पाच धाय माताओं के द्वारा पोषित होता हुआ वह। **परिवड्ढति**—वृद्धि को प्राप्त होने लगा ।

मूलार्थ—विजय नामक चोरसेनापति ने उस बालक का दशदिन पर्यन्त महान् वैभव के साथ स्थितिपातत—कुल क्रमागत उत्सव—विशेष मनाया । ग्यारहवें दिन विपुल अशनादि सामग्री का संग्रह किया और मित्र, ज्ञाति, स्वजन आदि लोगों को आमंत्रित किया और उन्हे सत्कार—पूर्वक जिमाया। तत्पश्चात् यावत् उनके समक्ष कहने लगा कि—भद्र पुरुषो ! जिस समय यह बालक गर्भ मे आया था, उस समय इस की माता को एक दोहद उत्पन्न हुआ था (जिस का वर्णन पीछे कर दिया गया है)। उस को भग्न नहीं होने दिया गया, तात्पर्य यह है कि इस बालक की माता को जो दोहद उत्पन्न हुआ था, वह अभग्न रहा अर्थात् निर्विघ्नता से पूरा कर दिया गया। इसलिये इस बालक का "अभग्नसेन" यह नामकरण किया जाता है। तदनन्तर वह अभग्नसेन बालक क्षीरधात्री आदि पाच धाय माताओ के द्वारा पोषित होता हुआ यावत् वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

टीका—पुत्र का जन्म भी माता पिता के लिये अथाह हर्ष का कारण होता है। पिता की अपेक्षा माता को पुत्र—प्राप्ति मे और भी अधिक प्रमोदानुभूति होती है, क्योंकि पुत्र—प्राप्ति के लिये वह (माता) तो अपने हृदय को दृढ बना कर कभी २ असभव को भी संभव बना देने का भगीरथ प्रयत्न करने से नहीं चूकती। ऐसी माता यदि अपने विचारों को सफलता के रूप में पाए तो वर्षा के अनन्तर विकसित कमल की भान्ति पुलकित हो उठती है, और वह स्वाभिमान मे फूली नहीं समाती । प्रसन्नता का कारण उस की बहुत दिनो से गु थी हुई विचारमाला का गले मे पड जाना

अनन्तर यथोचित स्थान पर आया और आकर आचान्त—आचमन (शुद्ध जल के द्वारा मुखादि की शुद्धि) किया, चोक्ष—मुखगत लेपादि को दूर करके शुद्धि की, इसी लिए परमशुद्ध हुआ वह विजय चोरसेनापति उन मित्रों, ज्ञातिजनो, निजजनो, स्वजनो, सम्बन्धिजनों और परिजनों का बहुत से पुष्पों वस्त्रों, सुगन्धित पदार्थों मालाओ और अलकारों—आभूषणो के द्वारा सत्कार एव सम्मान करता है, तदनन्तर उन मित्रों, ज्ञातिजनों आदि लोगो के सामने इस प्रकार कहता है ।

(१) "—**पंचधाई० जाव परिवड्ढति**—" यहा पठित '—**जाव-यावत्**—' पद से '—**परिग्गहिते तंजहा—खीरधातीए मज्जण०**—' से ले कर '—**चंपयपायवे सुहंसुहेणं**—' यहा तक के पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १५८ पर दिया जा चुका है।

ही समझना चाहिये। आज स्कन्दश्री भी उन्ही महिलाओं मे से है, जिनका हृदय प्रफुल्लित सरोज की भान्ति प्रसन्न है। स्कन्दश्री अपने नवजात शिशु की मुखाकृति का अवलोकन करके प्रसन्नता के मारे फूली नहीं समाती। पुत्र के जन्म से सारे घर में तथा परिवार में खुशी मनाई जा रही है।

आज विजय के हर्ष की भी कोई सीमा नहीं, बधाई देने वालो को वह जी खोल कर द्रव्य तथा वस्त्र भूषणादि दे रहा है और बालक के जन्म दिन से लेकर दस दिन पर्यन्त उत्सव मनाने का आयोजन भी बड़े उत्साह के साथ किया जा रहा है। जन्मोत्सव मनाने के लिये एक विशाल मण्डप तैयार किया गया, सभी मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों को आमन्त्रित किया गया। सभी लोग उत्साहपूर्वक नवजात शिशु के जन्मोत्सव मे समिलित हुए और सब ने विजय को बधाई देते हुए बालक के दीर्घायु होने की शुभेच्छा प्रकट की। तदनन्तर विजय चोरसेनापति ने ग्यारहवें दिन सब को सहभोज दिया अर्थात् विविध भान्ति के [1]अशन पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों से अपने मित्रों, ज्ञातिजनों तथा अन्य पारिवारिक व्यक्तियो को प्रेम पूर्वक जिमाया। इधर स्कन्दश्री की सहचरियों ने भी बाहिर से आई हुई महिलाओं के स्वागत मे किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी। भोजनादि से निवृत्त होकर सभी उत्सव मण्डप मे पधारे और यथास्थान बैठ गये। सब के बैठ जाने पर विजय सेनापति ने आगन्तुओं का स्वागत करते हुए कहा—

आदरणीय बन्धुओ! आप सज्जनों का यहा पर पधारना मेरे लिये बडे गौरव और सौभाग्य की बात है, तदर्थ मैं आपका अधिक से अधिक आभारी हूँ। विशेष बात यह है कि जिस समय यह बालक गर्भ में आया था उस समय इस की माता स्कन्दश्री को एक दोहद उत्पन्न हुआ था। (इसके बाद उसने दोहद—सम्बन्धी सारा वृत्तान्त कह सुनाया)। उसकी पूर्ति भी यथाशक्ति कर दी गई थी, दूसरे शब्दो मे—उस दोहद को भग्न नहीं होने दिया गया अर्थात् स्कन्दश्री का वह दोहद अभग्न रहा। इसी कारण—दोहद के अभग्न होने से आज मैं इस बालक का "**अभग्नसेन**" यह नाम—करण करता हूँ, आशा है आप सब इस मे सम्मत होंगे और किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी।

विजय सेनापति के इस प्रस्ताव का सभी उपस्थित सभ्यो ने खुले दिल से समर्थन किया और सब ने "**अभग्नसेन**" इस नाम की उद्घोषणा की। तथा सब लोग बालक अभग्नसेन को शुभाशीर्वाद देते हुए अपने २ घरो को चले गये।

तदनन्तर कुमार अभग्नसेन की सारसभाल के लिये पाच धाय मातायें नियुक्त कर दी गई। वह उनके सरक्षण में शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की भान्ति बढने लगा।

प्रस्तुत सूत्रगत—"**इड्ढिसक्कारसमुदएणं**" तथा "**दसरत्तं ठितिवडियं**" इन दोनों की व्याख्या करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि इस प्रकार लिखते हैं—

"**ऋद्ध्या—वस्त्रसुवर्णादिसम्पदा, सत्कारः—पूजाविशेषस्तस्य समुदय समुदायो य स तथा। दशरात्रं यावत् स्थितिपतितं—कुलक्रमागतं पुत्रजन्मानुष्ठानं तत्**"। अर्थात् ऋद्धि शब्द से वस्त्र तथा सुवर्णादि सम्पत्ति अभिप्रेत है और पूजा—विशेष को सत्कार कहते है, एव समूह का नाम समुदाय है। कुलक्रमागत-कुल परम्परा से चले आने वाले पुत्रजन्मसबन्धी अनुष्ठानविशेष को स्थितिपतित कहते हैं, जोकि दश दिन मे सपन्न होता है।

---

(१) इन पदों का अर्थ पृष्ठ ४८ के टिप्पण लिखा जा चुका है।

अब सूत्रकार कुमार अभग्नसेन की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हैं—

मूल—[1] तते ण से अभग्गसेणकुमारे उम्मुक्कबालभावे यावि होत्था, अट्ठ दारियाओ जाव अट्ठओ दाओ उप्पिं० भुंजति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। से—वह। अभग्गसेणकुमारे—अभग्नसेनकुमार। उम्मुक्कबालभावे यावि होत्था—बालभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त हो गया था तब उस का। अट्ठ दारियाओ—आठ लडकियों के साथ। जाव—यावत् विवाह किया गया, तथा उसे। अट्ठओ—आठ प्रकार का। दाओ—प्रीतिदान—दहेज प्राप्त हुआ, वह। उप्पिं०—महलों के ऊपर। भुंजति—उन का उपभोग करने लगा।

मूलार्थ—तदनन्तर कुमार अभग्नसेन ने बालभाव को त्याग कर युवावस्था मे प्रवेश किया, तथा आठ लडकियो के साथ उस का पाणिग्रहण—विवाह किया गया। उस विवाह मे आठ प्रकार का उसे दहेज मिला और वह महलों मे रह कर सानन्द उस का उपभोग करने लगा।

टीका—पतितपावन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्री गौतम से कहते है कि गौतम! इस प्रकार पाचो धायमाताओं के यथाविधि सरक्षण में बढता और फलता फूलता हुआ कुमार अभग्नसेन जब बालभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उस का शरीरगत सौन्दर्य और भी चमक उठा। उस को देख कर प्रत्येक नरनारी मोहित हो जाता, हर एक का मन उस के रूपलावण्य की ओर आकर्षित होता और विशेष कर युवतिजनो का मन उस की ओर अधिक से अधिक खिंचता। उसी के फलस्वरूप वहा के आठ प्रतिष्ठित घरों की कन्याओ के साथ उस का पाणिग्रहण हुआ। और आठों के यहा से उस को आठ २ प्रकार का पर्याप्त दहेज मिला, जिस को ले कर वह उन आठों कन्याओं के साथ अपने विशाल महल मे रह कर सासारिक विषय—भोगो का यथारुचि उपभोग करने लगा। अथवा यू कहिये कि उन आठ सुन्दरियो के साथ विशालकाय भवनों में रह कर आनन्द—पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

यहा एक शंका हो सकती है, वह यह कि—जब अभग्नसेन के जीव ने पूर्व जन्म मे भयकर दुष्कर्म किये थे, तो उन का फल भी बुरा ही मिलना चाहिये था, परन्तु हम देखते हैं कि उसकी शैशव तथा युवावस्था मे उस के लालन पालन का समुचित प्रबन्ध तथा प्रतिष्ठित घराने की रूपवती आठ कन्याओं से उस का पाणिग्रहण एव दहेज मे विविध भान्ति के अमूल्य पदार्थो की उपलब्धि और उन का यथारुचि उपभोग, यह सब कुछ तो उस को महान पुण्यशाली व्यक्ति प्रमाणित कर रहा है!

यह शका ऊपराऊपरि देखने से तो अवश्य उचित और युक्तिसगत प्रतीत होती है, परन्तु जरा गम्भीर—दृष्टि से देखेंगे तो इस मे न तो उतना औचित्य ही है और न युक्तिसगतता।

यह तो सुनिश्चित ही है कि इस जीव को ऐहिक या पारलौकिक जितना भी सुख या दु:ख उपलब्ध होता है, वह उस के पूर्व सचित शुभाशुभ कर्मो का परिणाम है। और यह भी

(१) छाया—तत. सोऽभग्नसेनकुमार. उन्मुक्तबालभावश्चाप्यभवत्, अष्ट दारिका, यावदष्टको दायो, उपरि० भुक्ते।

यथार्थ है कि संसारी आत्मा अपने अध्यवसाय के अनुसार शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का बन्ध करता है । सत्तागत कर्मों में शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म होते हैं । उन में से जो कर्म जिस समय उदय में आता है, उस समय वह फल देता है। अगर शुभ कर्म का विपाकोदय हो तो इस जीव को सुख तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और अशुभ कर्म के विपाकोदय में दुःख तथा दरिद्रता की उपलब्धि होती है । हम संसार में यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि एक ही जन्म में अनेक जीव समय २ पर सुख तथा ऐश्वर्य और दुःख तथा दरिद्रता दोनों को ही प्राप्त कर रहे हैं । एक व्यक्ति जो आज हर प्रकार से दुःखी है कल वही सर्व प्रकार से सुखी बना हुआ दिखाई देता है और जो आज परम—सुखी नजर आता है कल वही दुःख से घिरा हुआ दृष्टिगोचर होता है । यदि यह सब कुछ कर्माधीन ही है तो यह मानना पड़ेगा कि जीव के स्वोपार्जित कर्मों में से शुभाशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म अपने २ विपाकोदय में फल देते हैं और स्थिति पूरी होने पर फल दे कर निवृत्त हो जाते हैं ।

अभग्नसेन को शिशु—काल में जो सुख मिल रहा है, वह उसके प्राक्तन किसी शुभ कर्म का फल है, और युवावस्था में उस को जो सांसारिक सुखों के उपभोग की विपुल सामग्री मिली है, वह भी उसके सत्तागत कर्मों के उदय में आये हुए किसी पुण्य[1] का ही परिणाम है । इसके अनन्तर पुण्यकर्म के समाप्त हो जाने पर जब उसके अशुभ कर्म का विपाकोदय होगा, तो उसे दुःख भी अवश्य भोगना पड़ेगा । कर्म शुभ हो या अशुभ एक बार उस का बन्ध हो जाने पर अगर उस की निर्जरा नहीं हुई तो वह फल अवश्य देगा और देगा तब जब कि वह उदय

---

(१) किसी भी व्यक्ति की मात्र पापमयी प्रवृत्ति के दिग्दर्शन कराने का यह अर्थ नहीं होता कि उस के जीवन में पुण्यमयी प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव ही रहता है । अत: अभग्नसेन ने निर्णय के भव में मात्र पापकर्म की ही उपार्जना की थी, पुण्य का उसके जीवन में कोई भी अवसर नहीं आने पाया, अथवा निर्णय से पूर्व के भवों में उसके जीवन में सत्तारूपेण पुण्यकर्म नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा ही होता तो अभग्नसेन के भव में उसे देव—दुर्लभ मानव भव और निर्दोष पांचों इन्द्रियों का प्राप्त होना, पांच धाय माताओं के द्वारा लालन पालन, आठ कन्याओं का पाणिग्रहण, एवं अन्य मनुष्य—सम्बन्धी ऐश्वर्य का उपभोग इत्यादि पुण्य-लब्ध सामग्री की प्राप्ति न हो पाती। अतः अभग्नसेन के कर्मों में सत्तारूपेण पुण्य प्रकृति भी थी, यह मानना ही होगा।

हां, यह ठीक है कि जब पुण्य उदय में और पाप सत्तारूप में होता है तब पुण्य के प्रभाव से व्यक्ति का जीवन बड़ा वैभवशाली एवं आनन्दपूर्ण बन जाता है, इसके विपरीत जब पुण्य सत्तारूप में और पाप उदय में रहता है, तो वह पाप भीषण दुःखों का कारण बनता है ।

एक बात और भी है कि अभग्नसेन ने निर्णय के भव में जिन दुष्कर्मों की उपार्जना की थी उन का दण्ड उसे पर्याप्त मात्रा में तीसरी नरक में मिल चुका था, वहां उसे सात सागरोपम के बड़े लम्बे काल तक नारकीय भीषण यातनाओं का उपभोग करना पड़ा था, तब दुष्कर्मों का दण्ड भोग लेने के कारण होने वाली उसकी कर्म—निर्जरा भी उपेक्षित नहीं की जा सकती, फिर भले ही वह निर्जरा देशतः (आंशिक) भी क्यों न हो।

में आवेगा । इसी सिद्धान्त के अनुसार कुमार अभग्नसेन के शिशु कालीन सम्बन्धी सुख तथा युवावस्था के ऐश्वर्योपभोग का प्रश्न बड़ी सुगमता से समाहित हो जाता है ।

'अट्ठ दारिओ जाव अट्ठओ दाओ—" इन पदों से अभिप्रेत पदार्थ का वर्णन करते हुए वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि इस प्रकार लिखते हैं—

"अट्ठ दारियाउ त्ति" अस्यायमर्थः—तए णं तस्स अभग्गसेणस्स अम्मापियरो अभग्गसेणं कुमारं सोहणंसि तिहिकरणनक्खत्तमुहुत्तंसि अट्ठहिं दारियाहिं सद्धिं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हाविंसु त्ति। यावत्करणाच्चेदं दृश्यं—तए णं तस्स अभग्गसेणकुमारस्स अम्मापियरो इमं एयारूवं पीइदाणं दलयन्ति त्ति। "अट्ठओ दाउ त्ति" अष्ट परिमाणमस्येति अष्टको दायो-दानं 'वाच्य' इति शेषः । स चैवं "—अट्ठ हिरण्णकोडीओ, अट्ठ सुवण्णकोडीओ—इत्यादि यावद् —'अट्ठ पेसण-कारियाओ अन्नं च विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइयं संतसारसावएज्जं" । अर्थात्—मूलसूत्र में पठित—**अट्ठ दारियाओ**—यह पाठ सांकेतिक है, और वह—अभग्नसेन के युवा होने के अनन्तर माता पिता ने शुभ तिथि नक्षत्र और करणादि से युक्त शुभ मुहूर्त में अभग्नसेन का एक ही दिन में आठ कन्याओं से पाणिग्रहण—विवाहसंस्कार करवाया—इस अर्थ का संसूचक है ।

—जाव-यावत्—पद—आठ लडकियों के साथ विवाह करने के अनन्तर अभग्नसेन के माता पिता उस को इस प्रकार का (निम्नोक्त) प्रीतिदान देते हैं—इस अर्थ का परिचायक है ।

जिसका परिमाण आठ हो उसे **अष्टक** कहते हैं । दान को दूसरे शब्दों में **दाय** कहते हैं और वह इस प्रकार है—

आठ करोड का सोना दिया जो कि आभूषणों के रूप में परिणत नही था । आठ करोड का वह सुवर्ण दिया जोकि आभूषणों के रूप में परिणत था, इत्यादि से लेकर यावत् आठ दासियें तथा और भी बहुत सा धन कनक-सुवर्ण, रत्न, मणि, मोती शंख, शिलाप्रवाल—मूगा, रक्तरत्न और संसार की उत्तमोत्तम वस्तुयें तथा अन्य उत्तम द्रव्यों की प्राप्ति अभग्नसेन को विवाह के उपलक्ष्य में हुई । इन भावों को ही अभिव्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने—**अट्ठओ दाओ**— ये सांकेतिक पद संकलित किए हैं ।

"उप्पिं० भुंजति"इन पदों का अर्थ टीकाकार के शब्दों में **"—उप्पिं० भुंजति त्ति"—अस्यायमर्थः—"तए णं से अभग्गसेणे कुमारे उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं बत्तीसइबद्धेहिं नाडएहिं उवगिज्जमाणे विउले माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभव-माणे विहरइ"**—इस प्रकार है । इस का तात्पर्य यह है कि विवाह के अनन्तर कुमार अभग्नसेन उत्तम तथा विशाल प्रासाद-महल में चला जाता है, वहां मृदंग बजते हैं, वरतरुणियें—युवति स्त्रियें बत्तीस प्रकार के नाटकों द्वारा उसका गुणानुवाद करती हैं । वहां अभग्नसेन उन साधनों से सांसारिक मनुष्य—सम्बन्धी कामभोगों का यथेष्ट उपभोग करता हुआ सुख—पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा ।

तदनन्तर क्या हुआ, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[२] **तते णं से विजए चोरसेणावती अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते ।**

---

(१) **पेसणकारिया**—इस पद के तीन अर्थ पाये जाते हैं । यदि इस की छाया **"प्रेषणकारिका"** की जाए तो इस का अर्थ—**संदेशवाहिका—दूती** होता है । और यदि इसकी छाया **"पेषणकारिका"** की जाए तो—**चन्दन** घिसने वाली दासी, या **'गेहूं** आदि धान्य पीसने वाली" यह अर्थ होगा ।

(२) **छाया**—ततः स विजयश्चोरसेनापतिः अन्यदा कदाचित् कालधर्मेण संयुक्तः । ततः

तते णं से अभग्गसेणे कुमारे पंचहि चोरसतेहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे विजयस्स चोरसेणावइस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेति २ बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति २ केवइय कालेणं अप्पसोए जाते यावि होत्था, तते णं ताइं पंच चोरसयाइं अन्नया कयाइ अभग्गसेणं कुमारं सालाडवीए चारपल्लीए महया २ इड्ढी० चोरसेणावइत्ताए अभिसिंचंति। तते णं से अभग्गसेणे कुमारे चोरसेणावती जाते अहम्मिए [1]जाव कप्पायं गेण्हति।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **विजए**—विजय नामक । **चोरसेणावती**—चोरसेनापति । **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय । **कालधम्मुणा**—कालधर्म से । **संजुत्ते**—सयुक्त हुआ, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **अभग्गसेणे कुमारे**—अभग्नसेन कुमार । **पंचहिं चोरसतेहिं**—पाच सो चोरों के । **सद्धिं**—साथ । **संपरिवुड़े**—सपरि—वृत—घिरा हुआ । **रोयमाणे**—रुदन करता हुआ । **कंदमाणे**—आक्रन्दन करता हुआ, तथा । **विलवमाणे**-विलाप करता हुआ । **विजयस्स**—विजय । **चोरसेणावइस्स**—चोरसेनापति का । **महया२ इड्ढीसक्कारसमुदएणं**—अत्यधिक ऋद्धि एव सत्कार के साथ । **णीहरणं**—निरसरण । **करेति**—करता है, अर्थात् अभग्नसेन बड़े समारोह के साथ अपने पिता के शव को श्मशान भूमि में पहुचाता है, तदनन्तर । **बहूहिं**-अनेक । **लोइयाइं**—लौकिक । **मयकिच्चाइं**—मृतकसम्बधी कृत्यों को अर्थात् दाहसंस्कार से ले कर पिता के निमित्त करणीय दान, भोजनादि कर्म । **करेति**—करता है, तदनन्तर । **केवइ**—कितनेक । **कालेणं**—समय के बाद । **अप्पसोए जाते यावि होत्था**—वह अल्पशोक हुआ अर्थात् उस का शोक कुछ न्यूनता को प्राप्त हो गया था । **तते णं**—तदनन्तर । **ताइं**—उन । **पंच चोरसयाइं**—पाच सौ चोरों ने । **अन्नया कयाइ**— किसी अन्य समय । **अभग्गसेणं**—अभग्नसेन । **कुमारं**-कुमार का । **सालाडवीए**—शालाटवी नामक । **चोरपल्लीए**—चोरपल्ली मे । **महया २ इड्ढी०**— अत्यधिक ऋद्धि और सत्कार के साथ । **चोरसेणावइत्ताए अभिसिंचंति**—चोरसेनापतित्व से उस का अभिषेक करते हैं, अर्थात् अभग्नसेन को चोरसेना-पति के पद पर नियुक्त करते हैं । **तते णं**--तदनन्तर अर्थात् तब से । **से अभग्गसेणे**—वह अभग्नसेन ।

सोऽभग्नसेन. कुमार पचभिश्चोरशतै सार्द्धं संपरिवृतो रुदन् क्रन्दन् विलपन् विजयस्य चोरसेनापतेर्महता २ ऋद्धिसत्कारसमुदयेन नीहरण करोति कृत्वा बहूनि लौकिकानि मृतकृत्यानि करोति कृत्वा कीयतकालेन अल्पशोको जातश्चाप्यभवत् । ततस्तानि पचचोरशतानि अन्यदा कदाचित् अभग्नसेन कुमार शालाटव्या चोरपल्ल्या महता २ ऋद्धिसत्कारसमुदयेन चोरसेनापतितयाभिषिञ्चन्ति । ततः सोऽभग्नसेनः कुमार चोरसेनापतिर्जातोऽधार्मिको यावत् कल्पाय गृह्णाति ।

(१) " अहम्मिए जाव कप्पायं " यहां पठित **जाव—यावत्** पद से " —**अधम्मिट्ठे, अधम्मक्खाई, अधम्माणुए, अधम्मपलाई**— मे लेकर—**तज्जेमाणे २ तालेमाणे २ नित्थाणे निद्धणे निक्कणे**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिए । इन पदों का भावार्थ पृष्ठ १९३ से ले कर १९९ तक दिया गया है अन्तर केवल इतना है कि वहा विजय चोरसेनापति का नाम है, जब कि प्रस्तुत प्रकरण में अभग्नसेन का । अत. इस पाठ मे अभग्नसेन के नाम की भावना कर लेनी चाहिए ।

कुमारे—कुमार। चोरसेणावती—चोरसेनापति। जाते—बन गया, जो कि। अहम्मिए—अधर्मी। जाव—यावत्। कप्पायं—उस प्रान्त के राजदेय कर को। गेण्हति—स्वय ग्रहण करने लगा।

मूलार्थ—तत्पश्चात् किसी अन्य समय वह विजय चोरसेनापति कालधर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गया। उस की मृत्यु पर कुमार अभग्नसेन पाच सौ चोरों के साथ रोता हुआ, आक्रन्दन करता हुआ और विलाप करता हुआ अत्यधिक ऋद्धि—वैभव एव सत्कार—सम्मान अर्थात् बडे समरोह के साथ विजय सेनापति का निस्सरण करता है। तात्पर्य यह है कि बाजे आदि बजा कर अपने पिता के शव को अन्त्येष्टि कर्म करने के लिए श्मशान में पहुचाता है और वहा लौकिक मृतककार्य अर्थात दाह—सस्कार से ले कर पिता के निमित्त किये जाने वाले दान भोजनादि कार्य करता है।

कुछ समय के बाद अभग्नसेन का शोक जब कम हुआ तो उन पाच सौ चोरों ने बडे महोत्सव के साथ अभग्नसेन को शालाटवी नामक चोरपल्ली मे चोरसेनापति की पदवी से अलकृत किया। चोरसेनापति के पद पर नियुक्त हुआ अभग्नसेन अधर्म का आचरण करता हुआ यावत् उस प्रान्त के राजदेय कर को भी स्वय ग्रहण करने लग पड़ा।

टीका—संसार की कोई भी वस्तु सदा स्थिर या एक रस नहीं रहने पाती, उस का जो आज स्वरूप है कल वह नही रहता, तथा एक दिन वह अपने सारे ही दृश्यमान स्वरूप को अदृश्य के गर्भ मे छिपा लेती है। इसी नियम के अनुसार अभग्नसेन के पिता विजय चोरसेनापति भी अपनी सारी मानवी लीलाओं का सवरण करके इस असार ससार से प्रस्थान कर के अदृश्य की गोद मे जा छिपे।

सुख और दुःख ये दोनों ही मानव जीवन के सहचारी हैं, सुख के बाद दुःख और दुःख के अनन्तर सुख के आभास से मानव प्राणी अपनी जीवचर्या की नौका को ससार समुद्र मे खेता हुआ चला जाता है। कभी वह सुख—निमग्न होता है और कभी दुःख से आक्रन्दन करता है, उस की इस अवस्था का कारण उसके पूर्वसचित कर्म हैं। पुण्य कर्म के उदय से उस का—मानव का जीवन सुखमय बन जाता है और पाप कर्म के उदय से जीवन का समस्त सुख दुःख के रूप मे बदल जाता है तथा जीवन की प्रत्येक समस्या उलझ जाती है। पाप के उदय होते ही भाई, बहिन का साथ छूट जाता है, सम्बन्धिजन मुख मोड़ लेते हैं। और अधिक क्या कहे, इसके उदय से ही इस जीव पर से माता पिता जैसे अकारण बन्धुओं एव सरक्षकों का भी साया उठ जाता है। पितृविहीन अनाथ जीवन पाप का ही परिणाम—विशेष है।

अभग्नसेन भी आज पितृविहीन हो गया, उसके पिता का देहान्त हो गया। उस की सुखसम्पत्ति का अधिक भाग लुट गया, अभग्नसेन पिता की मृत्यु से अत्यन्त दुःखी होता हुआ, रोता, चिल्लाता और अत्यधिक विलाप करता है और सम्बन्धिजनो के द्वारा ढाढस बधाने पर किसी तरह से यह कुछ शान्त हुआ और पिता का दाहकर्म उसने बडे ठाठ से और पूरे उत्साह से किया। एव मृत्यु के पश्चात् किये जाने वाले—लौकिक कार्यों को भी बडी तत्परता के साथ सम्पन्न किया।

कुछ समय तो अभग्नसेन को पिता की मृत्यु से उत्पन्न हुआ शोक व्याप्त रहा, परन्तु ज्यों

ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों उस में कमी आती गई और अन्त में वह पिता को भूल ही गया। इस प्रकार शोक—विमुक्त होने पर अभग्नसेन अपनी विशाल आटवी चोरपल्ली में सुख—पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

पाठक यह तो जानते ही हैं कि अब चोरपल्ली का कोई नायक नहीं रहा। विजयसेन के अभाव में उसकी वही दशा है जोकि पति के परलोक—गमन पर एक विधवा स्त्री की होती है। चोरपल्ली की इस दशा को देख कर वहां रहने वाले पांच सौ चोरों के मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि जहां तक बने चोरपल्ली का कोई स्वामी— शासनकर्ता शीघ्र ही नियत कर लेना चाहिये। कभी ऐसा न हो कि कोई शत्रु इस पर आक्रमण कर दे और किसी नियन्ता के अभाव में हम सब मारे जायें। यह विचार हो ही रहा था कि उन में से एक वृद्ध तथा अनुभवी चोर कहने लगा कि चिन्ता की कौनसी बात है? हमारे पूर्व सेनापति विजय की सन्तान ही इस पद पर आरूढ होने का अधिकार रखती है। यह हमारा अहोभाग्य है कि हमारे सेनापति अपने पीछे एक अच्छी सन्तान छोड़ गये हैं। कुमार अभग्नसेन हर प्रकार से इस पद के योग्य हैं वे पूरे साहसी अथच नीतिनिपुण हैं। इसलिये सेनापति का यह पद उन्हीं को अर्पण किया जाना चाहिये। आशा है मेरे इस उचित प्रस्ताव का आप सब पूरे जोर से समर्थन करेंगे। बस फिर क्या था, अभग्नसेन का नाम आते ही उन्हों ने एक स्वर से वृद्ध महाशय के प्रस्ताव का समर्थन किया, और बड़े समारोह के साथ सबने मिल कर शुभ मुहूर्त में अभग्नसेन को सेनापति के पद पर नियुक्त करके अपनी स्वामी भक्ति का परिचय दिया।

तब से कुमार अभग्नसेन चोरसेनापति के नाम से विख्यात हो गया और वह चोरपल्ली का शासन भी बड़ी तत्परता से करने लगा। तथा पैतृक सम्पत्ति और पैतृक पद लेने के साथ २ अभग्नसेन ने पैतृक विचारों का भी आश्रयण किया इसी लिये वह अपने पिता की भान्ति अधर्मी, पापी एवं निर्दयता—पूर्वक जनपद (देश) को लूटने लगा। अधिक क्या कहें वह राजदेय कर—महसूल पर भी हाथ फेरने लगा।

अब सूत्रकार अभग्नसेन की अग्रिम जीवनचर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1] **तते णं जाणवया पुरिसा अभग्गसेणेण चोरसेणावतिणा बहुगामघाया-वणाहि ताविया समाणा अन्नमन्नं सद्दावेंति २ एवं वयासी-एवं खलु देवाणु० ! अभग्गसेणे चोर-**

(१) छाया—ततस्ते जानपदा पुरुषा अभग्नसेनेन चोरसेनापतिना बहुग्रामघातनाभिस्तापिता सन्त अन्योन्य शब्दाययन्ति २ एवमवदन्—एवं खलु देवानु० ! अभग्नसेनश्चोरसेनापति पुरिमतालस्य नगरस्योत्तराह जनपद बहुभिर्ग्रामघातैर्यावद् निर्धनान् कुर्वन् विहरति। तच्छ्रेय खलु देवानुप्रिया ! पुरिमताले नगरे महाबलस्य राज्ञ एतमर्थं विज्ञपयितु, ततस्ते जानपदपुरुषा एतमर्थमन्योऽन्य प्रति-शृण्वन्ति २ महार्थं महार्घं महार्हं राजार्हं प्राभृत गृह्णन्ति २ यत्रैव पुरिमताल नगर यत्रेव महाबलो राजा तत्रैवोपागता २ महाबलाय राज्ञे तद् महार्थं यावत् प्राभृतमुपनयन्ति २ करतल० अजलि कृत्वा महाबल राजान एवमवदन्।

सेणावती पुरिमतालस्स णगरस्स उत्तरिल्लं जणवयं बहूहिं गामघातेहिं [1] जाव निद्धणे करेमाणे विहरति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णगरे महब्बलस्स रएणो एतमट्ठं विन्नवित्तते, तते णं ते जाणवयपुरिसा एतमट्ठं अन्नमन्नं पडिसुणेंति २ महत्थं महग्घं महरिहं रायरिहं पाहुडं गेराहंति २ त्ता जेणेव पुरिमताले णगरे जेणेव महब्बले राया तेणेव उवागते २ महब्बलस्स रएणो तं महत्थं [2] जाव पाहुडं उवणेंति २ करयल० [3] अजलिं कट्टु महब्बलं रायं एवं वयासी ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । ते—वे । जाणवया—जनपद—देश मे रहने वाले । पुरिसा—पुरुष । अभग्गसेणेण—अभग्नसेन । चोरसेणावतिणा—चोरसेनापति के द्वारा । बहुग्गामघायावणाहि—बहुत से ग्रामों के घात—विनाश मे । ताविया—संतप्त—दुःखी । समाणा—हुए । अन्नमन्नं—एक दूसरे को । सद्दावेति २—बुलाते हैं, बुलाकर । एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगे । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । देवाणु० !—प्रिय बन्धुओ ! । अभग्गसेणे—अभग्नसेन । चोरसेणावती—चोरसेनापति । पुरिमतालस्स—पुरिमताल । णगरस्स—नगर के । उत्तरिल्लं—उत्तर—दिशा के । जणवयं—देश को । बहूहिं—अनेक । गामघातेहिं—ग्रामों के विनाश से । जाव—यावत् । निद्धणे—निर्धन—धनरहित । करेमाणे—करता हुआ । विहरति—विहरण कर रहा है । देवाणुप्पिया !—हे भद्र पुरुषो ! । तं—इस लिए । खलु—निश्चय ही । सेयं—हम को योग्य है अथवा हमारे लिये यह श्रेयस्कर है—कल्याणकारी है कि हम । पुरिमताले—पुरिमताल । णगरे—नगर में । महब्बलस्स—महाबल नामक । रएणो—राजा को । एतमट्ठं—यह बात या इस विचार को । विन्नवित्तते—विदित करें अर्थात् अवगत करें । तते णं—तदनन्तर । ते—वे । जाणवयपुरिसा—जानपदपुरुष अर्थात् उस देश के रहने वाले लोग । एतमट्ठं—यह बात या इस विचार को । अन्नमन्नं — परस्पर — आपस में । पडिसुणेंति २— स्वीकार करते हैं, स्वीकार कर के । महत्थं—महा प्रयोजन का सूचन करने वाला । महग्घं—महार्घ—बहु मूल्य वाला । महरिहं—महार्ह—महत् पुरुषों के योग्य, तथा । रायरिहं—राजार्ह—राजा के योग्य । पाहुडं—प्राभृत—उपायन—भेंट । गेराहंति २—ग्रहण करते हैं, ग्रहण करके । जेणेव—जहां । पुरिमताले—पुरिमताल । णगरे—नगर था और । जेणेव—जहां पर । महब्बले राया—महाबल राजा था । तेणेव—वहीं पर । उवागते २—आगये, आकर । मब्बलस्स—महाबल । रएणो—राजा को । तं—उस । महत्थं—महान् प्रयोजन वाले । जाव—यावत् । पाहुडं—प्राभृत—भेंट । उवणेंति २—अर्पण करते हैं अर्पण कर के । करयल०-

---

(१) "गामघातेहिं जाव निद्धणे—" यहां पठित जाव—यावत्—पद से—नगरघातेहि य गोग्गहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंथकोट्टेहि य खत्तखणणेहि य ओवीलेमाणे २ विद्धंसेमाणे २ तज्जेमाणे २ तालेमाणे २ नित्थाणे—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन पदों का शब्दार्थ १९९ पृष्ठ पर लिख दिया गया है ।

(२) "—महत्थं जाव पाहुडं—" यहां पठित जाव—यावत् पद से "—महग्घं महरिहं रायरिहं—इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये ।

(३) "—करयल० अंजलि—" यहां के बिन्दु से "—करयलपरिग्गहियं दसणहं मत्थए—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन का अर्थ पदार्थ मे दिया जारहा है ।

अंजलिं कट्टु—दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दस नखों वाली अंजली करके । **महब्बलं**—महाबल । **रायं**—राजा को । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगे ।

मूलार्थ—तदनन्तर अभग्नसेन नामक चोरसेनापति के द्वारा बहुत से ग्रामों के विनाश से सन्तप्त हुए उस देश के लोगों ने एक दूसरे को बुला कर इस प्रकार कहा—

हे बन्धुओ ! चोरसेनापति अभग्नसेन पुरिमताल नगर के उत्तर प्रदेश के बहुत से ग्रामों का विनाश करके वहां के लोगों को धन, धान्यादि से शून्य करता हुआ विहरण कर रहा है। इसलिये हे भद्रपुरुषो ! पुरिमताल नगर के महाबल नरेश को इस बात से संसूचित करना हमारा कर्तव्य बन जाता है।

तदनन्तर देश के उन मनुष्यों ने परस्पर इस बात को स्वीकार किया और महार्थ, महार्घ, महार्ह और राजार्ह प्राभृत-भेंट लेकर, जहां पर पुरिमताल नगर था और जहां पर महाबल राजा विराजमान थे, वहां पर आये और दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि रख कर महाराज को वह प्राभृत-भेंट अर्पण की तथा अर्पण करने के अनन्तर वे महाबल नरेश से इस प्रकार बोले।

टीका—प्राप्त हुई वस्तु का सदुपयोग या दुरुपयोग करना पुरुष के अपने हाथ की बात होती है । एक व्यक्ति अपने बाहुबल से अत्याचारियों के हाथों से पीड़ित होने वाले अनेक अनाथों, निर्बलों और पीड़ितों का संरक्षण करता है और दूसरा उसी बाहुबल को दीन अनाथ जीवों के विनाश में लगाता है। बाहुबल तो दोनों में एक जैसा है परन्तु एक तो उस के सदुपयोग से पुण्य का संचय करता है, जबकि दूसरा उसके दुरुपयोग से पापपुञ्ज को एकत्रित कर रहा है।

चोरपल्ली में रहने वाले चोरों के द्वारा सेनापति के पद पर नियुक्त होने के बाद अभग्नसेन ने अपने बल और पराक्रम का सदुपयोग करने के स्थान में अधिक से अधिक दुरुपयोग करने का प्रयास किया । नागरिकों को लूटना, ग्रामों का जलाना, मार्ग में चलते हुए मनुष्यों का सब कुछ खोस लेना और किसी पर भी दया न करना, उसके जीवन का एक कर्तव्यविशेष बन गया था। सारे देश में उसके इन क्रूरता—पूर्ण कृत्यों की धाक मची हुई थी। देश के लोग उस के नाम से कांप उठते थे।

एक दिन उसके अत्याचारों से नितान्त पीड़ित हुए देश के लोग, वहां के प्रसिद्ध २ पुरुषों को बुला कर आपस में इस प्रकार विचार करने लगे कि चोरसेनापति अभग्नसेन ने तो अत्याचार की अति ही कर दी है, वह जहां जिसको देख पाता है वहां लूट लेता है। नगरों, ग्रामों और शहरों में भी उस की लूट से कोई बचा हुआ दिखाई नहीं देता, उसने तो गरीबों को भी नहीं छोड़ा। घरों को जलाना और घर में रहने वालों पर अत्याचार करना तो उसके लिये एक साधारण सी बात बन गई है। अधिक क्या कहें उसने तो हमारे सारे देश का नाक में दम कर रक्खा है। इसलिये हमको इसके प्रतिकार का कोई न कोई उपाय अवश्य सोचना चाहिये। अन्यथा हमें इससे भी अधिक कष्ट सहन करने पड़ेंगे और निर्धन तथा कंगाल होकर यहां से भागना पड़ेगा।

इस प्रकार परस्पर विचार—विनिमय करते हुए अन्त में उन्हों ने यह निश्चय किया कि इस आपत्ति के प्रतिकार का एक मात्र उपाय यही है कि यहां के नरेश महाबल के पास जाकर अपनी सारी आपत्ति का निवेदन किया जाये और उन से प्रार्थना की जाये कि वे हमारी इस दशा में पूरी २ सहायता करें। तदनन्तर इस सुनिश्चित प्रस्ताव के अनुसार उन में से मुख्य २ लोग राजा के

योग्य एक बहुमूल्य भेंट लेकर पुरिमताल नगर की ओर प्रस्थित हुए और महाबल नरेश के पास उपस्थित हो भेंट अर्पण करने के पश्चात् अभग्नसेन के द्वारा किये गये अत्याचारों को सुनाकर उन के प्रतिकार की प्रार्थना करने लगे।

राजा[1] वैद्य और [2]गुरु के पास खाली हाथ कभी नहीं जाना चाहिये। तथा ज्योतिषी आदि के पास जाते समय तो इस नियम का विशेषरूप से पालन करना चाहिये, कारण यह है कि फल से ही फल की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि यदि इनके पास सफल हाथ जाएंगे तो वहां से भी सफल हो कर वापिस आवेंगे। इन्हीं परम्परागत लौकिक संस्कारों से प्रेरित हुए उन लोगों ने राजा को भेंट रूप में देने के लिए बहुमूल्य भेण्ट ले जाने की सर्वसम्मति से योजना की।

"महत्थं महग्घं महरिहं"—इन पदों की व्याख्या आचार्य अभयदेव सूरि के शब्दों में **"—महत्थं—"त्ति महाप्रयोजनम्, "महग्घं" त्ति महा(बहु)मूल्यम्, "महरिहं" त्ति महतो योग्यमिति**—इस प्रकार है। महार्थ आदि ये सब विशेषण राजा को दी जाने वाली भेंट के हैं। पहला विशेषण यह बतला रहा है कि वह भेण्ट महान् प्रयोजन को सूचित करने वाली है। वह भेण्ट बहुमूल्य वाली है, यह भाव दूसरे विशेषण का है, तथा वह भेण्ट असाधारण—प्रतिष्ठित मनुष्यों के योग्य है अर्थात् साधारण व्यक्तियों को ऐसी भेण्ट नहीं दी जा सकती, इन भावों का परिचायक तीसरा विशेषण है। राजा के योग्य जो भेण्ट होती है उसे राजार्ह कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में अभग्नसेन के दुष्कृत्यों से पीडित एवं सन्तप्त जनपद में रहने वाले लोगों के द्वारा महाबल नरेश के पास अपना दुःख सुनाने के लिए, किये गये आयोजन आदि का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार लोगों ने राजा से क्या निवेदन किया उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[3]एवं खलु सामी ! सालाडवीए चोरपल्लीए अभग्गसेणे चोरसेणावती

---

(१) **रिक्तपाणिर्न पश्येत्, राजानं भिषजं गुरुम्।**
निमित्तज्ञं विशेषेण, फलेन फलमादिशेत्॥१॥

(२) गुरु के सामने रिक्तहाथ (खाली हाथ) न जाने की मान्यता ब्राह्मण संस्कृति में प्रचलित है, परन्तु श्रमण संस्कृति में एतद्विषयक विधान भिन्न रूप से पाया जाता है, जोकि निम्नोक्त है—

गुरुदेव से साक्षात्कार होने पर—(१) **सचित्त द्रव्यों का त्याग**, (२) **अचित्त का अपरित्याग** (३) **वस्त्र से मुख को ढकना**, (४) **हाथ जोड़ लेना**, (५) **मानसिक वृत्तियों को एकाग्र करना** इन मर्यादाओं का पालन करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है।

इतना ध्यान रहे कि यह पांच प्रकार का अभिगम (मर्यादा—विशेष) आध्यात्मिक गुरु के लिये निर्दिष्ट किया गया है। अध्यापक आदि लौकिक गुरु का इस मर्यादा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) **छाया**—एवं खलु स्वामिन्! शालाटव्यां चोरपल्ल्याम् अभग्नसेनश्चोरसेनापतिः अस्मान् बहुभिर्ग्रामघातैश्च यावद् निर्धनान् कुर्वन् विहरति। तदिच्छामः स्वामिन्! युष्माकं बाहुच्छायापरिगृहीता निर्भया निरुद्विग्ना सुखसुखेन परिवस्तुम्, इति कृत्वा पादपतिता: प्राञ्जलिपुटा महाबलं राजानमेनमर्थं विज्ञपयन्ति।

अम्हे बहूहिं गामघातेहि य [1]जाव निद्धणे करेमाणे विहरति । तं इच्छामो णं सामी ! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिया निब्भया णिरुव्विग्गा सुहंसुहेणं परिवसित्तए त्ति कट्टु पादपडिया पंजलिउडा महब्बलं रायं एतमट्ठं विण्णवेंति ।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। **सामी !**—हे स्वामिन् ! । **सालाडवीए**—शालाटवी नामक । **चोरपल्लीए**—चोरपल्ली के । **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन नामक । **चोरसेणावती**—चोरसेनापति । **अम्हे**—हम को । **बहूहिं**—अनेक । **गामघातेहि य**—ग्रामों के विनाश से । **जाव**—यावत् । **निद्धणे**—निर्धन । **करेमाणे**—करता हुआ । **विहरति**—विहरण कर रहा है । **तं**—इस लिये । **सामी !**—हे स्वामिन् ! । **इच्छामो णं**—हम चाहते हैं कि । **तुब्भं**—आप की । **बाहुच्छायापरिग्गहिया**—भुजाओं की छाया से परिगृहीत हुए अर्थात् आप से संरक्षित होते हुए । **निब्भया**—निर्भय । **णिरुव्विग्गा**—निरुद्विग्न-उद्वेगरहित हो कर हम । **सुहंसुहेणं**—सुख—पूर्वक । **परिवसित्तए**—बसें—निवास करें । **त्ति कट्टु**—इस प्रकार कह कर वे लोग । **पायपडिया**—पैरों में पडे हुए तथा । **पंजलिउडा**—दोनों हाथ जोड़े हुए । **महब्बलं**—महाबल । **रायं**—राजा को । **एतमट्ठं**—यह बात । **विण्णवेंति**—निवेदन करते हैं ।

मूलार्थ—हे स्वामिन् ! इस प्रकार निश्चय ही शालाटवी नामक चोरपल्ली का चोरसेनापति अभग्नसेन हमें अनेक ग्रामों के विनाश से यावत् निर्धन करता हुआ विहरण कर रहा है । परन्तु स्वामिनाथ ! हम चाहते हैं कि आप की भुजाओं की छाया से परिगृहीत हुए निर्भय और उद्वेग रहित होकर सुख—पूर्वक निवास करें । इस प्रकार कह कर पैरों में गिरे हुए और दोनों हाथ जोड़े हुए उन प्रान्तीय पुरुषों ने महाबल नरेश से अपनी बात कही ।

टीका—महाबल नरेश की सेवा में उपस्थित होकर उन प्रान्तीय मनुष्यों ने कहा कि महाराज ! यह आप जानते ही हैं कि हमारे प्रान्त में एक बड़ी विशाल अटवी है, उस में एक चोरपल्ली है जोकि चोरों का केन्द्र है। उस में पाच सौ से भी अधिक चोर और डाकू रहते हैं। उन के पास लोगों को लूटने के लिये तथा नगरों को नष्ट करने के लिये काफी सामान है। उनके पास नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र हैं। उनसे वे सैनिकों की तरह सन्नद्ध हो कर इधर उधर घूमते रहते हैं। जहां भी किसी नागरिक को देखते हैं, उसे डरा धमका कर लूट लेते हैं। अगर कोई इन्कार करता है, तो उसे जान से ही मार डालते हैं।

उन के सेनापति का नाम अभग्नसेन है, वह बड़े क्रूर तथा उग्र स्वभाव का है। लोगों को संत्रस्त करना, उन की सम्पत्ति को लूट लेना, मार्ग में आने जाने वाले पथिकों को पीड़ित करना एव नगरों तथा ग्रामों के लोगों को डरा धमका कर उनसे राज्यसम्बन्धी कर—महसूल वसूल करना, और न देने पर घरों को जला देना, किसानों के पशु तथा अनाज आदि को चुरा और उठा ले जाना आदि अनेक प्रकार से जनता को पीडित करना, उस का इस समय प्रधान काम हो रहा है। आप की प्रजा उसके अत्याचारों से बहुत दु:खी हो रही है और सबका जीवन बड़ा सकटमय हो रहा है। भय के मारे कोई बाहिर भी नहीं निकल सकता ।

महाराज ! आप हमारे स्वामी हैं, आप तक ही हमारी पुकार है। हम तो इतना ही चाहते हैं कि आप की सबल और शीतल छत्र—छाया के तले निर्भय होकर सुख और शान्ति—पूर्वक जीवन व्यतीत

(१) जाव—यावत्—पद से विवक्षित पदों का वर्णन पृष्ठ १९९ पर किया गया है ।

करे। परन्तु हमारे प्रान्त में तो इस समय लुटेरों का राज्य है। चारों तरफ अराजकता फैली हुई है, न तो हमारा धन सुरक्षित है और न ही प्रतिष्ठा—आबरू।

हमारा व्यापार धधा भी नष्ट हो रहा है। किसान लोग भी भूखे मर रहे हैं। कहा तक कहें इन अत्याचारो ने हमारा तो नाक मे दम कर रक्खा है। कृपानिधे! इसी दुःख को ले कर हम लोग आप की शरण में आये हैं। यही हमारे आने का उद्देश्य है। राजा प्रजा का पालक के रूप मे पिता माना जाता है, इस नाते से प्रजा उस की पुत्र ठहरती है। सकटग्रस्त पुत्र की सबसे पहले अपने सबल पिता तक ही पुकार हो सकती है, उसी से वह त्राण की आशा रखता है। पिता का भी यह कर्तव्य है और होना चाहिये कि वह सब से प्रथम उसकी पुकार पर ध्यान दे और उसके लिये शीघ्र से शीघ्र समुचित प्रबन्ध करे। इसी विचार से हमने अपने दुःख को आप तक पहुचाने का यत्न किया है। हमें पूर्ण आशा है कि आप हमारी सकटमय स्थिति का पूरी तरह अनुभव करेंगे और अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देते हुए हमें इस सकट से छुडाने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

यह थी उन प्रान्तीय दुःखी जनों की हृदय—विदारक विज्ञप्ति। जिसे उन्हो ने वहा के प्रधान शासक महाबल नरेश के आगे प्रार्थना के रूप मे उपस्थित किया। जनता की इस पुकार का महीपति महाबल पर क्या प्रभाव हुआ? तथा उसकी तरफ से क्या उत्तर मिला? और उसने इसके लिये क्या प्रबन्ध किया? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1] तते णं से महब्बले राया तेसिं जाणवयाणं पुरिसाणं अन्तिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसीमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु दंडं सद्दावेति २ एवं वयासी—गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! सालाडविं चोरपल्लिं विलुंपाहि २ अभग्गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गेण्हाहि २ मम उवणेहि, तते णं से दंडे तह त्ति विणएणं एयमट्ठं पडिसुणेति। तते णं से दंडे बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्ध० जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे मगइएहिं फलएहिं जाव छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठ० जाव करेमाणे पुरिमतालं णगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति २ त्ता जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **से**—उस। **महब्बले**—महाबल। **राया**—राजा ने। **तेसिं**—उन। **जाणवयाणं**—जानपद—देश मे रहने वाले। **पुरिसाणं**—पुरुषों के। **अन्तिए**—पास से। **एयमट्ठं**—इस बात को। **सोच्चा**—सुनकर कर तथा। **निसम्म**—अवधारण कर वह। **आसुरुत्ते**—

(१) छाया—ततः स महाबलो राजा तेषां जानपदानां पुरुषाणामन्तिके एतमर्थं श्रुत्वा निशम्य आशुरुप्तो यावत् मिसमिसीमाणः (क्रुधा ज्वलन्) त्रिवलिकां भृकुटिं ललाटे संहृत्य दण्डं शब्दाययति २ एवमवादीत् — गच्छ त्वं देवानुप्रिय! शालाटवीं चोरपल्लीं विलुम्प २ अभग्नसेनं चोरसेनापतिं जीवग्राहं गृहाण २ मह्यमुपनय। ततः स दण्डः तथेति विनयेन एतमर्थं प्रतिशृणोति। ततः स दण्डो बहुभिः पुरुषैः सन्नद्ध० यावत् प्रहरणैः सार्द्धं संपरिवृतो हस्तपाशितैः (हस्तबद्धैः) फलकैः यावत् क्षिप्रतूर्येण वाद्यमानेन महतोत्कृष्ट० यावत् कुर्वन् पुरिमतालनगरात् मध्य—मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव शालाटवी चोरपल्ली तत्रैव प्रादीधरद् (प्रधारितवान्) गमनाय।

आसुरुत्त—शीघ्र क्रोध से परिपूर्ण हुआ। जाव—यावत्। मिसिमिसीमाणे—क्रोधातुर होने पर किये जाने वाले शब्दविशेष का उच्चारण करता हुआ अर्थात् मिसमिस करता हुआ—दांत पीसता हुआ। तिवलियं भिउडिं—त्रिवलिका—तीन रेखाओं से युक्त भृकुटि—भ्रू भंग को। निडाले—मस्तक पर। साहट्टु—धारण कर के। दंडं[१]—दण्डनायक—कोतवाल को। सद्दावेति २—बुलाता है, बुला कर। एवं वयासी—इस प्रकार कहता है। देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिय! अर्थात् हे भद्र!। तुम—तुम। गच्छह णं—जाओ, जाकर। सालाडविं—शालाटवी। चोरपल्लिं—चोरपल्ली को। विलुंपाहि—२—नष्ट कर दो—लूट लो, लूट कर के। अभग्गसेणं—अभग्नसेन नामक। चोरसेणावइं—चोरसेनापति को। जीवग्गाहं—जीते जी। गेण्हाहि २—पकड लो, पकड़ कर। मम—मेरे पास। उवणेहि—उपस्थित करो। तते णं तदनन्तर। से दंडे—वह दण्डनायक। विणएणं—विनयपूर्वक। तह त्ति—तथाऽस्तु—ऐसे ही होगा, कह कर। एयमट्ठं—इस आज्ञा को। पडिसुणेति—स्वीकार करता है। तते णं—तदनन्तर। से दण्डे—वह दण्डनायक। सन्नद्ध०—दृढ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण किये हुए। जाव—यावत्। पहरणेहिं—आयुधों और प्रहरणों को धारण करने वाले। बहूहिं—अनेक। पुरिसेहिं—पुरुषों के। सद्धिं—साथ। संपरिवुडे—सम्परिवृत—घिरा हुआ। मगइएहिं—हाथ में बान्धी हुई। फलएहिं—फलकों—ढालों से। जाव—यावत्। छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं—क्षिप्रतूर्य नामक वाद्य को बजाने से। महया—महान्। उक्किट्ठ०—उत्कृष्ट—आनन्दमय महाध्वनि तथा सिंहनाद आदि शब्दों द्वारा। जाव—यावत्—समुद्र के शब्द को प्राप्त हुए के समान आकाश को शब्दायमान। करेमाणे—करता हुआ। पुरिमतालं—पुरिमताल। णगरं—नगर के। मज्झंमज्झेणं—मध्य में से। निग्गच्छति २ त्ता—निकलता है, निकल कर। जेणेव—जिधर। सालाडवी—शालाटवी। चोरपल्ली—चोरपल्ली थी। तेणेव—उसी तरफ उसने। पहारेत्थ गमणाए—जाने का निश्चय किया।

मूलार्थ—महाबल नरेश अपने पास उपस्थित हुए उन जानपदीय—देश के वासी पुरुषों के पास से उक्त वृत्तान्त को सुन कर क्रोध से तमतमा उठे तथा उस के अनुरूप मिसमिस शब्द करते हुए माथे पर तिउडी चढा कर अर्थात् क्रोध की सजीव प्रतिमा बने हुए दण्डनायक—कोतवाल को बुलाते हैं, बुला कर कहते हैं कि हे भद्र! तुम जाओ, और जा कर शालाटवी चोरपल्ली को नष्ट भ्रष्ट कर दो—लूट लो और लूट करके उस के चोरसेनापति अभग्नसेन को जीते जी पकड़ कर मेरे सामने उपस्थित करो।

दण्डनायक महाबल नरेश की इस आज्ञा को विनय—पूर्वक स्वीकार करता हुआ दृढ़ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण कर यावत् आयुधों और प्रहरणों से लैस हुए अनेक पुरुषों को साथ ले कर, हाथों में फलक—ढाल बांधे हुए यावत् क्षिप्रतूर्य के बजाने से और महान् उत्कृष्ट—आनन्दमय महाध्वनि, सिंहनाद आदि शब्दों द्वारा समुद्र के शब्द को प्राप्त हुए के समान आकाश को करता हुआ पुरिमताल नगर के मध्य में से निकल कर शालाटवी चोरपल्ली की ओर जाने का निश्चय करता है।

टीका—करुणा—जनक दुःखी हृदयों की अन्तर्ध्वनि को व्यक्त शब्दों में सुन कर महाबल

---

(१) "दंड" शब्द का अर्थ अभयदेवसूरि "दण्डनायक" करते हैं और पण्डित मुनि श्री घासीलाल जी म० 'दण्ड नामक सेनापति" ऐसा करते हैं। कोषकार दण्डनायक शब्द के—**ग्रामरक्षक, कोतवाल** तथा **दण्डदाता, अपराध—विचार—कर्ता, सेनापति और प्रतिनियत सैन्य का नायक**—ऐसे अनेकों अर्थ करते हैं।

नरेश बड़े गहरे सोच विचार मे पड़ गये । वे विचार करते हैं कि मेरे होते हुए मेरी प्रजा इतनी भयभीत और दुःखी हो, सुख और शान्ति से रहना उसके लिये अत्यन्त कठिन हो गया हो यह किस प्रकार का राज्य—प्रबन्ध ? जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखों से पीडित हो, अत्याचारियों के अत्याचारों से भयसत्रस्त हो रही हो, क्या वह राजा एक क्षणमात्र के लिए राज्यसिंहासन पर बैठने के योग्य हो सकता है ? धिक्कार है मेरे इस राज्य—प्रबन्ध को ? और धिक्कार है मुझे जिस ने स्वय अपनी प्रजा की देखरेख मे प्रमाद किया ? अस्तु, कुछ भी हो, अब तो मैं इन दु खियों के दु ख को दूर करने का भरसक प्रयत्न करूगा । हर प्रकार से इन को सुखी बनाऊगा । जिन आततायियों ने इन को लूटा है, इन के घर जलाये हैं, इन को निर्धन और कगाल बनाया है, उन अत्याचारियों को जब तक पूरी शिक्षा न कर लूगा, तब तक चैन से नही बैठूगा ।

इस प्रकार की विचार—परम्परा मे कुछ क्षणों तक निमग्न रहने के बाद महाराज महाबल ने अपने आये हुए नागरिकों का स्वागत करते हुए सप्रेम उन्हे आश्वासन दिया और उनके कष्टों को शीघ्र से शीघ्र दूर करने की प्रतिज्ञा की और उन्हे पूरा २ विश्वास दिला कर विदा किया।

आये हुए पीडित जनता के प्रतिनिधियों को विदा करने के बाद अभग्नसेन के क्रूरकृत्यों से पीडित हुई अपनी प्रजा का ध्यान करते हुए महाबल के हृदय मे क्षत्रियोचित आवेश उमडा । उन की भुजाए फडकने लगीं, क्रोध से मुख एक दम लाल हो उठा और कोपावेश से दान्त पीसते हुए उन्होंने अपने दण्डनायक—कोतवाल को बुलाया और पूरे बल के साथ चोरपल्ली पर आक्रमण करने, उसे विनष्ट करने, उसे लूटने तथा उस के सेनापति अभग्नसेन को पकड़ लाने का बड़े तीव्र शब्दों मे आदेश दिया । दण्डनायक ने भी राजाज्ञा को स्वीकार करते हुए बहुत से सैनिकों के साथ चोरपल्ली पर चढ़ाई करने के लिए पुरिमताल नगर में से निकल कर बड़े समारोह के साथ चोरपल्ली की ओर प्रस्थान करने का निश्चय किया।

—"**आसुरुत्ते जाव मिसिमिसीमाणे**"—यहा पठित **जाव-यावत्** पद से—**कुविए चण्डिक्किए**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। शीघ्रता से रोषाक्रान्त हुए व्यक्ति का नाम **आशुरुक्त** है । मन से क्रोध को प्राप्त व्यक्ति **कुपित** कहलाता है। भयानकता को धारण करने वाला **चाण्डिक्यित** कहा जाता है। **मिसिमिसीमाण** शब्द—क्रोधाग्नि से जलता हुआ अर्थात् दान्त पीसता हुआ, इस अर्थ का परिचायक है।

"—**सन्नद्ध० जाव पहरणेहिं**"—यहा के **जाव-यावत** पद से—**बद्धवम्मियकवएहिं उप्पीलियसरासणपट्टिएहिं पिणद्धगेविज्जेहिं विमलवरचिंधपट्टेहिं गहियाउह** —इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १२४ पर लिख दिया गया है।

—"**फलएहिं जाव छिप्पतूरेणं**"—यहा पठित **जाव-यावत्** पद से—**णिक्किट्ठाहिं असीहिं अंसागतेहिं**—से लेकर—**अवसारियाहिं ऊरुघण्टाहिं**—यहा तक के पाठ का ग्रहण समझना । इन पदों का अर्थ पृष्ठ २१९ पर लिखा जा चुका है।

—"**उक्किट्ठ० जाव करेमाणे**"—यहा पठित **जाव-यावत्** पद से—**सीहनायबोलकलकलरवेणं समुद्दरवभूय पिव**-इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ पृष्ठ २२२ तथा २२३ पर दिया जा चुका है।

तदनन्तर क्या हुआ ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1] तते णं तस्स अभग्ग० चोरसेणावइस्स चारपुरिसा इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा जेणेव सालाडवी चोरपल्ली जेणेव अभग्गसेणे चोरसेणावई तेणेव उवागच्छंति २ करयल० जाव एवं वयासी--एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले नगरे महब्बलेणं रराणा महया भडचड़गरेणं दंडे आणत्ते—गच्छह णं तुमे देवाणु० ! सालाडविं चोरपल्लिं विलुंपाहि २ त्ता अभग्गसेणं चोरसेणावतिं जीवग्गाहं गेराहाहि २ त्ता ममं उवणेहि । तते णं से दंडे महया भडचडगरेण जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **तस्स**—उस । **अभग्ग०**—अभग्नसेन । **चोरसेणावइस्स**—चोरसेनापति के । **चारपुरिसा**—गुप्तचर पुरुष । **इमीसे कहाए**—इस (सारी) बात से । **लद्धट्ठा समाणा**—अवगत—परिचित हुए । **जेणेव**—जहा पर । **सालाडवी**—शालाटवी नामक । **चोरपल्ली**—चोरपल्ली थी और । **जेणेव**—जहा पर । **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन । **चोरसेणावई**—चोरसेनापति था । **तेणेव**—वहा पर । **उवागच्छंति २ त्ता**—आते है आकर । **करयल० जाव**—दोनों हाथ जोड़ कर, यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अजलि कर के । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगे । **देवाणुप्पिया !**—हे स्वामिन् ! । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **पुरिमताले णगरे**—पुरिमताल नगर मे । **महब्बलेणं रराणा**—महाबल राजा ने । **महया**—महान । **भडचड़गरेणं**—योद्धाओं के समुदाय के साथ । **दंडे**—दराडनायक—कोतवाल को । **आणत्ते**—आज्ञा दी है कि । **देवाणुप्पिया !**—हे भद्र ! । **तुमे**—तुम । **गच्छह णं**—जाओ, जाकर । **सालाडविं**=शालाटवी । **चोरपल्लिं**—चोरपल्ली को । **विलुंपाहि २ त्ता**—विनष्ट कर दो—लूट लो, लूट कर के । **अभग्गसेणं**—अभग्नसेन । **चोरसेणावतिं**—चोरसेनापति को । **जीवग्गह**—जीते जी । **गेराहाहि २ त्ता**—पकड़ लो, पकड़ कर । **ममं**—मेरे सामने । **उवणेहि**—उपस्थित करो । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—उस । **दंडे**—दराडनायक ने । **महया**—महान् । **भड़चडगरेणं**—सुभटों के समूह के साथ । **जेणेव**—जहा पर । **सालाडवी**—शालाटवी । **चोरपल्ली**—चोरपल्ली थी । **तेणेव**—वहीं पर । **पहारेत्थ गमणाए**—जाने का निश्चय किया है ।

मूलार्थ— तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति के गुप्तपुरुषों को इस सारी बात का पता लगा तो वे शालाटवी चोरपल्ली मे जहा पर अभग्नसेन चोरसेनापति था, वहा पर आये और दोनों हाथ जोड कर मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके अभग्नसेन से इस प्रकार बोले कि हे स्वामिन् ! पुरिमताल नगर मे महाबल राजा ने महान् सुभटों के समुदाय के साथ दराडनायक कोतवाल को बुला कर आज्ञा दी है कि तुम लोग शीघ्र जाओ, जाकर शालाटवी चोरपल्ली का विध्वस कर दो—लूट लो, और उसके सेनापति अभग्नसेन को जीते जी पकड़ लो, और पकड़ कर

(१) छाया—ततस्तस्याभग्नसेनस्य चोरसेनापतेश्चारपुरुषा अनया कथया लब्धार्थाः सन्तो यत्रैवाभग्नसेनश्चोरसेनापतिस्तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य करतल० यावदेवमवादिषु:—एवं खलु देवानुप्रिय ! पुरिमताले नगरे महाबलेन राज्ञा महता भटवृन्देन दराड. आज्ञप्त. । गच्छ त्व देवानुप्रिय ! शालाटवीं चोरपल्लीं विलुम्प २ अभग्नसेनं चोरसेनापतिं जीवग्राहं गृहाण, गृहीत्वा मह्यमुपनय । ततः स दराडो महता भटवृन्देन यत्रैव शालाटवी चोरपल्ली तत्रैव प्राधारयद् गमनाय ।

मेरे सामने उपस्थित करो। राजा की आज्ञा को शिरोधार्य कर के दण्डनायक ने योद्धाओं के वृन्द के साथ शालाटवी चोरपल्ली मे जाने का निश्चय कर लिया है।

टीका—प्रस्तुत सूत्र पाठ में अभग्नसेन के गुप्तचरों की निपुणता का दिग्दर्शन कराया गया है।

इधर महाबल नरेश चोरसेनापति अभग्नसेन को पकड़ने तथा चोरपल्ली को विनष्ट कर के—लूट करके वहा की जनता को सुखी बनाने का आदेश देता है और उस आदेश के अनुसार दण्डनायक—कोतवाल अपने सैन्य बल को एकत्रित करके पुरिमताल नगर मे निकल कर चोरपल्ली की ओर प्रस्थान करने का निश्चय करता है, इधर अभग्नसेन के गुप्तचर (जासूस) इस सारी बात का पता लगा कर चोरसेनापति के पास आकर वहा का अथ से इति पर्यन्त सारा वृत्तान्त कह सुनाते हैं। उन्हों ने अपने सेनापति मे जानपदीय—देशवासी पुरुषो का महाबल नरेश के पास एकत्रित हो कर जाना, उस के उत्तर में राजा की ओर से दिये जाने वाले आश्वासन तथा दण्डनायक को बुला कर चोरपल्ली को नष्ट करने एव सेनापति को जीते जी पकड़ कर अपने सामने उपस्थित करने और तदनुसार दण्डनायक के महती सेना के साथ पुरिमताल नगर से निकल कर चोरपल्ली पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान का निश्चय करने का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में उन्हो कहा कि स्वामिनाथ! हमे जो कुछ मालूम हुआ वह सब आप की जानकारी के लिये आप की सेवा में निवेदन कर दिया, अब आप जैसा उचित समझे, वैसा करे।

"—करयल० जाव एवं —" यहा पठित जाव—यावत् पद से "—करयलपरिग्गहियं दसणहं अंजलि मत्थए कट्टु—"अर्थात् दोनों हाथों को जोड कर और मस्तक पर दस नखो वाली अजली (दोनों हथेलियों को मिला कर बनाया हुआ सम्पुट) को करके —इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

गुप्तचरों की इस बात को सुन कर अभग्नसेन चोरसेनापति ने क्या किया? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से अभग्गसेणे चोरसेणावती तेसिं चारपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म पंच चोरसताइं सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वयासी, एव खलु देवाणुप्पिया! पुरिमताले णगरे महब्बलेणं जाव तेणेव पहारेत्थ गमणाय। तते णं अभग्गसेणे ताइं पंच चोरसताइं एवं वयासी—तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं तं दंड सालाडवि

(१) छाया—तत. सोऽभग्नसेनश्चोरसेनापति तेषा चारपुरुषाणामन्तिके एतमर्थं श्रुत्वा निशम्य पञ्च चोरशतानि शब्दाययति, शब्दाययित्वा एवमवादीत्, एव खलु देवानुप्रियाः। पुरिमताले नगरे महाबलेन यावत्तेनैव प्राधीधरद् गमनाय। तत सोऽभग्नसेनस्तानि पञ्च चोरशतान्येवमवदत्—तत् श्रेय खलु देवानुप्रिया! अस्माक त दण्ड शालाटवीं चोरपल्लीमसम्प्राप्तमन्तरैव प्रतिषेद्धुम्। ततस्तानि पञ्च चोरशतानि अभग्नसेनस्य चोरसेनापते. "तथा" इति यावत् प्रतिशृण्वन्ति। तत सोऽभग्नसेनश्चोरसेनापति विपुलमशन पान, खादिम, स्वादिममुपस्कारयति, उपस्कार्य पञ्चभि चोरशतै सार्द्ध स्नातो यावत् प्रायश्चित्तो भोजनमण्डपे तं विपुलमशन ४ सुरा च ५ आस्वादयन् ४ विहरति। जिमितभुक्तोत्तरागतोऽपि च सन् आचान्तश्चोक्ष परमशुचिभूत पञ्चभिश्चोरशतै. सार्द्धमार्द्रे चर्म दूरोहति २ सन्नद्ध० यावत् प्रहरण यावत् रवेण पूर्वापराह्णसमये शालाटवीतश्चोरपल्लीतो निर्गच्छति २ विषमदुर्गगहने स्थितो गृहीतभक्तपानीयस्त दण्ड प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति।

चोरपल्लिं असंपत्तं अंतरा चेव पडिसेहित्तए । तते णं ताइं पंच चोरसताइं अभग्गसेणस्स चोरसेणावइस्स तह त्ति जाव पडिसुणेंति । तते णं से अभग्गसेणे चोरसेणावती विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति २ त्ता पंचहि चोरसतेहिं सद्धिं एहाते जाव पायच्छित्ते भोयणमंडवंसि तं विपुलं असणं ४ सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरति जिमियभुत्तुत्तरागते वि य णं समाणे आयते चोक्खे परमसुइभूते पंचहिं चोरसतेहिं सद्धिं अल्लं चम्मं दुरूहति २ त्ता सन्नद्ध० जाव पहरणे [1]मग्गइएहिं जाव रवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणे पुव्वावरण्हकालसमयंसि सालाडवीओ चोरपल्लीओ णिग्गच्छति २ त्ता विसमदुग्गगहणं ठिते गहियभत्तपाणिए तं दंडं पडिवालेमाणे चिट्ठति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन । **चोरसेणावती**—चोरसेनापति । **तेसिं चारपुरिसाणं**—उन गुप्तचरों के । **अंतिए**—पास से । **एयमट्ठं**—इस वृत्तान्त को । **सोच्चा**—सुनकर । **निसम्म**—अवधारण कर । **पंच चोरसताइं**—पांच सौ चोरों को । **सद्दावेति**—बुलाता है । **सद्दावेत्ता**—बुला कर । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा । **एवं**—इस प्रकार । **खलु**—निश्चय से । **देवाणुप्पिया !**—हे भद्र पुरुषो ! । **पुरिमताले णगरे**—पुरिमताल नगर में । **महब्बलेणं**—महाबल ने । **जाव**—यावत् । **तेणेव**—वहीं अर्थात् चोरपल्ली में । **पहारेत्थ गमणाए**—जाने का निश्चय कर लिया है । **तते णं**—तदनन्तर । **से अभग्गसेणे**—वह अभग्नसेन । **ताइं**—उन । **पंच चोरसताइं**—पांच सौ चोरों के प्रति । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगा । **देवाणुप्पिया !**—हे भद्र पुरुषो ! । **अम्ह**—हम को । **तं**—यह । **सेयं खलु**—निश्चय ही योग्य है कि । **सालाडविं**-शालाटवी । **चोरपल्लिं**—चोरपल्ली को । **असंपत्तं**—असप्राप्त अर्थात् जब तक चोरपल्ली तक न पहुँचे, तब तक । **तं**-उस । **दंडं**—दंडनायक को । **अंतरा चेव**—मध्य में ही—रास्ते में ही । **पडिसेहित्तए**—निषिद्ध करना—रोक देना, । **तते णं**—तदनन्तर । **ताइं**—वे । **पंच चोरसताइं**—पांच सौ चोर । **अभग्गसेणस्स**—अभग्नसेन । **चोरसेणावइस्स**—चोरसेनापति के उक्त कथन को । **तह त्ति**—तथेति—"बहुत ठीक" ऐसा कह कर । **जाव**—यावत् । **पडिसुणेंति**—स्वीकार करते हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **से अभग्गसेणे**—वह अभग्नसेन । **चोरसेणावती**—चोरसेनापति । **विपुलं**—बहुत । **असणं**—अशन । **पाणं**—पान । **खाइमं**—खादिम । **साइमं**—स्वादिम वस्तुओं को । **उवक्खडावेति २ त्ता**—तैयार कराता है, तैयार करा के । **पंचहिं चोरसतेहिं**—पांच सौ चोरों के । **सद्धिं**—साथ । **एहाते**—स्नान करता है । **जाव**—यावत् । **पायच्छित्ते**—दुष्ट स्वप्न आदि के फल को विफल करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में किये गये मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक कार्य करके । **भोयणमंडवंसि**—भोजन के मंडप में । **तं**—उस । **विपुलं**—विपुल । **असणं ४**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुओं का । **सुरं च ५**—तथा पंचविध सुरा आदि का । **आसाएमाणे ४**—आस्वादन, विस्वादन आदि करता हुआ । **विहरति**—विहरण करने लगा । **जिमियभुत्तुत्तरागते वि य णं समाणे**—भोजन के अनन्तर उचित स्थान पर आकर । **आयंते**—आचमन किया । **चोक्खे** लेप आदि को दूर करके शुद्धि की

(१) **मग्गइएहिं**—त्ति हस्तपाशितैर्वल्करणात् फलहएहीत्यादि दृश्यमिति वृत्तिकारः

इसी लिये । **परमसुइभूने**—परमशुचिभूत—परमशुद्ध हुआ वह अभग्नसेन । **पंचहि चोरसतेहिं**—पाच सौ चोरों के । **सद्धि**—साथ । अल्ल—'आर्द्र—गीले । **चम्मं**—चमडे पर । **दुरूहति**—आरूढ होता है चढता है । **२ त्ता**—आरूढ हो कर । **सन्नद्ध०**—दृढ बधनों मे बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण करके । **जाव**—यावत् । **पहरणे**—आयुधों और प्रहरणों से युक्त । **मगइएहिं**—हस्तपाशित—हाथों में बाधे हुए । **जाव**—यावत् । **रवेणं** । महान् उत्कृष्ट आदि के शब्दों द्वारा । **समुद्दरवभूय पिव**—समुद्र—शब्द को प्राप्त हुए के समान गगनमडल को शब्दायमान । **करेमाणे**—करता हुआ । **पुव्वावरण्हकालसमयंसि**—मध्याह्न काल मे । **सालाडवीओ**— शालाटवी । **चोर पल्लीओ**—चोरपल्ली से । **णिग्गच्छति**—निकलता है । **२ त्ता**—निकल कर । **विसमदुग्गगहणं**—विषम-ऊचा नीचा, दुर्ग—जिस में कठिनता से प्रवेश किया जाए ऐसे गहन—वृक्षवन जिस में वृक्षों का आधिक्य हो, में । **ठिते**—ठहरा । **गहियभत्तपाणिए**—भक्त पानादि खाद्य सामग्री को साथ लिये हुए । **तं**—उस । **दंडं**—दण्डनायक—कोतवाल की । **पडिवालेमाणे**—प्रतीक्षा करता हुआ । **चिट्ठति**—ठहरता है ।

मूलार्थ—तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति ने अपने गुप्तचरों (जासूस) की बात को सुन कर तथा विचार कर पाच सौ चोरों को बुला कर इस प्रकार कहा—

हे महानुभावो ! पुरिमताल नगर के राजा महाबल ने आज्ञा दी है कि यावत् दडनायक ने शालाटवी चोरपल्ली पर आक्रमण करने तथा मुझे पकड़ने को वहा (चोरपल्ली मे) जाने

---

(१) अभग्नसेन, और उस के साथियों ने जो आर्द्र चर्मपर आरोहण किया है उस में उन का क्या हार्द रहा हुआ है अर्थात् उन के ऐसा करने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न के उत्तर में तीन मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं, वे निम्नोक्त हैं—

(१) प्रथम मान्यता आचार्य श्री अभयदेव सूरि के शब्दों मे—"**अल्लचम्मं दुरूहति, त्ति आर्द्रे चर्मारोहति मांगल्यार्थमिति**"— इस प्रकार है । इसका भाव है—कि अभग्नसेन और उसके साथियों ने जो, आर्द्र चर्म पर आरोहण किया है, वह उन का एक मागलिक अनुष्ठान था, तात्पर्य यह है कि—"**विघ्नध्वंसकामो मंगलमाचरेत्**"—अर्थात् अपने उद्दिष्ट कार्य में आने वाले विघ्नो के विध्वस के लिये व्यक्ति सर्वप्रथम मंगल का आचरण करे । इस अभियुक्तोक्ति का अनुसरण करते हुए अभग्नसेन और उस के साथियों ने दण्डनायक को मार्ग मे ही रोकने के लिये किये जाने वाले प्रस्थान से पूर्व मगलानुष्ठान किया था । मगलों के विभिन्न प्रकारों मे से आर्द्र—चर्मारोहण भी उस समय का एक प्रकार समझा जाता था ।

(२) दूसरी मान्यता परम्परानुसारिणी है । इस में यह कहा जाता है कि आर्द्र चर्म पर आरोहित होने का अर्थ है—अपने को "—विकट से विकट परिस्थिति के होने पर भी पाव पीछे नहीं हटेगा, प्रत्युत—"**कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्**"—अर्थात् कार्य की सिद्धि करूगा अन्यथा उसी की सिद्धि में देहोत्सर्ग कर दूगा, की पवित्र नीति के पथ का पथिक बनूगा—" इस प्रतिज्ञा से आबद्ध करना ।

(३) तीसरी मान्यता वालों का कहना है कि जिस प्रकार आर्द्र चर्म फैलता है, वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार इस पर आरोहण करने वाला भी धन, जनादि वृद्धिरूप प्रसार को उपलब्ध करता है इसी महत्त्वाकांक्षापूर्ण भावना को सन्मुख रखते हुए अभग्नसेन और उस के ५०० साथियों ने आर्द्र चर्म पर आरोहण किया था ।

का निश्चय कर लिया है । अतः उस दंडनायक को शालाटवी चोरपल्ली तक पहुंचने से पहले ही रास्ते मे रोक देना हमारे लिये उचित प्रतीत होता है । अभग्नसेन के इस परामर्श को चोरों ने 'तथेति" (बहुत ठीक है, ऐसा ही होना चाहिये) ऐसा कह कर स्वीकार किया। तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति ने विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुओं को तैयार कराया तथा पाच सौ चोरों के साथ स्नान से निवृत्त हो कर, दुस्स्वप्न आदि के फल को विफल करने के लिये मस्तक पर तिलक तथा अन्य मागलिक कृत्य करके, भोजनशाला मे उस विपुल अशनादि वस्तुओं तथा पांच प्रकार की मदिराओं का यथारुचि आस्वादन, विस्वादन आदि करना आरम्भ किया ।

भोजन के अनन्तर उचित स्थान पर आकर आचमन किया और मुख के लेपादि को दूर कर अर्थात् परमशुद्ध हो कर पांच सौ चोरों के साथ आर्द्र चर्म पर आरोहण किया । तदनन्तर दृढ़ बन्धनों से बन्धे हुए और लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को धारण करके यावत् आयुधों और प्रहरणों से सुसज्जित हो कर, हाथों में ढाले बांध कर यावत् महान् उत्कृष्ट और सिंहनाद आदि के शब्दों द्वारा समुद्रशब्द को प्राप्त हुए के समान गगनमंडल को शब्दायमान करते हुए अभग्नसेन ने शालाटवी चोरपल्ली से मध्याह्न के समय प्रस्थान किया और वह खाद्यपदार्थों को साथ लेकर विषम और दुर्ग गहन—वृक्षवन में स्थिति करके उस दण्डनायक की प्रतीक्षा करने लगा ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में सेनापति अभग्नसेन की ओर से दण्डनायक के प्रतिरोध के लिये किये जाने वाले सैनिक आयोजन का दिग्दर्शन कराया गया है ।

अपने गुप्तचरों की बात सुनकर तथा विचार कर अभग्नसेन ने अपने पांच सौ चोरों को बुलाया और उन से वह सप्रेम बोला कि महानुभावो ! मुझे आज विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि इस प्रान्त के नागरिकों ने महाबल नरेश के पास जाकर हमारे विरुद्ध बहुत कुछ कहा है, जिस के फलस्वरूप महाबल नरेश को बडा क्रोध आया और उसने अपने दण्डनायक—कोतवाल को बुला कर चोरपल्ली पर आक्रमण कर उसे विध्वस करने—लूटने तथा मुझे जीवित पकड़ कर अपने सामने उपस्थित करने आदि का बडे उग्र शब्दों में आदेश दिया है । तब यह आदेश मिलते ही दण्ड-नायक ने भी तत्काल ही बहुत से सुभटों को अस्त्रशस्त्रादि से सुसज्जित कर के पुरिमताल नगर से निकल कर शालाटवी चोरपल्ली की ओर प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया है ।

उस के आक्रमण की सूचना तो हमें मिल चुकी है । अब हम को चोरपल्ली की रक्षा का विचार करना चाहिये । हमारी इस समय एक बलवान् से टक्कर है, इस लिये अधिक से अधिक बल का सचय कर के उसका प्रतिरोध करना चाहिये । इस के लिये मैंने तो यह सोचा है कि शीघ्र ही शस्त्रादि से सन्नद्ध हो कर दण्डनायक को मार्ग मे ही रोकने का यत्न करना चाहिये।

सेनापति अभग्नसेन के इस विचार का सब ने समर्थन किया और वे अपनी २ तैयारी में लग गये । इधर अभग्नसेन ने भी खाद्यसामग्री को तैयार कराया तथा सब के साथ स्नानादि कार्य से निवृत्त हो कर दुस्स्वप्न आदि के फल को विनष्ट करने के लिये मस्तक पर तिलक एवं अन्य मागलिक कार्य करके भोजनशाला मे उपस्थित हो सब के साथ भोजन किया अर्थात् स्वयं जिमा और सब को जिमाया । भोजन के अनन्तर विविध भान्ति के भोज्यपदार्थों तथा सुरादि मद्यों का

यथारुचि उपभोग कर वह अभ्यन्तर से बाहिर आया और आकर आचमनादि द्वारा परम—शुद्ध हो कर पाच सौ चोरों के साथ आर्द्र चर्म पर उसने आरोहरण किया और ठीक मध्याह्न के समय अस्त्र शस्त्रादि से सन्नद्ध—बद्ध होकर युद्धसम्बन्धी अन्य साधनों को साथ लेकर तथा पुरिमताल नगर के मध्य मे से निकल कर शालाटवी की ओर प्रस्थान किया, तदनन्तर मार्ग मे विषम एव दुर्ग वृक्षवन मे मोर्चा बना कर बैठ गया और दण्डनायक के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।

"—**विसमदुग्गगहणं** " इस पद की व्याख्या वृत्तिकार ने " —**विषमं—निम्नोन्नतं, दुर्गं—दुष्प्रवेशं यद् गहनं वृत्तगह्वरम्**—इन शब्दो में की है इन का भाव निम्नोक्त है—

इस पद मे **विषम** और **दुर्ग** ये दो पद विशेषण हैं और **गहन** यह पद विशेष्य है। ऊचे और नीचे भाव का बोधक **विषम** पद है और **दुर्ग** शब्द कठिनाई से जिस में प्रवेश किया जा सके, ऐसे अर्थ का परिचायक है, एवं **गहन** पद वृक्षवन का बोध कराता है। जिस मे वृक्षो की बहुलता पाई जाए उसे **वृक्षवन** कहते हैं।

"—**महब्बलेण जाव तेणेव**"—यहा पठित **जाव यावत्** पद से—**रएणा महया भडचडगरेणं दण्डे आणत्ते—गच्छह णं तुमे देवाणुप्पिया ! सालाडवि**—से लेकर—**जेणेव सालाडवी**—इन पदो का ग्रहण समझना। इन का भावार्थ पृष्ठ २४५ पर दिया जा चुका है।

—"**तह त्ति जाव पडिसुणेंति**"—यहा पठित **जाव यावत्** पद से—**आणाए विणएणं वयणं**—इन पदों का ग्रहण समझना। **तह त्ति आणाए विणएणं पडिसुणेंति**—इन पदो की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों मे—**तह त्ति त्ति नान्यथा, आज्ञया—भवदादेशेन करिष्याम इत्येवमभ्युपगमसूचनमित्यर्थः, विनयेन वचनं प्रतिशृण्वन्ति-अभ्युपगच्छन्ति**—इस प्रकार है। इन पदों का भाव है—**तथेति**—जैसा आप कहेगे वैसा ही करेंगे, इस प्रकार विनय—पूर्वक उसके वचन को स्वीकार करते हैं।

—"**एहाते जाव पायच्छित्ते**"—यहा पठित **जाव-यावत्** पद से—**कयबलिकम्मे कयकोउयमंगल**—इन पदों का ग्रहण सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर किया गया है।

असणं ४—यहा के ४ के अक से—**पाणं खाइमं साइमं**—इन [1]पदो का और—**सुरं च ५**—यहा ५ के अक से—**मधुं च मेरगं च जातिं च सीधुं च पसरणं च**—इन पदों[2] का, और—**आसाएमाणे ४**—यहा के ४ के अक से—**विसाएमाणे, परिभाएमाणे, परिभुंजेमाणे**—इन [3]पदो का और—**सन्नद्ध० जाव पहरणे**—यहा के जाव-यावत् पद से—[4]**बद्धवम्मियकवए, उप्पीलियसरासणपट्टिए, पिणद्धगेविज्जे, विमलवरबद्धचिंधपट्टे, गहियाउह**—इन पदो का ग्रहण करना चाहिये। और—**मगइएहिं जाव रवेणं**—यहा के **जाव-यावत्** पद से—[5]**फलएहिं, निक्किट्ठाहिं, असीहिं अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं**—से लेकर—**महया २ उक्किट्ठसीहनायबोलकलकल**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

---

(१) इन के अर्थ के लिये देखो पृष्ठ ४८ का टिप्पण। (२) अर्थ के लिये देखो पृष्ठ १४५। (३) अर्थ के लिये देखो पृष्ठ १४५। (४) अर्थ के लिये देखो पृष्ठ १२४, परन्तु इतना ध्यान रहे कि वहा ये द्वितीयान्त हैं और यहा पर प्रथमान्त हैं, तथापि अर्थगत कोई भिन्नता नहीं। (५) अर्थ के लिये देखो पृष्ठ २२२।

तदनन्तर क्या हुआ, अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से दंडे जेणेव अभग्गसेणे चोरसेणावती तेणेव उवागच्छति २ त्ता अभग्गसेणेणं चोरसेणावइणा सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था, तते णं से अभग्गसेणे चोरसे० तं दण्डं खिप्पामेव हयमहिय० जाव पडिसेहेति । तते णं से दण्डे अभग्ग० चोरसे० हय० जाव पडिसेहिते समाणे अथामे अवले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्ज-मिति कट्टु जेणेव पुरिमताले णगरे जेणेव महब्बले राया तेणेव उवा० २ करयल० जाव एवं वयासी—एवं खलु सामी ! अभग्गसेणे चोरसे० विसमदुग्गगहणं ठिते गहितभत्त-पाणिए नो खलु से सक्का केणइ सुबहुएणा वि आसबलेण वा हत्थिबलेण वा जोहबलेण रहबलेण वा चाउरंगेणं वि उरंउरेणं गेण्हित्तते । ताहे (महब्बले राया) सामेण य भेदेण य उवप्पदाणेण य वीसंभमाणेउं पयत्ते यावि होत्था । जे वि य से अब्भिंतरगा सीसगभमा मित्तनातिनियगसयणसंबन्धिपरियणा ते वि य णं विपुलेण धणकणगरयणसंतसार-सावतेज्जेण भिंदति । अभग्गसेणस्स य चोरसे० अभिक्खणं २ महत्थाइं महग्घाइं महरिहाइं रायारिहाइं पाहुडाइं पेसेति । अभग्गसेणं च चोरसे० वीसंभमाणेइ ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । से दंडे—वह दण्डनायक—कोतवाल । जेणेव—जहां । अभग्गसेणे—अभग्नसेन । चोरसेणावती—चोरसेनापति था । तेणेव—वहां पर । उवागच्छति २ त्ता—आता है, आकर । अभग्गसेणेणं—अभग्नसेन । चोरसेणावइणा—चोरसेनापति के । सद्धिं—साथ । संपलग्गे यावि होत्था—युद्ध में प्रवृत्त हो गया । तते णं—तदनन्तर । से अभग्गसेणे—वह अभग्नसेन । चोरसे०—चोरसेनापति । तं—उस । दंडं—दण्डनायक को । खिप्पामेव—शीघ्र ही । हयमहिय०—हतमथित कर अर्थात् उस दण्डनायक की सेना का हनन किया—मारपीट की

(१) छाया—ततः स दण्डो यत्रैव अभग्नसेनश्चोरसेनापतिस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य अभग्नसेनेन चोरसेनापतिना सार्द्धं [1]सम्प्रलग्नश्चाप्यभवत् । ततः सोऽभग्नसेनश्चोरसेनापतिः तं दण्डं क्षिप्रमेव हतमथित० यावत् प्रतिषेधयति । ततः स दण्डोऽभग्नसेनेन चोरसेनापतिना हत० यावत् प्रतिषिद्धः सन् अस्थामा अबलः अवीर्यः अपुरुषकारपराक्रमः अधारणीयमिति कृत्वा यत्रैव पुरिमतालं नगरं यत्रैव महाबलो राजा तत्रैवोपागच्छति उपागत्य करतल० यावद् एवमवादीत्—एवं खलु स्वामिन् ! अभग्नसेनश्चोरसेनापतिः विषमदुर्गगहने स्थितः गृहीतभक्तपानीयः नो खलु स शक्यः केनचित् सुबहुनापि अश्वबलेन वा हस्तिबलेन वा योधबलेन वा रथबलेन वा चतुरंगेणापि साक्षाद् ग्रहीतुम् । तदा (महाबलो राजा) साम्ना च भेदेन च उपप्रदानेन च विश्रम्भमानेतुं प्रवृत्तश्चाप्यभवत् । येऽपि च तस्याभ्यन्तरकाः शिष्यकभ्रमा मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनास्तानपि च विपुलेन धनकनकरत्नसत्सारस्वापतेयेन भिनत्ति । अभग्नसेनस्य च चोरसेनापतेः अभीक्ष्णं २ महार्थानि महार्घाणि महार्हाणि राजार्हाणि प्राभृतानि प्रेषयति । अभग्नसेनञ्च चोरसेनापतिं विश्रम्भमानयति ।

(१) सम्प्रलग्न—योद्धुं समारब्धः अर्थात् युद्ध करना आरम्भ कर दिया ।

और उस दण्डनायक के मान का मन्थन—मर्दन कर । **जाव**—यावत् । **पडिसेहेति**—भगा देता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **दंडे**—दण्डनायक । **अभग्ग०**—अभग्नसेन । **चोरसे०**—चोरसेनापति के द्वारा । **हय०**—हत । **जाव**—यावत् । **पडिसेहिते**—प्रतिषिद्ध । **समाणे**—हुआ अर्थात् भगाया गया । **अथामे**—तेजहीन । **अवले**—बलहीन । **अवीरिए**—वीर्यहीन । **अपुरिसक्कारपरक्कमे**—पुरुषार्थ तथा पराक्रम से हीन हुआ । **अधारणिज्जमिति कट्टु**—शत्रु सेना को पकडना कठिन है—ऐसा विचार कर । **जेणेव**—जहां । **पुरिमताले णगरे**—पुरिमताल नगर था और । **जेणेव**—जहां पर । **महब्बले राया**—महाबल राजा था । **तेणेव**—वहां पर । **उवा० २**—आता है, आकर । **करयल०** **जाव**—दोनों हाथ जोड़ यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगा । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **सामी**!—हे स्वामिन्! । **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन । **चोरसे०**—चोरसेनापति । **विसमदुग्गगहणं**—विषम—ऊंचा नीचा, दुर्ग—जिस में कठिनता से प्रवेश किया जा सके ऐसे गहन — वृक्षवन (वह स्थान जहां वृक्षों की प्रचुरता हो) में । **गहितभत्तपाणिए**—भक्त पानादि को साथ मे लिये हुए । **ठिते**—स्थित हो रहा है अतः । **केणइ**—किसी । **सुबहुएणा वि**—बहुत बडे । **आसबलेण वा**—अश्वबल से । **हत्थिबलेण वा**—हाथियों के बल से । **वा**—अथवा । **जोहबलेण**—योद्धाओं—सैनिकों के बल से । **वा**—अथवा । **रहबलेण**—रथों के बल से । **वा**—अथवा । **चतुरंगेणा वि**—[1]चतुरंगिणी सेना से भी । **से**—वह । **उरंउरेणं**—साक्षात् । **गेण्हित्तते**—ग्रहण करने—पकडने मे । **नो**—नही । **खलु**—निश्चय से । **सक्का**—समर्थ है अर्थात् वह ऐसे विषम और दुर्गम स्थान में बैठा हुआ है कि वहां पर उसे जीते जी किसी प्रकार से पकड़ा नहीं जा सकता । **ताहे**—तब वह महाबल राजा उसे—अभग्नसेन को । **सामेण य**—सामनीति से । **भेदेण य**—भेदनीति से अथवा । **उवप्पदाणेण य**—उपप्रदान से—दान की नीति से । **वीसंभमाणेउं**—विश्वास में लाने के लिये । **पयत्ते यावि होत्था**—प्रयत्नशील होगया । **जे वि य**—और जो भी । **से**—उसके—अभग्नसेन के । **अब्भिंतरगा**—अंतरंग—समीप में रहने वाले मन्त्री आदि । **सीसगभमा**—शिष्यकभ्रम—जिन को वह शिष्य समान मानता था, वे लोग अथवा शीर्षकभ्रम—जिन को वह शरीररक्षक होने के कारण शिर अथवा शिर के कवच के समान मानता था ऐसे अंगरक्षक लोग तथा उस के जो । **मित्तणाइनियगसयणसंबन्धिपरिजणा य**—मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजन थे । **ते वि य णं**—उनको भी । **विपुलेणं**—विपुल—बहुत से । **धणकणगरयण**—धन, सुवर्ण, रत्न तथा । **संतसारसावतेज्जेणं**—उत्तम सारभूत द्रव्य अर्थात् उत्तमोत्तम वस्तुओं तथा रुपये पैसे से । **भिंदति**—भेदन करता है—अलग करता है । **य**—और । **अभग्गसेणस्स**—अभग्नसेन । **चोरस०**—चोरसेनापति को । **अभिक्खणं २**—बार बार । **महत्थाइं**—महार्थ—महा प्रयोजन वाले । **महग्घाइं**—महार्घ—विशेष मूल्यवान् और । **महरिहाइं**—महार्ह—किसी बडे पुरुष को देने योग्य । **रायारिहाइं**—राजा के योग्य । **पाहुडाइं**—प्राभृत—भेंट । **पेसेति**—भेजता है । **अभग्गसेणं च चोरसे०**—और अभग्नसेन चोरसेनापति को । **वीसंभमाणेइ**—विश्वास में लाता है ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह दण्डनायक जहां पर अभग्नसेन चोरसेनापति था वहां पर आता

---

(१) गज, अश्व, रथ और पदाति—पैदल, इन चार अंगों—विभागों वाली सेना **चतुरंगिणी सेना** कहलाती है ।

है, आकर उसके साथ युद्ध मे संप्रवृत्त हो जाता है परन्तु अभग्नसेन चोरसेनापति के द्वारा हतमथित यावत् प्रतिषेधित होने से तेजहीन, बलहीन वीर्यहीन, एवं पुरुषार्थ और पराक्रम से हीन हुआ वह दण्डनायक, शत्रुसेना को पकड़ना अशक्य समझ कर पुन पुरिमताल नगर मे महाबल नरेश के पास आकर दोनों हाथ जोड मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके इस प्रकार कहने लगा।

स्वामिन् ! अभग्नसेन चोरसेनापति विषम—ऊंचे नीचे और दुर्ग गहन—वृक्षवन में पर्याप्त खाद्य तथा पेय सामग्री के साथ अवस्थित है, अत बहुत से अश्वबल, हस्तिबल, योधबल और रथबल, तथा कहां तक कहूं — चतुरंगिणी सेना के बल से भी वह साक्षात् जीते जी पकड़ा नहीं जा सकता ।

दण्डनायक के ऐसा कहने पर महाबल नरेश साम, भेद और उपप्रदान— दान की नीति से उसे विश्वास मे लाने के लिए प्रवृत्त हुआ—प्रयत्न करने लगा। तदर्थ वह उसके शिष्यतुल्य अंतरंग—समीप मे रहने वाले मन्त्री आदि पुरुषों को अथवा जिन अंगरक्षकों को वह शिर या शिर के कवच के समान मानता था उनको तथा [1]मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों को धन, सुवर्ण, रत्न और उत्तम सारभूत द्रव्यों तथा रुपये, पैसे के द्वारा अर्थात् इन का लोभ देकर उस से भिन्न—जुदा करने का यत्न करता है और अभग्नसेन चोरसेनापति को भी बार २ महार्थ, महार्घ, महार्ह तथा राजार्ह उपहार भेजता है, भेज कर उस अभग्नसेन चोरसेनापति को विश्वास मे ले आता है।

टीका—पाठकों को यह तो स्मरण ही होगा कि महाबल नरेश की आज्ञा से सेनापति दण्डनायक ने चुने हुए सैनिकों के साथ शालाटवी चोरपल्ली पर आक्रमण करने के लिये पुरिमताल नगर से निकल कर उस ओर प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया था। अपने निश्चय के अनुसार सेनापति दण्डनायक जब पर्वत के समीप पहुँचा तो क्या देखता है? कि वहा अभग्नसेन भी अपने सैन्यबल के साथ उसके अवरोध के लिये बिल्कुल तैयार खड़ा है। दूर से दोनों की चार आखे हुई और एक दूसरे ने एक दूसरे को ललकारा। बस फिर क्या था, दोनों तरफ से आक्रमण आरम्भ हो गया और एक दूसरे पर अस्त्र शस्त्रादि से प्रहार होने लगा। दण्डनायक की सेना नीचे से और अभग्नसेन की सेना ऊपर से—पर्वत पर से प्रहार करने मे प्रवृत्त हो गई। दोनो तरफ से गोलियो और बाणो की वर्षा होने लगी। परन्तु जितनी अनुकूलता प्रहार करने के लिये अभग्नसेन के सैनिको को थी, उतनी दण्डनायक के सैनिकों को नहीं थी। कारण यह था कि दण्डनायक के सैनिक पर्वत के नीचे थे और अभग्नसेन के पर्वत के ऊपर। वे गोलिया और बाण मार कर वहीं छिप जाते थे जबकि इन को छिपने के लिये कोई स्थान नहीं था। इस लिये दण्डनायक की सेना को इस युद्ध में सब से अधिक क्षति पहुँची। परिणामस्वरूप वह चोरसेनापति की मार को न सह सका। उसके बहुत से सैनिक मारे गये और वह स्वयं भी इस युद्ध में अत्यधिक विक्षुब्ध हुआ और पराजित होकर पीछे पुरिमताल राजधानी को लौट गया।

"—हयमहिय॰ जाव पडिसेहेति"—यहां पठित जाव-यावत् पद से—हयमहियपवरवीर—घाइयविवडियचिन्धज्झयपडागं दिसो दिसिं—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों की वृत्तिकार-सम्मत व्याख्या इस प्रकार है—

(१) इन पदो की अर्थावगति के लिये देखो पृष्ठ १५८ का टिप्पण।

हतः—सैन्यस्य हतत्वात्, मथितो-मानस्य मन्थनात् प्रवरवीरा.—सुभटा घातिता:-विनाशिताः यस्य स तथा, विपतिताश्चिह्नध्वजा गरुडादिचिह्नयुक्तकेतव पताकाश्च यस्य स तथा, तत पदचतुष्टयस्य कर्मधारय । अनस्तं सर्वतो रणाद् निवर्तयति" अर्थात् जाव-यावत्—पद से विवक्षित पाठ मे दण्डनायक के हत, मथित आदि चार विशेषण हैं। इन का अर्थ निम्नोक्त है—

(१) हत—जिस के सैन्यबल को आहत कर दिया, अर्थात् जख्मी बना डाला है। (२) मथित—जिस के मान का मन्थन—मर्दन किया गया है। (३) प्रवरवीरघातित— जिस के प्रवर—अच्छे २ वीरों-योद्धाओं का विनाश कर दिया गया है। (४) विपतितचिन्हध्वजपताक—जिस की गरुडादि के चिन्हों से युक्त ध्वज और पताकायें (झण्डिए) गिरा दी गई हैं।

—"दिसो दिसि—इस पद के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं। जैसे कि—(१) रणक्षेत्र से सर्वथा हटा देना—भगा देना। (२) सामने की दिशा से अर्थात् जिस दिशा मे मुख है उस से अन्य दिशाओं मे भगा देना।

पुरिमताल राजधानी की ओर लौटने के बाद दण्डनायक महाबल नरेश की सेवा मे उपस्थित हुआ। अभग्नसेन द्वारा पराजित होने के कारण वह निस्तेज, निर्बल और पराक्रमहीन हो रहा था। उसने बड़े विनीत भाव से निवेदन करते हुए कहा, कि महाराज! बडी विकट समस्या है। चोर-सेनापति अभग्नसेन जिस स्थान में इस समय बैठा हुआ है, वहा उस पर आक्रमण करना, और उसे पकड कर लाना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भवप्राय है। उसके तथा उसके सैनिकों के प्रहार अमोघ—निष्फल न जाने वाले, हैं। उसके सैनिकों के भयकर आक्रमण ने हमें वापिस लौटने पर विवश ही नहीं किया अपितु हम मे फिर से आक्रमण करने का साहस ही नहीं छोडा।

महाराज! मुझे तो आज यह दृढ निश्चय हो चुका है कि उसे घुड़सवार सेना के बल से, मदमस्त हस्तियों के बल से, और शूरवीर योद्धाओ तथा रथों के समूह से भी, नहीं जीता जा सकता। अधिक क्या कहूँ, यदि चतुरगिणी सेना लेकर भी उस पर आक्रमण किया जाये तो भी वह जीते जी पकड़ा नहीं जा सकता।

आज का दिन महाबल नरेश के लिये बड़ा ही दुर्दिन प्रमाणित हुआ। ज्यों ज्यों वे दण्डनायक सेनापति के आक्रमण और महान असफलता को सूचित करने वाले शब्दों पर ध्यान देते हैं त्यों त्यों उनके हृदय मे बड़ा तीव्र आघात पहुचता है और चिन्ताओ का प्रवाह उस में ठाठ मारने लगता है। उन के जीवन में यह पहला ही अवसर है कि उन्हें युद्ध मे इस प्रकार के लज्जास्पद पराजय का अनुभव करना पड़ा, और वह भी एक लुटेरे से। एक तरफ तो वे नागरिकों को दिये हुए रक्षासम्बन्धी आश्वासन का ध्यान करते हैं और दूसरी तरफ अभग्नसेन पर किये गये आक्रमण की निष्फलता का ख्याल करते हैं। इन दोनों प्रकार के विचारों से उत्पन्न होने वाली आन्तरिक वेदना ने महाबल नरेश को किंकर्तव्य—विमूढ सा बना दिया। उन को इस पराजय का स्वप्न मे भी भान नहीं था। इस समय जो समस्या उपस्थित हुई है उसे किस प्रकार सुलझाया जाए? यह एक विकट प्रश्न था। अगर अभग्नसेन का दमन करके उस के अत्याचारों से पीडित प्रजा का सरंक्षण नहीं किया जाता तो फिर इस शासन का अर्थ ही क्या है? और वह शासक ही क्या हुआ कि जिस के शासन—काल मे उसकी शान्त प्रजा अन्यायियों और अत्याचारियों के नृशस कृत्यों से पीड़ित हो रही हो? इस प्रकार की उत्तरदायित्वपूर्ण विचार—परम्परा ने महाबल नरेश के हृदय को बहुत व्यथित कर दिया, और वे चिन्ता के गहरे समुद्र मे गोते खाने लगे।

कुछ समय के बाद विचारशील महाबल नरेश ने अपने सुयोग्य मन्त्रियों से विचार-विनिमय करना आरम्भ किया। मन्त्रियों ने बड़ी गम्भीरता से विचार करने के अनन्तर महाबल नरेश के सामने एक प्रस्ताव रखा। वे कहने लगे महाराज! नीतिशास्त्र की तो यही आज्ञा है कि जहां दण्ड सफल न हो सके वहां साम, भेद, दानादि का अनुसरण करना चाहिये। अब हमारे विचारों में यदि आप उसे—अभग्नसेन को पकड़ना ही चाहते हैं तो उसके साथ दण्डनीति से न काम ले कर साम, भेद अथवा उपप्रदान की नीति से काम लें और इन्हीं नीतियों द्वारा उसे विश्वास में ला कर पकड़ने का उद्योग करें। मन्त्रियों की इस बात का महाबल नरेश के हृदय पर काफी प्रभाव पड़ा और उन्हें यह सुझाव सुन्दर जान पड़ा तब उन्होंने मन्त्रियों के बतलाये हुए नीति-मार्ग के अनुसरण की ओर ध्यान दिया और उस में उन्हें सफलता की कुछ आशाजनक झलक भी प्रतीत हुई। इसी लिये दण्डनीति के प्रयोग की अपेक्षा उन्होंने साम, दान और भेद नीति का अनुसरण ही अपने लिये हितकर समझा और तदनुसार अभग्नसेन को प्रसन्न करने का तथा उसे विश्वास में लाने का आयोजन आरम्भ कर दिया और उसके विश्वासपात्र सैनिकों तथा अन्य सम्बन्धिजनों को वे अनेक प्रकार के प्रलोभनों द्वारा उस से पृथक् करने का उद्योग भी करने लगे। एवं अभग्नसेन की प्रसन्नता के लिये समय समय पर उसे विविध प्रकार के बहुमूल्य पुरस्कार भी भेजे जाने लगे जिस से कि उस के साथ मित्रता का गाढ सम्बन्ध सूचित हो सके। साराश यह है कि अभग्नसेन के हृदय से यह भाव निकल जाये कि महाबल नरेश की उस के साथ शत्रुता है, प्रत्युत उसे यही आभास हो कि महाबल नरेश उस का पूरा २ मित्र है, इसके अतिरिक्त उसे यह भी भान न हो कि जिन सैनिकों तथा मन्त्रीजनों के भरोसे पर वह अपने आप को एक शक्तिशाली व्यक्ति मान रहा है और जिन पर उसे पूर्ण भरोसा है वे अब उस के आज्ञानुसारी नहीं रहे अर्थात् उसके अपने नहीं रहे और समय आने पर उस की सहायता के बदले उस का पूरा २ विरोध करेंगे।

महाबल नरेश तथा उनके मन्त्री आदि ने जिस नीति का अनुसरण किया उस में वे सफल हुए और उन के इस नीतिमूलक व्यवहार का अभग्नसेन पर यह प्रभाव हुआ कि वह महाबल नरेश को शत्रु के स्थान में मित्र अनुभव करने लगा।

"अथामे"—इत्यादि पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में—**"अथामे"** तथाविधस्थामवर्जित **"—अबले त्ति"**—शरीरबलवर्जित, **"—अवीरिए त्ति"**—जीववीर्यरहित **"—अपुरिसक्कारपरक्कमे त्ति"**—पुरुषकार पौरुषाभिमान स एव निष्पादितस्वप्रयोजनः पराक्रमः, तयोनिषेधादपुरुषकारपराक्रम। **"अधारणिज्जमिति कट्टु"**—अधारणीय धारयितुमशक्य परबल स्थातु वा शक्य— मिति कृत्वा इति हेतो.। इस प्रकार है अर्थात् **अस्थामा** इत्यादि चारों पद दण्डसेनापति के विशेषण हैं। इस का अर्थ अनुक्रम से निम्नोक्त है—

(१) **अस्थामा**—तथाविध-युद्ध के अनुरूप स्थाम—मनोबल से रहित। (२) **अबल**—शारीरिक शक्ति से रहित। (३) **अवीर्य**—जीववीर्य-आत्मबल से विहीन। (४) **—अपुरुषकारपराक्रम**—पुरुषत्व का अभिमान-मैं पुरुष हूं, मेरे आगे कौन ठहर सकता है, इस प्रकार का आत्माभिमान, पुरुषकार कहलाता है, उस से जो स्वकार्य में सफलता होती है, उस का नाम पराक्रम है तब पुरुषकार और पराक्रम से हीन व्यक्ति **अपुरुषकारपराक्रम** कहा जाता है।

तथा **"अधारणिज्जं"** इस पद के दो अर्थ होते हैं—(१) शत्रु की सेना अधारणीय—पकड़ में न आने वाली (२) शत्रु की सेना के सन्मुख ठहरा नहीं जा सकता। इति कृत्वा का अर्थ है

इस कारण से।

"—करयल० जाव एव—" यहां पठित जाव—यावत् पद से और साथ में उल्लेख किये गये बिन्दु से जो पाठ विवक्षित है, उस को पृष्ठ २४६ पर लिखा जा चुका है।

"उरउरेणं" यह देश्य—देशविशेष में बोला जाने वाला पद है। इस का अर्थ साक्षात्—सन्मुख होता है। उरंउरेणं त्ति साक्षादित्यर्थः।

शास्त्रों मे नीति के "सामनीति, दाननीति, भेदनीति और दण्डनीति" ये चार भेद-प्रकार बतलाये गये हैं, इस में अन्तिम दण्डनीति है, जिस का कि अन्त मे ही प्रयोग करना नीति-शास्त्र सम्मत है, और तभी वह लाभप्रद हो सकता है। महाबल नरेश ने पहले की तीनों नीतियों की उपेक्षा कर के सब से प्रथम दण्डनीति का अनुसरण किया जो कि नीतिशास्त्र की दृष्टि से समुचित नहीं था। अतः इसका जो परिणाम हुआ वह पाठकों के समक्ष ही है। तब महाबल नरेश ने अभग्नसेन के निग्रहार्थ दण्डनीति को त्याग कर पहली तीन साम, दान और भेद नीतियों के अनुसरण करने का जो आचरण किया वह नीतिशास्त्र की दृष्टि से उचित ही कहा जायेगा। **साम** आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

(१) प्रेमोत्पादक वचन **साम** कहलाता है। (२) राजा का सैनिकों में, और सैनिकों का राजा मे अविश्वास उत्पन्न करा देने का नाम **भेद** है। (३) दान का ही दूसरा नाम **उपप्रदान** है, उस का अर्थ है—अभिमतार्थ दान अर्थात् इच्छित पदार्थों का देना। इन तीनों से जहां कार्य की सिद्धि न हो सके वहां पर चौथी अर्थात् दण्डनीति (दण्ड दे कर अर्थात् पीडित करके शासन में रखने की राजाओं की नीति) का प्रयोग किया जाता है। ऐसा नीतिज्ञों का आनुभविक आदेश है।

"जे वि य से अब्भिंतरगा सीसगभमा"—इन पदों की व्याख्या आचार्य अभयदेव सूरि ने इस प्रकार की है—

येऽपि च 'से' तस्याभग्नसेनस्याभ्यन्तरका आसन्ना मंत्रिप्रभृतयः किम्भूताः? "सीस-गभम त्ति" शिष्या एव शिष्यकास्तेषां भ्रमो-भ्रान्तिर्येषु ते शिष्यभ्रमाः, विनीततया शिष्यतुल्या इत्यर्थः अथवा शीर्षकं शिर एव शिरःकवचं वा तस्य भ्रमोऽव्यभिचारितया शरीररक्षकत्वेन वा ते शीर्षकभ्रमाः—अर्थात् प्रस्तुत सूत्र मे अभ्यन्तरक शब्द से—अभग्नसेन के मन्त्री आदि सहचर, यह अर्थ ग्रहण किया गया है, और "सीसगभमा" इस के "शिष्यकभ्रमा" और "शीर्षकभ्रमा" ऐसे दो संस्कृत प्रतिरूप होते हैं। इन दोनों प्रतिरूपों को लक्ष्य मे रख कर उक्त पद के तीन अर्थ होते हैं। जैसे कि—(१) शिष्य अर्थ को सूचित करने वाला दूसरा शब्द **शिष्यक** है जिस मे शिष्यत्व की भ्रान्ति हो, उसे **शिष्यकभ्रम** कहते हैं अर्थात् जो विनीत होने के कारण शिष्यतुल्य हैं, उन्हे **शिष्यकभ्रम** कहा जाता है (२) शरीररक्षक होने के नाते जिन को शरीर के तुल्य समझा जाता है वे **शीर्षकभ्रम** कहे जाते हैं (३) शिर का रक्षक होने के कारण जिन पर कवच का भ्रम किया जा रहा है अर्थात् जो शिर के कवच की भान्ति शिर की रक्षा करते हैं, वे भी **शीर्षकभ्रम** कहलाते हैं।

---

(१) **साम**—प्रेमोत्पादक वचनम्। **भेद**—स्वामिनि पदातिषु पदातीनां च स्वामिनि अविश्वासोत्पादनम्। **उपप्रदानम्**—अभिमतार्थदानमिति टीकाकारः

"—धणकणगरयणसंतसारसावतेज्जेण—" इस समस्त पद में धन, कनक, रत्न, सत्—सार, स्वापतेय, ये पाच शब्द हैं । **धन** सम्पत्ति का नाम है । **कनक** सुवर्ण को कहते हैं । **रत्न** का अर्थ है—वह छोटा, चमकीला बहुमूल्य खनिज पदार्थ, जिस का उपयोग आभूषणों आदि, में जड़ने के लिये होता है । **सत्सार** शब्द दुनिया की सब से उत्तम वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है और **स्वापतेय** शब्द रुपए पैसे आदि का परिचायक है ।

महत्थाइं—इत्यादि पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में निम्नोक्त है—

"—महत्थाइं—" महाप्रयोजनानि "**महग्घाइं**" महामूल्यानि "**महरिहाइं**" महता योग्यानि मह वा—पूजामर्हन्ति, महान् वा, अर्हः पूजा येषा तानि तथा, एवविधानि च कानिचित् केषाचित् योग्यानि भवन्तीत्यत आह—"**रायारिहाइं**" राज्ञामुचितानि । अर्थात् जिस का कोई महान् प्रयोजन—उद्देश्य हो उसे **महार्थ** कहते हैं और अधिक मूल्य वाले को **महार्घ** कहा जाता है । **महार्ह** पद के तीन अर्थ होते हैं, जैसे कि—(१) विशेष व्यक्तियों के योग्य वस्तु **महार्ह** कही जाती है । (२) जो पूजा के योग्य हो उसे **महार्ह** कहते हैं । (३) जिन की महती पूजा हो वे **महार्ह** कहलाते हैं **महार्थ महार्घ** और **महार्ह** ये वस्तुए तो अन्य कई एक के योग्य भी हो सकती हैं, इस लिये महाबल नरेश ने अभग्नसेन की मान प्रतिष्ठा के लिये उसे **राजार्ह** राजा लोगों के योग्य उपहार भी प्रेषित किये ।

प्रस्तुत सूत्र में दण्डनायक के युद्ध में परास्त होने पर मन्त्रियों के सुझाव से अभग्नसेन के निग्रह के लिये महाबल नरेश ने जो उपाय किया और उस में उन्हों ने जो सफलता भी प्राप्त की उस का वर्णन किया गया है । अब अग्रिम सूत्र में महाबल नरेश द्वारा अभग्नसेन के निग्रह के लिये किये जाने वाले उपायविशेष का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तते णं से महब्बले राया अन्नया कयाइ पुरिमताले णगरे एगं महं महतिमहालियं कूडागारसालं करेति, अणेगखंभसतसंनिविट्ठं पासाइयं ४ । तते णं से महब्बले राया अन्नया कयाइ पुरिमताले नगरे उस्सुक्कं जाव दसरत्तं पमोयं उग्घोसावेति**

(१) छाया—तत. स महाबलो राजा अन्यदा कदाचित् पुरिमताले नगरे एका महती महातिमहालिका (महातिमहती) कूटाकारशाला करोति, अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टा प्रासादीया ४ । ततः स महाबलो राजा अन्यदा कदाचित् पुरिमताले नगरे उच्छुल्क यावद् दशरात्र प्रमोदमुद्घोषयति २ कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति २ एवमवादीत्—गच्छत यूय देवानुप्रिया ! शालाटव्यां चोरपल्ल्या, तत्र यूय अभग्नसेन चोरसेनापतिं करतल० यावदेव वदत—एव खलु देवानुप्रिया ! पुरिमताले नगरे महाबलेन राज्ञा उच्छुल्को यावत् दशरात्र प्रमोद उद्घोषित तत् किं देवानुप्रिया ! विपुलमशन ४ पुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालकार चेह शीघ्रमानीयताम्, उताहो स्वयमेव गमिष्यथ ? तत. कौटुम्बिकपुरुषा महाबलस्य राज्ञ कर० यावत् पुरिमतालाद् नगराद् प्रतिनिष्क्रामति २ नातिविकृष्टैः अध्वभिः (प्रयाणकैः) सुखैः वसतिप्रातराशैः, यत्रैव शालाटवी चोरपल्ली तत्रैवोपागता २ अभग्नसेन चोरसेनापति करतल०यावदेवमवादिषु.—एव खलु देवानुप्रियाः! पुरिमताले नगरे महाबलेन राज्ञा उच्छुल्को यावत्, उताहो स्वयमेव गमिष्यथ ? तत सोऽभग्नसेनश्चोर-सेनापतिस्तान् कौटुम्बिकपुरुषान् एवमवदत्—अह देवानुप्रियाः ! पुरिमताल नगर स्वयमेव गच्छामि । तान् कौटुम्बिकपुरुषान् सत्कारयति २ प्रतिविसृजति ।

२ त्ता कोडु ंबियपुरिसे सद्दावेति २ एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणु० ! सालाडवीए चोरपल्लीए, तत्थं णं तुब्भे अभग्गसेणं चोरसे० करयल० जाव एव वयह—एवं खलु देवा० ! पुरिमताले णगरे महब्बलेण रएणा उस्सुक्के जाव दसरत्ते पमोदे उग्घोसिते । तं किएणं देवाणु० ! विउलं असणं ४ पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे य इहं हव्वमाणेज्जा उयाहु सयमेव गच्छिज्जा ? तते णं कोडु ंबियपुरिसा महब्बलस्स रएणो कर० जाव पुरिमतालाओ णगराओ पडिनिक्खमंति २ णातिविकिट्ठेहि अद्धाणेहि [1]सुहेहि वसहिपायरासेहि जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव उवा० २ अभग्गसेणं चोरसेणावति करयल० जाव एवं वयासी—एवं खलु देवाणु० ! पुरिमताले णगरे महब्बलेण रएणा उस्सुक्के जाव उदाहु सयमेव गच्छिज्जा ? तते णं से अभग्ग० चोरसे० ते कोडु ंबियपुरिसे एवं वयासी—अहएणं देवाणु० ! पुरिमतालं णगरं सयमेव गच्छामि । ते कोडु ंबियपुरिसे सक्कारेति २ पडिविसज्जेति ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । से—उस । महब्बले—महाबल । राया—राजा । अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । पुरिमताले—पुरिमताल । णगरे—नगर में । एगं—एक । महं—प्रशस्त । महतिमहालियं—अत्यन्त विशाल । कूडागारसालं—[2]कूटाकारशाला—षड्यत्र के लिये बनाया हुआ घर । करेति—बनवाई । अणेगखंभसतसंनिविट्ठं—जो कि सैकड़ों स्तम्भो से युक्त । पासाइय ४—१ प्रासादीय-मन को हर्षित करने वाली, २ दर्शनीय—जिसे बारम्बार देखने पर भी आखें न थके, ३ अभिरूप—जिसे एक बार देख लेने पर भी पुन. देखने की लालसा बनी रहे और ४ प्रतिरूप—जिसे जब भी देखा जाय तब भी वहा नवीनता ही प्रतीत हो, ऐसी थी । तते णं—तदनन्तर । से—उस । महब्बले—महाबल । राया—राजा ने । अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । पुरिमताले—पुरिमताल । णगरे—नगर में । उस्सुक्क—उच्छुल्क—जिस मे राजदेय भाग—महसूल माफ कर दिया हो । जाव—यावत् । दसरत्तं—दस दिन पर्यन्त । पमोयं—प्रमोद—उत्सव की । उग्घोसावेति २ त्ता—उद्घोषणा कराई, उद्घोषणा करा कर । कोडु ंबियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषों को । सद्दावेति२—बुलाता है, बुला कर । एवं—इस प्रकार । वयासी—कहने लगा । देवाणु० !—हे भद्र पुरुषो ! । तुब्भे—तुम । सालाडवीए—शालाटवी । चोरपल्लीए—चोरपल्ली मे । गच्छह णं—जाओ । तत्थ णं—वहा पर । तुब्भे—तुम । अभग्गसेणं—अभग्नसेन । चोरसे०—चोरसेनापति से । करयल० जाव—दोनों हाथ जोड़ यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखो वाली अजलि करके । एवं—इस प्रकार । वयह—कहो । देवाणु० !— हे महानुभाव ! । एवं—इस प्रकार । खलु—निश्चय से । पुरिमताले—पुरिमताल । णगरे—नगर मे । महब्बलेणं—महाबल ।

(१) सुखै· सुखकारकै शुभैर्वा—प्रशस्तैः, वसतिप्रातराशै —मार्गविश्रामस्थानै पूर्वाह्णवर्ति-लघुभोजनैश्च मार्गे सुखपूर्वक निवसन, यमद्वयमध्ये भोजन चेत्येतद्द्वय पथिकाय परमहितकारकमिति भाव ।

(२) कूटस्य शिखरस्य (स्तूपिकायाः) इव आकारो यस्या शालाया. गृहविशेपस्य सा कूटाकारशाला --अर्थात् जिस भवन का आकार पर्वत के शिखर—चोटी के समान है उसे कूटाकारशाला कहते हैं ।

रएणा—राजा ने। **उस्सुक्के**—उच्छुल्क । **जाव**—यावत् । **दसरत्ते**—दस दिन का। **पमोदे**—प्रमोद-उत्सव। **उग्घोसिते**—उद्‌घोषित किया है, । **तं**—इस लिये । **देवाणु०** !—हे महानुभाव ! । **किएणं**—क्या । **विपुलं**—विपुल। **असणं ४**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम तथा। **पुप्फ**—पुष्प। **वत्थ**—वस्त्र। **गंध**—सुगंधित द्रव्य। **मल्लालंकारे**—माला और अलकार—भूषण। **इहं**—यहा पर ही। **हव्वमाणेज्जा**—शीघ्र लाये। **उयाहु**—अथवा। **सयमेव**—आप स्वय ही। **गच्छिज्जा ?**—पधारेंगे ?। **तते ण** तदनन्तर। **कोडुंवियपुरिसा**—कौटुम्बिक पुरुषो ने। **महव्वलस्स**—महावल। **रएणो**—राजा की, उक्त आज्ञा को। **कर०**—दोनों हाथ जोड मस्तक पर दस नखों वाली अजलि करके। **जाव**—यावत् स्वीकार किया और वे। **पुरिमतालाओ**—पुरिमताल । **णगराओ**—नगर मे । **पडिनिक्खमंति २**—निकलते हैं, निकल कर। **णातिविकिट्ठेहिं**—नातिविकृष्ट—जोकि ज्यादा लम्बे नहीं, ऐसे । **अद्धाणेहिं**—प्रयाणकों—यात्राओं से । **सुहेहिं**—सुखजनक। **वसहिपायरासेहिं**—विश्रामस्थानों तथा प्रातःकालीन भोजनों द्वारा । **जेणेव**—जहा। **सालाडवी**—शालाटवी । **चोरपल्ली**—चोरपल्ली थी। **तेणेव**—वहा पर। **उवा०२**—आ जाते हैं, आकर । **अभग्गसेणं**—अभग्नसेन । **चोरसेणावतिं**—चोरसेनापति को । **करयल० जाव**—दोनों हाथ जोड़ यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अजलि करके अर्थात् विनयपूर्वक। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगे। **एवं**—इस प्रकार। **खलु**—निश्चय से। **देवाणु०** !—हे महानुभाव !। **पुरिमताले**—पुरिमताल। **णगरे**—नगर मे। **महव्वलेण**—महाबल । **रएणा**—राजा ने। **उस्सुक्के**—उच्छुल्क। **जाव**—यावत् दश दिन का प्रमोद—उत्सव आरभ किया है, तो क्या आप के लिये अशनादिक यहा पर लाया जाये। **उदाहु**—अथवा। **सयमेव**—आप स्वयं ही वहा। **गच्छिज्जा ?**—पधारेंगे ?। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **अभग्ग०**—अभग्नसेन। **चोरसे०**—चोरसेनापति। **कोडुंवियपुरिसे**—उन कौटुम्बिक पुरुषों को। **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले। **देवाणु०** !—हे भद्र पुरुषो !। **अहण्णं**—मैं। **पुरिमताल णगरं**—पुरिमताल नगर को। **सयमेव**—स्वय ही। **गच्छामि**—चलूंगा, ऐसे कह कर। **ते**—उन। **कोडुंवियपुरिसे**—कौटुम्बिक पुरुषों का। **सक्कारेति २**—सत्कार करता है, करके। **पडिविसज्जेति**—उन को विदा करता है।

मूलार्थ—तदनन्तर किसी अन्य समय महावल नरेश ने पुरिमताल नगर में प्रशस्त एव वडी विशाल और १ प्रासादीय—मन मे हर्ष उत्पन्न करने वाली, २ दर्शनीय—जिसे देखने पर भी आंखें न थके, ३ अभिरूप—जिसे देखने पर भी पुन दर्शन की इच्छा बनी रहे और ४ प्रतिरूप—जिसे जब भी देखा जाय, तव ही वहां कुछ नवीनता प्रतिभासित हो, ऐसी सैकड़ों स्तम्भों वाली एक कूटाकारशाला बनवाई । तदनन्तर महावल नरेश ने किसी समय पर (उस के निमित्त) उच्छुल्क यावत् दशदिन के उत्सव की उद्‌घोषणा कराई और कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर वे कहने लगे, हे भद्रपुरुषो ! तुम शालाटवी चोरपल्ली में जाओ, वहा अभग्नसेन चोरसेनापति से दोनों हाथ जोड मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि कर के इस प्रकार निवेदन करो—

हे महानुभाव ! पुरिमताल नगर में महावल नरेश ने उच्छुल्क यावत् दस दिन पर्यन्त प्रमोद—उत्सवविशेष की उद्घोषणा कराई है तो क्या आप के लिये विपुल अशनादिक और पुष्प, वस्त्र, माला तथा अलकार यहीं पर उपस्थित किये जाए अथवा आप स्वय वहा पधारेंगे ?

तदनन्तर वे कौटुम्बिक पुरुष महाबल नरेश की इस आज्ञा को दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके अर्थात् विनयपूर्वक सुन कर तदनुसार पुरिमताल नगर से निकलते हैं और छोटी छोटी यात्राएं करते हुए तथा सुखजनक विश्रामस्थानों एवं प्रातःकालीन भोजनों

आदि के सेवन द्वारा जहां शालाटवी नामक चोरपल्ली थी वहां पहुंचे और वहा पर उन्हों ने अभग्नसेन चोरसेनापति से दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर दस नखों वाली अजलि करके इस प्रकार निवेदन किया—

महानुभाव ! पुरिमताल नगर मे महाबल नरेश ने उच्छुल्क यावत् दस दिन का प्रमोद उद्घोषित किया है, तो क्या आप के लिये अशनादिक यावत् अलकार यहां पर उपस्थित किये जाए अथवा आप वहा पर स्वय चलने की कृपा करेगे ? तब अभग्नसेन चोरसेनापति ने उन कौटुम्बिक पुरुषों को उत्तर मे इस प्रकार कहा—

हे भद्र पुरुषो ! मै स्वय ही पुरिमताल नगर मे आऊगा। तत्पश्चात् अभग्नसेन ने उन कौटुम्बिक पुरुषों का उचित सत्कार कर उन्हे विदा किया—वापिस भेज दिया ।

टीका—एक दिन नीतिकुशल महाबल नरेश ने स्वकार्यसिद्धि के लिये अपने प्रधान मत्री को बुलाकर कहा कि पुरिमताल नगर के किसी प्रशस्त विभाग म एक कूटाकारशाला का निर्माण कराओ, जो कि हर प्रकार से अद्वितीय हो और देखने वालों का देखते २ जी न भर सके । उस मे स्तम्भों की सजावट इतनी सुन्दर और मोहक हो कि दर्शकों की टिकटिकी बन्ध जावे।

नृपति के आदेशानुसार प्रधान मत्री ने शालानिर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया और प्रान्त भर के सर्वोत्तम शिल्पियों को इस कार्य मे नियोजित कर दिया गया। मत्री की आज्ञानुसार बड़ी शीघ्रता से कूटाकार— शाला का निर्माण होने लगा और वह थोडे ही समय मे बन कर तैयार हो गई । प्रधान मत्री ने महाराज को उसकी सूचना दी और देखने की प्रार्थना की । महाबल नरेश ने उसे देखा और वे उसे देख कर बहुत प्रसन्न हुए ।

द्रव्य मे बडी अद्भुत शक्ति है, वह सुसाध्य को दुसाध्य और दुस्साध्य को सुसाध्य बना देता है पुरिमताल नगर की यह कूटाकारशाला अपनी कक्षा की एक थी । उस का निर्माण जिन शिल्पियों के हाथों से हुआ वे भारतीय शिल्प—कला तथा चित्रकला के अतिरिक्त विदेशीय शिल्प-कला में भी पूरे २ प्रवीण थे । उन्हो ने इस में जिस शिल्प और चित्र कला का प्रदर्शन कराया वह भी अपनी कक्षा का एक ही था । साराश यह है कि इस कूटाकारशाला से जहा पुरिमताल नगर की शोभा मे वृद्धि हुई वहा महाबल नरेश की कीर्ति मे भी चार चाद लग गये ।

तदनन्तर इस कूटाकार—शाला के निमित्त महाबल नरेश ने दस दिन के एक उत्सव का आयोजन कराया, जिस मे आगन्तुकों से किसी भी प्रकार का राजदेय कर महसूल वगैरह लेने का निषेध कर दिया गया था । महाबल नरेश ने अपने अनुचरों को बुला कर जहा उक्त उत्सव में सम्मिलित होने के लिये अन्य प्रान्तीय प्रतिष्ठित नागरिको को आमत्रित करने का आदेश दिया, वहा चोरपल्ली के चोरसेनापति अभग्नसेन को भी बुलाने को कहा । अभग्नसेन के लिये महाराज राजा महाबल का खास आदेश था । उन्होंने अनुचरों से निम्नोक्त शब्दों मे निवेदन करने की आज्ञा दी—

महाराज ने एक अतीव रमणीय और दर्शनीय कूटाकारशाला तैयार कराई है, वह अपनी कक्षा की एक ही है । उस के उपलक्ष्य मे एक बृहद् उत्सव का आयोजन किया गया है, जो कि दस दिन तक बराबर चालू रहेगा उस मे और भी बहुत से प्रतिष्ठित सज्जनों को आमन्त्रित किया गया है और वे पधारेंगे भी । तथा आप को आमत्रण देते हुए महाराज ने कहा है कि

आप के लिये इस उत्सवविशेष के उपलक्ष्य में अशनादिक सामग्री यहीं पर उपस्थित की जाय या आप स्वयं ही पधारने का कष्ट उठायेंगे ?

तदनन्तर वे लोग महाबल नरेश के इस आदेश को लेकर चोरपल्ली के सेनापति अभग्नसेन के पास पहुंचे और उन्होंने विनीत शब्दों में राजा की ओर से दिये गये सन्देश को कह सुनाया। अभग्नसेन ने उन का यथोचित सत्कार किया और पुरिमताल नगर में कूटाकारशाला के निमित्त आरम्भ किये गये महोत्सव में स्वयं वहां उपस्थित हो कर सम्मिलित होने का वचन दे कर उन्हें वापिस लौटा दिया ।

पाठक यह तो समझते ही हैं कि महाबल नरेश का चोरपल्ली के सेनापति अभग्नसेन को पुरिमताल में बुलाने का क्या प्रयोजन है ? और कौन सी नीति उस में काम कर रही है ? तथा उस में विश्वासघात जैसे निकृष्टतम व्यवहार का कितना हाथ है ? बड़े से बड़ा योद्धा और वीरपुरुष भी विश्वास में आकर नितान्त कायरों (बुज़दिलों) के हाथ से मात खा जाता है ।

जिस नीति का अनुसरण महाबल नरेश ने किया है वह नीतिशास्त्र की दृष्टि से भले ही आचरणीय हो परन्तु वह प्रशंसनीय तो नहीं कही जा सकती और धर्मशास्त्र की दृष्टि से तो उस की जितनी भी भर्त्सना की जाये, उतनी ही कम है ।

सूत्रगत **"—महं महतिमहालियं"** इत्यादि पदों की व्याख्या प्रकृत सूत्र के व्याख्याकार श्री अभयदेव सूरि के शब्दों में—**"महं महतिमहालियं कूडागारसालं त्ति**—महती प्रशस्ता, महती चासौ अतिमहालिका च गुर्वी महातीमहालिका ताम् अत्यन्तगुरुकामित्यर्थः । **"कूडागारसालं त्ति"** कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्या सा तथा, स चासौ शाला चेति समास अतस्ताम् । इन पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

महती का अर्थ है—प्रशस्त—सुन्दर । **महातिमहालिका** शब्द अत्यधिक विशाल का परिचायक है । **कूट** पर्वत के शिखर—चोटी का नाम है । कूट के समान जिस का आकार—बनावट हो उसे कूटाकारशाला कहते हैं। कोषकार **महतिमहालियं** पद का संस्कृत रूप '**—महातिमहती ऐसा—**' भी बतलाते हैं ।

—"उस्सुक्कं जाव दसरत्तं—यहां पठित **जाव यावत्** पद से—**"उक्करं अभडप्पवेसं, अदंडिमकुदंडिमं, अधरिमं, अधारणिज्जं, अणुद्धयमुयंगं, अमिलायमल्लदामं, गणियावरनाडइज्जकलियं, अणेगतालाचराणुचरियं, पमुइयपक्कीलियाभिरामं,** जहारिहं—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । उच्छुल्क आदि पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) **उच्छुल्क**—जिस उत्सव में आई हुई किसी भी वस्तु पर राजकीय शुल्क—महसूल नहीं लिया जाता उसे **उच्छुल्क** कहते हैं ।

(२) **उत्कर**—जिस उत्सव में दुकानों के लिये ली गई जमीन का कर—भाड़ा तथा क्रयविक्रय के लिये लाये गये गाय आदि पशुओं का कर—महसूल न लिया जाए, उसे **उत्कर** कहते हैं ।

(३) **अभटप्रवेश**—जिस उत्सव में राजपुरुष किसी के घर में प्रवेश नहीं कर सकते उस का नाम **अभटप्रवेश** है। तात्पर्य यह है कि उस उत्सव में किसी राजपुरुष द्वारा किसी घर की तलाशी नहीं ली जा सकती ।

(४) **अदण्डिमकुदण्डिम**—राज्य की व्यवस्था को बनाए रखने के लिये अपराध के अनुसार जो सजा दी जाती है उसे **दण्ड** कहते हैं और न्यूनाधिक—कमती बढ़ती सजा को **कुदंड** कहा जाता है।

दण्ड से निर्वृत्त—उत्पन्न द्रव्य **दण्डिम** और कुदण्ड से निर्वृत्त द्रव्य **कुदंडिम** कहलाता है। इन दोनों का जिस उत्सव मे अभाव हो उसे **अदण्डिमकुदण्डिम** कहते हैं।

(५) **अधरिम**—धरिम शब्द ऋणद्रव्य (कर्जा) का परिचायक है। जिस उत्सव मे कोई किसी से अपना कर्जा नही ले सकता वह **अधरिम** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इस उत्सव मे कोई किसी को ऋण के कारण पीड़ित नही कर सकेगा।

(६) **अधारणीय**—जिस उत्सव मे दुकान आदि लगाने के लिये राजा की ओर से आर्थिक सहायता दी जावे उसे **अधारणीय** कहते हैं। तात्पय यह है कि यदि किसी को काम करने के लिये रुपये की आवश्यकता हो तो वह किसी से कर्जा नही लेगा, प्रत्युत राजा अपनी ओर से उसे रुपया देगा जोकि फिर वापिस नही लिया जायेगा। ऐसी व्यवस्था जिस उत्सव में हो उसे **अधारणीय** कहा जाता है।

(७) **अनुद्धूतमृदंग**—जिस उत्सव मे वादकों-बजाने वालों ने, मृदङ्ग—तबलों को बजाने के लिये ठीक ढग से ऊचा कर लिया है। **अथवा** जिसमे बजाने वालों ने बजाने के लिये मृदगो को परिगृहीत—ग्रहण किया हुआ हो, उस उत्सव को **अनुद्धूतमृदंग** कहा जाता है।

(८) **अम्लानमाल्यदामा**—जिस उत्सव में अम्लान—प्रफुल्लित पुष्प और पुष्पमालाओं का प्रबन्ध किया गया हो, उसे **अम्लानमाल्यदामा** कहते हैं।

(९) **गणिकावरनाटकीयकलित**—जो उत्सव प्रधान वेश्याओं और अच्छे २ नाटक करने वाले नटों से युक्त हो, अर्थात् जिस उत्सव में विख्यात वेश्याओं के गान एव नृत्यादि का और चित्ताकर्षक नाटकों का विशेष प्रबन्ध किया गया हो, उसे **गणिकावरनाटकीयकलित** कहते हैं।

(१०) **अनेकतालाचरानुचरित**—तालाचर—ताल बजा कर नाचने वाले का नाम है। जिस उत्सव मे ताल बजाकर नाचने वाले अनेक लोग अपना कौशल दिखाते हैं, उस उत्सव को **अनेकतालाचरानुचरित** कहते हैं।

(११) **प्रमुदितप्रक्रीडिताभिराम**—जो उत्सव प्रमुदित—तमाशा दिखाने वाले और प्रक्रीडित-खेले दिखाने वालों से अभिराम—मनोहर हो, उसे **प्रमुदितप्रक्रीडिताभिराम** कहते हैं।

(१२) **यथार्ह**—जो उत्सव सर्व प्रकार से योग्य—आदर्श अथवा व्यवस्थित हो उसे **यथार्ह** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह उत्सव अपनी उपमा स्वय ही रहेगा। इस की आदर्शता एव व्यवस्था अनुपम होगी।

"**—करयल॰ जाव एव—**"यहा पठित **जाव यावत्** पद से विवक्षित पदों का विवर्ण पृष्ठ २४६ पर लिखा जा चुका है।

"**—वसहिपायरासेहि**-" इस पद का अर्थ वृत्तिकार के शब्दो में—**वासकप्रातर्भोजनैः**—इस प्रकार है। यहा **वसति** शब्द वासक—पड़ाव का बोधक है और **प्रातराश** शब्द **प्रात** कालीन भोजन का परिचायक है, जिसको कलेवा या नाश्ता भी कहा जाता है।

महाबल नरेश के भेजे हुए अनुचरों को सप्रेम उत्तर देकर विदा करने के बाद अभग्नसेन क्या करता है? और पुरिमताल नगर में जाने पर उसके साथ क्या व्यवहार होता है? अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र में उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से अभग्गसेणे चोरसे० बहूहिं मित्त० जाव परिवुडे ण्हाते जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारभूसिते सालाडवीओ चोरपल्लीओ पडिनिक्खमति २ त्ता जेणेव पुरिमताले णगरे जेणेव महब्बले राया तेणेव उवा० २ त्ता करयल० महब्बलं रायं जएणं विजएणं वद्धावेति वद्धावेत्ता, महत्थं जाव पाहुडं उवणेति । तते ण से महब्बले राया अभग्गसेणस्स चोरसे० तं महत्थ जाव पडिच्छति। अभग्गसेणं चोरसेणावति सक्कारेति २ संमाणेति २ पडिविसज्जेति । कूडागारसालं च से आवसहं दलयति । तते णं से अभग्गसेणे चोरसेणावती महब्बलेणं रण्णा विसज्जिते समाणे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छति । तते णं से महब्बले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणु० ! विउलं असणं ४ उवक्खडावेह २ तं विउलं असणं ४ सुरं च ५ सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च अभग्गसेणस्स चोरसे० कूडागारसालाए उवणेह। तते णं कोडुंबियपुरिसा करयल० जाव उवणेंति। तते णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई बहूहि मित्त० सद्धिं संपरिवुडे ण्हाते जाव सव्वालंकारविभूसिते तं विउलं असणं ४ सुरं च ५ आसाएमाणे ४ पमत्ते विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन । **चोरसे०**—चोर—सेनापति । **बहूहिं**—बहुत से । **मित्त०**—मित्रों से । **जाव**—यावत् । **परिवुडे**—परिवृत—घिरा हुआ । **ण्हाते**—नहाया । **जाव**—यावत् । **पायच्छित्ते**—दुष्ट स्वप्नादि के फल को नष्ट करने के लिये प्रायश्चित्त के रूप में मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक कार्य किए हुए । **सव्वालंकार-विभूसिते**—सब आभूषणों से अलंकृत हुआ । **सालाडवीओ**—शालाटवी नामक । **चोरपल्लीओ**—चोरपल्ली से । **पडिनिक्खमति २ त्ता**—निकलता है, निकल कर । **जेणेव**—जहां पर । **पुरिमताले**—पुरिमताल । **णगरे**—नगर था और । **जेणेव**—जहा पर । **महब्बले**—महाबल । **राया**—राजा

(१) छाया—ततः सोऽभग्नसेनश्चोरसेनापतिर्बहूभिर्मित्र० यावत् परिवृतः स्नातो यावत् प्रायश्चित्तः सर्वालंकारभूषितः शालाटवीतश्चोरपल्लीतः प्रतिनिष्क्रामति २ यत्रैव पुरिमताल नगरं यत्रैव महाबलो राजा तत्रैवोपागच्छति । करतल० महाबलं राजानं जयेन विजयेन वर्धयति, वर्धयित्वा महार्थं यावत् प्राभृतमुपनयति । ततः स महाबलो राजाऽभग्नसेनस्य चोरसेनापतेस्तद् महार्थं यावत् प्रतीच्छति । अभग्नसेनं चोरसेनापतिं सत्कारयति २ सम्मानयति २ प्रतिविसृजति । कूटाकारशालां च तस्यावसथं दापयति । ततः सोऽभग्नसेनश्चोरसेनापतिः महाबलेन राज्ञा विसर्जितः सन् यत्रैव कूटाकारशाला तत्रैवोपागच्छति । ततः स महाबलो राजा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति एवमवादीत्—गच्छत यूयं देवानुप्रियाः ! विपुलमशनं ४ उपस्कारयत २ तद् विपुलमशनं ४ सुरां च ५ सुबहु पुष्पवस्त्रगंधमाल्यालंकारं च अभग्नसेनस्य चोरसे० कूटाकारशालायामुपनयत । ततस्ते कौटुम्बिकपुरुषाः करतल० यावदुपनयन्ति । ततः सोऽभग्नसेनश्चोरसेनापतिः बहुभिः मित्र० सार्द्धं संपरिवृतः स्नातो यावत् सर्वालंकारविभूषितस्तद् विपुलमशनं ४ सुरां च ५ आस्वादयन् ४ प्रमत्तो विहरति ।

था। **तेणेव**—वहा पर। **उवा० २ त्ता**—आजाता है, आकर। **करयल०**—दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दस नखों वाली अजली कर के। **महब्बलं**—महाबल। **रायं**—राजा को। **जएणं**—जय एव। **विजएणं**—विजय शब्द से। **वद्धावेति**—बधाई देता है। **वद्धावेत्ता**—बधाई देकर। **महत्थं**—महार्थ। **जाव**—यावत्। **पाहुडं**—प्राभृत—उपहार को। **उवणेति**—अर्पण करता है। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—उस। **महब्बले**—महाबल। **राया**—नरेश। **अभग्गसेणस्स**—अभग्नसेन। **चोरसे०**—चोरसेनापति के। **तं**—उस। **महत्थं**—महार्थ। **जाव**—यावत् प्राभृत—भेट को। **पडिच्छति**—स्वीकार किया और। **अभग्गसेणं**—अभग्नसेन। **चोरसेणावति**—चोरसेनापति का। **सक्कारेति २ संमाणेति २**—सत्कार किया और सम्मान किया, सत्कार सम्मान करके उसे। **पडिविसज्जेति**—प्रतिविसर्जित किया—विदा किया। **च**—और। **से**—उसे। **कूडागारसालं**—कूटाकारशाला में। **आवसहं**—ठहरने के लिये स्थान। **दलयति**—दिया। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन। **चोरसेणावती**—चोरसेनापति। **महब्बलेणं**—महाबल। **रणणा**—राजा से। **विसज्जिते समाणे**—विदा किया हुआ। **जेणेव**—जहा पर। **कूडागारसाला**—कूटाकारशाला थी। **तेणेव**—वहा पर। **उवागच्छति**—आता है और आकर वहा ठहर जाता है। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—उस। **महब्बले**—महाबल। **राया**—राजा ने। **कोडुंवियपुरिसे**—कौटुम्बिकपुरुषों को। **सद्दावेति २ त्ता**—बुलाया और बुलाकर वह। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा। **देवाणु०**!—हे भद्रपुरुषो!। **तुब्भे**—तुम। **गच्छह णं**—जाओ, जाकर। **विउल**—विपुल। **असणं ४**—अशन, पान, खादिम और स्वादिम को। **उवक्खडावेह २**—तैयार कराओ, तैयार करा कर। **तं**—उस। **विउलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादिक सामग्री। **सुरं च ५**—और सुरादिक पाच प्रकार के मद्यों को तथा। **सुबहुं**—अनेकविध। **पुप्फ**—पुष्प। **वत्थ**—वस्त्र। **गंध**—सुगधित द्रव्य। **मल्लालंकारं च**—और माला तथा अलकारादि को। **अभग्गसेणस्स**—अभग्नसेन। **चोरसे०**—चोरसेनापति को। **कूडागारसालाए**—कूटाकारशाला में। **उवणेह**—पहुँचाओ। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **कोडुंवियपुरिसा**—कौटुम्बिक पुरुष। **करयल०**—दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दस नखों वाली अजलि कर के। **जाव**—यावत्। **उवणेति**—उन सब पदार्थों को वहा पहुचा देते हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **अभग्गसेणे**—अभग्नसेन। **चोरसेणावई**—चोरसेनापति **बहूहिं**—अनेक। **मित्त०**—मित्रादि के। **सद्धिं**—साथ। **संपरिवुडे**—सपरिवृत—घिरा हुआ। **एहाया**—स्नान किये हुए। **जाव**—यावत्। **सव्वालंकारविभूसिते**—सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित हुआ। **तं**—उस। **विउलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादिक। **सुरं च ५**—सुरादिक—पञ्चविध—मद्यों का। **आसाएमाणे ४**—आस्वादन, विस्वादन आदि करता हुआ। **पमत्ते**—प्रमत्त हो कर। **विहरति**—विहरण करता है।

मूलार्थ—तदनन्तर मित्र आदि से घिरा हुआ वह अभग्नसेन चोरसेनापति स्नान से निवृत्त हो, यावत् अशुभ स्वप्न का फल विनष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त के रूप मे मस्तक पर तिलक और अन्य मांगलिक कार्य करके समस्त आभूषणों से अलकृत हो शालाटवी चोरपल्ली से निकल कर जहा पुरिमताल नगर था और जहां पर महाबल नरेश था वहा पर आता है आकर दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि करके महाबल नरेश को जय एवं विजय शब्द से बधाई देता है, बधाई दे कर महार्थ यावत् राजा के योग्य प्राभृत—भेण्ट

अर्पण करता है । तदनन्तर महाबल नरेश अभग्नसेन चोरसेनापति द्वारा अर्पण किये गये उस उपहार को स्वीकार करके उसे सत्कार और सन्मान पूर्वक अपने पास से विदा करता हुआ कूटाकारशाला मे उसे रहने के लिए स्थान दे देता है ।

तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति महाबल नरेश द्वारा सत्कारपूर्वक विसर्जित हो कर कूटाकारशाला मे जाता है और वहा पर निवास करता है । इधर महाबल नरेश ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहा कि तुम लोग विपुल अशनादिक सामग्री को तैयार कराओ और उसे, तथा पाच प्रकार की मदिराओं एव अनेकविध पुष्पों, मालाओं और अलंकारों का कूटाकारशाला मे अभग्नसेन चोरसेनापति की सेवा मे पहुचादो ।

कौटुम्बिक पुरुषों ने राजा की आज्ञा के अनुसार विपुल अशनादिक सामग्री वहा पहुंचा दी । तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति स्नानादि से निवृत्त हो, समस्त आभूषणों को पहन कर अपने बहुत से मित्रों और ज्ञातिजनों के साथ उस विपुल अशनादिक तथा पंचविध सुरा आदि का सम्यक् आस्वादन, विस्वादन आदि करता हुआ प्रमत्त हो कर विहरण करने लगा ।

टीका—महाबल नरेश द्वारा प्राप्त निमत्रण को स्वीकार करने के अनन्तर चोरपल्ली के सेनापति अभग्नसेन ने अपने साथियों को बुला कर महाबल नरेश के निमत्रण का सारा वृत्तान्त कह सुनाया और साथ में यह भी कहा कि मैंने निमत्रण को स्वीकार कर लिया है अत. हमें वहा चलने की तैयारी करनी चाहिये ? क्योंकि महाराज महाबल हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे । यह सुन सब ने अभग्नसेन के प्रस्ताव का समर्थन किया और सब के सब अपनी २ तैयारी करने में लग गये ।

स्नानादि से निवृत्त हो और अशुभ स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिए मस्तक पर तिलक एव अन्य मांगलिक कार्य करके सब ने समस्त आभूषण पहने और पहन कर अभग्नसेन के साथ चोरपल्ली से पुरिमताल नगर की ओर प्रस्थान किया । अपने साथियों के साथ अभग्नसेन बड़ी सजधज के साथ महाबल नरेश के पास पहुँचा, पहुँच कर महाराज को "**—महाराज की जय हो, विजय हो—**" इन शब्दों में बधाई दी और उन को राजोचित उपहार अर्पण किया। महाराज महाबल नरेश ने भी अभग्नसेन की भेंट को स्वीकार करते हुए, साथियों समेत उस का पूरा २ सत्कार एवं सम्मान किया और उसे कूटाकारशाला में रहने को स्थान दिया, तथा अपने पुरुषों द्वारा खान पानादि की समस्त वस्तुएं उस के लिए वहा भिजवा दीं ।

इधर अभग्नसेन भी उस का यथारुचि उपभोग करता हुआ अपने अनेक मित्रों और ज्ञातिजनों के साथ आमोद प्रमोद मे प्रमत्त हो कर समय व्यतीत करने लगा, अर्थात् महाबल नरेश ने खान पानादि से उस की इतनी आवभगत की कि वह उस कूटाकारशाला को अपना ही घर समझ कर मन मे किसी भी प्रकार का भविष्यत्कालीन भय न करता हुआ अर्थात् निर्भय एव निश्चिन्त अपने आप को समझता हुआ, आमोद प्रमोद में समय बिताने लगा । इन्ही भावों को अभिव्यक्त करने के लिए सूत्रकार ने **पमत्ते—प्रमत्त,** इस पद का प्रयोग किया है।

"**—मित्त० जाव परिवुडे—**"यहा के **जाव—यावत्** पद से **—णाइ—णियग—सयण—सम्बन्धि—परिजणेणं सद्धिं सं**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। **मित्र** आदि पदों की व्याख्या पृष्ठ १५० की टिप्पण मे कर दी गई है ।

"**—एहाते जाव पायच्छित्ते—**"यहा पठित **जाव—यवात्** पद से विवक्षित पदों का वर्णन

पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर किया जा चुका है। तथा—**करयल०**—यहां की बिन्दु से विवक्षित पाठ पीछे पृष्ठ २४६ पर लिखा जा चुका है। तथा—**महत्थं जाव पाहुड**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से—**महग्घं महरिहं रायारिहं**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों की व्याख्या पीछे पृष्ठ २४० पर की जा चुकी है। तथा—**महत्थं जाव पडिच्छति**—यहां के **जाव—यावत्** पद से —**महग्घं**—आदि पदों का ही ग्रहण करना चाहिये।

—**असणं** ४—तथा—**सुरं च** ५—एवं—**आसाएमाणे** ४—यहां के अंकों से विवक्षित पदों की व्याख्या क्रमशः पृष्ठ ४८ तथा पृष्ठ १४४ एवं पृष्ठ १४५ पर की जा चुकी है।

महाबल नरेश के द्वारा चोरसेनापति अभग्नसेन का इतना सत्कार क्यों किया गया? इस का उत्तर स्पष्ट है। यह सब कुछ उसे विश्वास में लाकर पकड़ने का ही उपाय—विशेष है। इसी विषय से से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन अग्रिमसूत्र में दिया गया है, जो कि इस प्रकार है—

मूल—[1] **ततेणं से महव्वले राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणु० ! पुरिमतालस्स णगरस्स दुवाराइं पिधेह २ अभग्गसेणं चोरसेणा० जीवग्गाहं गेण्हह २ ममं उवणेह। तते णं ते कोडुंबिय० करयल० जाव पडिसुणेंति २ पुरिमतालस्स णगरस्स दुवाराइं पिहेंति। अभग्गसेणं चोरसे० जीवग्गाहं गेण्हति २ महव्वलस्स रण्णो उवणेंति। तते णं से महव्वले राया अभग्गसेणं चोरसे० एतेणं विहाणेणं वज्झं आणवेति। एवं खलु गोतमा ! अभग्गसेणे चोरसेणावती पुरा पुराणाणं जाव विहरति।**

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर। **से**—उस। **महव्वले**—महाबल। **राया**—राजा ने। **कोडुंबियपुरिसे**—कौटुम्बिक पुरुषों को। **सद्दावेति २ त्ता**—बुलाया, बुला कर। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहा। **देवाणु०!**—हे भद्र पुरुषो! **तुब्भे**—तुम लोग। **गच्छह णं**—जाओ। **पुरिमतालस्स**—पुरिमताल। **णगरस्स**—नगर के। **दुवाराइं**—द्वारों को। **पिधेह २**—बन्द कर दो, बन्द करके। **अभग्गसेणं**—अभग्नसेन। **चोरसे०**—चोरसेनापति को। **जीवग्गाहं**—जीते जी। **गेण्हह २**—पकड़ लो, पकड़ कर। **ममं**—मेरे सामने। **उवणेह**—उपस्थित करो। **ततेणं**-तदनन्तर। **ते**—वे। **कोडुंबिय०**—कौटुम्बिक पुरुष। **करयल० जाव**—दोनों हाथ जोड़ यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अजलि करके राजा के उक्त आदेश को। **पडिसुणेंति २ त्ता**—स्वीकार करते हैं, स्वीकार कर। **पुरिमतालस्स**—पुरिमताल। **णगरस्स**—नगर के। **दुवाराइं**— द्वारों को। **पिहेंति**—बन्द कर देते हैं और। **अभग्गसेणं**—अभग्नसेन। **चोरसेणा०**—चोरसेनापति को। **जीवग्गाहं**—जीते जी। **गेण्हंति २**—पकड़ लेते हैं, पकड़ कर।

---

(१) **छाया**—ततः स महाबलो राजा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति २ एवमवादीत्—गच्छत यूयं देवानुप्रियाः ! पुरिमतालस्य नगरस्य द्वाराणि पिधत्त २ अभग्नसेनं चोरसेनापतिं जीवग्राहं गृह्णीत २ मह्यमुपनयत। ततस्ते कौटुम्बिक० करतल० यावत् प्रतिशृण्वन्ति २ पुरिमतालस्य नगरस्य द्वाराणि पिदधति। अभग्नसेनं चोरसेनापतिं जीवग्राहं गृह्णन्ति २ महाबलाय राज्ञे उपनयन्ति। ततः स महाबलो राजा अभग्नसेनं चोरसेनापतिं एतेन विधानेन वध्यमाज्ञापयति। एवं खलु गौतम ! अभग्नसेनः चोरसेनापतिः पुरा पुराणानां यावत् विहरति।

महब्बलस्स—महाबल । रराणो—राजा के पास । उवणेंति—उपस्थित कर देते हैं । तते णं—तदनन्तर महब्बले—महाबल । राया—राजा । अभग्गसेणं—अभग्नसेन । चोरसे०—चोरसेनापति को । एतेणं विहाणेणं—इस (पूर्वोक्त) विधान—प्रकार से । वज्झं—यह मारा जाए-ऐसी । आणवेति—राजपुरुषों को आज्ञा देता है । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । गोतमा!—हे गौतम! । अभग्गसेणे—अभग्नसेन चोरसेणावती—चोरसेनापति । पुरा—पूर्वकृत । पुराणाणं जाव—पुराने दुष्कर्मों का यावत् प्रत्यक्ष फल भोगता हुआ । विहरति—जीवन बिता रहा है ।

मूलार्थ—तदनन्तर अभग्नसेन को सत्कारपूर्वक कूटाकारशाला में ठहराने के बाद महाबल नरेश ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर इस प्रकार कहा कि हे भद्र पुरुषो! तुम लोग जाओ, जाकर पुरिमताल नगर के दर्वाज़ों को बन्द कर दो और चोरपल्ली के चोरसेनापति को जीते जी (जीवित दशा में ही) पकड लो, पकड कर मेरे पास उपस्थित करो ।

तदनन्तर उन कौटुम्बिक पुरुषों ने राजा की इस आज्ञा को दोनों हाथ जोड कर मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि करके शिरोधार्य किया और पुरिमताल नगर के द्वारों को बन्द करके चोरसेनापति को जीते जी पकड कर महाबल नरेश के सामने उपस्थित कर दिया । तदनन्तर महाबल नरेश ने अभग्नसेन नामक चोरसेनापति को इस (पूर्वोक्त पृष्ठ २०६ पर लिखे) प्रकार से—यह मारा जाए—ऐसी आज्ञा प्रदान कर दी ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम! इस प्रकार निश्चित रूप से वह चोरसेनापति अभग्नसेन पूर्वोपार्जित पुरातन पापकर्मों के विपाकोदय से नरक—तुल्य वेदना का प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ समय बिता रहा है ।

टीका—प्रस्तुतसूत्र में चोरपल्ली के सेनापति अभग्नसेन से युद्ध में दण्डनायक सेनापति के पराजित हो जाने पर मन्त्रियों के परामर्श से साम, दान और भेदनीति का अनुसरण करके महाबल नरेश ने अभग्नसेन का जिस प्रकार से निग्रह किया, उस का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है ।

महाबल नरेश ने जो कुछ किया वह धार्मिक दृष्टि से तो भले ही अनुमोदना के योग्य न हो परन्तु राजनीति की दृष्टि से उसे अनुचित नहीं कह सकते । एक आततायी अथच अत्याचारी का निग्रह जिस तरह से भी हो, कर देने की नीतिशास्त्र की प्रधान आज्ञा है । अभग्नसेन जहां शूरवीर और साहसी था, वहां वह लुटेरा, डाकू और आततायी भी था, अत जहां उसे वीरता के लिये नीतिशास्त्र के अनुसार प्रशसा के योग्य समझा जाए वहां उस के अत्याचारों को अधिक से अधिक निन्दास्पद मानने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

नीतिशास्त्र का कहना है कि जो राजा निरपराध और आततायियों के अत्याचारों से पीडित प्रजा की पुकार को सुन कर उस के दु ख निवारणार्थ अत्याचार करने वालों को शिक्षा नहीं करता, दण्ड नहीं देता, वह कभी भी शासन करने के योग्य नहीं ठहराया जा सकता । इसी लिये नीतिशास्त्र के मर्मज्ञ महाबल नरेश ने अभग्नसेन चोरसेनापति का निग्रह करने के लिये राजपुरुषों को बुला कर आज्ञा दी कि भद्रपुरुषो! अभी जाओ और जा कर पुरिमताल नगर के द्वार बन्द कर दो तथा कूटाकारशाला में अवस्थित अभग्नसेन चोरसेनापति को बन्दी बना कर मेरे सामने उपस्थित करो, परन्तु इतना ध्यान रखना कि तुमारा यह काम इतनी सावधानी और तत्परता से होना चाहिए कि अभग्नसेन जीवित ही पकडा जाए, कहीं वह अपने को असहाय पा कर आत्महत्या न कर डाले।

अथवा उसकी पकडधकड़ में कहीं उस पर कोई मार्मिक प्रहार न कर देना जिस से उस का वहीं जीवनान्त हो जाए अर्थात् उसे जीवित ही पकड़ना है, इस बात का विशेष ध्यान रखना, ताकि प्रजा को पीडित करने के फल को वह तथा प्रजा अपनी आंखों से देख सके ।

आज्ञा मिलते ही महाराज को नमस्कार कर राजपुरुष वहां से चले और पुरिमताल नगर के द्वार उन्हों ने बन्द कर दिए, तथा कूटाकारशाला में जा कर अभग्नसेन चोरसेनापति को जीते जी पकड़ लिया एवं बन्दी बना कर महाराज महाबल के सामने उपस्थित किया । बन्दी के रूप में उपस्थित हुए अभग्नसेन चोरसेनापति को देख कर तथा उस के दानवीय कृत्यों को याद कर महाबल नरेश क्रोध से तमतमा उठे और दान्त पीसते हुए उन्होंने मंत्री को आज्ञा दी कि पुरिमताल नगर के प्रत्येक चत्वर पर बैठा कर इसे तथा इस के सहयोगी सभी पारिवारिक व्यक्तियों को ताडनादि द्वारा दण्डित करो एवं विडम्बित करो, ताकि इन्हें अपने कुकृत्यों का फल मिल जाए और जनता को—चोरों एवं लुटेरों का अन्त में क्या परिणाम होता है ?—यह पता चल जाए तथा अन्त में इसे सूली पर चढ़ा दो ।

मंत्री ने महाबल नरेश की इस आज्ञा का जिस रूप में पालन किया उस का दिग्दर्शन पृष्ठ २०६ पर कराया जा चुका । पाठक वहीं देख सकते हैं ।

प्रस्तुत कथा—सन्दर्भ में एक ऐसा स्थल है जो पाठकों को सन्देह—युक्त कर देता है । पूज्य श्री अभयदेव सूरि ने इस सम्बन्ध में विशिष्ट ऊहापोह करते हुए उसे समाहित करने का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयत्न किया है । आचार्य अभयदेव सूरि का वह वृत्तिगत उल्लेख इस प्रकार है—

"ननु तीर्थंकरा यत्र विहरन्ति तत्र देशे पंचविंशतेर्योजनानाम्, आदेशान्तरेण द्वादशानां मध्ये तीर्थंकरातिशयाद् न वैरादयोऽनर्था भवन्ति, यदाह—

[1]पुव्वुप्पन्ना रोगा पसमंति ईइवइरमारीओ, अइवुट्ठी अणावुट्ठी न होइ दुब्भिक्खं डमरं च ॥१॥

तत्कथं श्रीमन्महावीरे भगवति पुरिमतालनगरे व्यवस्थित एवाभग्नसेनस्य पूर्ववर्णितो व्यतिकरः सम्पन्न इति ?

अत्रोच्यते—"सर्वमिदमर्थानर्थजातं प्राणिनां स्वकृतकर्मणः सकाशादुपजायते, कर्म च द्वेधा—सोपक्रमं निरुपक्रमं च, तत्र यानि वैरादीनि सोपक्रमकर्मसंपाद्यानि तान्येव जिनातिशयादुपशाम्यन्ति, सदौषधात् साध्यव्याधिवत् । यानि तु निरुपक्रमकर्मसम्पाद्यानि तानि अवश्यं विपाकतो वेद्यानि, नोपक्रमकारणविषयाणि, असाध्यव्याधिवत् । अत एव सर्वातिशयसंपत्समन्वितानां जिनानामप्यनुपशान्तवैरभावा गोशालकादय उपसर्गान् विहितवन्तः" । इन पदों का भावार्थ निम्नलिखित है—

शास्त्रकारों का कथन है कि जिस राष्ट्र, देश वा प्रान्त में तथा जिस मंडल, जिस ग्राम और जिस भूमि में तीर्थंकर[2] देव विराजमान हों, उस स्थान से २५ योजन की दूरी तक अर्थात् २५ योजन के मध्य में तीर्थंकरदेव के अतिशय—विशेष से अर्थात् उन के आत्मिकतेज से वैर तथा दुर्भिक्ष आदिक अनर्थ नहीं होने पाते । जैसे कि कहा है—

---

(१) पूर्वोत्पन्ना रोगा प्रशाम्यन्ति ईतिवैरमार्यः । अतिवृष्टिरनावृष्टिर्न भवति दुर्भिक्ष डमर च ॥१॥

(२) साधु साध्वी और **श्रावक श्राविका** रूप चतुर्विध संघ को **तीर्थ** कहते हैं, उसके संस्थापक का नाम **तीर्थंकर** है ।

तीर्थंकर देव के अतिशयविशेष से २५ योजन के मध्य में पूर्व उत्पन्न रोग शान्त हो जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं और भविष्य में सात उपद्रव भी उत्पन्न नहीं होने पाते। सात उपद्रवों के नाम हैं—(१) ईति (२) वैर (३) मारी (४) अतिवृष्टि (५) अनावृष्टि (६) दुर्भिक्ष और (७) डमर। इति आदि पदों का भावार्थ निम्नोक्त है —

(१) **ईति**—खेती को हानि पहुंचाने वाले उपद्रवों का नाम ईति है और वह (१) **अतिवृष्टि**—वर्षा का अधिक होना, (२) **अनावृष्टि**—वर्षा का अभाव, (३) **टिड्डीदल का पडना,** (४) **चूहा लगना,** (५) **तोते आदि पक्षियों का उपद्रव,** (६) **दूसरे राजा की चढाई**—इन भेदों से छः प्रकार का होता है[1]।

अर्द्धमागधीकोषकार ईति शब्द का अर्थ **भय** करते हैं और वह उसे सात प्रकार का मानते हैं। छः तो ऊपर वाले ही हैं, सातवां "**स्वचक्रभय**" उन्हों ने अधिक माना है। तथा प्राकृतशब्दमहार्णवकोषकार **ईति** शब्द का धान्य वगैरह को नुकसान पहुँचाने वाला चूहा आदि प्राणिगण—ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में ईति शब्द से—खेती को हानि पहुचाने वाले **चूहा, टिड्डी** और **तोता** आदि प्राणिगण, यही अर्थ अपेक्षित है क्यों कि अतिवृष्टि आदि का सात उपद्रवों में स्वतन्त्ररूपेण ग्रहण किया गया है।

(२) **वैर**—शत्रुता, (३) **मारी**—संक्रामक भीषण रोग जिस में एक साथ ही बहुत से लोग मरें, मरी, प्लेग आदि। (४) **अतिवृष्टि**—अत्यन्त वर्षा (५) **अनावृष्टि**—वर्षा का अभाव, (६) **दुर्भिक्ष**—ऐसा समय जिस में भिक्षा या भोजन कठिनता से मिले—अकाल, (७) **डमर**—राष्ट्रविप्लव-राष्ट्र के भीतर या बाहिर उपद्रव का होना।

सारांश यह है कि जहां पर तीर्थंकर भगवान विराजते या विचरते हैं वहां पर उनके आस पास २५ योजन के प्रदेश में ये पूर्वोक्त उपद्रव नहीं होने पाते, और अगर हों तो मिट जाते हैं, यह उन के अतिशय का प्रभाव होता है। तब यदि यह कथन यथार्थ है तो पुरिमताल नगर में जहां कि श्री वीर प्रभु स्वयं विराजमान हैं, चोरसेनापति अभग्नसेन के द्वारा ग्रामादि का दहन तथा अराजकता का प्रसार क्यों? एवं उसे विश्वास में लाकर बन्दी बना लेने के बाद उस के साथ हृदय को कंपादेने वाला इतना कठोर और निर्दय व्यवहार क्यों? जिस महापुरुष के अतिशयविशेष से २५ योजन जितने दूर प्रदेश में भी उक्त प्रकार का कोई उपद्रव नहीं होने पाता, उनकी स्थिति में—एक प्रकार से उन के सामने, उक्त प्रकार का उपद्रव होता दिखाई दे, यह एक दृढ मानस वाले व्यक्ति के हृदय में भी उथलपुथल मचा देने वाली घटना है। इस लिये प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करना आवश्यक ही नहीं नितान्त आवश्यक हो जाता है।

उत्तर—इस प्रकार की शंका के उत्पन्न होने का कारण हमारा अव्यापक बोध है। जिन महानुभावों का शास्त्रीय ज्ञान परिमित होता है, उन के हृदय में इस प्रकार के सन्देह को स्थान प्राप्त होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। अस्तु, अब उक्त शंका के समाधान की ओर भी पाठक ध्यान दें ——

संसार में अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी हो रहा है, उस का सब से मुख्य कारण जीव का स्वकृत शुभाशुभ कर्म है। शुभाशुभ कर्म के बिना यह जीव इस जगत् में कोई भी

(१) अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेते ईतयः स्मृताः॥

व्यापार नहीं कर सकता। वह शुभ या अशुभ कर्म दो प्रकार का होता है। पहला—**सोपक्रम** और दूसरा **निरुपक्रम**। (१ किसी निमित्तविशेष से जिन कर्मों को क्षय किया जा सके व कर्म **सोपक्रम** (सनिमित्तक) कहलाते हैं। (२) तथा जिन कर्मों का नाश बिना किसी निमित्त के अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही हो, अर्थात् जो किसी निमित्तविशेष से विनष्ट न हो सके, उन कर्मों को **निरुपक्रम** (निर्निमित्तक) कहते हैं।

तब जो वैरादि उपद्रव सोपक्रमकर्मजन्य होते हैं वे तो तीर्थंकरों के अतिशयविशेष से उपशान्त हो जाते हैं और जो निरुपक्रमकर्मसम्पादित होते हैं वे परम असाध्य रोग की तरह तीर्थंकर देवों की अतिशय—परिधि से बाहिर होते हैं। अब इसी विषय को एक [1] उदाहरण के द्वारा समझिये —

व्याधियें दो प्रकार की होती हैं। एक **साध्य** और दूसरी **असाध्य**। जो व्याधि वैद्य के समुचित औषधोपचार से शान्त हो जाये वह **साध्य** और जिस को शान्त करने के लिये अनुभवी वैद्यों की रामबाण औषधियें भी विफल हो जाये वह **असाध्य** व्याधि है।

तब प्रकृत में सोपक्रमकर्मजन्य विपाक तो साध्यव्याधि की तरह तीर्थंकर महाराज के अतिशय से उपशान्त हो जाता है परन्तु जो विपाक—परिणाम निरुपक्रमकर्मजन्य होता है, वह असाध्य रोग की भान्ति तीर्थंकर देव के अतिशय से भी उपशान्त नहीं हो पाता। इसी भाव को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये यदि यूं कह दिया जाए कि निकाचित कर्म से निष्पन्न होने वाला विपाक—फल तीर्थंकरों के अतिशय से नष्ट नहीं होता किन्तु जो विपाक अनिकाचित—कर्म—सम्पन्न है उसका उपशमन तीर्थंकरदेव के अतिशय से हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो सम्पूर्ण अतिशयसम्पति के स्वामी श्रमण भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों पर गोशाला जैसी व्यक्तियों के द्वारा किये गये उपसर्गप्रहार कभी सम्भव नहीं हो सकते। इस से यह भली भान्ति प्रमाणित हो जाता है कि तीर्थंकर देवों का अतिशयविशेष सोपक्रमकर्म की उपशान्ति के लिये है न कि निरुपक्रमकर्म का भी उस से उपशमन होता है। यदि निरुपक्रमकर्म भी तीर्थंकरातिशय से उपशान्त हो जाय तो सारे ही कर्म सोपक्रम ही होंगे निरुपक्रम कर्म के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। तथा **ईति भीति** आदि जितने भी उपद्रव—विशेष हैं ये सब सोपक्रमकर्मसम्पति के अन्तर्भूत हैं। इस लिए उन का उपशमन भी सम्भव है।

तब इस सारे सन्दर्भ का साराश यह निकला कि—चोरसेनापति अभग्नसेन द्वारा पुरिमताल के प्रान्त में जो उपद्रव मचाया जा रहा था अर्थात् जो अराजकता फैल रही थी तथा उसके फल—स्वरूप उसे जो दण्ड प्राप्त हुआ, यह सब कुछ उन प्रान्तीय जीवों तथा अभग्नसेन के पूर्वबद्ध निकाचित कर्मों का ही परिणामविशेष था, जोकि एक परम असाध्य व्याधि की तरह किसी उपायविशेष से दूर किये जाने के योग्य नहीं था। तात्पर्य यह है कि—तीर्थंकरदेव के अतिशय की क्षेत्र—परिधि से

---

(१) **एक और उदाहरण देखिए**—सेर प्रमाण की एक ओर रूई पड़ी है दूसरी ओर सेर प्रमाण का लोहा है। वायु के चलने पर रूई तो उड जाती है जब कि लोहे का सेर—प्रमाण अपने स्थान में पड़ा रहता है। तीर्थंकरों का अतिशय वायु के तुल्य है। **सोपक्रमकर्म**—सेर प्रमाण रूई के तुल्य हैं और **निरुपक्रमकर्म** सेर प्रमाण लोहे के तुल्य हैं।

यह बाहिर की वस्तु थी ।

अथवा इस प्रश्न को दूसरे रूप में यूं भी समाहित किया जा सकता है कि वास्तव में उक्त घटनाविशेष का सम्बन्ध तो राजनीति से है इस को उपद्रवविशेष कहा ही नहीं जा सकता । उपद्रवविशेष तो ईति भीति आदि हैं, जिन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है वे उपद्रव तीर्थंकर देव के अतिशयविशेष से अवश्य दूर हो जाते हैं परन्तु अपराधियों को दिये गये दण्ड का उपद्रवों में संकलन न होने के कारण, उसका तीर्थंकरदेव के अतिशय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता ।

"—करयल० जाव पडिसुणेति—" यहां पठित जाव-यावत् पद से विवक्षित पदों का निर्देश पृष्ठ २४६ पर किया जा चुका है।

"—एतेणं विहारोणं—"यहां पठित एतद् शब्द से—भिक्षा को गए भगवान् गौतम स्वामी ने पुरिमताल नगर के राजमार्ग पर जिस विधान—प्रकार से एक पुरुष को मारे जाने की घटना देखी थी उस विधान का स्मरण कराना ही सूत्रकार को अभिमत है । तथा एतद् —शब्द—विषयक अधिक ऊहापोह पृष्ठ १७८, पर किया गया है । अन्तर मात्र इतना है कि वहां उज्झितक कुमार का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में अभग्नसेन का । शेष वर्णन सम है ।

—पुरा जाव विहरति—यहां के जाव—यावत पद से—पोराणाणं दुच्चिराणाणं दुप्पिडिक्कन्ताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन का शब्दार्थ पृष्ठ ८७ पर किया जा चुका है।

श्री गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से जो प्रश्न किया था, उस का उत्तर भगवान ने दे दिया । अब अग्रिम सूत्र में गौतम स्वामी की अपर जिज्ञासा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूल—[1]अभग्गसेणे णं भंते ! चोरसेणावती कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ? गोतमा ! अभग्गसेणे चोरसे० सत्ततीसं वासाइं परमाउयं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलभिन्ने कते समाणे कालगते इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसे० नेरइएसु उववज्जिहिइ । से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता, एवं संसारो जहा पढमे जाव पुढवीए० । ततो उव्वट्टित्ता वाणारसीए णगरीए सूयरत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ सोयरिएहिं जीवियाउ ववरोविए समाणे तत्थेव वाणारसीए णगरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति, से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे,

(१) छाया—अभग्नसेनो भदन्त ! चोरसेनापतिः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोपपत्स्यते ? गौतम ! अभग्नसेनश्चोरसेनापतिः सप्तत्रिंशतं वर्षाणि परमायुः पालयित्वा अद्यैव त्रिभागावशेषे दिवसे शूलभिन्नः कृतः सन् कालगतोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां उत्कर्षेण० नैरयिकेषूपपत्स्यते । ततोऽनन्तरमुद्वृत्य, एवं संसारो यथा प्रथमो यावत् पृथिव्याम् ० । ततः उद्वृत्य वाराणस्यां नगर्यां शूकरतया प्रत्यायास्यति स तत्र शौकरिकैर्जीवितात् व्यपरोपितः सन् तत्रैव वाराणस्यां नगर्यां श्रेष्ठिकुले पुत्रतया प्रत्यायास्यति । स तत्रोन्मुक्तबालभावः, एवं यथा प्रथमं यावदन्तं करिष्यतीति निक्षेपः ।

॥ तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

एवं जहा पढमे, जाव अंतं काहि त्ति निक्खेवो ।

॥ ततियं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—भंते !—हे भगवन् ! । अभग्गसेणे णं—अभग्नसेन । चोरसेणावती—चोरसेनापति । कालमासे—कालमास में—मृत्यु के समय । कालं किच्चा—काल कर के । कहिं—कहां । गच्छिहिइ ?—जायेगा ? । कहिं—कहां पर । उववज्जिहिइ ?—उत्पन्न होगा ? । गोतमा !—हे गौतम ! । अभग्गसेणे—अभग्नसेन । चोरसे०—चोरसेनापति । सत्ततीसं—सैंतीस ३७ । वासाइं—वर्षों की । परमाउयं—परमायु । पालइत्ता—पाल कर—भोग कर । अज्जेव—आज ही । तिभागावसेसे—त्रिभागावशेष अर्थात् जिस का तीसरा भाग बाकी हो ऐसे । दिवसे—दिन में । सूलभिन्ने—सूली से भिन्न । कते समाणे—किया हुआ । कालगते—काल—मृत्यु को प्राप्त हुआ । इमीसे—इस । रयणप्पभाए—रत्नप्रभा नामक । पुढवीए—नरक में । उक्कोसे०—जिन की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, ऐसे । नेरइएसु—नारकियों में । उववज्जिहिइ—उत्पन्न होगा । ततो—वहां से—नरक से । अणंतरं—व्यवधान रहित । उव्वट्टित्ता—निकल कर । से णं—वह । एवं—इसी प्रकार । संसारो—संसारभ्रमण करता हुआ । जहा—जैसे । पढमे—प्रथम अध्ययनगत मृगापुत्र का वर्णन किया है । जाव—यावत् । पुढवीए०—पृथ्वीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा । ततो—वहां से । उव्वट्टित्ता—निकल कर । वाणारसीए—बनारस नामक । णगरीए—नगर में । सूयरत्ताए—शूकर रूप में । पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा । तत्थ—वहां पर । से णं—वह । सोयरिएहिं—शूकर का शिकार करने वालों के द्वारा । जीवियाउ—जीवन से । ववरोविए समाणे—रहित किया हुआ । तत्थेव—उसी । वाणारसीए—बनारस नामक । णगरीए—नगरी में । सेट्ठिकुलंसि—श्रेष्ठि—कुल में । पुत्तत्ताए—पुत्र रूप से । पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा । तत्थ—वहां पर । से णं—वह । उम्मुक्कबालभावे—बालभाव—बाल्यावस्था को त्याग कर । जहा—जिस प्रकार । पढमे—प्रथम अध्ययन में प्रतिपादन किया गया । एवं—उसी प्रकार । जाव—यावत् । अंतं—जन्म मरण का अन्त । काहि—करेगा अर्थात् जन्म मरण से रहित हो जावेगा । त्ति—इति शब्द समाप्त्यर्थक है । निक्खेवो—निक्षेप अर्थात् उपसंहार पूर्ववत् जान लेना चाहिये । ततियं—तृतीय । अज्झयणं—अध्ययन । समत्तं—समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—भगवन् ! अभग्नसेन चोरसेनापति कालावसर में काल करके कहां जाएगा ? तथा कहां पर उत्पन्न होगा ?

गौतम ! अभग्नसेन चोरसेनापति ३७ वर्ष की परम आयु को भोग कर आज ही त्रिभागावशेष दिन में सूली पर चढ़ाये जाने से काल करके रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारकी रूप से—जिसकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, उत्पन्न होगा । तदनन्तर प्रथम नरक से निकले हुए का शेष संसारभ्रमण प्रथम अध्ययन में प्रतिपादित मृगापुत्र के संसार—भ्रमण की तरह समझ लेना, यावत् पृथ्वीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा ।

वहां से निकल कर बनारस नगरी में शूकर के रूप में उत्पन्न होगा, वहां पर शौकरिकों—शूकर के शिकारियों द्वारा आहत किया हुआ फिर उसी बनारस नगरी के श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होगा । वहां बालभाव को त्याग कर कर युवावस्था को प्राप्त होता हुआ, यावत् निर्वाणपद को प्राप्त करेगा—जन्म और मरण का अन्त करेगा । निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये ।

॥ तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

टीका—प्रस्तुत सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्न तथा भगवान् की ओर से दिये गये उस के उत्तर का वर्णन किया गया है ।

भगवन् ! अभग्नसेन चोरसेनापति यहां से काल करके कहां जायेगा ? और कहां पर उत्पन्न होगा ? और अन्त में उसका क्या बनेगा ? ये गौतम स्वामी के प्रश्न हैं, इनके उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फ़रमाया वह निम्नोक्त है—

गौतम ! अभग्नसेन चोरसेनापति अपने पूर्वोपार्जित दुष्कर्मों के प्रभाव से महती वेदना का अनुभव करेगा और पुरिमताल नगर के महाबल नरेश उसे आज ही अपराह्णकाल में उसके अपराधों के उपलक्ष्य में सूली पर चढादेंगे ।

प्रस्तुत कथासन्दर्भ में जो यह लिखा है कि अभग्नसेन को अपराह्णकाल में सूली पर चढाया जावेगा, इस पर यहां एक आशंका होती है कि अभग्नसेन की—पुरिमताल नगर के प्रत्येक चत्वर पर बैठा कर चाबुकों के भीषण प्रहारों से निर्दयतापूर्वक ताड़ित करना, उसी के शरीर में से निकाले हुए मांसखण्डों का उसे खिलाना, तथा साथ में उसे रुधिर का पान कराना, वह भी एक स्थान पर नहीं प्रत्युत अठारह स्थानों पर—इस प्रकार की भीषण एवं मर्मस्पर्शी दशा किये जाने पर भी वह जीवित रहा, उस का वहां पर प्राणान्त नहीं हुआ, यह कैसे ? अर्थात् मानवी प्राणी में इतना बल कहां है कि जो इस प्रकार पर नरकतुल्य दुःखों का उपभोग कर लेने पर भी जीवित रह सके ? इस आशंका का उत्तर निम्नोक्त है—

शारीरिक बल का आधार संहनन (संघयन) होता है । हड्डियों की रचनाविशेष का नाम संहनन है । वह छः प्रकार का होता है, जो कि निम्नोक्त है—

(१) **वज्रऋषभनाराचसंहनन**—वज्र का अर्थ कील होता है । ऋषभ वेष्टनपट्ट (पट्टी) को कहते हैं । नाराच शब्द दोनों ओर के मर्कटबन्ध (बन्धनविशेष) के लिये प्रयुक्त होता है । अर्थात् जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिस में इन तीनों हड्डियों को भेदन करने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो उसे **वज्रऋषभनाराचसंहनन** कहते हैं । यह संहनन सब से अधिक बलवान होता है ।

(२) **ऋषभनाराचसंहनन**—जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो, पर तीनों हड्डियों का भेदन करने वाली वज्र नामक हड्डी की कील न हो उसे **ऋषभनाराचसंहनन** कहते हैं । यह पहले की अपेक्षा कम बलवान होता है ।

(३) **नाराचसंहनन**—जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध द्वारा जुड़ी हुई हड्डियां हों पर उन्हीं के चारों तरफ वेष्टनपट्ट और वज्र नामक कील न हो उसे **नाराचसंहनन** कहते हैं। यह दूसरे की अपेक्षा कम बलवान होता है ।

(४) **अर्धनाराचसंहनन**—जिस संहनन में एक ओर तो मर्कटबन्ध हो और दूसरी ओर कीली हो उसे **अर्धनाराचसंहनन** कहते हैं। यह तीसरे की अपेक्षा कम बल वाला होता है।

(५) **कीलिकासंहनन**—जिस संहनन में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई हों उसे **कीलिकासंहनन** कहते हैं । यह चौथे की अपेक्षा कम बल वाला होता है ।

(६) **सेवार्तकसंहनन**—जिस संहनन में हड्डियां पर्यन्त भाग में एक दूसरे को स्पर्श करती हुईं रहती हैं तथा सदा चिकने पदार्थों के प्रयोग एवं तैलादि की मालिश की अपेक्षा रखती

है, उसे **सेवार्तक संहनन** कहते हैं। यह सब से कमजोर संहनन होता है।

इस संहनन - वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरगत सबलता एवं निर्बलता संहनन के कारण ही होती है। संहनन यदि सबल होता है तो शरीर भी उसके अनुरूप सबल होता है इसके विपरीत यदि संहनन निर्बल है तो शरीर भी निर्बल होगा। अतः अभग्नसेन इतना भीषण संकट सह लेने पर भी जो जीवित रहा, अर्थात् उस का प्राणान्त नहीं होने पाया तो इस में केवल संहननगत बलवत्ता को ही कारण समझना चाहिये। आज भी संहननगत भिन्नता के कारण व्यक्तियों में न्यूनाधिक बल पाया जाता है। अपनी छाती पर शिला रखवा कर उसे हथौड़ों से तुड़वाने वाले तथा अपने वक्षस्थल पर हाथी को चलवाने वाले एवं चलते इंजन को रोकने का साहस रखने वाले वीराग्रणी राममूर्ति को कौन नहीं जानता? सारांश यह है संहननगत बलवत्ता के सन्मुख कुछ भी असम्भव नहीं है। **रहस्यं तु केवलिगम्यम्।**

अभग्नसेन चोरसेनापति कुल [1] सैंतीस वर्ष की आयु भोग कर शूली के द्वारा काल—मृत्यु को प्राप्त कर पूर्वकृत दुष्कर्मों से रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में उत्पन्न होगा, नरक में भी उन नारकियों में उत्पन्न होगा, जिन की उत्कृष्ट आयु एक [2] सागरोपम की है। एवं नानाविध नरकयातनाओं का

---

(१) प्रस्तुत कथासन्दर्भ में लिखा है कि अभग्नसेन के आगे उसने लघुपिताओं (चाचों), महापिताओं—तायों, पोतों, पोतियों, दोहतों तथा दोहतियों आदि पारिवारिक लोगों को ताडित किया गया। साथ में अभग्नसेन की आयु ३७ वर्ष की बतलाई है। यहां प्रश्न होता है कि इतनी छोटी आयु में दोहतियों आदि का होना कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। जो कि निम्नोक्त हैं—

१—अभग्नसेन के पिता विजय चोरसेनापति का परिवार अभग्नसेन के अपने पितृपद पर आरूढ हो जाने के कारण उसे उसी दृष्टि से अर्थात् पिता की दृष्टि से देखता था और अभग्नसेन भी उस पितृपरिवार का पिता की भान्ति पालन पोषण किया करता था। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने विजय चोरसेनापति के परिवार को अभग्नसेन का परिवार बतलाया है।

२—अभग्नसेन चोरसेनापति के ज्येष्ठ भाई की सन्तति भी उसके पोता दोहता आदि सम्बन्धों से कही जा सकती है। अतः यहां जो अभग्नसेन के पोते, दोहते आदि पारिवारिक लोगों का उल्लेख किया गया है, उस में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं है।

(२) एक योजन (चार कोस) गहरा, एक योजन लम्बा, एक योजन विस्तार वाला कूप हो, उसमें युगलियों के केश-बाल अत्यन्त सूक्ष्म किये हुए अर्थात् जिनके खण्ड का और खण्ड न हो सके, भर दिये जाएं, तथा वे इतने ठोंसकर भरे जावें कि जो एक वज्र की भान्ति घनरूप हो जावें, तथा जिन पर चक्रवर्ती की सेना (३२ हजार मुकुटधारी राजा, ८४ लाख हाथी, ८४ लाख घोड़े, ८४ लाख रथ तथा ९६ करोड पैदल सेना) भ्रमण करती हुई चली जाए, तब भी एक केशखण्ड मुड़ने नहीं पावे। अथवा गंगा, यमुनादि नदियों का जल उस कूप पर से बहने लग जाए, तब भी एक बाल बहाया या आर्द्र न किया जा सके, एवं जिस कूप पर उल्कापात आदि की अग्नि की वर्षा जोरों के साथ होवे तब भी उन केशों में से एक भी केश दग्ध न हो सके, ऐसे ठोंस कर भरे हुए उस कूप में से सौ २ वर्ष के बाद एक २ केशखण्ड निकाला जाये। इसी भान्ति निकालते २ जितने काल में वह कूप खाली हो जाए, उतने काल की एक पल्योपम संज्ञा होती है। ऐसे दस कोडाकोडी (दस

अनुभव करेगा[1] ।

पाठकों को स्मरण होगा कि श्री विपाक सूत्र के प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र की जीवनी का उल्लेख किया गया है । सूत्रकार उसी बात का स्मरण कराते हुए लिखते हैं—

"—**एवं संसारो जहा पढमे**—" अर्थात् जैसा कि प्रथम अध्ययन मे मृगापुत्र का ससारभ्रमण कथन कर आये हैं, ठीक उसी तरह पृथिवीकायोत्पत्तिपर्यन्त प्रस्तुत अध्ययन मे भी अभग्नसेन चोर—सेनापति के जीव का ससारभ्रमण जान लेना चाहिये । दूसरे शब्दों में कहें तो—जैसे मृगापुत्र ससार में गमनागमन करेगा उसी प्रकार अभग्नसेन का जीव भी चतुर्गतिरूप ससार मे जन्म मरण करेगा—यह कहा जा सकता है । दोनों मे जो विशेष अन्तर है, उसका निर्णय सूत्रकार ने स्वयं कर दिया है । मृगापुत्र का जीव तो नरक से निकल कर प्रतिष्ठानपुर नगर मे गोरूप से उत्पन्न होगा जब कि अभग्नसेन का जीव बनारस नगरी में शूकर रूप से जन्म लेगा ।

भगवान् कहते हैं कि गौतम ! शूकर रूप में जन्मा हुआ अभग्नसेन का जीव शिकारियों के द्वारा मारा जाकर फिर बनारस नगरी में ही एक प्रतिष्ठित कुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा । वहा जन्म लेकर वह अपने जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करेगा । युवावस्था को प्राप्त होने पर एक सयमशील मुनि के सहवास से मानवजीवन के महत्त्व को समझेगा । तथा आध्यात्मिक विचारधाराओं के बढते २ अ ततोगत्वा वह साधुवृत्ति को अ गीकार करेगा और उसके यथाविधि पालन से सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होगा । देवोचित सुखों का उपभोग कर के वहा से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा । वहा युवावस्था को प्राप्त हो कर अनागार—वृत्ति को अंगीकार करेगा । उसके सम्यक् अनुष्ठान से कर्मरूप इन्धन को तपरूप अग्नि से जलाकर आत्मगत कर्म—मल को भस्मसात् करता हुआ परम कल्याणरूप निर्वाण—पद को प्राप्त कर लेगा । तात्पर्य यह है कि सर्वप्रकार के कर्मों का अन्त करके जन्म मरण से रहित होता हुआ शाश्वत सुख को प्राप्त करेगा, आत्मा से परमात्मपद को ग्रहण कर लेगा ।

—**उक्कोसे०**—यहा का बिन्दु —**उक्कोससागरोवमट्ठिइएसु**—इस समस्त पद का परिचायक है । इस पद का अर्थ पदार्थ में किया जा चुका है ।

"—**जहा पढमे जाव पुढवीए०**—यहा पठित **जाव—यावत्** पद से —**सरीसवेसु उववज्जिहिइ तत्थ णं कालं किच्चा**—से ले कर—**तेउ० आउ०**—यहा तक के पदों का ग्रहण समझना । इन पदों का शब्दार्थ पृष्ठ ९३ पर दिया जा चुका है । तथा—**पुढवीए०**—यहा के बिन्दु से—**अणेगसतसहस्सक्खुत्तो उववज्जिहिति**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् लाखों बार पृथिवीकाया में उत्पन्न होगा ।

—**पढमे जाव अंतं**—यहा के—**जाव—यावत्** पद से—**विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वण**—

करोड़ को दस करोड़ से गुणा करने पर जो अक हो वह) पल्योपमों का एक सागरोपम होता है । साराश यह है कि अकों द्वारा न बताई जाने वाली बड़ी भारी आयु को सूचित करने के लिये सागरोपम शब्द का आश्रयण किया जाता है ।

(१) नरक में किस तरह की कल्पनातीत यातनायें भोगनी पड़ती हैं ? इस विषय का शास्त्रीय अनुभव प्राप्त करने के इच्छुकों को श्री **उत्तराध्ययन सूत्र के १९** वे अध्ययन मे वर्णित मृगापुत्र की जीवनी का साद्योपान्त अवलोकन करना चाहिये । क्योंकि मृगापुत्र ने अपने माता पिता को स्वय भोगी गई नरक—सम्बन्धी वेदनाओं का अपने जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा बोध कराया था । जोकि नरकसम्बन्धी सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये पर्याप्त है ।

मणुप्पत्ते—से लेकर—**सिज्झिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सव्वदुक्खाण**—यहा तक के पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ प्रथम अध्ययन के अन्त मे किया जा चुका है।

—**निक्खेवो**—[1]**निक्षेप**—को दूसरे शब्दों मे **उपसंहार** कहते हैं। लेखक जिस समय अपने प्रतिपाद्य विषय का वर्णन कर चुकता है तो अन्त में पूर्वभाग को उत्तरभाग से मिलाता है। उसी भाव को सूचित करने के लिये प्रकृत अध्ययन के अन्त म "—**निक्खेवो**—" यह पद दिया गया है। इस पद से अभिव्यञ्जित अर्थात् प्रस्तुत तृतीय अध्ययन के पूर्वापर सम्बन्ध को मिलाने वाला पाठ निम्न प्रकार से समझना चाहिये—

"**एव खलु जम्बू! समणेण भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं ततियस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि**"।

पाठकों को स्मरण होगा कि चम्पा नगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी—शिष्य श्री सुधर्मा स्वामी तथा उन्हीं के शिष्य श्री जम्बू स्वामी विराजमान हैं। वहा श्री जम्बू स्वामी ने अपने पूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से यह प्रार्थना की थी कि भगवन्! विपाकश्रुत के अन्तर्गत दुःखविपाक के द्वितीय अध्ययन के अर्थ को तो मैं ने आप श्री से सुन लिया है, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उसके तीसरे अध्ययन मे किस अर्थ का वर्णन किया है? अर्थात् उस में किस विषय का प्रतिपादन किया है? यह मैंने नहीं सुना, अत आप श्री उस का अर्थ सुनाने की भी मुझ पर कृपा करें—यह प्रश्न प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में किया गया था। उसी प्रश्न के उत्तर मे आर्य सुधर्मा स्वामी अभग्नसेन का जीवनवृत्तान्त सुनाने के अनन्तर कहते हैं कि—

हे जम्बू! इस प्रकार मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के तीसरे अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ प्रतिपादन किया है। तथा हे जम्बू! जो कुछ मैंने कहा है उस में मैंने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा किन्तु भगवान् महावीर स्वामी की सेवा मे निवास कर जो कुछ मैंने उनसे सुना, वही तुम को सुना दिया—यह—**एवं खलु जम्बू!**—इत्यादि पदों का भावार्थ है।

प्रस्तुत तृतीय अध्ययन मे सूत्रकार ने मानव जीवन के कल्याण के लिये अनेकानेक अनमोल शिक्षाए दे रखी हैं। मात्र दिग्दर्शन के लिए, कुछ नीचे अंकित की जाती हैं—

(१) कुछ रसना—लोलुपी लोग अडों में जीव नहीं मानते हैं। उन का कहना है कि अण्डा वनस्पति का ही रूपान्तर है, परन्तु उन्हें प्रस्तुत तृतीय अध्ययन मे वर्णित निर्णय अडवाणिज के जीवनवृत्तान्त से यह समझ लेना चाहिये कि अण्डा मास है, उस मे भी हमारी तरह से [2]प्राणी निवास करता है और जिस तरह से हम अपना जीवन सुरक्षित एव निरापद बनाना चाहते हैं, वैसे उनमें भी अपने जीवन को सुरक्षित एव निरापद रखने के अव्यक्त अध्यवसाय अवस्थित हैं। तथा जिस तरह हमें किसी के पीड़ित करने पर दुःखानुभव एव सुख देने पर सुखानुभव होता है

---

(१) निक्षेप शब्द का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है।

(२) श्री दशवैकालिक सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में जहा त्रस प्राणियों का वर्णन किया है वहा अण्डज को त्रस प्राणी माना है। अण्डे मे पैदा होने वाले पक्षी, मछली आदि प्राणी अण्डज कहलाते हैं। **से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तंजहा—अण्डया पोयया.** ।

कुछ लोग यह आशका करते हैं कि जब अण्डे को तोड़ा जाता है तो वहा से किसी प्राणी के निकलने की

उसी तरह उसे भी दुःख देने पर दुःखानुभूति और सुख देने पर सुखानुभूति होती है। फिर भले ही उसकी सुखानुभूति एवं दुःखानुभूति की सामग्री हमारी दुःखसामग्री एवं सुखसामग्री से भिन्न हो। परन्तु अनुभव की अवस्थिति दोनों में बराबर चलती है। अतः अण्डों को नष्ट कर देना या खा जाना एवं उसके क्रयविक्रय का अर्थ है—प्राणियों के जीवन को लूट लेना।

किसी के जीवन को लूट लेना पाप है जो कि मानवता के लिये सब से बड़ा अभिशाप है। पाप दुःखों का उत्पन्न करने वाला होता है, एवं आत्मा को जन्म मरण के परम्परा—चक्र में धकेलने का प्रबल एवं अमोघ (निष्फल न जानेवाला) कारण बनता है। तभी तो अभग्नसेन के जीव को निर्णय अण्डवाणिज के भव में किये गये अंडों के भक्षण एवं उन के अनार्य एवं अधमपूर्ण व्यवसाय के कारण ही सात सागरोपम जैसे लंबे काल तक नरक में नारकीय असह्य एवं भीषणातिभीषण दुःखों का उपभोग करना पड़ा था। अतः सुखाभिलाषी एवं विचार—शील पुरुष को प्रस्तुत अध्ययन में दी गई शिक्षा से अपने को शिक्षित करते हुए अण्डों का पाप—पूर्ण भक्षण एवं उन के हिंसक और अनार्य व्यवसाय से सदा दूर रहना चाहिये, अन्यथा निर्णय अण्डवाणिज के जीव की भान्ति नारकीय भीषण यातनाओं से अपने को बचाया नहीं जा सकेगा।

(२) धन जनादि के अभिमान से मत्त हुए अज्ञानी जीव जिस समय पापकर्मों का आचरण करते हैं तो वे उस समय बड़ी खुशियां मनाते हैं और सत्पुरुषों के अनेकों बार समझाए जाने पर भी उन पाप कर्मों के दुःखद परिणाम—फल की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं जाने पाता, प्रत्युत पापपूर्ण प्रवृत्तियों को ही अपने जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य बनाते हुए रातदिन पापा—चरणों में सलग्न रह कर वे अपने इस देवदुर्लभ मानवभव को नष्ट कर देने पर तुले रहते हैं, परन्तु जब उन्हें उन हिंसा—पूर्ण दुष्प्रवृत्तियों से उत्पन्न पापकर्मों का कटु फल भुगतना पड़ता है, तब वे अत्राण एवं अशरण होकर रोते हैं, चिल्लाते हैं और अत्यधिक दुर्दशा को प्राप्त करने के साथ २ अन्त में नरकों में नाना प्रकार के भीषण दुःखों का उपभोग करते हैं।

पुरिमताल नगर के प्रत्येक चत्वर पर बन्दी बने हुए अभग्नसेन चोरसेनापति के साथ जो

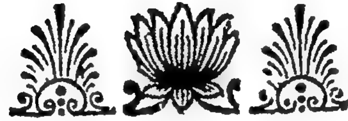
बजाय तरल पदार्थ निकलता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि अण्डे में जीव है? इस आशंका का उत्तर निम्नोक्त है—

अण्डे से निसृत पदार्थ तरल है इस लिये उस में जीव नहीं है, यह कोई सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि अण्डे जैसी ही स्थिति मनुष्य के गर्भ की भी होती है। तात्पर्य यह है कि यदि एक दो या तीन मास के गर्भ का पतन किया जाए तो गर्भाशय से मात्र रक्त का ही स्राव होता है, तथापि ऐसे रक्तस्वरूप गर्भ का पात करना जहां आध्यात्मिक दृष्टि से पञ्चेन्द्रियवध है महापाप है, वहां कानून (राजनियम) की दृष्टि से वह निषिद्ध एवं दण्डनीय है। गर्भपात का निषेध इसी लिये किया जाता है कि कुछ काल के अनन्तर उस गर्भ में से किसी प्राणी का विकसित एवं परिवृद्ध रूप उपलब्ध होना था। ठीक इसी प्रकार अण्डे में भी समयान्तर में किसी गतिशील एवं सांगोपांग प्राणी का प्रादुर्भाव अनिवार्य होता है। तब यह कहना कि अण्डे में जीव नहीं होता, यह एक भयंकर भूल है।

वैज्ञानिक लोग बतलाते हैं कि यदि सूक्ष्म पदार्थों का निरीक्षण करने वाले यन्त्रों द्वारा अण्डे के भीतर के तत्त्व का निरीक्षण किया जाए तो उस में जीव की सत्ता का अनुभव होता है।

अमानुषिक व्यवहार किया गया है, तथा उसे जो हृदयविदारक दण्ड दिया गया है, वह सब उसके अपने ही निर्णय अण्डवाणिज के भव में किये गये मांसाहार एवं अनार्य व्यवसाय से उत्पन्न कर्मों के कारण तथा इस भव में ग्रामों का जलाना, नगरों को दग्ध करना, पथिकों को लूट कर उनके प्राणों का अन्त कर डालना तथा उन्हें दाने २ का मोहताज बना देना इत्यादि भयानक दानवीय पाप कर्मों का ही कटु परिणाम है। इस लिये प्रत्येक सुखाभिलाषी पुरुष को मांसाहार और उसके हिंसापूर्ण व्यवसाय से विरत रहने के साथ २ ग्रामघातादि दुष्कर्मों से अपने आप को सदा बचाना चाहिये और जहां तक बन सके दुःखितों के दुःख को दूर करना, निराश्रितों को आश्रय देना आदि सत्कार्यों में अधिकाधिक भाग लेना चाहिये। तभी मानव जीवन की सफलता है एवं कृतकृत्यता है।

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥



अथ चतुर्थ अध्याय

ब्रह्म अर्थात् आगम-धर्मशास्त्र अथवा परमात्मा मे आचरण करना [1]ब्रह्मचर्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मध्यान में तल्लीन होना तथा धर्मशास्त्र का सम्यक् स्वाध्याय करना, अर्थात् उसमे प्रतिपादित शिक्षाओं को जीवन में उतारना ब्रह्मचर्य कहा जाता है। ब्रह्मचर्य का यह व्युत्पत्ति—लभ्य यौगिक अर्थ है जोकि आजकल एक विशिष्ट अर्थ मे रूढ हो चुका है। आजकल ब्रह्मचर्य का रूढ अर्थ—मैथुन का निरोध है, अर्थात् स्त्री का पुरुष के सहवास से पृथक् रहना और पुरुष का स्त्री के सपर्क मे पृथक् रहना ब्रह्मचर्य कहलाता है। प्रकृत में हमें इसी रूढ अर्थ का ही ग्रहण करना इष्ट है।

ब्रह्मचर्य—मैथुन निवृत्ति से कितना लाभ सम्भव हो सकता है?, यह जीवन को उन्नति के शिखर तक पहुँचाने के लिये कितना सहायक बन सकता है?, तथा आत्मा के साथ लगी हुई विकट कर्मार्गलाओं को तोडने मे यह कितना सिद्धहस्त रहता है?, तथा इसके प्रभाव से यह आत्मा अपनी ज्ञान—ज्योति के दिव्य प्रकाश मे कितना विकास कर सकता है? इत्यादि बातों का यदि अन्वय दृष्टि की अपेक्षा व्यतिरेक दृष्टि से विचार किया जाए तो अधिक सगत होगा। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के यथाविधि पालन करने से साधक व्यक्ति में जिन सद्गुणों का सचार होता है उन पर दृष्टि डालने की अपेक्षा यदि ब्रह्मचर्य के [2]विनाश से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम का दिग्दर्शन करा दिया जाये तो यह अधिक सभव है कि साधक ब्रह्मचर्य—सदाचार के विनाश—जन्य कटु परिणाम से भयभीत होकर दुराचार से विरत हो जाये और सदाचार के सौरभ से अपने को अधिकाधिक सुरभित कर डाले।

इसी दृष्टि को सन्मुख रखकर प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन मे ब्रह्मचर्य के विनाश अर्थात् मैथुन—प्रवृत्ति की लालसा में आसक्त व्यक्ति के उदाहरण से ब्रह्मचर्य-विनाश के भयकर दुष्परिणाम का दिग्दर्शन करा कर उसमे पराङ्मुख होने की साधक व्यक्ति को सूचना देकर मानव जीवन के वास्तविक कर्तव्य की ओर ध्यान दिलाया गया है। उस अध्ययन का आदिम सूत्र इस प्रकार है—

---

(१) ब्रह्मणि चरणम्—आचरणमिति ब्रह्मचर्यम्।

(२) निम्नलिखित गाथाओं मे अब्रह्मचर्य—दुराचार की निकृष्टता का दिग्दर्शन कराया गया है—

अबभचरिअं घोर पमायं दुरहिट्ठिअं। नायरन्ति मुणी लोए भेआययणवज्जिणो ॥ १६ ॥

छाया—अब्रह्मचर्य घोर प्रमाद दुरधिष्ठितम्। नाचरन्ति मुनयो लोके भेदायतन-वर्जिन ॥

मूलमेयमहमस्स महादोस-समुस्सय। तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥१७॥

छाया—मूलमेतद् अधर्मस्य महादोपसमुच्छ्रय। तस्माद् मैथुनससर्गं निर्ग्रन्थाः वर्जयन्ति ॥

(दशवैकालिक सूत्र अ ६)

अर्थात् यह **अब्रह्मचर्य** अनत संसार का वर्धक है, प्रमाद का मूल कारण है और यह नरक आदि रौद्र गतियों मे ले जाने वाला है, इसलिये सयम के भेदक रूप कारणों के त्यागी मुनिराज इसका कभी सेवन नही करते हैं ॥ १६ ॥ यह अब्रह्मचर्य सब अधर्मो का मूल है और महान् से महान् दोषों का समूह रूप है। इसीलिये निग्रंथ—साधु इस मैथुन के ससर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं ॥ १७ ॥

मूल—[1]चउत्थस्स उक्खेवो। एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं साहंजणी णामं णगरी होत्था, रिद्धत्थिमिय०। तीसे णं साहंजणीए णयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए देवरमणे णामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं अमोहस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था पुराणे०। तत्थ णं साहंजणीए णयरीए महचंदे णामं राया होत्था, महता०। तस्स णं महचंदस्स रण्णो सुसेणे णामं अमच्चे होत्था। सामभेयदण्ड० निग्गहकुसले, तत्थ णं साहंजणीए णयरीए सुदरिसणा णामं गणिया होत्था। वण्णओ। तत्थ णं साहंजणीए णयरीए सुभद्दे णामं सत्थवाहे होत्था, अड्ढे०। तस्स णं सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दा णामं भारिया होत्था अहीण०। तस्स णं सुभद्दस्स सत्थवाहस्स पुत्ते, भद्दाए भारियाए अत्तए सगडे नामं दारए होत्था अहीण०।

पदार्थ—**चउत्थस्स**—चतुर्थ अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्ववत् जान लेना चाहिये। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **जंबू!**—हे जम्बू! **तेणं कालेणं**—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय में। **साहजणी**—साहंजनी। **णामं**—नाम की। **णगरी**—नगरी। **होत्था**—थी, जो कि। **रिद्धत्थिमिय०**—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त स्तिमित—स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित समृद्ध—धन तथा धान्यादि से परिपूर्ण थी। **तीसे णं**—उस। **साहंजणीए**—साहंजनी। **णयरीए**—नगरी के। **बहिया**—बाहिर। **उत्तरपुरत्थिमे**—उत्तर तथा पूर्व। **दिसीभाए**—दिशा के मध्य भाग में अर्थात् ईशान कोण में। **देवरमणे**—देवरमण। **णामं**—नाम का। **उज्जाणे**—उद्यान। **होत्था**—था। **तत्थ णं**—उस उद्यान में। **अमोहस्स**—अमोघ नाम के। **जक्खस्स**—यक्ष का। **जक्खायतणे**—यक्षायतन-स्थान। **होत्था**—था। **पुराणे०**—जो कि पुरातन था। **तत्थ णं**—उस। **साहंजणीए**—साहंजनी। **णयरीए**—नगरी में। **महचंदे**—महाचन्द्र। **णामं**—नामक। **राया**—राजा। **होत्था**—था। **महता०**—जो कि हिमालय आदि पर्वतों के समान दूसरे राजाओं की अपेक्षा महान् था। **तस्स णं**—उस। **महचंदस्स**—महाचन्द्र। **रण्णो**—राजा का। **साम**—सामनीति। **भेय**—भेदनीति। **दंड०**—दंड नीति का प्रयोग करने वाला और न्याय अथवा नीतियों की विधियों को जानने वाला, तथा। **निग्गह**—निग्रह करने में। **कुसले**—प्रवीण। **सुसेणे**—सुषेण। **णामं**—नाम का। **अमच्चे**—अमात्य—मन्त्री। **होत्था**—था। **तत्थ णं**—उस। **साहंजणीए**—साहंजनी। **णयरीए**—नगरी में। **सुदरिसणा**—सुदर्शना। **णामं**—नाम की। **गणिया**—गणिका—वेश्या। **होत्था**—थी। **वण्णओ**—वर्णक—वर्णनप्रकरण पूर्ववत् जान लेना

---

(१) छाया—चतुर्थस्योत्क्षेपः। एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये साहंजनी (साभाजनी) नाम नगरी अभवत्, ऋद्धस्तिमित०। तस्या साहंजन्या नगर्या बहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे देवरमणं नामोद्यानमभवत्। तत्रामोघस्य यक्षस्य यक्षायतनमभूत्, पुराणम्०। तत्र साहंजन्यां नगर्यां महाचन्द्रो नाम राजाऽभूत् महता०। तस्य महाचन्द्रस्य राज्ञः सुषेणो नामामात्योऽभूत् सामभेददण्ड० निग्रहकुशलः तत्र साहंजन्यां नगर्यां सुदर्शना नाम गणिकाऽभवत्। वर्णकः। तत्र साहंजन्यां नगर्यां सुभद्रो नाम सार्थवाहोऽभूदाढ्य०। तस्य सुभद्रस्य सार्थवाहस्य भद्रा नाम भार्याऽभूदहीन०। तस्य सुभद्रस्य सार्थवाहस्य पुत्रः भद्राया भार्याया आत्मजः शकटो नाम दारकोऽभूदहीन०।

चाहिये । तत्थ णं—उस । साहंजणीए—साहजनी । णयरीए—नगरी में । सुभद्दे—सुभद्र । णामं—नाम का। सत्थवाहे—सार्थवाह । होत्था—था, जो कि । अड्ढे०— धनी एवं बड़ा प्रतिष्ठित था । तस्स णं—उस । सुभद्दस्स—सुभद्र । सत्थवाहस्स—सार्थवाह की । भद्दा—भद्रा । नामं—नाम की । भारिया—भार्या । होत्था—थी, जो कि । अहीण०—अन्यून एव निर्दोष पञ्चेन्द्रिय शरीर वाली थी । तस्स णं—उस । सुभद्दस्स—सुभद्र । सत्थवाहस्स—सार्थवाह का । पुत्ते—पुत्र और । भद्दाए—भद्रा । भारियाए—भार्या का । अत्तए—आत्मज । सगडे—शकट । नामं—नाम का । दारए—बालक । होत्था—था, जो कि । अहीण०—अन्यून एव निर्दोष पंचेन्द्रिय शरीर से युक्त था ।

मूलार्थ—जम्बू स्वामी के "—हे भदन्त ! यदि तीसरे अध्ययन का इस प्रकार से अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन् ! चतुर्थ अध्ययन का क्या अर्थ वर्णन किया है ?—" इस प्रश्न के उत्तर मे श्री सुधर्मा स्वामी फरमाने लगे कि हे जम्बू ! उस काल और उस समय मे साहंजनी नाम की एक ऋद्ध, स्तिमित एवं समृद्ध नगरी थी । उसके बाहिर ईशान कोण मे देवरमण नाम का एक उद्यान था, उस उद्यान मे अमोघ नामक यक्ष का एक पुरातन यक्षायतन—स्थान था । उस नगरी मे महाचन्द्र नाम का राजा राज्य किया करता था जोकि हिमालय आदि पर्वतों के समान अन्य राजाओं की अपेक्षा महान् तथा प्रतापी था । उस महाचन्द्र नरेश का सुषेण नाम का एक मन्त्री था जोकि सामनीति, भेदनीति और दण्डनीति के प्रयोग को और उसकी अथवा न्याय की विधियों को जानने वाला तथा निग्रह मे बड़ा निपुण था ।

उस नगरी मे सुदर्शना नाम की एक सुप्रसिद्ध गणिका—वेश्या रहती थी । उस के वैभव का-वर्णन द्वितीय अध्ययन में वर्णित कामध्वजा नामक वेश्या के समान जान लेना चाहिये, तथा उस नगर मे सुभद्र नाम का एक सार्थवाह रहता था, उस सुभद्र सार्थवाह अर्थात् सार्थ—व्यापारी मुसाफिरों के समूह का मुखिया, की भद्रा नाम की एक अन्यून एव निर्दोष पचेन्द्रिय शरीर वाली भार्या थी, तथा सुभद्र सार्थवाह का पुत्र और भद्रा भार्या का आत्मज शकट नाम का एक बालक था, जोकि अन्यून एव निर्दोष पंचेन्द्रिय शरीर से युक्त था ।

टीका—शास्त्रों के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनगारपुगव श्री जम्बू स्वामी आचार्यप्रवर श्री सुधर्मा स्वामी के चरणों की पर्युपासना करते हुए साधुजनोचित त्यागी और तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए, नित्यकर्म के अनन्तर उन से भगवत्—प्रणीत निर्ग्रन्थ प्रवचन का भी प्राय निरन्तर श्रवण करते रहते थे ।

पाठकों को स्मरण होगा कि श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को पहले प्रकरणों में उनके प्रश्नों का उत्तर दे चुके हैं । दूसरे शब्दों में—श्री जम्बू स्वामी ने विपाकश्रुत के तीसरे अध्ययन के श्रवण की इच्छा प्रकट की थी । तब श्री सुधर्मा स्वामी ने उन्हें तीसरे अध्ययन में चोर-सेनापति अभग्नसेन का जीवनवृत्तान्त सुनाया था, जिसे श्री जम्बू स्वामी ने ध्यानपूर्वक सुना और चिन्तन द्वारा उसके परमार्थ को अवगत किया था अब उनके हृदय में चतुर्थ अध्ययन के श्रवण की उत्कंठा हुई । वे सोचने लगे कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने चतुर्थ अध्ययन में क्या प्रति—पादन किया होगा ? क्या उस में भी चौर्यकर्म के दुष्परिणाम की वर्णन होगा या अन्य किसी विषय का ? इत्यादि हृदयगत ऊहापोह करते हुए अन्त में उन्हों ने श्री सुधर्मा स्वामी के चरणों में चतुर्थ अध्ययन के श्रवण की प्रार्थना की ।

पाठकों को स्मरण रहे कि श्री जम्बू स्वामी ने अपनी भाषा में जो कुछ श्री सुधर्मा स्वामी से प्रार्थनारूप में निवेदन किया था, उसी को सूत्रकार ने "**उक्खेवो—उत्क्षेपः**" शब्द से सूचित किया है। उत्क्षेप को दूसरे शब्दो मे प्रस्तावना कहा गया है। सम्पूर्ण प्रस्तावनासम्बन्धी पाठ इस प्रकार से है—

जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, चउत्थस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?—अर्थात् श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी से विनयपूर्वक निवेदन किया कि, भदन्त ! यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दु खविपाक के तृतीय अ यथन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन् ! उन्हों ने दु खविपाक के चतुर्थ अ ययन का क्या अर्थ वर्णन किया है ?

जम्बू स्वामी के उक्त प्रश्न का उनके पूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी ने जो उत्तर देना आरम्भ किया उसे ही सूत्रकार ने "**एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं** .." इत्यादि पदों में वर्णित किया है, जिन का अर्थ नीचे दिया जाता है—

श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा कि हे जम्बू ! इस अवसर्पिणी काल का चौथा आरा व्यतीत हो रहा था, उस समय साहजनी नाम की एक सुप्रसिद्ध वैभवपूर्ण नगरी थी । उस के बाहिर ईशान कोण में देवरमण नाम का एक परम सुन्दर उद्यान था । उस उद्यान में अमोघ नामक यक्ष का एक पुरातन यक्षायतन—स्थान था, जो कि पुराने जमाने के सुयोग्य अनुभवी तथा निपुण शिल्पियों—कारीगरों के यश पु ज को दिगतव्यापो करने मे सिद्धहस्त था । दूसरे शब्दो में कहें तो—अमोघ यक्ष का स्थान बहुत प्राचीन तथा नितान्त सुन्दर बना हुआ था—यह कहा जा सकता है।

साहजनी नगरी मे महाराज महाचन्द्र का शासन चल रहा था। महाराज महाचन्द्र हृदय के बड़े पवित्र और प्रजा के हितकारी थे । उन का अधिक समय प्रजा के हित—चिन्तन मे ही व्यतीत होता था । प्रजाहित के लिये अपने शारीरिक सुखों को वे गौण समझते थे। शास्त्रकारों ने उन्हे हिमाचल और मेरु पर्वत आदि पर्वतो से उपमित किया है, अर्थात् जिस प्रकार हिमालय आदि पर्वत निष्प्रकप तथा महान् होते हैं, ठीक उसी प्रकार महाराज महाचन्द्र भी धैर्यशील और महा प्रतापी थे, तथा जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्र षोडश कलाओ से सम्पूर्ण और दर्शकों के लिये आनन्द उपजाने वाला होता है, उसी प्रकार महाचन्द्र भी नृपतिजनोचित समस्त गुणो से पूर्ण और प्रजा के मन को आनन्दित करने वाले थे ।

महाचन्द्र के एक सुयोग्य अनुभवी मत्री था जो कि सुषेण के नाम से विख्यात था । वह साम, भेद, दण्ड और दाननीति के विषय मे पूरा २ निष्णात था, और इन के प्रयोग मे वह विपक्षियों का निग्रह करने में भी पूरी २ निपुणता प्राप्त किये हुए था । इसी लिये वह राज्य का सचालन बड़ी योग्यता से कर रहा था और महाराज महाचन्द्र का विशेष कृपापात्र बना हुआ था।

प्रियवचनो के द्वारा विपक्षी को वश में करना **साम** कहा जाता है। स्वामी और सेवक के हृदय में विभिन्नता उत्पन्न करने का नाम **भेद** है। किसी अपराध के प्रतिकार में अपराधी को पहुचाई गई पीड़ा या हानि **दण्ड** कहलाता है। अभिमत पदार्थ के दान को **दान** या **उपप्रदान** कहते हैं। **निग्रह** शब्द —दण्डित करना या स्वाधीन करना—इस अर्थ का परिचायक है, यह छल, कपट एव दमन से साध्य होता है।

साम, भेद आदि पदों के भेदोपभेदों का वर्णन आचार्य श्री अभयदेव सूरि ने श्री

स्थानाङ्ग सूत्र के तीसरे स्थान और तीसरे उद्देशक में बड़ी सुन्दरता से किया है। पाठकों की जानकारी के लिये वह स्थल नीचे दिया जाता है—

(१) [1]साम—पाच प्रकार का होता है, जैसे कि १—परस्पर के उपकारों का प्रदर्शन करना, २—दूसरे के गुणों का उत्कीर्तन करना, (३) दूसरे से अपना पारस्परिक सम्बन्ध बतलाना, (४) आयति (भविष्यत्—कालीन) आशा दिलाना अर्थात् अमुक कार्य करने पर हम को अमुक लाभ होगा, इस प्रकार से भविष्य के लिये आशा बधाना, ५—मधुर वाणी से—मैं तुम्हारा ही हू—इस प्रकार अपने को दूसरे के लिये अर्पण करना।

(२) भेद—तीन प्रकार का होता है, जैसे कि १—स्नेह अथवा राग को हटा देना अर्थात् किसी का किसी पर जो स्नेह अथवा राग है उसे न रहने देना। २—स्पर्द्धा-ईर्षा उत्पन्न कर देना। ३—मैं ही तुम्हें बचा सकता हू—इस प्रकार के वचनों द्वारा भेद डाल देना

(३) दण्ड—तीन प्रकार का होता है जैसे कि १—वध—प्राणान्त करना। २—परिक्लेश—पीड़ा पहुचाना। ३—जुरमाना के रूप में धनापहरण करना।

(४) दान—पाच प्रकार का होता है, जैसे कि १—दूसरे के कुछ देने पर बदले में कुछ देना। २—ग्रहण किये हुए का अनुमोदन—प्रशसा करना। ३—अपनी ओर से स्वतन्त्ररूपेण किसी अपूर्व वस्तु को देना। ४—दूसरे के धन को स्वय ग्रहण कर अच्छे २ कामों लगा देना। ५—ऋण को छोड़ देना।

इसके अतिरिक्त उक्त नगरी मे सुदर्शना नाम की एक गणिका—वेश्या भी रहती थी जो कि अपनी गायन और नृत्य कला मे बड़ी प्रवीण तथा धनसम्पन्न कामिजनों को अपने जाल में फसाने के लिये बड़ी कुशल थी। उस की रूपशाला में बडे २ धनी, मानी युवक शलभ—पतग की भान्ति अपने जीवनसर्वस्व को अर्पण करने के लिये एक दूसरे मे आगे रहते थे।

तथा साहजनी नगरी में सुभद्र नाम के एक सार्थवाह भी रहते थे, वे बड़े धनाढ्य थे। लक्ष्मीदेवी की उन पर असीम कृपा थी। इसी लिये वे नगर में तथा राजदरबार में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए थे। उन की सहधर्मिणी का नाम भद्रा था। जोकि रूपलावण्य में अद्वितीय होने के अतिरिक्त पतिपरायणा भी थी। जहा ये दोनों सासारिक वैभव मे परिपूर्ण थे वहा इनके

---

(१) सामलक्षणमिदम्—परस्परोपकाराणां दर्शनं १ गुणकीर्तनम् २। सम्बन्धस्य समाख्यान ३ आयत्या संप्रकाशनम् ४ ॥१॥ वाचा पेशलया साधु तवाहमिति चार्पणम्५। इति सामप्रयोगज्ञैः साम पंचविधं स्मृतम् ॥ २ ॥ अस्मिन्नेवं कृते इदमावयोर्भविष्यतीत्याशाजननमायतिसम्प्रकाशनमिति। भेदलक्षणमिदम्—स्नेहरागापनयनं १ संहर्षोत्पादनं तथा २। सन्तर्जनं ३ च भेदज्ञैः भेदस्तु त्रिविध. स्मृत. ॥ ३ ॥ संहर्षः स्पर्द्धा, सन्तर्जनं च अस्यास्मिन्मित्रविग्रहस्य परित्राणं मत्तो भविष्यतीत्यादिकरूपमिति। भेदलक्षणमिदम्—वधश्चैव १ परिक्लेशो २, धनस्य हरणं तथा ३। इति दण्डविधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः ॥ ४ ॥ प्रदानलक्षणमिदम्—१ य सम्प्राप्तो धनोत्सर्ग. उत्तमाधममध्यमा। प्रतिदानं तथा तस्य २ गृहीतस्यानुमोदनम् ॥ १ ॥ द्रव्यदानमपूर्वं च ३ स्वयंग्राहप्रवर्तनम् ४। देयस्य प्रतिमोक्षश्च ५ दानं पंचविधं स्मृतम् ॥ २ ॥ धनोत्सर्गो—धनसम्पत्, स्वयंग्राहप्रवर्तनं-परस्वेषु, देयप्रतिमोक्षः ऋणमोक्ष इति। (स्थानागवृत्तितः)।

विशिष्ट सासारिक सुख देने वाला एक पुत्र भी था। जो कि शकट कुमार के नाम से प्रसिद्ध था। शकट कुमार जहा देखने में बड़ा सुन्दर था वहा वह गुण—सम्पन्न भी था। उसकी बोल चाल बड़ी मोहक थी।

—**रिद्धत्थिमिय०**—यहा के बिन्दु से जो पाठ विवक्षित है उस की सूचना पृष्ठ १३८ पर दी जा चुकी है। तथा—**पुराणे०**—यहा के बिन्दु से औपपातिक सूत्रगत—**सद्दिए वित्तिए कित्तिए**—इत्यादि पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों का अर्थ वहीं औपपातिक सूत्र मे देख लेना चाहिये। तथा—**महता०**—यहा के बिन्दु से विवक्षित पाठ की सूचना भी पृष्ठ १३८ पर दी जा चुकी है।

—**सामभेयदंड०**—यहा के बिन्दु से—"**उवप्पयाणनीतिसुप्पउत्त—णय—विहिन्नू ईहा-वूहमग्गणगवेसणअत्थसत्थमइविसारए उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए पारिणामिआए चउव्वि-हाए बुद्धिए उववेए**—इत्यादि औपपातिकसूत्रगत पदो का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों की व्याख्या औपपातिक सूत्र में देखी जा सकती है। प्रस्तुत प्रकरण में जो सूत्रकार ने—**सामभेयदंड-उवप्पयाणनीतिसुप्पउत्तणयविहिन्नू**—यह साकेतिक पद दिया है। इसकी व्याख्या निम्नोक्त है—

साम, भेद, दण्ड और **उपप्रदान** (दान) नामक नीतियों का भली प्रकार से प्रयोग करने वाला तथा न्याय अथवा नीतियों की विधियों का ज्ञान रखने वाला **सामभेददण्डोपप्रदाननीतिसुप्र-युक्तनयविधिज्ञ** कहलाता है।

—**वण्णओ**—पद का अर्थ है—**वर्णक** अर्थात् वर्णनप्रकरण। सूत्रकार ने वर्णक पद से गणिका के वर्णन करने वाले प्रकरण का स्मरण कराया है। गणिका के वर्णनप्रधान प्रकरण का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के दूसरे अध्ययन के पृष्ठ १०४ पर किया जा चुका है।

—**अड्ढे०**—यहा के बिन्दु से जो पाठ विवक्षित है उस का उल्लेख पृष्ठ १२० पर किया जा चुका है। तथा—**अहीण०**—यहा के बिन्दु से विवक्षित पाठ का वर्णन पृष्ठ १०५ की टिप्पण मे किया जा चुका है तथा दूसरे—**अहीण०**—के बिन्दु से अभिमत पाठ का वर्णन पृष्ठ १२० पर किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रस्तुत अध्ययन के मुख्य २ पात्रों का मात्र नाम निर्देश किया गया है। इन का विशेष वर्णन आगे किया जायेगा। अब सूत्रकार निम्न लिखित सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी के पधारने और भिक्षार्थ गये हुये गौतम स्वामी के दृश्यावलोकन के विषय का वर्णन करते हैं—

मूल—[१] **तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे, परिसा राया य निग्गते, धम्मो कहियो, परिसा पडिगया राया वि णिग्गओ। तेणं कालेणं २ समणस्स० जेट्ठे अंतेवासी जाव रायमग्गे ओगाढे। तत्थ णं हत्थी, आसे, पुरिसे० तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगतं पासति एगं सइत्थियं पुरिसं अवओडगबंधणं उक्खित्तकण्णनासं, जाव उग्घोसणं**

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीर समवसृत । परिषद् राजा च निर्गतः । धर्म कथित । परिषद् प्रतिगता, राजापि निर्गत । तस्मिन् काले २ श्रमणस्य० ज्येष्ठोऽन्तेवासी यावद् राजमार्गेऽवगाढः । तत्र हस्तिनोऽश्वान् पुरुषान्० तेषा च पुरुषाणा मध्यगतं पश्यति एकं सस्त्रीक पुरुषं, अवकोटकबधनम्, उत्कृत्तकर्णनास, यावद् उद्घोषण, चिंता तथैव यावद् भगवान् व्याकरोति ।

चिंता तहेव जाव भगवं वागरेति ।

पदार्थ—**तेण कालेणं**—उस काल में । **तेणं समएणं**—उस समय में। **समणे**—श्रमण । **भगवं**—भगवान् । **महावीरे**—महावीर स्वामी । **समोसढे**—पधारे । **परिसा य**—परिषद्—जनता तथा । **राया**—राजा, नगर से । **निग्गते**—निकले । **धम्मो**—धर्म का । **कहिओ**—प्ररूपण किया । **परिसा**—परिषद् । **पडिगया**—चली गई । **राया**—राजा । **वि**—भी । **णिग्गओ**—चला गया। **तेणं कालेणं २**—उस काल तथा उस समय में । **समणस्स०** — श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के । **जेट्ठे**—ज्येष्ठ—प्रधान । **अंतेवासी**—शिष्य । **जाव**—यावत् । **रायमग्गे**—राजमार्ग में । **ओगाढे**—गये । **तत्थ णं**—वहा पर । **हत्थी**—हस्तियों को । **आसे**—अश्वों को, तथा । **पुरिसे०**—पुरुषों को देखते हैं । **तेसिं च**—और उन । **पुरिसाणं**—पुरुषों के । **मज्झगतं**—मध्य में। **सइत्थियं**—स्त्री से सहित । **अवओडगबंधणं**—अवकोटकबन्धन अर्थात् जिस बधन में गल और दोनों हाथों को मोड कर पृष्ठभाग पर रज्जु के साथ बाधा जाए उस बधन से युक्त । **उक्खित्तकण्णनासं**—जिस के कान और नासिका कटे हुए हैं । **जाव**—यावत् । **उग्घोसणं**—उद्घोषणा से युक्त । **एगं**—एक **पुरिसं**—पुरुष को । **पासति**—देखते हैं, देखकर । **चिंता**—चिन्तन करने लगे । **तहेव**—तथैव । **जाव**—यावत् । **भगव**—भगवान् महावीर स्वामी । **वागरेति**—प्रतिपादन करने लगे ।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय साहंजनी नगरी के बाहिर देवरमण उद्यान मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे । नगर से भगवान् के दर्शनार्थ जनता और राजा निकले । भगवान् ने उन्हें धर्मदेशना दी । तदनन्तर धर्म का श्रवण कर जनता और राजा सब चले गये । तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतम स्वामी यावत् राजमार्ग मे पधारे ।

वहा उन्हों ने हाथियों, अश्वों और पुरुषों को देखा, उन पुरुषो के मध्य मे अवकोटकबन्धन से युक्त, कान और नासिका कटे हुए उद्घोषणायुक्त तथा सस्त्रीक—स्त्रीसहित एक पुरुष को देखा, देख कर गौतम स्वामी ने पूर्ववत् विचार किया और भगवान् से आकर निवेदन किया तथा भगवान उत्तर मे इस प्रकार कहने लगे—

टीका—साहंजनी नगरी का वातावरण बड़ा सुन्दर और शान्त था । वहा की प्रजा अपने भूपति के न्याययुक्त शासन से सर्वथा प्रसन्न थी । राजा भी प्रजा को अपने पुत्र के समान समझता था । जिस प्रकार शरीर के किसी अग मे व्यथा होने से सारा शरीर व्याकुल हो उठता है ठीक उसी प्रकार महाराज महाचन्द्र भी प्रजा की व्यथा से विकल हो उठते और उसे शान्त करने का भरसक प्रयत्न किया करते थे । वे सदा प्रसन्न रहते और यथासमय धर्म का आराधन करने में समय व्यतीत किया करते थे । आज उन की प्रसन्नता मे आशातीत वृद्धि हुई, क्यों कि उद्यानपाल—माली ने आकर इन्हें देवरमण उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने का शुभ सदेश दिया ।

माली ने कहा—पृथिवीनाथ ! आज मैं आप को जो समाचार सुनाने आया हूं, वह आप को बड़ा ही प्रिय लगेगा । हमारे देवरमण उद्यान में आज पतितपावन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपने शिष्यपरिवार के साथ पधारे हैं । बस यही मगल समाचार आप को सुनाने के लिये मैं आप की सेवा मे उपस्थित हुआ हूं, ताकि अन्य जनता की तरह आप भी उनके पुण्यदर्शन का सौभाग्य प्राप्त करते हुए अपने आत्मा को कृतकृत्य बनाने का सुअवसर उपलब्ध कर सकें ।

उद्यानपाल के इन कर्णप्रिय मधुर शब्दों को सुन कर महाराज महाचन्द्र बडे प्रसन्न हुए। तथा इस मगल समाचार को सुनाने के उपलक्ष्य मे उन्हों ने उद्यानपाल को भी उचित पारितोषिक देकर प्रसन्न किया, तथा स्वय वीर प्रभु के दर्शनार्थ उन की सेवा मे उपस्थित होने के लिये बड़े उत्साह से तैयारी करने लगे।

इधर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के देवरमण उद्यान में पधारने का समाचार सारे शहर मे विद्युत्प्रकाश की भान्ति एक दम फैल गया। नगर की जनता उन के दर्शनार्थ वेगवती नदी के प्रवाह की तरह उद्यान की ओर चल पड़ी, तथा महाराज महाचन्द्र भी बड़ी सजधज के साथ भगवान् के दर्शनार्थ उद्यान की ओर चल पड़े और उद्यान में पहुंच कर वीर प्रभु के जी भर कर निनिमेष दृष्टि से दर्शन करते हुए उनकी पर्युपासना का लाभ लेने लगे, तथा प्रभु-दर्शनों की प्यासी जनता ने भी प्रभु के यथारुचि दर्शन कर अपनी चिरतन पिपासा को शान्त करने का पूरा २ सौभाग्य प्राप्त किया।

आज देवरमण उद्यान की शोभा भी कहे नही बनती। वीर प्रभु की कैवल्य विभूति से अनुप्राणित हुए उस में आज एक नये ही जीवन का सचार दिखाई देता है। उसका प्रत्येक वृक्ष, लता और पुष्प मानों हर्षातिरेक मे प्रफुल्लित हो उठा है, तथा प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग मे सजीवता अथच सजगता आ गई है। दर्शकों की आखे उसकी इस अपूर्व शोभाश्री को निर्निमेष दृष्टि से निहारती हुई भी नही थकती। अधिक क्या कहे, वीर प्रभु के आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त करने वाले इस देवरमणोद्यान की शोभाश्री को निहारने के लिये तो आज देवतागण भी स्वर्ग से वहा पधार रहे हैं।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उनके दर्शनार्थ देवरमण उद्यान मे उपस्थित हुई जनता के समुचित स्थान पर बैठ जाने के बाद उसे धर्म का उपदेश दिया। उपदेश क्या था? साक्षात् सुधा की वृष्टि थी, जो कि भवतापसन्तप्त हृदयों को शान्ति—प्रदान करने के लिये की गई थी। उपदेश समाप्त होने पर वीर प्रभु को भक्तिपूर्वक वन्दना तथा नमस्कार करके नागरिक और महाराज महाचन्द्र आदि सब अपने २ स्थानो को चले गये।

तत्पश्चात् सयम और तप की सजीव मूर्ति श्री गौतम स्वामी भगवान् से आज्ञा लेकर पारणे के निमित्त भिक्षा के लिये साहजनी नगरी मे गये। जब वे राजमार्ग में पहुँचे तो क्या देखते हैं? कि हाथियो के झुड, घोड़ों के समूह और सैनिक पुरुषो के दल के दल वहा खडे हैं। उन सैनिकों के मध्य मे स्त्रीसहित एक पुरुष है, जिस के कर्ण, नासिका कटे हुये हैं, वह अवकोटक—बन्धन से बधा हुआ है, तथा राजपुरुष उन दोनो को अर्थात् स्त्री और पुरुष को कोडों से पीट रहे हैं, तथा यह उद्घोषणा कर रहे हैं कि इन दोनो को कष्ट देने वाले यहा के राजा अथवा कोई अधिकारी आदि नही है किन्तु इन के अपने दुष्कर्म ही इन्हें यह कष्ट पहुचा रहे हैं। राजकीय पुरुषो के द्वारा की गई उस स्त्री पुरुष की इस भयानक तथा दयनीय दशा को देख कर करुणा के सागर गौतम स्वामी का हृदय पसीज उठा और उनकी इस दुर्दशा से वे बहुत दु खित भी हुए।

भगवान् गौतम सोचने लगे कि यह ठीक है कि मैंने नरकों को नही देखा किन्तु फिर भी श्रुत ज्ञान के बल से जितना उनके सम्बन्ध में मुझे ज्ञान है उस से तो यह प्रतीत होता है कि यह बालक नरक के समान ही यातना—दु ख को प्राप्त कर रहा है। अहो! यह कितनी कर्मजन्य विडम्बना है? इत्यादि विचारों से युक्त हुए वापिस देवरमण उद्यान में आये, आकर प्रभु को वन्दना की और राजमार्ग के दृश्य का सारा वृत्तान्त कह सुनाया तथा उस दृश्य के अवलोकन से अपने

हृदय में जो संकल्प उत्पन्न हुए थे, उन का भी वर्णन किया।

तदनन्तर उस सस्त्रीक व्यक्ति के विषय में उसके कष्ट का मूल जानने की इच्छा से उसके पूर्व-जन्म का वृत्तान्त सुनने की लालसा रखते हुए भगवान् गौतम ने वीर प्रभु में विनम्र निवेदन किया कि भगवन्! यह पुरुष पूर्वभव में कौन था? और उसने पूर्वजन्म में ऐसा कौन सा कर्म किया था जिसके फलस्वरूप उसे इस प्रकार के असह्य कष्टों को सहन करने के लिये बाधित होना पड़ा? इस प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो कुछ फरमाया, उसका वर्णन अग्रिम सूत्र में दिया गया है।

—**समणस्स०**—यहां के बिन्दु से—**भगवओ महावीरस्स**—इन पदों का ग्रहण समझना, और—**अन्तेवासी जाव रायमग्गे**—यहां के जाव-यावत् पद से—**इन्दभूती नाम अणगारे गोयम-सगोत्तेणं**—[1]से लेकर—**संखित्तविउलतेउलेसे छटुंछट्टेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए**—[2]से लेकर **दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे**—यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

—**पुरिसे०**—यहां के बिन्दु से—**पासति सन्नद्धबद्धवम्मियकवए**—से लेकर—**गहियाउहपहरणे**-यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभीष्ट है। इन पदों का शब्दार्थ पृष्ठ १२४ पर दिया जा चुका है।

"—**उक्खित्तकण्णनासं जाव उग्घोसणं**—" यहां का **जाव-यावत्** पद—**नेहतुप्पियगत्तं**—से लेकर—**इमं च णं एयारूवं**—यहां तक के पाठ का परिचायक है। इन पदों का शब्दार्थ पृष्ठ १२८ तथा १२५ पर दिया गया है।

—**चिंता तहेव जाव**—यहां पठित चिन्ता शब्द से—**तते णं से भगवओ गोतमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिते ५ समुप्पज्जित्था—अहो णं इमे पुरिसे जाव निरयपडिरूवियं वेयणं वेदेति**—इन पदों का ग्रहण कराना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १३२ पर लिखा जा चुका है। तथा—**तहेव**—पद से जो विवक्षित है उस का उल्लेख पृष्ठ १३३ पर किया गया है। तथा—**जाव-यावत्** पद से—**साहंजणीए नगरीए उच्चनीयमज्झिमकुले**—से लेकर—**पच्चणुभवमाणे विहरति**—यहां तक के पाठ का ग्रहण करना अभिमत है। इन का अर्थ पृष्ठ १३२ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां वाणिजग्राम नगर का उल्लेख है जब कि यहां साहंजनी नगरी का। अवशिष्ट वर्णन समान ही है।

अब सूत्रकार गौतम स्वामी के उक्त प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया, उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[3]**एवं खलु गोतमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे**

---

(१) इन समस्त पदों का वर्णन पृष्ठ १० पर किया गया है।

(२) समस्त पद जानने के लिये देखो पृष्ठ १०२।

(३) छाया—एवं खलु गौतम! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे छगलपुरं नाम नगरमभवत्। तत्र सिंहगिरिः नाम राजाभूत्, महता०। तत्र छगलपुरे नगरे छणिको नाम छागलिकः परिवसति, आढ्य०, अधार्मिको यावत् दुष्प्रत्यानन्दः। तस्य छणिकस्य

वासे छगलपुरे णामं णगरे होत्था । तत्थ सीहगिरी णामं राया होत्था, महया० । तत्थ णं छगलपुरे णगरे छरिणए णामं छागलिए परिवसति, अड्ढे०, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं छणियस्स छागलियस्स बहवे अयाण य एलाण य रोज्झाण य वसभाण य ससयाण य पसयाण य सूयराण य सिघाण य हरिणाण य मऊराण य महिसाण य सतबद्धाणि य सहस्सबद्धाणि य जूहाणि वाडगंसि सन्निरुद्धाइं चिट्ठंति । तत्थ बहवे पुरिसा दिण्णभइभत्तवेयणा बहवे अए य जाव महिसे य सारक्खमाणा सगोवेमाणा चिट्ठंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा अयाण जाव महिसाण य गिहंसि निरुद्धा चिट्ठंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्णभतिभत्तवेयणा बहवे अए य जाव महिसे य सयए य सहस्सए जीविताओ ववरोवेंति २ मंसाइं कप्पणी-कप्पियाइं करेंति २ छणियस्स छागलियस्स उवणेंति, अन्ने य से बहवे पुरिसा ताइं बहुयाइं अयमंसाइं जाव महिसमंसाइं य तवएसु य कवल्लीसु य कंदूसु य भज्जणएसु य इंगालेसु य तलेंति य भज्जेंति य सोल्लिंति य तलंता य ३ रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणा वि य णं से छणियए छागलिए तेहि बहूहि अयमंसेहि य जाव महिसमंसेहि य सोल्लेहि तलिएहिं सुरं च ५ आसे-देमाणे ४ विहरति । तते णं से छणिए छागलिए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता सत्तवाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पुढवीए उक्कोसेणं दससागरोवमठितिएसु णेरइएसु णेरइयत्ताए उववन्ने ।

छागलिकस्य बहूनि अजानां एडानां च गवयानां च वृषभाणां च शशकानां च मृगशिशूनां च शूकराणां च सिंहानां च हरिणानां च मयूराणां च महिषाणां च शतबद्धानि च सहस्रबद्धानि च यूथानि वाटके संनिरुद्धानि तिष्ठन्ति । तत्र बहवः पुरुषाः दत्तभृतिभक्तवेतनाः बहूनजांश्च यावद् महिषांश्च संरक्षन्तः संगोपयन्तस्तिष्ठन्ति । अन्ये च तस्य बहवः पुरुषाः अजानां च यावद् महिषाणां च गृहे निरुद्धास्तिष्ठन्ति । अन्ये च तस्य बहवः पुरुषाः दत्तभृतिभक्तवेतनाः बहूनजांश्च यावद् महिषांश्च शतानि च सहस्राणि जीविताद् व्यपरोपयन्ति २ मांसानि कर्तनीकृत्तानि कुर्वन्ति २ छणिकाय छागलि— कायोपनयन्त । अन्ये च तस्य बहवः पुरुषाः तानि अजमांसानि च यावद् महिषमांसानि च तवकेषु च कवल्लीषु च कन्दुषु च भर्जनकेषु च अङ्गारेषु च तलन्ति च भृज्जन्ति च पचन्ति च । तलन्तश्च ३ राजमार्गे वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति । आत्मनापि च स छणिकः छागलिकः तैः बहुभिरजमांसैश्च पक्वैस्तलितैर्भृष्टैः सुरां च ५ आस्वादयन् ४ विहरति । ततः स छणिकः छागलिकः एतत्कर्मा एतत्— प्रधानः एतद्विद्यः एतत्समाचारः सुबहु पापं कर्म कलिकलुषं समर्ज्य सप्तवर्षशतानि परमायुः पालयित्वा चतुर्थ्यां पृथिव्यां उत्कर्षेण दशसागरोपमस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्नः ।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । गोतमा !—हे गौतम ! । तेणं कालेणं—उस काल में । तेण—उस । समएणं—समय मे । इहेव—इसी । जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत । भारहे वासे—भारतवर्ष में । छगलपुरे—छगलपुर । णामं—नाम का । णगरे—नगर । होत्था—था । तत्थ—वहा । सीहगिरी—सिंहगिरि । णाम—नामक । राया—राजा । होत्था—था । महया०—जो कि हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् था । तत्थ णं—उस । छगलपुरे—छगलपुर । णगरे—नगर में । छणिए—छणिक । णामं—नामक । छागलिए—छागलिक—छागों—बकरों के मास से आजीविका करने वाला वधिक—कसाई । परिवसति—रहता था, जोकि । अड्ढे०—धनी तथा अपने नगर में बड़ा प्रतिष्ठित था और । अहम्मे—अधर्मी । जाव—यावत् । दुप्पडियाणंदे—दुष्प्रत्यानन्द अर्थात् बड़ी कठनाई से प्रसन्न होने वाला था । तस्स णं—उस । छणियस्स—छणिक । छागलियस्स—छागलिक के । वहवे—अनेक । अयाण य—अजों—बकरों । एलाण य—भेडों । रोज्झाण य—रोझों—नीलगायों । वसभाण य—वृषभों । ससयाण य—शशकों—खरगोशों । पसयाण य—मृगविशेषों अथवा मृगशिशुओं । सूयराण य—शूकरों—सूयरों । सिंहाण य—सिंहों । हरिणाण य—हरिणों । मऊराण य—मयूरों और । महिसाण य—महिषों—भैंसों के । सतवद्धानि—शतबद्ध—जिस में १०० बन्धे हुए हों । सहस्सवद्धानि—सहस्रबद्ध—जिस में हजार बन्धे हुए हों, ऐसे । जूयाणि—यूथ—समूह । वाडगंसि—वाटक—बाड़े में अर्थात् बाड़ आदि के द्वारा चारों ओर से घिरे हुए विस्तृत खाली मैदान में । सन्निरुद्धाइं—सम्यक् प्रकार से रोके हुए । चिट्ठन्ति—रहते थे । तत्थ—वहा । वहवे—अनेक । पुरिसा—पुरुष । दिण्णभइभत्तवेयणा—जिन्हें वेतन के रूप में भृति—रुपये पैसे और भक्त—भोजनादि दिया जाता हो, ऐसे पुरुष । वहवे—अनेक । अए य—अजों—बकरों का । जाव—यावत् महिसे य—महिषों का । सारक्खमाणा—सरक्षण तथा । संगोवेमाणा—संगोपन करते हुए । चिट्ठंति—रहते थे । अन्ने य—और दूसरे । वहवे—अनेक । पुरिसा—पुरुष । अयाण य—अजों को । जाव—यावत् । महिसाण य—महिषों को । गिहंसि—घर में । निरुद्धा—रोके हुए । चिट्ठंति—रहते थे, तथा । अन्ने य—और दूसरे । से—उस के । वहवे—अनेक । पुरिसा—पुरुष । दिण्णभतिभत्तवेयणा—जिन को वेतन के रूप में भृति—रुपया, पैसा तथा भक्त—भोजन दिया जाता हो । वहवे—अनेक । अए य—अजों । जाव—यावत् । महिसे य—महिषों को, जो कि । सयए य—सैंकडों तथा । सहस्सए—हजारों की सख्या में थे । जीवियाउ—जीवन से । ववरोवति २—रहित किया करते थे, करके । मंसाइं—मास के । कप्पणीकप्पियाइं—कर्तनी—कैंची अथवा छुरी के द्वारा टुकड़े । करेंति—करते हैं । २ त्ता—कर के । छणियस्स—छणिक । छागलियस्स—छागलिक को । उवणेंति—ला कर देते थे । अन्ने य—और दूसरे । से—उस के । वहवे—अनेक । पुरिसा—पुरुष । ताइं—उन । वहुयाइं—वहुत से । अयमंसाइं—बकरों के मासों । जाव—यावत् । महिसमंसाइं—महिषों के मासों को । तवएसु य—तवों पर । कवल्लीसु य—कड़ाहों में । कंदूसु य—कन्दुओं पर अर्थात् हाडों में, अथवा कड़ाहियों में. अथवा लोहे के पात्र—विशेषों में । भज्जणएसु य—भर्जनकों—भूनने के पात्रों में, तथा । इंगालेसु य—अगारों पर । तलेंति—तलते थे । भज्जंति—भूंजते थे । सोल्लिंति—शूल द्वारा पकाते थे । तलंता य ३—तल कर, भून कर और शूल से पका कर । रायमग्गंसि—राजमार्ग में । वित्ति कप्पेमाणा—आजीविका करते हुए । विहरन्ति—समय व्यतीत किया करते थे । अप्पणा वि य णं—और स्वय भी । से—वह । छणिएय—

छणिणक । **छागलिए**—छागलिक । **तेहिं**—उन । **बहूहिं**—अनेकविध । **अयमंसेहि य**—अकरों के मासों । **जाव**—यावत् । **महिसमंसेहि य**—महिषो के मासो, जो कि । **सोल्लेहि**—शूल के द्वारा पकाये हुए । **तलिएहिं**—तले हुए, और । **भज्जिएहिं**—भूने हुए हैं, के साथ । **सुरं च ५**—पचविध सुराओ—मद्य-विशेषों का । **आसादेमाणे ४**—आस्वादन, विस्वादन आदि करता हुआ । **विहरति**—जीवन बिता रहा था । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **छणिणए**—छणिणक । **छागलिए**—छागलिक । **एयकम्मे**—इस प्रकार के कर्म का करने वाला । **एयप्पहाणे**—इस कर्म में प्रधान । **एयविज्जे**—इस प्रकार के कर्म के विज्ञान वाला तथा । **एयसमायारे**—इस कर्म को अपना सर्वोत्तम आचरण बनाने वाला । **कलिकलुसं**—क्लेशजनक और मलिन—रूप । **सुबहुं**—अत्यधिक । **पावं**—पाप । **कम्मं**—कर्म का । **समज्जिणित्ता**—उपार्जन कर । **सत्तवाससयाइं**—सात सौ वर्ष की । **परमाउं**—परम आयु । **पालइत्ता**—पाल कर—भोग कर । **कालमासे**—कालमास अर्थात् मरणावसर मे । **कालं**—काल । **किच्चा**—कर के । **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट । **दससागरोवमठितिएसु**—दश सागरोपम स्थिति वाले । **णेरइएसु**—नारकियो मे । **णेरइयत्ताए**—नारकी रूप से । **चउत्थीए**—चौथी । **पुढवीए**—पृथिवी—नरक में । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ ।

मूलार्थ—हे गौतम ! उस काल तथा उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष मे छगलपुर नाम का एक नगर था । वहा सिंहगिरि नामक राजा राज्य किया करता था, जो कि हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् था । उस नगर मे छणिणक नामक एक छागलिक—छागादि के मांस का व्यापार करने वाला वधिक रहता था, जो कि धनाढ्य, अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द था ।

उस छणिणक छागलिक के अनेक अजों, वकरों, भेडो, गवयों, वृषभों, शशकों मृगविशेषों या मृगशिशुओ, शूकरों, सिंहो, हरिणों, मयूरो और महिषों के शतबद्ध एव सहस्रबद्ध अर्थात् सौ २ तथा हजार २ जिन मे बन्धे रहते थे ऐसे यूथ वाटक—वाड़े मे सम्यक् प्रकार से रोके हुए रहते थे । वहा उसके जिनको वेतन के रूप मे रुपया पसा और भोजन दिया जाता था, ऐसे पुरुष अनेक अजादि और महिषादि पशुओ का सरक्षण तथा सगोपन करते हुए उन—अजादि पशुओं को घरों मे रोके रखते थे ।

छणिणक छागलिक के रुपया और भोजन लेकर काम करने वाले अनेक नौकर पुरुष सैकडों तथा हजारों अजो यावत महिषो को मार कर उन के मासो को कर्तनी से काट कर छणिणक को दिया करते थे, तथा उस के अनेक नौकर पुरुष उन—मासो को तवों, कवल्लियों भर्जनकों और अगारो पर तलते, भूनते और शूल द्वारा पकाते हुए उन—मासों को राजमार्ग मे वेच कर आजीविका चलाते थे ।

छणिणक छागलिक स्वय भी तले हुए, भूने हुए और शूल द्वारा पकाये हुए उन मासों के साथ सुरा आदि पचविध मद्यो का आस्वादनादि करता हुआ जीवन बिता रहा था । उसने अजादि पशुओ के मासों को खाना तथा मदिराओ का पीना अपना कर्तव्य बना लिया था । इन्हीं पाप—पूर्ण प्रवृत्तियों मे वह सदा तत्पर रहता था, यही प्रवृत्तिए उस के जीवन का विज्ञान बनी हुई थीं और ऐसे ही पाप—पूर्ण कामो का उस ने अपना सर्वोत्तम आचरण बना रखा था, तब क्लेशजनक और मलिनरूप अत्यधिक पाप कर्म का उपार्जन कर सात सौ वर्ष की पूर्णायु पाल कर कालमास मे काल करके चतुर्थ नरक मे, उत्कृष्ट दस सागरोपम स्थिति वाले नारकियो मे नारकीय रूप से उत्पन्न हुआ ।

टीका—छगलपुर नगर में भिक्षार्थ गये हुए गौतम स्वामी ने राजमार्ग में जिस दृश्य का अवलोकन किया था उस के सम्बन्ध में पूछने पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी की जिज्ञासानुसार दृष्ट व्यक्ति के पूर्वभव का वर्णन कह सुनाया। उस वर्णन में छणिणक नामक छागलिक की सावद्य जीवनचर्या का जो स्वरूप दिखलाया गया है, उस पर से उसको अधार्मिक, अधर्माभिरुचि, अधर्मानुगामी और अधर्माचारी कहना सर्वथा उपयुक्त ही है।

छागलिक—पद के दो अर्थ किये जाते हैं, जैसे कि—(१) छागों के द्वारा आजीविका चलाने वाला, अर्थात् बकरों को बेच कर अपना जीवन—निर्वाह करने वाला (२) बकरों का वध करने वाला—कसाई अर्थात् बकरों को मार कर या बकरों को मार उनके मांस को बेच कर अपना जीवन चलाने वाला। परन्तु सूत्रकार को प्रस्तुत प्रकरण में छागलिक का अर्थ कसाई अभिमत है।

आत्मा का उपभोग—स्थान शरीर है, शरीर तभी रहता है जब कि शरीर की रक्षा के साधन पूरे २ उपस्थित हों। शरीर को समय पर भोजन भी दिया जाये और पानी भी दिया जाये तथा अन्य उपयोगी सामग्री भी दी जाये तब कहीं शरीर सुरक्षित रह सकता है। इस के विपरीत यदि शरीर की सारसंभाल न की जाय तो वह—शरीर ठीक २ काम नहीं दे सकता। शरीर मनुष्य का हो या पशु का हो, उस के ठीक रहते ही उस में आत्मा का निवास संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। छणिणक इन बातों को खूब समझने वाला था, इस लिये उसने बाड़े में बन्द किये जाने वाले अजादि पशुओं की रक्षा का पूरा २ प्रबन्ध कर रखा था। उन पशुओं के खाने और पीने आदि की व्यवस्था के लिये उसने अनेकों नौकर रख छोड़े थे। वे उन अजादि पशुओं को समय पर चारा आदि देते और पानी पिलाते तथा शीतादि से सुरक्षित रखने का भी पूरा २ प्रबन्ध करते। संरक्षण और संगोपन इन दोनों पदों में पालन पोषण से सम्बन्ध रखने वाली सारी क्रियाओं का समावेश हो जाता।

सारांश यह है कि छणिणक छागलिक के बाड़े में अज, भेड़, गवय, वृषभ, शशक, मृग-शिशु या मृगविशेष शूकर सिंह, हरिण, मयूर और महिष इन जातियों के सैंकड़ों तथा हजारों पशु बन्धे या बन्द किये रहते थे, और इन की पूरी २ देख रेख की जाती थी, जिस के लिये उसने अनेक नौकर रख छोड़े थे।

इस के अतिरिक्त उस पशु और मांसविक्रय संबन्धी कारोबार को चलाने के लिये उसने जो नौकर रक्खे हुए थे, उन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे कि—

(१) वे नौकर जो केवल पशुओं का पालन पोषण करते अर्थात् उन को बाहिर ले जाना, बाड़ों में बन्द करना, घास चारा आदि देना और उन की पूरी २ देखरेख करना।

(२) वे नौकर जो अपने घरों में अजादि पशुओं को रखते थे तथा अवश्यकतानुसार छणिणक को देते थे।

(३) वे नौकर जो मांस के विक्रयार्थ अजादि पशुओं का वध करके उनके मांस को खण्डशः (टुकड़े २) कर के छणिणक के सुपुर्द कर देते थे।

(४) वे अनुचर जो मांस को लेकर नाना प्रकार से तल कर, भून कर और शूल द्वारा पका कर बेचते।

तथा छणिणक छागलिक केवल मांसविक्रेता ही नहीं था अपितु वह स्वयं भी उसे भक्षण किया करता था, वह भी नाना प्रकार की मदिराओं के साथ। इस प्रकार मांसविक्रय और मांस—भक्षण के द्वारा उसने जिन पापकर्मों का उपार्जन किया, उन के फल स्वरूप ही वह चौथी नरक

मे नारकीयरूप से उत्पन्न हुआ और वहा वह भीषणातिभीषण नारकीय असह्य दुःखों को भोगता हुआ अपनी करणी का फल पाने लगा ।

प्रस्तुत कथासदर्भ में जो अजादि पशुओं के शतबद्ध तथा सहस्त्रबद्ध यूथ वाड़े मे बन्द रहते थे, ऐसा लिखा है । इस से सूत्रकार को यही अभिमत प्रतीत होता है कि यूथों मे विभक्त अजादि पशु सैंकडों तथा हजारों की सख्या मे बाड़े में अवस्थित रहते थे । यहा यूथ शब्द का स्वतन्त्र – रूप से अज आदि प्रत्येक पद के साथ अन्वय नही करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि अजों के शतबद्ध तथा सहस्त्रबद्ध यूथ, भेडों के शतबद्ध तथा सहस्रबद्ध यूथ, इसी प्रकार गवय आदि शब्दों के साथ यूथ पद का सम्बन्ध नही जोडना चाहिए, क्योंकि सब पदों का यदि स्वतन्त्ररूपेण यूथ के साथ सम्बन्ध रखा जाएगा, तो सिंह शब्द के साथ भी यूथ पद का अन्वय करना पड़ेगा, जो कि व्यवहारानुसारी नहीं है, अर्थात् ऐसा देखा या सुना नहीं गया कि हजारों की सख्या मे शेर किसी बाड़े में बद रहते हों । व्यवहार तो—[1] **सिंहों के लेहंडे नही**—इस अभियुक्तोक्ति का समर्थक है । अत प्रस्तुत में—यूथों में विभक्त अजादि पशुओं की सख्या सैंकडों तथा हजारों की थी—यह अर्थ समझना चाहिये । इस अर्थ में किसी पशु की स्वतन्त्र सख्या का कोई प्रश्न नहीं रहता । **रहस्यं तु केवलिगम्यम्** ।

कोषकारों के मत मे **पसय** शब्द देशीय भाषा का है, इस का अर्थ—मृगविशेष या मृगशिशु होता है । अन्य पशुओ के सूचक शब्दों का अर्थ स्पष्ट ही है । तथा " **—दिएणभति—भत्तवेयणा—**की व्याख्या पृष्ठ २१६ पर कर दी गई है ।

—महया०— यहा के बिन्दु से विवक्षित पाठ का वर्णन पृष्ठ १३८ पर दिया जा चुका है तथा—**अड्ढे०**—यहा के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ १२० पर लिख दिया गया है। तथा—**अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे**—यहा के **जाव—यावत्** पद से अभीष्ट पदों का वर्णन पृष्ठ ५५ पर किया गया है । तथा—**अए जाव महिसे**—यहा के **जाव—यावत्** पद से—**एले य रोज्झे य वसभे य ससए य पसए य सूयरे य सिंघे य हरिणे य मऊरे य**—इन पदों का ग्रहण करना अभिमत है। इसी प्रकार—**अयाण य जाव महिसाण**—यहा का **जाव—यावत्** पद—**एलाण य रोज्झाण य वसभाण य ससयाण य**—इत्यादि पदों का, तथा—**अयमंसाइ जाव महिसाइं**—यहा का **जाव—यावत्** पद—**एलमंसाइं य रोज्झमंसाइं य वसभमंसाइ य**—इत्यादि पदों का परिचायक है । इन में मात्र विभक्तिगत भिन्नता है, तथा मास शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है ।

तवक, कवल्ली, कन्दु और भर्जनक आदि शब्दों की व्याख्या पृष्ठ २१७ पर की जा चुकी है, तथा—**सुरं च ५**—यहा दिये गये ५ के, और—**आसादेमाणे ४**—यहा दिये गये ४ के अक से अभिमत पाठ पृष्ठ २५० पर लिखा जा चुका है ।

प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को यह बतलाया कि जिस दृष्ट व्यक्ति के पूर्वभव का तुम ने वृत्तान्त जानने की इच्छा प्रकट की है, वह पूर्वजन्म में छणिक नामक छागलिक था, जो कि कि नितान्त सावद्यकर्म के आचरण से उपार्जित कर्म के कारण चतुर्थ नरक को प्राप्त हुआ था। वहा की भवस्थिति को पूरा करने के बाद उस ने कहा जन्म लिया ? अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

---

(१) **सिंहों के लेहंडे नही, हसों की नही पात ।**
लालो की नही बोरियां, साध न चले जमात ॥ (कबीरवाणी में से)

मूल—[1] तते णं सा सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दा-भारिया जायणिंदुया यावि होत्था । जाता जाता दारगा विणिहायमावज्जंति । तते णं से छणिणए छागलिए चउत्थीए पुढवीए अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव साहंजणीए णयरीए सुभद्दस्स सत्थवाहस्स भद्दाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्ने । तते णं सा भद्दा सत्थवाही अन्नया कयाइ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया, तते णं तं दारगं अम्मापियरो जायमेत्तं चेव सगडस्स हेट्ठओ ठवेंति २ दोच्चं पि गेण्हावेंति २ आणुपुव्वेणं सारक्खंति संगोवेंति, संवड्ढेंति जहा उज्झियए, जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए जायमेत्तए चेव सगडस्स हेट्ठओ ठाविते, तम्हा णं होउ णं अम्हं दारए सगड़े नामेणं, सेसं जहा उज्झियए । सुभद्दे लवणे समुद्दे कालगओ माया वि कालगता, से वि सयाओ गिहाओ निच्छूढे । तते णं से सगडे दारए साओ गिहाओ निच्छूढे समाणे सिंघाडग० तहेव जाव सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था, तते णं से सुसेणे अमच्चे तं सगड दारयं अन्नया कयाइ सुदरिसणाए गणियाए गिहाओ निच्छुभावेति २ सुदरिसणं दंसणियं गणियं अब्भिंतरए ठावेति २ सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर । **तस्स**—उस । **सुभद्दस्स**—सुभद्र । **सत्थवाहस्स**—सार्थवाह की । **सा**—वह । **भद्दा**—भद्रा । **भारिया**—भार्या । **जातनिंदुया**—जातनिन्दुका—जिस के बच्चे उत्पन्न होते ही मर जाते हों, ऐसी । **यावि होत्था**—थी, उसके । **जाता जाता**—उत्पन्न होते २ । **दारगा**—बालक । **विणिहायमावज्जंति**—विनाश को प्राप्त हो जाते थे । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **छणिणए**—छणिणक नामक । **छागलिए**—छागलिक—कसाई । **चउत्थीए**—चोथी । **पुढवीए**—पृथ्वी-नरक से । **उव्वट्टित्ता**—निकल कर । **अणंतरं**—व्यवधान रहित—सीधा ही । **इहेव**—इसी । **साहंजणीए**—साहंजनी । **णयरीए**—नगरी में । **सुभद्दस्स**—सुभद्र । **सत्थवाहस्स**—सार्थवाह की । **भद्दाए**—भद्रा । **भारियाए**—

---

(१) छाया—ततः सा तस्य सुभद्रस्य सार्थवाहस्य भद्रा भार्या जातनिंदुका चाप्यभवत् । जाता जाता दारका विनिघातमापद्यन्ते । ततः स छणिणकः छागलिकः चतुर्थ्याः पृथिव्या अनन्तरमुद्वृत्य इहैव साहंजन्यां नगर्यां सुभद्रस्य सार्थवाहस्य भद्राया भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्नः । ततः सा भद्रा सार्थवाही अन्यदा कदाचित् नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारकं प्रयाता । ततस्तं दारकमम्बापितरौ जातमात्रं चैव शकट-स्याधः स्थापयतः, २ द्विरपि गृह्णीतः २ आनुपूर्व्येण संरक्षतः संगोपयतः संवर्धयतः यथोज्झितकः यावद् यस्मादस्माकमयं दारको जातमात्रकश्चैव शकटस्याधः स्थापितः तस्माद् भवत्वस्माकं दारकः शकटो नाम्ना । शेषं यथोज्झितकः सुभद्रो लवणे समुद्रे कालगतः । मातापि कालगता । सोऽपि स्वाद् गृहाद् निष्कासितः । ततः स शकटो दारकः स्वाद् गृहाद् निष्कासितः सन् शृंघाटक० तथैव यावत् सुदर्शनया गणिकया सार्द्धं संप्रलग्नश्चाप्यभवत् । ततः स सुषेणोऽमात्यः तं शकटं दारकमन्यदा कदाचित् सुदर्शनाया गणिकायाः गृहाद् निष्कासयति २ सुदर्शनां दर्शनीयां गणिकामभ्यन्तरे स्थापयति २ सुदर्शनया गणिकया सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुंजानो विहरति ।

भार्या की। **कुच्छिंसि**—कुक्षि में। **पुत्तत्ताए**—पुत्ररूप मे। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ। **तते णं**—तदनन्तर। **सा भद्दा**—उस भद्रा। **सत्थवाही**—सार्थवाही ने। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **णवरहं**—नव। **मासाणं**—मासों के। **बहुपडिपुण्णाणं**—लगभग पूर्ण हो जाने पर। **दारगं**—बालक को। **पयाया**—जन्म दिया। **तते ण**—तदनन्तर। **तं दारगं**—उस बालक को। **अम्मापियरो**—माता पिता ने। **जायमेत्तं चेव**—उत्पन्न होते ही। **सगडस्स**—शकट—छकड़े के। **हेट्ठओ**—नीचे। **ठवेति २**—स्थापित कर दिया—रख दिया, रख कर। **दोच्चं पि**—दूसरी बार वे। **गेण्हावेंति २**—उठा लेते हैं, उठा कर। **आणुपुव्वेण**—अनुक्रम से। **सारक्खंति**—सरक्षण करने लगे। **संगोवेंति**—सगोपन करने लगे। **संवड्ढेंति**—सवर्धन करने लगे। **जहा**—जिस प्रकार। **उज्झियए**—उज्झितक कुमार का वर्णन है। **जाव**—यावत्। **जम्हा णं**—जिस कारण। **अम्हं**—हमारे। **इमे**—इस। **जायमेत्तए चेव**—जातमात्र ही। **दारए**—बालक को। **सगडस्स**—शकट के। **हेट्ठओ**—अधस्तात्—नीचे। **ठविते**—स्थापित किया गया है। **तम्हा ण**—इस कारण से। **अम्हं**—हमारा। **दारए**—बालक। **सगडे**—शकट। **नामेण**—नाम से। **होउ**—हो, अर्थात् इस बालक का शकट—कुमार यह नाम रखा जाता है। **णं**—वाक्यालकारार्थक है। **सेसं**—शेष। **जहा**—जिस प्रकार। **उज्झियए**—उज्झितक कुमार का वर्णन है, उसी प्रकार इस का भी जान लेना चाहिये। **सुभद्दे**—सुभद्र सार्थवाह। **लवणसमुद्दे**—लवण समुद्र में। **कालगओ**—काल को प्राप्त हुआ, तथा शकट कुमार की। **माया वि**—माता भी। **कालगता**—मृत्यु को प्राप्त हो गई। **से वि**—वह शकट कुमार भी। **गिहाओ**—घर से। **निच्छूढे**—निकाल दिया गया। **तते णं**—तदनन्तर। **सयाओ**—स्वकीय—अपने। **गिहाओ**—घर से। **निच्छूढे समाणे**—निकाला हुआ। **से**—वह। **सगडे**—शकट कुमार। **दारए**—बालक। **सिंघाडग०**—शृ घाटक—त्रिकोण मार्ग। **तहेव**—तथैव—उसी प्रकार। **जाव**—यावत्। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना। **गणियाए**—गणिका के। **सद्धिं**—साथ। **सपलग्गे**—सप्रलग्न—गाढ सम्बन्ध से युक्त। **यावि होत्था**—भी हो गया था। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सुसेणे**—सुषेण। **अमच्चे** अमात्य—मन्त्री। **त** उस। **सगडं**—शकट कुमार। **दारयं**—बालक को। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना। **गणियाए**—गणिका के। **गिहाओ**—घर से। **निच्छुभावेति २**—निकलवा देता है,—निकलवा कर। **दंसणीय**—दर्शनीय—सुन्दर। **सुदरिसणं**—सुदर्शना। **गणियं**—गणिका को। **अब्भितंरए**—भीतर अर्थात् पत्नीरूप में। **ठावेति**—स्थापित करता है अर्थात् रख लेता है और। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना। **गणियाए**—गणिका के। **सद्धिं**—साथ। **उरालाइं**—उदार—प्रधान। **माणुस्सगाइं**—मनुष्यसम्बन्धी। **भोगभोगाइं**—विषयभोगों का। **भुजमाणे**—उपभोग करता हुआ, वह। **विहरति**—विहरण करने लगा।

मूलार्थ—तदनन्तर सुभद्र सार्थवाह की भद्रा नाम की भार्या जातनिन्दुका थी, उस के उत्पन्न होते ही बालक मर जाते थे। इधर छण्णिक नामक छागलिक—वधिक का जीव चौथी नरक से निकल कर सीधा इसी साहजनी नगरी में सुभद्र सार्थवाह की भद्रा भार्या के गर्भ में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। लगभग नौ मास पूरे हो जाने पर किसी समय सुभद्रा सार्थवाही ने बालक को जन्म दिया। उत्पन्न होते ही माता पिता उस बालक को शकट—छकड़े के नीचे स्थापित करते हैं और फिर उठा लेते हैं। उठा कर उस का यथाविधि सरक्षण, सगोपन और संवर्द्धन करते हैं।

उज्झितक कुमार की तरह यावत् जातमात्र—उत्पन्न होता ही हमारा यह बालक शकट—छकड़े के नीचे स्थापित किया गया था इस लिये इसका—शकट कुमार—ऐसा नामकरण किया जाता है अर्थात् माता

पिता ने उस का शकट कुमार यह नाम रक्खा। उस का शेष जीवन उज्झितक कुमार के जीवन के समान जान लेना चाहिये।

जब सुभद्र सार्थवाह लवण समुद्र मे काल धर्म को प्राप्त हुआ एवं शकट की माता भद्रा भी मृत्यु को प्राप्त हो गई, तब उस शकट कुमार को राजपुरुषों के द्वारा घर से निकाल दिया गया। अपने घर से निकाले जाने पर शकट कुमार साहजनी नगरी के शृंगाटक (त्रिकोण मार्ग) आदि स्थानों मे घूमता, तथा जुआरियों के अड्डों और शराबखानो मे रहता। किसी समय उसकी सुदर्शना गणिका के साथ गाढ प्रीति हो गई और वह उसी के यहां रह कर यथारुचि कामभोगों का उपभोग करता हुआ सानन्द समय बिताने लगा।

तदनन्तर महाराज सिंहगिरि का अमात्य—मत्री सुषेण किसी अन्य समय उस शकट कुमार को सुदर्शना वेश्या के घर से निकलवा देता है और सुदर्शना को अपने घर मे रख लेता है। घर मे स्त्रीरूप से रक्खी हुई उस सुदर्शना के साथ मनुष्यसम्बन्धी उदार—विशिष्ट कामभोगों का यथारुचि उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करता है।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन के प्रारभ में सूत्रकार ने साहजनी नगरी का परिचय कराया था, साथ में वहां यह भी उल्लेख किया गया था कि उस में सुभद्र नाम का एक सार्थवाह— मुसाफिर व्यापारियों का मुखिया, रहता था। उस की धर्मपत्नी का नाम भद्रा था जोकि जातनिदुका थी अर्थात् उसके बच्चे उत्पन्न होते ही मर जाया करते थे। इसलिये सतान के विषय में वह बहुत चिन्तातुर रहती थी। पति के आश्वासन और पर्याप्त धनसम्पत्ति का उसे जितना सुख था, उतना ही उस का मन सन्तति के अभाव से दुःखी रहता था।

मनोविज्ञान शास्त्र का यह नियम है कि जिस पदार्थ की इच्छा हो उस की अप्राप्ति में मानसिक व्यग्रता अशाति बराबर बनी रहती है। यदि इच्छित वस्तु प्रयत्न करने पर भी न मिले तो मन को यथाकथंचित् समझा बुझा कर शान्त करने का उद्योग किया जाता है, अर्थात् प्रयत्न तो बहुत किया, उद्योग करने मे किसी प्रकार की कमी नहीं रखी, उस पर भी यदि कार्य नहीं बन पाया अर्थात् मनोरथ की सिद्धि नहीं हुई तो इस में अपना क्या दोष? यह विचार कर मन को ढाढस बधाया जाता है। **यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः।** परन्तु जिस वस्तु की अभिलाषा है, वह यदि प्राप्त हो कर फिर चली जाए—हाथ से निकल जाए तो पहली दशा की अपेक्षा इस दशा मे मन को बहुत चोट लगती है। उस समय मानस म जो क्षोभ उत्पन्न होता है, वह अधिक कष्ट पहुँचाने का कारण बनता है।

सुभद्र सार्थवाह की स्त्री भद्रा उन भाग्यहीन महिलाओं में से एक थी जिन्हें पहले इष्ट वस्तु की प्राप्ति तो हो जाती हो, परन्तु पीछे वह उन के पास रहने न पाती हो। तात्पर्य यह है कि भद्रा जिस शिशु को जन्म देती थी, वह तत्काल ही मृत्यु का ग्रास बन जाता था, उसे प्राप्त हुई अभिलषित वस्तु उसके हाथ मे निकल जाती थी, जो महान् दुःख का कारण बनती थी।

स्त्रीजाति को सन्तति पर कितना मोह और कितना प्यार होता है? यह स्त्रीजाति के हृदय मे पूछा जा सकता है। वे अपनी सन्तान के लिये शारीरिक और मानसिक एवं आर्थिक तथा अपने अन्य स्वार्थों का कितना बलिदान करती है? यह भी जिन्हें मातृहृदय की परख है, उन से छिपा हुआ नहीं है, अर्थात् सन्तान की प्राप्ति की स्त्रीजाति के हृदय मे इतनी लग्न और लाल-

सा होती है कि उस के लिये वे असह्य से असह्य कष्ट झेलने के लिये भी सन्नद्ध रहती है। और यदि उसे सन्तान की प्राप्ति और खास कर पुत्र सन्तान की प्राप्ति हो जाये तो उस को जितना हर्ष होता है उसकी इयत्ता—सीमा कल्पना की परिधि से बाहिर है। इस के विपरीत सन्तान का हो कर निरन्तर नष्ट हो जाना तो उसके असीम दुःख का कारण बन जाता है। सन्तति का वियोग स्त्री—जाति को जितना असह्य होता है, उतना और किसी वस्तु का नहीं। यही कारण है कि भद्रादेवी निरन्तर चिन्ताग्रस्त रहती है। उसे रात को निद्रा भी नहीं आती, दिन को चैन नहीं पड़ती। आज तक उस को जितनी सन्तानें हुई सब उत्पन्न होते ही काल के विकराल गाल में सदा के लिये जा छिपी हैं। उसने अपने आज तक के सारे जीवन में किसी शिशु को दूध पिलाने या जी भर कर मुख देखने तक का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं किया। इसी आशय को प्रस्तुत सूत्र में भद्रादेवी को जातनिन्दुका कह कर व्यक्त किया गया है। जातनिन्दुका का अर्थ है—जिस के बच्चे उत्पन्न होते ही मर जावें। भद्रादेवी की भी यही दशा थी, उसके बच्चे भी उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाते थे।

कार्यनिष्पत्ति के कारणसमवाय में समय को अधिक प्राधान्य प्राप्त है। इसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता पर संसार का बहुत कुछ कार्यभार निर्भर रहता है। जब समय अनुकूल होता होता है तो अभिलषित कार्यों की सिद्धि में भी देरी नहीं लगती। एवं जब समय प्रतिकूल होता है तो बना बनाया खेल भी बिगड़ जाता है। मानव की सारी योजनाएं छिन्न भिन्न हो कर लुप्त हो जाती हैं। इसी लिये नितिकारों ने "[1]समय एव करोति बलाबलम्" यह कह कर उसकी बलवत्ता को अभिव्यक्त किया है।

सुभद्र सार्थवाह की भद्रा देवी भी पूर्वोजित अशुभ कर्मों के विपाक—फल से प्रतिकूल समय के ही चक्र में फसी हुई सन्तति के वियोग—जन्य दुःख को उठाती रही, परन्तु आज उस के किसी शुभ कर्म के उदय से उसके दुर्दिनों का अर्थात् प्रतिकूल समय का चक्र बदल गया और उसके स्थान में अब अनुकूल समय का शुभागमन हुआ। तात्पर्य यह है कि शुभ समय ने उसके जीवन में एक नवीन झांकी से अप्रत्याशित—असंभावित आशा का संचार किया और उस से उस को कुछ थोड़ा सा आश्वासन मिला।

इधर छणिक छागलिक—वधिक का जीव अपनी नरक—सम्बन्धी भवस्थिति को पूर्ण कर के वहां से निकल कर इसी भद्रा देवी के उदर में पुत्ररूप से अवतरित हुआ। उस के गर्भ में आते ही भद्रा देवी की मुर्झाई हुई आशालता में फिर से कुछ सजगता आनी आरम्भ हुई। ज्यों २ गर्भ बढ़ता गया त्यों २ उसके हृदयाकाश में प्रकाश की भी मन्द सी रेखा दिखाई देने लगी। अन्त में लगभग नव मास पूरे होने पर किसी समय उसने एक सुन्दर शिशु को जन्म दिया।

लोक में ऐसी किंवदन्ती आबालगोपाल प्रसिद्ध है कि '**पयसा दग्धः पुमान् तक्रमपि फूत्कृत्य पिबति**" अर्थात् दूध का जला हुआ पुरुष छाछ को भी फूंके मार मार कर पीता है। इसी भांति सुभद्रा देवी भी बहुत से बालकों को जन्म दे कर भी उन से वंचित रह रही थी। उस ने पुत्र के होते ही उसे एक गाडे के नीचे रख दिया और फिर से उठा कर अपनी गोद

---

(१) **समय एव करोति बलाबलम्, प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।**
शरदि हंसरवा परुषीकृत — स्वरमयूरमयू रमणीयताम् ॥१॥ (शिशुपालवध में से)

में ले लिया । ऐसा करने का अभिप्राय सम्भवतः यही होगा कि यह [1]चिरंजीवी रहे । अस्तु, कुछ भी हो इस नवजात शिशु के कुछ काल तक जीवित रहने से उसके हृदय में कुछ ढाढस अवश्य बन्ध गई और वह उस के पालन पोषण के निमित्त पूरी २ सावधानी रखने लगी तथा उसके संरक्षणार्थ नियत की गई धायमाताओं के विषय में भी वह बराबर सचेत रहती । इस प्रकार उस नवजात शिशु का बडी सावधानी के साथ संरक्षण, संगोपन और सम्वर्धन होने लगा ।

आज उस के नाम रखने का शुभ दिवस है, इस के निमित्त सुभद्र सार्थवाह ने बड़े भारी उत्सव का आयोजन किया । अपने सगे सम्बन्धियों के अतिरिक्त नगर के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों को भी आमंत्रित किया और सब का खान पानादि से यथोचित स्वागत करने के अनन्तर सब के समक्ष उत्पन्न बालक के नाम—करण करने का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए उन से कहा कि प्रिय बन्धुओ ! हमारा यह बालक उत्पन्न होते ही एक शकट—गाडे के नीचे स्थापित किया गया था, इसलिये इस का नाम [2]शकट कुमार रखा जाता है । उपस्थित लोगों ने भी इस नाम का समर्थन किया और उत्पन्न बालक को शुभाशीर्वाद देकर वे विदा हुए ।

सूत्रकार ने शकट कुमार के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त की सारी जीवनचर्या को तृतीय अध्ययन में वर्णित उज्झितक कुमार के समान जानने की सूचना करते हुए "**सेसं जहा उज्झियए**" इतना कह कर बहुत संक्षेप से सब कुछ कह दिया है। जहां जहां कुछ नामादि का भेद है, वहां २ उसका उल्लेख भी कर दिया है, जोकि सूत्रकार की वर्णनशैली के सर्वथा अनुरूप है।

इसके अतिरिक्त उसका यहां पर यदि सारांश दिया जाय तो यह कहना होगा कि—जब पांचों धायमाताओं से पोषित हुआ शकट कुमार युवावस्था को प्राप्त हुआ तब पिता ने अर्थात् सुभद्र सार्थवाह ने विदेश—यात्रा की तैयारी की। दुर्दैववशात् समुद्रयात्रा में उसका जहाज समुद्र में डूब

---

(१) यहां प्रश्न होता है कि जब आत्मा के साथ आयुष्कर्म के दलिक ही नहीं तो गाडे के नीचे रख देने मात्र से बालक चिरंजीवी कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में बालक के चिरंजीवी होने का कारण उस का अपना ही आयुष्कर्म है। गाड़े और जीवन—वृद्धि का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जिस का आयुष्कर्म पर्याप्त है, उसे चाहे गाडे के नीचे रखो या न रखो उसे तो यथायु जीवित ही रहना है, परन्तु जिसका आयुष्कर्म समाप्त हो रहा है वह गाडे आदि के नीचे रखने पर भी जीवित नहीं रह सकता।

भद्रा की सन्तति उत्पन्न होते ही मर जाती थी, इससे वह हतोत्साह हो रही थी। उसने सोचा—बहुत उपाय किये जा चुके हैं, परन्तु सफलता नहीं मिल सकी, अतः अब कि बार नवजात शिशु को गाडे के नीचे रख कर देखलें, सम्भव है कि इस उपाय से वह बच जाये। इधर इस का ऐसा विचार चल रहा था और उधर गर्भ में आने वाला जीव दीर्घजीवन लेकर आ रहा था। परिणाम यह हुआ कि गाडे के नीचे रखने पर नवजात बालक मरा नहीं। ऊपराऊपरी देखने से तो भले ही गाडा उस में कारण जान पडता हो परन्तु वास्तविकता इस में नहीं है। वास्तविकता तो आयुष्कर्म की दीर्घता ही बतलाती है। क्यों कि गाडे के नीचे रखना ही यदि जीवनवृद्धि का कारण होता तो अपने को गाडे के नीचे रख कर प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से बच जाता, और मृत्यु की अचलता को चलता में बदल देता।

(२) नामकरण की इस परम्परा का उल्लेख श्री **अनुयोगद्वार सूत्र** में पाया जाता है, जिसका उल्लेख पृष्ठ १५९ पर किया जा चुका है।

गया और वह वहा परलोक को सिधार गया । शकट कुमार ने उसका सम्पूर्ण और्द्धदैहिक कर्म किया। तदनन्तर उसकी माता भी पतिवियोगजन्य दुःख को अधिक काल तक न सह सकी। परिणाम—स्वरूप वह भी इस असार ससार से चल वसी।

उस समय प्राय व्यापार करने वालों का यह नियम होता था कि जिस समय व्यापार को वढाते थे अथवा यू कहिये कि व्यापार के निमित्त जब अपने देश को छोड कर विदेश में जाना होता था तो अपना सारा धन और हो सके तो अन्य नागरिकों से पर्याप्त ऋण लेकर अपने जहाज को माल से भर लेते और व्यापार के लिये प्रस्थान कर देते।

सुभद्र नामक सार्थवाह ने भी ऐसा ही किया था। उसने वहा के धनियों से काफी ऋण ले रक्खा था। इसलिये सुभद्र सेठ और भद्रादेवी की मृत्यु ने उन सब को सचेत कर दिया, वे अपने दिये हुए धन को किसी न किसी रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। जिस को जो कुछ मिला वह ले गया। इसी मे सुभद्र सेठ की सारी चल सम्पत्ति समाप्त हो गई। अवशेष उस की जो स्थावर सम्पत्ति थी, उसके लिये लेनदारों ने न्यायालय की शरण ली और राजाज्ञा के अनुसार सुभद्र की स्थावर सम्पत्ति पर भी अपना अधिकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप शकट—कुमार को अपने घर से भी निकलना पडा। घर से निकल जाने पर मातृपितृविहीन शकट कुमार निरकुश हाथी या वेलगाम घोड़े की तरह स्वच्छन्द फिरने लगा। उसकी वैठक ऐसे पुरुषो मे हो गई जो कि जुआरी, शरावी और परस्त्रीलम्पट थे। उनके सहवास मे आकर शकट कुमार भी उन्हों दुर्गुणों का भाजन वन गया। उसके रहने का न तो कोई नियत स्थान था और न कोई योग्य व्यक्ति उसे किसी प्रकार का आश्रय देता था। वह प्रथम जितना धन—सम्पन्न, सुखी और प्रतिष्ठा—प्राप्त किये हुए था, उतना ही निर्धन, दुःखी और प्रतिष्ठाशून्य हो रहा था। यह तो हुई शकट कुमार की वात। अब पाठक साहजनी नगरी की सुप्रसिद्ध सुदर्शना वेश्या की ओर भी ध्यान दें।

वह एक निपुण कलाकार होने के अतिरिक्त रूपलावण्य में भी अद्वितीय थी। काम—वासनावासित अनेक धनी, मानी युवक उसका आतिथ्य प्राप्त करने की लालसा से धन की थैलिया ले कर उसके दर्वाजे पर भटका करते थे। परन्तु उसके पास जाने या उससे बातचीत करने और सहवास मे आने का अवसर तो किसी विरले को ही प्राप्त होता था।

इधर शकट कुमार को माता और पिता छोड़ गये, धन सम्पत्ति ने उससे मुख मोड लिया। परन्तु उसके शरीरगत स्वाभाविक सौन्दर्य एव सभ्यजनोचित व्यवहार—कुशलता ने उस का साथ नहीं छोडा था। वह एक दिन सुदर्शना के विशाल भवन की ओर जाता हुआ उसके नीचे से गुजरा। ऊपर झरोखे में वैठी हुई सुदर्शना की जब उस पर दृष्टि पडी तो वह एक दम मुग्ध सी हो गई, और उसे ऐसा भान हुआ कि मानों रूप लावण्य की एक सजीव मूर्ति अपने आप को फटे पुराने वस्त्रों से छिपाये हुए जा रही है। जिसे प्राप्त करने के लिये वह ललचा उठी। उसने अपनी एक चतुर दासी को भेज कर उसे ऊपर आने की प्रार्थना की।

जैसे कि प्रथम भी वतलाया जा चुका है कि प्रेम हृदय की वस्तु है। प्रेम के साम्राज्य में धनी और निर्धन का कोई प्रश्न नहीं होता। धन—हीन व्यक्ति भी अपने अन्दर हृदय रखता है, उस का हृदय भी तृषातुर जीव की तरह प्रेमोदक का पिपासु होता है। जिस सुदर्शना की भेंट के लिये नगर के अनेकों युवक धन की थैलियें लुटा देने को तैयार रहने पर भी उस की

भेट से वंचित रहते, वही सुदर्शना एक गरीब निर्धन को अपने पास बुलाने और उस से प्रेमालाप करती हुई आत्मसमर्पण करने को सन्नद्ध हो रही है। इस में इतना अन्तर अवश्य है कि यह प्रेम देहाध्यासयुक्त और अप्रशस्त राग से पूर्ण होने के कारण सुगतिप्रद नहीं है। अस्तु, दासी के द्वारा आमंत्रित शकट कुमार ऊपर गया और दोनों की चार आंखें होते ही एक दूसरे में समागये। इसी भाव को सूत्रकार ने—**संपलग्गे**—शब्द से बोधित किया है।

कहते हैं कि मानव के दुर्दिनों के बाद कभी सुदिन भी आजाते हैं। सुदर्शना के प्रेमातिथ्य ने शकटकुमार के जीवन की काया पलट दी, वह अब उस मानवी वैभव का यथारुची उपभोग कर रहा है, जिस का उसे प्राप्त होना स्वप्न में भी सुलभ नहीं था। परन्तु उस का यह सुख—मूलक उपभोग भी चिरस्थायी न निकला। राज्यसत्ता के अधिकार ने उसे छिन्न भिन्न कर दिया।

शासन और सम्पत्ति में बहुत अन्तर है। दूसरे शब्दों में—शासक और धनाढ्य दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं। धनाढ्य व्यक्ति कितना ही गौरवशाली क्यों न हो परन्तु शासक के सामने आते ही उसका सब गौरव राहुग्रस्त चन्द्रमा की तरह ग्रस्त हो जाता है। शासन में बल है, ओज है और निरंकुशता है। इधर धन में प्रलोभन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। राजकीय वर्ग का एक छोटा सा व्यक्ति, जिस के हाथ में सत्ता है, वह एक बड़े से बड़े धनी मानी गृहस्थ को भी कुछ समय के लिये नीचा दिखा सकता है। तात्पर्य यह है कि सत्ता के बल से मनुष्य कुछ समय के लिये जो चाहे सो कर सकता है।

सुदर्शना के रूप लावण्य की धाक सारे प्रांत में प्रसृत हो रही थी। वह एक सुप्रसिद्ध कलाकार वेश्या थी। धनिकों को भी विवाह शादी के अवसर पर पर्याप्त द्रव्य व्यय कर के उस के संगीत और नृत्य के अतिरिक्त केवल दर्शन मात्र का ही अवसर प्राप्त होता था। इस का कारण यही था कि वह कोई साधारण वेश्या नहीं थी।

पाठकों ने सुषेण मंत्री का नाम सुन रक्खा है और सूत्रकार के कथनानुसार वह चतुर्विध नीति के प्रयोगों में सिद्धहस्त था, अर्थात् साम, दान, भेद और दण्ड इन चतुर्विध नीतियों का कब और कैसे प्रयोग करना चाहिये? इस विषय में वह विशेष निपुण था। इसी लिये महाराज महाचन्द्र ने उसे प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त किया हुआ था, और नरेश का उस पर पूर्ण-विश्वास था। परन्तु प्रधान मंत्री सुषेण में जहां और बहुत से सद्गुण थे वहां एक दुर्गुण भी था। वह संयमी नहीं था। ऐसे संभावित व्यक्ति का स्वदार—सन्तोषी न होना निस्सन्देह शोचनीय एवं अवाञ्छनीय है। उस की दृष्टि हर समय सुदर्शना वेश्या पर रहती, उस का मन हर समय उस की ओर आकर्षित रहता, परन्तु वह उसे प्राप्त करने में अभी तक सफल नहीं हो पाया। वह जानता था कि सुदर्शना केवल धन से खरीदी जाने वाली वेश्या नहीं है। उस से कई गुणा अधिक धन देने वाले वहां से विफल हो कर आ चुके हैं। इस लिये नीतिकुशल सुषेण ने शासन के बल से उस पर अधिकार प्राप्त किया और उसके प्रेमभाजन शकट कुमार को वहां से निकाल दिया और स्वयं उसे अपने घर में रख लिया। परन्तु इतना स्मरण रहे कि सुषेण मंत्री ने अपनी सत्ता के बल से सुदर्शना के शरीर पर अधिकार प्राप्त किया है न कि उस के हृदय पर। उस के हृदय पर सर्वेसर्वा अधिकार तो शकट कुमार का है, जिसे उसने वहां से निकाल दिया है।

"—**जायणिंदुया**—" के स्थान पर "—**जाइणिंदुया**—" ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है।

दोनों पदों का अर्थगत भेद निम्नोक्त है—

(१) **जातनिंदुका**—उत्पन्न होते ही जिस की सन्तति मृत्यु को प्राप्त हो जाए उसे **जातनिंदुका** कहते हैं ।

(२) **जातिनिंदुका**—जाति—जन्म से ही जो निंदुका—मृतवत्सा है, अर्थात् जन्मकाल से ही जो मृतवत्सात्व के दोष से युक्त है ।

तथा 'निंदुका' शब्द का अर्थ कोषकारों के शब्दों में—**निंद्यते अप्रजात्वेनाऽसौ निंदु, निंदुरेव निंदुका**—इस प्रकार है । अर्थात् सन्तान के जीवित न रहने से जिस की लोगों द्वारा निंदा की जाए वह स्त्री **निंदुका** कहलाती है ।

"—**गणियं अब्भिंतरए ठवेति**—इस वाक्य के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं जैसे कि—

(१) गणिका को अभ्यन्तर—भीतर स्थापित कर दिया अर्थात् गणिका को पत्नीरूप से अपने घर में रख लिया । (२) गणिका को भीतर स्थापित कर दिया अर्थात् उसे उसके घर के अन्दर ही रोक दिया, जिस से कि उस के पास कोई दूसरा न जा सके ।

इन अर्थों में प्रथम अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है । क्योंकि आगे के प्रकरण में—**एवं खलु सामी ! सगडे दारए ममं अन्तेउरंसि अवरद्धे**—ऐसा उल्लेख मिलता है । इस पाठ में स्पष्ट लिखा है कि मंत्री ने राजा के पास शिकायत करते हुए 'अपने' अन्तःपुर का वर्णन किया है, जोकि ऊपर के पहले अर्थ का समर्थक ठहरता है। तथा जो आगे—**जेणेव सुदरिसणागणियाए गिहे तेणेव**—ऐसा लिखा है। इससे सूत्रकार को यही अभिमत है कि सुदर्शना जहां रहती थी, वहां । तात्पर्य यह है कि जब सुषेण मन्त्री ने गणिका को अपनी अर्धांगिनी ही बना लिया, तब सूत्रकार ने—**जहां सुदर्शना का घर था**—ऐसा उल्लेख क्यों किया ?, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि इससे सूत्रकार को मात्र जो सुदर्शना को निवास करने के लिये स्थान दे रखा था, वही सूचित करना अभिमत है ।

—**उज्झियए जाव जम्हा**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से—**तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो ठिइवडियं च चंदसूरदंसणं**—से लेकर—**गोण्णं गुणनिप्फन्नं नामधेज्जं करेंति**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ पृष्ठ १५७ पर दिया जा चुका है। मात्र नाम की भिन्नता है। वहां उज्झितक कुमार का नाम है जब कि यहां शकट कुमार का।

—**सिंघाडग० तहेव जाव सुदरिसणाए**—यहां का बिन्दु—**तिग—चउक्क—चच्चर महापहपहेसु**—इन पदों का तथा—**जाव-यावत्** पद—**जूयखलएसु वेसियावरएसु**—से ले कर—**अन्नया कयाइ**—यहां तक के पाठ का परिचायक है । इन पदों का अर्थ पृष्ठ १६६ तथा १६७ पर दिया गया है । अन्तर केवल इतना है कि प्रस्तुत में शकट कुमार का वर्णन है जब कि वहां उज्झितक कुमार का ।

—**भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने**—इस पाठ के अनन्तर श्रद्धेय पण्डित मुनि श्री घासी लाल जी म० सार्थवाही भद्रा के दोहद का भी उल्लेख करते हैं। वह दोहदसम्बन्धी पाठ निम्नोक्त है—

—**तए णं तीसे भद्दाए सत्थवाहीए अन्नया कयाइ तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूए—धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ, सपुण्णाओ णं कयत्थाओ णं जाव सुलद्धे तासिं माणुस्सए जम्मजीवियफले जाओ णं बहूणं णाणाविहाणं नयरगोरूवाणं पसूण य जलयरथलयर—खहयरमाईणं पक्खीण य बहूहिं मंसेहिं तलिएहिं भज्जिएहिं सोल्लेहिं सद्धिं सुरं च महुं च मेरगं च जाइं च सीहुं च पसन्नं च आसाएमाणीओ विसा-**

एमाणीओ परिभुंजेमाणीओ परिभाएमाणीओ दोहलं विणेंति । तं जइ णं अहमवि बहूणं जाव विणिज्जामि, त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्का भुक्खा जाव झियाइ । तए णं से सुभद्दे सत्थवाहे भद्दं भारियं ओहय० जाव पासति २ एवं वयासी किं णं तुमं देवाणुप्पिया ! ओहय जाव झियासि ?, तए णं सा भद्दा सत्थवाही सुभद्द सत्थवाहं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम तिण्हं मासाणं जाव झियामि । तए णं से सुभद्दे सत्थवाहे भद्दाए भारियाए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म भद्दं भारियं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुह गब्भंसि अम्हाणं पुव्वकयपावप्पभावेणं केइ अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे जीवे ओयण्णे तेणं एयारिसे दोहले पाउब्भूए, तं होउ णं एयस्स पसायणं, त्ति कट्टु से सुभद्दे सत्थवाहे केण वि उवाएणं तं दोहलं विणेइ । तए णं सा भद्दा सत्थवाही संपुण्णदोहला संमाणियदोहला विणीयदोहला वोच्छिन्नदोहला सम्पन्नदोहला तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ । इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

तदनन्तर उस भद्रा सार्थवाही के गर्भ को जब तीन मास पूर्ण हो गये, तब उसको एक दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताये धन्य हैं पुण्यवती हैं, कृतार्थ हैं उन्हों ने ही पूर्वभव में पुण्योपार्जन किया है, वे कृतलक्षण हैं अर्थात् उन्हीं के ही शारीरिक लक्षण फलयुक्त हैं, और उन्होंने ही अपने धनवैभव को सफल किया है, एवं उन का ही मनुष्यसम्बन्धी जन्म और जीवन सफल है, जिन्होंने बहुत से अनेक प्रकार के नगर गोरूपों अर्थात् नगर के गाय आदि पशुओं के तथा जलचर स्थलचर और खेचर आदि प्राणियों के बहुत मांसों, जो कि तैलादि से तले हुए, भूने हुए और शूल द्वारा पकाये गये हों, के साथ सुरा[1], मधु, मेरक जाति, सीधु और प्रसन्ना इन पांच प्रकार की मदिराओं का आस्वादन, विस्वादन (बार २ आस्वादन), परिभोग करती हुई और दूसरी स्त्रियों को बांटती हुई अपने दोहद (दोहला) को पूर्ण करती हैं । यदि मैं भी बहुत से नगर के गाय आदि पशुओं के और जलचर आदि प्राणियों के बहुत से और नाना प्रकार के तले, भूने और शूलपक्व मांसों के साथ पांच प्रकार की मदिराओं का एक बार और बार २ आस्वादन करूं परिभोग करूं और दूसरी स्त्रियों को भी बांटूं इस प्रकार अपने दोहद को पूर्ण करूं, तो बहुत अच्छा हो, ऐसा विचार किया परन्तु उस दोहद के पूर्ण न होने से वह भद्रा सूखने लगी, चिन्ता के कारण अरुचि होने से भूखी रहने लगी, उस का शरीर रोगग्रस्त जैसा मालूम होने लगा और मुंह पीला पड़ गया तथा निस्तेज हो गया, एवं रात दिन नीचे मुंह किये हुए आर्त्तध्यान करने लगी ।

एक दिन सुभद्र सार्थवाह ने भद्रा को पूर्वोक्त प्रकार से आर्त्तध्यान करते हुए देखा, देख कर उसने उससे कहा कि भद्रे ! तुम ऐसे आर्त्तध्यान क्या कर रही हो ? सुभद्र सेठ के ऐसा पूछने पर भद्रा बोली स्वामिन् ! मुझे तीन मास का गर्भ होने पर यह दोहद उत्पन्न हुआ है कि मैं नगर के गाय आदि पशुओं और जलचर आदि प्राणियों के तले, भूने और शूलपक्क मांसों के साथ पंचविध सुरा आदि मदिराओं का आस्वादन विस्वादन और परिभोग करूं और उन्हें दूसरी स्त्रियों को भी दूं । मेरे इस दोहद के पूर्ण न होने के कारण मैं आर्तध्यान कर रही हूं । भद्रा की इस बात को सुन कर तथा सोच विचार कर सुभद्र सार्थवाह भद्रा से बोले—

भद्रे ! तुम्हारे इस गर्भ में अपने पूर्वसंचित पापकर्म के कारण से ही यह कोई अधर्मी यावत्

(१) इन पदों का अर्थ पृष्ठ १४४ पर दिया जा चुका है ।

दुष्प्रत्यानन्द अर्थात् बड़ी कठिनाई से प्रसन्न होने वाला जीव आया हुआ है, इसलिये तुम्हें ऐसा पापपूर्ण दोहद उत्पन्न हुआ है। अच्छा इस का भला हो, ऐसा कहकर उस सुभद्र सार्थवाह ने किसी उपायविशेष से अर्थात् मांस और मदिरा के समान आकार वाले फलों और रसों को देकर भद्रा के दोहद को पूर्ण किया। तब दोहद के पूर्ण होने पर वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाने के कारण, उसका सम्मान हो जाने पर समस्त मनोरथों के पूर्ण होने से अभिलाषा की निवृत्ति होने पर तथा इच्छित वस्तु के खा लेने पर प्रसन्नता को प्राप्त हुई भद्रा सार्थवाही उस गर्भ को सुखपूर्वक धारण करने लगी।

प्रस्तुत सूत्र में छण्णिक छागलिक के जीव का सुभद्रा के गर्भ में आना, उसका जन्म लेने पर शकट कुमार के नाम से प्रसिद्ध होना तथा माता पिता के देहान्त एवं घर से निकालने तथा सुदर्शना के घर में प्रविष्ट होने और वहां से निकाले जाने आदि का सविस्तर वर्णन किया गया है। सुषेण मंत्री के द्वारा सुदर्शना के वहां से निकाले जाने पर शकट कुमार की क्या दशा हुई और उसने क्या किया तथा उसका अन्तिम परिणाम क्या निकला ? अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[1] तते णं से सगडे दारए सुदरिसणाए गिहाओ निच्छूढे समाणे अन्नत्थ कत्थइ सुइं वा ३ अलभमाणे अन्नया कयाइ रहस्सियं सुदरिसणागिहं अणुपविसति २, सुदरिसणाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति । इमं च णं सुसेणे अमच्चे ण्हाते जाव सव्वालंकारविभूसिते मणुस्सवग्गुराए परिक्खित्ते जेणेव सुदरिसणागणियाए गिहे तेणेव उवागच्छति २ सगडं दारयं सुदरिसणाए गणियाए सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासति २ आसुरुत्ते जाव मिसिमिसीमाणे तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु सगडं दारयं पुरिसेहिं गेण्हावेति २ अट्ठि० जाव महियं करेति २ अवओडगबंधणं कारेति २ जेणेव महचंदे राया तेणेव उवागच्छति २ करयल० जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी ! सगडे दारए ममं अंतेउरंसि अवरद्धे । तते णं महचंदे राया सुसेणं अमच्चं एवं वयासी—

---

(१) छाया—ततः स शकटो दारकः सुदर्शनाया गृहाद् निष्कासितः सन् अन्यत्र कुत्रचित् स्मृतिं वा ३ अलभमानोऽन्यदा कदाचिद् राहस्यिकं सुदर्शनागृहं अनुप्रविशति २ सुदर्शनया सार्द्धमुदारान् भोगभोगान् भुंजानो विहरति। इतश्च सुषेणोऽमात्यः स्नातो यावद् सर्वालंकारविभूषितो मनुष्यवागुरया परिक्षिप्तो यत्रैव सुदर्शनागणिकाया गृहं तत्रैवोपागच्छति २ शकटं दारकं सुदर्शनया गणिकया सार्द्धमुदारान् भोगभोगान् भुंजानं पश्यति २ आशुरुप्तो यावत् मिसिमिसीमाणः (क्रुधा ज्वलन्) त्रिवलिकां भृकुटिं ललाटे संहृत्य शकटं दारकं पुरुषैः ग्राहयति २ यष्टि० यावत् मथितं कारयति २ अवकोटकबंधनं कारयति २ यत्रैव महाचंद्रो राजा तत्रैवोपागच्छति २ करतल० यावद् एवमवादीत्—एवं खलु स्वामिन् ! शकटो दारकः ममान्तःपुरेऽपराद्धः । ततः स महाचन्द्रो राजा सुषेणममात्यमेवमवादीत्-त्वमेव देवानुप्रिय ! शकटस्य दारकस्य दण्डं वर्त्तय। ततः स सुषेणोऽमात्यः महाचन्द्रेण राज्ञाऽभ्यनुज्ञातः सन् शकटं दारकं सुदर्शनां च गणिकां एतेन विधानेन वध्यमाज्ञापयति । तदेवं खलु गौतम ! शकटो दारकः पुरा पुराणानां दुश्चीर्णानां यावद् विहरति ।

तुम चेव ण देवाणु० ! सगडस्स दारगस्स दण्डं वत्तेहि। तए णं से सुसेणे अमच्चे महचंदेण रण्णा अब्भणुण्णाए समाणे सगडं दारयं सुदरिसणं च गणियं एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेति। तं एवं खलु गोतमा ! सगडे दारए पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं जाव विहरति।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सगडे**—शकटकुमार। **दारए**—बालक। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना के। **गिहाओ**—घर से। **निच्छूढे समाणे**—निकाला हुआ। **अन्नत्थ**—अन्यत्र। **कत्थइ**—कहीं पर भी। **सुइं वा ३**—स्मृति को अर्थात् वह उस वेश्या के अतिरिक्त और किसी का भी स्मरण नहीं कर रहा था, प्रतिक्षण उस के हृदय में उसी की याद बनी रहती थी और रति—प्रीति अर्थात् उस वेश्या को छोड़ कर और कहीं पर भी उसकी प्रीति नहीं थी वह उसी के प्रेम में तन्मय हो रहा था, एवं धृति—धीरज अर्थात् वेश्या के बिना किसी भी स्थान पर उस को धैर्य नहीं आता था, प्रतिक्षण उस का मन उस के वियोग में अशांत रहता था, इस तरह वह शकट कुमार स्मृति, रति और धृति को। **अलभमाणे**—प्राप्त न करता हुआ। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **रहस्सियं**—राहसिक—गुप्तरूप से। **सुदरिसणागिहं**—सुदर्शना के घर में। **अणुपविसति २**—प्रवेश करता है प्रवेश करके। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना के। **सद्धिं**—साथ। **उरालाइं**—उदार—प्रधान। **भोगभोगाइं**—भोगभोगों का अर्थात् मनोज्ञ शब्द, रूप आदि का। **भुंजमाणे**—उपभोग करता हुआ। **विहरति**—सानन्द समय बिताने लगा। **इमं च णं**—और इधर। **सुसेणे अमच्चे**—सुषेण अमात्य—मंत्री। **ण्हाते**—स्नान किए हुए। **जाव**—यावत्। **सव्वालंकारविभूसिते**—सब प्रकार के अलंकारों—आभूषणों से विभूषित। **मणुस्सवग्गुराए**—मनुष्यवागुरा—मनुष्य—समुदाय से। **परिक्खित्ते**—परिवेष्टित हुआ। **जेणेव**—जहां। **सुदरिसणागणियाए**—सुदर्शना गणिका का। **गिहे**—घर था। **तेणेव**—वहीं पर। **उवागच्छति २**—आ जाता है, आकर। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना। **गणियाए**—गणिका के। **सद्धिं**—साथ। **उरालाइं**—उदार—प्रधान। **भोगभोगाइं**—काम—भोगों का। **भुंजमाणं**—उपभोग करते हुए। **सगडं दारयं**—शकटकुमार बालक को। **पासति २**—देखता है, देख कर। **आसुरुत्ते**—आशुरुष्ट—अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। **जाव**—यावत्। **मिसिमिसीमाणे**—मिस २ करता हुआ, अर्थात् दांत पीसता हुआ। **णिलाडे**—मस्तक पर। **तिवलियं भिउडिं**—तीन बल वाली भृकुटी (तिउडी) को। **साहट्टु**—चढ़ा कर। **पुरिसेहिं**—अपने पुरुषों के द्वारा। **सगडं**—शकटकुमार। **दारयं**—बालक को। **गेण्हावेति २**—पकड़ा लेता है पकड़ा कर। **अट्ठि०**—[1]यष्टि से। **जाव**—यावत् उस को। **महिय**—मथित—अत्यन्तात्यन्त ताडित। **करेति**—करता है। **अवओडगबंधणं**—अवकोटकबन्धन—जिस बन्धन में ग्रीवा को पृष्ठ भाग में ले जाकर हाथों के साथ बान्धा जाए, उस बंधन से युक्त। **कारेति २**—कराता है, करा के। **जेणेव**—जहां पर। **महचंदे राया**—महाचन्द्र राजा था। **तेणेव**—वहीं पर। **उवागच्छति २**—आता है, आकर। **करयल० जाव**—दोनों हाथ जोड़ यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि कर के। **जाव**—यावत्। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगा। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **सामी!**—हे स्वामिन्!। **सगडे**—शकटकुमार। **दारए**—बालक ने। **ममं**—मेरे। **अंतेउरंसि**—अन्तःपुर—रणवास में, प्रविष्ट होने का। **अवरद्धे**—अपराध किया है। **तते णं**—तदन-

(१) अट्ठि—इस पद का रूप यष्टि किस कारण से किया गया है? इस का उत्तर पृष्ठ १७६ की टिप्पण में दिया गया है।

न्तर । महचंदे—महाचन्द्र । राया—राजा । सुसेणं—सुषेण । अमच्चं—अमात्य को । एवं—इस प्रकार । वयासी—कहने लगा । देवाणु० !—हे महानुभाव ! । तुम चेव णं—तुम ही । सगडस्स—शकटकुमार । दारगस्स—बालक को । दंडं—दण्ड । वत्तेहि—दे डालो । तए णं—तत्पश्चात् । महचंदेणं—महाचन्द्र । रगणा—राजा से । अब्भणुगणाते—अभ्यनुज्ञात अर्थात् आज्ञा को को प्राप्त । समाणे—हुआ । स—वह । सुसेणे—सुषेण । अमच्चे—मन्त्री । सगडं दारयं—शकट कुमार बालक । च—और । सुदरिसणं—सुदर्शना । गणियं—गणिका को । एएणं—इस (पूर्वोक्त) । विहाणेणं—विधान—प्रकार से । वज्झं—ये दोनों मारे जाएं, ऐसी । आणवेति—आज्ञा देता है । गोतमा !—हे गौतम ! । तं—इस लिये । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । सगडे—शकट—कुमार । दारए—बालक । पुरा—पूर्वकृत । पोराणाणं—पुरातन, तथा । दुच्चिरणाणं—दुश्चीर्ण-दुष्टता से किये गये । जाव—यावत् कर्मों का अनुभव करता हुआ । विहरति—समय बिता रहा है ।

मूलार्थ—सुदर्शना के घर से मन्त्री के द्वारा निकाले जाने पर वह शकट कुमार अन्यत्र कहीं पर स्मृति, रति, और धृति को प्राप्त न करता हुआ किसी अन्य समय अवसर पाकर गुप्तरूप से सुदर्शना के घर में पहुंच गया और वहां उसके साथ यथारुचि कामभोगों का उपभोग करता हुआ सानन्द समय व्यतीत करने लगा ।

इधर एक दिन स्नान कर और सब प्रकार के अलङ्कारों से विभूषित हो कर अनेक मनुष्यों से परिवेष्टित हुआ सुषेण मन्त्री सुदर्शना के घर पर आया, आकर सुदर्शना के साथ यथारुचि कामभोगों का उपभोग करते हुए उसने शकट कुमार को देखा और देख कर वह क्रोध के मारे लालपीला हो, दांत पीसता हुआ, मस्तक पर तीन बल वाली भृकुटि (तिउड़ी) चढ़ा लेता है और शकट कुमार को अपने पुरुषों से पकड़वा कर उस को यष्टि से यावत् मथित कर उसे अवकोटकबन्धन से जकड़वा देता है । तदनन्तर उसे महाराज महाचन्द्र के पास ले जा कर महाचन्द्र नरेश से दोनों हाथ जोड मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि कर के इस प्रकार कहता है—

स्वामिन् ! इस शकट कुमार ने मेरे अन्तःपुर में प्रवेश करने का अपराध किया है। इसके उत्तर में महाराज महाचन्द्र सुषेण मन्त्री से इस प्रकार बोले—हे महानुभाव ! तुम ही इस के लिए दण्ड दे डालो अर्थात् तुम्हें अधिकार है जो भी उचित समझो इसे दण्ड दे सकते हो । तत्पश्चात् महाराज महाचन्द्र से आज्ञा प्राप्त कर सुषेण मन्त्री ने शकट कुमार और सुदर्शना वेश्या को इस (पूर्वोक्त) विधान—प्रकार से मारा जाय, ऐसी आज्ञा राजपुरुषों को प्रदान की ।

इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम ! शकट कुमार बालक अपने पूर्वोपार्जित पुरातन तथा दुश्चीर्ण पापकर्मों के फल का प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ समय बिता रहा है ।

टीका—मनुष्य जो कुछ करता है अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये करता है उस के लिये वह दिन रात एक कर देता है । महान् परिश्रम करने के अनन्तर भी यदि उस का अभीष्ट सिद्ध हो जाता है तो वह फूला नहीं समाता और अपने को सब से अधिक भाग्यशाली समझता है। परन्तु उस अल्पज्ञ प्राणी को इतना भान कहां से हो कि जिसे वह अभीष्ट सिद्धि समझ कर प्रसन्नता से फूल रहा है, वह उस के लिये कितनी हानि—कारक तथा अहितकर सिद्ध होगी ?

शकट कुमार अपनी परमप्रिया सुदर्शना को पुनः प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित हो रहा है, तथा अपने सद्भाग्य की सराहना करता हुआ वह नहीं थकता। परन्तु उस विचारे को यह पता नहीं था कि यह प्रसन्नता मधुलिप्त असिधारा से भी परिणाम मे अत्यन्त भयावह होगी और उसका यह हर्ष भी शोकरूप में परिणत हुआ ही चाहता है।

पाठकों को स्मरण होगा कि मत्री सुषेण ने अपने सत्तावल से सुदर्शना गणिका के घरसे उसकी इच्छा के विना ही शकट कुमार को बाहिर निकाल कर उसे अपने घर में अपनी स्त्री के रूप में रख लिया था। परन्तु शकट कुमार अवसर देखकर गुप्तरूप से सुदर्शना के पास पहुंच गया और पूर्व की भान्ति गुप्तरूप मे उसके सहवास में रहता हुआ यथारुचि विषय—भोगों म आसक्त हुआ सानन्द समय यापन करने लगा।

इधर एक दिन सुषेण मत्री जब सुदर्शना के घर में पहुचा तो उसने वहा शकट कुमार को देख लिया। उसे देखते ही मत्री के क्रोध का पारा एक दम ऊपर जा चढा। क्रोध के मारे उस का मुख और नेत्र लाल हो उठे। उसने दान्त पीसते हुए क्रोध के आवेश में आकर अपने अनुचरों को उसे—शकट कुमार के पकडने और पकड कर बाधने तथा अधिक से अधिक पीटने की आज्ञा दी। तदनुसार पकड़ने, बाधने और मारने के बाद उसे महाराज महाचन्द्र के पास ले जाया गया। महाराज महाचन्द्र के मन्त्री को ही दण्डसम्बन्धी समस्त अधिकार दे देने पर तथा मन्त्री के द्वारा महान् अपराधी ठहरा कर एव सारे शहर में फिरा कर उसके वध करा डालने का आयोजन किया गया।

जैसा कि प्रथम बतलाया गया है कि जिस व्यक्ति के हाथ में सत्ता हो और साथ मे वह कामी एव विषयी भी हो तब उसमे जो कुछ भी अनर्थ बन पड़े वह थोड़ा है। कामी पुरुष का ऐसा करना स्वाभाविक ही है। जिस व्यक्ति पर वह आसक्त हो रहा है उसका कोई और प्रेमी उसे एक आख भी नहीं भाता। फिर यदि उसके हाथ में कोई राजकीय सत्ता हो तब तो वह उसे यमालय में पहुँचाये विना कभी छोड़ने का ही नहीं। कामी पुरुषों मे ईर्षा की मात्रा सबसे अधिक होती है। कामासक्त व्यक्ति अपने प्रेम—भाजन पर किसी दूसरे का अणुमात्र भी अधिकार सहन नहीं कर सकता है और वास्तव में एक वस्तु के जहा दो इच्छुक होते हैं वहा पर सर्वदा एक के अनिष्ट की सभावना बनी ही रहती है। दोनो में जो बलवान् होता है उसका ही उस पर अधिकार रहा करता है। निर्बल व्यक्ति यातो द्वन्द्व से परास्त हो कर भाग जाता है अथवा प्राणों की आहुति दे कर दूसरों के लिये शिक्षा का आदर्श छोड़ जाता है। मत्री सुषेण कब चाहता था कि जिस रमणी के सहवास के लिये वह चिरकाल से आतुर हो रहा था, उसमे कोई दूसरा भी भागीदार बने। इसी कारण उसने शकट कुमार और साथ में शकट कुमार को तिरस्कृत न करके प्रत्युत उसके सहवास से आनन्दविभोर होने के अपराध में सुदर्शना को भी कठोर से कठोर दड दिया जिस का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी से कहा कि गौतम! इस प्रकार यह छणिक छागलिक का जीव अपने पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मो का फल भोगने के लिये चौथी नरक में गया और वहा भीषण नारकीय यातनाए भोग लेने के अनन्तर भी शकट कुमार के रूप मे अवतीर्ण होकर इस दशा को प्राप्त हो रहा है। साराश यह है कि इस समय उस के साथ जो कुछ हो रहा है वह उसके पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का ही परिणाम है।

—ण्हाते जाव सव्वालंकारविभूसिते—यहां पठित जाव-यावत् पद से अपेक्षित—कयवलि-कम्मे—इत्यादि पदों का उल्लेख पृष्ठ १७६ पर किया जा चुका है। तथा—आसुरुत्ते जाव मिसिमिसीमाणे—यहां पठित जाव-यावत् पद से—रुट्ठे कुविए चण्डिक्किए—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन की व्याख्या पृष्ठ १७७ की टिप्पण में की जा चुकी है। तथा—अट्ठि० जाव महियं—यहां के जाव-यावत् पद से—मुट्ठि—जाणु—कोप्पर—प्पहार—संभग्ग—इन पदों का ग्रहण करना, अर्थात् सुषेण मंत्री शकट कुमार को यष्टि—लाठी, मुष्टि, जानु—घुटने, कूर्पर—कोहनी के प्रहारों से संभग्न—चूर्णित तथा मथित कर डालता है। दूसरे शब्दों में—जिस प्रकार दही मथन करते समय दही का प्रत्येक कण मथित हो जाता है ठीक उसी प्रकार शकट कुमार का भी मन्थन कर डालते हैं तात्पर्य यह है कि उसे इतना पीटा, इतना मारा कि उस का प्रत्येक अंग तथा उपांग ताडना से बच नहीं सका। तथा—करयल० जाव एवं—यहां के जाव-यावत् पद से अभिमत पाठ का उल्लेख पीछे पृष्ठ २४६ पर किया जा चुका है।

—दुच्चिण्णाणं जाव विहरति—यहां के जाव-यावत् पद से—दुप्पडिक्कन्ताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे — इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभीष्ट है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ ४७ पर किया गया है।

गतसूत्रों तथा प्रस्तुत सूत्र में शकट कुमार के विषय में पूछे गये प्रश्न का उत्तर वर्णित हुआ है। अब अग्रिम सूत्र में इसी सम्बन्ध को लेकर गौतम स्वामी ने जो जिज्ञासा की है उस का वर्णन किया जाता है—

मूल—[1] सगडे णं भन्ते! दारए कालगते कहिं गच्छिहिति? कहिं उववज्जिहिति?।

पदार्थ—भंते!—हे भगवन्!। **सगडे**—शकट कुमार। **दारए**—बालक। **णं**—वाक्यालंकारार्थक है। **कालगते**—कालवश हुआ। **कहिं**—कहां। **गच्छिहिति?**—जायेगा?। **कहिं**—कहां पर। **उववज्जिहिति?**—उत्पन्न होगा?

मूलार्थ—हे भगवन्! शकट कुमार बालक यहां से काल करके कहां जायेगा? और कहां पर उत्पन्न होगा?

टीका—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से शकट कुमार के पूर्वभव का वृत्तान्त सुन लेने के पश्चात् गौतम स्वामी को उसके आगामी भवों के सम्बन्ध में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने की लालसा जागृत हुई तदनुसार उन्होंने भगवान् से उसके आगामी भवों के सम्बन्ध में भी पूछ लेने का विचार किया। वे बड़े विनीतभाव के द्वारा वीर प्रभु से पूछने लगे कि हे भदन्त! शकट कुमार यहां से काल करके कहां जायेगा? और कहां पर उत्पन्न होगा?

मनोविज्ञान का यह नियम है कि जिस विषय में मन एक बार लग जाता है, उस विषय का अथ से इति पर्यन्त बोध प्राप्त करने की उस में लग्न भी हो जाती है। इसी नियम के अनुसार गौतम स्वामी भी पुनः भगवान् से पूछ रहे हैं। उन का मन शकट कुमार के जीवन को अथ से इति पर्यन्त समझने की लालसा में व्यस्त है, वह उसके आगामी जीवन से भी अवगत होना चाहता है। यही रहस्य गौतम स्वामी के प्रश्न में छिपा हुआ है।

---

(१) छाया—शकटो भदन्त! दारकः कालगतः कुत्र गमिष्यति? कुत्रोपपत्स्यते?

गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया तथा शकट कुमार की भवपरम्परा का अन्त में क्या परिणाम निकला ? इत्यादि विषय का अग्रिम सूत्र में वर्णन किया जाता है—

मूल—[1] गोतमा ! सगडे णं दारए सत्तावण्णं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे एगं महं [2] अयोमयं तत्तं समजोइभूयं इत्थिपडिमं अवयासाविए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति । से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता रायगिहे णगरे मातंगकुलंसि जमलत्ताए पच्चायाहिति, तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबारसाहगस्स इमं एयारूवं णामधेज्जं करिस्सन्ति, होउ णं दारए सगड़े नामेणं, होउ णं दारिया सुदरिसणा । तते णं से सगड़े दारए उम्मुक्कबालभावे जोव्वण० भविस्सति । तए णं सा सुदरिसणा वि दारिया उम्मुक्कबालभावा विण्णय० जोव्वणगमणुप्पत्ता रूवेण जोव्वणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरया भविस्सति । तए णं से सगडे दारए सुदरिसणाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य मुच्छिते ४ सुदरिसणाए भइणीए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरिस्सति । तते णं से सगड़े दारए अन्नया कयाइ सयमेव कूडग्गाहत्तं उपसंपज्जित्ता णं विहरिस्सति । तते णं से सगड़े दारए कूडग्गाहे भविस्सति अहम्मिए जाव

(१) छाया—गौतम ! शकटो दारकः सप्तपञ्चाशत वर्षाणि परमायु पालयित्वाऽद्यैव त्रिभागावशेषे दिवसे एका महतीमयोमया तप्ता ज्योतिस्समभूता स्त्रीप्रतिमा अवयासित सन् कालमासे कालं कृत्वाऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या नैरयिकतयोपपत्स्यते । स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य राजगृहे नगरे मातंगकुले यमलतया प्रत्यायास्यति । ततस्तस्य दारकस्य अम्बापितरौ निर्वृत्तद्वादशाहस्य इदमेतद्रूप नामधेय करिष्यतः—भवतु दारक. शकटो नाम्ना । भवतु दारिका सुदर्शना नाम्ना । तत स शकटो दारकः उन्मुक्तबालभाव· यौवन० भविष्यति । तत सा सुदर्शनापि दारिका उन्मुक्तबालभावा विज्ञक० यौवनमनुप्राप्ता रूपेण च यौवनेन च लावण्येन चोत्कृष्टा उत्कृष्टशरीरा भविष्यति । तत स शकटो दारक सुदर्शनाया रूपेण च यौवनेन च लावण्येन च मूर्छित ४ सुदर्शनया भगिन्या सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरिष्यति । तत स शकटो दारक अन्यदा कदाचित् स्वयमेव कूटग्राहत्वमुपसम्पाद्य विहरिष्यति । तत· स शकटो दारक कूटग्राहो भविष्यति, अधार्मिको यावत् दुष्प्रत्यानन्द । एतत्कर्मा ४ सुबहु पापकर्म समर्ज्य कालमासे काल कृत्वा अस्या रत्नप्रभाया पृथिव्यां नैरयिकतयोपपत्स्यते, संसार— स्तथैव यावत् पृथिव्याम्० , स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य वाराणस्या नगर्यां मत्स्यतयोपपत्स्यते । स तत्र मत्स्यवधिकैर्वधित तत्रैव वाराणस्या नगर्या श्रेष्ठिकुले पुत्रतया प्रत्यायास्यति । बोधिं०, प्रव्रज्या०, सौधर्मे कल्पे०, महाविदेहे०, सेत्स्यति ५ निक्षेप. ।

॥ चतुर्थमध्ययन समाप्तम् ॥

(२) **अयोमयं**—त्ति अयोमयीम्, **तत्तं**—त्ति तप्ताम् कथमित्याह— **समजोइभूयं**—त्ति समा तुल्या ज्योतिषा—वह्निना भूता या सा तथा ताम् । **अवयासाविए**—त्ति अवयासित —आलिङ्गित ।

दुप्पडियाणंदे। एयकम्मे ४ सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा इमी—से रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिति, संसारो तहेव जाव पुढवीए०। से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता वाणारसीए णयरीए मच्छत्ताए उववज्जिहिति। से णं तत्थ मच्छबंधिएहिं वधिए तत्थेव वाणारसीए णयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। बोहिं०, पव्वज्जा०, सोहम्मे कप्पे०, महाविदेहे०, सिज्झिहिति ५ निक्खेवो।

॥ चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**गोतमा!**—हे गौतम! । **सगडे णं**—शकट नामक । **दारए**—बालक। **सत्तावण्णं वासाइं**—५७ वर्ष की । **परमाउं**—परम आयु। **पालइत्ता**—पाल कर—भोग कर । **अज्जेव**—आज ही । **तिभागावसेसे**—त्रिभागावशेष अर्थात् जिस मे तीसरा भाग शेष रहे ऐसे । **दिवसे**—दिन में । **एगं**—एक । **महं**—महान् । **अयोमयं**—लोहमय । **तत्तं**—तप्त । **समजोइभूयं**—अग्नि के समान देदीप्यमान । **इत्थिपडिमं**—स्त्री की प्रतिमा से । **अवयासाविए**—अवयासित—आलिङ्गित। **समाणे**—हुआ । **कालमासे**—कालमास में अर्थात् मृत्यु का समय आजाने पर । **कालं किच्चा**—काल करके । **इमीसे**—इस । **रयणप्पभाए**—रत्नप्रभा नामक। **पुढवीए**—पृथिवी—नरक में। **णेरइयत्ताए**—नारकीय रूप से । **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगा । **तते णं**—तदनन्तर अर्थात् वहां से। **अणंतरं**—अन्तररहित । **उव्वट्टित्ता**—निकल कर । **से**—वह, शकटकुमार का जीव। **रायगिहे**—राजगृह नामक । **णगरे**—नगर मे । **मातंगकुलंसि**—मातंगकुल मे अर्थात् चाडाल कुल मे । **जमलत्ताए**—युगलरूप से । **पच्चायाहिति**—उत्पन्न होगा, अर्थात् कन्या और बालक दो का जन्म होगा । **तते णं**—तदनन्तर । **तस्स**—उस । **दारगस्स**—बालक के । **अम्मापियरो**—माता पिता । **णिव्वत्तबारसाहगस्स**—जन्म से बारहवें दिन उस का। **इमं**—यह। **एयारूवं**—इस प्रकार का। **नामधेज्जं**—नाम । **करिस्संति**—रक्खेंगे । **दारए**—यह बालक। **सगडे**—शकट। **णामेणं**—नाम से **होऊ णं**—हो अर्थात् इस बालक का नाम शकट कुमार रखा जाता है तथा । **दारिया**—यह कन्या । **सुदरिसणा**—सुदर्शना नाम से । **होऊ णं**—हो, अर्थात् इस बालिका का नाम सुदर्शना रखा जाता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से** वह । **सगडे**—शकट नामक । **दारए**—बालक । **उम्मुक्कबालभावे**—बालभाव को त्याग कर । **जोव्वण०**—युवावस्था को प्राप्त होता हुआ भोगोपभोग मे समर्थ । **भविस्सति**—होगा । **तए णं**—तदनन्तर । **से**—वह। **सुदरिसणा वि दारिया**—सुदर्शना बालिका भी । **उम्मुक्कबालभावा**—बाल भाव को त्याग कर । **विण्णय०**—विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त तथा बुद्धि आदि की परिपक्वता को उपलब्ध हो । **जोव्वणगमणुप्पत्ता**—यौवन को प्राप्त हुई । **रूवेण**—रूप से । **जोव्वणेण य**—और यौवन से । **लावण्णेण य**—तथा लावण्य—आकृति की सुन्दरता, से। **उक्किट्ठा**—उत्कृष्ट—उत्तम तथा। **उक्किट्ठसरीरया**—उत्कृष्ट शरीर वाली। **भविस्सति**—होगी। **तए णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सगडे**—शकट। **दारए**—बालक। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना को। **रूवेण य**—रूप और। **जोव्वणेण य**—यौवन तथा। **लावण्णेण य**—लावण्य में। **मुच्छिते ४**—[1] मूर्छित, गृद्ध, ग्रथित और अध्युपपन्न हुआ। **सुदरिसणाए**—सुदर्शना । **भइणीए**—बहिन के। **सद्धिं**—साथ। **उरालाइं**—उदार—प्रधान। **माणुस्सगाइं**—मनुष्यसम्बन्धी। **भोगभोगाइं**—विषय भोगों का। **भुंजमाणे**—उपभोग करता

(१) मूर्छित, गृद्ध आदि पदो की अर्थविगति के लिये देखो पृष्ठ १७३।

हुआ । विहरिस्सति—विहरण करेगा । तते णं—तदनन्तर । से वह । सगडे—शकट । दारए—बालक । अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । सयमेव—स्वयं ही । कूडग्गाहत्तं —कूटग्राहित्व —कूट—कपट से अन्य प्राणियों को अपने वश में करने की कला को । उवसंपज्जित्ता णं— सम्प्राप्त कर के । विहरिस्सति—विहरण करेगा । तते णं—तदनन्तर । से—वह । सगडे—शकट । दारए बालक । कूडग्गाहे—कूटग्राह अर्थात् कपट से जीवों को वश में करने वाला । भविस्सति - होगा, जो कि । अहम्मिए—अधर्मी । जाव—यावत् । दुप्पडियाणंदे—दुष्प्रत्यानन्द—कठिनता से प्रसन्न होने वाला होगा । एयकम्मे ४—एतत्कर्मा—इन कर्मों के करने वाला, एतत्प्रधान—इन कर्मों में प्रधान, एतद्विद्य—इस विद्या—विज्ञान वाला और एतत्समाचार—इन कर्मों को ही अपना सर्वोत्तम आचरण बनाने वाला वह । सुबहुं—अत्यधिक । पावकम्मं—पाप कर्म को । समज्जिणित्ता—उपार्जित कर । कालमासे—कालमास में—मृत्यु का समय आने पर । कालं किच्चा—काल कर के । इमीसे —इस । रयणप्पभाए—रत्नप्रभा नामक । पुढवीए—पृथिवी—नरक में । णेरइयत्ताए—नारकी रूप से । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा । तहेव—तथैव । संसारो—संसारभ्रमण । जाव—यावत् । पुढवीए०—पृथिवीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा । ततो—वहां से । से णं— वह । उव्वट्टित्ता—निकल कर । अणंतरं—अन्तररहित । वाणारसीए—वाराणसी—बनारस । णयरीए—नगरी में । मच्छत्ताए—मत्स्य के रूप में । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा । से णं—वह । तत्थ—वहां । मच्छवधिएहिं—मत्स्यवधिकों—मछली मारने वालों के द्वारा । वधिए—हनन किया हुआ । तत्थेव—उसी । वाणारसीए बनारस । णयरीए—नगरी में । सेट्ठिकुलंसि—श्रेष्ठिकुल में । पुत्तत्ताए— पुत्ररूप से । पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा, वहां । बोहिं०—सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा । पवज्जा०—प्रव्रज्या—साधुवृत्ति को अंगीकार करेगा । सोहम्मे कप्पे०—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा वहां से । महाविदेहे०—महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा, वहां पर संयम के सम्यक् आराधन से च्यव कर । सिज्झिहिति ५—सिद्धि प्राप्त करेगा अर्थात् कृतकृत्य हो जायेगा, केवल ज्ञान प्राप्त करेगा, कर्मों से रहित होगा, कर्म-जन्य संताप से विमुक्त होगा और सब दुःखों का अंत करेगा । निक्खेवो—निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिए । चउत्थं—चतुर्थ । अज्झयणं—अध्ययन । समत्तं—सम्पूर्ण हुआ ।

मूलार्थ—हे गौतम ! शकट बालक ५७ वर्ष की परम आयु को पाल कर—भोग कर आज ही तीसरा भाग शेष रहे दिन में एक महान् लोहमय तपी हुई अग्नि के समान देदीप्य—मान स्त्रीप्रतिमा से आलिंगित कराया हुआ मृत्यु समय में काल करके रत्नप्रभा नाम की पहली पृथिवी—नरक में नारकी रूप से उत्पन्न होगा ।

वहां से निकल कर सीधा राजगृह नगर में मातंग—चांडाल के कुल में युगलरूप से उत्पन्न होगा, उस युगल (वे दो बच्चे जो एक ही गर्भ से साथ उत्पन्न हुए हों) के माता पिता बारहवें दिन उन में से बालक का शकटकुमार और कन्या का सुदर्शना कुमारी यह नामकरण करेंगे । शकट कुमार बाल्यभाव को त्याग कर यौवन को प्राप्त करेगा । सुदर्शना कुमारी भी बाल्यभाव से निकल कर विशिष्ट ज्ञान तथा बुद्धि आदि की परिपक्वता को प्राप्त करती हुई युवावस्था को प्राप्त होगी । वह रूप में, यौवन में और लावण्य में उत्कृष्ट—उत्तम एवं उत्कृष्ट शरीर वाली होगी ।

तदनन्तर सुदर्शना कुमारी के रूप, यौवन और लावण्य—आकृति की सुन्दरता में

मूर्च्छित—उस के ध्यान में पगला बना हुआ, गृद्ध—उसको इच्छा रखने वाला, ग्रथित—उसके स्नेहजाल से जकडा हुआ और अध्युपपन्न—उसी की लगन मे अत्यन्त व्यासक्त रहने वाला वह शकट कुमार अपनी बहिन सुदर्शना के साथ उदार—प्रधान मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों का सेवन करता हुआ जीवन व्यतीत करेगा।'

तदनन्तर किसी समय वह शकट कुमार स्वयमेव कूटग्राहित्व को प्राप्त कर विचरण करेगा, तब कूटग्राह (कपट से जीवों को वश करने वाला) बना हुआ वह शकट महा अधर्मी यावत दुष्प्रत्यानन्द होगा, और इन कर्मों के करने वाला, इन मे प्रधानता लिए हुए तथा इन के विज्ञान वाला एव इन्हीं पापकर्मों को अपना सर्वोत्तम आचरण बनाए हुए अधर्मप्रधान कर्मों से वह बहुत से पाप कर्मों को उपार्जित कर मृत्यु—समय मे काल करके रत्न—प्रभा नामक पहली पृथिवी—नरक मे नारकी रूप से उत्पन्न होगा।

उस का ससारभ्रमण पूर्ववत् ही जानलेना यावत् पृथिवीकाया मे लाखो बार उत्पन्न होगा तदनन्तर वहा से निकल कर वह सीधा वाराणसी नगरी मे मत्स्य के रूप मे जन्म लेगा, वहा पर मत्स्य—घातकों के द्वारा वध को प्राप्त होता हुआ वह फिर उसी वाराणसी नगरी मे एक श्रेष्ठिकुल मे पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वहा वह सम्यक्त्व को तथा अनगारधर्म को प्राप्त करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे देवता बनेगा, वहा से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेगा, वहा पर साधुवृत्ति का सम्यकूतया पालन करके वह सिद्धि—कृतकृत्यता प्राप्त करेगा, केवल ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जानेगा, सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो जावेगा और सब दु खों का अन्त करेगा। निक्षेप—उपसहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये।

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

टीका—शकटकुमार के भावी जीवन के विषय मे श्री गौतम स्वामी के द्वारा प्रार्थना के रूप मे व्यक्त की गई जिज्ञासा की पूर्ति के लिये परम दयालु श्रमण भगवान् महावीर ने जो कुछ फरमाया वह निम्नोक्त है—

हे गौतम! शकट कुमार की पूरी आयु ५७ वर्ष की है अर्थात् उसने पूर्व भव मे जितना आयुष्य कर्म बान्ध रखा था, उसके पूरे हो जाने पर वह आज ही दिन के तीसरे भाग मे अर्थात् अपराह्न समय में कालधर्म को प्राप्त करेगा। पूर्वोपार्जित पापकर्मों के प्रभाव से उस की मृत्यु का साधन भी बडा विकट होगा। जिस समय राजकीय पुरुष प्रधान मंत्री सुषेण की आज्ञा से निर्दयता—पूर्वक ताड़ित करते हुए शकट कुमार को वधस्थल पर ले जाकर खडा करेंगे, उस समय प्रधान मंत्री के आदेश से एक लोहमयी स्त्रीप्रतिमा लाई जावेगी और आग मे तपाकर उसे लाल कर दिया जावेगा, उस लोहमयी अग्नितुल्य सतप्त और प्रदीप्त प्रतिमा के साथ शकट कुमार को बलात् चिपटाया जावेगा। उसके साथ आलिंगित कराये जाने पर शकट कुमार [1]काल को प्राप्त होगा।

---

(१) प्रस्तुत कथा सन्दर्भ मे जो यह लिखा है कि शकट कुमार को वध्यस्थल पर ले जाकर अपराह्न काल मे लोहमयी तप्त स्त्रीप्रतिमा से बलात् आलिङ्गित कराया जायेगा और वहा उसकी मृत्यु हो जायेगी, इस पर यह आशका होती है, कि जब साहजनी नगरी के राजमार्ग पर शकट कुमार के साथ बडा निर्दय एवं क्रूर व्यवहार किया गया था, उसके कान और नाक काट लिये गये थे, उसके शरीर मे से मासखण्ड निकाल कर उसे खिलाए जा रहे थे, और चाबुकों के भीषण प्रहारों से उसे मारा भी जा रहा था, तब ऐसी स्थिति मे उसके प्राण कैसे बच पाए? अर्थात् मानव प्राणी

इस प्रकार काल को प्राप्त होकर वह रत्नप्रभा नाम की पहली नरक में जाकर जन्म लेगा। वहा पर नरकजन्य तीव्र वेदनाओं का अनुभव करेगा।

नरक की भवस्थिति को पूरा करने के बाद वह वहा से निकल कर राजगृह नगर के एक चाडालकुल में युगलरूप में उत्पन्न होगा अर्थात् मातग की स्त्री के गर्भ से दो जीव उत्पन्न होंगे, एक बालक दूसरी कन्या। उनके माता पिता बालक का नाम शकट और कन्या का सुदर्शना रक्खेंगे। जब दोनों बालभाव को त्याग कर युवावस्था मे आवेंगे तो उनका शरीरगत सौंदर्य अथच रूप—लावण्य नितान्त आकर्षक होगा। उसमें भी सुदर्शना का यौवन—विकास इतना अधिक स्फुट और मोहक होगा कि उसके अद्वितीय रूप—सौन्दर्य से मोहित हुआ उसका सहोदर ही उसे अपनी सहधर्मिणी बना कर काम—वासना को उपशान्त करने का नीचतम उद्योग करेगा। तात्पर्य यह है कि सुदर्शना के रूप—लावण्य मे अत्यधिक मूर्च्छित हुआ शकट कुमार परम पुनीत भगिनी—सम्बन्ध का भी उच्छेद कर डालेगा। सक्षेप मे या दूसरे शब्दो मे कहे तो—बाल्य—काल के भाई बहिन यौवन—काल मे पति पत्नी के रूप मे आभासित होंगे।

तदनन्तर इस प्रकार के सज्जन विगर्हित कार्यों को करता हुआ शकट कुमार स्वय कूट—ग्राही अर्थात् धोखे से जीवों को फसाने वाला, बन बैठेगा। कूटग्राही बन जाने के बाद शकट कुमार की पापपूर्ण प्रवृत्तियों मे और भी प्रगति होगी, तथा अन्त में अधिक सावद्य व्यवहार से उपार्जित किये पापकर्मों के प्रभाव से वह रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में जन्म लेगा।

पाठकों को स्मरण होगा कि सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का वर्णन कर आये हैं तब सूत्रकार ने प्रकृत सूत्र को सक्षिप्त करने के उद्देश्य से पूर्व वर्णित सूत्रपाठ का स्मरण कराने के लिये **"संसारो तहेव जाव पुढवी०"** यह उल्लेख कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि शकट कुमार का ससारभ्रमण अर्थात् नरक से निकलकर अन्यान्य गतियों में गमनागमन करना इत्यादि **तथैव**—उसी प्रकार जान लेना अर्थात् मृगापुत्र की भान्ति समझ लेना। शेष जो अन्तर है उसे सूत्रकार स्वय ही **"ततो अणंतर उव्वट्टित्ता"** इत्यादि शब्दों मे कह रहे हैं। अर्थात् शकट कुमार का जीव नरक से निकल कर वाराणसी नगरी मे मत्स्य के रूप मे अवतरित होगा, वहा मत्स्यविघातकों के द्वारा मारा जाने पर वह उसी नगरी के एक श्रेष्ठिकुल मे पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वहा समुचित रीति से पालन पोषण और सवर्द्धन को प्राप्त होता हुआ वह युवावस्था मे किसी स्थविर—वृद्ध जैनसाधु के सहवास मे आकर सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा और वैराग्यभावित अन्त करण मे अनगारवृत्ति को धारण कर अन्त में सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहा की देवभव—सम्बन्धी स्थिति को पूरा कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहा पर यथाविधि सयम के आराधन मे अपने समस्त कर्मों का अन्त करके परम दुर्लभ निर्वाण पद को उपलब्ध करेगा।

मानव प्राणी की यात्रा कितनी लम्बी और कितनी विकट तथा उसका पर्यवसान कहा और किस प्रकार से होता है ? यह सब शकट कुमार के कथासदर्भ से भली भान्ति विदित हो जाता है।

मे इतना शारीरिक बल कहा है कि वह इस प्रकार के नरकसदृश दु खो का उपभोग कर लेने पर भी जीवित रह सके ? इस आशका का उत्तर पृष्ठ २७३ पर दिया गया है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा अभग्नसेन के सम्बन्ध मे विचार किया गया है जब कि प्रस्तुत में शकट कुमार के सम्बन्ध मे।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में यह बतलाया गया था कि श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी से विपाकश्रुत के चतुर्थ अध्ययन का अर्थ सुनने की इच्छा प्रकट की थी। आर्य सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू स्वामी की इच्छानुसार प्रस्तुत चौथे अध्ययन का वर्णन कह सुनाया, जो कि पाठकों के सन्मुख है। इस पूर्वप्रतिपादित वृत्तान्त का स्मरण कराने के लिये ही सूत्रकार ने निक्खेवो— निक्षेप यह पद दिया है। निक्षेप शब्द का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर कर दिया गया है। प्रस्तुत में निक्षेप शब्द से सूत्रकार को जो सूत्रपाठ अभिमत है, वह निम्नोक्त है—

"एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं दुहविवागाणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि"—अर्थात् हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के चतुर्थ अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। इस प्रकार मैं कहता हूँ। तात्पर्य यह है कि जैसा भगवान से मैंने सुना है वैसा तुम्हें सुना दिया है। इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है।

—जोव्वण० भविस्सति—यहां के बिन्दु से—जोव्वणगमणुप्पत्ते अलंभोगसमत्थे यावि—इस अवशिष्ट पाठ का बोध होता है। इस का अर्थ है—युवावस्था को प्राप्त तथा भोग भोगने में भी समर्थ होगा।

--विण्णय० जोव्वणगमणुप्पत्ता—यहां का बिन्दु—परिणयमेत्ता—इस पाठ का परिचायक है। इस पाठ का अर्थ पृष्ठ २०३ पर लिखा जा चुका है अन्तर मात्र इतना है कि वहां यह एक बालक का विशेषण है, जब कि यहां एक बालिका का।

—अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे—यहां के जाव-यावत् पद से संसूचित पाठ पृष्ठ ५५ पर लिखा जा चुका है। तथा—पयकम्मे ४—यहां दिये गये ४ के अंक से विवक्षित पाठ का उल्लेख पृष्ठ १७९ के टिप्पण में किया गया है।

—तहेव जाव पुढवीए०—यहां का जाव-यावत पद पृष्ठ ८९ पर दिये गये—से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति. तत्थ णं कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसियाए—से लेकर—वाउ० तेउ० आउ०—इत्यादि पदों का परिचायक है। तथा पुढवीए०—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ २७५ पर लिखा जा चुका है।

"—बोहिं, पव्वज्जा०, सोहम्मे कप्पे०, महाविदेहे०, सिज्झिहिति ५—इन पदों से—बुज्झिहिति २ अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति। से णं भविस्सइ अणगारे इरियासमिते भासासमिते एसणासमिते आयाणभण्डमत्तनिक्खेवणासमिते उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपरिट्ठावणिया-समिते मणसमिते वयसमिते कायसमिते मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी। से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आलोइयपडिक्कन्ते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। से णं ततो अणंतरं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवन्ति अड्ढाइं दित्ताइं वित्ताइं विच्छिण्णविउल—भवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुधणजायरूवरययाइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डियप—उरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूयाइं जहा दढ—पतिण्णे, सा चेव वत्तव्वया कलाओ जाव सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंतं करिहिति—" इन पदों की ओर संकेत कराना सूत्रकार को अभिमत है, इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

बोधि—सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, प्राप्त कर के गृहस्थावास को छोड़ कर साधुधर्म में

दीक्षित हो जायेगा और वह ईर्यासमित—यतनापूर्वक गमन करने वाला, भाषासमित—यतनापूर्वक बोलने वाला, एषणासमित—निर्दोष आहार—पानी ग्रहण करने वाला, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा—समित—वस्त्र पात्र और पुस्तक आदि उपकरणों को उपयोगपूर्वक ग्रहण करने और रखने वाला, उच्चार—प्रस्रवण—खेल—जल्ल—सिंघाण—परिष्ठापनिकासमित—अर्थात् मल मूत्र, थूक, नासिकामल और पसीने का मल इन सब का यतनापूर्वक परिष्ठापन करने वाला अर्थात् परठने वाला, मनसमित—मन के शुभ व्यापार वाला, वचसमित—वचन के शुभ व्यापार वाला, कायसमित—काया के शुभ व्यापार वाला, मनोगुप्त—मन के अप्रशस्त व्यापार को रोकने वाला, वचोगुप्त—वचन के अशुभ व्यापार को रोकने वाला, कायगुप्त—काया के अशुभ व्यापार को रोकने वाला, गुप्त—मन, वचन वा काया को पाप से बचाने वाला, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों का निग्रह करने वाला, गुप्तब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने वाला अनगार होगा। और वह साधुधर्म में बहुत वर्षों तक साधुधर्म का पालन कर आलोचना (गुरु के सन्मुख अपने दोषों को प्रकट करना), तथा प्रतिक्रमण (अशुभयोग से निवृत्त हो कर शुभयोग में स्थिर होना) कर समाधि—(चित्त की एकाग्रतारूप ध्यानावस्था) को प्राप्त होकर मृत्यु का समय आने पर काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होगा। वहां से वह बिना अन्तर के च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में निम्नोक्त कुलों में उत्पन्न होगा—

वे कुल सम्पन्न—वैभवशाली, दीप्त—तेजस्वी, वित्त—प्रसिद्ध (विख्यात), विस्तृत और विपुल मकान, शयन (शय्या), आसन यान (रथ आदि) वाहन (घोड़ा आदि अथवा नौका जहाज आदि), धन, सुवर्ण और रजत—चांदी की बहुलता से युक्त होंगे। उन कुलों में द्रव्योपार्जन के उपाय प्रयुक्त किये जायेंगे अथवा अधमर्णों (कर्जा लेने वालों) को व्याज पर रुपया दिया जाएगा। उन कुलों में भोजन करने के अनन्तर भी बहुत सा अन्न बाकी बच जाएगा। उन कुलों में दास दासी आदि पुरुष और गाय, भैंस तथा बकरी आदि पशु प्रचुर संख्या में रहेंगे तथा वे कुल बहुत से लोगों से भी पराभव को प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

शकट कुमार का जीव महाविदेह क्षेत्र में इन पूर्वोक्त उत्तम कुलों में उत्पन्न होकर दृढ—प्रतिज्ञ की भान्ति ७२ कलायें सीखेगा और युवा होने पर तथारूप स्थविरों के पास दीक्षित हो संयमाराधन कर के सिद्धि को प्राप्त करेगा, कर्मजन्य संताप से रहित हो जाएगा और सर्वप्रकार के जन्म मरण जन्य दुःखों का अन्त कर डालेगा। दृढप्रतिज्ञ का संक्षिप्त जीवनपरिचय पृष्ठ १०० तथा १०१ पर दिया जा चुका है।

प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन में सूत्रकार ने जीवन—कल्याण के लिये दो बातों की विशेष प्रेरणा कर रखी है। प्रथम तो मांसाहार के त्याग की और दूसरे ब्रह्मचर्य के पालन की।

मांसाहार गर्हित है, दुःखों का उत्पादक है तथा जन्म मरण की परम्परा का बढाने वाला है। यह सभी धर्मशास्त्रों ने पुकार २ कर कहा है। साथ में उस के त्याग को बड़ा सुखद प्रशस्त एवं सुगतिप्रद माना है। मांसाहार से जन्य हानि और उस के त्याग से होने वाला लाभ शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से वर्णित हुआ है। पाठकों की जानकारी के लिये कुछ शास्त्रीय उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

जैनागम श्री स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान में नरक—आयु—बन्ध के निम्नोक्त चार कारण लिखे हैं—

(१) **महारम्भ**—बहुत प्राणियों की हिंसा हो, इस प्रकार के तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक

प्रवृत्ति करना **महारम्भ** कहलाता है ।

(२) **महापरिग्रह**—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा—आसक्ति **महापरिग्रह** कहा जाता है।

(३) **पञ्चेन्द्रियवध** -५ इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा करना **पंचेन्द्रियवध** है ।

(४) **कुणिमाहार**—कुणिम अर्थात् **मांस** का आहार करना **कुणिमाहार** कहलाता है।

इन कारणों मे मांसाहार को स्पष्टरूप से नरक का कारण माना है, और उसी सूत्र के आयुबन्धकारणप्रकरण में प्राणियों पर की जाती दया और अनुकम्पा के परिणामों को मनुष्यायु के बन्ध का कारण माना है । जैनशास्त्रों में ऐसे एक नहीं, अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिन में मांसाहार को दुर्गतिप्रद बता कर उसके निषेध का विधान किया गया है और उसके त्याग को देवदुर्लभ मानवभव का तथा परम्परा से निर्वाणपद का कारण बता कर बड़ा प्रशसनीय ससूचित किया है ।

जैनधर्म की नींव ही अहिंसा पर अवस्थित है । किसी प्राणी की हत्या तो दूर की बात है वह तो किसी प्राणी के अहित का चिन्तन करना भी महापाप बतलाता है । अस्तु, जैनशास्त्र तो मांसाहार के त्याग की ऐसी उत्तमोत्तम शिक्षाओं से भरे पड़े हैं किन्तु जैनेतर धर्मशास्त्र भी इस का अर्थात् मांसहार का पूरे बल से निषेध करते हैं । उन के कुछ प्रमाण निम्नोक्त हैं—

(१) **नकिर्देवा मिनीमसी न किरा योपयामसि ।** (ऋग्वेद—(१०—१३८—७) अर्थात् हम न किसी को मारें और न किसी को धोखा दें ।

(२) **सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! ।**

सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत् कुर्यात् प्राणिना दया ॥ १ ॥ (महा० शा० पर्व प्रथमपाद)

अर्थात् हे अर्जुन ! जो प्राणियों की दया फल देती है वह फल चारों वेद भी नहीं देते और न समस्त यज्ञ देते हैं तथा सम्पूर्ण तीर्थों के स्नान भी वह फल नहीं दे सकते हैं।

अहिंसा लक्षणो धर्मो, ह्यधर्म प्राणिनां वधः ।

तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोके, कर्तव्या प्राणिना दया ॥२॥

अर्थात् दया ही धर्म है और प्राणियों का वध ही अधर्म है। इस कारण से धार्मिक पुरुषों को सदा दया ही करनी चाहिये, क्योंकि विष्ठा के कीडों से लेकर इन्द्र तक सब को जीवन की आशा और मृत्यु से भय समान है।

यावन्ति पशुरोमाणि, पशुगात्रेषु भारत ! ।

तावद् वर्षसहस्राणि, पच्यन्ते पशुघातका ॥ ३ ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने हजार वर्ष पशु का घात करने वाले नरकों में जाकर दुःख पाते हैं।

लोके य सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।

स सर्वयज्ञैरीजान प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥४॥

अर्थात् इस जगत में जो मनुष्य समस्त प्राणियों को अभयदान देता है वह सारे यज्ञों का अनुष्ठान कर चुकता है और बदले में उसे अभयत्व प्राप्त होता है।

(४) **वर्षे वर्षे अश्वमेधेन, यो यजेत शतं समा ।**

मांसानि न च खादेत्, यस्तयो पुण्यफलं समम् ॥५३॥ (मनु० अध्या० ५)

अर्थात् वर्ष २ में किये जाने वाले अश्वमेध यज्ञ को जो सौ वर्ष तक करता है, अर्थात् सौ वर्ष में जो लगातार सौ यज्ञ कर डालता है उसका और मांस न खाने वाले का पुण्यफल समान होता है।

(५) प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥१॥ (पुराण)

अर्थात् प्राणियों के नाश से जो धर्म की कामना करता है वह मानों श्यामवर्ण वाले सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है।

(६) एकतः काञ्चनो मेरुः, बहुरत्ना वसुंधरा ।
एकतो भयभीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥१॥

अर्थात्—एक ओर मेरु पर्वत के समान किया गया सोने और महान् रत्नों वाली पृथ्वी का दान रक्खा जाए तथा एक ओर केवल प्राणी की गई रक्षा रक्खी जाए, तो वे दोनों एक समान ही हैं।

(७) तिलभर मछली खाय के, करोड़ गऊ करें दान ।
काशी करवत लै मरे, तो भी नरक निदान ॥ १ ॥
मुसलमान मारे करद से, हिन्दू मारे तलवार ।
कहे कबीर दोनों मिली, जायें यम के द्वार ॥ २ ॥ (कबीरवाणी)

(८) जे रक्त लागे कापडे, जामा होए पलीत ।
जो रक्त पीवें मानुषा, तिन क्यों निर्मल चीत ॥ १ ॥ (सिक्खशास्त्र)

अर्थात् यदि हमारे वस्त्र से रक्त का स्पर्श हो जाए तो वह वस्त्र अपवित्र हो जाता है। किन्तु जो मनुष्य रक्त का ही सेवन करते हैं, उनका चित्त निर्मल कैसे रह सकता है ? अर्थात् कभी नहीं।

इत्यादि अनेकों शास्त्रों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिन में स्पष्टरूप से मांसाहार का निषेध पाया जाता है। अतः सुखाभिलाषी विचारशील पुरुष को मांसाहार जैसे दानवी कुकर्म से सदा दूर रहना चाहिये। अन्यथा परिणाक नामक छागलिक—कसाई के जीव की भांति नरकों में अनेकानेक भीषण यातनायें सहन करने के साथ २ जन्म मरण जन्य दुस्सह दुःखों का उपभोग करना पड़ेगा।

(२) प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित कथासन्दर्भ से हमारी प्रेरणा ब्रह्मचर्य के पालन की मिलती है। ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करना एक अल्पज्ञ व्यक्ति के वश की बात नहीं है। सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित शास्त्र इस की महिमा पुकार २ गा रहे हैं। श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के छठे अध्याय में लिखा है—

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं - अर्थात् तप नाना प्रकार के होते हैं परन्तु सभी तपों में ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तप है। ब्रह्मचर्य की महिमा महान है। मन वचन और काया के द्वारा विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालने से मुक्ति के द्वार सहज मे ही खुल जाते हैं।

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारि नमसंति, दुक्करं जे करेन्ति ते ॥ १६ ॥ (उत्तराध्ययन सूत्र अ० १६)

अर्थात् देवता (वैमानिक और ज्योतिष्क देव), दानव (भवनपतिदेव), गन्धर्व (स्वरविद्या

के जानने वाले देव), **यक्ष** (व्यन्तर जाति के देव), **राक्षस** (मास की इच्छा रखने वाले देव) और **किन्नर** (व्यन्तर देवो की एक जाति) इत्यादि सभी देव उस ब्रह्मचारी के चरणो मे नतमस्तक होते हैं, जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है ।

वास्तव में देखा जाये तो यह प्रवचन अक्षरश सत्य है । इस में अत्युक्ति की गन्ध भी नही है, क्योकि इतिहास इस का समर्थक है । ब्रह्मचर्य के ही प्रभाव मे स्वनामधन्या सतीधुरीणा **जनकसुता सीता** का अग्नि को जल बना देना, **सती सुभद्रा** का कच्चे सूत के धागे से बन्धी हुई छलनी के द्वारा कूप से निकाले हुए पानी मे चम्पा नगरी के दरवाजो का खोलदेना तथा धर्मवीर **सेठ सुदर्शन** का शूली को सिंहासन बना देना, इत्यादि अनेको उदाहरण इतिहास मे उपलब्ध होते हैं।

हु'कार मात्र से पृथ्वी को कपा देने वाले **बाहुबलि** तथा महाभारत के अनुपम वीर **भीष्मपिताह** तथा महामहिम **श्री जम्बू स्वामी** एव मुनिपु गव **श्री स्थूलि भद्र** जी महाराज इत्यादि महापुरुष जमीन फोड़ कर या आसमान फोड़ कर नही पैदा हुए थे। वे भी अन्य पुरुषों की भान्ति अपनी २ माताओं के गर्भ से ही उत्पन्न हुए थे। परन्तु यह उनके ब्रह्मचर्य के तेज का प्रभाव है कि वे इतने महान् बन गये तथा यह भी उनके ब्रह्मचर्य की ही महिमा है कि आज उनका नाम लेने वाला मलिनहृदय व्यक्ति भी अपनी मलिनता दूर होती अनुभव करता है, तथा उनके जीवन को अपने लिये पथप्रदर्शक के रूप में पाता है।

ब्रह्मचर्य मानव जीवन मे मुख्य और सारभूत वस्तु है । यह जीवन को उच्चतम बनाने के अतिरिक्त ससारी आत्मा को कर्मरूप शत्रुओं के चगुल से छुडाने मे एक बलवान् सहायक का काम करता है । अधिक क्या कहे ससार में परिभ्रमण करने वाले जीवात्मा को जन्म मरण के चक्र से छुडा कर मोक्ष—मन्दिर मे पहुचाने तथा सम्पूर्ण दु खों का नाश करके उसे—आत्मा को नितान्त सुखमय बनाने का श्रेय इसी ब्रह्मचर्य को ही है, और इसके विपरीत ब्रह्मचर्य की अवहेलना मे संसारी आत्मा का अधिक से अधिक पतन होता है, तथा सुख के बदले वह दु ख का ही विशेषरूप से सचय करता है । तात्पर्य यह है कि जहा ब्रह्मचर्य सारे सद्गुणों का मूल है वहा उस का विनाश समस्त दुर्गुणों का स्रोत है । ब्रह्मचर्य के विनाश से इस जीव को कितने भयकर कष्ट सहने पडते हैं, ? यह प्रस्तुत अध्ययन—गत शकट कुमार के व्यभिचारपरायण जीवनवृत्तान्तों मे भलीभान्ति ज्ञात हो जाता है।

मानव की हिंसाप्रधान और व्यभिचारपरायणप्रवृत्ति का जो दुष्परिणाम होता है, या होना चाहिये, उसी का दिग्दर्शन कराना ही इस चतुर्थ अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अत विचारशील पाठक इस अध्ययन के कथासदर्भ से—हिंसा से विरत होकर भगवती अहिंसा के आराधन की तथा वासनापोषक प्रवृत्तियों को छोड़ कर सदाचार के सौरभ से मानस को सुरभित करने की शिक्षाएं प्राप्त कर अपने को दयालु अथच सयमी बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न करेंगे, ऐसी भावना करते हुए हम प्रस्तुत अध्ययन के विवेचन से विराम लेते हैं।

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

अथ पञ्चम अध्याय

जिस प्रकार जड़ को सींचने से वृक्ष की सभी शाखा, प्रशाखा और पत्र आदि हरे भरे रहते हैं, ठीक उसी तरह ब्रह्मचर्य के पालन से सभी अन्य व्रत भी आराधित हो जाते हैं अर्थात् इस के आराधन से तप, सयम आदि सभी अनुष्ठान सिद्ध हो जाते हैं । यह सभी व्रतों तथा नियमों का मूल—जड़ है, इस तथ्य के पोषक वचन श्री प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रों मे भगवान् ने अनेकानेक कहे हैं।

जैसे ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करना सरल नहीं है, उसी तरह ब्रह्मचर्य के विपक्षी मैथुन मे होने वाली हानिया भी आसानी से नहीं कही जा सकती हैं। वीर्यनाश करने से शारीरिक, मानसिक एव आत्मिक सभी प्रकार की शक्तियों का ह्रास होता है। बुद्धि मलिन हो जाती है एवं जीवन पतन के गढे मे जा गिरता है, इत्यादि ।

यह अनुभव सिद्ध बात है कि जहा सूर्य की किरणें होंगी वहा प्रकाश अवश्य होगा और जहा प्रकाश का अभाव होगा वहा अन्धकार की अवस्थिति सुनिश्चित होगी । इसी भाति जहा ब्रह्मचर्य का दिवाकर चमकेगा, वहा आध्यात्मिक ज्योति की किरणें जगमगा उठेंगी । इसके विपरीत दुराचार का जहा प्रसार होगा वहा अज्ञानान्धकार का भी सर्वतोमुखी साम्राज्य होगा।

आध्यात्मिक प्रकाश में रमण करने वाला आत्मा कल्याणोन्मुखी प्रगति की ओर प्रयाण करता है, जब कि अज्ञानान्धकार मे रमण करने वाला आत्मा चतुर्गतिरूप ससार मे भटकता रहता है । गत चतुर्थ अध्ययन में शकट कुमार नाम के व्यभिचारपरायण व्यक्ति के जीवन का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उस पर से यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाती है ।

प्रस्तुत पाचवे अध्ययन में भी एक ऐसे ही मैथुनसेवी व्यक्ति के जीवन का परिचय कराया गया है, जो कि शास्त्र और लोक विगर्हित व्यभिचारपूर्ण जीवन बिताने वालों में से एक था। सूत्रकार ने इस कथासदर्भ मे मुमुक्षु—जनों को व्यभिचारमय प्रवृत्ति से सदा पराङ्मुख रहने का व्यतिरेक दृष्टि से पर्याप्त सद्बोध देने का अनुग्रह किया है। इस पाचवे अध्ययन का आदिम सूत्र इस प्रकार है—

मूल—[1]पचमस्स उक्खेवो, एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबी णाम नगरी होत्था, रिद्ध० । बाहिं चंदोत्तरणे उज्जाणे, सेयभद्दे जक्खे । तत्थ णं

(१) छाया—पञ्चमस्योत्क्षेप. । एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये कौशाम्बी नाम नगर्यभवत्, ऋद्ध० । बहिश्चन्द्रावतरणमुद्यानम् । श्वेतभद्रो यक्ष: । तत्र कौशाम्ब्या नगर्यां शतानीको नाम राजाऽभवत्, महा० । मृगावती देवी । तस्य शतानीकस्य पुत्रो मृगावत्या आत्मजः उदयनो नाम कुमारोऽभूदहीन० युवराज । तस्योदयनस्य कुमारस्य पद्मावती नाम देव्यभवत् । तस्य शतानीकस्य सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्, ऋग्वेद० । तस्य सोमदत्तस्य वसुदत्ता नाम भार्याऽभूत् । तस्य सोमदत्तस्य पुत्रो वसुदत्ताया आत्मजो बृहस्पतिदत्तो नाम दारकोऽभूदहीन० ।

कोसंबीए णगरीए सयाणीए णामं राया होत्था, महया० । मियावती देवी । तस्स णं सयाणियस्स, पुत्ते मियावतीए अत्तए उदयणे णामं कुमारे होत्था, अहीण० जुवराया । तस्स णं उदयणस्स कुमारस्स पउमावती णामं देवी होत्था । तस्स णं सयाणियस्स सोमदत्ते नामं पुरोहिए होत्था, रिउव्वेय० । तस्स णं सोमदत्तस्स पुरोहियस्स वसुदत्ता णामं भारिया होत्था । तस्स णं सोमदत्तस्स पुत्ते वसुदत्ताए अत्तए वहस्सइदत्ते नामं दारए होत्था, अहीण० ।

पदार्थ—पचमस्स—पचम अध्ययन का । **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भान्ति जान लेना चाहिए । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय हो । **जम्बू !**—हे जम्बू ! । **तेणं कालेणं**—उस काल में, तथा । **तेणं समएणं**—उस समय में । **कोसंबी**—कौशाम्बी । **णाम**—नाम की । **णगरी**—नगरी । **होत्था**—थी । **रिद्ध०**—जो कि ऋद्ध—विशाल भवनादि के आधिक्य से युक्त थी, स्तिमित—आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों के भय से रहित तथा समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण थी । **बाहिं**—नगरी के बाहिर । **चन्दोत्तरणे**—चन्द्रावतरण नामक । **उज्जाणे**—उद्यान था । **सेयभद्दे**—श्वेतभद्र नामक । **जक्खे**—यक्ष था । **तत्थ णं**—उस । **कोसंबीए**—कौशाम्बी । **णयरीए**—नगरी में । **सयाणीए**—शतानीक । **णामं**—नामक । **राया**—राजा । **होत्था**—था । **महया०**—जो कि महान् हिमालय आदि पर्वतो के समान महान् था । **मियावती**—मृगावती । **देवी**—देवी-राणी थी । **तस्स णं**—उस । **सयाणियस्स**—शतानीक का । **पुत्ते**—पुत्र । **मियावतीए**—मृगावती का । **अत्तए**—आत्मज । **उदयणे**—उदयन । **णामं**—नामक । **कुमारे**—कुमार । **होत्था**—था, जो कि । **अहीण०**—अन्यून एव निर्दोष पञ्चेन्द्रिय शरीर वाला तथा । **जुवराया**—युवराज था । **तस्स णं**—उस । **उदयणस्स**—उदयन । **कुमारस्स**—कुमार की । **पउमावती**—पद्मावती । **णामं**—नाम की । **देवी**—देवी । **होत्था**—थी । **तस्स णं**—उस । **सयाणियस्स**—शतानीक का । **सोमदत्ते**—सोमदत्त । **णामं**—नामक । **पुरोहिए**—पुरोहित । **होत्था**—था, जो कि । **रिउव्वेय०**—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञाता था । **तस्स णं**—उस । **सोमदत्तस्स**—सोमदत्त। **पुरोहियस्स**—पुरोहित की । **वसुदत्ता**—वसुदत्ता । **णामं**—नाम की । **भारिया**—भार्या । **होत्था**—थी । **तस्स णं**—उस । **सोमदत्तस्स**—सोमदत्त का । **पुत्ते**—पुत्र । **वसुदत्ताए**—वसुदत्ता का । **अत्तए**—आत्मज । **वहस्सइदत्ते**—बृहस्पतिदत्त । **णामं**—नामक । **दारए**—बालक । **होत्था**—था जो कि । **अहीण०**—अन्यून एव निर्दोष पञ्चेन्द्रिय शरीर वाला था ।

मूलार्थ—पचम अध्ययन के उत्क्षेप—प्रस्तावना की भावना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये। हे जम्बू ! इस प्रकार निश्चय ही उस काल तथा उस समय कौशाम्बी नाम की ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों के भय से शून्य, और समृद्धि से परिपूर्ण नगरी थी । उसके बाहिर चन्द्रावतरण नाम का उद्यान था, उसमें श्वेतभद्र नामक यक्ष का स्थान था । उस कौशाम्बी नगरी मे शतानीक नामक एक हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् प्रतापी राजा राज्य किया करता था । उस को मृगावती नाम की देवी—राणी थी। उस शतानीक का पुत्र और मृगावती का आत्मज उदयन नाम का एक कुमार था जो कि सर्वेन्द्रियसम्पन्न अथच युवराज पद से अलकृत था । उस उदयन कुमार की पद्मावती नाम

की एक देवी थी।

उस शतानीक का सोमदत्त नाम का एक पुरोहित था जोकि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का पूर्ण ज्ञाता था। उस सोमदत्त पुरोहित की वसुदत्ता नाम की भार्या थी। तथा सोमदत्त का पुत्र और वसुदत्ता का आत्मज बृहस्पति दत्त नाम का एक सर्वांगसम्पन्न और रूपवान् बालक था।

टीका—विपाकश्रुत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन की समाप्ति के अनन्तर अब पाचवें अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इस का उत्क्षेप अर्थात् प्रस्तावना का अनुसन्धान इस प्रकार है—

श्री जम्बू स्वामी ने अपने गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी की पुनीत सेवा में उपस्थित हो कर कहा कि भगवन्! श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी ने निस्सदेह ससार पर महान् उपकार किया है। उन की समभावभावितात्मा ने व्यवहारगत ऊच नीच के भेदभाव को मिटा कर सर्वत्र आत्मगत समानता की ओर दृष्टिपात करने का जो आचरणीय एव आदरणीय आदर्श ससार के सामने उपस्थित किया है वह उन की मानवससार को अपूर्व देन है। प्रतिकूल भावना रखने वाले जनमान्य व्यक्तियों को अपने विशिष्ट ज्ञान और तपोबल से अनुकूल बना कर उनके द्वारा धार्मिक प्रदेश में जो समुचित प्रगति उत्पन्न की है वह उन्हीं को आभारी है, एव परस्पर विरोधी साम्प्रदायिक विचारों को समन्वित करने के लिए जिस सर्वनयगामिनी प्रामाणिक दृष्टि—अनेकान्त दृष्टि का अनुसरण करने को विज्ञ जनता से अनुरोध करते हुए उस की भ्रान्त धारणाओं में समुचित शोधन कराने का सर्वतोभावी श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है।

भगवन्! आप को तो उनके पुनीत दर्शन तथा मधुर वचनामृत के पान करने का सौभाग्य चिरकाल तक प्राप्त होता रहा है। इसके अतिरिक्त उन की पुण्य सेवा में रह कर उनके परम पावन चरणों की धूलि से मस्तक को स्पर्शित करके उसे यथार्थरूप में उत्तमाग बनाने का सद्भाग्य भी आप को प्राप्त है। इस लिये आप कृपा करें और बतलायें कि उन्होंने विपाक—श्रुत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाचवें अध्ययन का क्या अर्थ वर्णन किया है? क्योंकि उसके चतुर्थ अध्ययनगत अर्थ को तो मैंने आप श्री से श्रवण कर लिया है। अब मुझे आप से पाचवें अध्ययन के अर्थ को सुनने की इच्छा हो रही है।

श्री जम्बू स्वामी ने अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिये श्री सुधर्मा स्वामी से जो विनम्र निवेदन किया था, उसी को सूत्रकार ने **उक्खेवो**—उत्क्षेप—पद से अभिव्यक्त किया है। उत्क्षेप पद का अर्थ है—प्रस्तावना। प्रस्तावना रूप सूत्रपाठ निम्नोक्त है—

जति णं भन्ते! समणेणं भगवया जाव संपत्तेण दुहविवागाणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, पचमस्स णं भन्ते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?" इन पदों का अर्थ ऊपर की पक्तियों में लिखा जा चुका है।

जम्बू स्वामी की सानुरोध प्रार्थना पर श्री सुधर्मा स्वामी ने श्री वीरभाषित पचम अध्ययन का अर्थ सुनाना आरम्भ किया जिस का वर्णन ऊपर मूलार्थ में किया जा चुका है, जो कि अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता।

—रिद्ध०—यहां के बिन्दु से संसूचित पाठ तथा —महया०— यहां के बिन्दु से अभिमत

पाठ भी १३८ पृष्ठ पर सूचित कर दिया गया है। तथा —अहीण० जुवराया—यहा बिन्दु से अपेक्षित—अहीण—पडिपुण्ण—पंचिंदिय—सरीरे—से ले कर—सुरूवे—यहा तक का पाठ पृष्ठ १२० पर लिखा जा चुका है। पाठक वहीं पर देख सकते हैं।

—रिउव्वेय०—यहा के बिन्दु से—जजुव्वेय—सामवेय—अथव्वणवेय—कुसले—इस पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। अर्थात् सोमदत्त पुरोहित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेद का ज्ञाता था।

अब सूत्रकार कोशाम्बी नगरी के बाहिर चन्द्रावतरण उद्यान मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने आदि का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

मूल— [1]**तेणं कालेणं २ समणे भगव महावीरे समोसरिए। तेणं कालेणं २ भगवं गोतमे तहेव जाव रायमग्गं ओगाढे। तहेव पासति हत्थी, आसे, पुरिसे मज्झे पुरिस। चिता। तहेव पुच्छति। पुव्वभव भगवं वागरेति।**

पदार्थ—तेणं कालेणं २—उस काल में तथा उस समय मे। **समणे**—श्रमण। **भगवं**—भगवान्। **महावीरे**—महावीर स्वामी। **समोसरिए**—पधारे। **तेणं कालेणं २**—उस काल और उस समय। **भगवं**—भगवान्। **गोतमे**—गौतम। **तहेव**—तथैव—उसी भान्ति। **जाव**—यावत्। **रायमग्गं**—राजमार्ग में। **ओगाढे**—पधारे। **तहेव**—तथैव—उसी तरह। **हत्थी**—हाथियों को। **आसे**—घोडों को। **पुरिसे**—पुरुषों को, तथा उन पुरुषों के। **मज्झे**—मध्य में। **पुरिसं**—एक पुरुष को। **पासति**—देखते हैं। **चिन्ता**—तद्दशासम्बन्धी चिन्तन करते हैं। **तहेव**—तथैव—उसी प्रकार। **पुच्छति**—पूछते हैं। **भगवं**—भगवान्। **पुव्वभवं**—पूर्वभव का। **वागरेति**—वर्णन करते हैं।

मूलार्थ—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कौशाम्बी नगरी के बाहिर चन्द्रावतरण नामक उद्यान मे पधारे। उस समय भगवान् गौतम स्वामी पूर्ववत् कौशाम्बी नगरी मे भिक्षार्थ गये और राजमार्ग मे पधारे। वहा हाथियों, घोडो और पुरुषों को तथा उन पुरुषों के मध्य मे एक वध्य पुरुष को देखते है, उसको देख कर मन मे चिन्तन करते है और वापिस आकर भगवान् से उसके पूर्वभव के सम्बन्ध मे पूछते हैं। तब भगवान् उसके पूर्वभव का इस प्रकार वर्णन करने लगे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उद्यान मे पधारने पर उनके पुण्य दर्शन के लिये नगर की भावुक जनता और शतानीक नरेश आदि का आगमन, तथा वीर प्रभु का उनको धर्मोपदेश देना, एव गौतम स्वामी का भगवान् से आज्ञा लेकर कौशाम्बी नगरी म भिक्षार्थ पधारना और वहा राजमार्ग मे शृंगारित हाथियो, सुसज्जित घोड़ों तथा शस्त्रसन्नद्ध सैनिकों और उनके मध्य मे अवकोटकबन्धन से बन्धे हुए एक अपराधी पुरुष को देखना तथा उसे देख कर मन मे उस की दशा का चिन्तन करना, और भिक्षा लेकर वापिस आने पर भगवान् से उक्त

---

(१) छाया—तस्मिन् काले २ श्रमणो भगवान् महावीर समवसृत। तस्मिन् काले २ भगवान् गोतम, तथैव यावद् राजमार्गमवगाढ। तथैव पश्यति हस्तिन, अश्वान्, पुरुषान्, मध्ये पुरुषम। चिन्ता। तथैव पृच्छति। पूर्वभव भगवान् व्याकरोति।

घटना और उसमे उत्पन्न होने वाले अपने मानसिक संकल्प का निवेदन करना, एवं निवेदन करने के बाद उक्त पुरुष के पूर्व भव को जानने की इच्छा का प्रकट करना, आदि सम्पूर्ण वर्णन पूर्व अध्ययनों में दिये गये वर्णन के समान ही जान लेना चाहिये । साराश यह है कि पूर्व के अध्ययनों में यह सम्पूर्ण वर्णन विस्तार-पूर्वक आ चुका है। उसी के स्मरण कराने के लिये यहां पर -तहेव- इस पद का उल्लेख कर दिया गया है। जिस से प्रतिपाद्य विषय की अवगति भी हो जाय और विस्तार भी रुक जाय, एवं पिष्टपेषण भी न होने पावे ।

—तहेव जाव रायमग्गं - यहां के जाव यावत् पद से विवक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ २०७ पर कर दी गई है। परन्तु इतना ध्यान रहे कि वहां पुरिमताल नगर का नामोल्लेख है, जब कि यहां कोशाम्बी नगरी का। शेष वर्णन सम ही है।

मूल में पढ़े गए चिन्ता शब्द से "—तते णं से भगवओ गोतमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिए ५ समुप्पज्जित्था, अहो णं इमे पुरिसे जाव निरयपडिरूवियं वेयणं वेदेति—इन पदों का परिचायक है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १३२ पर लिखा जा चुका है । तथा तहेव—पद से जो विवक्षित है उस का उल्लेख पृष्ठ १३३ पर किया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां वाणिजग्राम नगर का उल्लेख है जब कि यहां कोशाम्बी नगरी का। तथा वहां श्री गौतम स्वामी ने वाणिजग्राम के राजमार्ग पर देखे दृश्य का वर्णन भगवान् को सुनाया था जब कि यहां कोशाम्बी नगरी के राजमार्ग पर देखे हुए दृश्य का। शेष वर्णन समान ही है।

अब सूत्रकार गौतमस्वामी द्वारा कोशाम्बी नगरी के राजमार्ग पर देखे गये एक वध्य व्यक्ति के पूर्वभवसम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया उसका वर्णन करते हैं —

मूल—[1]एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं २ इहेव जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे सव्वओभद्दे णामं णगरे होत्था, रिद्ध० । तत्थ णं सव्वओभद्दे णगरे जितसत्तू णामं राया होत्था । तस्स णं जितसत्तुस्स रण्णो महेसरदत्ते नामं पुरोहिए होत्था । रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-अथव्वणवेय—कुसले यावि होत्था । तते णं से महेसरदत्ते पुरोहिते जितसत्तुस्स रण्णो रज्जबलविवद्धणट्ठाए कल्लाकल्लिं एगमेगं माहणदारगं एगमेगं खत्तियदारगं

(१) छाया—एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले २ इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे सर्वतो—भद्रं नाम नगरमभवत्, ऋद्ध० । तत्र सर्वतोभद्रे नगरे जितशत्रुर्नाम राजाऽभूत् । तस्य जितशत्रोः राज्ञः महेश्वरदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् ऋग्वेद—यजुर्वेद—सामवेद—अथर्ववेदकुशलश्चाप्यभवत् । ततः स महेश्वरदत्तः पुरोहितः जितशत्रोः राज्ञः राज्यबलविवर्धनाय कल्याकल्यि एकैकं ब्राह्मणदारकम्, एकैकं क्षत्रिय—दारकम्, एकैकं वैश्यदारकम्, एकैकं शूद्रदारकं ग्राहयति २ तेषां जीवतामेव हृदयमांसपिण्डान् ग्राहयति २ जितशत्रोः राज्ञः शान्तिहोमं करोति । ततः स महेश्वरदत्तः पुरोहितः अष्टमीचतुर्दशीषु द्वौ २ ब्राह्मण—क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रदारकौ, चतुर्षु मासेषु चतुरः २, षट्सु मासेषु अष्ट २, संवत्सरे षोडश २ । यदा कदापि च जितशत्रुः राजा परबलेनापि युज्यते तदा तदापि च स महेश्वरदत्तः पुरोहितः अष्ट शतं ब्राह्मणदारकाणाम्, अष्टशतं क्षत्रियदारकाणाम्, अष्टशतं वैश्यदारकाणाम्, अष्टशतं शूद्रदारकाणाम् पुरुषैर्ग्राहयति २ तेषां जीवितामेव हृदयमांसपिण्डान् ग्राहयति २ जितशत्रोः राज्ञः शान्तिहोमं करोति। ततः स परबलं क्षिप्रमेव विध्वंसयति वा प्रतिषेधयति वा ।

एगमेगं वइस्सदारगं एगमेगं सुद्दारगं गेएहावेति २ तेसिं जीवंतगाणं चेव हिययउंडए गेएहावेति २ जितसत्तुस्स रएणो संतिहोमं करेति, तते णं से महेसरदत्ते पुरोहिते अट्ठमीचउद्दसीसु दुवे २ माहण-खत्तिय-वेस्स-सुद्द—दारगे, चउएहं मासाणं चत्तारि २, छएह मासाणं अट्ठ २, संवच्छरस्स सोलस २। जाहे वि य णं जितसत्तू राया परबलेणं अभिजुज्झति ताहे ताहे वि य णं से महेसरदत्ते पुरोहिए अट्ठसयं माहणदारगाणं, अट्ठसयं खत्तियदारगाणं, अट्ठसयं वइस्सदारगाणं, अट्ठसयं सुद्दारगाणं पुरिसेहि गिएहावेति २ तेहिं जावंतगाणं चेव हिययउंडए गेएहावेति २ जितसत्तुस्स रएणो संतिहोमं करेति, तते णं से परबल खिप्पामेव विद्धंसेति वा पडिसेहिज्जति वा।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। गोतमा!—हे गौतम!। तेणं कालेणं—उस काल और उस समय। इहेव—इसी। जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत। भारहे वासे—भारत वर्ष में। सव्वओभद्दे—सर्वतोभद्र। णाम—नामक। णगरे—नगर। होत्था—था। रिद्ध०[1]—जो ऋद्ध—भवनादि की बहुलता से युक्त, स्तिमित—आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों के भय से रहित तथा समृद्ध—धन धान्यादि की समृद्धि से परिपूर्ण था। तत्थ णं—उस। सव्वओभद्दे—सर्वतोभद्र। णगरे—नगर में। जितसत्तू—जितशत्रु। णाम—नामक। राया—राजा। होत्था—था। तस्स णं—उस। जितसत्तुस्स—जितशत्रु। रएणो—राजा का। महेसरदत्ते—महेश्वरदत्त। णामं—नामक। पुरोहिए—पुरोहित। होत्था—था, जो कि। रिउव्वेद-जजुव्वेय-साम-वेय—अथव्वणवेय—कुसले यावि—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेद में भी कुशल। होत्था—था। तते णं—तदनन्तर। से—वह। महेसरदत्ते—महेश्वरदत्त। पुरोहिते—पुरोहित। जितसत्तुस्स—जितशत्रु। रएणो—राजा के। रज्ज—राज्य तथा। बल—बल—शक्ति। विवद्धणट्ठाए—विवर्द्धन के लिये। कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन। एगमेगं—एक २। माहणदारगं—ब्राह्मण बालक। एगमेगं—एक २। खत्तियदारगं—क्षत्रिय बालक। एगमेगं—एक २। वइस्सदारगं—वैश्य बालक। एगमेगं—एक २। सुद्दारगं—शूद्र बालक को। गेएहावेति—पकड़वा लेता है। २त्ता—पकड़वा कर। तेसिं—उन का। जीवंतगाणं चेव—जीते हुओं का ही। हिययउंडए—हृदयों के मांसपिंडों को। गेएहावेति २—ग्रहण करवाता है, ग्रहण करवा के। जितसत्तुस्स—जितशत्रु। रएणो—राजा के निमित्त। संतिहोम—शांतिहोम। करेति—करता है। तते णं—तदनन्तर। से वह। महेसरदत्ते—महेश्वरदत्त। पुरोहिते—पुरोहित। अट्ठमीचउद्दसीसु—अष्टमी और चतुर्दशी को। दुवे २—दो दो। माहण—ब्राह्मण। खत्तिय—क्षत्रिय। वेस्स—वैश्य, तथा। सुद्ददारगे—शूद्र बालकों को। चउएह मासाणं—चार मास में। चत्तारि २—चार २। छएहं मासाणं—छः मास में। अट्ठ २—आठ २। संवच्छरस्स—वर्ष में। सोलस २—सोलह २। जाहे जाहे वि य णं—और जब २ भी। जितसत्तू राया—जितशत्रु राजा। परबलेणं—परबल—शत्रुसेना के साथ। अभिजुज्झति—युद्ध करता था। ताहे ताहे वि य णं—तब तब ही। से—वह। महेसरदत्ते—महेश्वरदत्त।

(१) रिद्ध०—यहां के बिन्दु से ससूचित पाठ की सूचना पृष्ठ १२८ पर दी जा चुकी है।

पुरोहिते—पुरोहित । **अट्ठसयं**—१०८ । **माहणदारगाणं**—ब्राह्मण बालकों । **अट्ठसयं**—१०८ । **खत्तियदारगाणं**—क्षत्रिय बालको । **अट्ठसयं**—१०८ । **वइस्सदारगाणं**—वैश्य बालको तथा । **अट्ठसयं**—१०८ । **सुद्ददारगाण**—शूद्र बालकों को । **पुरिसेहिं**—पुरुषों के द्वारा । **गेण्हावेति २** — पकड़वा लेता है, पकड़वा कर । **जीवंतगाणं चेव**—जीते हुए । **तेसिं**—उन बालकों के । **हिययउंडए**—हृदयसम्बन्धी मासपिंडों का । **गेण्हावेनि २**—ग्रहण करवाता है, ग्रहण करवा के । **जितसत्तुस्स**—जितशत्रु । **रएणो**—राजा के लिये । **संतिहोमं**—शांतिहोम । **करेति**—करता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह—जितशत्रु नरेश । **परबलं**—परबल—शत्रुसेना का । **खिप्पामेव**—शीघ्र ही । **विद्धंसेति**—विध्वंस कर देता था । **वा**—अथवा । **पडिसेहिज्जति वा**—शत्रु का प्रतिषेध कर देता था, अर्थात् उसे भगा देता था ।

मूलार्थ—इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम ! उस काल तथा उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष मे सर्वतोभद्र नाम का एक भवनादि के आधिक्य से युक्त, आन्तरिक और वाह्य उपद्रवों से रहित तथा धन धान्यादि से परिपूर्ण नगर था । उस सर्वतोभद्र नामक नगर मे जितशत्रु नाम का एक महा प्रतापी राजा राज्य किया करता था । उस जितशत्रु राजा का महेश्वरदत्त नाम का एक पुरोहित था जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों का पूर्ण ज्ञाता था ।

महेश्वरदत्त पुरोहित जितशत्रु राजा के राज्य और बल की वृद्धि के लिये प्रतिदिन एक २ ब्राह्मण बालक, एक एक क्षत्रिय बालक, एक २ वैश्य बालक और एक एक शूद्र बालक को पकड़वा लेता था, पकड़वा कर जीते जी उन के हृदयों के मासपिंडों को ग्रहण करवाता था, ग्रहण करवा कर जितशत्रु राजा के निमित्त उन से शान्तिहोम किया करता था ।

तदनन्तर वह पुरोहित अष्टमी और चतुर्दशी मे दो दो बालकों, चार मास मे चार २ बालकों, छः मास में आठ २ बालकों और संवत्सर मे सोलह २ बालकों के हृदयों के मासपिंडों से शान्तिहोम किया करता । तथा जब २ जितशत्रु नरेश का किसी अन्य शत्रु के साथ युद्ध होता तब २ वह—महेश्वरदत्त पुरोहित १०८ ब्राह्मण बालकों, १०८ क्षत्रिय बालकों, १०८ वैश्य बालकों और १०८ शूद्र बालकों को अपने पुरुषों के द्वारा पकड़वा कर उन के जीते जी हृदयगत मास—पिंडों को निकलवा कर जितशत्रु नरेश के निमित्त शान्तिहोम करता । उस के प्रभाव से जितशत्रु नरेश शीघ्र ही शत्रु का विध्वंस कर देता या उसे भगा देता ।

टीका—जिज्ञासा की पूर्ति हो जाने पर जिज्ञासु शान्त अथच निश्चिन्त हो जाता है । उस की जिज्ञासा जब तक पूरी न हो ले तब तक उसकी मनोवृत्तियें अशान्त और निर्णय की उधेड़बुन में लगी रहती हैं । भगवान् गौतम के हृदय की भी यही दशा थी । राजमार्ग में अवलोकित वध्य पुरुष की नितान्त शोचनीय दशा की विचार—परम्परा ने उन के हृदय में एक हलचल सी उत्पन्न कर रक्खी थी । वे उक्त पुरुष के पूर्वभव—सम्बन्धी वृत्तान्त को जानने के लिये बड़े उत्सुक हो रहे थे, इसी लिये उन्हों ने भगवान् से सानुरोध प्रार्थना की, जिस का कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है ।

तदनन्तर गौतम स्वामी की उक्त अभ्यर्थना की स्वीकृति मिलने मे अधिक विलम्ब नहीं हुआ । परम दयालु श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने परमविनीत शिष्य श्री गौतम अनगार की जि-

ज्ञासापूर्ति के निमित्त उक्त वध्य पुरुष के पूर्व भव का वर्णन इस प्रकार आरम्भ किया। भगवान् बोले—

गौतम! इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में सर्वतोभद्र नाम का एक समृद्धिशाली सुप्रसिद्ध नगर था। उस में जितशत्रु नाम का एक महा प्रतापी राजा राज्य किया करता था। उस का महेश्वरदत्त नाम का एक पुरोहित था जोकि शास्त्रों का विशेष पण्डित था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का विशेष ज्ञाता माना जाता था। महाराज जितशत्रु की महेश्वरदत्त पर बड़ी कृपा थी। राजपुरोहित महेश्वर दत्त भी महाराज जितशत्रु के राज्य-विस्तार और बलवृद्धि के लिये उचितानुचित सब कुछ करने को सन्नद्ध रहता था। इस सम्बन्ध में वह धर्माधर्म या पुण्यपाप का कुछ भी ध्यान नहीं किया करता था।

संसार में स्वार्थ एक ऐसी वस्तु है कि जिस की पूर्ति का इच्छुक मानव प्राणी गर्हित से गर्हित आचरण करने से भी कभी संकोच नहीं करता। स्वार्थी मानव के हृदय में दूसरों के हित की अणुमात्र-जरा भी चिन्ता नहीं होती; अपना स्वार्थ साधना ही उस के जीवन का महान् लक्ष्य होता है। अधिक क्या कहें, संसार में सब प्रकार के अनर्थों का मूल ही स्वार्थ है। स्वार्थ के वशीभूत होता हुआ मानव व्यक्ति कहां तक अनर्थ करने पर उतारु हो जाता है?, इस के लिये महेश्वर दत्त पुरोहित का एक ही उदाहरण पर्याप्त है। उस के हाथ से कितने अनाथ, सनाथ बालकों का प्रति—दिन विनाश होता? और जितशत्रु नरेश के राज्य और बल को स्थिर रखने तथा प्रभावशाली बनाने के निमित्त वे कितने बालकों की हत्या करता? एवं जीते जी उन के हृदयगत मांसपिंडों को निकलवा कर अग्निकुण्ड में होमता हुआ कितनी अधिक क्रूरता का परिचय देता है? यह प्रस्तुत सूत्र में उल्लेख किये गये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के बालकों के वृत्तान्त से भली भान्ति जाना जा सकता है। इस के अतिरिक्त जो व्यक्ति बालकों का जीते जी कलेजा निकाल कर उसे अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिये उपयोग में लाता है, वह मानव है या राक्षस? इस का निर्णय विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं।

सूत्रगत वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय मानव प्राणी का जीवन तुच्छ पशु के जीवन जितना भी मूल्य नहीं रखता था और सब से अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि इस प्रकार की पापपूर्ण प्रवृत्ति का विधायक एक वेदज्ञ ब्राह्मण था।

चारों वर्णों में से प्रतिदिन एक २ बालक की, अष्टमी, और चतुर्दशी में दो दो, चतुर्थ मास में चार २ तथा छठे मास में आठ २ और सम्वत्सर में सोलह २ बालकों की बलि देने वाला पुरोहित महेश्वरदत्त मानव था या दानव इस का निर्णय भी पाठक स्वयं ही करें।

उस की यह नितान्त भयावह शिशुघातक प्रवृत्ति इतनी संख्या पर समाप्त नहीं हो जाती थी किन्तु जिस समय अजातशत्रु नरेश को किसी अन्य शत्रु के साथ युद्ध करने का अवसर प्राप्त होता तो उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रत्येक वर्ण के १०८ बालकों के हृदयगत मांसपिंडों को निकलवा कर उन के द्वारा शान्तिहोम किया जाता।

इस के अतिरिक्त सूत्रगत वर्णन को देखते हुए तो यह मानना पड़ेगा कि ऐहिक स्वार्थ के चंगुल में फंसा हुआ मानव प्राणी भयंकर से भयंकर अपराध करने में भी नहीं झिझकता। फिर भविष्य में उस का चाहे कितना भी अनिष्टोत्पादक परिणाम क्यों न हो? तात्पर्य यह है कि नीच स्वार्थ से जो कुछ भी अनिष्ट बन पड़े, वह कम है।

महेश्वरदत्त के इस हिंसाप्रधान होम—यज्ञ के अनुष्ठान में जितशत्रु नरेश को अपने शत्रुओं पर सर्वत्र विजय प्राप्त होती और उस के सन्मुख कोई शत्रु खड़ा न रह पाता था। या तो वहीं पर नष्ट हो जाता या परास्त हो कर भाग जाता। इसी कारण महेश्वरदत्त पुरोहित जितशत्रु नरेश का सर्वाधिक सन्मानभाजन बना हुआ था, और राज्य में उस का काफी प्रभाव था।

यहां पर सम्भवतः पाठकों के मन में यह सन्देह अवश्य उत्पन्न होगा कि जब शास्त्रों में जीववध का परिणाम अत्यन्त कटु वर्णित किया गया है, और सामान्य जीव की हिंसा भी इस जीव को दुर्गति का भाजन बना देती है तो उक्त प्रकार की घोर हिंसा के आचरण में कार्य—साधकता कैसे ? फिर वह हिंसा भी शिशुओं की एवं शिशु भी चारों वर्णों के ? तात्पर्य यह है कि जिस आचरण में यह मानव प्राणी परभव में दुर्गति का भाजन बनता है। उस के अनुष्ठान से ऐहिक सफलता मिले अर्थात् अभीष्ट कार्य की सिद्धि सम्पन्न हो यह एक विचित्र समस्या है ? जिस के असमाहित रहने पर मानव हृदय का सन्देह की दलदल में फंस जाना अस्वाभाविक नहीं है।

यद्यपि सामान्य दृष्टि से इस विषय का अवलोकन करने वाले पाठकों के हृदय में उक्त प्रकार के सन्देह का उत्पन्न होना सम्भव हो सकता है, परन्तु यदि कुछ गम्भीरता से इस विषय की ओर ध्यान दिया जाय तो उक्त सन्देह को यहां पर किसी प्रकार का भी अवकाश नहीं रहता।

हिंसक या सावद्य प्रवृत्ति से किसी ऐहिक कार्य का सिद्ध हो जाना कुछ और बात है तथा हिंसाप्रधान अनुष्ठान का कटु परिणाम होना, यह दूसरी बात है। हिंसा—प्रधान अनुष्ठान से मानव को अपने अभीष्ट कार्य में सफलता मिल जाने पर भी हिंसा करते समय उस ने जिस पाप कर्म का बन्ध किया है उस के विपाकोदय में मानव को उस के कटु फल का अनुभव करना ही पड़ेगा। उस से उस का छुटकारा बिना भोगे नहीं हो सकता।

आयुर्वेदीय प्रामाणिक ग्रन्थों में राजयक्ष्मा आदि तपेदिक कतिपय रोगों की निवृत्ति के लिये कपोत प्रभृति कितनेक जांगल जीवों के मांस का विधान किया गया है। तथा वहां—उक्त जीवों के मांसरस के प्रयोग करने से रोगी का रोग दूर हो जाता है—ऐसा भी लिखा है। परन्तु रोगमुक्त हो जाने पर भी उन जीवों की हिंसा करने से उस समय रोगी पुरुष ने जिस प्रकार के पाप कर्म का बन्ध किया है, उस का फल भी उसे इस भव या परभव में अवश्य भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार महेश्वरदत्त के इस हिंसाप्रधान पापानुष्ठान से जितशत्रु को समरांगण में विजयलाभ हो जाने पर भी उस भयानक हिंसाचरण का जो कटुतम फल है, वह भी उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। इसलिये कार्यसाधक होने पर भी हिंसा, हिंसा ही रहती है और उस के विधायक को वह नरकद्वार का अतिथि बनाये बिना कभी नहीं छोड़ती। जिस का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत अग्रिम सूत्र में महेश्वरदत्त का मृत्यु के अनन्तर पांचवीं नरक में जाना वर्णित है।

दूसरे शब्दों में कहें तो साधक की हिंसा मूलक प्रवृत्ति जहां उस के ऐहिक स्वार्थ को सिद्ध करती है वहां उस का अधिक से अनिष्ट भी सम्पादन करती है। हिंसाजन्य वह कार्यसिद्धि उसी व्यवसाय के समान है कि जिस में लाभ एक रुपये का और हानि १०० रुपये की होती है। कोई भी बुद्धिमान व्यापारी ऐसा व्यवसाय करने के तैयार नहीं हो सकता, जिस में लाभ की अपेक्षा नुकसान सौ गुना अधिक हो। तथापि यदि कोई ऐसा व्यवसाय करता है वह या तो नितान्त मूर्ख और जड़ है, या वह उक्त व्यवसाय से प्राप्त होने वाली हानि से सर्वथा अज्ञात है। सांसारिक

विषय—वासना के विकट जाल मे उलझे हुए ससारी जीव अपने नीच स्वार्थ मे अन्धे हुए २ यह नहीं समझते कि जो काम हम कर रहे हैं, इस का हमारी आत्मा के ऊपर क्या प्रभाव होगा ? अगर उन्हें अपनी कार्य—प्रवृत्ति मे इस बात का भान हो जाए तो वे कभी भी उस मे प्रवृत्त होने का साहस न करें। विष के अनिष्ट परिणाम का जिसे सम्यग ज्ञान है, वह कभी उसे भक्षण करने का साहस नहीं करता, यदि कोई करता भी है तो वह कोई मूर्खशिरोमणि ही हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे—**सन्तिहोमं—शान्तिहोमम्**—इस पद का प्रयोग किया गया है। शान्ति के लिये किया गया होम शान्तिहोम कहलाता है। होम का अर्थ है—किसी देवता के निमित्त मन्त्र पढ कर घी, जौ, तिल आदि को अग्नि मे डालने का कार्य।

प्रस्तुत कथा—सदर्भ में लिखा है कि महेश्वरदत्त पुरोहित शान्ति—होम मे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के अनेकानेक बालकों के हृदयगत मास—पिंडों की आहुति डाला करता था, जो उस के उद्देश्य को सफल बनाने का कारण बनती थी। यहा यह प्रश्न होता है कि शान्तिहोम जैसे हिंसक और अधर्मपूर्ण अनुष्ठान से कार्यसिद्धि कैसे हो जाती थी, अर्थात् हिंसापूर्ण होम का और जितशत्रु नरेश के राज्य और बल की वृद्धि तथा युद्धगत विजय का परस्पर में क्या सम्बन्ध रहा हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर निम्नोक्त है—

शास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है कि कार्य की सिद्धि में जहा अन्य अनेकों कारण उपस्थित होते हैं, वहा देवता भी कारण बन सकता है। देव दो तरह के होते हैं—एक मिथ्या-दृष्टि और दूसरे सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि देव सत्य के विश्वासी और अहिंसा, सत्य आदि अनुष्ठानों में धर्म मानने वाले जब कि मिथ्यादृष्टि देव सत्य पर विश्वास न रखने वाले तथा अधर्मपूर्ण विचारों वाले होते है। मिथ्यादृष्टि देवों में भी कुछ ऐसे वाणव्यन्तर आदि देव पाए जाते हैं जो अत्यधिक हिंसाप्रिय होते हैं और मास आदि की बलि से प्रसन्न रहते हैं। ऐसे देवों के उद्देश्य से जो पशुओं या मनुष्यों की बलि दी जाती है, उस से वे प्रसन्न होते हुए कभी कभी होम करने वाले व्यक्ति की अभीष्ट सिद्धि मे कारण भी बन जाते हैं। फिर भले ही उन देवों की कारणता तथा तज्जन्य कार्यता भीषण दुर्गति को प्राप्त कराने का हेतु ही क्यों न बनती हो।

महेश्वरदत्त पुरोहित भी इसी प्रकार के हिंसाप्रिय एव मासप्रिय देवताओं का जितशत्रु नरेश के राज्य और बल की वृद्धि के लिये आराधन किया करता था और उन की प्रसन्नता के लिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारों वर्णों के अनेकानेक बालकों के हृदयगत मासपिंडों की बलि दिया करता था। यह ठीक है कि उस होम द्वारा देवप्रभाव से वह अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त कर लेता था, परन्तु उसको यह सावद्यप्रवृत्तिजन्य भौतिक सफलता उस के जीवन के पतन का कारण बनी और उसी के फल—स्वरूप उसे पाचवी नरक में १७ सागरोपम जैसे बड़े लम्बे काल के लिये भीषणातिभीषण नारकीय यातनायें भोगने के लिये जाना पडा।

मर्त्यलोक में भी शासन के आसन पर विराजमान रहने वाले मानव के रूप में ऐसे अनेकानेक दानव अवस्थित हैं, जो मास और शराब की बलि (रिश्वत) से प्रसन्न होते हैं, और हिंसापूर्ण प्रवृत्तियों में अधिकाधिक प्रसन्न रहते हैं। ऐसे दानव भी प्राय मास आदि की बलि लेने पर ही किसी के स्वार्थ को साधते हैं। जब मनुष्यससार में ऐसी घृणित एवं गर्हित स्थिति उपलब्ध होती है तो दैविक ससार में अन्यायपूर्ण विचारों के धनी देव—दानवों मे इस प्रकार की जघन्य स्थिति का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में इस कथासदर्भ के सकलन करने का यही उद्देश्य प्रतीत होता है कि

मानव प्राणी नीच स्वार्थ के वश होता हुआ ऐसी जघन्यतम हिंसापूर्ण प्रवृत्तियों मे सदा अपने को विरत रखे और भूल कर भी अधर्मपूर्ण कामों को अपने जीवन में न लाए, अन्यथा महेश्वरदत्त पुरोहित की भान्ति भीषण नारकीय दु:खो का उपभोग करने के साथ २ उसे जन्म मरण के प्रवाह मे प्रवाहित होना पड़ेगा ।

हिययउंडए—यहां प्रयुक्त उण्डए यह पद देशीय भाषा का है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—**हृदयसम्बन्धी मांसपिण्ड**—ऐसा किया है, जो कि कोषानुमत भी है । **हिययउंडए त्ति—हृदयमांसपिण्डान्** ।

प्रस्तुत सूत्र में जितशत्रु नरेश के सम्मानपात्र महेश्वरदत्त नामक पुरोहित के जघन्यतम पापाचार का वर्णन किया गया है । अब सूत्रकार उसके भयंकर परिणाम का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—

मूल—[1]तते णं से महेसरदत्ते पुरोहिते एयकम्मे ४ सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता तीसं वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा पंचमीए पुढवीए उक्कोसेणं सत्तरससागरोवमट्ठितिए नरगे उववन्ने ।

पदार्थ—**ततेणं**—तदनन्तर। **से**—वह । **महेसरदत्ते**—महेश्वरदत्त । **पुरोहिते**—पुरोहित । **एयकम्मे ४**—एतत्कर्मा—इस प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, एतत्प्रधान - इन कर्मों में प्रधान, एतद्विद्य—इन्हीं कर्मों की विद्या जानने वाला और एतत्समाचार—इन्हीं पाप कर्मों को अपना सर्वोत्तम आचरण बनाने वाला, । **सुबहुं**—अत्यधिक । **पावकम्मं**—पाप कर्म को । **समज्जिणित्ता**—उपार्जित कर । **तीसं वाससयाइं**—तीन हजार वर्ष की । **परमाउं**—परमायु को । **पालइत्ता**—पाल कर-भोग कर। **कालमासे**—कालावसर में। **कालं किच्चा**—काल करके। **पंचमीए**—पांचवीं। **पुढवीए** - पृथिवी—नरक में। **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट-अधिक से अधिक। **सत्तरससागरोवमट्ठितिए**—सप्तदश सागरोपम की स्थिति वाले। **नरगे**—नरक में। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—तदनन्तर [2]एतत्कर्मा, एतत्प्रधान, एतद्विज्ञान और एतत्समाचार वह महेश्वरदत्त पुरोहित नाना प्रकार के पापकर्मों का संग्रह कर तीन हजार वर्ष की परमायु पाल कर—भोग कर पांचवीं नरक मे उत्पन्न हुआ, वहां उसकी स्थिति सतरह सागरोपम की होगी।

टीका—"हिंसा" यह संस्कृत और प्राकृत भाषा का शब्द है । इस का अर्थ होता है—मारना, दु:ख देना तथा पीड़ित करना। हिंसा करने वाला हिंसक मानव प्राणी हिंसा के आचरण द्वारा जहां इस लोक मे अपने जीवन को नष्ट कर देता है, वहां वह अपने परभव को भी बिगाड़ लेता है। तात्पर्य यह है कि शुभ गति का बन्ध करने के स्थान में वह अशुभ गति का बन्ध करता है, और पंडितमरण के स्थान मे बालमृत्यु को प्राप्त होता है।

महाराज जितशत्रु नरेश का पुरोहित महेश्वरदत्त भी उन्हीं व्यक्तियों मे से एक है जो हिंसामूलक जघन्य प्रवृत्तियों मे अपनी आत्मा का सर्वतोभावेन पतन करने मे अग्रेसर होता है । ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर नीच चाण्डाल के समान कुकृत्य करने वाला राजपुरोहित

(१) छाया -ततः स महेश्वरदत्तः पुरोहितः एतत्कर्मा ४ सुबहु पापकर्म समर्ज्य त्रिंशतं वर्षशतानि परमायुः पालयित्वा पञ्चम्या पृथिव्यामुत्कर्षेण सप्तदशसागरोपमस्थितिके नरके उपपन्नः ।

(२) इन पदों का अर्थ पृष्ठ १७९ के टिप्पण मे लिखा जा चुका है।

महेश्वरदत्त अपनी घोरतम हिंसक प्रवृत्ति से विविध भान्ति के पापकर्मों का उपार्जन करके ३००० वर्ष की आयु भोग कर मृत्यु के अनन्तर पूर्वोपार्जित पापकर्मों के प्रभाव-से पाचवीं नरक में उत्पन्न हुआ। जोकि उसके हिंसाप्रधान आचरण के सर्वथा अनुरूप ही था। इसी लिये उसे पाचवीं नरक मे सतरह सागरोपम तक भीषण यातनाओं के उपभोग के लिए जाना पड़ा है।

महेश्वरदत्त पुरोहित का पापाचारप्रधान जीव पाचवीं नरक की कल्पनातीत वेदनाओं का अनुभव करता हुआ नरकायु की अवधि समाप्त होने के अनन्तर कहां पर उत्पन्न हुआ ? तथा वहां पर उसने अपनी जीवनयात्रा को कैसे बिताया ? अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[1] से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव कोसंबीए णयरीए सोमदत्तस्स पुरोहितस्स वसुदत्ताए भारियाए पुत्तत्ताए उववन्ने। तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो निव्वत्तबारसाहस्स इमं एयारूवं नामधिज्जं करेंति। जम्हा णं अम्हं इमे दारए सोमदत्तस्स पुरोहियस्स पुत्ते वसुदत्ताए अत्तए तम्हा णं होउ अम्हं दारए बहस्सतिदत्ते नामेणं। तते णं से बहस्सतिदत्ते दारए पंचधातीपरिग्गहिते जाव परिवड्ढति। तते णं से बहस्सतिदत्ते उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुविण्णायपरिणयमेत्ते होत्था, से णं उदयणस्स कुमारस्स पियबालवयंसे यावि होत्था, सहजायए, सहवड्ढिए, सहपंसुकीलियए। तते णं से सयाणीए राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते, तते णं से उदयणे कुमारे बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहप्पभितीहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे, कंदमाणे विलवमाणे सयाणियस्स रण्णो महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं

(१) छाया—स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य इहैव कौशाम्ब्यां नगर्यां सोमदत्तस्य पुरोहितस्य वसुदत्ताया भार्याया पुत्रतयोपपन्नः। ततस्तस्य दारकस्याम्बापितरौ निर्वृत्तद्वादशाहस्य इदमेतद्रूपं नामधेयं कुरुतः— यस्मादस्माकमयं दारकः सोमदत्तस्य पुरोहितस्य वसुदत्ताया आत्मजः तस्माद् भवत्वस्माकं दारको बृहस्पतिदत्तो नाम्ना। ततः स बृहस्पतिदत्तो दारकः पंचधात्रीपरिगृहीतो यावत् परिवर्धते। ततः स बृहस्पतिदत्तः उन्मुक्तबालभावो यौवनकमनुप्राप्तः विज्ञात-परिणतमात्रः अभवत्। स उदयनस्य कुमारस्य प्रियबालवयस्यश्चाप्यभवत्, सहजातः, सहवृद्धः सहपांसुक्रीडितः। ततः स शतानीको राजा अन्यदा कदाचित् कालधर्मेण संयुक्तः, ततः ततः स उदयनः कुमारो बहुभिः राजेश्वर० यावत् सार्थवाहप्रभृतिभिः सार्द्धं संपरिवृतः रुदन् क्रन्दन् विलपन् शतानीकस्य राज्ञो महता ऋद्धिसत्कारसमुदयेन नीहरणं करोति २ बहूनि लौकिकानि मृतकृत्यानि करोति। ततस्ते बहवो राजेश्वर० यावत् सार्थवाहा उदयनं कुमारं महता० २ राजाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति। ततः स उदयनः कुमारो राजा जातो महा०। ततः स बृहस्पतिदत्तो दारकः उदयनस्य राज्ञः पुरोहितकर्म कुर्वाणः सर्वस्थानेषु सर्वभूमिकासु अन्तःपुरे दत्तविचारो जातश्चाप्यभवत्। ततः बृहस्पतिदत्तः पुरोहितः उदयनस्य राज्ञोऽन्तःपुरं वेलासु चावेलासु च काले चाकाले च रात्रौ च विकाले च प्रविशन् अन्यदा कदाचित् पद्मावत्या देव्या सार्द्धमुदारान्० भुञ्जानो विहरति। इतश्च उदयनो राजा स्नातो यावद् विभूषितः यत्रैव च पद्मावती देवी तत्रैवोपागच्छति २ बृहस्पतिदत्तं पुरोहितं पद्मावत्या देव्या सार्द्धमुदारान्० भुञ्जानं पश्यति २ आशुरुप्तस्त्रिवलिकां भृकुटिं ललाटे संहृत्य बृहस्पतिदत्तं पुरोहितं पुरुषैर्ग्राहयति २ यावदेतेन विधानेन वध्यमाज्ञापयति। एवं खलु गोतम ! बृहस्पतिदत्तः पुरोहितः पुरा पुराणानां यावद् विहरति।

णीहरणं करेति २ बहूहिं लाइयाइं मयकिच्चाइं करेंति। ततेणं ते बहवे राईसर० जाव सत्थवाहा उदयणं कुमारं महया २ रायाभिसेगेण अभिसिंचंति । तते णं से उदयणे कुमारे राया जाते महया० । तते णं बहस्सतिदत्ते दारए उदयणस्स रण्णो पुरोहियकम्मं करेमाणे सव्वट्ठाणेसु, सव्वभूमियासु, अंतेउरे य दिण्णवियारे जाते यावि होत्था । तते णं से बहस्सतिदत्ते पुरोहिते उदयणस्स रण्णो अंतेउरं वेलासु य अवेलासु य काले य अकाले य राओ य वियाले य पविसमाणे अन्नया कयाइ पउमावतीए देवीए सद्धिं उरालाइं० भुंजेमाणे विहरति । इमं च णं उदयणे राया एहाए जाव विभूसिए जेणेव पउमावती देवी तेणेव उवागच्छइ २ बहस्सतिदत्तं पुरोहितं पउमावतीए देवीए सद्धिं उरालाइं० भुंजेमाणं पासति २ आसुरुत्ते तिवलियं णिडाले साहट्टु बहस्सतिदत्तं पुरोहितं पुरिसेहिं गेण्हावेति २ जाव एतेणं विहाणेणं वज्झं आणवेति। एवं खलु गोतमा ! बहस्सतिदत्ते पुरोहिते पुरा पुराणाणं जाव विहरति।

पदार्थ—से णं—वह—अर्थात् महेश्वरदत्त पुरोहित का जीव। ततो—वहां से अर्थात् पांचवीं नरक से। अणंतरं—व्यवधानरहित। उव्वट्टित्ता—निकल कर। इहेव—इसी। कोसंबीए—कौशाम्बी। णयरीए—नगरी में। सोमदत्तस्स—सोमदत्त। पुरोहितस्स—पुरोहित की। वसुदत्ताए—वसुदत्ता। भारियाए—भार्या के। पुत्तत्ताए—पुत्ररूप से। उववन्ने—उत्पन्न हुआ। तते णं—तदनन्तर अर्थात् उत्पन्न होने के पश्चात् तस्स—उस। दारगस्स—बालक के। अम्मापितरो—माता पिता। णिव्वत्तबारसाहस्स—बालक के जन्म से लेकर बारहवें दिन। इमं—यह। एयारूव—इस प्रकार का। नामधिज्जं—नाम। करेंति—करते हैं। जम्हा णं—जिस कारण। अम्हं—हमारा। इमे—यह। दारए—बालक। सोमदत्तस्स— सोमदत्त। पुरोहियस्स—पुरोहित का। पुत्ते—पुत्र, और। वसुदत्ताए — वसुदत्ता का। अत्तए — आत्मज है। तम्हा णं—इस कारण। अम्हं—हमारा यह। दारए — बालक। बहस्सतिदत्ते — बृहस्पतिदत्त। नामेणं—नाम से। होउ—हो। तते णं—तदनन्तर। से—वह। बहस्सतिदत्ते—बृहस्पतिदत्त। दारए—बालक। पंचधातीपरिग्गहिते—पांच धाय माताओं से परिगृहीत हुआ। जाव—यावत्। परिवड्ढति—वृद्धि को प्राप्त होने लगा। तते णं—तदनन्तर। से—वह। बहस्सतिदत्ते—बृहस्पतिदत्त बालक। उम्मुक्कबालभावे—बालभाव को त्याग कर। जोव्वणगमणुप्पत्ते—यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ, तथा। विण्णायपरिणयमेत्ते —विज्ञातपरिणतमात्र—जिस का विज्ञान परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुका है,। होत्था—था। से णं—वह — बृहस्पतिदत्त। उदयणस्स — उदयन। कुमारस्स—कुमार का। पियबालवयंसे—प्रिय बालमित्र अर्थात् बृहस्पतिदत्त उदयन कुमार को प्यारा था और उसका वह बाल्यकाल का मित्र। यावि होत्था—भी था, कारण कि। सहजायए[1]—दोनों का जन्म एक साथ हुआ। सहवड्ढियए—दोनों एक साथ ही वृद्धि को प्राप्त हुए। सहपंसुकीलियए—साथ ही पांसुक्रीडा - धूलिक्रीडा अर्थात् बालक्रीड़ा किया करते थे। तते णं—तदनन्तर।

(१) सहजातक —समानकाले उत्पन्न, सहवर्धितक —सहैव वृद्धि प्राप्त, सहपांसुक्रीडित —सहैव कृतबालक्रीडः।

से—वह । **सयाणीए**—शतानीक । **राया**—राजा । **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय । **कालधम्मुणा**—कालधर्म को । **संजुत्ते**—प्राप्त हुआ । **तते णं**—तदनन्तर अर्थात् शतानीक के मृत्युधर्म को प्राप्त हो जाने पर । **से**—वह । **उदयणे**—उदयन । **कुमारे**—कुमार । **बहुहिं**—अनेक । **राईसर**—राजा—माण्डलीक अर्थात् किसी प्रान्त या मण्डल (जिला या बारह राज्यों का समूह) की रक्षा या शासन करने वाला, ईश्वर—धन सम्पत्ति आदि के ऐश्वर्य से युक्त । **जाव**—यावत् । **सत्थवाह**—सार्थवाह—यात्री व्यापारियों का मुखिया अथवा सघनायक । **प्पभितीहिं**—आदि के । **सद्धिं**—साथ । **सपरिवुडे**—सपरिवृत—घिरा हुआ । **रोयमाणे**—रुदन करता हुआ । **कंदमाणे**—आक्रन्दन करता हुआ । **विलवमाणे**—विलाप करता हुआ । **सयाणीयस्स**—शतानीक **रण्णो**—राजा का । **महया**—महान् । **इड्ढिसक्कारसमुदएणं**—ऋद्धि तथा सत्कार समुदाय के साथ । **णीहरणं**—निस्सरण—अर्थी निकालने की क्रिया । **करेति २**—करता है, निस्सरण करके । **बहूइं**—अनेक । **लोइयाइं**—लौकिक । **मयकिच्चाइं**—मृतकसम्बन्धी क्रियाओं को । **करेति**—करता है । **तते णं**—तदनन्तर । **बहवे**—बहुत से । **राईसर०**—राजा । **जाव**—यावत् । **सत्थवाहा**—सार्थवाह, ये सब मिल कर । **उदयणं**—उदयन । **कुमारं**—कुमार को । **महया २**—बड़े समारोह के साथ । **रायाभिसेगेण**—राजयोग्य अभिषेक से । **अभिसिंचंति**—अभिषिक्त करते हैं अर्थात् उस का राज्याभिषेक करते हैं । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **उदयणे**—उदयन । **कुमारे**—कुमार । **राया**—राजा । **जाते**—बन गया । **महया०**—हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् प्रतापशाली हो गया । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **वहस्सतिदत्ते**—बृहस्पतिदत्त । **दारए**—बालक । **उदयणस्स**—उदयन । **रण्णो**—राजा का । **पुरोहियकम्मं**—पुरोहितकर्म । **करेमाणे**—करता हुआ । **सव्वट्ठाणेसु**—सर्वस्थानों—अर्थात् भोजनस्थान आदि सब स्थानों में । **सव्वभूमियासु**—सर्वभूमिका—प्रासाद—महल की प्रथम भूमिका—मन्जिल से लेकर सप्तम भूमि तक अर्थात् सभी भूमिकाओं में । **अंतेउरे य**—और अन्तःपुर में । **दिण्णवियारे यावि**—दत्तविचार—अप्रतिबद्ध गमनागमन करने वाला अर्थात् जिस को राजा की ओर से सब स्थानों में यातायात करने की आज्ञा उपलब्ध हो रही हो, ऐसा । **जाते यावि होत्था**—हो गया था । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **वहस्सतिदत्ते**—बृहस्पतिदत्त । **पुरोहिते**—पुरोहित । **उदयणस्स**—उदयन । **रण्णो**—राजा के । **अन्तेउरं**—अन्तःपुर में—रणवास में । **वेलासु य**—वेला—उचित अवसर अर्थात् ठीक समय पर । **अवेलासु**—अवेला—अनवसर—बेमोके अर्थात् भोजन शयनादि के समय । **काले य**—काल अर्थात् प्रथम और तृतीय प्रहर आदि में । **अकाले य**—और अकाल में अर्थात् मध्याह्न आदि समय में । **राओ य**—रात्रि में । **वियाले य**—और सायंकाल में । **पविसमाणे**—प्रवेश करता हुआ । **अन्नया**—अन्यदा । **कयाइ**—किसी समय । **पउमावतीए**—पद्मावती । **देवीए**—देवी के । **सद्धिं**—साथ । **सपलग्गे**—सम्प्रलग्न—अनुचित सम्बन्ध करने वाला । **यावि होत्था**—भी हो गया । **पउमावतीए**—पद्मावती । **देवीए**—देवी के । **सद्धिं** साथ । **उरालाइं०**—उदार—प्रधान मनुष्यसम्बन्धी विषयभोगों का । **भुंजमाणे**—उपभोग करता हुआ । **विहरति**—समय व्यतीत करने लगा । **इमं च णं**—और इधर । **उदयणे**—उदयन । **राया**—राजा । **ण्हाए**—स्नान कर । **जाव**—यावत् । **विभूसिते**—सम्पूर्ण आभूषणों से अलंकृत हुआ । **जेणेव**—जहां । **पउमावती**—पद्मावती । **देवी**—देवी थी **तेणेव**—वहां पर । **उवागच्छइ २**—आता है, आकर । **वहस्सतिदत्तं**—बृहस्पतिदत्त । **पुरोहितं**—पुरोहित को । **पउमावतीए**—पद्मावती । **देवीए**—देवी के । **सद्धिं**—साथ । **उरालाइं०**—उदार—प्रधान काम—भोगों का । **भुंजमाणं**—सेवन करते हुए

को । **पासति २**—देखता है, देख कर । **आसुरुत्ते**—क्रोध से लाल पीला हो । **तिवलियं**—त्रिवलिक-तीन वल वाली । **भिउडिं**—भृकुटि—तिउड़ी । **णिडाले**— मस्तक पर । **साहट्टु**—चढ़ा कर । **वहस्सतिदत्तं**—वृहस्पतिदत्त । **पुरोहितं**—पुरोहित को । **पुरिसेहिं**—पुरुषों के द्वारा । **गेण्हावेति २**—पकड़वा लेता है, पकड़वा कर । **जाव**—यावत् । **एतेणं**—इस । **विहाणेणं**—विधान से । **वज्झं**—यह मारने योग्य है, ऐसी । **आणवेति**—आज्ञा देता है । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **गोतमा** !—हे गौतम ! **वहस्सतिदत्ते**—वृहस्पतिदत्त । **पुरोहिते**—पुरोहित । **पुरा**—पूर्वकाल में किये हुए । **पुराणाणं**—पुरातन । **जाव**—यावत् कर्मों के फल का उपभोग करता हुआ । **विहरति**-समय व्यतीत कर रहा है।

मूलार्थ—तदनन्तर महेश्वरदत्त पुरोहित का पापिष्ट जीव उस पांचवीं नरक से निकल कर सीधा इसी कौशाम्बी नगरी मे सोमदत्त पुरोहित की वसुदत्ता भार्या के उदर मे पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ । तदनन्तर उत्पन्न हुए बालक के माता पिता ने जन्म से बारहवें दिन नामकरण सस्कार करते हुए सोमदत्त का पुत्र और वसुदत्ता का आत्मज होने के कारण उसका वृहस्पतिदत्त यह नाम रखा ।

तदनन्तर वह वृहस्पतिदत्त बालक पाच धाय माताओं से परिगृहीत यावत् वृद्धि को प्राप्त करता हुआ तथा बालभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त होता हुआ, एवं परिपक्व विज्ञान को उपलब्ध किए हुए वह उदयन कुमार का बाल्यकाल से ही प्रिय मित्र था, कारण यह था कि ये दोनों एक साथ उत्पन्न हुए, एक साथ बढ़े और एक साथ ही खेले थे ।

तदनन्तर किसी अन्य समय महाराज शतानीक कालधर्म को प्राप्त हो गए । तब उदयन कुमार बहुत से राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि के साथ रोता हुआ, आक्रन्दन तथा विलाप करता हुआ शतानीक नरेश का बड़ आडम्बर के साथ निस्सरण तथा मृतकसम्बन्धी सम्पूर्ण लौकिक कृत्यों को करता है ।

तदनन्तर उन राजा ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि लोगों ने मिल कर बड़े समारोह के साथ उदयन कुमार का राज्याभिषेक किया । तब से उदयन कुमार हिमालय आदि पर्वत के समान महाप्रतापी राजा बन गया । तदनन्तर वृहस्पति बालक उदयन नरेश का पुरोहित बना और पौरोहित्य कर्म करता हुआ वह सर्वस्थानों, सर्वभूमिकाओं तथा अन्त.पुर मे इच्छानुसार बेरोकटोक गमनागमन करने लगा ।

तदनन्तर वह वृहस्पतिदत्त पुरोहित का उदयन नरेश के अन्तःपुर मे समय, असमय, काल, अकाल तथा रात्रि और सध्याकाल मे स्वेच्छापूर्वक प्रवेश करते हुए किसी समय पद्मावती देवी के साथ अनुचित सम्बन्ध भी हो गया । तदनुसार पद्मावती देवी के साथ वह उदार—यथेष्ट मनुष्यसम्बन्धी काम—भोगों का सेवन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा ।

इधर किसी समय उदयन नरेश स्नानादि से निवृत्त हो कर और समस्त आभूषणों से अलकृत हो कर जहा पद्मावती देवी थी वहा पर आया, आकर उसने पद्मावती देवी के साथ कामभोगों का भोग करते हुए वृहस्पतिदत्त पुरोहित को देखा, देख कर वह क्रोध से तमतमा उठा और मस्तक पर तीन बल वाली तिउड़ी चढ़ा कर वृहस्पतिदत्त पुरोहित को पुरुषों के द्वारा पकड़वा कर यह—इस प्रकार वध कर डालने योग्य है—ऐसी राजपुरुषों को आज्ञा दे देता है ।

हे गौतम ! इस तरह से बृहस्पतिदत्त पुरोहित पूर्वकृत दुष्कर्मों के फल को प्रत्यक्ष—रूप से अनुभव करता हुआ जीवन बिता रहा है ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में स्वोपार्जित हिंसाप्रधान पापकर्मों के प्रभाव से पांचवीं नरक को प्राप्त हुए महेश्वरदत्त पुरोहित को वहां की भवस्थिति पूरी करके कौशाम्बी नगरी के राजपुरोहित सोमदत्त की वसुदत्ता भार्या के गर्भ से पुत्ररूप से उत्पन्न होने तथा सोमदत्त का पुत्र और वसुदत्ता का आत्मज होने के कारण उस का बृहस्पतिदत्त ऐसा नामकरण करने तथा शतानीक नरेश की मृत्यु के बाद राज्यसिंहासन पर आरूढ हुए उदयन कुमार का पुरोहित बनने के अनन्तर उदयन नरेश की सहधर्मिणी पद्मावती के साथ अनुचित सम्बन्ध करने अर्थात् उस पर आसक्त होने का दिग्दर्शन कराया गया है, और इसी अपराध म उदयन नरेश की तर्फ से उसे पूर्वोक्त प्रकार से वधस्थल पर ले जा कर प्राण—दण्ड देने के आदेश का भी जो उल्लेख कर दिया गया है वह अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता ।

प्रस्तुत सूत्र में बृहस्पतिदत्त के नामकरण में जो '—यह बालक सोमदत्त का पुत्र तथा वसुदत्ता का आत्मज है, इसलिये इस का नाम बृहस्पति दत्त रखा जाता है—' यह कारण लिखा है वह उज्झितक और अभग्नसेन एवं शकटकुमार की भान्ति सघटित नहीं हो पाता अर्थात् जिस तरह उज्झितक आदि के नामकरण में कार्य कारण भाव स्पष्ट मिलता है वैसा कार्य कारण भाव बृहस्पति दत्त के नामकरण में नहीं बन पाता, ऐसी आशंका होती है । इस का उत्तर यह है कि पहले ज़माने में कोई सोमदत्त पुरोहित और उसकी वसुदत्ता नाम की भार्या होगी, तथा उन के बृहस्पति दत्त नाम का कोई बालक होगा । उस के आधार पर अर्थात् नाम की समता होने से माता पिता ने इस बालक का भी बृहस्पति दत्त ऐसा नाम रख दिया हो । अथवा सूत्रसकलन के समय कोई पाठ छूट गया हो यह भी संभव हो सकता है । **रहस्यन्तु केवलिगम्यम्** ।

इस कथासन्दर्भ से प्रतीत होता कि बृहस्पतिदत्त पुरोहित को उदयन नरेश की तर्फ से जो दण्ड देना निश्चित किया गया है, वह नीतिशास्त्र की दृष्टि के अनुरूप ही है । जो व्यक्ति पुरोहित जैसे उत्तरदायित्व—पूर्ण पद पर नियुक्त हो कर तथा नरेश का पूर्ण विश्वासपात्र बन कर इतना अनुचित काम करे उस के लिये नीतिशास्त्र के अनुसार इस प्रकार का दण्डविधान अनुचित नहीं समझा गया है ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्री गौतम अनगार से कहते हैं कि हे गौतम ! यह बृहस्पतिदत्त पुरोहित अपने किये हुए दुष्कर्मों का ही विपाक—फल भुगत रहा है । तात्पर्य यह है कि यह पूर्व जन्म मे महान् हिंसक था और इस जन्म में महान् व्यभिचारी तथा विश्वास—घाती था । इन्हीं महा अपराधों का इसे यह उक्त दंड मिल रहा है । यह इसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त है । जिस जीव ने अपने नीच स्वार्थ के लिये अनेकानेक मानव प्राणियों का वध किया हो वह कर्म—सिद्धान्त के अनुसार इसी प्रकार के दण्ड का पात्र होता है ।

"—**विण्णायपरिणयमित्ते**—" इस पद का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ २०३ पर किया जा चुका है । परन्तु वहां उल्लिखित अर्थ के अतिरिक्त कहीं " —**विज्ञातं विज्ञान तत्परिणतमात्रं यत्र स विज्ञातपरिणतमात्र परिपक्वविज्ञान** इत्यर्थः—" ऐसा अर्थ भी उपलब्ध होता है । अर्थात् विज्ञात यह पद विशेष्य है और परिणतमात्र यह पद विशेषण है और दोनों में बहुव्रीहि समास है ।

विज्ञात विज्ञान—विशेष ज्ञान का नाम है और परिणतमात्र पद परिपक्व अर्थ का परिचायक है। तात्पर्य यह है कि जिस का विज्ञान परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुका है उसे **विज्ञातपरिणतमात्र** कहते हैं।

—**पञ्चधातीपरिग्गहिते जाव परिवड्ढति**—यहां के जाव यावत् पद से "—**तंजहा—खीरधातीए १, मज्जण०**—से ले कर—**चंपयपायवे सुहंसुहेणं**—" यहां तक के पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ पृष्ठ १५८ पर लिखा जा चुका है।

- **राईसर जाव सत्थवाहप्पभितीहिं**— यहां पठित जाव-यावत् पद से—**तलवरमाडम्बिय-कोडुम्बिय इब्भ—सेट्ठि** इन पदों का ग्रहण होता है। तलवर आदि का अर्थ पृष्ठ १६५ पर लिखा जा चुका है। तथा **महया**०—यहां के बिन्दु से अपेक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ १३८ पर कर दी गई है

—**सव्वट्ठाणेसु**—इत्यादि पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) **सर्वस्थान**—यह शब्द सब जगह अर्थात् शयनस्थान, भोजनस्थान, मन्त्रणा—(विचार) स्थान आय अर्थात् आमदनी और महसूल आदि के स्थानों के लिये प्रयुक्त होता है।

(२) **सर्वभूमिका** शब्द का अर्थ है राजमहल की सभी भूमिकाएं। भूमिका शब्द मंजिल का परिचायक है, और टीकाकार अभयदेव सूरि के मतानुसार—राजमहलों की अधिक से अधिक सात भूमिकाएं मानी गई हैं। उन सभी भूमिकाओं में बृहस्पतिदत्त का आना जाना बेरोकटोक था। **सव्वभूमियासु त्ति, प्रासादभूमिकासु सप्तभूमिकावसानासु**। अथवा—**सर्वभूमिका** शब्द अमात्य आदि सभी पदों के लिये भी प्रयुक्त होता है। तात्पर्य यह है कि अमात्य मंत्री आदि बड़े से बड़े अधिकारी तक भी उस बृहस्पतिदत्त की पहुँच थी।

(३) **अन्तःपुर**—वह स्थान है जहां राजा की रानियें रहती हैं—रणवास।

वेला शब्द उचित अवसर-योग्य समय अर्थात् मिलने आदि के लिये जो समय उचित हो उसका बोध कराता है। अनुचित अवसर अर्थात् भोजन, शयन आदि के अयोग्य समय का परिचायक **अवेला** शब्द है। प्रथम और तृतीय प्रहर आदि का बोध **काल** शब्द से होता है। **अकाल** शब्द मध्याह्न आदि के समय के लिये प्रयुक्त होता है। **रात्रि** रात का नाम है। सध्याकाल को **विकाल** कहते हैं।

—**उरालाइं**०—यहां का बिन्दु **माणुस्सगाइं भोगभोगाइं**—इन पदों का परिचायक है। तथा—**ण्हाए जाव विभूसिए**—यहां का जाव-यावत्—पद—**कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकार**—इन पदों का सूचक है। **कयबलिकम्मे**, आदि पदों की व्याख्या पृष्ठ १७६ और १७७ पर की जा चुकी है। तथा -**सव्वालंकार**—का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है।

—**गिण्हावेति २ जाव एतेणं**—यहां पठित जाव-यावत् पद—**अट्ठि—मुट्ठि—जाणु—कोप्पर—पहार—संभग्ग—महियगत्तं करेति २ अवओडगबन्धणं करेति करेत्ता**—इन पदों का परिचायक है। इन का अर्थ पृष्ठ १७५ पर लिखा जा चुका है। तथा **एतद्** शब्द से जो अभिमत है उस का वर्णन पृष्ठ १७८ पर किया जा चुका है। तथा—**पोराणाणं जाव विहरति**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से अपेक्षित पाठ का वर्णन पृष्ठ ५२ पर किया जा चुका है।

भगवान् के मुख से इस प्रकार का भावपूर्ण उत्तर सुनने के अनन्तर गौतम स्वामी के चित्त में जो और जिज्ञासा उत्पन्न हुई अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1] वहस्सतिदत्ते णं भंते ! पुरोहिते इओ कालगते समाणे कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

पदार्थ—**भंते !**—हे भदन्त !, अर्थात् हे भगवन् ! । **वहस्सतिदत्ते णं**—वृहस्पतिदत्त । **पुरोहिते**—पुरोहित । **इओ**—यहां से । **कालगते**—काल को प्राप्त । **समाणे**—हुआ । **कहिं**—कहां । **गच्छिहिति ?**—जायेगा ? । **कहिं**—कहां पर । **उववज्जिहिति ?**—उत्पन्न होगा ? ।

मूलार्थ—हे भदन्त ! वृहस्पतिदत्त पुरोहित यहां से काल करके कहां जावेगा ? और कहां पर उत्पन्न होगा ? ।

टीका—गौतम स्वामी की "—वृहस्पतिदत्त पुरोहित पूर्व जन्म में कौन था ? और उसने ऐसा कौन सा घोर कर्म किया था, जिस का फल उसे इस जन्म में इस प्रकार मिल रहा है ? —" इस जिज्ञासा को तो भगवान् ने पूर्ण कर दिया परन्तु जो व्यक्ति पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के फलस्वरूप इस प्रकार की असह्य वेदना का अनुभव करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होगा । उस का आगामी जन्म में क्या बनेगा अर्थात् वह आगे को कहां और किस रूप को प्राप्त करेगा ? इत्यादि बातों के जानने की इच्छा का उत्पन्न होना भी अस्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत इसे जानने की विशेष उत्कण्ठा हो ही जाती है । इसी कारण से गौतम स्वामी ने वृहस्पतिदत्त के आगामी भवों के विषय में भगवान् से पूछने का प्रस्ताव किया है । इस के उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो कुछ फरमाया अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल[2]—गोतमा ! वहस्सतिदत्ते णं पुरोहिते चउसट्ठिं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूलभिण्णे कते समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए० संसारो तहेव जाव पुढवीए० । ततो हत्थिणाउरे णगरे मियत्ताए पच्चायाइस्सति । से णं तत्थ वाउरिएहिं वहिते समाणे तत्थेव हत्थिणाउरे णगरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए० बोहिं० सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति ५ । णिक्खेवो ।

॥ पञ्चम अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**गोतमा !**—हे गौतम ! । **वहस्सतिदत्ते**—वृहस्पतिदत्त । **पुरोहिते**—पुरोहित । **णं**—वाक्यालंकारार्थक है । **चउसट्ठिं**—चौसठ—६४ । **वासाइं**—वर्षों की । **परमाउं**—परमायु । **पालइत्ता**—पाल कर—भोगकर । **अज्जेव**—आज ही । **तिभागावसेसे**—त्रिभागावशेष अर्थात् जिस में तीसरा भाग शेष हो, ऐसे । **दिवसे**—दिन में । **सूलभिण्णे**—सूली से भेदन । **कते समाणे**—किया हुआ । **कालमासे**—कालावसर में । **कालं किच्चा**—काल करके । **इमीसे**—इस । **रयणप्पभाए**—

---

(१) छाया—वृहस्पतिदत्तो भदन्त ! पुरोहित इतः कालगतः कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोपपत्स्यते ?

(२) छाया—गौतम ! वृहस्पतिदत्तः पुरोहितः चतुःषष्टिं वर्षाणि परमायुः पालयित्वा अद्यैव त्रिभागावशेषे दिवसे शूलभिन्नः कृतः सन् कालमासे कालं कृत्वा अस्यां रत्नप्रभायां संसारस्तथैव यावत् पृथिव्याम्०. ततो हस्तिनापुरे नगरे मृगतया प्रत्यायास्यति । स तत्र वागुरिकैः वधितः सन् तत्रैव हस्तिनापुरे नगरे श्रेष्ठिकुले पुत्रतया० बोधिं० सौधर्मे० महाविदेहे० सेत्स्यति ५ । निक्षेपः ।

॥ पञ्चममध्ययनं समाप्तम् ॥

रत्नप्रभा नामक पृथिवी—नरक मे उत्पन्न होगा । **संसारो**—ससारभ्रमण । **तहेव**—तथैव—वैसे ही अर्थात् पहले की भाति समझना । **जाव**—यावत् । **पुढवीए०**—पृथिवीकाया में लाखो बार उत्पन्न होगा, वहा से निकलकर । **हत्थिणाउरे**—हस्तिनापुर । **णगरे**—णगर में । **मियत्ताए**—मृगरूप से । **पच्चायाहिति**—उत्पन्न होगा । **से णं**—वह । **तत्थ**—वहा पर । **वाउरिएहिं**—वागुरिकों—शिकारियों के द्वारा । **वहिते समाणे**—मारा जाने पर । **तत्थेव**—उसी । **हत्थिणाउरे**—हस्तिनापुर । **णगरे**—नगर म । **सेट्ठिकुलंसि**—श्रेष्ठिकुल में । **पुत्तत्ताए०**—पुत्ररूप से उत्पन्न होगा । **बोहिं०**—सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, वहा से । **सोहम्मे०**—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहा से च्यव कर । **महाविदेहे०**—महाविदह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा, तथा वहा मे । **सिज्झिहिति ५**—सिद्धि प्राप्त करेगा ५ । **णिक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार पूर्व की भान्ति जान लेना चाहिए । **पंचमं**—पाचवा । **अज्झयणं**—अध्ययन । **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ ।

मूलार्थ—हे गौतम ! बृहस्पतिदत्त पुरोहित ६४ वर्ष की परमायु को पाल कर आज ही दिन के तीसरे भाग मे सूली से भेदन किये जाने पर कालावसर मे काल कर के रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी—नरक मे उत्पन्न होगा, एव प्रथम अध्यनगत मृगापुत्र की भाति ससारभ्रमण करता हुआ यावत् पृथिवीकाया मे लाखों बार उत्पन्न होगा, वहा से निकल कर हस्तिनापुर नगर मे मृग-रूप से जन्म लेगा । वहां पर वागुरिकों—जाल में फंसाने का काम करने वाले व्याधों के द्वारा मारा जाने पर इसी हस्तिनापुर नगर मे श्रेष्ठिकुल मे पुत्ररूपेण जन्म धारण करेगा ।

वहा सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा और काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहा से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा, तथा वहा अनगारवृत्ति को धारण कर संयमाराधन के द्वारा कर्मों का क्षय करके सिद्धिपद को प्राप्त करेगा । निक्षेप—उपसहार पूर्ववत् जान लेना चाहिये ।

॥ पंचम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—प्रस्तुत सूत्र मे बृहस्पतिदत्त के आगामी भवों का वर्णन किया गया है । तथा मानवभव मे बोधिलाभ के अनन्तर उसने जिस उत्क्रान्ति मार्ग का अनुसरण किया और उस के फल-स्वरूप अन्त में उसे जिस शाश्वत सुख की उपलब्धि हुई उस का भी सूत्रवर्णनशैली के अ-नुसार सक्षेप मे उल्लेख कर दिया गया है ।

गौतम स्वामी के सम्बोधित करते हुए वीर प्रभु ने फरमाया कि गौतम ! बृहस्पतिदत्त पुरो-हित के जीव की आगामी भवयात्रा का वृत्तान्त इस प्रकार है—

उस की पूर्ण आयु ६४ वर्ष की है । आज वह दिन के तीसरे भाग मे[१] सूली पर

---

(१) प्रस्तुत कथासन्दर्भ में जो यह लिखा है कि बृहस्पतिदत्त को दिन के तीसरे भाग मे सूली पर चढा दिया जायगा । इस पर यह आशका होती है कि जब कोशाम्बी नगरी के राजमार्ग पर उस के साथ बडा क्रूर एव निर्दय व्यवहार किया गया था । अवकोटकबन्धन मे बान्ध कर, उसी के शरीर में से निकाल कर उसे मासखण्ड खिलाए जा रहे थे । तथा चाबुकों के भीषणातिभीषण प्रहारों से उसे मारणान्तिक कष्ट पहुचाया गया था तब वहा उस के प्राण कैसे बचे होंगे ? अर्थात् मानवी जीवन मे इतना बल कहा है कि वह इस प्रकार के भीषण नरक—तुल्य सकट झेल लेने पर भी जीवित रह सके ? इस आशका का उत्तर पृष्ठ २७३ पर दिया जा चुका है । अन्तर मात्र इतना है कि वहा अभग्नसेन चोरसेना—पति का वर्णन है कि जब कि प्रस्तुत मे बृहस्पतिदत्त का ।

चढाया जावेगा, उस मे मृत्यु को प्राप्त हो कर वह रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे उत्पन्न होगा. वहा की भवस्थिति को पूरी करने के अनन्तर उस का अन्य संसारभ्रमण मृगापुत्र की भान्ति ही जान लेना चाहिये अर्थात् नानाविध उच्चावच योनियो मे गमनागमन करता हुआ यावत् पृथिवीकाया में लाखों वार उत्पन्न होगा। वहा से निकल कर हस्तिनापुर नगर मे मृग की योनि में जन्म लेगा। वहा पर भी वागुरिकों—शिकारियों मे वध को प्राप्त होकर वह हस्तिनापुर नगर में ही वहा के एक प्रतिष्ठित कुल में जन्म धारण करेगा। वहा से उस का उत्क्रान्ति मार्ग आरम्भ होगा, अर्थात् इस जन्म म उसे बोधिलाभ—सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी और वह मृगापुत्रादि की भान्ति ही विकास मार्ग की ओर प्रस्थान करता हुआ अन्त मे निर्वाण पद को प्राप्त करके जन्म मरण मे रहित होता हुआ शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेगा।

"—**रयणप्पभाए० संसारो तहेव जाव पुढवीए०**—" यहा के बिन्दु मे पृष्ठ ८९ पर पढ़े गये "—**पुढवीए उक्कोससागरोवमट्ठिइएसु जाव उववज्जिहिति**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। तथा—**संसार** शब्द "—**संसारभ्रमण**—" इस अर्थ का परिचायक है और **तहेव** पद " मृगापुत्र की भान्ति ससारभ्रमण करेगा—" इस अर्थ का बोध कराता है। मृगापुत्र के संसारभ्रमण का वर्णन पृष्ठ ९३ पर किया जा चुका है। उसी ससारभ्रमण के संसूचक पाठ को **जाव-यावत्** पद मे सूचित किया गया है। अर्थात् **यावत्** पद पृष्ठ ८९ पर पढ़े गए—**से णं ततो अणतर उव्वट्टित्ता सरीसवेसु**—से ले कर—**वाउ०, तेउ० आउ०**—यहा तक के पदों का परिचायक है। तथा " **पुढवीए०**—" यहा के बिन्दु मे अभिमत पाठ की सूचना पृष्ठ २७५ पर की जा चुकी है। तथा—**पुत्तत्ताए०**— यहा के बिन्दु मे "—**पच्चायाहिति से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहारूवाणं थेराणं अंतिने केवल**—" इन पदो का ग्रहण समझना चाहिए। इन का अर्थ पृष्ठ १८२ पर दिया जा चुका है।

"—**बोहिं, सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति ५** " इन पदों से विवक्षित पाठ का वर्णन चौथे अध्ययन के पृष्ठ ३१२ पर किया जा चुका है। पाठक वहीं से देख सकते हैं।

प्रस्तुत कथा—सदर्भ में बृहस्पतिदत्त के पूर्व और पर भवों के सक्षिप्त वर्णन से मानवप्राणी की जीवनयात्रा के रहस्यपूर्ण विश्रामस्थानो का काफी परिचय मिलता है। वह जीवन की नीची मे नीची भूमिका में विहरण करता करता, जिस समय विकासमार्ग की ओर प्रस्थान करता है और उस पर सतत प्रयाण करने से उस को जिस उच्चतम भूमिका की प्राप्ति होती है, उस का भी स्पष्टीकरण बृहस्पतिदत्त के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। इस पर से मानव प्राणी को अपना कर्तव्य निश्चित करने का जो सुअवसर प्राप्त होता है, उसे कभी भी खो देने की भूल नहीं करनी चाहिये।

प्रारम्भ मे श्री जम्बू स्वामी ने पाचवें अध्ययन के अर्थ को को सुनने के लिये श्री सुधर्मा स्वामी से जो प्रार्थना की थी, उस की स्वीकृतिरूप ही यह प्रस्तुत पाचवा अध्ययन प्रस्तावित हुआ है। इसी भाव को सूचित करने के लिये मूल मे **णिक्खेवो** यह पद प्रयुक्त किया गया है। **निक्षेप** शब्द का अर्थसम्बन्धी विचार पृष्ठ २८८ पर किया जा चुका है। पाठक वहीं देख सकते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में **निक्षेप** पद मे जो पाठ अपेक्षित है वह निम्नोक्त है—

"—**एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं दुहविवागाणं पञ्चमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि**—" अर्थात् हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःख—

विपाक के पांचवें अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार मैं कहता हूँ अर्थात् मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से जैसा सुना है वैसा तुम्हें सुनाया है । इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है ।

प्रस्तुत अध्ययनगत पदार्थ के परिशीलन से विचारशील सहृदय पाठकों को अन्वय—व्यतिरेक से अनेक प्रकार की हितकर शिक्षाएं उपलब्ध हो सकती हैं । जिन को जीवन में उतारने से उन्हें अधिक से अधिक लाभ सम्प्राप्त हो सकता है । उन में से कुछ शिक्षाएं निम्नोक्त हैं—

(१) यदि किसी को कोई अधिकार प्राप्त हो जाय तो उसे चाहिये कि वह महेश्वरदत्त पुरोहित की तरह उस का दुरुपयोग न करे। महेश्वरदत्त पुरोहित ने राज्य में उचित अधिकार प्राप्त करने के अनन्तर भी अपनी हिंसक भावना से जो जो अनर्थ किये, उस का दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है । तथा उस से प्राप्त होने वाली नरकयातनाओं के उपभोग का भी ऊपर वर्णन आ चुका है । इसलिये इस प्रकार के जीवन से अधिकारी वर्ग तथा अन्य सामान्यवर्ग को सर्वथा परामुख रहने का सदा यत्न करना चाहिये ।

(२) संसार में हिंसा के बाद जघन्य पापों में [1]विश्वासघात का स्थान है । मित्रद्रोह या विश्वासघात एवं मित्रपत्नी से अनुचित सम्बन्ध, यह सब कुछ घोर पाप में परिगणित होता है ।' इस पाप का आचरण करने वाला आत्मा इस लोक और परलोक दोनों में ही दुर्गति का भाजन बनने योग्य होता है । महेश्वरदत्त के जीव ने बृहस्पति दत्त के भव में इस जघन्य आचरण से अपने आत्मा को निकृष्ट कर्ममल से कितना दूषित बनाया ? और किस सीमा तक उस के कटु विपाक का अनुभव किया ? इस का भी ऊपर दिग्दर्शन कराया जा चुका है । उस पर से विचारशील पाठक समझ सकते हैं कि उन्हें इस प्रकार के पापानुष्ठान से कहां तक पृथक् रहने का यत्न करना चाहिये ? और कहां तक कर्तव्यपालन के लिये जागरूक रह कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सदनुष्ठानों को जीवन में उतार कर आत्मश्रेय साधना चाहिये ।

॥ पंचम अध्याय समाप्त ॥

---

(१) मित्रद्रोही कृतघ्नश्च, यश्च विश्वासघातकः ।
तें नरा नरकं यान्ति, यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ १ ॥

अर्थात्—मित्रद्रोही—मित्र से द्रोह करने वाला, कृतघ्न—किए गए उपकार को न मानने वाला, और विश्वास का घात करने वाला, ये सब मर कर नरक में जाते हैं, और वहां पर जब तक चन्द्र और सूर्य हैं तब तक रहते हैं, तात्पर्य यह है कि मित्रद्रोही आदि अत्यधिक काल तक अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए नरकों में रहते हैं, और वहां दुःख पाते हैं ।

अथ षष्ठ अध्याय

मानव के जीवन का निर्माण उस के अपने विचारों पर निर्भर हुआ करता है। विचार यदि निर्मल हों, स्वच्छ हों एवं धर्मपूर्ण हो तो जीवन उत्थान अथच कल्याण की ओर प्रगति करता है। इस के विपरीत यदि विचार अप्रशस्त हों पापोन्मुखी हों तो जीवन का पतन होता है, और वे जन्म मरण की परम्परा को बढाने का कारण बनते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो—**गिरते है जब ख्याल तो गिरता है आदमी। जिस ने इन्हें संभाल लिया वह संभल गया**—यह कहा जा सकता है।

उन्नत तथा अवनत विचारों के आधार पर ही तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य की सबधकारिका मे आचार्यप्रवर श्री उमास्वाति सम्पूर्ण मानव जगत को छ विभागों मे विभक्त करते हैं। वे छः विभाग निम्नोक्त हैं—

(१) **उत्तमोत्तम**[1]—जो मानव आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रकाश उपलब्ध कर स्वय कृतकृत्य हो चुका है, पूर्ण हो चुका है, तथापि विश्वकल्याण की पवित्र भावना से दूसरों को पूर्ण बनाने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम धर्म का उपदेश देता है, वह **उत्तमोत्तम** मानव कहलाता है। इस कोटि में अरिहन्त भगवान् आते हैं। अरिहन्त भगवान् केवल ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर निष्क्रिय नहीं हो जाते, प्रत्युत निःस्वार्थ भाव से ससार को धर्म का मधुर एव सरस सन्देश देते हैं और सुपथगामी बनाकर उस को आत्मश्रेय साधने का सुअवसर प्रदान करते हैं।

(२) **उत्तम**—जिस मानव की साधना लोक और परलोक दोनों की आसक्ति से सर्वथा रहित एव विशुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिये होती है। भौतिक सुख चाहे वर्तमान का हो अथवा भविष्य का, लोक का अथवा परलोक का, दोनों ही जिस की दृष्टि में हेय होते हैं। जिस का समग्र जीवन एक मात्र आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिये सर्वथा बन्धन से मुक्त होने के लिये गतिशील रहता है। ससार का भोग चाहे चक्रवर्ती पद का हो अथवा इन्द्र पद का, परन्तु जो एकान्त निस्पृह एव अनासक्त भाव से रहता है। ससार का कोई भी प्रलोभन जिसे वीतराग भाव की साधना के पवित्र मार्ग से एक क्षण के लिये भी नहीं भटका सकता, ऐसा मानव **उत्तम** कहलाता है। यह उत्तम पद उत्तम मुनि और उत्तम श्रावक में पाया जाता है।

(३) **मध्यम**—जो लोक की अपेक्षा परलोक के सुखों की अधिक चिन्ता करता है। परलोक को सुधारने के लिये यदि इस लोक में कुछ कष्ट भी उठाना पड़े, सुख सुविधा भी छोड़नी पड़े, तो इसके लिये जो सहर्ष तैयार रहता है। जो परलोक के सुख की आसक्ति से इस लोक के सुख की आसक्ति का त्याग कर सकता है। परन्तु वीतरागभाव की साधना मे परलोक की सुखासक्ति का त्याग नहीं कर सकता। संसार की वर्तमान मोहमाया जिसे भविष्य के प्रति लापरवाह नहीं बना सकती। जो सुन्दर वर्तमान और सुन्दर भविष्य के चुनाव मे सुन्दर भविष्य को चुनने मा

(१) कविरत्न पण्डित मुनि श्री अमर चन्द्र जी म. द्वारा अनुवादित श्रमण सूत्र मे से।

ही अधिक प्रयत्न करता है परन्तु जिस का वह सुन्दर भविष्य सुखासक्तिरूप होता है, अनासक्ति— रूप नहीं, ऐसा मानव **मध्यम** कहा जाता है।

(४) **विमध्यम**—जो लोक और परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करता है। लोक और परलोक के दोनों घोड़ों पर सवारी करना चाह रहा है, परन्तु परलोक के सुखों के लिये यदि इस लोक के सुख छोडने पड़ें तो उसके लिये जो तैयार नहीं होता। जो सुन्दर भविष्य के लिये सुन्दर वर्तमान को निछावर नहीं कर सकता। जो दोनों ओर एक जैसा मोह रखता है। जिस का सिद्धान्त है—**माल भी रखना, वैकुण्ठ भी जाना**। ऐसा मानव **विमध्यम** कहलाता है।

५—**अधम**—जो परस्त्रीगमन, चोरी आदि अत्यन्त नीच आचरण तो नहीं करता परन्तु विषयासक्ति का त्याग नहीं कर सकता। जो अपनी सारी शक्ति लगा कर इस लोक के ही सुन्दर सुखोपभोगों को प्राप्त करता है और उन्हें पाकर अपने को भाग्यशाली समझता है। ऐसा जीवन धर्म को लक्ष्य में रख कर प्रगति नहीं करता प्रत्युत मात्र लोकलज्जा के कारण ही अत्यन्त नीच दुराचरणों से बचा रहता है, तथा जिस की भोगासक्ति इतनी तीव्र होती है कि धर्माचरण के प्रति किसी भी प्रकार की श्रद्धाभक्ति जागृत नहीं होने पाती, ऐसा मानव **अधम** कहलाता है।

६—**अधमाधम**—मनुष्य वह है जो लोक परलोक दोनों को नष्ट करने वाले अत्यन्त नीच पापाचरण करता है। न उसे इस लोक की लज्जा तथा प्रतिष्ठा का ख्याल रहता है और न परलोक का ही। वह परले सिरे का नास्तिक होता है। धर्म और अधर्म के विधिनिषेधों को वह ढोंग समझता है। वह उचित और अनुचित किसी भी पद्धति का ख्याल किये बिना एकमात्र अपना अभीष्ट स्वार्थ ही सिद्ध करना चाहता है। वह मनुष्य वेश्यागामी, परस्त्रीसेवन करने वाला, मांसाहारी, चोर, दुराचारी एवं सब जीवों को निर्दयतापूर्वक सताने वाला होता है। ऐसा मनुष्य अपना नीच स्वार्थ सिद्ध करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। भले ही फिर उस स्वार्थ की पूर्ति में किसी के जीवन का अन्त भी क्यों न होता हो।

प्रस्तुत छठे अध्ययन में एक ऐसे ही अधमाधम व्यक्ति का जीवन संकलित किया गया है, जो राज्यसिंहासन के लोभ में अपने पूज्य पिता जैसे अकारण बन्धु को भी मारने की गर्हित एवं दुष्टतापूर्ण प्रवृत्ति में अपने को लगा लेता है।

सूत्रकार ने इस अध्ययन में अधमाधम व्यक्ति के उदाहरण से संसार को अधमाधम जीवन से विरत रहने की तथा अहिंसा सत्य आदि धार्मिक अनुष्ठानों के आराधन द्वारा उत्तम एवं उत्तमोत्तम पद को प्राप्त करने के लिये बलवती पवित्र प्रेरणा की है। उस अध्ययन का आदिम सूत्र निम्नोक्त है—

मूल—[१] छट्ठस्स उक्खेवो। एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा णगरी। भंडीरे उज्जाणे। सुदरिसणे जक्खे। सिरिदामे राया। बन्धुसिरी भारिया। पुत्ते

(१) छाया—षष्ठस्योत्क्षेपः। तस्मिन् काले तस्मिन् समये मथुरा नगरी। भण्डीरमुद्यानम्। सुदर्शनो यक्षः। श्रीदामा राजा। बन्धुश्री भार्या। पुत्रो नन्दीवर्धनो नाम दारकोऽभवत्, अहीन० यावद् युवराजः। तस्य श्रीदाम्नः सुबन्धुर्नामामात्योऽभवत्, सामभेददण्ड० तस्य सुबन्धोरमात्यस्य बहुमित्रापुत्रो नाम दारकोऽभवत् अहीन०। तस्य श्रीदाम्नो राज्ञः चित्रो नाम अलंकारिकोऽभवत्। श्रीदाम्नो राज्ञः चित्रं बहुविधमलंकारिकं कर्म कुर्वाणः सर्वस्थानेषु सर्वभूमिकासु अन्तःपुरे च दत्तविचारश्चाप्यभवत्।

णंदिवद्धणे णामं कुमारे अहीण० जाव जुवराया। तस्स सिरिदामस्स सुबंधू नामं अमच्चे होत्था सामभेददण्ड०। तस्स णं सुबन्धुस्स अमच्चस्स बहुमित्तापुत्ते नामं दारए होत्था अहीण०। तस्स णं सिरिदामस्स रण्णो चित्तं बहुविहं अलंकारियकम्मं करेमाणे सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु अंतेउरे य दिण्णवियारे यावि होत्था।

पदार्थ—**छट्ठस्स उक्खेवो**—छठे अध्ययन के उत्क्षेप—प्रस्तावना की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **जम्बू!**—हे जम्बू!। **तेणं**—उस। **कालेणं**—काल मे। **तेणं समएणं**—उस समय में। **महुरा**—मथुरा। **णगरी**—नगरी थी। **भंडीरे**—भडीर नाम का। **उज्जाणे**—उद्यान था, उस में। **सुदरिसणे**—सुदर्शन नाम का। **जक्खे**—यक्ष था, अर्थात् उस का स्थान था। **सिरिदामे**—श्रीदाम नाम का। **राया**—राजा था, उसकी। **बंधुसिरी**—बधुश्री। **भारिया**—भार्या थी। **पुत्ते**—पुत्र। **णंदिवद्धणे**—नन्दीवर्धन। **णामं**—नामक। **कुमारे**—कुमार था, जो कि। **अहीण०**—अन्यून—न्यूनतारहित तथा निर्दोष पंचेन्द्रिय शरीर से युक्त। **जाव**—यावत्। **जुवराया**—युवराज (राजा का वह सबसे बडा लडका, जिससे आगे चल कर राज्य मिलने वाला हो) था। **तस्स**—उस। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम का। **सुबन्धू**—सुबन्धु। **नामं**—नाम का। **अमच्चे**—अमात्य—मन्त्री। **होत्था**—था, जो कि। **सामभेददंड०**—साम, भेद दण्ड, और दान नीति मे बडा कुशल था। **तस्स णं**—उस। **सुबन्धुस्स**—सुबन्धु। **अमच्चस्स**—अमात्य का। **बहुमित्तापुत्ते**—बहुमित्रापुत्र। **णामं**—नाम का। **दारए**—दारक—बालक। **होत्था**—था, जो कि। **अहीण०**—अन्यून-सम्पूर्ण और निर्दोष पचेन्द्रिय—युक्त शरीर वाला था। **तस्स णं**—उस। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम। **रण्णो**—राजा का। **चित्ते**—चित्र। **णामं**—नाम का। **अलंकारिए**—अलंकारिक—नाई। **होत्था**—था। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम। **रण्णो**—राजा का। **चित्त**—चित्र—आश्चर्यजनक। **बहुविहं**—बहुविध। **अलंकारियकम्मं**—केशादि का अलंकारिक कर्म—हजामत। **करेमाणे**—करता हुआ। **सव्वट्ठाणेसु**—सर्वस्थानों मे, तथा। **सव्वभूमियासु**—सर्वभूमिकाओ मे, तथा। **अन्तेउरे य**—अन्त पुर में। **दिण्णवियारे**—दत्तविचार—अप्रतिषिद्ध गमनागमन करने वाला। **यावि होत्था**—भी था।

मूलार्थ—छठे अध्ययन के उत्क्षेप—प्रस्तावना की कल्पना पूर्ववत कर लेनी चाहिये। हे जम्बू! उस काल तथा उस समय मे मथुरा नाम की एक सुप्रसिद्ध नगरी थी। वहा भण्डीर नाम का एक उद्यान था। उस मे सुदर्शन नामक यक्ष का यक्षायतन—स्थान था। वहा श्रीदाम नामक राजा राज्य किया करता था, उस की बन्धुश्री नाम की राणी थी। उन का सर्वांगसम्पूर्ण और परम सुन्दर युवराज पद से अलकृत नन्दीवर्धन नाम का पुत्र था।

श्रीदाम नरेश का साम, भेद, दण्ड और दान नीति मे निपुण सुबन्धु नाम का एक मन्त्री था। उस मन्त्री का बहुमित्रापुत्र नाम का एक बालक था जो कि सर्वांगसम्पन्न और रूपवान् था। तथा उस श्रीदाम नरेश का चित्र नाम का एक अलंकारिक—केशादि को अलकृत करने वाला—नाई था। वह राजा का अनेकविध आश्चर्यजनक अलंकारिककर्म—क्षौरकर्म करता हुआ राजाज्ञा से सर्वस्थानों मे सर्वभूमिकाओ तथा अन्त पुर मे प्रतिबन्धरहित यातायात किया करता था।

टीका—उपक्रम या प्रस्तावना को उत्क्षेप कहते हैं, और प्रस्तुत प्रकरणानुसारी उस का स्वरूप शा-

स्त्रीय भाषा में निम्नोक्त हैं—

"—जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं पंचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते, छट्ठस्स णं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पएणत्ते ?—" इन पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

यदि भगवन् ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के पञ्चम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ फरमाया है, तो भगवन् ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःख—विपाक के छठे अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

जम्बू स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में उनके पूज्य गुरुदेव श्रीसुधर्मा स्वामी ने जो कुछ कहना आरम्भ किया उसी को सूत्रकार ने—**एवं खलु जम्बू !** इत्यादि पदों द्वारा अभिव्यक्त किया है। जिन का अर्थ मूलार्थ में दिया जा चुका है और जो अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता।

"—**अलंकारिक**—" इस पद का अर्थ सजाने वाला भी होता है, परन्तु वृत्तिकार ने '—**अलंकारियकम्मं**—" का **क्षुरकर्म**—क्षौरकर्म (हजामत आदि बनाना) यह अर्थ किया है। इस पर से ज्ञात होता है कि चित्र नाम का एक नापित—नाई था जो कि श्रीदाम नरेश के यहां रहता था और श्रीदाम नरेश का बडा कृपापात्र था। महाराज श्रीदाम क्षौरकर्म उसी से करवाया करते थे, इसीलिये चित्र को राजभवन में हरएक स्थान पर जाने आने की स्वतन्त्रता थी। वह बिना रोकटोक के जहां चाहे वहां जा आ सकता था। शय्यास्थान, भोजनस्थान मन्त्रस्थान और आयस्थान आदि स्थानों तथा प्रासादादि की हर एक भूमिका—मंजिल आदि में अपनी इच्छा के अनुसार आता जाता था अर्थात् उसे किसी प्रकार की रोकटोक नहीं थी।

सर्वस्थान, सर्वभूमिका और **अन्तःपुर** इन पदों का अर्थ पीछे पृष्ठ ३३३ पर लिखा जा चुका है। तथा "—**दिरणवियारे**—" इस पद की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में "—**राज्ञानुज्ञातसचरण, अनुज्ञातविचारणो वा**—" इस प्रकार है अर्थात् **दत्तविचार** के दो अर्थ होते हैं, जैसे कि १. १—जिस को राजा की ओर से आने तथा जाने की आज्ञा मिली हुई हो। २—जिस को हर किसी से विचारविनिमय अथवा वार्तालाप करने की पूर्ण आज्ञा प्राप्त हो रही हो।

"—**अहीण० जाव जुवराया**" यहां पठित **जाव यावत्** पद से "—**पडिपुरणपंचिंदियसरीरे**—से ले कर "—**कन्ते पियदंसणे सुरूवे**" यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ पृष्ठ १२० पर दिया गया है।

"—**सामभेददंड०**—" यहां के बिन्दु से '—**उवप्पयाणनीतिसुप्पउत्तणयविहिन्नु**—' इत्यादि पदों का परिचायक है। इन का वर्णन पृष्ठ २८४ पर किया जा चुका है। तथा मंत्रिपुत्र के सम्बन्ध में दिए गए "—**अहीण०**—" के बिन्दु से विवक्षित पाठ का वर्णन भी पृष्ठ १२० पर किया जा चुका है।

प्रस्तुत सूत्रपाठ में मथुरा नगरी तथा भंडीर उद्यान आदि का नाम निर्देश किया गया है। इन से सम्बन्ध रखने वाला विशेष वर्णन अग्रिम सूत्र में किया जाता है—

मूल—[1] तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा गया य निग्गओ जाव गया

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृतः। परिषद् राजा च निर्गतो यावद् गता, राजापि निर्गतः। तस्मिन् काले २ श्रमणस्य ज्येष्ठो यावद् राजमार्गमवगाढः, तथैव हस्तिनः, अश्वान्, पुरुषान्, तेषां च पुरुषाणां मध्यगतमेकं पुरुषं पश्यति, यावद् नरनारीसंपरिवृतम्। ततस्तं पुरुषं राजपुरुषा

गया वि णिग्गओ । तेणं कालेणं २ समणस्स जेट्ठे जाव रायमग्गं ओगाढे । तहेव हत्थी, आसे, पुरिसे, तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासति जाव नरनारिसंपरिवुडं । तते णं तं पुरिसं रायपुरिसा चच्चरंमि तत्तंसि अयोमयंसि समजोइ—भूयंसि सिंहासणंसि निसावेंति । तयाणंतरं च णं पुरिसाणं मज्झगयं पुरिसं बहूहिं अयकलसेहिं तत्तेहिं समजोइभूतेहिं अप्पेगइया तंबभरिएहिं, अप्पेगइया तउयभरिएहिं अप्पेगइया सीसगभरिएहिं, अप्पेगइया कलकलभरिएहिं, अप्पेगइया खारतेल्लभरिएहिं महयाभिसेएणं अभिसिंचंति । तयाणंतरं च णं तत्तं अयोमयं समजोतिभूयं अओमयसंडासएणं गहाय हारं पिणद्धंति । तयाणंतरं च णं अद्धहारं जाव पट्टं मउडं । चिन्ता तहेव जाव वागरेति ।

पदार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल तथा उस समय में। सामी—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी। समोसढे—पधारे । परिसा—परिषद्—जनता । राया य—तथा राजा। निग्गओ—नगर से निकले । जाव—यावत् । गया—चली गई । राया—राजा । वि—भी । णिग्गओ=चला गया । तेणं कालेणं २—उस काल तथा उस समय में । समणस्स—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के । जेट्ठे— प्रधान शिष्य गोतम स्वामी । जाव — यावत् । रायमग्गं — राजमार्ग में । ओगाढे—पधारे । तहेव—तथैव । हत्थी—हस्तियों को । आसे—अश्वों को । पुरिसे —पुरुषों को। तेसिं च णं—और उन । पुरिसाणं - पुरुषों के । मज्झगयं—मध्यगत । जाव—यावत् । नरनारिसंपरिवुडं—नर नारियों से परिवृत—घिरे हुए । एगं—एक । पुरिसं—पुरुष को । पासति—देखते हैं । तते णं—तदनन्तर । रायपुरिसा –राजपुरुष । तं पुरिसं -उस पुरुष को । चच्चरंसि – चत्वर अर्थात् जहां अनेक मार्ग मिलते हों ऐसे स्थान पर । तत्तंसि -तप्त । अयोमयंसि —अयोमय —लोहमय। समजोइभूयंसि — अग्नि के समान देदीप्यमान—अग्नि जैसे लाल । सिंहासणंसि—सिंहासन पर। निसावेंति - बैठा देते हैं। तयाणंतरं च णं—और तत्पश्चात्। पुरिसाणं—पुरुषों के। मज्झगयं पुरिसं—मध्यगत उस पुरुष को । बहूहिं—अनेक । तत्तेहिं—तप्त—तपे हुए । अयकलसेहिं—लोहकलशों से । समजोइभूतेहिं— जो कि अग्नि के समान देदीप्यमान हैं तथा । अप्पेगइया—कितने एक । तंबभरिएहिं — ताम्र से परिपूर्ण हैं । अप्पेगइया —कितने एक । तउयभरिएहिं—त्रपु — रांगा से परिपूर्ण हैं। अप्पेगइया कितने एक । सीसगभरिएहिं—सीसक —सिक्के से परिपूर्ण हैं। अप्पेगइया— कितने एक। कलकलभरिएहिं—चूर्णक आदि से मिश्रित जल से परिपूर्ण हैं, अथवा कलकल शब्द करते हुए उष्णात्युष्ण पानी से परिपूर्ण हैं। अप्पेगइया—कितने एक। खारतेल्लभरिएहिं - क्षारयुक्त तैल से परिपूर्ण हैं, इन के द्वारा ' महया – महान । णयाभिसे

चत्वरे तप्तेऽयोमये समज्योतिर्भूते सिंहासने निषीदयंति । तदानन्तरं च पुरुषाणां मध्यगतं पुरुषं बहुभिः अयःकलशैः तप्तैः समज्योतिर्भूतैः, अप्येके ताम्रभृतैः, अप्येके त्रपुभृतैः, अप्येके सीसकभृतैः, अप्येके कलकलभृतैः अप्येके क्षारतैलभृतैः महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति तदानन्तरं च तप्तमयोमयं समज्योतिर्भूतमयोमयसंदंशकेन गृहीत्वा हारं पिनाहयन्ति । तदानन्तरं चार्द्धहारं यावत् पट्टं, मुकुटम् । चिन्ता तथैव यावत् व्याकरोति ।

एणं– राज्ययोग्य अभिषेक से। **अभिसिंचंति**–अभिषिक्त करते हैं। **तयाणंतरं च णं**–और तत्पश्चात्। **समजोइभूयं**–अग्नि के समान देदीप्यमान। **तत्तं**–तप्त। **अयोमयं**–लोहमय। **हारं**–हार को। **अओमय**–लोहमय। **संडासएणं**–संडासी से। **गहाय**–ग्रहण कर के। **पिणद्धंति**–पहनाते हैं। **तयाणंतरं च ण**–और तदनन्तर। **अद्धहारं**–अर्द्धहार को। **जाव**–यावत्। **पट्टं**–मस्तक पर बांधने का पट्ट—वस्त्र अथवा मस्तक का भूषणविशेष। **मउडं**–और मुकुट (एक प्रसिद्ध शिरोभूषण जो प्रायः राजा आदि धारण किया करते हैं—ताज) को पहनाते हैं। यह देख गौतम स्वामी को। **चिन्ता**–विचार उत्पन्न हुआ। **तहेव**–तथैव–पूर्ववत्। **जाव**–यावत्। **वागरेति**–भगवान् प्रतिपादन करने लगे।

मूलार्थ–उस काल तथा उस समय में (मथुरा नगरी के बाहिर भंडीर नामक उद्यान में) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् और राजा भगवद्दर्शनार्थ नगर से निकले यावत् वापिस चले गये।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी भिक्षार्थ गमन करते हुए यावत् राजमार्ग में पधारे। वहां उन्हों ने हाथियों, घोड़ों और पुरुषों को तथा उन पुरुषों के मध्यगत यावत् नरनारियों से घिरे हुए एक पुरुष को देखा।

राजपुरुष उस पुरुष को चत्वर—जहां बहुत से रास्ते मिलते हों, ऐसे स्थान में अग्नि के समान तपे हुए लोहमय सिंहासन पर बैठा देते हैं, बैठा कर उस को ताम्रपूर्ण त्रपुपूर्ण, सीसकपूर्ण तथा चूर्णक आदि से मिश्रित जल से पूर्ण अथवा कलकल शब्द करते हुए गर्म पानी से परिपूर्ण और क्षारयुक्त तैल से पूर्ण, अग्नि के समान तपे हुए लोहकलशों—लोहघटों के द्वारा महान राज्याभिषेक से अभिषिक्त करते हैं।

तदनन्तर उसे लोहमय सडास—संडासी से पकड़ कर, अग्नि के समान तपे हुए अयोमय हार—अठारह लड़ियों वाले हार को, अर्द्धहार—नौ लडी वाले हार को तथा मस्तक के पट्ट—वस्त्र अथवा भूषणविशेष और मुकुट को पहनाते हैं। यह देख गौतम स्वामी को पूर्ववत् चिन्ता—विचार उत्पन्न हुआ, यावत् गौतम स्वामी उस पुरुष के पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त को भगवान से पूछते हैं, तदनन्तर भगवान उस के उत्तर में इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं।

टीका–प्रस्तुत सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने से लेकर गौतम स्वामी के नगरी में जाने और वहां के राजमार्ग में हस्ती आदि तथा स्त्री पुरुषों से घिरे हुए पुरुष को देखने आदि के विषय में सम्पूर्ण वर्णन प्रथम की भान्ति जान लेने के लिये सूत्रकार ने आरम्भ में कुछ पदों का उल्लेख कर के यत्र तत्र **जाव–यावत्** शब्दों का उल्लेख भी कर दिया है।

मथुरा नगरी के राजमार्ग में गौतम स्वामी ने जिस पुरुष को देखा उस के विषय में प्रथम के अध्ययनों में वर्णित किये गये पुरुषों की अपेक्षा जो विशेष देखा वह निम्नोक्त है—

उसे श्रीदाम नरेश के अनुचर एक चत्वर में ले जाकर अग्नि के समान लालवर्ण के तपे हुए एक लोहे के सिंहासन पर बैठा देते हैं और अग्नि के समान तपे हुए लोहे के कलशों में पिघला हुआ तांबा, सीसा—सिक्का और चूर्णादि मिश्रित सतप्त जल एवं सतप्त क्षारयुक्त तैल आदि को भर कर उन से उस पुरुष का अभिषेक करते हैं अर्थात् उस पर गिराते हैं, तथा अग्नि के समान तपे हुए हार अर्द्धहार तथा मस्तकपट्ट एवं मुकुट पहनाते हैं।

उस की इस दशा को देख कर गौतम स्वामी का हृदय पसीज उठा तथा उस की दशा का ऊहापोह करते हुए भगवान् गौतम वहां से चल कर भगवान् के पास आए और आकर

उन्हों ने दृष्ट व्यक्ति का सब वृत्तान्त भगवान को कह सुनाया तथा साथ में उसके पूर्वभव के सम्बन्ध में पूछा, आदि सम्पूर्ण वृत्तान्त पूर्व की भान्ति ही जान लेना चाहिये। तदनन्तर भगवान् ने गौतम स्वामी द्वारा किए गए उक्त पुरुष के पूर्व भवसम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया।

ताम्र ताम्बे को कहते हैं। **त्रपु** शब्द रागा, कलई, टीन, जस्ता (जिस्त) के लिये प्रयुक्त होता है। **सीसक** नीलापन लिये काले रंग की एक मूल धातु का नाम है, जिस को सिक्का कहा जाता है। **कलकल** शब्द का अर्थ टीकाकार अभयदेव सूरि के शब्दों मे "—कलकलायते इति कलकलं - चूर्णकादिमिश्रितजलं—" इस प्रकार है अर्थात् चूर्णक आदि से मिश्रित गरम २ जल का परिचायक कलकल शब्द है। तथा कहीं **कलकल** शब्द का - कलकल शब्द करता हुआ गरम २ पानी, यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। **क्षार—तैल**—उस तैल का नाम है जिस में क्षार वाला चूर्ण मिला हुआ हो।

निग्गओ जाव गया—यहां का **जाव—यावत्** पद "—धम्मो कहिओ परिसा पडि—" इन पदों का परिचायक है, अर्थात् भगवान् ने धर्म का उपदेश किया और परिषद्—जनता सुन कर चली गई।

"—**जेट्ठे जाव रायमग्गं**—" यहां का **जाव—यावत्** पद "—**अन्तेवासी गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए**—" इत्यादि पदों का परिचायक है। जिन के सम्बन्ध में पृष्ठ २०७ पर लिखा जा चुका है।

"—**पासति जाव नरनारिसंपरिवुडं**—" यहां पठित **जाव—यावत्** पद —**अवओडगबन्धणं उक्खित्तकण्णनासं नेहत्तुप्पियगत्तं**— से ले कर —**कक्करसएहिं हम्ममाणं अणेग**—" इन पदों का सूचक है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १२४ तथा १२५ पर दिया जा चुका है।

"—**अद्धहार जाव पट्टं**—" यहां के **जाव यावत्** पद से "—**तिसरयं पिणद्धंति, पालंबं पिणद्धंति, कडिसुत्तयं पिणद्धंति**—" इत्यादि पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। अर्द्धहार आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—**अर्द्धहार**— जिस में नौ सरी—लडी हों उसे **अर्द्धहार** कहते हैं। २—**त्रिसरिक**—तीन लड़ों वाले हार को **त्रिसरिक** कहा जाता है। —३ **प्रालम्ब**—गले में डालने की एक लम्बी माला के लिये **प्रालम्ब** शब्द प्रयुक्त होता है। ४—**कटिसूत्र**—कमर में पहनने के डोरी को **कटिसूत्र** कहते हैं।

"—**चिन्ता तहेव जाव वागरेति**—" यहां पठित **चिन्ता** शब्द का अभिप्राय चतुर्थ अध्ययन के पृष्ठ २८७ पर लिखा जा चुका है। तथा—**तहेव** पद का अभिप्राय भी पृष्ठ १३३ पर लिख दिया गया है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां वाणिजग्राम नगर का उल्लेख है जब कि प्रस्तुत मे मथुरा नगरी का। तथा वहां भगवान् गौतम ने वाणिजग्राम के राजमार्ग पर देखे हुए दृश्य का वृत्तान्त भगवान् महावीर को सुनाया था जब कि यहां मथुरा नगरी के राजमार्ग पर देखे का, एवं दृष्ट दृश्य के वर्णन करने वाले पाठ को तथा मथुरा नगरी के राजमार्ग पर अवलोकित व्यक्ति के पूर्वभव पृच्छासम्बन्धी पाठ को संक्षिप्त करने के लिये सूत्रकार ने **जाव यावत्** पद का आश्रयण किया है। **जाव यावत्** पद से विवक्षित पाठ निम्नोक्त है—

—**त्ति कट्टु महुराए नगरीए उच्चनीयमज्झिमकुले अडमाणे अहापज्जत्तं समुयाणं गेण्हति २ महुराणयरिं मज्झंमज्झेणं जाव पडिदंसति, समणं भगवं महावीरं वन्दति, नम-**

सति २ एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे महुराणयरीए तहेव जाव वेएति। से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसि ? जाव पच्चणुभवमाणे विहरति ?—इन पदों का अर्थ पृष्ठ १२२ पर दिया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा वाणिजग्राम नगर का उल्लेख है जब कि यहा मथुरा नगरी का। शेष वर्णन समान ही है।

वागरेति— का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में "—कोऽसौ जन्मान्तरे आसीत् ? इत्येवं गौतमः पृच्छति, भगवांस्तु व्याकरोति—कथयति—" इस प्रकार है। अर्थात् श्री गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा कि भगवन् ! वह पुरुष पूर्वजन्म में कौन था ?, इस के उत्तर में भगवान् उस के पूर्वजन्म का वर्णन करते हैं।

अब सूत्रकार भगवान् महावीर स्वामी द्वारा बताए गए उस पुरुष के पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त का वर्णन करते हैं—

मूल— (१)एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे सीहपुरे णामं णगरे होत्था, रिद्ध० । तत्थ णं सीहपुरे णगरे सीहरहे णामं राया होत्था। तस्स णं सीहरहस्स रण्णो दुज्जोहणे णामं चारगपाले होत्था, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स इमे एयारूवे चारगभंडे होत्था । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे अयकुंडीओ अप्पेगतियाओ तंबभरियाओ, अप्पेगतियाओ तउयभरियाओ, अप्पेगतियाओ सीसगभरियाओ, अप्पेगतियाओ कलकलभरियाओ, अप्पे-

(१) छाया—एव खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे सिंहपुर नाम नगरमभूत् , ऋद्ध० । तत्र सिंहपुरे नगरे सिंहरथो नाम राजाभूत् । तस्य सिंहरथस्य राज्ञो दुर्योधनो नाम चारकपालोऽभूदधार्मिको यावत् दुष्प्रत्यानन्द । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य इदमेतद्रूप चारकभाण्डमभवत् । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहवोऽय कुण्ड्योऽप्येकास्ताम्रभृता, अप्येकास्त्रपुभृता, अप्येकाः सीसकभृताः, अप्येका कलकलभृताः, अप्येका क्षारतैलभृता, अग्निकाये आदग्धास्तिष्ठति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बह्वः उष्ट्रिका अश्वमूत्रभृता , अप्येका हस्तिमूत्रभृता , अप्येका उष्ट्रमूत्रभृता. अप्येका गोमूत्रभृताः, अप्येकाः महिषमूत्रभृता अप्येका अजमूत्रभृता., अप्येका एडमूत्रभृताः बहुपरिपूर्णास्तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहवो हस्तान्दुकाना च पादान्दुकाना च हडीना च निगडाना च शृखलाना च पुञ्जा निकराश्च सन्निक्षिप्तास्तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहवो वेणुलताना च वेत्रलताना च चिंचालताना च छिवाणां (श्लक्ष्णचर्मकशाना) च कशाना च वल्करश्मीना च पुजा निकराश्च तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहव शिलाना च लकुटाना च मुद्गराणा च कनङ्गराणा च पुञ्जा निकराश्च तिष्ठन्ति तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहव तन्त्रीणा च वरत्राणा च वल्करज्जूना च वालरज्जूना च सूत्ररज्जूना च पुजा निकराश्च सन्निक्षिप्तास्तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहवः असिपत्राणा च करपत्राणा च क्षुरपत्राणा च कदम्बचीरपत्राणा च पुजा निकराश्च तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहवो लोहकीलाना च कटशर्कराणा च (वंशशलाकाना च) चर्मपट्टाना च अलपट्टाना च पुजा निकराश्च तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहव सूचीना च दम्भनाना च कौटिल्याना च पुजा निकराश्च तिष्ठन्ति । तस्य दुर्योधनस्य चारकपालस्य बहव. शस्त्राणा च पिप्पलाना च कुठाराणा च नखच्छेदनाना च दर्भाणा च पुजा निकराश्च तिष्ठन्ति ।

गतियाओ खारतेल्लभरियाओ, अगणिकायंसि अद्दहियाओ चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे उट्टियाओ आसमुत्तभरियाओ, अप्पेगतियाओ हत्थिमुत्तभरियाओ, अप्पेगतियाओ उट्टमुत्तभरियाओ, अप्पेगतियाओ गोमुत्तभरियाओ, अप्पेगतियाओ महिसमुत्तभरियाओ, अप्पेगतियाओ अयमुत्तभरियाओ, अप्पेगतियाओ एलमुत्तभरियाओ, बहुपडिपुण्णाओ चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे हत्थंदुयाण य पायंदुयाण य हडीण य नियलाण य संकलाण य पुंजा निगरा य सण्णिक्खित्ता चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे वेणुलयाण य वेत्तलयाण य चिंचालयाण य छिवाण य कसाण य वायरासीण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सिलाण य लउडाण य मुग्गराण य कणंगराण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे ततीण य वरत्ताण य वागरज्जूण य वालरज्जूण य सुत्तरज्जूण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे असिपत्ताण य करपत्ताण य खुरपत्ताण य कलंबचीरपत्ताण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे लोहखीलाण य कडसक्कराण य चम्मपट्टाण य अलपट्टाण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सूईण य डंभणाण य कोट्टिल्लाण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति । तस्स णं दुज्जोहणस्स चारगपालस्स बहवे सत्थाण य पिप्पलाण य कुहाड़ाण य नहछेयणाण य दब्भाण य पुंजा णिगरा य चिट्ठन्ति ।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । गोतमा !—हे गौतम ! । तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल तथा उस समय में । इहेव—इसी । जम्बूद्दीवे—जम्बूद्वीप नामक । दीवे—द्वीप के अन्तर्गत । भारहे वासे—भारतवर्ष में । सीहपुरे—सिंहपुर । णामं—नाम का । णगरे—नगर । होत्था—था, जो कि । रिद्ध०— ऋद्ध—भवनादि की बहुलता से युक्त, स्तिमित—आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों से रहित तथा समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण, था । तत्थ णं—उस । सीहपुरे— सिंहपुर । णगरे—नगर में । सीहरहे—सिंहरथ । णामं—नाम का । राया—राजा । होत्था—था । तस्स णं—उस । सीहरहस्स—सिंहरथ । रण्णो—राजा का । दुज्जोहणे—दुर्योधन । णामं—नाम का । चारगपाले—चारकपाल अर्थात् कारागाररक्षक—जेलर । होत्था—था, जो कि । अहम्मिए—अधर्मी । जाव—यावत् । दुप्पडियाणंदे—दुष्प्रत्यानन्द—बड़ी कठिनाई से सन्तुष्ट होने वाला था । तस्स णं—उस । दुज्जोहणस्स—दुर्योधन । चारगपालस्स—चारकपाल का । इमे—यह । एयारूवे—इस प्रकार का । चारगभण्डे—चारकभाण्ड—कारागारसम्बन्धी उपकरण । होत्था—था । बहवे—अनेक । अयकुण्डीओ—लोहमय कुण्डियां थीं, जिन में से । अप्पेगतियाओ—कितनी एक । तंबभरियाओ—ताम्र से भरी हुई अर्थात् पूर्ण थीं । अप्पेगतियाओ—कितनी एक । तउयभरियाओ—त्रपु—रांगा से पूर्ण थीं । अप्पेगतियाओ—कई एक । सीसगभरियाओ—सीसक—सिक्के से पूर्ण थीं । अप्पेगतियाओ—कई एक । कलकलभरियाओ—चूर्णकादि मिश्रित जल से अथवा कलकल करते हुए अर्थात् उबलते हुए अत्युष्ण जल से

भरी हुई थीं। अप्पेगतियाओ—कितने एक। खारतेल्लभरियाओ—क्षारयुक्त तैल से परिपूर्ण थीं, जो कि। अगणिकायंसि—अग्निकाय—आग पर। अद्दहियाओ—स्थापित की हुई। चिट्ठन्ति—रहती थीं। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के। बहवे—बहुत से। उट्टियाओ—ऊंट के पृष्ठ भाग के समान बड़े २ बर्तन—मटके थे, जिन में से। अप्पेगतियाओ—कई एक तो। आसमुत्तभरियाओ—घोड़ों के मूत्र से भरे हुए थे। अप्पेगतियाओ—कई एक। हत्थिमुत्तभरियाओ—हाथियों के मूत्र से भरे हुए थे। अप्पेगतियाओ—कई एक। उट्टमुत्तभरियाओ—उष्ट्रों के मूत्र से भरे हुए थे। अप्पेगतियाओ—कई एक। गोमुत्तभरियाओ—गोमूत्र से भरे हुए थे। अप्पेगतियाओ—कई एक। अजमुत्तभरियाओ—अजों - बकरों के मूत्र से भरे हुए। अप्पेगतियाओ—और कितनेक। एलमुत्तभरियाओ—भेड़ों के मूत्र से भरे हुए थे, ये सब मटके। बहुपडिपुण्णाओ—सर्वथा परिपूर्ण, अर्थात् मुंह तक भरे। चिट्ठन्ति—रहते थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के। बहवे—अनेक। हत्थंदुयाण य—हस्तान्दुक—हाथ बांधने के लिये काष्ठ—निर्मित बन्धन - विशेष। पायंदुयाण य—पादान्दुक—पादबन्धन के लिये काष्ठमय बन्धनविशेष। हडीण य—हडि—काष्ठमय बन्धनविशेष—काठ की बेड़ी। नियलाण य—निगड़=पांव में डालने की लोहमय बेड़ी। संकलाण य—शृंखला—सांकल अथवा पांव के बांधने के लोहमय बन्धन, उन के। पुंजा—पुंज—शिखरयुक्त राशि। निगरा य—शिखररहित राशि—ढेर। सन्निक्खित्ता—एकत्रित किये हुए। चिट्ठन्ति—रहते थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के पास। बहवे—अनेक। वेणुलयाण य—वेणुलता—नाम के चाबुक। वेत्तलयाण य—वेत्रलता—बेंत के चाबुकों। चिंचालयाण—इमली वृक्ष के चाबुकों। छियाण य—चिक्कण चर्म के कोड़े। कसाण य—चर्मयुक्त चाबुक। वायरासीण य—वल्करश्मि अर्थात् वृक्षों की त्वचा से निर्मित चाबुक, उन के। पुंजा—समूह तथा। णिगरा य—ढेर। चिट्ठन्ति—पड़े रहते थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के पास। बहवे—अनेकविध। सिलाण य—शिलाओं। लउडाण य—लकड़ियों। मुग्गराण य—मुद्गरों। कणंगराण य—कनगरा—जल में चलने वाले जहाज आदि को स्थिर करने वाले शस्त्रविशेषों के। पुंजा—पुंज—शिखरबद्ध राशि। णिगरा य—निकर—शिखररहित ढेर। चिट्ठन्ति—रक्खे हुए थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स - चारपालक के पास। बहवे—अनेक। तन्तीण य—तन्त्रियों—चमड़े की डोरियां। वरत्ताण य—एक प्रकार की रस्सियों। वागरज्जू य—वल्करज्जुओं—वृक्षों की त्वचा से निर्मित रस्सियों। वालरज्जूण य—केशों से निर्मित रज्जुओं। सुत्तरज्जूण य—सूत की रस्सियों के। पुंजा—पुंज। णिगरा य—निकर—ढेर। सन्निक्खित्ता—रक्खे। चिट्ठन्ति—रहते थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के पास। बहवे—अनेक। असिपत्ताण य—कृपाणों। करपत्ताण य—आरों। खुरपत्ताण य—क्षुरकों—उस्तरों। कलम्बचीरपत्ताण य—और कलम्बचीरपत्र नामक शस्त्रविशेषों के। पुंजा—पुंज। णिगरा य—और निकर—ढेर। चिट्ठन्ति—रहते थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के पास। बहवे—अनेक। लोहखीलाण य—लोहे के कीलों। कडसक्कराण य—बांस की शलाकाओं—सलाइयों तथा। चम्मपट्टाण य—चर्मपट्टों—चमड़े के पट्टों। अलपट्टाण य—और अलपट्टों अर्थात् बिच्छू की पूंछ के आकार जैसे शस्त्रविशेषों के। पुंजा—सशिखर समूह। णिगरा य—सामान्य समूह। चिट्ठन्ति—रहते थे। तस्स णं—उस। दुज्जोहणस्स—दुर्योधन। चारगपालस्स—चारकपाल के। बहवे—अनेक। सू-

ईण य - सुइयों के, तथा । **डंभणाण य**—दम्भनों अर्थात् अग्नि में तपा कर जिन से शरीर में दाग दिया जाता है—चिन्ह किया जाता है, इस प्रकार की लोहमय शलाकाओं के, तथा । **कोट्टिल्लाण य**—कौटिल्यों—लघु मुद्गर—विशेषों के । **पुंजा** - पुञ्ज । **णिगरा य**—और निकर । **चिट्ठन्ति**—रहते थे । **तस्स णं** उस । **दुज्जोहणस्स**—दुर्योधन । **चारगपालस्स**—चारकपाल के । **बहवे**—अनेक । **सत्थाण य**—शस्त्रविशेषों । **पिप्पलाण य**—पिप्पलों—छोटे २ छुरों । **कुहाड़ाण**—कुठारों—कुल्हाड़ों । **नहछेयणाण य**—नखच्छेदकों—नहेरनों । **दब्भाण य**—और दभ—डाभों अथवा दर्भ के अग्रभाग की भांति तीक्ष्ण हथियारों के । **पुंजा**—पुंज । **णिगरा य**—निकर । **चिट्ठन्ति**—रहते थे ।

मूलार्थ—हे गौतम ! उस काल तथा उस समय मे इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष मे सिंहपुर नाम का एक ऋद्ध, स्तिमित, और समृद्ध नगर था । वहां सिंहरथ नाम का राजा राज्य किया करता था । उसका दुर्योधन नाम का एक चारकपाल—कारागृहरक्षक—जेलर था । जो कि अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द—कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था । उसके निम्नोक्त चारकभांड—कारागार के उपकरण थे ।

अनेकविध लोहमय कुंडियां थीं, जिन मे से कई एक ताम्र से पूर्ण थीं, कई एक त्रपु से परिपूर्ण थी, कई एक सीसक—सिक्के से पूर्ण थीं, कितनी एक चूर्ण मिश्रित[1] जल से भरी हुई और कितनी एक क्षारयुक्त तैल से भरी हुई थीं जोकि अग्नि पर रक्खी रहती थी ।

तथा दुर्योधन नामक उस चारकपाल—जेलर के पास अनेक उष्ट्रों के पृष्ठभाग के समान बड़े २ बर्तन (मटके) थे, उन मे से कितने एक अश्वमूत्र से भरे हुए थे, तथा कितने एक हस्तिमूत्र से भरे हुए थे, कितने एक उष्ट्रमूत्र से, कितने एक गोमूत्र से, कितने एक महिष—मूत्र से, कितने एक अजमूत्र और कितने एक भेडों के मूत्र से भरे हुए थे ।

तथा दुर्योधन नामक उस चारकपाल के अनेक हस्तान्दुक (हाथ मे बांधने का काष्ठ—निर्मित बन्धनविशेष), पादान्दुक (पांव मे बांधने का काष्ठनिर्मित बन्धनविशेष), हडि—काठ की बेडी, निगड—लोहे की बेडी और शृंखला-लोहे की जंजीर के पुंज (शिखरयुक्त राशि) तथा निकर (शिखररहित ढेर) लगाये हुए रक्खे थे ।

तथा उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक वेणुलताओं—बांस के चाबुकों, बेंत के चाबुकों, चिंचा - इमली के चाबुकों, कोमल चर्म के चाबुकों तथा सामान्य चाबुकों (कोडाओं) और वल्कलरश्मियों—वृक्षों की त्वचा से निर्मित चाबुकों के पुंज और निकर रक्खे पडे थे ।

तथा उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक शिलाओं, लकडियों, मुद्गरों और कनंगरों के पुंज और निकर रक्खे हुए थे ।

तथा उस दुर्योधन के पास अनेकविध चमडे की रस्सियों, सामान्य रस्सियों, वल्कलरज्जुओं—वृक्षों की त्वचा—छाल से निर्मित रज्जुओं, केशरज्जुओं और सूत्र की रज्जुओं के पुंज और निकर रक्खे हुए थे ।

तथा उस दुर्योधन के पास असिपत्र (कृपाण), करपत्र (आरा), क्षुरपत्र (उस्तरा) और कदम्बचीरपत्र (शस्त्रविशेष) के पुंज और निकर रक्खे हुए थे ।

---

(१) चूर्णमिश्रित जल का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ऐसा पानी जिस का स्पर्श होते ही शरीर में जलन उत्पन्न हो जाय और उस के अन्दर दाह पैदा कर दे ।

तथा उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेकविध लोहकील, वंशशलाका, चर्मपट्ट, और अलपट्ट के पुंज और निकर लगे पड़े थे।

तथा उस दुर्योधन कोतवाल के पास अनेक सूइयों, दम्भनों, और लघु मुद्गरों के पुंज और निकर रक्खे हुए थे।

तथा उस दुर्योधन के पास अनेक प्रकार के शस्त्र, पिप्पल (लघु छुरे), कुठार, नखच्छेदक और दर्भ—डाभ के पुंज और निकर रक्खे हुए थे।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन में प्रधानतया जिस व्यक्ति का वर्णन करना सूत्रकार को अभीष्ट है, उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाने का उपक्रम करते हुए भगवान् कहते हैं—कि हे गोतम ! इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष में सिंहपुर नाम का एक सुप्रसिद्ध और हर प्रकार की नगरोचित समृद्ध से परिपूर्ण नगर था। उसमें सिंहरथ नाम का एक राजा राज्य किया करता था जो कि राजोचित गुणों से युक्त अत एव महान् प्रतापी था। उसका दुर्योधन नाम का एक चारकपाल—कारागार का अध्यक्ष (जेलर) था, जोकि नितान्त अधर्मी, पतित और कठोर मनोवृत्ति वाला अर्थात् भीषण दंड दे कर भी पीछा न छोड़ने वाला तथा परम असन्तोषी और साधुजन—विद्वेषी था। उसके कारागार के अन्दर—जेलखाने में दण्ड विधानार्थ नाना प्रकार के उपकरणों का संचय कर रक्खा था। उन उपकरणों को १० भागों में बांटा जा सकता है। वे दश भाग निम्नोक्त हैं—

(१) लोहे की अनेकों कुंडिए थीं, जो आग पर धरी रहती थीं। जिन में ताम्र, त्रपु, सीसक, कलकल और क्षारयुक्त तैल भरा रहता था।

(२) अनेकों उष्ट्रिका—बड़े २ मटके थे जो घोड़ों, हाथियों, ऊंटों, गायों, भैंसों, बकरों तथा भेड़ों के मूत्र से परिपूर्ण अर्थात् मुंह तक भरे रहते थे।

(३) हस्तान्दुक, पादान्दुक, हडि, निगड और शृंखल। इन सब के पुंज और निकर एकत्रित किये हुए रहते थे।

(४) वेणुलता, वेत्रलता, चिंचालता, छिवा—श्लक्ष्णचर्मकशा, कशा और वल्करश्मि, इन सब के पुंज और निकर रखे रहते थे।

(५) शिला, लकुट, मुद्गर और कनंगर इन सब के पुंज और निकर रखे हुए रहते थे।

(६) तन्त्री, वरत्रा, वल्करज्जु वालरज्जु और सूत्ररज्जु इन सब के पुंज और निकर रखे रहते थे।

(७) असिपत्र, करपत्र, क्षुरपत्र और कदम्बचीरपत्र इन सब के पुंज और निकर रखे रहते थे।

(८) लोहकील, वंशशलाका, चर्मपट्ट और अलपट्ट इन सब के पुंज और निकर रखे रहते थे।

(९) सूची दम्भन और कोटिल्य इन सब के पुंज और निकर रखे रहते थे।

(१०) शस्त्रविशेष, पिप्पल, कुठार, नखच्छेदक और दर्भ इन सब के पुंज और निकर रखे रहते थे।

उपरोक्त ताम्र आदि शब्दों का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

ताम्र, त्रपु, सीसक कलकल, क्षारतैल इन शब्दों का अर्थ पीछे पृष्ठ ३४४ पर लिखा जा चुका है। **उष्ट्रिका** का अर्थ है—"—उष्ट्रस्याकार पृष्ठावयव इवाकारो यस्याः सा—" अर्थात् ऊंट के आकार का लम्बी गर्दन वाला बर्तन। हिन्दी में जिसे मटका—माट कहा जाता है। **हस्तान्दुक**—हाथ बांधने के लिये काठ आदि के बन्धनविशेष—हथकड़ी को कहते हैं। **पादान्दुक** का अर्थ है—पाद बांधने का काष्ठमय उपकरण—पांव की बेड़ी। **हडि**—शब्द काष्ठमय बंधनविशेष के लिए अर्थात् काठ की बेड़ी इस अर्थ में

प्रयुक्त होता है। **निगड़**—पांव में डालने की लोहमय वेडी का नाम है। **शृङ्खला**—साकल को अथवा लोहे का बना हुआ पादबन्धन—वेड़ी को कहते हैं। शिखर—चोटी वाली राशि—ढेर को **पुंज**, और विना शिखर वाली राशि को **निकर** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि बहुत ऊंचे तथा विस्तृत ढेर का **पुंज** शब्द से ग्रहण होता है और सामान्य ढेर को **निकर** शब्द से बोधित किया जाता है।

स्थल में उत्पन्न होने वाले बास की छडी या चाबुक का नाम **वेणुलता**, तथा जल मे उत्पन्न बास की छडी या चाबुक को **वेत्रलता** कहते हैं। **चिंचा**—इमली का नाम है उसकी लकड़ी की **लता**—छडी या चाबुक को **चिंचालता** कहते हैं **छिवा** यह देश्य—देशविशेष में बोला जाने वाला पद है, इस का अर्थ श्लक्ष्ण कोमल चर्म का चाबुक-कोडा होता है। सामान्य चर्म युक्त यष्टिका-चाबुक का नाम **कशा** है। **वल्करश्मि** इस पद में दो शब्द हैं, एक वल्क दूसरा रश्मि। **वल्क** पेड की छाल को कहते हैं और **रश्मि** चाबुक का नाम है, तात्पर्य यह है कि वृक्षों की त्वचा से निर्मित चाबुक का नाम **वल्करश्मि** होता है।

चौडे पत्थर का नाम **शिला** है। **लकुट** लाठी छडी, लक्कड़ और डण्डे का नाम है। **मुद्गर** एक शस्त्रविशेष को कहते हैं। **कनङ्गर** पद की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में—"**के पानीये ये नङ्गरा बोधिस्थनिश्चलीकरणपाषाणास्ते कनङ्गरा, कानङ्गरा वा ईषन्नङ्गरा इत्यर्थ**" इस प्रकार है। अर्थात् **क** नाम जल का है और **नङ्गर** उस पत्थर को कहते हैं जो समुद्र में जहाज को निश्चल—स्थिर करता है। तात्पर्य यह है कि समुद्र में जहाज को स्थिर करने वाला एक प्रकार का पत्थर **कनङ्गर** कहलाता है, जिसे आजकल **लंगर** कहा जाता है। टीकाकार के मत मे **कानङ्गर** शब्द भी प्रयुक्त होता है और उस का अर्थ—जहाज को स्थिर करने वाले छोटे २ पत्थर—ऐसा होता है।

तन्त्री शब्द चमड़े की रस्सी के लिये प्रयुक्त होता है। **वरत्रा** शब्द का पद्मचन्द्रकोषकार हस्तिकक्षस्थ रज्जु अर्थात् हाथी की पेटी तथा अर्धमागधीकोषकार—चमड़े की रस्सी, तथा प्राकृतशब्द-महार्णवकोषकार—रस्सी और पण्डित मुनि श्री घासीलाल जी म० **वरत्रा** का—कपास के डोरों को मिला कर बटने से तैयार हुए मोटे २ रस्से अथवा चमडे का रस्सा—ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु प्रस्तुत में रज्जुप्रकरण होने के कारण **वरत्रा** शब्द चर्ममय रस्सी, या सामान्य रस्सी या कपास आदि का रस्सा—इन अर्थों का परिचायक है। वृक्षविशेष की त्वचा से निर्मित रज्जु का नाम **वल्करज्जु** है। केशों से निर्मित रज्जु **वालरज्जु** और सूत्र की रस्सी को **सूत्ररज्जु** कहते हैं।

असिपत्र तलवार को, **करपत्र** आरे (लोहे की दातीदार पटरी, जिसमे रेत कर लकड़ी चीरी जाती है, उसे **आरा** कहते हैं) को, **क्षुरपत्र**—उस्तरे (बाल मूडने का औजार) को, और **कदम्बचीरपत्र**—शस्त्रविशेष को कहते हैं।

असिपत्र का अर्थ टीकाकार ने तलवार लिखा है। परन्तु इस मे एक शका उत्पन्न होती है कि **असि** शब्द ही जब तलवार अर्थ का बोध करा देता है तो फिर असि के साथ पत्र-शब्द का सयोजन क्यों? इस का उत्तर [1]स्थानांग सूत्रीय टीका मे दिया गया है। वहा लिखा है-

(१) **पत्राणि पर्णानि तद्वत् प्रतनुतया यानि अस्यादीनि तानि पत्राणि इति, असि—खड्ग, स एव पत्रम् असिपत्र, करपत्रं—क्रकचं येन दारु छिद्यते, क्षुर.—क्षुर, स एव पत्र क्षुरपत्र, कदम्बचीरिकेति शस्त्रविशेष इति।** (स्थानांगसूत्रटीका, स्थान ४, उ० ४)

जो तलवार पत्र के समान प्रतनु (पतली) होती है, वह **असिपत्र** कहलाती है, अर्थात् मात्र असि शब्द मे तो सामान्य तलवार का बोध होता है जब कि उस के साथ प्रयुक्त हुआ **पत्र** यह शब्द उस मे (तलवार मे) पत्र के सदृश—समान प्रतनुता का बोध कराता है। इसी प्रकार **करपत्र, क्षुरपत्र** और **कदम्बचीरपत्र** के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये।

लोहे की कील—मेख को **लोहकील** कहते हैं। **वशशलाका** का अर्थ बांस की सलाई होता है। अर्धमागधीकोषकार **कडसक्करा** - इस पद का संस्कृत प्रतिरूप "—**कटशर्करा**—" ऐसा मानते हैं। परन्तु प्राकृतशब्दमहार्णवकोषकार के मत में—**कड़सक्करा**—यह देश्य – देशविशेष में बोला जाने वाला पद है। **चर्मपट्ट**— चमडे के पट्टे का नाम है। **अलपट्ट** शब्द बिच्छू के पूछ के आकार वाले शस्त्र – विशेष के लिए अथवा बिच्छू की पूछगत डक के समान विपाक्त (ज़हरीले) शस्त्रविशेष के लिये प्रयुक्त होता है।

सूची सूई का नाम है। **दम्भन** शब्द का अर्थ वृत्तिकार के शब्दों मे—"—**यैरग्निप्रदीप्तैर्लोह-शलाकादिभि परशरीरेऽङ्क उत्पाद्यते तानि दम्भनानि**—" इस प्रकार है, अर्थात् जिन सतप्त लोहशला—काओं के द्वारा दूसरे के शरीर में चिन्ह किया जाये उन्हें **दम्भन** कहते हैं। स्वार्थ में क—प्रत्यय हो जाने पर **दम्भनक** शब्द का भी व्यवहार होता है। **कौटिल्य** शब्द छोटे मुद्गरों लिये प्रयुक्त होता है। **शस्त्र** उस उपकरण को कहते हैं जिस से किसी को काटा या मारा जाए, अथवा **गुप्ती** (वह छड़ी जिस के अन्दर गुप्तरूप से किरच या पतली तलवार हो) आदि को **शस्त्र** कहा जाता है। **पिप्पल** छुरी को कहते हैं। कुल्हाडे का नाम **कुठार** है। नहरनी (नाइयों का एक औजार जिस से नाखून काटे जाते हैं) का नाम **नखच्छेदन** है। **दर्भ**—दर्भ (बारीक घास) को कहते हैं अथवा दर्भ के अग्रभाग की तरह तीक्ष्ण हथियार का नाम भी **दर्भ** होता है।

"—**रिद्ध०**—" यहां के बिन्दु मे विवक्षित पाठ को पृष्ठ १३८ पर तथा "—**अहिंसए जाव दुप्पडियाणंदे**—" यहां के **जाव—यावत्** पद से विवक्षित पाठ को पृष्ठ ५५ पर लिखा जा चुका है। पाठक वहीं से देख सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे चारकपाल दुर्योधन के कारागारसम्बन्धी उपकरण – सामग्री का निर्देश किया गया है, अब अग्रिम सूत्र मे उस के कृत्यों का वर्णन किया जाता है—

मूल—[1]तते णं से दुज्जोहणे चारगपाले सीहरहस्स रण्णो बहवे चोरे य

---

(१) छाया – तत स दुर्योधन चारकपाल सिंहरथस्य राज्ञोऽपकारिणश्च ऋणधारकाश्च बालघाति-नश्च विश्रम्भघातिनश्च द्यूतकाराश्च धूर्तांश्च पुरुषैर्ग्राहयति ग्राहयित्वा उत्तानान् पातयति, लोहदण्डेन मुख-मुद्घाटति, उद्घाट्य अप्येकान् तप्तताम्र पाययति, अप्येकान् त्रपु पाययति अप्येकान् सीसक पाययति अप्येकान् कलकल पाययति, अप्येकान् क्षारतैल पाययति। अप्येकेषा तेनैवाभिषेक कारयति। अप्येका—नुत्तानान् पातयति २ अश्वमूत्र पाययति अप्येकान् हस्तिमूत्र पाययति, यावदेडमूत्र पाययति। अप्येका-नधोमुखान् पाययति २ घलघल वमयति २ अप्येकेषा तेनैवावपीड दापयति। अप्येकान् हस्तान्दुकैर्बन्धयति अप्येकान् पादान्दुकैर्बन्धयति, अप्येकान् हडिबन्धनान् करोति, अप्येकान् निगड़बन्धनान् करोति, अप्येकान् सकोचितामोटितान् करोति, अप्येकान् शृखलाबन्धनान् करोति, अप्येकान् छिन्नहस्तान् करोति, यावच्छ-स्त्रोत्पाटितान् करोति, अप्येकान् वेणुलताभिश्च यावद् वल्करश्मिभिश्च घातयति। अप्येकानुत्तानान् का—रयति, उरसि शिला दापयति २ लकुट क्षेपयति, पुरुषैरुत्कम्पयति। अप्येकान् तन्त्रीभिश्च यावत् सूत्र-

पारदारिए य गंठिभेदे य रायावगारी य अणधारए य बालघाती य वीसंभघाती य जूतकारे य खंडपट्टे य पुरिसेहिं गेण्हावेति गेण्हावेत्ता उत्ताणए पाडेति २ लोहदंडेण मुहं विहाडेति २ अप्पेगतिए तत्ततंबं पज्जेति, अप्पेगतिए तउयं पज्जेति, अप्पेगतिए सीसग पज्जेति, अप्पेगतिए कलकलं पज्जेति, अप्पेगतिए खारतेल्लं पज्जेति। अप्पेगतियाणं तेणं चेव अभिसेग कारेति। अप्पेगतिए उत्ताणे पाडेति २ आसमुत्तं पज्जेति, हत्थिमुत्त पज्जेति जाव एलमुत्तं पज्जेति । अप्पेगतिए हेट्ठामुहे पाडेति २ घलवलस्स वम्मावेति २ अप्पेगतियाणं तेण चेव ओवील दलयति । अप्पेगतिए हत्थंदुयाहि बंधावेइ, अप्पेगतिए पायदुयाहि बन्धावेइ, अप्पेगतिए हडिबंधणे करेति, अप्पेगतिए नियलबंधणे करेति, अप्पेगतिए संकोडियमोडियए करेति अप्पेगतिए संकलबंधणे करेति, अप्पेगतिए हत्थछिन्नए करेति जाव सत्थोवाडिए करेति अप्पेगतिए वेणुलयाहि य जाव वायरासीहिं य हणावेति । अप्पेगतिए उत्ताणए कारवेति, उरे सिलं दलावेति २ लउलं छुभावेति २ पुरिसेहि उक्कपावेति। अप्पेगतिए तंतीहि य जाव सुत्तरज्जूहि य हत्थेसु य पादेसु य बंधावेति २ अगडंसि उच्चूलं वोलगं पज्जेति । अप्पेगतिए असिपत्तेहि य जाव कलंबचीरपत्तेहि य पच्छावेति खारतेल्लेणं अब्भगावेति, अप्पेगतियाणं णिडालेसु य अवट्टूसु य कोप्परेसु य जाणुसु य खलुएसु य लोहकीलए य कडसक्कराओ य दवावेति, अलए भंजावेति [1]। अप्पेगतियाणं सूईओ य दंभणाणि य हत्थंगुलियासु य पायंगुलियासु य कोट्टिल्लएहि आओडावेति २ भूमि कंडूयावेति । अप्पेगतियाणं सत्थएहिं य जाव नहच्छेदणएहि य अंगं पच्छावेइ, दब्भेहि य कुसेहि य उल्लचम्मेहि य वेढावेति, आयवंसि दलयति २ सुक्खे समाणे चड़चड़स्स उप्पाडेति । तते णं से दुज्जोहणे चारगपालए एयंकम्मे ४ सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता एगतीसं वाससताइं परमाउं पालइत्ता कालमासे काल किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीससागरोवमट्ठितिएसु नेरइएसु उववन्ने ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । से—वह । दुज्जोहणे—दुर्योधन । चारगपाले—चारकपाल अर्थात् कारागृह का प्रधान अधिकारी—जेलर । सीहरहस्स—सिंहरथ । रण्णो—राजा के । बहवे—अनेक

ज्जुभिश्च हस्तेषु च पादेषु च बन्धयति २ अवटेऽवचूल बोडन पाययति । अप्येकानसिपत्रैश्च यावत् कदम्बचीरपत्रैश्च प्रतक्षयति क्षारतैलेनाभ्यगयति । अप्येकेषा ललाटेषु च अवटुषु च कूर्परेषु च जानुषु च गुल्फेषु च लोहकीलकान् वशशलाकाश्च दापयति, [1]अलानि भजयति (प्रवेशयति) । अप्येकेषा सूचीश्च दम्भनानि च हस्तागुलिषु च पादागुलिषु च कौटिल्यैराखोटयति २ भूमि कडूयति । अप्येकेषा शस्त्रकैश्च यावत् नखच्छेदनैश्चाग प्रतक्षयति । दर्भैश्च कुशैश्चार्द्रचर्मभिश्च वेष्टयति, आतपे दापयति, शुष्के सति चडचडमुत्पाटयति । तत स दुर्योधन चारकपाल एतत्कर्मा ४ सुबहु पाप कर्म समर्ज्य एकत्रिंशत वर्षशतानि परमायु पलयित्वा कालमासे काल कृत्वा षष्ठ्या पृथिव्यामुत्कर्षेण द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु नैरयिकेषूपपन्न ।

---

(१) अलानि भञ्जयति वृश्चिककण्टकान् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थ । (वृत्तिकार)

चोरे य—चोरों को। **पारदारिए य**—परस्त्री—लम्पटों को। **गंठिभेए य**—गांठकतरों को। **राया-वगारी य**—राजा के अपकारियों—शत्रुओं को, तथा। **अणधारए य**—ऋणधारकों—कर्जा नहीं देने वालों को अर्थात् जो ऋण लेकर उसे वापिस नहीं करते हैं, उन को। **बालघाती य**—बालघातियों—बालकों की हत्या करने वालों को। **वीसम्भघाती य**—विश्वास—घातकों को। **जूतकारे य**—जुआरियों को अर्थात् जुआ खेलने वालों को। **खण्डपट्टे य**[1]—और धूर्तों को। **पुरिसेहिं**—पुरुषों के द्वारा। **गेण्हावेति गेण्हावेत्ता**—पकड़वाता है, पकड़वा कर। **उत्ताणए**—ऊर्ध्वमुख—सीधा, पंजाबी भाषा में जिसे चित्त कहते हैं। **पाडेति**—गिराता है, तदनन्तर। **लोहदंडेण**—लोहदण्ड से। **मुहं**—मुख को। **विहाडेति २**—खुलवाता है, खुलवा कर। **अप्पेगतिए**—कई एक को। **तत्तं तंबं**—तप्त—पिघला हुआ ताम्र—ताम्बा। **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतिए**—कई एक को। **तउयं**—त्रपु—रांगा। **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतिए**—कितने एक को। **सीसगं**—सीसक—सिक्का। **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतिए**—कितने एक को। **कलकलं**—चूर्णमिश्रित जल को अथवा कलकल शब्द करते हुए गरम २ पानी को। **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतिए**—कितने एक को। **खारतेल्लं**—क्षारयुक्त तेल को **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतियाणं**—कितनों का। **तेण चेव**—उसी तैल से। **अभिसेगं कारेति**—अभिषेक—स्नान कराता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **उत्ताणे**—ऊर्ध्वमुख—सीधा। **पाडेति २**—गिराता है, गिरा कर। **आसमुत्तं**—अश्वमूत्र। **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **हत्थि-मुत्तं**—हस्तीमूत्र। **पज्जेति**—पिलाता है। **जाव**—यावत्। **एलमुत्तं**—एडमूत्र—भेडों का मूत्र। **पज्जेति**—पिलाता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **हेट्ठामुहे**—अधोमुख—औंधा। **पाडेति २**—गिराता है, गिरा कर। **घलघलस्स**[2]—घल घल शब्द पूर्वक। **वम्मावेति**—वमन कराता है। **अप्पेगतियाणं**—कितनों को। **तेण चेव**—उसी वान्त पदार्थ से। **ओवीलं**—पीडा। **दलयति**—देता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **हत्थं-दुयाहिं**—हस्तान्दुकों—हाथ में बांधने वाले काष्ठनिर्मित बन्धनविशेषों से। **बंधावेइ**—बंधवाता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **पायंदुयाहिं**—पादान्दुकों—पांव में बांधने योग्य काष्ठनिर्मित बंधनविशेषों से। **बंधावेइ**—बंधवाता है, तथा। **अप्पेगइए**—कितनों को। **हडिबंधणे**—काष्ठमय बंधन (काठ की बेडी) से युक्त। **करेति**—करता है। **अप्पेगतिए**—कितनों के। **नियलबंधणे**—निगडबंधन—लोहमय पांव की बेडी से युक्त। **करेति**—करता है। **अप्पेगतिए**—कितनों के अंगों का। **संकोडियमोडियए करेति**—संकोचन और मरोटन करता है, अर्थात् अंगों को सिकोडता और मरोडता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **संकलबंधणे करेति**—सांकलों के बंधन से युक्त करता है अर्थात् सांकलों से बांधता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **हत्थछिण्णए करेति**—हस्तच्छेदन से युक्त करता है अर्थात् हाथ काटता है। **जाव**—यावत्। **सत्थोवाडिए करेति**—शस्त्रों से उत्पाटित—विदारित करता है अर्थात् शस्त्रों से शरीरावयवों को काटता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **वेणुलयाहि य**—वेणुलताओं—बैंत की छड़ियों से। **जाव**—यावत्। **वायरासीहि य**—वल्कल—वृक्षत्वचा के चाबुकों से। **हणावेति**—मरवाता है। **अप्पेगतिए**—कितनों को। **उत्ताणए**—ऊर्ध्वमुख। **कारवेति २**—करवाता है, करवा कर। **उरे**—छाती पर। **सिलं**—शिला को। **दलावेति २**—धरवाता है धरवाकर। **लउलं**—लकुट—लक्कड़ को। **छुभावेति २**—रखवाता है, रखवा कर। **पुरिसेहिं**—पुरुषों द्वारा। **उक्कंपावेति**—उत्कम्पन करवाता है। **अप्पेगतिए**—

(१) खण्डपट्ट शब्द का विस्तार—पूर्वक अर्थ पृष्ठ २०१ पर लिखा जा चुका है।

(२) इस पद के स्थान में कहीं—**छडछडस्स**—ऐसा, तथा—**वलस्स**—ऐसा पाठ भी मिलता है। "—**छडछडस्स**—"का अर्थ है—छड २ शब्द पूर्वक, तथा"—**वलस्स**—"का—बलपूर्वक—ऐसा अर्थ होता है।

कितनों को । **ततीहि य**—चर्म की रस्सियों के द्वारा । **जाव**—यावत् । **सुत्तरज्जुहि य**—सूत्ररज्जुओं से । **हत्थेसु य**—हाथों को, तथा । **पादेसु य**—पैरों को । **बधावेति २**- बंधवाता है, बंधवाकर। **अगड सि**—अवट—कूप में अथवा कूप के समीप गौ, भैंस आदि पशुओं को जल पिलाने के लिये बनाए गए गर्त में । **उच्चूल**—अवचूल—ऊर्ध्वपाद अधःसिर अर्थात् पैर ऊपर और सिर नीचे कर खड़ा किये हुए का । **बोलग**[1]—मज्जन । **पज्जेति**—कराता है अर्थात् गोते खिलाता है । **अप्पेगतिए**—कितनों को । **असिपत्ते हि य**—असिपत्रों—तलवारों से । **जाव**—यावत् । **कलवचीरपत्ते हि य**—कलबचीरपत्रों— शस्त्रविशेषों से । **पच्छावेति २**—तच्छवाता है, तच्छवा कर । **खारतेल्लेण**—क्षारमिश्रित तैल से । **अब्भंगावेति**—मर्दन कराता है । **अप्पेगतियाण**—कितनों के । **णिडालेसु य**—मस्तकों में, तथा । **अवडूसु य**—कठमणियों—घण्डियों में, तथा । **कोप्परेसु य**—कूर्परों—कोहनियों में । **जाणुसु य**—जानुओं में, तथा । **खलुएसु य**—गुल्फों—गिट्टों में । **लोहकीलए य**—लोहे के कीलों को । **कडसक्कराओ य**—तथा बांस की शलाकाओं को । **दवावेति**—दिलवाता है—ठुकवाता है । **अलए**—वृश्चिककण्टकों—बिच्छू के कांटों को । **भंजावेति**—शरीर में प्रविष्ट कराता है । **अप्पेगतियाण**—कितनों के । **हत्थंगुलियासु य**—हाथों की अंगुलियों में, तथा । **पायंगुलियासु य**—पैरों की अंगुलियों में । **कोट्टिल्लएहिं**—मुद्गरों के द्वारा । **सूइओ य**—सूइएं । **दंभणाणि य** — दम्भनों अर्थात् दागने के शस्त्रविशेषों को । **आओडावेति २**—प्रविष्ट कराता है, प्रविष्ट करा कर । **भूमि**—भूमि को । **कंडूयावेति**—खुदवाता है । **अप्पेगइयाण**—कितनों के । **सत्थएहिं**—शस्त्रविशेषों से । **जाव**—यावत् । **नखच्छेदणएहि य**—नखच्छेदनक—नेहरनों के द्वारा । **अंगं**—अंग को । **पच्छावेइ**—तच्छवाता है । **दब्भेहि य**—दर्भों—मूलसहित कुशाओं से । **कुसेहि य**[2]—कुशाओं—मूल रहित कुशाओं से । **उल्लचम्मेहि य**—आर्द्रचर्मों से । **वेढावेति २**—बंधवाता है, बंधवाकर । **आयवंसि**—आतप—धूप में । **दलयति २**—डलवा देता है, डलवाकर । **सुक्खे समाणे**—सूखने पर । **चड़चडस्स**—चड़चड़ शब्द पूर्वक, उनका । **उप्पाडेति**—उत्पाटन कराता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **दुज्जोहणे**—दुर्योधन । **चारगपालए**—चारकपाल—कारागाररक्षक । **एयकम्मे ४**—एतत्कर्मा—यही जिस का कर्म बना हुआ था, एतत्प्रधान—यही कर्म जिसका प्रधान बना हुआ था, एतद्विद्य—यही जिस की विद्या—विज्ञान था, एतत्समाचार—यही जिस के विश्वासानुसार सर्वोत्तम आचरण था, ऐसा बना हुआ । **सुबहु**—अत्यधिक । **पाव कम्मं**—पाप कर्म का । **समज्जिणित्ता**—उपार्जन कर के । **एगतीसं वाससयाइं**—३१ सौ वर्ष की । **परमाउं**—परम आयु को । **पालइत्ता**—पाल कर—भोग कर । **कालमासे**—कालमास में अर्थात् मृत्यु का समय आ जाने पर । **कालं किच्चा**—काल कर के । **छट्ठीए पुढवीए**—छठी नरक में । **उक्कोसेणं**—उत्कृष्टरूप से । **बावीससागरोवमट्ठितिएसु** — बाईस सागरोपम की स्थिति वाले । **नेरइएसु**—नारकियों में । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह दुर्योधन नामक चारकपाल—कारागार का प्रधान नायक अर्थात् जेलर सिंहरथ राजा के अनेक चोर, पारदारिक, ग्रन्थिभेदक, राजापकारी, ऋणधारक, बालघाती,

---

(१) इस स्थान में—**पाणगं**—ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है, जिस का अर्थ है—पानी । तात्पर्य यह है कि दुर्योधन चारकपाल अपराधियों को कूप में लटका कर उन से उस का पानी पिलवाता था ।

(२) एक प्रकार के घास का नाम **दर्भ** या **कुश** है । वृत्तिकार की मान्यतानुसार जब कि वह घास समूल हो तो **दर्भ** कहलाता है और यदि वह मूलरहित हो तो उसे **कुश** कहते हैं ।

विश्वासघाती, जुआरी और धूर्त पुरुषों को राजपुरुषों के द्वारा पकड़वा कर ऊर्ध्वमुख गिराता है गिरा कर लोहदंड से मुख का उद्घाटन करता है अर्थात् खोलता है, मुख खोल कर कितने एक को तप्त —ढला हुआ ताम्र—तांबा पिलाता है, कितने एक को त्रपु, सीसक चूर्णादि मिश्रित जल अथवा कलकल करता हुआ उष्णात्युष्ण जल और क्षारयुक्त तैल पिलाता है, तथा कितनों का उन्हीं से अभिषेक कराता है। कितनों को ऊर्ध्वमुख अर्थात् सीधा गिरा कर उन्हें अश्वमूत्र, हस्तिमूत्र यावत् एडों—भेडों का मूत्र पिलाता है। कितनो को अधोमुख गिरा कर घलघल शब्द पूर्वक वमन कराता है, तथा कितनों का उसी के द्वारा पीडा देता है। कितनो को हस्तान्दुकों, पादान्दुकों, हडियों, तथा निगडों के बन्धनों से युक्त करता है। कितनों के शरीर को सिकोड़ता और मरोड़ता है। कितनों को शृंखलाओं—साकलों से बान्धता है। तथा कितनों का हस्तच्छेदन यावत् शस्त्रों से उत्पाटन कराता है। कितनों को वेणुलताओं यावत् वल्करश्मियों—वृक्षत्वचा के चाबुकों से पिटवाता है।

कितनों को उर्ध्वमुख गिरा कर उनके वक्ष स्थल पर शिला और लक्कड धरा कर राजपुरुषों के द्वारा उस शिला तथा लक्कड का उत्कंपन कराता है। कितनों के तन्त्रियों यावत् सूत्ररज्जुओं के द्वारा हाथों और पैरों को बधवाता है बन्धवा कर कूप मे उलटा लटकाता है, लटका कर गोते खिलाता है तथा कितनों का असिपत्रों यावत् कलम्बचीरपत्रों से छेदन कराता है और उस पर क्षारयुक्त तैल की मालिश कराता है। कितनों के मस्तकों अवटुओं—घंडियों, जानुओं और गुल्फों—गिट्टों मे लोहकीलों तथा वंशशलाकाओं को ठुकवाता है, तथा वृश्चिककण्टको—बिच्छु के कांटों को शरीर मे प्रविष्ट कराता है। कितनों की हस्तांगुलियों और पादांगुलियों मे मुद्गरों के द्वारा सूइय और दम्भनों को प्रविष्ट कराता है तथा भूमी को खुदवाता है। कितनों का शस्त्रों यावत् नहेरनों से अग छिलवाता है और दर्भों—मूलसहित कुशाओं, कुशाओं—विना जड़की कुशाओं तथा आर्द्र —चर्मों के द्वारा बधवा देता है। तदनन्तर धूप मे गिरा कर उन के सूखने पर चडचड़ शब्द पूर्वक उनका उत्पाटन कराता है।

इस प्रकार वह दुर्योधन चारकपाल इन्हीं निर्दयतापूर्ण प्रवृत्तियों को अपना कर्म बनाये हुए, इन्हीं मे प्रधानता लिये हुए, इन्हों को अपनी विद्या—विज्ञान बनाए हुए तथा इन्हीं दूषित प्रवृत्तियों को अपना सर्वोत्तम आचरण बनाये हुए अत्यधिक पाप कर्मों का उपार्जन करके ३१ सौ वर्ष की परमायु को भोग कर कालमास मे काल करके छठी नरक मे उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों मे नारकी रूप से उत्पन्न हुआ।

टीका—शास्त्रों के परिशीलन से यह पता चलता है कि आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को उपलब्ध करना होता है। मोक्ष का एक मात्र साधन मार्ग है—धर्म। धर्म के दो भेद होते हैं। पहले का नाम सागार धर्म है और दूसरे का नाम है—अनगार धर्म। सागार धर्म गृहस्थ धर्म को कहते हैं और अनगार धर्म साधुधर्म को। प्रस्तुत मे हमें गृहस्थ—धर्म के पालक के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना इष्ट है।

अहिंसा आदि व्रतों के पालन का विधान शास्त्रो में गृहस्थ और साधु दोनों के लिये पाया जाता है, परन्तु गृहस्थ के लिए इन का सर्वथा पालन करना अशक्य होता है, गृहस्थ ससार में निवास करता है, अत उस पर परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व रहता है। उसे अपने विरोधी—प्रतिद्वन्द्वी लोगो से सघर्ष करना पडता है, जीवन—यात्रा के लिए सावद्य मार्ग अपनाना होता है। परिग्रह का जाल बुनना होता है। न्याय मार्ग पर चलते हुए भी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक स्वार्थों के लिए कही

न कहीं किसी से टकराना पड जाता है। अत वह पूर्णतया निरपेक्ष स्वात्मपरिणति रूप अखण्ड अहिंसा आदि व्रतों का पालन नहीं कर सकता ।

तथापि गृहस्थ इन्द्रियो का गुलाम नहीं होता, उन्हे वश में रखने मे प्रयत्नशील रहता है । स्त्री के मोह में वह अपना अनासक्त मार्ग नहीं भूलता । महारम्भ और महापरिग्रह से दूर रहता है । भयकर मे भयकर सकटो के आने पर भी अपने धर्म से भ्रष्ट नहीं होता । लोकरूढि का सहारा ले कर वह भेड्चाल नहीं अपनाता प्रत्युत सत्य के आलोक मे अपने हिताहित का निरीक्षण करता रहता है । श्रेष्ट एवं निर्दोष धर्माचरण की साधना में किसी प्रकार की भी लज्जा एवं हिचकिचाहट नहीं करता । अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह कभी नहीं करता । परिवार आदि का पालन पोषण करता हुआ भी अन्तर हृदय से अपने को अलग रखता है। पानी मे कमल बन कर रहता है । अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति मे कर्तव्य को नही भूलने पाता । विवेक उसके जीवन का सगी होता है । उसके बिना जीवन के पथ पर वह एक पग भी आगे नहीं सरकता । ऐसा गृहस्थ अपने वर्तमान को जहा सुखद तथा सफल बनाता है, वहा अपने भविष्य को भी उज्ज्वल समुज्ज्वल एव अत्युज्ज्वल बना डालता है ।

विवेकी जीवन पाप का बन्ध नहीं करता, जब कि अविवेकी पाप के बोझ से व्याकुल हो उठता है । इसी लिए शास्त्रकारों ने विवेक को अपनाने पर और अविवेक के छोडने पर जोर दिया है । विवेकपूर्ण प्रवृत्तियें पापबन्ध का कारण नही होतीं, यह एक उदाहरण से समझिये—

एक डाक्टर किसी रोगी का अपरेशन (Operation) करता है । रोगी रोता है चिल्लाता है, पर डाक्टर अपना काम किये जाता है । वह स्वास्थ्यसवर्धन के विचारों से उस के व्रणो मे से पीव निकालता हुआ उसके रोने पर तनिक ध्यान नहीं देता । ऐसी स्थिति में वह अपना कर्तव्य निभाने का पुण्योत्पादक स्तुत्य प्रयास कर रहा है । इसके विपरीत जो डाक्टर लोभ के कारण या किसी द्वेषादि के कारण रोगी के रोग का उपशमन नही करता या उसे बढाने का प्रयास करता है तो वह पाप का बन्ध करता है । इन्हीं सदसद् प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य विवेकी और अविवेकी बन कर पुण्य और पाप का बन्ध कर लेता है ।

एक और उदाहरण लीजिये—कल्पना करो कि एक व्यक्ति को थानेदार बना दिया गया, थानेदार बन जाने के अनन्तर उस व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है कि वह चोर डाकू आदि को पकड़ कर उसे उसके अपराध का दण्ड दिलावे । परन्तु यदि किसी प्रकार के लालच मे आकर उसे छोड दे या उसके अपराध की अपेक्षा उसे अधिक दण्ड दिलाये तो वह अपने कर्तव्य का पालन या अधिकार का उचित उपयोग नही करता । उस का यह व्यवहार अवश्य निन्दनीय, अवाञ्छनीय एव विवेकशून्य है, और इस आचरण से वह अवश्य ही पाप कर्म का बन्ध करेगा । तात्पर्य यह है कि लोभादि के किसी भी कारण से अपने कर्तव्य को भुला कर अन्याय मे रत रहने मे मनुष्य पाप कर्म का बन्ध करता है ।

दुर्योधन कारागृहरक्षक—जेलर के जीवन मे इसी प्रमादजन्य अविवेक की अधिक मात्रा दिखाई देती है । अपराधियों को दण्ड देने के लिए उसने जिस साधन—सामग्री को अपने पास सचित कर रक्खा है, उस को देखते हुए प्रतीत होता है कि अपराधियो को दण्ड देने मे उस के परिणाम अत्यन्त कठोर और अमर्यादित रहते थे, तथा महाराज सिंहरथ के राज्य मे जो

लोग चोरी करते, दूसरों की स्त्रियों का अपहरण करते, लोगों की गाठ कतर कर धन चुराते, राज्य को हानि पहुँचाने का यत्न करते तथा बालहत्या और विश्वासघात करते, उन को दुर्योधन कोतवाल जो [1]दण्ड देता उस पर से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि दुर्योधन चारकपाल के सन्मुख अपराधी के अपराध और उसके दड का कोई मापदण्ड नहीं था। उस की मनोवृत्ति इतनी कठोर और निर्दय बन चुकी थी कि थोड़े से अपराध पर भी अपराधी को अधिक से अधिक दण्ड देना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन चुका था, और इसी में वह अपने जीवन को सफल एव कृतकृत्य मानता था।

अपराधी को दड न देने का किसी धर्मशास्त्र में उल्लेख नहीं है। शासन व्यवस्था और लोकमर्यादा को क़ायम रखने के लिये दण्डविधान की आवश्यकता को सभी नीतिज्ञ विद्वानों ने स्वीकार किया है, परन्तु उसका मर्यादित आचरण जितना प्रशसनीय है, उतना ही निन्दनीय उसका विवेकशून्य अमर्यादित आचरण है। जोकि भीषणातिभीषण नारकीय दुःखों के उपभोग कराने का कारण बनता हुआ आत्मा को जन्म मरण के परपराचक्र में भी धकेल देता है।

दुर्योधन चारकपाल ने दण्डविधान में जो प्रमादजन्य अथच मनमाना आचरण किया, उसी के फलस्वरूप उस को छठी नरक में २२ सागरोपम के बड़े लम्बे काल तक नारकीय भीषण यातनाओं का अनुभव करने के अतिरिक्त यहाँ पर [2]नन्दीषेण के भव में भी स्वकृत पापकर्मजन्य अशुभ विपाक - फल का भयानक अनुभव करना पड़ा है।

"—**अप्पेगतियाणं तेणं चेव ओवील दलयति**—" इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि के शब्दों में "—**तेनैव वान्तेन अवपीडं शेखर, मस्तके तस्यारोपणात् उपपीडा वा वेदना दलयति त्ति करोति**—" इस प्रकार है। अर्थात् पूर्व कराई हुई वमन को अपराधी के सिर पर रख कर उसे पीडित करता था, अर्थात् अधिक से अधिक अपमानित करता था।

परन्तु श्रद्धेय पण्डित मुनि श्री घासी लाल जी म० "—**अप्पेगतियाणं तेणं चेव ओवीलं दलयति**—" इन पदों का अर्थ निम्नोक्त करते हैं—

"- **अप्येकान् तेन वान्ताशनादिना पुनरपि अवपीडा वेदनां दापयति कारयतीत्यर्थ** —" अर्थात् कई एक को वमन कराता था पुनः उसी वान्त पदार्थ को उन्हें खिलाता था, इस प्रकार वह दुर्योधन चारकपाल कई एक को प्राणान्तक कष्ट पहुँचाया करता था।

"**सत्थोवाडिए**—" पद का अर्थ है—शस्त्र से उत्पाटित अर्थात् खड्ग आदि शस्त्रों से कई एक का विदारण कर डालता था, उन्हें फाड देता था।

"—**अगडंसि उच्चूल वोलगं पज्जेति**—" इन पदों में प्रयुक्त **अगड**—शब्द के—कूप अथवा कूप के समीप पशुओं को जल पिलाने के लिये जो स्थान बनाया जाता है, वह—" ऐसे दो अर्थ होते हैं। **अवचूल** का अर्थ है—सर को नीचे और पाव को ऊपर करके लटका हुआ। **वोलग**—यह देश्य—देशविशेष में बोला जाने वाला पद है। जिस का अर्थ इतना होता है और **पज्जेति** - का अर्थ—'पिलाता है'। परन्तु प्रस्तुत में—**वोलग पज्जेति**—यह लोकोक्ति—मुहावरा है जो गोते खिलाता

(१) दुर्योधन चारकपाल जिस विधि से अपराधियों को दण्डित एव विडम्बित किया करता था, उस का वर्णन मूलार्थ में पृष्ठ ३५५ पर किया जा चुका है।

(२) नन्दीषेण के सम्बन्ध में कुछ पहले पृष्ठ ३४३ पर मूलार्थ में बतलाया जा चुका है तथा शेष आगे बतलाया जायगा।

है इस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि अपराधियो को सर नीचे और पाव ऊचे करके दुर्योधन चारकपाल कूपादि मे गोते खिला कर अत्यधिक पीडित किया करता था।

—उरे सिलं दलावेइ—की व्याख्या टीकाकार ने "—उरसि पाषाणं दापयति तदुपरि लगुडं दापयति, तनस्तं पुरुषाभ्या लगुडोभयप्रतिनिविष्टाभ्या लगुडमुत्कंपयति, अतीव चालयति यथाऽपराधिनोऽस्थीनि दल्यन्ते इति भाव—इस प्रकार है, अर्थात् अपराधी को सीधा लिटा कर उस की छाती पर एक विशाल शिला रखवाता है और उस पर एक लम्बा लक्कड़ धरा कर उस के दोनों और पुरुषों को बिठाकर उसे नीचे ऊपर कराता है जिस मे अपराधी के शरीर की अस्थिये टूट जावे और उसे अधिक कष्ट पहुचे। साराश यह है कि अपराधी को अधिक से अधिक भयंकर तथा अमर्यादित कष्ट देना ही दुर्योधन के जीवन का एक प्रधान लक्ष्य बन चुका था।

'—भमि कडूयावति—" इन पदों का अर्थ वृत्तिकार के शब्दो मे "—अगुलीप्रवेशितसूचीकै. हस्तैर्भूमिकंडूयने महादु:खमुत्पद्यते इति कृत्वा भूमिकंडूयनं कारयतीति—" इस प्रकार है अर्थात् हाथा की अगुलियों में सूइयो के प्रविष्ट हो जाने पर भूमि को खोदने मे महान् दु ख उत्पन्न होता है। इसी कारण दुर्योधन चारकपाल अपराधियो के हाथों में सुइए प्रविष्ट करा कर उन से भूमि खुदवाया करता था।

—दब्भेहि य कुसेहि य अल्लचम्मेहि य वेढावेति, आयवंसि दलयति २ सुक्खे समाणे चडचडस्स उप्पाडेति—अर्थात् शस्त्रादि से अपराधियो के शरीर को तच्छवा कर, दर्भ (मूलसहित घास), कुशा (मूलरहित घास) तथा आर्द्र चमडे से उन्हे वेष्टित करवाता है, तदनन्तर उन्हे धूप में खड़ा कर देता है जब वे दर्भ, कुशा तथा आर्द्र चमडा सूख जाता था तब दुर्योधन चारकपाल उन का उनके शरीर मे उखाडता था। वह इतने जोर से उखाडता था कि वहा चड़चड़ शब्द होता था और दर्भादि के साथ उन की चमडी भी उखड जाती थी।

इस प्रकार के अपराधियों को दिये गए नृशंस दण्ड के वर्णन से (१) भली भान्ति पता चल जाता है कि दुर्योधन चारकपाल का मानस बड़ा निर्दयी एव क्रूरतापूर्ण था। वह अपराधियों को सताने मे, पीडित करने में कितना अधिक रस लेता था ? यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट ही है। उन्हीं पापमयी एव क्रूरतामयी दूषित प्रवृत्तियों के कारण उसे छठी नरक मे जाकर २२ सागरोपम तक के बडे लम्बे काल के लिये अपनी करणी का फल पाना पड़ा। इस पर से शिक्षा ग्रहण करते हुए सुखाभिलाषी पाठकों को सदा क्रूरतापूर्ण एव निर्दयतापूर्ण प्रवृत्तियों से विरत रहने का उद्योग करना चाहिये, और साथ में कर्तव्य पालन की ओर सतत जागरूक रहना चाहिये।

---

(१) पण्डित मुनि श्री घासी लाल जी म०—कण्डूयावेति—का अर्थ—कण्डावयति भूमौ घर्षयतीत्यर्थ। करचरणागुलिषु सूची प्रवेश्य करचरणयोर्भूमौ घर्षणेन महादु:खमुत्पादयतीति भाव—इस प्रकार करते हैं। अर्थात् कडूयावेति—का अर्थ है—भूमी पर घसीटवाता है। तात्पर्य यह है कि हाथों तथा पैरों की अगुलियों म सूइयों का प्रवेश करके उन्हे भूमि पर घसीटवा कर महान् दु ख देता है।

अर्धमागधीकोषकार—कण्डूयन शब्द के खोदना, खड्डा करना, ऐसे दो अर्थ करते हैं। परन्तु प्राकृतशब्दमहार्णव नामक कोष मे कडूयन शब्द का अर्थ खुजलाना लिखा है।

—पज्जेति जाव एलमुत्तं—यहा पठित जाव यावत पद से—उट्टमुत्तं, गोमुत्तं महिसमुत्तं अयमुत्तं इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ स्पष्ट ही है।

—करेति जाव सत्थोवाडिए- यहा के जाव यावत पद से —पायछिन्नए कण्णछिन्नए, नक्कछिन्नए, उट्ठछिन्नए, जिब्भछिन्नए, सीसछिन्नए—इत्यादि पदो का ग्रहण करना चाहिये। जिस के पाव काटे गये हैं उसे पादछिन्नक, जिसके कान काटे गये हो उसे कर्णछिन्नक, जिस का नाक काटा गया हो उसे नासिकाछिन्नक, जिसके होंठ काटे गये हैं उसे ओष्ठछिन्नक, जिस की जिह्वा काटी गई है उसे जिह्वाछिन्नक और जिस का शिर काटा गया है उसे शीर्षछिन्नक कहते हैं।

—वेणुलयाहि य जाव वायरासीहि—यहा के जाव-यावत पद से—वेत्तलयाहि य चिञ्चालयाहि य छिवाहि य कसाहि य -इन पदो का तथा—तंतीहि य जाव सुत्तरज्जूहि य—यहा के जाव-यावत पद से—वरत्ताहि य वागरज्जूहि य वालरज्जूहि य—इन पदों का, तथा —असिपत्तेहि य जाव कलंवचीरपत्तेहि य—यहा के जाव यावत पद से—करपत्तेहि य खुरपत्तेहि य—इन पदों का, तथा—सत्थएहि जाव नहच्छेदणएहि—यहा के जाव-यावत् पद से—पिप्पलेहि य कुहाडेहि य—इन पदो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन सब का अर्थ पृष्ठ ३५० तथा ३५१ पर किया जा चुका है।

—एयकम्मे ४—यहा दिये गए ४ के अक से विवक्षित पाठ का वर्णन पृष्ठ १७९ के टिप्पण मे किया जा चुका है।

प्रस्तुत कथासन्दर्भ के परिशीलन से जहा "—दुर्योधन चारकपाल निर्दयता की जीती जागती मूर्ति थी, उसका मानस अपराधियों को भीषण दड देने पर भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता था, अत एव वह अत्यधिक क्रूरता लिये हुए था—" इस बात का पता चलता है, वहा यह आशका भी उत्पन्न हो जाती है कि दुर्योधन चारकपाल से निर्दयतापूर्ण दण्डित हुए लोग उस दण्ड को सहन कैसे कर लेते थे? मानवी प्राणी मे इतना बल कहा है जो इस प्रकार के नरकतुल्य दुःख भोगने पर भी जीवित रह सके ?

उत्तर—अपराधियों के जीवित रहने या मर जाने के सम्बन्ध मे सूत्रकार तो कुछ नहीं बतलाते, जिस पर कुछ दृढता से कहा जा सके। तथापि ऐसी दण्ड—योजना मे अपराधी का मर जाना कोई असंभव नहीं कहा जा सकता और यह भी नही कहा जा सकता कि अपराधी अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते थे, क्योंकि दृढ संहनन वालो का ऐसे भीषण दण्ड का उपभोग कर लेने पर भी जीवित रहना सभव है। कैसे सभव है?, इस के सम्बन्ध मे पीछे पृष्ठ २७३ पर विचार किया गया है। पाठक वहा देख सकते हैं। इतना ध्यान रहे कि वहा अभग्नसेन से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन है, जब कि प्रस्तुत मे अपराधियों से सम्बन्ध रखने वाला

अब सूत्रकार उसके भावी जीवन का निम्नलिखित सूत्र म उल्लेख करते हैं—

मूल—[1] से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव महुराए णयरीए सिरिदामस्स रण्णो

---

(१) छाया—स ततोऽनन्तरमुद्वृत्त्येहैव मथुराया नगर्यां श्रीदाम्नो राज्ञो बन्धुश्रियो देव्याः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न। ततो बन्धुश्री नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारक प्रयाता। ततस्तस्य दारकस्याम्बापितरौ निर्वृत्ते द्वादशाहे इदमेतद्रूप नामधेय कुरुत —भवत्वस्माक दारको नन्दिषेणो नाम्ना। तत स नन्दिषेण कुमार पचधात्रीपरिगृहीतो यावत् परिवर्द्धते। तत स नन्दिषेण कुमारः उन्मुक्तबालभावो यावद् विहरति, यावद् युवराजो जातश्चाप्यभवत्। तत स नन्दिषेण कुमारो राज्ये च यावदन्त पुरे

बंधुसिरीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने । तते णं बन्धुसिरी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया। तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो णिव्वत्ते बारसाहे इम एयारूवं णामधेज्जं करेंति, होउ णं अम्हं दारगे णंदिसेणे नामेणं। तते णं से णंदिसेणे कुमारे पंचधातीपरिग्गहिते जाव परिवड्ढति । तते णं से णंदिसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे जाव विहरति जाव जुवराया जाते यावि होत्था। तते णं से णंदिसेणे कुमारे रज्जे य जाव अंतेउरे य मुच्छिते ४ इच्छति सिरिदामं रायं जीवियाओ ववरोवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए । तते णं से णंदिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रण्णो बहूणि अन्तराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य पडिजागरमाणे विहरति ।

पदार्थ—से णं—वह । **ततो**—वहां से । **अणंतरं**—अन्तर रहित । **उवट्टित्ता**—निकल कर । **इहेव**—इसी । **महुराए**—मथुरा । **नयरीए**—नगरी में । **सिरिदामस्स**—श्रीदाम । **रण्णो**—राजा की । **बंधुसिरिए**—बन्धुश्री । **देवीए**—देवी की । **कुच्छिंसि**—कुक्षि—उदर में। **पुत्तत्ताए**—पुत्र—रूप से । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ । **तते णं**—तदनन्तर । **बंधुसिरी**—बन्धुश्री ने । **नवण्हं**—नव । **मासाणं**—मास के । **बहुपडिपुण्णाणं**—लगभग पूर्ण होने पर । **दारयं**—बालक को । **पयाया**—जन्म दिया । **तते णं**—तदनन्तर । **तस्स**—उस । **दारगस्स**—बालक के । **अम्मापितरो**—माता पिता । **णिव्वत्ते बारसाहे**—जन्म से बारहवें दिन । **इमं**—यह । **एयारूवं** — इस प्रकार का । **णामधेज्जं**—नाम । **करेंति**—करते हैं । **अम्हं**—हमारा । **दारए**—बालक। **णंदिसेणे**—नन्दिषेण । **नामेणं**—नाम से । **होउ णं**—हो । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **णंदिसेणे** — नन्दिषेण । **कुमारे**—कुमार । **पंचधातीपरिग्गहिते**—पांच धाय माताओं से परिगृहीत हुआ । **जाव**—यावत् । **परिवड्ढति**—वृद्धि को प्राप्त होने लगा । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **णंदिसेणे**—नन्दिषेण । **कुमारे**—कुमार । **उम्मुक्कबालभावे**— बालभाव को त्याग कर । **जाव** — यावत् । **विहरति**—विहरण करने लगा । **जाव**—यावत् । **जुवराया यावि**—युवराज पद को भी। **जाते**—प्राप्त । **होत्था**—हो गया था । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **णंदिसेणे**—नन्दिषेण । **कुमारे**—कुमार । **रज्जे य**—राज्य में । **जाव**—यावत् । **अंतेउरे य**—अन्तःपुर में । **मुच्छिते ४**—मूर्च्छित अर्थात् राज्यादि के ध्यान में पगला बना हुआ, गृद्ध—आकांक्षा वाला, ग्रथित—स्नेहजाल में बन्धा हुआ और अध्युपपन्न—आसक्त हुआ २। **सिरिदामं** -श्रीदाम । **रायं**-राजा को। **जीवियाओ**-जीवन से । **ववरोवित्ता**—व्यपरोपित कर—मार कर । **सयमेव**—स्वयं ही। **रज्जसिरिं**—राज्यश्री—राज्य की लक्ष्मी को । **कारेमाणे** -कराता हुआ अर्थात् अमात्य आदि के द्वारा बढ़ाता हुआ । **पालेमाणे**—पोषण करता हुआ । **विहरित्तए**—विहरण करने की। **इच्छति**—इच्छा करता है । **तते णं** —तदनन्तर। **से**—वह । **णंदिसेणे**—नन्दिषेण । **कुमारे**-कुमार । **सिरिदामस्स**—श्रीदाम । **रण्णो**—राजा के । **बहूणि**—अनेक । **अन्तराणि य**—अन्तर—अवसर । **छिद्दाणि य**—छिद्र—अर्थात् जिस समय पारिवारिक व्यक्ति अल्प हों । **विरहाणि य**—विरह—अर्थात् कोई भी पास

च मूर्च्छित ४ इच्छति श्रीदामानं राजानं जीविताद् व्यपरोप्य स्वयमेव राज्यश्रियं कारयन् पालयन् विहर्तुम् । ततः स नन्दिषेणः कुमारः श्रीदाम्नो राज्ञो बहून्यन्तराणि च छिद्राणि च विरहांश्च प्रतिजागरयन् विहरति ।

न हो, राजा अकेला हो इस प्रकार, अवसर, छिद्र और विरह की । **पडिजागरमाणे**—प्रतीक्षा करता हुआ । **विहरति**—विहरण करने लगा ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह दुर्योधन चारकपाल नरक से निकल कर इसी मथुरा नगरी मे श्रीदाम राजा की बन्धुश्री देवी की कुक्षि—उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ । तदनन्तर लगभग नवमास परिपूर्ण होने पर बन्धुश्री ने बालक को जन्म दिया । तदनन्तर बारहवें दिन माता पिता ने उत्पन्न हुए बालक का नन्दिषेण यह नाम रक्खा । तदनन्तर पाच धाय माताओं के द्वारा सुरक्षित नन्दिषेण कुमार वृद्धि को प्राप्त होने लगा, तथा जब वह बालभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त हुआ तब इसके पिता ने इस को यावत् युवराज पद प्रदान कर दिया अर्थात् वह युवराज बन गया ।

तत्पश्चात् राज्य और अन्तःपुर मे अत्यन्त आसक्त नन्दिषेण कुमार श्रीदाम राजा को मार कर उसके स्थान मे स्वय मन्त्री आदि के साथ राज्यश्री—राज्यलक्ष्मी का सम्वर्धन कराने तथा प्रजा का पालन पोषण करने की इच्छा करने लगा । तदर्थ कुमार नन्दिषेण महाराज श्रीदाम के अनेक अन्तर छिद्र तथा विरह की प्रतीक्षा करता हुआ विहरण करने लगा ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में दुर्योधन चारकपाल—कारागाररक्षक—जेलर का नरक से निकल कर मथुरा नगरी के सुदाम नरेश की बन्धुश्री भार्या के उदर मे पुत्ररूप से उत्पन्न होने, और समय पाकर जन्म लेने तथा माता पिता के द्वारा नन्दिषेण—यह नामकरण के अनन्तर यथाविधि पालन पोषण से वृद्धि को प्राप्त होने का उल्लेख करने के पश्चात् युवावस्थासम्पन्न युवराज पद को प्राप्त हुए नन्दिषेण की पिता को मरवा कर स्वय राज्य करने की कुत्सित भावना का भी उल्लेख कर दिया गया है।

युवराज नन्दीषेण राज्य को शीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध करने के लिये ऐसे अवसर की ताक में रहता था कि जिस किसी उपाय से राजा की मृत्यु हो जाए और वह उस के स्थान में स्वय राज्यसिंहासन पर आरूढ हो कर राज्यवैभव का यथेच्छ उपभोग करे ।

इस कथा—सन्दर्भ से सासारिक प्रलोभनों में अधिक आसक्त मानव की मनोवृत्ति कितनी दूषित एव निन्दनीय हो जाती है ?, यह समझना कुछ कठिन नहीं है । पिता की पुत्र के प्रति कितनी ममता और कितना स्नेह होता है ?, तथा उस के पालन पोषण और शिक्षण के लिये वह कितना उत्सुक रहता है ?, तथा उसे अधिक से अधिक योग्य और सुखी बनाने के लिये वह कितना प्रयास करता है ?, इस का भी प्रत्येक ससारी मानव को स्पष्ट अनुभव है। श्रीदाम नरेश ने पितृ-जनोचित कर्तव्य के पालन में कोई कमी नही रक्खी थी। नन्दिषेण के प्रति उस का जो कर्तव्य था उसे उसने सम्पूर्णरूप से पालन किया था।

इधर युवराज नन्दिषेण को भी हर प्रकार का राज्यवैभव प्राप्त था। उस पर सासारिक सुख सम्पत्ति के उपभोग मे किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं था । फिर भी राज्यसिंहासन पर शीघ्र से शीघ्र बैठने की जघन्यलालसा ने उस को पुत्रोचित कर्तव्य से सर्वथा विमुख कर दिया। वह पितृभक्त होने के स्थान में पितृघातक बनने को तैयार हो गया । किसी ने—ऐहिक जघन्य महत्वाकाक्षाऐ मनुष्य का महान पतन कर डालती हैं, यह सत्य ही कहा है ।

"—**पंचधातीपरिग्गहिते जाव परिवड्ढति**—" यहा पठित **जाव**—**यावत्** पद से पृष्ठ १५७ पर पढे गए—**तंजहा खीरधातीए १ मज्जण० २ मण्डण० ३ कीलावण०**—से लेकर—**सुहंसुहेण**—" यहा तक के पाठ का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है ।

"—उम्मुक्कबालभावे जाव विहरति—" यहां पठित जाव–यावत् पद से "—जोव्वणगमणुप्पत्ते विन्नायपरिणयमेत्ते—" इन पदों का ग्रहण करना चाहिए। इन पदो का अर्थ पचम अध्ययन के पृष्ठ ३२९ पर लिखा जा चुका है।

"—अन्तराणि—" इत्यादि पदो की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों मे "—अन्तराणि, अवसरान् छिद्राणि—अल्पपरिवारत्वानि, विरहाणि—विजनत्वानि—" इस प्रकार है, अर्थात् अन्तर अवसर का नाम है, छिद्र शब्द अल्पपरिवार का होना—इस अर्थ का बोधक है। अकेला होना—इस अर्थ का परिचायक विरह शब्द है।

"—बन्धुसिरीए देवीए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने—" इस पाठ के अनन्तर पण्डित मुनि श्री घासी लाल जी म० बन्धुश्री देवी के दोहदसम्बन्धी पाठ का भी उल्लेख करते हैं, वह पाठ निम्नोक्त है—

"—तए णं तीसे बन्धुसिरीए देवीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाण इमे एयारूवे दोहले पाउब्भूते—धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव जाओ णं अप्पणो पइस्स हियमंसेण जाव सद्धिं सुरं च ५ जाव दोहलं विणेंति। तं जइ णं अहमवि जाव विणिज्जामि त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव झियाइ। रायपुच्छा। बन्धुसिरीभणणा। तए णं से सिरिदामे राया तीसे बन्धुसिरीए देवीए तं दोहलं केण वि उवाएणं विणेइ। तए णं सा बन्धुसिरी देवी सम्पुण्णदोहला ५ तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ—"। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

गर्भस्थिति होने के अनन्तर जब बन्धुश्री देवी का गर्भ तीन मास का हो गया तब उसे इस प्रकार का दोहद (गर्भिणी स्त्री का मनोरथ) उत्पन्न हुआ कि वे माताएं धन्य हैं, यावत् अर्थात् पुण्यवती हैं, कृतार्थ हैं, कृतपुण्य हैं, उन्होंने ही पूर्वभव में पुण्योपार्जन किया है, कृतलक्षण हैं—वे शुभ लक्षणों से युक्त हैं और कृतविभव अर्थात् उन्होंने ही अपने विभव—सम्पत्ति को दानादि शुभकार्यों मे लगा कर सफल किया है, उन्ही का मनुष्यसम्बन्धी जन्म और जीवन सफल है, जो अपने २ पति के मास यावत् अर्थात् जो तलित, भजित और शूल पर रख कर पकाया गया हो, के साथ [1]सुरा, मधु, मेरक, जाति, सीधु और प्रसन्ना, इन छः प्रकार की मदिराओं का एक बार आस्वादन करती, बार बार स्वाद लेतीं, परिभोग करतीं और अन्य स्त्रियों को देती हुई दोहद को पूर्ण करती हैं। सो यदि मै भी यावत अर्थात् इसी प्रकार से श्रीदाम राजा के हृदय के मास का छः प्रकार की मदिराओ के साथ उपभोग आदि करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करूं, तो अच्छा हो। ऐसा सोच कर वह उस दोहद के अपूर्ण रहने पर यावत् अर्थात् सूखने लगी मासरहित, निस्तेज, रुग्ण, और रोगग्रस्त शरीर वाली एव हताश होती हुई आर्तध्यानमूलक विचार करने लगी।

ऐसी स्थिति मे बैठी हुई उस बन्धुश्री को एक समय राजा ने देखा और इस परिस्थिति का कारण पूछा। तब उस बन्धुश्री ने अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। तदनन्तर मथुरानरेश श्रीदाम ने उस बन्धुश्री देवी के उस दोहद को किसी एक उपाय से अर्थात् जिस से वह समझ न सके इस प्रकार अपने हृदयमास के स्थान पर रखी हुई मास के सदृश अन्य वस्तुओं के द्वारा पूर्ण किया फिर बन्धुश्री देवी ऐसा करने से उस दोहद के सम्पूर्ण होने पर, सम्मानित होने

(१) सुरा, मधु आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १४४ पर लिखा जा चुका है।

पर, इष्ट वस्तु की अभिलाषा के परिपूर्ण हो जाने पर उस गर्भ को धारण करने लगी ।

अस्तु, अब नन्दिषेण ने स्वयं राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने के लिये, अपने पिता श्रीदाम को मरवाने के लिये जो षड्यन्त्र रचा और उस में विफल होने से उस को जो दंड भोगना पड़ा, उस का वर्णन अग्रिम सूत्र में किया जाता है—

मूल—[1] ततेणं से णंदिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रण्णो अंतरं अलभमाणे अन्नया कयाइ चित्तं अलंकारियं सद्दावेति २ एवं वयासी—तुमं णं देवाणुप्पिए ! सिरिदामस्स रण्णो सव्वट्ठाणेसु सव्वभूमियासु अन्तेउरे य दिण्णवियारे सिरिदामस्स रण्णो अभिक्खणं २ अलंकारियं कम्मं करेमाणे विहरसि, तं णं तुम देवाणुप्पिए ! सिरिदामस्स रण्णो अलंकारियं कम्मं करेमाणे गीवाए खुरं निवेसेहि । तए णं अहं तुमं अद्धरज्जियं करिस्सामि, तुमं अम्हेहिं सद्धिं उराले भोगभोगे भुञ्जमाणे विहरिस्ससि । तते णं से चित्ते अलंकारिए णंदिसेणस्स कुमारस्स वयणं एयमट्ठं पडिसुणेति, तते णं तस्स चित्तस्स अलंकारियस्स इमे एयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—जति णं मम सिरिदामे राया एयमट्ठं आगमेति, तते णं मम ण णज्जति केणइ असुभेणं कुमारेणं मारिस्सति त्ति कट्टु भीए ४ जेणेव सिरिदामे राया तेणेव उवागच्छइ २ सिरिदामं रायं रहस्सियं करयल० जाव एवं वयासी—एवं खलु सामी ! णंदिसेणे कुमारे रज्जे जाव मुच्छिते ४ इच्छति तुब्भे जीविताओ ववरोवेत्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए । तते णं से सिरिदामे राया चित्तस्स अलंकारियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव साहट्टु णंदिसेणं कुमारं पुरिसेहिं गेण्हावेति २ एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेति । तं एवं खलु गोतमा ! णंदिसेणे पुत्ते जाव विहरति ।

(१) छाया—ततः स नन्दिषेणः कुमारः श्रीदाम्नो राज्ञः अन्तरमलभमानोऽन्यदा कदाचित् चित्रमलंकारिकं शब्दयति २ एवमवादीत्—त्वं खलु देवानुप्रिय ! श्रीदाम्नो राज्ञः सर्वस्थानेषु सर्वभूमिकासु अन्तःपुरे च दत्तविचारः श्रीदाम्नो राज्ञोऽभीक्ष्णम् २ अलंकारिकं कर्म कुर्वाणो विहरसि, तत् त्वं देवानुप्रिय ! श्रीदाम्नो राज्ञः अलंकारिकं कर्म कुर्वाणो ग्रीवायां क्षुरं निवेशय । ततोऽहं त्वामर्द्धराज्यकं करिष्यामि, त्वमस्माभिः सार्द्धमुदारान् भोगभोगान् भुंजानो विहरिष्यसि । ततः स चित्रः अलंकारिको नंदिषेणस्य कुमारस्य वचनमेतदर्थं प्रतिशृणोति, ततस्तस्य चित्रस्यालंकारिकस्य अयमेतद्रूपो यावत् समुदपद्यत—यदि मम श्रीदामा राजा एनमर्थमागच्छति, ततो मम न ज्ञायते, केनचिद् अशुभेन कुमारेण मारयिष्यति इति कृत्वा भीतो ४ यत्रैव श्रीदामा राजा तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य श्रीदामानं राजानं राहस्यिकं करतल० यावद् एवमवादीत्—एवं खलु स्वामिन् ! नन्दिषेणः कुमारो राज्ये यावद् मूर्च्छितः ४ इच्छति युष्मान् जीविताद् व्यपरोप्य स्वयमेव राज्यश्रियं कारयन् पालयन् विहर्तुम् । ततः स श्रीदामा राजा चित्रस्यालंकारिकस्यान्तिके एतमर्थं श्रुत्वा निशम्य, आशुरुप्तः यावत् संहृत्य नन्दिषेणं कुमारं पुरुषैर्ग्राहयति २ एतेन विधानेन वध्यमाज्ञापयति । तदेवं खलु गोतम ! नन्दिषेणः पुत्रः यावद् विहरति ।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **णंदिसेणे**—नन्दिषेण। **कुमारे**—कुमार। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम। **रगणो**—राजा के। **अंतरं**—मारने के अवसर को। **अलभमाणे**—प्राप्त न करता हुआ। **अन्नया**—अन्यदा। **कयाइ**—कदाचित्। **चित्त**—चित्र नामक। **अलंकारियं**—अलंकारिक—नाई को। **सद्दावेति २ त्ता**—बुलाता है, बुला कर। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगा। **देवाणुप्पिए!**—हे भद्र!। **तुमं णं**—तुम। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम। **रगणो**—राजा के। **सव्वट्ठाणेसु**—शयनस्थान, भोजनस्थान आदि सर्व स्थानों में। **सव्वभूमियासु**—सर्व भूमिकाओं अर्थात् राजमहल की सभी भूमिकाओं—मंजिलों में। **य**—तथा। **अन्तेउरे**—अन्त:पुर में। **दिगणवियारे**—दत्तविचार हो अर्थात् राजा की ओर से जिस को आने जाने की आज्ञा मिली हुई हो, ऐसे हो, तथा। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम। **रगणो**—राजा का। **अभिक्खणं २**—पुनः २। **अलंकारियं कम्मं**—अलंकारिक कर्म—क्षौरकर्म। **करेमाणे**—करते हुए। **विहरसि**—विहरण कर रहे हो। **तगणं**—इस लिये। **देवाणुप्पिए!**—हे महानुभाव!। **तुमं**—तुम ने। **सिरिदामस्स**—श्रीदाम। **रगणो**—राजा का। **अलंकारियं कम्मं**—अलंकारिक कर्म। **करेमाणे**—करते हुए, उसकी। **गीवाए**—ग्रीवा—गरदन में। **खुर**—क्षुर—उस्तरे को। **निवेसेहि**—प्रविष्ट कर देना। **तगणं**—तो। **अहं**—मै। **तुमं**—तुम को। **अद्धरज्जियं करिस्सामि**—अर्द्धराज्य से युक्त कर दूंगा अर्थात् तुम्हें आधा राज्य दे डालूंगा। **तुमं**—तुम। **अम्हेहि**—हमारे। **सद्धिं**—साथ। **उराले**—उदार—प्रधान। **भोगभोगे**—काम भोगों का। **भुंजमाणे**—उपभोग करते हुए। **विहरिस्ससि**—विहरण करोगे। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **चित्ते**—चित्र नामक। **अलंकारिए**—अलंकारिक—नाई। **णंदिसेणस्स**—नन्दिषेण। **कुमारस्स**—कुमार के। **एयमट्ठं**—एतदर्थक—उक्त अर्थ वाले। **वयणं**—वचन को। **पडिसुणेति**—स्वीकार करता है। **तते णं**—तदनन्तर। **तस्स**—उस। **चित्तस्स**—चित्र नामक। **अलंकारियस्स**—अलंकारिक को। **इमे**—यह। **एयारूवे**—इस प्रकार के। **जाव**—यावत् विचार। **समुप्पज्जित्था**—उत्पन्न हुए। **जति णं**—यदि। **सिरिदामे**—श्रीदाम राजा। **ममं**—मेरी। **एयमट्ठं**—इस बात को। **आगमेति**—जान ले। **तता णं**—तो। **ममं**—मुझे। **ण णज्जति**—न जाने अर्थात् यह पता नहीं कि वह। **केणइ**—किस। **असुभेण**—अशुभ। **कुमारेण**—कुमौत—कुत्सित मार से। **मारिस्सति**—मारेगा। **त्ति कट्टु**—ऐसे विचार कर। **भीए ४**—भीत—भयभीत हुआ, त्रस्त अर्थात् यह बात मेरे प्राणों की घातक होगी, इस विचार से त्रस्त हुआ, उद्विग्न—प्राणघात के भय से उस का हृदय काम्पने लगा, संजातभय अर्थात् मानसिक कम्पन के साथ २ उस का शरीर भी कांपने लगा, इस प्रकार भीत, त्रस्त, उद्विग्न और संजातभय हुआ वह। **जेणेव**—जहां पर। **सिरिदामे**—श्रीदाम। **राया**—राजा था। **तेणेव**—वहीं पर। **उवागच्छइ २ त्ता**—आ जाता है, आकर। **सिरिदामं**—श्रीदाम। **रायं**—राजा को। **रहस्सियं**—एकान्त में। **करयल०**—हाथ जोड। **जाव**—यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अंजली रख कर। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगा। **एवं**—इस प्रकार। **खलु**—निश्चय ही। **सामी!**—हे स्वामिन्!। **णंदिसेणे**—नन्दिषेण। **कुमारे**—कुमार। **रज्जे**—राज्य में। **जाव**—यावत्। **मुच्छिते ४**—मूर्च्छित, गृद्ध ग्रथित और अध्युपपन्न हुआ। **तुब्भे**—आप को। **जीविताओ**—जीवन से। **ववरोवेत्ता**—व्यपरोपित कर अर्थात् आप को मार कर। **सयमेव**—स्वयं ही। **रज्जसिरिं**—राज्यश्री—राजलक्ष्मी का। **कारेमाणे**—संवर्धन कराता हुआ। **पालेमाणे**—पालन करता हुआ। **विहरित्तए**—विहरण करने की। **इच्छति**—इच्छा रखता है। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सिरिदामे**—श्रीदाम। **राया**—राजा। **चित्त-**

स्स—चित्र । अलंकारियस्स—अलंकारिक के । अंतिए—पास मे । एयमट्ठं—इस बात को । सोच्चा—सुन कर, एवं । निसम्म—अवधारण—निश्चित कर । आसुरुत्ते—क्रोध से लाल पीला होता हुआ । जाव—यावत् । साहट्टु—मस्तक मे तिउडी चढा कर अर्थात् अत्यन्त क्रोधित होता हुआ । णंदिसेणं—नन्दिषेण । कुमारं—कुमार को । पुरिसेहिं—पुरुषों के द्वारा । गेण्हावेति २ त्ता—पकड़वा लेता, है, पकडवा कर । एएणं इस । विहाणेणं—विधान—प्रकार से । वज्झं— वह मारा जाये ऐसी राजपुरुषों को । आणवेति—आज्ञा देता है । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । गोतमा !—हे गौतम ! । णंदिसेणे नन्दिषेण । पुत्ते—पुत्र । जाव—यावत् अर्थात् स्वकृत कर्मो के फल का अनुभव करता हुआ । विहरति—विहरण कर रहा है ।

मूलार्थ—तदनन्तर श्रीदाम नरेश के वध का अवसर प्राप्त न होने से कुमार नन्दिषेण ने किसी अन्य समय चित्र नामक अलंकारिक—नाई को बुला कर इस प्रकार कहा—कि हे महानुभाव ! तुम श्रीदाम नरेश के सर्वस्थानों, सर्वभूमिकाओं तथा अन्तःपुर मे स्वेच्छापूर्वक आ जा सकते हो और श्रीदाम नरेश का बार २ अलंकारिक कर्म करते रहते हो, अतः हे महानुभाव ! यदि तुम नरेश के अलंकारिक कर्म में प्रवृत्त होने के अवसर पर उसकी ग्रीवा—गरदन मे उस्तरा घोंप दो अर्थात् इस प्रकार से तुम्हारे हाथों यदि नरेश का वध हो जाए तो मैं तुम को आधा राज्य दे डालूंगा । तदनन्तर तुम हमारे साथ उदार—प्रधान (उत्तम) कामभोगों का उपभोग करते हुए सानन्द समय व्यतीत करोगे ।

तदनन्तर चित्र नामक अलंकारिक ने कुमार नन्दिषेण के उक्त विचार वाले वचन को स्वीकृत किया, परन्तु कुछ ही समय के पश्चात् उस के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि यदि किसी प्रकार से इस बात का पता श्रीदाम नरेश को चल गया तो न मालूम मुझे वह किस कुमौत से मारे—इस विचार के उद्भव होते ही वह भयभीत, त्रस्त, उद्विग्न एवं सजात—भय हो उठा और तत्काल ही जहा पर महाराज श्रीदाम थे वहा पर आया । एकान्त मे दोनों हाथ जोड मस्तक पर दस नाखुनों वाली अजली करके अर्थात् विनयपूर्वक श्रीदाम नरेश से इस प्रकार बोला—

हे स्वामिन् ! निश्चय ही नन्दिषेण कुमार राज्य में [1]मूर्च्छित गृद्ध, ग्रथित और अध्युपपन्न, हो कर आपके वध मे प्रवृत्त होना चाह रहा है । वह आप को मार कर स्वयं राज्यश्री राज्य—लक्ष्मी का संवर्धन कराने और स्वय पालन पोषण करने की उत्कट अभिलाषा रखता है ।

इसके अनन्तर श्रीदाम नरेश ने चित्र अलंकारिक से इस बात को सुन कर उस पर विचार किया और अत्यन्त क्रोध मे आकर नन्दिषेण को अपने अनुचरों द्वारा पकड़वा कर इस (पूर्वोक्त) विधान—प्रकार से मारा जाए ऐसा राजपुरुषों को आदेश दिया । भगवान कहते हैं कि हे गौतम ! यह नन्दिषेण पुत्र इस प्रकार अपने किए हुए अशुभ कर्मों के फल को भोग रहा है ।

टीका—राज्यशासन का प्रलोभी नन्दिषेण हर समय इसी विचार में रहता था कि उसे कोई ऐसा अवसर मिले जब वह अपने पिता श्रीदाम नरेश की हत्या करने में सफल हो जाय । परन्तु उसे अभी तक ऐसा अवसर प्राप्त नहीं हो सका । तब एक दिन उसने उपायान्तर सोचा और तदनुसार

(१) मूर्च्छित, गृद्ध आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७३ लिखा जा चुका है ।

महाराज श्रीदाम के चित्र नामक अलङ्कारिक को बुलाकर उसने कहा— कि महानुभाव ! तुम महाराज के विश्वस्त सेवादार हो। तुम्हारा उन के पास हर समय बेरोकटोक आना जाना है। तुम्हारे लिये वहां किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, तब यदि तुम मेरा एक काम करो तो मैं तुम्हें आधा राज्य दे डालूंगा। तुम भी मेरे जैसे बन कर सानन्द अनायासप्राप्त राज्यश्री का यथेच्छ उपभोग करोगे। तुम जानते हो कि मैं इस समय युवराज हूँ। महाराज के बाद मेरा ही इस राज्यसिंहासन पर सर्वे-सर्वा अधिकार होगा। इसलिये यदि तुम मेरे काम में सहायक बनोगे तो मैं भी तुम को हर प्रकार में सन्तुष्ट करने का यत्न करूंगा।

दूसरी बात यह है कि महाराज को तुम पर पूर्ण विश्वास है, वह अपना सारा निजी काम तुम से ही कराते हैं। इस के अतिरिक्त उन का शारीरिक उपचार भी तुम्हारे ही हाथ से होता है, इसलिये मैं समझता हूँ कि तुम ही इस काम को पूरा कर सकते हो, और मुझे भी तुम पर पूरा भरोसा है। इसलिये मैं तुम से ही कहता हूं कि तुम जिस समय महाराज का क्षौर—हजामत बनाने लगो तो उस समय इधर उधर देख कर तेज उस्तरे को महाराज की गरदन में इतने ज़ोर से मारो कि उन की वहीं मृत्यु हो जाए, इत्यादि।

चित्र ने उस समय तो नन्दिषेण के इस अनुचित प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, कारण कि उस के सामने जो उस समय आधे राज्य का प्रलोभन रक्खा गया था उस ने उस के विवेक चक्षुओं पर पट्टी बांध दी थी और वह आधे राज्य के शासक होने का स्वप्न देख रहा था। परन्तु जब वह वहां से उठ कर आया तो दैवयोग से उस के विवेकचक्षु खुल गये और वह इस नीचकृत्य से उत्पन्न होने वाले भयंकर परिणाम को प्रत्यक्ष देखने लगा। देखते ही वह एक दम भयभीत हो उठा। तात्पर्य यह है कि उस के अन्तःकरण में वहां से आते ही यह आभास होने लगा कि इतना बड़ा अपराध। वह भी सकारण नहीं किंतु एक निरापराधी अन्नदाता की हत्या, जिस ने मेरे और राजकुमार के पालण पोषण में किसी भी प्रकार की त्रुटि न रक्खी हो, उस का अवहनन क्या मैं राजकुमार के कहने से करूं ?, क्या इसी का नाम कृतज्ञता है ?, फिर यदि इस अपराध का पता कहीं महाराज को चल गया, जिस की कि अधिक से अधिक सम्भावना है, तो मेरा क्या बनेगा ?, इस विचार—परम्परा में निमग्न चित्र सीधा राजभवन में महाराज श्रीदाम के पास पहुँचा और कांपते हुए हाथों से प्रणाम कर थथलाती हुए जबान से उस ने महाराज को राजकुमार नन्दिषेण के विचारों को अथ से इति तक कह सुनाया।

शास्त्रों में कहा है कि जिस का पुण्य बलवान् है, उसे हानि पहुँचाने वाला संसार में कोई नहीं। प्रत्युत हानि पहुंचाने वाला स्वयं ही नष्ट हो जाता है। कुमार नन्दिषेण ने अपने पिता महाराज श्रीदाम को मारने का जो षडयंत्र रचा, उसमें उसको कितनी सफलता प्राप्त हुई ?, यह तो प्रत्यक्ष ही है। वह तो यह सोचे हुए था कि उसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया, परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं था कि—

जितने तारे गगन में, उतने दुश्मन होंय।
कृपा रहे पुण्यदेव की, बाल न बांका होय॥

महाराज श्रीदाम के पुण्य के प्रभाव से राजकुमार नन्दिषेण के पास से उठते ही चित्र नापित के विचारों में एकदम तूफान सा आ गया। उस को महाराज के वध में चारों ओर अनिष्ट ही अनिष्ट दिखाई देने लगा। फलस्वरूप वह घातक के स्थान में रक्षक बना। नीतिकारों ने

"—रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि" ॥ अर्थात् पूर्वकृत पुण्य ही रक्षा करते हैं। यह सत्य ही कहा है। तात्पर्य यह है कि पुण्य के प्रभाव से चित्त स्वयं भी बचा और उसने महाराज श्रीदाम को भी बचाया।

चित्त की बात को सुनकर पहले तो श्रीदाम नरेश एकदम चमके पर थोड़े ही समय के बाद कुछ विचार करने पर उन्हें चित्र की बात सर्वथा विश्वसनीय प्रतीत हुई। कारण कि जब से राजकुमार युवराज बना है तब से लेकर उसके व्यवहार में बहुत अन्तर दिखाई देता था और उसकी ओर से श्रीदाम नरेश सदा ही शंकित से बने रहते थे। चित्र की सरल एवं निर्व्याज उक्ति से महाराज श्रीदाम बहुत प्रभावित हुए तथा अपने और नन्दिषेण के कर्तव्य का तटस्थ बुद्धि से विचार करते हुए वे एकदम क्रोधातुर हो उठे और फलस्वरूप नीतिशास्त्र के नियमानुसार उन्हों ने उसे वध कर डालने की आज्ञा प्रदान करना ही उचित समझा।

पाठकों को स्मरण होगा कि पारणे के निमित्त मथुरा नगरी में भिक्षा के लिये पधारे हुए गौतम स्वामी ने राजमार्ग में जिस वध्य व्यक्ति को राजपुरुषों के द्वारा भयंकर दुर्दशा को प्राप्त होते हुए देखा था तथा भिक्षा लेकर वापिस आने पर उस व्यक्ति के विषय में जो कुछ प्रभु महावीर से पूछा था, उसी का उत्तर देने के बाद प्रभु वीर कहते हैं कि गौतम! यह है उस व्यक्ति के पूर्वभवसहित वर्तमान भव का परिचय, जो कि वर्तमान समय में अपने परम उपकारी पिता का अकारण घात करके राज्यसिंहासन पर आरूढ होने की नीच चेष्टा कर रहा था। तात्पर्य यह है कि जिन अधमाधम प्रवृत्तियों से यह नन्दिषेण नामक व्यक्ति इस दयनीय दशा का अनुभव कर रहा है यह उसी का वृत्तान्त तुम को सुनाया गया है।

प्रश्न—दुर्योधन कोतवाल के क्रूरकर्मों का फल यह हुआ कि उसे नरक में उत्पन्न होना पड़ा, परन्तु नरक से निकल कर भी तो उसे किसी बुरे स्थान में ही जन्म लेना चाहिये था? पर वह जन्म लेता है एक उत्तम घराने में अर्थात् श्रीदाम नरेश के घर में, ऐसा क्यों?

उत्तर—बुरे स्थान में तो वह मनुष्य जन्म लेता है, जिसने पूर्व जन्म में बुरे ही कर्म किये हों अथवा अभी जिसके बुरे कर्म भोगने शेष हों। यदि किसी ने बुरे कर्मों का फल भोग लिया हो तब उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह बुरे स्थान में ही जन्म ले। दुर्योधन ने बुरे कर्म किये उन का फल उसने छठी नरक में नारकीरूप में प्राप्त किया वह भी एक दो वर्ष नहीं किन्तु बाईस सागरोपम के बड़े लम्बे काल तक। कहने का तात्पर्य यह है कि जब उसके बुरे कर्मों का अधिक मात्रा में क्षयोपशम हो गया अर्थात् जो कर्म उदय को प्राप्त हुए, उन का क्षय और जो उदय में नहीं आए उन का उपशमन हो गया, अथवा उसके पूर्वकृत किसी अज्ञात पुण्य के उदय में आने से वह एक उत्तम राजकुल में जन्मा तो इस में कुछ भी विसंवाद नहीं है।

शास्त्रों में लिखा है कि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म जीवन के साथ होते हैं, जो कि अपने २ समय पर उदय में आकर फलोन्मुख हो जाते हैं। आज भी प्रत्यक्ष देखने में आता है कि एक व्यक्ति राजकुल में जन्म लेता है, राजा बनता है, परन्तु कुछ ही समय के बाद वह दर दर की खाक छानता है और खाने को पेटभर अन्न भी प्राप्त नहीं कर पाता। यही तो कर्मगत वैचित्र्य है, जिसे देख कर कभी २ विशिष्ट बुद्धिबल रखने वाले व्यक्ति भी आश्चर्य मुग्ध हो जाते

(१) पृष्ठ २३२ तथा २३३ पर अभग्नसेन के सम्बन्ध में इसी प्रकार के प्रश्न का विस्तृत उत्तर दिया जा चुका है। अधिक जिज्ञासा रखने वाले पाठक वहां देख सकते हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वहां अभग्नसेन का नाम है जबकि प्रस्तुत में नन्दिषेण का।

है। अत दुर्योधन के जीव का नन्दिषेण के रूप में अवतरित होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

"—एयारूवे जाव समुप्पज्जित्था—" यहां का जाव—यावत् पद '—अज्झत्थिते कप्पिए चिन्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे—" इन पदों का परिचायक है। इन का अर्थ पृष्ठ १३३ पर किया जा चुका है। तथा—भीए ४—यहां पर दिये गये ४ के अंक से '—तत्थे उव्विग्गे संजातभए—" इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है।

"—करयल० जाव एवं—" यहां के बिन्दु तथा जाव—यावत् पद से संसूचित पाठ को पृष्ठ २४६ पर लिखा जा चुका है। तथा "—रज्जे जाव मुच्छिते ४—" यहां पठित जाव—यावत् पद से '—रट्ठे य कोसे य कोट्ठागारे य बले य वाहणे य पुरे य अन्तेउरे य—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। राज्य शब्द बादशाहत का बोधक है। किसी महान् देश का नाम राष्ट्र है। कोष खजाने को कहते हैं। धान्यगृह अथवा भाण्डागार का नाम कोष्ठागार है। बल सेना को कहते हैं। वाहन शब्द रथ आदि यान और जहाज, नौका आदि के लिये प्रयुक्त होता है। पुर नगर का नाम है। अन्तःपुर रणवास को कहते हैं। तथा—मुच्छिते ४—यहां दिये गये ४ के अंक से "—गिद्धे गढिए, अज्झोववन्ने—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ पृष्ठ १७३ पर दिया गया है।

"—आसुरुत्ते जाव साहट्टु—" यहां पठित जाव—यावत् पद से "—रुट्ठे, कुविए, चण्डिक्किए तिवलिय भिउडिं निडाले—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। आसुरुत्ते—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १७७ पर कर दिया गया है।

"—एएणं विहाणेणं—" यहां प्रयुक्त एतद् शब्द उस विधान—प्रकार का परिचायक है, जिसे भिक्षा को गये भगवान् गौतम स्वामी ने मथुरा नगरी के राजमार्ग पर देखा था। तथा एतद्शब्द—सम्बन्धी विस्तृत विवेचन पृष्ठ १७८ पर किया गया है। पाठक वहां देख सकते हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वहां उज्झितक कुमार का वर्णन है, जब कि प्रस्तुत में नन्दिषेण का।

"—पुत्ते जाव विहरति—" यहां पठित जाव—यावत् पद पृष्ठ ४७ पर पढ़े गये '—पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं, दुप्पडिक्कन्ताणं असुभाणं—' इत्यादि पदों का परिचायक है।

गत सूत्रों में भगवान् गौतम के प्रश्न के उत्तर का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार अनगार गौतम की अग्रिम जिज्ञासा का वर्णन करते हैं—

मूल—[1] णंदिसेणे कुमारे इओ चुते कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

पदार्थ—णंदिसेणे—नन्दिषेण। कुमारे—कुमार। इओ—यहां से। चुते—च्यव कर—मर कर। कालमासे—कालमास में। कालं किच्चा—काल करके। कहिं—कहां। गच्छिहिति ?—जायेगा ?, और। कहिं—कहां पर। उववज्जिहिति ?—उत्पन्न होगा ?।

मूलार्थ—गौतम स्वामी ने भगवान् से फिर पूछा कि भगवन् ! नन्दिषेण कुमार यहां से मृत्युसमय में काल करके कहां जायगा ? और कहां पर उत्पन्न होगा ?

(१)—छाया—नन्दिषेण कुमार इतश्च्युतः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोपपत्स्यते ?

टीका—भावी जन्मों की पृच्छा के सम्बन्ध में पहले पृष्ठ ८८, तथा १८३, तथा ३०६ पर काफी लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र नाम का है, कहीं मृगापुत्र का नाम है, कहीं उज्झितक कुमार का तथा कहीं शकट कुमार का। शेष वर्णन समान ही है। अतः पाठक वहीं पर देख सकते हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया वह निम्नोक्त है—

मूल—[1] से गोतमा ! णंदिसेणे कुमारे सट्ठिं वासाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० संसारो तहेव जाव पुढवीए०। ततो हत्थिणाउरे णगरे मच्छत्ताए उववज्जिहिति। से णं तत्थ मच्छिएहिं वहिते समाणे तत्थेव सिट्ठिकुले० बोहिं० सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिनिव्वाहिति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेहिति। णिक्खेवो।

॥ छट्ठं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**गोतमा !**—हे गौतम ! । **से**—वह । **णंदिसेणे**—नन्दिषेण । **कुमारे**—कुमार । **सट्ठिं**—साठ । **वासाइं**—वर्षों की । **परमाउं**—परमायु को । **पालइत्ता**—पालकर — भोग कर । **कालमासे**—मृत्यु के समय में । **कालं किच्चा**—काल कर के । **इमीसे**—इस । **रयणप्पभाए**— रत्नप्रभा नाम की । **पुढवीए०**—पृथिवी में—नरक में उत्पन्न होगा तथा अवशिष्ट । **संसारो**—संसारभ्रमण । **तहेव**—पूर्ववत् जान लेना चाहिये । **जाव**—यावत् । **पुढवीए०**—पृथिवीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा । **ततो**—वहां से अर्थात् पृथिवीकाया से निकल कर । **हत्थिणाउरे**—हस्तिनापुर । **णगरे**—नगर में । **मच्छत्ताए**—मत्स्यरूप से । **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगा । **से णं**—वह । **तत्थ**—वहां पर । **मच्छिएहिं**—मात्स्यिकों — मत्स्यों का वध करने वालों से । **वहिते समाणे** — वध को प्राप्त होता हुआ । **तत्थेव**—वहीं पर । **सिट्ठिकुले०**—श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होगा, वहां पर । **बोहिं०**—बोधिलाभ अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, तथा । **सोहम्मे०** — सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा । वहां से च्यव कर । **महाविदेहे०**—महाविदेहक्षेत्र में जन्मेगा वहां पर चारित्र का आराधन कर । **सिज्झिहिति**— सिद्ध होगा । **बुज्झिहिति** — केवल ज्ञान को प्राप्त कर सकल पदार्थों को जानने वाला होगा । **मुच्चिहिति**—सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होगा । **परिनिव्वाहिति** — परम निर्वाण पद को प्राप्त करेगा । **सव्वदुक्खाणं**—सर्व प्रकार के दुःखों का । **अंतं** — अन्त । **करेहिति** — करेगा । **णिक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार पूर्ववत् जान लेना चाहिये । **छट्ठं**—छठा । **अज्झयणं**—अध्ययन । **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ ।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह नन्दिषेण कुमार साठ वर्ष की परम आयु को भोग कर मृत्यु के समय में काल करके इस रत्नप्रभा नामक पृथिवी—नरक में उत्पन्न होगा। उस का शेष संसारभ्रमण पूर्ववत् समझना अर्थात् प्रथम अध्ययनगत वर्णन की भांति जान लेना, यावत् वह पृथिवीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा।

(१) छाया—स गौतम ! नन्दिषेणः कुमारः षष्टिं वर्षाणि परमायुः पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां० संसारस्तथैव यावत् पृथिव्याम्०। ततो हस्तिनापुरे नगरे मत्स्यतयोपपत्स्यते। स तत्र मात्स्यिकैर्वधितः सन् तत्रैव श्रेष्ठिकुले० बोधिं० सौधर्मे० महाविदेहे० सेत्स्यति, भोत्स्यते, मोक्ष्यते, परिनिर्वास्यति सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति। निक्षेपः।

॥ षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥

पृथिवीकाया से निकलकर हस्तिनापुर नगर मे मत्स्यरूप से उत्पन्न होगा, वहा मच्छीमारों के द्वारा वध को प्राप्त होता हुआ फिर वहीं पर हस्तिनापुर नगर मे एक श्रेष्ठिकुल मे उत्पन्न होगा। वहा वह सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, वहा से सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे उत्पन्न होगा और वहा से महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेगा। वहाँ पर चारित्र ग्रहण करेगा और उस का यथाविधि पालन कर उस के प्रभाव से सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा, और परम निर्वाण पद को प्राप्त कर सर्व प्रकार के दु:खों का अन्त करेगा। निक्षेप की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये।

॥ छठा अध्ययन समाप्त ॥

टीका—गौतम स्वामी द्वारा किए गए नन्दिषेण के आगामी जीवन सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर मे वीर प्रभु ने जो कुछ फरमाया उस का वर्णन मूलार्थ में कर दिया गया है। वर्णन सर्वथा स्पष्ट है। इस पर किसी प्रकार के विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मा स्वामी के चरणों में छठे अध्ययन को सुनने की इच्छा प्रकट की थी। जिस को पूर्ण करने के लिये श्री सुधर्मा स्वामी ने प्रस्तुत छठे अध्ययन को सुनाना प्रारम्भ किया था। अध्ययन सुना लेने के अनन्तर श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बू ! स्वामी से फरमाने लगे—

जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दु:खविपाक के छठे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। मैंने जो कुछ प्रभु वीर से सुना है, उसी के अनुसार तुम्हें सुनाया है, इस मे मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है। इन्हीं भावों को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने '—**निक्खेवो—निक्षेप**—' यह पद प्रयुक्त किया है। निक्षेप शब्द का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है। परन्तु प्रस्तुत में निक्षेप शब्द से जो सूत्रांश अभिमत है, वह निम्नोक्त है—

एव खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते [1]त्ति बेमि—इन पदों का भावार्थ ऊपर की पंक्तियों में लिखा जा चुका है।

"—**पुढवीए० संसारो तहेव जाव पुढवीए०**—" यहां का बिन्दु पृष्ठ ८९ पर पढ़े गये "—**उक्कोससागरोवमट्ठिइएसु जाव उववज्जिहिति**—इन पदों का परिचायक है। तथा—**संसार**—शब्द संसारभ्रमण का बोध कराता है। **तहेव** का अर्थ है—वैसे ही। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का संसारभ्रमण वर्णित हुआ है, उसी प्रकार नन्दिषेण का भी समझ लेना चाहिये। और उसी संसारभ्रमण के संसूचक पाठ को **जाव—यावत्** पद मे अभिव्यक्त किया गया है। **जाव—यावत्** पद मे विवक्षित पदों तथा—**पुढवीए०**—के बिन्दु से अभिमत पाठ की सूचना पृष्ठ ३१२ पर दी जा चुकी है।

"—**सिट्ठिकुले० बोहिं० सोहम्मे० महाविदेहे०**—इत्यादि पदों से जो सूत्रकार को अभिमत है, वह चतुर्थ अध्ययन में पृष्ठ ३१२ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां शकट—कुमार का वर्णन है, जब कि प्रस्तुत में नन्दिषेण का। विशेष अन्तर वाली कोई बात नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन में नन्दिषेण के निर्देश मे मानव जीवन का जो चित्र प्रदर्शन किया गया

(१) 'बेमि' त्ति ब्रवीम्यहं भगवत: समीपेऽमुं व्यतिकरं विदित्वेत्यर्थ: (वृत्तिकार)।

है, उस पर से उस की विकट परिस्थितियों का खासा अनुभव हो जाता है। मानव जीवन जहा अधिक से अधिक अन्धकारपूर्ण होता है वहा उस की नितान्त उज्ज्वलता भी विस्पष्ट हो जाती है। इस जीवन—यात्रा में मानव प्राणी किस २ तरह की उच्चावच परिस्थितियों को प्राप्त करता है? तथा सुयोग्य अवसर प्राप्त होने पर वह अपने साध्य तक पहुंचने मे कैसे सफलता प्राप्त करता रहता है? इस विषय का भी प्रस्तुत अध्ययन मे अच्छा अनुगम दृष्टिगोचर होता है ।

राजकुमार नन्दिषेण के जीवन का अध्ययन करने मे हेयोपादेय रूप से वस्तुतत्त्व का त्याग और ग्रहण करने वाले विचारशील पुरुषों के लिये उस में से दो शिक्षाएं प्राप्त होती हैं। जैसे कि (१) प्राप्त हुए अधिकार का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। (२) किसी भी प्रकार के प्रलोभन मे आकर अपने कर्तव्य से कभी पराङ्मुख नहीं होना चाहिये।

आज का मानव यदि सच्चे अर्थों में उत्तम तथा उत्तमोत्तम मानव बनना चाहता है तो उसे इन दोनों बातों को विशेषरूप से अपनाने का यत्न करना चाहिये ।

दुर्योधन चारकपाल—कारागृह के रक्षक—जेलर की भान्ति प्राप्त हुए अधिकार का दुरुपयोग करने वाला अधम व्यक्ति अपनी क्रूर एव निर्दय वृत्ति से मानवता के स्थान मे दानवता का अनुसरण करता है। जिस का परिणाम आत्म—पतन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसी प्रकार नन्दिषेण की भान्ति राज्य जैसे तुच्छ सासारिक प्रलोभन (जिस का कि पिता के बाद उसे ही अधिकार था) में आकर पितृघात जैसे अनर्थ करने का कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले अधमाधम दुष्कृत्यों से सदा पृथक् रहने का यत्न करना तथा उत्तम एव उत्तमोत्तम पद को उपलब्ध करना ही मानव जीवनका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तम अध्याय

मानव ससार का सर्वश्रेष्ठ एव सर्वोत्तम प्राणी माना जाता है, परन्तु जरा विचार कीजिये कि इस मे सर्वश्रेष्ठता किस बात की है ? अर्थात् मानव के पास ऐसी कौन सी वस्तु है कि जिस के बल पर यह इतना श्रेष्ठ बन गया है ?

क्या मानव के पास शारीरिक शक्ति बहुत बड़ी है या यह पू जीपति है ? जिस के कारण यह मानव सर्वश्रेष्ठता के पद का भाजन बना हुआ है ? नहीं नही इन बातों मे से कोई भी ऐसी बात नही है जो इस की महानता का कारण बन रही हो । क्योंकि ससार मे हाथी आदि ऐसे अनेकानेक विराटकाय प्राणी अवस्थित हैं जिन के सन्मुख मानव का शारीरिक बल कुछ भी मूल्य नहीं रखता, यह उन के सामने तुच्छ है, नगण्य है ।

धन मानव की उत्तमता का कारण नही बन सकता, क्योंकि भारत के ग्रामीण लोगों का "—जहां कोई बड़ा सांप रहता है, वहा अवश्य कोई धन का बडा खज़ाना होता है—" यह विश्वास बतलाता है कि धन से चिपटने वाला मानव साप ही होता है, मनुष्य नही। इसके अतिरिक्त धन के कुपरिणामों के अनेकानेक उदाहरण इतिहास मे उपलब्ध होते हैं ।

रावण के पास कितना धन था ? सारी लका सोने की बनी हुई थी। यादवों की द्वारका का निर्माण देवताओं के हाथों हुआ था, वह भी हीरे पन्ने आदि जवाहरात मे। भारत के धन वैभव पर मुग्ध हुए यूनान के सिकन्दर ने लाखों मनुष्यों का सहार किया। मन्दिरों को तोड़ करोडों का धन भारत से लूटा। उसे अपने ऐश्वर्य का कितना महान् घमड था ?, एसे ही दुर्योधन के, कोणिक के आदि अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु हुआ क्या ?, सोने की लका ने रावण को राक्षस बना दिया और स्वर्ण और रत्नो मे निर्मित द्वारिका ने यादवों को नरपशु । सिकन्दर के धनवैभव से देश सत्रस्त हो उठा था । दुर्योधन महाभारत के भीषण युद्ध का मूल बना। कोणिक ने अपने पूज्य पिता श्रेणिक को पिजरे का कैदी बना डाला था। साराश यह है कि धन के अतिरेक ने इन सब को अन्धा बना दिया था, उन के विवेक चक्षु ज्योतिर्विहीन हो चुके थे। मात्र धन के आधिक्य ने मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाया है, यह बात नहीं कही जा सकती । इसी भान्ति परिवार आदि के अन्य अनेकों बल भी इसे महान् नहीं बना सकते ।

फिर वही प्रश्न सामने आता है कि मानव के सर्वश्रेष्ठ कहलाने का वास्तविक कारण क्या है ? इस प्रश्न का यदि एक ही शब्द म उत्तर दिया जाये तो वह है—**मानवता**।

भगवान् महावीर ने या अन्य अनेकों महापुरुषों ने जो मानव की श्रेष्ठता के गीत गाए हैं वे मानवता के गहरे ग मे रगे हुए सच्चरित्र मानवो के ही गाए हैं । मानव के हाथ, पैर पा लेने से कोई मानव नहीं बन जाता, प्रत्युत मानव बनता है—मानवता को अपनाने से। यों तो रावण भी मानव था, परन्तु लाखों वर्षों से प्रतिवर्ष उसे मारते आरहे हैं, गालिया देते आरहे हैं जलाते आरहे हैं। यह सब कुछ क्यो? इसी लिये कि उस ने मानव हो कर मानवता का काम नहीं किया, फलत वह मानव हो कर भी राक्षस कहलाया ।

शास्त्रों में मानवता की बडी महिमा गाई है । जहा कहीं भी मानवता का वर्णन है वहा

उसे सर्वश्रेष्ठ और दुर्लभ बतलाया गया है । वास्तव में यह बात सत्य भी है । जब तक मानवता की प्राप्ति नहीं होती, तब तक यह जीवन वास्तविक जीवन नहीं बन पाता । जीवन के उत्थान का सब से बडा साधन मानवता ही है—यह किसी ने ठीक ही कहा है ।

'—**आत्मवत् सर्वभूतेषु**—" की भावना ही मानवता है । यदि मनुष्य को दूसरे के हित का भान नहीं तो वह मनुष्य किस तरह कहा जा सकता है ?, साराश यह है कि मनुष्य वही कहला सकता है जो यह समझता है कि जिस तरह मैं सुख का अभिलाषी हूं, प्रत्येक प्राणी मेरी तरह ही सुख की अभिलाषा कर रहा है । तथा जैसे मैं दुःख नहीं चाहता, उसी तरह दूसरा भी दुःख के नाम से भागता है । इसी प्रकार सुख देने वाला जैसे मुझे प्रिय होता है और दुःख देने वाला अप्रिय लगता है, ठीक इसी भान्ति दूसरे जीवों की भी यही दशा है । उन्हें सुख देने वाला प्रिय और दुःख देने वाला अप्रिय लगता है । इसी लिये मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं किसी के दुःख का कारण न बनूं । यदि बनूं तो दूसरों के सुख का ही कारण बनूं । इस प्रकार के विचारों का अनुसरण करने वाला मानव प्राणी ही सच्चा मानव या मनुष्य हो सकता है और उसी में सच्ची मानवता या मनुष्यता का निवास रहता है । इस के विपरीत जो व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दूसरों के प्राण तक लूटने में भी नहीं सकुचाता, वह मानव व्यक्ति मानव का आकार तो तो अवश्य धारण किये हुए है किन्तु उस में मानवता का अभाव है । वह मानव हो कर भी दानव है । वस्तुतः ऐसे मानव व्यक्ति ही संसार में नाना प्रकार के दुःखों के भाजन बनते हैं, और दुर्गतियों में धक्के खाते हैं ।

प्रस्तुत मानव अध्ययन में एक ऐसे व्यक्ति के जीवन का वर्णन प्रस्तावित हुआ है, जो कि मानव के आकार में दानव था । मांसाहारी तथा मांसाहार जैसी हिंसा एवं अधर्म पूर्ण पापमय प्रवृत्तियों का उपदेष्टा बना हुआ था, तथा जिसे इन्हीं नृशंस प्रवृत्तियों के कारण नारकीय भीषण यातनायें सहन करने के साथ २ दुर्गतियों में भटकना पड़ा था । उस अध्ययन का आदिम सूत्र इस प्रकार है—

मूल—[1] सत्तमस्स उक्खेवो ।

पदार्थ-सत्तमस्स—सप्तम अध्ययन का । **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् जानलेना चाहिये ।

मूलार्थ-सप्तम अध्ययन के उत्क्षेप की भावना पहले अध्ययनों की भान्ति कर लेनी चाहिये ।

टीका—शास्त्रों के परिशीलन से यह पता चलता है कि प्रभुवाणीरसिक श्री जम्बू स्वामी "—[2]**सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं**—" अर्थात् मनुष्य प्रभुवाणी को सुनकर कल्याणकारी कर्म को जान सकता है और सुन कर ही पापकारी मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है—" इस सिद्धान्त को खूब समझते थे । समझने के साथ २ उन्हों ने इस सिद्धांत को जीवन में भी उतार रखा था । इसी लिये अपना अधिक समय वे अपने परम पूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी के पावन चरणों में बैठ कर प्रभुवाणी के सुनने में व्यतीत किया करते थे ।

पाठकों को यह तो स्मरण ही है कि आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी की

(१) **छाया**—सप्तमस्योत्क्षेप ।

(२) सुणिया सेती जानिए, पुण्य पाप की बात । बिन सुणयां अन्धा जाके, दिन जैसी ही रात ॥१॥

प्रार्थना पर विपाकश्रुत के दुःखविपाक नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का वर्णन सुना रहे हैं। उन मे छठे अध्ययन का वर्णन समाप्त हो चुका है। इस की समाप्ति पर आर्य जम्बू स्वामी फिर पूछते हैं कि भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के छठे अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है जिस का कि वर्णन आप फरमा चुके हैं, तो उन्हों ने सातवें अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?, इस प्रश्न को सूत्रकार ने '—सत्तमस्स उक्खेवो—" इतने पाठ मे गर्भित कर दिया है। तात्पर्य यह है कि छठे अध्ययन का अर्थ सुनने के बाद श्री जम्बू स्वामी ने जो सातवें अध्ययन के अर्थ—श्रवण की जिज्ञासा की थी, उसी को सूत्रकार ने दो पदो द्वारा सक्षेप मे प्रदर्शित किया है। उन पदो मे अभिव्यक्त सूत्रपाठ निम्नोक्त है—

'—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?—" इन पदों का अर्थ ऊपर की पक्तियों मे लिखा जा चुका है।

आर्य जम्बू स्वामी के उक्त प्रश्न के उत्तर मे श्री सुधर्मा स्वामी ने जो कुछ फरमाना आरम्भ किया, अब निम्नलिखित सूत्र में उस का उल्लेख करते हैं—

मूल—[1]**एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिसंडे णगरे। वणसंडे उज्जाणे। उम्बरदत्ते जक्खे। तत्थ णं पाडलिसंडे णगरे सिद्धत्थे राया। तत्थ णं पाडलिसंडे सागरदत्ते सत्थवाहे होत्था, अड्ढे०। गंगादत्ता भारिया, तस्स णं सागरदत्तस्स पुत्ते गंगादत्ताए भारियाए अत्तए उंबरदत्ते नामं दारए होत्था, अहीण०। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ समोसरणं, परिसा जाव गओ।**

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। **जम्बू !**—हे जम्बू !। **तेणं कालेणं**—उस काल मे। **तेणं समएणं**—उस समय मे। **पाडलिसंडे**—पाटलिषंड। **णगरे**—नगर था। **वणसंडे**—वनषंड नामक। **उज्जाणे**—उद्यान था, वहां। **उम्बरदत्ते**—उम्बरदत्त नामक। **जक्खे**—यक्ष था अर्थात् उसका स्थान था। **तत्थ णं**—उस। **पाडलिसंडे**—पाटलिषण्ड। **णगरे**—नगर मे। **सिद्धत्थे**—सिद्धार्थ नामक। **राया**—राजा था। **तत्थ णं**—उस। **पाडलिसंडे**—पाटलिषण्ड नगर मे। **सागरदत्ते**—सागरदत्त नाम का। **सत्थवाहे**—सार्थवाह—यात्री व्यापारियों का नायक। **होत्था**—था। **अड्ढे०**—जो कि धनाढ्य यावत् अपने नगर मे बडा प्रतिष्ठित था। **गंगादत्ता भारिया**—उस की गंगादत्ता नाम की भार्या थी। **तस्स णं**—उस। **सागरदत्तस्स**—सागरदत्त सार्थवाह का। **पुत्ते**—पुत्र। **गंगादत्ताए भारियाए**—गंगादत्ता भार्या का। **अत्तए**—आत्मज—पुत्र। **उंबरदत्ते**—उम्बरदत्त। **नाम**—नामक। **दारए**—बालक। **होत्था**—था, जो कि। **अहीण०**—अन्यून एवं निर्दोष पचेन्द्रियशरीर से विशिष्ट था। **तेणं कालेणं २**—उस काल और उस समय में। **समणस्स**—श्रमण। **भगवओ**—भगवान् महावीर स्वामी का। **समोसरणं**—समवसरण हुआ अर्थात् भगवान् वहां उद्यान में पधारे।

---

(१) छाया—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये पाटलिषंड नगरम्। वनषण्डमुद्यानम्। उम्बरदत्तो यक्षः। तत्र पाटलिषंडे नगरे सिद्धार्थो राजा। तत्र पाटलिषंडे सागरदत्तः सार्थवाहोऽभूद्, आढ्य०। गंगादत्ता भार्या। तस्य सागरदत्तस्य पुत्रो गंगादत्ताया भार्याया आत्मजः, उम्बरदत्तो नाम दारकोऽभूदहीन०। तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः समवसरणं, परिषद् यावत् गतः।

परिसा—परिषद् । **जाव**—यावत् । **गओ**—नागरिक और राजा चला गया ।

मूलार्थ—इस प्रकार निश्चय ही हे जम्बू ! उस काल और उस समय में पाटलिषंड नाम का एक सुप्रसिद्ध नगर था । वहां वनषंड नामक उद्यान था । उस उद्यान में उम्बरदत्त नामक यक्ष का स्थान था । उस नगर में महाराज सिद्धार्थ राज्य किया करते थे । पाटलिषंड नगर में सागरदत्त नाम का एक धनाढ्य, जो कि उस नगर का बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता था, सार्थवाह रहता था । उस की गंगादत्ता नाम की भार्या थी । उनके अन्यून एवं निर्दोष पञ्चेन्द्रिय शरीर वाला उम्बरदत्त नाम का एक बालक था ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वनषंड नामक उद्यान में पधारे । नागरिक लोक तथा राजा उन के दर्शनार्थ नगर से निकले और धर्मोपदेश सुन कर सब वापिस चले गये ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में सप्तम अध्ययन के प्रधान नायकों के नामों का निर्देश किया गया है । उन में नगर, उद्यान और यक्षायतन, उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पधारना, उनके दर्शनार्थ नगर की जनता और नरेश के आगमन तथा धर्मश्रवण आदि के विषय में पूर्व वर्णित अध्ययनों की भान्ति ही भावना कर लेनी चाहिये । नामगत भिन्नता को सूत्रकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है ।

—**अड्ढे०**—यहां के बिन्दु से विवक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ १२० पर दी जा चुकी है । तथा—**अहीण०**—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ भी पृष्ठ १२० पर लिख दिया गया है । तथा **समोसरणं परिसा जाव गओ**—यहां के **जाव** यावत् पद से—**निग्गया, राया निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा गया य पडि**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन का अर्थ पृष्ठ २०४ पर लिखा जा चुका है ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशामृत का पान करने के अनन्तर राजा तथा जनता के अपने अपने स्थानों को वापिस लौट जाने के पश्चात् क्या हुआ ? अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तेणं कालेणं २ भगवं गोतमे तहेव जेणेव पाडलिसंडे णगरे तेणेव उवागच्छति २ पाडलिसंडं णगरं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुप्पविसति, तत्थ णं पासति**

---

(१) छाया—तस्मिन् काले २ भगवान् गौतमस्तथैव यत्रैव पाटलिषंडं नगरं तत्रैवोपागच्छति २ पाटलिषंडं नगरं पौरस्त्येन द्वारेणानुप्रविशति । तत्र पश्यत्येकं पुरुषं कच्छूमन्तं कुष्ठिकं दकोदरिकं भगंदरिकमर्शसं[1] कासिकं श्वासिकं शोफवन्तं शूनमुखं शूनहस्तं शूनपादं शटितहस्ताङ्गुलिकं शटितपादाङ्गुलिकं शटितकर्णनासिकं रसिकया च पूयेन च थिविथिवायमानं व्रणमुखकृम्युत्तुद्यमानप्रगलत्पूयरुधिरं लालाप्रगलत्कर्णनासम्, अभीक्ष्णं २ पूयकवलांश्च रुधिरकवलांश्च कृमिकवलांश्च वमन्तं कष्टानि करुणानि विस्वराणि कूजन्तं मक्षिकाप्रचारसमूहेनान्वीयमानमार्गं स्फुटितात्यर्थशीर्षं दण्डिखण्डवसनं खण्डमल्लकखण्डघट-कहस्तगतं गेहे २ देहबलिकया वृत्तिं कल्पयन्तं पश्यति २ तदा भगवान् गौतम उच्चनीचमध्यम-कुलान्यटति यथापर्याप्तं गृह्णाति २ पाटलिषंडात् प्रतिनिष्क्रामति २ यत्रैव श्रमणो भगवान्० भक्तपान-मालोचयति भक्तपानं प्रतिदर्शयति २ श्रमणेनाभ्यनुज्ञातो सन् बिलमिव पन्नगभूत आत्मनाऽऽहारमाहारयति, संयमेन तपसा, आत्मानं भावयन् विहरति ।

---

(१) अर्शांसि अस्य विद्यन्ते इति अर्शसः तमिति भावः । अर्थात् बवासीर का रोगी ।

एगं पुरिसं कच्छुल्लं कोढियं दाओयरियं भगंदरियं अरिसिल्लं कासिल्लं सासिल्लं सोसिल्लं सूयमुहं सूयहत्थं सूयपायं सडियहत्थंगुलियं सडियपायंगुलियं सडियकण्णनासियं रसियाए य पूएण य थिविथिवंतं वणमुहकिमिउत्तुयंतपगलंतपूयरुहिरं लालापगलंतकण्णनासं अभिक्खणं २ पूयकवले य रुहिरकवले य किमिकवले य वममाणं कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं कूयमाणं मच्छियाचडगरपहगरेणं अण्णिज्जमाणमग्गं फुट्टहडाहडसीसं दंडिखंडवसणं खंडमल्लयखंडघडगहत्थगयं गेहे २ देहंबलियाए वित्तिं कप्पेमाणं पासति २ तदा भगवं गोयमे उच्चणीयमज्झिमकुलाइं अडति, अहापज्जत्तं गेण्हति २ पाडलि० पडिनि० जेणेव समणे भगव० भत्तपाणं आलोएति, भत्तपाणं पडिदंसेति २ समणेणं अब्भणुण्णाते समाणे बिलमिव पन्नगभूते अप्पाणेणं आहारमाहारेइ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

पदार्थ— **तेणं कालेणं २**—उस काल, और उस समय में। **भगवं**—भगवान्। **गोतमे**—गौतम। **तहेव**—तथैव अर्थात् पूर्व की भान्ति। **जेणेव**—जहां—जिधर। **पाडलिसंडे**—पाटलिषंड **णगरे**—नगर था। **तेणेव**—वहां। **उवागच्छति २**—आते हैं, आकर। **पाडलिसंड**—पाटलिषंड। **णगरं**—नगर में। **पुरत्थिमेणं**—पूर्व दिशा के। **दारेण**—द्वार से। **अणुप्पविसति**—प्रवेश करते हैं। **तत्थ णं**—वहां पर। **एग पुरिसं**—एक पुरुष को। **पासति**—देखते हैं जो कि। **कच्छुल्लं**—कच्छू—खुजली के रोग से युक्त। **कोढियं**—कुष्ठी—कुष्ठरोग वाला। **दाओयरियं**—जलोदर रोग वाला। **भगंदरियं**—भगंदर का रोगी। **अरिसिल्लं**—अर्शस—बवासीर का रोगी। **कासिल्लं**—कास का रोगी। **सासिल्लं**—श्वास रोग वाला। **सोसिल्लं**—शोफयुक्त अर्थात् शोफ—सूजन का रोगी। **सूयमुहं**—शूनमुख—जिस के मुख पर सोजा पड़ा हुआ हो। **सूयहत्थं**—सूजे हुए हाथों वाला। **सूयपायं**—सूजे हुए पांव वाला। **सडियहत्थंगुलियं**—जिस के हाथों की अंगुलियें सड़ी हुई हैं। **सडियपायंगुलियं**—जिस के पैरों की अंगुलियें सड़ी हुई हैं। **सडियकण्णनासियं**—जिस के कान और नासिका सड़ गये हैं। **रसियाए य**—रसिका—व्रणों से निकलते हुए सफेद गन्दे पानी से। **पूएण य**—तथा पीव से। **थिविथिवंतं**—थिवथिव शब्द से युक्त। **वणमुहकिमिउत्तुयंतपगलंतपूयरुहिरं**—कृमियों से उत्तुद्यमान—अत्यंत पीडित तथा गिरते हुए पूय—पीव और रुधिर वाले व्रणमुखों से युक्त। **लालापगलंतकण्णनासं**—जिस के कान और नाक क्लेदतन्तुओं—फोड़े के बहाव की तारों से गल गये हैं। **अभिक्खणं २**—पुनः पुनः—बार बार। **पूयकवले य**—पूय—पीव के कवलों—ग्रासों का। **रुहिरकवले य**—रुधिर के कवलों का। **किमिकवले य**—कृमिकवलों का। **वममाणं**—वमन करता हुआ। **कट्ठाइं**—दुःखद। **कलुणाइं**—करुणोत्पादक। **वीसराइं**—विस्वर—दीनता वाले वचन। **कूयमाणं**—बोलता हुआ। **मच्छियाचडगरपहगरेणं**—मक्षिकाओं के विस्तृत समूह से—मक्षिकाओं के आधिक्य से। **अण्णिज्जमाणमग्गं**—अन्वीयमानमार्ग अर्थात् उस के पीछे और आगे मक्षिकाओं के झुण्ड के झुण्ड लगे हुए थे। **फुट्टहडाहडसीसं**—जिस के सिर के केश नितान्त बिखरे हुए थे। **दंडिखंडवसणं**—जो टाकियों वाले वस्त्रों को धारण किए हुए था। **खंडमल्लयखंडघडगहत्थगयं**—भिक्षापात्र तथा जलपात्र जिस के हाथ में थे। **गेहे २**—घर २ में। **देहंबलियाए**—भिक्षावृत्ति से। **वित्तिं**—

आजीविका । कप्पेमाणं—चला रहा था, उस पुरुष को । पासति—देखते हैं । तदा—तब । भगवं—भगवान् । गोयमे—गौतम स्वामी । उच्चणीयमज्झिमकुलाइ—ऊँच (धनी), नीच (निर्धन) तथा मध्यम (न ऊँच तथा न नीच अर्थात् सामान्य), घरों में । जाव—यावत् । अडति—भ्रमण करते हैं । अहापज्जत्तं—यथापर्याप्त अर्थात् यथेष्ट, आहार । गेगहति २ त्ता—ग्रहण करते हैं, ग्रहण करके । पाडलि०—पाटलिषंड नगर से । पडिनि०—निकलते हैं, निकल कर । जेणेव—जहा । समणे—श्रमण । भगव०—भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहा आते हैं आकर । भत्तपाण—भक्तपान की । आलोएति—आलोचना करते हैं, तथा । भत्तपाण—भक्तपान को । पडिदंसेति २—दिखलाते हैं, दिखाकर । समणेणं—श्रमण भगवान् से । अब्भणुगणाते समाणे—आज्ञा को प्राप्त किए हुए । अप्पाणेणं—आत्मा से अर्थात् स्वय । बिलमिव पन्नगभूते—बिल मे जाते हुए पन्नक—सर्प की भान्ति । आहारमाहारेइ—आहार का ग्रहण करते हैं, तथा । संजमेणं—सयम, और । तवसा—तप से । अप्पाणं—आत्मा को । भावेमाणे—भावित—वासित करते हुए । विहरति—विचरते हैं ।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय भगवान् गौतम स्वामी जी षष्ठतप—वेले के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए पाटलिषण्ड नगर मे जाते हैं, उस पाटलिषण्ड नगर मे पूर्व दिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं। वहा एक पुरुष को देखते हैं। जिस की दशा का वर्णन निम्नोक्त है—

वह पुरुष कण्डू रोग वाला, कुष्ठ रोग वाला, जलोदर रोग वाला, भगदर रोग वाला, अर्श—बवासीर का रोगी, उस को कास और श्वास तथा शोथ का रोग भी हो रहा था, उस का मुख सूजा हुआ था, हाथों और पैरों फूले हुए थे, हाथ और पैर की अगुलिएँ सड़ी हुई थीं, नाक और कान भी गले हुए थे, रसिका और पीव से थिवथिव शब्द कर रहा था, कृमियों से उत्तुद्यमान—अत्यन्त पीडित तथा गिरते हुए पीव और रुधिर वाले व्रणमुखों से युक्त था, उस के कान और नाक क्लेदतन्तुओं से गल चुके थ, बार २ पूयकवल, रुधिरकवल तथा कृमिकवल का वमन कर रहा था, और जो कष्टोत्पादक, करुणाजनक एव दीनतापूर्ण शब्द कर रहा था, उस के पीछे मक्षिकाओं के झुण्ड के झुण्ड चले जा रहे थे, सिर के बाल अत्यन्त बिखरे हुए थे टाकियों वाले वस्त्र उसने ओढ रखे थे। भिक्षा का पात्र तथा जल का पात्र हाथ मे लिए हुए घर २ मे भिक्षावृत्ति के द्वारा अपनी आजीविका चला रहा था।

तब भगवान गौतम स्वामी ऊँच, नीच और मध्यम घरों मे भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए यथेष्ट भिक्षा लेकर पाटलिषड नगर से निकल कर जहा श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे, वहा पर आये, आकर भक्त—पान की आलोचना की और लाया हुआ भक्तपान—आहार पानी भगवान को दिखलाया, दिखलाकर उन की आज्ञा मिल जाने पर बिल मे प्रवेश करते हुए सर्प की भान्ति बिना चबाये अर्थात् बिना रस लिये ही आहार करते हैं और सयम तथा तप से अपने आत्मा को भावित—वासित करते हुए कालक्षेप कर रहे हैं ।

टीका—सयम और तप की सजीव मूर्ति भगवान् गौतम स्वामी सदैव की भान्ति आज भी षष्ठतप—वेले के पारणे के निमित्त पाटलिषण्ड नगर मे भिक्षार्थ जाने की प्रभु से आज्ञा मागते हैं। आज्ञा मिल जाने पर उन्हों ने पाटलिषड नगर मे पूर्वदिशा के द्वार से प्रवेश किया और वहा पर एक ऐसे व्यक्ति को देखा कि जो कण्डू, जलोदर, अर्श, भगदर, कास, श्वास और शोथादि रोगों से अभिभूत हो रहा था । उस के हाथ पाव और मुख सूजा हुआ था । इतना ही नहीं किन्तु उस

के हाथ पाव की अगुलिये तथा नाक और कान आदि अग प्रत्यग भी गल सड़ चुके थे। सारा शरीर व्रणों से व्याप्त था, व्रणों में कृमि—कीडे पडे हुए थे, उन मे से रुधिर और पीव वह रहा था। मक्षिकाओं के झुण्ड के झुण्ड उस के चारो ओर चक्र काट रहे थे, वह रुधिर, पूय और कृमियों—कीडों का वमन कर रहा था। उस के हाथ मे भिक्षापात्र तथा जलपात्र भी था और वह घर २ मे भिक्षा के लिये घूम रहा था, तथा वह अत्यन्त कष्टोत्पादक, करुणाजनक एव दीनतापूर्ण शब्द बोल रहा था।

इस प्रकार की दशा से युक्त पुरुष को भगवान् गौतम स्वामी ने नगर मे प्रवेश करते ही देखा, देख कर वे आगे चले गये और धनिक तथा निर्धन आदि सभी गृहस्थों के घरों मे आवश्यक भिक्षा ले कर वे वापिस वनषड उद्यान मे प्रभु महावीर के पास आये और यथाविधि आलोचना कर के प्रभु को भिक्षा दिखला कर उनकी आज्ञा से बिल मे प्रवेश करते हुए सर्प की भान्ति उस का ग्रहण किया और पूर्व की भान्ति सयममय जीवन व्यतीत करने लगे। यह प्रस्तुत सूत्रगत वर्णन का सक्षिप्त सार है।

भगवान गौतम द्वारा देखे हुए उस पुरुष की दयनीय दशा मे पूर्वसचित अशुभ कर्मों का विपाक—फल कितना भयकर और कितना तीव्र होता है ?, यह समझने के लिये अधिक विचार की आवश्यकता नहीं रहती। इस उदाहरण से उस का भली भान्ति अनुगम हो जाता है।

"—**कच्छुल्लं कोढियं**—" इत्यादि पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

१—**कच्छूमान्**—कच्छू—खुजली का नाम है। खुजली रोग से आक्रान्त व्यक्ति **कच्छूमान्** कहलाता है। कच्छू का ही दूसरा नाम कण्डू है। कण्डू के सम्बन्ध मे कुछ विचार पृष्ठ ६३ पर भी किया जा चुका है।

२—**कुष्ठिक**—कुष्ठ कोढ का नाम है। कोढ के रोग वाला व्यक्ति **कुष्ठिक** कहलाता है। कुष्ठ रोग का विवेचन पृष्ठ ६३ तथा ६४ पर किया जा चुका है।

३—**दकोदरिक**—दकोदर जलोदर रोग का नाम है। उस रोग वाले व्यक्ति को **दकोदरिक** कहते हैं। जलोदर रोग का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ ६३ पर किया गया है।

—**दाओयरियं**—के स्थान पर—**दोउयरियं**—ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। इसका अर्थ है—**द्वयोदरिकं**—**द्वे उदरे इव उदरं यस्य स तथा तं जलोदररोगयुक्तमित्यर्थः**—अर्थात् उदर-पेट में जल अधिक होने के कारण जिस का उदर दो उदरों के समान प्रतीत होता हो उसे **द्वयोदरिक** कहते हैं। दूसरे शब्दों मे **द्वयोदरिक** को जलोदरिक कहा जा सकता है।

४—**भगंदरिक**— भगदर रोगविशेष का नाम है। जिस की व्याख्या पृष्ठ ६० तथा ६१ पर की जा चुकी है। भगदर रोग वाला व्यक्ति **भगदरिक** कहा जाता है।

५—**अर्शस**—अर्श बवासीर का नाम है। इस के सम्बन्ध में पृष्ठ ६१ पर अर्थसम्बन्धी ऊहापोह किया जा चुका है। अर्श का रोगी **अर्शस** कहलाता है।

६—**कासिक**—कास के सम्बन्ध में विचार पृष्ठ ५६ तथा ६० पर किया जा चुका है। कास रोग वाले व्यक्ति को **कासिक** कहते हैं।

७—**श्वासिक**—श्वास का अर्थ पृष्ठ ५९ पर लिखा जा चुका है। श्वास वाले रोगी का नाम **श्वासिक** है।

८—**शोफवान्**—शोफ—सूजन के रोग से आक्रान्त व्यक्ति का नाम **शोफवान्** है।

९—**शूनमुख**—जिस का मुख सूजा हुआ हो उसे **शूनमुख** कहते हैं।

१०—**शूनहस्त**—जिस के हाथ सूजे हुए हों वह **शूनहस्त** कहलाता है।

११—**शूनपाद**—जिस के पांव सूजे हुए हों उस को **शूनपाद** कहा जाता है।

१२—**शटितहस्तांगुलिक**—जिस के हाथों की अंगुलियां सड़ गई हैं, उसे **शटितहस्तांगुलिक** कहा जाता है। सड़ने का अर्थ है—किसी पदार्थ में ऐसा विकार उत्पन्न होना कि जिस से उस में दुर्गन्ध आने लग जाये।

१३—**शटितपादांगुलिक**— जिस के पांव की अंगुलियां सड़ जावें, वह **शटितपादांगुलिक** कहलाता है।

१४—**शटितकर्णनासिक**—जिस के कर्ण—कान और नासिका—नाक सड़ जाएं उसे **शटितकर्णनासिक** कहते हैं।

१५—**रसिका और पूय से थिविथिवायमान**—अर्थात् व्रण से निकलता हुआ दुर्गन्धपूर्ण श्वेत खून **रसिका** कहलाता है। **पूय**—पीव का नाम है। थिवथिव शब्द करने वाला व्यक्ति **थिविथिवायमान** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि रसिका और पूय के बहने से वह व्यक्ति थिव २ शब्द कर रहा था।

१६—**व्रणमुखकृम्युत्तुद्यमानप्रगलत्पूयरुधिर**—इस समस्त पद के **व्रणमुख, कृमि-उत्तुद्यमान, प्रगलत्पूयरुधिर,** ये तीन विभाग किये जा सकते हैं। व्रण—घाव-ज़ख्म का नाम है। **मुख** अग्रभाग को कहते हैं। तब **व्रणमुख** शब्द से व्रण का अग्रभाग—यह अर्थ फलित हुआ। कृमियों—कीड़ों से उत्तुद्यमान—पीड़ित, **कृम्युत्तुद्यमान** कहा जाता है। जिस के पूय—पीव और रुधिर—खून बह रहा है, उसे **प्रगलत्पूयरुधिर** कहते हैं। अर्थात् उस व्यक्ति के कीड़ा से अत्यन्त व्यथित व्रण—मुखों से पीव और रुधिर बह रह रहा था। **व्रणमुखानि कृमिभिरुत्तुद्यमानानि ऊर्ध्वं व्यथ्यमानानि प्रगलत्पूयरुधिराणि च यस्य स तथा तमिति वृत्तिकारोऽभयदेवसूरि।**

कहीं पर—**वणमुहकिमिउन्नुयंतपगलतपूयरुहिरं**—(**व्रणमुखकृम्युन्नुदत्प्रगलत्पूयरुधिरम्, व्रणमुखात् कृमयः उन्नुदन्त प्रगलन्ति पूयरुधिराणि च यस्य स तथा तम्। इदमुक्तं भवति—यस्य व्रणमुखात् कृमयो बहिर्निःसरन्ति उत्पत्य पतन्ति पूयरुधिराणि च प्रगलन्ति तमित्यर्थः**)—ऐसा पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। इस का अर्थ है—जिस के घावों के अग्रभाग से कीड़े गिर रहे थे और पीव तथा रुधिर भी बह रहा था।

१७—[१]**लालाप्रगलत्कर्णनास**—इस पद में प्रयुक्त हुए लाला शब्द का कोषों में यद्यपि मुंह का पानी (लार) अर्थ किया गया है, परन्तु वृत्तिकार के मत में उसका **क्लेदतन्तु** यह अर्थ पाया जाता है। जो कि उपयुक्त ही प्रतीत होता है। कारण कि—**क्लेदतन्तु** यह समस्त शब्द है। इस में **क्लेद** का प्रयोग—नमी (सील), फोड़े का बहाव और कष्ट—पीड़ा, इन तीन अर्थों में होता है। तथा **तन्तु** शब्द का—डोरा, सूत, तार, डोरी, मकड़ी का जाला, तांत, सन्तान, जाति, जलजन्तुविशेष, इत्यादि [२]अर्थों में होता है। प्रकृत में **क्लेद** शब्द का '**फोड़े का बहाव**" यह अर्थ और **तन्तु** का "**तार**" यह अर्थ ही अभिमत है। तब **क्लेदतन्तु** का —**व्रण—फोड़े के बहाव की तार**" यह अर्थ निष्पन्न हुआ, जोकि प्रकरणानुसारी होने से उचित ही है, क्योंकि लार तो मुंह से गिरती हैं, नाक और कान से नहीं। फोड़ों के बहाव की तारों से जिसके कान और नासिका गल गये हैं,

(१) लालाभिः **क्लेदतन्तुभिः प्रगलन्तौ कर्णौ नासा च यस्य स तथा तमिति** वृत्तिकारः।
(२) देखो—**संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ**—पृष्ठ ३४७ (प्रथम संस्करण)।

उसे **लालाप्रगलत्कर्णनास** कहते हैं।

कहीं पर —**लालामुहं पगलंतकण्णनासं**—ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। इस का अर्थ निम्नोक्त है-

१—**लालामुख** — जिस का मुख लाला अर्थात् लार से युक्त रहता है, उसे **लालामुख** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति के मुख से लारें बहुत टपका करती थीं।

२—**प्रगलत्कर्णनास**—जिस के कान और नासिका बहुत गल चुके थे ऐसा व्यक्ति **प्रगलत्कर्णनास** कहलाता है।

१८—**पूयकवल—पूय**-पीव को कहते हैं। **कवल** शब्द—१—उतनी वस्तु जितनी एक बार मे खाने के लिये मुह मे रखी जाये, ग्रास, तथा २—पानी आदि उतना पदार्थ जितना मुह साफ करने के लिये एक बार मुह में लिया जाये कुल्ली, इन दो अर्थों का परिचायक है। पीव के कवल को **पूयकवल** और इसी भान्ति रुधिर—खून के कवल को **रुधिरकवल,** तथा कृमियों—कीड़ों के कवल को **कृमिकवल** कहते हैं।

१९—**कष्ट**—क्लेशोत्पादक—इस अर्थ का बोध कराने वाला **कष्ट** शब्द है।

२०—**करुण**—करुणा शब्द उस मानसिक दुःख का परिचायक है जो दूसरों के दुःख के ज्ञान से उत्पन्न होता है और उनके दुःख को दूर करने की प्रेरणा करता है। अर्थात् दया का नाम **करुणा** है। करुणा को उत्पन्न कराने वाला **करुण** कहलाता है।

२१—**विस्वर**—दीनतापूर्ण वचन **विस्वर** कहलाता है, अथवा खराब आवाज को **विस्वर** कहा जाता है, अर्थात् उस पुरुष को आवाज बड़ी दीनतापूर्ण थी अथवा बड़ी कर्णकटु थी।

प्रस्तुत मे—**कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं**—इन पदों के साथ — **वयणाइं**— इस विशेष्य पद का अध्याहार किया जाता है। तब—**कष्टोत्पादक वचन, करुणोत्पादक वचन** एव **विस्वर वचन**—**कूजत्** अर्थात् अव्यक्त रूप से बोलता हुआ, यह अर्थ निष्पन्न होता है।

२२—**मक्षिकाओं**[1] **के चडगर पहगर से अन्वीयमानमार्ग**-अर्थात् **मक्षिका** मक्खी का नाम है। **चडगर** और **पहगर** ये दोनों शब्द कोषकारों के मत मे देश्य—देशविशेष मे बोले जाने वाले हैं। इन मे **चडगर** शब्द प्रधानार्थक और **पहगर** शब्द समूहार्थक है। **अन्वीयमानमार्ग** शब्द—जिस के पीछे २ चल रहा है वह,—इस अर्थ का परिचायक है। अर्थात् जिस के पीछे २ मक्षिकाओं का प्रधान—विस्तार वाला समूह चला आ रहा है वह, **अथवा** मक्षिकाओं के वृन्दों—समूहों के पहकर—समूह जिस के पीछे चले आ रहे हैं वह। तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति के पीछे मक्षिकाओं के झुण्ड के झुण्ड लगे हुए थे।

२३—**फुट्टहडाहडसीसे**—इस पद की व्याख्या अभयदेवसूरि के शब्दों मे —**फुट्ट**'—त्ति **स्फुटितकेशसञ्चयत्वेन विकीर्णकेशं "हडाहडं" त्ति अत्यर्थं शीर्षं शिरो यस्य स तथा**—इस प्रकार है। अर्थात् **केशसंचय** (बालों की व्यवस्था) के **स्फुटित**—भग हो जाने से जिस के केश बहुत ज्यादा बिखरे हुए हैं, उस को **स्फुटितात्यर्थशीर्ष** कहते हैं। **हडाहड**—यह देश्य—देशविशेष में बोला जाने वाला पद है जो कि अत्यर्थ का बोधक है।

श्रद्धेय प० मुनि श्री घासीलाल जी म के शब्दों मे इस पद की व्याख्या—**स्फुटद् हडाहड-**

---

(१) **मक्षिकाणां प्रसिद्धानां चटकर**. प्रधान विस्तारवान् य प्रहकर समूह स तथा, **अथवा—मक्षिकाणां चटकराणां तद्वृन्दाना य** प्रहकर स तथा, **तेन**। **अन्वीयमानमार्ग—मनुगम्यमानमार्गम्**। **मलाविलो हि वस्तु प्रायो मक्षिकाभिरनुगम्यत एवेति भाव**। (वृत्तिकार)।

शीर्ष. शिरोवेदनया व्यथितमस्तक —इस प्रकार है । अर्थात् भयंकर शिर की पीडा से जिस का मस्तक मानों फटा जा रहा था वह ।

२४—[1]दंडिखण्डवसन—जिस के वस्त्र थिगली वाले हैं । थिगली का अर्थ है वह टुकडा जो किसी फटे हुए कपड़े आदि का छेद बन्द करने के लिये लगाया जाए, पैबन्द । पंजाबी भाषा में जिसे टाकी कहते हैं । अर्थात् उस पुरुष ने ऐसे वस्त्र पहन रखे थे जिन पर बहुत टाकियें लगी हुई थीं ।

अथवा—[2]दण्डी—कंथा (गुदडी) को धारण करने वाले भिक्षुविशेष की तरह जिसने वस्त्रों के जोड़े हुए टुकड़े ओढ रखे थे वह दण्डिखण्डवसन कहलाता है ।

२५—खण्डमल्लकखण्डघटकहस्तगत—खण्डमल्लक भिक्षापात्र या फटे हुए प्याले का नाम है । भिक्षु के जलपात्र या फूटे हुए घडे को खण्डघटक कहा जाता है । जिस पुरुष के हाथ में खण्डमल्लक और खण्डघटक हो उसे खण्डमल्लकखण्डघटकहस्तगत कहते हैं ।

कहीं—[3]खण्डमल्लखण्डहत्थगय – ऐसा पाठान्तर भी उपलब्ध होता है । इस का अर्थ है— जिस ने खाने और पानी पीने के लिये अपने हाथ में दो कपाल—मिट्टी के बर्तन के टुकडे ले रखे थे ।

२६—देहबलिका—का अर्थ कोष में भिक्षावृत्ति - भीख द्वारा आजीविका ऐसा लिखा है । किन्तु वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि जी इस का अर्थ "—देहि बलिं इत्यस्याभिधानं प्राकृतशैल्या देहंबलिया तीए देहंबलियाए—" इस प्रकार करते हैं । इस का सारांश यह है, कि मुझे बलि दो—भोजन दो, ऐसा कह कर जो "—वित्तिं कप्पेमाणं -" आजीविका को चला रहा है, उस को—यह अर्थ निष्पन्न होता है, और बलि शब्द का प्रयोग—देवविशेष के निमित्त उत्सर्ग किया हुआ कोई खाद्य पदार्थ, और उच्छिष्ट — इत्यादि अर्थों में होता है । प्रकृत में तो बलिशब्द से खाद्य पदार्थ ही अभिप्रेत है । फिर भले ही वह देव के लिये उत्सर्ग किया हुआ हो अथवा उच्छिष्टरूप में रक्खा हुआ हो ।

कहीं पर देहंबलियाए इस पाठ के स्थान पर - देहबलियाए—देहबलिकया—ऐसा पाठान्तर भी उपलब्ध होता है । देह—शरीर के निर्वाह के लिये बलिका—आहार का ग्रहण देहबलिका कहलाता है ।

कच्छूमान्, कुण्ठिक—इत्यादि पदों को प्रथमान्त रख कर उन का अर्थ किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में ये सब पद द्वितीयान्त तथा देहबलिका शब्द तृतीयान्त है । अतः अर्थ—संकलन करते समय मूलार्थ की भान्ति द्वितीयान्त तथा तृतीयान्त की भावना कर लेनी चाहिये ।

"—गोतमे तहेव जेणेव—" यहां पठित तहेव—तथैव पद पृष्ठ १२२ तथा १२३ पर पढे गये "—छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेति २ बीयाए पोरिसीए झाणं झियाति—" से लेकर '—दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे—" इन पदों का परिचायक है । अन्तर मात्र इतना है कि वहां वाणिजग्राम नगर का वर्णन है, जब कि प्रस्तुत में पाटलिषण्ड नगर का ।

"—पाडलि०" तथा 'पडिनि० जेणेव समणे भगवं०— "इन बिन्दुयुक्त पाठों से क्रमशः

---

(१) दण्डिखण्डानि – स्यूतजीर्णपटनिर्मितानि वसनानि एव वसनानि वस्त्राणि यस्य स दण्डिखण्डवसन, तमिति भव । (२) दण्डिखण्डवसन—दण्डी कन्थाधारी भिक्षुविशेष तद्वत् खण्डवसनयुक्तम् । (३) खण्डमल्लखण्डहस्तगतम्—अशनपानार्थं शरावखण्डद्वययुक्तहस्तम् ।

"-पाडलिसंडाओ[1] नगराओ, पडिनिक्खमइ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ गमणागमणाए पडिक्कमइ—" इन पदों का ग्रहण समझना चाहिए।

और "बिलमिव पन्नगभूए अप्पाणेणं आहा आहारेति" इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों मे निम्नोक्त है—

आत्मनाऽऽहारमाहारयति, किंभूत सन्नित्याह —पन्नगभूत,- नागकल्पो भगवान् आहारस्य रसोपलम्भार्थमचर्वणात, कथंभूतमाहारं ? बिलमिव असंस्पर्शनात् नागो हि बिलमसंस्पृशन्नात्मानं तत्र प्रवेशयति, एवं भगवानपि आहारमसंस्पृशन् रसो. पलम्भादनपेक्ष सन आहारयतीति —" अर्थात् जिस तरह साप बिल में सीधा प्रवेश करता है और अपनी गरदन को इधर उधर का स्पर्श नहीं होने देता तात्पर्य यह है कि रगड नहीं लगाता, किन्तु सीधा ही रखता है, ठीक उसी तरह भगवान् गौतम भी रसलोलुपी न होने से आहार को मुख में रख कर बिना चबाए ही अन्दर पेट में उतार लेते थे। साराश यह है कि भगवान् गौतम भी बिल में प्रवेश करते हुए सर्प की भान्ति सीधे ही ग्रास को मुख मे डाल कर बिना किसी प्रकार के चर्वण से अन्दर कर लेते थे।

इस कथन से भगवान् गौतम मे रसगृद्धि के अभाव को सूचित करने के साथ २ उनके इन्द्रियदमन और मनोनिग्रह को भी व्यक्त किया गया है, तथा आहार का ग्रहण भी वे धर्म के साधनभूत शरीर को स्थिर रखने के निमित्त ही किया करते थे, न कि रसनेन्द्रिय की तृप्ति करने के लिये— इस बात का भी स्पष्टीकरण उक्त कथन मे भलीभान्ति हो जाता है। इस के अतिरिक्त यहा पर इस प्रकार आहार ग्रहण करने मे अजीर्णता की आशका करना तो नितान्त भूल करना है। भगवान् गौतम स्वामी जैसे तपस्विराज के विषय मे तो इस प्रकार की सभावना भी नहीं की जा सकती। अजीर्ण तो उन लोगो को हो सकता है जो इस शरीर को मात्र भोजन के लिये समझते हैं, और जो शरीर के लिये भोजन करते हैं उन मे अजीर्णता को कोई स्थान नहीं है, और वस्तुत यहा पर शास्त्रकार को अचर्वण से रसास्वाद का त्याग ही अभिप्रेत है, न कि चर्वण का निषेध।

प्रस्तुतसूत्र में पाटलिषंड नगर के पूर्वद्वार से प्रविष्ट हुए गौतम स्वामी ने एक रोगसमूहग्रस्त नितान्त दीन दशा मे युक्त पुरुष को देखा—इत्यादि विषय का वर्णन किया गया है। अब अग्रिमसूत्र मे उक्त नगर के अन्य द्वारों मे प्रवेश करने पर गौतम स्वामी ने जो कुछ देखा, उस का वर्णन किया जाता है—

मूल— [2] **तते णं से भगवं गोतमे दोच्चं पि छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरि-**

---

(१) भगवान गौतम पाटलिषण्ड नगर से निकलते हैं और जहा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहा पर आते हैं आकर ऐर्यापथिक—गमनागमन सम्बन्धी पापकर्म का प्रतिक्रमण (पाप से निवृत्ति) करते हैं।

(२) छाया—तत स भगवान् गौतमो द्वितीयमपि षष्ठक्षमणपारणके प्रथमाया पौरुष्या यावत् पाटलिषंड नगर दाक्षिणात्येन द्वारेणानुप्रविशति, तमेव पुरुष पश्यति, कच्छूमन्त तथैव यावत् सयमेन० विहरति। तत स गौतमस्तृतीयमपि षष्ठ० तथैव यावत् पाश्चात्येन द्वारेणानुप्रविशन् तथैव पुरुष कच्छू० पश्यति। चतुर्थमपि षष्ठ० उत्तरेण०। अयमाध्यात्मिक ५ समुत्पन्न —अहो! अय पुरुष पुरा पुराणाना यावदेवमवदत्—एवं खल्वहं भदन्त! षष्ठस्य पारणके यावत् रीयमानो यत्रैव पाटलिषंड तत्रैवोपागच्छामि २ पाटलिपुत्रे पौरस्त्येन द्वारेणानुप्रविष्ट, तत्रैक पुरुष पश्यामि कच्छूमत यावत् कल्पयन्तम्। ततोऽह

सीए जाव पाडलिसंडं णगरं दाहिणिल्लेण दुवारेणं अणुप्पविसति, तं चेव पुरिसं पासति कच्छुल्लं तहेव जाव संजमे० विहरति। तते णं से गोतमे तच्चं पि छट्ठ० तहेव जाव पच्चत्थिमिल्लेणं दुवारेणं अणुप्पविसमाणे तं चेव पुरिसं कच्छु० पासति। चउत्थं पि छट्ठ० उत्तरेणं०, इमे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने—अहो ! णं इमे पुरिसे पुरा पोराणाणं जाव एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! छट्ठस्स पारणयंसि जाव रीयंते जेणेव पाडलिसंडे तेणेव उवागच्छामि २ पाडलिपुत्ते पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुप्पविट्ठे। तत्थ णं एगं पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव कप्पेमाणं। तए णं अहं दोच्चं पि छट्ठक्खमणपारणए दाहिणिल्लेणं दारेणं तहेव। तच्चं पि छट्ठक्खमणपारणए पच्चत्थिमेणं तहेव। तए णं अहं चउत्थं पि छट्ठक्खमणपारणे उत्तरदारेणं अणुप्पविसामि, तं चेव पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव वित्तिं कप्पेमाणे विहरति। चिंता ममं। पुव्वभवपुच्छा। वागरेति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। **से**—वह। **भगवं**—भगवान। **गोतमे**—गौतम। **दोच्चं पि**—दूसरी बार। **छट्ठक्खमणपारणगंसि**—षष्ठक्षमण के पारणे में भी अर्थात् लगातार दो दिन के उपवास के अनन्तर पारणा करने के निमित्त। **पढमाए**—प्रथम। **पोरिसीए**—पौरुषी—प्रहर में। **जाव**—यावत्। **पाडलिसंडं**—पाटलिषंड। **णगरं**—नगर में। **दाहिणिल्लेणं**—दक्षिण दिशा के। **दुवारेणं**—द्वार से। **अणुप्पविसति**—प्रवेश करते हैं। **तं चेव**—और उसी। **कच्छुल्लं**—कछुयुक्त। **पुरिसं**—पुरुष को। **पासति**—देखते हैं। **तहेव** तथैव पूर्व की भान्ति। **जाव**—यावत्। **संयमे०**—संयम और तप से आत्मा को भावित—वासित करते हुए। **विहरति**—विहरण करते हैं, विचरते हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **गोतमे**—गौतम स्वामी। **तच्चं पि**—तीसरी बार। **छट्ठ०**—षष्ठक्षमण के पारणे में भी। **तहेव**—तथैव-पूर्ववत्। **जाव**—यावत्। **पच्चत्थिमिल्लेणं**—पश्चिम दिशा के। **दुवारेणं**—द्वार से। **अणुप्पविसमाणे**—प्रवेश करते हुए। **तं चेव**—उसी। **कच्छु०**—कछु के रोग से युक्त। **पुरिसं**—पुरुष को। **पासति**—देखते हैं। **चउत्थं पि**—चौथी बार भी। **छट्ठ०**—षष्ठक्षमण के पारणे में। **उत्तरेणं०**—उत्तर दिशा के द्वार से प्रवेश करते हुए वहां उसी पुरुष को देखते हैं, तब उन को। **इमे**—यह। **अज्झत्थिए ५**—आध्यात्मिक—संकल्प ५। **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **अहो**—आश्चर्य है। **णं**—वाक्यालंकारार्थक है। **इमे पुरिसे**—यह पुरुष। **पुरा**—पूर्वकृत। **पोराणाणं** पुरातन पापकर्मों के फल का उपभोग कर रहा है। **जाव**—यावत् भगवान् के पास आकर। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगे। **भंते !**—हे भगवन् !। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **अहं**—मैं। **छट्ठस्स**—षष्ठक्षमण षष्ठतप के। **पारणयंसि**—पारणे के निमित्त (भिक्षार्थ)। **जाव**—यावत्। **रीयंते** भ्रमण करता हुआ। **जेणेव**—जहां। **पाडलिसंडे**—पाटलिषंड। **णगर**—नगर था। **तेणेव**—वहां। **उवागच्छामि**—गया। [1]**पाडलिपुत्ते**—

द्वितीयमपि षष्ठक्षमणपारणके दाक्षिणात्येन द्वारेण तथैव। तृतीयमपि षष्ठक्षमणपारणके पाश्चात्येन तथैव। ततोऽहं चतुर्थमपि षष्ठक्षमणपारणे उत्तरद्वारेणानुप्रविशामि, तमेव पुरुषं पश्यामि कच्छुमन्तं यावद् वृत्तिं कल्पयन् विहरति। चिन्ता मम। पूर्वभवपृच्छा। व्याकरोति।

(१) इस पाठ से यह प्रमाणित होता है कि पाटलिपुत्र—यह पाटलिषंड का अपर नाम है।

पाटलिपुत्र नगर के। **पुरत्थिमिल्लेणं**—पूर्व दिशा के। **दारेणं**—द्वार से मैंने। **अणुप्पविट्ठे**—प्रवेश किया तो। **तत्थ णं**—वहां पर। **एगं**—एक। **पुरिसं**—पुरुष को। **पासामि**—मैंने देखा, जोकि। **कच्छुल्लं**—कंडू के रोग से युक्त। **जाव**—यावत्। **कप्पेमाणं**—भिक्षावृत्ति से आजीविका चला रहा था। **तए णं**—तदनन्तर। **अहं** मैं। **दोच्चं पि**—दूसरी बार। **छट्ठक्खमणपारणए**—षष्ठक्षमण के पारणे के लिये, पाटलिषंड नगर के। **दाहिणिल्लेणं**—दक्षिण दिशा के। **दारेणं**—द्वार से प्रवेश किया, तो मैंने। **तहेव**—तथैव—पूर्ववत् अर्थात् उसी पुरुष को देखा। **तच्चं पि**—तीसरी बार। **छट्ठक्खमणपारणए**—षष्ठक्षमण के पारणे में। **पच्चत्थिमेणं**—उसी नगर के पश्चिम दिशा के द्वार में प्रवेश किया। **तहेव**—तथैव-पूर्व की भांति। **तए णं**—तदनन्तर। **अहं**—मैं। **चउत्थं पि छट्ठक्खमणपारणे**—चौथी बार षष्ठक्षमण के पारणे के निमित्त भी। **उत्तरदारेणं**—पाटलिषंड के उत्तर दिशा के द्वार से। **अणुप्पविसामि**—प्रविष्ट हुआ तो। **तं चेव**—उसी। **पुरिसं**—पुरुष को। **पासामि**—देखता हूं, जोकि। **कच्छुल्लं**—कंडू के रोग से अभिभूत हुआ। **जाव**—यावत्। **वित्तिं कप्पेमाणे**—भिक्षावृत्ति से आजीविका करता हुआ। **विहरति**—समय बिता रहा था, उसे देखकर। **ममं**—मुझे। **चिंता**—विचार उत्पन्न हुआ, तदनन्तर। **पुव्वभवपुच्छा**—गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव को पूछा अर्थात् भगवन्! यह पुरुष पूर्व जन्म में कौन था?, इस प्रकार का प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया, इस के उत्तर में भगवान्। **वागरेति**—कहने लगे।

मूलार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी ने दूसरी बार षष्ठक्षमण—बेले के पारणे के निमित्त प्रथम पौरुषी-प्रथम पहर में यावत् भिक्षार्थ गमन करते हुए पाटलिषंड नगर में दक्षिणदिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहां पर भी उन्होंने कंडू आदि रोगों से युक्त उसी पुरुष को देखा और वे भिक्षा ले कर वापस आए। शेष सभी वृत्तान्त पूर्व की भान्ति जानना अर्थात् आहार करने के अनन्तर वे तप और संयम के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं।

तदनन्तर भगवान् गौतम तीसरी बार षष्ठक्षमण के पारणे के निमित्त उक्त नगर में पश्चिम दिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं, तो वहां पर भी वे उसी पुरुष को देखते हैं। इसी प्रकार चौथी बार षष्ठक्षमण के पारणे के लिये पाटलिषंड के उत्तरदिग्द्वार से प्रवेश करते हैं, तब भी उन्हों ने उसी पुरुष को देखा, देखकर उन के मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि अहो! यह पुरुष पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कटु विपाक को भोगता हुआ कैसा दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है? यावत् वापिस आकर उन्हों ने भगवान् से जो कुछ कहा, वह निम्नोक्त है—

भगवन्! मैंने षष्ठक्षमण के पारणे के निमित्त यावत् पाटलिषंड नगर की ओर प्रस्थान किया और नगर के पूर्वदिग्द्वार से प्रवेश करते हुए मैंने एक पुरुष को देखा, जो कि कण्डूरोग से आक्रान्त यावत् भिक्षावृत्ति से आजीविका कर रहा था। फिर दूसरी बार षष्ठक्षमण के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिये उक्त नगर के दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहां पर भी उसी पुरुष को देखा। एवं तीसरी बार जब पारणे के निमित्त उस नगर के पश्चिमदिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहां पर भी उसी पुरुष को देखा और चौथी बार जब मैं बेले का पारणा लेने के निमित्त पाटलीपुत्र में उत्तरदिग्द्वार से प्रविष्ट हुआ तो वहां पर भी कंडू के रोग से युक्त यावत् भिक्षावृत्ति करते हुए उसी पुरुष को देखता हूं। उसे देख कर मेरे मानस में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अहो! यह पुरुष पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल पा रहा है, इत्यादि।

भगवन्! यह पुरुष पूर्व भव में कौन था? जो इस प्रकार के भीषण रोगों से

आक्रान्त हुआ जीवन बिता रहा है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न को सुन कर भगवान् महावीर स्वामी उस का उत्तर देते हुए प्रतिपादन करने लगे।

टीका—हम पूर्वसूत्र में देख चुके हैं कि [1]षष्ठक्षमण—वेले के पारणे के निमित्त पाटलिषंड नगर में भिक्षार्थ गये हुए गौतम स्वामी ने पूर्वदिग्द्वार से प्रवेश करते हुए एक ऐसे व्यक्ति को देखा था, जिस की घृणित अवस्था का वर्णन करते हुए हृदय कांप उठता है। प्रस्तुत सूत्र में भी पूर्व की भान्ति गौतम स्वामी के दूसरी बार दक्षिणदिशा, तीसरी बार पश्चिमदिशा और चोथी बार उत्तर—दिशा के द्वारों से नगर में प्रवेश करने समय उसी पुरुष को देखने का उल्लेख किया गया है।

पाटलिषंड नगर के चारों दिशाओं के द्वारों से प्रवेश करते हुए गौतम स्वामी को चौथी बार अर्थात् उत्तरदिग्—द्वार से प्रवेश करने पर भी जब उसी पुरुष का साक्षात्कार हुआ तब उस की नितान्त दयनीय दशा को देख कर उनका दयालु मन करुणा के मारे पसीज उठा। वे उस की भयंकर अवस्था को देखकर उस के कारणभूत प्राक्तन कर्मों की ओर ध्यान देते हुए मन ही मन में कह उठते हैं कि अहो ! यह व्यक्ति पूर्वकृत अशुभ कर्मों के प्रभाव से कितनी भयंकर यातना को भोग रहा है ?, इस में सन्देह नहीं कि नरकगति में अनेक प्रकार की कल्पनातीत भीषण यातनाओं का उपभोग करना पड़ता है, परन्तु इस मनुष्य की जो इस समय दशा हो रही है, वह भी नारकीय यातनाओं से कम नहीं कही जा सकती, इत्यादि।

इस प्रकार उस मनुष्य के करुणाजनक स्वरूप से प्रभावित हुए गौतम स्वामी नगर से आहारादि सामग्री लेकर वापिस आते हैं और उसी दुःखी व्यक्ति की दशा का वर्णन करने के अनन्तर उस के पूर्वभव का वृत्तान्त जानने की इच्छा से प्रेरित हुए भगवान् से उसे सुनाने की अभ्यर्थना करते हैं, तथा गौतम स्वामी की इस अभ्यर्थना को मान देते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उस व्यक्ति के पूर्वभव का वर्णन करते हैं। यह प्रस्तुत सूत्रगत वर्णन का सारांश है।

"—**पढमाए पोरिसीए जाव पाडलिसंडं**—" इस पाठ में उल्लिखित **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ १२२ तथा १२३ पर पढ़े गए "—**सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाति, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ**—" इत्यादि पाठ का ग्रहण समझना चाहिये। अन्तर मात्र इतना है कि वहां वाणिजग्राम नामक नगर का उल्लेख है जब कि प्रस्तुत में पाटलिषंड नगर का। शेष वर्णन समान ही है।

"—**कच्छुल्लं तहेव जाव संजमे॰ विहरति**—" यहां पठित **तहेव—तथैव** पद उसी तरह अर्थात् जिस तरह पहले पूर्वदिशा के द्वार से प्रवेश करते हुए भगवान् गौतम ने एक कच्छूमान् पुरुष को देखा था, उसी तरह दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश करते हुए भी उन्होंने उस कच्छूमान् पुरुष को देखा—इस भाव का परिचायक है। तथा **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ ३७६ पर लिखे गए "—**कोढियं दाओयरियं भगंदरिअं**—" से लेकर '—**आहारमाहारेइ**—" यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। तथा '—**संजमे॰**—" यहां के बिन्दु से भी पृष्ठ ३७६ पर पढ़े गए "—**णं तवसा अप्पाणं भावेमाणे**—" इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये।

—**छट्ठ॰**—यहां के बिन्दु से "—**क्खमणपारणगंसि**—" इस पद का ग्रहण समझना चाहिये। तथा—**तहेव जाव पच्चत्थिमिल्लेण**—यहां पठित **तहेव—तथैव** यह पद पृष्ठ १२३ पर समुचित किए गए

(१) लगातार दो दिनों के उपवास को **षष्ठक्षमण** कहते हैं। जैन संसार में यह वेले के नाम से विख्यात है। इसे **षष्ठतप** भी कहा जाता है।

"—उसी तरह अर्थात् बेले के पारणे के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते हैं, द्वितीय प्रहर मे ध्यान करते हैं—आदि भावों का परिचायक है । तथा **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ १२२ तथा १२३ पर लिखे हुए "**—पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ**—से लेकर—**पुरओ रियं सोहेमाणे**—इत्यादि पदों का ग्रहण समझना चाहिये ।

—**कच्छु०**—तथा—**चउत्थं पि छट्ठ०**—यहां का प्रथम बिन्दु पृष्ठ ३७६ पर उल्लिखित हुए—"—**ल्ल कोढियं**—" इत्यादि पदों का संसूचक है । तथा दूसरे बिन्दु से संसूचित पाठ ऊपर लिखा जा चुका है । तथा—**उत्तरेण०**—यहां के बिन्दु से—**दुवारेणं अणुप्पविसमाणे तं चेव पुरिसं कच्छुल्लं जाव पासति पासित्ता**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये ।

—**अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने** — यहां पर दिये गये ५ के अंक से विवक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ १३३ पर की जा चुकी है । तथा—**पोराणाणं जाव एवं वयासी**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद पृष्ठ २१० पर लिखे गये—**दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं**—इत्यादि पदों का परिचायक है । अन्तर मात्र इतना है कि वहां पुरिमताल नगर का उल्लेख है, जब कि प्रस्तुत मे पाटलिषंड का ।

"—**पारणयंसि जाव रीयन्ते**—" यहां पठित **जाव—यावत्** पद से—**तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पाडलिसंडे णगरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् **यावत्** पद—आप श्री से आज्ञा प्राप्त किया हुआ मैं पाटलिषंड नगर के उच्च—धनी, नीच—निर्धन और मध्यम—न नीच तथा न उच्च अर्थात् साधारण कुलों के सभी घरों में भिक्षा के लिये—इन भावों का परिचायक है ।

"—**कच्छुल्लं जाव कप्पेमाणं**—" यहां पठित **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ ३७६ पर पढ़े गए "—**काढिय दाओयरियं**—" से लेकर "—**देहंबलियाए वित्तिं**—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । तथा "—**चिन्ता**—" शब्द से पृष्ठ २१० पर पढ़े गये "—**अहो णं इमे पुरिसे पुरा पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं**—" से ले कर "—**नरयपडिरूवियं वेयणं वेएति**—" यहां तक के पदों का ग्रहण करना चाहिये ।

"—**पुव्वभवपुच्छा**—" यह पद पृष्ठ ५१ पर पढ़े गए "—**से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसि ?**—" से लेकर "—**पुरा पोराणाणं जाव विहरति**—" यहां तक के पदों का परिचायक है ।

अब गौतम स्वामी के पूर्वभवसम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया है । अग्रिमसूत्र मे उस का वर्णन किया जाता है—

मूल—(१)एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे

---

(१) छाया—एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे विजयपुरं नाम नगरमभूद्, ऋद्ध० । तत्र विजयपुरे नगरे कनकरथो नाम राजाऽभूत् । तस्य कनकरथस्य राज्ञो (१)धन्वन्तरिर्नाम वैद्योऽभूत् , अष्टांगायुर्वेदपाठकः , तद्यथा—१—कौमारभृत्य, २—शालाक्य, ३—शाल्यहत्य, ४—कायचिकित्सा, ५—जांगुल, ६—भूतविद्या, ७—रसायन, ८—वाजीकरणम् । (२)शिवहस्तः , शुभहस्तः ,

---

(१) **धनुः शल्यशास्त्रं, तस्य अन्तं पारम् , इयर्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः** । अर्थात् धनु शल्यशास्त्र (अस्त्रचिकित्सा का विधायक शास्त्र) का नाम है । उस के अन्त—पार को उपलब्ध करने वाला व्यक्ति **धन्वन्तरि** कहलाता है । (सुश्रुतसंहिता)

(२) **शिवहस्तः**—शिवं कल्याणं आरोग्यमित्यर्थः, तद् हस्ते यस्य स तथा, तस्य हस्तस्पर्शमात्रेण रोगीरोगमुक्तो भवतीति भावः । **शुभहस्तः**—सुखहस्तो वा, शुभं सुखं वा हस्ते हस्तस्पर्शो यस्य स तथा । **लघुहस्तः**—लघुः—व्रणचीरणशलाकादिक्रियासु दक्षो हस्तो यस्य स तथा, हस्तलाघवसम्पन्न ।

विजयपुरे णाम णगरे होत्था, रिद्ध० । तत्थ णं विजयपुरे णगरे कणगरहे णामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहस्स रण्णो धन्नंतरी णामं वेज्जे होत्था, अट्ठंगाउव्वेदपाढए तंजहा—१—कोमारभिच्चं, २— सालागे, ३—सल्लहत्ते, ४— कायतिगिच्छा, ५—जंगोले, ६— भूयविज्जा, ७— रसायणे, ८—वाजिकरणे । सिवहत्थे सुहहत्थे लहुहत्थे । तते णं से धन्नतरी वेज्जे विजयपुरे णगरे कणगरहस्स रण्णो अन्तेउरे य अन्नेसिं च बहूणं राईसर० जाव सत्थवाहाणं अन्नेसिं च बहूणं दुब्बलाण य गिलाणाण य वाहियाण य रोगियाण य सणाहाण य अणाहाण य समणाण य माहणाण य भिक्खुयाण य कप्पडियाण य करोडियाण य आउराण य अप्पेगतियाणं मच्छमंसाइं उवदिसति अप्पेगतियाणं कच्छभमंसाइं अप्पेगतियाण गाहमंसाइं अप्पेगतियाणं मगरमंसाइं अप्पेगतियाणं सुंसुमारमंसाइं अप्पेगतियाण अयमंसाइं एवं एल—रोज्झ—सूयर—मिग—ससय—गो— महिसमंसाइं, अप्पेगतियाण तित्तरमंसाइं, वट्टक—लावक—कवोत— कुक्कुड—मयूरमंसाइं अन्नेसिं च बहूणं जलयर—थलयर—खहयरमादीणं मंसाइं उवदिसति । अप्पणा वि य णं से धन्नतरी वेज्जे तेहिं बहूहिं मच्छमंसेहि य जाव मयूरमंसेहि य अन्नेहि बहूहि य जलयर—थलयर— खहयरमंसेहि य मच्छरसेहि य जाव मयूररसेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरति । तते णं से धन्नंतरी वेज्जे एयकम्मे ४ सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता बत्तीसं वाससताइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीससागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइत्ताए उववन्ने ।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । गोतमा !—हे गौतम ! । तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल तथा उस समय । इहेव—इसी । जंबुद्दीवे—जम्बूद्वीप नामक । दीवे—द्वीप के अन्तर्गत । भारहे वासे—भारत वर्ष में । विजयपुरे—विजयपुर । णामं—नामक । णगरे—नगर । होत्था—था, जो कि । रिद्ध०—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित, एव समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण था । तत्थ णं—उस । विजयपुरे—विजय-

---

लघुहस्त । ततः स धन्वन्तरिर्वैद्यो विजयपुरे नगरे कनकरथस्य राज्ञ. अन्त पुरे च अन्येषा च बहूना राजेश्वर० यावत् सार्थवाहानामन्येषा च बहूना दुर्बलाना च ग्लानाना च व्याधिताना च रोगिणा च सनाथाना च अनाथाना च श्रमणाना च ब्राह्मणाना च भिक्षुकाणा च करोटिकाना च कार्पटिकाना च आतुराणामप्येकेषा मत्स्यमासानि उपदिशति, अप्येकेषा कच्छपमासानि, अप्येकेषा ग्राहमासानि, अप्येकेषा मकरमासानि, अप्येकेषा सुसुमारमासानि अप्येकेषामजमासानि, एवमेल-गवय शूकर-मृग—शशक-गो-महिषमासानि, अप्येकेषा तित्तिरमासानि वर्तक-लावक-कपोत-कुक्कुट-मयूरमासानि, अन्येषा च बहूना स्थलचर-जलचर-खचरादीना मासानि उपदिशति । आत्मनापि च स धन्वन्तरिर्वैद्य तैर्बहुभि मत्स्यमासैश्च यावद् मयूरमासैश्च, अन्यैश्च बहुभिर्जलचर-स्थलचर—खचरमासैश्च, मत्स्यरसैश्च यावद् मयूररसैश्च शूल्यैश्च तलितैश्च भर्जितैश्च सुरा च ५ आस्वादयन् ४ विहरति । तत स धन्वन्तरिर्वैद्य एतत्कर्मा ४ सुबहु पाप कर्म समर्ज्य द्वात्रिंशत वर्षशतानि परमायुः पालयित्वा कालमासे काल कृत्वा षष्ठ्या पृथिव्यामुत्कर्षेण द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्नः ।

पुर । णगरे—नगर मे । कणगरहे—कनकरथ । णामं—नाम का । राया—राजा । होत्था—था । तस्स णं—उस । कणगरहस्स - कनकरथ । रएणो—राजा का । धन्नंतरी — धन्वतरि । णामं नामक । वेज्जे—वैद्य । होत्था—था, जो कि । अट्ठंगाउव्वेयपाढए —अष्टाग आयुर्वेद का अर्थात् आयुर्वेद के आठो अगों का पाठक—ज्ञाता—जानकार था । तंजहा—जैसे कि । १—कोमारभिच्चं—१—कौमारभृत्य—आयुर्वेद का एक अग जिस मे कुमारो के दुग्धजन्य दोषों का उपशमनप्रधान वर्णन हो । २—सालागे—२—शालाक्य - चिकित्साशास्त्र—आयुर्वेद का एक अग जिस मे शरीर के नयन, नाक आदि ऊर्ध्वभागों के रोगों की चिकित्सा का विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया हो । ३—सल्लहत्ते - ३—शाल्यहत्य—आयुर्वेद का एक अग जिस में शल्य—कण्टक, गोली आदि निकालने की विधि का वर्णन किया गया हो । ४—कायतिगिच्छा —४—कायचिकित्सा—शरीरगत रोगों की प्रतिक्रिया—इलाज तथा उसका प्रतिपादक आयुर्वेद का एक अग । ५—जंगोले —५—आयुर्वेद का एक विभाग जिस मे विषो की चिकित्सा का विधान है । ६ —भूयवेज्जे—६ – भूतविद्या—आयुर्वेद का वह विभाग जिस म भूतनिग्रह का प्रतिपादन किया गया है । ७ – रसायणे —७—रसायन - आयु को स्थिर करने वाली और व्याधि - विनाशक औषधियों के विधान करने वाला प्रकरणविशेष । ८—वाजीकरणे—८—वाजीकरण— बलवीर्यवर्द्धक औषधियों का विधायक आयुर्वेदका एक अग । तते णं—तदनन्तर । से—वह । धन्नतरी—धन्वतरि । वेज्जे—वैद्य, जो कि । सिवहत्थे—शिवहस्त – जिस का हाथ शिव – कल्याण उत्पन्न करने वाला हो । सुहहत्थे—शुभहस्त – जिस का हाथ शुभ हो अथवा सुख उपजाने वाला हो । लहुहत्थे लघुहस्त—जिस का हाथ कुशलता मे युक्त हो । विजयपुरे—विजयपुर । णगरे—नगर में । कणगरहस्स—कनकरथ । रएणो - राजा के । अंतेउरे य—अन्त पुर मे रहने वाली राणी, दास तथा दासी आदि । अन्नेसिं च —और अन्य । बहूणं – बहुत से । राईस-र०—राजा—प्रजापालक, ईश्वर —ऐश्वर्य वाला । जाव —यावत् । सत्थवाहाणं—सार्थवाहो – सघ के नायकों को तथा । अन्नेसि च—और अन्य । बहूण—बहुत से । दुब्बलाण य —दुवलों तथा । गिलाणाण—ग्लाना —ग्लानि प्राप्त करने वालों अर्थात् किसी मानसिक चिन्ता मे सदा उदास रहने वालों । य – और । रोगियाण—रोगियों य—तथा । वाहियाण य – व्याधिविशेष से आक्रान्त रहने वालो तथा । सणाहाण - सनाथो । य—और । अणाहाण—अनाथों । य—और । समणाण—श्रमणो । य —तथा । माहणाण – ब्राह्मणों । य—और । भिक्खुयाण—भिक्षुको । य—तथा । करोडियाण— करोटिक – कापालिकों—भिक्षुविशेषों । य—और । कप्पडियाण—कार्पटिकों—भिखमगों अथवा कन्थाधारी भिक्षुओं । य – तथा । आउराण य —आतुरो की (चिकित्सा करता है, और इन में मे । अप्पेगतियाण - कितनो को तो मच्छमसाइ —मत्स्यों के मासों का अर्थात् उनके भक्षण का । उवदिसति—उपदेश देता हे । अप्पेगतियाणं—कितनो को । कच्छभमसाइ—कच्छपमासों का कच्छुओं के मासों को भक्षण करने का । अप्पेगतियाण—कितनो को । गाहमंसाइं—ग्राहों—जलचरविशेषों के मासों का । अप्पेगतियाण—कितनों को । मगरमसाइं—मगरों—जलचरविशेषों के मासो का । अप्पेगतियाणं—कितनों को । सु सुमारमसाइं —सु सुमारों—जलचरविशेषो के मासों का । अप्पेगतियाण —कितनों को । अयमसाइ —अजा—बकरो के मासो का । एवं—इसी प्रकार । एल—भेडों । रोज्झ—गवयों अर्थात् नीलगायों । सूयर —शूकरों—सूयरों । मिग —मृगों –हरिणों । ससय—शशकों अर्थात् खरगोशों । गो—गौओं । महिसमंसाइ —और महिषों – भैंसों के मासों का (उपदेश देता है)। अप्पेगतियाणं—कितनो को । तित्तिरमंसाइ—तित्तरों के मासो का । वट्टक—बटेरों । लावक— लावकों— पक्षिविशेषों । कवोत —कबूतरों । कुक्कुड—कुक्कड़ों—मुर्गों । मयूरमसाइं—और मयूरों—मोरो के मासों का उपदेश देता है । च—तथा । अन्नेसिं —अन्य । बहूणं—बहुत मे । जलयर—जलचरो—जल में चलने वाले जीवों ।

थलयर—स्थलचरों—स्थल में चलने वाले जीवों। **खहयरमादीण**—और खेचरों—आकाश में चलने वाले जीवों के। **मंसाइं**—मांसों का। **उवदिसति**—उपदेश देता है। **अप्पणा वि य णं**—तथा स्वयं भी। **से**—वह। **धन्नंतरी**—धन्वन्तरि। **वेज्जे**—वैद्य। **तेहिं**—उन। **बहूहिं**—अनेकविध। **मच्छ—मंसेहि य**—मत्स्यों के मांसों। **जाव**—यावत्। **मयूरमंसेहि य**—मयूरों के मांसों तथा। **अन्नेहि**—अन्य। **बहूहि य**—बहुत से। **जलयर**—जलचर। **थलयर**—स्थलचर। **खहयरमंसेहि य** खेचर जीवों के मांसों से तथा। **मच्छरसेहि य**—मत्स्यरसों। **जाव**—यावत्। **मयूररसेहि य**—मयूररसों से, जो कि। **सोल्लेहि य**—पक्व ये हुए। **तलिएहि य**—तले हुए। **भज्जिएहि य**—और भूने हुए हैं, उन के साथ। **सुरं च ५**—सुरा आदि छः प्रकार की मदिराओं का। **आसाएमाणे ४**—आस्वादन, विस्वादनादि करता हुआ। **विहरति**—विचरता है—जीवन व्यतीत करता है। **तते णं**—तत्पश्चात्। **से**—वह। **धन्नंतरी**—धन्वन्तरि। **वेज्जे**—वैद्य। **एयकम्मे ४**—एतत्कर्मा—ऐसा ही पाप पूर्ण जिस का काम हो, एतत्प्रधान — यही कर्म जिस का प्रधान हो अर्थात् यही जिस के जीवन की साधना हो, एतद्विद्य—यही जिस की विद्या—विज्ञान हो और एतत्समाचार—जिस के विश्वासानुसार यही सर्वोत्तम आचरण हो, ऐसा वह। **सुबहु**—अत्यधिक। **पाव कम्मं**—पाप कर्मों का। **समज्जिणित्ता**=उपार्जन कर के। **बत्तीसं वाससताइं**—बत्तीस सौ वर्षों की। **परमाउ**—परमायु को। **पालइत्ता**—पाल कर। **कालमासे**—कालमास में। **कालं किच्चा**—काल कर के। **छट्ठीए**—छठी। **पुढवीए**—पृथिवी नरक में। **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट। **बावीससागरोवमट्ठिइएसु**—२२ सागरोपम की स्थिति वाले। **णेरइएसु**—नारकियों में। **णेरइयत्ताए**—नारकीरूप से। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में विजयपुर नाम का एक ऋद्ध, स्तिमित, एवं समृद्ध नगर था। उस में कनकरथ नाम का राजा राज्य किया करता था। उस कनकरथ नरेश का आयुर्वेद के आठों अंगों का ज्ञाता धन्वन्तरि नाम का एक वैद्य था। आयुर्वेद—सम्बन्धी आठों अंगों का नामनिर्देश निम्नोक्त है—

(१) कौमारभृत्य (२) शालाक्य (३) शाल्यहत्य (४) कायचिकित्सा (५) जांगुल (६) भूतविद्या (७) रसायन और (८) वाजीकरण।

शिवहस्त, शुभहस्त और लघुहस्त वह धन्वन्तरि वैद्य विजयपुर नगर में महाराज कनकरथ के अन्तःपुर में निवास करने वाली राणियों और दास दासी आदि तथा अन्य बहुत से राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाहों, इसी प्रकार अन्य बहुत से दुर्बल, ग्लान, व्याधित या बाधित और रोगी जनों एवं सनाथों, अनाथों तथा श्रमणों, ब्राह्मणों, भिक्षुकों, करोटकों, कार्पटिकों एवं आतुरों की चिकित्सा किया करता था, तथा उन में से कितनों को तो मत्स्यमांसों का उपदेश करता अर्थात् मत्स्यमांसों के भक्षण का उपदेश देता और कितनों को कच्छुओं के मांसों का, कितनों को ग्राहों के मांसों का, कितनों को मकरों के मांसों का, कितनों को सुंसुमारों के मांसों का और कितनों को अजमांसों का उपदेश करता। इसी प्रकार भेडों, गवयों, शूकरों, मृगों, शशकों, गौओं और महिषों के मांसों का उपदेश करता।

कितनों को तित्तरों के मांसों का तथा बटेरों, लावकों, कपोतों, कुक्कुटों और मयूरों के मांसों का उपदेश देता। इसी भान्ति अन्य बहुत से जलचर, स्थलचर, और खेचर आदि जीवों के मांसों का उपदेश करता और स्वयं भी वह धन्वन्तरि वैद्य उन अनेकविध मत्स्यमांसों यावत्

मयूररसों तथा अन्य बहुत से जलचर, स्थलचर और खेचर जीवों के मांसों से तथा मत्स्यरसों यावत् मयूररसों से पकाये हुए, तले हुए और भूने हुए मांसों के साथ छः प्रकार की सुरा आदि मदिराओं का आस्वादन, विस्वादन आदि करता हुआ समय व्यतीत करता था ।

इस पातकमय कर्म में निपुण, प्रधान तथा इसी को अपना विज्ञान एवं सर्वोत्तम आचरण बनाये हुए वह धन्वन्तरि नामक वैद्य अत्यधिक पाप कर्मों का उपार्जन करके ३२ सौ वर्ष की परमायु को भोग कर कालमास में काल करके के छठी नरक में उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नारकीरूप से उत्पन्न हुआ ।

टीका— "कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है" यह न्यायशास्त्र का न्यायसंगत सिद्धान्त है । सुख और दुःख ये दोनों कार्य हैं किसी कारण विशेष के, अर्थात् ये दोनों किसी कारणविशेष से ही उत्पन्न होते । जैसे अग्नि के कार्यभूत धूम से उस के कारणरूप अग्नि का अनुमान किया जाता है ठीक उसी प्रकार कार्यरूप सुख या दुःख से भी उस के कारण का अनुमान किया जा सकता है । फिर भले ही वह कारणसमुदाय विशेषरूप से अवगत न हो कर सामान्यरूप से ही जाना गया हो, तात्पर्य यह है कि कार्य और कारण का समानाधिकरण होने से इतना तो बुद्धिगोचर हो ही जाता है कि जहां पर सुख अथवा दुःख का संवेदन है वहां पर उस का पूर्ववर्ती कोई न कोई कारण भी अवश्य विद्यमान होना चाहिये, परन्तु वह क्या है ?, और कैसा है ?, इसका अनुगम तो किसी विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा रखता है ।

कर्मवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले आस्तिक दर्शनों में इस विषय का अच्छी तरह से स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि आत्मा में सुख और दुःख की जो अनुभूति होती है वह उस के स्वोपार्जित प्राक्तनीय कर्मों का ही फल है, अर्थात् कर्मबन्ध की हेतुभूत सामग्री अध्यवसायविशेष से यह आत्मा जिस प्रकार के शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बन्ध करता है, उसी के अनुरूप ही इसे विपाकोदय पर सुख अथवा दुःख की अनुभूति होती है । यह कर्मवाद का सामान्य अथच व्यापक सिद्धान्त है । इसी सिद्धान्त के अनुसार किसी सुखी जीव को देख कर उस के प्राग्भवीय शुभ कर्म का और दुःखी जीव को देखने से उस के जन्मांतरीय अशुभ कर्म का अनुमान किया जाता है । शास्त्रचक्षु छद्मस्थात्मा की सीमित बुद्धि की पहुँच यहीं तक हो सकती है, इस से आगे वह नहीं जा सकती । तात्पर्य यह है कि अमुक दुःखी व्यक्ति ने कौन सा अशुभ कर्म किया ? और किस भव में किया?, जिस का फल इसे इस जन्म में मिल रहा है?, इस प्रकार का विशेष ज्ञान शास्त्रचक्षु छद्मस्थ आत्मा की ज्ञान परिधि से बाहिर का होता है । इस विशेषज्ञान के लिये किसी परममेधावी दूसरे शब्दों में—किसी अतीन्द्रिय ज्ञानी की शरण में जाने की आवश्यकता होती है । वही अपने आलोकपूर्ण ज्ञानादर्श में इसे यथावत् प्रतिबिंबित कर सकता है । अथवा यूं कहिये कि उसी दिव्यात्मा में इन पदार्थों का विशिष्ट आभास हो सकता है, जिस का ज्ञान प्रतिबन्धक आवरणों से सर्वथा दूर हो चुका है । ऐसे दिव्यालोकी महान् आत्मा प्रकृत में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं ।

भगवान् गौतम द्वारा दृष्ट दुःखी व्यक्ति के दुःख का मूलस्रोत क्या है ?, इसका विशेषरूप से बोध प्राप्त करने के लिये उसके पूर्वभवों के कृत्यों को देखना होगा, परन्तु उन का द्रष्टा तो कोई सर्वज्ञ आत्मा ही हो सकता है । बस इसी उद्देश्य से गौतम स्वामी ने सर्वज्ञ आत्मा वीर प्रभु के सन्मुख उपस्थित होकर सामान्य ज्ञान रखने वाले भव्यजीवों के बुबोधार्थ पूर्व दृष्ट

दुःखी व्यक्ति के पूर्वभव की पृच्छा की है।

प्रस्तुत सूत्र में विजयपुर नगर के नरेश कनकरथ के राजवैद्य धन्वन्तरि के आयुर्वेदसम्बन्धी विशदज्ञान के वर्णन के साथ २ उसकी चिकित्साप्रणाली का उल्लेख करने बाद उसकी हिंसा-परायण मनोवृत्ति का परिचय करा दिया गया है। जिस मनुष्य में हिंसक मनोवृत्ति की इतनी अधिक और व्यापक मात्रा हो, उस के अनुसार वह कितने क्लिष्ट कर्मों का बन्ध करता है ? यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

[1]धन्वन्तरि के जीव ने अपने हिंसाप्रधान चिकित्सा के व्यवसाय में पुण्योपार्जन के स्थान में अधिक से अधिक मात्रा में पापपुंज को एकत्रित किया अर्थात् [2]मत्स्य आदि अनेक जाति के निरपराध मूकप्राणियों के प्राणों का अपहरण करने का उपदेश देकर और उनके मांसपिंड से अपने शरीरपिंड का संवर्द्धन करके जिस पापराशि का संचय किया, उसका फल नरकगति की प्राप्ति के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?, इसीलिये सूत्रकार ने मृत्यु के बाद उसका छठी नरक में जाने का उल्लेख किया है।

सूत्रकार ने धन्वन्तरि वैद्य का जो मांसाहार तथा मांसाहारोपदेश से उपार्जित दुष्कर्मों के फलस्वरूप २२ सागरोपम तक के बड़े लम्बे काल के लिये छठी नरक में नारकीय रूप में उत्पन्न होने का कथानक लिखा है इस से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मांसाहार दुर्गतियों का मूल है और नाना प्रकार के नारकीय अथच भीषण दुःखों का कारण बनता है, अतः प्रत्येक सुखाभिलाषी मानव का यह सर्वप्रथम कर्तव्य बन जाता है कि वह मांसाहार के जघन्य तथा दुर्गतिमूलक आचरण से सर्वथा विमुख एवं विरत रहे।

मांसाहार दुःखों का स्रोत होने से जहां हेय है, त्याज्य है, वहां वह शास्त्रीय दृष्टि से गर्हित है, निंदित है एवं उसका त्याग सुगतिप्रद होने में आदरणीय एवं आचरणीय है, यह पूर्व पृष्ठ ३१३ से ले कर ३१५ में बतलाया जा चुका है। इस के अतिरिक्त मांस मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है अर्थात् प्रकृति ने मनुष्य को निरामिषभोजी बनाया है, न कि आमिषभोजी। निरामिषभोजी तथा आमिषभोजी

---

(१) प्रस्तुत कथासन्दर्भ में जिस धन्वन्तरि वैद्य का वर्णन किया गया है और वैद्यकसंसार के लब्धप्रतिष्ठ वैद्यराज धन्वन्तरि ये दोनों एक ही थे ? या भिन्न २ ?, यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर निम्नोक्त है—

यह ठीक है कि नाम दोनों का एक जैसा है, परन्तु फिर भी यह दोनों भिन्न २ थे, क्योंकि इन दोनों के काल में बड़ी भिन्नता पाई जाती है। महाराज कनकरथ के राजवैद्य धन्वन्तरि अपने हिंसापूर्ण एवं क्रूरतापूर्ण मांसाहारोपदेश और मांसाहार तथा मदिरापान जैसी जघन्यतम प्रवृत्तियों के कारण छठी नरक में २२ सागरोपम[1] जैसे बड़े लम्बे काल तक नारकीय भीषणातिभीषण यातनाओं का उपभोग कर लेने के अनन्तर पाटलिषंड नगर के सेठ सागरदत्त की सेठानी गंगादत्ता के उदर से उम्बरदत्त के रूप में उत्पन्न होते हैं जब कि वैदिक मान्यतानुसार देवों और दैत्यों के द्वारा किए गये समुद्रमन्थन से प्रादुर्भूत हुए वैद्यकसंसार के वैद्यराज धन्वन्तरि को अभी इतना काल ही नहीं होने पाया। इस लिए दोनों की नामगत समानता होने पर भी व्यक्तिगत भिन्नता सुतरां प्रमाणित हो जाती है।

(२) मत्स्य आदि पशुओं के नाम तथा उन मांसों के उपदेश का सविस्तर वर्णन मूलार्थ पृष्ठ ३८९ तथा ३९० पर किया जा चुका है।

---

(१) सागरोपम शब्द की व्याख्या पृष्ठ २७४ तथा २७५ की टिप्पण में की जा चुकी है।

प्राणियो की शारीरिक बनावट और उनके स्वभाव मे एव जीवनचर्या मे जो महान अन्तर है, वह यत्किंचित् नीचे की पंक्तियो में दिखलाया जाता है—

(१) मनुष्य के पजे पेट की नालिया और आन्ते उन पशुयों के समान बनी हुई है जो मासाहार नही करते हैं। किंतु मासाहारी पशुयों के इन अगों की रचना निरामिषभोजी पशुओं से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती हैं। उदाहरण के लिये जैसे गो, घोडा, बन्दर आदि पशु मासाहारी नहीं हैं और शेर, चीता आदि पशु मासाहारी हैं। जो शारीरिक अवयव गो आदि पशुयों के होते हैं, शेर आदि के वैसे अवयव नहीं होते। मनुष्य के शरीर की रचना भी मासाहारी पशुयों की शरीररचना से सर्वथा भिन्न पाई जाती है। अत मासाहार मानव' का प्राकृतिक भोजन नही है।

(२) मासाहारी पशुयों की आखें वर्तुलाकार-गोल होती हैं, जबकि मनुष्य की ऐसी नेत्र-रचना नही पाई जाती।

(३) मासाहारी पशु कच्चा मास खाकर उसे पचाने में समर्थ होता है, जब कि मनुष्य की ऐसी स्थिति नहीं होती।

(४) मासाहारी पशुयों के दान्त लम्बे और गाजर के आकार के तीक्ष्ण (पैने) होते हैं, और एक दूसरे से दूर २—पृथक् २ होते हैं, परन्तु फलाहारी पशुयों के दान्त छोटे २ चौडे २ और परस्पर मिले हुए होते हैं। मनुष्य के दान्तो का निर्माण फलाहारी पशुओं के समान पाया जाता है।

(५) मासाहारी पशुयों के नवजात बच्चों की आखे बन्द होती हैं, जबकि मनुष्य के बच्चे की ऐसी स्थिति नही होती।

(६) मासाहारी पशु जिह्वा से चाट कर पानी पीते हैं जब कि मनुष्य गाय, बकरी आदि पशुयों के समान घूण्ट भर २ कर पानी पीता है।

(७) मासाहारी पशुओं तथा पक्षियो का चमडा कठोर होता है और उस पर घने वाल होते हैं, जब कि मनुष्य के शरीर में ऐसी बात नही होती है।

(८) मासाहारी पशुयो के शरीर से पसीना नहीं आता, जब कि मनुष्य के शरीर मे पसीना निकलता है।

(९) मासाहारी पशुयों के मुख में थूक नहीं रहता, जब कि अन्नाहारी और फलाहारी मनुष्य तथा गौ आदि पशुयों के मुख मे थूक निकलता है।

(१०) मासाहारी पशु गरमी से हापने पर जिह्वा बाहिर निकाल लेता है जब कि मनुष्य ऐसा नहीं करता।

(११) मासाहारी पशु रात्रि के समय दूसरे प्राणियों का शिकार करते हैं और दिन को सोते हैं। जब कि मनुष्य की ऐसी स्थिति नही होती, वह रात्रि को सोता है।

(१२) मासाहारी जीवो को गरमी बहुत लगती है और सास शीघ्रता से आने लगता है परन्तु अन्नाहारी एव फलाहारी जीवों को न इतनी गरमी लगती है और न ही सास तीव्रता से चलता है। मनुष्य की गणना ऐसे ही जीवो मे होती है।

(१३) मासाहारी पशुओं का जीवननिर्वाह फलो से नहीं हो सकता, जब कि मनुष्य मास के बिना ही अपने जीवन को चला सकता है।

(१४) मनुष्य को यदि मनोरजन के लिये किसी स्थान मे जाने की भावना उठे तो वह बागों, फुलवाड़ियों और वनस्पति से लहलहाते हुए स्थानों मे जाता है, किन्तु मासाहारी जीव वहा

जाते हैं, जहां मृतक शरीरों की दुर्गन्ध से वायुमण्डल व्याप्त हो रहा हो ।

(१५) मनुष्य को यदि ऐसे स्थान में बहुत समय तक रखा जाए कि जहां मृतक शरीरों की दुर्गन्ध से वायुमण्डल परिपूर्ण हो रहा हो तो वह शीघ्र ही रोगी हो कर जीवन से हाथ धो बैठेगा, किन्तु मांसाहारी पशुओं की इस अवस्था में भी ऐसी स्थिति नहीं होती, प्रत्युत वे ऐसे दुर्गन्धपूर्ण स्थानों में जितना काल चाहें ठहर सकते हैं, और उन के स्वास्थ्य को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होने पाती ।

ऐसी और अनेकानेक युक्तियां भी उपलब्ध हो सकती हैं परन्तु विस्तारभय से वे सभी यहां नहीं दी जा रहीं हैं। सारांश यह है कि इन सभी युक्तियों से यह स्पष्ट प्रमाणित एवं सिद्ध हो जाता है कि मांसाहार जहां शास्त्रीय दृष्टि से त्याज्य है, वहां वह मानव की प्रकृति के भी सर्वथा विपरीत है तथा मानव की शरीर–रचना भी उसे मांसाहार करने की आज्ञा नहीं देती। अतः सुखाभिलाषी प्राणी को मांसाहार की जघन्य प्रवृत्ति से सर्वथा दूर रहना चाहिये । अन्यथा धन्वन्तरि वैद्य की भांति नारकीय दुःखों का उपभोग करने के साथ साथ जन्ममरण के प्रवाह में प्रवाहित होना पड़ेगा ।

प्रस्तुतसूत्र पाठ में धन्वन्तरि वैद्य को आयुर्वेद के आठ अंगों के ज्ञाता बतलाते हुए आठ अंगों के नामों का भी निर्देश कर दिया गया है। उन में से प्रत्येक की टीकानुसारिणी व्याख्या निम्नलिखित है—

(१) **कौमारभृत्य**—जिस में स्तन्यपायी बालकों के पालन पोषण का वर्णन हो, तथा जिस में दूध के दोषों के शोधन का और दूषित स्तन्य–दुग्ध से उत्पन्न होने वाली व्याधियों के शामक उपायों का उल्लेख हो, ऐसे शास्त्रविशेष की कौमारभृत्य संज्ञा होती है । **कुमाराणां बालकानां भृतौ पोषणे साधु कौमारभृत्यम्, तद्धि शास्त्रं कुमारभरणस्य क्षीरस्य दोषाणां संशोधनार्थं दुष्टस्तन्यनिमित्तानां व्याधीनामुपशमनार्थं चेति ।**

(२) **शालाक्य**—जिस में शलाका–सलाई से निष्पन्न होने वाले उपचार का वर्णन हो और जो धड़ से ऊपर के कान, नाक, और मुख आदि में होने वाले रोगों को उपशान्त करने के काम में आये, ऐसा तन्त्र–शास्त्र शालाक्य कहलाता है। **शलाकाया कर्म शालाक्यम्, तत्प्रतिपादकं तंत्रमपि शालाक्यम्, तद्धि ऊर्ध्वजन्तुगतानां रोगाणां श्रवणवदनाऽऽदिसंश्रितानामुपशमनार्थम् ।**

(३) **शाल्यहत्य**—जिस शास्त्र में शल्योद्धार—(१)शल्य के निकालने का वर्णन हो, अर्थात् उस के निकालने का प्रकार बतलाया गया हो उसे शाल्यहत्य कहते हैं। **शल्यस्य हत्या हननमुद्धार इत्यर्थः, शल्यहत्या, तत्प्रतिपादकं शास्त्रं शाल्यहत्यमिति ।**

(४) **कायचिकित्सा**—जिस में काय अर्थात् ज्वरादि रोगों से ग्रस्त शरीर की चिकित्सा–रोगप्रतिकार का विधान वर्णित हो, उस शास्त्र का नाम कायचिकित्सा है । इस में शरीर के मध्यभाग में होने वाले ज्वर तथा अतिसार–विरेचन प्रभृति रोगों का उपशान्त करना वर्णित होता है। **कायस्य ज्वरादिरोगग्रस्तशरीरस्य चिकित्सा रोगप्रतिक्रिया यत्राभिधीयते तत् कायचिकित्सैव, तत्तंत्रं हि मध्यागसमाश्रितानां ज्वरातिसारादीनां शमनार्थं चेति ।**

(५) **जांगुल**—जिस में सर्प, कीट, मकड़ा, आदि विषैले जन्तुओं के अष्टविध विष को उतारने–दूर करने तथा विविध प्रकार के विषसंयोगों के उपशान्त करने की विधि का वर्णन हो, उसे

(१) **शल्य**—द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। **द्रव्यशल्य**—कांटा, भाला आदि पदार्थ हैं तथा माया (छल कपट), निदान (नियाना) और मिथ्यादर्शन (मिथ्याविश्वास) ये तीनों **भावशल्य** कहलाते हैं। प्रकृत में शल्यशब्द के **द्रव्यशल्य** का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है।

जांगुल कहते हैं। विषविघातक्रियाभिधायकं जंगोलमगदतंत्रम्, तद्धि सर्पकीटलूताद्यष्टविषविनाशार्थम्, विविधविषसयोगोपशमनार्थं चेति।

(६) भूतविद्या - जिस शास्त्र में भूतों के निग्रह का उपाय वर्णित हो, उसे भूतविद्या कहते हैं। यह शास्त्र देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि देवों के द्वारा किये गये उपद्रवों को शान्ति-कर्म और बलिप्रदानादि से उपशान्त करने मे मार्गदर्शक होता है। भूताना निग्रहार्था विद्या, सा हि देवासुरगधर्वयक्षराक्षसाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिकरणादिभिर्ग्रहोपशमनार्थं चेति।

(७) [1]रसायन—प्रस्तुत में रस शब्द अमृतरस का परिचायक है। आयन प्राप्ति को कहते हैं। अमृतरस आयुरक्षक, मेधावर्धक और रोग दूर करने में समर्थ होता है, उस को विधि आदि के वर्णन करने वाले शास्त्र को रसायन कहते हैं। रसोऽमृतरसस्तस्यायन प्राप्तिः रसायनम्, तद्धि वयःस्थापनम्, आयुर्मेधाकरम्, रोगापहरणसमर्थं च, तदभिधायक तत्रमपि रसायनम्।

(८) वाजीकरण अशक्त पुरुष को घोड़े के समान शक्तिशाली बनाने के साधनों का जिस मे वर्णन किया गया हो, अर्थात् वीर्यवृद्धि के उपायों का जिस मे विधान किया गया हो, उस शास्त्र को वाजीकरण कहते हैं। यह शास्त्र अल्पवीर्य को अधिक तथा पुष्ट करने के लिये उपयुक्त होता है। अवाजिनो वाजिन. करण वाजीकरणं शुक्रवर्द्धनेनाश्वस्येव करणमित्यर्थं, तदभिधायक शास्त्र वाजिकरणं, तद्धि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्त प्रहर्षजननार्थं चेति।

इस के अतरिक्त मूल पाठ में धन्वन्तरि वैद्य के लिये—शिवहस्त शुभहस्त और लघुहस्त ये तीन विशेषण दिये हैं। इन विशेषणों से ज्ञात होता है कि रोगियों की चिकित्सा मे वह बडा ही कुशल था। जिस रोगी को वह अपने हाथ मे लेता, उसे अवश्य ही नीरोग - रोगरहित कर देता था, इसी लिये वह जनता में शिवहस्त— कल्याणकारी हाथ वाला, शुभहस्त — प्रशस्त और सुखकारी हाथ वाला, और लघुहस्त—फोड़े आदि के चीरने फाडने में जो इतना सिद्धहस्त था कि रोगी को चीरने एव फाडने के कष्ट का अनुभव नहीं होने पाता था, ऐसा, अथवा जिस का हाथ शीघ्र काम या आराम करने वाला हो, इन नामों मे विख्यात हुआ।

तथा राजवैद्य धन्वन्तरि के पास छोटे, बड़े, धनिक और निर्धन सभी प्रकार के व्यक्ति चिकित्सा के निमित्त उपस्थित रहते जिन मे महाराज कनकरथ के रणवास की रानियों के अतिरिक्त माडलिक राजा, प्रधानमत्री, नगर के सेठ साहूकार—बड़े महाजन या व्यापारी, भी रहते थे।

दुर्बल, ग्लान आदि पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

(१) दुर्बल—कृश अर्थात् बल से रहित व्यकि का नाम है। २—[2]ग्लान—शोकजन्य

---

(१) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित सक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में—रसायन शब्द के—(१) वैद्यक के अनुसार वह औषध जिस के खाने से आदमी बुड्ढा या बीमार न हो (२) पदार्थों के तत्त्वों का ज्ञान (३) वह कल्पित योग जिस के द्वारा तावे मे सोना बनना माना जाता है—इतने अर्थ लिखे हैं, और रसायनशास्त्र शब्द का—वह शास्त्र जिस में यह विवेचन हो कि पदार्थों में कौन कौन से तत्त्व होते हैं और उन के परमाणुओ मे परिवर्तन होने पर पदार्थों में क्या परिवर्तन होता है?—ऐसा अर्थ पाया जाता है। परन्तु प्रस्तुत में रसायन शब्द का टीकानुसारी ऊपर लिखा हुआ अर्थ ही सूत्रकार को अभिमत है।

(२) गिलाणाण—त्ति क्षीणहर्षाणा शोकजनितपीड़ानामित्यर्थ।

पीडा से युक्त अर्थात् जिस का हर्ष क्षीण हो चुका हो, उसे **ग्लान** कहते हैं । ३—[1]**व्याधित**—चिरस्थायी कोढ आदि व्याधियों से युक्त **व्याधित** कहलाता है । **अथवा**—सद्यप्राणघातक—शीघ्र ही प्राणों का नाश करने वाले ज्वर, श्वास, दाह, अतिसार अर्थात् विरेचन आदि व्याधियों से युक्त व्यक्ति **व्याधित** कहा जाता है । यदि **वाहियाणं**—इस पद का **वाधितानां**—ऐसा संस्कृत प्रतिरूप मान लिया जाए तो उसका अर्थ होगा—उष्ण—गरमी आदि की बिमारी से बाधित—पीड़ित व्यक्ति । ४—[2]**रोगी**—अचिरस्थायी—देर तक न रहने वाले ज्वर आदि रोगों से युक्त व्यक्ति **रोगी** कहलाता है । **अथवा** चिरघाती अर्थात् देर से विनाश करने वाले ज्वर, अतिसार आदि रोगों से युक्त व्यक्ति **रोगी** कहलाता है । जिन का कोई नाथ—स्वामी हो वह **सनाथ** तथा जिन का कोई स्वामी-रक्षक न हो वह **अनाथ** कहलाता है ।

गेरु रंग वस्त्र धारण करने वाले परिव्राजक—सन्यासी का नाम **श्रमण**[3] है । चारों वर्णों में से पहले वर्ण वाले को **ब्राह्मण** कहते हैं । अथवा—याचक विशेष को **ब्राह्मण** कहते हैं । **भिक्षुक**—भिक्षावृत्ति से आजीविका चलाने का नाम है । हाथ में **कपाली**—खोपरी रखने वाले सन्यासी के लिये **करोटक** शब्द प्रयुक्त होता है । **कार्पटिक** शब्द जीर्ण कथा—गोदड़ी को धारण करने वाला, **अथवा** भिखमंगा—इन अर्थों का परिचायक है । [4]**आतुर**—जिस को अन्य वैद्यों ने चिकित्सा के अयोग्य ठहराया हो, **अथवा**—जिसे असाध्यरोग हो रहा हो उसे **आतुर** कहते हैं ।

इस के अतिरिक्त यहां पर इतना और ध्यान रहे कि मूल में मत्स्यादि जलचर और कुक्कुटादि स्थलचर एवं कपोतादि खेचर जीवों के नामोल्लेख करने के बाद भी "—**जलयर—थलयर**—" आदि पाठ दिया है, उस का तात्पर्य यह है कि पहले जितने भी नाम बताये गए हैं, उनका संक्षेपतः वर्णन कर दिया गया है और उन के अतिरिक्त दूसरों का भी ग्रहण उक्त पाठ से समझना चाहिये । इसलिये यहां पर पुनरुक्ति दोष की आशंका नहीं करनी चाहिये ।

—**रिद्ध०**—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ का वर्णन पृष्ठ १३८ पर किया जा चुका है । तथा "—**राईसर० जाव सत्थवाहाणं**—" यहां पठित **जाव—यावत्** पद से "—**तलवर—माडंबिय-कोडुंबिय—इब्भ—सेट्ठि**——" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । **राजा** प्रजापति का नाम है । ईश्वर आदि शब्दों की व्याख्या पृष्ठ १६५ पर लिखी जा चुकी है ।

—**मच्छमंसेहिं य जाव मयूरमंसेहि**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से '—**कच्छभमंसेहिं य, गाहमंसेहिं य, मगरमंसेहिं य, सुंसुमारमंसेहिं य, अयमंसेहिं य, एलमंसेहिं य, रोज्झमंसेहिं य, सूयरमंसेहिं य मिगमंसेहिं य, ससयमंसेहिं य, गोमंसेहिं य, महिसमंसेहिं य, तित्तिरमंसेहिं य वट्टकमंसेहि य, लावकमंसेहिं य, कवोतमंसेहिं, य, कुक्कुडमंसेहिं य**—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । **कच्छपमांस** आदि पदों का अर्थ पृष्ठ ३८८ पर लिखा जा चुका है । अन्तर मात्र विभक्ति का है प्रकृत्यर्थ में कोई भेद नहीं है ।

---

(१) वाहियाण—त्ति व्याधिश्चिरस्थायी कुष्ठादिरूपः स संजातो येषां ते व्याधिताः, । **वाधिता** वा उष्णादिभिरभिभूता अतस्तेषाम् । **अथवा**—व्याधितानां—सद्योघाति—ज्वरश्वासकासदाहातिसारभगंदरशूलाजीर्णव्याधियुक्तानामित्यर्थः । (२) **रोगियाण—य** त्ति संजाताचिरस्थायिज्वरादिदोषाणाम्, **अथवा** चिरघातिज्वरातिसारादिरोगयुक्तानामित्यर्थः ।

(३) —**समणाण य**, त्ति—गैरिकादीनाम् । (४) **आउराण य**—चिकित्साया अविषयभूतानाम् अथवा असाध्यरोगपीडितानामित्यर्थः ।

"—मच्छरसेहि य जाव मयूररसेहि य—" यहां पठित जाव—यावत् पद से भी ऊपर की भांति कच्छ भरसेहि य—इत्यादि पदों का ही ग्रहण करना चाहिये। अन्तर मात्र मांस और रस, इन दोनों पदों का है।

"—सुरं च ५—तथा—आसाएमाणे ४, एवं—पयकम्मे ४— यहां दिये गये अंकों से ग्रहण किये गये पदों का विवर्ण पृष्ठ २५०, तथा पृष्ठ १७९ पर किया जा चुका है।

प्रस्तुतसूत्र में धन्वन्तरि वैद्य के पूर्वभव का आरम्भ से समाप्ति तक का वर्णन कर दिया गया है। अब सूत्रकार उसके अग्रिम जीवन का वर्णन करते हैं—

मूल—[१]तते णं सा गंगादत्ता भारिया जायणिद्दुया यावि होत्था, जाता जाता दारगा विणिघायमावज्जंति। तते णं तीसे गंगादत्ताए सत्थवाहीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकुडुंम्बजागरियाए जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने—एवं खलु अहं सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूइं वासाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरामि, णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामि, तं धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, सपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ णं ताओ अम्मयाओ कयलक्खणाओ णं ताओ अम्मयाओ सुलद्धे णं तासिं अम्मयाणं माणुस्सए जम्मजीवियफले, जासिं मन्ने णियगकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धगाइं महुरसमुल्लावगाइं मम्मणपयंपियाइं थणमूला कक्खदेसभागं अतिसरमाण-

(१) छाया— ततः सा गंगादत्ता भार्या जातनिद्रुता चाप्यभवत्। जाता जाता दारका विनिघातमापद्यन्ते। ततस्तस्या गंगादत्तायाः सार्थवाह्या अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापररात्रकुटुम्बजागरिकया जाग्रत्या अयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ५ समुत्पन्नः—एवं खल्वहं सागरदत्तेन सार्थवाहेन सार्द्धं बहूनि वर्षाणि उदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुंजाना विहरामि, नो चैवाहं दारकं वा दारिकां वा प्रजन्ये, तद् धन्यास्ता अम्बाः सपुण्या—स्ता अम्बाः, कृतार्थास्ता अम्बाः, कृतलक्षणास्ता अम्बाः, सुलब्धं तासामम्बानां मानुष्यकं जन्मजीवितफलम्, यासां मन्ये निजकुक्षिसंभूतानि स्तनदुग्धलुब्धकानि मधुरसमुल्लापकानि मन्मनप्रजल्पितानि स्तनमूलात् कक्षदेशभागमतिसरन्ति, मुग्धकानि, पुनश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वोत्सगनिवेशितानि ददति समुल्लापकान् सुमधुरान् पुनः पुनर्मंजुलप्रभणितान्। अहमधन्या, अपुण्या, अकृतपुण्या एतेषामेकतरमपि न प्राप्ता। तच्छ्रेयः खलु मम कल्ये यावज्ज्वलति सागरदत्तं सार्थवाहमापृच्छ्य सुबहु पुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालंकारं गृहीत्वा बहुभिः मित्रज्ञातिनिजकस्वजनसम्बन्धिपरिजनमहिलाभिः सार्द्धं पाटलिषण्डात् नगरात् प्रतिनिष्क्रम्य बहिः यत्रैवाम्बरदत्तस्य यक्षस्य यक्षायतनं तत्रैवोपागत्य, तत्रोम्बरदत्तस्य यक्षस्य महार्हं पुष्पार्चनं कृत्वा [१]जानुपादपतितयोपयाचितुं—यद्यहं देवानुप्रिय! दारकं वा दारिकां वा प्रजन्ये, तदाहं तुभ्यं यागं च दायं च भागं च अक्षयनिधिं चानुवर्धयिष्यामि, इति कृत्वोपयाचितमुपयाचितुम्। एवं स प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य कल्ये यावज्ज्वलति यत्रैव सागरदत्तः सार्थवाहस्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य सागरदत्तं सार्थवाहमेवमवादीत्—एवं खल्वहं देवानुप्रिय! युष्माभिः सार्द्धं यावत् न प्राप्ता, तदिच्छामि देवानुप्रिय! युष्माभिरभ्यनुज्ञाता यावदुपयाचितुम्। ततः स सागरदत्तो गंगादत्तां भार्यामेवमवदत्—ममापि च देवानुप्रिये! एष चैव मनोरथः, कथं त्वं दारकं वा दारिकां वा प्रजनिष्यति। गंगादत्तां भार्यामेतदर्थमनुजानाति।

(१) जानुभ्यां—जानुनी भूमौ निपात्येत्यर्थः, पादयोः यक्षचरणयोः पतितायाः—नतायाः, उपागत्य कार्यसिद्धौ सत्यां प्राभृताय मानसिकं संकल्पं कर्तुमित्यर्थः।

गाइं मुद्धगाइं पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गेरिहऊण उच्छंगनिवेसियाइं दिंति समुल्लावए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिते। अहं णं अधरणा अपुरणा अकयपुरणा एत्तो एक्कतरमवि न पत्ता। तं सेयं खलु ममं कल्लं जाव जलंते सागरदत्तं सत्थवाहं आपुच्छित्ता सुबहुं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं गहाय बहूहिं मित्तणाईणियगसयणसंबंधिपरिजणमहिलाहिं सद्धिं पाडलिसंडाओ णगराओ पडिणिक्खमित्ता बहिया, जेणेव उम्बरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छित्ता, तत्थ उंबरदत्तस्स जक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणं करेत्ता जाणुपादपडियाए उवयाइत्तए— जति णं अहं देवाणुप्पिया! दारगं वा दारियं वा पयामी, तो णं अहं तुब्भं जायं च दायं च भागं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेस्सामि, त्ति कट्टु ओवाइयं उवाइणित्तए। एवं संपेहेति संपेहित्ता कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिए! तुब्भेहिं सद्धिं जाव न पत्ता, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिए! तुब्भेहिं अब्भणुरणाता जाव उवाइणित्तए। तते णं से सागरदत्ते गंगादत्तं भारियं एवं वयासी—ममं पि णं देवाणुप्पिए! एस चेव मणोरहे, कहं णं तुमं दारगं वा दारियं वा पयाएज्जासि। गंगादत्तं भारियं एयमट्ठं अणुजाणेति।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **गंगादत्ता**—गंगादत्ता। **भारिया**—भार्या। **जायणिद्दुया**—जातनिद्रुता—जिस के बालक जीवित न रहते हों। **यावि होत्था**—भी थी, उस के। **जाता २**—उत्पन्न हुए २। **दारगा**—बालक। **विणिघायमावज्जति**—विनाश को प्राप्त हो जाते थे। **तते णं**—तदनन्तर। **तीसे**—उस। **गंगादत्ताए**—गंगादत्ता। **सत्थवाहीए**—सार्थवाही को, जो कि। **पुव्वरत्तावरत्तकुडुंबजागरियाए**—मध्यरात्रि के समय कुटुम्बसम्बन्धी जागरिका—चिन्तन के कारण। **जागरमाणीए**—जागती हुई के। **अन्नया**—अन्यदा। **कयाइ**—कदाचित्—किसी समय। **अयमेयारूवे**—यह इस प्रकार का। **अज्झत्थिए ५**—आध्यात्मिक—संकल्पविशेष ५। **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **एवं**—इस प्रकार। **खलु**—निश्चय ही। **अहं**—मैं। **सागरदत्तेणं**—सागरदत्त। **सत्थवाहेण**—सार्थवाह—मुसाफिर व्यापारियों का मुखिया या संघ का नायक, के। **सद्धिं**—साथ। **उरालाइं**—उदार—प्रधान। **माणुस्सगाइं**—मनुष्यसम्बन्धी। **भोगभोगाइं**—कामभोगों का। **भुंजमाणी**—सेवन करती हुई। **विहरामि**—विहरण कर रही हूं, परन्तु। **अहं**—मैंने आज तक एक भी। **दारगं वा**—बालक अथवा। **दारियं वा**—बालिका को। **णो चेव**—नहीं। **पयामि**—जन्म दिया अर्थात् मैंने ऐसे बालक या बालिका को जन्म नहीं दिया जो कि जीवित रह सका हो। **तं**—इसलिये। **धरणाओ णं**—धन्य हैं। **ताओ**—वे। **अम्मयाओ**—मातायें, तथा। **सपुरणाओ णं**—पुण्यशालिनी हैं। **ताओ**—वे। **अम्मयाओ**—माताऐं। **कयत्थाओ णं**—कृतार्थ हैं। **ताओ**—वे। **अम्मयाओ**—मातायें। **कयलक्खणाओ णं**—कृतलक्षणा हैं। **ताओ**—वे। **अम्मयाओ**—मातायें। **तासिं**—उन। **अम्मयाणं**—माताओं ने ही। **सुलद्धे णं**—प्राप्त कर लिया है। **माणुस्सए**—मनुष्यसम्बन्धी। **जम्मजीवियफले**—जन्म और जीवन का फल। **जासिं**—जिन के। **णियगकुच्छिसंभूयाइं**—अपनी कुक्षि—उदर से उत्पन्न हुई सन्तानें हैं, जो कि। **थणदुद्धलुद्धगाइं**—स्तनगत दुग्ध में लुब्ध हैं। **महुरसमुल्लावगाइं**—

जिन के सभापण अत्यत मधुर हैं। **मम्मणपयंपियाइं**—जिन के प्रजल्पन—वचन मन्मन अर्थात् अव्यक्त अथच स्खलित हैं। **थणमूला**—स्तन के मूलभाग से। **कक्खदेसभागं**—कक्ष (कांख) प्रदेश तक। **अतिसरमाणगाइं**—सरक रही हैं। **मुद्धगाइं**—जो मुग्ध—नितान्त सरल हैं, और फिर। **कोमलकमलोवमेहिं**—कमल के समान कोमल—सुकुमार। **हत्थेहिं**—हाथों से। **गेण्हिऊण**—ग्रहण कर—पकड़ कर। **उच्छंगनिवेसियाइं**—उत्सग मे—गोदी में स्थापित की हुई हैं। **पुणो पुणो**—बार बार। **सुमहुरे**—सुमधुर। **मंजुलप्पभणिते**—मञ्जुलप्रभणित—जिन मे प्रभणित—भणनारभ अर्थात् बोलने का प्रारम्भ मञ्जुल—कोमल है, ऐसे। **समुल्लावए**—समुल्लापों—वचनों को। **दिति**—सुनाते हैं, साराश यह है कि जिन माताओं की ऐसी सताने हैं उन्हीं का जन्म तथा जीवन सफल है, ऐसा मे। **मन्ने**—मानती हू परन्तु। **अहं णं**—मैं तो **अधन्ना**—अधन्य हूं। **अपुण्णा**—पुण्यहीन हूं। **अकयपुण्णा**—अकृतपुण्य हूँ अर्थात् - जिसने पूर्वभव में कोई पुण्य नहीं किया ऐसी हूं। **एत्तो**—इन उक्त चेष्टाओं में से। **एक्कतरमवि**—एक भी। **न पत्ता**—प्राप्त न हुई अर्थात् बालसबन्धी उक्त चेष्टाओं में से मुझे एक के देखने का भी आज तक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। **त**—इसलिये। **खलु**—निश्चय ही। **मम**—मेरे लिये यही। **सेय**—कल्याणकारी है, कि। **कल्ल जाव**—प्रात काल यावत्। **जलते**—सूर्य के देदीप्यमान हो जाने पर अर्थात् सूर्योदय के बाद। **सागरदत्त**—सागरदत्त। **सत्थवाह**—सार्थवाह को। **आपुच्छित्ता**—पूछ कर। **सुबहु**—बहुत ज्यादा। **पुप्फवत्थगधमल्लालकार**—पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला, तथा अलकार ये सब पदार्थ। **गहाय**—लेकर। **बहूहिं**—बहुत से। **मित्तणाइनियगसयणसंबंधिपरिजणमहिलाहिं**—मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजन की महिलाओं के। **सद्धिं**—साथ। **पाडलिसडाओ**—पाटलिषड। **णगराओ**—नगर से। **पडिनिक्खमित्ता**—निकल कर। **बहिया**—बाहिर। **जेणेव**—जहा पर। **उंबरदत्तस्स**—उम्बरदत्त नामक। **जक्खस्स**—यक्ष का। **जक्खायतणे**—यक्षायतन—स्थान था। **तेणेव**—वहा पर। **उवागच्छित्ता**—आकर। **तत्थ णं**—वहा पर। **उंबरदत्तस्स**—उम्बरदत्त। **जक्खस्स**—यक्ष की। **महरिहं**—महार्ह—बडो के योग्य। **पुप्फच्चणं**—पुष्पार्चन—पुष्पों से पूजन। **करेत्ता**—करके। **जाणुपादपडियाए**—घुटने टेक उनके चरणों पर पडी हुई। **उवयाइत्तए**—उन से याचना करू कि। **देवाणुप्पिया**!—हे महानुभाव!। **जति णं**—यदि। **अहं**—मैं। **दारगं**—एक भी (जीवित रहने वाले) बालक, अथवा। **दारियं**—(जीवित रहने वाली) बालिका को। **पयामि**—जन्म दू। **तो णं**—तो। **अहं**—मै। **तुब्भं**—आप के। **जायं च**—याग—देवपूजा। **दायं च**—दान—देय अश। **भागं च**—भाग—लाभ का अश तथा। **अक्खयणिहिं च**—अक्षयनिधि—देवभडार की। **अणुवड्ढेस्सामि**—वृद्धि करूगी। **त्ति कट्टु**—इस प्रकार कह कर के। **ओवाइयं**—उपयाचित—इष्टवस्तु की। **उवाइणित्तए**—प्रार्थना करने के लिये। **एवं**—इस प्रकार। **संपेहेति संपेहित्ता**—विचार करती है, विचार कर। **कल्ल जाव**—प्रात काल यावत्। **जलते**—सूर्य के उदित होने पर। **जेणेव**—जहा पर। **सागरदत्ते**—सागरदत्त। **सत्थवाहे**—सार्थवाह था। **तेणेव**—वही पर। **उवागच्छति उवागच्छित्ता**—आती है, आकर। **सागरदत्तं**—सागरदत्त। **सत्थवाहं**—सार्थवाह को। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगी। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **देवाणुप्पिया**!—हे महानुभाव!। **अहं**—मै ने। **तुब्भेहिं**—आप के। **सद्धिं**—साथ। **जाव**—यावत् अर्थात् उदार—प्रधान काम भोगों का सेवन करते हुए भी आज तक। एक भी जीवित रहने वाले पुत्र या पुत्री को। **न पत्ता**—प्राप्त नही किया। **त**—इसलिये। **देवाणुप्पिए**!—हे महानुभाव!। **इच्छामि णं**—मैं चाहती हू कि। **तुब्भेहिं**—आप से। **अब्भणुण्णाता**—अभ्यनुज्ञात हुई—अर्थात् आज्ञा मिल जाने पर। **जाव**—यावत् अर्थात् इष्टवस्तु की प्राप्ति के लिये उम्ब-

रदत्त यक्ष की । उवाइणित्तए—प्रार्थना करूं अर्थात् मनौती मनाऊं । तते ण—तदनन्तर । से—वह । सागरदत्ते—सागरदत्त । गंगादत्त —गङ्गादत्ता । भारियं—भार्या के प्रति । एव वयासी—इस प्रकार बोला । देवाणुप्पिए!—हे महाभागे! । मम पि य ण—मेरा भी । एस चेव—यही । मणोरहे—मनोरथ—कामना है कि । कह ण—किसी तरह भी । तुमं—तुम । दारग वा—जीवित रहने वाले बालक अथवा । दारियं वा—बालिका को । पयाएज्जासि — जन्म दो, इतना कह कर । गंगादत्त भारियं—गंगादत्ता भार्या को । एयमट्ठ—इस अर्थ—प्रयोजन के लिये । अणुजाणेति—आज्ञा दे देता है, अर्थात् उस के उक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है ।

मूलार्थ—उस समय सागरदत्त की गंगादत्ता भार्या जातनिद्रुता थी, उस के बालक उत्पन्न होते ही विनाश को प्राप्त हो जाते थे । किसी अन्य समय मध्यरात्रि में कुटुम्बसम्बन्धी चिन्ता से जागती हुई उस गंगादत्ता सार्थवाही के मन में जो संकल्प उत्पन्न हुआ, वह निम्नोक्त है—

मैं चिरकाल से सागरदत्त सार्थवाह—संघनायक के साथ मनुष्यसम्बन्धी उदार—प्रधान कामभोगों का उपभोग करती रही हूं, परन्तु मैंने आज तक एक भी जीवित रहने वाले बालक अथवा बालिका को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया । अत वे माताएं ही धन्य हैं तथा वे माताएं ही कृतार्थ अथच कृतपुण्य हैं एवं उन्होंने ही मनुष्यसम्बन्धी जन्म और जीवन को सफल किया है, जिन की स्तनगत दुग्ध में लुब्ध, मधुरभाषण से युक्त, अव्यक्त अथच स्खलित वचन वाली, स्तनमूल से कक्षप्रदेश तक अभिसरणशील, नितान्त सरल, कमल के समान कोमल-सुकुमार हाथों से पकड़ कर अंक—गोदी में स्थापित की जाने वाली और पुन पुन. सुमधुर, कोमल प्रारम्भ वाले वचनों को कहने वाली अपने पेट से उत्पन्न हुई सन्तानें हैं । उन माताओं को मैं धन्य मानती हूं ।

मैं तो अधन्या, अपुण्या—पुण्यरहित हूं, अकृतपुण्या हूं क्योंकि मैं इन पूर्वोक्त बालसुलभ चेष्टाओं में से एक को भी प्राप्त नहीं कर पाई । अत मेरे लिये यही श्रेय-हितकर है कि मैं कल प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही सागरदत्त सार्थवाह से पूछ कर विविध प्रकार के पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला और अलंकार लेकर बहुत सी मित्रों[1], ज्ञातिजनों, निजकों, स्वजनों सम्बन्धीजनों और परिजनों की महिलाओं के साथ पाटलिषण्ड नगर से निकल कर बाहिर उद्यान में जहां उम्बरदत्त यक्ष का यक्षायतन—स्थान है वहां जाकर उम्बरदत्त यक्ष की महार्ह पुष्पार्चना करके और उसके चरणों में नतमस्तक हो इस प्रकार प्रार्थना करूं—

हे देवानुप्रिय! यदि मैं अब जीवित रहने वाले बालक या बालिका को जन्म दूं तो मैं तुम्हारे याग, दान, भाग—लाभअंश और देवभंडार में वृद्धि करूंगी । तात्पर्य यह है कि मैं तुम्हारी पूजा किया करूंगी या पूजा का संवर्द्धन किया करूंगी, अर्थात् पहले से अधिक पूजा किया करूंगी । दान दिया करूंगी या तुम्हारे नाम पर दान किया करूंगी या तुम्हारे दान में वृद्धि करूंगी अर्थात् पहले से ज्यादा दान दिया करूंगी । भाग—लाभांश अर्थात् अपनी आय के अंश को दिया करूंगी या तुम्हारे लाभांश—देवद्रव्य में वृद्धि करूंगी । तथा तुम्हारे अक्षयनिधि—देवभंडार में वृद्धि करूंगी, उसे भर डालूंगी ।

---

(१) मित्र, ज्ञाति आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १५० की टिप्पण में किया जा चुका है ।

इस प्रकार उपयाचित—ईप्सित वस्तु की प्रार्थना के लिये उसने निश्चय किया। निश्चय करने के अनन्तर प्रातःकाल सूर्य के उदित होने पर जहां पर सागरदत्त सार्थवाह था वहां पर आई आकर सागरदत्त सार्थवाह से इस प्रकार कहने लगी—हे स्वामिन्! मैंने तुम्हारे साथ मनुष्यसम्बन्धी सांसारिक सुखों का पर्याप्त उपभोग करते हुए आजतक एक भी जीवित रहने वाले बालक या बालिका को प्राप्त नहीं किया। अतः मैं चाहती हूं कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने मित्रों, ज्ञातिजनों निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों की महिलाओं के साथ पाटलिषण्ड नगर से बाहिर उद्यान में उम्बरदत्त यक्ष की महार्ह पुष्पार्चना कर उसको पुत्रप्राप्ति के लिये मनौती मनाऊं?, इसके उत्तर में सागरदत्त सार्थवाह ने अपनी गंगादत्ता भार्या से कहा कि—भद्रे! मेरी भी यही इच्छा है कि किसी प्रकार से भी तुम्हारे जीवित रहने वाले पुत्र या पुत्री उत्पन्न हो। ऐसा कह कर उसने गंगादत्ता के उक्त प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उसे स्वीकार किया।

टीका— पाटलिषण्ड नगर में सिद्धार्थ नरेश का शासन था, उस के शासनकाल में प्रजा अत्यन्त सुखी थी। उसी नगर में सागरदत्त नाम का एक प्रसिद्ध व्यापारी रहता था। उस की स्त्री का नाम गंगादत्ता था, जो कि परम सुशीला एवं पतिव्रता थी। इत्यादि वर्णन प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में किया जा चुका है। इसी बात का स्मरण कराते हुए भगवान् महावीर श्री गौतम स्वामी से कहते हैं कि हे गौतम! जिस समय धन्वन्तरि वैद्य (पूर्ववर्णित) नरक की वेदनाओं का भोग रहा था, उस समय सागरदत्त सार्थवाह की गंगादत्ता भार्या जातनिद्रुतावस्था में थी। उस के जो भी संतान होती वह तत्काल ही विनष्ट हो जाती थी। इस अवस्था में गंगादत्ता को बहुत दुःख हो रहा था। पतिगृह में सांसारिक भोगविलास का उसे पर्याप्त अवसर प्राप्त था, परन्तु किसी जीवित रहने वाले पुत्र या पुत्री की माता बनने का उसे आजतक भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। वह रात दिन इसी चिन्ता में निमग्न रहती थी।

एक दिन अर्धरात्रि के समय कुटुम्बसम्बन्धी चिन्ता में निमग्न गंगादत्ता अपने गृहस्थजीवन पर दृष्टिपात करती हुई सोचने लगी कि मुझे गृहस्थ जीवन में प्रवेश किये काफी समय व्यतीत हो चुका है। मैं अपने पतिदेव के साथ विविध प्रकार के सांसारिक सुखों का उपभोग भी कर रही हूँ, उनकी मुझ पर पूर्ण कृपा भी है, जो चाहती हूँ सो उपस्थित हो जाता है। इतना आनन्द का जीवन होने पर भी मैं आज सन्तान से सर्वथा वंचित हूं, न पुत्र है न पुत्री। बच्चे होने को तो अनेक हुए परन्तु सुख एक का भी न प्राप्त कर पाई। पुत्र न सही पुत्री ही होती, परन्तु मेरे भाग्य में तो वह भी नहीं। धिक्कार हो मेरे इस जीवन को।

वे माताएं धन्य हैं, जिन्हें अपने जीवन में नवजात शिशुओं के लालन पालन का सौभाग्य प्राप्त है, तथा पुत्रों को जन्म देकर उनकी बालसुलभ अद्भुत क्रीडाओं से गद्गद् होती हुई सांसारिक आनन्द के पारावार में निमग्न हो कर स्वर्गीय सुख को भी भूल जाती हैं। स्तनपान के लिये ललचायमान शिशु के हावभाव को देखना, उसकी अव्यक्त अथच स्खलित तोतली वाचा से निकले हुए मधुर शब्दों को सुनना, स्तनपान करते २ कक्ष—काँख की ओर सरकते हुए को अपने हाथों से उठा कर गोद में बिठाना, उनकी अटपटी अथच मंजुलभाषा को सुनने की उत्कण्ठा से उसके साथ उसी रूप में सम्भाषण आदि करने का सद्भाग्य निःसन्देह उन्हीं माताओं को प्राप्त हो सकता

है, जिन्हों ने पुत्र को जन्म दे कर अपनी कुक्षि को सार्थक बनाया है ?, परन्तु मैं कितनी हतभागिनी हूं, कि जिसे इन में से आज तक कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाया, इस से अधिक मेरे लिये दुःख की और क्या बात हो सकती है ?, अस्तु, अब एक उपाय शेष है, जिस पर मुझे विशेष आस्था है, मैं अब उसका अनुसरण करूंगी। सभव है कि भाग्य साथ दे जाए। कल प्रातःकाल होते ही सेठ जी से पूछ कर तथा उनसे आज्ञा मिल जाने पर मैं नाना प्रकार की पुष्प, वस्त्र, गंध, माल्य तथा अलंकार आदि पूजा की सामग्री लेकर बाहिर उद्यानगत उम्बरदत्त यक्षराज के मन्दिर में जाकर उनकी उक्त सामग्री से विधिवत् पूजा करूंगी और तत्पश्चात् उनके चरणों में पड़कर प्रार्थना करूंगी, मनौती मनाऊंगी कि यदि मेरे गर्भ से जीवित रहने वाले पुत्र अथवा पुत्री का जन्म हो तो मैं आपकी विधिवत् पूजा किया करूंगी, आप के नाम से दान दिया करूंगी और आपके लाभांश में तथा आप के भंडार में वृद्धि कर डालूंगी।

सूत्रकार ने—जाय, दाय, भाग—और—अक्खयणिहिं—ये चार द्वितीयांत पद देकर एक **अणुवड्ढेस्सामि**—यह क्रियापद दिया है। सभी पदों के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ने से "—**याग**— देवपूजा में वृद्धि करूंगी, अर्थात् जितनी पहले किया करती थी, उस से और अधिक किया करूंगी, या दूसरों से करवाया करूंगी। **दान** में वृद्धि करूंगी अर्थात् जितना पहले देती थी उससे अधिक दान दिया करूंगी या दूसरों से दान करवाया करूंगी। **भाग**—लाभांश में वृद्धि करूंगी अर्थात् उसमें और द्रव्य डाल कर उस की वृद्धि करूंगी या दूसरों से कराऊंगी। **अक्षयनिधि** की वृद्धि करूंगी या दूसरों से कराऊंगी—" यह अर्थ फलित होता है। परन्तु यदि **अणुवड्ढेस्सामि**—इस क्रियापद का सम्बन्ध केवल—**अक्खयणिहिं**—इस पद के साथ मान लिया जाए और—**जाय**—तथा—**दाय**— इन दोनों पदों के आगे—**काहिमि—करिष्यामि**—इस क्रियापद का अध्याहार कर लिया जाए तो अर्थ होगा—पूजा किया करूंगी दान दिया करूंगी, एवं **भागं**—इस पद के आगे **दाहिमि—दास्यामि** —इस क्रियापद का अध्याहार करने से—लाभांश का दान दूंगी अर्थात् अपनी आय का एक अंश दान में दिया करूंगी, ऐसा अर्थ भी निष्पन्न हो सकता है, अस्तु।

यह है श्रेष्ठिभार्या गंगादत्ता के हार्दिक विचारों का सक्षिप्त सार, जिसे प्रस्तुत सूत्र में वर्णित किया गया है। गंगादत्ता के इन्हीं विचारों के उतार चढाव में सूर्य देवता उदयाचल पर उदित हो जाते हैं और सेठानी गंगादत्ता अपने शय्यास्थान से उठ खडी होती है और सेठ सागरदत्त के पास आकर यथोचित शिष्टाचार के पश्चात् रात्रि में सोचे हुए विचार को ज्यों का त्यों सुना देती है।

सेठानी गंगादत्ता के विचारों को सुनकर सेठ सागरदत्त उस से सहमत होने के साथ २ बोले कि प्रिये ! मैं तो तुम से भी पहले इस विचार में निमग्न था कि कोई ऐसा उपाय सोचा जाए कि जिस के अनुसरण से तुम्हारी गोद भरे और तुम्हें चिरकालाभिलषित माता बनने तथा मुझे पिता बनने का सुअवसर प्राप्त हो, अतः मैं तुम्हें इस की आज्ञा देता हूं और उस के लिये जिस २ वस्तु की तुम को आवश्यकता होगी, उस का सम्पादन भी शीघ्र से शीघ्र कर दिया जावेगा, तुम निश्चिन्त हो कर अपनी कामनापूरक सामग्री जुटाओ।

इस कथा—संदर्भ से नारीजीवन के मनोगत संकल्पों का भलीभान्ति परिचय प्राप्त हो जाता है। सन्तान के लिये नारीजगत् में कितनी उत्कण्ठा होती है ?, तथा उस की प्राप्ति के लिये वह कितनी आतुरा अथच प्रयत्नशीला बनती है ?, यह भी इस से अच्छी तरह जाना जा सकता है।

प्रश्न—णो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामि—(अर्थात्—मैंने किसी भी बालक या बालिका को जन्म नहीं दिया)—इस पाठ का, तथा "—**जाता जाता दारगा विणिघायमावज्जंति**—" (अर्थात्—जन्म लेते ही उस के बच्चे मर जाया करते थे) इस पाठ के साथ विरोध आता है। प्रथम पाठ का भावार्थ है—सन्तान का सर्वथा अनुत्पन्न होना और दूसरे का अर्थ है उत्पन्न हो कर मर जाना। यदि उत्पन्न नहीं हुआ तो उत्पन्न हो कर मरना, यह कैसे सम्भव हो सकता है ?, इसलिये ये दोनों पाठ परस्पर विरोधी से प्रतीत होते हैं ?

उत्तर—नहीं, अर्थात् दोनों पाठों में कुछ भी विरोध नहीं है। प्रथम पाठ में जो यह कहा गया है कि मैंने किसी बालक या बालिका को जन्म नहीं दिया। उस का अभिप्राय इतना ही है कि मैंने आज तक किसी बालक को दूध नहीं पिलाया, उस को जीवित अवस्था में नहीं पाया, उस का मुख नहीं चूमा, उस की मीठी २ तोतली बातें नहीं सुनी और मुझे कोई मां कह कर पुकारने वाला नहीं—इत्यादि तथा उसने उन्हीं माताओं को धन्य बतलाया है जो अपने नवजात शिशुओं से पूर्वोक्त व्यवहार करती हैं, न कि जो जन्म मात्र देकर उन का मुख तक भी नहीं देख पातीं, उन्हें धन्य कहा है। इसलिये इन दोनों पाठों में विरोध की कोई आशंका नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि कहीं पर शब्दार्थ प्रधान होता है, और कहीं पर भावार्थ की प्रधानता होती है। सो यहां पर भावार्थ प्रधान है। भावार्थ की प्रधानता वाले अन्य भी अनेकों उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, जिनका विस्तारभय से प्रस्तुत में उल्लेख नहीं किया जाता। तथापि मात्र पाठकों की जानकारी के लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

श्री स्थानांग सूत्र के प्रथम उद्देश्य में—**चउप्पतिट्ठिते कोहे**—(**चतुष्प्रतिष्ठित क्रोध**) ऐसा उल्लेख पाया जाता है। परन्तु चौथा भेद—**अप्पतिट्ठिते (अप्रतिष्ठित)** यह किया गया है। अब देखिये दोनों में क्या सम्बन्ध रहा ? जब चारों स्थानों में क्रोध स्थित होता है तो वह अप्रतिष्ठित कैसे ?, सारांश यह है कि यहां पर भी भावार्थ की प्रधानता है न कि शब्दार्थ की। वृत्तिकार भी लिखते हैं कि—**आक्रोशादिकारणनिरपेक्ष केवलं क्रोधवेदनीयोदयाद् यो भवति सोऽप्रतिष्ठित, अयं च चतुर्थभेद जीवप्रतिष्ठितोऽपि आत्मादिविषयेऽनुत्पन्नत्वादप्रतिष्ठित उक्तो न तु सर्वथाऽप्रतिष्ठित, चतुष्प्रतिष्ठितत्वस्याभावप्रसंगात** सूत्र २४९)—अर्थात् यह चौथा भेद यद्यपि जीव में ही प्रतिष्ठित—अवस्थित होता है, तथापि इसे अप्रतिष्ठित कहने का यही कारण है कि यह किसी आत्मादि का अवलम्बन कर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु दुर्वचनादि कारण की अपेक्षा न रखता हुआ केवल क्रोधवेदनीय के उदय से उत्पन्न होने के कारण इसे अप्रतिष्ठित कहा गया है। परन्तु सर्वथा यह भेद अप्रतिष्ठित नहीं है, क्योंकि यदि यह सर्वथा अप्रतिष्ठित हो जाए तो क्रोध में चतुष्प्रतिष्ठितत्व का अभाव हो जाएगा अर्थात् क्रोध को चतुष्प्रतिष्ठित कहना असंगत ठहरेगा जो कि सिद्धान्त को इष्ट नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में—**जायनिद्दुया**—आदि पदों गए पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

१—**जायनिद्दुया—जातनिद्रुता,**—" अर्थात् जिस की सन्तान उत्पन्न होते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए, उसे **जातनिद्रुता** कहते हैं।

२—**पुव्वरत्तावरत्तकुडुम्बजागरियाए — पूर्वरात्रापररात्रकुटुम्बजागरिकया** —' अर्थात् **पूर्वरात्रापररात्र** शब्द मध्यरात्रि आधीरात के लिये प्रयुक्त होता है। कुटुम्ब—परिवार सम्बन्धी जागरिका—चिन्तन, **कुटुम्बजागरिका** कहा जाता है। आधीरात के समय की गई कुटुम्बजागरिका **पूर्वरात्रापररात्रकुटुम्बजागरिका** कहलाती है। प्रस्तुत में यह पद तृतीयान्त होने से—**आधीरात में किए गए परिवारसम्बन्धी चिन्तन के कारण**—इस अर्थ का परिचायक है।

३—सपुण्णाओ—सपुण्या—" अर्थात् पुण्य से युक्त स्त्रियां सपुण्या कहलाती हैं।

४—कयत्थाओ—कृतार्थाः—" अर्थात् जिन के अर्थ—प्रयोजन निष्पन्न—सिद्ध हो चुके हैं, उन्हें कृतार्था कहा जाता है।

५—कयलक्खणाओ—कृतलक्षणा—" अर्थात् कृत—फलयुक्त हैं लक्षण-सुखजन्य हस्तादिगत शुभ रेखाएँ जिन की, उन्हें कृतलक्षणा कहते हैं।

६ नियगकुच्छिसंभूयाइं—निजस्य कुक्षौ उदरे संभृतानि समुत्पन्नानीति—निजकुक्षि—संभृतानि निजापत्यानीत्यर्थः—" अर्थात् निज—अपने उदर—पेट में संभूत—उत्पन्न हुई अपत्य—सन्तानें निजकुक्षिसंभूत कहलाती हैं।

७—थणदुद्धलुद्धगाइं—स्तनदुग्धे लुब्धकानि यानि तानि स्तनदुग्धलुब्धकानि—" अर्थात् स्तनों के दूध में लुब्धक अभिलाषा रखने वाली अपत्य—स्तनदुग्धलुब्धक कहलाती हैं।

८—महुरसमुल्लावगाइं—समुल्लाप वालभाषणं स एव समुल्लापक, मधुर समुल्लापको येषां तानि मधुरसमुल्लापकानि—" अर्थात् मधुर—सरस समुल्लापक-बालभाषण करने वाली अपत्य मधुरसमुल्लापक कही जाती हैं।

९—मम्मणपयंपियाइं—मन्मनम्—इत्यव्यक्तध्वनिरूपं प्रजल्पितं भाषणं येषां तानि मन्मनप्रजल्पितानि—" अर्थात् मन्मन इस प्रकार के अव्यक्त शब्दों के द्वारा बोलने वाली अपत्य—मन्मनप्रजल्पित कही जाती हैं।

१०—थणमूला कक्खदेसभागं अतिसरमाणगाइं—स्तनमूलात् कक्षदेशभागमभिसरन्ति—अर्थात् जो स्तन के मूलभाग से ले कर कक्ष (कांख) तक के भाग में अभिसरण करते रहते हैं वे। अभिसरण का अर्थ है निर्गम—प्रवेश अर्थात् जो अपत्य कभी स्तनमूल से निकल कर कक्षभाग में प्रवेश करती हैं और कभी उस से निकल जाती हैं।

११—मुद्धगाइं—मुग्धकानि, सरलहृदयानि—" अर्थात् सरलहृदय—छल कपट से रहित एवं विशुद्ध हृदय वाली अपत्य मुग्धक कहलाती हैं।

१२—पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छंगनिवेसियाइं—पुनश्च कोमलं यत्कमलं तेनोपमा ययोस्ते तथा ताभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्संगनिवेशितानि अंके स्थापितानि—" अर्थात् जो कमल के समान कोमल हाथों द्वारा पकड़ कर गोदी में बैठा रखी हैं, अथवा वे अपत्य जिन्हें उन्हीं के कमल—सदृश हाथों से पकड़ कर गोदी में बैठा रखा है। तात्पर्य यह है कि माता कई बार प्रेमातिरेक से बच्चों को गोदी में लेने के लिये अपनी भुजाओं को फैलाती हैं, प्रसृत भुजाओं को देख कर बालक अपनी लड़खड़ाती टांगों से लुढ़कता हुआ या चलता हुआ माता की ओर बढ़ता है, तब माता झटिति उसे अपने कमलसदृश कोमल हाथों से पकड़ कर एवं उठा कर छाती से लगा लेती है और गोदी में बैठा लेती है, अथवा बालकों के कमलसमान कोमल छोटे २ हाथों को पकड़ चलाती हुई उन्हें गोदी में बैठा लेती है, इन्हीं भावों को सूत्रकार महानुभाव द्वारा ऊपर के पदों में अभिव्यक्त किया गया है।

१३—दिंति समुल्लावए सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभणिते—इन पदों की व्याख्या में दो मत पाये जाते हैं, जो कि निम्नोक्त हैं—

(१) प्रथम मत में समुल्लापक के सुमधुर और मंजुलप्रभणित—ये दोनों पद विशेषण माने गए हैं। तब—सुमधुर और मंजुलप्रभणित जो समुल्लापक उनको पुनः २ सुनाते हैं—यह अर्थ होगा। सुमधुर

अत्यन्त मधुर—सरस को कहते हैं। **मंजुलप्रभणित** शब्द - मजुल—चित्ताकर्षक **प्रभणित**—भणनारम्भ है जिस मे ऐसे —इस अर्थ का परिचायक है। **समुल्लापक** — बालभाषण का नाम है। (२) दूसरे मत मे—**समुल्लापक**—को स्वतन्त्र पद माना है और **सुमधुर** शब्द को **मंजुल—प्रभणित** का विशेषण माना गया है, और साथ मे **प्रभणित**—शब्द का—मा मा, इस प्रकार के कर्णप्रिय शब्द—ऐसा अर्थ किया गया है।

१४ **अधन्ना—अधन्या, अप्रशसनीया**—" अर्थात् जो प्रशसा के योग्य न हो, वह व्यक्ति **अधन्या**—कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि स्त्री की प्रशसा प्राय. सन्तान के कारण ही होती है। सतानविहीन स्त्री आदर का भाजन नही बनने पाती—इन्हीं विचारों से किसी जीवत सन्तति को न प्राप्त करने के कारण गगादत्ता अपने को **अधन्या** कह रही है।

१५—**अपुरणा—अविद्यमानपुरया अथवा अपूर्णा—अपूर्णमनोरथत्वात्** -"अर्थात् जो पुण्य से रहित हो वह **अपुण्या** कहलाती है। तथा—**अपुरणा**—इस पद का सस्कृत प्रतिरूप **अपूर्णा**—ऐसा भी उपलब्ध होता है। तब—**अपुरणा**—इस पद का—जिस के मनोरथों—मानसिक सकल्पों की पूर्ति नहीं होने पाई, वह **अपूर्णा** कहलाती है, ऐसा अर्थ भी हो सकेगा।

१६—**अकयपुरणा - अविहितपुण्या**—" अर्थात् जिस ने इस जन्म अथवा पूर्व के जन्मों मे पुण्यकर्म का उपार्जन नही किया हो वह **अकृतपुण्या** कही जाती है।

१७—**जायं—यागम् देवपूजाम्** - " अर्थात् याग शब्द देवों की पूजा—इस अर्थ का बोधक है।

१८—**दाय—पर्वदिवसादौ दानम्**—" अर्थात् पर्व के दिवसों मे किये जाने वाले दान को **दाय** कहते हैं। अथवा किसी भी समय पर दीन दुखियों को अन्नादि का देना या अन्य किसी सत्कर्म के लिए द्रव्यादि का देना **दान** कहलाता है।

१९—**भागम्—लाभांशम्**—" अर्थात् मन्दिर के चढावे (वह सामग्री जो किसी देवता को चढाई जावे से होने वाले लाभ के अश को **भाग** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मन्दिर मे जो चढावा चढाया जाता हैं, उस मे जो मन्दिर को लाभ होता है, उस लाभाश को **भाग** कहा जाता है।

२०—**अक्खयणिहि—अव्ययं भाडागारम्, अक्षयनिधि वा मूलधन येन जीर्णीभूतदेवकुलस्योद्धार क्रियते**—" अर्थात् नष्ट न होने वाले देवभण्डार का नाम **अक्षयनिधि** है अथवा—मूलधन देवद्रव्य) जो कि जीर्ण हुए देवमन्दिर के उद्धार के लिये प्रयुक्त होता है, को भी **अक्षयनिधि** कहते हैं।

२१—**उववाइय—उपयाच्यते मृग्यते स्म यत्तत् उपयाचितम्**—ईप्सित वस्तु—" अर्थात् जिस वस्तु की प्रार्थना की जाय वह **उपयाचित** कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु ईप्सित—इष्ट हो वह **उपयाचित** कहलाती है।

प्राकृतशब्दमहार्णव नामक कोष मे उपयाचित शब्द के १—प्रार्थित, अभ्यर्थित, २—मनौती—अर्थात् किसी काम के पूरा होने पर किसी देवता की विशेष आराधना करने का मानसिक सकल्प—ऐसे दो अर्थ लिखे हैं।

२२—**उवाइणित्तए—उपयाचितु प्रार्थयितुम्**—" अर्थात् **उपयाचितु**—यह क्रियापद प्रार्थना करने के लिये, इस अर्थ का बोध कराता है।

—**अज्झत्थिए ५**—यहा पर दिये ५ के अक मे विवक्षित पाठ का वर्णन पृष्ठ १३३

पर किया जा चुका है।

कल्लं जाव जलन्ते—यहां पठित जाव—यावत् पद से—**पाउप्पभायाए रयणीयफुल्लुप्पल—कमल— कोमलुम्मीलियम्मि अहापण्डुरे पभाए रत्तासोग — प्पगास — किंसुय—सुअमुह-गुं—जद्धरागबन्धुजीवग— पारावयचलण—नयण—परहुअ—सुरत्तलोअण—जासुमण—कुसुम—जलिय-जलण—तवणिज्ज—कलस—हिंगुलय—निगर —रूवाइरेग—रेहन्त—सस्सिरीए दिवागरे अहक्कमेण उदिए तस्स दिणगरकरपरंपरावयारपारद्धम्मि अंधयारे बालातवकुंकुमेणं खचिय व्व जीवलोए लोयणविसयाणुयासविगसतविसददंसियम्मि लोए कमलागरसण्डबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्स—रस्सिम्मि दिणयरे तेअसा**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

जिस में प्रभात का प्रकाश हो रहा है, ऐसी रजनी—रात के व्यतीत हो जाने पर अर्थात् रात्रि के व्यतीत और प्रभात के प्रकाशित हो जाने पर, विकसित पद्म और कमल—हरिणविशेष का कोमल उन्मीलन होने पर अर्थात् कमल के दल खुल जाने पर और हरिण की आखें खुल जाने, पर अथ-अनन्तर अर्थात् रजनी के व्यतीत होजाने के पश्चात् प्रभात के पाण्डुर—शुक्ल होने पर, रक्त अशोक—पुष्पविशेष की कान्ति के समान, किंशुक—केसू, शुकमुख—तोते की चोंच, गुंजार्द्ध—भाग—गुंजा का रक्त अर्द्ध भाग, बन्धुजीवक (जन्तुविशेष), पारापत —कबूतर के चरण और नेत्र, परभृत—कोयल के सुरक्त—अत्यंत लाल लोचन, जपा नामक वनस्पति के पुष्प फूल, प्रज्वलित अग्नि सुवर्ण के कलश, हिंगुल—सिंगरफ की राशि—ढेर, इन सब के रूप से भी अधिक शोभायमान है स्व—स्वकीय श्री अर्थात् वर्ण की कान्ति जिस की ऐसे दिवाकर—सूर्य के यथाक्रम उदित होने पर, उस सूर्य की किरणों की परम्परा—प्रवाह के अवतार मे अर्थात् गिरने से अन्धकार के प्रनष्ट होने पर बालातप—उगते हुए सूर्य की जो आतप—धूप तद्रूप कुंकुम (केसर) से मानों जीवलोक—संसार के खचित—व्याप्त होने पर, लोचनविषय के अनुकाश—विकाश (प्रसार) से लोक विकासमान (वर्धमान) अर्थात् अंधकारावस्था में संसार संकुचित प्रतीत होता है और प्रकाशावस्था में वही वर्धमान—बढ़ता हुआ सा प्रतीत होता है, एवं विशद—स्पष्ट दिखलाए जाने पर कमलाकर—ह्रद (झील) के कमलों के बोधक-विकास करने वाले, हजार किरणों वाले, दिन के करने वाले, तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उत्थित होने पर अर्थात् उदय के अनन्तर की अवस्था को प्राप्त होने पर।

—**सड्ढिं जाव न पत्ता**—यहां के जाव—यावत् पद से पृष्ठ ३९६ तथा ३९७ पर पढ़े गये—**बहूइं वासाइं उरालाइं माणुस्सगाइं**—से लेकर—**अकयपुण्णा पत्ता एक्कतरमवि न**—यहां तक के पदों का परिचायक है। तथा—**अब्भणुण्णाता जाव उवाइणित्तए**—यहां का जाव यावत् पदों पृष्ठ ३९७ पर पढ़े गये—**सुबहु पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं गहाय**—से लेकर—**अणुवड्ढस्सामि त्ति कट्टु ओवाइयं**—यहां तक के पदों का परिचायक है।

प्रस्तुत सूत्र में श्रेष्ठिभार्या गंगादत्ता के मनौती—मानतसम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया गया है। अब अग्रिम सूत्र में उन की सफलता के विषय में वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तते णं सा गंगादत्ता भारिया सागरदत्तसत्थवाहेणं एतमट्ठं अब्भ-**

---

(१) छाया—ततः सा गंगादत्ता भार्या सागरदत्तसार्थवाहेनैतमर्थमभ्यनुज्ञाता सती सुबहु पुष्प० मित्र० महिलाभिः सार्द्धं स्वस्माद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य पाटलिषण्डात् नगराद् मध्यमध्येन निर्गच्छति

णुएणाता समाणी सुबहुं पुप्फ० मित्त० महिलाहिं सद्धिं साती गिहातो पडिणिक्खमति पडिनिक्खमित्ता पाडलिसंडं णगरं मज्झमज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणेव पुक्खरिणीए तीरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहु पुप्फवत्थगन्धमल्लालंकारं ठवेति ठवित्ता पुक्खरिणिं ओगाहेति ओगाहित्ता जलमज्जणं करेति, जलकिड्डं करेति करित्ता एहाया कयकोउयमंगला उल्लपडसाडिया पुक्खरिणीए पच्चुत्तरति पच्चुत्तरित्ता तं पुप्फ० गेएहति गेएहत्ता जेणेव उम्बरदत्तस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता उंबरदत्तस्स जक्खस्स आलोए पणामं करेति करित्ता लोमहत्थं परामुसति परामुसित्ता उम्बरदत्त जक्ख लोमहत्थएणं पमज्जति पमज्जित्ता दगधाराए अब्भुक्खेति अब्भुक्खित्ता पम्हल० गायलट्ठिं ओलूहेति ओलूहित्ता सेयाइं वत्थाइं परिहेति परिहित्ता महरिहं पुप्फारुहणं, वत्थारुहणं, गंधारुहणं, चुएणारुहणं करेति करित्ता धूवं डहति डहित्ता जाणुपायपडिया एवं वयासी—जति णं अहं देवाणुप्पिया ! दारगं वा दारिगं वा पयामि तो णं जाव उवाइणति उवाइणित्ता जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगता।

पदार्थ—**तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **गंगादत्ता भारिया**—गंगादत्ता भार्या। **सागरदत्तसत्थवाहेणं**—सागरदत्त सार्थवाह से। **एतमट्ठं**—इस प्रयोजन के लिये। **अब्भणुएणाता समाणी**—अभ्यनुज्ञात हुई अर्थात् आज्ञा प्राप्त करके। **सुबहु**—बहुत से। **पुप्फ०**—पुष्प, वस्त्र, गन्ध—सुगन्धित द्रव्य, माला और अलंकार लेकर। **मित्त०**—मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों एवं परिजनों की। **महिलाहिं**—महिलाओं के। **सद्धिं**—साथ। **साता**—अपने। **गिहातो**—घर से। **पडिणिक्खमति पडिनिक्खमित्ता**—निकलती है, निकल कर। **पाडलिसंडं**—पाटलिषंड। **णगर**—नगर के। **मज्झंमज्झेणं**—मध्यभाग से। **निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता**—निकलती है, निकल कर। **जेणेव**—जहां। **पुक्खरिणीए**—पुष्करिणी—बावड़ी का। **तीरे**—तट था। **तेणेव**—वहां पर। **उवागच्छति उवागच्छित्ता**—आजाती है, आकर। **पुक्खरिणीए तीरे**—पुष्करिणी के किनारे—तट पर। **सुबहुं**—बहुत से। **पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं**—पुष्पों, वस्त्रों, गन्धों, मालाओं और अलंकारों को। **ठवेति ठवित्ता**—रख देती है, रख कर। **पुक्खरिणिं**—बावड़ी में। **ओगाहेति ओगाहित्ता**—प्रवेश करती है, प्रवेश करके। **जलमज्जणं**—जलमज्जन—जल में गोते लगाना। **करेति**—करती है, तथा। **जलकिड्डं**—जलक्रीडा। **करेति**—करती है। **एहाया**—स्नान किये हुए। **कयकोउयमंगला** कौतुक—मस्तक पर तिलक तथा मांगलिक कृत्य करके। **उल्लपडसाडिया**—आर्द्र

निर्गत्य पुष्करिण्यास्तीरं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य पुष्करिण्यास्तीरे सुबहु पुष्पवस्त्रगंधमाल्यालंकारं स्थापयति स्थापयित्वा पुष्करिणीमवगाहते अवगाह्य जलमज्जनं करोति, जलक्रीडां करोति कृत्वा स्नाता कृतकौतुकमंगला, आर्द्रपटशाटिका पुष्करिण्याः प्रत्यवतरति प्रत्यवतीर्य तं पुष्प० गृह्णाति गृहीत्वा यत्रैवोम्बरदत्तस्य यक्षस्य यक्षायतनं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य उम्बरदत्तस्य यक्षस्यालोके प्रणामं करोति लोमहस्तं परामृशति परामृश्य उम्बरदत्तं यक्षं लोमहस्तेन प्रमार्ष्टि प्रमार्ज्य दकधारयाऽभ्युक्षति अभ्युक्ष्य पक्ष्मल० गात्रयष्टिमवरूक्षयति (शुष्कं करोति प्रोञ्छतीत्यर्थः) अवरूक्ष्य श्वेतानि वस्त्राणि परिधापयति परिधाप्य महार्हं पुष्पारोहणं, वस्त्रारोहणं, माल्यारोहणं, गन्धारोहणं, चूर्णारोहणं करोति कृत्वा धूपं दहति दग्ध्वा जानुपादपतिता एवमवादीत्—यद्यहं देवानुप्रियाः! दारकं वा दारिकां वा प्रजन्ये ततो यावदुपयाचते उपयाच्य यस्या एव दिशः प्रादुर्भूता तस्या एव दिशः प्रतिगता।

पट तथा शाटिका पहने हुए । **पुक्खरिणीए**—पुष्करिणी से । **पच्चुत्तरति पच्चुत्तरित्ता**—बाहिर आती है, बाहिर आकर । **तं**—उस । **पुप्फ०**—पुष्प वस्त्रादि को । **गेण्हति गेण्हित्ता** - ग्रहण करती है, ग्रहण कर । **जेणेव**—जहां । **उम्बरदत्तस्स**—उम्बरदत्त । **जक्खस्स**—यक्ष का । **जक्खायतणे**—यक्षायतन - स्थान था । **तेणेव**—वहां पर । **उवागच्छइ उवागच्छित्ता**—आ जाती है, आ कर । **उम्बरदत्तस्स**—उम्बरदत्त । **जक्खस्स** - यक्ष का । **आलोए**—आलोकन कर लेने पर । **पणामं**—प्रणाम । **करेति करित्ता**—करती है, प्रणाम करके । **लोमहत्थं**—लोमहस्त—मोरपिच्छी को । **परामुसति**—ग्रहण करती है । **परामुसित्ता**—ग्रहण कर । **उंबरदत्तं जक्खं** - उम्बरदत्त यक्ष की । **लोमहत्थएणं**—लोमहस्तक से—मयूरपिच्छनिर्मित प्रमार्जिनी से । **पमज्जति पमज्जित्ता**—प्रमार्जना करती है, उस का रज दूर करती है, प्रमार्जन कर । **दगधाराए**—जलधारा से । **अब्भुक्खेति अब्भुक्खित्ता**—स्नान कराती है, स्नान करा कर । **पम्हल०** - पक्ष्मयुक्त—रोमों वाले तथा कषाय रंग से रंगे हुए सुगंधयुक्त सुन्दर वस्त्र से । **गायलट्ठि**—गात्रयष्टि को—उस के शरीर को । **ओलूहेति ओलूहित्ता**—पोंछती है, पोंछ कर । **सेयाइं**—श्वेत । **वत्थाइं**—वस्त्रों को । **परिहेति परिहित्ता**—पहनाती है, पहना कर । **महरिहं**—महार्ह—बड़ों के योग्य । **पुप्फारुहणं**—पुष्पारोहण—पुष्पार्पण करती है, पुष्प चढ़ाती है । **वत्थारुहणं**—वस्त्रारोहण—वस्त्रार्पण । **मल्लारुहणं**—मालार्पण । **गंधारुहणं**—गन्धार्पण और । **चुण्णारुहणं**—चूर्ण (नैवेद्यविशेष अर्थात् देवता को अर्पण किये जाने वाले केसर आदि पदार्थ) को अर्पण । **करेति करित्ता**—करती है, करके । **धूवं**—धूप को । **डहति डहित्ता**—जलाती है, जलाकर । **जाणुपायपडिया**—घुटनों के बल उस यक्ष के चरणों में पड़ी हुई । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी** कहती है । **देवाणुप्पिया !**—हे देवानुप्रिय ! । **जति णं**—यदि । **अहं**—मैं । **दारगं वा**—जीवित रहने वाले बालक अथवा । **दारिगं वा**—बालिका को । **पयामि**—जन्म दूं । **तो णं**—तो मैं । **जाव**—यावत् । **उवाइणति उवाइणित्ता**—याचना करती है अर्थात् मन्नत मनाती है, मन्नत मनाकर । **जामेव दिसं**—जिस दिशा से । **पाउब्भूता**—आई थी । **तामेव दिसं**—उसी दिशा की ओर । **पडिगता**—चली गई ।

मूलार्थ—तब सागरदत्त सार्थवाह से अभ्यनुज्ञात हुई अर्थात् आज्ञा मिल जाने पर वह गंगादत्ता भार्या विविध प्रकार के पुष्प वस्त्रादि रूप पूजासामग्री ले कर मित्रादि की महिलाओं के साथ अपने घर से निकली और पाटलिषण्ड नगर के मध्य से होती हुई एक पुष्करिणी—वापी के समीप जा पहुंची, वहां पुष्करिणी के किनारे पुष्पों, वस्त्रों, गन्धों, माल्यों और अलंकारों को रख कर उसने पुष्करिणी में प्रवेश किया, वहां जलमज्जन और जलक्रीडा कर कौतुक तथा मंगल (मांगलिक क्रियायें) करके एक आर्द्र पट और शाटिका धारण किए हुए वह पुष्करिणी से बाहिर आई, बाहिर आकर उक्त पुष्पादि पूजासामग्री को लेकर उम्बरदत्त यक्ष के यक्षायतन के पास पहुंची और वहां उसने यक्ष को नमस्कार किया, फिर लोमहस्तक—मयूरपिच्छ लेकर उसके द्वारा यक्षप्रतिमा का प्रमार्जन किया, तत्पश्चात् जलधारा से उस को (यक्षप्रतिमा को) स्नान कराया, फिर कषाय रंग वाले—गेरू जैसे रंग से रंगे हुए सुगन्धित एवं सरोम—सुकोमल वस्त्र से उस के अंगों को पोंछा, पोंछ कर श्वेत वस्त्र पहनाया, वस्त्र पहिना कर महार्ह—बड़ों के योग्य पुष्पारोहण, वस्त्रारोहण, गन्धारोहण, माल्यारोहण और चूर्णारोहण किया । तत्पश्चात् धूप धुखाती है, धूप धुखा कर यक्ष के आगे घुटने टेक कर पांव में पड कर इस प्रकार निवेदन करती है—

हे देवानुप्रिय ! यदि मैं एक भी (जीवित रहने वाले) पुत्र या पुत्री को जन्म

दू' तो यथावत् याचना करती है अर्थात् मन्नत मनाती है मन्नत मना कर जिधर से आ थी उधर को चली जाती है।

टीका-जिस समय श्रेष्ठिभार्या गंगादत्ता को उस के विचारानुसार कार्य करने की पतिदेव की तर्फ से आज्ञा मिल गई और उपयुक्त सामग्री ला देने का उसे वचन दे दिया गया, तब गंगादत्ता को बड़ी प्रसन्नता हुई तथा हर्षातिरेक से वह प्रफुल्लित हो उठी। उस ने नानाविध पुष्पादि की देवपूजा के योग्य सामग्री एकत्रित कर तथा मित्रादि की महिलाओं को साथ ले पाटलिषंड नगर के बीच में से होकर पुष्करिणी — बावड़ी (जो उद्यानगत यक्षमंदिर के समीप ही थी) की ओर प्रस्थान किया। पुष्करिणी के पास पहुंच कर उस के किनारे पुष्पादि सामग्री रखकर वह पुष्करिणी में प्रविष्ट हुई और जलस्नान करने लगी, स्नानादि से निवृत्त हो, [1]मांगलिक क्रियाएं कर भीगी हुई साड़ी पहने हुए तथा भीगा वस्त्र ऊपर ओढे हुए वह पुष्करिणी से बाहिर निकलती है, निकल कर उस ने रक्खी हुई देवपूजा की सामग्री उठाई, और उम्बरदत्त यक्ष के मंदिर की ओर चल पड़ी। वहां आकर उसने यक्ष को प्रणाम किया। तदनन्तर यक्ष-मंदिर में प्रवेश कर उस ने यक्षराज का पुष्पादि सामग्री द्वारा विधिवत् पूजन किया। प्रथम वह रोमहस्त—मोर के पंखों से झाडू से यक्षप्रतिमा का प्रमार्जन करती है, तदनन्तर जलधारा से उस को स्नान कराती है, स्नान के बाद अत्यन्त कोमल सुगन्धित कषायरंग के वस्त्र से उस के अंगों को पोंछती है, पोंछ कर श्वेतवस्त्र पहनाती है, तदनन्तर उस पर पुष्प और मालाएं चढाती है एवं उस के आगे चूर्ण—नैवेद्य रखती है और फिर धूप धूखाती है।

इस प्रकार पूजाविधि के समाप्त हो जाने पर यक्षप्रतिमा के आगे घुटने टेक और चरणों में सिर झुकाकर प्रार्थना करती हुई इस प्रकार कहती है कि हे देवानुप्रिय! आप के अनुग्रह से यदि मैं जीवित बालक अथवा बालिका को जन्म देकर माता बनने का सद्भाग्य प्राप्त करूं, तो मैं आप के मन्दिर में आ कर नानाविध सामग्री से आप की पूजा किया करूंगी और आप के नाम से दान दिया करूंगी तथा आप के देवभण्डार को पूर्णरूप से भरदूंगी, इस प्रकार उम्बरदत्त यक्ष की मन्नत मानकर वह अपने घर को वापिस आजाती है। यह सूत्र वर्णित कथावृत्त का सार है।

—'कयकोउयमंगला उल्लपडसाडिया—' इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में— "—**कौतुकानि मषीपुण्ड्रादीनि मंगलानि दध्यक्षतादीनि उल्लपडसाडिय त्ति पट: प्रावरणम् शाटको निवसनम्**—" इस प्रकार है। तात्पर्य यह है कपाल—मस्तक में किये जाने वाले तिलक का नाम **कौतुक** है और **मंगल** शब्द दधि तथा अक्षत—बिना टूटा हुआ चावल आदि का बोधक है। प्राचीन काल में काम करने से पूर्व तिलक का लगाना और दधि एवं अक्षत आदि का खाना मांगलिक कार्य समझा जाता था। एवं **पट** शब्द से ऊपर ओढने का वस्त्र और **शाटक** से नीचे पहनने की धोती का ग्रहण होता है।

"—**पुप्फ० मित्त० महिलाहिं**—" यहां का बिन्दु— **वत्थगन्धमल्लालंकारं गहाय बहूहिं मित्तणाइणियगसयणसंबन्धिपरिजण**-इन पदों का परिचायक है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ ११८ पर लिखा जा चुका है।

---

(१) यहां पर इतना ध्यान रहे कि श्रेष्ठिभार्या गंगादत्ता ने मांगलिक क्रियाएं बावडी के पानी में स्थित होकर नहीं की थीं, किन्तु बाहिर आकर बावडी की चार दीवारी पर बैठकर की थीं। तदनन्तर वह उस वापी की चार दीवारी से नीचे उतरती है, ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

चाहिये । इस का भावार्थ निम्नोक्त है—

पक्ष्म शब्द—अक्षिलोम आख के बाल तथा सूत्र आदि का अल्पभाग एव केश का अग्रभाग—इत्यादि अर्थो में प्रयुक्त होता है। पक्ष्म से युक्त **पक्ष्मल** कहलाता है, तब उक्त पद का—सुकोमल पक्ष्मल—रोम वाली सुगन्धित तथा कषायरग से रगी शाटिका धोती के द्वारा—यह अर्थ फलित होता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्त्र मे देव की प्रतिमा को पोंछा गया था वह कषाय रग का तथा बड़ा कोमल था, एव उसमे मे सुगन्ध आ रही थी।

—**तो गं जाव उवाइणति**—यहा पठित **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ ३ ७ पर पढ़े गये—**अहं तुब्भं जायं दायं च भागं च अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेस्सामि, त्ति कट्टु ओवाइयं**—इन पदों का सूचक है।

इस प्रकार यक्षदेव की पूजा को समाप्त कर उस की मन्नत मानने के बाद यथासमय गगादत्ता सेठानी को गर्भस्थिति हुई, इत्यादि वर्णन निम्नोक्त सूत्र मे किया जाता है—

मूल—[१] **तते गं से धन्नंतरी वेज्जे ततो नरगाओ अणतरं उव्वट्टित्ता इहेव पाडलिसंडे णगरे गंगादत्ताए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तते णं तीसे गंगादत्ताए भारियाए तिण्हं मासाणं वहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते—धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव फले, जाओ णं विउलं असणं ४ उवक्खडावेंति २ वहूहिं मित्त० जाव परिवुडाओ तं विपुलं असणं ४ सुरं च ६ पुप्फ० जाव गहाय पाडलिसंडं णगरं मज्झंमज्झेणं पडिनिक्खमंति २ जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छन्ति २ पुक्खरिणिं ओगाहेंति २ ण्हाया जाव पायच्छित्ताओ तं विउलं असणं ४ बहूणं मित्तनाति० सद्धिं आसादेंति ४ दोहलं विणेन्ति, एवं संपेहेति संपेहित्ता कल्लं जाव जलंते जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उवागच्छति २ सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—धन्नाओ णं ताओ जाव विणेंति, तं इच्छा-**

---

(१) छाया—तत स धन्वन्तरि वैद्य ततो नरकादनन्तरमुद्वृत्त्येहैव पाटलिषंडे नगरे गगादत्तायाः भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न । ततस्तस्या गंगादत्ताया भार्यायास्त्रिषु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु अयमेतद्रूपो दोहद प्रादुर्भूत—धन्यास्ता अम्बा यावत् फले, या विपुलमशन ४ उपस्कारयन्ति २ बहुभि मित्र० यावत् परिवृता तद् विपुलमशन ४ सुरा च ६ पुष्प० यावद् गृहीत्वा पाटलिषंडाद् नगराद् मध्यमध्येन प्रतिनिष्क्रामन्ति २ यत्रैव पुष्करिणी तत्रैवोपागच्छन्ति २ पुष्करिणीमवगाहन्ते २ स्नाता यावत् प्रायश्चित्ता तद् विपुलमशन ४ बहुभि मित्रज्ञाति० सार्द्धमास्वादयन्ति ४ दोहद विनयन्ति, एव सप्रेक्षते सप्रेक्ष्य कल्य यावज्ज्वलति यत्रैव सागरदत्त सार्थवाहस्तत्रैवोपागच्छति २ सागरदत्त सार्थवाहमेवमवादीत्—धन्यास्ता यावद् विनयन्ति, तदिच्छामि यावद् विनेतुम्, तत स सागरदत्तः सार्थवाहो गगादत्ताया भार्याया एतमर्थमनुजानाति । तत सा गगादत्ता सागरदत्तेन सार्थवाहेनाभ्यनुज्ञाता सती विपुलमशन ४ उपस्कारयति २ तद् विपुलमशनं ४ सुरा च ६ सबहु० पुष्प० परिग्राहयति २ बहुभिर्यावत् स्नाता कृत० यत्रैवोम्बरदत्तयक्षायतन यावद् धूप दहति २ यत्रैव पुष्करिणी तत्रैवोपागता । ततस्ता मित्र० यावद् महिला गगादत्ता सार्थवाही सर्वालकारविभूषिता कुर्वन्ति । तत सा गगादत्ता ताभि मित्र० अन्याभिश्च बहुभिर्नगरमहिलाभि सार्द्ध तद् विपुलमशन ४ सुरा च ६ आस्वादयन्ती दोहद विनयति २ यस्या एव दिशा प्रादुर्भूता तामेव दिश प्रतिगता । तत. सा गगादत्ता भार्या सपूर्णदोहदा ४ त गर्भ सुखसुखेन परिवहति ।

मि णं जाव विणित्तए। ततेणं से सागरदत्ते सत्थवाहे गंगादत्ताए भारियाए एयमट्ठं अणुजाणेति। तते णं सा गंगादत्ता सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाता समाणी विउलं असणं ४ उवक्खडावेति २ तं विउलं असणं ४ सुरं च ६ सुबहुं पुप्फ० परिगेण्हावेति २ बहूहिं जाव ण्हाया कय० जेणेव उंबरदत्तजक्खाययणे जाव धूवं डहति २ जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागता। तते णं ताओ मित्त० महिलाओ गंगादत्तं सत्थवाहिं सव्वालंकारविभूसियं करेंति। तते णं सा गंगादत्ता ताहिं मित्त० अन्नाहि य बहूहिं णगरमहिलाहिं सद्धिं तं विउलं असणं ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ दोहलं विणेति २ जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगता। तते णं सा गंगादत्ता भारिया संपुण्णदोहला ४ तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहति।

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर। से—वह। धन्नतरी—धन्वन्तरि। वेज्जे—वैद्य। ततो—उस। णरगाओ—नरक से। अणंतरं—अन्तररहित—सीधा। उवट्टित्ता—निकल कर। इहेव—इसी। पाडलिसंडे—पाटलिषण्ड। णगरे—नगर में। गंगादत्ताए—गंगादत्ता। भारियाए—भार्या की। कुच्छिंसि—कुक्षि—उदर में। पुत्तत्ताए—पुत्ररूप से। उववन्ने—उत्पन्न हुआ। ततेणं—तदनन्तर। तीसे—उस। गंगादत्ताए—गंगादत्ता। भारियाए—भार्या के। तिण्हं—तीन। मासाणं—मासों के। बहुपडिपुण्णाणं—लगभग पूर्ण होने पर। अयमेयारूवे—यह इस प्रकार का। दोहले—दोहद—गर्भिणी स्त्री का मनोरथ। पाउब्भूते—उत्पन्न हुआ। ताओ अम्मयाओ—वे माताएं। धण्णाओ णं—धन्य हैं। जाव—यावत्। फले—उन्हों ने ही जीवन के फल को प्राप्त किया हुआ है। जाओ णं—जो। विउलं—विपुल। असणं ४—अशन पानादिक। उवक्खडावति २—तैयार कराती हैं, करा कर। बहूहिं—अनेक। मित्त०—मित्र, ज्ञातिजन आदि की। जाव—यावत् महिलाओं से। परिवुडाओ—परिवृत—घिरी हुई। तं—उस। विउलं—विपुल। असणं ४—अशनादिक चतुर्विध आहार तथा। सुरं च ६—६ प्रकार के सुरा आदि पदार्थों और। पुप्फ०—पुष्पों। जाव—यावत् अर्थात् वस्त्रों, सुगन्धित पदार्थों, मालाओं और अलंकारों को। गहाय—लेकर। पाडलिसंडं—पाटलिषंड। णगर—नगर के। मज्झंमज्झेणं—मध्य भाग में से। पडिणिक्खमंति २—निकलती हैं, निकल कर। जेणेव—जहां। पुक्खरिणी—पुष्करिणी है। तेणेव—वहां। उवागच्छन्ति—आती हैं, आकर। पुक्खरिणिं—पुष्करिणी का। ओगाइंति २—अवगाहन करती हैं—उस में प्रवेश करती हैं, प्रवेश करके। ण्हाया—स्नान की हुई। जाव—यावत्। पायच्छित्ताओ—अशुभ स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिये मस्तक पर तिलक एवं मांगलिक कार्य की हुई। तं—उस। विउल—विपुल। असणं ४—अशनादि का। बहूहिं—अनेक मित्र, ज्ञातिजन आदि की महिलाओं के। सद्धिं—साथ। आसादेति ४—आस्वादनादि करती हैं, अपने। दोहलं—दोहद को। विणेंति—पूर्ण करती हैं। एवं—इस प्रकार। संपेहेति २—विचार करती है, विचार करके। कल्लं—प्रातःकाल। जाव—यावत्। जलंते—देदीप्यमान सूर्य के उदित हो जाने पर। जेणेव—जहां। सागरदत्ते—सागरदत्त। सत्थवाहे—सार्थवाह-संघनायक था। तेणेव—वहां पर। उवागच्छति २—आती है, आकर। सागरदत्त—सागरदत्त। सत्थवाहं—सार्थवाह को। एवं—इस प्रकार। वयासी—कहने लगी। धन्नाओ णं—धन्य हैं। ताओ अम्मयाओ—वे माताएं। जाव—यावत्। विणेंति—दोहद की पूर्ति करती हैं। तं—इस लिए। इच्छामि णं—मैं चाहती हूँ। जाव—यावत्। विणित्तए—अपने दोहद की पूर्ति करना। ततेणं—तदनन्तर। से—वह। सागरदत्ते—सागरदत्त। सत्थवाहे—सार्थवाह। गंगादत्ताए—गंगादत्ता। भारियाए—भार्या को। एयमट्ठं—इस अर्थ—प्रयोजन के लिये। अणुजाणेति—

आज्ञा दे देता है। **तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **गंगादत्ता**—गंगादत्ता। **सागरदत्तेणं**—सागरदत्त। **सत्थवाहेणं**—सार्थवाह से। **अब्भणुण्णाया समाणी**—अभ्यनुज्ञात हुई अर्थात् आज्ञा प्राप्त कर के। **विपुलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादिक। **उवक्खडावेति २**—तैयार कराती है, तैयार करा कर। **तं**—उस। **विपुलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादिक और। **सुरं च ६**—सुरा आदि छः प्रकार के मद्यों का। **सुबहुं**—बहुत ज़्यादा। **पुप्फ०** पुष्पादिक को। **परिगेण्हावेति २**—ग्रहण कराती है, कराकर। **बहूहिं**—अनेक। **जाव** यावत्। **ण्हाया**—स्नान कर। **कय०**—अशुभ स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिये मस्तक पर तिलक तथा अन्य मांगलिक कार्य करके। **जेणेव**—जहां पर। **उंबरदत्त-जक्खायतणे**—उम्बरदत्त यक्ष का आयतन—स्थान था। **जाव**—यावत्। **धूव**—धूप। **डहति २**—जलाती है, जला कर। **जेणेव**—जहां। **पुक्खरिणी**—पुष्करिणी थी। **तेणेव**—वहां पर। **उवागता**—आ गई। **तते णं**—तदनन्तर। **ताओ**—वे। **मित्त०**—मित्रादि की। **जाव**—यावत्। **महिलाओ**—महिलाएं। **गंगादत्तं**—गंगादत्ता। **सत्थवाहिं**—सार्थवाही को। **सव्वालंकारविभूसियं**—सर्व प्रकार से आभूषणों द्वारा अलंकृत। **करेंति**—करती हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **गंगादत्ता**—गंगादत्ता। **ताहिं**—उन। **मित्त०**—मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों की। **च**—तथा। **अन्नाहिं**—अन्य। **बहूहिं**—बहुत सी। **णगरमहिलाहिं**—नगर की महिलाओं के। **सद्धिं**—साथ। **तं**—उस। **विपुलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादिक चतुर्विध आहार। **च**—तथा। **सुरं ६**—छः प्रकार की सुरा आदि का। **आसाएमाणी ४**—आस्वादनादि करती हुई। **दोहदं**—दोहद को। **विणेति**—पूर्ण करती है, दोहद की पूर्ति के अनन्तर। **जामेव दिसं** जिस दिशा से। **पाउब्भूता**—आई थी। **तामेव दिसं**—उसी दिशा को। **पडिगता**—चली गई। **तते णं**—तदनन्तर। **सा गंगादत्ता**—वह गंगादत्ता। **भारिया**—भार्या। **संपुण्णदोहला ४**—सम्पूर्णदोहदा—जिसका दोहद पूर्ण हो चुका है, सम्मानितदोहदा—सम्मानित दोहद वाली, विनीतदोहदा विनीत दोहद वाली, व्युच्छिन्नदोहदा—व्यछिन्न दोहद वाली तथा सम्पन्नदोहदा—सम्पन्न दोहद वाली। **तं**—उस। **गब्भं**—गर्भ को। **सुहंसुहेणं**—सुखपूर्वक। **परिवहति**—धारण कर रही है, अर्थात् गर्भ का पोषण करती हुई सुखपूर्वक समय बिता रही है।

मूलार्थ—तदनन्तर वह धन्वन्तरि वैद्य का जीव नरक से निकल कर इसी पाटलिषण्ड नगर में गंगादत्ता भार्या की कुक्षि—उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ अर्थात् पुत्ररूप से गंगादत्ता के गर्भ में आया। लगभग तीन मास पूरे हो जाने पर गंगादत्ता श्रेष्ठिभार्या को यह निम्नोक्त दोहद—गर्भिणी स्त्री का मनोरथ उत्पन्न हुआ—

धन्य हैं वे माताएं यावत् उन्होंने ही जीवन के फल को प्राप्त किया है जो महान् अशनादिक तैयार करवाती है और अनेक मित्र ज्ञाति आदि की महिलाओं से परिवृत हो कर उस विपुल अशनादिक तथा पुष्पादि को साथ ले कर पाटलिषण्ड नगर के मध्य में से निकल कर पुष्करिणी पर जाती हैं, वहां—पुष्करिणी में प्रवेश कर जलस्नान एवं अशुभ स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिए मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक कार्य करके उस विपुल अशनादिक का मित्र, ज्ञातिजन आदि की महिलाओं के साथ आस्वादनादि करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं।

इस तरह विचार कर प्रातःकाल तेज से देदीप्यमान सूर्य के उदित हो जाने पर वह सागरदत्त माताएं के पास आती है, आकर सागरदत्त सार्थवाह से इस प्रकार कहने लगी कि हे स्वामिन्! वे सार्थवाह धन्य हैं, यावत् जो दोहद को पूर्ण करती हैं। अतः मैं भी अपने दोहद को पूर्ण करना

चाहती हूं।

तब सागरदत्त सार्थवाह इस बात के लिए अर्थात् दोहद की पूर्ति के लिए गंगादत्ता को आज्ञा दे देता है। सागरदत्त सेठ से आज्ञा प्राप्त कर गंगादत्ता पर्याप्त मात्रा मे अशनादिक चतुर्विध आहार की तैयारी करवाती है और उपस्कृत आहार एवं ६ प्रकार की सुरा आदि पदार्थ तथा बहुत सी पुष्पादिरूप पूजा सामग्री ले कर मित्र, ज्ञातिजन आदि की तथा और अन्य महिलाओं को साथ लेकर यावत् स्नान एवं अशुभ स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिए मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक अनुष्ठान करके उम्बरदत्त यक्ष के मन्दिर मे आ जाती है। वहां पूर्व की भान्ति पूजा कर धूप धुखाती है। तदनन्तर पुष्करिणी—बावडी मे आ जाती है। वहां पर साथ मे आने वाली मित्र ज्ञाति आदि का महिलाएं गंगादत्ता को सर्व अलंकारों से विभूषित करती हैं, तत्पश्चात् उन मित्रादि की महिलाओं तथा अन्य नगर की महिलाओं के साथ उस विपुल अशनादिक तथा षड्विध सुरा आदि का आस्वादनादि करती हुई गंगादत्ता अपने दोहद की पूर्ति करती है। इस प्रकार दोहद को पूर्ण कर वह वापिस अपने घर को आगई।

तदनन्तर सम्पूर्णदोहदा, सम्मानितदोहदा विनीतदोहदा, व्युच्छिन्नदोहदा, सम्पन्नदोहदा वह गंगादत्ता उस गर्भ को सुखपूर्वक धारण करती हुई सानन्द समय बिताने लगी।

टीका— भगवान् महावीर स्वामी कहने लगे कि गौतम ! जिस समय गंगादत्ता उक्त प्रकार का संकल्प करती है, उस समय वह धन्वन्तरि वैद्य का जीव नरकसम्बन्धी दुःसह वेदनाओं को भोगकर नरक की आयु को पूर्ण करके वहां से सीधा निकल कर इसी पाटलिषंड नगर में, नगर के प्रतिष्ठित सेठ सागरदत्त की गंगादत्ता भार्या के गर्भ मे पुत्ररूप मे उत्पन्न हुआ, और वह वहां पुष्ट होना लगा, अथच वृद्धि को प्राप्त करने लगा।

सेठानी गंगादत्ता की कुक्षि मे आये हुए धन्वन्तरि वैद्य के जीव को जब तीन मास होने लगे तो उसे जो दोहद उत्पन्न हुआ उस का तथा उसकी पूर्ति का उल्लेख मूलार्थ में करदिया गया है। जो कि अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता। गर्भिणी स्त्री को गर्भ के अनुरूप जो संकल्पविशेष उत्पन्न होता है, उसे शास्त्रीय परिभाषा मे **दोहद** कहते हैं।

"—**ताओ अम्मयाओ जाव फले**—" यहां पठित **जाव—यावत्** पद पृष्ठ ३९६ पर पढे गये "—**सपुण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ, कयत्थाओ ण ताओ अम्मयाओ कयलक्खणाओ ण ताओ अम्मयाओ तासिं च अम्मयाणं सुलद्धे जम्मजीविए**—" इन पदों का परिचायक है।

—**मित्त० जाव परिवुडाओ** - यहां पठित **जाव—यावत्** पद से —**णाइ-णियग-सयण-सम्बन्धि-परिजण-महिलाहिं**— इन पदो का ग्रहण समझना चाहिये। इन का अर्थ है मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों एवं परिजनों की महिलाओं से। तथा —**मित्र** आदि पदों की व्याख्या पृष्ठ १५० के टिप्पण मे की जा चुकी है।

—**पुप्फ० जाव गहाय**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से—**वत्थगन्धमल्लालंकारं** - इस पाठ का तथा —**ण्हाया जाव पायच्छित्ताओ**— यहां पठित **जाव—यावत्** पद से—**कयबलिकम्मा, कयकोउयमंगल**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। —**कयबलिकम्मा**—आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर किया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद एक पुरुष के विशेषण हैं, जब कि प्रस्तुत में अनेक स्त्रियों के। अतः लिंगगत तथा वचनगत अर्थभेद की भावना कर लेनी चाहिये है।

—आसादन्ति ४— यहां पर दिये गए ४ के अंक से—विसाएन्ति, परिभाएन्ति परिभुंजेन्ति—इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये। अर्थात् आस्वादन (थोडा खाना, बहुत छोड़ना इक्षुखण्ड-गन्ने की भान्ति), विस्वादन (अधिक खाना, थोडा छोडना खजूर की भान्ति), परिभाजन— दूसरों को बांटना तथा परिभोग—(सब खा जाना, रोटी आदि की भांति) करती हैं।

—कल्लं जाव जलन्ते —यहां पठित जाव —यावत् पद से विवक्षित पाठ पृष्ठ ४०७ पर लिखा जा चुका है। तथा—ताओ जाव विणंति—यहां पठित जाव —यावत् पद से पृष्ठ ४०९ पर पढे गये —अम्मयाओ जाव फले, जाओ णं विउलं असणं ४ उवक्खडावेंति २ बहूहिं मित्त० जाव परिवुडाओ—से लेकर—आसादेंति ४ दोहलं—यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

—बहूहिं जाव एहाया —यहां के जाव—यावत् पद से पृष्ठ ४०९ पर पढ़े गये—मित्त० जाव परिवुडाओ तं विउलं असणं ४ सुरं ६ पुप्फ० जाव गहाय पाडलिसंडं णगरं मज्झंमज्झेणं पडिनिक्खमन्ति २ जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छन्ति २ पुक्खरिणिं ओगाहेंति २—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

—कय० यहां के बिन्दु से—कोउयमंगलपायच्छित्ता—इस पाठ का ग्रहण करना चाहिये। इस का अर्थ पदार्थ में किया जा चुका है।

"—उम्बरदत्तजक्खाययणे जाव धूव —यहां पठित जाव —यावत् पद से पृष्ठ ४०६ पर पढे गये "—तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता उम्बरदत्तस्स जक्खस्स आलोए पणामं करेंति २ लोमहत्थं परामुसंति परामुसित्ता उम्बरदत्तं जक्खं लोमहत्थएणं पमज्जंति पमज्जित्ता दगधाराए अब्भुक्खेति अब्भुक्खित्ता पम्हल० गायलट्ठिं ओलूहेंति ओलूहित्ता सेयाइं वत्थाइं परिहेंति परिहित्ता महरिहं पुप्फारुहणं, वत्थारुहणं, गंधारुहणं, चुण्णारुहणं करेंति करित्ता—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है।

"—असणं ४— तथा—सुरं च ६—यहां के अंकों से विवक्षित पाठ का विवरण पृष्ठ २५० पर किया जा चुका है। तथा आसाएमाणी ४— यहां पर दिये ४ के अंक से— विसाएमाणी परिभाएमाणी, परिभुंजेमाणी—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १४५ पर दिया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये शब्द बहुवचनान्त हैं जब कि प्रस्तुत में एकवचनान्त। अतः अर्थ में एकवचन की भावना कर लेनी चाहिये।

—सम्पुण्णदोहला ४—यहां पर दिये गये ४ के अंक से विवक्षित—सम्माणियदोहला, विणीयदोहला, वोच्छिन्नदोहला सम्पन्नदोहला—इन पदों की व्याख्या पृष्ठ १४८ पर की जा चुकी है।

प्रस्तुत सूत्र में सेठानी गंगादत्ता के द्वारा देवपूजा करना तथा उसके गर्भ में धन्वंतरि वैद्य के जीव का आना, एवं दोहद की उत्पत्ति और उस की पूर्ति आदि का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार अग्रिम सूत्र में गर्भस्थ जीव के जन्म आदि का वर्णन करते हैं—

मूल— [1] ततेणं सा गंगादत्ता णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया।

(१) छाया—ततः सा गङ्गादत्ता नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारकं प्रयाता। स्थिति० यावद् नामधेयं कुरुत, यस्मादस्माकमयं दारक उम्बरदत्तस्य यक्षस्योपयाचितलब्धः तद् भवतु दारक उम्बरदत्तो नाम्ना। ततः स उम्बरदत्तो दारकः पञ्चधात्रीपरिगृहीतः यावत् परिवर्द्धते। ततः स सागरदत्तः सार्थवाहो यथा विजयमित्रः कालधर्मेण संयुक्तः। गङ्गादत्तापि। उम्बरदत्तोऽपि निष्कासितो यथोज्झितकः।

ठिति० जाव नामधेज्जं करेंति— जम्हा णं अम्हं इमे दारए उंबरदत्तस्स जक्खस्स उवाइयलद्धए, तं होउ णं दारए उंबरदत्ते नामेणं। तते णं से उंबरदत्ते दारए पंचधातीपरिग्गहिते जाव परिवड्ढति। तते णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जहा विजयमित्ते कालधम्मुणा संजुत्ते, गंगादत्ता वि, उम्बरदत्ते वि निच्छूढे जहा उज्झियए। तते णं तस्स उम्बरदत्तस्स अन्नया कयाइ सरीरगंसि जमगसमगमेव सोलस रोगायंका पाउब्भूया, तंजहा—१—सासे, २—खासे, जाव १६—कोढे। तते णं से उम्बरदत्ते दारए सोलसहिं रोगायंकेहिं अभिभूते समाणे सडियहत्थ० जाव विहरति। एवं खलु गोतमा! उम्बरदत्ते दारए पुरा जाव विहरति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। सा—उस। गंगादत्ता—गङ्गादत्ता ने। णवण्हं मासाणं—नवमास। बहुपडिपुण्णाणं—लगभग परिपूर्ण होने पर। दारगं—बालक को। पयाया—जन्म दिया। ठिति०—माता पिता ने स्थितिपतिता—पुत्रजन्मसम्बधी उत्सवविशेष। जाव—यावत्। नामधेज्ज करेंति—नामकरण सस्कार किया। जम्हा णं—जिस कारण। अम्हं—हमारा। इमे दारए—यह बालक। उम्बरदत्तस्स—उम्बरदत्त। जक्खस्स—यक्ष की। उवाइयलद्धए—मन्नत मानने से उपलब्ध हुआ है—प्राप्त हुआ है। तं—अत। होउ णं—हो। दारए—हमारा यह बालक। उम्बरदत्ते—उम्बरदत्त। नामेणं—नाम से। तते णं—तदनन्तर। से वह। उम्बरदत्ते—उम्बरदत्त। दारए—बालक। पंचधातीपरिग्गहिते—पच धाय माताओं से परिगृहीत हुआ। परिवड्ढति—वृद्धि को प्राप्त करने लगा। तते णं—तदनन्तर। से—वह। सागरदत्ते—सागरदत्त। सत्थवाहे—सार्थवाह—सघनायक। जहा—जिस प्रकार। विजयमित्ते—विजयमित्र का वर्णन किया है, तद्वत्। कालधम्मुणा—कालधर्म से सयुक्त हुआ अर्थात् मर गया। गंगादत्ता वि—गङ्गादत्ता भी कालधर्म को प्राप्त हुई। उम्बरदत्ते वि—उम्बरदत्त भी। निच्छूढे घर से बाहिर निकाल दिया गया। जहा—जैसे। उज्झियए—उज्झितक कुमार अर्थात् उस का घर से निकलना द्वितीय अध्ययन मे वर्णित उज्झितक कुमार के समान जान लेना चाहिये। तते णं—तदनन्तर। अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय। तस्स—उस। उम्बरदत्तस्स—उम्बरदत्त के सरीरगंसि शरीर में। जमगसमगमेव—एक ही समय म सोलस—सोलह प्रकार के। रोगायंका रोगातक—भयकर रोग। पाउब्भूता—प्रादुर्भूत हुए—उत्पन्न हो गये। तंजहा—जैसे कि। १—सासे—१—श्वास। २—खासे—२—कास—खासी जाव यावत्। १६—कोढे—१६—कुष्ठ रोग तते णं—तदनन्तर। से—वह। उम्बरदत्ते—उम्बरदत्त। दारए—बालक। सोलसहिं—सोलह प्रकार के। रोगायंकेहिं—रोगातकों से। अभिभूते समाणे—अभिभूत हुआ। सडियहत्थ०—गले हुए हस्तादि से युक्त। जाव यावत्। विहरति—समय व्यतीत कर रहा है। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। गोतमा!—हे गौतम! उम्बरदत्ते दारए उम्बरदत्त बालक। पुरा—पुरातन। जाव—यावत् कर्मों को भोगता हुआ। विहरति—समय बिता रहा है।

मूलार्थ—तत्पश्चात् लगभग नव मास परिपूर्ण हो जाने पर गंगादत्ता ने एक बालक को जन्म दिया। माता पिता ने स्थितिपतिता नामक उत्सवविशेष मनाया और बालक उम्बरदत्त यक्ष की मन्नत

ततस्तस्योम्बरदत्तस्यान्यदा कदाचित् शरीरे युगपदेव षोडश रोगातका प्रादुर्भूता। तद्यथा—१-श्वास, २-कास यावत् १६-कुष्ठ। तत स उम्बरदत्तो दारक षोडशभी रोगातकैरभिभूत सन् शटितहस्त० यावद् विहरति। एव खलु गौतम! उम्बरदत्तो दारक पुरा यावद् विहरति।

मानने से प्राप्त हुआ है, इस लिए इन्हों ने इस का उम्बरदत्त यह नाम रखा, अर्थात् माता पिता ने उस का उम्बरदत्त नाम स्थापित किया।

तदनन्तर उम्बरदत्त बालक पांच धाय माताओं से सुरक्षित हो कर वृद्धि को प्राप्त करने लगा। तदनन्तर अर्थात् उम्बरदत्त के युवा हो जाने पर विजयमित्र की भान्ति सागरदत्त सार्थवाह समुद्र में जहाज के जलनिमग्न हो जाने के कारण कालधर्म को प्राप्त हुआ तथा गंगादत्ता भी पतिवियोगजन्य असह्य दुःख से दुःखी हुई कालधर्म को प्राप्त हुई, तथा उज्झितक कुमार की तरह उम्बरदत्त को भी घर से बाहिर निकाल दिया गया।

तत्पश्चात् किसी अन्य समय उम्बरदत्त के शरीर में एक ही साथ सोलह प्रकार के रोगान्तक उत्पन्न हो गये, जैसेकि—१—श्वास, २—कास यावत् १६—कुष्ठ रोग। इन सोलह प्रकार के रोगान्तकों—भयंकर रोगों से अभिभूत—व्याप्त हुआ उम्बरदत्त यावत् हस्तादि के सड़ जाने से दुःखपूर्ण जीवन बिता रहा है।

भगवान् कहते हैं कि हे गौतम! इस प्रकार उम्बरदत्त बालक पूर्वकृत अशुभ कर्मों का यह भयंकर फल भोगता हुआ इस भान्ति समय व्यतीत कर रहा है।

टीका—शास्त्रों में गर्भस्थिति का वर्णन लगभग सवा नौ महीने का पाया जाता है, इतने समय में गर्भस्थ प्राणी के अंगोपांग पूर्णरूप से तैयार हो जाते हैं और फिर वह जन्म ले लेता है। श्रेष्ठिभार्या गंगादत्ता के गर्भ का भी काल पूर्ण होने पर उसने एक नितान्त सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक के जन्मते ही सेठ सागरदत्त को चारों ओर से बधाइयां मिलने लगीं। सागरदत्त को भी पुत्रजन्म में बड़ी खुशी हुई और गंगादत्ता की खुशी का तो कुछ पारावार ही नहीं था। दम्पती ने पुत्र—जन्म की खुशी में जी खोलकर धन लुटाया। कुलमर्यादा के अनुसार बालक का जन्मोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया और जन्म से बारहवें दिन जब नामकरण का समय आया तो सेठ सागरदत्त ने अपनी सारी जाति को तथा अन्य सगे सम्बन्धियों एवं मित्रादियों को आमंत्रित किया और सबको प्रीतिभोजन कराया। तत्पश्चात् सभी के सन्मुख बालक के नाम की उद्घोषणा करते हुए कहा कि प्रियबन्धुओ! मुझे यह बालक अन्तिम आयु में मिला है और मिला भी उम्बरदत्त यक्ष के अनुग्रह से है अर्थात् उसको मन्नत मानने के अनन्तर ही यह उत्पन्न हुआ है अतः मेरे विचारानुसार इसका उम्बरदत्त (उम्बर का दिया हुआ) नाम रखना ही समुचित है। सागरदत्त के इस प्रस्ताव का सबने समर्थन किया और तब से नवजात बालक उम्बरदत्त के नाम से पुकारा जाने लगा।

बालक उम्बरदत्त १—दूध पिलाने वाली, २—स्नान कराने वाली, ३—गोद में उठाने वाली, ४ क्रीड़ा कराने वाली, और ५—शृंगार कराने वाली—शरीर को सजाने वाली, इन पांच धाय माताओं के प्रबन्ध में पालित और पोषित होता हुआ बढ़ने लगा। शनैः २ शैशव अवस्था का अतिक्रम करके युवावस्था में पदार्पण करने लगा। तात्पर्य यह है कि बालभाव को त्याग कर वह युवावस्था को प्राप्त हो गया।

शास्त्रों में लिखा है कि कर्मों का प्रभाव बड़ा विचित्र होता है शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म समय पर अपना पूरा २ प्रभाव दिखलाते हैं। इस संसारी जीव के जिस समय शुभ कर्म उदय में आते हैं तब वह हर प्रकार से सुख का ही उपभोग करता है। उस समय वह यदि मिट्टी को भी हाथ डालता है तो वह भी सोना बन जाती है, और इसके अशुभ कर्म के उदय

में आने पर सुखी जीव भी दुःखों का केन्द्र बन जाता है। उसको चारों ओर दुःख के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता। वह यदि सुवर्ण को छू ले तो वह भी उसके अशुभ कर्म के प्रभाव से मिट्टी बन जाता है। साराश यह है कि प्राणि मात्र की जीवनयात्रा कर्मों से नियंत्रित है उस के अधीन हो कर ही उसे अपनी मानवलीला का सम्वरण या विस्तार करना होता है। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही संसार में सुख और दुःख का चक्र भ्रमण कर रहा है अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के अनन्तर सुख यह चक्र बराबर नियमित रूप से चलता रहता है

बालक उम्बरदत्त अभी पूरा युवक भी नहीं हो पाया था कि फलोन्मुख हुए अशुभ कर्मों ने उसे आ दबाया। प्रथम तो सेठ सागरदत्त का समुद्र में जहाज के जलमग्न हो जाने के कारण अकस्मात् ही देहान्त हो गया और उसके बाद पतिविरह से अधिकाधिक दुःखित हुई सेठानी गंगादत्ता ने भी अपने पतिदेव के मार्ग का ही अनुसरण किया। दोनों ही परलोक के पथिक बन गये तत्पश्चात् अनाथ हुए उम्बरदत्त की पैतृक जंगम तथा स्थावर सम्पत्ति पर दूसरों ने अधिकार जमा लिया और राज्य की सहायता से उसको घरसे बाहिर निकाल दिया गया। कुछ दिन पहले उम्बरदत्त नाम का जो बालक अनेक दास और दासियों से घिरा रहता था। आज उसे कोई पूछता तक नहीं। अशुभ कर्मों के प्रभाव की उष्णता अभी इतने मात्र से ही ठंडी नहीं पड़ी थी किन्तु उसमें और भी उत्तेजना आ गई, उम्बरदत्त के नीरोग शरीर पर रोगों का आक्रमण हुआ वह भी एक दो का नहीं किन्तु सोलह का और वह भी क्रमिक नहीं किन्तु एक बार ही हुआ। रोग भी सामान्य रोग नहीं किन्तु महारोग उत्पन्न हुए। १ श्वास, २ कास और ३— भगंदर से लेकर १६—कुष्ठपर्यन्त १६ प्रकार के महारोगों के एक बार ही आक्रमण से उम्बरदत्त का कांचन जैसा शरीर नितान्त विकृत अथच नष्टप्राय हो गया। उसके हाथ पांव गल सड़ गये। शरीर में से रुधिर और पूय बहने लगा। कोई पास में खड़ा नहीं होने देता इत्यादि। देखा कर्मों का भयंकर प्रभाव !, कहां वह शैशवकाल का वैभवपूर्ण सुखमय जीवन और कहां यह तरुणकालीन दुःखपूर्ण भयावह स्थिति ?, कर्मदेव। तुझे धन्य है

भगवान् महावीर बोले गौतम ! यह सेठ सागरदत्त और सेठानी गंगादत्ता का प्रियपुत्र उम्बरदत्त है, जिसे तुमने नगर के चारों दिग्द्वारों में प्रवेश करते हुए देखा है तथा जिसे देख कर करुणा के मारे तुम कांप उठे हो। प्रमादी जीव कर्म करते समय तो कुछ विचार करता नहीं और जब उन के फल देने का समय आता है तो उसे भोगता हुआ रोता और चिल्लाता है परन्तु इस रोने और चिल्लाने को सुने कौन ?, जिस जीव ने अपने पूर्व के भवों में नानाप्रकार के जीव जन्तुओं को तड़पाया हो, दुःखी किया हो तथा उन के मांस से अपने शरीर को पुष्ट किया हो उस को आगामी भवों में दुःख-पूर्ण जीवन प्राप्त होना अनिवार्य होता है। यह जो आज रोगाक्रान्त हो कर तड़प रहा है वह इसी के पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का प्रत्यक्ष फल है।

" **ठिति० जाव नामधेज्जं—**" यहां पठित **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ १५६ पर पढ़े गए "**—ठितिपडियं च चन्दसूरदंसणं च जागरियं च महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं करेंति, तते णं तस्स दारगस्स अम्मापितरो एक्कारसमे दिवसे निव्वत्ते संपत्ते बारसाहे अयमेयारूवं गोण्णं गुणनिप्फन्नं—**" इन पदों का ग्रहण करना चाहिये।

"**—पंचधातीपरिग्गहिते जाव परिवड्ढति**—" यहां पठित **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ १५७ पर पढ़े गए **—तंजहा—खीरधातीए १ मज्जण०—** से ले कर **—सुहंसुहेणं—**यहां तक के पदों का ग्रहण करना चाहिये।

तथा प्रकृत सूत्रपाठ में उल्लेख किये गये—"जहा विजयमित्ते कालधम्मुणा संजुत्ते गंगादत्ता वि—" तथा "—उम्बरदत्ते वि निच्छूढे जहा उज्झियए—" इन पदों से दुःखविपाक के उज्झितक नाम के दूसरे अध्ययन का स्मरण कराया गया है। तात्पर्य यह है कि उम्बरदत्त के विषय में—माता पिता का देहान्त और घर से निकाला जाना—यह सब वर्णन उज्झितक कुमार की तरह जान लेना चाहिये।

तथा "—१—सासे, २—खासे जाव १६—कोढे—" यहां पठित जाव—यावत् पद से प्रथम अध्ययनगत पृष्ठ ५७ पर पढ़े गए "—३—जरे, ४—दाहे, ५—कुच्छिसूले, ६—भगंदरे, ७—अरिसे, ८—अजीरए, ९—दिट्ठी, १०—मुद्धसूले, ११—अकारए, १२—अच्छिवेयणा, १३—कण्णवेयणा, १४—कण्डू, १५—दओदरे—" इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों की व्याख्या पृष्ठ ५९ से लेकर पृष्ठ ६४ तक की जा चुकी है।

—सडियहत्थ० जाव विहरति—यहां के—जाव—यावत्—पद से पृष्ठ ३७६ पर पढ़े गए "—कुच्छिए, सडियपायंगुलिए, सडियकण्णनासिए—से ले कर—देहबलियाए वित्तिं कप्पेमाणे—", यहां तक के पदों का ग्रहण करना चाहिए। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद द्वितीयान्त हैं, जब कि प्रस्तुत में एकवचनान्त पदों का ग्रहण करना अपेक्षित है। अतः अर्थ में एकवचनान्त पदों की भावना कर लेनी चाहिये।

—पुरा जाव विहरति—यहां पठित जाव—यावत्—पद से विवक्षित पाठ पृष्ठ २७१ पर लिखा जा चुका है।

प्रस्तुत कथासन्दर्भ में जो यह लिखा है कि सेठ सागरदत्त तथा सेठानी गंगादत्ता ने बालक का नाम उम्बरदत्त इसलिये रखा था कि वह उम्बरदत्त यक्ष के अनुग्रह से अर्थात् उस की मनौती मानने से संप्राप्त हुआ था, इस पर यह आशंका होती है कि कर्मसिद्धान्त के अनुसार जो नारी किसी भी जीवित संतति को उपलब्ध नहीं कर सकती, फिर वह एक यक्ष की पूजा करने या मनौती मानने मात्र से किसी जीवित संतति को कैसे उपलब्ध कर लेती है ?, क्या ऐसी स्थिति में कर्मसिद्धान्त का व्याघात नहीं होने पाता ?, इस आशंका का उत्तर निम्नोक्त है—

शास्त्रों में लिखा है कि जो कुछ भी प्राप्त होता है वह जीव के अपने पूर्वोपार्जित कर्मों के कारण ही होता है। कर्महीन प्राणी लाख प्रयत्न कर लेने पर भी अभिलषित वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता जब कि कर्म के सहयोगी होने पर वह अनायास ही उसे उपलब्ध कर लेता है। अतः गंगादत्ता सेठानी को जो जीवित पुत्र की संप्राप्ति हुई है, वह उसके किसी प्राक्तन पुण्यकर्म का ही परिणाम है, फिर भले ही वह कर्म उसकी अनेकानेक संतानों के विनष्ट हो जाने के अनन्तर उदय में आया था। साराश यह है कि गंगादत्ता को जो जीवित पुत्र की उपलब्धि हुई है वह उसके किसी पूर्वसंचित पुण्यविशेष का ही फल समझना चाहिये। उसमें कर्मसिद्धान्त के व्याघात वाली कोई बात नहीं है। अस्तु, अब पाठक यक्ष की मनौती का उस बालक के साथ क्या सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न के उत्तर को सुनें—

न्यायशास्त्र में समवायी, असमवायी और निमित्त ये तीन कारण[1] माने गये हैं। जिस

(१) कारणं त्रिविधं समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा—तन्तवः पटस्य। पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायिकारणम्। यथा—तन्तुसंयोगः पटस्य। तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा—तुरीवेमादिकं पटस्य। (तर्कसंग्रह)

में समवाय सम्बन्ध (नित्यसबंध) से कार्य की निष्पत्ति—उत्पत्ति हो उसे **समवायी कारण** कहते हैं। जैसे पट (वस्त्र) का समवायी कारण तन्तु (धागे) हैं। समवायी कारण को **उपादानकारण** या **मूलकारण** भी कहा जाता है।

कार्य अथवा कारण (समवायी कारण) के साथ जो एक पदार्थ में समवायसम्बन्ध से रहता है, वह **असमवायी कारण** कहलाता है। जैसे तन्तुसयोग पट का असमवायी कारण है। तात्पर्य यह है कि तन्तु मे ततुसयोग और पट ये दोनों समवायसम्बध से रहते हैं, इसलिये ततु-सयोग पट का असमवायी कारण कहा गया है।

समवायी और असमवायी इन दोनों कारणो से भिन्न कारण को **निमित्त कारण** कहा जाता है। जैसे—जुलाहा, तुरी (जुलाहे का एक प्रकार का औजार) आदि पट के निमित्त कारण हैं।

प्रस्तुत में हमें उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों का आश्रयण इष्ट है। जीव को जो सुख दुःख की उपलब्धि होती है उस का उपादान कारण उस का अपना पूर्वोपार्जित शुभा-शुभ कर्म है, और फल की प्राप्ति में जो भी सहायक सामग्री उपस्थित होती है वह सब निमित्त कारण मे सगृहीत होती है। निमित्त कारण को अधिक स्पष्ट करने के लिये एक स्थूल उदाहरण लीजिये—

कल्पना करो, एक कुम्भकार **घट**—घडा बनाता है। घट पदार्थ मे मिट्टी उसका मूलकारण है, और कुम्भकार—कुम्हार, चाक, डोरी आदि सब उस में निमित्त कारण हैं। इसी भान्ति अन्य पदार्थों में भी उपादान और निमित्त इन दोनो कारणो की अवस्थिति बराबर चलती रहती है।

शास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है कि शुभाशुभ कर्मफल की प्राप्ति में अनेकानेक निमित्त उपलब्ध होते हैं। उन मे देव—यक्ष भी एक होता है दूसरे शब्दो में देवता भी शुभाशुभ कर्मफल के उपभोग में (१)निमित्तकारण बन सकता है, अर्थात् देव उस मे सहायक हो सकता है।

देव की सहायता के शास्त्रों मे अनेकों प्रकार उपलब्ध होते हैं **कल्पसूत्र** में लिखा है कि हरिण-गमेषी देव ने गर्भस्थ **भगवान महावीर** का परिवर्तन किया था। **अन्तकृद्दशाङ्गसूत्र** मे लिखा है कि देव ने सुलसा और देवकी की सन्तानों का परिवर्तन किया था, अर्थात् देवकी की संतान सुलसा के पास और सुलसा की सन्तानें देवकी के पास पहुँचाई थीं। **ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र** मे लिखा है कि **अभयकुमार** के मित्र देव ने अकाल में मेघ बना कर माता धारिणी के दोहद को पूर्ण किया था। **उपासकदशाङ्गसूत्र** मे लिखा है कि देव ने कामदेव श्रावक को अधिकाधिक पीडित किया था। इस के अतिरिक्त भगवान् महावीर को लगातार छ महीने सगमदेवकृत उपसर्गो को सहन करना पडा था, इत्यादि अनेकों उदाहरण शास्त्रों में अवस्थित हैं। परन्तु प्रस्तुत मे गङ्गादत्ता को जीवित पुत्र की प्राप्ति मे उम्बरदत्त यक्ष ने क्या सहायता की है? इस के सम्बन्ध

(१) **स्थानाङ्गसूत्र**—के पंचम स्थान के द्वितीय उद्देश्य मे लिखा है कि पुरुष के सहवास मे रहने पर भी स्त्री ५ कारणो से गर्भ धारण नहीं करने पाती। उन कारणों मे—**पुरा वा देवकम्मुणा**—यह भी एक कारण माना है। वृत्तिकार के शब्दो मे इस की व्याख्या—**पुरा वा पूर्वं वा गर्भावसरात देवकर्मणा देवक्रियया देवानुभावेन शक्त्युपघात स्यादिति शेष**। **अथवा देवश्च कार्मणं च तथाविधद्रव्य-संयोगो देवकार्मणं तस्मादिति**—इस प्रकार है अर्थात् गर्भावसर से पूर्व ही देवक्रिया के द्वारा गर्भ-धारण की शक्ति का उपघात होने से, अथवा—देव और कार्मण—तन्त्र आदि की विद्या अर्थात् जादू से गर्भधारण की शक्ति के विनाश कर देने से। तात्पर्य यह है कि—**देवता रुष्ट हो कर गर्भधारण की सभी सामग्री उपस्थित होने पर भी गर्भ को धारण नहीं होने देता**। इस वर्णन मे देवता शुभाशुभ कर्म के फल मे निमित्त कारण बन जा सकता है—यह सुतरां प्रमाणित हो जाता है।

में सूत्रकार मौन हैं। हमारे विचार में तो प्रस्तुत में यही बात प्रतीत होती है कि गङ्गादत्ता के मृत—वत्सात्व दोष के उपशमन का समय आ गया था और उस की कामना की पूर्ति करने वाला कोई पुण्य कर्म उदयोन्मुख हुआ। परिणाम यह हुआ कि उसे जीवित पुत्र की प्राप्ति हो गई। वह पुत्रप्राप्ति यक्ष के आराधन के पश्चात् हुई थी, इसलिये व्यवहार में वह उस की प्राप्ति में कारण समझा जाने लगा। **रहस्यं तु केवलिगम्यम्**।

जो लोग किसी पुत्रादि को उपलब्ध करने के उद्देश्य से देवों की पूजा करते हैं, और पूर्वोपार्जित किसी पुण्यकर्म के सहयोगी होने के कारण पुत्रादि की प्राप्ति कर लेने पर भक्तिरत्ना—तिरेक से उसे देवदत्त ही मान लेते हैं, अर्थात् पुत्रादि की प्राप्ति में देव को उपादान कारण मान बैठते हैं, वे नितान्त भूल करते हैं, क्योंकि यदि पूर्वोपार्जित कर्म विद्यमान हैं तो उस में देव सहायक बन सकता है, इस के विपरीत यदि पूर्व कर्म सहयोगी नहीं है तो एक बार नहीं, अनेकों बार देवपूजा की जावे या देव की एक नहीं लाखों मनौतिएं मान ली जाएं तो भी देव कुछ नहीं कर सकता। साराश यह है कि किसी भी कार्य की सिद्धि में देव निमित्त कारण भले ही हो जाय, परन्तु वह उपादान कारण तो त्रिकाल में भी नहीं बन सकता। अत देव को उपादान कारण समझने का विश्वास शास्त्रसम्मत न होने से हेय है एवं त्याज्य है।

प्रश्न—किसी भी कार्य की सिद्धि में देव उपादानकारण नहीं बन सकता, यह ठीक है परंतु वह कर्मफल के प्रदान में निमित्त कारण तो बन सकता है, उस में कोई सैद्धान्तिक बाधा नहीं आती, फिर उस के पूजन का निषेध क्या देखा जाता है?

उत्तर—संसार में दो प्रकार की प्रवृत्तियें पाई जाती हैं। प्रथम संसारमूलक और दूसरी मोक्षमूलक। ससारमूलक प्रवृत्ति सासारिक जीवन की पोषिका होती है, जब कि मोक्षमूलक प्रवृत्ति उस के शोषण का और आत्मा को उस के वास्तविकरूप में लाने अर्थात् आत्मा को परमात्मा बनाने का कारण बनती है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमूलक प्रवृत्ति मात्र आध्यात्मिकता की प्रगति का कारण बनती है जब कि ससारमूलक प्रवृत्ति जन्ममरण रूप ससार के सवर्धन का।

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है, वह आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए सर्वतोमुखी प्रेरणा करता है। आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य परमसाध्य निर्वाणपद को उपलब्ध करना होता है। सासारिक जीवन उस के लिये बंधनरूप होता है, इसी लिए वह उसे अपनी प्रगति में बाधक समझता है। जन्म मरण के दुःखों की पोषिका कोई भी प्रवृत्ति उस के लिये हेय एवं त्याज्य होती है। साराश यह है कि आध्यात्मिकता के पथ का पथिक साधक व्यक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने में सहायक अर्थात् मोक्षमूलक प्रवृत्तियों को ही अपनाता है और सासारिकता की पोषक सामग्री से उसे कोई लगाव नहीं होता और इसी लिये उससे वह दूर रहता है। देवपूजा सासारिकता का पोषण करती है या करने में सहायक होती है, इसी लिये जैन धर्म में देवपूजा का निषेध पाया जाता है।

देवपूजा सासारिक जीवन का पोषण कैसे करती है?, इस के उत्तर में इतना ही कहना है कि देवपूजा करने वाला यही समझ कर पूजा करता है कि इस से मैं युद्ध में शत्रु को परास्त कर दूंगा, शासक बन जाऊंगा, मुझे पुत्र की प्राप्ति होगी धन की प्राप्ति होगी तथा अन्य परिवार आदि की उपलब्धि होगी। इस से स्पष्ट है कि पूजक व्यक्ति मोहजाल को अधिकाधिक प्रसारित कर रहा है, जो कि ससारवृद्धि का कारण होता है, परन्तु यह एक मुमुक्षु प्राणी को इष्ट नहीं होता।

यदि कोई यह कहे कि देवपूजा से मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा स्वर्ग की उपलब्धि होती है, तो यह उस की भ्रान्ति है, कारण यह है कि देव में ऐसा करने की शक्ति ही नहीं होती। अशक्त में शक्ति की अभ्यर्थना का कुछ अर्थ नहीं होता। धनहीन से धन की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है जब देव देवरूप से स्वयं मुक्ति में नहीं जा सकता और जब देव को देवलोक की भवस्थिति पूर्ण होने पर—आयु की समाप्ति होने पर अनिच्छा होते हुए भी भूतल पर आना पड़ता है तो वह दूसरों को मुक्ति में कैसे पहुँचा सकता है? तथा स्वर्ग का दाता कैसे हो सकता है?

हां, यह ठीक है कि जो लोग देव को कर्मफल का निमित्त मान कर देवपूजा करने वाले पर मिथ्यात्वी का आरोप करते हैं, यह भी उचित नहीं है। पदार्थों का यथार्थ बोध ही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का न होना मिथ्यात्व है। देव को निमित्त मान कर पूजा करने वाले को पूर्वोक्त बोध है। वह जानता है कि मैं यह संसारवर्धन का काम कर रहा हूं और इस से मुझे अध्यात्मसम्बन्धी कोई भी लाभ नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उसे सम्यक्त्व से शून्य कहना भ्रान्ति है। यदि—ऐहिक प्रवृत्तियों में देव सहायक हो सकता है—मात्र यह मान कर देवों का आराधन करने वाले व्यक्ति मिथ्यात्वी हो जायेंगे तो तेला कर के अर्थात् लगातार तीन उपवास कर देवता का आह्वान करने वाले वासुदेव कृष्ण तथा चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि सभी पूर्वपुरुष मिथ्यात्वियों की कोटि में नहीं आजाएंगे?, और क्या यह सिद्धान्त को इष्ट है?, उत्तर स्पष्ट है—नहीं।

प्रस्तुत सूत्र में उम्बरदत्त का जन्म, उस के पिता सागरदत्त और माता गंगादत्ता का काल-धर्म को प्राप्त होना, तथा उस को घर से निकालना एवं उस के शरीर में भयंकर रोगों का उत्पन्न होना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार गौतम स्वामी के द्वारा उम्बरदत्त के भावी जीवन के विषय में की गई पृच्छा का वर्णन करते हैं—

मूल— [1]ततेणं से उम्बरदत्ते दारए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति?, कहिं उववज्जिहिति?

पदार्थ—**ततेणं**—तदनन्तर। **से**—वह। **उंबरदत्ते**—उम्बरदत्त। **दारए**—बालक, यहां से। **कालमासे**—कालमास में। **कालं किच्चा**—काल करके। **कहिं**—कहां। **गच्छिहिति?**—जायगा?। **कहिं**—कहां पर। **उववज्जिहिति?**—उत्पन्न होगा?

मूलार्थ—तदनन्तर गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा कि भगवन्! यह उम्बरदत्त बालक यहां से मृत्यु के समय में काल कर के कहां जायगा? और कहां पर उत्पन्न होगा?,

टीका—उम्बरदत्त की वर्तमान दशा का कारण जान लेने के बाद गौतम स्वामी को उस के भावी जन्मों के जानने की उत्कण्ठा हुई, तदनुसार वे भगवान् वीर से पूछते हैं कि भगवन्! उम्बरदत्त का भविष्य में क्या बनेगा? क्या वह इसी प्रकार दुःखों का अनुभव करता रहेगा अथवा उस के जीवन में कभी सुख का भी संचार होगा?, प्रभो! वह यहां से मर कर कहां जायगा? और कहां उत्पन्न होगा?

गौतमस्वामी के इस प्रश्न में मानव जीवन के अनेक रहस्य छुपे हुए हैं, उस की उच्चावच परिस्थितियों का अनुभव प्राप्त हो जाता है, एवं मानव जीवन को सुपथगामी बनाने में प्रेरणा मिलती है। इस के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

---

(१) छाया—ततः स उम्बरदत्तो दारकः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गमिष्यति? कुत्रोपपत्स्यते?,

मूल—[1]गोतमा ! उंबरदत्ते दारए वावत्तरिं वासाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयत्ताए उववज्जिहिति, संसारो तहेव जाव पुढवीए०। ततो हत्थिणाउरे णगरे कुक्कुडत्ताए पच्चायाहिति। जायमेत्ते चेव गोट्ठिल्लवहिते तत्थेव हत्थिणाउरे णयरे सेट्ठि० बोहिं० सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति ५। णिक्खेवो।

॥ सत्तम अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—गोतमा !—हे गौतम !। उम्बरदत्ते—उम्बरदत्त। दारए—दारक—बालक। वावत्तरिं—७२। वासाइं—वर्षों की। परमाउं—परम आयु। पालइत्ता—पालकर — भोग कर। कालमासे—कालमास में—मृत्यु का समय आजाने पर। कालं—काल। किच्चा—करके। इमीसे—इस। रयणप्पभाए पुढवीए—रत्नप्रभा नामक पहली नरक में। णेरइयत्ताए—नारकीरूप में। उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा। तहेव—तथैव—अर्थात् पहले की भांति। संसारो—संसारभ्रमण करेगा। जाव—यावत्। पुढवीए०—पृथिवीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा अर्थात् इस का शेष संसारभ्रमण भी प्रथम अध्ययनगत मृगापुत्र की भान्ति जान लेना चाहिए, यावत् वह पृथिवीकाया में जन्म लेगा। ततो—वहां से, निकल कर। हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर। णगरे—नगर में। कुक्कुडत्ताए—कुर्कुट—कुक्कुड के रूप में। पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा। जायमेत्ते चेव—जातमात्र अर्थात् उत्पन्न हुआ ही। गोट्ठिल्लवहिते—गौष्ठिक—दुराचारीमंडल के द्वारा वध को प्राप्त होता हुआ। तत्थेव—वहीं। हत्थिणाउरे णयरे—हस्तिनापुर नगर में। सेट्ठि—श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होगा। बोहिं०—बोधि-सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, तथा वहां पर मृत्यु को प्राप्त हो कर। सोहम्मे०—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा, वहां से च्यव कर। महाविदेहे०—महाविदेहक्षेत्र में जन्मेगा, वहां पर संयम का आराधन कर के। सिज्झिहिति ५—सिद्ध पद को प्राप्त करेगा, केवलज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जानेगा, समस्त कर्मों से रहित हो जावेगा, सकलकर्मजन्य सन्ताप से विमुक्त होगा, सब दुःखों का अन्त कर डालेगा। णिक्खेवो—निक्षेप — उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये। सत्तमं—सप्तम। अज्झयणं—अध्ययन। समत्तं—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—भगवान् ने कहा कि हे गौतम ! उम्बरदत्त बालक ७२ वर्ष की परम आयु पाल कर कालमास में काल कर के इसी रत्नप्रभा नामक पृथिवी—नरक में नारकीरूप से उत्पन्न होगा। वह पूर्ववत् संसारभ्रमण करता हुआ यावत् पृथिवीकाया में लाखों बार उत्पन्न होगा। वहां से निकल कर हस्तिनापुर नगर में कुक्कुड के रूप में उत्पन्न होगा। वहां जातमात्र ही गौष्ठिकों के द्वारा वध को प्राप्त होता हुआ वहीं हस्तिनापुर में एक श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होगा, वहां सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, वहां से मर कर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा, वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा, वहां अनगार धर्म को प्राप्त कर यथाविधि संयम की आराधना से कर्मों का

(१) छाया—गौतम ! उम्बरदत्तो दारको द्वासप्ततिं वर्षाणि परमायुः पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकतयोपपत्स्यते। संसारस्तथैव यावत् पृथिव्याम्०। ततो हस्तिनापुरे नगरे कुर्कुटतया प्रत्यायास्यति। जातमात्र एव गौष्ठिकवधितस्तत्रैव हस्तिनापुरे नगरे श्रेष्ठि० बोधि० सौधर्मे० महाविदेहे० सेत्स्यति ५। निक्षेपः।

॥ सप्तममध्ययनं समाप्तम् ॥

क्षय करके सिद्धपद—मोक्ष को प्राप्त करेगा। केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानेगा, समस्त कर्मों से रहित हो जावेगा, सकलकर्मजन्य सन्ताप से विमुक्त होगा, सब दुःखों का अन्त कर डालेगा। निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भान्ति कर लेनी चाहिये।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—परम विनीत गौतम स्वामी के अभ्यर्थनापूर्ण प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया कि हे गौतम! उम्बरदत्त बालक ७२ वर्षपर्यन्त इस प्रकार से दुःखानुभव करेगा, अर्थात् ७२ वर्ष की कुल आयु भोगेगा और आर्तध्यान से कर्मबन्ध करता हुआ यहां से कालवश को प्राप्त हो कर पहली नरक में उत्पन्न होगा। वहां अनेकानेक कल्पनातीत संकट सहेगा। वहां की दुःखपूर्ण आयु को पूर्ण कर अनेक प्रकार की योनियों में जन्म मरण करता हुआ संसार में रुलेगा। इस प्रकार कर्मों की मार से पीडित होता हुआ यह उम्बरदत्त का जीव अन्त में पृथिवीकाया में लाखों बार जन्म लेगा, वहां से निकल कर हस्तिनापुर नगर में कुक्कुड की योनि में उत्पन्न होगा, परन्तु उत्पन्न होते ही गौष्ठिकों—दुराचारियों के द्वारा वध को प्राप्त हो वह फिर वहीं पर—हस्तिनापुर नगर में नगर के एक प्रतिष्ठित सेठ के घर में पुत्ररूप से जन्मेगा, वहां सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त करता हुआ युवावस्था में साधुओं के पवित्र सहवास को प्राप्त कर के उन के पास दीक्षित हो जायेगा। सा—धुवृत्ति में तपश्चर्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा कर आत्मभावना से भावित हो कर जीवन समाप्त कर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में देव होगा। वहां के आनन्दातिरेक से आनन्दित हो सुखमय जीवन व्यतीत करेगा तथा वहां की आयु समाप्त कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा वहां पर शैशवावस्था से निकल युवावस्था को प्राप्त कर किसी विशिष्ट संयमी एवं ज्ञानी साधु के पास दीक्षा लेकर संयम का आराधन करेगा, तथा संयमाराधन के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता हुआ, कर्मबन्धनों को तोड देगा जन्म और मरण का अन्त कर देगा तथा निर्वाणपद को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, अजर और अमर हो जाएगा।

अनगार श्री गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रवचन में उम्बरदत्त के अतीत वर्तमान और अनागत जीवन को सुन कर बहुत विस्मित अथच आश्चर्य को प्राप्त होते हैं, और सोचते हैं कि यह संसार भी एक प्रकार की रंगभूमी या नाट्यशाला है। जहां पर सभी प्राणी नाना प्रकार के नाटक करते हैं। कर्मरूप सूत्रधार के वशीभूत होते हुए प्राणियों को नाना प्रकार के स्वांग धारण करके इस रंगशाला में आना पडता है। जीवों द्वारा नाना प्रकार की ऊंच नीच योनियों में भ्रमण करते हुए विविध प्रकार के सुखों और दुःखों की अनुभूति करना ही उन का नाट्यप्रदर्शन है। उम्बरदत्त का जीव पहले धन्वन्तरि वैद्य के नाम से विख्यात हुआ, वहां उस ने अपनी जीवनचर्या में ऐसे क्रूरकर्मों को उपार्जित किया कि जिन के फलस्वरूप उसे छठी नरक में जाना पड़ा। वहां की असह्य वेदनाओं को भोग कर वह सेठ सागरदत्त का प्रियपुत्र बना तथा उसने सेठानी गंगादत्ता की चिरअभिलषित कामना को पूर्ण किया, वहां उसका शैशवकाल बड़ा ही सुखमय बीता, मातृ-पितृस्नेह का खूब आनन्द प्राप्त किया, परन्तु युवावस्था को प्राप्त करते ही इस पर दुःखों के पहाड टूट पडे, माता पिता परलोक सिधार गये, घर से निकाल दिया गया, सारा शरीर रोगों से अभिभूत हो गया, और भिखारी बन कर दर २ के धक्के खाने पडे तथा इस समय को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली भयावह दशा के बाद का जीवन भी बहुत लम्बे समय तक अन्धकारपूर्ण ही बतलाया गया है। इस में केवल हर्षजनक इतनी ही बात है कि अन्त में हस्तिनापुर के श्रेष्ठिकुल में जन्म लेकर बोधि-लाभ के अनन्तर उसे विकास का अवसर प्राप्त होगा और आखिर में वह अपने ध्येय को प्राप्त

कर लेगा। यह संसारी जीवों की लीलाओं का चित्र है, जिन्हें वे इस संसार की रंगस्थली पर निरन्तर करते चले जा रहे हैं, इस विचारपरम्परा द्वारा संसार में रहने वाले जीव की जीवनयात्रा का अवलोकन करने के बाद गौतम स्वामी भगवान् के चरणों में वन्दना करते हैं और इस अनुग्रह के लिये कृतज्ञता प्रकट करके अपने आसन पर चले जाते हैं, वहां जाकर आत्मसाधना में संलग्न हो जाते हैं।

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में श्री जम्बू स्वामी ने अपने परमपूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से सातवें अध्ययन को सुनाने की अभ्यर्थना की थी, जिस की पूर्ति के लिये श्री सुधर्मा स्वामी ने उन्हें प्रस्तुत सातवें अध्ययन का वर्णन कह सुनाया। सातवें अध्ययन को सुना लेने के अनन्तर श्री सुधर्मा स्वामी कहने लगे कि हे जम्बू ! इस प्रकार यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सातवें अध्ययन का अर्थ बतलाया है। मैंने जो कुछ भी तुम्हें सुनाया है वह सब प्रभु वीर से जैसे मैंने सुना था वैसे ही तुम्हें सुना दिया है, इस में मेरी अपनी कोई भी कल्पना नहीं है। इन्हीं भावों को सूत्रकार ने "**निक्खेवो**" इस एक पद में ओतप्रोत कर दिया है। **निक्खेवो**—पद का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पहले पृष्ठ १८८ पर कर आए हैं। प्रस्तुत में इस पद से जो सूत्रांश अभिमत है, वह निम्नोक्त है—

एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि—" इन पदों का अर्थ ऊपर की पंक्तियों में लिखा जा चुका है।

"—**संसारो तहेव जाव पुढवीए०**—" यहां पठित **संसार** पद संसारभ्रमण का परिचायक है। तथा—**तहेव**—पद का अर्थ है—वैसे ही अर्थात् जिस तरह प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का संसार-भ्रमण वर्णित हुआ है, वैसे ही यहां पर भी उम्बरदत्त का समझ लेना चाहिये, तथा उसी संसारभ्रमण के संसूचक पाठ को **जाव**—**यावत्** पद से ग्रहण किया गया है, अर्थात् **जाव**—**यावत्** पद पृष्ठ ८९ पर पढ़े गये "—**से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति, तत्थ णं कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए**—से लेकर —**वाउ० तेउ० आउ०**—" यहां तक के पाठ का परिचायक है। तथा—**पुढवीए०**—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ की सूचना पृष्ठ २७५ पर दी जा चुकी है।

'—**सेट्ठि०** " यहां के बिन्दु से—**कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। तथा—**बोहिं०, सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति ५**—इन पदों से विवक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ ३१२ पर दी जा चुकी है।

सारांश यह है कि संसार में दो तरह के प्राणी होते हैं एक वे जो काम करने से पूर्व उस के परिणाम का विचार करते हैं, उस से निष्पन्न होने वाले हानिलाभ का ख्याल करते हैं। दूसरे वे होते हैं, जो बिना सोचे और बिना समझे ही काम का आरम्भ कर देते हैं, वे यह सोचने का भी उद्योग नहीं करते कि इस का परिणाम क्या होगा, अर्थात् हमारे लिये यह हितकर होगा या अहितकर। इन में पहली श्रेणी के लोग जितने सुखी हो सकते हैं, उस से कहीं अधिक दुःखी दूसरी श्रेणी के लोग होते हैं। धन्वन्तरि वैद्य यदि रोगियों को मांसाहार का उपदेश देने से पूर्व, तथा स्वयं मांसाहार एवं मदिरापान करने से पहले यह विचार करता कि जिस तरह मैं अपनी जिह्वा के आस्वाद के लिए दूसरों के जीवन का अपहरण करता हूँ, उसी तरह यदि कोई मेरे जीवन के अपहरण करने का उद्योग करे तो मुझे उस का यह व्यवहार सह्य होगा या असह्य ?, अगर असह्य है तो मुझे भी दूसरों के मांस से अपने मांस को पुष्ट करने का कोई अधिकार नहीं है। "**जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्, कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्**" इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार मुझे इस प्रकार के सावद्य अथच गर्हित व्यवहार

तथा आहार से सर्वथा पृथक् रहना चाहिये—तो उस का जीवन इतना सकटमय न बनता । इसलिए प्रत्येक प्राणी को कार्य करते समय अपने भावी हित और अहित का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। भावी हिताहित के विचारों को कविता की भाषा में कितना सुन्दर कहा गया है—

सोच करे सो सूरमा कर सोचे सो सूर ।
वाके सिर पर फूल है वाके सिर पर धूल ॥

इस दोहे में कवि ने कितने उत्तम सारगर्भित विचारों का समावेश कर दिया है। कवि का कहना है कि जो व्यक्ति किसी कार्य को करने से पहले उससे उत्पन्न होने वाले हानि—लाभ को ध्यान में रखता है, उसे दृष्टि से ओझल नहीं होने देता, वह सूरमा—वीर कहलाता है। इस के विपरीत जो बिना सोचे बिना समझे किसी काम को कर डालता है या किसी भी काम को करने के अनन्तर उसका दुष्परिणाम सामने आने पर सोचता है, वह सूर—अन्धा कहा जाता है। वीर के सिर पर फूलों की वर्षा होती है जबकि अन्धे के सर पर धूल की। इसे एक उदाहरण से समझिए—

सदाचार की सजीव मूर्ति धर्मवीर सुदर्शन को जब महारानी अभया के आदेश से दासी रम्भा पौषधशाला से चम्पा के राजमहलों में उठा लाती है और सोलह शृंगारों द्वारा इन्द्राणी के समान सौन्दर्य की प्रतिमा बनी हुई महारानी अभया उनके सामने अपने वासनामूलक विचारों को प्रकट करती है तथा हावभाव के प्रदर्शन से उनके मानसमेरु को कम्पित करना चाहती है, तब सेठ सुदर्शन मन ही मन बड़ी गम्भीरता सोचने लगे—

सुदर्शन ! कामवासना मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, जो सर्वतोभावी पतन करने के साथ २ उस का सर्वस्व भी छीन लेता है। इतिहास इसका पूरा समर्थक है। रावण त्रिखण्डाधिपति था, कथाकार—

इक लक्ख पूत सवा लक्ख नाती,
रावण के घर दीया न बाती ।

यह कह कर उसके परिवार की कितनी महानता अभिव्यक्त करते हैं ? इस के अतिरिक्त रावण अपने युग का महान विजेता और प्रतापी राजा समझा जाता था। लक्ष्मीदेवी की उस पर पूर्ण कृपा थी, उस की लंका भी सोने से बनी हुई थी। परन्तु हुआ क्या ?, एक वासना ने उस का सर्वनाश कर डाला प्रतिवर्ष उसके कुकृत्यों को दोहराया जाता है, उसे विडम्बित किया जाता है तथा उसे जलाया जाता है। कहां त्रिखण्डाधिपति रावण और कहां मैं ?, जब वासना ने उस का भी सर्वतोमुखी विनाश कर डाला, तो फिर भला मैं किस गणना में हूं ?, अस्तु, महारानी अभया कितना भी कुछ करे, मुझे भूल कर कभी भी वासना के पथ का पथिक नहीं बनना चाहिये। दूसरी बात यह है कि अभया राजपत्नी होने से मेरी माता के तुल्य है। माता के सम्मान को सुरक्षित रखना एक विनीत पुत्र का सर्वप्रथम कर्तव्य बन जाता है।

आज तो भला मेरा पौषध ही है, परन्तु मैं तो विवाह के समय—अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त संसार की सब स्त्रियों को माता और बहिन के तुल्य समझूंगा—इस प्रतिज्ञा को धारण कर चुका हूं। तथा शास्त्रों में परनारी की पैनी छुरी कहा है, उस का संसर्ग तो स्वप्न में भी नहीं करना चाहिये तब महारानी अभया के इस दुर्गतिमूलक जघन्य प्रस्ताव पर कुछ विचार करूं ? यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, इत्यादि विचारों में निमग्न धर्मवीर सुदर्शन ने रानी को सदाचार के पथ पर लाने का प्रयास करने के साथ २ उसे स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

बन्दे ने तो जब से जग में कुछ २ होश संभाला है,
माता और बहिन सम परनारी को देखा भाला है ।
मुझ से तो यह स्वप्नतलक मे भी आशा मत रखिएगा,
तैल नहीं है इस तिलतुष मे चाहे कुछ भी करिएगा।
स्वत. स्वर्ग से इन्द्राणी भी पतित बनाने आजाए,
तो भी वज्र मूर्ति सा मेरा मनमेरु न डिगा पाए।
पापकर्म के फल से मैं तो हरदम ही भय खाता हूं,
और तुम्हें भी माता जी बस यही भाव समझाता हूं । (धर्मवीर सुदर्शन में से)

सेठ सुदर्शन के उत्तर को सुनकर अभया भड़क उठी, उसने उन को बहुत बुरा भला कहा और अन्त में सेठ सुदर्शन को दण्डित करने के लिये तथा राजा और जनता के सन्मुख अपने आप को सती साध्वी एव पतिव्रता प्रमाणित करने के लिए उस की ओर से त्रियाचरित्र का भी पूरा २ प्रदर्शन किया गया। परिणाम यह हुआ कि चम्पानरेश अभया के त्रियाचरित्र के जाल में फस गए और उन्हों ने सेठ जी को शूली पर चढाने का हुक्म दे दिया, परन्तु सेठ सुदर्शन गिरिराज हिमाचल से भी दृढ बने हुए थे अत. शूली पर चढते हुए भी सद्भावों के झूले में बड़ी मस्ती मे झूल रहे थे। इन्हें—कर्तव्य के पालन में आने वाली मृत्यु, मृत्यु नहीं, प्रत्युत मोक्षपुरी की सीढी दिखाई देती थी, इसी लिए वहा पर भी इन का मानस कम्पित नहीं हो पाया।

प्राणहारिणी तीक्ष्ण अणी पर सेठ जब आरूढ होने लगे ही थे कि तब धर्म के प्रभाव से पल भर मे वहा का दृश्य ही बदल गया। लोहशूली के स्थान पर स्वर्णस्तम्भ पर रत्नकान्तिमय सिंहासन दृष्टिगोचर होने लगा। सेठ सुदर्शन उस पर अनुपम शोभा पाने लगे। चम्पानरेश तथा नागरिक उन के चरणों में शीस झुकाने लगे, और देवतागण उन पर पुष्पवर्षा करने लगे।

इधर महाराणी अभया ने जब शूली को सिंहासन में बदल जाने की बात सुनी तो वह काम्प उठी, सन्न सी रह गई, उस की आखों से जलधारा बहने लगी, उस का मस्तक चक्र खाने लगा, वह अपने किए पर पछताने लगी कि यदि मैं समझ से काम लेती तो क्यों आज मेरा यह बुरा हाल होता ?, विषय वासना मे अन्धी हुई मैंने व्यर्थ म ही सेठ जी को कलंकित किया, पता नहीं राजा मुझे कैसे मारेगा ?, हाय ! हाय ! !, क्या करू ?. किधर जाऊं ?, – इस प्रकार रोने कल्पने और विलाप करने लगी, तथा अन्त में छत्त के साथ रस्सी बान्धकर गल में फांसी लगा कर उसने अपने जीवन का अन्त कर लिया। अभया की आत्महत्या का घृणित वृत्तान्त चम्पा नगरी के घर २ मे फैल गया और सर्वत्र उस पर निन्दा एव घृणा का धूलिप्रक्षेप होने लगा।

ऊपर के उदाहरण से कवि का भाव स्पष्ट हो जाता है। अत. जो व्यक्ति सेठ सुदर्शन की तरह किसी भी काम को सोच समझ कर करता है तो उस पर फूलों की वर्षा होती है अर्थात् उस का सर्वत्र मान होता है और जो अभया राणी की भाति बिना समझे और बिना सोचे कोई काम करेगा तो उस पर धूलिप्रक्षेप होगा अर्थात् उस का सर्वत्र अपवाद होगा, और वह प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित धन्वन्तरि वैद्य की भांति दुर्गतियों में नानाप्रकार के दुःखों का उपभोग करने के साथ २ जन्म मरण के प्रवाह में प्रवाहित होता रहेगा।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

अथ अष्टम अध्याय

ज्ञानी और अज्ञानी की विभिन्नता का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि ज्ञानी वही कहला सकता है जो अहिंसक[1] है, अर्थात् हिंसाजनक कृत्यों से दूर रहता है। अज्ञानी वह है जो अहिंसा से दूर भागता है और अपने जीवन को हिंसक और निर्दयतापूर्ण कार्यों में लगाये रखता है। ज्ञानी और अज्ञानी के विभेद के कारण भी विभिन्न हैं। ज्ञानी तो यह सोचता रहेगा कि जो अपने जीवन को सुरक्षित रखना चाहता है, वह दूसरों के जीवन का नाश किस तरह से कर सकता[2] है ?, क्योंकि विचारशील व्यक्ति जो कुछ अपने लिये चाहता है वह दूसरों के लिये भी सोचता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यता का यही अनुरोध है कि यदि तुम सुखी रहना चाहते हो तो दूसरों को भी सुखी बनाने का उद्योग करो ?, इसी में आत्मा का हित निहित है, विपरीत इसके अज्ञानी यह सोचेगा कि वह स्वयं सुखी किस तरह से हो सकता है ? उसका एक मात्र ध्येय स्वार्थ-पूर्ति होता है, कोई मरता है तो मरे, उसे इसकी पर्वाह नहीं होती, कोई उजड़ता है तो उजड़े उसकी उसे चिन्ता नहीं होने पाती। उसे तो अपना प्रभुत्व और ऐश्वर्य कायम रखने की ही चिन्ता रहती है। इस के अतिरिक्त ज्ञानी जहां परमार्थ की बातें करेगा वहां अज्ञानी अपने ऐहिक स्वार्थ का राग आलापेगा। फलस्वरूप ज्ञानी आत्मा कर्मबन्ध का विच्छेद करता है जब कि अज्ञानी कर्म का बन्ध करता है।

प्रस्तुत अष्टम अध्ययन में शौरिकदत्त नामक एक ऐसे अज्ञानी व्यक्ति के जीवन का वर्णन है जो अपने अज्ञान के कारण श्रीद रसोईए के भव में अनेकविध मूक पशुओं के जीवन के नाश करने के अतिरिक्त मांसाहार एवं मदिरापान जैसी दुर्गतिप्रद जघन्य प्रवृत्तियों में अधिकाधिक पापपुंज एकत्रित करता है, और फलस्वरूप तीव्रतर अशुभकर्मों का बन्ध कर लेता है और उन का फल भोगते समय अत्यधिक दुःखी होता है। सूत्रकार उसका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—

मूल—[3]अट्ठमस्स उक्खेवो। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं २ सोरियपुरं णगरं होत्था। सोरियवडिंसगं उज्जाणं। सोरियो जक्खो। सोरियदत्ते राया। तस्स णं सोरियपुरस्स णगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एगे मच्छबन्धपाडए होत्था। तत्थ णं समुद्दत्ते नाम

---

(१) एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसासमयं चेव, एयावंतं वियाणिया ॥ (सूयगडांगसूत्र, १-४-१०)।

अर्थात् किसी जीव को न मारना यही ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार है। अतः एक अहिंसा द्वारा ही समता के विज्ञान को उपलब्ध किया जा सकता है। जैसे मुझे दुःख अप्रिय है, वैसे दूसरे प्राणियों को भी वह अप्रिय है, इन्हीं भावों का नाम समता है।

(२) जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्, कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्। यद् यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत्।

(३) छाया—अष्टमस्योत्क्षेपः। एवं खलु जम्बूः ! तस्मिन् काले २ शौरिकपुरं नगरमभवत्। शौरिकावतंसकमुद्यानम्। शौरिको यक्षः। शौरिकदत्तो राजा। तस्मात् शौरिकपुराद् नगराद् बहिः उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे एको मत्स्यबन्धपाटकोऽभूत्। तत्र समुद्रदत्तो नाम मत्स्यबन्धः परिवसति, अधार्मिको यावद् दुष्प्रत्यानन्दः। तस्य समुद्रदत्तस्य समुद्रदत्ता भार्याऽभूदहीन०। तस्य समुद्रदत्तस्य मत्स्यबन्धस्य पुत्रः समुद्रदत्ताया भार्याया आत्मजः शौरिकदत्तो नाम दारकोऽभवदहीन०।

मच्छंधे परिवसति, अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे। तस्स णं समुद्दत्तस्स समुद्दत्ता भारिया होत्था, अहीण०। तस्स णं समुद्दत्तस्स मच्छंधस्स पुत्ते समुद्दत्ताए भारियाए अत्तए सोरियदत्ते नामं दारए होत्था, अहीण०।

पदार्थ—**अट्ठमस्स**—अष्टम अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् समझ लेना चाहिये। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **जंबू !**—हे जम्बू ! । **तेणं कालेणं २**—उस काल और उस समय में। **सोरियपुरं**—शौरिकपुर नाम का। **णगरं होत्था**—नगर था, वहां। **सोरियवडिसगं**—शौरिकावतंसक नामक। **उज्जाणं**—उद्यान था, उस मे। **सोरियो जक्खो**—शौरिक नामक यक्ष था अर्थात् शौरिक यक्ष का वहां पर स्थान था। **सोरियदत्ते राया**—शौरिक दत्त नामक राजा था। **तस्स ण**—उस। **सोरियपुरस्स**—शौरिकपुर **णगरस्स**—नगर के। **बहिया**—बाहिर। **उत्तरपुरत्थिमे**—उत्तर पूर्व। **दिसीभाए**—दिग्विभाग मे अर्थात् ईशानकोण में। **एगे**—एक। **मच्छंधपाडए**—मत्स्यबन्धपाटक—मच्छीमारों का मुहल्ला। **होत्था**—था। **तत्थ णं**—वहां पर। **समुद्दत्ते**—समुद्रदत्त। **नामं**—नाम का। **मच्छंधे**—मत्स्यबन्ध—मच्छीमार। **परिवसति**—रहता था, जो कि। **अहम्मिए**—अधार्मिक। **जाव**—यावत्। **दुप्पडियाणंदे**—दुष्प्रत्यानन्द—बडी कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था। **तस्स ण**—उस। **समुद्दत्तस्स**—समुद्रदत्त की। **समुद्दत्ता**—समुद्रदत्ता नाम की। **भारिया**—भार्या। **होत्था**—थी, जोकि। **अहीण०**—अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाली थी। **तस्स णं**—उस। **समुद्दत्तस्स**—समुद्रदत्त। **मच्छंधस्स**—मत्स्यबन्ध का। **पुत्ते**—पुत्र। **समुद्दत्ताए**—समुद्रदत्ता। **भारियाए**—भार्या का। **अत्तए**—आत्मज। **सोरियदत्ते**—शौरिकदत्त। **नामं**—नाम का। **दारए**—दारक—बालक। **होत्था**—था, जोकि। **अहीण०**—अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाला था।

मूलार्थ—अष्टम अध्ययन के उत्क्षेप—प्रस्तावना की भावना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये। हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय मे शौरिकपुर नाम का एक नगर था, वहां शौरिकावतंसक नाम का उद्यान था, उस मे शौरिक नामक यक्ष का आयतन—स्थान था, वहां के राजा का नाम शौरिकदत्त था। शौरिकपुर नगर के बाहिर ईशान कोण मे एक मत्स्यबंधों—मच्छीमारों का पाटक—मुहल्ला था, वहां समुद्रदत्त नाम का मत्स्यबंध—मच्छीमार निवास किया करता था, जोकि अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द था। इसकी समुद्रदत्ता नाम की अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाली भार्या थी, तथा इनके शौरिकदत्त नाम का एक सर्वांगसम्पूर्ण अथच परम सुन्दर बालक था।

टीका—चम्पा नगरी के बाहिर पूर्णभद्र चैत्य—उद्यान में आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य परिवार के साथ विराजमान हो रहे हैं। नगरी की भावुकजनता उनके उपदेशामृत का प्रतिदिन नियमित रूप से पान करती हुई अपने मानवभव को कृतार्थ कर रही है।

आर्य सुधर्मा स्वामी के प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी उनके मुखारविन्द से दुःखविपाक के सप्तम अध्ययन का श्रवण कर उसके परमार्थ को एकाग्र मनोवृत्ति से मनन करने के बाद विनम्र भाव से बोले कि हे भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित सप्तम अध्ययन के अर्थ को तो मैंने आपश्री के मुख से श्रवण कर लिया है, जिस के लिये मैं आपश्री का अत्यन्तात्यन्त कृतज्ञ हू, परन्तु मुझे अब दुःखविपाक के अष्टम अध्ययन के श्रवण की उत्कण्ठा हो रही है। अतः आप दुःखविपाक के आठवें अध्ययन के अर्थ को सुनाने की कृपा करें, जिसे कि आपने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की पर्युपासना में रहकर श्रवण किया है—इन्हीं भावों को सूत्रकार ने **अट्ठमस्स उक्खेवो**—इतने पाठ में गर्भित कर दिया है।

जम्बू स्वामी की उक्त प्रार्थना के उत्तर में अष्टम अध्ययन के अर्थ का श्रवण कराने के लिये आर्य सुधर्मा स्वामी प्रस्तुत अध्ययन का "—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं—" इत्यादि पदों से आरम्भ करते हैं। आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू ! जब इस अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बीत रहा था, तो उस समय शौरिकपुर नाम का एक सुप्रसिद्ध और समृद्धिशाली नगर था। वहां विविध प्रकार के धनी, मानी, व्यापारी लोग रहा करते थे। उस नगर के बाहिर शौरिकावतंसक नाम का एक विशाल तथा रमणीय उद्यान था। उस में शौरिक नाम का एक बड़ा पुराना और मनोहर यक्षमन्दिर था। नगर के अधिपति का नाम महाराजा शौरिकदत्त था, जो कि पूरा नीतिज्ञ और प्रजावत्सल था।

शौरिकपुर नगर के उत्तर और पूर्व दिशा के मध्य में अर्थात् ईशान कोण में मत्स्य-वधपाटक—अर्थात् मच्छियों को मार कर तथा उनके मांस आदि को बेच कर आजीविका करने वालों का एक [1]मुहल्ला था। उस मुहल्ले में समुद्रदत्त नाम का एक प्रसिद्ध मत्स्यवन्ध—मच्छीमार रहा करता था, जो कि महान् अधर्मी तथा पापमय कर्मों में सदा निरत रहने वाला, एवं जिस को प्रसन्न करना अत्यधिक कठिन था। उस की समुद्रदत्ता नाम की भार्या थी जो कि रूप लावण्य में अत्यन्त मनोहर, गुणवती और पतिपरायणा थी। इन के शौरिकदत्त नाम का एक पुत्र था जोकि सुसगठित शरीर वाला और रूपवान था, उस के सभी अंगोपांग सम्पूर्ण अथच दर्शनीय थे, परन्तु वह भी पिता की तरह मांसाहारी और मच्छियों का व्यापार करता हुआ जीवन व्यतीत किया करता था।

—**अट्ठमस्स उक्खेवो**—यहां प्रयुक्त **अष्टम** शब्द अष्टमाध्याय का परिचायक है और उत्क्षेप पद प्रस्तावना, उपोद्घात प्रारम्भ वाक्य—इत्यादि अर्थों का बोधक है। प्रस्तुत में उत्क्षेप पद से सूचित प्रस्तावनारूप सूत्रांश निम्नोक्त है—

जति णं भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?—अर्थात् हे भगवन् ! यदि दुःखविपाक के सप्तम अध्ययन का यावत् मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन् ! यावत् मोक्ष—सम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के अष्टम अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?,

अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से अभिमत पाठ का विवर्ण पृष्ठ ५५ पर, तथा प्रथम—समुद्रदत्ता के पाठ में पठित—अहीण०—के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ १०५ की टिप्पण में, तथा शौरिकदत्त के सम्बन्ध में पठित—अहीण०—के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ १२० पर लिखा जा चुका है।

अब सूत्रकार शौरिकपुर नगर में भगवान् महावीर स्वामी के पधारने और भगवान् गौतम द्वारा देखे गये एक करुणाजनक दृश्य आदि का वर्णन करते हैं—

मूल—[2]तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे जाव, गओ। तेणं कालेणं २ समणस्स

(१) पाटक नाम मुहल्ले का है, उस पाटक अर्थात् मुहल्ले में अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी जो मच्छियों को मार कर अपना निर्वाह किया करते थे, इसीलिए उस मुहल्ले का नाम मत्स्यवन्धों (मच्छी मारने वालों) का पाटक—मुहल्ला पड़ गया था।

(२) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृतो यावद् गतः। तस्मिन् काले २ श्रमणस्य

भगवओ महावीरस्स जेट्ठे जाव सोरियपुरे णगरे उच्चनीयमज्झिमकुले अडमाणे अहापज्जत्तं समुदाणं गहाय सोरियपुराओ णगराओ पडिनिक्खमति २ तस्स मच्छंधपाडगस्स अदूरसामंतेणं वीइवयमाणे महतिमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगयं एगं पुरिसं सुक्खं भुक्खं णिम्मंसं अट्ठिचम्मावणद्धं किडिकिडियाभूयं णीलसाडगनियत्थं मच्छकंटएणं गलए अणुलग्गेणं कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं उक्कूवमाणं अभिक्खणं २ पूयकवले य रुहिरकवले य किमिकवले य वममाणं पासति २ इमे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने—अहो णं इमे पुरिसे पुरा जाव विहरति। एवं संपेहेति २ जेणेव समणे भगवं जाव पुव्वभवपुच्छा वागरणं।

पदार्थ—**तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय में। **सामी**—स्वामी—श्रमण भगवान् महावीर। **समोसढे**—पधारे। **जाव**—यावत् अर्थात् परिषद् और राजा। **गओ**—चला गया। **तेणं कालेणं २**—उस काल और उस समय में। **समणस्स**—श्रमण। **भगवओ** भगवान्। **महावीरस्स**—महावीर स्वामी के। **जेट्ठे**—ज्येष्ठ शिष्य गौतमस्वामी। **जाव**—यावत्। **सोरियपुरे**—शौरिकपुर। **णगरे**—नगर में। **उच्चनीयमज्झिमकुले**—उच्च नीच तथा मध्यम—सामान्य गृहों में। **अडमाणे**—भ्रमण करते हुए। **अहापज्जत्तं**—यथेष्ट। **समुदाणं**—समुदान—गृहसमुदाय से प्राप्त भिक्षा। **गहाय**—ग्रहण करके। **सोरियपुराओ** - शौरिकपुर। **णगराओ**—नगर से। **पडिनिक्खमति २**—निकलते हैं निकल कर। **तस्स**—उस। **मच्छंधपाडगस्स**—मत्स्यबन्धों—मच्छीमारों के पाटक मुहल्ले के। **अदूरसामंतेणं**—समीप से। **वीइवयमाणे**—गमन करते हुए। **महतिमहालियाए**—बहुत बड़ी। **मणुस्सपरिसाए**—मनुष्यों की परिषद्—समुदाय के। **मज्झगयं**—मध्यगत। **एगं**—एक। **पुरिसं**—पुरुष को। **सुक्खं**—सूखे हुए को। **भुक्खं**—बुभुक्षित को। **णिम्मंसं**—निर्मांस—मांसरहित को। **अट्ठिचम्मावणद्धं**—अतिकृश होने के कारण जिस का चर्म—चमड़ा हड्डियों से संलग्न है—चिपटा हुआ है। **किडिकिडियाभूयं**—जो किटिकिटिका शब्द कर रहा है। **णीलसाडगनियत्थं**—नीलशाटकनिवसित नील शाटक—धोती धारण किये हुए। **मच्छकंटएणं**—मत्स्यकंटक के। **गलए**—गल में—कण्ठ में। **अणुलग्गेणं**—लगे होने के कारण। **कट्ठाइं**—कष्टात्मक। **कलुणाइं**—करुणाजनक। **वीसराइं**—विस्वर दीनतापूर्ण वचन। **उक्कूवमाणं**—बोलते हुए को, तथा। **अभिक्खणं २**—बार बार। **पूयकवले य**—पीव के कवलों कुल्लों का। **रुहिरकवले य**—रुधिरकवलों—खून के कुल्लों का। **किमिकवले य**—कृमिकवलों—कीड़ों के कुल्लों का। **वममाणं**—वमन करते हुए को। **पासति २**—देखते हैं, देख कर। **इमे**—यह। **अज्झत्थिए ५**—आध्यात्मिक संकल्प ५। **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **अहो**—खेद है, कि। **अयं**—यह। **पुरिसे**—पुरुष। **पुरा**—पुरातन। **जाव**—यावत्। **विहरति**—विहरण कर रहा है। **एवं**—इस प्रकार। **संपेहेति २**—विचार करते हैं, विचार कर। **जेणेव**—जहां। **समणे**—श्रमण। **भगवं**—भगवान् महावीर स्वामी थे। **जाव**—यावत्। **पुव्वभवपुच्छा**—पूर्वभव की पृच्छा की। **वागरणं**—भगवान् का प्रतिपादन।

भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठो यावत् शौरिकपुरे नगरे उच्चनीचमध्यमकुलेऽटन् यथापर्याप्तं समुदानं गृहीत्वा शौरिकपुराद् नगरात् प्रतिनिष्क्रामति २ तस्य मत्स्यबन्धपाटकस्यादूरासन्ने व्यतिव्रजन् महातिमहत्या मनुष्यपरिषदि मध्यगतमेकं पुरुषं शुष्कं, बुभुक्षितं निर्मांसमस्थिचर्मावनद्धं किटिकिटिकाभूतं, नीलशाटकनिवसितं मत्स्यकण्टकेन गलेऽनुलग्नेन कष्टानि करुणानि विस्वराणि उत्कूजतमभीक्ष्णं २ पूयकवलांश्च, रुधिरकवलांश्च, कृमिकवलांश्च वमन्तं पश्यति २ अयमाध्यात्मिकः २ समुत्पन्न:—अहो ! अयं पुरुषः यावद् विहरति। एवं सम्प्रेक्षते २ यत्रैव श्रमणो भगवान् यावत् पूर्वभवपृच्छा, व्याकरणम्।

मूलार्थ—उस काल और उस समय शौरिकावतसक नामक उद्यान मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे । यावत् परिषद् और राजा वापिस चले गये । उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ—प्रधान शिष्य गौतम स्वामी यावत् शौरिकपुरनगर मे उच्च –धनी, नीच—निर्धन तथा मध्य—सामान्य घरो मे भ्रमण करते हुए यथेष्ट आहार लेकर नगर से बाहिर निकलते है, तथा मत्स्यवधपाटक के पास से निकलते हुए उन्हों ने अत्यधिक विशाल मनुष्यसमुदाय के मध्य मे एक सूखे हुए, बुभुक्षित, निर्मांस और अस्थिचर्मावनद्ध—जिस का चर्म शरीर की हड्डियों से चिपटा हुआ, उठते बैठते समय जिस की अस्थिएं किटिकिटिका शब्द कर रही है, नीली शाटक वाले एवं गले में मत्स्यकटक लग जाने के कारण कष्टात्मक, करुणाजनक और दीनतापूर्ण वचन बोलते हुए पुरुष को देखा, जो कि पूयकवलो, रुधिरकवलों और कृमिकवलों का वमन कर रहा था। उस को देख कर उन के मन मे निम्नोक्त सकल्प उत्पन्न हुआ—

अहो ! यह पुरुष पूर्वकृत यावत् कर्मो से नरकतुल्य वेदना का उपभोग करता हुआ समय बिता रहा है—इत्यादि विचार कर अनगार गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावत् उसके पूर्वभव की पृच्छा करते है । भगवान् प्रतिपादन करने लगे ।

टीका—एक वार शौरिकपुर नगर मे चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे, वे शौरिकावतसक उद्यान मे विराजमान हुए । शौरिकपुर निवासियों ने उन के पुनीत दर्शन और परमपावनी धर्मदेशना से भरि २ लाभ उठाया । प्रतिदिन भगवान् की धर्मदेशना सुनते और उस का मनन करते हुए अपने आत्मा के कल्मष –पाप को धोने का पुण्य प्रयत्न करते । एक दिन भगवान् की धर्मदेशना को सुन कर नगर की जनता जब वापिस चली गई तो भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतम स्वामी जो कि भगवान् के चरणों में विराजमान थे –बेले के पारणे के निमित्त नगर में भिक्षा के लिये जाने की आज्ञा मागते हैं । आज्ञा मिल जाने पर गौतम स्वामी ने शौरिकपुर नगर की ओर प्रस्थान किया । वहा नगर में पहुँच साधुवृत्ति के अनुसार आहार की गवेषणा करते हुए धनिक और निर्धन आदि सभी घरों से यथेष्ट भिक्षा लेकर शौरिकपुर नगर से निकले और आते हुए समीपवर्ती मत्स्यवधपाटक—मच्छीमारों के महल्ले में उन्हों ने एक पुरुष को देखा। उस मनुष्य के चारों ओर मनुष्यों का जमघट लगा हुआ था । वह मनुष्य शरीर से बिल्कुल सूखा हुआ, बुभुक्षित तथा भूखा होने के कारण उस के शरीर पर मास नहीं रहा था, केवल अस्थिपजर सा दिखाई देता था हिलने चलने मे उस के हाड किटिकिटिका शब्द करते, उस के शरीर पर नीले रग की एक धोती थी, गले मे मच्छी का काटा लग जाने से वह अत्यन्त कठिनाई से बोलता, उस का स्वर बड़ा ही करुणाजनक तथा नितान्त दीनतापूर्ण था । इस से भी अधिक उसकी दयनीय दशा यह थी कि वह मुख में से पूय रुधिर और कृमियो के कवलों – कुल्लों का वमन कर रहा था । उसे देख कर भगवान् गौतम सोचने लगे – ओह ! कितनी भयावह अवस्था है इस व्यक्ति की । न मालुम इसने पूर्वभव में ऐसे कौन से दुष्कर्म किये हैं, जिन के विपाकस्वरूप यह इस प्रकार की नरकसमान यातना को भोग रहा है ?, अस्तु, इस के विषय मे भगवान् से चल कर पूछेगे—इत्यादि विचारों में निमग्न हुए गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित होते हैं । वहा आहार को दिखा तथा आलोचना आदि से निवृत्त हो कर वे भगवान् से इस प्रकार बोले

प्रभो ! आप श्री की आज्ञानुसार मैं नगर में पहुंचा, वहा गोचरी के निमित्त भ्रमण करते हुए

मैंने ने एक व्यक्ति को देखा इत्यादि । उस दृष्ट व्यक्ति की सारी अवस्था को गौतम स्वामी ने कह सुनाया । तदनन्तर वे फिर बोले - भगवन् ! वह दुःखी जीव कौन है ?, उसने पूर्वभव में ऐसे कौन से अशुभ कर्म किये हैं, जिन का कि वह यहां पर इस प्रकार का फल भोग रहा है ?, गौतम स्वामी की उक्त जिज्ञासा का ध्यान रखते हुए उस के उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी ने जो फरमाया उस का विवरण अग्रिम सूत्रों में किया गया है ।

—सुक्ख, भुक्ख—इत्यादि पदों की व्याख्या निम्नोक्त है—

१—सुक्खं—शुष्कम्— अर्थात् रुधिर के कम हो जाने के जो सूख रहा हो उसे शुष्क कहते हैं ।

२—भुक्खं - बुभुक्षितम् - अर्थात् भुक्ख यह देश्य देशविशेष में बोला जाने वाला पद है, जो बुभुक्षित इस अर्थ का परिचायक है । क्षुधा—भूख से पीडित व्यक्ति बुभुक्षित कहलाता है ।

३—णिम्मसं—निर्मांसम् - भोजनादि के अभाव से जो मांस से रहित हो रहा है उसे निर्मांस कहते हैं ।

४—अट्ठिचम्मावणद्धं — अस्थिचर्मावनद्धम् — अतिकृशत्वादस्थिसलग्नचर्मकमित्यर्थः— अर्थात् अतिकृश हो जाने के कारण जिसका चर्म - चमडा अस्थियों—हड्डियों से अवनद्ध—चिपट रहा है । तात्पर्य यह है कि मांस और रुधिर की अत्यधिक चीणता के कारण जो अस्थिचर्मावशेष दिखाई पड़ रहा है वह अस्थिचर्मावनद्ध कहा जाता है ।

५—किडिकिडियाभूयं—किटिकिटिकाभूतम् , अतिकृशत्वादुपवेशनादिक्रियायां किटिकिटिकेति शब्दायमानास्थिकम्— अर्थात् अतिकृश -दुर्बल हो जाने के कारण बैठने और उठने आदि की क्रिया में जिस की अस्थिएं किटिकिटिका—ऐसे शब्द करती हैं, इसलिए उसे किटिकिटिकाभूत कहा जाता है ।

६—णीलसाडगनियत्थं — नीलशाटकनिवसितम् , नीलशाटकं — नीलपरिधानवस्त्रं, निवसितं परिहितं येन यस्य वा स तमिति भाव —अर्थात् जिस ने नीले वर्ण का शाटक—धोती या सामान्य पहरने का वस्त्र धारण कर रखा है, वह नीलशाटकनिवसित कहलाता है । इस पद में भगवान् गौतम ने जिस पुरुष को देखा है, उस के परिधानीय वस्त्र का परिचय कराया है ।

(७) मच्छकण्टएणं गलए अणुलग्गेणं —मत्स्यकण्टकेन गलेऽनुलग्नेन कण्ठप्रविष्टेनेत्यर्थः --, अर्थात् ये पद—मत्स्यकण्टक के कण्ठ में प्रविष्ट हो जाने के कारण—इस अर्थ के परिचायक हैं। मत्स्य का कांटा मत्स्यकण्टक कहलाता है । मत्स्य का कांटा बड़ा भीषण होता है वह यदि कण्ठ में लग जाए तो उस का निकलना अत्यधिक कठिन हो जाता है ।

८—कष्ट, करुण, विस्वर तथा पूयकवल रुधिरकवल और कृमिकवल इन शब्दों का अर्थ पीछे पृष्ठ ३८० पर लिखा जा चुका है ।

प्रस्तुत में सुक्खं इत्यादि पद द्वितीयान्त हैं अतः अर्थसंकलन में मूलार्थ की भान्ति द्वितीयान्त की भावना कर लेनी चाहिये ।

समोसढे जाव गओ—यहां पठित जाव—यावत् पद पृष्ठ २०४ पर पढे गये—परिसा निग्गया राया निग्गओ, धम्मो कहिओ परिसा गया य पडि—इन पदों का परिचायक है ।

—जेट्ठे जाव साग्गिपुरे—यहां पठित जाव—यावत् पद—अन्तेवासी गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाइ तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलसभंते मुहपत्तियं पडिलेहेति—से लेकर—दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे जेणेव—इन पदों का

परिचायक है। —छट्ठक्खमणपारणगंसि—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १२३ पर लिखा गया है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा वाणिजग्राम नगर का उल्लेख है जब कि प्रस्तुत में शौरिक नगर का। शेष वर्णन समान ही है।

—अज्झत्थिए ५ —यहा पर दिये गये ५के अक मे विवक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ १३३ पर दी जा चुकी है। तथा—**पुरा जाव विहरति**—यहा पठित **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ ४७ पर पढ़े गये—**पोराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकन्ताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणे**—इन पदों का परिचायक है।

—**भगव जाव पुव्वभवपुच्छा वागरणं**—यहा पठित—**जाव—यावत्** पद—**महावीरे तेणेव उवागच्छति २ समणस्स भगवओ महावीरस्स** [1]**अदूरसामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ एसण-मणेसणे आलोएइ २ भत्तपाणं पडिदंसति, समणं भगवं महावीरं वंदति णमसति वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एव खलु अह भन्ते! तुब्भेहि अब्भणुण्णाते समाणे सोरियपुरे नयरे उच्चनीयमज्झमकुले अडमाणे अहापज्जत्त समुदाणं गहाय सोरियपुराओ**—से [2]लेकर—**किमिकवले य वममाणं पासामि पासित्ता इमे अज्झत्थिए**—से ले कर—**जाव—विहरति**—यहा तक के पदों का परिचायक है। तथा—**पुव्वभवपुच्छा** यह ५८ पृष्ठ ५१ पर पढ़े गये —**से णं भन्ते! पुरिसे पुव्वभवे के आसि?**—से लेकर —**पुरा पोराणाणं जाव विहरति**—यहा तक के पदों का परिचायक है। **वागरणं**—का अर्थ है— भगवान् का उत्तररूप मे प्रतिपादन।

'भगवान् गौतम का भिक्षा लेकर आना, आकर आलोचना करना और साथ मे ही उस दुःखी व्यक्ति के पूर्वभवसम्बन्धी वृत्तान्त को पूछना, इस बात को प्रमाणित करता है कि उस दृश्य से अनगार गौतम स्वामी इतने प्रभावित हुए कि उन्हें अपने पारणे का भी ध्यान नहीं रहा, और यदि रहा भी हो तो भी उस भयकर अथच करुणाजनक दृश्य ने उन्हे इस बात पर विवश कर दिया कि पारणे से पूर्व ही उस विचारे की जीवनी को अवगत कर लिया जाए, ऐसा समझना।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रस्तुत अध्ययन के प्रधान पात्रों का परिचय कराया गया है, और साथ मे गौतम स्वामी द्वारा देखे गये एक दुःखी पुरुष का वर्णन तथा उसके विषय में गौतम स्वामी के प्रश्न का उल्लेख भी किया गया है। अब अग्रिमसूत्र में भगवान् के द्वारा प्रस्तुत किये गये उत्तर का वर्णन किया जाता है —

मूल—[3]**एवं खलु गोतमा! तेणं कालेणं २ इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे णंदिपुरे**

---

(१) **अदूरसामन्ते** इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १३३ पर किया जा चुका है।

(२) ये पद पृष्ठ ४२९ पर उल्लिखित हैं। अन्तर मात्र इतना है कि **पडिनिक्खमति** के स्थान पर **पडिनिक्खमामि** यह समझ लेना।

(३) **छाया**—एव खलु गौतम! तस्मिन् काले २ इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे नन्दिपुर नाम नगरमभवत्। मित्रो राजा, तस्य श्रीदो नाम महानसिकोऽभूदधार्मिको यावद् दुष्प्रत्यानदः। तस्य श्रीदस्य महानसिकस्य बहवो मात्स्यिकाश्च वागुरिकाश्च शाकुनिकाश्च दत्तभृतिभक्तवेतना कल्याकल्यि बहून् श्लक्ष्णमत्स्याश्च यावत् पताकातिपताकाश्च अजाश्च यावद् महिषांश्च तित्तिरांश्च यावद् मयूरांश्च जीविताद् व्यपरोपयन्ति व्यपरोप्य श्रीदाय महानसिकायोपनयन्ति। अन्ये च तस्य बहव तित्तिराश्च यावद् मयूराश्च पञ्जरे सन्निरुद्धास्तिष्ठन्ति। अन्ये च बहव पुरुषा दत्तभृतिभक्तवेतना तान् बहून् तित्तिराश्च यावद् मयूराश्च जीवित एव निष्पक्षयन्ति निष्पक्षयित्वा श्रीदाय महानसिकायोपनयन्ति। तत स श्रीदो महानसिको बहूना जलचरस्थलचर खेचराणा मासानि कल्पनीकल्पितानि करोति, तद्यथा—सूक्ष्मखडितानि च वृत्तदीर्घह्रस्वखडितानि हिमपक्वानि

णामं णगरे होत्था। मित्ते राया। तस्स णं मित्तस्स सिरीए नामं महाणसिए होत्था। अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे। तस्स णं सिरीयस्स महाणसियस्स बहवे मच्छिया य वागुरिया य साउणिया य दिन्नभतिभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं बहवे सण्हमच्छा य जाव पडागातिपडागे य अए य जाव महिसे य तित्तिरे य जाव मयूरे य जीविताओ ववरोवेंति ववरोवेत्ता सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति। अन्ने य से बहवे तित्तिरा य जाव मऊरा य पंजरंसि संनिरुद्धा चिट्ठंति। अन्ने य बहवे पुरिसा दिन्नभतिभत्तवेयणा ते बहवे तित्तिरे य जाव मऊरे य जीवन्ते चेव निप्पंखेंति निप्पंखेत्ता सिरीयस्स महाणसियस्स उवणेंति। तते णं से सिरीए महाणसिए बहूणं जलयरथलयरखहयराणं मंसाइं कप्पणीकप्पियाइं करेति, तंजहा–सण्हखंडियाणि य वट्ट–दीहरहस्सखंडियाणि य हिमपक्काणि य जम्मघम्ममारुयपक्काणि य कालाणि य हेरंगाणि य महिट्ठाणि य आमलगरसियाणि य मुद्दिया–कविट्ठ–दालिमरसियाणि य मच्छरसियाणि य तलियाणि य भज्जियाणि य सोल्लियाणि य उवक्खडावेति। अन्ने य बहवे मच्छरसए य एणेज्जरसए य तित्तिर० जाव मयूररसए य, अन्नं च विउलं हरियसागं उवक्खडावेंति २ मित्तस्स रण्णो भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए उवणेइ। अप्पणा वि य णं से सिरीए महाणसिए तेसिं च बहूहिं जाव जलयरथलयरखहयरमंसेहिं रसएहि य हरियसागेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च ६ आसाएमाणे ४ विहरति। तते णं से सिरीए महाणसिए एयकम्मे ४ सुबहुं पावकम्मं समज्जिणित्ता तेत्तीसं वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उववन्ने।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। गोतमा!—हे गौतम!। तेणं कालेणं २—उस काल और उस समय। जंबुद्दीवे—जम्बूद्वीप नामक। दीव—द्वीप के अन्तर्गत। भारहे वासे—भारतवर्ष मे। णंदिपुरे—नन्दिपुर। णाम—नाम का। णगरे—नगर। होत्था—था, वहां। मित्ते—मित्र नाम का। राया—राजा था। तस्स णं—उस। मित्तस्स—मित्र राजा का। सिरीए—श्रीद या श्रीयक। नाम—नाम का। महाणसिए—महानसिक—रसोइया। होत्था—था, जो कि। अहम्मिए—अधर्मी। जाव—यावत्। दुप्पडियाणंदे—दुष्प्रत्यानन्द—बड़ी कठनाई से प्रसन्न होने वाला था। तस्स णं—उस। सिरीयस्स—

च [1]जन्मघर्ममारुतपक्कानि च कालानि च हेरंगाणि च ताक्रिकानि च आमलकरसितानि च मृद्वीक–कपित्थदाडिमरसितानि च मत्स्यरसितानि च तलितानि च भर्जितानि च शूल्यानि चोपस्कारयति। अन्यांश्च बहून् मत्स्यरसांश्च एणरसांश्च तित्तिर० यावद् मयूररसांश्च, अन्यच्च विपुलं हरितशाकमुपस्कारयति २ मित्राय राज्ञे भोजनमण्डपे भोजनवेलायामुपनयति। आत्मनापि च श्रीदो महानसिकस्तेषां च बहुभिर्यावज्जलचरस्थलचरखचरमांसैः रसैश्च हरितशाकैश्च शूल्यैश्च तलितैश्च भर्जितैश्च सुरां च ६ आस्वादयन् ४ विहरति। ततः स श्रीदो महानसिकः एतत्कर्मा ४ सुबहु पापकर्म समर्ज्य त्रयस्त्रिंशत वर्षशतानि परमायु पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा षष्ठ्यां पृथिव्यामुपपन्नः।

---

(१) जन्मपक्वं स्वयमेव पक्कीभूतमित्यर्थः। (अभिधानराजेन्द्रकोष)

श्रीद । महाणसियस्स—महानसिक—रसोइए के । बहवे—बहुत से । मच्छिया य—मात्स्यिक—मच्छीमार । वागुरिया य—वागुरिक—जाल में फसाने का काम करने वाले व्याध अर्थात् जो जालों से जीवों को पकड़ते हैं । साउणिया य—तथा शाकुनिक—पक्षिघातक अर्थात् पक्षियों का वध करने वाले । दिन्न भतिभत्तवेयणा—जिन्हें वेतनरूप से भृति—रुपया पैसा, भक्त—धान्य और घृतादि दिया जाता हो, ऐसे नौकर पुरुष । कल्लाकल्लि—प्रतिदिन । बहवे—अनेक । सरहमच्छा य श्लक्ष्णमत्स्यो—कोमलचम वाले मत्स्यों, अथवा सूक्ष्ममत्स्यों—छोटे २ मत्स्यों, अथवा मत्स्यविशेषों । जाव—यावत् । पडागाति पडागे य—पताकातिपताकों—मत्स्यविशेषों । अए य—अजों—बकरों । जाव—यावत् । महिसे य—तथा महिषों । तित्तिरे—तित्तिरों । जाव—यावत् । मयूरे य—मयूरों का । जीवियाओ—जीवन से । ववरोवेति ववरोवेत्ता—व्यपरोपित करते हैं—पृथक् करते हैं, जीवन से पृथक् कर के । सिरियस्स—श्रीद । महाणसियस्स—महानसिक को । उवणेति—अर्पण करते हैं, तथा । से—उस के । अन्ने य—अन्य । बहवे—बहुत से । तित्तिरा य—तित्तिर । जाव—यावत् । मयूरा य—मयूर । पंजरंसि—पिंजरों में । संनिरुद्धा—संनिरुद्ध—बन्द किये हुए । चिट्ठंति—रहते थे । अन्ने य—तथा और । बहवे—अनेक । दिन्नभतिभत्तवेयणा—जिन्हें वेतनरूप से रुपया पैसा और धान्य घृतादि दिया जाता था, ऐसे नौकर । पुरिसे—पुरुष । ते—उन । बहवे—अनेक । तित्तिरे य तित्तिरों । जाव—यावत् । मयूरे य—मयूरों को । जीवंतए चेव—जीते हुओं को ही । निप्पक्खेति निप्पंखेत्ता पक्ष—परों से रहित करते हैं, पक्षरहित कर के । सिरियस्स—श्रीद । महाणसियस्स—महानसिक को । उवणेति—अर्पण करते हैं । तते णं—तदनन्तर । से—वह । सिरिए—श्रीद । महाणसिए—महानसिक । बहूणं—अनेक । जलयर—जलचरों—जल में चलने वाले जीवों । थलयर—स्थलचरों—स्थल में चलने वाले जीवों । खहयराणं—खचरों—आकाश में चलने वाले जीवों के । मंसाइं—मांसों को । कप्पणी—कप्पियाइं करेति—कतरनी—छुरी से कल्पित करता है अर्थात् उन्हें काट कर खण्ड २ बनाता है । तंजहा—जैसे कि । सरहखंडियाणि य—सूक्ष्मखण्ड और । वट्ट—वृत्त—वर्तुल—गोल । दीह—दीर्घ लम्बे । रहस्सखंडियाणि—तथा ह्रस्व—छोटे २ खण्ड, जो कि । हिमपक्काणि—हिम—बर्फ से पकाए गए हैं । जम्म—जन्म से अर्थात् स्वत ही । घम्म—घर्म—गरमी तथा । मारुय—मारुत—वायु से । पक्काणि य—पकाए गए हैं । कालाणि य—तथा जो काले किये गये हैं । हेरंगाणि य—और हिंगुल—सिंगरफ के समान लाल वर्ण वाले किये गये हैं । महिट्ठाणि य—जो तक्रसंस्कारित हैं, और । आमलगरसियाणि य—जो आमलक—आंवले के रस से भावित हैं तथा । मुद्दिया—मृद्वीका—द्राक्षा । कविट्ठ—कपित्थ—कैथ । दालिमरसियाणि य—और अनार के रस से भावित हैं । मच्छरसि—याणि य—तथा जो मत्स्यरस से संस्कारित हैं और जो । तलियाणि य—तैलादि में तले हुए हैं । भज्जि—याणि य—अंगारादि पर भूने हुए हैं । सोल्लियाणि य—और जो शूलाप्रोत हैं अर्थात् शूल से पिरो कर पकाए गए हैं, उन को । उवक्खडावेति—तैयार करता है । अन्ने य—और । बहवे—बहुत से । मच्छरसए य—मत्स्यों के मांसों के रस । एणेज्जरसए य—एणों—मृगों के मांसों के रस । तित्तिर०—तित्तिरों के मांसों के रस । जाव—यावत् । मयूररसए य—मयूरों—मोरों के मांसों के रस, तैयार करता है । अन्नं च—और । विउलं—विपुल । हरियसागं—हरे शाक । उवक्खडावेति २—तैयार करता है, तैयार कर के । मित्तस्स रण्णो—मित्र नरेश के । भोयणमंडवंसि—भोजनमंडप में—भोजनालय में । भोयणवेलाए—भोजन के समय । उवणेइ—राजा को अर्पण करता था—भोजनार्थ प्रस्तुत किया करता था । अप्पणा वि य णं—और स्वयं भी । से—वह । सिरिए—श्रीद । महाणसिए—महानसिक ।

तेसिं च—उन । **बहूहिं**—अनेक । **जाव**—यावत् । **जलयर**—जलचर । **थलयर**—स्थलचर । **खहयर**—खेचर जीवों के । **मंसेहिं**—मांसों से । **रसेहि य**—तथा रसों से । **हरियसागेहि य**—तथा हरे शाकों से, जो कि । **सोल्लेहि य**—शूलाप्रोत कर पकाए गए हैं । **तलिएहि य**—तैलादि में तले हुए हैं । **भज्जिएहि य**—अग्नि आदि पर भूने हुए हैं, के साथ । **सुरं च ६**—छः प्रकार की सुराओं—मदिराओं का । **आसाएमाणे ४**—आस्वादनादि करता हुआ । **विहरति**—समय व्यतीत कर रहा था । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **सिरिए**—श्रीद । **महाणसिए**—महानसिक । **एयकम्मे ४**—एतत्कर्मा,[1] एतत्प्रधान, एतद्विद्य और एतत्समाचार । **सुबहुं**—अत्यधिक । **पावकम्मं**—पापकर्म का । **समज्जिणित्ता** उपार्जन कर के । **तेत्तीसं वाससयाइं**—तेतीस सौ वर्ष की । **परमाउ**—परम आयु । **पालइत्ता**—पाल कर—भोग कर । **कालमासे**—कालमास में । **कालं किच्चा**—काल करके । **छट्ठीए**—छठी । **पुढवीए**—पृथिवी—नरक में । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ ।

मूलार्थ—हे गौतम ! उस काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में नन्दिपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। वहां के राजा का नाम मित्र था। उस का श्रीद नाम का एक महान् अधर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द—कठिनाई से प्रसन्न किया जा सकने वाला, एक महानसिक-रसोइया था, उस के रुपया पैसा और धान्यादि रूप में वेतन ग्रहण करने वाले अनेक मात्स्यिक, वागुरिक और शाकुनिक नौकर पुरुष थे जो कि प्रतिदिन श्लक्ष्णमत्स्यों यावत् पताकातिपताकमत्स्यों तथा अजों यावत् माहिषों एवं तित्तिरों यावत् मयूरों आदि प्राणियों को मार कर श्रीद महानसिक को लाकर देते थे। तथा उस के वहां पिंजरों में अनेक तित्तिर यावत् मयूर आदि पक्षी बन्द किये हुए रहते थे।

श्रीद रसोइए के अन्य अनेक रुपया, पैसा और धान्यादि के रूप में वेतन लेकर काम करने वाले पुरुष जीते हुए तित्तिर यावत् मयूर आदि पक्षियों को पक्षरहित करके उसे लाकर देते थे। तदनन्तर वह श्रीद नामक महानसिक—रसोइया अनेक जलचर और स्थलचर आदि जीवों के मांसों को लेकर छुरी से उन के सूक्ष्मखण्ड, वृत्तखण्ड, दीर्घखण्ड और ह्रस्वखण्ड, इस प्रकार के अनेकविध खण्ड किया करता था। उन खण्डों में से कई एक को हिम—बर्फ में पकाता था, कई एक को अलग रख देता जिस से वे खण्ड स्वतः ही पक जाते थे, कई एक को धूप से एवं कई एक को हवा के द्वारा पकाता था, कई एक को कृष्ण वर्ण वाले एवं कई एक को हिंगुल के वर्ण वाले किया करता था। तथा वह उन खंडों को तक्र—सस्कारित आमलकरसभावित, मृद्वीका-द्राक्ष, कपित्थ—कैथ और दाडिम—अनार के रसों से तथा मत्स्यरसों से भावित किया करता था। तदनन्तर उन मांसखण्डों में से कई एक को तेल से तलता, कई एक को आग पर भूनता तथा कई एक को शूला से पकाता था।

इसी प्रकार मत्स्यमांसों के रसों को, मृगमांसों के रसों को, तित्तिरमांसों के रसों को यावत् मयूरमांसों के रसों को तथा और बहुत से हरे शाकों को तैयार करता था, तैयार करके महाराज मित्र के भोजनमंडप में ले जा कर महाराज मित्र को प्रस्तुत किया करता, तथा स्वयं भी वह श्रीद महानसिक उन पूर्वोक्त श्लक्ष्णमत्स्य आदि समस्त जीवों के मांसों, रसों, हरितशाकों जोकि शूलपक्व हैं, तले हुए हैं, भूने हुए हैं, के साथ छः प्रकार की सुरा आदि मदिराओं का आस्वादनादि करता हुआ समय व्यतीत कर रहा था।

तदनन्तर इन्हीं कर्मों को करने वाला, इन्हीं कर्मों में प्रधानता रखने वाला, इन्हीं को विद्या—विज्ञान रखने वाला तथा इन्हीं पापकर्मों को अपना सर्वोत्तम आचरण मानने वाला वह श्रीद रसोइया अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन कर ३३ सौ वर्ष की परमायु को पाल कर कालमास में काल करके

(१) **एतत्कर्मा, एतत्प्रधान**—आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७९ की टिप्पण में लिखा जा चुका है।

छठी पृथिवी- नरक मे उत्पन्न हुआ।

टीका—सामान्य पुरुष और महापुरुष मे यही भेद हुआ करता है कि साधारण पुरुष यदि किसी घटना-विशेष को देखता है तो उस मे कुछ भी शिक्षा ग्रहण करने का यत्न नहीं करता प्रत्युत दूसरी ओर मुह फेर लेता है और अपने उद्दिष्ट स्थान की ओर प्रस्थान कर जाता है। परन्तु इस प्रकार की उपेक्षागर्भित मनोवृत्ति महापुरुषों की नहीं होती। किसी विशेष घटना को देख कर महापुरुष उस के विषय मे उचित ऊहापोह करते हैं और उस के मूल कारण को ढूढने का यत्न करते हैं। कारण उपलब्ध होने पर उस के फल की ओर ध्यान देते हुए अपने आत्मा को शिक्षित करने का उद्योग करते हैं। अनगार गौतम स्वामी भी उन्हीं महापुरुषों मे से एक हैं, जो कि शौरिकपुर नामक नगर के राजमार्ग में देखी हुई घटनाविशेष के मूल कारण को ढूढना चाहते हैं और इसीलिये उन्होंने वीर प्रभु से पूछने का प्रयास किया था।

गौतम स्वामी के पूछने पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उस दृष्ट व्यक्ति के पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाना प्रारभ करते हुए कहा कि गौतम ! बहुत पुरानी बात है। इसी जम्बूद्वीप के अन्तर्गत (१)भारतवर्ष के अन्दर नन्दिपुर नाम का एक नगर था, जोकि परमसुन्दर एव रमणीय था। नगर के शासक महाराज मित्र के नाम से विख्यात थे। वे पूरे प्रजाहितैषी और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। महाराज मित्र के यहा श्रीद नाम का रसोइया था, जो कि महा अधर्मी यावत् जिस को प्रसन्न करना अत्यधिक कठिन था। उस रसोइए ने रुपया, पैसा और धान्यादि के रूप मे वेतन लेकर काम करने वाले ऐसे अनेक नौकर रखे हुए थे, जो मच्छियों को मारते तथा अन्य पशुओं को जाल में फसा कर पकड़ते एव पशुपक्षियों का वध कर उसे लाकर देते। श्रीद रसोइया इन सब को उनके परिश्रम के अनुसार वेतन देता और उन को अधिक परिश्रम से काम करने की प्रेरणा करता।

वे लोग प्रतिदिन अनेक जाति की मच्छियों को पकडते, तथा तित्तर, बटेर, कबूतर, मोर आदि पक्षियों एव जलचरों, स्थलचरों और आकाश मे उडने वाले जानवरों को पकड़, उन का वध करके श्रीद के पास लाते। इसी प्रकार तित्तर, बटेर और कबूतर आदि पक्षियो के जीते जी पर उखाड कर उन्हें श्रीद के पास पहुचाते। श्रीद भी उन जीवो के मास के छोटे, बडे, लम्बे और गोल अनेक प्रकार के टुकड़े करता, उन्हें श्यामवर्ण वाले एव हिंगुल—सिंगरफ के समान वर्ण वाले करता, तथा उन मे से कई एक को हिम मे रख कर पकाता, कई एक को स्वत पकने के लिये अलग रखदेता, कई एक को धूप से एव कई एक को वायु अर्थात् भाफ आदि से पकाना, तथा उन मासखण्डों मे से कई एक को तक्र मे संस्कारित करता एव कई एक को आवलों के रसों मे, कई एक को कपित्थ (कैथफल) के रसों मे, कई एक को अनार के रसों मे एव कई एक को मत्स्यों के रसों मे संस्कारित करता। तदनन्तर उन्हे तलता, भूनता और शूला से पकाता। इसी भाति मत्स्यादि जीवों के मासों का रस तैयार करता, एव विविध प्रकार के हरे शाकों को तैयार करता और महाराज मित्र के भोजनमंडप मे तैयार किये उन मासादि पदार्थों को लाकर भोजन के समय महाराज मित्र नरेश को प्रस्तुत करता और स्वय भी उक्त प्रकार के उत्कृष्ट मासो तथा मदिराओं का यथारुचि सेवन किया करता था। इन्हीं हिंसापूर्ण जघन्य प्रवृत्तियों मे अधिकाधिक आसक्त रहना उस का स्वभाव बन गया था। अन्त मे उसे इन दुष्कर्मों के फलस्वरूप मर कर छठी नरक

(१) आजकल जितना देश भारतवर्ष के नाम से ग्रहण किया जाता है, वह जैनसम्मत भारतवर्ष से बहुत न्यून है। जैन परिभाषा के अनुसार उस मे ३२ हजार देश हैं और वह बड़ा विशाल एव विस्तृत है।

में उत्पन्न होना पड़ा।

प्रस्तुत सूत्र में शौद रसोइए के हिंसापरायण व्यापार का जो दिग्दर्शन कराया गया है और उस के फलस्वरूप उस का जो छठी नरक मे जाने का उल्लेख किया गया है, उस पर से हिंसक प्रवृत्ति कितनी दूषित और आत्मा का पतन करने वाली होती है ?, यह भलीभांति सुनिश्चित हो जाता है। शौद न अपनी क्रूरतम सावद्य प्रवृत्ति से इतने तीव्र पापकर्मों का बन्ध किया कि उसे अत्यन्त दीर्घकाल तक कल्पनातीत यातनायें भोगनी पड़ी। अत आत्मिक उत्कर्ष के अभिलाषियो को इस प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति से सदा और सर्वथा पराङ्मुख रह कर अपने देवदुर्लभ मानव भव को सार्थक करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

इस के अतिरिक्त शौद रसोइए के जीवनवृत्तान्त का उल्लेख कर के सूत्रकार ने सुखाभिलाषी सहृदय व्यक्तियो के लिये प्राणिवध, मांसाहार तथा मदिरापान से विरत रहने की बलवती पवित्र प्रेरणा की है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शौद रसोइया अनेकानेक जीवों के प्राणों का विनाश करने, मांसाहार तथा मदिरापान की जघन्य प्रवृत्तियो से उपार्जित दुष्कर्मों के कारण छठी नरक में गया, वहा उसे २२ सागरोपम के बड़े लम्बे काल के लिये अपनी हिंसामूलक करणी के भीषण फल का उपभोग करना पड़ा। ठीक इसी भांति जो व्यक्ति हिंसापरायण जीवन बनाता हुआ मांसाहार और मदिरापान की दुर्गतिप्रद प्रवृत्तियों में अपने को लगाएगा वह भी शौद रसोइए की तरह नरकों में दु ख पाएगा और अधिकाधिक संसार में रुलेगा—यह बतलाकर सूत्रकार ने प्राणिवध, मांसाहार तथा मदिरापान के त्याग का पाठको को उत्तम उपदेश देने का अनुग्रह किया है।

मांसाहार के दुष्परिणाम का वर्णन करने वाले शास्त्रों में अनेकानेक प्रवचन उपलब्ध होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है कि श्री मृगापुत्र अपने माता पिता से कहते हैं कि मृगादि जीवों के मांस से अपने शरीर को पुष्ट करने के जघन्य कर्म के फल को भोगने के लिये जब मैं नरकगति को प्राप्त हुआ तो वहा पर यमपुरुषों ने मुझ से कहा कि अय दुष्ट ! तुम्हें मृगादि जीवों के मांस से बहुत प्यार था। इसी लिये तू मांसखण्डों को भून २ कर खाया करता था और उस में आनन्द मनाता था। अच्छा, अब हम भी तुझ को उसी प्रकार से निष्पन्न मांस खिलाते हैं। ऐसा कह कर उन यमपुरुषों ने मेरे शरीर में से मांस के टुकड़े काट कर और उन को अग्नि के समान तपाकर मुझे बलात् अनेकों बार खिलाया[१]। मेरे रोने पीटने की ओर उन्हों ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। तब मुझे वहा इतना महान दु ख होता था कि जिस को स्मरण करते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। तात्पर्य यह है मांसाहारी व्यक्तियों की नरकों में बड़ी दुर्दशा होती है। जिस प्रकार इस भव में वे दूसरे जीवों के छटपटाने एव चिल्लाने पर जरा भी ध्यान नहीं करते हैं, ठीक उसी प्रकार वैसी ही गति उन की नरक में होती है। वहा पर भी उन के रुदन आक्रन्दन एव विलाप की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

आहार की शुद्धि अथवा अशुद्धि भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों के चुनाव पर निर्भर रहा करती है। जो भक्षण किये गये पदार्थ बुद्धि में सात्त्विकता पैदा करने वाले होते हैं, वे भक्ष्य और जिन के भक्षण से चित्त मे तामसिकता या विकृति पैदा हो वे अभक्ष्य कहलाते हैं। आत्मा पर जिन पदार्थों के भक्षण का अधिक दोषपूर्ण प्रभाव पड़ता है, उन में प्रधानरूप से **मांस** और **मदिरा** ये दो पदार्थ माने गए हैं। **मांस** और **मदिरा** के प्रयोग से आत्मा के ज्ञान और चारित्र रूप गुणों पर विरोधी एव दुर्गतिमूलक संस्कारों का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है और उस की उत्क्रान्ति में अधिक से अधिक बाधा पड़ती

---

(१) तुहं पियाइं मंसाइं खण्डाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओमि समंसाइं, अग्गिवण्णाइ णेगसो ॥　　(उत्तराध्ययन सूत्र अ० १९/७०)

है । आत्मा शुद्ध विकसित और हल्की होने के बदले अधिक अशुद्ध और भारी होता चला जाता है, तथा उत्थान के बदले पतन की ओर ही अधिक प्रस्थान करने लगता है, और अन्त में वह अकाममृत्यु को उपलब्ध करता है। जो जीव अज्ञान के वशीभूत हो कर मृत्यु को प्राप्त करते हैं, उन की मृत्यु को अकाममृत्यु—बालमरण तथा जो जीव ज्ञानपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होते हैं उन की यह ज्ञानगर्भित मृत्यु सकाममृत्यु—पण्डितमरण कहलाती है। मांस और मदिरा का सेवन करने वाले अकाममृत्यु को प्राप्त किया करते हैं जब कि अहिंसा सत्यादि सदनुष्ठानों के सौरभ से अपने को सुरभित करने वाले पुण्यात्मा जितेन्द्रिय साधु पुरुष सकाममृत्यु को। इस के अतिरिक्त बालमृत्यु दुर्गतियों के प्राप्त कराने का कारण बनता है, तथा सकाममृत्यु से सद्गतियों की प्राप्ति होती है, इस से यह स्पष्ट हो जाता है मांस और मदिरा का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये ।

महाभारत[2] के अनुशासन पर्व में लिखा है कि जो पुरुष अपने लिये आत्यन्तिक शान्ति का लाभ करना चाहता है, उस को जगत में किसी भी प्राणी का मांस किसी भी निमित्त से नहीं खाना चाहिये ।

सम्पूर्ण रूप से अभयपद की प्राप्ति को मुक्ति कहते हैं। इस अभयपद की प्राप्ति उसी को होनी है जो दूसरों को अभय देता है। परन्तु जो अपने उदरपोषण अथवा जिह्वास्वाद के लिये कठोर हृदय बन कर मृगादि जीवों की हिंसा करता है, या कराता है, प्राणियों को भय देने वाला तथा उन का अनिष्ट एवं हनन करने वाला है, वह मनुष्य अभय पद को कैसे प्राप्त कर सकता है ?, अर्थात् कभी नहीं। भगवद्गीता ने साधना में लगे हुए साधकों के लिये—**सर्वभूतहिते रता**—और भक्त के लिये "—**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र करुण एव च**—" ऐसा कह कर सर्व प्राणियों का हित और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री और दया करने का विधान किया है। प्राणियों के हित और दया के बिना परम—साध्य निर्वाण पद की प्राप्ति तीन काल में भी नहीं हो सकती। अतः आत्मकल्याण के अभिलाषी मानव को किसी समय किसी प्रकार किञ्चित मात्र भी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए।

धर्म में सब से पहला स्थान भगवती अहिंसा को दिया गया है शेष सदनुष्ठान तो उस के अंग हैं, परन्तु अहिंसा परम धर्म है। धर्म को मानने वाले सभी लोगों ने अहिंसा की बड़ी महिमा गाई है। वास्तव में देखा जाए तो बात यह है कि जो धर्म मनुष्य की वृत्तियों को त्याग, निवृत्ति और संयम के पथ का पथिक बनाता है वही यथार्थ धर्म है। इस के विपरीत जो धर्म इन बातों का उपदेश या इन की प्रेरणा नहीं करता वह धर्म ही नहीं है। अहिंसा धर्म में

---

(१) हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मासं, सेयमेयं त्ति मन्नइ ॥ (उत्तराध्ययन सू० अ० ५/९)

अर्थात् अकाममृत्यु को प्राप्त करने वाला अज्ञानी जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है छल कपट करता है, चुगली करता है तथा **मांस** एवं **मदिरा** का सेवन करता हुआ भी अपने इन कुत्सित आचरणों को श्रेष्ठ समझता है ।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **मांस** और **मदिरा** का सेवन करने वाले अज्ञानी जीव **अकाममृत्यु** को प्राप्त कर दुर्गतियों में धक्के खाते रहते हैं। अतः मांस और मदिरा का सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

(२) य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयेत मांसानि, प्राणिनामिह सर्वशः ॥ (महाभारत अनु० ११५/५५)

त्यागादि की पूर्वोक्त ये सभी बातें पाई जाती हैं। अतः मांसभक्षण करने वाले अहिंसा धर्म का हनन करते हैं। इस में कोई शंका नहीं की जा सकती है। धर्म का हनन ही पाप है। पाप मानव को चतुर्गतिरूप संसार में रुलाना है और जन्म तथा मरण से जन्य अधिकाधिक दुःखों के प्रवाह में प्रवाहित करता रहता है। अतः पापों से बचने के लिये भी मांसाहार नहीं करना चाहिये।

जिन मांसाहारी लोगों का यह कहना है कि हम पशुओं को न तो मारते हैं और न उन के मारने के लिये किसी को कहते हैं, फिर हम पापी कैसे ?, इस का उत्तर यह है कि कसाईखाने मांस खाने वालों के लिये ही बने हैं। यदि मांसाहारी लोग मांस न खायें तो कोई प्राणिवध क्यों करे ?, जहां कोई ग्राहक न हो तो वहां कोई दुकान नहीं खोला करता। दूसरी बात यह है कि केवल अपने हाथों किसी को मारने का नाम हिंसा नहीं है। प्रत्युत हिंसा मन वचन और काया के द्वारा करना कराना और अनुमोदन करना इस भांति नौ प्रकार की होती है। मांसाहारी का मन, वचन और शरीर मांसाहारी है फिर भला वह हिंसाजनक पाप से कैसे बच सकता है ? इस के अतिरिक्त शास्त्रों में—१—मांस के लिये सलाह — आज्ञा देने वाला। २— जीवों के अंग काटने वाला। ३—जीवों को मारने वाला। ४ मांस खरीदने वाला। ५—मांस बेचने वाला। ६ मांस पकाने वाला। ७—मांस परोसने वाला और ८ — मांस खाने वाला। इस भांति (१)आठ प्रकार के कसाई बतलाए गए हैं। इन में मांस खाने वाले को स्पष्टरूप से घातक माना है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि एक बार भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! "—वह मुझे खाता है इस लिये मैं भी उस को खाऊंगा—" यह मांस शब्द का मांसत्व है—ऐसा समझो। तात्पर्य यह है कि मांस पद को मां और स इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। मां का अर्थ होता है—मुझ को और स वह—इस अर्थ का परिचायक है। अर्थात् मांस शब्द '—जिस को मैं खाता हूं, एक दिन वह मुझे भी खायेगा—' इस अर्थ का बोध कराता है। अतः अपने भविष्य को सुरक्षित रखने के लिये कभी भी मांस का सेवन नहीं करना चाहिए।

'—जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन—" यह अभियुक्तोक्ति इस बात में सबल प्रमाण है कि भोजन से ही मन बनता है। मनुष्य जिन पशु पक्षियों का मांस खाता है, उन्हीं पशु पक्षियों के गुण, आचरण आदि उस में उत्पन्न हो जाते हैं। उन की आकृति और प्रकृति वैसी ही क्रमशः बनती चली जाती है। दूसरे शब्दों में सात्त्विक भोजन करने से सतोगुणमयी प्रकृति बन जाती है। राजसी भोजन करने से रजोगुणमयी और तामस भोजन करने से तमोमयी प्रकृति बन जाती है। अतः खाने के विषय में शान्तचित्त से तथा स्वच्छ हृदय से विचार करते हुए मनुष्य का यह कर्तव्य बन जाता है कि वह मानव की प्रकृति को छोड़ कर पाशविक प्रकृति का आश्रयण न करे, अन्यथा उसे नरकों में भीषणातिभीषण दुःखों का उपभोग करना पड़ेगा।

---

(१) अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चापहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥ (मनुस्मृति ५/५१)

(२) मां स भक्षयते यस्माद्, भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्धस्व भारत ! ॥ (महाभारत ११६/३५)

शास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है कि [1]मास न खाने वाला और प्राणियों पर दया करने वाला मनुष्य समस्त जीवों का आश्रयस्थान एव विश्वासपात्र बन जाता है, उस से ससार मे किसी प्रकार का उद्वेग नही होने पाता और न वह ही किसी द्वारा उद्वेग का भाजन बनता है । वह निर्भय रहता है और दीर्घायु उपलब्ध करता है । बीमारी उस से कोसों दूर रहती है। इस के अतिरिक्त मास के न खाने से जो पुण्य उपलब्ध होता है उस के समान पुण्य न सुवर्ण के दान से होता है और न गोदान एव न भूमी के दान से प्राप्त हो सकता है ।

मासाहार स्वास्थ्य को भी विशेष रूप से हानि ही पहुँचाता है। मासाहार की अपेक्षा शाकाहार अधिक परिपुष्ट एव बुद्धिशाली बनाता है । एक बार—**मांसभक्षण करना अच्छा है या बुरा ?**—इस बात की परीक्षा अमेरिका मे दस हजार विद्यार्थियों पर की गई थी । पाच हजार विद्यार्थी शाक, फल, फूल आदि पर रखे गये थे जब कि पाच हजार विद्यार्थी मासाहार पर। छ महीने तक यह प्रयोग चालू रहा । इस के बाद जो जाच की गई उसमे मालूम हुआ कि जो विद्यार्थी मासाहार पर रखे गये थे उन की अपेक्षा शाकाहारी विद्यार्थी सभी बातो मे अग्रेसर—तेज़ रहे । शाका-हारियो में दया, क्षमा आदि मानवोचित गुण अधिक परिमाण में विकसित हुए तथा मासाहारियों की अपेक्षा शाकाहारियों मे बल अधिक पाया गया और उन का विकास भी बहुत अच्छा हुआ। इस परीक्षा के फल को देख कर वहा के लाखों मनुष्यों ने मास खाना छोड दिया ।

इस के अतिरिक्त आप पक्षियों पर दृष्टि डालिए । क्या आप ने कभी कबूतर को कीड़े खाते देखा है ? उत्तर होगा—कभी नही, परन्तु कौवे को ?, उत्तर होगा – हा !, अनेकों बार । आप कबूतर बनना पसन्द करते हैं या कौवा ?, इस का उत्तर सहृदय पाठकों पर छोडता हू ।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि मासभक्षण किसी भी प्रकार से आ-दरणीय एव आचरणीय नहीं है, प्रत्युत वह हेय है एव त्याज्य है । अत मास खाने वाले मनुष्यों से हमारा सानुरोध निवेदन है कि इस पर भली भाति विचार करे और मनुष्यता के नाते, दया और न्याय के नाते, शरीरस्वास्थ्य और धर्मरक्षा के नाते तथा नरकगति के भीषणातिभीषण असह्य सकटों से अपने को सुरक्षित रखने के नाते इन्द्रियदमन करते हुए मासाहार को सर्वथा छोड़ डाल और सब जीवों को—**दानों मे सर्वश्रेष्ठ अभयदान**—दे कर स्वय अभयपद—निर्वाणपद उपलब्ध करने का स्तुत्य एव सुखमूलक प्रयास करें ।

जिस प्रकार [2]मास दुर्गतिप्रद एव दु खमूलक होने से त्याज्य है, ठीक उसी प्रकार मदिरा का सेवन भी मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध होने मे हेय है, अनादरणीय है । मदिरा पीने वाले मनुष्यों की जो दुर्दशा होती है उसे आबालवृद्ध सभी जानते ही हैं, अत उस के स्पष्टीकरण करने के लिए किसी प्रमाण की अवश्यकता नहीं रहती । मदिरा को उर्दू भाषा में **शराब** कहते है । शराब शब्द दो पदों

(१) शरण्य सर्वभूतानां, विश्वास्य. सर्वजन्तुषु । अनुद्वेगकरो लोके, न चाप्युद्विजते सदा ॥
अधृष्य सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुज सदा । भवत्यभक्षयन् मांसं, दयावान् प्राणिनामिह ॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वश । मासस्याभक्षणे धर्मो, विशिष्ट इति न श्रुतिः ॥
(महा० अनु० ११५/३०—४२—४३)

(२) मासनिषेधमूलक अन्य शास्त्रीय प्रवचन पीछे ३१३ से लेकर ३१५ तक के पृष्ठों पर दिया जा चुका है । तथा मास मनुष्य की प्रकृति के नितान्त विरुद्ध है, इस सम्बन्ध में भी पृष्ठ ३९२ पर तथा ३९३ पर विचार किया जा चुका है ।

में बना है। प्रथम शर और दूसरा आब। शर शरारत, शैतानी तथा धूर्त्तता का नाम है। आब पानी को कहते हैं। अर्थात् जो पानी पीने वाले को इन्सान न रहने दे, उसे शैतान बना दे, धूर्त्तता के गढ़े में गिरा डाले, मा और बहिन की अन्तरमूलक बुद्धि का उच्छेद कर डाले, हानि और लाभ के विवेक से शून्य कर दे तथा हृदय में पाशविकता का सचार कर दे, उसे शराब कहते हैं। शराब शब्द की इस अर्थविचारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के निर्माण एव कल्याण के अभिलाषी मानव को शराब से कितना दूर एव विरत रहना चाहिये ?, इस के अतिरिक्त मदिरा के निषेधक अनेकानेक शास्त्रीय प्रवचन भी उपलब्ध होते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन में लिखा है कि राजकुमार मृगापुत्र अपने माता पिता को मदिरापान का परलोक में जो कटु फल भोगना पड़ता है, उस का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि पूज्य माता पिता जी ! स्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल भोगने लिये जब मैं नरक में उत्पन्न हुआ, तब मुझे यमपुरुषों ने कहा कि अरे दुष्ट ! तुझे मनुष्यलोक में मदिरा--शराब से बहुत प्रेम था जिस से तू नाना प्रकार की मदिराओं का बड़े चाव के साथ सेवन किया करता था। ले फिर, अब हम भी तुझे तेरी प्यारी मदिरा का पान कराते हैं। ऐसा कह कर उन यमपुरुषों ने मुझ को अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्बी और रुधिर—खून का जबर्दस्ती पान कराया। वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेकों बार। यमपुरुषों के उस दु खद एव बर्बर दण्ड का जब मैं स्मरण करता हूँ तो मेरा मानस काम्प उठता है और इसी लिये मैंने यह निश्चय किया है कि कभी भी मदिरा का सेवन नहीं करूगा तथा ऐसे अन्य सभी आपातरमणीय सासारिक विषयों को छोड़ कर सर्वथा सुखरूप सयम का आराधन करूगा।

दशवैकालिक सूत्र के पचम अध्ययन के द्वितीयोद्देश में मदिरापान का खण्डनमूलक बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। वहां लिखा है कि आत्मसयमी साधु सयमरूप विमलयश की रक्षा करता हुआ जिस के त्याग में सर्वज्ञ भगवान् साक्षी हैं, ऐसे [२]सुरा मेरक आदि सब प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन (पान) न करे।

सुरं वा मेरगं वा वि, अन्नं वा मज्जगं रसं। ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥३८॥

गुरु कहते हैं कि हे शिष्यो ! जो साधु धर्म से विमुख हो कर एकान्त स्थान में छिप कर मद्यपान करता है और समझता है कि मुझे यहां छिपे हुए को कोई नहीं देखता है, वह भगवान की आज्ञा का लोपक होने से पक्का चोर है। उस मायाचारी के प्रत्यक्ष दोषों को तुम स्वय देखो और अदृष्ट—मायारूप दोषों को मेरे से श्रवण करो।

पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ। तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥३९॥

मदिरासेवी साधु के लोलुपता, छल कपट, झूठ, अपयश और अतृप्ति आदि दोष बढ़ते जाते हैं अर्थात् उस की निरन्तर असाधुता ही असाधुता बढ़ती रहती है, उस में साधुता का तो नाम भी नहीं रहता।

वड्ढइ सुंडिया तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो। अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ॥४०॥

मदिरासेवी दुर्बुद्धि साधु अपने किए हुए दुष्ट कर्मों के कारण चोर के समान सदा उद्विग्न—अशान्तचित्त, रहता है, वह अन्तिम समय पर भी सवर – चारित्र की आराधना नहीं कर सकता।

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई। तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥४१॥

विचारमूढ मद्यप (मदिरा पीने वाला) साधु से न तो आचार्यों की आराधना हो सकती है और नाहीं साधुओं की। ऐसे साधु की तो गृहस्थ भी निंदा करते हैं क्योंकि वे उस के दुष्कर्मों को अच्छी तरह जानते हैं।

(१) तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पज्जिओमि जलन्तीओ वसाओ रुहिराणि य ॥ (उत्तराध्ययन सूत्र अ० १९/७१)

(२) सुरा मेरक—आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १४४ पर लिखा जा चुका है।

आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो । गिहत्था वि णं गरिहन्ति, जेण जाणंति तारिसं ॥४२॥

शास्त्रों मे प्रमाद—कर्तव्य कार्य में अप्रवृत्ति और अकर्तव्य कार्य मे प्रवृत्ति रूप असावधानता, पाच प्रकार के बतलाए गए हैं जो कि जीव को ससार में जन्म तथा मरण से जन्य दुःखरूप प्रवाह में अनादि काल से प्रवाहित करते रहते हैं । उन मे पहला प्रमाद **मद्य** है। मद्य का अर्थ है **मदिरा**—शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन करना । मद्य शुभ आत्मपरिणामों को नष्ट करता है और अशुभ परिणामों को उत्पन्न । मदिरा के सेवन से जहा अन्य अनेको हानिया दृष्टिगोचर होती हैं वहा इस म अनेकों जीवों की उत्पत्ति होते रहने से जीवहिसा का भी महान पाप लगता है। लौकिक जीवन को निंदित अप्रमाणित एव पाशविक बना देने के साथ २ परलोक को भी यह मदिरासेवन बिगाड देता है । आचार्य हरिभद्र ने बहुत सुन्दर शब्दों मे इस से उत्पन्न अनिष्ट परिणामों का वर्णन किया है । आप लिखते हैं—

वैरूप्य व्याधिपिण्ड स्वजनपरिभव कार्यकालातिपातो ।
विद्वेषो ज्ञाननाश स्मृतिमतिहरण विप्रयोगश्च सद्भि ॥
पारुष्य नीचसेवा कुलबलविलयो धर्मकामार्थहानि ।
कष्टं वै षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषा ॥

(हरिभद्रियाष्टक १९ वा श्लोक टीका)

अर्थात्—मद्यपान से १—शरीर कुरूप और बेडौल हो जाता है । २—शरीर व्याधियों का घर बन जाता है । ३ —घर के लोग तिरस्कार करते हैं । ४ —कार्य का उचित समय हाथ से निकल जाता है । ५ —द्वेष उत्पन्न हो जाता है । ६— ज्ञान का नाश होता है । ७—स्मृति और ८ बुद्धि का विनाश हो जाता है ९—सज्जनों से जुदाई होती है । १०— वाणी मे कठोरता आ जाती है । ११ नीचों की सेवा करनी पड़ती १२ —कुल की हीनता होती है । १३ —शक्ति का ह्रास होता है । १४—धर्म, १५—काम एव १६ -अर्थ की हानि होती है । इस प्रकार आत्मपतन करने वाले मद्यपान के दोष १६ होते है ।

जैनदर्शन की भाति जैनेतरदर्शन मे भी मदिरापान को घृणित एव दुर्गतिप्रद मान कर उस के त्याग के लिए बड़े मौलिक शब्दों मे प्रेरणा दी गई है। स्मृतिग्रन्थ मे लिखा है—

कृमिकीटपतगाना, विड्भुजा चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणा चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणा व्रजेत् ॥ (मनुस्मृति अ० १२, श्लोक ५६)

अर्थात् मदिरा के पीने वाला ब्राह्मण, कृमि, कीट—बड़े कीड़े, पतङ्ग, सूयर, और अन्य हिंसा करने वाले जीवों, की योनियों को प्राप्त करता है।

ब्रह्महा च सुरापश्च, स्तेयी च गुरुतल्पग ।
एते सर्वे पृथक ज्ञेया , महापातकिनो नरा ॥ (मनुस्मृति अध्याय ९/२३५)

अर्थात् ब्राह्मण को मारने वाला, मदिरा का पीने वाला, चौर्यकर्म करने वाला और गुरु की स्त्री के साथ गमन करने वाला ये सब **महापातकी—महापापी** समझने चाहिए । अर्थात् ब्रह्महत्या तथा **मदिरापान** आदि ये सब महापाप कहलाते हैं ।

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरा पिबेत ।
तया स काये निर्दग्धे, मुच्यते किल्बिषात्तत । (मनुस्मृति, अध्याय ११/९०)

अर्थात् मोह—अज्ञान से मदिरा को पीने वाला द्विज तब मदिरापान के पाप छुटता है जब गरम २ जलती हुई मदिरा को पीने से उस का शरीर दग्ध हो जाता है ।

यस्य कायगतं ब्रह्म, मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं, शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ (मनुस्मृति, अध्याय, ११/९७)

अर्थात् जिस ब्राह्मण का शरीरगत जीवात्मा एक बार भी मदिरा मे मिल जाता है, तात्पर्य यह है कि

एक बार भी जो ब्राह्मण मदिरा का सेवन करता है, उस का ब्राह्मणपना दूर हो जाता है और वह शूद्रभाव को उपलब्ध कर लेता है।

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात्, भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयं ॥१॥ (हितोपदेश)

अर्थात् मदिरा के पान करने से चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होती है, चित्त के भ्रान्त होने पर मनुष्य पापाचरण की ओर झुकता है, और पापों के आचरण से अज्ञानी जीव दुर्गति को प्राप्त करते हैं। इस लिए मदिरा—शराब को नहीं पीना चाहिए, नहीं पीना चाहिए।

एकतश्चतुरो वेदा, ब्रह्मचर्यं तथैकतः। एकतः सर्वपापानि, मद्यपानं तथैकतः॥ (अज्ञात)

अर्थात् तुला में एक ओर चारों वेद रख लिये जाएँ, तथा एक ओर ब्रह्मचर्य रखा जाए तो दोनों एक समान होते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्य का माहात्म्य चारों वेदों के समान है। इसी भांति एक ओर समस्त पाप और एक ओर मदिरा का सेवन रखा जाए तो ये भी दोनों समान ही हैं। तात्पर्य यह है कि मदिरा के सेवन करने का अर्थ है—सब प्रकार के पापों का कर डालना।

ख्यातं भारतमण्डले यदुकुलं, श्रेष्ठं विशालं परम्।
साक्षाद् देवविनिर्मिता वसुमतीभूषा पुरी द्वारिका॥
एतद् युग्मविनाशनं च युगपज्जातं क्षणात्सर्वथा।
तन्मूलं मदिरा नु दोषजननी, सर्वस्वसंहारिणी॥१॥ (अज्ञात)

अर्थात् यदुकुल भारतवर्ष में प्रसिद्ध, श्रेष्ठ, विशाल और उत्कृष्ट था, तथा द्वारिका नगरी साक्षात् देवों की बनाई हुई और पृथ्वी की भूषा—शोभा अथवा भूषणस्वरूप थी, परन्तु इन दोनों का विनाश एक साथ सर्वथा क्षणभर में हो गया। इस का मूलकारण दोषों को जन्म देने वाली और सर्वस्व का संहार करने वाली मदिरा—शराब ही थी।

जित पीतै मति दूर होय बरल पवै विच आय। अपना पराया न पछाणई खसमहु धक्के खाय।
जित पीते खसम विसरै दरगाह मिलै सजाय। झूठा मद मूल न पीचई जेका पार वसाय॥ (सिक्खशास्त्र)

अर्थात् जिस के पीने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और हृदयस्थल में खलबली मच जाती है। उस के अतिरिक्त अपने और पराए का ज्ञान नहीं रहता और परमात्मा की ओर से उसे धक्के मिलते हैं। जिस के पीने से प्रभु का स्मरण नहीं रहता और परलोक में दण्ड मिलता है ऐसे झूठे—निस्सार नशों का जहां तक बस चले कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये।

औगुन कहौं शराब का ज्ञानवन्त सुनि लेय। मानस से पशुआ करे, द्रव्य गांठि का देय।१।
अमल अहारी आतमा, कबहू न पावे पार। कहे कबीर पुकार के, त्यागो ताहि विचार।२

उर्दू कविता में शराब को "दुख्तरे रज़" (अंगूर की पुत्री) के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर सुप्रसिद्ध उर्दू के कवि अकबर ने व्यंगोक्ति द्वारा शराब की कितने सुन्दर शब्दों में निन्दा की है

उस की बेटी ने उठा रक्खी है दुनिया सर पर।
खैरियत गुज़री कि अंगूर के बेटा न हुआ॥

'मय है इक आग, न तन इस में जलाना हर्गिज़, मय है इक नाग, करीब इस के न जाना हर्गिज़।
मय है इक दाम², न दिल इस में फंसाना हर्गिज़, मय है इक ज़हर, न इस ज़हर को खाना हर्गिज़।
(१—शराब। २—जाल) भूल कर भी उसे तुम मुंह न लगाना हर्गिज़,

भूत की तरह यह जिस सर पर चढा करती है, [1]हदफे [2]तीरे [3]बला उसका किया करती है। [4]खिरमने होशो [5]खिरद को यह फना करती है, क्या बताऊ तुम्हे अहवाव यह क्या करती है ?,
कि क्यों होगा न मुझ से यह फसाना हर्गिज़।

DRINK NOT WINE NOR STRONG DRINK AND EAT NOT ANY UNCLEAN THING (JUDGES 13–4)

अर्थात् ईसाइयों के धर्मग्रन्थ इंजील में लिखा है कि शराब मत पिओ, नाही किसी अन्य मादक वस्तु का सेवन करो और नाही किसी अपवित्र वस्तु का भक्षण करो।

पाश्चात्य लोगों ने भी मदिरासेवन का पूरा २ विरोध किया है। एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि—Wine in and wit out—अर्थात् मदिरा के भीतर प्रवेश करते ही बुद्धि बाहिर हो जाती है।

इस के अतिरिक्त इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि शराब पीना स्वभाविक है या अस्वाभाविक ?। यदि शराब पीना स्वाभाविक होता तो सभी प्राणी शराबी होते। शराब न पीने वाला एक भी प्राणी न मिलता। परन्तु ऐसी बात नहीं है। साराश यह है कि जिस के बिना जीवन-निर्वाह न हो सके वही वस्तु स्वाभाविक कहलाती है। पानी के बिना कोई प्राणी जीवित नही रह सकता, अत पानी जीवन के लिये स्वाभाविक है। क्या शराब के सम्बन्ध मे यह बात कही जा सकती है ?, नहीं, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि शराब के बिना आज करोड़ों आदमी जीवित रह रहे हैं। अत यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस तरह पानी का पीना मनुष्य के लिए स्वाभाविक होता है, वैसे मदिरापान नहीं होता, अर्थात् मदिरापान अस्वाभाविक है।

शराब पीने वालो की जो शारीररिक, वाचनिक एव मानसिक अवस्था होती है, वह सब के सामने ही है। उसकी यहा पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मदिरापान की जितनी भी निन्दा की जाए उतनी ही कम है। मदिरा के ही कारण अनेक राजाओ तक का खून बहा है। मदिरा ने ही जोधपुर, बीकानेर और कोटा आदि के राजाओं एव सरदारों के प्राणों का हरण किया है, ऐसा एक चारण—भाट कवि ने अपनी कविता में कहा है। इस कवि ने और भी बहुत से नाम गिनाए हैं, जो शराब के कटु परिणाम का शिकार बने हैं। इस दुष्ट मदिरा ने न जाने कितने कलेजे सडाए हैं, ? न मालूम कितने दैवी प्रकृति वालो को राक्षसी प्रकृति वाले बना डाला है ?, कौन जाने इसने कितने आबाद घर बर्बाद कर दिए हैं ?, इसी की बदौलत असख्य मनुष्य अपने सुखमय जीवन से हाथ धो कर दुःख के घर बने रहते हैं। जिस घर मे शराब पीने का रिवाज है, उस घर की अवस्था देखने पर कलेजा मुह को आता है। उस घर के स्त्रिया और बच्चे सब के सब टुकडे २ के लिए हाय हाय करते रहते हैं, पर घर का मालिक शराब के चगुल में ऐसा फस जाता है कि उस का उस ओर तनिक ध्यान भी नहीं जाता। वह तो मात्र मदिरा के नशे में ही मस्त हो कर झूमता रहता है। वह यह नहीं सोचने पाता कि इस के ही फलस्वरूप मेरे धन का, शक्ति का और मेरे सम्पूर्ण जीवन का सर्वतोमुखी विनाश होता जा रहा है। इस लिये ऐसे अनिष्टप्रद मदिरापान से सदा विरत रहने में कल्याण एव सुख है।

साराश यह है कि सूत्रकार ने प्रस्तुत में श्रीद रसोइए के मासाहार तथा मदिरापान के जघन्य दुष्कर्मों के फलस्वरूप उस को छठी नरक मे उत्पन्न होने के कथानक से विचारशील सुखाभिलाषी पाठकों को अनमोल शिक्षायें देने का अनुग्रह किया है। इस पर से पाठकों का यह

(१) निशाना (२) तीर का (३) आफत के (४) खलियान (५) अक्ल

कर्तव्य बन जाता है कि वे प्राणिवध, मांसाहार तथा मदिरापान की अन्यायपूर्ण, निन्दित, दुर्गतिप्रद एवं दुःखमूलक सावद्य प्रवृत्तियों से अपने को सदा दूर रख और अपना लौकिक तथा पारलौकिक आत्मश्रेय साधने का सुगतिमूलक सत्प्रयास करें। अन्यथा श्रीद रसोइए की भांति प्राणिघातादि से उपार्जित दुष्कर्मों का फल भोगने के लिये नरकादि गतियों में कल्पनातीत दुःखों का उपभोग करना पड़ेगा, एवं जन्ममरणरूप दुःखसागर में रुलना पड़ेगा।

—अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे- यहां पठित जाव—यावत् पद से अभिमत पदों का विवरण पृष्ठ ५५ पर किया जा चुका है। पाठक वहीं देख सकते हैं।

मच्छिया—इत्यादि पदों का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

१ मच्छिया—मात्स्यिका, मत्स्यघातिन —अर्थात् मत्स्यों को मारने वाले व्यक्ति का नाम मात्स्यिक है।

२—वागुरिया—वागुरिका', मृगाणां बन्धका —अर्थात् मृगादि पशुओं को जाल में फसाने वाला व्यक्ति वागुरिक कहलाता है।

३—साउणिया—शाकुनिका, पक्षिणां घातका —अर्थात् पक्षियों का घात—नाश करने वाला व्यक्ति शाकुनिक कहा जाता है।

४—दिण्णभतिभत्तवेयणा—इस पद की व्याख्या पीछे पृष्ठ २१६ पर की जा चुकी है।

५—सण्हमच्छा जाव पडागातिपडागे—यहां पठित—जाव—यावत् पद—खवल्लमच्छा य जुगमच्छा य विझिमडिमच्छा य हलिमच्छा य मग्गरिमच्छा य रोहियमच्छा य सागरमच्छा य गागरमच्छा य वडमच्छा य वडगरमच्छा य तिमिमच्छा य तिमिंगिलमच्छा य णक्कमच्छा य तंदुलमच्छा य कणिक्कमच्छा य सालिमच्छा य मणियामच्छा य लगुलमच्छा य मूलमच्छा य—इत्यादि पदों का परिचायक है। श्लक्ष्णमत्स्य, खवल्लमत्स्य, युगमत्स्य, विझिमडिमत्स्य, हलिमत्स्य, मग्गरिमत्स्य, रोहितमत्स्य, सागरमत्स्य, गागरमत्स्य, वटमत्स्य, वटगरमत्स्य, तिमिमत्स्य, तिमिङ्गिलमत्स्य, नक्रमत्स्य (नाका), तन्दुलमत्स्य (चावल के दाने जितना मत्स्य), कणिकमत्स्य, शालिमत्स्य, मणिकामत्स्य, लगुलमत्स्य, मूलमत्स्य—ये सब मत्स्यविशेषों के ही नाम हैं।

६—अए जाव महिसे—यहां पठित—जाव—यावत्—पद' —एले य रोज्झे य ससए य पसए य सूयरे य सिंहे य हरिणे य वसभे य—"इन पदों का ग्राहक है। अज आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ २८९ पर किया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद प्रथमान्त हैं, जब कि प्रस्तुत में द्वितीयान्त हैं। विभक्तिगत भेद के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है। तथा—तित्तिरे य जाव मयूरे—यहां पठित जाव—यावत् पद—वट्टए य लावए य कवोए य कुक्कुडे य—इन पदों का परिचायक है। तित्तर तीतर को, वर्तक बटेर को, लावक लावा नामक पक्षिविशेष को, कपोत कबूतर को और कुक्कुट मुर्गे को कहते हैं।

७—कप्पणीकप्पियाइं —कल्प्यते भिद्यते यया सा कल्पनी—छुरिका, कर्त्तरिका वा —अर्थात् छुरी या कैंची से काटे हुए मांस कल्पनीकल्पित कहलाते हैं।

प्रस्तुत में—सण्हखण्डियाणि आदि जितने पद हैं वे सब मांस के विशेषण हैं। इन की व्याख्या निम्नोक्त है—

१—सण्हखण्डियाणि—सूक्ष्मरूपेण खण्डीकृतानि—अर्थात् जिसे सूक्ष्मरूप से खण्डित किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस के छोटे २ टुकड़े किये गए हैं वह सूक्ष्मखण्डित कहलाता है।

२—वट्टदीहरहस्सखण्डियाणि—वृत्तं च दीर्घं च ह्रस्वं च एषां समाहारः, वृत्तदीर्घह्रस्वं, वृत्तदीर्घह्रस्वरूपेण खण्डितानि। वृत्तखण्डितानि—गोलाकारेण खण्डीकृतानि, दीर्घखण्डितानि,

दीर्घरूपेण खण्डितानि, ह्रस्वखण्डितानि — —ह्रस्वरूपेण खण्डितानि —अर्थात् वर्तुल —गोलाकार वाले खण्डित पदार्थ **वृत्तखण्डित**, दीर्घ -लम्बे आकार वाले खण्डित पदार्थ **दीर्घखण्डित**, ह्रस्व - छोटे २ आकार वाले खण्डित पदार्थ **ह्रस्व खण्डित** कहलाते हैं। प्रस्तुत में ये सब पद मांस के विशेषण होने के कारण **—वृत्तखण्डित मांस दीर्घखण्डित मांस और ह्रस्वखण्डित मांस**—इस अर्थ के परिचायक हैं।

३—**हिमपक्काणि हिमपक्वानि**—अर्थात् हिम बर्फ का नाम है, बर्फ में पकाये गये **हिमपक्व** कहलाते हैं।

४—**जम्मघम्ममारुयपक्काणि—जन्मघर्ममारुतपक्वानि** । प्रस्तुत में **जन्मपक्व, घर्मपक्व** और **मारुतपक्व** ये तीन पद हो सकते हैं। **जन्मपक्व** शब्द स्वतः ही पके हुए के लिये प्रयुक्त होता है, अर्थात् जिस के पकाने में हिम, धूप तथा हवा आदि विशेष करण न हों, वह **जन्मपक्व** कहलाता है। जो धूप में पकाया गया हो उसे **घर्मपक्व** कहते हैं, और जो मारुत –हवा में पकाया गया हो, वह **मारुतपक्व** कहलाता है, अर्थात् वाष्प—भाफ आदि द्वारा पक्व **मारुतपक्व** कहा जाता है

५—**कालाणि—कालानि**, इस पद के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं। जैसे कि १—जो किसी भी साधन से कृष्णवर्ण वाला बनाया गया हो वह **काल** कहलाता है। २—काल शब्द प्रस्तुत में **कालपक्व** इस अर्थ का बोधक है। तात्पर्य यह है कि समय के अनुसार अर्थात् शीत, ग्रीष्म, वर्षादि ऋतुओं या प्रातः, मध्याह्न आदि काल के अनुसार पके हुए को **कालपक्व** कहते हैं।

६—**हेरंगाणि**—इस पद के भी दो अर्थ किये जाते हैं। जैसे कि १—जो हिंगुल—सिंगरफ के समान लाल वर्ण वाला किया गया है, उसे **हेरंग** कहते हैं। अथवा २—मत्स्य के मांस के साथ जो पकाया गया है वह **हेरंग** कहलाता है।

७—**महिट्ठाणि**—कोषकारों के मत में **महिट्ठ** यह देश्य—देशविशेष में बोला जाने वाला पद है, और **तक्र से संस्कारित** इस अर्थ का परिचायक है।

८—**आमलगरसियाणि—आमलकरसितानि**—,अर्थात् जो आंवले के रस से संस्कारित हो उसे **आमलकरसित** कहते हैं।

९—**मुद्दिआकविट्ठदालिमरसियाणि मृद्वीकाकपित्थदाडिमरसितानि** - अर्थात् मृद्वीका—द्राक्षा के रस से संस्कारित **मृद्वीकारसित**, कपित्थ – कैंथ (एक प्रकार का कण्टीला पेड़ जिस में बेर के समान तथा आकार के कसैले और खट्टे फल लगते हैं) के फलों के रस से संस्कारित **कपित्थरसित**, और दाडिम – अनार के रस से संस्कारित **दाडिमरसित** कहा जाता है।

१०—**मच्छरसियाणि-मत्स्यरसितानि**, अर्थात् मत्स्य के रस से संस्कारित **मत्स्यरसित** कहलाता है।

११—**तलियाणि य भज्जियाणि य सोल्लियाणि य—तलितानि च तैलादिषु, भर्जितानि च अंगारादिषु, शूल्यानि च शूलपक्वानि शूले धृत्वा अंगारादिषु पक्वानि**, अर्थात् तैलादि में तले हुए को **तलित**, अंगारादि पर भूने हुए को **भर्जित** तथा शूला के द्वारा अंगारादि पर पकाया गया मांस **शूल्य** कहलाता है।

—**तित्तिर० जाव मयूररसए**— यहां पठित **जाव**—यावत् पद –**वट्टगरसए य लावगरसए य कपोयरसए य कुक्कुडरसए य**—इन पदों का, तथा—**वहूहिं जाव जलयर**— यहां पठित **जाव—यावत** पद —**सण्हमच्छमंसेहि य खवल्लमच्छमंसेहि य** से लेकर - **पडागातिपडागमच्छमंसेहि य**—यहां तक के पदों का, तथा —**अयमंसेहि य एलमंसेहि य** - से लेकर—**महिसमंसेहि य** – यहां तक के पदों का तथा **—तित्तिरमंसेहि य वट्टगमंसेहि य**—से ले कर—**मयूरमंसेहि य**—यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार

को अभिमत है।

—सुरं च ६—यहां के अंक से—मधुं च मेरगं च जातिं च सीधुं च पसन्नं च—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ पृष्ठ १४४ पर लिखा जा चुका है। तथा—आसादेमाणे ४ — तथा —परिभुंजेमाणे ४—यहां के अंकों से अभिमत पाठ क्रमश पृष्ठ २५० पर और १७९ की टिप्पण में लिखा जा चुका है।

अब सूत्रकार शौरिक महानमिक के अग्रिम जीवन का वर्णन करते हैं—

मूल—[१]तते णं सा समुद्दत्ता भारिया जायनिंदुया यावि होत्था, जाया जाया दारगा विणिघायमावज्जंति, जहा गंगादत्ताए चिंता। आपुच्छणा। ओवयाइय, दोहलो जाव दारगं पयाता, जाव जम्हा णं अम्हं इमे दारए सोरियस्स जक्खस्स उवाइयलद्धए, तम्हा णं होउ अम्हं दारए सोरियदत्ते णामेणं। तते णं से सोरिए दारए पंचधाती० जाव उम्मुक्कबालभावे विण्णयपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते यावि होत्था। तते णं से समुद्दत्ते अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते। तते णं से सोरिए दारए बहूहिं मित्त० रोयमाणे ३ समुद्दत्तस्स णीहरणं करेति २ लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। सा—वह। समुद्दत्ता—समुद्रदत्ता। भारिया—भार्या। जायनिंदुया—जातनिद्रुता—मृतवत्सा। यावि होत्था—भी थी, उस के। जाया जाया—उत्पन्न होते ही। दारगा—बालक। विणिघायमावज्जंति—विनिघात—विनाश को प्राप्त हो जाते थे। जहा—जैसे। गंगादत्ताए—गंगादत्ता को। चिंता—विचार उत्पन्न हुए थे, तद्वत् समुद्रदत्ता के भी हुए। आपुच्छणा—पति से पूछना। ओवाइयं—यक्षमंदिर में जाकर मन्नत मानना। दोहलो—दोहद उत्पन्न हुआ। जाव—यावत् अर्थात् उस की पूर्ति की। दारगं—बालक को। पयाता—जन्म दिया। जाव—यावत्। जम्हा णं—जिस कारण। अम्हं—हमको। इमे—यह। दारए—बालक। सोरियस्स—शौरिक। जक्खस्स—यक्ष की। उवाइयलद्धए—मन्नत मानने से उपलब्ध हुआ है। तम्हा णं—इसलिये। अम्हं—हमारा। दारए—यह बालक। सोरियदत्ते—शौरिकदत्त। णामेणं—नाम से। होउ—हो। तते णं—तदनन्तर। से—वह। सोरिए—शौरिक। दारए—बालक। पंचधाती०—पांच धायमाताओं से परिगृहीत। जाव—यावत्। उम्मुक्कबालभावे—बालभाव को त्याग कर। विण्णयपरिणयमेत्ते—विज्ञान की परिणत—परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुआ। जोव्वणगमणुप्पत्ते यावि—युवावस्था को सम्प्राप्त भी। होत्था—हो गया था। तते णं—तदनन्तर अर्थात् उस के पश्चात्। से—वह। समुद्दत्ते—समुद्रदत्त। अन्नया—अन्य। कयाइ—किसी समय। कालधम्मुणा—कालधर्म से। संजुत्ते—संयुक्त हुआ अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया। तते णं—तदनन्तर अर्थात् मृत्युधर्म को प्राप्त होने के अनन्तर। से—वह। सोरिए—शौरिक। दारए—बालक। बहूहिं—अनेक। मित्त०—मित्रों, निजकजनों, स्वजनों—सम्बन्धिजनों, और परिजनों के साथ। रोयमाणे ३—रुदन, आ-

(१) छाया—ततः सा समुद्रदत्ता भार्या जातनिद्रुता चाप्यभवत्। जाता जाता दारका विनिघातमापद्यन्ते। यथा गंगादत्तायाः चिन्ता। आप्रच्छना। उपयाचितम्। दोहदो यावद् दारकं प्रजाता यावद् यस्मादस्माकमयं दारकः शौरिकस्य यक्षस्य उपयाचितलब्धः तस्माद् भवत्वस्माकं दारकः शौरिकदत्तो नाम्ना। ततः स शौरिको दारकः पञ्चधात्री० यावदुन्मुक्तबालभावो विज्ञकपरिणतमात्रो यौवनकमनुप्राप्तश्चाप्यभवत्। ततः स समुद्रदत्तोऽन्यदा कदाचित् कालधर्मेण संयुक्तः। ततः स शौरिको दारको बहुभिर्मित्र० रुदन् ३ समुद्रदत्तस्य निस्सरणं करोति २ लौकिकानि मृतकृत्यानि करोति।

क्रन्दन और विलाप करता हुआ। **समुद्ददत्तस्स**—समुद्रदत्त का। **णीहरणं**—निस्सरण—अरथी का निष्कासन। **करेति** करता है तथा। **लोइयाइं**—लौकिक। **मयकिच्चाइं**—मृतकसम्बन्धी कृत्या को। **करेति**-करता है।

मूलार्थ—उस समय समुद्रदत्ता भार्या जातनिद्रुता -मृतवत्सा थी, उस के बालक जन्म लेते ही मर जाया करते थे। गंगादत्ता की भान्ति विचार कर, पति से पूछ कर, मन्नत मान कर तथा दोहद की पूर्ति कर समुद्रदत्ता बालक को जन्म देती है। बालक के शौरिक यक्ष की मन्नत मानने से उपलब्ध होने के कारण माता पिता ने उस का शौरिकदत्त नाम रक्खा। तदनन्तर पांच धाय माताओं से परिगृहीत बाल्यावस्था को त्याग, विज्ञान की परिपक्व अवस्था से सम्पन्न हो वह युवावस्था को प्राप्त हुआ।

तदनन्तर किसी अन्य समय समुद्रदत्त कालधर्म को प्राप्त हुआ, तब रुदन, आक्रन्दन और विलाप करते हुए शौरिकदत्त बालक ने अनेक मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों एवं परिजनों के साथ समुद्रदत्त का निस्सरण किया—अरथी निकाली और दाहकर्म एवं अन्य लौकिक मृतकक्रियाएं कीं।

टीका—चपलता करने वाला एक वानर चाहे अपनी उमंग—खुशी में लकड़ी के चीरे हुए फट्टों में लगाई गई कीली को खैंच लेता है, परन्तु उन्हीं फट्टों के बीच में जिस समय उस की पूंछ या अण्डकोष भिंच जाते हैं तो वह चीखें मारता और अपनी रक्षा का भरसक यत्न करता है, परन्तु अब सिवाय मरने के उस के लिये कोई चारा नहीं रहता। ठीक इसी तरह पापकर्मों के आचरण में आनन्द का अनुभव करने वाले व्यक्ति चाहे कितना भी प्रसन्न हो लें परन्तु कर्मफल के भोगते समय वे उसी तरह चिल्लाते हैं, जिस तरह चपलता के कारण कीली को निकालने वाला मूर्ख वानर अण्डकोषों के पिस जाने पर चिल्लाता है। सारांश यह है कि उपार्जित किया कर्म अपना फल अवश्य देता है। चाहे करने वाला कहीं भी चला जाय। श्रीद रसोइया राजा को प्रसन्न करने के लिये मच्छिया के शिकार करने और उन के मांसों को विविध प्रकार से तैयार करने तथा अपनी जिह्वा को आस्वादित करने के लिये जिस भयानक जीववध का अनुष्ठान किया करता था, उसी के फलस्वरूप उसे छठी नरक में उत्पन्न होना पड़ा। वहां पर उसे अपने कर्मानुरूप नरकजन्य भीषणातिभीषण वेदनाएं भोगनी पड़ीं।

भगवान् महावीर स्वामी कहने लगे कि हे गौतम! जिस समय श्रीद रसोइया छठी नरक में पड़ा हुआ स्वकृत अशुभ कर्मों के फल को भोग कर वहां की भवस्थिति को पूरा करने वाला ही था, उस समय इसी शौरिकपुर नगर के मत्स्यबन्धक—मच्छीमारों के मुहल्ले में रहने वाले समुद्रदत्त नामक मच्छीमार की भार्या जातनिद्रुता—मृतवत्सा थी, उस के बालक उत्पन्न होते ही मर जाया करते थे। अतएव वह अपनी गोद को खाली देख कर बड़ी दुःखी हो रही थी। उस की दशा उस किसान जैसी थी, जिस की खेती—फसल पक जाने पर ओलों की वर्षा से सर्वथा नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। सन्ततिविरह से परम दुःखी हुई समुद्रदत्ता ने भी (२)गंगादत्ता

---

(१) अव्यापारेषु व्यापारं, यो नरः कर्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति, कीलोत्पाटीव वानरः॥ (पंचतंत्र)

(२) गंगादत्ता का सारा जीवनवृत्तान्त दुःखविपाक के सप्तम अध्ययन में आ चुका है, वह भी जातनिद्रुता थी, उसने भी रात्रि में अपने परिवार के सम्बन्ध में चिन्तन किया था, जिस में उसने पति से आज्ञा ले कर उम्बरदत्त यक्ष के आराधन का निश्चय किया था और तदनुसार उसने पति की आज्ञा ले कर उम्बरदत्त यक्ष की मन्नत मानी तथा गर्भस्थिति होने पर उत्पन्न दोहद की पूर्ति की। सारांश यह है कि जिस

की भान्ति रात्रि में परिवारसम्बन्धी विचारणा के अनन्तर अपने पति से आज्ञा ले कर शौरिक नामक यक्ष की सेवा मे उपस्थित हो पुत्रप्राप्ति के लिए याचना की, और उसकी मन्नत मानी। तदनन्तर समुद्रदत्ता को भी यथासमय गर्भ रहने पर गगादत्ता के समान दोहद उत्पन्न हुआ और उस की, गगादत्ता के दोहद की तरह ही पूर्ति की गई। लगभग सवा नौ मास पूरे होने पर समुद्रदत्ता ने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक के जन्म से सारे परिवार में हर्ष मनाया गया और कुलमर्यादा के अनुसार जन्मोत्सव मनाया तथा बारहवे दिन बालक का नामकरण संस्कार किया गया। शौरिक नामक यक्ष की मन्नत मानने से प्राप्त होने के कारण माता पिता ने अपने उत्पन्न शिशु का नाम शौरिकदत्त रक्खा। शौरिकदत्त बालक का,—१—गोद में रखने वाली, २—क्रीडा कराने वाली, ३—दुग्धपान कराने वाली, ४—स्नानादिक क्रियाये कराने वाली और ५—अलकारादि से शरीर को सजाने वाली, इन पाच धायमाताओं के द्वारा पालन पोषण आरम्भ हुआ। वह उन की देख रेख में शुक्लपक्षीय शशिकला की भान्ति बढने लगा। विज्ञान की परिपक्व अवस्था तथा युवावस्था को प्राप्त होता हुआ वह सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

समय की गति बड़ी विचित्र है, इस के प्रभाव मे कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। मनुष्य थोड़ी सी आयु लेकर चाहे समय के वेगपूर्वक चलन को स्मृति से ओझल कर दे, किन्तु समय एक चुस्त, चालाक और सावधान प्रतिहारी की भाति अपने काम करने मे सदा जागरूक रहता है, तथा प्रत्येक पदार्थ पर अपना प्रभाव दिखाता रहता है। तदनुसार समुद्रदत्त भी एकदिन समय के चक्र की लपेट मे आ जाता है और अचानक मृत्यु की गोद मे सो जाता है। पिता की अचानक मृत्यु से शौरिकदत्त को बड़ा खेद हुआ, उस के सारे सासारिक सुखों पर पानी फिर गया। पिता के जीते जी जितनी स्वतन्त्रता उसे प्राप्त थी, वह सारी की सारी जाती रही और विपरीत इस के उस पर अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व का बोझ आ पडा, जोकि उस के लिये सर्वथा असह्य था। पिता की मृत्यु से उद्विग्न हुए शौरिकदत्त ने मित्र ज्ञाति आदि के सहयोग से पिता का और्द्धदैहिक संस्कार करने के साथ २ विधिपूर्वक मृतक—सम्बन्धी क्रियाओं का सम्पादन कर के अपने पुत्रजनोचित कर्तव्य का पालन किया।

—**जायनिदुया**—शब्द के अनेकों रूप उपलब्ध होते हैं। **प्राकृतशब्दमहार्णव** नामक कोष मे—**जायनिदुया**—यह शब्द मान कर उस का संस्कृत प्रतिरूप "—**जातनिद्रुता**—" ऐसा दे कर साथ मे उसका मृतवत्सा, ऐसा अर्थ लिखा है। **अर्धमागधीकोष में**-"—**जायनिद्रुया-जातनिद्रुता**—"ऐसा मानकर उस का "जिस के जन्म पाए हुए बालक तुरन्त मर जाते हैं अथवा मृतक पैदा होते हैं वह माता" ऐसा अर्थ लिखा है। टीकाकार श्री **अभयदेवसूरि**—**जायणिंदुया**—ऐसा रूप मान कर इस की "—**जातानि उत्पन्नानि अपत्यानि निद्रुतानि—निर्यातानि मृतानीत्यर्थो यस्याः सा जातनिद्रुता**—" ऐसी व्याख्या करते हैं। अर्थात् जिस की सन्तति उत्पन्न होते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए उसे **जातनिद्रुता** कहते हैं। **अभिधानराजेन्द्रकोषकार जायनिंदुया** की अपेक्षा मात्र **णिन्दू**—ऐसा ही मानते हैं और इस की "—**मृतप्रजायां स्त्रियाम्, निन्दू महेला यद् यदपत्यं प्रसूयते तत्तन्म्रियते, एव य आचार्यो यं य प्रव्राजयति स स म्रियतेऽपगच्छति वा तत. स निन्दूरिव निन्दू**—"ऐसी व्याख्या करते हैं। अर्थात्—**निन्दू** शब्द के १—जिस स्त्री की उत्पन्न हुई प्रत्येक सन्तान मर जाए वह स्त्री, **अथवा**—२—वह आचार्य जिस का प्रत्येक प्रव्रजित शिष्य या तो मर जाता है या निकल जाता है—सयम छोड़ जाता है, वह—ऐसे दो अर्थ करते हैं। तथा **शब्दार्थचिन्तामणि**

प्रकार गगादत्ता ने अर्द्धरात्रि में कुटुम्बसम्बन्धी चिन्तन किया था, तथा उस ने उम्बरदत्त यक्ष का आराधन किया। उसी प्रकार समुद्रदत्ता ने भी रात्रि मे परिवार—सम्बन्धी चिन्तन के अनन्तर पति से आज्ञा ले कर शौरिक यक्ष की मनौति मानने का सकल्प किया।

नामक कोष मे—**निन्दुः**—ऐसा मान कर उस की' —**मृतवत्सायाम् । निन्द्यतेऽप्रजात्वेनाऽसौ**—''ऐसा अर्थ किया है। अर्थात् सन्तति के विनष्ट हो जाने से जो नारी निंदा का भाजन बने वह। दूसरे शब्दों में मृतवत्सा को **निन्दु** कहते हैं। **संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ** नामक कोष में —**निन्दु**—ऐसा रूप मानते हुए उस का " जिस के पास मरा हुआ बच्चा हो वह—" ऐसा अर्थ लिखा है। इन सभी विकल्पों में कौन विकल्प वास्तविक है ?, यह विद्वानो द्वारा विचारणीय है ?

—**जहा गगादत्ताए चिन्ता**—यहा पठित **चिन्ता** पद पृष्ठ ३९६ तथा ३९७ पर पढे गये "—**एव च खु अहं सागरदत्तेणं सत्थवाहेणं सद्धिं बहूइं वासाइं उरालाइं**'—से ले कर—**ओवाइय उवाइणित्तए एवं संपेहेति**—"यहा तक के पदो का परिचायक है । अंतर मात्र इतना है कि वहा सेठानी गगादत्ता तथा सागरदत्त सार्थवाह एव उम्बरदत्त यक्ष का नामोल्लेख है, जब कि प्रस्तुत में समुद्रदत्त मत्स्यवध –मच्छीमार तथा समुद्रदत्ता एव शौरिक यक्ष का। नामगत भिन्नता की भावना कर लेनी चाहिये। शेष वर्णन समान ही है ।

—**आपुच्छणा**—यह पद पृष्ठ ३९७ पर पढे गये "—**त इच्छामि णं देवाणुप्पिए ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाता जाव उवाइणित्तए**—''इस पाठ का बोधक है। अर्थात् जिस तरह गंगादत्ता ने सेठ सागरदत्त से उम्बरदत्त यक्ष की मनौति मानने के लिये पूछा था, उसी प्रकार समुद्रदत्ता ने मत्स्यवध—मच्छीमार समुद्रदत्त को शौरिक यक्ष की मनौती मानने की अभ्यर्थना की ।

—**ओवयाइय**—यह पद "—**तते णं सा समुद्ददत्ता भारिया समुद्ददत्तेणं मच्छंधेणं एतमट्ठं अब्भणुण्णाता समाणी सुबहु पुप्फ० मित्त० महिलाहिं**—" मे ले कर—**तो ण जाव उवाइणति उवाइणित्ता जामेव दिस पाउब्भूता तामेव दिस पडिगता**—यहा तक के पदों का परिचायक है । इन पदो का अर्थ सप्तमाध्ययन मे पृष्ठ ४०६ तथा ४०७ पर लिखा जा चुका है । अर्थात् जिस तरह गगादत्ता ने सेठ सागरदत्त से आज्ञा मिल जाने पर उम्बरदत्त यक्ष के पास पुत्रप्राप्ति के लिये मनौती मानी थी, उसी प्रकार समुद्रदत्त मत्स्यवधक—मच्छीमार से आज्ञा प्राप्त कर समुद्रदत्ता ने पुत्रप्राप्ति के लिये शौरिक यक्ष के सामने मनौती मानी । नामगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है ।

—**दोहलो जाव दारगं**—यहा पठित **जाव—यावत्**—पद से पृष्ठ ४०९ से लेकर पृष्ठ ४१० तथा ४१३ पर पढे गए "—**धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाव फले**—" से ले कर"—**णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाण**—" यहा तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। वर्णन समान होने पर भी नामगत भिन्नता यहा पर पूर्व की भान्ति जान लेनी चाहिये ।

—**पयाता जाव जम्हा**—यहा पठित **जाव - यावत** पद पृष्ठ ४१४ पर पठित "—**ठिति० जाव नामधिज्जं करेन्ति**—" इन पदों का परिचायक है। तथा—**पंचधातो० उम्मुक्कबालभावे**—यहा पठित **जाव —यावत्** पद पृष्ठ १५७ पर पढे गए"—**परिग्गहिते तजहा—खीरधातीए**—"से ले कर" —**सुहसुहेणं परिवड्ढति**—' यहा तक के पदों का, तथा"—**तते णं से सोरियदत्ते**—"इन पदों का परिचायक है।

—**मित्त० रोयमाणे** -यहा दिये गये बिन्दु से"—**णाइ—नियग—सयण—सम्बन्धि—परिजणेण सद्धिं संपरिवुडे**—" इन पदो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। **मित्र** आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १५० के टिप्पण मे लिखा जा चुका है ।

अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र मे शोरिकदत्त के अग्रिम जीवन का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]अन्नया कयाइ सयमेव मच्छंधमहत्तरगत्तं उवसंपज्जित्ता णं विहरति।

---

(१) छाया—अन्यदा कदाचित् स्वयमेव मत्स्यबन्धमहत्तरकत्वमुपसपद्य विहरति । तत स शौरिको दारको मत्स्यबन्धो जात., अधार्मिको यावत् दुष्प्रत्यानन्द । ततस्तस्य शौरिकमत्स्यबन्धस्य

तते णं से सोरिए दारए मच्छन्धे जाते, अधम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे । तते णं तस्स सोरियमच्छंधस्स बहवे पुरिसा दिन्नभतिभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं एगट्ठियाहिं जउणं महाणदि ओगाहंति ओगाहित्ता बहूहिं दहगलणेहि य दहमलणेहि य दहमद्दणेहि य दहमहणेहि य दहवहणेहि य दहपवहणेहि य पयंचुलेहि य पवंपुलेहि य जम्भाहि य तिसराहि य भिसराहि य घिसराहि य विसराहि य हिल्लिरीहि य झिल्लिरीहि य लल्लिरीहि य जालेहि य गलेहि य कूडपासेहि य वक्कबंधेहि य सुत्तबंधेहि य वालबंधेहि य बहवे सरहमच्छे य जाव पडागातिपडागे य गेण्हंति गेण्हित्ता एगट्ठियाउ भरेंति भरित्ता कूलं गाहेंति गाहित्ता मच्छखलए करेंति करित्ता आयवंसि दलयंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिन्नभतिभत्तवेयणा आयवतत्तेहि मच्छेहिं सोल्लेहि य तलितेहि य भज्जितेहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणावि य णं से सोरिए बहूहिं सरहमच्छेहिं जाव पडागातिपडागेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च ६ आसाएमाणे ४ विहरति ।

पदार्थ—अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । सयमेव—स्वयं ही । मच्छंधमहत्तरगत्तं—मत्स्यबधों-मच्छीमारों के महत्तरकत्व—प्रधानत्व को । उवसंपज्जित्ता णं—प्राप्त कर । विहरति—विहरण करने लगा । तते णं—तदनन्तर । से—वह । सोरिए—शौरिक । दारए—बालक । मच्छंधे—मत्स्यबन्ध-मच्छीमार । जाते—हो गया, जो कि । अधम्मिए—अधर्मी । जाव—यावत् । दुप्पडियाणंदे—दुष्प्रत्यानन्द—अति कठिनाई से प्रसन्न होने वाला, था । तते णं—तदनन्तर । तस्स—उस । सोरियमच्छंधस्स—शौरिक मत्स्यवध मच्छीमार के । दिन्नभतिभत्तवेयणा—जिन्हें वेतनरूप से रुपया पैसा और धान्यादि दिया जाता हो, ऐसे । बहवे—अनेक । पुरिसा—पुरुष । कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन । एगट्ठियाहिं—छोटी नौकाओं के द्वारा । जउणं—यमुना नामक । महाणदिं—महानदी का । ओगाहंति ओगाहित्ता—अवगाहन करते हैं—उस में प्रवेश करते हैं, अवगाहन कर के । बहूहिं—बहुत से । दहगलणेहि य—ह्रदगलन ह्रद—झील या सरोवर का जल निकाल देने से । दहमलणेहि य ह्रदमलन-ह्रदगत जल के मर्दन करने अर्थात् दरिया के मध्य में पौन पुन्येन परिभ्रमण करने से अथवा जल निकालने पर उस के कीचड का मर्दन करने से । दहमद्दणेहि य—ह्रदमर्दन अर्थात् थूहर का दूध डाल कर जल को विकृत करने से । दहमहणेहि य—ह्रदमथन-ह्रदगत जल को तरुशाखाओं द्वारा विलोडित करने से । दहवहणेहि य—ह्रदवहन ह्रद में से नाली आदि के द्वारा जल के बाहिर निकालने से । दहपवहणेहि य—ह्रदप्रवहण—ह्रदजल को विशेषरूपेण प्रवाहित करने से । पयंचुलेहि य—मत्स्यबन्धनविशेषों से । पवंपुलेहि य—

बहव पुरुषा दत्तभृतिभक्तवेतना कल्याकल्यमेकास्थिकाभिर्यमुना महानदीमवगाहन्ते अवगाह्य बहुभिर्ह्रदगलनैश्च ह्रदमलनैश्च ह्रदमर्दनैश्च ह्रदमथनैश्च ह्रदवहनैश्च ह्रदप्रवहणैश्च प्रपचुलैश्च प्रपपुलैश्च जृम्भाभिश्च त्रिसराभिश्च भिसराभिश्च घिसराभिश्च द्विसराभिश्च हिल्लिरीभिश्च झिल्लिरीभिश्च लल्लिरीभिश्च जालैश्च गलैश्च कूटपाशैश्च वल्कबन्धैश्च सूत्रबन्धैश्च वालबन्धैश्च बहून् श्लक्ष्णमत्स्यांश्च यावत् पताकातिपताकाश्च गृह्णन्ति गृहीत्वा नावो भरन्ति भृत्वा कूलं गाहन्ते गाहित्वा मत्स्यखलानि कुर्वन्ति कृत्वा आतपे दापयन्ति । अन्ये च तस्य बहवः पुरुषाः दत्तभृतिभक्तवेतना आतपतप्तैर्मत्स्यैः शूल्यैश्च तलितैश्च भर्जितैश्च (भृष्टैश्च) राजमार्गे वृत्तिं कल्पयन्तो विहरन्ति । आत्मनापि च स शौरिको बहुभिः श्लक्ष्णमत्स्यैर्यावत् पताकातिपताकैश्च शूल्यैश्च तलितैश्च भर्जितैश्च सुरां च ६ आस्वादयन् ४ विहरति ।

मत्स्यों—मच्छों को पकड़ने के जालविशेषों से। **जम्भाहि य**—बन्धनविशेषों से। **तिसराहि य**—त्रिसरा—मत्स्य बन्धनविशेषों से। **भिसराहि य**—मत्स्यों को पकड़ने के बन्धनविशेषों से। **घिसराहि य**—मत्स्यों को पकड़ने के जालविशेषों से। **विसराहि य**—मत्स्यों को पकड़ने के जालविशेषों से। **हिल्लिरीहि य**—मत्स्यों को पकड़ने के जालविशेषों से, तथा। **झिल्लिरीहि य**—मत्स्यबन्धनविशेषों से। **लल्लिरीहि य**—मत्स्यों को पकड़ने के साधनविशेषों से, और। **जालेहि य**—सामान्य जालों से। **गलेहि य**—वडिशों—मत्स्यों को पकड़ने की कुंडियों से। **कूडपासेहि य**—कूटपाशों से अर्थात् मत्स्यों को पकडने के पाशरूप बन्धनविशेषों से। **वक्कबंधेहि य**—वल्क-त्वचा आदि के बन्धनों से। **सुत्तबंधेहि य**—सूत्र के बन्धनों से, और। **वालबंधेहि य**—बालों-केशों के बन्धनों से। **बहवे**—बहुत से। **सण्हमच्छे य**—कोमल मत्स्यों को। **जाव**—यावत्। **पडागातिपडागे य**—पताकातिपताक, इस नाम के मत्स्यविशेषों को। **गेण्हंति गेण्हित्ता**—पकड़ते हैं, पकड़ कर। **एगट्ठियाउ**—छोटी नौकाओं को। **भरेंति भरित्ता**—भरते हैं, भर कर। **कूलं**—किनारे पर। **गाहेंति गाहित्ता**—लाते हैं, लाकर, बाहिर की भूमि अर्थात् बाहिर के जलरहित स्थान पर **मच्छखलए**—मत्स्यों के ढेर। **करेंति करित्ता**—लगाते हैं, ढेर लगा कर, उन को सुखाने के लिये। **आयवंसि**—धूप में। **दलयंति**—रख देते हैं। **अन्ने य**—और। **से**—उस के। **बहवे**—बहुत से। **दिन्नभतिभत्तवेयणा**—रुपया पैसा और धान्यादिरूप वेतन लेकर काम करने वाले। **पुरिसा**—पुरुष। **आयवतत्तेहिं**—आतप—धूप में तपे हुए। **सोल्लेहिं य**—शूलाप्रोत किए हुए, तथा। **तलितेहि य**—तले हुए, तथा। **भज्जितेहि य**—भर्जित—भूने हुए। **मच्छेहिं**—मत्स्यमांसों के द्वारा अर्थात् धूप से तप्त—सूखे हुए मत्स्यों के मांसों को शूल द्वारा पकाते हैं, तेल द्वारा तलते हैं, तथा अंगारादि पर भूनते हैं, तदनन्तर उन को। **रायमग्गंसि**—राजमार्ग में, (रख कर बेचते हैं, इस तरह अपनी)। **वित्तिं**—आजीविका। **कप्पेमाणा**—करते हुए। **विहरंति**—समय बिता रहे हैं। **अप्पणावि य णं**—और स्वयं भी। **से**—वह। **सोरिए**—शौरिकदत्त। **बहूहिं**—अनेकविध। **सण्हमच्छेहि**—श्लक्ष्णमत्स्यों। **जाव**—यावत्। **पडागातिपडागेहि य**—पताकातिपताक नामक मत्स्यविशेषों के मांसों, जो कि। **सोल्लेहि य**—शूलाप्रोत किए हुए हैं, तथा। **तलितेहि य**—तले हुए हैं। **भज्जिएहि य**—भूने हुए हैं, के साथ। **सुरं च ६**—छः प्रकार की सुराओं का। **आसाएमाणे ४**—आस्वादनादि करता हुआ। **विहरति**—विहरण कर रहा है—समय व्यतीत कर रहा है।

मूलार्थ—किसी अन्य समय वह—शौरिकदत्त स्वयं ही मच्छीमारों के नेतृत्व को प्राप्त करके विहरण करने लगा। वह महा अधर्मी—पापी यावत् इस को प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन था। इसने रुपया, पैसा और भोजनादि रूप वेतन लेकर काम करने वाले अनेक वेतनभोगी पुरुष रखे हुए थे, जो कि छोटी नौकाओं के द्वारा यमुना नदी में घूमते और बहुत से ह्रदगलन, ह्रदमलन, ह्रदमर्दन, ह्रदमंथन, ह्रदवहन तथा ह्रदप्रवहन से एवं प्रपचुल प्रपपुल, जृम्भा, त्रिसरा भिसरा, विसरा, द्विसरा, हिल्लिरि, झिल्लिरि, लल्लिरि, जाल, गल, कूटपाश, वल्क—बन्ध, सूत्र-बन्ध और वालबन्ध इन साधनों के द्वारा अनेक जाति के सूक्ष्म अथवा कोमल मत्स्यों यावत् पताकातिपताक नामक मत्स्यों को पकडते हैं और पकड़ कर उन से नौकायें भरते हैं, भर कर नदी के किनारे पर उन को लाते हैं, लाकर बाहिर एक स्थल पर ढेर लगा देते हैं, तत्पश्चात् उन को वहां धूप में सूखने के लिए धर देते हैं।

इसी प्रकार उस के अन्य रुपया पैसा और धान्यादि ले कर काम करने वाले वेतनभोगी पुरुष धूप से सूखे हुए उन मत्स्यों—मच्छों के मांसों को शूलाप्रोत कर पकाते, तलते

और भूनते, तथा उन्हे राजमार्ग में विक्रयार्थ रख कर उनके द्वारा वृत्ति—आजीविका करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे। इस के अतिरिक्त शौरिकदत्त स्वयं भी उन शूलाप्रोत किए हुए, भूने हुए और तले हुए मत्स्यमांसों के साथ विविध प्रकार की सुराओं का सेवन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

टीका—प्रकृति का प्रायः यह नियम है कि पुत्र अपने पिता के कृत्यों का ही अनुसरण किया करता है। पिता जो काम करता है प्रायः पुत्र भी उसी को अपनाने का यत्न करता है, और अपने को वह उसी काम मे अधिकाधिक निपुण बनाने का उद्योग करता रहता है। समुद्रदत्त मत्स्यबन्ध-मच्छीमार था, परम अधर्मी और परम दुराग्रही था, तदनुसार शौरिकदत्त भी पैतृकसम्पत्ति का अधिकारी होने के कारण इन गुणों मे वंचित नहीं रहा। पिता की मृत्यु के कुछ दिनों के बाद शौरिकदत्त ने पिता के अधिकारों को अपने हाथ में लिया अर्थात् पिता की भांति अब वह सारे मुहल्ले का मुखिया बन गया। मुहल्ले का मुखिया बन जाने के बाद शौरिकदत्त भी पिता की तरह अधर्ममैत्री अथच महा लोभी और दुराग्रही बन गया। अपने हिंसाप्रधान व्यापार को अधिक प्रगति देने के लिये उसने अनेक ऐसे वेतनभोगी पुरुषों को रखा जोकि यमुना नदी में जा कर तथा छोटी २ नौकाओं पर बैठ कर भ्रमण करते तथा अनेक प्रकार के साधनों के प्रयोग से विविध प्रकार की मछलियों को पकड़ते तथा धूप में सुखाते, इसी भांति अन्य अनेकों वेतनभोगी पुरुष धूप से तप्त—सूखे हुए उन मत्स्यों को ग्रहण करते और उन के मांसों को शूल द्वारा पकाते और तैल से तलते तथा अंगारादि पर भून कर उन को राजमार्ग में रख कर उनके विक्रय मे द्रव्योपार्जन करके शौरिकदत्त को प्रस्तुत किया करते थे। इस के अतिरिक्त वह स्वयं भी मत्स्यादि के मांसों तथा ६ प्रकार की सुरा आदि का निरन्तर सेवन करता हुआ सानन्द समय व्यतीत कर रहा था।

दिन्नभतिभत्तवेयणा—आदि पदों का अर्थसम्बन्धी विचार निम्नोक्त है—

१—**दिन्नभतिभत्तवेयणा**—" इस पद का अर्थ पृष्ठ २१६ पर लिखा जा चुका है।

२—**एगट्ठिया**—" शब्द का अर्धमागधीकोषकार ने—**एकास्थिका**—ऐसा संस्कृत प्रतिरूप देकर—**छोटी नौका**—यह अर्थ किया है, परन्तु **प्राकृतशब्दमहार्णव** नामक कोष में देश्य—देश विशेष मे बोला जाने वाला पद मान कर इस के **नौका, जहाज** ऐसे दो अर्थ लिखे हैं।

३—**दहगलणं—ह्रदगलनम् ह्रदस्य मध्ये मत्स्यादिग्रहणार्थं भ्रमणं जलनिस्सारणं वा**—" अर्थात् ह्रद बड़े जलाशय एवं झील का नाम है, उस के मध्य में मच्छ आदि जीवों को ग्रहण करने के लिये किये गये भ्रमण का नाम **ह्रदगलन** है। **अथवा**—ह्रद मे से जल के निकालने को **ह्रदगलन** कहते हैं। **अथवा**—मत्स्य आदि को पकड़ने के लिये वस्त्रादि से ह्रद के जल को छानना **ह्रदगलन** कहा जाता है। अर्धमागधीकोष मे **ह्रदगलन**—शब्द का "—मछली आदि पकड़ने के लिये झरने पर घूमना—शोध निकालना—" ऐसा अर्थ लिखा है।

४—**दहमलण—ह्रदमलन, ह्रदमध्ये पौनःपुन्येन परिभ्रमणं, जले वा निस्सारिते पंकमर्दन**—" अर्थात् ह्रद के मध्य मे मछली आदि जीवों को ग्रहण करने के लिये पुनः पुनः—बारम्बार परिभ्रमण करना, **अथवा**—ह्रद में से पानी निकाल कर अवशिष्ट पंक—कीचड़ का मर्दन करना **ह्रदमलन** कहलाता है। अर्धमागधीकोष में ह्रदमलन के '—१—झरने म तैरना और २—स्रोत में चक्र लगाना—" ये दो अर्थ पाये जाते है।

५—**दहमद्दणं—ह्रदमर्दनम् थोहरादिप्रक्षेपेण ह्रदजलस्य विक्रियाकरणम्**—" अर्थात् ह्रद के मध्य में थूहर (एक छोटा पेड़ जिस में गांठों पर से डण्डे के आकार के डण्ठल निकलते हैं, और इस का दूध बड़ा विषैला होता है) आदि के दूध को डाल कर उस के जल को विकृत—खराब कर

देना ह्रदमर्दन कहा जाता है। अर्धमागधीकोष मे—ह्रदमर्दन शब्द का, "—सरोवर में बार २ घूमने को जाना—जलभ्रमण—" ऐसा अर्थ लिखा है।

६—**दहमहणं—ह्रदमथनम्, ह्रदजलस्य तरुशाखाभिर्विलोडनम्—"** अर्थात् वृक्ष की शाखाओं के द्वारा ह्रद के जल का विलोडन करना—मथना, **ह्रदमथन** कहलाता है। ह्रदमन्थन में मच्छीमारों का मत्स्यादि को भयभीत तथा स्थानभ्रष्ट करके पकड़ने का ही प्रधान उद्देश्य रहता है।

७—**दहवहण—ह्रदवहनम्—"** इस पद के दो अर्थ होते हैं, जैसे कि १—नाली आदि के द्वारा ह्रद के पानी को निकालना, अर्थात् **ह्रदवहन** शब्द "—सरोवर में से पानी निकालने के लिये जो नालियें होती हैं, उन में से पानी निकाल कर मत्स्य आदि को पकडना—" इस अर्थ का परिचायक है। २—ह्रद से पानी का स्वतः बाहिर निकलना अर्थात् ह्रद में नौकाओं के प्रविष्ट होने से पानी हिलता है और वह स्वत ही बाहिर निकल जाता है, इस अर्थ का बोध **ह्रदवहन** शब्द कराता है।

८—**दहप्पवहणं—ह्रदप्रवहनम्—"** इस पद के भी दो अर्थ उपलब्ध होते हैं, जैसे कि—१—मत्स्य आदि को पकडने के लिये ह्रद का बहुत सा पानी निकाल देना। २—मत्स्यादि को ग्रहण करने के लिये नौका द्वारा ह्रद में भ्रमण करना।

इस के अतिरिक्त **१—प्रपञ्चुल, २—प्रपम्पुल, ३—जृम्भा, ४—त्रिसरा, ५—भिसरा, ६—घिसरा, ७—द्विसिरा, ८—हिल्लिरि, ९—झिल्लिरि, १०—जाल,** ये सब मत्स्यादि के पकडने के भिन्न २ साधनविशेष हैं, जिन को वृत्तिकार ने "**—मत्स्यबन्धनविशेषाः—**" कह कर उल्लेख किया है—**प्रपञ्चुलादयो मत्स्यबन्धनविशेषा**। कोषकारों ने इन में से कई एक की संस्कृत छाया दी है और कई एक को देश्य माना है। तथा—मछली पकडने के कांटे को **गल** कहते हैं। **कूटपाश** भी मछली पकड़ने के जालविशेष ही होता है। **वल्कबन्ध** का अर्थ होता है—त्वचा का बना हुआ बन्धन। सूत्र से निर्मित बन्धन **सूत्रबन्धन** और केशों का बना हुआ बन्धन बालबन्धन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम मत्स्यों को अनेकविध जालों द्वारा पकड़ा जाता था फिर उन्हें वल्कल आदि के बंधनों में बांध दिया जाता था।

कोषकार ने "**—मच्छखले—मत्स्यखल—**" का अर्थ "मछलियों के सुखाने की जगह" ऐसा किया है, और टीकाकार श्री अभयदेव सूरी "**—मच्छखलए करेति—**" का अर्थ करते हैं "**स्थण्डिलेषु मत्स्यपुंजान् कुर्वन्ति—**" अर्थात् भूमी पर मछलियों के ढेर लगाते हैं। प्रकृत में ये दोनों ही अर्थ सुसंगत हैं।

—**अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से विवक्षित पदों का वर्णन पृष्ठ ५५ पर, तथा—**सण्हमच्छे य जाव पडागातिपडागे**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से अपेक्षित पाठ पीछे पृष्ठ ४४५ पर तथा—**सुरं च ६**—यहां के अंक से अभिमत पाठ पृष्ठ ४४७ पर तथा—**आसाएमाणे ४**—यहां दिये गये अंकों से अभिमत पाठ पृष्ठ २५० पर लिखा जा चुका है।

अब सूत्रकार शौरिकदत्त के अग्रिम जीवन के वृत्तान्त का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1]**तते णं तस्स सोरियदत्तस्स मच्छंधस्स अन्नया कयाइ ते मच्छे सोल्ले य**

---

(१) **छाया**—ततस्तस्य शौरिकदत्तस्य मत्स्यबन्धस्य, अन्यदा कदाचित् तान् मत्स्यान् शूल्यांश्च तलितांश्च भर्जितांश्च आहरतो मत्स्यकण्टको गले लग्नश्चाप्यभवत्। ततः स शौरिको महत्या वेदनयाऽभिभूतः सन् कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दाययति शब्दाययित्वा एवमवादीत्—गच्छत यूयं देवानुप्रियाः! शौरिकपुरे नगरे शृङ्गाटक० यावत् पथेषु महता महता शब्देन उद्घोषयन्तः उद्घोषयन्त एवं वदत—एवं खलु देवानुप्रियाः! शौरिकस्य मत्स्यकण्टको गले लग्नः, तद् यः इच्छति वैद्यो वा ६ शौरिकमात्स्यिकस्य मत्स्यकण्टकं गलाद् निस्सारयितु

तलिए य भज्जिए य आहारेमाणस्स मच्छकंटए गलए लग्गे यावि होत्था । तते णं से सोरिए महयाए वेयणाए अभिभूते समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावेत्ता एवं वयासी —गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सोरियपुरे णगरे सिंघाडग० जाव पहेसु महया महया सद्दे णं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयह—एवं खलु देवाणुप्पिया ! सोरियस्स मच्छकंटए गलए लग्गे । तं जो णं इच्छति वेज्जो वा ६ सोरियमच्छियस्स मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तए, तस्स णं सोरिए विपुल अत्थसंपयाणं दलयति । तते णं से कोडुंबियपुरिसा जाव उग्घोसंति । ततो बहवे वेज्जा य ६ इमं एयारूवं उग्घोसणं उग्घोसिज्जमाणं निसामंति निसामित्ता जेणेव सोरियगिहे जेणेव सोरियमच्छंधे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता बहूहिं उप्पत्तियाहि य ४ बुद्धीहि परिणामेमाणा वमणेहि य छड्डणेहि य उवीलणेहि य कवलग्गाहेहि य सल्लुद्धरणेहि य विसल्लकरणेहि य इच्छंति सोरियमच्छंधस्स मच्छकंटगं गलाओ नीहरित्तए, नो चेव णं संचाएंति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा । तते णं बहवे वेज्जा य ६ जाहे नो संचाएंति सोरियस्स मच्छकंटगं गलाओ नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा ताहे संता ३ जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगता । तते णं से सोरियमच्छंधे वेज्जपडियारनिव्विण्णे तेणं महया दुक्खेण अभिभूते सुक्खे जाव विहरति । एवं खलु गोतमा ! सोरिए पुरा पोराणाणं जाव विहरति ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । तस्स—उस । सोरियदत्तस्स— शौरिकदत्त । मच्छंधस्स —मत्स्यबंध—मच्छीमार के । अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । ते—उन । सोल्ले य शूलाप्रोत करके पकाए हुए । तलिए—तले हुए । भज्जिए य—भूने हुए । मच्छे— मत्स्यमांसों का । आहारेमाणस्स—आहार करते—भक्षण करते हुए के । गलए—गले—कण्ठ में । मच्छकंटए—मत्स्यकण्टक—मत्स्य का कांटा । लग्गे यावि होत्था —लग गया था । तते णं—तदनन्तर अर्थात् गले में कांटा लग जाने के अनन्तर । से—वह । महयाए—महती । वेयणाए वेदना से । अभिभूते समाणे—अभिभूत-व्याप्त हुआ । सोरिए—शौरिकदत्त । कोडुंबियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषों— अनुचरों को । सद्दावेति सद्दावित्ता—बुलाता है, बुला कर । एवं वयासी—इस प्रकार कहता हे । देवाणुप्पिया !—हे भद्रपुरुषो ! ।

तस्मै शौरिको विपुलमर्थसम्प्रदानं ददाति । ततस्ते कौटुम्बिकपुरुषा. यावदुद्घोषयन्ति । ततो बहवो वैद्याश्च ६ इमामेतद्रूपामुद्घोषणामुद्घोष्यमाणां निशमयन्ति निशम्य यत्रैव शौरिकगृहं यत्रैव शौरिको मत्स्यबन्धस्तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य बहुभिः औत्पातिकीभिश्च बुद्धिभिः परिणमयन्तः वमनैश्च छर्दनैश्च अवपीडनैश्च कवलग्राहैश्च शल्योद्धरणैश्च विशल्यकरणैश्च इच्छन्ति शौरिकमत्स्यबधस्य मत्स्यकण्टकं गलाद् निस्सारयितुं, नो चैव सशक्नुवन्ति 'निस्सारयितुं वा विशोधयितुं वा । ततस्ते बहवो वैद्याश्च ६ यदा नो सशक्नुवन्ति शौरिकस्य मत्स्यकण्टकं गलाद् निस्सारयितुं वा विशोधयितुं वा तदा श्रान्ता ३ यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतास्तामेव दिशं प्रतिगताः । ततः स शौरिको मत्स्यबधो वैद्यप्रतिकारनिर्विण्णः तेन महता दुःखेनाभिभूतः शुष्को यावत् विहरति । एवं खलु गौतम ! शौरिकः पुरा पुराणानां यावत् विहरति ।

---

(१) निष्कारयितुं विशोधयितुं पूयाद्यपनेतुमित्यर्थः —वृत्तिकार ।

तुब्भे—तुम लोग। **गच्छह णं**—जाओ। **सोरियपुरे**—शौरिकपुर नामक। **णगरे**—नगर में। **सिंघाडग०**—त्रिकोण मार्ग। **जाव**—यावत्। **पहेसु**—सामान्य मार्गों—रास्तों पर। **महया महया**—महान् ऊंचे। **सद्देणं**—शब्द से। **उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा**—उद्घोषणा करते हुए, उद्घोषणा करते हुए। **एवं वयह**—इस प्रकार कहो। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **देवाणुप्पिया !**—हे महानुभावो ! । **सोरियस्स**—शौरिकदत्त के। **गले**—कण्ठ में। **मच्छकंटए**—मत्स्यकण्टक—मच्छी का कांटा। **लग्गे**—लग गया है। **तं**—अत। **जो णं**—जो। **वेज्जो वा ६**—वैद्य या वैद्यपुत्रादि। **सोरियमच्छियस्स**—शौरिक नामक मात्स्यिक—मच्छीमार के। **गलाओ**—कण्ठ से। **मच्छकंटयं**—मत्स्यकण्टक को। **नीहरित्तए**—निकालने की। **इच्छति**—इच्छा रखता है अर्थात् जो कांटे को निकालना चाहता है, और जो निकाल देगा। **तस्स णं**—उस को। **सोरिए**—शौरिक। **विउलं**—विपुल—बहुत सी। **अत्थसंपयाणं**—आर्थिक सम्पत्ति। **दलयति**—देगा। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **कोडुंबियपुरिसा**—कौटुम्बिक पुरुष। **जाव**—यावत् अर्थात् उसकी आज्ञानुसार नगर में। **उग्घोसंति**—उद्घोषणा कर देते हैं। **ततो**—तदनन्तर। **बहवे**—बहुत से। **वेज्जा य ६**—वैद्य और वैद्यपुत्रादि। **इमं**—यह। **एयारूवं**—इस प्रकार की। **उग्घोसिज्जमाणं**—उद्घोषित की जाने वाली। **उग्घोसणं**—उद्घोषणा को। **निसामंति निसामित्ता**—सुनते हैं, सुनकर। **जेणेव**—जहां। **सोरियगिहे**—शौरिकदत्त का घर था, और। **जेणेव**—जहा पर। **सोरिए**—शौरिक। **मच्छंधे**—मत्स्यबन्ध—मच्छीमार था। **तेणेव**—वहां पर। **उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता**—आजाते हैं, आकर। **बहूहिं**—बहुत सी। **उप्पत्तियाहि य ४**—औत्पातिकी बुद्धिविशेष अर्थात् विना ही शास्त्राभ्यासादि के होने वाली बुद्धि—स्वभावसिद्ध प्रतिभा, आदि। **बुद्धिहिं**—बुद्धियों से। **परिणामेमाणा**—परिणमन को प्राप्त करते हुए अर्थात् सम्यक्तया निदान आदि को समझते हुए उन वैद्यों ने। **वमणेहि य**—वमनों से तथा। **छड्डणेहि य**—छर्दनों से तथा। **उवीलणेहि य**—अवपीडन—दबाने से और। **कवलग्गाहेहि य**—कवलग्राहों से, तथा। **सल्लुद्धरणेहि य**—शल्योद्धरणों से एवं। **विसल्लकरणेहि य**—विशल्यकरणों से। **सोरियमच्छंधस्स**—शौरिक मत्स्यबन्ध के। **गलाओ**—कंठ में से। **मच्छकटगं**—मत्स्यकण्टक—मच्छी के कांटे को। **नीहरित्तए**—निकालने की। **इच्छति**—इच्छा करते हैं, अर्थात् उक्त उपायों से गले में फंसे हुए कांटे को निकालने का उद्योग करते हैं, परन्तु वे। **नो चेव णं**—नहीं। **संचाएंति**—समर्थ हुए। **नीहरित्तए वा**—कांटा निकालने को। **विसोहित्तए वा**—तथा पूय आदि के हरण को, अर्थात् उन के उक्त उपचारों से न तो उस के गले का कांटा ही निकला और न उस के मुख से निकलता हुआ पूय—पीव तथा रुधिर ही बन्द हुआ। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **बहवे**—बहुत से। **वेज्जा य ६**—वैद्य तथा वैद्यपुत्रादि। **जाहे**—जब। **सोरियस्स**—शौरिक के। **गलाओ**—कण्ठ से। **मच्छकंटगं**—मत्स्यकण्टक को। **नीहरित्तए वा**—निकालने और। **विसोहित्तए**—पूयादि के दूर करने में। **नो संचाएंति**—समर्थ नहीं हुए। **ताहे**—तब (वे)। **संता ३**—श्रान्त, तान्त और परितान्त हुए अर्थात् हतोत्साह होकर। **जामेव दिसं**—जिस दिशा से। **पाउब्भूता**—आये थे। **तामेव दिसं**—उसी दिशा को। **पडिगता**—लौट गये—चले गये। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सोरिए**—शौरिक। **मच्छंधे**—मत्स्यबन्ध। **वेज्जपडियारनिव्विण्णे**—वैद्यों के प्रतिकार—इलाज से निराश हुआ। **तेणं**—उस। **महया**—महान्। **दुक्खेणं**—दुःख से। **अभिभूते**—अभिभूत—युक्त हुआ। **सुक्खे**—शुष्क हो कर। **जाव**—यावत्। **विहरति**—विहरण करता है अर्थात् दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **गोतमा !**—हे गौतम ! । **सोरिए**—शौरिक। **पुरा**—पूर्वकृत। **पोराणाणं**—पुरातन। **जाव**—यावत् अर्थात् पाप कर्मों का फल भोगता हुआ। **विहरति**—विहरण कर रहा है—

समय व्यतीत कर रहा है।

मूलार्थ—तदनन्तर किसी अन्य समय पर शूला द्वारा पकाए गए, तले गए और भूने गए मत्स्यमांसों का आहार करते हुए उस शौरिक मत्स्यबन्ध-मच्छीमार के गले में मच्छी का कांटा लग गया, जिस के कारण वह महती वेदना का अनुभव करने लगा। तब नितान्त दुःखी हुए शौरिक ने अपने अनुचरों को बुलाकर इस प्रकार कहा कि हे भद्रपुरुषो! शौरिकपुर नगर के त्रिकोण मार्गों यावत् सामान्य मार्गों पर जा कर ऊंचे शब्द से इस प्रकार उद्घोषणा करो कि हे महानुभावो! शौरिकदत्त के गले में मत्स्य का कांटा लग गया है, यदि कोई वैद्य या वैद्यपुत्र आदि उस मत्स्यकंटक को निकाल देगा, तो शौरिकदत्त उसे बहुत सा धन देगा।

तब कौटुम्बिकपुरुषों—अनुचरों ने उस की आज्ञानुसार सारे नगर में उद्घोषणा कर दी। उस उद्घोषणा को सुन कर बहुत से वैद्य और वैद्यपुत्र आदि शौरिकदत्त के घर आये, आकर वमन, छर्दन, अवपीड़न, कवलग्राह, शल्योद्धरण और विशल्यकरण आदि उपचारों से शौरिकदत्त के गले के कांटे को निकालने तथा पूय आदि को बन्द करने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उस में वे सफल नहीं हो सके अर्थात् उन से शौरिकदत्त के गले का कांटा निकाला नहीं जा सका और ना ही पीव एवं रुधिर ही बन्द हो सका, तब वह श्रान्त, तान्त और परितान्त हो अर्थात् निराश एवं उदास हो कर वापिस अपने २ स्थान को चले गये। तब वह वैद्यों को प्रतिकार—इलाज से निर्विण्ण-निराश (खिन्न) हुआ २ शौरिकदत्त उस महती वेदना को भोगता हुआ सूख कर यावत् अस्थिपंजर मात्र शेष रह गया, तथा दुःखपूर्वक समय व्यतीत करने लगा।

भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गौतम! इस प्रकार वह शौरिकदत्त पूर्वकृत यावत् अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है।

टीका—कर्मग्रन्थों में कर्म की प्रकृति और स्थिति आदि का सविस्तर वर्णन बड़े ही मौलिक शब्दों में पाया जाता है। कोई कर्म ऐसा होता है, जो काफ़ी समय के बाद फलोन्मुख होता है अर्थात् उदय में आता है, तथा कोई शीघ्र ही फलप्रद होता है। यह सब कुछ बन्धसमय की स्थिति पर निर्भर करता है। कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध आदि के भेदोपभेदों के वर्णन करने का यहां पर अवसर नहीं है तथा विस्तारभय से उन का उल्लेख भी नहीं किया गया। यहां तो संक्षेप से इतना ही बतला देना उचित है कि सामान्यतया कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो जन्मान्तर में फल देने वाले, दूसरे वे जो कि इसी जन्म में फल दे डालते हैं। शौरिकदत्त मच्छीमार के जीवनवृत्तान्त से यह पता चलता है कि उस के तीव्रतर क्रूरकर्मों का फल उसे इस जन्म में मिल रहा है, अर्थात् वह अपने किये कर्म का फल इस जन्म में भी भुगत रहा है।

शौरिकदत्त का व्यापार था पका हुआ मांस बेचना, तथा इस व्यवसाय के साथ २ वह उस का स्वयं भी आहार किया करता था। तात्पर्य यह है कि वह मत्स्यादि जीवों के मांस का विक्रेता भी था और स्वयं भोक्ता भी। शूलाप्रोत कर पकाए गए, तैलादि में तले और अंगारों पर भूने गए मत्स्यादि जीवों के मांसों के साथ विविध प्रकार की मदिराओं का सेवन करना, उस के व्यवहारिक जीवन का एकमात्र कर्तव्य सा बना हुआ था। इसी में वह अपने जीवन को सार्थक एवं सफल समझता था। किन्तु पापकर्म से यह आत्मा उसी प्रकार मलिन होनी आरंभ हो जाती है, जिस प्रकार मलिन शरीर के सम्पर्क में आने वाला नवीन श्वेत वस्त्र। वस्त्रधारी कितना भी चाहे कि उस का वस्त्र मलिन न होने पावे परन्तु जिस तरह वह वस्त्र उस मलिन शरीर के सम्पर्क में आने से अवश्य मैला हो जाता है, उसी प्रकार

कर्मरूप मल के सम्पर्क में आने से यह आत्मा भी मलिन होने से नहीं बच सकता। शौरिकदत्त ने पापकर्मों के आचरण से अपने आत्मा को अधिक से अधिक मात्रा में मलिन करने का उद्योग किया और उस के फलस्वरूप उस का मानवजीवन भी अधिक से अधिक दुःख का भाजन बना।

एक दिन शौरिकदत्त शूलाप्रोत किए हुए, तले और भूने हुए मत्स्यमास को खा रहा था, तो वहीं उस मास में जो मच्छी का कोई विषैला—जहरीला काटा रह गया था, वह उस के गले में चिपट गया। काटे के गले में लगते ही उसे बडी असह्य वेदना हुई, वह तड़प उठा। अनेक प्रकार के घरेलू यत्न करने पर भी काटा नहीं निकल सका, तब उसने अपने अनुचरों को बुला कर सारे नगर मे मुनादी कराई कि यदि कोई वैद्य या वैद्यपुत्र, चिकित्सक या चिकित्सकपुत्र आदि शौरिकदत्त के गले में लगे हुए मच्छी के काटे को बाहिर किकाल कर उसे अच्छा कर दे तो वह उस को बहुत सा धन देकर प्रसन्न करेगा, उस का घर लक्ष्मी से भर देगा।

अनुचरों ने सारे शहर मे यह उद्घोषणा कर दी और उसे सुन कर नगर के अनेक प्रसिद्ध वैद्य, वैद्यपुत्र तथा चिकित्सक आदि शौरिकदत्त के घर में पहुँचे, उन्होंने उसके गले को देखा, अपनी अपनी तीक्ष्ण और विलक्षण प्रतिभा के अनुसार उस को चिकित्सा आरम्भ की, वमन कराए गए, विधिपूर्वक गले को दबाया गया, स्थूल ग्रासों को खिला कर काटे को नीचे उतारने का उद्योग किया गया, एवं यन्त्रों के द्वारा निकालने का यत्न किया गया, परन्तु वे सब के सब अनुभवी वैद्य, मेधावी चिकित्सक आदि उस काटे को बाहिर निकालने या भीतर पहुँचाने में असफल ही रहे, तब वे हताश हो शौरिकदत्त को जवाब दे कर वहा से अपने अपने स्थान को प्रस्थान कर गए, और वैद्यादि के **"हम इस कांटे को निकालने में सर्वथा असमर्थ हैं"** इस निराशाजनक उत्तर को सुन कर शौरिकदत्त को बडा भारी कष्ट हुआ और उसी कष्ट से सूख कर वह अस्थिपंजर मात्र रह गया। उस काटे के विषैले प्रभाव से उस का शरीर विकृत हो गया, उस के मुख से पूय और रुधिर प्रवाहित होने लगा। इस वेदना से उस का शरीर एक मात्र हड्डियों का ढाचा ही रह गया। प्रतिक्षण प्रतिपल वह वेदना से पीड़ित होता हुआ जीवन व्यतीत करने लगा

भगवान् महावीर स्वामी फरमाने लगे कि हे गौतम ! यह वही शौरिकदत्त मच्छीमार है, जिस को तुमने शौरिकपुर नगर मे मनुष्यों के जमघट मे देखा है। ये सब कुछ उसके कर्मों का ही प्रत्यक्ष फल हैं। विचारशील मानव को उस के जीवन से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। इस की दुर्दशा को देख कर आत्मसुधार की शिक्षा ग्रहण करने वाले तो लाखों मे दो चार ही मिलेंगे, किन्तु उसे देख कर दूसरी ओर मुह फिराने वाले ससार में अनेक होंगे। परन्तु जीवन की महानता के वे ही भाजन बनते हैं जो उपयुक्त शिक्षा से अपने को शिक्षित करते हुए अपना आत्मश्रेय साधने मे सदा तत्पर रहते हैं।

—सिंघाडग जाव पहेसु—यहा पठित—**जाव—यावत्**—पद—**तिय, चउक्क, चच्चर, महापह**—इन पदों का परिचायक है। **सिंघाड़ग**—शृगाटक आदि पदों का अर्थ पृष्ठ ६९ पर लिखा जा चुका है। पाठक वहीं पर देख सकते हैं।

—वेज्जो वा ६ — यहा पर दिए गए ६ के अक से पृष्ठ ६५ पर पढे गए— **वेज्जपुत्तो वा, जाणओ वा, जाणयपुत्तो वा, तेइच्छिओ वा, तेइच्छियपुत्तो वा**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन का अर्थ वहीं पर लिख दिया गया है।

– कोडुंबियपुरिसा जाव उग्घोसति — यहा पढा गया **जाव — यावत्** पद—**तह त्ति**

विणएणं एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता सोरियपुरे णगरे सिंघाडग—तिय—चउक्क—चच्चर—महापह—पहेसु महया महया सद्देणं "—एवं खलु देवाणुप्पिया ! सोरियस्स मच्छकंटए गलए लग्गे, तं जो णं इच्छति वेज्जो वा ६ सोरियमच्छियस्स मच्छकंटयं गलाओ नीहरित्तए, तस्स णं सोरिए विउलं अत्थसंपयाणं दलयति —" त्ति—इन पदों का परिचायक है। अर्थात् कौटुम्बिकपुरुष—नौकर शौरिकदत्त मच्छीमार की बात को विनयपूर्वक तथेति (ऐसा ही होगा) ऐसा कह कर स्वीकार करते हैं, और शौरिकपुर के शृङ्गाटक त्रिक चतुष्क, चत्वर, महापथ और पथ इन रास्तों में बड़े ऊंचे शब्द से उद्घोषणा करते हैं कि हे भद्रपुरुषो ! शौरिकदत्त के गले में मत्स्यकण्टक—मच्छी का कांटा लग गया है, जो वैद्य तथा वैद्यपुत्र आदि उस को निकाल देगा तो शौरिकदत्त उस को बहुत सा द्रव्य देगा।

"बहूहि उप्पत्तियाहि य ४ बुद्धिहि"—यहां दिया गया चार का अंक वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी—इन तीन अवशिष्ट बुद्धियों का परिचायक है। [1]औत्पातिकी आदि पदों भावार्थ निम्नोक्त है—

१—जो बुद्धि प्रथम बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने विषयों को उसी क्षण में विशुद्ध यथावस्थितरूप में ग्रहण करती है, अर्थात् शास्त्राभ्यास और अनुभव आदि के बिना केवल उत्पात—जन्म से ही जो उत्पन्न होती है, उसे औत्पातिकी बुद्धि कहते हैं। नटपुत्र रोहा मगधनरेश महाराज श्रेणिक के मन्त्री श्री अभयकुमार, मुगलबादशाह अकबर के दीवान श्री बीरबल, महाकवि कालीदास आदि पूर्वपुरुष औत्पातिकी बुद्धि के ही धनी थे।

२—कठिन से कठिन समस्या को सुलझाने वाली, नीतिधर्म और अर्थशास्त्र के रहस्य को ग्रहण करने वाली, तथा लोकद्वय—इस लोक और परलोक में सुख का सम्पादन करने वाली बुद्धि का नाम वैनयिकी बुद्धि है।

३—उपयोग से—एकाग्र मन से कार्यों के परिणाम (फल) को देखने वाली, तथा अनेक—विध कार्यों के अभ्यास और चिन्तन से विशाल फल देने वाली बुद्धि कर्मजा कहलाती है।

४—अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करने वाली तथा अवस्था के परिपाक से पुष्ट एवं आध्यात्मिक उन्नति और मोक्षरूप फल को देने वाली बुद्धि पारिणामिकी कही जाती है।

तथा—वमणेहि—इत्यादि पदों की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में निम्नोक्त है—

१—"वमणेहि य त्ति—वमनं स्वत सम्भूतम्—" अर्थात् वमन शब्द से उस वमन का ग्रहण जानना चाहिए जो किसी उपचार से नहीं किन्तु स्वाभाविक आई है। वमन शब्द का अधिक अर्थ—सम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ ७१ पर किया जा चुका है। २—"छड्डणेहि य त्ति—छर्दन—वचादिद्रव्य—प्रयोगकृतम्—" अर्थात् छर्दन भी वमन (का ही नाम है, किन्तु यह वच (एक पौधा, जिस की जड़ दवा के काम आती है) आदि (आदि शब्द से मदनफल प्रभृति उलटी लाने वाले द्रव्यों का ग्रहण है) से कराई जाती है। ३—"उवीलणेहि य त्ति— अवपीडनं—निष्पीडनम्—" अर्थात् प्रस्तुत में गले को दबाने का नाम अवपीडन है। ४—"कवलग्गाहेहि य त्ति —कवलग्राह —कण्टकापनोदाय स्थूलकवलग्रहणम्, मुखविमर्दनार्थं वा दंष्ट्राध काष्ठखण्डदानम्—" अर्थात् कांटे को निकालने के लिए बड़े ग्रास का ग्रहण कराना, ताकि उसके संघर्ष से गले में अटका हुआ कांटा निकल जाए, अथवा—मुख को मालिश करने के लिए दाढों के नीचे लकड़ी

(१) उप्पत्तिया १ वेणइया २ कम्मया ३ परिणामिया ४ बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भई—(नन्दीसूत्र २६)। इन चारों बुद्धियों के विस्तृत स्वरूप को जानने की अभिलाषा रखने वाले पाठक श्री नन्दीसूत्र की टीका देख सकते हैं।

का टुकड़ा रखना—कवलग्राह कहलाता है । ५—सल्लुद्धरणेहि य त्ति—शल्योद्धरणम्—यंत्रप्रयोगात् कंटकोद्धार, तैः—" अर्थात् यन्त्र के प्रयोग से काटे को निकालना शल्योद्धार कहलाता है । ६—विसल्लकरणेहि य त्ति—विशल्यकरणम्—औषधसामर्थ्यात्—" अर्थात् औषध के बल से काटा निकालना विशल्यकरण कहलाता है ।

—संता ३—यहा दिए गए ३ के अंक से अवशिष्ट, १—तंता , २—परितन्ता—इन दो पदों का ग्रहण करना चाहिये । श्रान्त आदि पदों की व्याख्या पृष्ठ ७३ पर की जा चुकी है ।

—वेज्जपडियारणिव्विण्णे—वैद्यप्रतिकारनिर्विण्णः—(अर्थात् वैद्यों के प्रतिकार—इलाज से निराश), यह पद शौरिकदत्त के हतभाग्य होने का सूचक है । भाग्यहीन पुरुष के लिए किया गया लाभ का काम भी लाभप्रद नही रहता । शल्यचिकित्सा तथा औपधिचिकित्सा आदि में प्रवीण वैद्यों का निष्फल रहना, शौरिक की मन्दभाग्यता को ही आभारी है । वस्तुत पापिष्ठों की यही दशा होती है । उन के लाभ के लिए किया काम भी दु.खान्त परिणाम वाला होता है ।

—सुक्खे जाव विहरति—यहा के जाव—यावत पद से "—भुक्खे णिम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए—" इन पदों का ग्रहण करना चाहिये । शुष्क आदि पदों का अर्थ इसी अष्टम अध्ययन के पृष्ठ ४३१ पर किया जा चुका है ।

—पुराणाणं जाव विहरति—यहा पठित—जाव—यावत्—पद से अभिमत पदों का विवरण पृष्ठ ५२ पर किया जा चुका है । पाठक वहा पर देख सकते हैं ।

अब सूत्रकार शौरिकदत्त के आगामी भवों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1]**सोरिए णं भंते ! मच्छबंधे इओ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति ?, कहि उववज्जिहिति ?, गोतमा ! सत्तरिं वासाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए० संसारो तहेव जाव पुढवीए० । ततो हत्थिणाउरे मच्छत्ताए उववज्जिहिति । से णं ततो मच्छिएहि जीवियाओ ववरोविते तत्थेव सेट्ठिकुलंसि बोहिं० सोहम्मे० महाविदेहे वासे० सिज्झिहिति ५ । निक्खेवो ।**

॥ अट्ठमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—भंते !—हे भगवन् ! । **सोरिए णं**—शौरिक । **मच्छबंधे**—मत्स्यबन्ध-मच्छीमार । **इओ**-यहां से । **कालमासे**—कालमास में अर्थात् मृत्यु का समय आ जाने पर । **कालं किच्चा**—काल करके । **कहिं**—कहा । **गच्छिहिति ?**—जायगा ? । **कहि**—कहां पर । **उववज्जिहिति ?**—उत्पन्न होगा ? । **गोतमा !**—हे गौतम ! । **सत्तरिं**—सत्तर । **वासाइं**—वर्षों की । **परमाउं**—परमायु । **पालइत्ता**—पालन करके—भोग कर । **कालमासे**—कालमास में । **कालं किच्चा**—काल करके । **इमीसे**—इस । **रयणप्पभाए**—रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे उत्पन्न होगा । **ससारो**—ससारभ्रमण । **तहेव**—उसी भाति अर्थात् प्रथम अध्ययनगत मृगापुत्र की भाति करता हुआ । **जाव**—यावत् । **पुढवीए०**—पृथिवीकाया मे लाखों वार उत्पन्न होगा । **ततो—**

(१) छाया—शौरिको भदन्त ! मत्स्यबन्ध इत कालमासे काल कृत्वा कुत्र गमिष्यति ?, कुत्रोपपत्स्यते ? । गौतम ! सप्तति वर्षाणि परमायु पालयित्वा कालमासे काल कृत्वाऽस्या रत्नप्रभायां० संसारस्तथैव यावत् पृथिव्याम्० । ततो हास्तिनापुरे मत्स्यतयोपपत्स्यते । ततो मात्स्यिकैर्जीवितात् व्यपरोपितस्तत्रैव श्रेष्ठिकुले बोधिं० सौधर्मे० महाविदेहे वर्षे० सेत्स्यति ५ । निक्षेप ।

॥ अष्टममध्ययन समाप्तम् ॥

वहा से । हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर नगर में । मच्छत्ताए—मत्स्यतया—मत्स्यरूप में । उववज्जिहिति—उत्पन्न होगा । से—वह । णं—वाक्यालकारार्थक है । ततो—वहा से । मच्छिएहिं—मच्छीमारों के द्वारा । जीवियाओ - जीवन से । ववरोविते—पृथक् किया जाने पर । तत्थेव—वहीं हस्तिनापुर में । सिट्ठिकुलंसि—श्रेष्ठिकुल मे उत्पन्न होगा । वाहिं०—सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा । सोहम्मे ०—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा, वहा से । महाविदेहे - महाविदेह । वासे—क्षेत्र मे जन्मेगा तथा वहा । सिज्झिहिति ५—सिद्ध पद को प्राप्त करेगा ५ । निक्खेवो—निक्षेप—उपसहार पूर्व की भान्ति जान लेना चाहिये । अट्ठमं—अष्टम । अज्झयणं—अध्ययन । समत्तं—सम्पूर्ण हुआ ।

मूलार्थ—गौतम स्वामी के"—भगवन् ! शौरिकदत्त मत्स्यवंध—मच्छीमार यहां से कालमास मे काल करके कहा जायगा? और कहां उत्पन्न होगा?—" इस प्रश्न के अनन्तर प्रभु वीर बोले कि हे गौतम ! ७० वर्ष की परमायु भोगकर कालमास मे काल करके रत्नप्रभा नामक पहली नरक मे उत्पन्न होगा । उस का अवशिष्ट संसारभ्रमण पूर्ववत् ही जानना चाहिए, यावत् वह पृथिवी—काया मे लाखों बार उत्पन्न होगा । वहा से हस्तिनापुर मे मत्स्य बनेगा, वहां पर मात्स्यिकों-मच्छीमारों के द्वारा वध को प्राप्त हो, वही हस्तिनापुर मे एक श्रेष्ठिकुल मे जन्मेगा, वहां पर उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी, वहा मृत्यु को प्राप्त कर सौधर्म नामक देवलोक मे उत्पन्न होगा । वहा से च्युत हो कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्मेगा और वहा चारित्र ग्रहण कर उस के सम्यग् आराधन से सिद्ध पद को प्राप्त करेगा ५ । निक्षेप—उपसहार की कल्पना पूर्व की भान्ति करलेनी चाहिये ।

॥ अष्टम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

टीका—ससारी जीवन व्यतीत करने वाले प्राणियों की अवस्था को देख कर एक कर्मवादी सहृदय व्यक्ति दातों तले अंगुली दबा लेता है, और आश्चर्य से चकित रह जाता है, तथा उन जीवों की मनोगत विचित्रता पर दुःख के अश्रुपात करता है।

आज का ससारी जीव क्या चाहता ?, उत्तर मिलेगा—आनन्द चाहता है, सुख चाहता है और परिस्थितियों की अनुकूलता चाहता है । प्रतिकूलता तो उसे ज़रा जितनी भी सह्य नहीं होती । सासारिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक उद्योग करता है, इसके लिए उचितानुचित अथच पुण्य और पाप का भी उसे ध्यान नही रहता । तदर्थ यदि उस को किसी जीव की हत्या करनी पडे तो उसे भी निस्सकोच हो कर डालता है । किसी को दुखाने मे उसे आनन्द मिले तो दुखाता है, तडपाने मे सुख मिले तो तडपाता है । साराश यह है कि—आज के मानव व्यक्ति की यह विचित्र दशा है कि वह पुण्य का फल (सुख) तो चाहता है परन्तु पुण्य का आचरण नहीं करता और विपरीत इसके पाप के फल की इच्छा न रखता हुआ भी पापाचरण से [1]पराङ्मुख नहीं होता और पाप का फल भोगते हुए छटपटाता है, बिलबिलाता है । शौरिकदत्त मच्छीमार भी उन्हीं व्यक्तियो मे से एक था जो कि पाप करते समय तो किसी प्रकार का विचार नहीं करते और पाप का फल (दुःख) भोगते समय सिर पीटते और रोते चिल्लाते हैं ।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से शौरिकदत्त का अतीत और वर्तमान जीवन वृत्तान्त सुन कर गौतम स्वामी को बहुत सन्तोष हुआ और वे शौरिकदत्त की वर्तमान दुःखपूर्ण दशा का कारण तो जान गये परन्तु भविष्य मे उस का क्या बनेगा?, इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वे भगवान् से फिर पूछते हैं कि भगवन् ! यह मर कर अब कहा जायेगा ? और कहा पर उत्पन्न होगा ?

(१) पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः । न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥१॥

तात्पर्य यह है कि वह घटीयन्त्र की तरह ससार में निरन्तर भ्रमण ही करता रहेगा या उस के इस जन्म तथा मरण सम्बन्धी दु ख का कभी अन्त भी होगा ?,

गौतम स्वामी का यह प्रश्न बडा ही रहस्यपूर्ण है। आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ जीव सुख और दु ख दोनों का अनुभव करता है। कभी उसे सुख की उपलब्धि होती है और कभी दु ख की प्राप्ति। परन्तु विचार किया जाये तो उसका वह सुख भी दु खमिश्रित होने से दु खरूप ही है। वहा सुख का तो केवल आभासमात्र है। तात्पर्य यह है कि कर्मसम्बन्ध मे जब तक जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध इस जीवात्मा के साथ बना हुआ है, तब तक इस को शाश्वत सुख की उपलब्धि नही हो सकती। उस की प्राप्ति का सर्व-प्रथम साधन [१]सम्यक्त्व की प्राप्ति है, सम्यक्त्व के बाद ही चारित्र का स्थान है। दर्शन तथा चारित्र की सम्यग् आराधना से यह आत्मा अपने कर्मबन्धनों को तोडने में समर्थ हो सकता है। कर्मबन्धनों को तोडने से आत्मशक्तियें विकसित होती हैं, उन का पूर्णविकास—आत्मा की कैवल्यावस्था अर्थात् केवलज्ञान प्राप्ति की अवस्था है, उस अवस्था को प्राप्त करने वाला जीवन्मुक्त आत्मा जैन परिभाषा के अनुसार सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता हुआ सदेह या साकार ईश्वर के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इसके पश्चात् अर्थात् औदारिक अथच कार्मण शरीर के परित्याग के अनन्तर निर्वाण पद को प्राप्त हुआ आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजर और अमर के नाम से सम्बोधित किया जाता है। तब शौरिकदत्त का जीव इस जन्म तथा मरण की परम्परा से छूट कर कभी इस अवस्था को भी जो कि उसका वास्तविक स्वरूप है, प्राप्त करेगा कि नही ?, यह गौतम स्वामी के प्रश्न का अभिप्राय है।

इसके उत्तर मे भगवान महावीर स्वामी ने जो कुछ फरमाया उसका वर्णन मूलार्थ में स्फुटरूप से कर दिया गया है, जो कि अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता। अस्तु, शौरिकदत्त का जीव अन्त में समस्त कर्मबन्धनों को तोडकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य से युक्त होता हुआ परम कल्याण और परम सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करेगा।

—**रयणप्पभाए० संसारो तहेव जाव पुढवीए०**—इन पदों से तथा इनके साथ दी गई बिन्दुओं से अभिमत पाठ पृष्ठ ३३६ पर, तथा—**बोहिं०, सोहम्मे०, महाविदेहे वासे० सिज्झिहिति ५**—इन सांकेतिक पदों से अभिमत पाठ पृष्ठ ३१२ पर लिखा जा चुका है।

पाठकों को स्मरण होगा कि दु खविपाक के सप्तम अध्ययन को सुन लेने के अनन्तर श्री जम्बू स्वामी ने अपने पूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से उसके अष्टम अध्ययन को सुनाने की अभ्यर्थना की थी, जिस की पूर्ति के लिए श्री सुधर्मा स्वामी ने प्रस्तुत अष्टमाध्याय सुनाना आरम्भ किया था। अध्ययन की समाप्ति पर आर्य सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू स्वामी को जो कुछ फरमाया, उसे सूत्रकार ने **निक्खेवो—निक्षेपः**—इस पद मे गर्भित कर दिया है। **निक्खेवो**—पद का अर्थसम्बन्धी विचार पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है। प्रस्तुत मे इससे जो सूत्रांश अपेक्षित है, वह निम्नोक्त है—

एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि। अर्थात् हे जम्बू ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान्

---

(१) **नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।**
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं व सम्मत्तं॥ (उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८/२९।

अर्थात् सम्यक्त्व—समकित के बिना चारित्र नहीं हो सकता और दर्शन मे उसकी—चारित्र की भजना है अर्थात् जहा पर सम्यक्त्व होता है वहा पर चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी, तथा यदि दोनों—दर्शन और चारित्र, एक काल मे हों तो उन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति प्रथम होगी।

महावीर स्वामी ने इस प्रकार दुःखविपाक के अष्टम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। जम्बू ! जैसा मैंने भगवान् की परम पवित्र सेवा में रह कर उन से सुना है, वैसा तुम्हें सुना दिया है। इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है।

प्रस्तुत अष्टम अध्ययन में शौरिकदत्त नाम के मत्स्यबन्ध—मच्छीमार का अतीत, अनागत और वर्तमान से सम्बन्ध रखने वाले जीवनवृत्तान्त का उपाख्यान के रूप में वर्णन किया गया है, जिस से हिंसा और उसके कटुफल का साधारण से साधारण ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को भी भली प्रकार से बोध हो जाता है। पदार्थ वर्णन की यह शैली सर्वोत्तम है, जिसे कि सूत्रकार ने अपनाया है।

हिंसा बुरी है, दुःखों की जननी है, उस से अनेक प्रकार के पाप कर्मों का बन्ध होता है। इस प्रकार के वचनों से श्रोता के हृदय पर हिंसा के दुष्परिणाम (बुराई) की छाप उतनी अच्छी नहीं पड़ती, जितनी कि एक कथारूप में उपस्थित किये जाने वाले वर्णन से पड़ती है। इसी उद्देश्य से शास्त्रकारों ने कथाशैली का अनुसरण किया है। शौरिकदत्त के जीवनवृत्तान्त से हिंसा से पराङ्मुख होने का साधक को, जितना अधिक ध्यान आता है, उतना हिंसा के मौखिक निषेध से नहीं आता।

प्रस्तुत अध्ययनगत शौरिकदत्त के उपाख्यान से हिंसामय सावद्य प्रवृत्ति और उस से बान्धे गये पाप कर्मों के विपाक—फल को दृष्टि में रखते हुए विचारशील पाठकों को चाहिये कि वे अपनी दैनिकचर्या और खान पान की प्रवृत्ति को अधिक से अधिक निरवद्य अथच शुद्ध बनाने का यत्न करें, तथा मानव भव की दुलभता का ध्यान रखते हुए अपने जीवन को अहिंसक अथच प्रेममय बनाने का भरसक प्रयत्न करें। ताकि उनका जीवन जीवमात्र के लिये, अभयप्रद होने के साथ २ स्वयं भी किसी से भय रखने वाला न बने, इसी में मानव का भावी कल्याण अथच सर्वतोभावी श्रेय निहित है।

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥

अथ नवम अध्याय

जैनागमों मे ब्रह्मचारी की बड़ी महिमा गाई गई है। श्री प्रश्नव्याकरण[1] सूत्र में ब्रह्मचर्य व्रत के धारक को भगवान् से उपमित किया गया है। ब्रह्मचारी शब्द में दो पद हैं। ब्रह्म और चारी। ब्रह्म शब्द का प्रयोग—"[2]मैथुनत्याग, [3]आनन्दवर्द्धक, [4]वेद—धर्मशास्त्र, तप और शाश्वत ज्ञान" इन अर्थों में होता है, और चारी का अर्थ आचरण करने वाला है। तब ब्रह्मचारी शब्द का—ब्रह्म का आचरण करने वाला—यह अर्थ निष्पन्न हुआ।

ऊपर बतलाये अनुसार यद्यपि ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं, तथापि आजकल इसका रूढ अर्थ मैथुनत्याग है। इसलिए वर्तमान मे मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य और उसका सम्यक् आचरण करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। इस अर्थविचारणा से जो व्यक्ति स्त्रीसबन्ध से सर्वथा पृथक् रहता है, तथा प्रत्येक स्त्री को माता, भगिनी या पुत्री की दृष्टि से देखता है, वह ब्रह्मचारी है। इसी भान्ति यदि स्त्री हो तो वह ब्रह्मचारिणी है। ब्रह्मचारिणी स्त्री ससार भर के पुरुषों को पिता और भाई एव पुत्र के तुल्य समझती है।

ब्रह्मचर्यव्रत असिधारा के तुल्य बतलाया गया है, जिस तरह तलवार की धारा पर चलना कठिन होता है, उसी तरह ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना भी नितान्त कठिन होता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन में मन के ऊपर बड़ा भारी अकुश रखने की आवश्यकता होती है। इस की रक्षा के लिये शास्त्रों मे अनेक प्रकार के नियमोपनियम बतलाये गए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवे अध्याय में लिखा है कि दस कारण ऐसे होते हैं जिन के सम्यग् आराधन से ब्रह्मचारी अपने व्रत का निर्विघ्नता से पालन कर सकता है, वे दश [5]कारण निम्नोक्त हैं—

१—जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपु सक का निवास हो, उस स्थान मे ब्रह्मचर्य के पालक व्यक्ति को नहीं रहना चाहिये।

२—ब्रह्मचारी स्त्रीसम्बन्धी कथा न करे अर्थात् स्त्रियों के रूप, लावण्य का वर्णन तथा अन्य कामवर्धक चेष्टाओं का निरूपण न करे।

३—ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ एक आसन से न बैठे और जिस स्थान पर स्त्रियें बैठ चुकी हैं, उस स्थान पर मुहूर्त (दो घडी) पर्यन्त न बैठे।

४—ब्रह्मचारी स्त्रियों के मनोहर—मन को हरने वाली और मनोरम—मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाली इन्द्रियों की ओर ध्यान न देवे।

---

(१) "तं बभं भगवंत . तित्थगरे चेव मुणीण" (सम्वरद्वार ४ अध्ययन)। (२) ब्रह्मेति ब्रह्मचर्य मैथुनत्याग। (३) बृ हति—वर्द्धतेऽस्मिन् आनन्द इति ब्रह्म। (४) ब्रह्म वेद, ब्रह्म तप ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतं तच्चरत्यर्जयत्यवश्यं ब्रह्मचारी।

(५) इन कारणों का अर्थसम्बन्धी अधिक ऊहापोह करने के लिए देखो, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के प्रधानाचार्य परमपूज्य परमश्रद्धेय गुरुदेव **श्री आत्मा राम जी महाराज** द्वारा निर्मित श्री उत्तराध्ययन सूत्र की आत्मज्ञानप्रकाशिका नामक हिन्दीभाषाटीका।

५—ब्रह्मचारी पत्थर की या अन्य ईंट आदि की दीवारों के भीतर से तथा वस्त्र के परदे के भीतर से आने वाले स्त्रियों के कूजित शब्द सुरत समय में किया गया अव्यक्त शब्द), रुदित शब्द (प्रेममिश्रित रोष से रतिकलहादि में किया गया शब्द), गीत शब्द (प्रमोद में आकर स्वरतालपूर्वक किया गया शब्द), हास्य शब्द और स्तनित शब्द (रतिसुख के आधिक्य से होने वाला शब्द) एवं क्रन्दित शब्द (भर्ता के रोष तथा प्रकृति के ठीक न होने से किया गया शोकपूर्ण शब्द) भी न सुने।

६—ब्रह्मचारी पूर्वरति (स्त्री के साथ किया गया पूर्व संभोग) तथा अन्य पूर्व की गई काम—क्रीडाओं का स्मरण न करे ।

७—ब्रह्मचारी पौष्टिक—पुष्टिकारक एवं धातुवर्धक आहार का ग्रहण न करे ।

८—ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक आहार तथा जल का सेवन न करे ।

९—ब्रह्मचारी अपने शरीर को विभूषित न करे, प्रत्युत अधिकाधिक सादगी से जीवन व्यतीत करे ।

१०—ब्रह्मचारी कामोत्पादक शब्द, स्त्री आदि के रूप, मधुर तथा अम्लादि रस और सुरभि-सुगन्ध और सुकोमल स्पर्श अर्थात् पांचों इन्द्रियों के पांचों विषयों में आसक्त न होने पावे ।

इन दश नियमों के सम्यग् अनुष्ठान से ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा २ संरक्षण हो सकता है। इस के अतिरिक्त शास्त्रों में ब्रह्मचर्य को सुदृढ (१)जहाज के तुल्य बतलाया गया है। जिस तरह जहाज यात्री को समुद्र में से पार कर किनारे लगा देता है, उसी तरह ब्रह्मचर्य भी साधक को संसार समुद्र से पार कर उसके अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देता है, इस लिये प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष द्वारा ब्रह्मचर्य जैसे महान् व्रत को सम्यगतया अपनाने का यत्न करना चाहिये, इसके विपरीत जो जीव ब्रह्मचर्य का पालन न कर केवल मैथुनसेवी बने रहते हैं, तथा उस के लिये उपयुक्त साधनों को एकत्रित करने में अनेक प्रकार के क्रूर कर्म करते हैं, वे अपनी आत्मा को मलिन करते अथच चतुर्गतिरूप संसार—सागर में गोते खाते हैं, तथा नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं।

प्रस्तुत नवम अध्ययन में ब्रह्मचर्य से पराङ्मुख रहने वाले विषयासक्त एक कामी नारीजीवन का वृत्तान्त वर्णित हुआ है, जो विषयवासनाओं का अधिकाधिक उपभोग करने के लिए अपनी सास के जीवन का भी अन्त कर देता है, इसके अतिरिक्त साथ में एक पुरुषजीवन का भी वर्णन उपस्थित किया गया है जो मैथुन का पुजारी बन कर तथा एक स्त्री पर आसक्त होकर ४९९ स्त्रियों को आग में जला देता है, उस नवम अध्ययन का आदिम सूत्र निम्नोक्त है—

मूल—(२)उक्खेवो णवमस्स । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडए

(१) समुद्रतरणे यद्वदुपायो नौः प्रकीर्तिता । संसारतरणे तद्वद्, ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥

(२) छाया —उत्क्षेपो नवमस्य । एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये रोहीतकं नाम नगरमभूद्, ऋद्ध०, पृथिव्यवतंसकमुद्यानम् । धरणो यक्षः । वैश्रमणदत्तो राजा । श्रीदेवी । पुष्यनन्दी कुमारो युवराजः । तत्र रोहीतके नगरे दत्तो नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्य० । कृष्णश्री भार्या । तस्य दत्तस्य दुहिता कृष्णश्रियः आत्मजा देवदत्ता नाम दारिका अभूदहीन० यावदुत्कृष्टशरीरा । तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृतो, यावद् गतः । तस्मिन् काले तस्मिन् समये ज्येष्ठोऽन्तेवासी षष्ठक्षमणपारणके तथैव यावद् राजमार्गमवगाढो हस्तिनः, अश्वान्, पुरुषान् पश्यति । तेषां पुरुषाणां मध्यगतां पश्यत्येकां स्त्रियमवकोटकबन्धनामुत्कृत्तकर्णनासां यावच्छूले भिद्यमानां पश्यति दृष्ट्वा अयमाध्यात्मिकः, ५ समुत्पन्नस्तथैव निर्गतो यावदेवमवादीत्—एषा भदन्त ! स्त्री पूर्वभवे का आसीत् ? ।

नामं णगरे होत्था, रिद्ध० । पुढवीवडंसए उज्जाणे । धरणे जक्खे । वेसमणदत्ते राया । सिरीदेवी । पूसणंदी कुमारे जुवराया । तत्थ णं रोहीडए णगरे दत्ते णाम गाहावती परिवसति, अड्ढे० । कण्हसिरी भारिया । तस्स णं दत्तस्स धूया कण्हसिरीए अत्तया देवदत्ता नामं दारिया होत्था, अहीण० जाव उक्किट्ठसरीरा । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे जाव गओ । तेण कालेण तेणं समएण जेट्ठे अंतेवासी छट्ठक्खमणपारणगंसि तहेव जाव रायमग्गं ओगाढे हत्थी, आसे, पुरिसे पासति । तेसिं पुरिसाणं मज्झगयं पासति एगं इत्थियं अवओडगबंधणं उक्खित्तकण्णनासं जाव सूले भिज्जमाणं पासति पासित्ता इमे अज्झत्थिए ५ समुप्पन्ने तहेव णिग्गते जाव एवं वयासी—एसा णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसि ?।

पदार्थ—**णवमस्स**—नवम अध्ययन का । **उक्खेवो**—उत्क्षेप-प्रस्तावना की कल्पना पूर्व की भान्ति कर लेनी चाहिये। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **जंबू !**—हे जम्बू ! । **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय में। **रोहीडए**—रोहीतक । **नामं**—नाम का । **णगरे**—नगर । **होत्था**—था। **रिद्ध०**—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—स्वचक्र और परचक्र के उपद्रवों से रहित, एवं समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण, था । **पुढवीवडंसए**—पृथिव्यवतंसक नामक । **उज्जाणे**—उद्यान—बाग था । **धरणे**—धरण नामक । **जक्खे**—यक्ष, अर्थात् वहां यक्ष का स्थान था। **वेसमणदत्ते**—वैश्रमणदत्त नाम का । **राया**—राजा था । **सिरी देवी**—श्रीदेवी नाम की रानी थी । **पूसणंदी**—पुष्यनन्दी । **कुमारे**—कुमार । **जुवराया**—युवराज था । **तत्थ णं**—उस । **रोहीडए**—रोहीतक । **णगरे**—नगर में। **दत्ते**—दत्त । **नामं**--नाम का । **गाहावती**—एक गाथापति—गृहस्थ । **परिवसति**—रहता था, जो कि। **अड्ढे०**— धनी यावत् अपने नगर में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए था । **कण्हसिरी**—उसकी कृष्णश्री । **भारिया**—भार्या-स्त्री थी । **तस्स णं**—उस । **दत्तस्स**—दत्त की । **धूया**—दुहिता—पुत्री । **कण्हसिरीए**—कृष्णश्री की । **अत्तया**—आत्मजा । **देवदत्ता**—देवदत्ता । **नामं**—नाम की । **दारिया**—दारिका—बालिका । **होत्था**—थी, जोकि । **अहीण०**—अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाली । **जाव**—यावत् । **उक्किट्ठसरीरा**—उत्कृष्ट—उत्तम शरीर वाली थी । **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय में । **सामी**—भगवान् महावीर स्वामी । **समोसढे**—पधारे । **जाव**—यावत्, सब। **गओ**—चले गये। **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय । **जेट्ठे**—प्रधान । **अन्तेवासी**—शिष्य। **छट्ठक्खमणपारणगंसि**—षष्ठतप—बेले के पारणे के लिये । **तहेव**—तथैव पूर्ववत्—पहले की भान्ति। **जाव**—यावत् । **रायमग्गं**—राजमार्ग में । **ओगाढे**—पधारे, वहां । **हत्थी**—हाथियों को । **आसे**—घोड़ों को । **पुरिसे**—पुरुषों को । **पासति**—देखते हैं । **तेसिं**—उन । **पुरिसाणं**—पुरुषों के । **मज्झगयं**—मध्यगत । **एगं**—एक । **इत्थियं**—स्त्री को, जोकि । **अवओडगबंधणं**—अवकोटक बन्धन से बन्धी हुई है, तथा । **उक्खित्तकण्णनासं**—जिस के कान और नाक दोनों ही कटे हुए हैं । **जाव**—यावत् । **सूले**—सूली पर । **भिज्जमाणं**—भिद्यमान हो रही है । **पासति पासित्ता**—देखते हैं देख कर । **इमे**—यह । **अज्झत्थिए ५**—आध्यात्मिक-संकल्प ५ । **समुप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ । **तहेव**—तथैव—उसी भान्ति । **णिग्गते**—नगर से निकले । **जाव**—यावत् । **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले । **भंते !**—हे भदन्त ! । **एसा णं**—यह । **इत्थिया**—स्त्री । **पुव्वभवे**—पूर्व भव में । **का आसि ?**—कौन थी ? ।

मूलार्थ—नवम अध्ययन के उत्क्षेप—प्रस्तावना की कल्पना पूर्व की भान्ति कर लेनी चाहिये। हे जम्बू! उस काल और उस समय में रोहीतक नाम का ऋद्ध, स्तिमित और समृद्ध नगर था। वहां पृथिव्यवतंसक नाम का एक उद्यान था, उस में धरण नामक यक्ष का एक आयतन स्थान था। वहां वैश्रमणदत्त नामक राजा का राज्य था। उसकी श्रीदेवी नाम की रानी थी, उसके युवराज पद से अलंकृत पुष्यनन्दी नाम का कुमार था। उस नगर में दत्त नाम का एक गाथापति रहता था, जोकि बड़ा धनी यावत् अपनी जाति में बड़ा सम्माननीय था। उस की कृष्णश्री नाम की भार्या थी। इन के अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त उत्कृष्ट शरीर वाली देवदत्ता नाम की एक बालिका—कन्या थी।

उस काल और उस समय पृथिव्यवतंसक नामक उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे, यावत् उनकी धर्मदेशना सुन कर परिषद् और राजा सब वापिस चले गये। उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी षष्ठक्षमण—बेले के पारणे के लिए भिक्षार्थ गये यावद् राजमार्ग में पधारे, वहां पर वे हस्तियों, अश्वों और पुरुषों को देखते हैं और उनके मध्य में उन्हों ने अवकोटक बन्धन से बन्धी हुई, कटे हुए कान तथा नाक वाली यावत् सूली पर भेदी जाने वाली[1] एक स्त्री को देखा देख कर उन के मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ यावत् पहले की भान्ति भिक्षा लेकर नगर से निकले और भगवान् के पास आकर इस प्रकार निवेदन करने लगे कि भदन्त! यह स्त्री पूर्व भव में कौन थी?।

टीका—सख्यानुक्रम से अष्टम अध्ययन के अनन्तर नवम अध्ययन का स्थान आता है। नवम अध्ययन में राजपत्नी देवदत्ता का जीवनवृत्तान्त वर्णित हुआ है। नवम अध्ययन को सुनने की अभिलाषा से चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य—उद्यान में विराजमान आर्य सुधर्मा स्वामी के प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी उन से विनयपूर्वक इस प्रकार निवेदन करते हैं—

वन्दनीय गुरुदेव! आप श्री के परम अनुग्रह से मैंने दुःखविपाक के अष्टम अध्ययन का अर्थ तो सुन लिया और उस का यथाशक्ति मनन भी कर लिया है, परन्तु अब मेरी उसके दुःखविपाक के नवम अध्ययन के अर्थ को श्रवण करने की भी अभिलाषा हो रही है, ताकि यह भी पता लगे कि यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उस में किस व्यक्ति के किस प्रकार के जीवन—वृत्तांत का वर्णन किया है?, इस लिये आप नवम अध्ययन का अर्थ सुनाने की भी अवश्य कृपा करें?

तब जम्बू स्वामी की इस विनीत प्रार्थना को मान देते हुए श्री सुधर्मा स्वामी इस प्रकार फरमाने लगे कि हे जम्बू! भव्याम्भोजदिवाकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एक बार रोहीतक नामक नगर में पधारे और नगर के बाहिर वे पृथिव्यवतंसक नामक उद्यान में विराजमान होगये। उस उद्यान में धरण नामक यक्ष का एक यक्षायतन—स्थान था, जिस के कारण उद्यान की अधिक

(१) वैयाकरणों के "—वर्तमान के समीपवर्ती भविष्यत् और भूतकाल में भी वर्तमान के समान प्रत्यय होते हैं—" इस सिद्धान्त से "भिद्यमाना" में वर्तमानकालिक प्रत्यय होने पर भी अर्थ भविष्य का—भेदन किये जाने वाली—यह होगा। इस भाव का बोध कराने वाला व्याकरणसूत्र सिद्धान्त—कौमुदी में—**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा** । ३/३/१३१/ इस प्रकार है, तथा आचार्यप्रवर श्री हेमचन्द्र सूरि अपने हैमशब्दानुशासन में इसे—**सत्सामीप्ये सद्वद्वा**। ५/४/१। इस सूत्र से अभिव्यक्त करते हैं। अर्थ स्पष्ट ही है।

विख्याति हो रही थी। नगर मे अनेक धनी, मानी सद्गृहस्थ रहते थे, जिन मे वह धन धान्यादि से युक्त और समृद्धिपूर्ण था। नगर मे महाराज वैश्रमणदत्त राज्य किया करते थे, वे भी न्याय-शील और प्रजावत्सल थे। उन की महारानी का नाम श्रीदेवी था, और पुष्यनन्दी नाम का एक कुमार था, जो कि अपनी विशेष योग्यता के कारण उस समय युवराज पद पर प्रतिष्ठित हो चुका था।

रोहीतक नगर व्यापार का केन्द्र था, वहा दूर २ से व्यापारी लोग आकर व्यापार किया करते थे। नगर के निवासियो मे दत्त नाम का एक बडा प्रसिद्ध व्यापारी था, जो कि धनाढ्य होने से नगर मे पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए था। उसकी कृष्णश्री नाम की रूपलावण्य मे अद्वितीय भार्या थी। उनके देवदत्ता नाम की एक कन्या थी, जो कि नितान्त सुन्दरी थी। उसके शरीर के किसी भी अंग प्रत्यंग में न्यूनाधिकता नहीं थी। अधिक क्या कहें उस का अपूर्व रूपलावण्य अप्सराओं को भी लज्जित कर रहा था। वास्तव में मानुषी के रूप मे वह स्वर्गीया देवी थी।

रोहीतक नगर व्यापारियों के आवागमन से तथा राजकीय सुचारु प्रबंध से विशेष ख्याति को प्राप्त कर रहा था, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने से तो उस मे और भी प्रगति आ गई। नगर का धार्मिक वातावरण सजग हो उठा। जहाँ देखो धर्मचर्चा, जहाँ देखो भगवान् के गुणों का वर्णन। तात्पर्य यह है कि प्रभु वीर के वहा पधार जाने से लोगों मे हर्ष, उत्साह और धर्मानुराग ठाठें मार रहा था। उद्यान की तरफ जाते और आते हुए नागरिकों के समूह, आनन्द से विभोर होते हुए दिखाई देते थे। उद्यान मे आई हुई भावुक जनता को भगवान् की धर्मदेशना ने उस के जीवन मे आशातीत परिवर्तन किया। उस में धर्मानुराग बढा, और वह धार्मिक बनी। उन के धर्मोपदेश को सुन कर उस ने अपनी २ शक्ति के अनुसार धर्म मे अभिरुचि उत्पन्न करते हुए धर्म-सम्बन्धी नियमों को अपनाने का प्रयत्न किया।

वीर प्रभु की धर्मदेशना को सुन कर जब जनता अपने २ स्थान को चली गई तब परम संयमी परम तपस्वी अनगार गौतम स्वामी बेले का पारणा करने के लिए भिक्षार्थ नगर मे जाने की प्रभु से आज्ञा मांगते हैं। आज्ञा मिल जाने पर वे नगर मे चले जाते हैं और वहा राजमार्ग में उन्हो ने एक स्त्री को देखा जो कि [1]अवकोटकबन्धन से बन्धी हुई थी। उस के कान और नाक कटे हुए थे। उसी के मासखण्ड उसे खिलाये जा रहे थे। निर्दयता के साथ उसे मारा जा रहा था और उस के चारों ओर पुरुष, हाथी तथा घोडे एवं सैनिक पुरुष खडे थे।

इस प्रकार सूली पर चढाई जाने वाली उस स्त्री को देख कर गौतम स्वामी चकित से रह गये। विचारी अबला पर कितना अत्याचार हो रहा है?, ये लोग भी कितने निर्दयी हैं?, जो इस प्रकार के क्रूर कृत्य को कर रहे हैं?, न मालूम इस विचारी ने भी ऐसे कौन से कर्म किये हैं?, जिन से आज यह इस प्रकार अपमानित हो कर प्राण दे रही है?, ऐसा भयंकर दृश्य तो नरकसम्बन्धी वेदनाओं का स्मरण करा देने वाला है।

करुणाशील सहृदय गौतम स्वामी उस महिला की उक्त दुर्दशा से प्रभावित हुए २ नगर से यथेष्ट आहार ले कर वापिस उद्यान मे आते हैं और भगवान् के चरणों मे वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर राजमार्ग मे देखे हुए करुणाजनक दृश्य को सुना कर उस स्त्री के पूर्वभव को जानने की जिज्ञासा करते हुए कहते हैं कि हे भदन्त! वह स्त्री पूर्वभव में कौन थी? जो नरक के तुल्य असह्य

---

(१) रस्सी से गले और हाथ को मोड़ कर पृष्ठ भाग के साथ बांधना अवकोटक बन्धन कहलाता है।

वेदनाओं का उपभोग कर रही है ?, इतना निवेदन करने के बाद अनगार गोतम स्वामी भगवान् महावीर स्वामी से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे ।

"—उक्खेवो—" इस पद का अर्थ होता है—प्रस्तावना। अर्थात् प्रस्तावना को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने "—उक्खेवो—" इस पद का प्रयोग किया है । प्रस्तावनारूप सूत्रांश निम्नोक्त है –

"—जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, णवमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? –अर्थात् यदि भगवन् ! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के अष्टम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ बतलाया है तो उन्होंने दुःखविपाक के नवम अध्ययन का क्या अर्थ फरमाया है ?

—रिद्ध०—तथा –अड्ढे०—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ की सूचना क्रमशः पृष्ठ १३८ तथा १२० पर दी गई है । तथा—अहीण० जाव उक्किट्ठसरीरा—यहां पठित जाव—यावत् पद पृष्ठ १०५ के टिप्पण में पढ़े गये –पडिपुण्णपंचिंदियसरीरा—से ले कर—पियदंसणा सुरूवा—यहां तक के पदों का, तथा पृष्ठ ३०७ पर पढ़े गये—उम्मुक्कबालभावा—से ले कर—लावण्णेण य उक्किट्ठा—यहां तक के पदों का बोधक है । तथा—समासढे जाव गओ—यहां के—जाव— यावत्— पद से संगृहीत पद पृष्ठ ४३१ पर लिख दिये गये हैं । तथा—तहेव जाव रायमग्गं—यहां पठित—तहेव—पद उसी भांति अर्थात् जिस तरह पहले वर्णित अध्ययनों में वर्णन कर आये हैं, उसी तरह प्रस्तुत में भी समझना चाहिये, तथा उसी वर्णन का संसूचक जाव—यावत् पद है । जाव—यावत् पद से अभिमत पाठ पृष्ठ २०७ पर लिखा जा चुका है । अन्तर मात्र इतना है कि प्रस्तुत में रोहीतक नामक नगर का उल्लेख है, जब कि वहां पुरिमताल नगर का । शेष वर्णन समान ही है ।

—उक्खित्तकण्णनासं जाव सूले—यहां पठित जाव—यावत् पद पृष्ठ १२३ पर लिखे गए —नेहत्तुप्पियगत्तं वज्झकरकडिजुयनियत्थं—इत्यादि पदों का परिचायक है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां एक पुरुष का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में एक स्त्री का । अर्थगत कोई भेद नहीं है । तथा –अज्झत्थिए ५—यहां के अंक से अपेक्षित पद पृष्ठ १३३ पर लिखे जा चुके हैं ।

—तहेव णिग्गते जाव एवं वयासी – यहां पठित - तहेव— तथा—जाव– यावत् – पद पृष्ठ २१० पर पढ़े गए—अहो णं इमे पुरिसे पुरा पुराणाणं —से ले कर - महावीरं वन्दति नमंसति २—इन पदों का तथा पृष्ठ २११ पर पढ़े गये -तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे—से ले कर—वेयणं वेएति— यहां तक के पदों का परिचायक है । अन्तर मात्र इतना है कि वहां पुरिमताल नगर और उस के राजमार्ग पर भगवान् गौतम ने एक वध्य पुरुष के दयनीय दृश्य को देखा था, और वह दृश्य भगवान् को सुनाया था, जब कि प्रस्तुत में रोहीतक नगर है और उसके राजमार्ग पर एक स्त्री के दयनीय दृश्य को उन्होंने देखा और वह दृश्य भगवान् को सुनाया । अर्थात् दृश्यवर्णक पाठ भिन्न होने के अतिरिक्त शेष वर्णन समान ही है।

अब सूत्रकार भगवान् महावीर स्वामी द्वारा दिये गये उत्तर का वर्णन करते हुए कहते हैं –

मूल—[1]**एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे**

(१) एवं खलु गोतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे सुप्रतिष्ठं नाम नगरमभूद्, ऋद्ध० । महासेनो राजा । तस्य महासेनस्य धारिणीप्रमुखं देवीसहस्रमवरोधे चाप्यभूत् । तस्य महासेनस्य पुत्रो धारिण्या देव्या आत्मजः सिंहसेनो नाम कुमारोऽभूदहीन० युवराजः । ततस्तस्य सिंहसेनस्य

सुपतिट्ठे णामं नगरे होत्था, रिद्ध०। महासेणे राया, तस्स णं महासेणस्स धारिणीपामुक्खं देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था। तस्स णं महासेणस्स पुत्ते धारिणीए देवीए अत्तए सीहसेणे णामं कुमारे होत्था, अहीण० जुवराया। तते णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापितरो अन्नया कयाइ पंचपासायवडंसगसयाइं कारेंति, अब्भुगत०। तते णं तस्स सीहसेणस्स कुमारस्स अन्नया कयाइ सामापामोक्खाणं पंचण्ह रायवरकन्नगसयाणं एगदिवसेण पाणि गेण्हावेंसु। पंचसयओ दाओ। तते णं से सीहसेणे कुमारे सामापामोक्खेहिं पंचहि देवीसतेहिं सद्धिं उप्पिं जाव विहरति। तते णं से महासेणे राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते, नीहरणं०। राया जाते महया०।

पदार्थ—**एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **गोयमा!**—हे गौतम!। **तेणं कालेणं तेणं समएणं**—उस काल तथा उस समय। **इहेव**—इसी। **जंबुद्दीवे**—जम्बूद्वीप नामक। **दीवे**—द्वीप के अन्तर्गत। **भारहे वासे**—भारत वर्ष में। **सुपतिट्ठे**—सुप्रतिष्ठ। **णाम**—नामक। **णगरे**—नगर। **होत्था**—था, जो कि। **रिद्ध०**—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों के भय से रहित, तथा समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण, था। **महासेणे राया**—महासेन नामक राजा था। **तस्स णं**—उस। **महासेणस्स**—महासेन की। **धारिणीपामुक्खं**—जिस में धारिणी प्रमुख—प्रधान हो ऐसी। **देवीसहस्सं**—हजार देवियें। **ओरोहे**—अवरोध—अन्त पुर में। **यावि होत्था**—थीं। **तस्स णं**—उस। **महासेणस्स**—महासेन का। **पुत्ते**—पुत्र। **धारिणीए**—धारिणी। **देवीए**—देवी का। **अत्तए**—आत्मज। **सीहसेणे**—सिंहसेन। **णाम**—नामक। **कुमारे**—कुमार। **होत्था**—था। **अहीण०**—जो कि अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों वाले शरीर से युक्त, तथा। **जुवराया**—युवराज था। **तते णं**—तदनन्तर। **तस्स**—उस। **सीहसेणस्स**—सिंहसेन। **कुमारस्स**—कुमार के। **अम्मापितरो**—माता पिता। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **अब्भुगत०**—अत्यन्त विशाल। **पंचपासायवडंसगसयाइं**—पांच सौ प्रासादावतंसक—श्रेष्ठ महल। **कारेंति**—बनवाते हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **तस्स**—उस। **सीहसेणस्स**—सिंहसेन। **कुमारस्स**—कुमार का। **अन्नया कयाइ**—किसी अन्य समय। **सामापामोक्खाणं**—जिस में श्यामा देवी प्रधान थी ऐसी। **पंचण्ह रायवरकन्नगसयाणं**—पांच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं का। **एगदिवसेणं**—एक दिन में। **पाणि गेण्हावेंसु**—पाणिग्रहण करवाया। **पंचसयओ**—पांच सौ। **दाओ**—प्रीतिदान—दहेज दिया। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सीहसेणे**—सिंहसेन। **कुमारे**—कुमार।

कुमारस्याम्मापितरौ, अन्यदा कदाचित् [1]पंचप्रासादावतंसकशतानि कारयतः, अभ्युद्गत०। ततस्तस्य सिंहसेनस्य कुमारस्य अन्यदा कदाचित् श्यामाप्रमुखाणां पंचानां राजवरकन्यकाशतानामेकदिवसेन पाणिग्राह्यताम्। पंचशतको दायः। ततः स सिंहसेनः कुमारः श्यामाप्रमुखैः पंचभिः देवीशतैः सार्द्धमुपरि यावत् विहरति। ततः स महासेनो राजा, अन्यदा कदाचिद् कालधर्मेण संयुक्तः। निस्सरण०। राजा जातो महा०।

(१) अवतंसका इवावतंसकाः शेखराः, प्रासादाश्च तेऽवतंसकाः प्रासादावतंसकाः तेषां पंचशतानीत्यर्थः। अर्थात् प्रासाद महल का नाम है। अवतंसक शब्द प्रकृत में शिरोभूषण के लिये प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि जैसे शिरोभूषण सब भूषणों में उन्नत एवं श्रेष्ठ माना गया है, उसी तरह वे प्रासाद भी सब प्रासादों में श्रेष्ठ थे, और उनकी संख्या ५०० थी।

सामापामोक्खेहिं—श्यामादेवीप्रमुख । **पञ्चहिं देवीसतेहिं**—पांच सौ देवियों के । **सद्धिं** - साथ । **उप्पि**—प्रासाद के ऊपर । **जाव**—यावत् , सानन्द । **विहरति**—समय बिताता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **महासेणे**—महासेन । **राया**—राजा । **अन्नया कयाइ**—अन्यदा कदाचित् । **कालधम्मुणा**—कालधर्म से । **संजुत्ते**—संयुक्त हुआ—मृत्यु को प्राप्त हो गया । **नीहरणं०**—राजा का निष्कासन आदि कार्य पूर्ववत् किया । **राया जाते**—फिर वह राजा बन गया । **महया०**—जो कि महाहिमवान्—हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् था ।

मूलार्थ—हे गौतम ! उस काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में सुप्रतिष्ठ नाम का एक ऋद्ध, स्तिमित तथा समृद्ध नगर था । वहां पर महाराज महासेन राज्य किया करते थे । उस के अन्तःपुर में धारिणीप्रमुख एक हजार देवियें—रानियें थीं । महाराज महासेन का पुत्र और महारानी धारिणी देवी का आत्मज सिंहसेन नामक राजकुमार था, जो कि अन्यून एवं निर्दोष पांच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाला तथा युवराज पद से अलंकृत था ।

सिंहसेन राजकुमार के माता पिता ने किसी समय अत्यन्त विशाल पांच सौ प्रासादावतंसक—उत्तम महल बनवाए । तत्पश्चात् किसी अन्य समय उन्होंने सिंहसेन राजकुमार का श्यामाप्रमुख पांच सौ सुन्दर राजकन्याओं के साथ विवाह कर दिया और पांच सौ प्रीतिदान—दहेज दिये । तदनन्तर राजकुमार सिंहसेन श्यामाप्रमुख उन पांच सौ राजकन्याओं के साथ प्रासादों में रमण करता हुआ सानन्द समय बिताने लगा ।

तत्पश्चात् किसी अन्य समय महाराज महासेन की मृत्यु हो गई । रुदन आक्रंदन और विलाप करते हुए राजकुमार ने उसका निस्सरणादि कार्य किया । तत्पश्चात् राजसिंहासन पर आरूढ होकर वह हिमवान् आदि पर्वतों के समान महान् बन गया, अर्थात् राजपद से विभूषित हो हिमवन्त आदि पर्वतों के तुल्य शोभा को प्राप्त होने लगा ।

टीका—शूली पर लटकाई जाने वाली एक महिला की करुणामयी अवस्था का वर्णन कर उस के पूर्वभव का जीवनवृत्तान्त सुनने के लिये नितान्त उत्सुक हुए गौतम गणधर को देख, परम कृपालु श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बोले कि हे गौतम ! यह संसार कर्म क्षेत्र है, इस में मानव प्राणी नानाप्रकार के साधनों से कर्मों का संग्रह करता रहता है । उस में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म होते हैं । यह मानव प्राणी इस कर्मभूमी में [1]जिस प्रकार का बीज वपन करता है, उसी प्रकार का फल प्राप्त कर लेता है । तुम ने जो दृश्य देखा है वह भी इस व्यक्ति के पूर्वसंचित कर्मों के ही फल का एक प्रतीक है । जब तुम इस महिला के पूर्व भव का वृत्तान्त सुनोगे, तो तुम्हें अपने अपने आप ही कर्मफल की विचित्रता का बोध हो जायगा ।

भगवान् फिर बोले—गौतम ! एक समय की बात है कि इसी [2]जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत

(१) जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छइ सम्पराए ।
एगन्तदुक्खं भवमज्जिणित्ता, वेयन्ति दुक्खी तमणन्तदुक्खं ॥ २३ ॥ (सूय० - अ ५ उ० २)

अर्थात् जिस जीव ने जैसा कर्म किया है, संसार में वही उस को प्राप्त होता है । जिस ने एकान्त दुःखरूप नरकभव का कर्म किया है, वह अनन्त दुःखरूप उस नरक को प्राप्त करता है ।

(२) तिर्यक् लोक के असंख्यात द्वीप और समुद्रों के मध्य में स्थित और सब से छोटा, जम्बू नामक वृक्ष से उपलक्षित और मध्य में मेरुपर्वत से सुशोभित जम्बूद्वीप है । इस में भरत, ऐरावत और महाविदेह ये तीन कर्मभूमी और हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु और उत्तरकुरु ये छः अकर्मभूमि क्षेत्र हैं । इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सताईस योजन, तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष्य (चार हाथ का परिमाण) तथा साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है ।

भारतवर्ष (जम्बूद्वीप का एक विस्तृत तथा विशाल प्रांत) में सुप्रतिष्ठ नाम का एक सुप्रसिद्ध नगर था, जो कि समृद्धिशाली तथा धन धान्यादि सामग्री के भंडारों का केन्द्र बना हुआ था। उस में महाराज महासेन राज्य किया करते थे। महाराज महासेन के रणवास में धारिणीप्रमुख एक हजार रानियें थीं, अर्थात् उन का एक हजार राजकुमारियों के साथ विवाह हुआ था। उन सब में प्रधान रानी महारानी धारिणी देवी थी, जो कि पतिव्रता, सुशीला और परमसुन्दरी थी। महारानी धारिणी की कुक्षि से एक बालक ने जन्म लिया था। बालक का नाम सिंहसेन था। राजकुमार सिंहसेन माता पिता की तरह सुन्दर, सुशील और विनीत था, उस का शरीर निर्दोष और सगठित अंग—प्रत्यंगों से युक्त था। वह माता पिता का आज्ञाकारी होने के अतिरिक्त राज्यसम्बन्धी व्यवहार में भी निपुण था। यही कारण था कि महाराज महासेन ने उसे छोटी अवस्था में ही युवराज पद से अलंकृत करके उसकी योग्यता को सम्मानित करने का श्लाघनीय कार्य किया था। इस प्रकार युवराज सिंहसेन अपने अधिकार का पूरा २ ध्यान रखता हुआ आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगा।

जब राजकुमार सिंहसेन ने किशोरावस्था से निकल कर युवावस्था में पदार्पण किया तो महाराज महासेन ने युवराज को विवाह के योग्य जान कर उस के लिये पांच सौ नितान्त सुन्दर और विशालकाय [१]राजभवनों का तथा उन के मध्य में एक परमसुन्दर भवन का निर्माण कराया, तत्पश्चात् युवराज का पांच सौ सुन्दर राजकन्याओं के साथ एक ही दिन में विवाह कर दिया और पांच सौ दहेज दे डाले। उन राजकन्याओं में प्रधान—मुख्य जो राजकन्या थी, उस का नाम श्यामा था। तात्पर्य यह है कि युवराज सिंहसेन की मुख्य रानी का नाम श्यामा देवी थी, तथा इस विवाहोत्सव में महाराज महासेन ने समस्त पुत्रवधुओं के लिये हिरण्यकोटि आदि पांच सौ वस्तुएं दहेज के रूप में दीं। तदनन्तर युवराज सिंहसेन अपनी श्यामा देवी प्रमुख ५०० रानियों के साथ उन महलों में सांसारिक सुखों का यथेच्छ उपभोग करता हुआ आनन्दपूर्वक रहने लगा।

—रायवरकन्नगसयाणं—इस पद से सूचित होता है कि वे राजकन्यायें साधारण नहीं थीं किन्तु प्रतिष्ठित राजघरानों की थीं। इस के साथ २ यह भी सूचित होता है कि महाराज महासेन का सम्बन्ध बड़े २ प्रतिष्ठित राजाओं के साथ था।

पांच सौ कन्याओं के साथ जो विवाह का वर्णन किया है, इस से दो बातें प्रमाणित होती हैं जो कि निम्नोक्त हैं—

(१) प्राचीन समय में प्रायः राजवंशों में बहुविवाह की प्रथा पूरे यौवन पर थी, इस को अनुचित नहीं समझा जाता था।

(२) महाराज महासेन का इतना महान् प्रभाव था कि आस पास के सभी मांडलीक राजा उन को अपनी कन्या देने में अपना गौरव समझते थे। इस व्यवहार से वे महाराज महासेन की कृपा

(१) इतने अधिक महलों के निर्माण से दो तीन बातों का बोध होता है—प्रथम तो यह कि माता पिता का पुत्रस्नेह कितना प्रबल होता है?, पुत्र के आराम के लिये माता पिता कितना परिश्रम तथा व्यय करते हैं? दूसरी यह कि महाराज महासेन कोई साधारण नृपति नहीं थे, किन्तु एक बड़े समृद्धिशाली तथा तेजस्वी राजा थे। तीसरी यह कि—हमारा भारतदेश प्राचीन समय में समुन्नत, समृद्धिपूर्ण तथा सम्पत्तिशाली था। प्रायः उसके प्रासादों में स्वर्ण और मणिरत्नों की ही बहुलता रहती थी। सारांश यह है कि पुराने जमाने में हमारे इस देश के विभवसम्पन्न होने के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। यह देश आज की भांति विभवहीन नहीं था।

का सपादन करना चाहते थे ।

"—एगदिवसेणं—" यह पद महाराज महासेन की कार्यदक्षता एव दीर्घदर्शिता का सूचक है। इतने बड़े समारम्भ को एक ही दिन में सम्पूर्ण करना कोई साधारण काम नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वे व्यवहार में कुशल और बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। बहुकालसाध्य कार्य को भी स्वल्प काल मे सम्पन्न कर लेते थे ।

यह सब को विदित ही है कि घड़ी में जितनी चाबी दी हुई होती है, उतनी ही देर तक घड़ी चलती है और समय की सूचना देती रहती है। चाबी के समाप्त होते ही वह खडी हो जाती है, उस की गति बन्द हो जाती है। यही दशा इस मानव शरीर की है। जब तक आयु है तब तक वह चलता फिरता और सर्व प्रकार के कार्य करता है। आयु के समाप्त होते ही उसकी सारी चेष्टाएं समाप्त हो जाती हैं। वह जीवित प्राणी न रह कर, एक पाषाण की भान्ति निश्चेष्टता को धारण कर लेता है, और उस शरीर को जिस का कि बराबर पालन पोषण किया जाता था, जला दिया जाता है। इस विचित्र लीला का प्रत्येक मानव अनुभव कर रहा है। इसी के अनुसार महाराज महासेन भी अपनी समस्त मानव लीलाओं का सम्वरण करके मृत्यु की गोद में जा विराजे।

राजभवनों मे महाराज की मृत्यु का समाचार पहुचा तो सारे रणवास में शोक एव दु:ख की चादर बिछ गई। युवराज सिंहसेन को महाराज की मृत्यु से बड़ा आघात पहुंचा। शहर मे इस खबर के पहुचते ही मातम छा गया। नगर की जनता, युवराज सिंहसेन के सन्मुख समवेदना प्रकट करने के लिये दौडी चली आ रही है। अन्त मे बडे समारोह के साथ महाराज महासेन की अरथी उठाई गई और उन का विधिपूर्वक दाहसस्कार किया गया ।

महाराज महासेन की मृत्यु के बाद उन की लौकिक मृतक क्रियायें समाप्त होने पर प्रजाजनों ने युवराज सिंहसेन को राज्यसिंहासन पर बिठलाने के लिये, उनके राज्याभिषेक की तैयारी की और राज्याभिषेक कर के उसे सिंहासनारूढ किया गया। तब से युवराज सिंहसेन महाराज सिंहसेन के नाम से प्रख्यात होने लगे। महाराज सिंहसेन भी पिता की भान्ति न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे और अपने सद्गुणों एव सद्भावनाओं से जनता के हृदयों पर अधिकार जमाते हुए राज्यशासन को समुचित रीति से चलाने लगे ।

—रिद्ध०—तथा—अहीण० जुवराया—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ क्रमशः पृष्ठ १३८ और ३२० पर लिखा जा चुका है। तथा—अब्भुग्गत०— यहां के बिन्दु से सूत्रकार को निम्नोक्त पाठ अभिमत है —

अब्भुग्गयमुसियपहसियाइं विव मणि कणग—रयण—भत्ति—चित्ताइं वाउद्धूय—विजय—वेजयंती—पडागाच्छत्ताइच्छत्तकलियाइं तुंगाइं गगणतलमभिलंघमाणसिहराइं जालंतररयणपंजरुम्मिल्लियाइं व्व मणिकणगथूभियाइं वियसियसयपत्तपुंडरीयाइं तिलयरयणद्धयचंदच्चियाइं नानामणिमयदामालंकियाइं अन्तो बहिं च सण्हे तवणिज्जरुइलवालुयापत्थरे सुहफासे सस्सिरीयरूवे पासाईए दरिसणीए अभिरूवे पडिरूवे तेसिं णं पासायवडिंसगाणं बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं एगं च णं महं भवणं कारेन्ति अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं अब्भुग्गयसुकयवइरवेइयातोरणवररइयसालभंजियासुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियखंभनानामणिकणगरयणखचियउज्जलं बहुसमसुविभत्तनिचियरमणिज्जभूमिभागं ईहामियउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं खंभुग्गयवयरवेइयापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुय-

लजतजुत्तं पिव अच्चीसहस्समालणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं कंचणमणिरयणथूभियागं नाणाविहपंचवण्णघण्टापडागपरिमण्डियग्गसिहरं धवलमिरीचिकवयं विणिम्मुयतं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिन्नपंचगुलितलं उवचियचंदणकलसं चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलाव पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुञ्जोवयारकलियं कालागरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामं सुगन्धवरगन्धियं गंधवट्टिभूयं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं—इन पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

वे महल अभ्युद्गत—अत्यन्त उच्छ्रित—ऊंचे थे और मानों उन्हों ने हसना प्रारम्भ किया हुआ हो अर्थात् वे अत्यधिक श्वेतप्रभा के कारण हसते हुए से प्रतीत होते थे। मणियों—सूर्यकान्त आदि, सुवर्णों और रत्नों की रचनाविशेष से वे चित्र—आश्चर्योत्पादक हो रहे थे। वायु से कम्पित और विजय की सूचक वैजयन्ती नामक पताकाओं से तथा छत्रातिछत्रों (छत्र के ऊपर छत्र) से वे प्रासाद—महल युक्त थे। वे तुङ्ग—बहुत ऊंचे थे, तथा बहुत ऊंचाई के कारण उन के शिखर—चोटियां मानों गगनतल को उल्लंघन कर रही थीं। जालियों के मध्य भाग में लगे हुए रत्न ऐसे चमक रहे थे मानों कोई आंखें खोल कर देख रहा था अर्थात् महलों के चमकते हुए रत्न खुली आंखों के समान प्रतीत हो रहे थे। उन महलों की स्तूपिकाएं—शिखर मणियों और सुवर्णों से खचित थीं, उन में शतपत्र (सौ पत्ते वाले कमल) और पुण्डरीक (कमलविशेष) विकसित हो रहे थे, अथवा इन कमलों के चित्रों से वे चित्रित थे। तिलक, रत्न और अर्धचन्द्र—सोपानविशेष इन सब से वे चित्र—आश्चर्यजनक प्रतीत हो रहे थे। नाना प्रकार की मणियों से निर्मित मालाओं से अलंकृत थे। भीतर और बाहिर से चिकने थे। उन के प्रांगणों में सोने का सुन्दर रेत बिछा हुआ था। वे सुखदायक स्पर्श वाले थे। उन का रूप शोभा वाला था। वे प्रासादीय— चित्त को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय—जिन्हें वारम्वार देख लेने पर भी आंखें न थकें, अभिरूप—जिन्हें एक वार देख लेने पर भी पुनः दर्शन की लालसा बनी रहे और प्रतिरूप—जिन्हें जब भी देखा जाए तब ही वहां नवीनता ही प्रतिभासित हो, थे।

उन पांच सौ प्रासादों के लगभग मध्य भाग में एक महान भवन तैयार कराते हैं। प्रासाद और भवन में इतना ही अन्तर होता है कि प्रासाद अपनी लम्बाई की अपेक्षा दुगुनी ऊंचाई वाला होता है अथवा अनेक भूमियों—मंजिलों वाला प्रासाद कहा जाता है जब कि भवन अपनी लम्बाई की अपेक्षा कुछ ऊंचाई वाला होता है, अथवा एक ही भूमि—मंजिल वाला मकान भवन कहलाता है। भवनसम्बन्धी वर्णक पाठ का विवरण निम्नोक्त है—

उस भवन में सैंकड़ों स्तम्भ—खम्भे बने हुए थे, उस में लीला करती हुई पुतलियें बनाई हुई थीं। बहुत ऊंची और बनवाई गई वज्रमय वेदिकाएं चबूतरे, तोरण—बाहिर का द्वार उस में थे, जिन पर सुन्दर पुतलियां अर्थात् लकड़ी, मिट्टी धातु, कपड़े आदि की बनी हुई स्त्री की आकृतियां या मूर्तियां जो विनोद या क्रीड़ा (खेल) के लिए हों, बनाई गई थीं। उस भवन में विशेष आकार वाली सुन्दर और स्वच्छ जड़ी हुई वैडूर्य मणियों के स्तम्भों पर भी पुतलियां बनी हुई थीं। अनेक प्रकार की मणियों सुवर्णों, तथा रत्नों से वह भवन खचित तथा उज्ज्वल—प्रकाशमान हो रहा था। वहां का भूभाग समतल वाला और अच्छी तरह से बना हुआ, तथा अत्यधिक रमणीय था। ईहामृग—भेड़िया, वृषभ—बैल, अश्व—घोड़ा, मनुष्य, मगर—मत्स्य, पक्षि, सर्प,

किन्नर–देवविशेष, मृग–हरिण, अष्टापद–आठ पैरों वाला एक वन्य–पशु जो हाथी को भी अपनी पीठ पर बैठा कर ले जा सकता है, चमरी गाय, हाथी, वनलता–लताविशेष, और पद्मलता–लताविशेष इन सब के चित्रों से उस भवन की दीवारें चित्रित हो रही थीं। स्तम्भों के ऊपर हीरे की बनी हुई वेदिकायों से वह भवन मनोहर था। वह भवन एक ही पंक्ति में विद्याधरों के युगलों—जोडों की चलती फिरती प्रतिमायों से युक्त था। वह भवन हजारों किरणों से व्याप्त हो रहा था। वह भवन अत्यधिक कान्ति वाला था। देखने वाले के मानों उस भवन में नेत्र गड जाते थे। उस का स्पर्श सुखकारी था। उस का रूप मनोहर था। उस की स्तूपिकाएं–बुर्जिएं सुवर्णों, मणियों और रत्नों की बनी हुई थीं। उस का शिखराग्रभाग–चोटी का अगला हिस्सा, पांच वर्णों वाले नानाप्रकार के घण्टों और पताकायों से सुशोभित था। उस में से बहुत ज्यादा श्वेत किरणें निकल रही थीं। वह लीपने पोतने के द्वारा महित–विभूषित हो रहा था। गोशीर्ष–मलयगिरि चन्दन, और सरस एवं रक्त चन्दन के उस में हस्तक–थापे लगे हुए थे। उस में चन्दन के कलश स्थापित किए हुए थे। चन्दन से लिप्त घटों के द्वारा उस के तोरण और प्रतिद्वारों—छोटे २ द्वारों के देशभाग–निकटवर्ती स्थान सुशोभित हो रहे थे। नीचे से ऊपर तक बहुत सी फूलमालाएं लटक रही थीं। उस में पांचों वर्णों के ताजे सुगन्धित फूलों के ढेर लगे हुए थे। वह कालागरु–कृष्णवर्णीय अगर नामक सुगन्धित पदार्थ, श्रेष्ठ कुन्दुरुक–सुगन्धित पदार्थविशेष, तुरुष्क—सुगन्धित पदार्थविशेष इन सब की धूपों—धूमों की अत्यन्त सुगन्ध से वह बड़ा अभिराम–मनोहर था। वह भवन अच्छी २ सुगन्धों से सुगन्धित हो रहा था, मानों वह गन्ध की वर्तिका–गोली बना हुआ था। वह प्रासादीय–चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय–जिसे बारम्बार देख लेने पर भी आंखें न थकें, अभिरूप–जिसे एक बार देख लेने पर भी पुनः दर्शन की लालसा बनी रहे और प्रतिरूप–जिसे जब भी देखो तब ही वहां नवीनता ही प्रतिभासित हो, इस प्रकार का बना हुआ था।

"–पंचसयओ दाओ–" इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेव सूरि के शब्दों में यदि करने लगें तो "–पंचसयओ दाउ–"त्ति **हिरण्यकोटि–सुवर्णकोटिप्रभृतीनां प्रेषणकारिकान्तानां पदार्थानां पंचशतानि सिंहसेनकुमाराय पितरौ दत्तवन्तावित्यर्थः। स च प्रत्येकं स्वजायाभ्यो दत्तवानिति–"** इस प्रकार की जा सकती है, अर्थात् माता पिता ने विवाहोत्सव पर ५०० हिरण्यकोटि एवं ५०० सुवर्णकोटि से लेकर यावत् ५०० प्रेषणकारिकाएं युवराज सिंहसेन को अर्पित कीं तब उसने उन सब को विभक्त करके अपनी ५०० स्त्रियों को दे डाला। ५०० संख्या वाले हिरण्यकोटि आदि पदार्थों का सविस्तर वर्णन निम्नोक्त है—

पंचसयहिरण्णकोडीओ पंचसयसुवण्णकोडीओ पंचसयमउडे मउडप्पवरे पंचसयकुंडलजुए कुंडलजुयप्पवरे पंचसयहारे हारप्पवरे पंचसयअद्धहारे अद्धहारप्पवरे पंचसयएगावलीओ एगावलिप्पवराओ एवं मुत्तावलीओ एवं कणगावलीओ एवं रयणावलीओ पंचसयकडगजोए कडगजोयप्पवरे एवं तुडियजोए, पंचसयखोमजुयलाइं खोमजुयलप्पवराइं एवं वडगजुयलाइं एवं पट्टजुयलाइं एवं दुगुल्लजुयलाइं, पंचसयसिरीओ पंचसयहिरीओ एवं धिईओ कित्तीओ बुद्धीओ लच्छीओ, पंचसयनंदाइं पंचसयभद्दाइं पंचसयतले तलप्पवरे सव्वरयणामए, णियगवरभवणकेऊ पंचसयज्झए झयप्पवरे पंचसयवए वयप्पवरे दसगोसाहस्सिएणं वएणं, पंचसयनाडगाइं नाडगप्पवराइं बत्तीसबद्धेणं नाडएणं, पंचसयआसे आसप्पवरे

सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवए, पंचसयहत्थी हत्थिप्पवरे सव्वरयणामए सिरिघरपडिरूवए, पंचसयजाणाइं जाणप्पवराइं पंचसयजुग्गाइं जुग्गप्पवराइं एवं सिवियाओ एवं संदमाणीओ एवं गिल्लीओ एवं थिल्लीओ, पंचसयवियडजाणाइं वियडजाणप्पवराइं पंचसयरहे पारिजाणिए पंचसयरहे संगामिए पंचसय आसे आसप्पवरे पंचसयहत्थी हत्थिप्पवरे पंचसयगामे गामप्पवरे दसकुलसाहस्सिएणं गामेणं पंचसयदासे दासप्पवरे एवं चेव दासीओ एवं किंकरे एवं कंचुइज्जे एवं वरिसधरे एवं महत्तरए, पंचसयसोवण्णिए ओलंबणदीवे पंचसयरुप्पामए ओलंबणदीवे पंचसयसुवण्णरुप्पामयओलंबणदीवे पंचसयसोवण्णिए उक्कंचणदीवे एवं चेव तिन्नि वि, पंचसयसोवण्णिए पंजरदीवे एवं चेव तिन्नि वि, पंचसयसोवण्णिए थाले पंचसयरुप्पामए थाले पंचसयसुवण्णरुप्पामए थाले पंचसयसोवण्णियाओ पत्तीओ पंचसयरुप्पामयाओ पत्तीओ पंचसयसुवण्णरुप्पामयाओ पत्तीओ पंचसयसोवण्णियाइं थासगाइं पंचसयरुप्पामयाइं थासगाइं पंचसयसुवण्णरुप्पामयाइं थासगाइं पंचसयसोवण्णियाइं मल्लगाइं पंचसयरुप्पामयाइं मल्लगाइं पंचसयसुवण्णरुप्पामयाइं मल्लगाइं पंचसयसोवण्णियाओ तलियाओ पंचसयरुप्पामयाओ तलियाओ पंचसयसुवण्णरुप्पामयाओ तलियाओ पंचसयसोवण्णियाओ कावइआओ पंचसयरुप्पामयाओ कावइआओ पंचसयसुवण्णरुप्पामयाओ कावइआओ पंचसयसोवण्णिए अवएडए पंचसयरुप्पामए अवएडए पंचसयसुवण्णरुप्पामए अवएडए पंचसयसोवण्णियाओ अवयक्काओ पंचसयरुप्पामयाओ अवयक्काओ पंचसयसोवण्णरुप्पामयाओ अवयक्काओ पंचसयसोवण्णिए पायपीढए पंचसयरुप्पामए पायपीढए पंचसयसोवण्णरुप्पामए पायपीढए पंचसयसोवण्णियाओ भिसियाओ पंचसयरुप्पामयाओ भिसियाओ पंचसयसुवण्णरुप्पामयाओ भिसियाओ पंचसयसोवण्णियाओ करोडियाओ पंचसयरुप्पामयाओ करोडियाओ पंचसयसुवण्णरुप्पामयाओ करोडियाओ पंचसयसोवण्णिए पल्लंके पंचसयरुप्पामए पल्लंके पंचसयसुवण्णरुप्पामए पल्लंके पंचसयसोवण्णियाओ पडिसेज्जाओ पंचसयरुप्पामयाओ पडिसेज्जाओ पंचसयसोवण्णरुप्पामयाओ पडिसेज्जाओ पंचसयहंसासणाइं पंचसयकोंचासणाइं एवं गरुलासणाइं उन्नयासणाइं पणयासणाइं दीहासणाइं भद्दासणाइं पक्खासणाइं मगरासणाइं पंचसयपउमासणाइं पंचसयदिसासोवत्थियासणाइं पंचसयतेल्लसमुग्गे जहा रायप्पसेणइज्जे जाव पंचसयसरिसवसमुग्गे पंचसयखुज्जाओ जहा उववाइए जाव पंचसयपारिसीओ पंचसयछत्ते पंचसयछत्तधारिओ चेडीओ पंचसयचामराओ पंचसयचामरधारीओ चेडीओ पंचसयतालियंटे पंचसयतालियंटधारीओ चेडीओ पंचसयकरोडियाओ पंचसयकरोडियाधारीओ चेडीओ पंचसय—खीरधातीओ जाव पंचसयअंकधातीओ पंचसयअंगमद्दियाओ पंचसयउम्मद्दियाओ पंचसयण्हावियाओ पंचसयपसाहियाओ पंचसयवन्नगपेसीओ पंचसयचुन्नगपेसीओ पंचसयकोडागारीओ पंचसयदवकारीओ पंचसयउवत्थाणियाओ पंचसयनाडइज्जाओ पंचसयकोडुंबिणीओ पंचसयमहाणसिणीओ पंचसयभंडागारिणीओ पंचसयअज्झाधारिणीओ पंचसयपुप्फधारिणीओ पंचसयपाणिअधारिणीओ पंचसयबलिकारियाओ पंचसयसेज्जाकारियाओ पंचसयअब्भंतरियाओ पडिहारीओ पंचसयबाहिरपडिहारिओ पंचसयमालाकारीओ पंचसयपेसणकारीओ अन्नं वा सुबहु हिरण्णं वा सुवण्णं वा कंसं वा दूसं वा विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणसंतसारसावइज्जं अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं दाउं पकामं परिभोत्तुं पकामं परिभाएउं। इन पदों का अर्थ पृष्ठ ४७७ पर लिखा गया है—

पाच सौ हिरण्यकोटि (हिरण्यो अर्थात् आभूषणों के रूप में अपरिणत करोड़ मूल्य वाला सोना अथवा चादी के सिक्के), पाच सौ सुवर्णकोटि (आभूषण के रूप मे परिवर्तित सोना, जिस का मूल्य करोड हो ; [1]पाच सौ उत्तम मुकुट, पाच सौ उत्तम कुडलों के जोडे पाच सौ उत्तम हार, पाच सौ उत्तम अर्द्धहार पाँच सौ उत्तम एकावली हार, पाच सौ उत्तम मुक्तावली हार, पाच सौ उत्तम कनकावली हार, पाच सौ उत्तम रत्नावली हार पाच सौ उत्तम कड़ों के जोडे, पाच सौ उत्तम भुजबधों के जोडे पाच सो उत्तम रेशमी वस्त्रों के जोडे पाच सौ उत्तम वटक—टसर के वस्त्र—युगल पाच सौ उत्तम पट्टसूत्र के वस्त्र—युगल, पाच सौ दुकूल नामक वृक्ष की त्वचा से निर्मित वस्त्र—युगल, पाच सौ श्री देवी की प्रतिमाए, पाच सौ ह्री देवी की प्रतिमाए, पाच सौ धृति देवी की प्रतिमाएं पाच सौ लक्ष्मी देवी की प्रतिमाए, पाच सौ नन्द मागलिक वस्तुए अथवा लोहासन, पाच सो भद्र—मागलिक वस्तुए अथवा शरासन पाच सौ उत्तम रत्नमय तालवृक्ष अपने २ भवनों के चिह्नस्वरूप पाच सौ उत्तम ध्वजा, दस हजार गौओं का एक गोकुल होता है ऐसे पाच सौ उत्तम गोकुल एक नाटक मे ३२ पात्र काम करते हैं ऐसे पाच सौ उत्तम नाटक सर्वरत्नमय लक्ष्मी के भडार के समान पाच सौ उत्तम घोडे सर्वरत्नमय लक्ष्मी के भडार के समान पाच सौ उत्तम हाथी, पाच सौ उत्तम यान—गाड़ी आदि, पाच सौ उत्तम युग्य—एक प्रकार का वाहन जिसे गोल्लदेश मे जम्पान कहते है, पाच सौ उत्तम शिविकाए—पालकियें, पाच सौ उत्तम स्यन्दमानिका—पालकीविशेष, इसी प्रकार पाच सौ उत्तम गिल्लियें (हस्ती के ऊपर की अम्बारी—जिस पर सवार बैठते हैं उसे गिल्ली कहते हैं), पाच सौ उत्तम थिल्लिया (थिल्ली घोडे की काठी को कहते हैं), पाच सौ उत्तम विकटयान—बिना छत की सवारी पाच सौ पारियानिक—क्रीड़ादि के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले रथ, पाच सौ साग्रामिक रथ, पाच सौ उत्तम घोडे पाच सौ उत्तम हाथी, दस हजार कुल परिवार जिस मे रहे उसे ग्राम कहते हैं ऐसे पाच सौ उत्तम गाव पाच सौ उत्तम दास, पाच सौ उत्तम दासिए, पाच सौ उत्तम किंकर—पूछ कर काम करने वाले, पाच सौ कचुकी—अन्त पुर के प्रतिहारी, पाच सौ वर्षधर (वह नपुंसक जो अन्त पुर मे काम करते हैं), पाच सौ महत्तर—अन्त पुर का काम करने वाले, शृ खला—साकल वाले पाच सौ सोने के दीप साकल वाले पाच सौ चादी के दीप, साकल वाले पाच सौ सोने और चादी अर्थात् दोनों से निर्मित दीप, ऊचे दड वाले पाच सौ सोने के दीप, ऊचे दड वाले पाच सौ चादी के दीप, ऊचे दड वाले पाच सौ सोने और चादी के दीप, पजर—फानूस (एक दड मे लगे हुए शीशे के कमल या गिलास आदि जिन में बत्तिया जलाई जाती हैं) वाले पाच सौ सोने के दीप, पजर वाले पाच सौ चादी के दीप, पजर वाले सोने और चादी के पाच सौ दीप, पाच सौ सोने के थाल, पाच सौ चादी के थाल पाच सौ सोने और चादी के थाल पाच सौ सोने की कटोरिया पाच सौ चादी की कटोरिया, पाच सौ सोने और चादी की कटोरिया, पाच सौ सुवर्णमय दर्पण के आकार वाले पात्रविशेष पाच सौ रजतमय दर्पण के आकार वाले पात्रविशेष, पाच सौ सुवर्णमय और रजतमय दर्पण के आकार वाले पात्रविशेष, पाच सौ सुवर्णमय मल्लक—पानपात्र (कटोरा), पाच सौ रजतमय मल्लक पाच सौ सुवर्ण और चादी के मल्लक पाच सौ सुवर्ण की तलिका पात्री—विशेष, पाच सौ रजत की तलिका, पाच सौ सुवर्ण और रजत की तलिका, पाच सौ सुवर्ण की कलाचिका—चमचे पाच सौ रजत के चमचे, पाच सौ सुवर्ण और रजत के चमचे, पाच सौ सुवर्ण के तापिकाहस्त—पात्रविशेष, पाच सौ रजत के तापिकाहस्त, पाच सौ सुवर्ण और रजत के तापिकाहस्त पाच सौ सुवर्ण

(१) कहीं "पाच सौ सामान्य मुकुट तथा पाच सौ उत्तम मुकुट—" ऐसा अर्थ भी देखने मे आता है। इसी भाति कुण्डलादि के सम्बन्ध मे भी अर्थभेद उपलब्ध होता है।

के अवपाक्य—तवे, पाच सौ रजत के तवे, पाच सौ सुवर्ण और रजत के तवे, पाच सौ सुवर्ण के पादपीठ—पैर रखने के आसन, पाच सौ रजत के पादपीठ, पाच सौ सुवर्ण और रजत के पादपीठ, पाच सौ सुवर्ण के भिसिका—आसनविशेष, पाच सौ रजत के आसनविशेष, पाच सौ सुवर्ण और रजत के आसनविशेष, पाच सौ सुवर्ण के करोटिका—कूण्डे अथवा बड़े मुह वाले पात्र विशेष, पाच सौ रजत की करोटिका, पाच सौ सुवर्ण और रजत की करोटिका, पाच सौ सुवर्ण के पलग, पाच सौ रजत के पलग, पाच सौ सोने और रजत के पलग, पाच सौ सुवर्ण की प्रतिशय्या—उत्तरशय्या अर्थात् छोटे पलग, पाच सौ रजत की प्रतिशय्या पाच सौ सुवर्ण और रजत की प्रतिशय्या पाच सौ हंसासन—हंस के चिह्न वाले आसनविशेष, पाच सौ क्रौंचासन—क्रौंचपक्षी के आकार वाले आसनविशेष, पाच सौ गरुडासन—गरुड के आकार वाले आसनविशेष, पाच सौ उन्नत—ऊचे आसन, पाच सौ प्रणत—नीचे आसन, पाच सौ दीर्घ लम्बे आसन, पाच सौ भद्रासन—आसनविशेष, पाच सौ पक्षासन—आसनविशेष जिन के नीचे पक्षियों के अनेकविध चित्र हों, पाच सौ मकरासन—मकर के चिह्न वाले आसन, पाच सौ पद्मासन—आसनविशेष, पाच सौ दिशासौवस्तिकासन दक्षिणावर्त अर्थात् स्वस्तिक के आकार वाले आसन, पाच सौ तैलसमुद्ग—तेल के डब्बे, इन के अतिरिक्त राजप्रश्नीय सूत्र में कहे हुए यावत् पाच सौ सरसों रखने के डब्बे, पाच सौ कुब्जड़ी दासियें इस के अतिरिक्त औपपातिकसूत्र के कहे अनुसार यावत्[1] पाच सौ पारिसी—पारसदेशोत्पन्न दासियें, पाच सौ छत्र, पाच सौ छत्र धारण करने वाली दासियें, पाच सौ चवर, पाच सौ चवर धारण करने वाली दासियें, पाच सौ पखे, पाच सौ पखा झुलाने वाली दासियें, पाच सौ पानदान (वे डिब्बे जिन में पान और उस के लगाने की सामग्री रखी जाती है, पनडब्बा), पाच सौ पानदान को धारण करने वाली दासिए, पाच सौ क्षीरधात्रिए—बालकों को दूध पिलाने वाली धायमाताए, यावत्[2] पाच सौ बालकों को गोद में लेने वाली धायमाताए पाच सौ अगमर्दन करने वाली स्त्रियें पाच सौ उन्मर्दिका—विशेष रूप से अगमर्दन करने वाली दासिए, पाच सौ स्नान कराने वाली दासियें, पाच सौ शृगार कराने वाली दासिए, पाच सौ चन्दनादि पीसने वाली दासिए, पाच सौ चूर्ण-पान का मसाला अथवा सुगन्धित द्रव्य को पीसने वाली दासिए, पाच सौ क्रीडा कराने वाली दासिए पाच सौ परिहास—मनोरजन कराने वाली दासिए पाच सौ राजसभा के समय साथ रहने वाली दासिए, पाच सौ नाटक करने वाली दासिए, पाच सौ साथ चलने वाली दासिए, पाच सौ रसोई बनाने वाली दासिए, पाच सौ भाण्डागार—भण्डार की देख भाल करने वाली दासिए, पाच सौ मालिनें, पाच सौ पुष्प धारण कराने वाली दासिए पाच सौ पानी लाने वाली दासिए, पांच सौ बलिकर्म—शरीर की स्फूर्ति के लिये तैलादि मर्दन करने वाली दासिये पाच सौ शय्या बिछाने वाली दासिए, पाच सौ अन्तःपुर का पहरा देने वाली दासिए, पाच सौ बाहिर का पहरा देने वाली दासिए, पाच सौ माला गूथने वाली दासिए, पाच सौ आटा आदि पीसने वाली अथवा सन्देशवहन करने वाली दासिए, और बहुत सा हिरण्य, सुवर्ण, कांस्य—कासी, वस्त्र, विपुल बहुत धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, मूंगा, रक्त रत्न, उत्तमोत्तम वस्तुए, स्वापतेय—रुपया पैसा आदि द्रव्य, दिया जो इतना पर्याप्त था कि सात पीढी तक चाहे इच्छापूर्वक दान दिया जाय, स्वय उस का उपभोग किया जाय, या खूब उसे बाटा जाय तो भी वह समाप्त नहीं हो सकता था।

—उप्पिं जाव विहरति—यहां पठित जाव यावत् पद से विवक्षित—**पासायवरगए फुट्टमाणेहिं**—

(१) पृष्ठ १६० तथा १६१ पर **चिलाती, वामनी** आदि सभी दासियों का उल्लेख किया गया है।

(२) पृष्ठ १६० पर **मज्जनधात्री** तथा **मण्डनधात्री** आदि शेष माताओं के नाम वर्णित हैं।

से ले कर—पच्चणुभवमाणे—यहा तक के पद पृष्ठ २३४ पर लिखे जा चुके हैं । अन्तर मात्र इतना है कि वहा अभग्नसेन का नाम है, जब कि प्रस्तुत मे सिंहसेन का। शेष वर्णन समान ही है।

—नीहरणं०—यहा नीहरण पद सांकेतिक है जो कि—तए णं से सोहसेणे कुमारे बहुहिं राईसर० जाव सत्थवाहप्पभितीहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कन्दमाणे विलवमाणे महासेणस्स रण्णो महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं नीहरणं करेइ २ बहुइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ—इन पदों को तथा उसके आगे दिया गया बिन्दु—तते ण ते बहवे राईसर० जाव सत्थवाहा सीहसेणं कुमारं महया २ रायाभिसेगेणं अभिसिंचति तते णं सीहसेणे कुमारे—इन पदों का परिचायक है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ ३३० पर किया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा शतानीक राजा तथा उदयन कुमार का वर्णन है जब कि प्रस्तुत मे महासेन राजा और सिंहसेन कुमार का नामगत भिन्नता के अतिरिक्त शेष वृत्तान्त समान है। तथा—महया०—यहा के बिन्दु से अभिमत पाठ की सूचना पृष्ठ १३८ पर दी जा चुकी है।

इसके पश्चात् क्या हुआ ?, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1]तते णं से सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिते ४ अवसेसाओ देवीओ णो आढाति, णो परिजाणाति। अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे विहरति। तते णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एक्कूणाइं पंचमाईसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाइं एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिते ४ अम्हं धूयाओ नो आढाति नो परिजाणाति, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे विहरति। तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं अग्गिप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए। एवं संपेहेन्ति संपेहित्ता सामाए देवीए अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य पडिजागरमाणीओ पडिजागरमाणीओ विहरंति। तते णं सा सामा देवी इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी एवं वयासी—एवं खलु मम एगूणगाणं पंचण्हं सवत्तीसयाणं पंचमाइसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाइं अन्नमन्नं एवं वयासी—एवं खलु सीहसेणे जाव पडिजागरमाणीओ विहरन्ति। तं न नज्जति णं मम केणति कुमारेण मारेस्सति, त्ति कट्टु भीया ४ जेणेव कोवघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता ओहय० जाव झियाति।

---

(1) छाया—ततः स सिंहसेनो राजा श्यामाया देव्या मूर्च्छितः ४, अवशेषा देवीर्नो आद्रियते, नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् विहरति। ततस्तासामेकोनाना पचाना देवीशतानामेकोनानि पञ्चमातृशतानि अनया कथया लब्धार्थानि सन्ति-एव खलु सिंहसेनो राजा श्यामाया देव्या मूर्च्छितः ४ अस्माकं दुहितृर्नो आद्रियते नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् विहरति। तच्छ्रेय खल्वस्माकं श्यामा देवीमग्निप्रयोगेण वा विषप्रयोगेण वा शस्त्रप्रयोगेण वा जीविताद् व्यपरोपयितुम्। एवं सम्प्रेक्षन्ते संप्रेक्ष्य श्यामाया देव्याः अन्तराणि च छिद्राणि च विरहांश्च प्रतिजाग्रत्य प्रतिजाग्रत्यो विहरन्ति। ततः सा श्यामा देवी अनया कथया लब्धार्था सती एवमवादीत्—एवं खलु मम एकोनाना पचाना सपत्नीशतानाम् एकोनानि पञ्चमातृशतानि अनया कथया लब्धार्थानि सन्त्यन्योन्यमेवमवादिषुः—एवं खलु सिंहसेनो यावत् प्रतिजाग्रत्यो विहरन्ति "—तद् न ज्ञायते मा केनचित् कुमारेण मारयिष्यन्ति—" इति कृत्वा भीता ४ यत्रैव कोपगृहं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य अपहत० यावद् ध्यायति।

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर । से—वह । सीहसेणे राया—सिंहसेन राजा । सामाए—श्यामा। देवीए—देवी में । मुच्छिते ४—१—मूर्च्छित—उसी के ध्यान में पगला बना हुआ, २—गृद्ध—उस की आकांक्षा वाला ३—ग्रथित—उसी के स्नेहजाल में बन्धा हुआ, ४—अध्युपपन्न उसी में आसक्त हुआ २ । अवसेसाओ—अवशेष—बाकी की । देविओ—देवियों का । णो आढाति — आदर नहीं करता। णो परिजाणाति—उन की ओर ध्यान नहीं देता । अणाढायमाणे — आदर नहीं करता हुआ । अपरिजाणमाणे—ध्यान न रखता हुआ । विहरति—विहरण कर रहा है । ततेणं — तदनन्तर। तासिं—उन । एगूणगाण—एक कम । पचराहं देवीसयाणं—पांच सौ देवियों की । एक्कूणाइं—एक कम । पंचमाईसयाइं—पांच सौ माताएं जो कि । इमीसे—इस । कहाए—वृत्तान्त को। लद्धट्ठाइं समाणाइं—जान गई हैं, कि । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । सीहसेणे—सिंहसेन । राया—राजा । सामाए देवीए—श्यामा देवी में । मुच्छिते ४—१—मूर्च्छित, २—गृद्ध, ३—ग्रथित और ४—अध्युपपन्न हुआ २ । अम्हं—हमारी । धूयाओ—पुत्रियों का । नो आढाति—आदर नहीं करता, तथा । णो परिजाणाति—ध्यान नहीं करता, तथा । अणाढायमाणे—आदर न करता हुआ। अपरिजाणमाणे—ध्यान न रखता हुआ । विहरति—विहरण कर रहा है । तं—अत । सेयं—योग्य है । खलु—निश्चयार्थक है । अम्हं—हम को अर्थात् हमें अब यही योग्य है कि । सामं देविं—श्यामा देवी को। अग्गिप्पओगेण वा—अग्नि के प्रयोग से अथवा । विसप्पओगेण वा—विष के प्रयोग से अथवा। सत्थप्पओगेण वा—शस्त्र के प्रयोग से । जीवियाओ—जीवन से । ववरोवित्तए—व्यपरोपित करना, अर्थात् जीवनरहित कर देना। एवं—इस प्रकार । संपेहेंति संपेहित्ता—विचार करती हैं, विचार करने के बाद। सामाए देवीए—श्यामा देवी के। अंतराणि य—अन्तर—अर्थात् जिस समय राजा का आगमन न हो । छिद्दाणि य—छिद्र अर्थात् जब राजा के परिवार का कोई भी व्यक्ति न हो। विरहाणि य—विरह अर्थात् जिस समय और कोई सामान्य मनुष्य भी न हो, ऐसे समय की । पडिजागरमाणीओ पडिजागरमाणीओ—प्रतीक्षा करती हुई, प्रतीक्षा करती हुई । विहरंति—विचरण करती हैं। तते णं—तदनतर । सा—वह । सामा देवी—श्यामा देवी, जो । इमीसे—इस । कहाए—वृत्तान्त से । लद्धट्ठा समाणा—लब्धार्थ हुई अर्थात् वह इस वृत्तांत को जान कर । एवं—इस प्रकार । वयासी — कहने लगी । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । ममं—मुझे । एगूणगाण—एक कम । पंचराहं सवत्तीसयाणं—पाँच सौ सपत्नियों को । एक्कूणगाइं—एक कम । पंचमाईसयाइं—पांच सौ माताएं । इमीसे—इस । कहाए—कथा—वृतांत को । लद्धट्ठाइं समाणाइं—जानती हुई । अन्नमन्नं—परस्पर । एवं वयासी—कहने लगीं । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । सीहसेणे—सिंहसेन । जाव—यावत् । पडिजागरमाणीओ—प्रतीक्षा करती हुई । विहरति—विहरण कर रही हैं । तं—अत । न—नहीं । नज्जति णं—जानती अर्थात् मैं नहीं जानती हूँ कि । ममं—मुझे । केणति—किस । कुमारेण—कुमार अर्थात् कुमौत से । मारेस्संति—मारेंगी । त्ति कट्टु—ऐसा विचार कर। भीया ४—१—भीता—भयोत्पादक बात को सुन कर भयभीत हुई, २—त्रस्ता—मेरे प्राण लूट लिये जावेंगे, यह सोच कर त्रास को प्राप्त हुई, ३—उद्विग्ना—भय के मारे उस का हृदय कांपने लगा, ४—संजातभय—हृदय के साथ २ उस का शरीर भी कांपने लगा, इस प्रकार १—भीत, २—त्रस्त, ३—उद्विग्न और ४—संजातभय होकर श्यामा देवी । जेणेव—जहां । कोवघरे—कोपगृह था अर्थात् जहां क्रुद्ध हो कर बैठा जाए, ऐसा एकान्त स्थान था । तेणेव—वहां पर । उवागच्छति उवागच्छित्ता—आती है, आकर। ओहय०—अपहतमन सकल्पा—जिसके मानसिक संकल्प विफल हो गये हैं अर्थात् उत्साह से रहित मन वाली होकर ।

जाव—यावत् । झियाति—विचार करने लगी ।

मूलार्थ—तदनन्तर महाराज सिंहसेन श्यामा देवी में मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित और अध्युपपन्न हुआ २ अन्य देवियों का न तो आदर करता है और न उन का ध्यान ही रखता है, विपरीत इस के उन का अनादर और विस्मरण करता हुआ सानन्द समय यापन कर रहा है।

तदनन्तर उन एक कम पांच सौ देवियों—रानियों की एक कम पांच सौ माताओं ने जब यह जाना कि "—महाराज सिंहसेन श्यामादेवी में मूर्च्छित, गृद्ध ग्रथित और अध्युपपन्न हो हमारी कन्याओं का न तो आदर करता है और न उनका ध्यान ही रखता है—" तब उन्होंने मिल कर निश्चय किया कि हमारे लिये यही उचित है कि हम श्यामा देवी को अग्निप्रयोग, विषप्रयोग या शस्त्रप्रयोग से जीवनरहित कर डालें । इस तरह विचार करने के अनन्तर वे श्यामादेवी के अन्तर छिद्र तथा विरह की प्रतीक्षा करती हुई समय व्यतीत करने लगीं ।

इधर श्यामादेवी को भी इस षड्यन्त्र का पता चल गया, जिस समय उसे यह समाचार मिला तो वह इस प्रकार विचार करने लगी कि मेरी एक कम पांच सौ सपत्नियों की एक कम पांच सौ माताएं "—महाराज सिंहसेन श्यामा में अत्यन्त आसक्त हो कर हमारी पुत्रियों का आदर नहीं करता—" यह जान कर एकत्रित हुईं और "—अग्नि, विष या शस्त्र के प्रयोग से श्यामा के जीवन का अन्त कर देना ही हमारे लिये श्रेष्ठ है—" ऐसा विचार कर वे उस अवसर की खोज में लगी हुई हैं। यदि ऐसा ही है तो न जाने वे मुझे किस कुमौत से मारें ?, ऐसा विचार कर वह श्यामा भीत, त्रस्त, उद्विग्न और सञ्जातभय हो उठी, तथा जहां कोपभवन था वहां आई और आकर मानसिक संकल्पों के विफल रहने से निराश मन से बैठी हुई यावत्-विचार करने लगी।

टीका—जैनशास्त्रों में ब्रह्मचर्य व्रत के दो विभाग उपलब्ध होते हैं—महाव्रत और अणुव्रत। हिन्दू शास्त्रों में इस के पालक की व्याख्या नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के रूप में की गई है । जो साधु मुनिराज तथा साध्वी सब प्रकार से स्त्री तथा पुरुष के संसर्ग से पृथक् रहते हैं, वे सर्वविरति अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं, तथा जो अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त संसार की शेष स्त्रियों को माता तथा भगिनी एवं पुत्री के रूप में देखते हैं वे देशविरति या उपकुर्वाण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। प्रस्तुत में हम देशविरति या उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में कुछ विचार करना इष्ट है।

यह ठीक है कि देशविरति—गृहस्थ अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त शेष स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री के तुल्य समझे परन्तु अपनी स्त्री के साथ किये जाने वाले संसर्ग का भी यह अर्थ नहीं होता कि उस में वह इतना आसक्त हो जाए कि हर समय उसी का चिन्तन तथा ध्यान करता रहे, और उस को एक मात्र कामवासना की पूर्ति का साधन ही बना डाले, ऐसा करना तो स्वदारसन्तोषव्रत की कड़ी अवहेलना करने के अतिरिक्त पाप कर्म का भी अधिकाधिक बन्ध करना है । विषयासक्ति कर्तव्यपालक को कर्तव्यनाशक, अहिंसक को हिंसक, तथा दयालु को हिंसापरायण बना देती है। आसक्ति में स्वार्थ है, संकोच है और गर्व है, वहां दूसरे के हित को कोई अवकाश नहीं, अत विचारशील व्यक्ति को इस से सदा पृथक् ही रहने का उद्योग करना चाहिये।

महाराज सिंहसेन के जीवन में आसक्ति की मात्रा कुछ अधिक प्रमाण में दृष्टिगोचर हो रही है । महारानी श्यामा पर वे इतने आसक्त थे कि उस के अतिरिक्त किसी दूसरी विवाहिता रानी का उन्हें ध्यान तक भी नहीं आता था। तात्पर्य यह है कि महाराज सिंहसेन श्यामा के स्नेहपाश में बुरी तरह फंस गये थे । वही

एक मात्र उन के हृदय पर सर्वेसर्वा अधिकार जमाये हुए थी, यद्यपि अन्य रानियों में भी पतिप्रेम और रूप—लावण्य की कमी नहीं थी, परन्तु श्यामा के मोहजाल मे फंसे हुए सिंहसेन उन की तरफ आंख भर देखने का भी कष्ट न करते। महाराज सिंहसेन का यह व्यवहार बाकी की रानियों को तो असह्य था ही, परन्तु जब उन की माताओं को इस व्यवहार का पता लगा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे सब मिल कर आपस में परामर्श करती हुई इस परिणाम पर पहुँची कि हमारी पुत्रियों से इस प्रकार के दुर्व्यवहार का कारण एक मात्र श्यामा है, उस ने महाराज को अपने मे इतना अनुरक्त कर लिया है कि वह उन को दूसरी तरफ झांकने का भी अवसर नहीं देती, इसलिये उसी को ठीक करने से सब कुछ ठीक हो सकेगा। ऐसा विचार कर वे अग्नि, विष, अथवा शस्त्र आदि के प्रयोग से महारानी श्यामा को समाप्त कर देने की भावना से ऐसे अवसर की खोज मे लग गई जिस में श्यामा को मृत्युदण्ड देना सुलभ हो सके।

प्रस्तुत कथासंदर्भ से अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश पड़ता है, जो कि निम्नोक्त हैं—

१—घर में हर एक के साथ समव्यवहार रखना चाहिये, किसी के साथ कम और किसी के साथ विशेष प्रेम करने से भी अनेक प्रकार की बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। जहां समान अधिकारी हों वहां इस प्रकार का भेदमूलक व्यवहार अनुचित ही नहीं किन्तु अयोग्य भी है। अतः इस का परिणाम भी भयंकर ही होता है। इतिहास इस की पूरी २ साक्षी दे रहा है। महाराज सिंहसेन श्यामा के साथ अनुराग करते हुए यदि शेष रानियों से भी अपना कर्तव्य निभाते और कम से कम उन की सर्वथा उपेक्षा न करते तो भी इतना आपत्तिजनक नहीं था परन्तु उन्हों ने तो बुद्धि से काम ही नहीं लिया। तात्पर्य यह है कि यदि वे अन्य रानियों के साथ अपना यत्किंचित् स्नेह भी व्यक्त करने का व्यावहारिक उद्योग करते तो उनकी प्रेयसी श्यामा के प्रति अन्य महिलाओं के तथा उन की माताओं के हृदयों में नारीजन—सुलभ विद्वेषाग्नि को प्रज्वलित होने का अवसर ही न आता।

(२) कुलीन महिला के लिये पतिप्रेम से वंचित रहना जितना [1]दुःखदायी होता है उतना और कोई प्रतिकूल संयोग उसे कष्टप्रद नहीं हो सकता। इस के विपरीत उसे पतिप्रेम से अधिक कोई भी सांसारिक वस्तु इष्ट नहीं होती। श्यामा देवी के साथ जिन अन्य राजकुमारियों का महाराज सिंहसेन ने पाणिग्रहण किया था, उन का भी पतिप्रेम में भाग था, फिर उस से बिना किसी कारणविशेष के उन्हें वंचित रखना गृहस्थधर्म का नाशक होने के साथ २ अन्यायपूर्ण भी है।

(३) पुत्री के प्रति माता का कितना स्नेह होता है ?, यह किसी स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता। उस के हृदय में पुत्री को अपने श्वशुरगृह में सर्व प्रकार से सुखी देखने की अहर्निश लालसा बनी रहती है। सब से अधिक इच्छा उस की यह होती है कि उस की पुत्री पतिप्रेम का अधिक से अधिक उपभोग करे परन्तु यहां तो उस का नाम तक भी नहीं लिया जाता। ऐसी दशा में उन राजकुमारियों की माताएं अपनी पुत्रियों के दुःख में समवेदना प्रकट करती हुई हत्या जैसे महान् अपराध करने पर उतारु हो जावें तो इस में मातृगत हृदय के लिये आश्चर्यजनक कौनसी बात है ?,

(१) श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र के नवम अध्ययन में जिनरक्षित और जिनपाल के जीवन—वृत्तान्त के प्रसंग मे समुद्रगत डगमगाती हुई नौका का वर्णन करते हुए "—नव—वहू—उवरयभत्तुया विलवमाणी विव—" ऐसा लिखा है अर्थात् नौका की स्थिति उस नववधू की तरह हो रही है, जो पति के छोड़ देने पर विलाप करती है। भाव यह है कि पति से उपेक्षित नारी का जीवन बड़ा ही दुःखपूर्ण होता है। प्रकृत में ज्ञातासूत्रीय उपमा व्यवहार का रूप धारण कर रही है।

क्योंकि अपनी पुत्रियों के साथ किये गये दुर्व्यवहार को चुपचाप सहन करने का अंश मातृहृदय में बहुत कम पाया जाता है ।

यह तो अनुभव सिद्ध है कि जीवन का मोह प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है । ससार में कोई भी व्यक्ति इस से शून्य नहीं मिलेगा । व्यक्ति चाहे छोटा हो या बड़ा, जीवन सब को प्रिय है और सभी जीवित रहना चाहते हैं, । इसी लिये ससार मे जिधर देखो उधर जीवनरक्षा के लिये ही हर एक प्राणी उद्योग कर रहा है । जीवन को हानि पहुचाने वाले कारणों का प्रतिरोध तथा जीवन का अपहरण करने वाले शत्रु का प्रतिकार एव उसे सुरक्षित रखने में निरन्तर सावधान रहने का यत्न यथा-शक्ति प्रत्येक प्राणी करता हुआ दृष्टिगोचर होता है ।

महारानी श्यामा भी अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिये निरन्तर यत्नशील रहती है, उस के हृदय में जीवन के विषय में कुछ शका हो रही है, इस लिए वह पूरी सावधानता से काम कर रही है । वह जानती है कि मैं ही महाराज सिंहसेन के हृदयसिंहासन पर विराज रही हू, और किसी के लिये अणुमात्र भी स्थान नहीं । यही कारण है कि महाराज की ओर से मेरी शेष बहिनों (सपत्नियों—सौकनों) की उपेक्षा ही नहीं किन्तु उनका अपमान एव निरादर भी किया जाता है । सभव है कि इससे मेरी बहिनों के हृदय में तीव्र आघात पहुचे और इस के प्रतिकार के निमित्त वे अपनी क्रोधाग्नि को मेरी ही आहुति से शान्त करने की चेष्टा करें । महाराज का उन के प्रति जो असद्भाव है, उस का मुख्य कारण मैं ही एक हू । अतः मेरे प्रति उन की मनोवृत्ति में क्षोभ उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है ।

आत्मरक्षा की विचारधारा मे निमग्न श्यामा को किसी दिन विश्वस्त सूत्र से जब "—४९९ देवियों के साथ महाराज सिंहसेन की ओर से किये गये दुर्व्यवहार को जान कर उन की माताओं के हृदय में विरोध की ज्वाला प्रदीप्त हो उठी है और उन्हों ने मिल कर श्यामा को अन्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, तदनुसार वे उस अवसर की प्रतीक्षा कर रही हैं—" यह वृत्तान्त जानने को मिला तो इस से उस के सन्देह ने निश्चित रूप धारण कर लिया । उसे पूरी तरह विश्वास होगया कि उसके जीवन का अन्त करने के लिये एक बडे भारी षड्यन्त्र का आयोजन किया जा रहा है और वह उस की अन्य बहिनों (सपत्नियों की माताओं की तरफ से हो रहा है । यह देख वह एकदम भयभीत हो उठी और [1]कोपभवन में जाकर आर्तध्यान करने लगी ।

"—मुच्छिते ४—" यहां के अक से—**गिद्धे, गढिते, अज्झोववन्ने**—इन अवशिष्ट पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन का अर्थ पृष्ठ १७३ पर लिखा जा चुका है, तथा—**अन्तर छिद्र और विरह**—इन पदों का अर्थ पृष्ठ ३६२ पर लिखा जा चुका है ।

"—**सीहसेणे जाव पडिजागरमाणीओ**—" यहा पठित **जाव—यावत्** पद पृष्ठ ४७९ पर पढे गये —**राया सामाए देवीए मुच्छिते** से ले कर—**छिद्दाणि य विरहाणि य**—यहा तक के पदों का परिचायक हैं ।

"—**भीया ४**—"यहां ४ के अक मे —**तत्था, उव्विग्गा, सजातभया**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये । इन पदों का अर्थ पदार्थ मे दिया जा चुका है ।

"—**ओहय० जाव झियासि** " यहा पठित **जाव यावत्**—पद से—**मणसंकप्पा भूमीग-**

(१) राजमहलों में एक ऐसा स्थान भी बना हुआ होता है जहा पर महारानियें किसी कारणवशात् उत्पन्न हुए रोष को प्रकट करती हैं और वहा पर प्रवेश मात्र कोप—गुस्से के कारण ही किया जाता है । उस स्थान को **कोपगृह** या **कोपभवन** कहते हैं । **अथवा** -महारानियें क्रोधयुक्त हो कर अपने केशादि को बखेर कर जिस किसी भी एकान्त स्थान मे जा बैठती हैं वह **कोपगृह** कहलाता है ।

यदिट्ठिया करतलपल्हत्थमुही अट्टज्झाणोवगया —इन पदों का ग्रहण करना, सूत्रकार को अभिमत है। जिस के मानसिक सकल्प विफल हो गये हैं उसे अपहतमन संकल्पा, जिस की दृष्टि भूमि की ओर लग रही है उसे भूमिगतदृष्टिका, जिस का मुख हाथ पर स्थापित हो उसे करतलपर्यस्तमुखी तथा जो आर्तध्यान को प्राप्त हो रही हो उसे आर्तध्यानोपगता कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में महाराज सिंहसेन का महारानी श्यामा के साथ अधिक स्नेह तथा अन्य रानियों के प्रति उपेक्षाभाव और उस कारण से उन की माताओं का श्यामा के प्राण लेने का उद्योग एवं श्यामा का भयभीत होकर कोपभवन में जाकर आर्तध्यानमग्न होना आदि बातों का वर्णन किया गया है, इस के पश्चात् क्या हुआ ?, अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तते णं सीहसेणे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कोवघरे जेणेव सामा देवी तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सामं देविं ओहयमणसंकप्पं जाव पासति पासित्ता एवं वयासी—किं णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहयमणसंकप्पा जाव झियासि ?, तते णं सा सामा देवी सीहसेणेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा उप्फेणउप्फेणियं एवं सीहरायं वयासी—एवं खलु सामी ! ममं एक्कूणगाणं पंचण्हं सवत्तीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं इमीसे कहाए लद्धट्ठाइं समाणाइं अन्नमन्नं सद्दावेंति सद्दावित्ता एवं वयासी—एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे विहरइ, तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं अग्गिप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण**

(१) छाया—ततः स सिंहसेनो राजा अनया कथया लब्धार्थः सन् यत्रैव कोपगृहं यत्रैव श्यामा देवी तत्रैवोपागच्छति उपागत्य श्यामादेवीमपहतमनःसंकल्पां यावत् पश्यति दृष्ट्वा एवमवदत्—किं त्वं देवानुप्रिये ! अपहत० यावत् ध्यायसि ?, ततः सा श्यामा देवी सिंहसेनेन राज्ञा एवमुक्ता सती [1]उत्फेनोत्फेनितं सिंहसेनराजमेवमवादीत्—एवं खलु स्वामिन् ! ममैकोनकानां पञ्चानां सपत्नीशतानामेकोनानि पञ्चमातृशतानि अनया कथया लब्धार्थानि सन्त्यन्योन्यं शब्दयन्ति शब्दयित्वा एवमवादिषुः—एवं खलु सिंहसेनो राजा श्यामायां देव्यां मूर्च्छितः ४ अस्माकं दुहितॄर्नो आद्रियते नो परिजानाति, अनाद्रियमाणः अपरिजानन् विहरति, तच्छ्रेयः खलु अस्माकं श्यामां देवीमग्निप्रयोगेन वा विषप्रयोगेन वा शस्त्रप्रयोगेन वा जीविताद् व्यपरोपयितुम् एवं सम्प्रेक्षन्ते सम्प्रेक्ष्य ममान्तराणि च छिद्राणि च विरहाणि च प्रतिजाग्रत्यो विहरन्ति। तन्न ज्ञायते स्वामिन् ! केनचित् कुमारेण मारयिष्यन्ति इति कृत्वा भीता यावद् ध्यायामि। ततः स सिंहसेनो राजा श्यामां देवीमेवमवादीत्—मा त्वं देवानुप्रिये ! अपहतमनःसंकल्पा यावद् ध्याय ?, अहं तथा यतिष्ये यथा तव नास्ति कुतोऽपि शरीरस्याबाधा वा प्रबाधा वा भविष्यति, इति कृत्वा ताभिरिष्टाभिः यावत् समाश्वासयति। ततः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति शब्दयित्वा एवमवादीत्—गच्छत यूयं देवानुप्रियाः ! सुप्रतिष्ठाद् नगराद् बहिरेकां महतीं कूटाकारशालां कुरुत। अनेकस्तम्भशतसंनिविष्टां प्रासादीयां ४ एतमर्थं प्रत्यर्पयत। ततस्ते कौटुम्बिकपुरुषाः करतल० यावत् प्रतिशृण्वन्ति प्रतिश्रुत्य सुप्रतिष्ठितनगराद् बहिः पश्चिमे दिग्भागे एकां महतीं कूटाकारशालां कुर्वन्ति, अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टां प्रासादीयां ४ यत्रैव सिंहसेनो राजा तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य तामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयन्ति।

(१) उत्फेनोत्फेनितं फेनोद्गमनकृते, सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः। (अभिधानराजेन्द्रकोषे)

वा जीवियाओ ववरोवित्तए, एवं संपेहेंति संपेहित्ता मम अन्तराणि य छिद्दाणि य विहराणि य पडिजागरमाणीओ विहरन्ति, तं न नज्जइ णं सामी ! ममं केणइ कुमारेणं मारिस्संति त्ति कट्टु भीया ४ झियामि। तते णं से सीहसेणे राया सामं देविं एवं वयासी—मा णं तुमं देवाणुप्पिए ! ओहतमणसंकप्पा जाव झियाहि, अहं णं तहा जत्तिहामि जहा णं तव नत्थि कत्तो वि सरीरस्स आबाहे वा पबाहे वा भविस्सति, त्ति कट्टु ताहिं इट्ठाहिं जाव समासासेति, ततो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सुपइट्ठस्स नगरस्स बहिया एगं महं कूडागारसालं करेह अणेगखंभसयसंनिविट्ठं जाव पासाइयं ४ एयमट्ठं पच्चप्पिणह। तते णं ते कोडुंबियपुरिसा करतल० जाव पडिसुणेंति पडिसुणित्ता सुपइट्ठियनगरस्स बहिया पच्चत्थिमे दिसिभागे एगं महं कूडागारसालं करेंति अणेगखंभसयसंनिविट्ठं जाव पासाइयं ४ जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। से—वह। सिंहसेणे—सिंहसेन। राया—राजा। इमीसे—इस। कहाए—वृत्तान्त से। लद्धट्ठे समाणे—लब्धार्थ हुआ अर्थात् अवगत हुआ। जेणेव—जहां। कोवघर—कोपगृह था, और। जेणेव—जहां। सामा देवी—श्यामा देवी थी। तणेव—वहां पर। उवागच्छइ उवागच्छित्ता—आता है, आकर। सामं—श्यामा। देविं—देवी को, जो कि। ओहयमणसंकप्पं—अपहतमन—सकल्पा—जिस के मानसिक सकल्प विफल होगये हैं, को। जाव-यावत्। पासति पासित्ता—देखता है, देख कर। एवं—इस प्रकार। वयासी कहता है। देवाणुप्पिए!—हे महाभागे! । तुमं—तुम। किएणं—क्यों। ओहयमणसकप्पा—मानसिक सकल्पों को निष्फल किये हुए। जाव—यावत्। झियासि-विचार कर रही हो ? । तते ण—तदनन्तर। सा—वह। सामादेवी—श्यामा देवी। सीहसेणेणं—सिंहसेन। रएणा—राजा के द्वारा। एवं—इस प्रकार। वुत्ता समाणा—कही हुई। उफेणउप्फेणियं दूध के उफान के समान क्रुद्ध हुई अर्थात् क्रोधयुक्त प्रबल वचनों से। सीहरायं—सिंहराज के प्रति। एवं वयासी-इस प्रकार बोली। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। सामी!—हे स्वामिन्!। ममं—मेरी। एक्कूणगाणं—एक कम। पंचएहं सवत्तीसयाणं—पांच सौ सपत्नियों की। एक्कूणगाइं—एक कम। पंच—पांच। माइसयाइं सौ माताएं। इमीसे—इस। कहाए—कथा—वृत्तान्त से। लद्धट्ठाइं समाणाइं—लब्धार्थ हुई—अवगत हुई। अन्नमन्नं—एक दूसरे को। सद्दावेंति सद्दावित्ता—बुलाती हैं, बुलाकर। एवं वयासी—इस प्रकार कहती हैं। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। सीहसेणे—सिंहसेन। राया—राजा। सामाए—श्यामा। देवीए—देवी में। मुच्छिते ४—[1]मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित और अध्युपपन्न हुआ। अम्हं—हमारी। धूयाओ—पुत्रियों का। णो आढाइ—आदर नहीं करता। नो परिजाणाइ—ध्यान नहीं रखता। अणाढायमाणे—आदर न करता हुआ। अपरिजाणमाणे—ध्यान न रखता हुआ। विहरइ—विहरण करता है। तं—इस लिये। सेयं—श्रेय—योग्य है। खलु निश्चयार्थक है। अम्ह—हमें। सामं—श्यामा। देविं—देवी को। अग्गिपओगेण वा—अग्नि के प्रयोग से। विसप्पओगेण वा—विष के प्रयोग से। सत्थप्पओगेण वा-

(१) मूर्च्छित आदि पदों का अर्थ पृष्ठ ४८० पर पदार्थ में लिखा जा चुका है।

शस्त्र के प्रयोग से। **जीवियाओ ववरोवित्तए**—जीवन से रहित कर देना। **एवं संपेहेति संपेहित्ता** - इस प्रकार विचार करती हैं, विचार कर। **ममं**—मेरे। **अंतराणि य छिद्दाणि य विहराणि य**—अन्तर[1] छिद्र और विरह की। **पडिजागरमाणीओ**—प्रतीक्षा करती हुई। **विहरंति**—विहरण कर रही हैं। **तं**—अत। **न णज्जति**—मैं नहीं जानती हू कि। **सामी**! हे स्वामिन्। **ममं** —मुझे। **केणई** – किस। **कुमारेण** – कुमौत से। **मारिस्संति**—मारेंगी। **त्ति कट्टु**—ऐसा विचार कर। **भीया ४**—भीत, त्रस्त, उद्विग्न और सजातभय हुई। **जाव** – यावत्। **झियामि** –विचार कर रही हू। **तते ण** —तदनन्तर। **से** – वह। **सीहसेणे राया**—सिंहसेन राजा। **सामं देविं**—श्यामा देवी के प्रति। **एव वयासी**—इस प्रकार बोला। **देवाणुप्पिए**! – हे महाभागे! **तुमं** – तुम। **मा णं**—मत। **ओहतमणसंकप्पा**—अपहत मन वाली हो। **जाव**—यावत्। **झियासि**—विचार करो। **अहं णं** – मैं। **तहा**—वैसे। **जत्तिहामि**—यत्न करूगा। **जहा णं**—जैसे। **तव**—तुम्हारे। **सरीरस्स**—शरीर को। **कत्तो वि**—कहीं से भी। **आबाहे वा** —आबाधा—ईषत् पीडा। **पवाहे वा**—प्रबाधा - विशेष पीडा। **नत्थि** –नहीं। **भविस्सति**—होगी। **त्ति कट्टु** इस प्रकार से अर्थात् ऐसे कह कर। **ताहिं**—उन। **इट्ठाहिं**—इष्ट। **जाव** –यावत् वचनों के द्वारा उसे। **समासासेति**—सम्यक्तया आश्वासन देता है—शान्त करता है। **ततो**—तत्पश्चात् वहा से। **पडिनिक्खमति**—निकलता है। **पडिनिक्खमित्ता**—निकल कर। **कोडुंबियपुरिसे**—कौटुम्बिक पुरुषों को। **सद्दावेति सद्दावित्ता**—बुलाता है, बुलाकर। **एव वयासी** —इस प्रकार कहता है। **देवाणुप्पिया**!—हे भद्र पुरुषो!। **तुब्भे** – तुम लोग। **गच्छह णं** —जाओ, जाकर। **सुपइट्ठस्स** —सुप्रतिष्ठित। **णगरस्स** –नगर के। **बहिया**—बाहिर। **एग महं** – एक बहुत बड़ी। **कूडागारसालं**—कूटाकारशाला—षड्यन्त्र करने के लिये बनाया जाने वाला घर। **करेह**—तैयार कराओ जिस में। **अणेगखंभसयसंनिविट्ठं** – सैंकडों स्तम्भ—खम्भे हों और जो। **पासाइयं ४**—प्रासादीय-मन को हर्षित करने वाली, दर्शनीय –बारम्बार देख लेने पर भी जिस से आखें न थकें, अभिरूप—जिसे एक बार देख लेने पर भी पुन दर्शन की लालसा बनी रहे, तथा प्रतिरूप अर्थात् जिसे जब भी देखा जाए तब ही वहा नवीनता ही प्रतीत हो। **एयमट्ठं**—इस आज्ञा का। **पच्चप्पिणह**-प्रत्यर्पण करो अर्थात् बनवा कर मुझे सूचना दो। **तते ण** तदनन्तर। **ते** वे। **कोडुंबियपुरिसा**—कौटुम्बिक पुरुष। **करतल०** —दोनों हाथ जोड़। **जाव**—यावत् अर्थात् मस्तक पर दस नखों वाली अजलि रख कर। **पडिसुणेति पडिसुणेत्ता**—स्वीकार करते हैं, स्वीकार करके। **सुपइट्ठियस्स**—सुप्रतिष्ठित नगर के। **बहिया** – बाहिर। **पच्चत्थिमे**—पश्चिम। **दिसीभागे**—दिग्भाग में **एगं** एक। **महं**—महती – बडी विशाल। **कूडागारसालं**—कूटाकार शाला। **करेंति** - तैयार कराते हैं जो कि। **अणेगखंभसयसनिविट्ठ**—सैंकड़ों खम्भों वाली और। **पासाइयं ४** –प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी, तैयार करा कर। **जेणेव** – जहा पर। **सीहसेणे**– सिंहसेन। **राया** –राजा था। **तेणेव** - वहा पर। **उवागच्छंति उवागच्छित्ता**—आते हैं, आकर। **तामाणत्तिय**—उस आज्ञा का। **पच्चप्पिणति**—प्रत्यर्पण करते हैं अर्थात् आप की आज्ञानुसार कूटाकार शाला तैयार करा दी गई है, ऐसा निवेदन करते हैं।

मूलार्थ –तदनन्तर वह सिंहसेन राजा इस वृत्तान्त को जान कर कोपभवन मे जाकर श्यामादेवी से इस प्रकार बोला—हे महाभागे! तुम इस प्रकार क्यों निराश और चिन्तित हो रही? महाराज सिंहसेन के इस कथन को सुन श्यामा देवी क्रोधयुक्त हो प्रबल वचनों से राजा के प्रति इस प्रकार कहने लगी—हे स्वामिन्! मेरी एक कम पाच सौ सपत्नियों की एक कम पाच सौ माताएं इस वृत्तान्त को जान

(१) अन्तर आदि पदों की अर्थावगति के लिये देखो पृष्ठ ४८० का पदार्थ।

कर आपस मे एक दूसरी को इस प्रकार कहने लगी कि महाराज सिंहसेन श्यामा देवी मे अत्यन्त आसक्त हो कर हमारी कन्याओं का आदर, सत्कार नहीं करते, उन का ध्यान भी नहीं रखते, प्रत्युत उन का आदर न करते हुए और ध्यान न रखते हुए समय बिता रहे है। इस लिये अब हमारे लिये यही समुचित है कि अग्नि, विष तथा किसी शस्त्र के प्रयोग से श्यामा का अंत कर डालें। इस प्रकार उन्हों ने निश्चय कर लिया है और तदनुसार वे मेरे अतर, छिद्र और विरह की प्रतीक्षा करती हुई अवसर देख रही हैं। इसलिये न मालूम मुझे वे किस कुमौत से मारें, इस कारण भयभीत हुई मैं यहा पर आकर आर्तध्यान कर रही हूं। यह सुन महाराज सिंहसेन ने श्यामादेवी के प्रति जो कुछ कहा वह निम्नोक्त है-

प्रिये! तुम इस प्रकार हतोत्साह हो कर आर्त्तध्यान मत करो, मै ऐसा उपाय करूंगा जिस से तुम्हारे शरीर को कहीं से भी किसी प्रकार की बाधा तथा प्रबाधा नहीं होने पावेगी। इस प्रकार श्यामा देवी को इष्ट आदि वचनों द्वारा सान्त्वना देकर महाराज सिंहसेन वहां से चले गये, जाकर उन्होंने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया, बुलाकर उन से कहने लगे कि तुम लोग यहां से जाओ और जाकर सुप्रतिष्ठित नगर से बाहिर एक बडी भारी कूटाकारशाला बनवाओ जो कि सैंकड़ों स्तम्भों से युक्त और प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप हो अर्थात् देखने मे नितान्त सुन्दर हो। वे कौटुम्बिक पुरुष दोनों हाथ जोड़ सिर पर दस नखों वाली अंजलि रख कर इस राजाज्ञा को शिरोधार्य करते हुए चले जाते हैं, जा कर सुप्रतिष्ठित नगर की पश्चिम दिशा मे एक महती और अनेकस्तम्भों वाली तथा प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप अर्थात् अत्यन्त मनोहर कूटाकारशाला तैयार कराते है और तैयार कराकर उस की महाराज सिंहसेन को सूचना दे देते हैं।

टीका—महारानी श्यामा का (४९९) रानियों की माताओं के षड्यन्त्र से भयभीत होकर कोपभवन में प्रविष्ट होने का समाचार उस की दासियों के द्वारा जब महाराज सिंहसेन को मिला तो वे बड़ी शीघ्रता से राजमहल की ओर प्रस्थित हुए, महलों में पहुचे और कोपभवन में आकर उन्हों ने महारानी श्यामा को बड़ी ही चिन्ताजनक अवस्था मे देखा। वह बड़ी सहमी हुई तथा अपने को असुरक्षित जान बड़ी व्याकुल सी हो रही है एव उस के नेत्रों से अश्रुओं की धारा बह रही है। महाराज सिंहसेन को अपनी प्रेयसी श्यामा की यह दशा बडी अखरी, उस की इस करुणाजनक दशा मे महाराज सिंहसेन के हृदय में बडी भारी हलचल मचा दी, वे बडे अधीर हो उठे और श्यामा को सम्बोधित करते हुए बोले कि प्रिये! तुम्हारी यह अवस्था क्यों? तुम्हारे इस तरह से कोपभवन में आकर बैठने का क्या कारण है? जल्दी कहो? मुझ से तुम्हारी यह दशा देखी नहीं जाती, इत्यादि।

पतिदेव के सान्त्वनागर्भित इन वचनों को सुन कर श्यामा के हृदय में कुछ ढाढस बधी परन्तु फिर भी वह क्रोधयुक्त सर्पिणी की तरह फुकारा मारती हुई अथवा दूध के उफान की तरह बड़े रोष—पूर्ण स्वर मे महाराज सिंहसेन को सम्बोधित करती हुई इस प्रकार बोली—स्वामिन्! मै क्या करू, मेरी शेष सपत्नियों (सौकनों) की माताओं ने एकत्रित होकर यह निर्णय किया है कि माहाराज श्यामा देवी पर अधिक अनुराग रखते हैं और हमारी पुत्रियों की तरफ ध्यान तक भी नहीं देते। इस का कारण एक मात्र श्यामा है अगर वह न रहे तो हमारी पुत्रियें सुखी होजाए। इस विचार से उन्हो ने मेरे को मार देने का षड्यन्त्र रचा है, वे रात दिन इसी ध्यान म रहती हैं कि उन्हे कोई उचित अवसर मिले और वे अपना कर्तव्य पालन करें। प्राणनाथ! इस आगन्तुक भय से त्रास को प्राप्त हुई मैं यहा पर आकर बैठी हूँ, पता नहीं कि अवसर मिलने पर वे मुझे किस प्रकार से मौत के घाट उतारें। इतना कह कर उस ने अपनी मृत्युभयजन्य आतरिक वेदना को अश्रुकणों द्वारा सूचित करते हुए अपने मस्तक को महाराज के चरणों मे रख कर

मूकभाव से अभयदान की याचना की ।

महारानी श्यामा के इस मार्मिक कथन से महाराज सिंहसेन बड़े प्रभावित हुए, उनके हृदय पर उस का बड़ा गहरा प्रभाव हुआ। वे कुछ विचार में पड़ गये, परन्तु कुछ समय के बाद ही प्रेम और आदर के साथ श्यामा को सम्बोधित करते हुए बोले कि प्रिये ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो तुम्हारी रक्षा का सारा भार मेरे ऊपर है, मेरे रहते तुम को किसी प्रकार के अनिष्ट की शंका नहीं करनी चाहिये । तुम्हारी ओर कोई आंख उठा कर नहीं देख सकता। इस लिये तुम अपने मन में भय की कल्पना तक को भी निकाल दो ! इस प्रकार अपनी प्रेयसी श्यामा देवी को सान्त्वना भरे प्रेमालाप में आश्वासन दे कर महाराज सिंहसेन वहां से चल कर बाहिर आते हैं तथा महारानी श्यामा के जीवन का अपहरण करने वाले षड्यन्त्र को तहस नहस करने के उद्देश्य से कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर एक विशाल कूटाकारशाला के निर्माण का आदेश देते हैं ।

इस सूत्र में पति पत्नी के सम्बन्ध का सुचारु दिग्दर्शन कराया गया है । स्त्री अपने पति में कितना विश्वास रखती है तथा दुःख में कितना सहायक समझती है, और पति भी अपनी स्त्री के साथ कैसा प्रेममय व्यवहार करता है तथा किस तरह उस की संकटापन्न वचनावली को ध्यानपूर्वक सुनता है, एवं उसे मिटाने का किस तरह आश्वासन देता है, इत्यादि बातों की सूचना भली भान्ति निर्दिष्ट हुई है, जो कि आदर्श दम्पती के लिये बड़े मूल्य की वस्तु है। इस के अतिरिक्त इस विषय में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि दम्पती-प्रेम यदि अपनी मर्यादा के भीतर रहता है तब तो वह गृहस्थजीवन के लिये बड़ा उपयोगी और सुखप्रद होता है और यदि वह मर्यादा की परिधि का उल्लंघन कर जाता है अर्थात् प्रेम न रह कर आसक्ति या मूर्छा का रूप धारण कर लेता है तो वह अधिक से अधिक अनिष्टकर प्रमाणित होता है। महाराज सिंहसेन यदि अपनी प्रेयसी श्यामा में मर्यादित प्रेम रखते, तो उन से भविष्य में जो अनिष्ट सम्पन्न होने वाला है वह न होता और अपनी शेष रानियों की उपेक्षा करने का भी उन्हें अनिष्ट अवसर प्राप्त न होता। सारांश यह है कि गृहस्थी मानव के लिये जहां अपनी धर्मपत्नी में मर्यादित प्रेम रखना हितकर है, वहां उस पर अत्यन्त आसक्त होना उतना ही अहितकर होता है। दूसरे शब्दों में—जहां प्रेम मानव जीवन में उत्कर्ष का साधक है वहां आसक्ति—मूर्च्छा अनिष्ट का कारण बनती है।

—उप्फेणउप्फेणियं—(उत्फेनोत्फेनितम्) की व्याख्या वृत्तिकार "**—सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः**—" इस प्रकार करते हैं। अर्थात् कोप क्रोध के साथ गरम २ बातें जैसे की जाती हैं उसी तरह वह करने लगी। तात्पर्य यह है कि उस के—श्यामा के कथन में क्रोध का अत्यधिक आवेश था।

आबाधा और प्रबाधा इन दोनों शब्दों की व्याख्या श्री अभयदेव सूरि के शब्दों में—**तत्राबाधा—ईषत् पीडा, प्रबाधा—प्रकृष्टा पीडैव** इस प्रकार है। अर्थात् साधारण कष्ट बाधा है और महान् कष्ट—इस अर्थ का परिचायक प्रबाधा शब्द है।

—ओहयमणसंकप्पं जाव पासति—तथा—**ओहयमणसंकप्पा जाव झियासि**—यहां पठित जाव—यावत्—पद से—**भूमिगयदिट्ठिय, करतलपल्हत्थमुहिं अट्टज्झाणोवगयं**—ये अभिमत पद पीछे पृष्ठ ४८३ तथा ४८४ पर लिखे जा चुके हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वहां वे पद प्रथमान्त दिये गये हैं, जब कि प्रस्तुत में द्वितीयान्त की अपेक्षित हैं अतः अर्थ में द्वितीयान्त की भावना भी कर लेनी चाहिये।

—भीया ४ जाव झियामि यहां दिये गए ४ के अंक से—**तत्था उव्विग्गा संजायभया**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ पृष्ठ ४८० पर पदार्थ में लिखा जा चुका है। तथा—जाव यावत् पद पृष्ठ ४८३ तथा ४८४ पर पढ़े गये—**ओहयमणसंकप्पा**—इत्यादि पदों का परिचायक है। तथा—**ओहतमण-**

सकप्पा जाव क्रियाहि—यहां पठित जाव-यावत् पद से पृष्ठ ४८३ तथा ४८४ पर पढ़े गये भूमीगयदिट्ठि—या—इत्यादि पदों का बोध होता है।

—इट्ठाहि जाव समासासेति—यहां पठित जाव-यावत् पद से—कंताहिं, पियाहिं मणुण्णाहिं, मणामाहिं, मणोरमाहिं, उरालाहि, कल्लाणाहिं, सिवाहि, धन्नाहि, मंगलाहि, ससिरीयाहिं, हियगमणिज्जाहिं, हिययपल्हायणिज्जाहि, मिय—महुर—मंजुलाहि वग्गूहिं—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। इष्ट आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—इष्ट—अभिलषित (जिस की सदा इच्छा की जाए) का नाम है। २—कान्त सुन्दर को कहते हैं। ३—जिसे सुन कर द्वेष उत्पन्न न हो उसे प्रिय कहा जाता है। ४—जिस के श्रवण से मन प्रसन्न होता है वह मनोज्ञ कहलाता है। ५—मन से जिस की चाहना की जाए उसे मनाऽम कहते हैं। ६—जिस के चिन्तन मात्र से मन में प्रमोदानुभव हो उसे मनोरम कहते हैं। ७—नाद, वर्ण और उस के उच्चारण आदि की प्रधानता वाला उदार कहलाता है। ८—समृद्धि करने वाला—इस अर्थ का परिचायक कल्याण शब्द है। ९—वाणी के दोषों से रहित को शिव कहते हैं। १०—धन की प्राप्ति करने वाले अथवा प्रशंसनीय वचन को धन्य कहा जाता है। ११—अनर्थ के प्रतिघात—विनाश में जो हितकर हो उसे मंगल कहते हैं। १२—अलंकार आदि की शोभा से युक्त सश्रीक कहलाता है। १३—हृदयगमनीय शब्द—कोमल और सुबोध होने से जो हृदय में प्रवेश करने वाला हो, अथवा हृदगत शोकादि का उच्छेद करने वाला हो—इस अर्थ का परिचायक है। १४—हृदयप्रह्लादनीय शब्द—हृदय को हर्षित करने वाला, इस अर्थ का बोध कराता है। १५—मितमधुरमंजुल—इस में मित, मधुर और मंजुल ये तीन पद हैं। मित परिमित को कहते हैं, अर्थात् वर्ण, पद और वाक्य की अपेक्षा से जो परिमित हो उसे मित कहा जाता है। मधुर—शब्द मधुर स्वर वाले वचन का बोध कराता है। शब्दों की अपेक्षा से जो सुन्दर है उसे मंजुल कहते हैं। १६—वाग्—वचन का नाम है। प्रस्तुत में इष्ट आदि विशेषण हैं और वाग् यह विशेष्य पद है।

—पासाइय ४—यहां दिये गये ४ के अंक से—दंसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे—इन पदों का ग्रहण अभिमत है। इन का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है। तथा—करयल० जाव पडिसुणंति—यहां के बिन्दु तथा—जाव-यावत् पद से पृष्ठ २४६ पर पढ़े गये—करयलपरिग्गहियं दसणह अंजलिं मत्थए कट्टु—इन पदों का, तथा पृष्ठ २५० पर पढ़े गये—तहत्ति आणाए विणएणं वयणं—इन पदों का ग्रहण कराना सूत्रकार को अभिमत है।

प्रस्तुत सूत्र में महारानी श्यामा का चिन्तातुर होना तथा उस की चिन्ता को विनष्ट करने की प्रतिज्ञा कर महाराज सिंहसेन का अपने अनुचरों को नगर के पश्चिम भाग में एक विशाल कूटाकारशाला के निर्माण का आदेश देना और उसके आदेशानुसार शाला का तैयार हो जाना आदि बातों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उस शाला से क्या काम लिया जाता है ?, इस बात का वर्णन करते हैं—

मूल—[१] तते णं से सीहसेणे राया अन्नया कयाइ एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणाइं

(१ छाया—ततः स सिंहसेनो राजा अन्यदा कदाचिद् एकोनानां पञ्चानां देवीशतानामेकोनानि पञ्चमातृशतानि आमन्त्रयति। ततस्तासामेकोनानां पञ्चानां देवीशतानामेकोनानि पञ्चमातृशतानि सिंहसेनेन राज्ञा आमन्त्रितानि सन्ति सर्वालंकारविभूषितानि यथाविभव यत्रैव सुप्रतिष्ठं नगरं यत्रैव सिंहसेनो राजा तत्रैवोपागच्छन्ति। ततः स सिंहसेनो राजा एकोनानां पञ्चदेवीशतानामेकोनानां पञ्चमातृशतानां कूटाकार—शालामावसथं दापयति। ततः स सिंहसेनो राजा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति शब्दयित्वा एवमवादीत्—गच्छत

पंचमाइसयाइं आमंतेति । तते णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं सीहसेणेणं रण्णा आमंतियाइं समाणाइं सव्वालंकारविभूसिताइं जहाविभवेणं जेणेव सुपइट्ठे णगरे जेणेव सीहसेणे राया तेणेव उवागच्छंति । तते णं से सीहसेणे राया एगूणगाणं पंचदेवीसयाणं एगूणगाणं पंचमाइसयाणं कूडागारसालं आवसहं दलयति। तते णं से सीहसेणे राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विउलं असणं ४ उवणेह सुबहुं, पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं च कूडागरसालं साहरह । तते णं ते कोडुंबिया पुरिसा तहेव जाव साहरंति । तते णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं सव्वालंकारविभूसियाइं तं विउलं असणं ४ सुरं च ६ आसादेमाणाइं ४ गंधव्वेहि य नाडएहि य उवगिज्जमाणाइं विहरन्ति । तते णं से सीहसेणे राया अड्ढरत्तकालसमयंसि बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता कूडागारसालाए दुवाराइं पिहेति पिहित्ता कूडागारसालाए सव्वतो समंता अगणिकाय दलयति । तते णं तासिं एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं सीहसेणेणं रण्णा आलीवियाइं समाणाइं रोयमाणाइं ३ अत्ताणाइं असरणाइं कालधम्मुणा संजुत्ताइं । तते णं से सीहसेणे राया एयकम्मे ४ सुबहुं पावं कम्मं समज्जिणित्ता चोत्तीसं वाससयाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं बावीससागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । से—वह । सीहसेणे राया—सिंहसेन राजा । अन्नया कयाइ—किसी अन्य समय । एगूणगाणं—एक कम । पंचण्हं देवीसयाणं—पांच सौ देवियों की । एगूणाइं—एक कम पंचमाइसयाइं—पांच सौ माताओं को । आमंतेति—आमंत्रण देता है । तते णं—तदनन्तर । तासिं—उन । एगूणगाणं—एक कम । पंचण्हं देवीसयाणं—पांच सौ देवियों की । एगूणगाइं—एक कम । पंचमाइसयाइं—पांच सौ माताएं । सीहसेणेणं—सिंहसेन । रण्णा—राजा के द्वारा । आमंतियाइं समाणाइं—आमंत्रित की गई । जहाविभवेणं—यथाविभव अर्थात् अपने अपने वैभव के अनुसार । सव्वालंकारविभूसिताइं—सर्व प्रकार के आभूषणों से अलंकृत हो कर । जेणेव—जहां । सुपइट्ठे—सुप्रतिष्ठित । णगरे—नगर था ।

यूयं देवानुप्रिया ! विपुलमशनं ४ उपनयत, सुबहु पुष्पवस्त्रगन्धमाल्यालंकारं च कूटाकारशालां संहरत । ततस्ते कौटुम्बिकाः पुरुषास्तथैव यावत् संहरन्ति । ततस्तासामेकोनानां पञ्चानां देवीशतानामेकोनानि पञ्चमातृशतानि सर्वालंकारविभूषितानि तद् विपुलमशनं ४ सुरां च ६ आस्वादयन्ति ४ गान्धर्वैश्च नाटकैश्चोपगीयमानानि विहरन्ति । ततः स सिंहसेनो राजा अर्द्धरात्रकालसमये बहुभिः पुरुषैः सार्द्धं संपरिवृतो यत्रैव कूटाकारशाला तत्रैवोपागच्छति उपागत्य कूटाकारशालाया द्वाराणि पिदधाति पिधाय कूटाकारशालायाः सर्वतः समन्ताद् अग्निकायं दापयति । ततस्तासामेकोनानां पञ्चानां देवीशतानामेकोनानि पञ्चमातृशतानि सिंहसेनेन राज्ञा आदीपितानि सन्ति रुदन्ति ३ अत्राणानि, अशरणानि कालधर्मेण संयुक्तानि । ततः स सिंहसेनो राजा एतत्कर्मा ४ सुबहु पापं कर्म समर्ज्य चतुस्त्रिंशतं वर्षशतानि परमायुः पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा षष्ठ्यां पृथिव्यामुत्कर्षेण द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्नः ।

जेणेव—जहां। **सीहसेणे**—सिंहसेन। **राया**—राजा था। **तेणेव**—वहां पर। **उवागच्छंति**—आजाती हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सीहसेणे**—सिंहसेन। **राया**—राजा। **एगूणगाणं**—एक कम। **पंचदेवी-सयाण**—पांच सौ देवियों की। **एगूणगाणं**—एक कम। **पंचमाइसयाण**—पांच सौ माताओं को। **कूडागारसाल**—कूटाकारशाला में। **आवसइं**—रहने के लिये स्थान। **दलयति**—दिलवाता है। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सीहसेणे**—सिंहसेन। **राया**—राजा। **कोडुंबियपुरिसे**—कौटुम्बिक पुरुषों—अनुचरों को। **सद्दावेति सद्दावित्ता**—बुलाता है बुलाकर। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगा। **देवाणुप्पिया!**—हे भद्रपुरुषो!। **तुब्भे**—तुम। **गच्छह णं**—जाओ। **विउलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादि। **उवणेह**—ले जाओ, तथा। **सुबहुं**—अनेकविध। **पुप्फ**—पुष्प। **वत्थ**—वस्त्र। **गंध**—गंध—सुगन्धित पदार्थ। **मल्लालंकारं च**—और माला तथा अलंकार को। **कूडागारसाल**—कूटाकारशाला में। **साहरह**—ले जाओ। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **कोडुंबियपुरिसा**—कौटुम्बिक पुरुष। **तहेव**—तथैव—आज्ञा के अनुसार। **जाव**—यावत्। **साहरंति**—ले जाते हैं अर्थात् कूटाकारशाला में पहुंचा देते हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **तासिं**—उन। **एगूणगाणं**—एक कम। **पंचण्हं देवीसयाणं**—पांच सौ देवियों की। **एगूणगाइं**—एक कम। **पंचमाईसयाइं**—पांच सौ माताएं। **सव्वालंकारविभूसियाइं**—सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित हुईं। **तं**—उस। **विउलं**—विपुल। **असणं ४**—अशनादिक तथा। **सुरं च ६**—६ प्रकार की सुरा आदि मदिराओं का। **आसादेमाणाइं ४**—आस्वादनादि करती हुईं। **गंधव्वेहि य**—गान्धर्वो—गायक पुरुषों तथा। **नाडएहि य**—नाटकों—नर्तक पुरुषों द्वारा। **उवगिज्जमाणाइं**—उपगीयमान अर्थात् गान की गईं। **विहरन्ति**—विहरण करती हैं। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सीहसेणे राया**—महाराज सिंहसेन। **अड्ढरत्त-कालसमयंसि**—अर्द्धरात्रि के समय। **बहूहिं**—अनेक। **पुरिसेहिं**—पुरुषों के। **सद्धिं**—साथ। **संपरिवुडे**—घिरा हुआ। **जेणेव**—जहां। **कूडागारसाला**—कूटाकारशाला थी। **तेणेव**—वहां पर। **उवागच्छति उवागच्छित्ता**—आता है, आकर। **कूडागारसालाए**—कूटाकारशाला के। **दुवाराइं**—द्वारों—दर्वाज़ों को। **पिहेति पिहित्ता**—बन्द करा देता है, बन्द करा कर। **कूडागारसालाए**—कूटाकारशाला के। **सव्वतो समंता**—चारों तरफ से। **अगणिकायं**—अग्निकाय—अग्नि। **दलयति**—लगवा देता है। **तते णं**—तदनन्तर **तासिं**—उन। **एगूणगाण**—एक कम। **पंचण्हं देवीसयाण**—पांच सौ देवियों की। **एगूणगाइं**—एक कम। **पंचमाइसयाइं**—पांच सौ माताएं। **सीहसेणेणं**—सिंहसेन। **रण्णा**—राजा के द्वारा। **आलीवियाइं समाणाइं**—आदीप्त की गईं अर्थात् जलाई गईं। **रोयमाणाइं ३**—रुदन, आक्रन्दन और विलाप करती हुईं। **अत्ताणाइं**—अत्राण—जिस का कोई रक्षा करने वाला न हो, और। **असरणाइं**—अशरण—जिसे कोई शरण देने वाला न हो, **कालधम्मुणा**—काल धर्म से। **संजुत्ताइं**—संयुक्त हुईं। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **सीहसेणे**—सिंहसेन। **राया**—राजा। **एयकम्मे ४**—[1]एतत्कर्मा, एतत्प्रधान, एतद्विद्य और एतत्समाचार होता हुआ। **सुबहु**—अत्यधिक। **पावं कम्मं**—पाप कर्म को। **समज्जिणित्ता**—उपार्जित कर के। **चोत्तीसं**—३४। **वाससयाइं**—सौ वर्ष की। **परमाउं**—परमायु। **पालइत्ता**—भोग कर। **कालमासे**—काल मास में। **कालं किच्चा**—काल कर के। **छट्ठीए**—छठी। **पुढवीए**—पृथिवी-नरक में। **उक्कोसेणं**—उत्कृष्ट—अधिकाधिक **बावीससागरोवमट्ठिइएसु**—बाईस सागरोपम स्थिति वाले। **नेरइएसु**—नारकियों में। **नेरइयत्ताए**—नारकीय रूप से। **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ।

मूलार्थ—तत्पश्चात् वह सिंहसेन राजा किसी अन्य समय पर एक कम पांच सौ देवियों की

---

(१) एतत्कर्मा, एतत्प्रधान, आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७९ के टिप्पण में लिखा जा चुका है।

एक कम पाच सौ माताओं को आमन्त्रित करता है। तब सिंहसेन राजा से आमन्त्रित हुई वे एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पॉच सौ माताएं सर्व प्रकार के वस्त्रों एवं आभूषणों से सुसज्जित हो, सुप्रतिष्ठ नगर मे महाराज सिंहसेन के पास आ जाती है। महाराज सिंहसेन उन देवियों की माताओं को निवास के लिए कूटाकारशाला मे स्थान दे देता है। तदनन्तर कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहता है हे भद्रपुरुषो! तुम लोग विपुल अशनादिक तथा अनेकविध पुष्पो, वस्त्रों, गन्धों—सुगन्धित पदार्थों, मालाओं और अलकारों को कूटाकारशाला में पहुचा दो?, कौटुम्बिक पुरुष महाराज की आज्ञानुसार सभी सामग्री कूटाकारशाला मे पहुचा देते है। तदनन्तर सर्व प्रकार के अलंकारों से विभूषित उन एक कम पाच सौ देवियों को माताओं ने उस विपुल अशनादिक तथा सुरा आदि सामग्री का आस्वादनादि किया—यथारुचि उपभोग किया और नाटक—नर्तक गान्धर्वादि से उपगीयमान—प्रशस्यमान होती हुई सानन्द विचरने लगीं।

तत्पश्चात् अर्द्ध रात्रि के समय अनेक पुरुषों के साथ सपरिवृत—घिरा हुआ महाराज सिंहसेन जहां कूटाकारशाला थी वहा पर आया, आकर उसने कूटाकारशाला के सभी द्वार बन्द करा दिये और उस के चारों तरफ आग लगवा दी। तदनन्तर महाराज सिंहसेन के द्वारा आदीपित—जलाई गई, त्राण और शरण से रहित हुई वे एक कम पाच सौ देवियों की माताएं रुदन, आक्रन्दन और विलाप करती हुई कालधर्म को प्राप्त हो गई। तत्पश्चात् एतत्कर्मा, एतद्विद्य, एतत्प्रधान और एतत्समाचार वह सिंहसेन राजा अत्यधिक पाप कर्मो का उपार्जन करके ३४ सौ वर्ष की परमायु पाल कर कालमास मे काल करके छठी नरक मे उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों मे नारकीयरूप से उत्पन्न हुआ।

टीका—सैंकड़ों स्तम्भों से सुशोभित तथा बहुत विशाल कूटाकारशाला के निर्माण के अनन्तर महाराज सिंहसेन ने श्यामा को छोड शेष ४९९ रानियों की माताओं को सप्रेम और सत्कार के साथ अपने यहा आने का निमत्रण भेजा। महाराज सिंहसेन का आमत्रण प्राप्त कर उन ४९९ देवियों की माताओं ने वहा जाने के लिये राजमहिलाओं के अनुरूप वस्त्राभूषणादि से अपने को सुसज्जित किया और वे सब वहा उपस्थित हुई। महाराज सिंहसेन ने भी उन का यथोचित स्वागत और सम्मान किया, तथा कूटाकारशाला में उनके निवास का यथोचित प्रबन्ध कराया, एव अपने राजसेवकों को बुला कर आज्ञा दी कि कूटाकारशाला मे चतुर्विध (अशन पान खादिम और स्वादिम) आहार तथा विविध प्रकार के पुष्पों, वस्त्रों, गन्धों मालाओं और अलकारों को पहुँचा दो। महाराज सिंहसेन की आज्ञानुसार उन राजसेवकों ने सभी खाद्य पदार्थ तथा अन्य वस्तुए प्रचुर मात्रा में वहा पहुँचा दीं। तब वे माताए भी कूटाकारशाला मे आए महार्ह भोज्यादि पदार्थों का यथारुचि भोगोपभोग करती हुई तथा अनेक प्रकार के गान्धर्वो—गायकों तथा नाटकों से मनोरञ्जन और नटों के द्वारा आत्मश्लाघा का अनुभव करती हुई सानन्द समय यापन करने लगीं।

मुनि श्री आनन्दसागर जी ने अपने विपाकसूत्रीय हिन्दी अनुवाद मे पृष्ठ २८९ पर—"एगूणगाणं पंचण्हं देवीसयाणं एगूणगाइं पंचमाइसयाइं आमंतेति"—इस पाठ का—एककम पाच सो देवियों (श्यामा से अतिरिक्त ४९९ रानियों) को तथा उन की एक कम पाच सौ माताओं को आमत्रण दिया—यह अर्थ किया है, परन्तु यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि "देवीसयाणं माइसयाइं" यहा पर सम्बन्ध मे षष्ठी है। माता पुत्री का जन्यजनकभाव सम्बन्ध स्पष्ट ही है दूसरी बात—यदि देवियों (रानियों) को भी निमत्रण होता तो जिस तरह सूत्रकार ने 'आमंतेति' इस क्रिया का कर्म 'माइयाइं' यह द्वितीयान्त रक्खा है, उसी प्रकार 'देवीसयाणं" यहा षष्ठी न रख कर सूत्रकार द्वितीया विभक्ति का प्रयोग करते, अर्थात् 'देवीसयाणं" के स्थान पर "देवीसयाइं" इस पाठ का व्यवहार करते। तीसरी बात—महारानी

श्यामा के जीवन के अपहरण का उद्योग करने वाली वे ४९९ माताएं ही तो हैं और महाराज सिंहसेन का भी उन्हीं पर रोष है। शेष रानियों का न तो कोई अपराध है और न ही उन्हें इस विषय में श्यामा ने दोषी ठहराया है। चौथी बात यहां पर 'और" इस अर्थ का सूचक कोई चकारादि पद भी नहीं है। अतः हमारे विचारानुसार तो यहां पर '**एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताओं को निमंत्रण दिया**" यही अर्थ युक्तियुक्त और समुचित प्रतीत होता है।

गन्धव्वेहि य नाडएहि य—(गान्धर्वैश्च नाटकैश्च) यहां प्रयुक्त **गान्धर्व** पद—गाने वाले व्यक्ति का बोधक है। नृत्य करने वाले पुरुष का नाम **नाटक—नर्तक** है। तात्पर्य यह है कि गान्धर्वों और नाटकों से उन माताओं का यशोगान हो रहा था यह सब कुछ महाराज सिंहसेन ने उन के सम्मानार्थ तथा मनोविनोदार्थ ही प्रस्तुत किया था ताकि उन्हें महाराज के षड्यन्त्र का ज्ञान एवं भ्रम भी न होने पावे।

इस प्रकार कूटाकारशाला में ठहरी हुईं उन माताओं को निश्चिन्त और विश्रब्ध आमोद—प्रमोद में लगी हुई जान कर महाराज सिंहसेन अर्द्ध रात्रि के समय बहुत से पुरुषों को साथ लेकर कूटाकारशाला में पहुंचते हैं, वहां जाकर कूटाकारशाला के तमाम द्वार बंद करा देते हैं और उस के चारों तरफ से आग लगवा देते हैं। परिणामस्वरूप वे—माताएं सब की सब वहीं जल कर राख हो जाती हैं। दैवगति कितनी विचित्र है, जिस अग्निप्रयोग से वे श्यामा को भस्म करने की ठाने हुई थीं उसी में स्वयं भस्मसात् हो गईं।

महाराज सिंहसेन ने महारानी श्यामा के वशीभूत होकर कितना घोर अनर्थ किया ? कितना बीभत्स आचरण किया ? उसका स्मरण करते ही हृदय कांप उठता है। इतनी बर्बरता तो हिंसक पशुओं में भी दृष्टिगोचर नहीं होती। एक कम पांच सौ राजमहिलाओं को जीते जी अग्नि में जला देना और इस पर भी मन में किसी प्रकार का पश्चात्ताप न होना, प्रत्युत हर्ष से फूले न समाना, मानवता ही नहीं किन्तु दानवता की पराकाष्ठा है। परन्तु स्मरण रहे—कर्मवाद के न्यायालय में हर बात का पूरा २ भुगतान होता है, वहां किसी प्रकार का अन्धेर नहीं है। तभी तो सिंहसेन का जीव छठी नरक में उत्पन्न हुआ, अर्थात् उस को छठी नरक में नारकीयरूप से उत्पन्न होना पड़ा। विषयांध—विषयलोलुप जीव कितना अनर्थ करने पर उतारू हो जाते हैं ?, इसके लिये सिंहसेन का उदाहरण पर्याप्त है। प्रस्तुत कथा से पाठकों को यह शिक्षा लेनी चाहिये कि विषयवासना से सदा दूर रहें, अन्यथा तज्जन्य भीषण कर्मों से नारकीय दुःखों का उपभोग करने के साथ २ जन्म मरण के प्रवाह से प्रवाहित भी होना पड़ेगा।

—**असण ४**—यहां दिये गये ४ के अंक से अभिमत पाठ पृष्ठ २५० पर लिखा जा चुका है। तथा —**तहेव जाव साहरंति** यहां पठित **तहेव** पद का अर्थ है, वैसे ही अर्थात् जैसे महाराज सिंहसेन ने अशन, पानादि सामग्री को कूटाकारशाला में पहुंचाने का आदेश दिया था, वैसे राजपुरुषों ने सविनय उसको स्वीकार किया और शीघ्र ही उस का पालन किया, तथा इसी भाव का संसूचक जो आगम पाठ है उसे जाव—यावत् पद से अभिव्यक्त किया है, अर्थात् **जाव—यावत्** पद—**पुरिसा करयल—परिग्गहियं दसणहं अंजलिं मत्थए कट्टु एयमट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणित्ता विउलं असणं ४ सुबहुं पुष्फवत्थगंधमल्लालंकारं च कूडागारसालं**—इन पदों का परिचायक है। अर्थ स्पष्ट ही है।

—**तुरं च ६**—यहां ६ के अंक से अभिमत पाठ की सूचना पृष्ठ ४४७ पर की जा चुकी है, तथा —**आसाएमाणाइं ४**—यहां ४ के अंक से—**विसाएमाणाइं परिभाएमाणाइं, परिभुंजमाणाइं**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १४५ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं जब कि प्रस्तुत में नपुंसक लिंग। अर्थगत कोई भेद नहीं है।

—रोयमाणाइं ३—यहां ३ के अंक से—कंदमाणाइं विलवमाणाइं—इन पदों का ग्रहण करना अभिमत है। रुदन रोने का नाम है, चिल्ला २ कर रोना आक्रन्दन और आर्त्त स्वर से करुणोत्पादक वचनों का बोलना विलाप कहलाता है। तथा—पयकम्मे ४—यहां ४ के अंक से अभिमत पद पृष्ठ १७९ की टिप्पण में दिये जा चुके हैं।

प्रस्तुत सूत्र में सिंहसेन द्वारा किये गये निर्दयता एवं क्रूरता पूर्ण कृत्य तथा उन कर्मों के प्रभाव से उस का छठी नरक में जाना आदि बातों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार उसके अग्रिम जीवन का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव रोहीडए णगरे दत्तस्स सत्थवाहस्स कण्हसिरीए भारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उववन्ने। तते णं सा कण्हसिरी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारियं पयाया, सुकुमालपाणिपाय जाव सुरूवं। तते णं तीसे दारियाए अम्मापितरो निव्वत्तबारसाहियाए विउलं असणं ४ जाव मित्त० नामधेज्जं करेंति। होउ णं दारिया देवदत्ता नामेणं। तते णं सा देवदत्ता पंचधातीपरिग्गहिया जाव परिवड्ढति। तते णं सा देवदत्ता दारिया उम्मुक्कबालभावा जाव जोव्वणेण य रूवेण य लावण्णेण य अतीव उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा यावि होत्था। तते णं सा देवदत्ता दारिया अन्नया कयाइ ण्हाया जाव विभूसिया, बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ता उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिन्दूसएणं कीलमाणी विहरति। इमं च णं वेसमणदत्ते राया ण्हाते जाव विभूसिते आसं दुरुहति दुरुहित्ता बहूहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे आसवाहणियाए णिज्जायमाणे दत्तस्स गाहावइस्स गिहस्स अदूरसामंते वीतीवयति। तते णं से वेसमणे राया जाव वीतीवयमाणे देवदत्तं दारियं उप्पिं आगासतलगंसि जाव पासति पासित्ता देवदत्ताए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य

(१) छाया—स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य, इहैव रोहीतके नगरे दत्तस्य सार्थवाहस्य कृष्णश्रियाः भार्यायाः कुक्षौ दारिकतयोपपन्नः। ततः सा कृष्णश्रीः नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु दारिकां प्रजाता, सुकुमारपाणिपादा यावत् सुरूपा। ततस्तस्या दारिकाया अम्मापितरौ निर्वृत्तद्वादशाहिकाया विपुलमशनं ४ यावद् मित्र० नामधेयं कुरुतः—भवतु दारिका देवदत्ता नाम्ना। ततः सा देवदत्ता पंचधात्रीपरिगृहीता यावत् परिवर्धते। ततः सा देवदत्ता दारिका उन्मुक्तबालभावा यावद् यौवनेन च रूपेण च लावण्येन चातीवोत्कृष्टा उत्कृष्टशरीरा जाता चाप्यभवत्। ततः सा देवदत्ता दारिका अन्यदा कदाचित् स्नाता यावद् विभूषिता बहुभिः कुब्जाभिर्यावत् परिक्षिप्ता उपरि आकाशतले कनकतिन्दूसकेन क्रीडन्ती विहरति। इतश्च वैश्रमणदत्तो राजा स्नातो यावत् विभूषितः अश्वमारोहति आरुह्य बहुभिः पुरुषैः सार्द्धं सम्परिवृतो अश्ववाहनिकया निर्यान् दत्तस्य गाथापतेः गृहस्यादूरासन्ने व्यतिव्रजति। ततः स वैश्रमणो राजा यावद् व्यतिव्रजन् देवदत्तां दारिकामुपरि आकाशतले यावत् पश्यति दृष्ट्वा देवदत्ताया दारिकायाः रूपेण च यौवनेन च लावण्येन च जातविस्मयः कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति शब्दयित्वा एवमवादीत्—कस्य देवानुप्रिया! एषा दारिका?, का च नामधेयेन?, ततस्ते कौटुम्बिका वैश्रमणराजं करतल० यावदेवमवादिषुः—एषा स्वामिन्! दत्तस्य सार्थवाहस्य दुहिता कृष्णश्र्यात्मजा देवदत्ता नाम दारिका, रूपेण च यौवनेन च लावण्येन च उत्कृष्टोत्कृष्टशरीरा।

जायविम्हए कोडु बियपुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वयासी—कस्स णं देवाणुप्पिया ! एसा दारिया, किं च णामधिज्जेणं ? तते णं ते कोडुम्भिया वेसमणरायं करतल० जाव एवं वयासी—एस णं सामी ! दत्तस्स सत्थवाहस्स धूया कण्हसिरिअत्तया देवदत्ता णामं दारिया रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा ।

पदार्थ—**से णं**—वह । **ततो**—वहां से । **अणंतरं**—अन्तर रहित । **उव्वट्टित्ता**—निकल कर । **इहेव**—इसी । **रोहीडए**—रोहीतक । **णगरे**—नगर में । **दत्तस्स**—दत्त । **सत्थवाहस्स**—सार्थवाह की । **कण्हसिरीए**—कृष्णश्री । **भारियाए**—भार्या की । **कुच्छिंसि**—कुक्षि में । **दारियत्ताए**—बालिका रूप से । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ अर्थात् कन्या रूप से गर्भ में आया । **तते णं**—तदनन्तर । **सा** उस । **कण्हसिरी**—कृष्णश्री ने । **नवण्ह मासाणं**—नव मास । **बहुपडिपुण्णाणं**—लग भग परिपूर्ण हो जाने पर । **दारियं**—बालिका को । **पयाया**—जन्म दिया, जो कि । **सुकुमालपाणिपाय**—सुकुमार—अत्यन्त कोमल हाथ, पैर वाली । **जाव**—यावत् । **सुरूव**—सुरूपा—परम सुन्दरी थी । **तते णं**—तदनन्तर । **तीसे**—उस । **दारियाए**—बालिका के । **अम्मापितरो**—माता—पिता । **निव्वत्तबारसाहियाए**—जन्म से ले कर बारहवें दिन । **विउलं**—विपुल । **असणं ४**—अशन आदि आहार । **जाव**—यावत् । **मित्त०**—मित्र, ज्ञाति निजकजन और स्वजनादि को भोजनादि करा कर । **नामधेज्जं**—नाम । **करेंति**—रखते हैं । **होउ णं**—हो । **दारिया**—यह बालिका । **देवदत्ता**—देवदत्ता । **नामेणं**—नाम से अर्थात् इस बालिका का नाम देवदत्ता रखा जाता है । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **देवदत्ता**—देवदत्ता । **पंचधातीपरिग्गहिया**—पांच धाय माताओं से परिगृहीत । **जाव**—यावत् । **परिवड्ढति**—वृद्धि को प्राप्त होने लगी । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **देवदत्ता**—देवदत्ता । **दारिया**—दारिका । **उम्मुक्कबालभावा**—उन्मुक्तबालभावा - जिस ने बाल भाव को त्याग दिया है । **जाव**—यावत् । **जोव्वणेण य**—यौवन से । **रूवेण य**—रूप से । **लावण्णेण य**—और लावण्य अर्थात् आकृति की मनोहरता से । **अतीव उक्किट्ठा**—अत्यन्त उत्कृष्ट—उत्तम, तथा । **उक्किट्ठसरीरा**—उत्कृष्ट शरीर वाली । **यावि होत्था**—भी थी । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **देवदत्ता**—देवदत्ता । **दारिया**—बालिका । **अन्नया**—अन्यदा । **कयाइ**—कदाचित् । **ण्हाया**—नहा कर । **जाव**—यावत् । **विभूसिया**—सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित हो । **बहूहिं**—अनेक । **खुज्जाहिं**—कुब्जाओं से । **जाव**—यावत् । **परिक्खित्ता**-घिरी हुई । **उप्पिं**—अपने मकान के ऊपर । **आगासतलगंसि**—झरोखे में । **कणगतिंदूसएणं**—सुवर्ण की गेंद से । **कीलमाणी**—खेलती हुई । **विहरति**—विहरण कर रही थी । **इमं च णं**—और इतने में । **वेसमणदत्ते**—वैश्रमणदत्त । **राया**—राजा । **ण्हाते**—नहा कर । **जाव**—यावत् । **विभूसिते**—समस्त आभूषणों से विभूषित हो कर । **आसं**—अश्व पर । **दुरुहति दुरुहित्ता**—आरोहण करता है, करके । **बहूहिं**—बहुत से । **पुरिसेहिं**—पुरुषों के । **सद्धिं**—साथ । **संपरिवुडे**—सपरिवृत—घिरा हुआ । **आसवाहणियाए**—अश्ववाहनिका-अश्वक्रीडा के लिये । **णिज्जायमाणे**—जाता हुआ । **दत्तस्स**—दत्त । **गाहावइस्स**—गाथापति-सार्थवाह के । **गिहस्स**—घर के । **अदूरसामंतेण**—नजदीक में से । **वीतीवयति**—जाता है—गुजरता है । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **वेसमणे** वैश्रमण । **राया**—राजा । **जाव**—यावत् । **वीतीवयमाणे**—जाते हुए । **देवदत्तं**—देवदत्ता । **दारियं**—बालिका को, जोकि । **उप्पिं**—ऊपर । **आगासतलगंसि**—झरोखे में । **जाव**—यावत् अर्थात् स्वर्ण की गेंद से खेल रही है । **पासति पासित्ता**—देखता है देख कर । **देवदत्ताए**—देवदत्ता । **दारियाए**—बालिका के । **रूवेण य**—रूप से । **जोव्वणेण य**—यौवन से, तथा । **लावण्णेण य**—लावण्य से । **जायविम्हए**—विस्मय को प्राप्त हो । **कोडुंबियपुरिसे**—

कोडुम्बियपुरुषों को। सद्दावेति—बुलाता है। सद्दावित्ता—बुलाकर, उनके प्रति। एवं वयासी—इस प्रकार कहता है। देवाणुप्पिया!—हे भद्रपुरुषो!। एसा—यह। दारिया—बालिका। कस्स णं—किस की है। किं च नामधिज्जेणं—और (इस का) क्या नाम है?। तते णं—तदनन्तर। ते—वे। कोडुंबिया—कौटुम्बिक पुरुष। वेसमणरायं—महाराज वैश्रमणदत्त के प्रति। करतल०—दोनों हाथ जोड़। जाव—यावत् मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि रख कर। एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगे। सामी!—हे स्वामिन्!। एस णं—यह। दत्तस्स—दत्त सत्थवाहस्स—सार्थवाह की। धूया—पुत्री, और। कण्हसिरीअत्तया—कृष्णश्री की आत्मजा है, तथा। देवदत्ता—देवदत्ता। णामं—नाम की। दारिया—बालिका है, जो कि। रूवेण य—रूप से। जोव्वणेण य—यौवन से, और। लावण्णेण य—लावण्य से। उक्किट्ठा—उत्कृष्ट-उत्तम तथा। उक्किट्ठसरीरा—उत्कृष्ट शरीर वाली है।

मूलार्थ—तदनन्तर वह सिंहसेन का जीव छठी नरक से निकल कर रोहीतक नगर में दत्त सार्थवाह की कृष्णश्री नामक भार्या के उदर में पुत्रीरूप से उत्पन्न हुआ। तब उस कृष्णश्री ने लगभग नव मास परिपूर्ण होने पर एक कन्या को जन्म दिया जो कि अत्यन्त कोमल हाथ, पैरों वाली यावत् परम सुन्दरी थी। तत्पश्चात् उस कन्या के माता पिता ने बारहवें दिन बहुत सा अशनादिक तैयार कराया, यावत् मित्र, ज्ञाति आदि को निमंत्रित कर एवं सब के भोजनादि से निवृत्त हो लेने पर कन्या का नामकरण संस्कार करते हुए कहा कि हमारी इस कन्या का नाम देवदत्ता रखा जाता है। तदनन्तर वह देवदत्ता पांच धाय माताओं के संरक्षण में वृद्धि को प्राप्त होने लगी। तब वह देवदत्ता बाल्यावस्था से मुक्त होकर यावत् यौवन, रूप और लावण्य से अत्यन्त उत्तम एवं उत्कृष्ट शरीर वाली होगई।

तदनन्तर वह देवदत्ता किसी दिन स्नान करके यावत् समस्त भूषणों से विभूषित हुई बहुत सी कुब्जा आदि दासियों के साथ अपने मकान के ऊपर झरोखे में सोने की गेंद के साथ खेल रही थी और इधर स्नानादि से निवृत्त यावत् विभूषित महाराज वैश्रमण घोड़े पर सवार हो कर अनेकों अनुचरों के साथ अश्वक्रीडा के लिये राजमहल से निकल सेठ दत्त के घर के पास से होकर जा रहे थे, तब यावत् जाते हुए वैश्रमण महाराज ने देवदत्ता कन्या को ऊपर सोने की गेंद के साथ खेलते हुए देखा, देखकर कन्या के रूप, यौवन और लावण्य से विस्मित होकर राजपुरुषों को बुलाकर कहने लगे कि हे भद्रपुरुषो! यह कन्या किस की है? तथा इस का नाम क्या है?। तब राजपुरुष हाथ जोड़ कर यावत् इस प्रकार कहने लगे—स्वामिन्! यह कन्या सेठ दत्त की पुत्री और कृष्णश्री सेठानी की आत्मजा है। नाम इस का देवदत्ता है और यह रूप, यौवन और लावण्य—कान्ति से उत्तम शरीर वाली है।

टीका—परम पूज्य तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी बोले कि गौतम! तत्पश्चात् २२ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले छठे नरक में अनेकानेक दुःसह कष्टों को भोग कर वहां की भवस्थिति पूरी हो जाने पर सुप्रतिष्ठ नगर का अधिपति सिंहसेन उस नरक से निकल कर सीधा ही इसी रोहीतक नगर में, नगर के लब्धप्रतिष्ठ सेठ दत्त के यहां सेठानी कृष्णश्री के उदर में (१)लड़की के रूप में उत्पन्न हुआ। सेठानी कृष्णश्री गर्भस्थ जीव का

(१) महाराज सिंहसेन का लड़की के रूप में उत्पन्न होना अर्थात् पुरुष से स्त्री बनना, उसके छल कपट का ही परिचायक है तथा छल, कपट-माया से इस जीव को स्त्रीत्व—स्त्री भव की प्राप्ति होती है। इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्त को प्रस्तुत प्रकरण में व्यावहारिक स्वरूप प्राप्त हुआ है।

यथाविधि पालन पोषण करने लगी अर्थात् गर्भकाल में हानि पहुचाने वाले पदार्थों का त्याग और गर्भ को पुष्ट करने वाली वस्तुओं उपभोग करती हुई समय व्यतीत करने लगी।

गर्भकाल पूर्ण होने पर कृष्णश्री ने एक सुकोमल हाथ पैरों वाली सर्वांगपूर्ण और परम रूपवती कन्या को जन्म दिया। बालिका के जन्म से सेठदम्पती को बडा हर्ष हुआ, तथा इस उपलक्ष्य में उन्हों ने बडे समारोह के साथ उत्सव मनाया और प्रीतिभोजन कराया, तथा बारहवे दिन नवजात बालिका का "देवदत्ता" ऐसा नामकरण किया। तब से वह बालिका देवदत्ता नाम से पुकारी जाने लगी, इस तरह बडे आडम्बर के साथ विधिपूर्वक उसका नामकरण संस्कार सम्पन्न हुआ।

देवदत्ता के पालन पोषण के लिये माता पिता ने "—१—गोदी में उठाने वाली, २—दूध पिलाने वाली, ३—स्नान कराने वाली, ४—क्रीड़ा कराने वाली, और ५—शृंगार कराने वाली -" इन पाच धाय माताओं का प्रबन्ध कर दिया था और वे पाचों ही अपने २ कार्य में बडी निपुण थीं, उन्हीं की देख रेख में बालिका देवदत्ता का पालन पोषण होने लगा और वह बढने लगी। उस ने शैशव अवस्था से निकल कर युवावस्था मे पदार्पण किया। यौवन की प्राप्ति से परम सुन्दरी देवदत्ता रूप से, लावण्य से, सौन्दर्य एव मनोहरता से अपनी उपमा आप बन गई। उस की परम सुन्दर आकृति की तुलना किसी दूसरी युवती से नहीं हो सकती, मानों प्रकृति की सुन्दरता और लावण्यता ने देवदत्ता को ही अपना पात्र बनाया हो।

किसी समय स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त हो सुन्दर वेष पहन कर बहुत सी दासियों के साथ अपने गगनचुम्बी मकान के ऊपर झरोखे में सोने की गेंद से खेलती हुई देवदत्ता बालसुलभ क्रीडा से अपना मन बहला रही थी, इतने में उस नगर के अधिपति महाराज वैश्रमणदत्त बहुत से अनुचरों के साथ घोडे पर सवार हुए अश्वक्रीडा के निमित्त दत्त सेठ के मकान के पास से निकले तो अकस्मात् उन की दृष्टि महल के उपरिभाग की तरफ गई और वहा उन्हों ने स्वर्णकन्दुक से दासियों के साथ क्रीडा मे लगी हुई देवदत्ता को देखा, देख कर उस के अपूर्व यौवन और रूपलावण्य ने महाराज वैश्रमणदत्त को बलात् अपनी ओर आकर्षित किया और वहा पर ठहरने पर विवश कर दिया।

देवदत्ता के अलौकिक सौन्दर्य से महाराज वैश्रमण को बड़ा विस्मय हुआ। उन्हें आज तक किसी मानवी स्त्री में इतना सौन्दर्य देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। कुछ समय तो वे इस भ्रांति में रहे कि यह कोई स्वर्ग से उतरी हुई देवागना है या मानवी महिला ?, अन्त मे उन्हों ने अपने अनुचरों से पूछा कि यह किस की कन्या है ? और इस का क्या नाम है ?, इस के उत्तर मे उन्हों ने कहा कि महाराज ! यह अपने नगर सेठ दत्त की पुत्री और सेठानी कृष्णश्री की आत्मजा है और देवदत्ता इस का नाम है। यह रूपलावण्य की राशि और नारीजगत् में सर्वोत्कृष्ट है।

—**उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरा**—इस का अर्थ है—**उत्कृष्ट** उत्तम सुन्दर शरीर वाली। **उत्कृष्टं सुन्दरं शरीरं यस्याः सा तथा**। तथा रूप और लावण्य में इतना अन्तर है कि रूप शुक्ल, कृष्ण आदि वर्ण—रंग का नाम है और शरीरगत सौन्दर्यविशेष की लावण्य सज्ञा है।

अर्धमागधी कोष में **आकाशतलक** और **आकाशतल** ये दो शब्द उपलब्ध होते हैं। अकाशतलक का अर्थ वहा झरोखा तथा अकाशतल के १—**आकाश का तल**, २—**गगनस्पर्शी—बहुत ऊचा महल**, ऐसे दो अर्थ लिखे हैं। प्रस्तुत में सूत्रकार ने **आकाशतलक** शब्द का आश्रयण किया है, परन्तु यदि आकाशतल शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय कर लिया जाए तो प्रस्तुत में **आकाशतलक** शब्द के—**आकाश का तल**, अथवा **गगनस्पर्शी** बहुत **ऊंचा महल** ये दोनों अर्थ भी निष्पन्न हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि—**उप्पिं आगासतलगंसि**—इस पाठ के १—ऊपर झरोखे मे, २—ऊपर आकाशतल पर अर्थात् मकान की छत पर तथा

३ गगनस्पर्शी अन्त ऊंचे महल के ऊपर, ऐसे तीन अर्थ किये जा सकते हैं।

—सुकुमालपाणिपाया जाव सुरूवं—यहां पठित जाव यावत् पद पृष्ठ १०५ की टिप्पण में पढ़े गये —अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं—से ले कर पियदंसणा—यहां तक के पदों का परिचायक है। अन्तर मात्र इतना है यहां ये पद प्रथमान्त हैं, जब कि प्रस्तुत में ये पद द्वितीयान्त अपेक्षित हैं। अतः अर्थ में द्वितीयान्त पदों की ही भावना कर लेनी चाहिये।

—असणं ४ जाव मित्त० नामधेज्जं—यहां पठित इन पदों से—पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, मित्त—णाइ—णियग—सयण—संबन्धि—परिजणं आमंतंति, तओ पच्छा ण्हाया कयबलिकम्मा—से ले कर—मित्तणाइणियगसयणसम्बन्धिपरिजणस्स पुरओ—यहां तक के पदों का ग्रहण करना चाहिये। अशन पान आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ ४८ की टिप्पण में, तथा—मित्त इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १५० की टिप्पण में लिखा जा चुका है। तथा—तओ पच्छा—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ २२९ की टिप्पण में लिखा जा चुका है। मात्र अन्तर इतना है कि वहां विजय चोर सेनापति का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में सेठ दत्त और सेठानी कृष्णश्री का। तथा वहां—ण्हाया—इत्यादि पद एकवचनान्त हैं, जब कि यहां ये पद बहुवचनान्त अपेक्षित हैं, अतः अर्थ में बहुवचनान्त पदों की भावना कर लेनी चाहिये।

—पंचधाईपरिग्गहिया जाव परिवड्ढति—यहां पठित जाव यावत् से पृष्ठ १५७ पर पढ़े गये—खीरधाईए १, मज्जण०—से ले कर—चंपयपायवे सुहंसुहेणं—यहां तक के पदों का ग्रहण करना चाहिये इन का अर्थ पृष्ठ १५८ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां उज्झितक कुमार का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में देवदत्ता का। लिंगगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है।

—उम्मुक्कबालभावा जाव जोव्वणेण—यहां पठित जाव—यावत् पद से—जोव्वण—गमणुपत्ता विण्णायपरिणयमेत्ता इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। युवावस्था प्राप्त को यौवनकानु—प्राप्ता कहते हैं और विज्ञान की परिपक्व अवस्था को प्राप्त विज्ञातपरिणतमात्रा कही जाती है।

—खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ता—यहां पठित जाव—यावत् पद से चिलाइयाहिं वाम—णीवडभीदव्वर्गी—से ले कर—चेडियाचक्कवाल—यहां तक के पदों ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १६० तथा १६१ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां उज्झितक कुमार का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में देवदत्ता कुमारी का।

—ण्हाते जाव विभूसिते—यहां के—जाव—यावत् पद से विवक्षित पाठ का वर्णन पृष्ठ ३३३ पर लिखा जा चुका है तथा राया जाव वीतीवयमाणे—यहां पठित जाव यावत्—पद से पृष्ठ ४९४ पर—बहुहिं पुरिसेहिं सद्धिं संपरिवुडे आसवाहणियाए णिज्जायमाणे दत्तस्स गाहावइस्स गिहस्स अदूरसामंतेणं—पढ़े गए इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। तथा—आगासतलगंसि जाव पासति—यहां पठित जाव यावत् पद से कणगतिंदूसएण कीलमाणि—इन पदों को ग्रहण करना चाहिये। तथा—करतल० जाव एवं—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ २४६ पर लिखा जा चुका है।

दत्तपुत्री देवदत्ता के सम्बन्ध में अपने अनुचरों के कथन को सुनने के बाद रोहीतक नरेश वैश्रमण-दत्त ने क्या किया ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1]**तते णं से वेसमणे राया आसवाहणियाओ पडिणियत्ते समाणे अब्भितर-**

(१) छाया—ततः स वैश्रमणो राजा अश्ववाहनिकातः प्रतिनिवृत्तः सन् अभ्यन्तरस्थानीयान् पुरुषान् शब्दयति २ एवमवादीत्—गच्छत यूयं देवानुप्रियाः ! दत्तस्य दुहितरं कृष्णश्रियः आत्मजां देवदत्तां

ट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति सद्दावित्ता एवं वयासी--गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! दत्तस्स धूयं कण्हसिरीए अत्तयं देवदत्तदारियं पूसणंदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेह, जइ वि य सा सयरज्जसुक्का । तते ण ते अब्भितरट्ठाणिज्जा पुरिसा वेसमणरण्णा एव वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा करयल० जाव एयमट्ठं पडिसुणेंति २ राहाया जाव सुद्धप्पवेसाइं वत्थाइं पवरपरिहिया जेणेव दत्तस्स गिहे तेणेव उवागया । तते णं से दत्ते सत्थवाहे ते पुरिसे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेति २ सत्तट्ठपयाइं अब्भुग्गते आसणेण उवनिमंतेति, उवनिमंतित्ता ते पुरिसे आसत्थे वीसत्थे सुहासणवरगते एवं वयासी—संदिसंतु ण देवाणुप्पिया ! किमागमणपओयणं १, तते णं ते रायपुरिसा दत्त सत्थवाह एवं वयासी—अम्हे ण देवाणुप्पिया ! तव धूयं कण्हसिरीअत्तयं देवदत्तं दारियं पूसणदिस्स जुवरण्णो भारियत्ताए वरेमो, तं जति णं जाणासि देवाणुप्पिया ! जुत्तं वा पत्त वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, ता दिज्जउ ण देवदत्ता पूसणंदिस्स जुवरण्णो भण देवाणुप्पिया ! किं दलयामो सुक्कं ?, तते ण से दत्ते ते अब्भितरट्ठाणिज्जे पुरिसे एवं वयासी—एतं चेव णं देवाणुप्पिया ! मम सुक्कं जं णं वेसमणदत्ते राया मम दारियाणिमित्तेणं अणुगिण्हइ, ते ठाणिज्जपुरिसे विउलेण पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति २ पडिविसज्जेति । तते णं ते ठाणिज्जपुरिसा जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छन्ति २ वेसमणस्स रण्णो एतमट्ठं निवेदेंति ।

पदार्थ—तते ण—तदनन्तर । से—वह । वेसमणे—वैश्रमण । राया—राजा । आसवाहणियाओ—अश्ववाहनिका--अश्वक्रीडा से । पडिणियत्ते समाणे—प्रतिनिवृत्त हुआ अर्थात् वापिस लौटा हुआ । अब्भितरट्ठाणिज्जे—अभ्यन्तरस्थानीय—निजी नौकर, खास आदमी अथवा नजदीक के सगे सम्बन्धी

दारिका पुष्पनन्दिनो युवराजस्य भार्यातया वृणीध्वम् । यद्यपि च सा स्वकराज्यशुल्का । ततस्ते अभ्यन्तरस्थानीयाः पुरुषा वैश्रमणराजेन एवमुक्ता सन्त हृष्टतुष्टाः करतल० यावदेतमर्थं प्रतिशृण्वन्ति २ स्नाता यावत् शुद्धप्रवेश्यानि वस्त्राणि प्रवरपरिहिता यत्रैव दत्तस्य गृह तत्रैवोपागता । तत स दत्त सार्थवाहस्तान् पुरुषान् आयत पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टतुष्ट आसनादभ्युत्तिष्ठति, सप्ताष्टपदानि अभ्युद्गत आसनेनोपनिमन्त्रयति उपनिमन्त्र्य तान् पुरुषानास्वस्थान्[1] विस्वस्थान् सुखासनवरगतान् एवमवादीत्—सदिशन्तु देवानुप्रिया ! किमागमन—प्रयोजनम् ?, ततस्ते राजपुरुषा दत्त सार्थवाहमेवमवादिषुः—वय देवानुप्रिय ! तव दुहितरं कृष्णश्रिय आत्मजा देवदत्ता दारिका पुष्यनन्दिनो युवराजस्य भार्यातया वृणीमहे, तद् यदि जानासि देवानुप्रिय ! युक्त वा पात्र वा श्लाघनीय वा सदृशो वा सयोग, तदा दीयता देवदत्ता पुष्यनन्दिने युवराजाय ?, भण देवानुप्रिय ! किं दापयाम शुल्कम् ?, तत स दत्तस्तानभ्यन्तरस्थानीयान् पुरुषानेवमवदत् एतदेव देवानुप्रिया ! मम शुल्कं यद् वैश्रमणदत्तो राजा मा दारिकानिमित्तेनानुगृह्णाति । तान् स्थानीयपुरुषान् विपुलेन पुष्पवस्त्रगंधमाल्यालङ्कारेण सत्कारयति २ प्रतिविसृजति । ततस्ते स्थानीयपुरुषा यत्रैव वैश्रमणो राजा तत्रैवोपागच्छन्ति २ वैश्रमणाय राज्ञे एतमर्थं निवेदयन्ति ।

(१) आस्वस्थान्—स्वास्थ्य प्राप्तान् गतिजनितश्रमाभावात् । विस्वस्थान्—विशेषरूपेण स्वास्थ्य—मधिगतान् सक्षोभाभावात् । सुखासनवरगतान्—सुखेन सुख वा आसनवर गतान् ।

पुरिसे—पुरुषों को। **सद्दावेति**—बुलाता है। **सद्दावित्ता**—बुला कर। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगा। **देवाणुप्पिया !**—हे भद्र पुरुषो ! **तुब्भे**—तुम लोग। **गच्छह णं**—जाओ। **दत्तस्स**—दत्त की। **धूयं**—पुत्री। **कण्हसिरीए**—कृष्णश्री की। **अत्तयं**—आत्मजा। **देवदत्तदारियं**—देवदत्ता दारिका—बालिका को। **पूसणंदिस्स**—पुष्यनन्दी। **जुवरण्णो**—युवराज के लिए। **भारियत्ताए**—भार्यारूप से। **वरेह**—मांगो। **जइ वि य**—और यद्यपि। **सा**—वह। **सयरज्जसुक्का**—स्वकीय राज्यलभ्या है अर्थात् यदि राज्य के बदले भी प्राप्त की जा सके तो भी ले लेनी योग्य है। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वह। **अब्भिंतरट्ठाणिज्जा**—अभ्यन्तरस्थानीय। **पुरिसा**—पुरुष। **वेसमणरण्णा**—वैश्रमण राजा के द्वारा। **एवं वुत्ता समाणा**—इस प्रकार कहे गये। **हट्ठतुट्ठा**—अत्यधिक हर्ष को प्राप्त हो। **करतल०**—हाथ जोड़। **जाव**—यावत्। **एयमट्ठं**—इस बात को। **पडिसुणेंति २**—स्वीकार कर लेते हैं, स्वीकार कर। **ण्हाया**—स्नान कर। **जाव**—यावत्। **सुद्धप्पावेसाइं**—शुद्ध तथा राजसभा आदि में प्रवेश करने के योग्य। **वत्थाइं पवरपरिहिया**—प्रधान-उत्तम वस्त्रों को धारण किये हुए। **जेणेव**—जहां। **दत्तस्स**—दत्त का। **गिहे**—घर था। **तेणेव**—वहां पर। **उवागया**—आगये। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **दत्ते**—दत्त। **सत्थवाहे**—सार्थवाह। **ते**—उन। **पुरिसे**—पुरुषों को। **एज्जमाणे**—आते हुओं को। **पासति**—देखता है। **पासित्ता**—देख कर। **हट्ठतुट्ठे**—बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने। **आसणाओ**—आसन से। **अब्भुट्ठेति**—उठता है, और। **सत्तट्ठपयाइं**—सात आठ पैर—कदम। **अब्भुगते**—आगे जाता है, तथा। **आसणेणं**—आसन से। **उवनिमंतेति**—निमन्त्रित करता है अर्थात् उन्हें आसन पर बैठने की प्रार्थना करता है। **उवनिमंतेत्ता**—इस प्रकार निमन्त्रित कर, तथा। **आसत्थे**—आश्वस्थ अर्थात् गतिजन्य श्रम के न रहने से स्वास्थ्य—शान्ति को प्राप्त हुए। **विसत्थे**—विश्वस्थ अर्थात् मानसिक क्षोभाभाव के कारण विशेष रूप से स्वास्थ्य को प्राप्त हुए। **सुहासणवरगते**—सुखपूर्वक उत्तम आसनों पर बैठे हुए। **ते**—इन। **पुरिसे**—पुरुषों के प्रति। **एवं वयासी**—इस प्रकार बोला। **देवाणुप्पिया !**—हे महानुभावो ! **संदिसंतु णं**—आप फरमावें। **किमागमणपओयणं**—आप के आगमन का क्या हेतु है ?, अर्थात् आप कैसे पधारे हैं ?। **तते णं**—तदनन्तर। **ते**—वे। **रायपुरिसा**—राजपुरुष। **दत्तं सत्थवाहं**—दत्त सार्थवाह के प्रति। **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगे। **देवाणुप्पिया !**—हे महानुभाव ! **अम्हे णं**—हम। **तव**—तुम्हारी। **धूयं**—पुत्री। **कण्हसिरिअत्तयं**—कृष्णश्री की आत्मजा। **देवदत्तं**—देवदत्ता। **दारियं**—बालिका को। **पूसणंदिस्स**—पुष्यनन्दी। **जुवरण्णो**—युवराज के लिये। **भारियत्ताए**—भार्यारूप से। **वरेमो**—मांगते हैं ?। **तं**—अतः। **जति णं**—यदि। **देवाणुप्पिया**—आप महानुभाव। **जुत्तं वा**—युक्त—हमारी प्रार्थना उचित। **पत्तं वा**—प्राप्त—अवसरप्राप्त। **सलाहणिज्जं**—श्लाघनीय तथा। **संजोगो वा**—वधूवर का संयोग। **सरिसो वा**—समान—तुल्य। **जाणासि**—समझते हो। **ता**—तो। **दिज्जउ णं**—दे दो। **देवदत्ता**—देवदत्ता को। **जुवरण्णो**—युवराज। **पूसणंदिस्स**—पुष्यनन्दी के लिये। **भण**—कहो। **देवाणुप्पिया !**—हे महानुभाव ! आप को। **किं**—क्या। **सुक्कं**—शुल्क—उपहार। **दलयामो**—दिलवायें ?। **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **दत्ते**—दत्त। **ते**—उन। **अब्भिंतरट्ठाणिज्जे**—अभ्यन्तरस्थानीय। **पुरिसे**—पुरुषों के प्रति। **एवं वयासी**—इस प्रकार बोले। **देवाणुप्पिया !**—हे महानुभावो !। **एतं चेव**—यही। **ममं**—मेरे लिये। **सुक्कं**—शुल्क है। **जं णं**—जो कि। **वेसमणदत्ते राया**—महाराज वैश्रमणदत्त। **ममं**—मुझे। **दारियाणिमित्तेणं**—इस दारिका—बालिका के निमित्त से। **अणुगिण्हइ**—अनुगृहीत कर रहे हैं, इस प्रकार कहने के बाद। **ते**—उन। **ठाणपुरिसे**—स्थानीय पुरुषों का। **विउलेणं**—विपुल। **पुप्फ**—पुष्प। **वत्थ**—वस्त्र। **गंध**—सुगंधित द्रव्य। **मल्लालंकारेणं**—माला तथा अलंकार से। **सक्कारेति २**—सत्कार करता है, सत्कार कर के। **पडिविसज्जेति**—उन्हें विसर्जित करता है। **तते णं**—

तदनन्तर । ते—वे । ठाणेज्जपुरिसा स्थानीयपुरुष । जेणेव वेसमणे राया—जहां पर महाराज वैश्रमणदत्त थे । तेणेव -वहीं पर । उवागच्छन्ति २—आगये, आकर । वेसमणस्स वैश्रमणदत्त । रगणो –राजा को । एतमट्ठं—इस अर्थ का अर्थात् वहां पर हुई सारी बातचीत का । निवेदेति—निवेदन करते हैं ।

मूलार्थ – तदनन्तर महाराज वैश्रमणदत्त अश्ववाहनिका से—अश्वक्रीडा से वापिस आकर अपने अभ्यन्तरस्थानीय – अन्तरंग पुरुषों को बुलाते हैं, बुलाकर उन को इस प्रकार कहते हैं—

हे महानुभावो ! तुम जाओ, जाकर यहां के प्रतिष्ठित सेठ दत्त की पुत्री और कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता नाम की कन्या को युवराज पुष्यनन्दी के लिए भार्यारूप से मांग करो । यद्यपि वह स्वराज्यलभ्या है अर्थात् वह यदि राज्य दे कर भी प्राप्त की जा सके तो भी ले लेनी योग्य है ।

महाराज वैश्रमण की इस आज्ञा को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर के वे लोग स्नानादि कर और शुद्ध तथा राजसभादि में प्रवेश करने योग्य एवं उत्तम वस्त्र पहन कर जहां दत्त सार्थवाह का घर था, वहां जाते हैं । दत्त सेठ भी उन्हें आते देख कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट करता हुआ आसन से उठ कर उन के सत्कारार्थ सात आठ कदम आगे जाता है और उनका स्वागत कर आसन पर बैठने की प्रार्थना करता है । तदनन्तर गतिजनित श्रम के दूर होने से स्वस्थ तथा मानसिक क्षोभ के न रहने के कारण विशेष रूप से स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए एवं सुखपूर्वक उत्तम आसनों पर अवस्थित हो जाने पर उन आने वाले सज्जनों को दत्त सेठ विनम्र शब्दों में निवेदन करता हुआ इस प्रकार बोला—महानुभावो ! आप का यहां किस तरह से पधारना हुआ है ?, मैं आप के आगमन का हेतु जानना चाहता हूं । दत्त सार्थवाह के इस प्रकार कहने के अनन्तर उन पुरुषों ने कहा कि हम आप की पुत्री और कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता नाम की कन्या को युवराज पुष्यनन्दी के लिए भार्यारूप से मांग करने के लिये आये हैं । यदि हमारी यह मांग आप को संगत, अवसरप्राप्त, श्लाघनीय और इन दोनों का सम्बन्ध अनुरूप जान पड़ता हो तो देवदत्ता को युवराज पुष्यनन्दी के लिये दे दो, और कहो, आप को क्या शुल्क—उपहार दिलवाया जाय ? ।

उन अभ्यन्तरस्थानीय पुरुषों के इस कथन को सुन कर दत्त बोले कि महानुभावो ! मेरे लिये यही बड़ा भारी शुल्क है जो कि महाराज वैश्रमण दत्त मेरी इस बालिका को ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत कर रहे हैं । तदनन्तर दत्त सेठ ने उन सब का पुष्प, वस्त्र, गंध, माला और अलङ्कारादि से यथोचित सत्कार किया और उन्हें सम्मानपूर्वक विसर्जित किया । तदनन्तर वे स्थानीयपुरुष महाराज वैश्रमण के पास आये और उन्होंने उन को उक्त सारा वृत्तान्त कह सुनाया ।

टीका – मनोविज्ञान का यह नियम है कि मन सदा नवीनता की ओर झुकता है, नवीनता की तरफ आकर्षित होना उस का प्रकृतिसिद्ध धर्म है । किसी के पास पुरानी पुस्तक हो उसे कोई नवीन तथा सुन्दर पुस्तक मिल जावे तो वह उस पुरानी पुस्तक को छोड़ नई को स्वीकार कर लेता है, इसी प्रकार यदि किसी के पास साधारण वस्त्र है उसे कहीं से मन को लुभाने वाला नूतन वस्त्र मिल जाए तो वह पहले को त्याग देता है । एक व्यक्ति को साधारण—रूखा सूखा, भोजन मिल रहा है, इसके स्थान में यदि कोई दयालु पुरुष उसे स्वादिष्ट भोजन ला कर दे तो वह उसी की ओर ललचाता है । सारांश यह है कि चाहे कोई धार्मिक हो चाहे सांसारिक प्रत्येक व्यक्ति नवीनता और सुन्दरता की ओर आकर्षित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है । उन में अन्तर केवल इतना होगा कि धार्मिक व्यक्ति आत्मविकास में उपयोगी धार्मिक साधनों की नवीनता चाहता है और सांसारिक प्राणी संसारगत नवीनता की ओर दौड़ता है ।

रोहीतकनरेश वैश्रमणदत्त ने जब से परमसुन्दरी दत्त पुत्री देवदत्ता को देखा है तब से वे उसके अद्भुत रूप लावण्य पर बहुत ही मोहित से हो गये। उन की चित्तभित्ति पर कुमारी देवदत्ता की मूर्ति अमिट चित्र की भान्ति अंकित हो गई और वे इसी चिन्ता में निमग्न हैं कि किसी तरह से वह लड़की उसके राजभवन की लक्ष्मी बने। वे विचारते हैं कि यदि इस कन्या का सम्बन्ध अपने युवराज पुष्यनन्दी से हो जाए तो यह दोनों के अनुरूप अथच सोने पर सुहागे जैसा काम होगा। प्रकृति ने जैसा सुन्दर और सुगठित शरीर पुष्यनन्दी को दिया है वैसा ही अथवा उससे अधिक रूपलावण्य देवदत्ता को अर्पण किया है। तब दोनों की जोडी उत्तम ही नहीं किन्तु अनुपम होगी। जिस समय रूप लावण्य की अनुपम राशि देवदत्ता महार्ह वस्त्र-भूषणों से सुसज्जित हो साक्षात् गृहलक्ष्मी की भान्ति युवराज पुष्यनन्दी के वाम भाग में बैठी हुई राजभवन की शोभाश्री का अद्भुत उद्योत करेगी तो वह समय मेरे लिये कितना आनन्दवर्धक और उत्साह भरा होगा ?, इस की कल्पना करना भी मेरे लिये अशक्य है।

महाराज वैश्रमणदत्त के इन विचारों को यदि कुछ गम्भीरता से देखा जाय तो उन में पवित्रता और दीर्घदर्शिता दोनों का स्पष्ट आभास होता है। उन्होंने दत्त सेठ की पुत्री देवदत्ता को देखा और उस के अनुपम रूप लावण्य के अनुरूप अपने पुत्र को ठहराते हुए उस की युवराज पुष्यनन्दी के लिये याचना की है। इस से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि देवदत्ता के सौंदर्य का उन के मन पर कोई अनुचित प्रभाव नहीं पड़ा, तथा उन की मानसिक धारणा कितनी उज्ज्वल और मन पर उन का कितना अधिकार था ?, यह भी इस विचारसन्दोह से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है। महाराज वैश्रमणदत्त ने उसे हर प्रकार से प्राप्त करना चाहा परन्तु स्त्रीरूप से नहीं प्रत्युत पुत्रीसमान पुत्रवधू के रूप में। इस से महाराज के संयमित जीवन की जितनी भी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है।

इन विचारों के अनन्तर उन्होंने अपने अन्तरंग(१) पुरुषों को बुलाया और उन से दत्त सेठ के घर पर जा कर उस की पुत्री देवदत्ता को अपने राजकुमार पुष्यनन्दी के लिये मांगने को कहा। तदनुसार वे वहां गए और दत्त से उस की पुत्री देवदत्ता की याचना की। दत्त ने भी उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए उन्हें सम्मान-पूर्वक विदा किया, एवं उन्हों ने वापिस आकर महाराज वैश्रमणदत्त को सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

प्रस्तुत कथासंदर्भ से मुख्य दो बातों का पता चलता है, जो कि निम्नोक्त हैं —

१—प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि जिस लड़की का सम्बन्ध जिस लडके के साथ उचित जान पड़ता था, उसी के साथ करने के लिये लडकी के माता पिता से लड़की की याचना की जाती थी, जो कि अपवाद रूप न हो कर शिष्टजन सम्मत तथा अनुमोदित थी।

२—उस समय (जिस समय का यह कथासंदर्भ है) कन्याओं के बदले कुछ शुल्क—उपहार लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। महाराज वैश्रमण द्वारा भेजे गए अन्तरंग पुरुषों का दत्त के प्रति यह कहना कि कहिये क्या उपहार दिलायें ?, इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उस समय कन्याओं का किसी न किसी रूप में उपहार लेने को निन्द्य नहीं समझा जाता था। यदि उस समय यह प्रथा निन्द्य समझी जाती होती तो "दत्त" इस का जरूर निषेध करता। उसने तो इतना ही कहा कि मेरे लिये यही शुल्क काफी है जो महाराज मेरी कन्या को पुत्रवधू बना रहे हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय लड़की वाले को लड़के वालों की तरफ से

(१) अभ्यन्तर स्थान में रहने वाला पुरुष **अभ्यन्तरस्थानीय** कहा जाता है। **अभ्यन्तरस्थानीय** को **अन्तरंग** पुरुष भी कहा जाता है। अन्तरंग पुरुष दो तरह के होते हैं, सम्बन्धिजन और मित्रजन। दोनों का ग्रहण **अभ्यन्तरस्थानीय** शब्द से जानना चाहिये।

कुछ शुल्क देना अनुचित नहीं समझा जाता था ।

वर्तमान युग में इस शुल्क[1]—उपहार लेने की प्रथा को इस लिए निन्द्य समझा जाता है कि इससे अनेक प्रकार के अनर्थों को जन्म मिला है। वृद्धविवाह जैसी दुष्ट प्रथा को प्रगति मिलने का यही एक मात्र कारण है तथा अयोग्य वरों के साथ योग्य लड़कियों का सम्बन्ध भी इसी को आभारी है। इन्हीं कुपरिणामों के कारण यह प्रथा निन्द्य हो गई और इस लिये आज एक निर्धन कुलीन व्यक्ति अपनी लड़की के बदले लेना तो अलग रहा प्रत्युत लड़की के घर का (जहां लड़की व्याही गई हो) जल भी पीने को तैयार नहीं होता।

—**जइ वि सा सयरज्जसुक्का** – इन पदों का अर्थ वृत्तिकार – **यद्यपि सा स्वकीयराज्यशुल्का (स्वकीयं आत्मीयं राज्यमेव शुल्कं यस्याः सा) स्वकीयराज्यलभ्या इत्यर्थः** —इस प्रकार करते हैं अर्थात् अपना समस्त राज्य भी उसके बदले में दिया जाए तो कोई बड़ी बात नहीं। कहीं पर—**सयं रज्जसुक्का**—ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। इस का अर्थ है—यदि वह स्वयं राज्यशुल्का – पट्टरानी होने की भावना अभिव्यक्त करे तो भी ले लेनी योग्य है। **यदि सा स्वयं राज्यशुल्का पट्टराज्ञी भवितुमिच्छति तथापि तत्स्वीकृत्य तां वृणीष्वमिति भावः** ।

जिस का गतिजनित श्रम दूर हो गया है वह **आस्वस्थ** तथा जिस का हृदयसंक्षोभ—व्यग्रता (घबराहट) से रहित है उसे **विस्वस्थ** कहते हैं। **जुत्त वा पत्त वा सलाहणिज्ज वा सरिसो वा संजोगो**—इन का शाब्दिक अर्थविभेद टीकाकार के शब्दों में निम्नलिखित है—

—**जुत्तं त्ति –संगतम्। पत्त व त्ति—पात्र वा, अवसरप्राप्तं वा। सलाहणिज्जं त्ति श्लाघ्यमिदम्। सरिसो व त्ति—उचितः संयोगो वधूवरयोरिति**। अर्थात् **युक्त** संगत को कहते हैं। **पात्र** योग्य अथवा अवसरप्राप्त का नाम है अर्थात् ऐसे सम्बन्ध का यह समय है—इस अर्थ का बोधक **पात्र** शब्द है। **श्लाघनीय** श्लाघा—प्रशंसा के योग्य को कहते हैं। **सदृश** उचित और **संयोग** वधू वर के संबंध का नाम है। तात्पर्य यह है कि वर कन्या के संयोग में इन सब बातों के देखने की आवश्यकता होती है।

—**हट्ठ० करयल० जाव पयमट्ठे**—यहां के प्रथम बिन्दु से — **तुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया धाराहयकलंबुगं पिव समुस्ससियरोमकूवा**— इन पदों का ग्रहण करना चाहिये इन का अर्थ पृष्ठ २२७ तथा २२८ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये एक स्त्री के विशेषण हैं, जब कि प्रस्तुत में कौटुम्बिक पुरुषों के। लिंगगत तथा वचनगत भिन्नता के अतिरिक्त शेष अर्थगत कोई भेद नहीं है। तथा—**जाव** – यावत —पद से विवक्षित पाठ २४६ पर लिखा जा चुका है।

—**एहाया जाव सुद्धप्पवेसा**—यहां के **जाव**–यावत पद से—**कयबलिकम्मा कयकोउयमंगल-पायच्छित्ता**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद एकवचनांत हैं जब कि प्रस्तुत में बहुवचनान्त।

— **हट्ठतुट्ठ० आसणाओ**— यहां का बिन्दु पूर्वोक्त—**चित्तमाणंदिए**—से लेकर —**समुस्ससिय-रोमकूवे** - यहां तक के पदों का बोधक है। अन्तर मात्र इतना है कि प्रस्तुत में ये पद एकवचनान्त अपेक्षित हैं।

प्रस्तुत सूत्र में वैश्रमणदत्त नरेश के द्वारा परमसुन्दरी दत्तपुत्री देवदत्ता की याचना तथा दत्त की

---

(१) लड़की का शुल्क—उपहार लेने की प्रथा सभी कुलों में थी –ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगमों में ऐसे भी प्रमाण हैं जहां लड़की के लिये शुल्क नहीं भी दिया गया है। वासुदेव श्री कृष्ण ने अपने भाई गजसुकुमार के लिये सोमा की याचना की, परन्तु उस के उपलक्ष्य में किसी प्रकार का शुल्क दिया हो, ऐसा उल्लेख अन्तगड़ सूत्र में नहीं पाया जाता।

उस के लिये स्वीकृति देना आदि का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार देवदत्ता से सम्बन्ध रखने वाले अग्रिम वृत्तान्त का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से दत्ते गाहावती अन्नया कयाइ सोहणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्त-मुहुत्तंसि विउलं असणं ४ उवक्खडावेति २ मित्तनाति० आमंतेति। एहाते जाव पायच्छित्ते सुहासणवरगते तेणं मित्त० सद्धिं संपरिवुडे तं विउलं असणं ४ आसादेमाणे ४ विहरति। जिमियभुत्तुत्तरागते आयते ३ तं मित्तणाइ० विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेति २ सम्माणेइ २ देवदत्तं दारियं एहायं जाव विभूसियसरीरं पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूहेति २ सुबहुमित्त० जाव सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव नाइयरवेणं रोहीडगं णगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव वेसमणरण्णो गिहे जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छति २ करयल० जाव वद्धावेति २ वेसमणरण्णो देवदत्तं दारियं उवणेति। तते णं से वेसमणे राया देवदत्तं दारियं उवणीतं पासित्ता हट्ठतुट्ठ० विउलं असणं ४ उवक्खडावेति २ मित्तनाति० आमंतेति जाव सक्कारेति २ सम्माणेइ २ पूसणंदिकुमारं देवदत्तं दारियं च पट्टयं दुरूहेति २ सेयापीतेहिं[1] कलसेहिं मज्जावेति २ वरनेवत्थाइं करेति २ अग्गिहोमं करेति। पूसणंदिकुमारं देवदत्ताए पाणिं गेण्हावेति। तते णं से वेसमणदत्ते राया पूसणंदिस्स कुमारस्स देवदत्ताए सव्विड्ढीए जाव रवेणं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं पाणिग्गहणं कारवेति २ देवदत्ताए अम्मापियरो मित्त० जाव परियणं च विउलं असणं ४ वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेति २ सम्माणेइ २ पडिविसज्जेति।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। से—वह। दत्ते—दत्त। गाहावती—गाथापति—गृहपति। अन्नया—अन्यदा। कयाइ—कदाचित्। सोहणंसि—शुभ। तिहि—तिथि। करण—करण। दिवस—दिवस—दिन। णक्खत्त—नक्षत्र, और। मुहुत्तंसि—मुहूर्त में। विउलं—विपुल। असणं ४—अशनादिक।

(१) छाया—ततः स दत्तो गाथापतिः अन्यदा कदाचित् शोभने तिथिकरणदिवसनक्षत्रमुहूर्ते विपुलमशनं ४ उपस्कारयति २ मित्रज्ञाति० आमंत्रयति। स्नातो यावत् प्रायश्चित्तः सुखासनवरगतः तेन मित्र० सार्द्धं संपरिवृतः तद्विपुलमशनं ४ आस्वादयन् ४ विहरति। जिमितभुक्तोत्तरागतः आचान्तः ३ तं मित्रज्ञाति० विपुलेन पुष्पवस्त्रगंधमाल्यालंकारेण सत्कारयति २ सन्मानयति २ देवदत्तां दारिकां स्नातां यावद् विभूषितशरीरां पुरुषसहस्रवाहिनीं शिबिकामारोहयति २ सुबहुमित्र० यावत् सार्द्धं संपरिवृतः सर्वर्द्ध्या यावद् नादितरवेण रोहीतकं नगरं मध्यमध्येन यत्रैव वैश्रमणराजस्य गृहं यत्रैव वैश्रमणो राजा तत्रैवोपागच्छति २ करतल० यावद् वर्धयति २ वैश्रमणराजाय देवदत्तां दारिकामुपनयति। ततः स वैश्रमणो राजा देवदत्तां दारिकामुपनीतां दृष्ट्वा हृष्टतुष्ट० विपुलमशनं ४ उपस्कारयति २ मित्रज्ञाति० आमंत्रयति यावत् सत्कारयति २ सम्मानयति २ पुष्यनन्दिकुमारं देवदत्तां दारिकां पट्टमारोहयति २ श्वेतपीतैः कलशैर्मज्जयति २ वरनेपथ्यौ करोति २ अग्निहोमं करोति। पुष्यनन्दिकुमारं देवदत्तायाः पाणिं ग्राहयति। ततः स वैश्रमणो राजा पुष्यनन्दिना कुमारस्य देवदत्तायाः सर्वर्द्ध्या यावद् रवेण महता ऋद्धिसत्कारसमुदयेन पाणिग्रहणं कारयति २ देवदत्ताया अम्बापितरौ मित्र० यावत् परिजनं च विपुलमशनं ४ वस्त्रगन्धमाल्यालंकारेण च सत्कारयति २ प्रतिविसृजति।

(१) सेयापीएहिं—त्ति रजतसुवर्णमय इत्यर्थः। (वृत्तिकार)

उवक्खडावेति २—तैयार कराता है, तैयार करा कर । **मित्तणाति०**—मित्र और ज्ञातिजन आदि को। **आमंतेति**—आमन्त्रित करता है—बुलाता है। **ण्हाते**—स्नान कर । **जाव**—यावत् । **पायच्छित्ते**—दुष्ट स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिये मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक कार्य कर के । **सुहासणवरगते**—सुखासन पर स्थित हो। **तेण**—उस। **मित्त०**—मित्र, ज्ञाति, परिजन आदि के । **सद्धि**—साथ। **संपरिवुडे**—सपरिवृत—घिरा हुआ। **तं**—उस। **वि०** —विपुल—महान्। **असण ४**—अशनादिक चतुर्विध आहार का। **आसादेमाणे ४**—आस्वादनादि करता हुआ। **विहरति**—विहरण करता है। [1]**जिमियभुत्तुत्तरागते**—भोजन के अनन्तर वह उचित स्थान पर आया। **आ० ते ३**—आचान्त—आचमन किए हुए, चोक्ष—मुखगत लेपादि को दूर किये हुए, अतःएव परम शुचिभूत—परम शुद्ध हुआ वह। **तं**—उस। **मित्तणाइ०**—मित्र तथा ज्ञातिजन आदि का। **विउलेणं**—विपुल। **पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं**—पुष्प, वस्त्र, गंध, माला और अलंकार से। **सक्कारेति २**—सत्कार करता है, करके । **सम्माणेइ २**—सम्मान करता है, करके **देवदत्तं**—देवदत्ता। **दारियं**—बालिका को। **ण्हायं**—स्नान। **जाव**—यावत्। **विभूसियसरीरं**—समस्त आभूषणों द्वारा शरीर को विभूषित कर। **पुरिससहस्सवाहिणिं**—पुरुषसहस्रवाहिनी—हजार पुरुषों से उठाई जाने वाली। **सीयं**—शिविका—पालकी में। **दुरूहेति २**—आरूढ कराता है—बिठलाता है, बिठा कर । **बहुमित्त०**—बहुत से मित्र। **जाव**—यावत् ज्ञातिजनादि के। **सद्धि**—साथ। **संपरिवुडे**—सपरिवृत—घिरा हुआ। **सव्विड्ढीए**—सर्व प्रकार की ऋद्धि से। **जाव**—यावत्। **नाइयरवेणं**—नादितध्वनि से—बाजे गाजों के साथ। **रोहीडयं**—रोहीतक। **णगरं**—नगर के। **मज्झमज्झेणं**—बीचों बीच। **जेणेव**—जहां। **वेसमणरणो**—महाराज वैश्रमण राजा का। **गिहे**—घर था, और। **जेणेव**—जहां पर। **वेसमणे**—वैश्रमण। **राया**—राजा था। **तेणेव**—वहीं पर। **उवागच्छति २**—आजाता है, आकर। **करयल०**—हाथ जोड़ । **जाव**—यावत्। **वद्धावेति २**—बधाई देता है, बधाई दे कर। **वेसमणदत्तं रण्णो**—वैश्रमणदत्त राजा को। **देवदत्तं**—देवदत्ता। **दारियं**—दारिका को। **उवणेति**—अर्पण कर देता है **तते णं**—तदनन्तर। **से**—वह। **वेसमणे**—वैश्रमण। **राया**—राजा। **उवणीतं**—लाई हुई। **देवदत्तं**—देवदत्ता। **दारियं**—दारिका—बालिका को। **पासित्ता**—देख कर। **हट्ठतुट्ठे**—प्रसन्न होता हुआ। **विउलं**—विपुल । **असण ४**—अशनादि को। **उवक्खडावेति २**—तैयार कराता है, तैयार करा कर। **मित्तणाति०**—मित्र तथा ज्ञातिजन आदि को । **आमंतेति**—आमंत्रित करता है । **जाव**—यावत्। **सक्कारेति २**-सत्कार करता है, करके। **सम्माणेइ २**—सम्मान करता है, करके। **पूसणंदिकुमारं**—कुमार पुष्यनन्दी। **देवदत्तं दारियं च**—और देवदत्ता बालिका को। **पट्टयं**—पट्टक अर्थात् फलक पर। **दुरुहेति २**—बिठलाता है, बिठला कर । **सेयपीतेहिं**—श्वेत और पीत—सफेद और पीले। **कलसेहिं**—कलशों से। **मज्जावेति २**—स्नान कराता है, स्नान कराने के अनन्तर। **वरनेवत्थाइं करेति २**—उन को सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत किया, करके। **अग्गिहोमं**—अग्निहोम—हवन। **करेति**—करता है, तदनन्तर। **पूसणंदिकुमारं**—कुमार पुष्यनन्दी को। **देवदत्ताए**—देवदत्ता का। **पाणिं**—हाथ। **गिण्हावेति**—ग्रहण कराता है। **तते णं**-तदनन्तर। **से**—वह । **वेसमणदत्ते**—वैश्रमणदत्त। **राया**—राजा। **पूसणंदिस्स**—पुष्यनन्दी। **कुमारस्स**—कुमार को, तथा। **देवदत्ताए**—देवदत्ता को। **सव्विड्ढीए**—सर्व ऋद्धि। **जाव**—यावत्। **रवेणं**—वादित्रादि के शब्द से। **महया**—महान् । **इड्ढिसक्कारसमुदएणं**—ऋद्धि—धनधान्यादि सम्पत्ति और सत्कार—सम्मान के समुदाय—महानता से। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण—विवाहसंस्कार । **कारवेति**—कराता है, विवाह करा कर अर्थात् उक्त विधि से

(१) इस पद का अर्थ पृष्ठ २२१ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां यह स्त्रियों का विशेषण है, जब कि प्रस्तुत में एक पुरुष का ।

विवाहसस्कार सम्पन्न हो जाने के बाद। देवदत्ताए—देवदत्ता के। अम्मापियरो—माता पिता और उन के। मित्त०—मित्र। जाव—यावत्। परियणं च—परिजन को। विउलेणं—विपुल—पर्याप्त। असण० ४—अशनादिक, तथा। वत्थगंधमल्लालंकारेण य—वस्त्र, गध, माला और अलकारादि से। सक्कारेंति २—सत्कार करता है, सत्कार कर के। सम्माणेंति २—सम्मान करता है, करके, उन सब को। पडिविसज्जेंति—विसर्जित करता है—विदा करता है।

मूलार्थ—किसी अन्य समय दत्त गाथापति—गृहस्थ शुभ तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र और मुहूर्त मे विपुल अशनादिक सामग्री तैयार करा कर मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धी आदि को आमन्त्रित कर स्नान यावत् दुष्ट स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिये मस्तक पर तिलक और अन्य मांगलिक कार्य करके सुखप्रद आसन पर स्थित हो उस विपुल अशनादिक का मित्र, ज्ञाति, स्वजन, सम्बन्धी एव परिजनों के साथ आस्वादन, विस्वादन आदि करने के अनन्तर, उचित स्थान पर बैठ [1]आचान्त, चोक्ष और परमशुचिभूत हो कर मित्र, ज्ञातिजन आदि का विपुल पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला और अलकार से सत्कार करता है, सम्मान करता है। तदनन्तर स्नान करा कर यावत् शारीरिक विभूषा से विभूषित की गई कुमारी देवदत्ता को सहस्रपुरुषवाहिनी अर्थात् जिसे हजार आदमी उठा रहे हैं ऐसी शिविका मे बिठा कर अनेक मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों से घिरा हुआ सर्व ऋद्धि यावत् वादित्रादि के शब्दों के साथ रोहीतक नगर के मध्य मे से होता हुआ दत्त सेठ, जहा पर महाराज वैश्रमण का घर और जहा पर महाराज वैश्रमणदत्त विराजमान थे, वहा पर आया, आकर उस ने महाराज को दोनों हाथ जोड मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि कर के महाराज की जय हो, विजय हो, इन शब्दों से वधाई दी, वधाई देने के बाद कुमारी देवदत्ता को उनके अर्पण कर दिया, सौंप दिया।

महाराज वैश्रमण दत्त उपनीत—अर्पण की गई कुमारी देवदत्ता को देख कर बड़े प्रसन्न हुए, और विपुल अशनादिक को तैयार करा कर मित्रों ज्ञातिजनों, निजकजनों, सम्बन्धिजनों तथा परिजनों को आमन्त्रित कर उन्हे भोजनादि करा तथा उन का वस्त्र, गन्ध और माला अलकार आदि से सत्कार करते हैं, सम्मान करते हैं, सम्मान करने के अनन्तर कुमार पुष्यनन्दी और कुमारी देवदत्ता को फलक पर बिठा कर श्वेत और पीत अर्थात् चांदी और सुवर्ण के कलशों से उनका अभिषेक—स्नान कराते हैं, तदनन्तर उन्हे सुन्दर वेष भूषा से सुसज्जित कर, अग्निहोम—हवन कराते हैं, हवन के बाद कुमार पुष्यनन्दी को कुमारी देवदत्ता का पाणिग्रहण कराते हैं, तदनन्तर वह वैश्रमणदत्त नरेश कुमार पुष्यनन्दी और देवदत्ता का सम्पूर्ण ऋद्धि यावत् महान् वाद्यध्वनि और ऋद्धिसमुदाय तथा सम्मानसमुदाय के साथ दोनो का विवाह रचा डालते हैं। तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक बडे समारोह के साथ कुमार पुष्यनन्दी और कुमारी देवदत्ता का विवाहसस्कार सम्पन्न हो जाता है।

तदनन्तर देवदत्ता के माता पिता तथा उनके साथ आने वाले अन्य मित्रजनों, ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनो और परिजनों का भी विपुल अशनादिक तथा वस्त्र, गन्ध, माला और अलकारादि से सत्कार करते हैं, सम्मान करते हैं तथा सत्कार एव सम्मान करने के बाद उन्हे सम्मानपूर्वक विसर्जित अर्थात् विदा करते हैं।

---

(१) कुल्ला—कुल्ली करने वाले को आचान्त कहते हैं। मुह में लगे हुए भक्त—भोजन के अंश को जिस ने साफ कर लिया है, वह चोक्ष कहलाता है, तथा परम शुद्ध (जिस का मुख बिल्कुल साफ हो) को परम शुचिभूत कहा जाता है।

टीका—जिस तरह एक क्षुधातुर व्यक्ति क्षुधा दूर करने के साधनों को ढूंढता है और प्रयत्न करने मे उन के मिल जाने पर परम आनन्द को प्राप्त होता है तथा अपने को बड़ा पुण्यशाली मानता है, ठीक उसी प्रकार महाराज वैश्रमण भी परम सुन्दरी और परमगुणवती कुमारी देवदत्ता को अपनी पुत्रवधू बनाने की चिन्ता से व्याकुल थे, परन्तु अन्तरंग पुरुषों से "—देवदत्ता के पिता सेठ दत्त ने राजकुमार पुष्यनन्दी को अपना जामाता बनाना स्वीकार कर लिया है—" यह सूचना प्राप्त कर, क्षुधातुर व्यक्ति को पर्याप्त भोजन मिल जाने पर जितने आनन्द का अनुभव होता है, उस से भी कहीं अधिक आनन्द का अनुभव उन्हों ने किया । वे अपनी भावी पुत्रवधू देवदत्ता के मोहक रूपलावण्य का ध्यान करते हुए पुलकित हो उठे । तदनन्तर वे अपने यहां विवाह की तैयारी का आयोजन करने में व्यस्त हो गये ।

इधर सेठ दत्त को भी हर्षातिरेक से निद्रा नहीं आती, जब से उसकी पुत्री कुमारी देवदत्ता के सम्बन्ध का महाराज वैश्रमणदत्त के राजकुमार पुष्यनन्दी से होना निश्चित हुआ, तब से वे फूले नहीं समाते । मेरी पुत्री देवदत्ता सेठानी न बन कर रानी, नहीं २ पट्टरानी बनेगी, यह कितने गौरव की बात है ?, उसे युवराज पुष्यनन्दी जैसा वर मिले, निस्सन्देह यह उसका अहोभाग्य है । उस का इस से अधिक सद्भाग्य क्या हो सकता है कि उसे महाराज वैश्रमण के सुन्दर और सर्वगुण सम्पन्न राजकुमार जैसे सुयोग्य वर की प्राप्ति का अवसर मिला ?, अस्तु, अब जहां तक बने इस का जल्दी ही विवाह कर देना चाहिये, कारण कि इस सम्बन्ध में कोई दग्धहृदय बाधा न डाल दे तथा अपनी लड़की देवदत्ता भी अब विवाह योग्य हो गई है और विवाहयोग्य होने पर लड़की को घर में रखना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, तथा ऐसी अवस्था में उस का ससुराल में अपने पति के पास रहना ही श्रेयस्कर है, इत्यादि सोच विचार करने के अनन्तर अपनी भार्या कृष्णश्री की अनुमति ले कर शुभ (१)तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र और शुभ मुहूर्त में देवदत्ता के विवाह का कार्य आरम्भ कर दिया ।

सब से प्रथम उसने नाना प्रकार की भोज्य तथा खाद्य सामग्री एकत्रित कराई, तथा अपने मित्रों ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों को आमंत्रित किया । उन के आने पर उन सब का उचित स्वागत किया और विविध प्रकार से तैयार किये गये भोज्य पदार्थों को प्रस्तुत करके उन के साथ सहभोज में सम्मिलित हुआ अर्थात् अपने सभी मित्र आदि के साथ बैठ कर प्रीतिभोजन किया । तदनन्तर सब के उचित स्थान पर एकत्रित हो जाने पर विपुल वस्त्र पुष्प और गंध तथा माला अलंकारादि से उन सब का यथोचित सत्कार किया । इस प्रकार विवाह के पूर्व होने वाला सहभोजन या प्रीतिभोजन आदि कार्य सम्पूर्ण हुआ ।

तदनन्तर कुमारी देवदत्ता को स्नान करा यावत् वस्त्रभूषणादि से अलंकृत करके हजार आदमियों से उठाई जाने वाली एक सुन्दर पालकी में बिठा कर अपने अनेक मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों एवं परिजनों को साथ ले कर बड़े समारोह के साथ दत्त सेठ ने महाराज वैश्रमनदत्त के राजमहल की ओर प्रस्थान किया और वहां जाकर महाराज को बधाई दी और देवदत्ता को उन के अर्पण कर दिया ।

महाराज वैश्रमणदत्त परम सुन्दरी कुमारी देवदत्ता को देख कर बड़े प्रसन्न हुए । उन्हों ने भी अपने मित्रों ज्ञातिजनों, निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनो को बुला कर उन्हें विविध प्रकार के भोजनों तथा गंध, पुष्प और वस्त्रालंकारादि से सत्कृत किया । तदनन्तर वर कन्या दोनों का अभिषेक करा और उत्तम वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर अग्निहोम कराया और विधिपूर्वक बड़ी धूमधाम के साथ उन का पाणि-

(१) चन्द्रकला से युक्त काल अथवा चान्द्र दिवस **तिथि** कहलाता है । ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध, बव बालव आदि ग्यारह की **करण** संज्ञा है । ज्योतिषशास्त्र में वर्णित दोषों से रहित दिन **दिवस** शब्द से ग्राह्य है । ज्योतिषशास्त्र विहित—अश्विनी, भरणी आदि २८ नक्षत्रों का **नक्षत्र** पद से ग्रहण होता है । दो घड़ी (४८ मिन्ट) समय अथवा ७७ लवों या ३७७३ श्वासोच्छ्वासपरिमित काल **मुहूर्त** कहा जाता है ।

ग्रहण—विवाह किया गया। विवाह हो जाने पर देवदत्ता के माता पिता और उन के साथ आने वाले उन के मित्रों, ज्ञातिजनों निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों को भी भोजनादि से तथा अन्य वस्त्राभूषणादि से सत्कृत कर के महाराज वैश्रमणदत्त ने सम्मानपूर्वक विदा किया। इस प्रकार कुमारी देवदत्ता और राजकुमार पुष्यनन्दी का विवाह हो जाने पर सेठ दत्त और महाराज वैश्रमण दोनों ही निश्चिन्त होगये।

कन्या को सुसराल में ले जाकर विवाह करने की उस समय की प्रथा थी। दक्षिण प्रांत के किन्हीं देशों में आज भी इस प्रथा का कुछ रूपान्तर से प्रचलन सुनने में आता है। देशभेद और कालभेद से अनेक विभिन्न सामाजिक प्रथायें प्रचलित हैं इन में आशंका या आपत्ति को कोई स्थान नहीं।

अग्निहोम—अग्नि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक घृतादिमिश्रित सामग्री के प्रक्षेप को **अग्निहोम** कहते हैं। यह विवाहविधि का उपलक्षण है। भारतीय सभ्यता में अग्नि को साक्षी रख कर पाणिग्रहण—विवाह करने की मर्यादा व्यापक अथच चिरन्तन है।

—**असण०** ४—यहां के अंक से **पाणखाइमसाइमेण**—इस पाठ का ग्रहण करना चाहिये। तथा—**मित्त-नाति० आमंतेति**—यहां का बिन्दु **नियगसयणसम्बन्धिपरिजणं**—इस पाठ का परिचायक है। मित्र आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १५० की टिप्पण में लिख दिया गया है। तथा—**एहाते जाव पायच्छित्ते**—यहां के **जाव-यावत्** पद से—**कयबलिकम्मे, कयकोउयमंगल**—इस पाठ का ग्रहण करना चाहिये। कृतबलिकर्मा आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर लिखा गया है। तथा—**मित्त० सद्धिं**—यहां का बिन्दु—**णाइ—णियग—सयण—सम्बन्धि—परिजणेण**—इस पाठ का बोधक है। तथा—**आसाएमाणे** ४—यहां के अंक से अभिमत पाठ पृष्ठ २५० पर लिखा जा चुका है। तथा—**आयन्ते** ३—यहां के अंक से—**चोक्खे परमसुइभूए** इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। **आचान्त** आदि पदों का अर्थ पदार्थ में दे दिया गया है।

—**एहायं जाव विभूसियसरीरं**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से—**कयबलिकम्मं कयकोउय-मंगलपायच्छित्तं सव्वालंकार**—इन पदों का ग्रहण समझना चाहिये। **कृतबलिकर्मा** आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७६ तथा १७७ पर लिखा गया है। अन्तर मात्र इतना है वहां ये पद प्रथमान्त हैं जब कि प्रस्तुत में द्वितीयान्त। तथा—**सव्वालंकारविभूसियसरीर**—का अर्थ पदार्थ में किया जा चुका है।

—**सव्विड्ढीए जाव नाइयरवेणं**—यहां के **जाव-यावत्** पद से—**सव्वजुईए सव्वबलेणं, सव्वसमुदएणं सव्वायरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगन्धमल्लालंकारेणं सव्वतुडियसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए महया जुईए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं संख—पणव पडह—भेरि—झल्लरि—खरमुहि—हुडुक्क—मुरय—मुयग—दुंदुहि—णिग्घोस**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। इन का अर्थ निम्नोक्त है—

सर्व प्रकार की आभरणादिगत द्युति—कान्ति से अथवा सब वस्तुओं के सम्मेलन से, सर्वसैन्य से, सर्वसमुदाय से अर्थात् नागरिकों के समुदाय से सर्व प्रकार के आदर से अथवा औचित्यपूर्ण कार्यों के सम्पादन से, सर्व प्रकार की विभूति—सम्पत्ति से, सर्व प्रकार की शोभा से, सर्व प्रकार के संभ्रम—आनन्दजन्य उत्सुकता से, सर्व प्रकार के पुष्प, गन्ध—गन्धयुक्त पदार्थ, माला एवं अलकारों से और सर्व प्रकार के वादित्रों के मेल से जो शब्द उत्पन्न होता है, उस मिले हुए महान् शब्द से अर्थात् बाजों की गडगडाहट से तथा महती ऋद्धि

---

(१) प्रस्तुत में एक आशंका होती है कि जब ऋद्धि आदि के साथ पहले सर्व शब्द का संयोजन किया हुआ है, फिर उन के साथ महान् शब्द के संयोजन की क्या आवश्यकता थी ?, इस का उत्तर टीकाकार श्री अभयदेव सूरि के शब्दों में—**अल्पेष्वपि ऋद्धयादिषु सर्वशब्दप्रवृत्तिर्दृष्टा, अत आह—महता इड्ढीए**—इस प्रकार

से, महती कान्ति से, महान् सैन्यादि रूप बल से, महान् समुदाय से अनेक प्रकार के सुन्दर २ साथ २ बजते हुए शंख (वाद्यविशेष), पणव—ढोल, पटह—बड़ा ढोल (नक्कारा), भेरी—वाद्यविशेष, झल्लरि—वलयाकार-वाद्यविशेष (झालर) खरमुखी—वाद्यविशेष, हुडुक्क—वाद्यविशेष, मुरज—वाद्यविशेष, मृदंग—एक प्रकार का बाजा, जो ढोलक से कुछ लम्बा होता है (तबला), दुंदुभि—वाद्यविशेष के शब्दों की प्रतिध्वनि के साथ ।

—**करयल जाव वद्धावेंति**—यहां के जाव-यावत् पद से—**परिग्गहियं दसणहं अंजलिं मत्थए कट्टु वेसमणं रायं जएणं विजएणं**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये । इन का अर्थ मूलार्थ में कर दिया गया है ।

—**हट्ठतुट्ठ० विउलं**—यहां के बिन्दु से—**चित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिस-वसविसप्पमाणहियए धाराहयकलंबुगं पिव समुस्ससियरोमकूवे**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये । इन का अर्थ पृष्ठ २२७ तथा २२८ पर लिखा जा चुका है । अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये एक स्त्री के विशेषण हैं जब कि प्रस्तुत में एक पुरुष के । अर्थगत कोई भिन्नता नहीं है ।

—**आमंतेति जाव सक्कारेति**—यहां के पठित जाव-यावत् पद से पृष्ठ ५०४ पर पढ़े गये—**ण्हाते जाव पायच्छित्ते, सुहासणवरगते**—से ले कर—**जाव अलंकारेणं**—यहां तक के पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । तथा—**मित्त० जाव परिजणं**—यहां के जाव-यावत् पद से—**णाइ—णियग सयण—संबन्धि**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये ।

प्रस्तुत में युवराज पुष्यनन्दी का देवदत्ता के साथ विवाह बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ, यह वर्णन किया गया है । तदनन्तर क्या हुआ ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तते णं से पूसणंदिकुमारे देवदत्ताए दारियाए सद्धिं उप्पिं पासायवरगते फुट्ट-माणेहिं मुयंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धनाडएहिं जाव विहरइ । तते णं से वेसमणे राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते । नीहरणं जाव राया जाए पूसणंदी । तते णं से पूसणंदी राया सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्था । कल्लाकल्लिं जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ २ सिरीए देवीए पायवडणं करेति । सतपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगावेति । अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहावेति । सुरहिणा गंधवट्टएणं उव्वट्टावेति २ तिहिं उदएहिं मज्जावेति, तंजहा—उसिणोदएणं सीओदएणं गंधोदएणं । विउलं**

है, अर्थात् सर्व शब्द का प्रयोग अल्प अर्थ में भी उपलब्ध होता है । अतः प्रस्तुत में ऋद्धि आदि की महत्ता दिखलाने के लिए सूत्रकार ने ऋद्धि आदि शब्दों के साथ महता इस पद का प्रयोग किया है ।

(१) छाया—ततः स पुष्यनन्दिकुमारो देवदत्तया दारिकया सार्द्धमुपरि प्रासादवरगतः स्फुटद्भिः मृदंगमस्तकैः द्वात्रिंशद्बद्धनाटकैः यावद् विहरति । ततः स वैश्रमणो राजा अन्यदा कदाचित् कालधर्मेण संयुक्तः निस्सरणं यावद् राजा जातः पुष्यनन्दी । ततः स पुष्यनन्दी राजा श्रियो देव्याः मातृभक्तश्चाप्यभवत् कल्याकल्यि यत्रैव श्रीर्देवी तत्रैवोपागच्छति २, श्रियो देव्याः पादपतनं करोति, शतपाकसहस्रपाकाभ्यां तैलाभ्यामभ्यंगयति । अस्थिसुखया मांससुखया त्वक्सुखया रोमसुखया चतुर्विधया संवाहनया संवाहयति । सुरभिणा गन्धवर्तकेनोद्वर्तयति २ त्रिभिरुदकैर्मज्जयति, तद्यथा—उष्णोदकेन शीतोदकेन, गन्धोदकेन । विपुलमशन भोजयति, श्रिया देव्या स्नातायां यावत् प्रायश्चित्तायां यावत् जिमितभुक्तोत्तरागतायां ततः पश्चात् स्नाति वा भुङ्क्ते वा उदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति ।

असणं ४ भोयावेति। सिरीए देवीए रहायाए जाव पायच्छित्ताए जाव जिमियभुत्तुत्तरागयाए ततो पच्छा रहाति वा भुंजति वा उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। से—वह। पूसणंदिकुमारे—कुमार पुष्यनन्दी। देवदत्ताए—देवदत्ता। भारियाए—भार्या के। सद्धिं—साथ। उप्पिं—ऊपर। पासायवरगए—उत्तम महल में ठहरा हुआ। फुट्टमाणेहिं मुयंगमत्थएहिं—बज रहे हैं मृदंग जिन में, ऐसे। बत्तीसइबद्धनाडएहिं—३२ प्रकार के नाटकों द्वारा। जाव—यावत्। विहरति—विहरण करता है। तते णं—तदनन्तर। से—वह। वेसमणे—वैश्रमण। राया—राजा। अन्नया—अन्यदा। कयाइ—कदाचित्—किसी समय। कालधम्मुणा—कालधर्म से। संजुत्ते—युक्त हुआ—काल कर गया। नीहरणं—निस्सरण—अरथी का निकालना। जाव—यावत्। पूसणंदी—पुष्यनन्दी। राया—राजा। जाए—बन गया। तते णं—तदनन्तर। से—वह। पूसणंदी—पुष्यनन्दी। राया—राजा। सिरीए—श्री। देवीए—देवी का। मायाभत्ते—मातृभक्त—वह माता अर्थात्—"मान्यते पूज्यते इति माता—" पूज्या है, इस बुद्धि से भक्त। यावि—भी। होत्था—था। कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन। जेणेव—जहां। सिरीदेवी—श्री देवी थी। तेणेव—वहां पर। उवागच्छइ २—आता है आकर। सिरीए—श्री। देवीए—देवी के। पायवंदणं—पादवन्दन। करेति—करता है, और। सतपागसहस्सपागतेल्लेहिं—शतपाक और सहस्रपाक अर्थात् एक शत और एक सहस्र औषधियों के सम्मिश्रण से बनाये हुए तैलों से। अब्भगावेति—मालिश करता है। अट्ठिसुहाए—अस्थि को सुख देने वाले। मंससुहाए—मांस को सुखकारी। तयासुहाए—त्वचा को सुखप्रद। रोमसुहाए—रोमों को सुखकारी, ऐसी। चउव्विहाए—चार प्रकार की। संवाहणाए—संवाहना—अंगमर्दन से। संवाहावेति—सुख—शान्ति पहुंचाता है। सुरहिणा—सुरभि-सुगन्धित। गंधवट्टएणं—गन्धवर्तक—वटने से। उव्वट्टावेति—उद्वर्तन करता है—अर्थात् वटना मलता है। तिहिं उदएहिं—तीन प्रकार के उदकों—जलों से। मज्जावेति—स्नान कराता है। तंजहा—जैसे कि। उसिणोदएणं—उष्ण जल से। सीओदएणं—शीत जल से। गंधोदएणं—सुगंधित जल से, तदनन्तर। विउलं—विपुल। असणं ४—चार प्रकार के अशनादिकों का। भोयावेति—भोजन कराता है इस प्रकार। सिरीए—श्री। देवीए—देवी के। ण्हायाए—नहा लेने। जाव—यावत्। पायच्छित्ताए—अशुभ स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिये मस्तक पर तिलक एवं अन्य मांगलिक कार्य कर के। जाव—यावत्। [1]जिमियभुत्तुत्तरागयाए—भोजन के अनन्तर अपने स्थान पर आ चुकने पर और वहां कुल्ली तथा मुखगत लेप को दूर कर परमशुद्ध हो एवं सुखासन पर बैठ जाने पर। तता पच्छा—उस के पीछे से। ण्हाति वा—स्नान करता है। भुंजति—भोजन करता है। उरालाइं—उदार—प्रधान। माणुस्सगाइं—मनुष्यसम्बन्धी। भोगभोगाइं—भोगभोगों का, अर्थात् मनोज्ञ शब्द, रूपादि विषयों का। भुंजमाणे—उपभोग करता हुआ। विहरति—विहरण करता है।

मूलार्थ—राजकुमार पुष्यनन्दी श्रेष्ठीपुत्री देवदत्ता के साथ उत्तम प्रासाद में विविध प्रकार के वाद्य और जिन में मृदंग बज रहे हैं ऐसे ३२ प्रकार के नाटकों द्वारा उपगीयमान—प्रशंसित होते हुए यावत् सानन्द समय विताने लगे। कुछ समय बाद महाराज वैश्रमण कालधर्म को प्राप्त हो गये। उन की मृत्यु पर शोकग्रस्त पुष्यनन्दी ने बड़े समारोह के साथ उन का निस्सरण किया यावत् मृतक कर्म कर के प्रजा के अनुरोध से राज्यसिंहासन पर आरूढ हुए, तब से ले कर वे युवराज से राजा बन गये।

राजा बनने के अनन्तर पुष्यनन्दी अपनी माता श्री देवी की निरन्तर भक्ति करने लगे। वे

---

(१) इस पद का सविस्तर अर्थ पृष्ठ २२१ पर किया जा चुका है।

प्रतिदिन माता के पास जाकर उसके चरणों मे प्रणाम कर तदनन्तर शतपाक और सहस्रपाक तैलो की मालिश से अस्थि, मांस त्वचा और रोमों को सुखकारी ऐसी चार प्रकार की संवाहनक्रिया से शरीर का सुख पहुंचाते। तदनन्तर गंधवर्तक बटने से शरीर का उद्वर्तन कर उष्ण, शीत और सुगन्धित जलों से स्नान कराते, उसके बाद विपुल अशनादि का भोजन कराते, भोजन कराने के बाद जब वह श्रीदेवी सुखासन पर विराजमान हो जाती तब पीछे से वे स्नान करते और भोजन करते तदनन्तर मनुष्यसम्बन्धी उदार भोगों का उपभोग करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

टीका - प्रस्तुत सूत्र में अन्य बातों के अतिरिक्त मातृसेवा का जो आदर्श उपस्थित किया गया है, वह अधिक शिक्षाप्रद है। पिता के स्वर्गवास के अनन्तर राज्यसिंहासन पर आरूढ होने के बाद पुष्यनन्दी ने अपने आचरण से मातृसेवा का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, वह शाब्दिक रूप से मातृभक्त बनने या कहलाने वाले पुत्रों के लिये विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। घर मे अनेक दास दासियों के रहते हुए भी अपने हाथ से माता की सेवा करना तथा उन को सप्रेम भोजनादि करा देने के बाद स्वयं भोजन करना आदि जितनी भी बातों का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है, उस पर से पुष्यनन्दी को आदर्श मातृभक्त कहना वा मानना उस के सर्वथा अनुरूप प्रतीत होता है। सूत्रगत—"सिरीए देवीए मायाभत्ते यावि होत्था"—यह पाठ भी इसी बात का समर्थन करता है।

—**बत्तीसइबद्ध नाडएहिं जाव विहरति**—यहां पठित **जाव यावत्** पद से—**णाणाविहवरतरुणीसंपउत्तेहिं उवनच्चिज्जमाणे २ उवगिज्जमाणे २ उवलालिज्जमाणे २ पाउसा—वासारत्त—सरद—हेमन्त—वसन्त—गिम्ह—पज्जन्ते छप्पि उदु जहाविभवेणं माणमाणे २ कालं गालेमाणे २ इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगन्धे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणे**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ निम्नोक्त है—

परम सुन्दरी युवतियों के साथ बत्तीस प्रकार के नाटकों से उपनृत्यमान—जो नृत्य कर रहा है, उपगीयमान—प्रशंसित अर्थात् जिस का गुणग्राम हो रहा है, उपलाल्यमान—उपलालित (क्रीडित) वह पुष्यनन्दी कुमार प्रावृट्—वर्षा ऋतु अर्थात् चौमासा वर्षारात्र—श्रावण और भादों का महीना, शरद्—आसोज और कातिक का महीना हेमन्त—मार्गशीर्ष तथा पोष का महीना वसंत—चैत्र और वैशाख मास का समय और ग्रीष्म—ज्येष्ठ और आषाढ मास का समय, इन छः ऋतुओं का यथाविभव अपने ऐश्वर्य के अनुसार अनुभव करता हुआ, आनन्द उठाता हुआ और समय व्यतीत करता हुआ एवं पांच प्रकार के इष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श विषयक मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों का उपभोग करता हुआ जीवन व्यतीत करने लगा।

—**नीहरणं जाव राया**—यहां का नीहरण शब्द अरथी निकालने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और यह—**तए णं से पूसणंदिकुमारे बहुहिं राईसर—तलवर—माडम्बिय—कोडुम्बिय—इब्भ—सेट्ठि—सत्थवाहप्पभिईहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कन्दमाणे विलवमाणे वेसमणस्स रण्णो महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं**—इन पदों का परिचायक है। तथा—**जाव—यावत्** पद से—**करेति २ बहुइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, तए णं ते बहवे राईसर—तलवर—माडम्बिय—कोडुम्बिय-इब्भ-सेट्ठि—सत्थवाहा पूसनन्दिकुमारं महया रायाभिसेएणं अभिसिंचन्ति। तए णं**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। अर्थात् महाराज वैश्रमण की मृत्यु के अनन्तर बहुत से राजा, [1]ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, सेठ और सार्थवाह आदि से घिरा हुआ पुष्यनन्दी कुमार रुदन, क्रन्दन और विलाप करता हुआ महान् ऋद्धि और सत्कार

(१) ईश्वर, तलवर—आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ १६५ पर लिखा जा चुका है।

समुदाय के साथ महाराज वैश्रमणदत्त के शव को बाहिर ले जा कर श्मशान पहुंचाता है। तदनन्तर अनेकों लौकिक मृतक सम्बन्धी कृत्य करता है। तदनन्तर राजा, ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी और सार्थवाह मिल कर पुष्यनन्दी कुमार का महान समारोह के साथ राज्याभिषेक करते हैं। तब से पुष्यनन्दी कुमार राजा बन गया।

[1]शतपाक - के चार अर्थ होते हैं, जैसे कि -(१) जिस में प्रक्षिप्त औषधियों का सौ बार पाक किया गया हो। (२) जो सौ औषधियों से पका हुआ हो। (३) जिस तेल को सौ बार पकाया जाए। ४) अथवा जो सौ रुपये के मूल्य से पकाया जाता हो। इसी प्रकार सहस्रपाक के अर्थों की भावना कर लेनी चाहिये।

संवाहना—अंगमर्दन का नाम है। इस से चार प्रकार का शारीरिक लाभ होता है। इस के प्रयोग से अस्थि, मांस, त्वचा और रोमों को सुख प्राप्त होता है अर्थात् इन चारों का उपबृंहण होता है। इसी लिये सूत्रकार ने "—[2]अट्ठिसुहाए मंससुहाए, तयासुहाए, रोमसुहाए—" यह उल्लेख किया है।

किसी २ प्रति में —अट्ठिसुहाए मं० तया० चम्म० रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए—" ऐसा पाठ है, परन्तु यह पाठ ठीक प्रतीत नहीं होता। जब सूत्रकार स्वयं चार प्रकार की संवाहना कहते हैं तो फिर पांच प्रकार (अस्थि, मांस, त्वचा, चर्म, रोम) की संवाहना कैसे संभव हो सकती है?, दूसरी बात—त्वच से ही चर्म का ग्रहण हो सकता है। अतः पाठ में चम्म—चर्म का अधिक अथच अनावश्यक सन्निवेश किया गया है।

तथा "—गंधवट्टएणं—गन्धवर्तकेन—" इस का अर्थ टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने "गन्धचूर्णेन" अर्थात् गंधचूर्ण किया है, जिस का तात्पर्य सुगन्धित चूर्ण अर्थात् उबटना—वटना है।

—असण ४—यहां के अंक से अभिमत पद पृष्ठ २५० पर लिखे जा चुके हैं। तथा—ण्हाए जाव पायच्छित्ताए जाव जिमियभुत्तुत्तरागयाए—यहां पठित प्रथम—जाव—यावत् पद से—कयबलिकम्माए कयकोउयमंगल—इस पाठ का तथा द्वितीय जाव-यावत्—पद से—सुद्धप्पवेसाइं मंगलाइं पवराइं वत्थाइं परिहियाए अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीराए भोयणवेलाए भोयणमंडवंसि सुहासणवरगयाए असणपाणखाइमसाइमं आसाएमाणाए विसाएमाणाए परिभुंजेमाणाए परिभाएमाणाए—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। कयबलिकम्मादि पदों का अर्थ पृष्ठ १७६ तथा १८७ पर और सुद्धप्पवेसाइं—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ २२९ की टिप्पण में लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद प्रथमान्त हैं जब कि प्रस्तुत में षष्ठ्यन्त। विभक्तिगत तथा लिंगगत भेद के अतिरिक्त अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

प्रस्तुत सूत्र में राजकुमार पुष्यनन्दी का कुमारी देवदत्ता के साथ विवाह हो जाने के बाद मानवोचित सांसारिक मनोज्ञ विषयों का उपभोग करना, महाराज वैश्रमण की मृत्यु एवं रोहीतकनरेश पुष्यनन्दी का मातृभक्त करना आदि विषयों का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार देवदत्ता के हृदय में होने वाली विचारधारा का वर्णन करते हैं—

---

(१) १—शत पाकानाम् औषधिक्वाथानां पाके यस्य। २—औषधशतेन वा सह पच्यते यत्। ३—शतकृत्वो वा पाको यस्य। ४—शतेन वा रूप्यकाणां मूल्यतः पच्यते यत्तत् पाकशतम्। एवं सहस्रपाकमपि। (स्थानांगसूत्र—स्थान ३, उद्देश० १, सूत्र १३५, वृत्तिकारोऽभयदेवसूरिः) इस विषय में अधिक देखने के जिज्ञासु आयुर्वेदीय ग्रंथों के तैलपाकप्रकरणों को देख सकते हैं।

(२) अस्थ्नां सुखहेतुत्वात् अस्थिसुखया एवं मांससुखया त्वक्सुखया, रोमसुखया संवाधनया—संवाहनया (अंगमर्दनेन वा विश्रामणया) संवाहिता। (कल्पसूत्रकल्पलता वृत्ति)

मूल—[1]ततेणं तीसे देवदत्ताए देवीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणीए इमे एयारूवे अज्झत्थिए ५ समुप्पज्जित्था—एवं खलु पूसणंदी राया सिरीए देवीए माइभत्ते समाणे जाव विहरति। तं एएणं वक्खेवेणं नो संचाएमि अहं पूसणंदिणा रण्णा सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं सिरिं देविं अग्गिप्पओगेण वा सत्थप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा जीवियाओ ववरोवेत्ता पूसणंदिणा रण्णा सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणीए विहरित्तए, एवं संपेहेति २ सिरीए देवीए अन्तराणि य ३ पडिजागरमाणी २ विहरति। ततेणं सा सिरी देवी अन्नया कयाति [2]मज्जाविया विरहियसयणिज्जंसि सुहप्पसुत्ता जाया यावि होत्था। इमं च णं देवदत्ता देवी जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छति २ सिरिं देविं मज्जावियं विरहियसयणिज्जंसि सुहप्पसुत्तं पासति २ दिसालोयं करेति २ जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ २ लोहदंडं परामुसति २ लोहदंडं तावेति २ तत्तं समजोतिभूतं फुल्लंकिंसुयसमाणं संडासएणं गहाय जेणेव सिरी देवी तेणेव उवागच्छइ २ सिरीए देवीए अवाणंसि पक्खिवेति। तते णं सा सिरी देवी महता २ सद्देण आरसित्ता कालधम्मुणा संजुत्ता। तते णं तीसे सिरीए देवीए दासचेडिओ आरसियसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छन्ति २ देवदत्तं देविं ततो अवक्कममाणिं पासंति। जेणेव सिरी देवी तेणेव उवा-

---

(१) छाया—ततस्तस्या देवदत्ताया देव्या अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापररात्रकालसमये कुटुम्बजागरिकां जाग्रत्या अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः ५ समुदपद्यत—एवं खलु पुष्यनन्दी राजा श्रिया देव्या मातृभक्तः सन् यावद् विहरति, तदेतेनावक्षेपेण नो सशक्नोम्यहं पुष्यनन्दिना राज्ञा सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जाना विहर्तुम्। तच्छ्रेयः खलु मम श्रियं देवीमग्निप्रयोगेण वा शस्त्रप्रयोगेण वा विषप्रयोगेण वा जीविताद् व्यवरोप्य पुष्यनन्दिना राज्ञा सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानाया विहर्तुम्। एवं सम्प्रेक्षते २ श्रिया देव्या अन्तराणि च ३ प्रतिजाग्रती २ विहरति। ततः सा श्रीर्देवी अन्यदा कदाचित् मज्जिता विरहितशयनीये सुखप्रसुप्ता जाता चाप्यभवत्। इतश्च देवदत्ता देवी यत्रैव श्रीर्देवी तत्रैवोपागच्छति २ श्रियं देवीं मज्जितां विरहितशयनीये सुखप्रसुप्तां पश्यति २ दिशालोकं करोति २ यत्रैव भक्तगृहं तत्रैवोपागच्छति २ लोहदण्डं परामृशति २ लोहदण्डं तापयति २ तप्तं ज्योतिः समभूतं फुल्लकिंशुकसमानं सदंशकेन गृहीत्वा यत्रैव श्रीर्देवी तत्रैवोपागच्छति २ श्रिया देव्या अपाने प्रक्षिपति। ततः सा श्रीर्देवी महता २ शब्देनारस्य कालधर्मेण संयुक्ता। ततस्तस्याः श्रियो देव्या दासचेट्य आरसितशब्दं श्रुत्वा निशम्य यत्रैव श्रीर्देवी तत्रैवोपागच्छन्ति २ देवदत्तां देवीं ततोऽपक्रामन्तीं पश्यति। यत्रैव श्रीर्देवी तत्रैवोपागच्छन्ति २ श्रियं देवीं निष्प्राणां, निश्चेष्टां, जीवविप्रहीणां पश्यन्ति २, हा हा अहो! अकार्यमिति कृत्वा रुदत्य २ यत्रैव पुष्यनन्दी राजा तत्रैवोपागच्छन्ति २ पुष्यनन्दिराजमेवमवदन्—एष खलु स्वामिन्! श्रीर्देवी देवदत्तया देव्या अकाले एव जीविताद् व्यपरोपिता।

(२) टीकाकार अभयदेवसूरि **मज्जाविया** के स्थान पर **मज्जावीया** ऐसा पाठ मान कर उस का अर्थ **पीतमद्या**—अर्थात् जिस ने शराब पी रखी है—ऐसा करते हैं।

गच्छन्ति २ सिरिं देविं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवविप्पजढं पासंति २ हा हा अहो अकज्जमिति कट्टु रोयमाणीओ २ जेणेव पूसणंदी राया तेणेव उवागच्छन्ति २ पूसणंदिरायं एवं वयासी—एवं खलु सामी ! सिरी देवी देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जीवियाओ ववरोविया ।

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर । तीसे—उस । देवदत्ताए—देवदत्ता । देवीए—देवी के । अन्नया—अन्यदा । कयाइ—कदाचित् । पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि—म यरात्रि के समय । कुडुम्बजागरियं—कौटुम्बिक चिन्ता के कारण । जागरमाणीए—जागती हुई के । इमे—यह । एयारूवे—इस प्रकार का । अज्झत्थिते ५—सकल्प—विचार ५ । समुप्पज्जित्था—उत्पन्न हुआ । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । पूसणंदी—पुष्यनन्दी । राया—राजा । सिरीए देवीए माइभत्ते—श्रीदेवी का, यह पूज्या है, इस बुद्धि से भक्त । समाणे—बना हुआ । जाव—यावत् । विहरति—विहरण करता है । तं—अत । एएणं—इस । वक्खेवेण—व्यक्षेप—बाधा से । नो—नहीं । संचाएमि—समर्थ हूँ । अहं—मै । पूसणंदिणा—पुष्यनन्दी, रण्णा—राजा के । सद्धि—साथ । उरालाइं—उदार—प्रधान । माणुस्सगाइं—मनुष्यसम्बन्धी । भोग—भोगाइं—विषयभोगों का । भुंजमाणी—सेवन करती हुई । विहरित्तए—विहरण करने को, अर्थात् ऐसी दशा मे मैं महाराज पुष्यनन्दी के साथ पर्याप्तरूप मे विषयभोगों का उपभोग नहीं कर सकती । तं—इसलिये । सेयं—योग्य है । खलु—निश्चयार्थक है । मम—मुझे । सिरिं देविं—श्री देवी को । अग्गिप्पओगेण वा—अग्नि के प्रयोग से, अथवा । सत्थप्पओगेण वा—शस्त्र के प्रयोग से, अथवा । विसप्पओगेण—विष के प्रयोग द्वारा । जीवियाओ—जीवन से । ववरावित्ता—व्यपरोपित कर, पृथक् करके । पूसणंदिणा—पुष्यनन्दी । रण्णा—राजा के । सद्धि—साथ । उरालाइं—उदार—प्रधान । माणुस्सगाइं—मनुष्यसम्बन्धी । भोगभोगाइं—विषयभोगों का । भुंजमाणी सेवन करते हुए । विहरित्तए—विहरण करना । एवं—इस प्रकार । संपेहेति २—विचार करती है, विचार कर । सिरीए देवीए—श्री देवी के । अन्तराणि य ३—१-अन्तर—जिस समय राजा का आगमन न हो, २-छिद्र—जिस समय राजपरिवार का कोई आदमी न हो, ३-विरह—जिस समय कोई सामान्य मनुष्य भी न हो, ऐसे अवसर की । पडिजागरमाणी २—प्रतीक्षा करती हुई २ । विहरति—विहरण करने लगी—अवसर की प्रतीक्षा में रहने लगी । तते णं—तदनंतर । सा—वह । सिरी—श्री देवी—देवी । अन्नया—अन्यदा । कयाइ—कदाचित् । मज्जाविया—स्नान कराए हुए । विरहियसयणिज्जंसि—एकान्त में अपनी शय्या पर । सुहप्पसुत्ता जाया यावि—सुखपूर्वक सोई पड़ी । होत्था—थी । इमं च णं—और इधर अर्थात् इतने में लब्धावकाश । देवदत्ता—देवदत्ता । देवी—देवी । जेणेव—जहां । सिरीदेवी—श्रीदेवी थी । तेणेव—वहां पर । उवागच्छति २—आती है, आकर । मज्जाविय—स्नान कराये हुए । विरहियसयणिज्जंसि—एकान्त में अपनी शय्या पर । सुहप्पसुत्त—सुख से सोई हुई । सिरिं देविं—माता श्रीदेवी को । पासति २—देखती है, देखकर । दिसालोयं—दिशा का अवलोकन करती है अर्थात् कोई देखता तो नहीं ?, यह निश्चय करने के लिये वह चारों ओर देखती है, तदनन्तर । जेणेव—जहां । भत्तघरे—भक्तगृह—रसोई थी । तेणेव—वहां पर । उवागच्छइ २—आजाती है, आकर । लोहदंड—लोहे के दंड को । परामुसति २—ग्रहण करती है, ग्रहण कर । लोहदंडं—लोहदण्ड को । तवावेति २—तपाती है, तपा कर । तत्तं—तपा हुआ । समजोतिभूतं—अग्नि के समान देदीप्यमान । फुल्लकिंसुयसमाणं—विकसित—खिले हुए, किंशुक—केसू के कुसुम के समान लाल हुए लोहदण्ड को । संडासएण—संडसा—एक प्रकार का लोहे का चिमटा या औजार जिस से गरम चीजें पकडी जाती है, पंजाब में जिसे संडासी कहते हैं । गहाय—पकड़ कर । जेणेव—जहां पर । सिरीदेवी—श्रीदेवी (सोई पड़ी थी) । तेणेव—वहां पर । उवा-

गच्छइ २—आजाती है, आकर । सिरीए—श्री । देवीए—देवी के । अवाणसि—[1]अपान—गुह्यस्थान में । पक्खिवेति—प्रविष्ट कर देती है । तते णं—तदनन्तर । सा—वह । सिरीदेवी—श्रीदेवी । महता २—अति महान् । सद्देणं—शब्द से । आरसित्ता—आक्रन्दन कर, चिल्ला २ कर । कालधम्मुणा—कालधर्म से । संजुत्ता—संयुक्त हुई—काल कर गई । तते ण—तदनन्तर । तीसे—उस । सिरीए देवीए—श्रीदेवी की । दासचेडीओ—दास, दासियां । आरसियसद्दं—आरसितशब्द आक्रन्दनमय शब्द को अर्थात् राड़ को । सोच्चा-सुन कर । निसम्म—अवधारण कर । जेणेव—जहां पर । सिरीदेवी—श्रीदेवी थी । तेणेव—वहां पर । उवागच्छन्ति २—आजाती हैं, आकर । तताे—वहां से । देवदत्तं—देवदत्ता । देविं—देवी को । अवक्कममाणिं—निकलती—वापिस आती हुई को । पासंति—देखती हैं, और । जेणेव—जिधर । सिरीदेवी—श्रीदेवी थी । तेणेव—वहां पर । उवागच्छन्ति २—आती हैं, आकर । सिरिं देविं—श्रीदेवी को । निप्पाणं—निष्प्राण—प्राणरहित । निच्चेट्ठं—निश्चेष्ट—चेष्टारहित । जीवविप्पजढं—जीवनरहित । पासंति २—देखती हैं, देख कर । हा हा अहो—हा ! हा ! अहो ! । अकज्जमिति—बड़ा अनर्थ हुआ, इस प्रकार । कट्टु—कह कर । रोयमाणीओ २—रुदन, आक्रन्दन तथा विलाप करती हुई । जेणेव जहां पर । पूसणंदी—पुष्यनन्दी । राया—राजा था । तेणेव—वहां पर । उवागच्छंति २—आती हैं, आकर । पूसणंदिरायं—महाराज पुष्यनन्दी के प्रति । एवं—इस प्रकार । वयासी—कहने लगीं । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । सामी !—हे स्वामिन् ! । सिरीदेवी—श्रीदेवी को । देवदत्ताए—देवदत्ता । देवीए—देवी ने । अकाले चेव—अकाल में ही । जीवियाओ—जीवन से । ववरोविया—पृथक् कर दिया, मार दिया ।

मूलार्थ—तदनन्तर किसी समय मध्यरात्रि में कुटुम्बसम्बन्धी चिन्ताओं से व्यस्त हुई देवदत्ता के हृदय में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि महाराज पुष्यनन्दी निरन्तर श्रीदेवी की सेवा में लगे रहते हैं, तब इस अवक्षेप-विघ्न से मैं महाराज पुष्यनन्दी के साथ उदार मनुष्यसम्बन्धी विषयभोगों का उपभोग नहीं कर सकती, अर्थात् उन के श्रीदेवी की भक्ति में निरंतर लगे रहने से मुझे उन के साथ पर्याप्तरूप में भोगों के उपभोग का यथेष्ट अवसर प्राप्त नहीं होता । इस लिये मुझे अब यही करना योग्य है कि अग्नि के प्रयोग, शस्त्र अथवा विष के प्रयोग से श्रीदेवी का प्राणांत करके महाराज पुष्यनन्दी के साथ उदार-प्रधान मनुष्यसम्बन्धी विषयभोगों का यथेष्ट उपभोग करूं, ऐसा विचार कर वह श्रीदेवी को मारने के लिये किसी अन्तर, छिद्र और विरह की अर्थात् उचित अवसर की प्रतीक्षा में सावधान रहने लगी ।

तदनन्तर किसी समय श्रीदेवी स्नान किए हुए एकान्त शयनीय स्थान में सुखपूर्वक सोई पड़ी थी । इतने में देवी देवदत्ता ने स्नपित—जिसे स्नान कराया गया हो, एकान्त शयनागार में विश्रब्ध—निश्चिन्त हो कर सोई पड़ी श्रीदेवी को देखा और चारों दिशाओं का अवलोकन कर जहां भक्तगृह था वहां आई, आकर एक लोहे के दंडे को लेकर अग्नि में तपाया, जब वह अग्नि जैसा और केसू के फूल के समान लाल होगया तो उसे संडास से पकड़ कर जहां श्रीदेवी थी वहां आई, उस तपे हुए लोहे के दंडे को श्रीदेवी के गुह्यस्थान में प्रविष्ट कर दिया । उस के प्रक्षेप से बड़े भारी शब्द से आक्रन्दन करती हुई श्रीदेवी काल कर गई ।

तदनन्तर उस भयानक चीत्कार शब्द को सुन कर श्रीदेवी की दास दासियें वहां दौड़ी हुई आईं, आते ही उन्हों ने वहां से देवदत्ता को जाते हुए देखा और जब वे श्रीदेवी के पास गईं तो उन्हों ने श्रीदेवी को प्राणरहित, चेष्टाशून्य और जीवनरहित पाया । तब मरी हुई श्रीदेवी को देख कर वे एकदम

(१) अपानशब्द का अर्थ कोषों में गुदा लिखा है, परन्तु कहीं २ योनि अर्थ भी पाया जाता है ।

चिल्ला उठी, हाय ! हाय ! महान् अनर्थ हुआ, ऐसा कह कर रोती, चिल्लाती एवं विलाप करती हुई वे महाराज पुष्यनन्दी के पास आई और उन से इस प्रकार बोलीं कि हे स्वामिन् ! बड़ा अनर्थ हुआ। देवी देवदत्ता ने माता श्रीदेवी को जीवन से रहित कर दिया—मार दिया।

टीका—शास्त्रों में लिखा है कि जैसे [1]किम्पाक वृक्ष के फल देखने में सुन्दर, खाने में मधुर और स्पर्श में सुकोमल होते हैं किन्तु उनका परिणाम वैसा सुन्दर नहीं होता अर्थात् जितना वह दर्शनादि में सुन्दर होता है, खा लेने पर उसका परिणाम उतना ही भीषण होता है. गले के नीचे उतरते ही यह खाने वाले के प्राणों का नाश कर डालता है। सारांश यह है कि जिस प्रकार किम्पाक फल देखने में और खाने में सुन्दर तथा स्वादु होता हुआ भी भक्षण करने वाले के प्राणों का शीघ्र ही विनाश कर डालता है ठीक उसी प्रकार विषयभोगों की भी यही दशा होती है। ये आरम्भ में (भोगते समय) तो बड़े ही प्रिय और चित्त को आकर्षित करने वाले होते हैं परन्तु भोगने के पश्चात् इन का बड़ा ही भयंकर फल होता है। तात्पर्य यह है कि आरम्भिक काल में इन की सुन्दरता और मनोज्ञता चित्त को बड़ी लुभाने वाली होती है और इन के आकर्षण का प्रभाव सांसारिक जीवों पर इतना अधिक पड़ता है कि प्राण देकर भी वे इन को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। संसार में बड़े से बड़े युद्ध भी इस के लिए हुए हैं। रामायण और महाभारत जैसे महान् युद्धों का कारण भी यही है। ये छोटे बड़े और सभी को सताते हैं। मनुष्य, पशु पक्षी यहां तक कि देव भी कोई बचा नहीं है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में एक स्थान पर लिखा है कि निर्बल, काणा, लंगड़ा पूंछरहित, जिस के घावों में राध बह रही है, जिस के शरीर में कीड़े बिलबिला रहे हैं, जो बूढ़ा तथा भूखा है, जिस के गले में मिट्टी के बर्तन का घेरा पड़ा हुआ है, ऐसा कुत्ता भी काम के वशीभूत हो कर भटकता है। जब भूखे प्यासे और बूढ़े तथा दुर्बल घावों से युक्त कुत्ते की यह दशा है, तो दूध मलाई मावा मिष्टान्न उडाने वाले मनुष्यों की क्या दशा होगी [2]। वास्तव में काम का आकर्षण है ही ऐसा, परन्तु यह कभी नहीं भूल जाना चाहिये कि यह आकर्षण पैनी छुरी पर लगे हुए शहद के आकर्षण से भी अधिक भीषण है। यही कारण है कि शास्त्रों में किम्पाक फल से इसे उपमा दी गई है।

जीवन की कड़ी साधनाओं से गुजरने वाले भारत के स्वनामधन्य महामहिम महापुरुषों ने बड़े प्रबल शब्दों में यह बात कही है कि वासनाएं उपभोग से न तो शान्त होती हैं और न कम, किन्तु उन में इच्छा में और अधिक वृद्धि होती है। कामी पुरुष कामभोगों में जितना अधिक आसक्त होगा, उतनी ही उस की लालसा बढ़ती चली जाएगी। विषयभोगों के उपभोग से वासना के उपशान्त होने की सोचना निरी मूर्खता है। विषयभोगों से उस में प्रगति तो होती है, ह्रास नहीं जिस प्रकार प्रदीप्त हुई अग्निज्वाला घृत के प्रक्षेप से वृद्धि को प्राप्त होती है, उसी भान्ति कामभोगों के अधिक सेवन करने से कामवासना निरन्तर बढ़ती चली जाती है, [3]घटती नहीं विपरीत इस के कई एक निवेकविकल प्राणी एक मात्र कामवासना से वासित होकर निरन्तर कामभोगों के सेवन में लगे हुए कामवासना की पूर्ति के स्वप्न देखते हैं और उस के लिये विविध प्रकार के आयास उठाते हैं परन्तु उससे वासना तो क्या शान्त होनी थी प्रत्युत उस के सेवन से वे ही शान्त हो जाते हैं, तभी तो कहा है—**भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ता।**

१—जहा किम्पागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताणं भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥ (उत्तराध्ययन सू० अ० १९/१८)

(२) कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो, व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः, शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥
(वैराग्यशतक, श्लोक १८)

(३) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

यह तो प्राय अनुभव सिद्ध है कि विषयलोलुपी मानव को कर्तव्याकर्तव्य या उचितानुचित का कुछ भी ध्यान नहीं होता। उस का एक मात्र ध्येय विषयवासना की पूर्ति होता है, फिर उसके लिये भले ही उसे बड़े से बड़ा अनर्थ भी क्यों न करना पड़े और भले ही उस का परिणाम उस के लिये विशेष हानिकर एवं अहितकर निकले, किन्तु इसकी उसे पर्वाह नहीं होती, वह तो पापाचरण में ही तत्पर रहता है। रोहीतकनरेश पुष्यनन्दी की परमप्रिया देवदत्ता से पाठक सुपरिचित हैं। उस के रूपलावण्य और अनुपम सौन्दर्य ने ही उसे एक राजमहिषी बनने का अवसर दिया है। उस में जहा शरीरगत बाह्य सौन्दय का आधिक्य है वहा उसके अन्तरात्मा मे विषयवासना की भी कमी नही। वह मानवोचित कामभोगों के उपभोग की लालसा को इतना अधिक बढाए हुए है कि महाराज पुष्यनन्दी का क्षणिक वियोग भी उसे असह्य हो उठता है। वह नहीं चाहती कि रोहीतकनरेश उस से थोड़े समय के लिये भी पृथक् हों। उसकी इसी तीव्र वासना ने ही उस से मातृघात जैसे बर्बर एव जघन्य अनर्थ कराने के लिये सन्नद्ध किया, जिस का स्मरण करते ही मानवता काप उठती है। पृथिवी तथा आकाश रो उठते हैं। पति की पूज्य माता को इस लिये प्राणरहित कर देना कि उसकी सेवा मे लगे रहने से पतिसहवास से प्राप्त होने वाले आमोद—प्रमोद में विघ्न पड़ता है, कितना नृशंसतापूर्ण घृणित विचार है!, वास्तव में यह सब कुछ मानवता को पतन करने वाली आत्मघातिनी कामवासना का ही दूषित परिणाम है। जो मानव इस पिशाचिनी कामवासना के चगुल में नहीं फसे या नहीं फंसते, वे ही वास्तव में मानव कहलाने के योग्य हैं बाकी के तो सब प्राय. पाशविक जीवन बिताने वाले केवल नाम के ही मानव हैं।

विषयवासना की भूखी, विवेकशून्य देवदत्ता ने अपने प्राणवल्लभ की चाह में, जिस का कि विषय-पूर्ति के अतिरिक्त कोई भी उद्देश्य नहीं था, उस की तीर्थसमान पूज्य माता का जिस विधि और जिस निर्दयता से प्राणान्त किया, उसका वर्णन मूलार्थ में आचुका है। इस पर से इतना समझने में कुछ भी कठिनता नहीं रहती कि ऐहिक स्वार्थ में अधा हुआ २ मानव व्यक्ति भयानक से भयानक अनर्थ करने में भी सकोच नही करता।

—**विरहियसयणिज्जंसि**—इस पद की व्याख्या अभयदेवसूरि के शब्दों मे—**विरहिते विजन—स्थाने शयनीयं विरहितशयनीय तत्र**—इस प्रकार है। अर्थात् सोने की वह शय्या, जहा पर दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं है,—उस पर। —**सुहपसुत्ता**—का अर्थ आजकल के मुहावरे के अनुसार—आराम की नींद सोना, होता है। वास्तव में इस प्रकार का प्रयोग निश्चिन्त अवस्था में आई हुई निद्रा के लिये होता है। —**फुल्लकिंसुयसमाणं**—का अर्थ है—केसू के फल के समान लाल। इस कथन से तपे हुए लोहदण्ड के अग्निस्वरूप में परिवर्तित हुए रूप का दिग्दर्शन कराना ही सूत्रकार को अभिमत है।

—**अज्झत्थिते** ५ यहा दिये ५ के अक से अभिमत पाठ पृष्ठ १३३ पर लिखा जा चुका है। तथा **मा-इभत्ते समाणे जाव विहरति**—यहा के **जाव—यावत्** पद से पृष्ठ ५०९ तथा ५१० पर पढे गये—**कल्लाक-ल्लिं जेणेव सिरीदेवी तेणेव**—से ले कर—**भोगभोगाइ भुजमाणे**—यहा तक के पदो का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। तथा—**अन्तराणि य** ३—यहा दिये गये ३ के अक मे—**छिद्दाणि य विरहाणि य**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। **अन्तर** आदि पदो का अर्थ पदार्थ में लिखा जा चुका है। तथा—**रोयमाणीओ** ३—यहा दिये गये ३ अक मे—**कंदमाणीओ विलवमाणीओ**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। हाय मा!, इस प्रकार कहकर रुदन करती हुई, कंदन—ऊचे स्वर से रुदन करती हुई और मस्तक आदि पीट कर हमारा क्या होगा?, ऐसा कहकर विलाप करती हुई—इन अर्थों के परिचायक **रोयमाणीओ** आदि शब्द हैं।

राजमाता श्रीदेवी की मृत्यु का समाचार देने वाली दासियों ने श्रीदेवी की मृत्यु को "—**एवं खलु सामी! सिरीदेवी देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जीवियाओ ववरोविया** (एव खलु स्वामिन्! श्रीदेवी देवदत्तया देव्या अकाले एव जीविताद् व्यपरोपिता)—" इन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया है। इस कथन

से अकालमृत्यु का अस्तित्व प्रमाणित होता है, तथा अकालमृत्यु से कालमृत्यु अपने आप ही सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि काल और अकाल ये दोनों शब्द एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, एवं एक दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। तब मृत्यु के—कालमृत्यु और अकालमृत्यु ऐसे दो स्वरूप फलित हो जाते हैं।

सामान्य रूप से कालमृत्यु का अर्थ अपने समय पर होने वाली मृत्यु है और अकालमृत्यु का व्यवहार नय की अपेक्षा समय के बिना होने वाली मृत्यु है, परन्तु वास्तव में काल और अकाल में क्या अभिप्रेत है ? और उससे सम्बन्ध रखने वाली मृत्यु का क्या विशेष स्वरूप है ?, जिससे कि दोनों का विभेद स्पष्ट हो ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। उस के सम्बन्ध में किया गया विचार निम्नोक्त है—

आयु दो प्रकार की होती है अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके वह अपवर्तनीय और जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्तनीय अर्थात् जिस का भोगफल बन्धकालीन स्थिति—मर्यादा से कम हो वह अपवर्तनीय और जिस का भोगफल उक्त मर्यादा के बराबर ही हो वह अनपवर्तनीय आयु कही जाती है। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नहीं है किन्तु परिणामों के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में निर्माण की जाती है, उस समय यदि परिणाम मन्द हों तो आयु का बंध शिथिल हो जाता है, जिस से निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत अगर परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन कालमर्यादा नहीं घटती और न वह एक साथ ही भोगी जा सकती है। जैसे अत्यन्त दृढ होकर खडे हुए पुरुषों की पंक्ति अभेद्य और शिथिल होकर खड़े हुए पुरुषों की पंक्ति भेद्य होती है। अथवा सघन बोए हुए बीजों के पौधे पशुओं के लिये दुष्प्रवेश और विरले २ बोए हुए बीजों के पौधे उनके लिए सुप्रवेश होते हैं। वैसे ही तीव्र परिणामजनित गाढबन्ध आयु शस्त्र, विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियतकाल—मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मन्द परिणामजनित शिथिल आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत-कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही अन्तर्मुहूर्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को ही अपवर्तना या अकालमृत्यु कहते हैं और नियतस्थितिक भोग को अनपवर्तना या कालमृत्यु कहते हैं।

अपवर्तनीय आयु सोपक्रम -उपक्रमसहित होती है। तीव्र शस्त्र[1], तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकालमृत्यु होती है, उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्तनीय आयु में अवश्य होता है क्योंकि वह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही भोगने के योग्य होती है, परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो[2] प्रकार की होती है अर्थात् उस आयु को अकालमृत्यु लाने वाले उक्त निमित्तों का सन्निधान होता भी है और नही भी होता, परन्तु उक्त निमित्तों का सन्निधान होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत कालमर्यादा के पहले पूर्ण नहीं होती, साराश यह है कि अपवर्तनीय

(१) श्री स्थानांगसूत्र में आयुभेद के सात कारण लिखे हैं, जो कि निम्नोक्त हैं—

—सत्तविधे आयुभेदे पएणत्ते तंजहा—१—अज्झवसाणे, २—निमित्ते, ३—आहारे, ४—वेयणा ५—पराघाते, ६—फासे, ७—आणपाणू, सत्तविध भिज्जए आउं। (७/३/५६१) अर्थात् (१) अध्यवसान—राग, स्नेह, और भयात्मक अध्यवसाय -संकल्प, (२) निमित्त—दण्ड, कशा—चाबुक शस्त्र आदि रूप, ३—आहार—अधिक भोजन, ४—वेदना—नेत्र आदि की पीडा, ५—पराघात—गर्तपात आदि के कारण लगी हुई विशेष चोट, ६—स्पर्श—सर्प आदि का डसना, ७—श्वासोच्छ्वास—का रुक जाना, ये सात आयु भेद -नाश के कारण होते हैं।

(२) जीवाणं भंते ! किं सोवक्कमाउया, निरुवक्कमाउया ? गोयमा ! जीवा सोवक्कमाउया वि निरुवक्कमाउया वि। (भगवती-सूत्र शतक० २० उद्दे० १०)।

आयु वाले प्राणियों को शस्त्र आदि का कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है, जिस से वे अकाल में ही मर जाते हैं और अनपवर्तनीय आयु वालों को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले, पर वे अकाल में नहीं मरते।

प्रश्न—नियत काल मर्यादा से पहले आयु का भोग हो जाने से कृतनाश (किये हुए का नाश), अकृताभ्यागम (जो नहीं किया उस की प्राप्ति) और निष्फलता (फल का अभाव) दोष लगेंगे, जो शास्त्र में इष्ट नहीं, उन का निवारण कैसे होगा ?

उत्तर—शीघ्र भोग होने से उक्त दोष नहीं आने पाते, क्योंकि जो कर्म चिरकाल तक भोगा जा सकता है, वही एक साथ भोग लिया जाता है। उस का कोई भी भाग बिना विपाकानुभव किये नहीं छूटता, इसलिये न तो कृतकर्म का नाश है और न बद्धकर्म की निष्फलता ही है, इसी तरह कर्मानुसार आने वाली मृत्यु ही आती है। अतएव अकृत कर्म का आगम भी नहीं। जैसे—घास की सघन राशि में एक तरफ छोटा सा अग्निकण छोड़ दिया जाए तो वह अग्निकण एक २ तिनके को क्रमश: जलाते २ सारी उस राशि को विलम्ब से जला सकता है, किन्तु यदि वे ही अग्निकण घास की शिथिल और विरल राशि में चारों ओर छोड़ दिये जाएं तो एक साथ उसे जला डालते हैं।

इसी बात को विशेष स्पष्ट करने के लिये शास्त्र में और भी दो दृष्टान्त दिये गये हैं। पहला—गणितक्रिया का और दूसरा वस्त्र- सुखाने का है। जैसे कोई विशिष्ट संख्या का लघुतम छेद निकालना हो तो इस के लिये गणित प्रक्रिया में अनेक उपाय हैं। निपुण गणितज्ञ अभीष्ट फल लाने के लिये एक ऐसी रीति का उपयोग करता है, जिस से बहुत ही शीघ्र अभीष्ट परिणाम निकल आता है, दूसरा साधारण जानकार मनुष्य भागाकार आदि विलम्बसाध्य प्रक्रिया से उस अभीष्ट परिणाम को देरी से ला पाता है।

इसी तरह से समान रूप में भीगे हुए कपड़ों में से एक को समेट कर और दूसरे को फैलाकर सुखाया जाय तो पहला देरी से और दूसरा जल्दी से सूखेगा। पानी का परिमाण और शोषणक्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और विस्तार के कारण उस के सूखने में देरी और जल्दी का फर्क पड़ जाता है। समान परिमाण से युक्त अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु के भोगने में भी सिर्फ देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है और कुछ नहीं। इस लिये वहां कृत का का नाश आदि उक्त दोष नहीं आते[1]।

उपरोक्त चर्चा से अकालमृत्यु और कालमृत्यु की समस्या अनायास ही सुलझाई जा सकती है, तथा दोनों प्रकार की मृत्यु का वर्णन शास्त्रसम्मत है। तब ही राजमाता श्रीदेवी की मृत्यु को अकालमृत्यु के नाम से प्रस्तुत सूत्रपाठ में अभिहित किया गया है।

दास और दासियों के द्वारा राजमाता श्रीदेवी की हत्या का समाचार मिलने के अनन्तर महाराज पुष्यनन्दी के हृदय पर उस का क्या प्रभाव पड़ा ? और उसने क्या किया ?, अब अग्रिम सूत्र में उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[2]तते णं से पूसणंदी राया तासिं दासचेडीणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा

(१) औपपातिक—चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। (तत्त्वार्थसूत्र— अ० २, सूत्र ५२ के विवेचन में पंडितप्रवर श्री सुखलाल जी)

(२) छाया—ततः स पुष्यनन्दी राजा तासां दासचेटीनामन्तिके एतमर्थं श्रुत्वा निशम्य महता मातृशोकेनाक्रान्तः सन् परशुनिकृत्त इव चम्पकवरपादपो धसेति धरणीतले सर्वांगैः सन्निपतितः। ततः स पुष्यनन्दी राजा मुहूर्तान्तरे, स्वस्थ: सन् बहुभी राजेश्वर० यावत् सार्थवाहैः. मित्र० यावत् परिजनेन च सार्द्धं रुदन् २ श्रियो देव्याः महता ऋद्धिसत्कारसमुदयेन निस्सरणं करोति २ आसुरुत. ४ देवदत्ता देवी पुरा यावद् विहरति।

निसम्म महया मातिसोएणं अप्फुण्णे समाणे परसुनियत्ते विव चंपगवरपायवे धसत्ति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सन्निपडिते । ततेणं से पूसणंदी राया मुहुत्तंतरेण आसत्थे समाणे बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहेहिं मित्त० जाव परियणेणं य सद्धिं रोयमाणे ३ सिरीए देवीए महता इड्ढिसक्कारसमुदएणं नीहरणं करेति २ आसुरुत्ते ४ देवदत्तं देविं पुरिसेहिं गेण्हावेति २ एतेणं विहाणेणं वज्झं आणावेति । एवं खलु गोतमा ! देवदत्ता देवी पुरा जाव विहरति ।

पदार्थ—ततेणं—तदनन्तर । से—वह । पूसणंदी—पुष्यनन्दी । राया राजा । तासिं—उन । दासचेडीणं—दास और चेटियों—दासियों के । अंतिए—पास से । एयमट्ठं—इस वृत्तान्त को । सोच्चा—सुन कर । निसम्म—उस पर विचार कर । महया—महान् । मातिसोएणं—मातृशोक से । अप्फुण्णे समाणे—आक्रान्त हुआ । परसुनियत्ते—परशु—कुल्हाड़े से काटे हुए । चंपगवरपायवे—चम्पकवरपादप—श्रेष्ठ चम्पक वृक्ष की । विव—तरह । धसत्ति धस (गिरने की ध्वनि का अनुकरण), ऐसे शब्द से अर्थात् धड़ाम से । धरणीतलंसि—पृथ्वीतल पर । सव्वंगेहिं—सर्व अंगों से । सन्निपडिते—गिर पडा । ततेणं—तदनन्तर । से—वह । पूसणंदी—पुष्यनन्दी । राया—राया । मुहुत्तंतरेण एक मुहूर्त के बाद । आसत्थे समाणे—आश्वस्त होने पर । बहूहिं—अनेक । राईसर०—राजा—नरेश, ईश्वर—ऐश्वर्ययुक्त । जाव यावत् । सत्थवाहेहिं—सार्थवाहों—यात्री व्यापारियों के नायकों अथवा संघनायकों, और । मित्त०—मित्र आदि । जाव—यावत् । परियणेण य—परिजन के । सद्धिं—साथ । रोयमाणे ३—रुदन, आक्रन्दन और विलाप करता हुआ । सिरीए देवीए—श्री देवी का । महता—महान् । इड्ढिसक्कारसमुदएणं—ऋद्धि तथा सत्कार समुदाय के साथ । नीहरणं करेति २—निष्कासन—अरथी (सीढ़ी के आकार का ढांचा जिस पर मुर्दे को रख कर श्मशान ले जाते हैं) निकालता है, निकाल कर के । आसुरुत्ते ४—क्रोध के आवेश में लाल पीला हुआ । देवदत्तं देविं—देवदत्ता देवी को । पुरिसेहिं—राजपुरुषों से । गेण्हावेति २—पकड़वाता है, पकड़ा कर । एतेणं—इस । विहाणेणं—विधान से । वज्झं—यह वध्या—हन्तव्या है, ऐसी राजपुरुषों को । आणावेति—आज्ञा देता है । तं—अत । एव—इस प्रकार । खलु—निश्चय ही । गोतमा !—हे गौतम ! । देवदत्ता—देवदत्ता । देवी—देवी । पुरा—पुरातन । जाव—यावत् । विहरति—विहरण कर रही है ।

मूलार्थ—तदनन्तर पुष्यनन्दी राजा उन दास और दासियों के पास से इस वृत्तान्त को सुन और विचार कर महान् मातृशोक से आक्रान्त हुआ परशु से निकृत्त—काटे हुए चम्पक वृक्ष की भान्ति धस शब्द पूर्वक भूमि पर सम्पूर्ण अंगों से गिर पडा । तत्पश्चात् मुहूर्त के बाद वह पुष्यनन्दी राजा आश्वस्त हो—होश मे आने पर राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह इन सब के साथ और मित्रों, ज्ञातिजनों, निजकजनों स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों के साथ रुदन, क्रन्दन और विलाप करता हुआ महान् ऋद्धि एव सत्कारसमुदाय से श्रीदेवी की अरथी निकालता है । तदनन्तर क्रोधातिरेक से लाल पीला हो वह देवदत्ता देवी को राजपुरुषों से पकडा कर इस विधान से वध्या—मारी जाए, ऐसी आज्ञा देता है अर्थात् गौतम ! जैसे तुम ने देवदत्ता का स्वरूप देखा है, उस विधान से देवदत्ता हन्तव्या है, यह आज्ञा राजा पुष्यनन्दी की ओर से राजपुरुषों को दी जाती है । इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम ! देवदत्ता देवी पूर्वकृत पाप कर्मों का फल भोगती हुई विहरण कर रही है ।

टीका—दासियों के द्वारा राजमाता श्रीदेवी की मृत्यु का वृत्तान्त सुनने तथा उसकी परम प्रेयसी देवदत्ता द्वारा उसका वध किये जाने के समाचार ने रोहीतकनरेश पुष्यनन्दी की वही दशा कर दी जो कि सर्वस्व

के लुट जाने पर एक साधारण व्यक्ति की होती है। माता की इस आकस्मिक और क्रूरतापूर्ण मृत्यु से उस के हृदय पर इतनी गहरी चोट लगी कि वह कुठार के आघात से कटी गई चम्पकवृक्ष की शाखा की भान्ति धड़ाम से पृथिवी पर गिर गया। उस का शरीर निश्चेष्ट हो मुहूर्तपर्यन्त पृथिवी पर पड़ा रहा। उस के अंगरक्षक तथा दरबारी लोग चित्रलिखित मूर्ति की तरह निस्तब्ध हो खडे के खड़े रह गये। अन्त में अनेक प्रकार के उपचारों से जब पुष्यनन्दी को होश आई तो वह फूट फूट कर रोने लगा। मन्त्रिगण तथा अन्य सम्बन्धिजनों के बार २ आश्वासन देने पर उसे कुछ शान्ति मिली। तदनन्तर उसने राजोचित ठाठ से राजमाता का निस्सरण किया अर्थात् बाजों की ध्वनि से आकाश को गुंजाता हुआ रोहीतकनरेश पुष्यनन्दी माता की अरथी निकालता है और दाहसंस्कार के अनन्तर विधिपूर्वक उसका मृतककर्म कराता है।

अपनी पूज्य मातेश्वरी श्रीदेवी के शव के दाहसंस्कार आदि करने के अनन्तर जब मातृघात करने वाली अपनी पट्टरानी देवदत्ता की ओर ध्यान दिया तो उसमें दुःख और क्रोध दोनों ही समानरूप मे जाग उठे। दुःख इसलिये कि उसे अपनी पूज्य माता के वियोग की भान्ति देवदत्ता का वियोग भी असह्य था और क्रोध इस कारण कि उस की सहधर्मिणी ने वह काम किया कि जिस की उस से स्वप्न में भी सम्भावना नहीं की जासकती थी। अन्त मे उसे देवदत्ता के विषय में बड़ा तिरस्कार उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा – मेरी तीर्थ के समान पूज्य माता को इस भान्ति मारना और वह भी किसी विशेष अपराध से नहीं; किन्तु मैं उस की सेवा करता हू केवल इसलिये। धिक्कार है ! ऐसी स्त्री को। धिक्कार है उस के ऐसे निर्दयतापूर्ण क्रूरकर्म को। क्या देवदत्ता मानवी है ? नहीं २ साक्षात् राक्षसी है। रूपलावण्य के अन्दर छिपी हुई हलाहल है। अस्तु, जिसने मेरी पूज्य माता का इतनी निर्दयता से वध किया है, उसे भी ससार में रहने का कोई अधिकार नहीं। उसे भी उसके इस पैशाचिक कृत्य के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिये, यही न्याय है, यही धर्मानुप्राणित राजनीति है। इन विचारों से क्रोध के आवेश से महाराज पुष्यनन्दी का मुख लाल हो जाता है, और वह अपने राजपुरुषों को देवदत्ता को पकड़ लाने का आदेश देता है, तथा आदेशानुसार पकड़ कर लाये जाने पर उसे अमुक प्रकार से वध करने की आज्ञा देता है।

चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर बोले—गौतम ! आज तुम ने जिस भीषण दृश्य को देखा है और जिस स्त्री की मेरे पास चर्चा की है, यह वही देवदत्ता है। देवदत्ता के लिये ही महाराज पुष्यनन्दी ने इस प्रकार से दण्ड देने तथा वध करने की आज्ञा प्रदान की है। अतः गोतम ! यह पूर्वकृत कर्मों का ही कटु परिणाम है। इस तरह रोहीतक नगर के राजपथ में देखी हुई स्त्री के पूर्वभवसम्बन्धी गौतमस्वामी के प्रश्न का वीर भगवान् की तरफ से उत्तर दिया गया, जो कि मननीय एवं चिन्तनीय होने के साथ २ मनुष्य को विषयों से विरत रहने की पावन प्रेरणा भी करता है।

—राईसर० जाव सत्थवाहेहिं मित्त० जाव परिजणेणं—यहां पठित प्रथम **जाव—यावत्** पद **तलवरमाडम्बियकोडुम्बियइब्भसेट्ठि**—इन पदों का, तथा द्वितीय **जाव-यावत्** पद —**णाइनियगसयण-सम्बन्धि**—इन पदों का परिचायक है। **राजा** नरेश का नाम है। **ईश्वर** आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ १६५ पर, तथा **मित्र** आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ १५० के टिप्पण मे लिखा जा चुका है।

—रोयमाणे ३—यहां ३ के अक से—**कन्दमाणे विलवमाणे**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। आंसुओं का बहना **रुदन**, ऊंचे स्वर से रोना **क्रन्दन** और आर्तस्वरपूर्वक रुदन **विलाप** कहलाता है। तथा **आसुरुत्ते ४**—यहां के अक से अभिमत पद पृष्ठ १७७ पर लिखे जा चुके हैं।

—एतेण विग्गणेण—यहां प्रयुक्त एतद् शब्द का अर्थ पृष्ठ १७८ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां यह उज्झितक के दृश्य का बोधक लिखा है जब कि प्रस्तुत में रोहीतक नगर के राजमार्ग पर भगवान् गौतमस्वामी द्वारा अवलोकित शूली पर भेदन की जाने वाली एक स्त्री के वृत्तान्त का परिचायक है। तथा पुरा जाव विहरति यहां के जाव-यावत् पद से विवक्षित पाठ पृष्ठ २७१ पर लिखा जा चुका है।

प्रस्तुत सूत्र में देवदत्ता के द्वारा राजमाता की मृत्यु तथा उस के इस कृत्य के दण्डविधान आदि का वर्णन किया गया है। अब सूत्रकार देवदत्ता के ही अग्रिम जीवन का वर्णन करते हैं :—

मूल—[1]देवदत्ता णं भंते ! देवी इतो कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

पदार्थ—भंते !—भगवन् !। देवदत्ता णं देवी—देवदत्तादेवी। इतो—यहां से। कालमासे—कालमास में अर्थात् मृत्यु का समय आने पर। कालं—काल। किच्चा—करके। कहिं—कहां। गमिहिति ?—जाएगी ?। कहिं—कहां पर। उववज्जिहिति ?—उत्पन्न होगी ?।

मूलार्थ—भगवन् ! देवदत्ता देवी यहां से कालमास में काल करके कहां जाएगी ? कहां पर उत्पन्न होगी ?

टीका—रोहीतक नगर के राजमार्ग पर शस्त्र-अस्त्रों से सन्नद्ध सैनिक पुरुषों के मध्यस्थित अवकोटकबन्धन से बन्धी हुई तथा कर्ण और नासिका जिसकी काट ली गई थी, ऐसी शूली पर चढ़ाई जाने वाली एक वध्य नारी के करुणाजनक दृश्य को देख कर भगवान् गौतमस्वामी के हृदय में जो उसके पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त जानने की इच्छा उत्पन्न हुई, तदनुसार उन्होंने भगवान् महावीर से जो पूछा था उसका उत्तर मिल जाने पर भगवान् गौतम उस स्त्री के आगामी भवों का वृत्तान्त जानने की लालसा से फिर प्रभु वीर से पूछने लगे। वे बोले—

प्रभो ! यह देवदत्ता नामक स्त्री यहां से मृत्यु को प्राप्त हो कर कहां जायेगी ? और कहां उत्पन्न होगी ? तात्पर्य यह है कि यह इसी भान्ति कर्मजन्य सन्ताप से दुःखोपभोग करती रहेगी, तथा जन्ममरण के प्रवाह में प्रवाहित होती रहेगी, या इस के दुःखों का कहीं अन्त भी होगा ? और कभी संसार सागर से पार भी हो सकेगी ?

श्री गौतम स्वामी के द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया, अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[2]गोतमा ! असीतिं वासाइं परमाउं पालयित्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उववज्जिहिति। संसारो जाव वणस्सइ०। ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता गंगापुरे णगरे हंसत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ साउणिएहिं वहिते समाणे तत्थेव गंगापुरे

(१) छाया—देवदत्ता भदन्त ! देवी इतः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्रोपपत्स्यते ?

(२) छाया—गौतम ! अशीतिं वर्षाणि परमायुः पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यामुपपत्स्यते। संसारस्तथैव यावद् वनस्पति०। ततोऽनन्तरमुद्वृत्य गंगापुरे नगरे हंसतया प्रत्यायास्यति। स तत्र शाकुनिकैर्हतस्तत्रैव गंगापुरे श्रे ष्ठ० बोधि० सौधर्मे० महाविदेहे० सेत्स्यति ५ निक्षेपः।

॥ नवममध्ययनं समाप्तम् ॥

सेट्ठि० बोहिं० सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति ५ णिक्खेवो ।

॥ णवमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—गोतमा !—हे गौतम ! । **असीतिं**—अस्सी (८०) । **वासाइं**—वर्षों की । **परमाउं**—परमायु । **पालयित्ता**—पाल कर—भोग कर । **कालमासे**—कालमास में—मृत्यु का समय आजाने पर । **कालं**—काल । **किच्चा**—करके । **इमीसे**—इस । **रयणप्पभाए**—रत्नप्रभा नाम की । **पुढवीए**—पृथ्वी-नरक मे । **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगी । **संसारो**—शेष संसारभ्रमण कर । **वणस्सइ०**—वनस्पतिगत निम्ब आदि कटुवृक्षों तथा कटु दुग्ध वाले अर्कादि पौधों में लाखों वार उत्पन्न होगी । **ततो**—वहा से । **अणंतरं**—अन्तर रहित । **उव्वट्टित्ता**—निकल कर । **गंगापुरे**—गगापुर । **णगरे**—नगर मे । **हंसत्ताए**—हसरूप से । **पच्चायाहिति**—उत्पन्न होगी । **से णं**—वह हस । **तत्थ**—वहा पर । **साउणिएहिं**—शाकुनिकों—शिकारियों के द्वारा । **वहिते**—वध किया । **समाणे**—हुआ । **तत्थेव**—वहीं । **गंगापुरे**—गगापुर मे । **सेट्ठि०**—श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न होगा । **बोहिं०**—सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा । **सोहम्मे०**—सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहा से । **महाविदेहे०**—महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा, वहा से । **सिज्झिहिति ५**—सिद्धि प्राप्त करेगा, केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानेगा, सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो जाएगा, सकल कर्मजन्य सन्ताप से विमुक्त हो जाएगा तथा सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर डालेगा । **णिक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये । **णवमं**—नवम । **अज्झयणं**—अध्ययन । **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ ।

मूलार्थ—हे गौतम ! देवदत्तादेवी अशीति (८०) वर्षों की परम आयु पाल कर कालमास मे काल करके इस रत्नप्रभा नाम की पृथिवी—नरक मे उत्पन्न होगी । शेष संसारभ्रमण पूर्ववत् करती हुई—प्रथम अध्ययनवर्ती मृगापुत्र की भांति यावत् वनस्पतिगत निम्ब आदि कटु वृक्षों में तथा कटु दुग्ध वाले अर्क आदि पौधों मे लाखों वार उत्पन्न होगी । वहां शाकुनिकों द्वारा वध किये जाने पर वह हंस उसी गंगापुर नगर मे श्रेष्ठिकुल मे पुत्ररूप से जन्म लेगा, वहा सम्यक्त्व को प्राप्त कर सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहां चारित्र ग्रहण कर सिद्धि प्राप्त करेगा, केवल ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जानेगा, सम्पूर्ण कर्मों से विमुक्त हो जाएगा, समस्त कर्मजन्य सन्ताप से रहित हो जाएगा तथा सब दुःखों का अन्त करेगा । निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये ।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा वर्णित देवदत्ता के पूर्व जन्म सम्बन्धी वृत्तान्त को सुन लेने के बाद गौतम स्वामी को उसके आगामी भवों की जिज्ञासा हुई, तदनुसार उन्हों ने भगवान् से उस के भावी जीवनवृत्तान्त का वर्णन करने की प्रार्थना की । गौतम स्वामी की प्रार्थना से भगवान् ने देवदत्ता के भावी जीवन के वृत्तान्त को सुनाते हुए जो कुछ कहा, उस का वर्णन मूलार्थ में किया जा चुका है । यह वर्णन भी प्रायः पूर्व वर्णन जैसा ही है, अतः वह अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता ।

वास्तव मे मानव जीवन एक पहेली है । उस में सुख दुःख की अवस्थाओं का घटीयंत्र की तरह आना जाना निरन्तर बना रहता है । विविध प्रकार की परिस्थितियों से गुज़रता हुआ यह जीवात्मा जिस समय बोधि—सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करता है, उस समय इसका उत्क्रान्ति मार्ग की ओर प्रस्थान करने का रुख होता है, वहीं से इस की ध्येयप्राप्ति का कार्य आरम्भ होता है । सम्यक्त्व की प्राप्ति के अनन्तर शुभ संयोगों के सन्निधान मे प्रगति मार्ग की ओर प्रस्थान करने वाला साधक का आत्मा कर्मबन्धनों को तोड़ कर एक न एक दिन अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । वहां इसकी जन्म मरण परम्परा की विकट यात्रा का पर्यवसान हो जाता है और उसे शाश्वत सुख प्राप्त हो जाता है । यही इस कथा का साराश है ।

—**ससारो तहेव जाव वणस्सइ०**—यहा पठित **संसार** शब्द—ससारभ्रमण, इस अर्थ का बोधक है। तथा—**तहेव-तथैव** पद वैसे ही अर्थात् जिस तरह प्रथम अध्ययन मे राजकुमार मृगापुत्र का ससारभ्रमण वर्णित कर चुके हैं, वैसे ही देवदत्ता का भी ससारभ्रमण समझ लेना—इन भावों का परिचायक है। उसी ससारभ्रमण के सगूचक पाठ को **जाव-यावत्** पद से बोधित किया गया है, अर्थात् **जाव-यावत्** पद पृष्ठ ८९ पर पढे गए—**सा णं ततो अणतरं उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति, तत्थ णं कालं किच्चा**—से ले कर—**तेइन्दिएसु, बेइन्दिएसु**—यहा तक के पदों का परिचायक है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा पर मृगापुत्र का वर्णन है जब कि प्रस्तुत मे देवदत्ता का। तथा—**वणस्सइ०**—यहा के बिन्दु से—**कडुयरुक्खेसु कडुयदुद्धिएसु अणेगसतसहस्सक्खुत्तो उववज्जिहिति**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् निम्बादि कटु वृक्षों तथा कटु दुग्ध वाली अर्क आदि वनस्पति मे लाखों वार जन्म मरण किया जायेगा। तथा "—**सेट्ठि० बोहि० सोहम्मे० महाविदेहे० सिज्झिहिति ५**—" इन पदों मे **सेट्ठि०**—यहा के बिन्दु से—**कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति**—इन पदों का ग्रहण करना अभिमत है। तथा **बोहि०**—आदि पदों से विवक्षित पाठ पृष्ठ ३१२ पर लिखा जा चुका है।

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ मे यह बतलाया गया था कि श्री जम्बू स्वामी ने अपने परम पूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से दुःखविपाक सूत्र के अष्टमाध्ययन को सुनने के अनन्तर नवम अध्ययन को सुनाने की अभ्यर्थना की थी, जिस पर श्री सुधर्मा स्वामी ने उन्हें नवम अध्ययन सुनाना आरम्भ किया था। उस अध्ययन की समाप्ति पर श्री सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू अनगार से जो कुछ फरमाया, उसे सूत्रकार ने "**निक्खेवो**" इस पद से अभिव्यक्त किया है। **निक्खेव** का सस्कृत प्रतिरूप **निक्षेप** होता है। **निक्षेप** का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है। प्रस्तुत मे निक्षेपशब्द से ससूचित सूत्राश निम्नोक्त है—

एव खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि। अर्थात्—हे जम्बू ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के नवम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है। साराश यह है कि भगवान् महावीर ने अनगार गौतम स्वामी के प्रति जो देवदत्ता का आद्योपान्त जीवनवृत्तान्त सुनाया है, यही नवम अध्ययन का अर्थ है, जिस का वर्णन मैं अभी तुम्हारे समक्ष कर चुका हू, परन्तु इसमें इतना ध्यान रहे कि यह जो कुछ भी मैंने तुम को सुनाया है, वह मैंने वीर प्रभु से सुना हुआ ही सुनाया है, इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं।

प्रस्तुत अध्ययन में विषयासक्ति के दुष्परिणाम का दिग्दर्शन कराया गया है। कामासक्त व्यक्ति पतन की ओर कितनी शीघ्रता से बढता है और किस हद तक अनर्थ करने पर उतारु हो जाता है ? तथा परिणामस्वरूप उसे कितनी भयकर यातनाए भोगनी पडती हैं ? इत्यादि बातों का इस कथासन्दर्भ मे सुचारु रूप से निदर्शन मिलता है। लाखों मनुष्यों पर शासन करने वाला सम्राट् भी जघन्य विषयासक्ति से नरकगामी बनता है, तथा रूपलावण्य की राशि एक महारानी भी अपनी अनुचित कामवासना की पूर्ति की कुत्सित भावना से प्रेरित हुई महान् अनर्थ का सम्पादन करके नरकों का आतिथ्य प्राप्त कर लेती है। इस पर से मानव में बढी हुई कामवासना के दुष्परिणाम को देखते हुए उस से निवृत्त होने या पराङ्मुख रहने की समुचित शिक्षा मिलती है। कामवासना से वासित जीवन वास्तव में मानवजीवन नहीं किन्तु पशुजीवन बल्कि उस से भी गिरा हुआ जीवन होता है, अतः विचारशील पुरुषों को जहा तक बने वहा तक अपने जीवन को सयमित और मर्यादित बनाने का यत्न करते रहना चाहिये, तथा विषयवासनाओं के बढे हुए जाल को तोड़ने की ओर अधिक लक्ष्य देना चाहिये, यही इस कथासन्दर्भ का महणीय सार है।

॥ नवम अध्याय समाप्त ॥

दशम अध्याय

संसार में अनन्त काल से भटकती हुई आत्मा जब विकासोन्मुख होती है, तब यह अनन्त पुण्य के प्रभाव से निगोद में से निकल कर क्रमश प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जलादि योनियों में जन्म लेती हुई द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय नारक तिर्यंच आदि जीवों की विभिन्न योनियों के सागर को पार करती हुई किसी विशिष्ट पुण्य के बल से मनुष्य के जीवन को उपलब्ध करती है। इस से मानव जीवन कितना दुर्लभ है? तथा कितना महान् है! इत्यादि बातों का भली भान्ति पता चल जाता है। जैन तथा जैनेतर सभी शास्त्रों तथा ग्रन्थों में मानव जीवन की कितनी महिमा वर्णित हुई है? इसके उत्तर में अनेकानेक शास्त्रीय प्रवचन उपलब्ध होते हैं। पाठकों की जानकारी के लिये कुछ उद्धरण दिये जाते हैं —

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुपत्ता, आययंति मणुस्सयं॥ (उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३—७)

अर्थात् जब अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध और पवित्र बनता है तब कहीं वह मनुष्य की गति को उपलब्ध करता है।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवागकम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए॥ (उत्तराध्ययन सू० अ० १०—४)

अर्थात् संसारी जीवों को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर उधर की अन्य योनियों में भटकने के अनन्तर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है इस का मिलना सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा ही भयंकर होता है, अत हे गौतम! क्षण भर के लिये भी प्रमाद मत कर।

नरेषु चक्री त्रिदिवेषु वज्री, मृगेषु सिंह. प्रशमो व्रतेषु।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो, भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम्॥ (श्रावकाचार १०—१२)

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्यलोक में चक्रवर्ती, स्वर्गलोक में इन्द्र, पशुओं में सिंह व्रतों में प्रशमभाव और पर्वतों में स्वर्णगिरि—मेरु प्रधान है, श्रेष्ठ है, ठीक उसी प्रकार संसार के सब जन्मों में मनुष्य जन्म सर्वोत्तम है।

जातिशतेन लभते किल मानुषत्वम् (गरुड़पुराण)

अर्थात् गर्भ की सैंकड़ों यातनाएं भुगतने के अनन्तर मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है।

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्॥

अर्थात् महाभारत में व्यास जी कहते हैं कि आओ, मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताऊं। यह अच्छी तरह मन में दृढ निश्चय कर लो कि संसार में मनुष्य से बढ़ कर और कोई श्रेष्ठ नहीं है।

"—द्विभुज. परमेश्वर.—" अर्थात् मनुष्य दो हाथ वाला परमेश्वर है।

स्वर्गी चे अमर इच्छिताती देवा मृत्युलोकी हावा जन्म आम्हा " (सन्त तुकाराम जी)

अर्थात् स्वर्ग के देवता इच्छा करते हैं कि प्रभो! हमें मर्त्य—लोक में जन्म चाहिये अर्थात् हमें मनुष्य बनने की चाह है।

नरतन सम नहि कविनिउ देही, जीव चराचर जाचत जेही।
वडे भाग मानुप तन पावा, सुरदुर्लभ सब ग्रंथन गावा॥ (तुलसीदास)
दुर्लभ मानव जन्म है, देह न वारम्वार।
तरवर ज्यों पत्ता झडे, वहुरि न लागे डार॥ (कवीर वाणी)
जो फरिश्ते करते हैं, कर सकता है इन्सान भी।
पर फरिश्तों से न हो जो काम है इन्सान का॥
फरिश्ते से वेहतर है इन्सान वनना, मगर इस में पडती है मेहनत ज़्यादा।

इत्यादि अनेकों प्रवचन उपलब्ध होते हैं, जिन से मानव जीवन की दुर्लभता एव महानता सुतरा प्रमाणित हो जाती है। इस के अतिरिक्त जैन शास्त्रों में मानव जीवन की दुर्लभता का निरूपण बड़े विलक्षण दश दृष्टान्तों द्वारा किया गया है, जिन का विस्तारभय से प्रस्तुत में उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

ऊपर के विवेचन में यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव का जन्म दुर्लभ है, महान् है। अत· प्रत्येक मानव का कर्तव्य हो जाता है कि इस अनमोल और देवदुर्लभ मनुष्यभव को प्राप्त कर इस से सुगतिमूलक लाभ उठाने का प्रयास करना चाहिये, और आत्मश्रेय साधना चाहिये परन्तु इस के विपरीत जो लोग जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले कृत्यों मे मग्न रहते हैं तथा सुकृत्यों से दूर भाग कर असदनुष्ठानों में प्रवृत्त रहते हैं, वे दुर्गतियों में अनेकानेक दु ख भोगने के साथ २ जन्म मरण के प्रवाह मे प्रवाहित होते रहते हैं, ऐसे प्राणी अनेकों हैं, उन मे से अञ्जूश्री नामक एक नारी भी है, जिस ने पृथिवीश्री गणिका के भव में अपने देवदुर्लभ मानव जीवन को विषय-वासना के पोषण में ही अधिकाधिक लगाया और अनेकानेक चूर्णादि के प्रयोगों द्वारा राजा, ईश्वर आदि लोगों को वश में ला कर उन्हें दुराचार के पथ का पथिक वनाया, एव अपनी वासनामूलक कुत्सित भावनाओं से जन्म मरण रूपी वृक्ष को अधिकाधिक पुष्पित एवं पल्लवित किया प्रस्तुत दशम अध्ययन में उसी अञ्जू देवी का जीवन वर्णित हुआ है, जिस का आदिम सूत्र निम्नोक्त है—

मूल—[1]दसमस्स उक्खेवो, एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं २ वद्धमाणपुरे णामं णगरे होत्था। विजयवड्ढमाणे उज्जाणे। माणिभद्दे जक्खे विजयमित्ते राया। तत्थ णं धणदेवे णामं सत्थवाहे होत्था अड्ढे०। पियंगू भारिया। अंजू दारिया जाव सरीरा। समोसरणं। परिसा जाव गओ। तेणं कालेणं २ जेट्ठे जाव अडमाणे विजयमित्तस्स रण्णो गिहस्स असोगवणियाए अदूरसामंतेणं वीइवयमाणे पासति एगं इत्थियं सुक्खं भुक्खं निम्मंसं किडिकिडियाभूयं अट्ठिचम्मावणद्धं णीलसाडगनियत्थं कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं कूवमाणिं

(१) छाया—दशमस्योत्क्षेप.। एव खलु जम्बू ! तस्मिन् काले २ वर्धमानपुर नाम नगरमभूत्। विजय-वर्धमानमुद्यानम्। माणिभद्रो यक्ष.। विजयमित्रो राजा। तत्र धनदेवो नाम सार्थवाहोऽभूदाढ्यः। प्रियगू भार्या। अञ्जू दारिका यावत् शरीरा। समवसरणम्। परिषद् यावद् गता। तस्मिन् काले २ ज्येष्ठो यावद् अटन् विजयमित्रस्य राज्ञो गृहस्याशोकवनिकाया, अदूरासन्ने व्यतिव्रजन् पश्यत्येका स्त्रिय शुष्का बुभुक्षिता निर्मांसा किटिकिटिभूता चर्मावनद्धा नीलशाटकनिवसिता कष्टानि करुणानि विस्वराणि कूजन्तीं दृष्ट्वा चिन्ता। तथैव यावदेवमवादीत्—सा भदन्त ! स्त्री पूर्वभवे कासीद् ? व्याकरणम्।

पासित्ता चिन्ता । तहेव जाव एवं वयासी सा णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसि ? वागरणं ।

पदार्थ—**दसमस्स**—दशम अध्ययन के । **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भान्ति जान लेना चाहिये । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **जंबू** !—हे जम्बू ! । **तेणं कालेणं २**—उस काल और उस समय में । **वद्धमाणपुरे**—वर्धमानपुर । **णाम**—नामक । **णगरे**—नगर । **होत्था**—था । **विजयवड्ढमाणे**—विजयवर्धमान नामक । **उज्जाणे**—उद्यान था, वहां । **माणिभद्दे**—माणिभद्र । **जक्खे**—यक्ष का स्थान था । **विजयमित्ते**—विजयमित्र । **राया**—राजा था । **तत्थ णं**—वहां पर । **धणदेवो**—धनदेव । **णाम**—नाम का । **सत्थवाहे**—यात्री व्यापारियों का मुखिया अथवा संघनायक । **होत्था**—रहता था, जोकि । **अड्ढे०**—बड़ा धनी तथा अपनी जाति में महान् प्रतिष्ठा प्राप्त किए हुए था, उस की । **पियंगू भारिया**—प्रियंगू नाम की भार्या थी । **अंजू**—अंजू नामक । **दारिया**—दारिका—बालिका । **जाव**—यावत् । **सरीरा**—उत्कृष्ट-उत्तम शरीर वाली थी । **समोसरणं**—भगवान् महावीर स्वामी पधारे । **परिसा**—परिषद् । **जाव**—यावत् । **गओ**—चली गई । **तेणं कालेणं २**—उस काल और उस समय । **जेट्ठे**—ज्येष्ठ शिष्य । **जाव**—यावत् । **अडमाणे**—भ्रमण करते हुए **विजयमित्तस्स**—विजयमित्र । **रण्णो**—राजा के । **गिहस्स**—घर की । **असोगवणियाए**—अशोकवनिका-अशोक वृक्ष प्रधान बगीची के । **अदूरसामंतेण**—समीप में । **वीइवयमाणे**—गमन करते हुए । **पासति**—देखते हैं । **एगं**—एक । **इत्थियं**—स्त्री को, जो कि । **सुक्खं**—सूखी हुई । **भुक्खं**—बुभुक्षित । **निम्मंसं**—मांस से रहित—जिस के शरीर का मांस समाप्तप्राय हो रहा है । **किडिकिडिभूयं**—किटिकिटि शब्द से युक्त—अर्थात् जिस की शरीरगत अस्थियें किटि २ शब्द कर रही हैं । **अट्ठिचम्मावणद्धं**—जिस का चर्म अस्थियों से चिपटा हुआ है अर्थात् अस्थिचर्मावशेष । **णीलसाडगणियत्थं**—और जो नीली साड़ी पहने हुए है, ऐसी उस । **कट्ठाइं**—कष्टात्मक—कष्टप्रद **कलुणाइं**—करुणोत्पादक । **वीसराइं**—दीनतापूर्ण वचन । **कूवमाणिं**—बोलती हुई को । **पासित्ता**—देखकर । **चिन्ता**—विचार उत्पन्न हुआ । **तहेव**—तथैव—उसी प्रकार । **जाव**—यावत् वापिस आ कर । **एवं वयासी**—इस प्रकार कहने लगे । **भंते** !—हे भदन्त ! । **सा णं**—वह । **इत्थिया**—स्त्री । **पुव्वभवे**—पूर्व भव में । **का आसि** ?—कौन थी ?, इस के उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी का । **वागरणं**—प्रतिपादन करना ।

मूलार्थ—दशम अध्ययन के उत्क्षेप-प्रस्तावना की कल्पना पूर्व की भान्ति कर लेनी चाहिये । हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में वर्द्धमानपुर नाम का एक नगर था । वहां विजयवर्द्धमान नामक उद्यान था । उस में माणिभद्र नामक यक्ष का स्थान था । विजयमित्र वहां के राजा थे । वहां धनदेव नाम का सार्थवाह रहता था जोकि बहुत धनी और नगरप्रतिष्ठित था, उस की प्रियगू नाम की भार्या थी, तथा उस की सर्वोत्कृष्ट शरीर से युक्त अञ्जू नाम की एक बालिका थी ।

उस समय विजयवर्द्धमान उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे, यावत् परिषद् धर्मदेशना सुन कर वापिस चली गई । उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य यावत् भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए विजयमित्र राजा के घर की अशोकवनिका के समीप जाते हुए एक सूखी हुई, बुभुक्षित, निर्मांस, किटिकिटि शब्द करती हुई अस्थिचर्मावनद्ध, नीली साड़ी पहने हुए, कष्टमय, करुणाजनक तथा दीनतापूर्ण वचन बोलती हुई एक स्त्री को देखते हैं, देखकर विचार करते हैं । शेष पूर्ववत् यावत् भगवान् से आकर इस प्रकार बोले—भगवन् ! यह स्त्री पूर्वभव में कौन थी ? इस के उत्तर में भगवान् प्रतिपादन करने लगे ।

टीका—विपाकसूत्र के नवम अध्ययन में वर्णित दत्त सेठ की पुत्री और कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता के वृत्तान्त का आद्योपान्त, कर्मगत विचित्रता से गर्भित जीवनवृत्तान्त का चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य—उद्यान में विराजमान आर्य सुधर्मा स्वामी के अन्तेवासी-शिष्य श्री जम्बू स्वामी ध्यानपूर्वक मनन करने के अनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी के चरणों में उपस्थित हो कर विनयपूर्वक निवेदन करने लगे—भगवन्! आप के परम अनुग्रह से मैंने विपाकश्रुत के दुःखविपाक के नवम अध्ययन के अर्थ का श्रवण किया और उस का चिन्तन तथा मनन भी कर लिया है। अब मेरी इच्छा उस के दसवें अध्ययन के अर्थश्रवण की हो रही है, अतः आप श्री उस को भी सुनाने की कृपा करें।

सर्वज्ञप्रणीत निर्ग्रन्थप्रवचन के महान् जिज्ञासु आर्य जम्बू स्वामी की उक्त विनीत प्रार्थना को सुन कर परमदयालु श्री सुधर्मा स्वामी बोले जम्बू! बहुत पुराने समय की बात है, जब कि वर्द्धमानपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था, उस के बाहिर ईशान कोण में अवस्थित विजयवर्द्धमान नाम का एक रमणीय उद्यान था, उस में माणिभद्र नाम के यक्ष-का एक सुप्रसिद्ध स्थान था, जिस के कारण उद्यान में बड़ी चहल पहल रहती थी। नगर के शासक विजयमित्र नाम के नरेश थे। इस के अतिरिक्त उस नगर में धनदेव नाम का एक सुप्रसिद्ध धनी, मानी सार्थवाह रहता था उसकी प्रियंगू नाम की भार्या और अंजू नाम की एक अत्यंत रूपवती कन्या थी।

उस समय विजयवर्धमान उद्यान में-चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का पधारना हुआ, उन की धर्मदेशना सुन कर जनता के चले जाने के बाद उन के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी भगवान् से आज्ञा ले कर जब भिक्षा के लिये नगर में जाते हैं तब उन्हों ने महाराज विजयमित्र के महल की अशोकवाटिका के समीप से जाते हुए वहां एक स्त्री-को देखा। उस की दशा बड़ी दयाजनक थी। शरीर सूखा हुआ, भूख के कारण शरीरगत रुधिर और मांस भी शरीर में दिखाई नहीं देता था, केवल चमड़े में लिपटा हुआ अस्थिपंजर ही नजर आता था, इस के अतिरिक्त उस का शब्द भी बड़ा करुणोत्पादक और दीनतापूर्ण था, उसके शरीर पर नीली साड़ी थी। गौतम स्वामी इस दृश्य से बड़े प्रभावित हुए, उन्हों ने वापिस आकर भगवान् से सारा वृत्तान्त कहा और उस स्त्री के पूर्वभव की जिज्ञासा की। यही सूत्रगत वर्णन का संक्षिप्त सार है।

उक्खेव—उत्क्षेप प्रस्तावना का नाम है। विपाक सूत्र के दुःखविपाक के दशम अध्ययन का प्रस्तावनासम्बन्धी सूत्रपाठ निम्नोक्त है—

जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स णं भंते! अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं दुहविवागाणं के अट्ठे पण्णत्ते?—" अर्थात् यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःख-विपाक के नवम अध्ययन का यदि भदन्त! यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भदन्त! यावत् मोक्ष-सम्प्राप्त श्रमण-भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के दशम अध्ययन का क्या अर्थ कथन किया है?।

अड्ढे०—यहां के बिन्दु से सूचित पाठ का विवरण पृष्ठ १२० पर, तथा—**परिसा जाव गओ**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से अभिमत पाठ पृष्ठ ३७५ पर लिखा जा चुका है। तथा—**जेट्ठे जाव अडमाणे**—यहां का **जाव—यावत्** पद—**अन्तेवासी इन्दभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते**—से ले कर—**चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई**—यहां तक के पदों का तथा—**छट्ठं—छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तते णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए**

पोरिसीए सज्झायं करेति, बीयाए पोरिसीए झाणं झियाति—से ले कर—दिट्ठीए पुरओ रियं सोहे—माणे—यहा तक के पदों का, तथा—जेणेव वद्धमाणपुरे णगरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता वद्धमाणपुरे नगरे उच्चनीयमज्झिमकुलाइं—इन पदों का परिचायक है। अन्तेवासी इन्दभूती—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १० और ११ के टिप्पण मे, तथा—छट्ठंछट्ठेण अणिक्खित्तेण—इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १२३ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा भगवान् गौतम वीर प्रभु से पारणे के निमित्त वाणिजग्राम नगर मे जाने की आज्ञा मागते हैं, जब कि प्रस्तुत मे वधमानपुर नगर मे जाने की। नगरगत भिन्नता के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। तथा—जेणेव वद्धमाणपुरे इत्यादि पदों का अर्थ है—जहा वर्धमानपुर नामक नगर था वहा पर चले जाते हैं और जा कर उच्च (धनी), नीच (निर्धन) तथा मध्यम सामान्य) कुलों में . ।

—सुक्खं भुक्खं—इत्यादि पदों का अर्थ अष्टमाध्याय के पृष्ठ ४३१ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा ये पद एक पुरुष के विशेषण हैं, जब कि प्रस्तुत मे एक नारी के। तथा—चिंता तहेव जाव एवं वयासी—यहा पठित चिन्ता शब्द मे विवक्षित पाठ की सूचना पृष्ठ २८७ पर दी जा चुकी है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा एक पुरुष के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है जब कि प्रस्तुत में एक नारी के सम्बन्ध में। तथा तहेव-तथैव पद का अर्थ है—वैसे ही, अर्थात् गौतम स्वामी उस स्त्री के सम्बन्ध मे उक्त विचार करते हुए वर्द्धमानपुर नगर में उच्च (धनी), नीच (निर्धन) और मध्यम (सामान्य) कुलों में भ्रमण करते हुए यथेष्ट सामुदानिक—गृहसमुदाय से प्राप्त भिक्षा को लेकर वर्धमानपुर नामक नगर के मध्य मे होते हुए जहा भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहा आते हैं, आकर भगवान् के निकट गमनागमनसम्बन्धी प्रतिक्रमण (कृत पाप का पश्चात्ताप) कर तथा आहारसम्बन्धी आलोचना (विचारणा या प्रायश्चित्त के लिए अपने दोषो को गुरु के सन्मुख रखना) की, आहार, पानी दिखलाया, तदनन्तर प्रभु को वन्दना नमस्कार किया और निवेदन किया—प्रभो! आप से आज्ञा प्राप्त कर के मैं वर्धमानपुर नगर में गया वहा उच्च आदि कुलों मे भ्रमण करते हुए मैंने विजयमित्र नरेश की अशोकवाटिका के निकट बड़ी दयनीय अवस्था को प्राप्त एक स्त्री को देखा, उसे देख कर मेरे मन में"—अहह! यह स्त्री पूर्वकृत पुरातनादि कर्मों का फल पा रही है। यह ठीक है कि मैंने नरक नहीं देखे किन्तु यह स्त्री तो प्रत्यक्ष नरकतुल्य वेदना को भोग रही है—" ऐसे विचार उत्पन्न हुए, इन भावों का बोधक तहेव—तथैव पद है, और इन्हीं भावों के सूचक पाठ को जाव—यावत् पद से अभिव्यक्त किया गया है, तथा जाव-यावत् पद से अभिमत पद निम्नोक्त पाठ का परिचायक है—

—त्ति कट्टु वद्धमाणपुरे णगरे उच्चनीयमज्झिमकुले अडमाणे अहापज्जत्तं समुयाणं गेण्हति २ त्ता वद्धमाणपुरं णगरं मज्झमज्झेणं निग्गच्छइ २ त्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ त्ता एसणमणेसणं आलोएइ २ त्ता भत्तपाणं पडिदंसेति। समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति २ त्ता एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे वद्धमाणपुरे णगरे उच्चनीयमज्झिमकुले घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे पासामि एगं इत्थियं सुक्खं भुक्खं निम्मंसं किडिकिडियाभूयं अट्ठिचम्मावणद्धं नीलसाडगनियत्थं कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं कूवमाणिं पासित्ता इमे अज्झत्थिते ५ समुप्पज्जित्था—अहो णं एसा इत्थी पुरा पुराणाणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावगं फलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणी विहरति। न मे दिट्ठा नरगा वा नेरइया वा पच्चक्खं खलु एसा इत्थी निरयपडिरूवियं वेयणं वेयइ। इन पदों का अर्थ स्पष्ट ही है। तथा वागरणा—का अर्थ है—गौतम स्वामी के उत्तर मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का प्रतिपादन।

श्री गौतम स्वामी की जिज्ञासापूर्ति के लिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो कुछ फरमाया, अब सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र में उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल :—[1]एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं २ इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे इन्दपुरे णामं णगरे होत्था। तत्थ णं इंददत्ते राया पुढवीसिरी णामं गणिया। वएणश्रो। तते णं सा पुढवीसिरी गणिया इंदपुरे णगरे बहवे राईसर० जाव प्पभियश्रो चुएणप्पश्रोगेहि य जाव अभिश्रोगित्ता उरालाइं माणुसभोगभोगाइं भुंजमाणी विहरति। तते णं सा पुढवीसिरी गणिया एयकम्मा ४ सुबहुं पावं कम्म समज्जिणित्ता पणतीसं वाससताइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसेणं० णेरइयत्ताए उववन्ना। सा णं तत्रो उव्वट्टित्ता इहेव वद्धमाणे णगरे धणदेवस्स सत्थवाहस्स पियंगू--भारयाए कुच्छिसि दारियत्ताए उववन्ना। तते णं सा पियगू भारिया णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारियं पयाया। नामं अंजूसिरी। सेसं जहा देवदत्ताए। तते णं से विजए राया आसवा० जहेव वेसमणदत्ते तहेव अंजुं पासति, णवरं अप्पणो अट्ठाए वरेति जहा तेतली, जाव अंजूए दारियाए सद्धिं उप्पिं जाव विहरति।

पदार्थ—**एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **गोतमा !**—हे गौतम ! । **तेणं कालेणं २**—उस काल तथा उस समय। **जंबुद्दीवे**—जम्बूद्वीप नामक। **दीवे**—द्वीप के अन्तर्गत। **भारहे वासे**—भारत वर्ष में। **इंदपुरे**—इन्द्रपुर। **णामं**—नामक। **णगरे होत्था**—नगर था। **तत्थ णं**—वहां पर। **इंददत्ते**—इन्द्रदत्त नामक। **राया**—राजा था। **पुढविसिरी**—पृथिवीश्री। **णाम**—नाम की। **गणिया**—गणिका-वेश्या थी। **वएणश्रो**—वर्णक-वर्णनप्रकरण पूर्ववत् जानना चाहिये। **तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **पुढविसिरी**—पृथिवीश्री। **गणिया**—गणिका। **इंदपुरे**—इन्द्रपुर। **णगरे**—नगर में। **बहवे**—अनेक। **राईसर०**—राजा—नरेश, ईश्वर—ऐश्वर्ययुक्त। **जाव**—यावत्। **प्पभियश्रो**—सार्थवाह-यात्री व्यापारियों का मुखिया अथवा संघनायक प्रभृति—आदि लोगों को। **चुएणप्पश्रोगेहि य**—चूर्णप्रयोगों से। **जाव**—यावत्। **अभिश्रोगित्ता**—वश में कर के। **उरालाइं**—उदार—प्रधान। **माणुसभोगभोगाइं**—मनुष्यसम्बन्धी विषय भोगों का। **भुंजमाणी**—उपभोग करती हुई। **विहरति**—समय व्यतीत कर रही थी। **तते णं**—तदनन्तर। **सा**—वह। **पुढविसिरी-**

(१) **छाया**—एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले २ इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे इन्द्रपुरं नाम नगरमभूत्। तत्रेन्द्रदत्तो राजा। पृथिवीश्री नाम गणिका। वर्णक। ततः सा पृथिवीश्री गणिका, इन्द्रपुरे नगरे बहून् राजेश्वर० यावत् प्रभृतीन् चूर्णप्रयोगैश्च यावद् अभियोज्य उदारान् मानुषभोगभोगान् भुंजाना विहरति। ततः सा पृथिवीश्रीः गणिका एतत्कर्मा ४ सुबहु पापं कर्म समर्ज्य पंचत्रिंशत् वर्षशतानि परमायुः पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा षष्ठ्यां पृथिव्यामुत्कर्षेण० नैरयिकतयोपपन्ना। सा ततः उद्वृत्त्येहैव वर्धमाने नगरे धनदेवस्य सार्थवाहस्य प्रियंगू--भार्याया कुक्षौ दारिकातयोपपन्ना। ततः सा प्रियंगू भार्या नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेषु दारिकां प्रजाता। नाम अंजूः शेषं यथा देवदत्तायाः। ततः स विजयो राजा अश्ववाहनिकया यथैव वैश्रमणदत्तः, तथैवाञ्जूं पश्यति। केवलमात्मनोऽर्थाय वृणीते। यथा तेतलिः। यावद् अंज्वा दारिकया सार्द्धमुपरि यावद् विहरति।

पृथिवीश्री नामक । **गणिया**—गणिका । **एयकम्मा ४**—एतत्कर्मा[1], एतद्विद्य, एतत्प्रधान और एतत्समाचार बनी हुई । **सुबहु**—अत्यधिक । **पाव**—पाप । **कम्मं**—कर्म का । **समज्जिणित्ता**—उपार्जन कर । **पणतीसं वाससताइं**—३५ सौ वर्ष की । **परमाउं**—परम आयु को । **पालइत्ता**—पाल कर—भोग कर । **कालमासे**—कालमास में अर्थात् मृत्यु का समय आ जाने पर । **कालं किच्चा** - काल करके । **छट्ठीए** - छठी । **पुढवीए** - पृथिवी-नरक में । **उक्कोसेणं०**—जिन की उत्कृष्ट स्थिति २२ सागरोपम की है, ऐसे नारकियों में । **णेरइयत्ताए** – नारकी रूप से । **उववन्ना**—उत्पन्न हुई । **सा णं**—वह । **तओ**—वहां से । **उव्वट्टित्ता**—निकल कर । **इहेव**—इसी । **वद्धमाणे**—वर्धमान । **णगरे**—नगर में । **धणदेवस्स**—धनदेव । **सत्थवाहस्स**—सार्थवाह की । **पियंगूभारियाए**—प्रियगू नामक भार्या की । **कुच्छिंसि** कुक्षि-उदर में । **दारियत्ताए**—कन्या रूप से । **उववन्ना**—उत्पन्न हुई । **तत णं**—तदनन्तर । **सा**—उस । **पियगू भारिया**—प्रियगूभार्या के । **णवण्ह** - नौ । **मासाण**—मास । **बहुपडिपुण्णाणं**—लगभग परिपूर्ण होने पर । **दारियं**—दारिका-बालिका का । **पयाया**—जन्म हुआ, उस का । **नाम**—नाम । **अंजूसिरी**—अञ्जूश्री रक्खा गया । **सेसं**—शेष । **जहा**—जैसे । **देवदत्ताए**—देवदत्ता का वर्णन किया गया है, वैसे ही जानना । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **विजए**—विजयमित्र । **राया**—राजा । **आसवा०**—अश्ववाहनिका—अश्वक्रीडा के लिए गमन करता हुआ । **जहेव**—जैसे । **वेसमणदत्ते**—वैश्रमणदत्त । **तहेव**—उसी भान्ति । **अंजु**—अजूश्री को । **पासति**—देखता है । **णवरं**—उस में इतनी विशेषता है कि वह उसे । **अप्पणो**—अपने । **अट्ठाए**—लिये । **वरेति**—मागता है । **जहा**—जिस प्रकार । **तेतली**—तेतलि । **जाव**—यावत् । **अजू०**—अजूश्री नामक । **दारियाए**—बालिका के । **सद्धिं**—साथ, (महलों के) । **उप्पिं**—ऊपर । **जाव**—यावत् । **विहरति**—विहरण करने लगा ।

मूलार्थ—गौतम ! इस प्रकार निश्चय ही उस काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष मे इन्द्रपुर नाम का एक सुप्रसिद्ध नगर था । वहा इन्द्रदत्त नाम का राजा राज्य किया करता था । नगर में पृथिवीश्री नाम की एक गणिका—वेश्या रहती थी । उस का वर्णन पूर्ववर्णित कामध्वजा वेश्या की भान्ति जान लेना चाहिए । इन्द्रपुर नगर मे वह गणिका अनेक ईश्वर, तलवर यावत् सार्थवाह आदि लोगों को चूर्णादि के प्रयोगो से वश में करके मनुष्यसम्बन्धी उदार-मनोज्ञ कामभोगो का यथेष्ट उपभोग करती हुई आनन्दपूर्वक समय बिता रही थी । तदनन्तर एतत्कर्मा, एतत्प्रधान, एतद्विद्य, तथा एतत्समाचार वह पृथिवीश्री वेश्या अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन कर ३५ सौ वर्ष की परम आयु भोग कर कालमास मे काल करके छठी नरक के २२ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकियों के मध्य मे नारकीय रूप से उत्पन्न हुई । वहा से निकल कर वह इसी वर्धमानपुर नगर के धनदेव नामक सार्थवाह की प्रियगू भार्या के उदर मे कन्यारूप से उत्पन्न हुई अर्थात् कन्यारूप से गर्भ मे आई । तदनन्तर उस प्रियगू भार्या ने नव मास पूरे होने पर कन्या को जन्म दिया और उस का अजूश्री नाम रक्खा । उस का शेष वर्णन देवदत्ता की तरह जानना । तदनन्तर महाराज विजयमित्र अश्वक्रीडा के निमित्त जाते हुए वैश्रमण दत्त को भान्ति ही अजूश्री को देखते हैं और तेतलि की तरह उसे अपने लिए मांगते हैं, यावत् वे अञ्जूश्री के साथ उन्नत प्रासाद मे यावत् सानन्द विहरण करते हैं ।

टीका—गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे उन के द्वारा देखी हुई स्त्री के पूर्वभवसम्बन्धी जीवन-वृत्तान्त का आरम्भ करते हुए श्रमण भगवान् महावीर बोले कि—गौतम ! बहुत पुरानी बात है, इसी जम्बूद्वीप के

---

(१) **एतत्कर्मा एतद्विद्य** आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १७९ की टिप्पण में दिया जा चुका है ।

अन्तर्गत [1]भरतक्षेत्र मे अर्थात् भारत वर्ष में इन्द्रपुर नाम का एक नगर था, वहा पर महाराज इन्द्रदत्त का शासन था। वह प्रजा का बड़ा ही हितचिन्तक और न्यायशील राजा था। इस के शासन मे प्रजा को हर एक प्रकार से सुख तथा शान्ति प्राप्त थी। उसी इन्द्रपुर मे पृथिवीश्री नाम की एक गणिका रहती थी। वह कामशास्त्र की विदुषी, अनेक कलाओं में निपुण, बहुत सी भाषाओं की जानकार और शृङ्गार की विशेषज्ञा थी। इस के अतिरिक्त नृत्य और संगीत कला मे भी वह अद्वितीय थी। इसी कला के प्रभाव से वह राजमान्य हो गई थी। हजारों वेश्याए उस के शासन में रहती थीं। उस का रूप लावण्य तथा शारीरिक सौन्दर्य एवं कलाकौशल्य उस के पृथिवीश्री नाम को सार्थक कर रहा था। पृथिवीश्री अपने शारीरिक सौन्दय तथा कलाप्रदर्शन के द्वारा नगर के अनेक राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह प्रभृति—आदि धनी मानी युवकों को अपनी ओर आकर्षित किये हुए थी। किसी को सौन्दर्य से, किसी को कला से और किसी को विलक्षण हावभाव से वह अपने वश में करने के लिए सिद्धहस्त थी, और जो कोई इन से बच जाता उसे वशीकरणसम्बन्धी चूर्णादि के प्रक्षेप से अपने वश मे कर लेती। इस प्रकार नगर के रूप तथा यौवन सम्पन्न धनी मानी गृहस्थों के सहवास से वह मनुष्यसम्बन्धी उदार-प्रधान विषयभोगों का यथेष्ट उपभोग करती हुई सांसारिक सुखों का अनुभव कर रही थी।

वशीकरण के लिये अमुक प्रकार के द्रव्यों का मन्त्रोच्चारणपूर्वक या बिना मन्त्र के जो सम्मेलन किया जाता है, उसे चूर्ण कहते हैं। इस वशीकरणचूर्ण का जिस व्यक्ति पर प्रक्षेप किया जाता है अथवा जिसे खिलाया जाता है, वह प्रक्षेप करने या खिलाने वाले के वश मे हो जाता है। इस प्रकार के [2]वशीकरणचूर्ण उस समय बनते या बनाये जाते थे और उनका प्रयोग भी किया जाता था, यह प्रस्तुत सूत्रपाठ से अनायास ही सिद्ध हो जाता है। पृथिवीश्री नामक की वेश्या ने काममूलक विषयवासना की पूर्ति के लिए गुप्त और प्रकट रूप में जितना भी पापपुंज एकत्रित किया, उसी के परिणामस्वरूप वह छठी नरक में गई और उस ने वहा नरकगत वेदनाओं का उपभोग किया।

प्रश्न—यह ठीक है कि मैथुन से मनुष्य के शरीर मे अवस्थित सारभूत पदार्थ वीर्य का क्षय होता

---

(१) भरतक्षेत्र अर्ध चन्द्रमा के आकार का है। उसके तीन तरफ लवण समुद्र और उत्तर मे चुल्लहिमवन्त पर्वत हैं अर्थात् लवण समुद्र और चुल्लहिमवतपर्वत से उस की हद बधी है। भरत के मध्य मे वैताढ्य पर्वत है, और उस से दो भाग होते हैं वैताढ्य की दक्षिण तरफ का दक्षिणार्ध भरत और उत्तर की तरफ का उत्तरार्द्ध भरत कहलाता है। चुल्लहिमवन्त के ऊपर से निकलने वाली गगा और सिन्धु नदी वैताढ्य की गुफाओं मे से निकल कर लवण समुद्र मे मिलती हैं, इससे भरत के छः विभाग हो जाते हैं। इन छः विभागों में साम्राज्य प्राप्त करने वाला व्यक्ति चक्रवर्ती कहलाता है। तीर्थंकर वगैरह दक्षिणार्ध के मध्य खण्ड मे होते हैं। (अर्धमागधी कोष)

(२) तान्त्रिकग्रन्थों मे स्त्रीवशीकरण, पुरुषवशीकरण और राजवशीकरण आदि अनेकविध प्रयोगों का उल्लेख है। उन मे केवल मन्त्रों, केवल तन्त्रों और मन्त्रपूर्वक तन्त्रों के भिन्न भिन्न प्रकार वर्णित हैं, परन्तु सामान्यरूप से इस के दो प्रकार होते हैं। प्रथम यह कि इस का प्रयोग दैविकशक्ति को धारण करता है। इस प्रयोग मे जो भी कुछ होता है वह देवबल से होता है अर्थात् देवता के प्रभाव से होता है। इस मान्यता के अनुसार इस का प्रयोग वही कर सकता है जिस के वश में दैविक शक्ति हो। दूसरी मान्यता यह है कि इस का प्रयोग करने वाला ऐसे पुद्गलों—परमाणुओं का सग्रह करता है कि जिन में आकर्षण शक्ति प्रधान होती है, और उन के प्रयोग से जिस पर कि प्रयोग होता है वह दास की तरह आज्ञाकारी तथा अनुकूल हो जाता है। प्रथम मे देवदृष्टि को प्राधान्य प्राप्त है और दूसरे में मात्र आकर्षक परमाणुओं का प्रभाव है। इस में देवदृष्टि को कोई स्थान नहीं।

है। वीर्यनाश से शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक शक्ति का ह्रास होता है। बुद्धि मलिन हो जाती है। किसी भी काम में उत्साह नहीं रहने पाता, तथा यह भी ठीक है कि मैथुनसेवी व्यक्ति दूसरों के अनुचित दबाव से झुक जाता है, उस की प्रवृत्ति दब्बू हो जाती है, वह लोगों के अपमान का भाजन बन जाता है, तथा और भी अनेकों दुर्गुण हैं जिन का वह शिकार हो जाता है इस के अतिरिक्त क्या विषयसेवन में हिंसा (प्राणिवध) की सभावना भी रहती है ?

उत्तर—हा, अवश्य रहती है। शास्त्रों में लिखा है कि जिस समय कामप्रवृत्तिमूलक स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है, उस समय असख्यात (सख्यातीत) जीवों की विराधना होती है। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के समय होने वाले प्राणिविनाश के लिये शास्त्रों मे एक बड़ा ही मननीय उदाहरण दिया है। वहा लिखा[1] है कि कल्पना करो कि कोई पुरुष एक बास की नलिका में रूई या बूर को भर कर उसमें अग्नि के समान तपी हुई लोहे की सलाई का प्रवेश करदे, तो उसमे रूई या बूर जल कर भस्म हो जाता है। इसी तरह स्त्री पुरुष के सगम में भी असख्यात समूर्च्छिम त्रस जीवों का विनाश होता है। यहा नलिका के समान स्त्री की जननेन्द्रिय और शलाका के समान पुरुषचिन्ह तथा तूल-रूई के सदृश वे समूर्च्छिम जीव हैं, जो दोनों के सगम से मर जाते हैं। इस लिये विषय-मैथुन—प्रवृत्ति जहा अन्य अनर्थों की उत्पादिका है, वहा वह हिंसामूलक भी है। इसी जीवविराधना को लक्ष्य में रखकर ही तत्त्ववेत्ता महापुरुषों ने ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश दिया है। इस के विपरीत जो मानव प्राणी ब्रह्मचर्य से पराङ्मुख होकर निरन्तर विषयसेवन में प्रवृत्त रहते हैं, वे अपना शारीरिक और मानसिक बल खोने के साथ २ जीवों की भी भारी सख्या में विराधना करते हुए अधिक से अधिक आत्मपतन की ओर प्रस्थान करते हैं। तब पापकर्मों के उपचय से उन की आत्मा इतनी भारी हो जाती है कि उन को ऊर्ध्वगति की प्राप्ति असभव हो जाती है और उन्हें नारकीय दु:खों का उपभोग करना पड़ता है।

पृथिवीश्री नाम की वेश्या के नरकगमन का कारण विषयासक्ति ही अधिक रहा है। उस ने इस जघन्य सावद्य प्रवृत्ति में इतने अधिक पापकर्म उपार्जित किये कि जिन से अधिक प्रमाण में भारी हुई उस की आत्मा को छठी पृथिवी में उत्पन्न हो कर अपनी करणी का फल पाना पड़ा।

भगवान् कहते हैं कि गौतम ! नरक की भवस्थिति पूरी कर फिर वह इसी वर्धमानपुर नगर मे धन-देव सार्थवाह की भार्या प्रियंगूश्री के उदर में कन्यारूप से उत्पन्न हुई अर्थात् गर्भ में आई। लगभग नवमास पूरे होने के अनन्तर प्रियगूश्री ने एक कन्यारत्न को जन्म दिया। जन्म के बाद नामसस्कार के समय उस का अजूश्री नाम रक्खा गया। उस का भी पालन, पोषण, और सवर्धन देवदत्ता की तरह सम्पन्न हुआ, तथा उस का रूपलावण्य और सौन्दर्य भी देवदत्ता की भाति अपूर्व था।

---

(१) मेहुणेण भंते ! सेवमाणस्स केरिसिए असंजमे कज्जइ ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं समविद्धंसेज्जा, एरिसएणं गोयमा ! मेहुणं सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ। (भगवतीसूत्र श० २ उद्दे० ५, सू० १०६)। इस के अतिरिक्त मैथुन के सम्बन्ध में श्री दशवैकालिक सूत्र में क्या ही सुन्दर लिखा है—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणससग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं॥ अ० ६/१७।

एक दिन अजूश्री अपनी सहेलियां और दासियों के साथ अपने उन्नत प्रासाद के झरोखे में कनक कन्दुक अर्थात् सोने की गेंद से खेल रही थी। इतने में वर्धमानपुर के नरेश महाराज विजयमित्र अश्वक्रीडा के निमित्त भ्रमण करते हुए उधर से गुजरे तो अचानक उन की दृष्टि अंजूश्री पर पड़ी। उस को देखते ही वे उस पर इतने मुग्ध हो गए कि उन को वहां से आगे बढ़ना कठिन हो गया। अजूश्री के सौन्दर्यपूर्ण शरीर में कन्दुक-क्रीडा से उत्पन्न होने वाली विलक्षण चचलता ने अश्वारूढ विजय नरेश के मन को इतना चचल बना दिया कि उस के कारण वे अजूश्री को प्राप्त करने के लिये एकदम अधीर हो उठे। मन पर से उन का अकुश उठ गया और वह अजूश्री की कन्दुकक्रीडाजनित शारीरिक चचलता के साथ ऐसा उलझा कि वापिस आने का नाम ही नहीं लेता। साराश यह है कि अजूश्री को देख कर महाराज विजयनरेश उस पर मोहित होगये और साथ में आने वाले अनुचरों से उस के नाम, ठाम आदि के विषय में पूछताछ कर येन केन उपायेन उसे प्राप्त करने की भावना के साथ वापिस लौटे अर्थात् आगे जाने के विचार को स्थगित कर स्वस्थान को ही वापिस आ गये।

इन के आगे का अर्थात् अजूश्री को प्राप्त करने के उपाय से ले कर उस की प्राप्ति तक का सारा वृत्तान्त अक्षरश वही है जो वैश्रमणदत्त के वर्णन में आ चुका है। केवल नामों में अन्तर है। वहां देवदत्ता यहां अजूश्री वहां दत्त यहां धनदेव एव वहां वैश्रमण दत्त और यहां विजय नरेश है। इस के अतिरिक्त वैश्रमणदत्त और विजय मित्र की याचना में कुछ अन्तर है। वैश्रमणदत्त ने तो देवदत्ता को पुत्रवधू के रूप में मांगा था जब कि विजयमित्र अजूश्री की याचना महाराज कनकरथ के प्रधानमन्त्री [1]तेतलि कुमार की भान्ति भार्यारूप से अपने लिए कर रहे हैं। तदनन्तर अञ्जूश्री के साथ विजय नरेश का पाणिग्रहण हो जाता है और दोनों मानवसम्बन्धी उदार विषयभोगों का उपभोग करते हुए सानन्द जीवन व्यतीत करने लगे।

—**गणिया वरणओ**—यहां पठित—**वर्णक** पद का अर्थ है—वर्णनप्रकरण अर्थात् गणिका—सम्बन्धी वर्णन पहले किया जा चुका है। इस बात को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने—**वरणओ**—इस पद का प्रयोग किया है। प्रस्तुत में इस पद से ससूचित—**होत्था, अहीण० जाव सुरूवा बावत्तरीकलापंडिया**—से ले कर—**आहेवच्चं जाव विहरति**—यहां तक के पाठ का अर्थ पृष्ठ १०६ पर लिखा जा चुका है।

राईसर० जाव प्पभियओ तथा—**चुण्णप्पओगेहि य जाव अभिओगित्ता**—यहां पठित

(१) तेतलिपुत्र या तेतलि कुमार का वृत्तान्त "ज्ञाताधर्मकथाङ्ग०" नाम के छठे अग के १४वें अध्ययन में वर्णित हुआ है। उस का प्रकृतोपयोगी साराश इस प्रकार है—

" तेतलि कुमार तेतलिपुर नगर के अधिपति महाराज कनकरथ का प्रधान मन्त्री था, जो कि राजकार्य के सचालन में निपुण और नीतिशास्त्र का परममर्मज्ञ था। उस के नीतिकौशल्य ने ही उसे प्रधानमन्त्री के सुयोग्य पद पर आरूढ होने का समय दिया था। उसी तेतलिपुर नगर में कलाद नाम का एक सुवर्णकार (सुनार) रहता था जो कि धनसम्पन्न और बुद्धिमान् था, परन्तु तेतलिपुर में उस की "**मूषिकाकार दारक**" के नाम से प्रसिद्धि थी। उस की स्त्री का नाम भद्रा था। भद्रा भी स्वभाव से सौम्य और पतिपरायणा थी। इन के पोट्टिला नाम की एक रूपवती कन्या थी। जन्म से लेकर युवावस्था पर्यन्त पोट्टिला का पालन पोषण और शिक्षा दीक्षा आदि का प्रबन्ध भी योग्य धायमाताओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। वह भी रूपलावण्य और शारीरिक सौन्दर्य में अपूर्व थी। इस के आगे का अर्थात् उन्नत महल के झरोखे में दासियों के साथ कदुकक्रीडा करना, और प्रधान मन्त्री तेतलि कुमार का उसे देखना एव निजार्थ याचना करना अर्थात् उसे अपने लिए मांगना आदि सपूर्ण वृत्तान्त पूर्व वर्णित वैश्रमणदत्त या विजयमित्र की तरह ही उल्लेख किया है। अधिक के जिज्ञासु **ज्ञाताधर्मकथाङ्ग** सूत्र में ही उक्त कथासदर्भ का अवलोकन कर सकते हैं।

प्रथम—जाव—यावत् पद—**तलवरमाडम्बियकोडुम्बियइब्भसेट्ठिसत्थवाह**—इन पदों का तथा द्वितीय **जाव-यावत्** पद—**हियउड्डावणेहि य निएहवणेहि य पएहवणेहि य वसीकरणेहि य आभिओगिएहि य**—इन पदों का परिचायक है। **तलवर**—आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ १६५ पर, तथा—**हियउड्डावणेहि** इत्यादि पदों का अर्थ पृष्ठ १८७ पर लिखा जा चुका है। तथा—**पयकम्मा ४**—यहां के अङ्क से अभिमत पाठ का विवरण पृष्ठ १७९ की टिप्पण में दिया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है वहां ये एक पुरुष के विशेषण हैं, जब कि प्रस्तुत में एक स्त्री के। लिंगगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है।

—**उक्कोसेणं० णेरइयत्ताए**—यहां का बिन्दु—**बावीससागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु**—इन पदों का परिचायक है। इन पदों का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है।

—**सेसे जहा देवदत्ताए**—इन पदों से सूत्रकार ने अञ्जूश्री के जीवनवृत्तान्त को देवदत्ता के तुल्य सम्रुचित किया है, अर्थात् जिस प्रकार दुःखविपाक के नवम अध्ययन में देवदत्ता के पालन, पोषण, शारीरिक सौंदर्य तथा कुब्जादि दासियों के साथ विशाल भवन के ऊपर झरोखे में सोने की गेंद से खेलने का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार अञ्जूश्री के सम्बन्ध में भावना कर लेनी चाहिये।

—**आसवा०**—यहां का बिन्दु—**हरियाए णिज्जायमाणे**—इस पाठ का बोधक है। तथा—**जहेव वेसमणदत्ते तहेव अंजू**—इन पदों से सूत्रकार ने नवम अध्ययन में वर्णित पदार्थ की ओर संकेत किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नवमाध्याय में वर्णित रोहीतकनरेश वैश्रमणदत्त गाथापति के घर के निकट जाते हुए सोने की गेंद से खेलती हुई देवदत्ता को देखते हैं और उसके रूपादि से विस्मित एवं मोहित होते हैं, वैसे ही वर्धमाननरेश विजय धनदेव के घर के निकट जाते हुए अञ्जूश्री को देख कर उस के रूपादि से विस्मित एवं मोहित हो जाते हैं।

—**णवरं अप्पणो अट्ठाए वरेति**——यहां प्रयुक्त **णवरं**—इस अव्यय पद का अर्थ है—केवल अर्थात् केवल इतना अन्तर है। तात्पर्य यह है कि वैश्रमणदत्त और विजयमित्र में इतना अन्तर है कि वैश्रमणदत्त नरेश ने देवदत्ता को युवराज पुष्यनन्दी के लिये मांगा था जब कि विजय नरेश ने अञ्जूश्री को अपने लिये अर्थात् अपनी रानी बनाने के लिये याचना की थी।

—**जाव अंजूए**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से **श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग** सूत्र के १४वें अध्ययन में वर्णित तेतलिपुत्र ने जिस तरह पोटिल्ला को अपने लिये मांगा था—आदि कथासंदर्भ के संसूचित पाठ को सूचित किया गया है, जिसे श्री **ज्ञाताधर्मकथाङ्ग** में देखा जा सकता है।

—**उप्पिं जाव विहरति**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से अभिमत—**पासायवरगए फुट्टमाणेहिं**—से ले कर—**पच्चणुभवमाणे**—यहां तक के पद पृष्ठ २३४ पर लिखे जा चुके हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वहां अभग्नसेन का वर्णन है, जब कि प्रस्तुत में विजय नरेश का।

अब सूत्रकार अंजूश्री के आगामी जीवनवृत्तान्त का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]**तते णं तीसे अंजूए देवीए अन्नया कयाइ जोणिसूले पाउब्भूते यावि होत्था।**

---

(१) छाया—ततस्तस्या अञ्ज्वा देव्या अन्यदा कदाचित् योनिशूलं प्रादुर्भूतं चाप्यभूत्। ततः स विजयो राजा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दाययति २ एवमवादीत्—गच्छत देवानुप्रियाः! वर्धमानपुरे नगरे शृंघाटक० यावद् एवमवदत—एवं खलु देवानुप्रियाः! अञ्ज्वा देव्या योनिशूलं प्रादुर्भूतं य इच्छति वैद्यो वा ६ यावदुद्घोषयन्ति।

तते णं से विजए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति २ त्ता एवं वयासी-गच्छह णं देवाणुप्पिया ! वद्धमाणपुरे नगरे सिंघा० जाव एवं वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अंजूए देवीए जोणिसूले पाउब्भूते जो णं इच्छति वेज्जो वा ६ जाव उग्घासेति । तते णं ते बहवे वेज्जा वा ६ इमं एयारूवं उग्घोसणं सोच्चा निसम्म जेणेव विजए राया तेणेव उवागच्छन्ति अंजूए देवीए बहूहिं उप्पत्तियाहिं ४ बुद्धिहिं परिणामेमाणा इच्छंति अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तए, नो संचाएंति उवसामित्तए । तते णं ते बहवे वेज्जा य ६ जाहे नो संचाएंति अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तए, ताहे संता तंता परितंता जामेव दिसं पाउब्भूता तामेव दिसं पडिगता । तते णं सा अंजू देवी तीए वेयणाए अभिभूया समाणी सुक्का भुक्खा निम्मंसा कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं विलवति । एवं खलु गोयमा ! अंजू देवी पुरा जाव विहरति ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । तीसे —उस । अञ्जूए—अंजू । देवीए—देवी के । अन्नया—अन्यदा । कयाइ—कदाचित् । जोणिसूले—योनिशूल—योनि में होने वाली असह्य वेदना । पाउब्भूते—प्रादुर्भूत—उत्पन्न । यावि होत्था—हो गई थी । तते णं—तदनन्तर । से—वह । विजए—विजयमित्र । राया—राजा । कोडुंबियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषों—पास में रहने वाले अनुचरों को । सद्दावेति २ त्ता—बुलाता है और बुलाकर । एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा । देवाणुप्पिया[1] !—हे भद्र पुरुषो ! । गच्छह णं—तुम जाओ । वद्धमाणपुरे—वर्धमानपुर । णगरे—नगर के । सिंघा०—शृङ्गाटक—त्रिपथ । जाव—यावत् सामान्य मार्गों में । एवं—इस प्रकार । वयह—कहो—उद्घोषणा करो । एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । देवाणुप्पिया !—हे महानुभावो ! । अञ्जूए—अंजू । देवीए—देवी के । जोणिसूले—योनिशूल-रोगविशेष । पाउब्भूते—प्रादुर्भूत हो गया है—योनि में तीव्र वेदना उत्पन्न हो गई, तब । जो णं—जो कोई । वेज्जो वा ६—वैद्य या वैद्यपुत्र आदि । इच्छति—चाहता है । जाव—यावत् अर्थात् उपशान्त करने वाले को महाराज विजयमित्र पर्याप्त धनसम्पत्ति से सन्तुष्ट करेगा, इस प्रकार । उग्घोसेति—उद्घोषणा करते हैं । तते णं—तदनतर (नगरस्थ) । ते—वे । बहवे—बहुत से । वेज्जा वा ६—वैद्य आदि । इमं—यह । एयारूवं—इस प्रकार की । उग्घोसणं—उद्घोषणा को । सोच्चा—सुन कर । निसम्म—अर्थरूप से अवधारण कर । जेणेव—जहां पर । विजए—विजयमित्र । राया—राजा था । तेणेव—वहां पर । उवागच्छन्ति २ त्ता—आ जाते हैं, आकर । अञ्जूए—अंजू । देवीए—देवी के पास उपस्थित होते हैं, और । बहूहिं—विविध प्रकार से । उप्पत्तियाहिं ४—औत्पातिकी आदि । बुद्धिहिं—बुद्धियों के द्वारा । परिणामेमाणा—परिणाम को प्राप्त कर अर्थात्

ततस्ते बहवो वैद्या वा ६ इमामेतद्रूपामुद्घोषणां श्रुत्वा निशम्य यत्रैव विजयो राजा तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य अंजवा देव्या बहुभिः औत्पातिकीभिः ४ बुद्धिभिः परिणमयन्त इच्छन्ति, अञ्ज्वा देव्या योनिशूलमुपशमयितुम् । नो सशक्नुवन्ति उपशमयितुम् । ततस्ते बहवो वैद्या ६ यदा नो सशक्नुवन्ति अञ्ज्वा देव्या योनिशूलमुपशमयितुम्, तदा श्रान्ता तान्ता परितान्ता यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतास्तामेव दिशं प्रतिगता । ततः सा अञ्जूर्देवी तया वेदनया अभिभूता सती शुष्का बुभुक्षिता निर्मांसा कष्टानि करुणानि विस्वराणि विलपति । एवं खलु गौतम ! अञ्जूर्देवी पुरा यावद् विहरति ।

(१) देवानुप्रिय शब्द का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ ६७ के टिप्पण में किया जा चुका है ।

निदान आदि द्वारा निर्णय करते हुए वे वैद्य । **अञ्जूए देवीए**—अञ्जूदेवी के(नाना प्रकार के प्रयोगों द्वारा)। **जोणिसूलं** -योनिशूल को। **उवसामित्तए**—उपशान्त करना । **इच्छंति**—चाहते हैं, अर्थात् यत्न करते हैं, परन्तु। **उवसामित्तए**—उपशान्त करने में । **नो संचाएंति**—समर्थ नहीं होते अर्थात् अञ्जूदेवी के योनिशूल को उपशांत दूर करने में सफल नहीं हो पाये । **तते णं**—तदनन्तर । **ते वेज्जा य ६**—वे वैद्य आदि । **जाहे**—जब । **अञ्जूए**—अञ्जू । **देवीए**—देवी के । **जोणिसूलं**—योनिशूल को । **उवसामित्तए**—उपशान्त करने में । **नो संचाएंति**—समर्थ नहीं हो सके । **ताहे**—तब । **संता**—तान्त—खिन्न । **संता**—श्रान्त, और । **परितंता**—हतोत्साह हुए २ । **जामेव**—जिस । **दिसं**—दिशा से । **पाउब्भूता**—आये थे । **तामेव**—उसी । **दिसं**—दिशा को । **पडिगता**—वापिस चले गये । **तते णं**—तदनन्तर । **सा**—वह । **अञ्जू देवी**—अञ्जू देवी । **ताए**—उस । **वेयणाए**—वेदना से । **अभिभूया**—अभिभूत—युक्त । **समाणी**—हुई २ । **सुक्का**—सूख गई । **भुक्खा**—भूखी रहने लगी । **निम्मंसा**—मासरहित हो गई । **कट्ठाइं**—कष्टहेतुक । **कलुणाइं**—करुणोत्पादक । **वीसराइं**—दीनतापूर्ण वचनों से । **विलवति**—विलाप करती है । **गोयमा** !—हे गौतम ! । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **अञ्जू देवी**—अञ्जूदेवी । **पुरा जाव विहरति**—पूर्वसंचित अशुभ कर्मों का फल भोग रही है ।

मूलार्थ—किसी अन्य समय अञ्जूश्री के शरीर में योनिशूल नामक रोग का प्रादुर्भाव हो गया । यह देख विजयनरेश ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहा कि तुम लोग वर्धमानपुर में जा कर वहां के त्रिपथ, चतुष्पथ यावत् सामान्य रास्तों पर यह उद्घोषणा कर दो कि देवी अञ्जूश्री के योनिशूल रोग उत्पन्न हो गया है, अत. जो कोई वैद्य या वैद्यपुत्र आदि उस को उपशांत कर देगा तो उसे महाराज विजयमित्र पुष्कल धन प्रदान करेंगे । तदनन्तर राजाज्ञा से अनुचरों के द्वारा की गई इस उद्घोषणा को सुन कर नगर के बहुत से अनुभवी वैद्य, वैद्यपुत्र आदि विजयमित्र के पास आते हैं और वहां से देवी अञ्जूश्री के पास उपस्थित हो कर औत्पातिकी आदि बुद्धियों के द्वारा परिणाम को प्राप्त करते हुए विविध प्रकार के आनुभविक प्रयोगों के द्वारा देवी अञ्जूश्री के योनिशूल को उपशान्त करने का यत्न करते हैं, परन्तु उन के प्रयोगों से देवी अञ्जूश्री का योनिशूल उपशान्त नहीं हो पाया । तदनन्तर जब वे अनुभवी वैद्य अञ्जूश्री के योनिशूल को शमन करने में विफल हो गये, तब वे खिन्न, श्रान्त और हतोत्साह हो कर जिधर से आये थे उधर को ही चले गये । तत्पश्चात् देवी अंजूश्री उस शूलजन्य वेदना से दु खी हुई २ सूखने लगी, भूखी रहने लगी और मांसरहित होकर कष्ट, करुणाजनक और दीनतापूर्ण शब्दों में विलाप करती हुई जीवन यापन करने लगी ।

भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! इस प्रकार देवी अंजूश्री अपने पूर्वोपार्जित पाप कर्मों के फल का उपभोग करती हुई जीवन व्यतीत कर रही है ।

टीका—सुख और दु ख ये दोनों प्राणी के शुभ और अशुभ कर्मों के फलविशेष हैं, जो कि समय २ पर प्राणी उन के फल का उपभोग करते रहते हैं। शुभकर्म के उदय में जीव सुखी और अशुभ के उदय में जीव दु ख का अनुभव करता है । एक की समाप्ति और दूसरे का उदय इस प्रकार चलने वाले कर्मचक्र में भ्रमण करने वाले जीव को सुख के बाद दु ख और दु.ख के अनन्तर सुख का निरंतर अनुभव करना पड़ता है । तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध है तब तक उन में समय २ पर सुख और दु ख दोनों की अनुभूति बनी रहती है । उक्त नियम के अनुसार अञ्जूश्री के जब तक तो शुभ कर्मों का उदय रहा तब तक तो उसे शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के सुख प्राप्त रहे, महाराज विजयमित्र की महारानी बन कर

मानवोचित सासारिक वैभव का उस ने यथेष्ट उपभोग किया, परन्तु आज उस के वे शुभ कर्म फल देकर प्राय: समाप्त हो गये। अब उन की जगह अशुभ कर्मों ने लेली है। उन के फलस्वरूप वह एक तीव्रवेदना का अनुभव कर रही है। योनिशूल के पीड़ा ने उस के शरीर को सुखा कर अस्थिपंजर मात्र बना दिया। उस के शरीर की समस्त कान्ति सर्वथा लुप्त हो गई। वह शूलजन्य असह्य वेदना से व्याकुल हुई २ रात दिन निरन्तर विलाप करती रहती है। महाराज विजयमित्र ने उस की चिकित्सा के लिये नगर के अनेक अनुभवी चिकित्सकों, निपुण वैद्यों को बुलाया और उन्हों ने भी अपने बुद्धिबल से अनेक प्रकार के शास्त्रीय प्रयोगों द्वारा उसे उपशान्त करने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु वे सब विफल ही रहे। किसी के भी उपचार से कुछ न बना। अन्त में हताश हो कर उन वैद्यों को भी वापिस जाना पडा। यह है अशुभ कर्म के उदय का प्रभाव, जिस के आगे सभी प्रकार के आनुभविक उपाय भी निष्फल निकले।

श्रमण भगवान् महावीर फरमाने लगे कि गौतम ! तुम ने महाराज विजयमित्र की अशोकवाटिका के समीप आन्तरिक वेदना से दु खो होकर विलाप करती हुई जिस स्त्री को देखा था वह यही अजूश्री है, जो कि अपने पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के कारण दु खमय विपाक का अनुभव कर रही है।

—सिंघा० जाव पव— यहा पठित **जाव—यावत्** पद—**दुग-तिय—चउक्क—चच्चर—महापह—पहेसु महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा**—इन पदों का तथा—**वेज्जे वा ६**—यहा का अङ्क—**वेज्ज-पुत्तो वा जाणओ वा जाणयपुत्तो वा तेइच्छिओ वा तेइच्छियपुत्तो वा**—इन पदों का परिचायक है। इन पदों का अर्थ पृष्ठ ६५ तथा ६६ पर लिखा जा चुका है।

—जाव उग्घोसंति—यहा का **जाव—यावत्** पद—**अंजूए देवीए जोणिसूल उवसामित्तते, तस्स णं विजए राया विउल अत्थसंपयाणं दलयति, दोच्च पि तच्च पि उग्घोसेह उग्घोसित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणेह। तते णं ते कोडुंबिया पुरिसा, एयमट्ठं करयलपरिग्गहिय मत्थए दसणहं अंजलिं कट्टु पडिसुणेति पडिसुणित्ता वद्धमानपुरे सिंघाडग० जाव पहेसु महया २ सद्देणं एवं खलु देवाणुप्पिया ! अंजूए देवीए जोणिसूले पाउब्भूते, तं जो णं इच्छति वेज्जो वा ६ अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तते, तस्स णं विजए राया विउलं अत्थसपयाणं दलयति त्ति**—इन पदों का परिचायक है। इन पदों का अर्थ स्पष्ट ही है।

—उप्पत्तियाहि ४ बुद्धिहि—यहा के अ क से अभिमत अवशिष्ट वैनयिकी आदि तीन बुद्धियों की सूचना अष्टमाध्याय के पृष्ठ ४५९ पर की जा चुकी है। तथा—**श्रान्त, तान्त** और **परितान्त** पदों का अर्थ पृष्ठ ७३ पर. तथा—**शुष्का**—इत्यादि पदो का अर्थ पीछे[1] पृष्ठ ४३१ पर, तथा —**पुरा जाव विहरति**—यहा के **जाव—यावत्** पद से विवक्षित पदों का विवरण पृष्ठ २७१ पर किया जा चुका है।

अञ्जूश्री के जीवनवृत्तान्त का श्रवण कर और उसके शरीरगत रोग को असाध्य जान कर मृत्यु के अनन्तर उस का क्या बनेगा ?, इस जिज्ञासा को ले कर गौतम स्वामी प्रभु से फिर कहते हैं—

मूल—[2]**अंजू णं भंते ! देवी इओ कालमासे काल किच्चा कहिं गच्छिहिति ?, कहिं उववज्जिहिति ?।**

पदार्थ—भंते !—हे भगवन् !। **अंजू णं देवी**—अञ्जूदेवी। **इओ**—यहा से। **कालमासे**—काल-मास में। **कालं किच्चा**—काल करके। **कहिं**—कहा। **गच्छिहिति ?**—जायेगी ?। **कहिं**—कहा पर।

(१) अन्तर मात्र इतना है कि वहा ये पद द्वितीयान्त तथा पुरुषवर्णन में उपन्यस्त हैं।
(२) छाया—अञ्जू. भदन्त ! देवी इत. कालमासे काल कृत्वा कुत्र गमिष्यति ?, कुत्र उपपत्स्यते ?।

उववज्जिहिति—उत्पन्न होगी ? ।

मूलार्थ—भगवन् ! अजूदेवी यहां से कालमास मे अर्थात् मृत्यु का समय आ जाने पर, काल कर के कहां जायेगी ? और कहां पर उत्पन्न होगी ? ।

टीका—वर्धमाननरेश विजयमित्र के अशोकवाटिका के निकट जाते हुए गौतम स्वामी ने जो एक स्त्री का दयनीय दृश्य देखा था, तथा उस से उन के मन में उस के पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त को जानने के जो सकल्प उत्पन्न हुए थे, उन की पूर्ति हो जाने पर वे बड़े गद्गद हुए और फिर उन्हा ने भगवान् से उस के आगामी भवों के सम्बन्ध में पूछना आरम्भ किया। वे बोले—भदन्त ! अजूश्री यहा से मर कर कहा जायेगी ? और कहा उत्पन्न होगी ?, तात्पर्य यह है कि अञ्जूश्री इसी भान्ति ससार में घटीयन्त्र की तरह जन्म मरण के चक्र[1] में पडी रहेगी या इस का कहीं उद्धार भी होगा ?, इस के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया, अब सूत्रकार उस का उल्लेख करते हैं—

मूल—[2]गोतमा ? अंजू णं देवी नउई वासाइं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिइ। एवं संसारो जहा पढमो तहा णेयव्वं जाव वणस्सति०। सा णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सव्वओभद्दे णगरे मयूरत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ साउणिएहिं वधिते समाणे तत्थेव सव्वओभद्दे णगरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति। से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे० तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिति। पव्वज्जा०। सोहम्मे०। ततो देवलोगाओ आउक्खएणं कहिं गच्छिहिति ?, कहिं उववज्जिहिति ? गोतमा ! महाविदेहे जहा पढमे जाव सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति। एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। सेवं भंते !, सेवं भंते ! ।

॥ दुहविवागेसु दससु अज्झयणेसु पढमो सुयक्खंधो समत्तो ॥

---

(१) अहो ! संसारकूपेऽस्मिन् जीवाः कुर्वन्ति कर्मभिः ।
अरघट्टघटीन्यायेन यहिरेयाहिरां क्रियाम् ॥१॥

अर्थात् आश्चर्य है कि इस ससाररूप कूप मे जीव (प्राणी) कर्मो के द्वारा अरघट्टघटी—न्याय के अनुसार गमनागमन की क्रिया करते रहते हैं।

(२) छाया—गौतम ! अञ्जूर्देवी नवति वर्षाणि परमायु. पालयित्वा कालमासे कालं कृत्वा अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकतयोपपत्स्यते, एवं ससारो यथा प्रथमः तथा ज्ञातव्यो यावद् वनस्पति०। सा ततोऽनन्तरमुद्वृत्य सर्वतोभद्रे नगरे मयूरतया प्रत्यायास्यति। स तत्र शाकुनिकैर्हतः सन् तत्रैव सर्वतोभद्रे नगरे श्रेष्ठिकुले पुत्रतया प्रत्यायास्यति। स तत्र उन्मुक्तबालभावः तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके केवलं बोधिं भोत्स्यते प्रव्रज्या०। सौधर्मे०। ततो देवलोकाद् आयुःक्षयेण कुत्र गमिष्यति ?, कुत्रोपपत्स्यते ? । गौतम ! महाविदेहे यथा प्रथम. यावत् सेत्स्यति, यावद् अन्तं करिष्यति। एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन दुःखविपाकानां दशमस्याध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः। तदेवं भदन्त !, तदेवं भदन्त ! ।

॥ दुःखविपाकेषु दशस्वध्ययनेषु प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥

पदार्थ—गोतमा !—हे गोतम !। अञ्जू ण देवी—अंजूदेवी। नउइं—नवति (९०)। वासाइं। वर्षों की। परमाउं—परम आयु। पालइत्ता—पाल कर। कालमासे—कालमास में। कालं किच्चा—काल कर के। इमीसे—इस। रयणप्पभाए—रत्नप्रभा नामक। पुढवीए—पृथिवी में। णेरइयत्ताए—नारकीरूप से। उववज्जिहिइ—उत्पन्न होगी। एवं—इस प्रकार। संसारो—संसारभ्रमण। जहा—जैसे। पढमो—प्रथम अध्ययन में प्रतिपादन किया है। तहा—तथा—उसी तरह। णेयव्वं—जानना चाहिए। जाव—यावत्। वणस्सति०—वनस्पतिगत निम्बादि कटुवृक्षों तथा कटु दुग्ध वाले अर्कादि के पौधों में लाखों वार उत्पन्न होगी। सा णं—वह। ततो—वहां से। अणंतरं—व्यवधानरहित। उव्वट्टित्ता—निकल कर। सव्वओभद्दे—सर्वतोभद्र। णगरे—नगर में। मयूरत्ताए—मयूर—मोर के रूप में। पच्चायाहिति—उत्पन्न होगी। से णं—वह मोर। तत्थ—वहां पर। साउणिएहिं—शाकुनिकों—पक्षिघातक शिकारियों के द्वारा। वधिते समाणे—वध किया जाने पर। तत्थेव—उसी। सव्वओभद्दे—सर्वतोभद्र। णगरे—नगर में। सेट्ठिकुलंसि—श्रेष्ठिकुल में। पुत्तत्ताए—पुत्ररूप से। पच्चायाहिति—उत्पन्न होगा। से णं—वह। तत्थ—वहां पर। उम्मुक्कबालभावे०—बालभाव को त्याग कर—यौवनावस्था को प्राप्त हुए तथा विज्ञान की परिपक्व अवस्था को प्राप्त किए हुए। तहारूवाणं—तथारूप। थेराणं—स्थविरों के। अंतिए—समीप। केवलं—केवल अर्थात् शंका, आकांक्षा आदि दोषों से रहित। बोधिं—बोधि (सम्यक्त्व) को। बुज्झिहिति—प्राप्त करेगा, तदनन्तर। पव्वज्जा०—प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, उस के अनन्तर। सोहम्मे०—सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। ततो—तदनन्तर। देवलोगाओ—वहां की अर्थात् देवलोक की। आउक्खएणं—आयु पूर्ण कर। कहिं—कहां। गच्छिहिति?—जायेगा?। कहिं—कहां। उववज्जिहिइ?—उत्पन्न होगा?। गोतमा!—हे गौतम!। महाविदेहे—महाविदेह क्षेत्र में (जायेगा और वहां उत्तम कुल में जन्मेगा)। जहा पढमे—जैसे प्रथम अध्ययन में वर्णन किया है, तद्वत्। जाव—यावत्। सिज्झिहिति—सिद्ध पद को प्राप्त करेगा। जाव—यावत्। अंतं काहिति—सर्व दुःखों का अन्त करेगा। एवं—इस प्रकार। खलु—निश्चय ही। जम्बू!—हे जम्बू!। समणेणं—श्रमण। जाव—यावत्। सपत्तेणं—सम्प्राप्त ने। दुहविवागाणं—दुःखविपाक के। दसमस्स—दसवें। अज्झयणस्स—अध्ययन का। अयमट्ठे—यह अर्थ। पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है। भंते!—हे भगवन्!। सेवं—वह इसी प्रकार है। भंते!—हे भगवन्!। सेवं—वह इसी प्रकार है। दुहविवागेसु—दुःखविपाक के। दससु—दस। अज्झयणेसु—अध्ययनों में। पढमो—प्रथम। सुयक्खंधो—श्रुतस्कन्ध। समत्तो—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—हे गौतम! अंजूदेवी ९० वर्ष की परम आयु को भोग कर कालमास में काल करके इस रत्नप्रभा नामक पृथिवी में नारकीरूप से उत्पन्न होगी। उस का शेष संसारभ्रमण प्रथम अध्ययन की तरह जानना चाहिए यावत् वनस्पतिगत निम्बादि कटुवृक्षों तथा कटुदुग्ध वाले अर्क आदि पौधों में लाखों वार उत्पन्न होगी, वहां की भवस्थिति को पूर्ण कर वह सर्वतोभद्र नगर में मयूर—मोर के रूप में उत्पन्न होगी। वहां वह मोर पक्षिघातकों के द्वारा मारा जाने पर उसी सर्वतोभद्र नगर के एक प्रसिद्ध श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वहां बालभाव को त्याग, यौवन अवस्था को प्राप्त तथा विज्ञान की परिपक्व अवस्था को उपलब्ध करता हुआ वह [1]तथारूप स्थविरों के समीप बोधिलाभ—सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा। तदनन्तर प्रव्रज्या—दीक्षा ग्रहण करके, मृत्यु के बाद सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होगा।

गौतम— भगवन्! देवलोक की आयु तथा स्थिति पूरी होने के बाद वह कहां जायगा?, कहां उत्पन्न

(१) तथारूप स्थविर का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ ९७ पर किया जा चुका है।

होगा ?

भगवान्—गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में जाएगा और वहां उत्तम कुल में जन्म लेगा, जैसे कि प्रथम अध्ययन में वर्णन किया गया है, यावत् सर्व दु:खों से रहित हो जाएगा।

हे जम्बू ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के दशवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

जम्बू—भगवन् ! आप का यह कथन सत्य है, परम सत्य है।

॥ दशम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

॥ दुःखविपाकीय प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

टीका—परमदुःखिता अंजूदेवी के भावी भवों की गौतम स्वामी द्वारा प्रस्तुत की गई जिज्ञासा की पूर्ति में भगवान् ने जो कुछ फरमाया है, उस का उल्लेख ऊपर मूलार्थ में किया जा चुका है, जो कि सुगम होने से अधिक विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता।

महापुरुषों की जिज्ञासा भी रहस्यपूर्ण होती है, उस में स्वलाभ की अपेक्षा परलाभ को बहुत अवकाश रहता है। अंजूदेवी के विषय में उस के अतीत, वर्तमान और भावी जीवन के विषय में जो कुछ पूछा है, तथा उस के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया है, उस का ध्यानपूर्वक अवलोकन और मनन करने से विचारशील व्यक्ति को मानव जीवन के उत्थान के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध होते हैं। इस के अतिरिक्त आत्मशुद्धि में प्रतिबन्धरूप से उपस्थित होने वाले काम, मोह आदि कारणों को दूर करने में साधक को जिस बल एवं साहस की आवश्यकता होती है, उस की काफी सामग्री इस में विद्यमान है।

मूलगत "एवं संसारो जहा पढमो, जहा सेयव्वं"—इस उल्लेख से सूत्रकार ने मृगापुत्र नामक प्रथम अध्ययन को सूचित किया है। अर्थात् जिस प्रकार विपाकसूत्रगत प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का संसार-भ्रमण प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार अंजूश्री के जीव का भी समझ लेना चाहिए। अंजूश्री और मृगापुत्र के जीव का शेष संसारभ्रमण समान है, ऐसा बोधित करना सूत्रकार को इष्ट है, तथा मृगापुत्र का संसारभ्रमण पूर्व के प्रथम अध्ययन में वर्णित हो चुका है।

प्रश्न—सूत्रकार ने प्रत्येक स्थान पर "संसारो जहा पढमो"—का उल्लेख कर के सब का संसार-भ्रमण समान ही बतलाया है, तो क्या सब के कर्म एक समान थे ?, क्या कर्मबन्ध के समय उन के अध्यवसाय में कोई विभिन्नता नहीं थी ?।

उत्तर—सामान्यरूप से तो यह सन्देह ठीक मालूम देता है, परन्तु यदि कुछ गम्भीरता से विचार किया जाये तो इस का समाहित होना कुछ कठिन नहीं है। [1]आगमों में लिखा है कि संसार में अनन्त आत्माएं हैं। किसी का कर्ममल भिन्न तथा किसी का अभिन्न साधना से संगृहीत होता है, इसी प्रकार कर्मफल भी भिन्न और अभिन्न दोनों रूप से मिलता है। मान लो—दो आदमियों ने जहर खाया तो उन को फल भी बराबर सा हो यह आवश्यक नहीं, क्योंकि विष किसी के प्राणों का नाशक होता है और किसी का घातक नहीं भी होता। साराश यह है कि कर्मगत समानता होने पर भी फलजनक साधनों में भिन्नता हो सकती है

जैसा २ कर्म होगा, वैसा २ फल होगा। कई बार एक ही स्थान मिलने पर फल भिन्न २ होता है। जैसे—अनेकों अपराधी हैं किन्तु दण्ड विभिन्न होने पर भी स्थान एक होता है, जिसे कारागार—जेल के नाम से पुकारा जाता है। इसी तरह जीवों का संसारभ्रमण एक सा होने पर भी फल भिन्न २ हो तो इस में कौनसी आपत्ति है ?, अथवा—जो बराबर के कर्म करने वाले हैं तो उन का संसारभ्रमण

(१) देखो—श्री भगवतीसूत्र शतक २९, उद्देश० १।

तथा फल भी बराबर होगा।

इस सूत्र मे उन आत्माओं का वर्णन है जिन्हों ने भिन्न २ कर्म किये हैं, और उन का दण्ड भी भिन्न २ हे परन्तु स्थान अर्थात् ससार एक हे। तभी तो यह वर्णन किया है कि ससारभ्रमण के अनन्तर कोई महिष बनता है, कोई मृग तथा कोई मोर और कोई हस बनता हे। इसी तरह मच्छ और शूकर आदि का भी उल्लेख है। तब यदि दण्डगत भिन्नता न होती तो महिष आदि विभिन्न रूपों में उल्लेख कैसे किया जाता ?, इसलिये सूत्र म उल्लेख की गई ससारभ्रमण की समानता स्थानाश्रित हे जोकि युक्तियुक्त और आगमसम्मत है। तात्पर्य यह है कि सूत्रकार के उक्त कथन से परिणामगत विभिन्नता को कोई क्षति नही पहुचती।

अजूश्री का जीव वनस्पतिकायगत कटुवृक्षों तथा कटुदुग्ध वाले अर्कादि पौधों में लाखों बार जन्म मरण करने के अनन्तर सर्वतोभद्र नगर में मोर के रूप मे अवतरित होगा। वहा पर भी उसके दुष्कर्म उस का पीछा नहीं छोडेगे। वह शाकुनिकों-पक्षिघातकों के हाथ मृत्यु को प्राप्त हो कर उसी नगर के एक धनी परिवार में उत्पन्न होगा। वहा युवावस्था को प्राप्त कर विकास—मार्ग की ओर प्रस्थित होता हुआ वह विशिष्ट सयमी मुनिराजों के सम्पर्क म आकर सम्यक्त्व को उपलब्ध करेगा। अन्त मे साधुधर्म म दीक्षित होकर कर्मबन्धनों के तोड़ने का प्रयास करेगा। जीवन के समाप्त होने पर वह सौधर्म नामक प्रथम देवलोक मे देवस्वरूप से उत्पन्न होगा। वहा के दैविक सुखों का उपभोग करेगा। इतना कह कर भगवान् मौन हो गये। तब गौतम स्वामी ने फिर पूछा कि भगवन् ! देवभवसम्बन्धी आयु को पूर्ण कर अजूश्री का जीव कहा जायगा ? और कहा उत्पन्न होगा ?, इसके उत्तर मे भगवान् बोले —गौतम ! महाविदेह क्षेत्र के एक कुलीन घर में वह जन्मेगा, वहा सयम की सम्यक् आराधना से कर्मों का आत्यतिक क्षय करके सिद्धगति को प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि यहा आकर उस की जीवनयात्रा का पर्यवसान हो जायगा।

सौधर्म देवलोक में अजूश्री के जीव की उत्पत्ति बतला कर मौन हो जाने और गौतम स्वामी के दोबारा पूछने पर उस की अग्रिम यात्रा का वर्णन करने से यही बात फलित होती है कि स्वर्ग में गमन करने पर भी आत्मा की सासारिक यात्रा समाप्त नहीं हो जाती। वहा से च्यव कर उसे कही अन्यत्र उत्पन्न होकर अपनी जीवनयात्रा को चालू रखना ही पड़ता है।

अन्त में आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहने लगे—जम्बू ! पतितपावन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के अजूश्री नामक दसवें अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। मैंने भगवान् से जैसा श्रवण किया है वैसा ही तुम को सुना दिया है। इस म मेरी निजी कल्पना कुछ नहीं।

आर्य सुधर्मा स्वामी के उक्त वचनामृत का कर्णपुटों द्वारा सम्यक् पान कर सतृप्त हुए जम्बू स्वामी आर्य सुधर्मा स्वामी के पावन चरणों मे सिर झुकाते हुए गद्गद् स्वर से कह उठते हैं—"**सेव भन्ते**', **सेव भन्ते** !" अर्थात् भगवन् ! जो कुछ आपने फरमाया है, वह सत्य है, यथार्थ है।

—**सेयं व जाव वणस्सति०**—यहा का **जाव-यावत्** पद पृष्ठ ८९ मे पढे गए—**सा णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति। तत्थ णं कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए**—से ले कर—**तेएइंदिसु बेइन्दिएसु**—यहा तक के पदो का तथा—**वणस्सति०**—यहा का बिन्दु—**कडुयरुक्खेसु कडुयदुद्धिएसु ..अणेगसतसहस्सक्खुतो उववज्जिहिति**—इन पदो का परिचायक है। तथा—**उम्मुक्क-बालभावे०**—यहा का बिन्दु—**जोव्वणगमणुपत्ते विण्णायपरिणयमेत्ते**—इन पदों का परिचायक है। इन का अर्थ पृष्ठ ३२९ पर लिखा जा चुका है। तथा—**पव्वज्जा०। सोहम्मे०**—ये पद पृष्ठ ३१२ पर पढे गये—

२ (बुज्झिहित्ता) अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति—से ले कर—कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति—इन पदों के परिचायक हैं।

—महाविदेहे जहा पढमे जाव सिज्झिहिति—अर्थात् अञ्जूश्री का जीव देवलोक से च्युत हो कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा, उस का अवशिष्ट वर्णन प्रथम अध्ययन में वर्णित मृगापुत्र की तरह समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सूत्रकार ने—"जहा पढमे"—यहां प्रयुक्त—यथा तथा प्रथम इन शब्दों का ग्रहण कर प्रथमाध्ययन में वर्णित मृगापुत्र की ओर संकेत किया है, और जो "—अञ्जू श्री के जीव का महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होने के अनन्तर मोक्षपर्यन्त जीवनवृत्तान्त मृगापुत्र की भान्ति जानना चाहिये—" इन भावों का परिचायक है। तथा महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाने तक के कथावृत्त को सूचित करने वाले पाठ का बोधक जाव—यावत् पद है। यावत् पद से बोधित होने वाला—वासे जाइं कुलाइं भवन्ति अड्ढाइं—से ले कर—वत्तव्वया जाव—यहां तक का पाठ पृष्ठ ३१२ पर लिखा जा चुका है।

—सिज्झिहिति जाव अन्तं काहिति—यहां पठित जावत—यावत् पद से—बुज्झिहिति मुच्चिहिति, परिणिव्वाहिति सव्वदुक्खाणं—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। सिज्झिहिति इत्यादि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—सिज्झिहिति—सब तरह से कृतकृत्य हो जाने के कारण सिद्ध पद को प्राप्त करेगा।

२—बुज्झिहिति—केवल ज्ञान के आलोक से सकल लोक और अलोक का ज्ञाता होगा।

३—मुच्चिहिति—सर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों से विमुक्त हो जाएगा।

४—परिणिव्वाहिति—समस्त कर्मजन्य विकारों से रहित हो जायेगा।

५—सव्वदुक्खाणमंतं काहिति—मानसिक, वाचिक और कायिक सब प्रकार के दुःखों का अन्त कर डालेगा अर्थात् अव्याबाध सुख को उपलब्ध कर लेगा।

—समणेणं जाव सम्पत्तेण—यहां पठित जाव—यावत् पद से—भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयं बुद्धेणं पुरिसुत्तमेणं पुरिससीहेणं पुरिसवरपुण्डरीएणं पुरिसवरगन्धहत्थिणा लोगुत्तमेणं लोगनाहेणं लोगहिएणं लोगपईवेणं लोगपज्जोयगरेणं अभयदएणं चक्खुदएणं मग्गदएणं सरणदएणं जीवदएणं बोहिदएणं धम्मदएणं धम्मदेसएणं धम्मनायएणं धम्मसारहिणा धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टिणा दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा अप्पडिहयवरनाणदंसणधरेणं वियट्टच्छउमेणं जिणेणं जावएणं तिण्णेणं तारएणं बुद्धेणं बोहएणं मुत्तेणं मोयएणं सव्वण्णुणा सव्वदरिसिणा सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। श्रमण आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—श्रमण—तपस्वी अथवा प्राणिमात्र के साथ समतामय—समान व्यवहार करने वाले को श्रमण कहते हैं।

२—भगवान्—जो ऐश्वर्य से सम्पन्न और पूज्य होता है, वह भगवान् कहलाता है।

३—महावीर—जो अपने वैरियों का नाश कर डालता है, उस विक्रमशाली पुरुष को वीर कहते हैं। वीरों में भी जो महान् वीर है, वह महावीर कहलाता है। प्रस्तुत में यह भगवान् वर्धमान का नाम है, जो कि उन के देवाविकृत संकटों में सुमेरु की तरह अचल रहने तथा घोर परीषहों और उपसर्गों के आने पर भी क्षमा का त्याग न करने के कारण देवताओं ने रखा था। आगे कहे जाने वाले आदिकर आदि सभी विशेषण भगवान् महावीर के ही हैं।

४—**आदिकर**—आचारांग आदि बारह अंगग्रन्थ श्रुतधर्म कहे जाते हैं। श्रुतधर्म के आदिकर्ता अर्थात् आद्य उपदेशक होने के कारण भगवान महावीर का **आदिकर** कहा गया है।

५—**तीर्थंकर**—जिस के द्वारा संसाररूपी मोह माया का नद सुविधा से तिरा जा सकता है, उसे **तीर्थ** कहते हैं और धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाला **तीर्थंकर** कहलाता है।

६—**स्वयंसम्बुद्ध**—अपने आप प्रबुद्ध होने वाला, अर्थात् क्या ज्ञेय है ?, क्या उपादेय है ? और क्या उपेक्षणीय है (उपेक्षा करने योग्य) है ? —यह ज्ञान जिसे स्वतः ही प्राप्त हुआ है वह **स्वयंसंबुद्ध** कहा जाता है।

७—**पुरुषोत्तम**—जो पुरुषों में उत्तम—श्रेष्ठ हो, उसे **पुरुषोत्तम** कहते हैं, अर्थात् भगवान् के क्या बाह्य और क्या आभ्यन्तर, दोनों ही प्रकार के गुण अलौकिक होते हैं, असाधारण होते हैं, इसलिये वे **पुरुषोत्तम** कहलाते हैं।

८—**पुरुषसिंह**—भगवान महावीर पुरुषों में सिंह के समान थे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मृगराज सिंह अपने बल और पराक्रम के कारण निर्भय रहता है, कोई भी पशु वीरता में उस का सामना नहीं कर सकता, उसी प्रकार भगवान् महावीर भी संसार में निर्भय रहते थे, तथा कोई भी संसारी प्राणी उन के आत्मबल, तप और त्याग सम्बन्धी वीरता की बराबरी नहीं कर सकता था।

९—**पुरुषवरपुंडरीक**—पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। दूसरे कमलों की अपेक्षा श्वेत कमल, सौन्दर्य एवं सुगन्ध में अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। हजारों कमल भी उस की सुगन्धि की बराबरी नहीं कर सकते। भगवान् महावीर पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान थे अर्थात् भगवान् मानव-सरोवर में सर्वश्रेष्ठ कमल थे। उन के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त थी और उस की कोई बराबरी नहीं कर सकता था।

१०—**पुरुषवरगन्धहस्ती**—भगवान् पुरुषों में गन्धहस्ती के समान थे। गन्धहस्ती एक विलक्षण हाथी होता है। उस में ऐसी सुगन्ध होती है कि सामान्य हाथी उस की सुगन्ध पाते ही त्रस्त हो भागने लगते हैं। वे उस के पास नहीं ठहर सकते। भगवान् को गन्धहस्ती कहने का अर्थ यह है कि जहां भगवान् विचरते थे वहां अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कोई भी उपद्रव नहीं होने पाता था।

११—**लोकोत्तम**—लोकशब्द से स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक, इन तीनों का ग्रहण होता है। तीनों लोकों में जो ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा सब से प्रधान हो, वह **लोकोत्तम** कहलाता है।

१२—**लोकनाथ**—नाथ शब्द का अर्थ है—योग (अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की संकट के समय पर रक्षा करना) करने वाला **नाथ** कहलाता है। लोक का नाथ **लोकनाथ** कहा जाता है। सम्यग्दर्शनादि सद्गुणों की प्राप्ति कराने के कारण तथा उन से स्खलित होने वाले मेघकुमार आदि को स्थिर करने के कारण भगवान् को **लोकनाथ** कहा गया है।

१३—**लोकहित**—लोक का हित करने वाले को **लोकहित** कहते हैं। भगवान् महावीर मोहनिद्रा में प्रसुप्त विश्व को जगा कर आध्यात्मिकता एवं सच्चरित्रता की पुण्यविभूति से मालामाल कर उस का हित-सम्पादित करते थे।

१४—**लोकप्रदीप**—लोक के लिये दीपक की भान्ति प्रकाश देने वाला **लोकप्रदीप** कहा जाता है। भगवान् लोक को यथावस्थित वस्तु स्वरूप दिखलाते हैं, इसलिये इन्हें **लोकप्रदीप** कहा गया है।

१५—लोकप्रद्योतकर—प्रद्योतकर सूर्य का नाम है। भगवान् महावीर लोक के सूर्य थे। अपने केवल ज्ञान के प्रकाश को विश्व में फैलाते थे और जनता के मिथ्यात्वरूप अन्धकार को नष्ट कर के उसे सन्मार्ग सुझाते थे। इस लिये भगवान् को **लोकप्रद्योतकर** कहा गया है।

१६—अभयदय—अभय—निर्भयता का दान देने वाले को **अभयदय** कहते हैं। भगवान् महावीर तीन लोक के अलौकिक एवं अनुपम दयालु थे। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके हृदय में करुणा की धारा बहा करती थी। चण्डकौशिक जैसे भीषण विषधर की लपलपाती ज्वालाओं को भी करुणा के सागर वीर ने शांत कर डाला था। इस लिए उन्हें **अभयदय** कहा गया है।

१७—चक्षुर्दय—आंखों का देने वाला **चक्षुर्दय** कहलाता है। जब संसार के ज्ञानरूप नेत्रों के सामने अज्ञान का जाला आजाता है, उसे सत्यासत्य का कुछ विवेक नहीं रहता, तब भगवान् संसार को ज्ञाननेत्र देते हैं, अज्ञान का जाला साफ करते हैं। इसी लिए भगवान् को **चक्षुर्दय** कहा गया है।

१८—मार्गदय—मार्ग के देने वाले को **मार्गदय** कहते हैं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। भगवान् महावीर ने इस का वास्तविक स्वरूप संसार के सामने रखा था, अतएव उन को **मार्गदय** कहा गया है।

१९—शरणदय—शरण त्राण को कहते हैं। आने वाले तरह २ के कष्टों से रक्षा करने वाले को **शरणदय** कहा जाता है। भगवान् की शरण में आने पर किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहने पाता था।

२०—जीवदय—संयम जीवन के देने वाले को **जीवदय** कहते हैं। भगवान् की पवित्र सेवा में आने वाले अनेकों ने संयम का आराधन कर के परम साध्य निर्वाण पद को उपलब्ध किया था।

२१—बोधिदय—बोधि सम्यक्त्व को कहते हैं। सम्यक्त्व का देने वाला **बोधिदय** कहलाता है।

२२—धर्मदय—धर्म के दाता को **धर्मदय** कहते हैं। भगवान् महावीर ने अहिंसा, संयम तथा तपरूप धर्म का संसार को परम पावन अनुपम सन्देश दिया था।

२३—धर्मदेशक—धर्म का उपदेश देने वाले को **धर्मदेशक** कहते हैं। भगवान् श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का वास्तविक मर्म बतलाते हैं, इसलिये उन्हें **धर्मदेशक** कहा गया है।

२४—धर्मनायक—धर्म के नेता का नाम **धर्मनायक** है। भगवान् धर्ममूलक सदनुष्ठानों का तथा धर्मसेवी व्यक्तियों का नेतृत्व किया करते थे।

२५—धर्मसारथि—सारथि उसे कहते हैं जो रथ को निरुपद्रवरूप से चलाता हुआ उस की रक्षा करता है, रथ में जुते हुए बैल आदि प्राणियों का संरक्षण करता है। भगवान् धर्मरूपी रथ के सारथि हैं। भगवान् धर्मरथ में बैठने वालों के सारथि बन कर उन्हें निरुपद्रव स्थान अर्थात् मोक्ष में पहुँचाते हैं।

२६—धर्मवर—चतुरन्त—चक्रवर्ती—पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओं में समुद्र—पर्यन्त और उत्तर दिशा में चूलहिमवन्त पर्वतपर्यन्त के भूमिभाग का जो अन्त करता है अर्थात् इतने विशाल भूखण्ड पर जो विजय प्राप्त करता है, इतने में जिस की अखण्ड और अप्रतिहत आज्ञा चलती है, उसे **चतुरन्तचक्रवर्ती** कहा जाता है। चक्रवर्तियों में प्रधान चक्रवर्ती को **वरचतुरन्तचक्रवर्ती** कहते हैं। धर्म के वरचतुरन्तचक्रवर्ती को **धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्ती** कहा जाता है। भगवान् महावीर स्वामी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों का अन्त कर संपूर्ण विश्व पर अपना अहिंसा और सत्य आदि का धर्मराज्य स्थापित करते हैं। **अथवा**—दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्म की साधना स्वयं अन्तिम कोटि तक करते हैं और जनता को भी इस धर्म का उपदेश देते हैं अतः वे धर्म के वरचतुरन्तचक्रवर्ती कहलाते

हैं। **अथवा**—जिस प्रकार सब चक्रवर्ती के अधीन होते हैं, चक्रवर्ती के विशाल साम्राज्य में ही सब राजाओं का राज्य अन्तर्गत हो जाता है अर्थात् अन्य राजाओं का राज्य चक्रवर्ती के राज्य का ही एक अंश होता है, उसी प्रकार संसार के समस्त धर्मतत्त्व भगवान् के तत्त्व के नीचे आगये हैं। भगवान् का अनेकान्त तत्त्व चक्रवर्ती के विशाल साम्राज्य के समान है और अन्य धर्मप्रवर्त्तकों के तत्त्व एकान्तरूप होने के कारण अन्य राजाओं के समान हैं। सभी एकान्तरूप धर्मतत्व अनेकान्त तत्त्व के अन्तर्गत हो जाते हैं। इसी लिये भगवान् को धर्म का श्रेष्ठ चक्रवर्ती कहा गया है।

२७—**द्वीप, त्राण, शरण, गति, प्रतिष्ठा**—द्वीप टापू को कहते हैं, अर्थात् संसार—सागर में नानाविध दुःखों की विशाल लहरों के अभिघात से व्याकुल प्राणियों को भगवान् सान्त्वना प्रदान करने के कारण **द्वीप** कहे गये हैं। अनर्थों—दुःखों के नाशक को **त्राण** कहते हैं। धर्म और मोक्षरूप अर्थ का सम्पादन करने के कारण भगवान् को **शरण** कहा गया है। दुःखियों के द्वारा सुख की प्राप्ति के लिये जिस का आश्रय लिया जाए उसे **गति** कहते हैं। **प्रतिष्ठा** शब्द "—संसाररूप गर्त में पतित प्राणियों के लिये जो आधाररूप है—" इस अर्थ का परिचायक है। दुःखियों को आश्रय देने के कारण गति और उन का आधार होने से भगवान् को प्रतिष्ठा कहा गया है।

मूल में **भगवया** इत्यादि पद तृतीयान्त प्रस्तुत हुए हैं, जब कि **दीवो** इत्यादि पद प्रथमान्त। ऐसा क्यों है ? यह प्रश्न उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है, परन्तु औपपातिकसूत्र में वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने **—नमोऽत्थु णं अरिहन्ताणं भगवन्ताणं**—इत्यादि षष्ठ्यन्त पदों में पढ़े गये—**दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा**- इन प्रथमान्त पदों की व्याख्या में—**दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा इत्यत्र जे तेसिं नमोऽत्थु णमित्येवं गमनिका कार्येति**—इस प्रकार लिखा है।। अर्थात् वृत्तिकार के मतानुसार—**दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा**- ऐसा ही पाठ उपलब्ध होता है और उस के अर्थसंकलन में—**जे तेसिं नमोऽत्थु णं**—(जो द्वीप, त्राण, शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप हैं उन को नमस्कार हो), ऐसा अध्याहारमूलक अन्वय किया है। प्रस्तुत में जो प्रश्न उपस्थित हो रहा है, वह भी वृत्तिकार की मान्यतानुसार—**दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा, इत्यत्र जो तेण त्ति**—(जो द्वीप, त्राण शरण गति तथा प्रतिष्ठा रूप है, उस ने) इस पद्धति से समाहित हो जाता है।

२८—**अप्रतिहतज्ञानदर्शनधर**—**अप्रतिहत** का अर्थ है—किसी से बाधित न होने वाला किसी से न रुकने वाला। ज्ञान, दर्शन के धारक को **ज्ञानदर्शनधर** कहते हैं। तब भगवान् महावीर स्वामी अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारण करने वाले थे, यह अर्थ फलित हुआ।

२९—**व्यावृत्तछद्म**—छद्म शब्द के—१—आवरण, और २—छल, ऐसे दो अर्थ होते हैं। ज्ञानावरणीय आदि चार घातक कर्म आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि मूल शक्तियों को छादन किए अर्थात् ढके हुए रहते हैं, इस लिये वे छद्म कहलाते हैं। जो छद्म से अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि चार घातक कर्मों से तथा छल से अलग हो गया है, उसे **व्यावृत्तछद्म** कहते हैं। भगवान् महावीर छद्म से रहित थे।

३०—**जिन**—राग और द्वेष आदि आत्मसम्बन्धी शत्रुओं को पराजित करने वाला, उन का दमन करने वाला **जिन** कहलाता है।

३१—**ज्ञायक**—सम्यक् प्रकार से जानने वाला **ज्ञायक** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् राग आदि विकारों के स्वरूप को जानने वाले थे। रागादि विकारों को ज्ञान कर ही जीता जा सकता है।

कहीं—**जावएण**—ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है। जापक का अर्थ है-जिताने वाला। अर्थात् भगवान् स्वयं भी रागद्वेषादि को जीतने वाले थे और दूसरों को भी जिताने वाले थे।

३२—**तीर्ण**—जो स्वयं संसार सागर से तर गया है, वह **तीर्ण** कहलाता है।

३३—**तारक**—जो दूसरों को ससारसागर से तराने वाला है, उसे **तारक** कहते है । भगवान् महावीर स्वामी ने अर्जुनमाली आदि अनेकानेक भव्य पुरुषों को ससारसागर से तारा था ।

३४—**बुद्ध**—जो सम्पूर्ण तत्त्वों के बोध को उपलब्ध कर रहा हो, वह **बुद्ध** कहलाता है ।

३५—**बोधक**—जो दूसरों को जीव, अजीव आदि तत्त्वों का बोध देने वाला हो, उसे **बोधक** कहते हैं । जीव आदि तत्त्वों का बोध देने के कारण भगवान् को बोधक कहा गया है ।

३६—**मुक्त**—जो स्वयं कर्मों से मुक्त है, **अथवा**—जो बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रन्थियो गांठों—से रहित हो, उसे **मुक्त** कहा जाता है । भगवान् महावीर स्वामी आभ्यन्तर और बाह्य ग्रन्थियों से रहित थे ।

३७—**मोचक** जो दूसरों को कर्मों के बन्धनों से **मुक्त** करवाता है, उसे **मोचक** कहते हैं ।

३८—**सर्वज्ञ**—चर और अचर सभी पदार्थों का ज्ञान रखने वाला और जिस में अज्ञान का सर्वथा अभाव हो, वह **सर्वज्ञ** कहलाता है । भगवान् घट २ के ज्ञाता होने के कारण सर्वज्ञ कहे गए हैं ।

३९—**सर्वदर्शी**—चर और अचर सभी पदार्थों का द्रष्टा, **सर्वदर्शी** कहा जाता है । भगवान् सर्वदर्शी थे ।

४०—**शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त** । अर्थात् **शिव** आदि पद सिद्धगति (जिस के सब काम सिद्ध—पूर्ण हो जावे उसे **सिद्ध** कहते हैं । आत्मा निष्कर्म एव कृतकृत्य होने के अनन्तर जहां जाता है उसे **सिद्धगति** कहा जाता है) नामक स्थान के विशेषण हैं । **शिव** आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—**शिव** कल्याणरूप को कहते हैं । **अथवा**—जो बाधा, पीड़ा और दु:ख से रहित हो वह **शिव** कहलाता है । सिद्धगति में किसी प्रकार की बाधा या पीड़ा नहीं होती, अत: उसे **शिव** कहते हैं ।

२—**अचल**—चल रहित अर्थात् स्थिर को कहते हैं । **चलन** दो प्रकार का होता है, एक स्वाभाविक दूसरा प्रायोगिक । दूसरे की प्रेरणा बिना अथवा अपने पुरुषार्थ के बिना मात्र स्वभाव से ही जो चलन होता है, वह **स्वाभाविकचलन** कहा जाता है । जैसे जल में स्वभाव से चंचलता है, इसी प्रकार बैठा मनुष्य भले ही स्थिर दीखता है किन्तु योगापेक्षया उस में भी चचलता है, इसे ही **स्वाभाविकचलन** कहते हैं । वायु आदि बाह्य निमित्तों से जो चचलता उत्पन्न होती है, वह **प्रायोगिकचलन** कहलाता है । मुक्तात्माओं में न स्वभाव से ही चलन होता है और न प्रयोग से ही । मुक्तात्माओं में गति का अभाव है, इसलिये भी वह अचल है ।

३—**अरुज**—रोगरहित को **अरुज** कहते है । शरीररहित होने के कारण मुक्तात्मा को वात, पित्त और कफ जन्य शारीरिक रोग नहीं होने पाते और कर्मरहित होने से भाव रोग रागद्वेषादि भी नहीं होते ।

४ **अनन्त**—अन्तर रहित का नाम है । मुक्तात्माएं सभी गुणापेक्षया समान होती है । **अथवा** मुक्तात्माओं का ज्ञान, दर्शन अनन्त होता है और अनन्त पदार्थों को जानता तथा देखता है, अत एव गुणापेक्षया वे अनन्त हैं । अथवा—अन्तरहित को अनन्त कहते हैं । सिद्धगति प्राप्त करने की आदि तो है, परन्तु उस का अन्त नहीं, इसलिये उस को **अनन्त** कहते हैं ।

५—**अक्षय**—क्षयरहित का नाम है । मुक्तात्माओं की ज्ञानादि आत्मविभूति में किसी प्रकार की क्षीणता नहीं आने पाती, इस लिये उसे **अक्षय** कहते है ।

६—**अव्याबाध**—पीड़ारहित को **अव्याबाध** कहते हैं । मुक्तात्माओं को सिद्धगति में किसी प्रकार का कष्ट या शोक नहीं होता और न वे किसी दूसरे को पीड़ा पहुँचाते हैं ।

७—**अपुनरावृत्ति**—पुनरागमन से रहित का नाम है, अर्थात् जो जन्म तथा मरण से रहित हो कर

एक वार सिद्धगति मे पहुंच जाता है, वह फिर लौट कर कभी ससार मे नही आता।

विपाकश्रुत के दो विभाग हैं, पहला दु खविपाक और दूसरा सुखविपाक। जिस मे हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन आदि द्वारा उपार्जित अशुभ कर्मों के दु खरूप विपाक—फल वर्णित हों, उसे दु खविपाक कहते हैं, और जिस में अहिंसा, सत्य आदि से जनित शुभ कर्मो का विपाक वर्णन किया गया हो, उसे सुखविपाक कहते हैं। दु खविपाक मे—१—मृगापुत्र, २—उज्झितक, ३—अभग्नसेन, ४—शकट, ५—बृहस्पति, ६—नन्दिवर्धन, ७—उम्बरदत्त, ८—शौरिकदत्त, ९—देवदत्ता और १०—अ जू—ये दश अध्ययन हैं। मृगापुत्र उज्झितक आदि का वर्णन पीछे कर दिया गया है। अ जूश्री नामक दसवे अध्ययन की समाप्ति के साथ विपाकश्रुत का दशाध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त होता है।

मृगापुत्र से ले कर अजूश्रीपर्यन्त के दश अध्ययनों मे वर्णित कथासदर्भ से ग्रहणीय सार को यदि अत्यन्त संक्षिप्त शब्दो मे कहा जाय तो वह इतना ही है कि मानव जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले हिंसा और व्यभिचारमूलक असत्कर्मों के अनुष्ठान से सर्वथा पराङ्मुख हो कर आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति मे सहायकभूत धर्मानुष्ठान मे प्रवृत्त होने का यत्न करना और तदनुकूल चारित्रसगठित करना। बस इसी मे मानव का आत्मश्रेय निहित है। इस के अतिरिक्त अन्य जितनी भी सासारिक प्रवृत्तियें हैं, उन से आत्मकल्याण की सदिच्छा मे कोई प्रगति नही होती। इस भावना से प्रेरित हुए साधक व्यक्ति यदि उक्त दशों अध्ययनों का मननपूर्वक अध्ययन करने का यत्न करेंगे तो आशा है उन को उस मे इच्छित लाभ की अवश्य प्राप्ति होगी। बस इतने निवेदन के साथ हम श्री विपाकश्रुतस्कन्ध के प्रथम श्रुतस्कन्ध सम्बन्धी विवेचन को समाप्त करते हुए पाठकों से प्रस्तुत प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों से प्राप्त शिक्षाओं को जीवन मे उतार कर साधनापथ मे अधिकाधिक अग्रेसर होने का प्रयत्न करेंगे, ऐसी आशा करते हैं।

॥ दशम अध्ययन समाप्त ॥

॥ विपाकश्रुत का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

॥ अथ द्वितीय श्रुतस्कन्ध ॥

प्रथम अध्ययन

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है। यहां धर्म को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। छोटी से छोटी बात को भी धर्म के द्वारा ही परखना भारत की सब से बड़ी विशेषता रही है। इस के अतिरिक्त धर्म की गुणगाथाओं मे बड़े २ विशालकाय ग्रन्थ भर रक्खे हैं। जीवन समाप्त हो सकता है परन्तु धर्म की महिमा का का अन्त नहीं पाया जा सकता। धर्म का महत्त्व बहुत व्यापक है। धर्म दुर्गति का नाश करने वाला है। मनुष्य के मानस को स्वच्छ एवं निर्मल बनाने के साथ २ उसे विशाल और विराट बना डालता है। अनादि काल से सोई मानवता को यह जागृत कर देता है। हृदय में दया और प्रेम की नदी बहा देता है। यदि बात ज्यादा न बढ़ाई जाए तो—धर्म की महिमा अपरम्पार है, इतना ही कहना पर्याप्त होगा।

[1]शास्त्रों में धर्म के दान, शील, तप और भावना ये चार प्रकार बतलाये गये हैं। इन मे से पहला प्रकार दान धर्म है। जैनधर्म में दान की बड़ी महिमा बहुत मौलिक शब्दों में अभिव्यक्त की गई है। दान देने वाले को स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बताया है। दान देने से संसार में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं रहती है। दान जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है, अतः उस का विकास पारमार्थिक दृष्टि से समस्त सद्गुणों का आधार है, तथा व्यावहारिक दृष्टि से मानवी व्यवस्था के सामंजस्य की मूलभित्ति है। दान का मतलब है—न्यायपूर्वक अपने को प्राप्त हुई वस्तु का दूसरे के लिये अर्पण करना। यह अर्पण उस के कर्ता और स्वीकार करने वाले दोनों का उपकारक होना चाहिये। अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उस की ममता हट जाए, फलस्वरूप उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकार करने वाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उस की जीवनयात्रा में मदद मिले और परिणामस्वरूप सद्गुणों का विकास हो।

सभी दान दानरूप से एक जैसे होने पर भी उस के फल में तरतम भाव रहता है। यह तरतम भाव दानधर्म की विशेषता के कारण होता है और यह विशेषता मुख्यतया दानधर्म के चार अंगों की विशेषता के अनुसार होती है। इन चार अंगों की विशेषता निम्नोक्त है—

१—**विधिविशेषता**—विधि की विशेषता में देश काल का औचित्य और लेने वाले के सिद्धान्त को बाधा न पहुंचे, ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण करना, इत्यादि बातों का समावेश होता है।

२—**द्रव्यविशेषता**—द्रव्य की विशेषता में दी जाने वाली वस्तु के गुणों का समावेश होता है। जिस वस्तु का दान किया जाये वह वस्तु लेने वाले पात्र की जीवनयात्रा में पोषक हो कर परिणामतः उस के निजगुणविकास में निमित्त बने, ऐसी होनी चाहिये।

३—**दातृविशेषता**—दाता की विशेषता में लेने वाले पात्र के प्रति श्रद्धा का होना उस के प्रति तिरस्कार या असूया का न होना, तथा दान देते समय या देने के बाद में विषाद न करना, इत्यादि गुणों का समावेश होता है।

---

(१) दाणं सीलं च तवो भावो, एवं चउव्विहो धम्मो।
सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा ....॥ २९६ ॥

४—**पात्रविशेषता**—दान लेने वाले व्यक्ति का सत्पुरुषार्थ के लिये ही सतत जागरूक रहना पात्र[1] की विशेषता है। दूसरे शब्दों मे—जो दान ले रहा है उस का अपने आप को मानवीय आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा की ओर झुकाव तथा सदनुष्ठान में निरतर सावधानता ही पात्र की विशेषता है।

पात्रता की विशेषता वाले को **सुपात्र** कहते हैं, तथा सुपात्र को जो दान दिया जाता है, उसे **सुपात्रदान** कहते हैं। सुपात्रदान कर्मनिर्जरा का साधक है और दाता के लिये ससारसमुद्र मे पार कर परमात्मपद को प्राप्त करने मे सहायक बनता है। सुपात्रदान की सफलता के लिये भावना महान् सहायक होती है। भावना जितनी उत्तम एव सबल होती है, उतना ही सुपात्रदान जीवन के विकास मे उपयोगी एव हितावह रहता है।

प्रस्तुत सूत्र के सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के इस प्रथम अध्ययन मे स्वनामधन्य पुण्यश्लोक श्री सुबाहु कुमार जी का परम पवित्र जीवनवृत्तान्त प्रस्तावित हुआ है, जिन्हों ने सुमुख गाथापति के भव मे महामहिम तपस्विराज श्रीसुदत्त अनगार को उत्कृष्ट परिणामों से दान देकर ससार को परिमित और मनुष्यायु का बन्ध किया था, दूसरे शब्दों मे उन्होंने उत्कृष्ट भावना के साथ एक सुपात्र को दान दे कर अपने भविष्य को उज्ज्वल समुज्ज्वल एव अत्युज्ज्वल बनाया था। इस अध्ययन का आरम्भ इस प्रकार होता है—

मूल—[2] **तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णगरे गुणसिलए चेइए, सुहम्मे समोसढे। जंबू जाव पज्जुवासति. एवं वयासी—जइ णं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, सुहविवागाणं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?, तते णं से सुहम्मे अणगारे जम्बुमणगारं एवं वयासी—एवं खलु जंबू! समणेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तंजहा—(१) सुबाहू, (२) भद्दनंदी, य (३) सुजाए, (४) सुवासवे, (५) तहेव जिणदासे, (६) धणवती, य (७) महब्बलो, (८) भद्दनन्दी, य (९) महचंदे, (१०) वरदत्ते। जति णं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते! अज्झयणस्स सुहविवागाणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?, तते णं से सुहम्मे जंबुमणगारं एवं वयासी।**

---

(१) अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः। तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सूत्र ३३/३४, के हिन्दीविवेचन मे पण्डितप्रवर श्री सुखलाल जी।

(२) **छाया**—तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहे नगरे गुणशिले चैत्ये सुधर्मा समवसृत.। जम्बू यावत् पर्युपास्ते एवमवादीत्—यदि भदन्त! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन दुःखविपाकानामयमर्थः प्रज्ञप्तः, सुखविपाकाना भदन्त! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?, तत स सुधर्माऽनगारो जम्बूमनगारमेवमवादीत्—एव खलु जम्बू! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सुखविपाकाना दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—१ सुबाहुः, २—भद्रनन्दी च, ३—सुजातः, ४—सुवासव, ५—तथैव जिनदासः, ६—धनपतिश्च, ७—महाबल, ८—भद्रनन्दी, ९—महाचन्द्र १०—वरदत्त। यदि भदन्त! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन, सुखविपाकाना दशाध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, प्रथमस्य भदन्त! अध्ययनस्य सुखविपाकाना यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थ. प्रज्ञप्त. ?, तत. स सुधर्मा जम्बूमनगारमेवमवादीत्।

पदार्थ—तेणं—उस। कालेणं—काल। तेणं—उस। समएणं—समय। रायगिहे—राजगृह। णगरे—नगर के। गुणसिलए—गुणशील। चेइए—चैत्य में। सुहम्मे—सुधर्मा स्वामी। समोसढे—पधारे। जंबू—जंबू स्वामी। जाव—यावत्। पज्जुवासति—पर्युपासना—भक्ति करने लगे। एवं—इस प्रकार। वयासी—कहने लगे। जइ णं—यदि। भंते!—हे भगवन्!। समणेणं—श्रमण। जाव—यावत्। संपत्तेणं—मोक्षसंप्राप्त महावीर ने। दुहविवागाणं—दुःखविपाक का। अयमट्ठे—यह अर्थ। पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है, तो। सुहविवागाणं—सुखविपाक का। भंते!—हे भगवन्!। समणेणं—श्रमण। जाव—यावत्। संपत्तेणं—मोक्षसंप्राप्त ने। के अट्ठे—क्या अर्थ। पण्णत्ते?—प्रतिपादन किया है?। तते णं—तदनन्तर। से—वह। सुहम्मे—सुधर्मा स्वामी। अणगारे—अनगार। जंबु—जम्बू। अणगारं—अनगार के प्रति। एवं वयासी—इस प्रकार बोले। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। जंबू!—हे जम्बू!। समणेणं—श्रमण। जाव—यावत्। संपत्तेणं—सम्प्राप्त महावीर द्वारा। सुहविवागाणं—सुखविपाक के। दस—दश। अज्झयणा—अध्ययन। पण्णत्ता—प्रतिपादन किये गये हैं। तंजहा—जैसे कि। १—सुबाहू—१—सुबाहु। २—भद्दनन्दी य—२—और भद्रनन्दी। ३—सुजाए—३—सुजात। ४—सुवासवे—४—सुवासव। तहेव—तथैव—उसी तरह। ५—जिणदासे—५—जिनदास। ६—धनवती य—६—और धनपति। ७—महब्बलो—७—महाबल। ८—भद्दनन्दी य—८—और भद्रनन्दी। ९—महचंदे—महाचन्द्र। १०—वरदत्ते—१०—वरदत्त। जति णं—यदि। भंते!—भदन्त!। समणेणं—श्रमण। जाव—यावत्। संपत्तेणं—मोक्षसम्प्राप्त ने। सुहविवागाणं—सुखविपाक के। दस—दश। अज्झयणा—अध्ययन। पण्णत्ता—कथन किये हैं, तो। पढमस्स—प्रथम। अज्झयणस्स—अध्ययन का। भंते!—हे भगवन्!। सुहविवागाणं—सुखविपाक के। जाव—यावत्। संपत्तेणं—मोक्षसंप्राप्त महावीर स्वामी ने। के अट्ठे—क्या अर्थ। पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है?। तते णं—तदनन्तर। से—वह। सुहम्मे—सुधर्मा स्वामी। जंबु—जम्बू। अणगारं—अनगार के प्रति। एवं वयासी—इस प्रकार बोले।

मूलार्थ—उस काल और उस समय राजगृह नगर के अन्तर्गत गुणशील नामक चैत्य में अनगार श्री सुधर्मा स्वामी पधारे। तब उन की पर्युपासना में रहे हुए जम्बू स्वामी ने उन के प्रति इस प्रकार कहा कि हे भगवन्! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने यदि दुःखविपाक का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है?, इस के उत्तर में श्रीसुधर्मा अनगार श्रीजंबू अनगार के प्रति इस प्रकार बोले—जम्बू! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के दस अध्ययन प्रतिपादन किये हैं, जैसे कि—

१—सुबाहु, २—भद्रनन्दी, ३—सुजात, ४—सुवासव, ५—जिनदास, ६—धनपति, ७—महाबल, ८—भद्रनन्दी, ९—महाचन्द्र, १०—वरदत्त।

भगवन्! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने यदि सुखविपाक के सुबाहुकुमार आदि दश अध्ययन प्रतिपादन किये हैं तो भदन्त! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कथन किया है?, तदनन्तर इस प्रश्न के उत्तर में श्री सुधर्मा स्वामी श्री जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहने लगे।

टीका—संशय का विपक्षी निश्चय है, इसी भान्ति दुःख का विपक्षी सुख है। सुख की प्राप्ति सुखजनक कृत्यों को अपनाने से होती है। जब तक सुख के साधनों को अपनाया नहीं जाता तब तक सुख की

उपलब्धि केवल स्वप्नमात्र होती है। सुखप्राप्ति के लिए दु:ख के साधनों का त्याग उतना ही आवश्यक है जितना कि सुख के साधनों को अपनाना। दु ख के साधनों का त्याग तभी सभव है जब कि दु:खजनक साधनों का विशिष्ट बोध हो। कष्ट के उत्पादक साधनों के भान बिना उन का त्याग भी सभव नहीं हो सकता, इसी प्रकार सुखमूलक साधनों को अपनाने के लिये उनका ज्ञान भी आवश्यक है।

मनुष्य से ले कर छोटे से छोटे कीट, पतग तक ससार का प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है। सभी जीवों की सभी चेष्टाओं का यदि सूक्ष्मरूप से अवलोकन किया जाय तो प्रतीत होगा कि उन की प्रत्येक चेष्टा सुख की अभिलाषा से ओतप्रोत है। तात्पर्य यह है कि इस विशाल विश्व के आगण मे जीवों की जितनी भी लीलाए हैं वे सब सुखमूलक हैं। सुख की उपलब्धि के लिए जिस मार्ग के अनुसरण का उपदेश महापुरुषों ने दिया है, उस का दिग्दर्शन अनेक रूपों मे कराया गया है। श्री विपाक सूत्र में इसी दृष्टि से दु ख—विपाक और सुखविपाक ऐसे दो विभाग करके दु ख और सुख के साधनों का एक विशिष्ट पद्धति के द्वारा निर्देश करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। दु खविपाक के दश अध्ययनों में दु ख और उसके साधनों का निर्देश करके साधक व्यक्ति को उन के त्याग की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी भान्ति उस के दूसरे विभाग—सुखविपाक में सुख और उनके साधनों का निर्देश करते हुए साधकों को उन के अपनाने की प्रेरणा की गई है। दोनों विभागों के अनुशीलन से हेयोपादेयरूप मे साधक को अपने लिये मार्गनिश्चित करने की पूरी २ सुविधा प्राप्त हो सकती है। पूर्ववर्णित दु खविपाक से साधक को हेय का ज्ञान होता है, और आगे वर्णन किये जाने वाले सुखविपाक से वह उपादेय वस्तु का बोध प्राप्त कर सकता है।

पूर्व की भान्ति राजगृह नगर गुणशील चैत्य–उद्यान मे अपने विनीत शिष्यवर्ग के साथ पधारे हुए आर्य सुधर्मा स्वामी से उन के विनयशील अन्तेवासी—शिष्य आर्य जम्बू स्वामी उन के मुखारविन्द से विपाक—श्रुत के दु खविपाक के दश अध्ययनों का श्रवण करने के अनन्तर प्रतियोगी अर्थात् प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त होने वाले उस के सुखविपाकमूलक अध्ययनों के श्रवण की जिज्ञासा से उनके चरणों में उपस्थित होकर प्रार्थना-रूप मे इस प्रकार बोले—

भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत के अन्तर्गत दु खविपाक के दश अध्ययनों का जो विषय वर्णन किया है, उस का तो श्रवण मै ने आप श्री से कर लिया है, परन्तु विपाकश्रुतान्तर्गत सुखविपाक के विषय मे भगवान् ने जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह मैंने नहीं सुना, अत आप श्री यदि उसे भी सुनाने की कृपा करें तो अनुचर पर बहुत अनुग्रह होगा। तब अपने शिष्य की बढी हुई जिज्ञासा को देख, आर्य सुधर्मा स्वामी ने फरमाया कि जम्बू! मोक्षप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत के सुखविपाक में दश अध्ययन वर्णन किये है, जिन का नामनिर्देश इस प्रकार है—

१—सुबाहु २—भद्रनन्दी, ३—सुजात, ४—सुवासव, ५—जिनदास, ६—धनपति, ७—महाबल, ८—भद्रनन्दी, ९—महाचन्द्र और १०—वरदत्त।

पूज्य श्री सुबाहुकुमार आदि महापुरुषों का सविस्तर वर्णन तो यथास्थान अग्रिम पृष्ठों पर किया जाएगा, परन्तु सक्षेप मे इन महापुरुषों का यहां परिचय करा देना उचित प्रतीत होता है—

१—सुबाहुकुमार—यह हस्तिशीर्ष नगर के स्वामी महाराज अदीनशत्रु और माता श्री धारिणी के पुत्र थे। ये ७२ कला के जानकार थे। पुष्पचूला जिन मे प्रधान थी ऐसी ५०० उत्तमोत्तम राजकन्याओं के साथ इन का विवाह सम्पन्न हुआ था। प्रथम भगवान् महावीर स्वामी से श्रावक के बारह व्रत धारण किये थे। फिर उन्हीं

के चरणों में दीक्षित हो कर तथा संयम का आराधन कर के देवलोक में उत्पन्न हुए। आज कल आप देवलोक में विराजमान हैं। वहां से च्यव कर आप ११ भव करते हुए अन्त में मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे। प्रस्तुत सुखविपाकीय प्रथम अध्ययन में आप श्री का ही जीवन प्रस्तावित हुआ है। पूर्व के भव में आप ने श्री सुदत्त तपस्विराज को आहार दे कर संसार परिमित किया था और मनुष्यायु का बन्ध किया था।

२- **भद्रनन्दी**—ये ऋषभपुर नामक नगर में उत्पन्न हुए थे। इन के पूज्य पिता का नाम महाराज धनावह तथा माता का नाम महारानी सरस्वती था। पूर्व के भव में श्री युगबाहु तीर्थंकर को आहारदान दे कर इन्हों ने अपना भविष्य उन्नत बनाया था। वर्तमान में पतितपावन महावीर स्वामी के नेतृत्व में इन के जीवन का निर्माण हुआ। संयमाराधन से आप देवलोक में गये। वहां से च्यव कर ११ भव करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करेंगे।

३ – **सुजात**—इन्हों ने वीरपुर नामक नगर को जन्म लेकर पावन किया था। पिता का नाम वीर-कृष्णमित्र और माता का नाम श्रीदेवी था। जिन में राजकुमारी बालश्री मुख्य थी, ऐसी ५०० राजकन्याओं के साथ आप का पाणिग्रहण हुआ था। पूर्व के भव में आप इषुकार नामक नगर में ऋषभदत्त गाथापति के रूप में थे और वहां आप ने तपस्विराज मुनिपुङ्गव श्री पुष्पदन्त जी जैसे सुपात्र को भावनापूर्वक आहारदान दे कर संसारभ्रमण परिमित और मनुष्यायु का बन्ध किया था। वर्तमान भव में पतितपावन वीर प्रभु के चरणों में दीक्षित हुए और देवलोक में उत्पन्न हुए, वहां से च्यव कर ११ भव करते हुए अन्त में मुक्ति में विराजमान हो जाएंगे।

४—**सुवासव**—आप ने विजयपुर नगर में जन्म लिया था। महाराज वासवदत्त आप के पूज्य पिता थे। महारानी कृष्णादेवी आप की मातेश्वरी थीं। आप का जिन ५०० राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण हुआ था, उन में भद्रादेवी प्रधान थी। पूर्वभव में आप ने महाराज धनपाल के रूप में तपस्विराज श्री वैश्रमण-दत्त जी महाराज का पारणा कराया था। वर्तमान भव में भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में दीक्षित हो संयम के आराधन से सिद्ध पद उपलब्ध किया था।

५—**जिनदास**—आप सौगन्धिकनरेश महाराज अप्रतिहत के पौत्र थे। पिता का नाम श्री महाचंद्र तथा माता का नाम श्री अरहदत्ता देवी था। महाराज मेघरथ के भव में आप ने श्री सुधर्मा स्वामी प्रतिलाभित किए थे। वर्तमान भव में भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में दीक्षित हुए और संयम के सम्यक् आराधन से आप ने निर्वाणपद प्राप्त किया था।

६—**धनपति**—आप कनकपुरनरेश महाराज प्रियचन्द के पौत्र थे। आप की पूज्य दादी का नाम श्री सुभद्रादेवी था। आप के पिता का नाम श्री वैश्रमणदत्त था। माता श्री देवी थी। पूर्वभव में आप ने तपस्विराज श्री सम्भूतविजय मुनिराज को भावनापुरस्सर दान दिया था। वर्तमान भव में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास दीक्षित हो निर्वाणपद प्राप्त किया था।

७—**महाबल**—महापुरनरेश महाराज बल के आप पुत्र थे। आप की माता का नाम श्री सुभद्रादेवी था। रक्तवतीप्रमुख ५०० राजकुमारियों के साथ आप का विवाह सम्पन्न हुआ था। नागदत्त गाथापति के भव में आप ने तपस्विराज श्री इन्द्रदत्त मुनिवर्य का पारणा करा कर संसार को परिमित किया था। वर्तमान भव में भगवान् महावीर स्वामी के पवित्र चरणों में साधु बन कर उस के यथाविधि आराधन से मुक्ति प्राप्त की थी।

८—**भद्रनन्दी**—आप के पूज्य पिता का नाम सुघोषनरेश महाराज अर्जुन था और मातेश्वरी श्री दत्तवती जी थी। आप का ५०० राजकुमारियों के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था, उन में श्रीदेवी मुख्य थी। श्री धर्मघोष के भव में आप ने श्री धर्मसिंह मुनिराज को निर्दोष एवं शुद्ध भावों के साथ आहार पानी देकर, पारणा करा कर अपने संसारभ्रमण को परिमित किया था। वर्तमान भव में भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में दीक्षित हो

कर सिद्ध पद को प्राप्त किया था। प्रस्तुत द्वितीय श्रुतस्कन्धीय द्वितीय अध्याय के भद्रनन्दी इन से भिन्न थे। जन्मस्थान तथा माता पिता आदि की भिन्नता ही इन के पार्थक्य को प्रमाणित कर रही है।

९—**महाचन्द्र**—आप का जन्म चम्पा नगरी में हुआ था, पिता का नाम महाराज दत्त तथा माता का श्री दत्तवती था। श्रीकान्ता जिन में प्रधान थी ऐसी ५०० राजकन्याओं के साथ आप का पाणिग्रहण हुआ था। चिकित्सिकानरेश महाराज जितशत्रु के भव में आप ने तपस्विराज श्री धर्मवीर्य का पारणा करा कर अपने भविष्य को उन्नत बनाते हुए मनुष्यायु का बन्ध किया और वर्तमान भव में भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में दीक्षित हो कर साधुधर्म के सम्यक् आराधन से परम साध्य निर्वाण पद को प्राप्त किया था।

१०—**वरदत्त**—आप के पूज्य पिता का नाम साकेतनरेश महाराज मित्रनन्दी था। माता श्रीकान्तादेवी थी। आप का जिन ५०० राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण हुआ था, उन में वरसेना राजकुमारी प्रधान थी, अर्थात् यह आप की पट्टरानी थी। शतद्वारनरेश महाराज विमलवाहन के भव में आप ने तपस्विराज श्री धर्मरुचि जी महाराज का विशुद्ध परिणामों से पारणा करा कर संसार को परिमित करने के साथ २ मनुष्यायु का बन्ध किया था। वर्तमान भव में चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के पवित्र चरणों में साधुव्रत धारण कर तथा उस के सम्यक् पालन से कालमास में काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए। आज कल आप दैविक संसार में अपने पुण्यमय शुभ कर्मों का सुखोपभोग कर रहे हैं। वहां से च्यव कर आप ११ भव करेंगे और अन्त में महाविदेह क्षेत्र में दीक्षित हो कर जन्म मरण का अन्त कर डालेंगे। सिद्ध, बुद्ध, अजर और अमर हो जाएंगे।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध सुखविपाक के पूर्वोक्त दश अध्ययनों में महामहिम श्री सुबाहुकुमार जी आदि समस्त महापुरुषों का ही जीवनवृत्तान्त क्रमशः प्रस्तावित हुआ है, इसीलिये सूत्रकार ने सुबाहुकुमार आदि के नामों पर अध्ययनों का नामकरण किया है, जो कि उचित ही है।

आर्य जम्बू स्वामी के"—भदन्त ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक का क्या अर्थ वर्णन किया है ? अर्थात् उस में किन २ महापुरुषों का जीवनवृत्तान्त उपन्यस्त हुआ है ?—" इस प्रश्न के उत्तर में आर्य सुधर्मा स्वामी ने"—सुखविपाक में भगवान् ने श्री सुबाहुकुमार, श्री भद्रनन्दी आदि दश अध्ययन फरमाये हैं, तात्पर्य यह है कि इन दश महापुरुषों के जीवनवृत्तान्तों का उल्लेख किया है—"यह उत्तर दिया था, परन्तु इतने मात्र से प्रश्नकर्ता श्री जम्बू स्वामी की जिज्ञासा पूर्ण नहीं होने पाई, अतः फिर उन्हों ने विनम्र शब्दों में अपने परमपूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी के पावन चरणों में निवेदन किया। वे बोले—भगवन् ! यह ठीक है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के दश अध्ययन फरमाये हैं, परन्तु उस के सुबाहुकुमार नामक प्रथम अध्ययन का उन्हों ने क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?, इस प्रश्न के उत्तर में आर्य सुधर्मा स्वामी ने जो कुछ फरमाया, उस का वर्णन अग्रिम सूत्र में किया गया है।

लोकोत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण अर्थात् समूह को धारण करने वाले तथा जिनेन्द्र प्रवचन की पहले पहल सूत्ररूप में रचना करने वाले महापुरुष **गणधर** कहलाते हैं। चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के—१—**इन्द्रभूति**, २—**अग्निभूति**, ३—**वायुभूति**, ४—**व्यक्तस्वामी**, ५—**सुधर्मास्वामी**, ६—**मण्डितपुत्र**, ७—**मौर्यपुत्र**, ८—**अकम्पित**, ९—**अचलभ्राता**, १०—**मेतार्य**, ११—**प्रभास**, ये ११ गणधर थे। ये सभी वैदिक विद्वान् ब्राह्मण थे। अपने २ मत की पुष्टि के लिये शास्त्रार्थ करने के लिये भगवान् महावीर के पास आये थे। [1]अपने २ संशयों का भगवान् से सन्तोष-जनक उत्तर पाकर सभी उन के

---

(१) संशय तथा उनके उत्तरों का विवरण श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया बीकानेर द्वारा प्रकाशित **जैनसिद्धान्त बोलसंग्रह** के चतुर्थ भाग में देखा जा सकता है।

शिष्य हो गये थे तथा भगवान् के चरणों मे ज्ञानाराधन, दर्शनाराधन तथा चारित्राराधन की उत्कर्षता को प्राप्त कर उन्हों ने गणधर पद को उपलब्ध किया था ।

प्रस्तुत में जो श्री सुधर्मा स्वामी का वर्णन किया गया है, ये भगवान् महावीर स्वामी के ही पूर्वोक्त पांचवें गणधर हैं। आज का जैनेन्द्र प्रवचन इन्हीं की वाचना कहलाता है। यही आर्य जम्बू स्वामी के परमपूज्य गुरुदेव हैं। इन्हीं के श्रीचरणों में रहकर श्री जम्बूस्वामी अपनी ज्ञान—पिपासा को जैनेन्द्र प्रवचन के जल से शान्त करते रहते हैं। श्री जम्बूस्वामी का जीवनपरिचय पीछे दु:खविपाक के पृष्ठ ७ से लेकर ५ की टिप्पण में दिया जा चुका है पाठक वहीं से देख सकते हैं।

विपाकश्रुत का शब्दसम्बन्धी ऊहापोह पीछे पृष्ठ २० पर किया जा चुका है। विपाकश्रुत के दु:ख—विपाक और सुखविपाक ऐसे दो श्रुतस्कन्ध हैं। दु:खविपाक आदि पदों का अर्थ भी पृष्ठ २१ पर लिख दिया गया है। दु:खविपाक के मृगापुत्र आदि दश अध्ययन हैं, जिन का विवरण पहले कर दिया गया है । दु:ख-विपाक के अनन्तर सुखविपाक का स्थान है, इस में सुबाहुकुमार आदि दश अध्ययन हैं। प्रस्तुत मे—सुबाहु-कुमार कौन था ? उस ने कहां जन्म लिया था ?, वह किस नगर में रहता था ?, उस के माता पिता का क्या नाम था ?, उस ने किस तरह जीवन का निर्माण एवं कल्याण किया ?, मानव से महामानव वह कैसे बना ?, इत्यादि प्रश्न श्री जम्बूस्वामी की ओर से श्री सुधर्मा स्वामी के चरणों मे रखे गये हैं, उन का उत्तर ही प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

—जम्बू जाव पज्जुवासति—यहां पठित जाव यावत् पद से—**णामं अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेसे चोद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगते संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। तते णं अज्ज-जम्बू णामं अणगारे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउह-ल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेति उट्ठाए उट्ठेत्ता जेणामेव अज्जसुहम्मे थेरे तेणामेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अज्जसुहम्मे थेरे तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति करित्ता वंदति नमंसति वन्दित्ता नमंसित्ता अज्ज-सुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

आर्य जम्बू अनगार आर्य सुधर्मा स्वामी के पास संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विहरण कर रहे थे, जो कि काश्यपगोत्र वाले हैं, जिन का शरीर सात हाथ प्रमाण का है, जो पालथी मार कर बैठने पर शरीर की ऊंचाई और चौडाई बराबर हो ऐसे संस्थान वाले हैं, जिन का [1]वज्रर्षभनाराच संहनन है, जो सोने की रेखा के समान और पद्मपराग (कमलरज) के समान वर्ण वाले हैं, जो उग्र तपस्वी—साधारण मनुष्य की कल्पना से अतीत को उग्र कहते हैं, ऐसे उग्र तप के करने वाले, दीप्ततपस्वी–कर्मरूपी गहन वन को भस्म करने मे समर्थ तप के करने वाले, तप्ततपस्वी–कर्मसंताप के विनाशक तप के करने वाले और महा-तपस्वी—स्वर्गादि की प्राप्ति की इच्छा बिना तप करने वाले हैं, जो उदार-प्रधान हैं, जो आत्मशत्रुओं के विनष्ट करने मे निर्भीक हैं, जो दूसरों के द्वारा दुष्प्राप्य गुणों को धारण करने वाले हैं जो घोर-विशिष्ट तपस्वी

(१) **वज्रर्षभनाराच संहनन** का अर्थ पृष्ठ २७३ पर लिखा जा चुका है।

हैं, जो दारुण-भीषण ब्रह्मचर्य व्रत के पालक हैं, जो शरीर पर ममत्व नहीं रख रहे हैं, जो तेजोलेश्या-विशिष्ट तपोजन्य लब्धिविशेष को संक्षिप्त किये हुए हैं, जो १४ पूर्वों[1] के ज्ञाता है, जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान, इन चारों ज्ञानों के धारक हैं, जिन को समस्त अक्षरसंयोग का ज्ञान है, जिन्हों ने उत्कुटुक नामक आसन लगा रखा है, जो अधोमुख हैं, जो धर्म तथा शुक्ल ध्यानरूप कोष्ठक में प्रवेश किये हुए हैं अर्थात् जिस प्रकार कोष्ठक में धान्य सुरक्षित रहता है उसी प्रकार ध्यानरूप कोष्ठक में प्रविष्ट हुए आत्म-वृत्तियों को सुरक्षित रख रहे हैं।

तदनन्तर आर्य जम्बूस्वामी के हृदय में विपाकश्रुत के द्वितीय श्रुतस्कन्धीय सुखविपाक में वर्णित तत्त्वों के जानने की इच्छा उत्पन्न हुई और साथ में यह संशय[2] भी उत्पन्न हुआ कि दुःखविपाक में जिस तरह मृगापुत्र आदि का विषादान्त जीवन वर्णित किया गया है, क्या उसी तरह ही सुखविपाक में किन्हीं प्रसादान्त जीवनों का उपन्यास किया है ?, या उस में किसी भिन्न पद्धति का आश्रयण किया गया है ?, तथा उन्हें यह उत्सुकता भी उत्पन्न हुई जब विपाकसूत्रीय दुःखविपाक में मृगापुत्रादि का दुःखमूलक जीवनवृत्तान्त प्रस्तावित हो चुका है और उसी से सुखमूलक जीवनों की कल्पना भी की जा सकती है, तो फिर देखें भगवान् सुखविपाक में सुखमूलक जीवनों का कैसे वर्णन करते हैं ?

प्रस्तुत में जो जात, संजात, उत्पन्न तथा समुत्पन्न ये चार पद दिये हैं, इन में प्रथम जात शब्द साधारण तथा संजात शब्द विशेष, इसी भान्ति उत्पन्न शब्द भी सामान्य और समुत्पन्न शब्द विशेष का बोध कराता है। जात और उत्पन्न शब्दों में इतना ही भेद है कि उत्पन्न शब्द उत्पत्ति का और जात शब्द उस की प्रवृत्ति का सूचक है। तात्पर्य यह है कि पहले श्रद्धा, संशय, कौतूहल इन की उत्पत्ति हुई और पश्चात् इन में प्रवृत्ति हुई। इन के सम्बन्ध में अधिक ऊहापोह पृष्ठ १२ से ले कर १७ तक किया जा चुका है अस्तु।

जातश्रद्ध जातसंशय, जातकौतूहल, संजातश्रद्ध, संजातसंशय, संजातकौतूहल, उत्पन्नश्रद्ध, उत्पन्नसंशय, उत्पन्नकौतूहल समुत्पन्नश्रद्ध समुत्पन्नसंशय तथा समुत्पन्नकौतूहल श्री जम्बू स्वामी अपने स्थान से उठ कर खड़े होते हैं खड़े होकर जहां सुधर्मा स्थविर विराजमान थे, वहां पर आते हैं, आकर श्री सुधर्मा स्वामी को दक्षिण ओर से तीन बार प्रदक्षिणा (परिक्रमा) की, प्रदक्षिणा कर के स्तुति और नमस्कार किया, स्तुति तथा नमस्कार कर के आर्य सुधर्मा स्वामी के थोड़ी सी दूरी पर सेवा और नमस्कार करते हुए सामने बैठे और हाथों को जोड़ कर विनयपूर्वक उन की भक्ति करने लगे।

—**समणेणं जाव सम्पत्तेणं**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद से अभिमत पद पृष्ठ ५४३ पर लिखे जा चुके हैं। पाठक वहीं पर देख सकते हैं।

आर्य सुधर्मा स्वामी ने श्री जम्बू स्वामी की जिज्ञासापूर्ति के लिए जो कुछ फरमाया, उस का आदिम सूत्र इस प्रकार से है –

---

(१) १४ पूर्वों के नाम तथा उन का भावार्थ पृष्ठ ७ तथा ८ पर लिखा जा चुका है।

(२) प्रस्तुत में सुखविपाक के सम्बन्ध में श्री जम्बूस्वामी को क्या संशय उत्पन्न हुआ था ? या उस का क्या स्वरूप था ?, इस के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिल रहा है। इस सम्बन्ध में टीकाकार महानुभाव भी सर्वथा मौन है। तात्पर्य यह है कि जिस तरह भगवती सूत्र में टीकाकार ने भगवान् गौतम के संशय का स्वरूप **वर्णित** किया है, उसी भांति प्रस्तुत में कोई वर्णन नहीं पाया जाता, तथापि **ज्ञाताधर्मकथाङ्ग** सूत्र के प्रथम अध्ययन में प्रतिपादित संशयस्वरूप की भांति प्रस्तुत में कल्पना की गई है।

मूल :—[1]एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिसीसे णामं णगरे होत्था, रिद्ध०। तस्स णं हत्थिसीसस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे पुप्फकरंडए णामं उज्जाणे होत्था, सव्वोउय० । तत्थ णं कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था, दिव्वे० । तत्थ णं हत्थिसीसे णगरे अदीणसत्तू नामं राया होत्था, महया० । तस्स णं अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणीपामोक्ख देवीसहस्सं ओरोहे यावि होत्था । तते णं सा धारिणीदेवी अन्नया कयाइ तंसि तारिसगंसि वासभवणंसि सीहं सुमिणे जहा मेहजम्मणं तहा भाणियव्वं । सुबाहुकुमारे जाव अलं भोगसमत्थं० यावि जाणंति जाणित्ता अम्मापियरो पंच पासायवडिंसगसयाइं कारेंति, अब्भुग्गय० भवणं०, एवं जहा महब्बलस्स रण्णो, णवरं पुप्फचूलापामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकण्णगसयाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेंति, तहेव पंचसइओ दाओ जाव उप्पिं पासायवरगते फुट्ट० जाव विहरति ।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । जम्बू !—हे जम्बू ! । तेणं कालेणं तेणं समएणं — उस काल और उस समय । रिद्ध०—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित तथा समृद्ध—धन, धान्यादि से परिपूर्ण । हत्थिसीसे - हस्तिशीर्ष । णामं—नाम का । णगरे—नगर । होत्था—था । तस्स णं—उस । हत्थिसीसस्स - हस्तिशीर्ष । णगरस्स—नगर के । बहिया—बाहिर । उत्तरपुरत्थिमे—उत्तरपूर्व । दिसीभागे—दिशा के मध्य भाग में अर्थात् ईशान कोण में । पुप्फकरंडए—पुष्पकरण्डक । णाम— नाम का । उज्जाणे—उद्यान । होत्था—था, जो कि । सव्वोउय०—सर्व ऋतुओं में होने वाले फल, पुष्पादि से युक्त था । तत्थ णं— वहां । कयवणमालपियस्स— कृतवनमालप्रिय । जक्खस्स— यक्ष का । जक्खायतणे—यक्षायतन—स्थान । होत्था —था, जो कि । दिव्वे०—दिव्य अर्थात् प्रधान एवं परम सुन्दर था । तत्थ णं—उस । हत्थिसीसे —हस्तिशीर्ष । णगरे नगर में । अदीणसत्तू— अदीनशत्रु । णामं - नाम का । राया—राजा । होत्था—था, जो कि । महया०—हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् था । तस्स णं—उस । अदीणसत्तुस्स—अदीनशत्रु । रण्णो—राजा की । धारिणीपामोक्ख—धारिणीप्रमुख अर्थात् धारिणी है प्रधान जिन में ऐसी । देवीसहस्स—हजार देवियें रानियें । ओरोहे यावि होत्था—अन्त पुर में थीं । तते ण - तदनन्तर । सा—वह । धारिणी—धारिणी । देवी - देवी । अन्नया - अन्यदा । कयाइ—कदाचित् । तंसि उस । तारिसगंसि—तादृश—राजोचित । वासभव—

[1] छाया एवं खलु जम्बू: ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये हस्तिशीर्षं नाम नगरमभूत्, ऋद्ध० । तस्माद् हस्तिशीर्षाद् नगराद् बहिरुत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे पुष्पकरडकं नाम उद्यानमभूत्, सर्वर्तु० । तत्र कृतवनमालप्रियस्य यक्षस्य यक्षायतनमभूत् दिव्यम्० । तत्र हस्तिशीर्षे नगरे अदीनशत्रुर्नाम राजाऽभूत्, महता० । तस्यादीनशत्रो. राज्ञ: धारिणीप्रमुखं देवीसहस्रम्, अवरोधे चाप्यभवत् । तत सा धारिणी देवी अन्यदा कदाचित् तस्मिन् तादृशे वासभवने सिंहं स्वप्ने यथा मेघजन्म तथा भणितव्यम् । सुबाहुकुमारो यावत् अलंभोगसमर्थ० चापि जानीत: ज्ञात्वा अम्बापितरौ पञ्च प्रासादावतंसकशतानि कारयत , अभ्युद्गत०, भवनम्० । एवं यथा महाबलस्य राज्ञ. नवरं पुष्पचूलाप्रमुखाणां पञ्चानां राजवरकन्याशतानामेकदिवसे पाणिं ग्राहयतः । तथैव पंचशतको दायो यावद् उपरि प्रासादवरगत. स्फुट० यावद् विहरति ।

णसि—वासभवन मे—वासगृह मे। **सुमिणे**—स्वप्न में। **सीहं**—सिंह को (देखती है)। **जहा**—जैसे ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र मे वर्णित। **मेहजम्मण**—मेघकुमार का जन्म कहा गया है। **तहा**—तथा—उसी प्रकार। **भाणियव्वं**—वर्णन करना अर्थात् उस के पुत्र का जन्म मेघकुमार के समान ही जानना चाहिये। **सुबाहुकुमारे**—सुबाहुकुमार को। **जाव**—यावत्। **अलंभोगसमत्थं० यावि**—भोगों के उपभोग करने में सर्वथा समर्थ हुआ। **जाणंति जाणित्ता**—जानते हैं भोगों के उपभोग मे समर्थ जान कर। **अम्मापियरो** माता और पिता। **पंचपासायवडिंसगसयाइं**—जिस प्रकार भूषणों मे मुकुट सर्वोत्तम होता है, उसी प्रकार महलों मे उत्तम पाच सौ प्रासादो का निर्माण। **कारेंति**—करवाते हैं। **अब्भुग्गय०**—जो कि अत्यन्त उन्नत थे और उन के मध्य में। **भवणं०**—एक भवन तैयार कराते हैं। **एवं**—इस प्रकार। **जहा**—यथा अर्थात् जैसे भगवती सूत्र मे वर्णित। **महब्बलस्स रएणो**—महाबल राजा का कथन किया गया है तद्वत् जानना चाहिये। **णवरं**—केवल इतना विशेष है कि। **पुप्फचूलापामोक्खाणं**—पुष्पचूला है प्रमुख—प्रधान जिन मे ऐसी। **पंचण्हं रायवरकन्नगसयाणं**—पाच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ। **एगदिवसेणं**—एक दिन मे। **पाणिं गेण्हावेंति** पाणिग्रहण—विवाह करा देते हैं। **तहेव**—उसी प्रकार अर्थात् महाबल की भान्ति। **पंचसइओ**—पाच सौ की संख्या वाला। **दाओ**—दहेज प्राप्त हुआ **जाव**—यावत्। **उप्पिं पासायवरगते**—ऊपर सुन्दर प्रासादों मे स्थित। **फुट्ट०**—जिस मे मृदंग बजाए जा रहे हैं, ऐसे नाटकों द्वारा। **जाव**—यावत। **विहरति**—विहरण करने लगा।

मूलार्थ—हे जम्बू ! उस काल और उस समय हस्तिशीर्ष नाम का एक बडा ही ऋद्ध, स्तिमित एवं समृद्धिपूर्ण नगर था। उस के बाहिर उत्तर और पूर्व दिशा के मध्य अर्थात् ईशान कोण मे सर्व ऋतुओं मे उत्पन्न होने वाले फल, पुष्पादि से युक्त पुष्पकरण्डक नाम का बडा ही रमणीय उद्यान था। उस उद्यान मे कृतवनमालप्रिय नाम के यक्ष का एक बडा ही सुन्दर यक्षायतन–स्थान था। उस नगर मे अदीनशत्रु नाम के राजा राज्य किया करते थे, जो कि राजाओं मे हिमालय आदि पर्वतों के समान महान् थे। अदीनशत्रु नरेश के अन्त पुर मे धारिणीप्रमुख एक हजार देवियें थीं।

एक समय राजोचित वासभवन मे शयन करती हुई धारणी देवी ने स्वप्न मे सिंह को देखा। इस के आगे जन्म आदि का संपूर्ण वृत्तान्त मेघकुमार के जन्म आदि की भान्ति जान लेना चाहिए, यावत सुबाहुकुमार सांसारिक कामभोगों के उपभोग मे सर्वथा समर्थ हो गया अर्थात् पूर्णतया यौवनसम्पन्न हो गया, तथा सुबाहुकुमार को यावत भोगोपभोगों मे समर्थ हुआ जान कर माता पिता ने सर्वोत्तम पांच सौ बडे ऊंचे प्रासाद और उनके मध्य मे एक अत्यन्त विशाल भवन का निर्माण कराया, जिस प्रकार भगवतीसूत्र मे वर्णित महाबल नरेश का विवाह सम्पन्न हुआ था, उसी भांति सुबाहुकुमार का भी विवाह कर दिया गया, उस मे अन्तर इतना है कि पुष्पचूला मुख्य पाच सौ उत्तम राजकन्याओं के साथ एक ही दिन मे उस का विवाह कर दिया गया और उसी तरह पृथक् २ पांच सौ प्रीतिदान—दहेज दिए गए। तदनन्तर वह सुबाहुकुमार उस विशाल भवन मे नाट्यादि से उपगीयमान होता हुआ उन देवियों के साथ मानवोचित मनोज्ञ विषयभोगों का यथारुचि उपभोग करने लगा।

टीका—अनगार श्री जम्बू की अभ्यर्थना को सुन कर आर्य श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा कि हे जम्बू ! इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे मे हस्तिशीर्ष नाम का एक नगर था जो कि अनेक विशाल भवनों से समलंकृत, धन, धान्य और जनसमूह से भरा हुआ था। वहा के निवासी बड़े सम्पन्न और सुखी थे। कृषक लोग कृषि के व्यवसाय से ईख, जौ, चावल और गेहूं आदि की उपज करके बडी सुन्दरता से अपना निर्वाह करते थे। नगर मे गौएं और भैंसे आदि दूध देने वाले पशु भी पर्याप्त थे, एवं कूप, तालाब और उद्यान आदि से वह नगर

चारों ओर से सुशोभित हो रहा था, उस में व्यापारी, कृषक, राजकर्मचारी, नर्तक, गायक, मल्ल, विदूषक, तैराक, ज्योतिषी, वैद्य, चित्रकार, सुवर्णकार तथा कुम्भकार आदि सभी तरह के लोग रहते थे। नगर का बाजार बड़ा सुन्दर था, उस में व्यापारि—वर्ग का खूब जमघट रहता था। वहां के निवासी बड़े सज्जन और सहृदय थे। चोरों उचक्कों, गांठकतरों और डाकुओं का तो उस नगर में प्रायः अभाव सा ही था। तात्पर्य यह है कि वह नगर हर प्रकार से सुरक्षित तथा भयशून्य था।

नगर के बाहिर ईशान कोण में पुष्पकरण्डक नाम का एक विशाल अथच रमणीय उद्यान था। उस के कारण नगर की शोभा और भी बढ़ी हुई थी। वह उद्यान नन्दनवन के समान रमणीय तथा सुखदायक था, उस में अनेक तरह के सुन्दर २ वृक्ष थे। प्रत्येक ऋतु में फलने और फूलने वाले वृक्षों और पुष्पलताओं की मनोरम छाया और आनन्दप्रद सुगन्ध से दर्शकों के लिए वह उद्यान एक अपूर्व आमोद—प्रमोद का स्थान बना हुआ था। उस में कृतवनमालप्रिय नाम के यक्ष का एक सुप्रसिद्ध स्थान था जो कि बड़ा ही रमणीय एवं दिव्य—प्रधान था।

हस्तिशीर्ष नगर उस समय की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। उस में अदीनशत्रु नाम के परम प्रतापी क्षत्रिय राजा का शासन था। अदीनशत्रु नरेश शूरवीर प्रजाहितैषी और पूरे न्यायशील थे। उन के शासन में प्रजा हर प्रकार से सुखी थी। वे स्वभाव से बड़े नम्र और दयालु थे, परन्तु अपराधियों को दण्ड देने, दुष्टों का निकंदन और शत्रुओं का मानमर्दन करने में बड़े क्रूर थे। उन की न्यायशीलता और धर्मपरायणता के कारण राज्यभर में दुष्काल और महामारी आदि का कहीं भी उपद्रव नहीं होता था। अन्य माण्डलीक राजा भी उन से सदा प्रसन्न रहते थे। तात्पर्य यह है कि उन का शासन हर प्रकार से प्रशंसनीय था।

महाराज अदीनशत्रु के धारिणी प्रभृति—आदि एक हजार देवियें थीं, जिन में धारिणी प्रधान महारानी थी। धारिणीदेवी सौन्दर्य की जीती जागती मूर्ति थी। इस के साथ ही वह आदर्श पतिव्रता और परम विनीता भी थी, यही कारण था कि महाराज के हृदय में उस के लिये बहुमान था। एक बार धारिणी देवी रात्रि के समय जब कि अपने राजोचित शयनभवन में सुखशय्या पर सुखपूर्वक सो रही थी तो अर्द्धजाग्रत अवस्था में अर्थात् वह न तो गाढ निद्रा में थी और न सर्वथा जाग ही रही थी, ऐसी अवस्था में उस ने एक विशिष्ट स्वप्न देखा। एक सिंह जिस की गरदन पर सुनहरी बाल बिखर रहे थे। दोनों आखें चमक रही थीं। कंधे उठे हुए, पूंछ टेढी और जंभाई लेता हुआ आकाश से उतरता है और उस के मुह में प्रवेश कर जाता है। इस स्वप्न के अनन्तर जब धारिणी देवी जागी तो उस का फल जानने की उत्कण्ठा से वह उसी समय अपने पतिदेव महाराज अदीनशत्रु के पास पहुँची और मधुर तथा कोमल शब्दों से उन्हें जगा कर अपने स्वप्न को कह सुनाया। स्वप्न सुनाने के बाद वह बोली कि प्राणनाथ ! इस स्वप्न का फल बतलाने की कृपा करें।

महारानी धारिणी के कथन को सुन कर कुछ विचार करने के अनन्तर महाराज अदीनशत्रु ने कहा कि प्रिये ! तुम्हारा यह स्वप्न बहुत उत्तम और मंगलकारी एवं कल्याणकारी है। इस का फल अर्थलाभ, पुत्रलाभ और राज्यलाभ होगा। विशेषरूप से इस का फल यह है कि तुम्हारे एक विशिष्टगुणसम्पन्न बड़ा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होगा। दूसरे शब्दों में तुम्हें एक सुयोग्य पुत्र की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त होगा। इस प्रकार पतिदेव से स्वप्न का शुभ फल सुन कर धारिणी को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह उन्हें प्रणाम कर वापिस अपने स्थान पर लौट आई। किसी अन्य दुःस्वप्न से उक्त शुभ स्वप्न का फल नष्ट न हो जाए इस विचार से फिर वह नहीं सोई, किन्तु रात्रि का शेष भाग उस ने धर्मजागरण में ही व्यतीत किया।

गर्भवती रानी जिन कारणों से गर्भ को किसी प्रकार का कष्ट या हानि पहुँचने की सभावना होती है उन से वह बराबर सावधान रहने लगी। अधिक उष्ण, अधिक ठंडा, अधिक तीखा या अधिक खारा भोजन करना उस ने त्याग दिया। हित और मित भोजन तथा गर्भ को पुष्ट करने वाले अन्य पदार्थों के यथाविधि सेवन से वह अपने गर्भ का पोषण करने लगी

बालक पर गर्भ के समय सस्कारों का बहुत अपूर्व प्रभाव होता है। विशेषत: जो प्रभाव उस पर उस की माता की भावनाओं का पड़ता है, वह तो बडा विलक्षण होता है। तात्पर्य यह है कि माता की अच्छी या बुरी जैसी भी भावनाए होंगी, गर्भस्थ जीव पर वैसे ही सस्कार अपना प्रभुत्व स्थापि कर लेंगे। बालक के जीवन का निर्माण गर्भ से ही चालू हो जाता है, अत गर्भवती माताओं को विशेष सावधान रहने की आवश्यकता होती है। भारतीय सन्तान की दुर्बलता के कारणों में से एक कारण यह भी है कि गर्भ के पालन पोषण और उस पर पड़ने वाले सस्कारों के विषय में बहुत कम ध्यान रक्खा जाता है। गर्भधारण के पश्चात् पुरुषसंसर्ग न करना, वासना—पोषक प्रवृत्तियों से अलग रहना, मानस को हर तरह से स्वच्छ एव निर्मल बनाए रखना ही स्त्री के लिए हिता-वह होता है, परन्तु इन बातों का बहुत कम स्त्रिया ध्यान रखती हैं। उसी का यह दूषित परिणाम है कि आजकल के बालक दुर्बल, अल्पायुषी और बुरे सस्कारों वाले पाए जाते हैं, परन्तु महारानी धारिणी इन सब बातों को भली भान्ति जानती थीं। अतएव वह गर्भस्थ प्राणी के जीवन के निर्माण एव कल्याण का ध्यान रखती हुई अपने मानस को दूषित प्रवृत्तियों से सदा सुरक्षित रख रही थी।

तदनन्तर लगभग नवमास के परिपूर्ण होने पर उसने एक सर्वांगसुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया। जातकर्मादि संस्कारों के कराने से उस नवजात शिशु का 'सुबाहुकुमार" ऐसा गुणनिष्पन्न नाम रक्खा। तत्पश्चात् दूध पिलाने वाली क्षीरधात्री स्नान कराने वाली मज्जनधात्री, वस्त्रभूषण पहराने वाली मडनधात्री क्रीडा कराने वाली क्रीडापनधात्री और गोद में रखने वाली अकधात्री, इन पाच धाय माताओं की देखरेख में वह गिरि-कन्दरागत लता तथा द्वितीया के चन्द्र की भान्ति बढने लगा। इस प्रकार यथाविधि पालन और पोषण से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सुबाहुकुमार जब आठ वर्ष का हो गया तो माता पिता ने शुभ मुहूर्त में एक सुयोग्य कला-चार्य के पास उस की शिक्षा का प्रबन्ध किया। कलाचार्य ने भी थोड़े ही समय में मनुष्य की ७२ कलाओं[1] में निपुण कर दिया और उसे महाराज को समर्पित किया। अब सुबाहुकुमार सामान्य बालक न रह कर विद्या, विनय, रूप और यौवन सम्पन्न होकर एक आदर्श राजकुमार बन गया तथा मानवोचित भोगों के उपभोग करने के सर्वथा योग्य हो गया। तब माता पिता ने उस के लिए पाच सौ भव्य प्रासाद और एक विशाल भवन तैयार कराया और पुष्पचूलाप्रमुख पाच सौ राजकुमारियों के साथ उस का विवाह कर दिया, और प्रेमोपहार के रूप में सुवर्णकोटि[2] आदि प्रत्येक वस्तु ५०० की सख्या में दी। तदनुसार सुबाहुकुमार भी उन पाच सौ प्रासादों में उन राजकुमारियों के साथ यथारुचि मानवोचित विषयभोगों का उपभोग करता हुआ सानन्द समय व्यतीत करने लगा। यह है सूत्रवर्णित कथासन्दर्भ का सार जिसे सूत्रानुसार अपने शब्दों में व्यक्त किया गया है।

हस्तिशीर्ष नगर तथा उस के पुष्पकरडक उद्यान का जो वर्णन सूत्र में दिया है उस पर से भारत की प्राचीन वैभवशालीनता का भलीभान्ति अनुमान किया जा सकता है आज तो यह स्थिति भारतीय जनता की कल्पना से भी परे की हो गई है, परन्तु आज की स्थिति को सौ दो सौ वर्ष पूर्व के इतिहास से मिला कर देखा जाय तथा इसी क्रम से अढाई, तीन हजार वर्ष पूर्व की स्थिति का अन्दाजा लगाया जाय तो मालूम होगा कि

---

(१) ७२ कलाओं का सविस्तर वर्णन १०८ से ले कर ११५ तक के पृष्ठों में किया जा चुका है।

(२) सुवर्णकोटि आदि का सविस्तर वर्णन ४७७ से ले कर ४७८ तक के पृष्ठों पर किया गया है। अन्तर मात्र इतना है कि वहा कुमार सिंहसेन का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में सुबाहुकुमार का।

यह बात अत्युक्तिपूर्ण नहीं किन्तु वास्तविक ही है।

कुछ विचारकों का "—साधु मुनिराजों को नारी के सौन्दर्य तथा इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के सौन्दर्य वर्णन से क्या प्रयोजन है?—" यह विचार कुछ गौरव नहीं रखता, क्योंकि वास्तविकता को प्रकट करना कोई दोषावह नहीं होता, प्रत्युत उसे छिपाना दोषाधायक हो सकता है। हां, वस्तु पर रागद्वेष करना दोष है, न कि उस का यथार्थरूप में वर्णन करना। आज के साधु की तो बात ही जाने दीजिए, परमपूज्य गणधर देवों ने भी ऐसे वर्णन किए हैं। उन्हों ने सब बातों का, फिर वे बातें चाहे नगरसौन्दर्य से सम्बन्ध रखती हों, स्त्री अथवा पुरुष के सौन्दर्यविषय की हों, पूरी तरह से वर्णन किया है।

महारानी धारिणी देवी का रात्रि के समय महाराज अदीनशत्रु के पास स्वप्न का फल पूछने के लिये अपने शयनागार से उठ कर जाना, यह सूचित करता है कि पूर्वकाल में पति पत्नी एक स्थान पर नहीं सोया करते थे, इस से तथा इसी प्रकार के शास्त्रों में वर्णित अन्य कथानकों से यह सिद्ध होता है कि उस समय प्रायः सभी लोगों की यही नीति थी, जिस से कि उन की दीर्घदर्शिता एवं विषयविरक्ति सूचित होती है। इस नीति के पालन दम्पती भी अधिकाधिक सदाचारी रहने के कारण प्रायः नीरोग रहते और उन की सन्तति भी सशक्त अथच दीर्घजीवी होती। आज इस नीति का पालन तो शायद ही कहीं पर होता हो?, तब इस का परिणाम भी वही हो रहा है जो नीति के भंग करने से होता है। आज के स्त्री और पुरुषों का दुर्बल होना, अनेक रोगों का घर होना तथा उत्साहहीन होना मात्र इस पूर्वोक्त पवित्र नीति के उल्लंघन का ही कुपरिणाम समझना चाहिए।

राजकुमार होते हुए भी सुबाहुकुमार कृषिविद्या, कपड़ा बुनना और इसी प्रकार अन्यान्य दस्तकारी के कामों को जानते थे, यह उन के ७२ कलाओं के ज्ञान से सूचित होता है। सुबाहुकुमार आज के धनी, मानी युवकों की भान्ति कृषि आदि धन्धों के करने में अपना अपमान नहीं समझते थे। वे जानते थे कि जीवन में अनेक उतार चढ़ाव आते हैं, कभी जीवन सुखी तथा कभी दुःखी होता है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरह की स्थितिएं जीवन में चलती रहती हैं, तदनुसार कभी अच्छा व्यवसाय मिल जाता है, तो कभी साधारण व्यवसाय से ही जीवन का निर्वाह करना होता है। यदि पास में कृषि आदि धन्धों का ज्ञान ही नहीं होगा, फिर भला समय पड़ने पर उन का उपयोग कैसे हो सकेगा?, पाकिस्तान और हिन्दूस्थान के विभाजन के उदाहरण ने इस तथ्य को व्यवहार का रूप दे दिया है। धन के विनष्ट हो जाने के कारण जो मनुष्य अर्थसाध्य व्यवसाय नहीं कर पाये वे यदि कुछ शिल्प-दस्तकारी का काम नहीं जानते थे तो उन्हें उदरपूर्ति करनी असम्भव हो गई, परन्तु जब कि हाथ का उद्योग करने वालों ने अपने पुरुषार्थ से अपने जीवन की गाड़ी को बड़ी सुविधा के साथ चलाया और अपना भविष्य निराशापूर्ण एवं दुःखपूर्ण होने से बचा लिया। इस के अतिरिक्त कृषि आदि धन्धों का ज्ञान सांसारिक मनुष्य की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखता है और उसे आजीविकासम्बन्धी किसी भी कष्ट का भाजन नहीं बनने देता .....इत्यादि विचारों से प्रेरित हुए सुबाहुकुमार ने ७२ कलाओं का शिक्षण प्राप्त किया था।

माता पिता ने सुबाहुकुमार का विवाह उस समय किया जब कि वह पूरा युवक हो गया था। इस से बाल्यकाल का विवाह अनायास ही निषिद्ध हो जाता है तथा जो माता पिता अपनी संतान का योग्य अवस्था प्राप्त करने से पहले ही विवाह कर देते हैं वे अपनी सन्तान के हितचिन्तक नहीं किन्तु उसके अनिष्ट के सम्पादक हैं, यह भी प्रस्तुत कथासन्दर्भ से सूचित हो जाता है।

सुबाहुकुमार के ५०० विवाह क्यों?, और किस लिये? यह प्रश्न विचारणीय है। जैन शास्त्रों के

पर्यालोचन से पता चलता है कि अधिक विवाह कराने वाले दो वर्ग हैं। एक तो वे जो वैक्रियलब्धि के धारक या वैक्रियलब्धिसम्पन्न होते हैं। अपने ही जैसे अनेक रूपों को बना लेना और उन से काम भी ले लेना, यह वैक्रियलब्धि का पुण्यकर्मजन्य प्रभाव होता है। लब्धिधारियों का ऐसा करना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। रही दूसरे वर्ग की बात, सो इस के विषय में भी यह निर्णय है कि उस समय में ऐसा करना राजा महाराजाओं के वैभव का प्रतीक समझा जाता था। उस समय के विचारकों की दृष्टि में इस प्रथा को गर्हित नहीं समझा गया था, प्रत्युत आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसलिये सुबाहुकुमार का एक साथ ५०० राजकुमारियों के साथ विवाह का होना, उस समय की प्रचलित बहुविवाहप्रथा[1] को ही आभारी है। उस समय विशाल साम्राज्य के उपभोक्ता का इसी में गौरव समझा जाता था कि उस के अधिक से अधिक विवाह हुए हों। किसी विशाल साम्राज्य के अधिपति के कम विवाह हों, यह उस समय के अनुसार वहां के नरेश का अपमान समझा जाता था। यही कारण है कि सुबाहुकुमार के पिता अदीनशत्रु के रनिवास को एक हजार रानिएं सुशोभित कर रही थीं। जिन में प्रधान—पट्टरानी धारिणी देवी थी, परन्तु ध्यान रहे कि जहां अधिक विवाह करना गौरव का अंग बना हुआ था, वहां सदाचारी रहना भी उतना ही आवश्यक था। सुबाहुकुमार के सदाचारी जीवन का परिचय आगे चल कर सूत्रकार स्वयं ही करा देंगे।

पहले से ही यह युग धर्मयुग कहलाता था, उस में धर्म का प्रचार था, चारों ओर धर्म की दुन्दुभि बजती थी। जिधर देखो उधर ही धर्म की चर्चा हो रही थी। उस के कारण मनोवृत्तियों का स्वच्छ रहना और कामोपासना से विमुख होना स्वाभाविक ही है। आजकल का वासना का पुजारी मानव तो इसे झटिति असंभव कह देता वा समझ लेता है, परन्तु उसे क्या पता है कि सदाचारी अपने को कामदेव के चंगुल से कितनी सावधानी से बचा लेते हैं और अपने में कितने दृढ़ रहते हैं। आज के मनुष्य की दशा तो कूप के मंडूक की भान्ति है, जो कूप के विस्तार को ही सर्वोपरि मानता है। सच तो यह है कि जिस का आत्मा आत्मिक सुख को न देख कर केवल भोग का कलेवर बना हुआ है, वह अपने मानव जीवन को निस्सार कर लेता है और वह उपलब्ध हुए बहुमूल्य अवसर को यों ही खो डालता है। इस के विपरीत सदाचार के सौरभ से सुरभित मानस अपने जीवन में अधिकाधिक सदाचारमूलक प्रवृत्तियों का पोषण कर के अपना भविष्य उज्ज्वल, समुज्ज्वल और अत्युज्ज्वल बना डालता है।

पांच सौ कन्याओं के साथ एक ही दिन में विवाह करने का यह अर्थ है कि लोगों के समय, शक्ति और स्वास्थ्य आदि का बचाव किया जाय। एक २ कन्या का अलग २ समय में विवाह किया जाता तो न जाने कितना समय लगता, कितनी शक्ति व्यय होती एवं लगातार गरिष्ठ भोजनादि के सेवन से कितनों का स्वास्थ्य बिगड़ता। इस के अतिरिक्त राज्य के प्रबन्ध में भी अमर्यादित प्रतिबन्ध के उपस्थित होने की संभावना रहती। इसी विचार से महाराज अदीनशत्रु ने एक ही दिन में और एक ही मण्डप में विवाह का आयोजन करना उचित समझा, जो कि उन की दीर्घदर्शिता का परिचायक है। इस के अतिरिक्त इस से समय का उपयोग कितनी निपुणता तथा बुद्धिमत्ता से करना चाहिये? इस बात की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। एक मेधावी व्यक्ति के समय का मूल्य कितना होता है तथा उस का उपयोग किस रीति से करना चाहिये?, ये बातें प्रस्तुत

(१) सूत्रकार ने जो सुबाहुकुमार के ५०० राजकुमारिओं के साथ विवाह का कथानक उपन्यस्त किया है, इस का यह अर्थ नहीं है कि जैनशास्त्र बहुविवाह की प्रथा का समर्थन या विधान करते हैं, परन्तु प्रस्तुत में तो मात्र घटनावृत्त का वर्णन करना ही सूत्रकार को इष्ट है।

वर्णन से जान लेनी चाहियें ।

- रिद्ध०—यहा के बिन्दु से—त्थिमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवये आइराणजणमणुस्से हलसयसहस्ससंकिट्ठविकिट्ठलट्ठपरणत्तसेउसीमे कुक्कुडसंडेयगामपउरे उच्छुजवसालिकलिये गोमहिसगवेलगप्पभूते आयारवन्तचेइयजुवइविविहसन्निविट्ठबहुले उक्कोडियगायगंठिभेयभडतक्करखंडरक्खरहिए खेमे णिरुवद्दवे सुभिक्खे वीसत्थसुहावासे अणेगकोडिकुटुंवियाइराणणिव्वुयसुहे णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलवयकहगपवगलासगआइक्खगलंखमंखतूणइल्लतुंववीणियअणेगतालायराणुचरिये आरामुज्जाणअगडतलागदीहियवप्पिणिगुणोववेये नंदणवणसन्निभप्पगासे उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहे चक्कगयमुसुंढिओरोहसयग्घिजमलकवाडघणदुप्पवेसे धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ते कविसीसगवट्टरइयसंठियविरायमाणे अट्टालयचरियदारगोपुरतोरणउराणयसुविभत्तरायमग्गे छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीले विवणिवणिच्छेत्तसिप्पियाइराणणिव्वुयसुहे सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरपणियावणविविहवत्थुपरिमण्डिए सुरम्मे नरवइपविइराणमहिवइपहे अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकरसीयसंदमाणीयाइराणजाणजुग्गे विमउलणवणलिणिसोभियजले पण्डुरवरभवणसरिणमहिये उत्ताणणयणपेच्छणिज्जे पासादीये दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है । इन पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

वह नगर ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—स्वचक्र और परचक्र के भय से विमुक्त तथा समृद्ध—धन धान्यादि से परिपूर्ण था । उस में रहने वाले लोग तथा जानपद—बाहर से आए हुए लोग, बहुत प्रसन्न रहते थे । वह मनुष्यसमुदाय से आकीर्ण—व्याप्त था, तात्पर्य यह है कि वहां की जनसंख्या अत्यधिक थी । उस की सीमाओं पर दूर तक लाखों हलों द्वारा क्षेत्र—खेत अच्छी तरह वाहे जाते थे तथा वे मनोज्ञ, किसानों के अभिलषित फल के देने में समर्थ और बीज बोने के योग्य बनाये जाते थे । उस में कुक्कुटों, मुर्गों और सण्डों—साडों के बहुत से समूह रहते थे । वह इक्षु—गन्ना, यव—जौ और शालि—धान इन से युक्त था । उन में बहुत सी गौएं, भैंसें और भेडें रहती थीं । उस में बहुत से सुन्दर चैत्यालय और वेश्याओं के मुहल्ले थे । वह उत्कोच—रिश्वत लेने वालों, ग्रन्थिभेदकों—गांठ कतरने वालों, भटों—बलात्कार करने वालों, तस्करों—चोरों और खण्डरक्षों—कोतवालों अथवा कर—महसूल लेने वालों से रहित था अर्थात् उस नगर में ग्रन्थिभेदक आदि लोग नहीं रहते थे । वह नगर क्षेमरूप था, अर्थात् वहां किसी का अनिष्ट नहीं होता था । वह नगर निरुपद्रव—राजादिकृत उपद्रवों से रहित था । उस में भिक्षुकों को भिक्षा की कोई कमी नहीं थी । वह नगर विश्वस्त—निर्भय अथवा धैर्यवान् लोगों के लिये सुखरूप आवास वाला था, अर्थात् उस नगर में लोग निर्भय और सुखी रहते थे । वह नगर अनेक प्रकार के कुटुम्बियों और सन्तुष्ट लोगों से भरा हुआ होने के कारण सुखरूप था । नाटक करने वाले, नृत्य करने वाले, रस्से पर खेल करने वाले अथवा राजा की स्तुति करने वाले चारण, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुष्टियुद्ध करने वाले, विदूषक, कथा कहने वाले और तैरने वाले, रासे गाने वाले अथवा "—आप की जय हो" इस प्रकार कहने वाले, ज्योतिषी, बांसों पर खेल करने वाले, चित्र दिखा कर भिक्षा मांगने वाले, तूण नामक वाद्य बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, ताली बजा कर नाचने वाले आदि लोग उस नगर में रहते थे । आराम—बाग, उद्यान—जिस में वृक्षों की बहुलता हो और जो उत्सव आदि के समय बहुत लोगों के उपभोग में लाया जाता हो कूप—कूआ, तालाब, बावड़ी, उपजाऊ खेत इन सब की रमणीयता आदि गुणों से वह नगर युक्त था । नन्दनवन—एक वन जो मेरुपर्वत पर स्थित है, के समान वह नगर शोभायमान था । उस विशाल नगर के चारों ओर एक गहरी खाई थी जो कि ऊपर से चौड़ी और नीचे से संकुचित थी,

चक्र—गोलाकार शस्त्रविशेष, गदा—शस्त्रविशेष भुशुण्डी—शस्त्रविशेष, अवरोध—मध्य का कोट, शतघ्नी—सैंकडों प्राणियों का नाश करने वाला शस्त्रविशेष (तोप) तथा छिद्ररहित कपाट, इन सब के कारण उस नगर में प्रवेश करना बड़ा कठिन था, अर्थात् शत्रुओं के लिये वह दुष्प्रवेश था। वक्र धनुष से भी अधिक वक्र प्राकार—कोट से वह नगर परिक्षिप्त—परिवेष्टित था। वह नगर अनेक सुन्दर कंगूरों से मनोहर था। ऊंची अटारियों, कोट के भीतर आठ हाथ के मार्गों, ऊंचे २ कोट के द्वारों, गोपुरों—नगर के द्वारों, तोरणों—घर या नगर के बाहिरी फाटकों और चौड़ी २ सड़को से वह नगर युक्त था। उस नगर का अर्गल—वह लकड़ी जिस से किवाड़ बन्द करके पीछे से आडी लगा देते हैं (अरगल) इन्द्रकील (नगर के दरवाजों का एक अवयव जिस के आधार से दरवाजे के दोनों किवाड़ बन्द रह सके) दृढ था और निपुण शिल्पियों द्वारा उन का निर्माण किया गया था, वहा बहुत से शिल्पी निवास किया करते थे, जिन से वहा के लोगों की प्रयोजनसिद्धि हो जाती थी, इसी लिए वह नगर लोगों के लिए सुखप्रद था। शृङ्गाटकों—त्रिकोण मार्गों, त्रिकों—जहा तीन रास्ते मिलते हों, ऐसे स्थानों, चतुष्कों—चतुष्पथों, चत्वरों—जहा चार से भी अधिक रास्ते मिलते हों ऐसे स्थानों और नाना प्रकार के बर्तन आदि के बाजारों से वह नगर सुशोभित था। वह अतिरमणीय था। वहा का राजा इतना प्रभावशाली था कि उस ने अन्य राजाओं के तेज को फीका कर दिया था। अनेक अच्छे २ घोड़ों, मस्त हाथियों, रथों, गुमटी वाली पालकियों, पुरुष की लम्बाई जितनी लम्बाई वाली पालकियों, गाड़ियों और युग्यों अर्थात् गोल्लदेश में एक प्रकार की पालकिया जिन के चारों ओर फिरती चौरस दो हाथ प्रमाण की वेदिका (कठहरा) होती है, से वह नगर युक्त था। उस नगर के जलाशय नवीन कमल और कमलिनियों से सुशोभित थे। वह नगर श्वेत और उत्तम महलों से युक्त था। वह नगर इतना स्वच्छ था कि अनिमेष—बिना झपके दृष्टि से देखने को दर्शकों का मन चाहता था। वह चित्त को प्रसन्न करने वाला था, उसे देखते २ आखे नहीं थकती थीं, उसे एक बार देख लेने पर भी पुन देखने की लालसा बनी रहती थी, उसे जब देखा जाय तब भी वहा नवीनता ही प्रतिभासित होती थी, ऐसा वह सुन्दर नगर था।

—**सव्वोउय०**—यहा का बिन्दु—**सव्वोउयपुप्फफलसमिद्धे रम्मे नंदणवणप्पगासे पासाइए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे**—इस पाठ का परिचायक है। सब ऋतुओं मे होने वाले पुष्पों और फलों से परिपूर्ण एव समृद्ध **सर्वर्तुकपुष्पफलसमृद्ध** कहलाता है। **रम्य** रमणीय को कहते हैं। मेरुपर्वत पर स्थित नन्दनवन की तरह शोभा को प्राप्त करने वाला—इस अर्थ का परिचायक **नन्दनवनप्रकाश** शब्द है। **प्रासादीय** शब्द—मन को हर्षित करने वाला, इस अथ का, **दर्शनीयशब्द**—जिसे बार २ देख लेने पर भी पुनः देखने की लालसा बनी रहे—इस अर्थ का, एव **प्रतिरूप**-शब्द—जिसे जब भी देखा जाय तब भी वहा नवीनता ही प्रतीत हो, इस अर्थ का बोध कराता है।

—**दिव्वे०**—यहा का बिन्दु—**सच्चे सच्चोवाए सन्निहियपाडिहेरे जागसहस्सभागपडिच्छए बहुजणो अच्चेइ कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खायतण**—इन पदों का ससूचक है। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

१—**दिव्य**—प्रधान को कहते हैं। २—**सत्य**—यक्ष की वाणी सत्यरूप होती थी, जो कहता था वह निष्फल नहीं जाता था, अत. उस का स्थान **सत्य** कहा गया है। ३—**सत्यावपात**—उस का प्रभाव सत्यरूप था अर्थात् उस का चमत्कार यथार्थ ही रहता था। ४—**सन्निहितप्रातिहार्य**—वहा के अधिष्ठायक **वनमाल**प्रिय नामक यक्ष ने उस की महिमा बढ़ा रखी थी अर्थात् वहा पर मानी गई मनौती को सफल बनाने में वह कारण रहता था। ५—**यागसहस्रभागप्रतीच्छ**—हजारों यज्ञों का भाग उसे प्राप्त होता था अर्थात् हज़ारों यज्ञों का हिस्सा वह प्राप्त किया करता था। वहा आकर बहुत लोग उस कृतवनमालप्रिय यक्ष के

यक्षायतन की पूजा किया करते थे—इन भावों का परिचायक—**बहुजणो अच्चेइ कयवणमालपियस्स जक्खस्स जक्खायतणं**—ये शब्द हैं।

—महया०—यहां के बिन्दु से—**हिमवंतमहंतमलयमन्दरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए णिरंतरं रायलक्खणविराइअंगमंगे बहुजणबहुमाणे पूजिए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुइए मुद्धाहिसित्ते माउपिउसुजाए दयपत्ते सीमंकरे सीमधरे खेमंकरे खेमधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे पुरिसपुण्डरीए पुरिसवरगन्धहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवरयते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासदासीगोमहिसगवेलगप्पभूते पडिपुण्णजंतकोसकोट्ठागाराउधागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहयसत्तुं निहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धिअसत्तुं निज्जियसत्तुं पराइअसत्तुं ववगयदुब्भिक्खं मारिभयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसन्तडिम्बडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरइ**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

वह राजा महाहिमवान् अर्थात् हिमालय के समान महान् था, तात्पर्य यह है कि जैसे समस्त पर्वतों में हिमालय पर्वत महान् माना जाता है, उसी भान्ति शेष राजाओं की अपेक्षा से वह राजा महान् था, तथा मलय—पर्वतविशेष, मन्दर—मेरु पर्वत, महेन्द्र—पर्वतविशेष अथवा इन्द्र, इन के समान वह प्रधान था। वह राजा अत्यन्त विशुद्ध निर्दोष तथा दीर्घ - चिरकालीन जो राजाओं का कुलरूप वंश था, उस में उत्पन्न हुआ था। उस का प्रत्येक अंग राजलक्षणों—स्वस्तिक आदि चिह्नों से निरन्तर—बिना अन्तर के शोभायमान रहता था। वह अनेक जनसमूहों से सम्मानित था, पूजित था। वह सर्वगुणसम्पन्न था। वह क्षत्रिय जाति का था। वह मुदित-प्रसन्न रहने वाला था। उसके पितामह तथा पिता ने उस का राज्याभिषेक किया था। वह माता पिता का विनीत होने के कारण सुपुत्र कहलाता था। वह दयालु था। वह विधान आदि की मर्यादा का निर्माता और अपनी मर्यादाओं का पालन करने वाला था। वह उपद्रव करने वाला नहीं था और नाहिं वह उपद्रव होने देता था। वह मनुष्यों में इन्द्र के समान था तथा उन का स्वामी था। देश का हितकारी होने के कारण वह देश का पिता समझा जाता था। वह देश का रक्षक था। शान्तिकारक होने से वह देश का पुरोहित माना जाता था। वह देश का मार्गदर्शक था। वह देश के अद्भुत कार्यों को करने वाला था। वह श्रेष्ठ मनुष्यों वाला था और वह स्वयं मनुष्यों में उत्तम था। वह पुरुषों में वीर होने के कारण सिंह के समान था। वह रोषपूर्ण हुए पुरुषों में व्याघ्र—बाघ के समान प्रतीत होता था। अपने क्रोध को सफल करने में समर्थ होने के कारण वह पुरुषों में आशीविष—सर्पविशेष के समान था। अर्थीरूपी भ्रमरों के लिये वह श्वेत कमल के समान था। गजरूपी शत्रुराजाओं को पराजित करने में समर्थ होने के कारण वह पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान था। वह आढ्य - समृद्ध अर्थात् सम्पन्न था। वह आत्म—गौरव वाला था। उस का यश बहुत प्रसृत हो रहा था। उस के विशाल तथा बहुसंख्यक भवन—महलादि शयन—शय्या, आसन, यान, वाहन—रथ तथा घोड़े आदि से परिपूर्ण हो रहे थे। उस के पास बहुत सा धन तथा बहुत सा चांदी, सोना था। वह सदा अर्थलाभ—आमदनी के उपायों में लगा रहता था वह बहुत से अन्न पानी का दान किया करता था। उस के पास बहुत सी दासियें, दास, गौएं, भैंसें तथा भेड़ें थीं। उस के पास पत्थर फैंकने वाले यन्त्र, कोष भण्डार,

कोष्ठागार—धान्यगृह तथा आयुधागार शस्त्रशाला, ये सब परिपूर्ण थे, अर्थात् यत्र पर्याप्तमात्रा मे थे और उन मे कोषादि भरे हुए रहते थे। उस के पास विशाल सेना थी उस के पडोसी राजा निर्बल थे अर्थात् वह बहुत बलवान् था। उस ने स्पर्धा रखने वाले समानगोत्रीय व्यक्तियों का विनाश कर डाला था, इसी भान्ति उस ने उन की सम्पत्ति छीन ली थी, उन का मान भग कर डाला था, तथा उन्हें देशनिर्वासित कर दिया था, इसी लिये उस के राज्य मे कोई स्पर्धा रखने वाला समानगोत्रीय व्यक्तिरूप कण्टक नहीं रहने पाया था। उस ने अपने शत्रुओं—असमानगोत्रीय स्पर्धा रखने वाले व्यक्तियों का विनाश कर डाला था, उन की सम्पत्ति छीन ली थी, उन का मान भग कर डाला था, तथा उन्हें देश से निकाल दिया था। उस राजा ने शत्रुओं को जीत लिया था तथा उन्हे पराजित अर्थात् पुन राज्य प्राप्त करने की सम्भावना भी जिन की समाप्त कर दी गई हो, ऐसा कर डाला था। वह ऐसे राज्य का शासन करता हुआ विहरण कर रहा था, जिस मे दुर्भिक्ष—अकाल नहो था, जो मारी—प्लेग के भय से रहित था, क्षेमरूप था, अर्थात् वहा लोग कुशलतापूर्वक रहते थे। शिव-रूप—सुखरूप था। जिस में भिक्षा सुलभ थी, जिस म डिम्बों—विघ्नों और डमरों—विद्रोहों का अभाव था।

'—**सीहं सुमिणे जहा मेहजम्मण तहा भाणियव्वं**—"इस पाठ मे सूत्रकार ने सुबाहुकुमार के जीवन की जन्मगत समानता मेघकुमार से की है। मेघकुमार कौन था?, उस ने कहा पर जन्म लिया था? और उस के माता पिता कौन तथा किस नाम के थे?, इत्यादि बातों के जानने की इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है। तदर्थ मेघकुमार के प्रकृतोपयोगी जीवनवृत्तान्त को सक्षेप से वर्णन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है—

राजगृह नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी। उस के अधिपति—नरेश का नाम श्रेणिक था। उन की पट्टरानी का नाम धारिणी था। एक बार महारानी धारिणी राजोचित उत्तम वासगृह में आराम कर रही थी उस ने अर्धजागृत अवस्था में अर्थात् स्वप्न मे एक परम सुन्दर तथा जम्भाई लेते हुए, आकाश से उतर कर मुह में प्रविष्ट होते हाथी को देखा। इस शुभ स्वप्न के देखने से रानी की नींद खुल गई। तदनन्तर वह अपना उक्त स्वप्न पति को सुनाने के लिये अपनी शय्या से उठ कर पति के शयनस्थान की ओर चली। पति की शय्या के समीप पहुँच कर धारिणी देवी ने अपने पति महाराज श्रेणिक को जगाया और उन से अपना स्वप्न कह सुनाया तदनन्तर फलजिज्ञासा से वह वहा बैठ गई। धारिणी से उस के स्वप्न को सुन कर महाराज श्रेणिक को बहुत हर्ष हुआ। वे धारिणी से बोले कि प्रिये! यह स्वप्न बड़ा शुभ है, इस के फलस्वरूप तुम्हारी कुक्षि मे एक बडे भाग्य-शाली पुत्र का जन्म होगा जो कि परम यशस्वी और कुल का प्रदीप होगा। पति के मुख से उक्त शब्दों को सुन कर उन को प्रणाम कर के वह रानी धारिणी अपने शयनागार में चली गई और कोई अनिष्टोत्पादक स्वप्न न आए इन विचारों से शेष रात्रि को उस ने धर्मजागरण से ही व्यतीत किया।

दूसरे दिन प्रात काल आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो कर महाराज श्रेणिक ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा स्वप्नशास्त्रियों को आमंत्रित किया और धारिणी देवी के स्वप्न को सुना कर उन मे उस के शुभाशुभ फल की जिज्ञासा की। इस के उत्तर मे स्वप्नशास्त्रों के वेत्ता विद्वानों ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

महाराज! स्वप्नशास्त्र में ७२ प्रकार के शुभ स्वप्न कहे हैं। उन में ४२ साधारण और ३० विशेष माने हैं, अर्थात् ४२ का तो शुभ फल सामान्य होता है और ३० विशिष्ट फल के देने वाले हैं। जिस समय अरिहत या चक्रवर्ती अपनी माता के गर्भ मे आते हैं, तब उन की माताए इन तीस प्रकार के विशिष्ट स्वप्नों में से १४ स्वप्नों को देख कर जागती हैं, प्रत्युत जब वासुदेव गर्भ म आते हैं तब उन की मातायें इन चौदह स्वप्नों में से किन्हीं सात स्वप्नों को देखती हैं और जब बलदेव गर्भ में आते हैं तो उन की मातायें इन चौदह स्वप्नों में से किन्हीं चार स्वप्नों को देख कर

जागती हैं। इसी प्रकार किसी माडलिक राजा के गर्भ में आने पर उन की माताएं इन चौदह स्वप्नों में से किसी एक स्वप्न को देख कर जागती हैं। सो महारानी धारिणी देवी भी इन्हीं चौदह स्वप्नों में से एक को देख कर जागी हैं, इस लिए इन के गर्भ से पुत्ररत्न का जन्म होगा। वह बालक अपने शिशुभाव को त्याग कर युवावस्था-सम्पन्न होने पर सर्वविद्यासम्पन्न और सर्वकलाओं का ज्ञाता होगा। युवावस्था में प्रवेश करने पर या तो वह बालक दानशील और राज्य को बढ़ाने वाला होगा या आत्मकल्याण करने वाला परमतपस्वी और अखण्ड ब्रह्मचारी मुनि होगा। तदनन्तर महाराज श्रेणिक ने स्वप्नशास्त्रियों को बहुमूल्य वस्त्राभूषणादि से सम्मानित कर विदा किया। स्वप्नशास्त्री भी महाराज श्रेणिक को प्रणाम करके अपने २ स्थान को चले गए।

गर्भ के तीसरे मास में महारानी को [1]अकालमेघ का दोहद उत्पन्न हुआ, जिस के अपूर्ण रहने से महारानी हतोत्साह हुई आर्तध्यान में ही रहने लगी। महाराज श्रेणिक को जब इस वृत्तान्त का पता चला, तब उन्हों ने उस को पूर्ण कर देने का आश्वासन देकर शान्त किया, अन्त में अभयकुमार के प्रयास से देवता के आराधन से उसे पूर्ण कर दिया गया। तदनन्तर समय आने पर धारिणी ने एक सर्वाङ्गसम्पूर्ण पुत्ररत्न को जन्म दिया तथा उस का बड़े समारोह के साथ अकालमेघदोहद के कारण, –मेघकुमार– ऐसा गुणनिष्पन्न नाम रक्खा गया। पुत्रजन्म के हर्ष में महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी ने अपने वैभव के अनुसार गरीबों, अनाथों को जी खोल कर दान दिया। घर २ में मंगलाचार किया गया।

मेघकुमार का पालन पोषण उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार राजा, महाराजाओं के बालकों का हुआ करता है। पांचों धायमाताओं की देखरेख में द्वितीया के चन्द्र की भान्ति सम्वर्द्धन को प्राप्त होता हुआ, योग्य शिक्षकों की दृष्टि तले ७२ कलाओं[2] की शिक्षा प्राप्त करता हुआ, विद्या और विनयसम्पत्ति प्राप्त करने के साथ ही वह युवावस्था को प्राप्त हुआ। यह है मेघकुमार का प्रकृतोपयोगी संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त। अधिक के जिज्ञासु **श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र** के प्रथम अध्ययन का अवलोकन कर सकते हैं।

सुबाहुकुमार और मेघकुमार के गर्भ में आने पर माता को आए हुए स्वप्नों में इतना ही अन्तर है कि महाराज श्रेणिक की अर्द्धांगिनी ने स्वप्न में हस्ती को देखा और अदीनशत्रु की रानी ने सिंह के दर्शन किये। इसी विभिन्नता को दिखलाने के लिए मूल में **"–सीहं सुमिणे–"** ऐसा उल्लेख कर दिया है। इस के अतिरिक्त अकालमेघ के दोहद से श्रेणिक के पुत्र का मेघकुमार नाम रखना और अदीनशत्रु की रानी धारिणी को वैसे दोहद का उत्पन्न न होना और सुबाहुकुमार यह नाम रखना, दोनों की नामगतविभिन्नता को सूचन कर रहा है।

"–सुबाहुकुमारे जाव अलंभोगसमत्थं०–" यहां उल्लिखित **जाव–यावत्**–पद से–

(१) गर्भ के तीसरे महीने गर्भस्थ जीव के भाग्यानुसार जो माता को अमुक प्रकार का मनोरथ उत्पन्न होता है, उस की दोहद संज्ञा है। तदनुसार धारिणी को उस समय यह इच्छा हुई कि मेघों से आच्छादित आकाश को देखूं परन्तु वह समय मेघों के आगमन का नहीं था, इसलिये उन से आच्छन्न आकाश को देखना बहुत कठिन था। ऐसी दशा में उक्त दोहद की पूर्ति कैसे हो ?, तब ज्ञात होने पर महामन्त्री अभयकुमार ने देवता के आराधन द्वारा इस दोहद को पूर्ण किया अर्थात् दैवी शक्ति के द्वारा मेघों से आकाश को आच्छादित कर धारिणी देवी को दिखलाया और उस के दोहद को सफल किया ताकि गर्भ में कोई क्षति न पहुंचे।

(२) ७२ कलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन पीछे १०८ से ले कर ११५ तक के पृष्ठों पर किया जा चुका है।

'—बावत्तरीकलापंडिए, [1]नवंगसुत्तपडिबोहिए अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासाविसारए गीयरईगन्धव्वनट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी अलभोगसमत्थे साहसिए वियालचारी जाते यावि होत्था, तते णं तस्स सुबाहुकुमारस्स अम्मापिअरो सुबाहुकुमारं बावत्तरिकलापण्डिय नवंगसुत्तपडिबोहिय अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासाविसारय गीयरइ गंधव्वनट्टकुसलं हयजोहिं गयजोहिं रहजोहिं बाहुजोहिं बाहुप्पमद्दि—इन पदों का तथा—अलभोगसमत्थं०—यहां के बिन्दु से—साहसियं वियालचारिं जाय—इन पदों का ग्रहण करना चाहिए। इन पदों का भावार्थ निम्नोक्त है—

सुबाहुकुमार ७२ कलाओं में प्रवीण हो गया। यौवन ने उस के सोए हुए—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक जिह्वा, एक त्वचा और एक मन—ये नव अग जागृत कर दिये थे, अर्थात् बाल्यावस्था मे ये नव अग अव्यक्त चेतना—ज्ञान वाले होते हैं, जब कि यौवनकाल मे यही नव अग व्यक्त चेतना वाले हो जाते हैं, तब सुबाहुकुमार के नव अग प्रबोधित हो रहे थे। यह कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वह पूर्णरूपेण युवावस्था को प्राप्त कर चुका था। वह अठारह देशों की भाषाओं में प्रवीण हो गया था। उस को गीत-सगीत मे प्रेम था, तथा गाने और नृत्य करने मे भी वह कुशल—निपुण हो गया था। वह घोड़े, हाथी और रथ द्वारा युद्ध करने वाला हो गया था। वह बाहुयुद्ध तथा भुजाओं को मर्दन करने वाला एव भोगो के परिभोग में भी समर्थ हो गया था, वह साहसिक—साहस रखने वाला और अकाल अर्थात् आधी रात आदि समय में विचरण करने की शक्ति रखने मे भी समर्थ हो चुका था। तदनन्तर सुबाहुकुमार के माता पिता उस को ७२ कलाओं मे प्रवीण आदि, (जाणेंति जाणित्ता—जानते हैं तथा जान कर—) यह अर्थ निष्पन्न होता है।

'—अब्भुग्गय०, तथा—भवण०—इन साकेतिक पदों से अभिमत पाठ की सूचना पीछे पृष्ठ ४७३ से ले कर ४७४ तक के पृष्ठों पर कर दी गई है। अन्तर मात्र इतना ही है कि वहा महाराज महासेन के पुत्र श्री सिंहसेन का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में महाराज अदीनशत्रु के सुपुत्र श्री सुबाहुकुमार का। शेष वर्णन समान ही है। तथा वहा मात्र—अब्भुग्गय०—इतना ही साकेतिक पद दिया है जब कि प्रस्तुत में उसी के अन्तर्गत—भवण०—इस पद का भी स्वतन्त्र ग्रहण किया गया है।

"—एवं जहा महब्बलस्स रण्णो—" इन पदों से सूत्रकार ने प्रासादादि के निर्माण में तथा विवाहादि के कार्यों में राजा महाबल की समानता सूचित की है, अर्थात् जिस तरह श्री महाबल के भवनों का निर्माण तथा विवाहादि कार्य सम्पन्न हुए थे, उसी प्रकार श्री सुबाहुकुमार के भी हुए। प्रस्तुत कथासन्दर्भ म श्री महाबल का नाम आने से उसके विषय में भी जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अत. प्रसगवश उस के जीवनवृत्तान्त का भी सक्षिप्त वर्णन कर देना समुचित होगा।

हस्तिनापुर नगर के राजा बल की प्रभावती नाम की एक रानी थी। किसी समय उस ने रात्रि के समय अर्द्धजागृत अवस्था में अर्थात् स्वप्न मे आकाश से उतर कर मुख में प्रवेश करते हुए एक सिंह को देखा। तदनन्तर वह जाग उठी और उक्त स्वप्न का फल पूछने के लिए अपने शयनागार से उठ कर समीप के शयनागार में सोये हुए महाराज बल के पास आई और उन को जगा कर अपना स्वप्न कह सुनाया। स्वप्न को सुन कर नरेश बडे प्रसन्न हुए तथा कहने लगे कि प्रिये! इस स्वप्न के फलस्वरूप तुम्हारे गर्भ से एक बड़ा प्रभावशाली पुत्ररत्न उत्पन्न होगा। महारानी प्रभावती उक्त फल को सुन कर हर्षातिरेक से पतिदेव को प्रणाम

(१) नवागानि—श्रोत्र१चक्षुर२घ्राण२रसना१त्वक्१मनो१लक्षणानि सुप्तानि सन्ति प्रबोधितानि यौवनेन यस्य-स तथा। (वृत्तिकार)

कर वापिस अपने शयनभवन में आगई और अनिष्टोत्पादक कोई स्वप्न न आजाए, इस विचार से शेष रात्रि उस ने धर्मजागरण में ही बिताई ।

स्नानादि की आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त हो कर महाराज बल ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों—राजपुरुषों द्वारा स्वप्नशास्त्रियों को आमन्त्रित किया और उन के सामने महारानी प्रभावती का पूर्वोक्त स्वप्न सुना कर उस का फल पूछा । स्वप्नशास्त्रियों ने भी '—आप के घर में एक सर्वाङ्गपूर्ण पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो कि महान् प्रतापी राजा होगा या अखण्डब्रह्मचारी मुनिराज होगा . ..आदि शब्दों द्वारा स्वप्न का फलादेश कथन किया । तदनन्तर राजा ने यथोचित पारितोषिक दे कर उन्हें विदा किया ।

लगभग नवमास के परिपूर्ण होने पर महारानी ने एक सर्वाङ्गसुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया । राजदम्पती ने बड़े आनन्द मंगल के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया तथा बड़े समारोह के साथ उस का नामकरण-संस्कार किया और "महाबल" ऐसा नाम रक्खा । तदनन्तर पांच धायमाताओं के संरक्षण में वृद्धि तथा किसी योग्य शिक्षक से शिक्षा को प्राप्त करता हुआ युवावस्था को प्राप्त हुआ । तब महाराज बल ने महाबल के लिये विशाल और उत्तम आठ प्रासाद—महल बनवाये और उन के मध्य में एक विशाल भवन तैयार कराया । तदनन्तर शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त में सुयोग्य आठ राजकन्याओं के साथ उस का एक ही दिन में विवाह कर दिया गया। विवाह के उपलक्ष्य में राजा बल ने आठ करोड़ हिरण्य, आठ करोड़ सुवर्ण, आठ सामान्य मुकुट, आठ सामान्य कुण्डलों के जोड़े, इस प्रकार की अनेकविध उपभोग्य सामग्री दे कर श्री महाबल कुमार को उन महलों में निवास करने का आदेश दिया और महाबलकुमार भी प्राप्त हुई दहेज की सामग्री को आठों रानियों में विभक्त कर उन महलों में उन के साथ सानन्द निवास करने लगा । यह है महाबल कुमार का प्रकृतप्रकरणानुसारी संक्षिप्त परिचय । विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठक महानुभावों को भगवतीसूत्र के ग्यारहवें शतक का ग्यारहवां उद्देश्य देखना चाहिये । वहां पल्योपम और सागरोपम के क्षयापचयमूलक प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी ने सुदर्शन को उसी का महाबलभवीय वृत्तान्त सुनाया था ।

राजकुमार महाबल का आठ राजकुमारियों से विवाह हुआ—इस बात से विभिन्नता सूचित करने वाला सूत्रगत "—**पुप्फचूलापामोक्खाणं**—" इत्यादि उल्लेख है । इस में सुबाहुकुमार का ५०० राजकन्याओं से विवाह होने का प्रतिपादन है तथा पांच सौ प्रीतिदान—दहेज देने का वर्णन है । सारांश यह है कि जिस प्रकार भगवती सूत्र में महाबल के लिये भवनों का निर्माण और उस के विवाहों का वर्णन किया है, उसी प्रकार श्री सुबाहुकुमार के विषय में भी जानना चाहिये, किन्तु इतना अन्तर है कि महाबलकुमार का कमलाश्री प्रभृति आठ राजकन्याओं से विवाह हुआ और सुबाहुकुमार का पुष्पचूलाप्रमुख ५०० राजकन्याओं से । इसी प्रकार वहां आठ और यहां ५०० दहेज दिये गये।

—**पंचसइओ दाओ जाव उप्पिं**—यहां पठित—**पंचसइओ दाओ**—ये पद पृष्ठ ४७५ तथा ४७६ पर लिखे गए—**पंचसयहिरण्णकोडीओ पंचसयसुवण्णकोडीओ**—से ले कर—**आसत्तमाओ कुलवंसाओ पकामं देउ पकामं भोत्तु पकामं परिभाएउं**—"इन पदों के परिचायक हैं । अन्तर मात्र इतना है कि वहां सिंहसेन का वर्णन प्रस्तावित हुआ है जब कि यहां सुबाहुकुमार का । शेषवर्णन समान ही है । तथा जाव—यावत् पद —**तए णं से सुबाहुकुमारे एगमेगाए भज्जाए एगमेगं हिरण्णकोडिं दलयति । एगमेगं सुवण्णकोडिं दलयति । एगमेगं मउडं दलयति एवं चेव सव्वं जाव एगमेगं पेसणकारिं दलयति । अन्नं च सुबहुं हिरण्णं जाव परिभाएउं दलयति । तते णं से सुबाहुकुमारे**—इन पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है । इन पदों का अर्थ इस प्रकार है—

तदनन्तर सुबाहुकुमार ने अपनी प्रत्येक भार्या—पत्नी को एक एक करोड का हिरण्य और एक २ करोड़ का सुवर्ण दिया, एव एक २ मुकुट दिया, इसी प्रकार पीसने वाली दासियों तक सब वस्तुएं बांट दीं तथा अन्य बहुत सा सुवर्णादि भी उन सब को बांट कर दे दिया। उस के पश्चात् सुबाहुकुमार...।

—फुट्टमाणेहिं जाव विहरति—यहां के जाव—यावत् पद मे विवक्षित—मुइंगमत्थएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं—से ले कर—पच्चणुभवमाणे—यहां तक के पदों का विवरण पृष्ठ २३४ पर दिया जा चुका है। अन्तर मात्र इतना ही है कि वहां चोरसेनापति अभग्नसेन का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में श्री सुबाहुकुमार का।

अब सूत्रकार सुबाहुकुमार के अग्रिम जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूल—[1]**तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे परिसा निग्गया। अदीणसत्तू निग्गते जहा कूणिए। सुबाहू वि जहा जमाली, तहा रहेणं णिग्गते, जाव धम्मो कहिओ। राया परिसा गता। तते णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवंतं महावीरं वंदइ वन्दित्ता नमंसति नमंसित्ता एवं वयासी—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं जाव जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर जाव प्पभिईओ मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावतियं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जामि। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तते णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावतियं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जति पडिवज्जित्ता तमेव रहं दुरूहति दुरूहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगते।**

पदार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय मे। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान्। महावीरे—महावीर स्वामी। समोसढे—पधारे। परिसा—परिषद्—जनता। निग्गया—नगर से निकली। अदीणसत्तू—अदीनशत्रु। निग्गते—निकले। जहा कूणिए—जैसे महाराज कूणिक निकला था। सुबाहू वि—सुबाहुकुमार भी। जहा—जैसे। जमाली—जमालि। तहा—उसी प्रकार। रहेणं—रथ से। णिग्गते—

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः समवसृतः। परिषद् निर्गता। अदीनशत्रुर्निर्गतः यथा कूणिकः। सुबाहुरपि यथा जमालिस्तथा रथेन निर्गतः। यावद् धर्मः कथितः। राजा परिषद् गता। ततः स सुबाहुकुमारः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्टः उत्थाय उत्तिष्ठति उत्थाय श्रमणं भगवन्तं महावीरं वदते वन्दित्वा नमस्यति नमस्यित्वा एवमवादीत्—श्रद्दधामि भदन्त! निर्ग्रन्थं प्रवचनम्। यथा देवानुप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वर० यावद् प्रभृतयः मुण्डा भूत्वा अनगाराद् अनगारिता प्रव्रजिता, नो खलु अहं तथा शक्नोमि मुण्डो भूत्वा अगारादनगारितां प्रव्रजितुम्। अहं देवानुप्रियाणामन्तिके पंचाणुव्रतिकं, सप्तशिक्षाव्रतिकं, द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपद्ये। यथासुखं देवानुप्रिय! मा प्रतिबन्धं कुर्याः। ततः स सुबाहुकुमारः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पंचाणुव्रतिकं, सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपद्यते प्रतिपद्य तमेव रथं आरोहति आरुह्य यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतः तामेव दिशं प्रतिगतः।

निकला । **जाव**—यावत् । **धम्मो**—धर्म । **कहिओ**—प्रतिपादन किया । **राया**—राजा (चला गया और) । **परिसा**—परिषद् । **गता**—चली गई । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **सुबाहुकुमारे**—सुबाहुकुमार । **समणस्स**—श्रमण । **भगवओ**—भगवान् । **महावीरस्स**—महावीर स्वामी के । **अंतिए**—पास से । **धम्मं**—धर्म को । **सोच्चा**—श्रवण कर । **निसम्म**—अर्थरूप मे अवधारण कर । **हट्ठतुट्ठे**—अत्यन्त प्रसन्न हुए २ । **उट्ठाए**—स्वयकृत उत्थान क्रिया के द्वारा । **उट्ठेइ**—उठते हैं । **उट्ठित्ता**—उठ कर । **समणं भगवतं महावीरं**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को । **वंदइ वन्दित्ता**—वन्दना करते हैं, कर के । **नमंसइ नमंसित्ता**—नमस्कार करते हैं, करके । **एवं**—इस प्रकार । **वयासी**—कहने लगे । **भंते !**—हे भदन्त ! । **निग्गंथं पावयणं**—निर्ग्रन्थ प्रवचन पर । **सद्दहामि णं**—मैं श्रद्धा करता हू । **जाव**—यावत् । **जहा णं**—जैसे । **देवाणुप्पियाणं**—आप श्री जी के । **अंतिए**—पास । **बहवे**—अनेक । **राईसर**—राजा, ईश्वर । **जाव**—यावत् । **मुंडा भवित्ता**—मुण्डित हो कर । **अगाराओ**—घर छोड कर । **अणगारियं पव्वइया**—मुनिधर्म को धारण किया है । **खलु अहं**—निश्चय मे मैं । **तहा**—उस प्रकार । **मुंडे भवित्ता**—मुण्डित होकर । **अगाराओ अणगारियं**—घर छोड़ कर अनगार अवस्था को । **पव्वइत्तए**—धारण करने मे । **नो संचएमि**—समर्थ नहीं हू । **अहं णं**—मैं तो । **देवाणुप्पियाणं**—आप श्री के । **अंतिए**—पास से । **पञ्चाणुव्वत्तियं**—पाच अणुव्रतों वाला । **सत्तसिक्खावतियं**—सात शिक्षाव्रतों वाला । **दुवालसविहं**—बारह प्रकार के । **गिहिधम्मं**—गृहस्थ धर्म को । **पडिवज्जामि**—स्वीकार करना चाहता हूं । उत्तर में भगवान् ने कहा । **अहासुहं**—यथा अर्थात् जैसे तुम को सुख हो । **मा**—मत । **पडिबंधं**—देर करो । **तते णं**—तदनन्तर । **से**—वह । **सुबाहुकुमारे**—सुबाहुकुमार । **समणस्स**—श्रमण । **भगवओ**—भगवान् । **महावीरस्स**—महावीर स्वामी के । **अंतिए**—पास । **पंचाणुव्वतियं**—पाच अणुव्रतों वाले । **सत्तसिक्खावतियं**—सात शिक्षाव्रतों वाले । **गिहिधम्मं**—गृहस्थ—धर्म को । **पडिवज्जति पडिवज्जित्ता**—स्वीकार करता है, स्वीकार कर के । **तमेव**—उसी । **रहं**—रथ पर । **दुरूहति दुरूहित्ता**—सवार होता है, सवार हो कर । **जामेव दिसं**—जिस दिशा से । **पाउब्भूते**—आया था । **तामेव दिसं**—उसी दिशा को । **पडिगते**—चला गया ।

मूलार्थ—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हस्तिशीर्ष नगर मे पधारे । परिषद् नगर से निकली । कूणिक की भांति महाराज अदीनशत्रु भी नगर से चले, तथा जमालि की तरह सुबाहुकुमार ने भी भगवान् के दर्शनार्थ रथ के द्वारा प्रस्थान किया, यावत् भगवान् ने धर्म का निरूपण किया । परिषद् और राजा धर्मकथा सुन कर चले गये । तदनन्तर भगवान महावीर स्वामी के पास धर्मकथा का श्रवण तथा मनन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुबाहुकुमार उठ कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन, नमस्कार करने के अनन्तर कहने लगा—

भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करता हू, यावत् जिस तरह आप के श्री चरणों में अनेक राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि उपस्थित हो कर, मुंडित हो कर तथा गृहस्थावस्था से निकल कर अनगार धर्म मे दीक्षित हुए हैं अर्थात् जिस तरह राजा ईश्वर आदि ने पाच महाव्रतों को ग्रहण किया है, वैसे मैं पाच महाव्रतों को ग्रहण करने के योग्य नहीं हू , अत: मैं पांच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों का जिस में विधान है ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थधर्म को आप से अंगीकार करना चाहता हू । तब भगवान के "—जैसे तुम को सुख हो, किन्तु इस में देर मत करो —" ऐसा कहने पर सुबाहुकुमार ने श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास पचाणुव्रत, सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार के गृहस्थधर्म को स्वीकार किया, अर्थात् उक्त द्वादशविध व्रतों के यथाविधि पालन करने का नियम ग्रहण किया । तदनन्तर उसी रथ पर

सवार होकर जिधर से आया था, उधर को चल दिया।

टीका—जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पुष्पकरण्डक उद्यान में पधारे तो उन के पधारने का समाचार हस्तिशीर्ष नगर में विद्युत्—बिजली की भान्ति फैल गया। नगर की जनता में हर्ष तथा उत्साह की लहर दौड़ गई। सभी भावुक नरनारी प्रभु के दर्शनार्थ उद्यान की ओर प्रस्थान करने की तयारी में लग गये। इधर महाराज अदीनशत्रु श्री भगवान् के आगमन को सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और प्रभुदर्शनार्थ पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने की तैयारी करने लगे। उन्हों ने अपने हस्तिरत्न और चतुरंगणी सेना को सुसज्जित हो तैयार रहने का आदेश दिया और स्वयं स्नानादि आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त हो वस्त्राभूषण पहन कर हस्तिरत्न पर सवार हो महारानी धारिणीदेवी को तथा सुबाहुकुमार को साथ ले चतुरंगिणी सेना के साथ बड़ी सजधज से भगवान् के दर्शनार्थ उद्यान को ओर चल पड़े। उद्यान के समीप पहुच कर जहा उन्हों ने पतितपावन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को देखा वहां उन्हों ने हस्तिरत्न से नीचे उतर कर अपने पाचों ही, १—खड्ग, २—छत्र, ३—मुकुट, ४—चमर और ५—उपानत्, इन राजचिह्नों को त्याग दिया और [1]पाच अभिगमों के साथ वे भगवान् के चरणों में उपस्थित होने के लिए पैदल चल पड़े। भगवान् के चरणों में उपस्थित होकर यथाविधि वन्दना, नमस्कार करने के अनन्तर उचित स्थान पर बैठ गए। महाराज अदीनशत्रु के यथास्थान पर बैठ जाने के अनन्तर महारानी और उनकी अन्य दासियें भी प्रभु को वन्दना नमस्कार कर के यथास्थान बैठ गई।

प्रभु महावीर स्वामी के समवसरण में उन के पावन दर्शन तथा, उपदेश श्रवणार्थ आई हुई देवपरिषद्, ऋषिपरिषद्, मुनिपरिषद् और मनुजपरिषद् आदि के अपने २ स्थान पर अवस्थित हो जाने के बाद श्रमण भगवान् महावीर ने धर्मदेशना आरम्भ की। भगवान् बोले—

यह जीवात्मा कर्मों के बन्धन में दो कारणों से आता है। वे दोनों राग और द्वेष के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये राग और द्वेष इस आत्मा को घटीयंत्र की तरह संसार में घुमाते रहते हैं और विविध प्रकार के दुःखों का भाजन बनाते हैं। जब तक ससारभ्रमण के हेतुभूत इस राग द्वेष को साधक आत्मा अपने से पृथक् करने का यत्न नहीं करता, तब तक उस को सारी शक्तियें तिरोहित रहती हैं, उस का आत्मविकास रुका रहता है। आत्मा की प्रगति में प्रतिबन्धरूप इस राग और द्वेष का जब तक समूलघात नहीं होने पाता। तब तक इस आत्मा को सच्ची शान्ति का लाभ नहीं हो सकता। इस के लिये साधक पुरुष को सयम की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। संयमशील आत्मा ही राग द्वेष पर विजय प्राप्त करके आत्मशक्तियों के विकास द्वारा शान्तिलाभ कर सकता है। मानवजीवन का वास्तविक उद्देश्य आध्यात्मिक शांति प्राप्त करना है। उस के लिये मानव को त्यागमार्ग का अनुसरण करना होगा। त्याग के दो स्वरूप हैं। देशत्याग और सर्व—त्याग। सर्वत्याग का ही दूसरा नाम सर्वविरतिधर्म या अनगारधर्म है। इसी प्रकार देशविरति या सरागधर्म को देशत्याग के नाम से कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो देशविरतिधर्म गृहस्थधर्म है और सर्वविरतिधर्म मुनिधर्म कहलाता है। जब तक साधक-आत्मा सर्वप्रकार के सावद्य व्यापार का परित्याग करके सयममार्ग का अनुसरण नहीं करता, तब तक उसे सच्ची शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती। यह ठीक है कि सभी साधक एक जैसे पुरुषार्थी नहीं हो सकते, अत सयममार्ग में प्रवेश करने के लिये द्वाररूप द्वादशविध गृहस्थधर्म जिस का दूसरा नाम देशविरतिधर्म है प्रविष्ट हो कर मोक्षमार्ग के पथिक होने का प्रयत्न करना भी उत्तम है। देशत्याग सर्वत्याग के लिये आरम्भिक निस्सरणी है। पाच अणुव्रत और सातशिक्षाव्रत इस तरह बारह व्रतों के पालन की प्रतिज्ञा करने वाला साधक भी विकास—मार्ग की ओर ही प्रस्थान करने वाला हो सकता है।

---

(१) अभिगमों का स्वरूप पृष्ठ २९ की टिप्पण में लिखा जा चुका है।

१—अहिंसा, २—सत्य, ३—अस्तेय, ४—ब्रह्मचर्य और ५—अपरिग्रह इन पाच व्रतों की तरतमभाव से अणु और महान् सज्ञा है। इन का आंशिकरूप में पालन करने वाला व्यक्ति अणुव्रती कहलाता है और सर्व प्रकार से पालन करने वाले की महाव्रती सज्ञा है। महाव्रती अनगार होता है जब कि गृहस्थ को अणुव्रती कहते हैं, परन्तु जब तक कोई साधक इन के पालन करने का यथाविधि नियम ग्रहण नहीं करता तब तक वह न तो महाव्रती और नाहिं अणुव्रती कहला सकता है। ऐसी अवस्था में वह अव्रती कहलायेगा। अतः आत्मश्रेय के अभिलाषी मानव प्राणी को यथाशक्ति धर्म के आराधन में उद्योग करना चाहिये। यदि वह सर्वविरतिधर्म—साधुधर्म के पालन में असमर्थ है तो उसे देशविरतिधर्म—श्रावकधर्म के अनुष्ठान या आराधन में यत्न करना चाहिये। जन्ममरण की परम्परा से छुटकारा प्राप्त करने के लिये धर्म के आलम्बन के सिवा और कोई उपाय नहीं है (१)इत्यादि वीर प्रभु की पवित्र सुधामयी देशना को अपने २ कर्णपुटों द्वारा पान कर के सतृप्त हुई जनता प्रभु को यथाविधि वन्दना तथा नमस्कार करके अपने २ स्थान को वापिस चली गई और महाराज अदीनशत्रु तथा महारानी धारिणी देवी भी अपने अनुचरसमुदाय के साथ प्रभु को सविधि वन्दना नमस्कार कर के अपने महल की ओर प्रस्थित हुए।

भगवान् की देशना का सुबाहुकुमार के हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, वह उन के सन्मुख उपस्थित हो कर बड़ी नम्रता से बोला कि भगवन्! अनेक राजे महाराजे और धनाढ्य आदि अनेकानेक पुरुष सांसारिक वैभव को त्याग कर आप श्री की शरण में आकर सर्वविरतिरूप सयम का ग्रहण करते हैं, परन्तु मुझ में उस के पालन की शक्ति नहीं है, इस लिये मुझे तो गृहस्थोचित देशविरतिधर्म के पालन का ही नियम कराने की कृपा करें? सुबाहुकुमार के इस कथन के उत्तर में भगवान् ने कहा कि जिस में तुम्हारी आत्मा को सुख हो, वह करो, परन्तु धर्मकार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिये। तदनन्तर सुबाहुकुमार ने भगवान् के समक्ष पाच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों के पालन का नियम करते हुए देशविरति धर्म को अंगीकार किया, और वह भगवान् को यथाविधि वन्दना नमस्कार करके अपने रथ पर सवार हो कर अपने स्थान को वापिस चला गया। प्रस्तुत सूत्र में जो कुछ लिखा है, उस का यह सारांश है। इस पर से विचारशील व्यक्ति को अनेकों उपयोगी शिक्षाओं का लाभ हो सकता है। उन में से कुछ निम्नोक्त हैं—

१— धर्म केवल सुनने की वस्तु नहीं किन्तु आचरण में लाने योग्य पदार्थ है। जैसे औषधि का बार २ नाम लेने या पास में रख छोड़ने से रोगी पर उस का कोई प्रभाव नहीं होता और नाहि वह रोगमुक्त हो सकता है, इसी प्रकार धर्म के केवल सुन लेने से किसी को लाभ प्राप्त नहीं हो सकता जब तक सुने हुए धर्मोपदेश को जीवन में उतारने अर्थात् आचरण में लाने का यत्न न किया जाय। जिस तरह रोग की निवृत्ति औषधि के निरन्तर सेवन से होती है, उसी प्रकार भवरोग की निवृत्ति के लिये धर्म—औषध का सेवन करना आवश्यक है न कि केवल श्रवण कर लेना। इसलिये जो व्यक्ति गुरुजनों से सुने हुए सदुपदेश को उनके कथन के अनुसार आचरण में लाता है वही सच्चा श्रोता अथवा जिज्ञासु हो सकता है। सुबाहुकुमार ने भगवान् की धर्मदेशना को केवल सुन लेने तक ही सीमित नहीं रक्खा किन्तु उस को आचरण में लाने का भी स्तुत्य प्रयास किया।

२—दिये गये उपदेश का ग्रहण अर्थात् आचरण मे लाना श्रोता की रुचि, शक्ति और विचार पर निर्भर करता है। सभी श्रोता एक जैसी रुचि, शक्ति और विचार के नहीं होते। बहुतों की श्रवण करने से धर्म मे

---

(१) **धर्मदेशना** का विस्तृत वर्णन **श्री औपपातिक सूत्र** में किया गया है। अधिक के जिज्ञासु पाठक वहां देख सकते हैं।

अभिरुचि तो हो जाती है, परन्तु वे उस के यथाविधि पालन में असमर्थ होते हैं। इसी प्रकार बहुतों में शक्ति तो होती है परन्तु अभिरुचि-श्रद्धा का अभाव होता है और कई एक में रुचि और शक्ति के होने पर भी विचार-विभेद होता है जिस के कारण वे धर्मानुष्ठान से वंचित रहते हैं। इसी दृष्टि को सन्मुख रखते हुए शास्त्रकारों ने अधिकारिवर्ग की रुचि और शक्ति के अनुसार धर्म को भी तरतमभाव से अनेक स्वरूपों में विभाजित कर दिया है।

जैनपरम्परा में सामान्यतया धर्म को दो स्वरूपों में विभाजित किया है। प्रथम साधुधर्म है तथा दूसरा गृहस्थधर्म। इन्हीं दोनों को जैनपरिभाषा में सर्वविरतिधर्म और देशविरतिधर्म कहते हैं। सर्वविरतिधर्म-मुनिधर्म सर्वश्रेष्ठ है परन्तु सभी की इस के ग्रहण में रुचि नहीं हो सकती, तथा रुचि होने पर भी उसके सम्यक् अनुष्ठान की शक्ति नहीं होती। तब क्या गृहस्थ मानव धर्म से वंचित ही रह जाये? नहीं, यह बात नहीं है, क्योंकि उस के लिये देशविरतिधर्म का विधान है अर्थात् वह देशविरतिधर्म को अंगीकार करता हुआ आत्मा को विकासमार्ग में प्रतिष्ठित कर सकता है। तात्पर्य यह है कि यथारुचि और यथाशक्ति धर्म का आराधन करने वाला व्यक्ति भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

सुबाहुकुमार की भगवदुपदिष्ट अनगारधर्म पर पूरी २ आस्था है, उस पर विश्वास होने के साथ २ वह उसे सर्वश्रेष्ठ भी मानता है परन्तु उसके यथाविधि अनुष्ठान में वह अपने को असमर्थ पाता है, इस लिए उस ने अपने आप को श्रावकधर्म में दीक्षित होने की भगवान् से प्रार्थना की और भगवान् ने उसे स्वीकार करते हुए उसे श्रावकधर्म में दीक्षित किया। सारांश यह है कि व्रतग्रहण करने से पूर्व अपनी शक्ति का ध्यान अवश्य रख लेना चाहिये। यदि किसी विशिष्ट तप के आराधन की शक्ति नहीं है तो उस से कम भी तप किया जा सकता है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि यदि शक्ति है तो उस का धर्मपालन में अधिकाधिक सदुपयोग कर अपना आत्मश्रेय अवश्य साधना चाहिये, उसे छुपाना नहीं चाहिये।

३—प्रस्तुत कथासन्दर्भ में सब से अधिक आकर्षक तो भगवान् का वह कथन है जो कि उन्होंने सुबाहुकुमार को श्रावकधर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रकट करने के सम्बन्ध में किया है। सुबाहुकुमार को उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं "—अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंध करेह—" अर्थात् हे भद्र! जैसे तुम को सुख हो वैसा करो, परन्तु इस में विलम्ब मत करो। भगवान् के इस उत्तर में दो बातें बड़ी मौलिक हैं—

१—धर्म के ग्रहण में पूरी २ मानसिक स्वतन्त्रता अपेक्षित है, उस के बिना ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मप्रगति में सहायक होने के स्थान में उस को अवनति का साधक भी बन जाता है। जो वस्तु इच्छापूर्वक ग्रहण की जाए, ग्रहणकर्ता को उसके संरक्षण का जितना ध्यान रहता है उतना अनिच्छया (किसी प्रकार के दबाव से) गृहीत वस्तु के लिए नहीं होता। सम्भवतः इसी लिए ही जैन शास्त्रों में उपदेशक मुनिराजों के लिए उपदेश तक सीमित रहने और आदेश न देने की मर्यादा रखी गई है।

[1]अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ १॥

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार मृत्यु को हर समय सन्मुख रखते हुए अविलम्बरूप से धर्म के आराधन में लग जाना चाहिये। जो मानव व्यक्ति यह सोचते हैं कि अभी तो विषयभोगों के उपभोग करने की अवस्था है,

(१) मैं अजर हूं, मैं अमर हूं, ऐसा समझ कर तो मनुष्य विद्या और धन का उपार्जन करे और मृत्यु ने मेरे को केशों से पकड़ कर अभी पटका कि अभी पटका, ऐसा जान कर मनुष्य धर्म का आचरण करे। तात्पर्य यह है कि धर्माचरण में विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जब कुछ बूढे होने लगेंगे, उस समय धर्म का आराधन कर लेंगे, वे बड़ी भूल करते हैं। मृत्यु का कोई भरोसा नहीं, कल सूर्य को उदय होते देखेंगे कि नहीं, इस का कोई निश्चय नहीं है। प्रतिदिन ऐसी अनेक घटनाएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिन से मानव शरीर की विनश्वरता और क्षणभङ्गुरता निस्सन्देह प्रमाणित हो जाती है। इसी दृष्टि से भगवान् ने सुबाहुकुमार को धर्माराधन में विलम्ब न करने का उपदेश दिया प्रतीत होता है। भगवान् के उक्त कथन में ये दोनों बातें इतनी अधिक मूल्यवान हैं कि इन को हृदय में निहित करने से मानव में विचारशून्यता को कोई स्थान नहीं रहता।

ऊपर अनगारधर्म और सागारधर्म का उल्लेख किया गया है। अनगार-साधु का आचरणीय धर्म महाव्रतों का यथाविधि पालन करना है, तथा सागारधर्म—गृहस्थधर्म अणुव्रतों का पालन करना है। व्रत शब्द के साथ अणु और महत् शब्द के संयोजन से वह गृहस्थ और साधु के धर्म में प्रयुक्त होने लग जाता है। जैसे कि अणुव्रती श्रावक और महाव्रती साधु। इस प्रकार गृहस्थ के व्रत अणु—छोटे और साधु के व्रत महान्—बड़े कहे जाते हैं।

शास्त्रों में हिंसा, अनृत स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति—निवृत्ति करने का नाम [1]**व्रत** है। उन में अल्प अंश में निवृत्ति **अणुव्रत** और सर्वांश में विरति **महाव्रत** है। दूसरे शब्दों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप व्रतों का सर्वांशरूप में पालन करना **महाव्रत** और अल्पांशरूप में पालन **अणुव्रत** कहलाता है। **अहिंसा** आदि व्रतों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—**अहिंसा**—मन, वचन और शरीर के द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म रूप सर्व प्रकार की हिंसा से निवृत्त होना **अहिंसाव्रत** अर्थात् पहला व्रत है।

२—**सत्य**—मन, वचन और शरीर के द्वारा किसी प्रकार का भी मिथ्याभाषण न करना दूसरा **सत्य व्रत** है।

३—**अस्तेय**—किसी वस्तु को उस के स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण करना स्तेय—चोरी है, उस का मन, वचन और काया से परित्याग करना **अस्तेय** अर्थात् **अचौर्य व्रत** है।

४—**ब्रह्मचर्य**—सर्व प्रकार के मैथुन का परित्याग करना **ब्रह्मचर्यव्रत** कहा जाता है।

५—**अपरिग्रह**—लौकिक पदार्थों में मूर्च्छा—आसक्ति तथा ममत्व का होना परिग्रह है। उस को त्याग देने का नाम **अपरिग्रहव्रत** है।

ये पांचों ही अणु और महान् भेदों से दो प्रकार के हैं। जब तक इन का आंशिक पालन हो तब तक तो इन की **अणुव्रत** संज्ञा है और सर्वथा पालन में ये **महाव्रत** कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि व्रतों के पालन का विधान शास्त्रों में गृहस्थ और साधु दोनों के लिये है, परन्तु गृहस्थ के लिये इन का सर्वथा पालन अशक्य है, इन का सर्वथा पालन साधु ही कर सकता है। अतः गृहस्थ की अपेक्षा ये **अणुव्रत** हैं और साधु की अपेक्षा इन की **महाव्रत** संज्ञा है। अनगार महाव्रतों का पालक होता है और श्रावक अणुव्रतों का। पांच[2] अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत सम्मिलित करने से १२ व्रतों का

---

(१) हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥
(तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७)

(२) श्री औपपातिक सूत्र के धर्मकथाप्रकरण में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार १२ व्रत लिखे हैं परन्तु प्रकृत में सूत्रकार ने तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों को शिक्षारूप मानते हुए-**सत्तसिक्खावइयं**—इस पद से ही व्यक्त किया है। व्याख्यास्थल में हम ने १२ व्रतों का निरूपण करते हुए औपपातिक—सूत्रानुसारिणी पद्धति को अपनाते हुए ५ अणुव्रत, तीन गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत, ऐसा संकलन किया है।

पालन करने वाला गृहस्थ जैनपरिभाषा के अनुसार देशविरति श्रावक कहलाता है। श्रावक के बारह व्रतों का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है।

१—**अहिंसाणुव्रत**—स्वशरीर में पीडाकारी तथा अपराधी के सिवाय शेष द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियों वाले जीव) आदि त्रस जीवों की सकल्पपूर्वक हिंसा का दो करण[1], तीन योग से त्याग करना श्रावक का स्थूल प्राणातिपातत्यागरूप प्रथम **अहिंसाणुव्रत** है। दूसरे शब्दों में—गृहस्थधर्म में पहला व्रत प्राणी की हिंसा का परित्याग करना है। स्थावर जीव सूक्ष्म और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय हिलने चलने वाले त्रस प्राणी स्थूल कहलाते हैं। गृहस्थ सूक्ष्म जीवों की हिंसा से नहीं बच पाता अर्थात् वह सर्वथा सूक्ष्म अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इस लिये भगवान् ने गृहस्थधर्म और साधुधर्म की मर्यादा को नियमित करते हुए ऐसा मार्ग बतलाया है कि सामान्य गृहस्थ से लेकर चक्रवर्ती भी उस का सरलतापूर्वक अनुसरण करता हुआ धर्म का उपार्जन कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि श्रावक—गृहस्थ के लिये सूक्ष्म हिंसा का त्याग शक्य नहीं है, क्योंकि उस ने चूल्हे का और चक्की का कृषि तथा गोपालन आदि का सब काम करना है। यदि इसे छोड़ दिया जाए तो उस के जीवन का निर्वाह नहीं हो सकेगा। इसलिये शास्त्रकारों ने श्रावक के लिये स्थूल हिंसा का त्याग बतला कर, उस में दो कोटियें नियत की हैं। एक **आकुट्टी**, दूसरी **अनाकुट्टी**, अर्थात् एक **सकल्पी हिंसा** दूसरी **आरम्भी हिंसा**। सकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का नाम सकल्पी और आरम्भ से उत्पन्न होने वाली हिंसा को आरम्भी हिंसा कहते हैं। इसे उदाहरण से समझिए—

गाडी में बैठने का उद्देश्य मार्ग में चलने फिरने वाले कीड़े मकौडों को मारना नहीं होता। फिर भी प्राय. गाड़ी के नीचे कीड़े मकौडे मर जाते हैं, इस प्रकार की हिंसा आरम्भी या आरम्भजा हिंसा कहलाती है। इसी भान्ति एक आदमी चीटियों को जान बूझ कर पत्थर से मारता है, इस प्रकार की हिंसा सकल्पी या सकल्पजा कही जाती है। साराश यह है कि त्रस जीवों को मारने का उद्देश्य न होने पर भी गृहस्थसम्बन्धी काम काज करते समय जो अबुद्धि—पूर्वक हिंसा होती है वह आरम्भजा है और सकल्पपूर्वक अर्थात् इरादे से जो हिंसा की जाए वह सकल्पजा है। इन में पहले प्रकार की अर्थात् आरम्भजा हिंसा का त्याग करना गृहस्थ के लिए अशक्य है। घर का कूड़ा कचरा निकालने, रोटी बनाने आटा पीसने, और खेती बाड़ी करने तथा फलपुष्पादि के तोडने

---

(१) दो करण तीन योग से हिंसा नहीं करनी चाहिए, ऐसा कहने का अभिप्राय निम्नोक्त है :—

१—**मारूं नहीं मन से** अर्थात् मन में किसी को मारने का विचार नहीं करना या हृदय में ऐसा मन्त्र नहीं जपना कि जिस से किसी प्राणी की हिंसा हो जाय।

२—**मारूं नहीं वचन से** अर्थात् किसी को शाप आदि नहीं देना, जिस से उस जीव की हिंसा हो जाय अथवा जो वाणी किसी प्राणापहार का कारण बने ऐसी वाणी नहीं बोलना।

३—**मारूं नहीं काया से** अर्थात् स्वय अपनी काया से किसी जीव को नहीं मारना।

४—**मरवाऊं नहीं मन से** अर्थात् अपने मन से ऐसा मन्त्रादि का जाप न करना जिस से दूसरे व्यक्ति के मन को प्रभावित कर के उस के द्वारा किसी प्राणी की हिंसा की जाए।

५—**मरवाऊं नहीं वचन से** अर्थात् वचन द्वारा कह कर दूसरे से किसी प्राणी के प्राणों का अपहरण नहीं करना।

६—**मरवाऊं नहीं काया से** अर्थात् अपने हाथ आदि के सकेत से किसी प्राणी की हिंसा न कराना। किसी जीव को मारूं नहीं, मरवाऊं नहीं ये दो **करण** और मन, वचन और काया, ये तीन **योग** कहलाते हैं। इस प्रकार जीवनपर्यन्त त्रस जीवों की हिंसा न करने का श्रावक के छः कोटि प्रत्याख्यान होता है। इसी भान्ति सत्य, **अचौर्य** आदि व्रतों के विषय में भी भावना कर लेनी चाहिये।

मे त्रस जीवों की हिंसा असम्भव नहीं है। इस लिये गृहस्थ को सकल्पी हिंसा के त्याग का नियम होता है, अन्य का नहीं। इस के अतिरिक्त अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिये १—बन्ध, २—वध, ३—छविच्छेद, ४—अतिभार और ५—भक्तपानव्यवच्छेद इन पाच कार्यों के त्याग करने का ध्यान रखना भी अत्यावश्यक है। बन्ध आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

१—**बन्ध**—रस्सी आदि से बाधना **बन्ध** कहलाता है। बन्ध दो प्रकार का होता है—द्विपदबन्ध और चतुष्पदबन्ध। मनुष्य आदि को बाधना द्विपदबन्ध और गाय आदि पशुओं को बाधना चतुष्पदबन्ध कहा जाता है। **अथवा**—बन्ध अर्थबन्ध और अनर्थबन्ध, इन विकल्पों मे दो प्रकार का होता है। किसी अर्थ—प्रयोजन के लिये बाधना अर्थबन्ध है तथा विना प्रयोजन के ही किसी को बाधना अनर्थबन्ध कहलाता है अर्थबन्ध के भी १—सापेक्षबन्ध, और २—निरपेक्षबन्ध, ऐसे दो भेद होते हैं। किसी प्राणी को कोमल रस्सी आदि से ऐसा बाधना कि अग्नि लगने आदि का भय होने पर शीघ्र ही सरलता मे छोड़ा जा सके, उसे सापेक्षबन्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पढाई आदि के लिये आज्ञा न मानने वाले बालकों, चोर आदि अपराधियों को केवल शिक्षा के लिये बाधना तथा पागल को, गाय आदि पशुओं को एव मनुष्यादि को अग्नि आदि के भय से उन के सरक्षणार्थ बान्धना सापेक्षवध कहलाता है, जब कि मनुष्य पशु आदि को निर्दयता के साथ बाधना निरपेक्षबंध कहा जाता है। अनर्थबन्ध तथा निरपेक्षबन्ध श्रावकों के लिये त्याज्य एव हेय होता है।

२—**वध**—कोड़ा आदि से मारना **वध** कहलाता है। वध के भी बन्ध की भान्ति द्विपदवध—मनुष्य आदि को मारना, तथा चतुष्पदवध—पशुओं को मारना, **अथवा**—अर्थवध—प्रयोजन से मारना और अनर्थवध—विना प्रयोजन ही मारना, ऐसे दो भेद होते हैं। अनर्थवध श्रावक के लिए त्याज्य है। अर्थवध के सापेक्षवध और निरपेक्षवध ऐसे दो भेद हैं। अवसर पड़ने पर प्राणों की रक्षा का ध्यान रखते हुए मर्म स्थानों में चोट न पहुँचा कर सापेक्ष ताडन सापेक्षवध और निर्दयता के साथ ताडन करना निरपेक्षवध कहलाता है। श्रावक को निरपेक्षवध नहीं करना चाहिये।

३—**छविच्छेद**—शस्त्र आदि से प्राणी के अवयवों—अंगों का काटना **छविच्छेद** कहा जाता है। छविच्छेद के द्विपदछविच्छेद—मनुष्यादि के अवयवों को काटना, तथा चतुष्पदछविच्छेद—पशुओं के अवयवों को काटना, **अथवा**—अर्थछविच्छेद—प्रयोजन से अवयवों को काटना तथा अनर्थछविच्छेद—विना प्रयोजन ही अवयवों को काटना, ऐसे दो भेद होते हैं। अनर्थछविच्छेद श्रावक के लिये त्याज्य है। अर्थछविच्छेद—सापेक्षछविच्छेद और निरपेक्षछविच्छेद इन भेदों से दो प्रकार का होता है। कान, नाक, हाथ, पैर आदि अगों को निर्दयतापूर्वक काटना निरपेक्षछविच्छेद कहलाता है जोकि श्रावक के लिये निषिद्ध है तथा किसी प्राणी की रक्षा के लिये घाव या फोड़े आदि का जो चीरना तथा काटना है वह सापेक्षछविच्छेद कहा जाता है, इस का श्रावक के लिये निषेध नहीं है।

४—**अतिभार**—शक्ति से अधिक भार लादने का नाम **अतिभार** है। मनुष्य, स्त्री बैल, घोड़े आदि पर अधिक भार लादना **अथवा** असमय में लड़कों, लड़कियों का विवाह करना, **अथवा** प्रजा के हित का ध्यान न रख कर कानून का बनाना **अतिभार** कहा जाता है। **अथवा**—बन्ध आदि की भान्ति अतिभार के द्विपदअतिभार—मनुष्यादि पर प्रमाण से अधिक भार लादना, तथा चतुष्पदअतिभार—पशुओं पर प्रमाण से अधिक भार लादना, **अथवा**—अर्थअतिभार—प्रयोजन से अतिभार लादना तथा अनर्थअतिभार—विना प्रयोजन ही अतिभार लादना, ऐसे दो भेद होते हैं। अनर्थअतिभार श्रावक के लिये त्याज्य होता है। अर्थअतिभार सापेक्षअतिभार तथा निरपेक्षअतिभार—इन भेदों से दो प्रकार का होता है। गाड़े आदि मे जुते हुए बैलों

आदि की तथा किसी भी भारवाहक मनुष्य आदि की शक्ति की परवाह न कर के निर्दयतापूर्वक परिमाण से अधिक बोझ लाद देना, अथवा उन की शक्ति से अधिक काम उन से लेना निरपेक्षअतिभार और सद्भावनापूर्वक[1] अतिभार लादना सापेक्षअतिभार कहा जाता है। निरपेक्षअतिभार का श्रावक के लिये निषेध किया गया है।

५—**भक्तपानव्यवच्छेद**—अन्न पानी का न देना, अथवा उस में बाधा डालना भक्तपानव्यवच्छेद कहलाता है। भक्तपानव्यवच्छेद द्विपदभक्तपानव्यवच्छेद—मनुष्य आदि को भक्तपान न देना, और चतुष्पद-भक्तपानव्यवच्छेद—पशुओं को आहार पानी न देना, अथवा—अर्थभक्तपानव्यवच्छेद और अनर्थभक्तपान-व्यवच्छेद इन भेदों से दो प्रकार का होता है। किसी प्रयोजन को लेकर आहार पानी न देना अर्थभक्तपान-व्यवच्छेद और बिना कारण ही आहार पानी न देना अनर्थभक्तपानव्यवच्छेद कहलाता है। अनर्थभक्तपान-व्यवच्छेद श्रावक के लिये त्याज्य होता है, तथा अर्थभक्तपानव्यवच्छेद के सापेक्षभक्तपानव्यवच्छेद—रोगादि के कारण से आहार पानी न देना तथा निरपेक्षभक्तपानव्यवच्छेद—निर्दयतापूर्वक आहार पानी का न देना, ऐसे दो भेद होते हैं। श्रावक के लिये निरपेक्षभक्तपानव्यवच्छेद का निषेध किया गया है।

कुछ विचारकों का "—**अहिंसा कायरता है**—" यह कहना नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है और उन के अहिंसासम्बन्धी अबोध का परिचायक है। अहिंसा का गम्भीर ऊहापोह करने से उस में कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता। देखिए—कायरता का प्रतिपक्षी वीरता है। वीरता का अर्थ यदि—अस्त्रशस्त्रहीन एवं दीन दुःखियों के जीवन को लूट लेना, जो मन में आए सो कर डालना या निरंकुश बन जाना, इतना ही है, तो दिन भर झूठ बोलने वाला, दूसरों की धनादि सम्पत्ति चुराने वाला, सतियों के सतीत्व को लूटने वाला, दुनिया भर की जघन्य प्रवृत्तियों से धन कमा कर अपनी तिजोरियां भरने वाला, क्या वीर नहीं कहलायेगा? और क्या ऐसे वीरों से सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन सुरक्षित रह सकेगा?, उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं। क्योंकि जिस समाज या राष्ट्र में ऐसे नराधम व्यक्ति उत्पन्न हो जायेंगे, वह समाज या राष्ट्र अपने अन्त स्वास्थ्य तथा बाह्यस्वास्थ्य से हाथ धो बैठेगा। जैसे स्वास्थ्यनाश का अन्तिम कटु परिणाम मृत्यु होता है, वैसे ही समाज और राष्ट्र के स्वास्थ्यनाश का अन्तिम परिणाम उस का सर्वतोमुखी पतन होगा। अतः वीरता किसी के जीवना-पहरण में नहीं होती, प्रत्युत अपना कर्तव्य निभाने में, दीन दुःखियों के जीवन के संरक्षण एवं पोषण में तथा प्रत्येक दुःखमूलक प्रवृत्ति से सुरक्षित रहने में होती है। जो मानस वीरता के पावन सौरभ से सुरभित होता है वह किसी भी कार्य को करने से पहले उस में न्याय अन्याय की जांच करता है। अन्याय से उसे घृणा होती है, जब कि न्याय को वह अपना आराध्यदेव समझता है, जिस के मान को सुरक्षित रखने के लिये यदि उसे अपने जीवन का बलिदान करना पड़े तो भी वह उस से विमुख नहीं होता। ऐसी ही वीरता का मूलस्रोत भगवती अहिंसा है।

इतिहास बताता है कि अहिंसा के वीरों ने हर समय न्याय की रक्षा की है। न्याय की रक्षा के लिये शत्रुओं का दमन करना उन्हों ने अपना कर्तव्य समझा था। राम रावण के साथ न्याय को जीवित रखने के लिये ही लड़े थे। रावण ने सती सीता को चुराकर एक अन्यायपूर्ण अक्षम्य अपराध किया था। सीता लौटाने के लिए उसे समझाया गया परन्तु जब वह नहीं माना तो उस की अन्यायपूर्ण प्रवृत्तियों को ठीक करने के लिए तथा सतियों के सतीत्व की रक्षा के लिए राम जैसे अहिंसक ने अपने को युद्ध के लिए सन्नद्ध

(१) प्रस्तुत में सद्भावनापूर्वक अतिभार लादने का अभिप्राय इतना ही है कि उद्दण्ड पशु आदि को शिक्षित करने, अथवा उसे अंकुश में लाने के लिये, अथवा-किसी विशेष परिस्थिति के कारण, अथवा उपायान्तर के न होने से उन्मत्त व्यक्ति पर कदाचित् अतिभार रखना ही पड़ जाए तो उस में निर्दयता के भाव न होने से वह सापेक्षबन्ध आदि की भान्ति गृहस्थ के धर्म का बाधक नहीं होता।

करने में जरा सकोच नहीं किया। वास्तव मे न्याय की रक्षा वीर ही कर सकता है, कायर के वस का वह काम नहीं होता।

इस के अतिरिक्त अहिंसा के अग्रगण्य सन्देशवाहक भगवान् महावीर स्वामी तथा भारत के अन्य महामहिम महापुरुषों का अपना साधक जीवन भी—**अहिंसा वीरों का धर्म है**—इस तथ्य को प्रमाणित कर रहा है। जिन जगलों को शेर अपनी भीषण मर्मवेदी गर्जनाओं से व्याप्त कर रहे हो, जहा हाथी चिघाड़े मार रहे हों, इसी भान्ति बाघ आदि अन्य हिंसक पशुओ का जहा साम्राज्य हो, उन जगलो मे एक कायर व्यक्ति अकेला और खाली हाथ ठहर सकता है ?, उत्तर होगा, कभी नहीं, परन्तु अहिंसा की सजीव प्रतिमाए भगवान् महावीर आदि महापुरुष इन सब परिस्थितियों मे निर्भय, प्रसन्न तथा शान्त रहते थे। अधिक क्या कहू, आज का वीर कहा जाने वाला मानव जिन देवताओं के मात्र कथानक सुन कर कंपित हो उठता है, रात को सुख से सो भी नहीं सकता, उन्हीं देवताओं के द्वारा पहुचाए गए भीषणातिभीषण, असह्य दुःख अहिंसा के अग्रदूतों ने हंस २ कर झेले हैं। साराश यह है कि अहिंसा वीरों का धर्म है, उस में कायरता और दुर्बलता को कोई स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा तो की जा सकती है परन्तु कायर कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता।

२—**सत्याणुव्रत**—इसे **स्थूलमृषावादविरमणव्रत** भी कहा जाता है। मृषावाद झूठ को कहते हैं, वह सूक्ष्म और स्थूल इन भेदों से दो प्रकार का होता है। मित्र आदि के साथ मनोरंजन के लिए असत्य बोलना, अथवा कोई व्यक्ति बैठा २ ऊ घने लग गया, निकटवर्ती कोई मनुष्य उसे सावधान करता हुआ बोल उठा—अरे! सोते क्यों हो?, इसके उत्तर में वह कहता है, नहीं भाई! तुम्हारे देखने में अन्तर है, मैं तो जाग रहा हू इत्यादि वाणीविलास सूक्ष्म मृषावाद के अन्तर्गत होता है। स्थूल मृषावाद पाच प्रकार का होता है जो कि निम्नोक्त है—

१—**कन्यासम्बन्धी**—अर्थात् कुल, शील, रूप आदि से युक्त, सर्वांगसम्पूर्ण सुन्दरी, निर्दोष कन्या को कुलादि से हीन बतलाना तथा कुलादि से हीन कन्या को कुलादि से युक्त बतलाना **कन्यालीक** है।

२—**भूमिसम्बन्धी**—अर्थात् उपजाऊ भूमि को अनुपजाऊ कहना तथा अनुपजाऊ को उपजाऊ कहना, कम मूल्य वाली को बहु मूल्य वाली और बहु मूल्य वाली को कम मूल्य वाली कहना **भूमि-अलीक** है।

३—**गोसम्बन्धी**—अर्थात् गाय, भैंस, घोड़ा आदि चौपायों में जो प्रशस्त हों उन्हें अप्रशस्त कहना और जो अप्रशस्त हैं उन को प्रशस्त कहना। **अथवा**—बहु मूल्य वाले गाय आदि पशुओं को अल्प मूल्य वाले बताना तथा अल्प मूल्य वाले को बहुमूल्य बताना। **अथवा**—अधिक दूध देने वाले गाय भैंस आदि पशुओं को कम दूध देने वाला तथा अल्प दूध देने वालों को अधिक दूध देने वाला कहना, इसी भान्ति शीघ्रगति वाले घोडे आदि पशुओं को कम गति वाले और कम गति वालों को शीघ्रगति वाले कहना, इत्यादि सभी विकल्प **गोअलीक** के अन्तर्गत हो जाते हैं।

४—**न्याससम्बन्धी**—अर्थात् कुछ काल के लिए किसी विश्वस्त पुरुष आदि के पास सोना, चान्दी, रुपया, वस्त्र, धान्यादि को पुन वापिस लेने के लिए रखने का नाम न्यास या धरोहर है। उस के सम्बन्ध में झूठ बोलना **न्यास—अलीक** है। तात्पर्य यह है कि किसी की धरोहर रख कर, देने के समय तुम ने मेरे पास कब रखी थी?, उस समय कौन साक्षी—गवाह था?, मैं नहीं जानता, भाग जाओ—ऐसा कह देना न्याससम्बन्धी असत्य भाषण होता है।

५—**साक्षिसम्बन्धी**—अर्थात् झूठी गवाही देना। तात्पर्य यह है कि आखों से देख लेने पर

कहना कि मैं वहां खड़ा था, मैंने तो इसे देखा ही नहीं। अथवा न देखने पर कहना कि मैंने स्वयं इसे अमुक काम करते हुए देखा है . . इत्यादि वाग्विलास **साक्षिसम्बन्धी** झूठ कहलाता है।

कन्यासम्बन्धी भूमिसम्बन्धी, गोसम्बन्धी, न्याससम्बन्धी तथा **साक्षिसम्बन्धी** स्थूल असत्य का दो करण तीन योग से त्याग करना **स्थूलमृषावादत्यागरूप** द्वितीय **सत्याणुव्रत** कहलाता है।

अनन्त काल से आत्मा असत्य भाषण करने के कारण दुःखोपभोग करती आरही है। नाना प्रकार के क्लेश पाती आ रही है, अतः दुःख और क्लेश से विमुक्ति प्राप्त करने के लिये असत्य को छोडना होगा तथा सत्य की आराधना करनी होगी। बिना सत्य के आराधन से आत्मश्रेय साधना असंभव है। संभव है इसी लिए पतितपावन भगवान् महावीर स्वामी ने सत्य को भगवान् कहा है। सत्य की आराधना भगवान् की आराधना है। अतः सत्य भगवान् की सेवा में आत्मार्पण कर के परम मान्य निर्वाणपद की उपलब्धि में किसी प्रकार का विलम्ब नहीं करना चाहिये। इस के अतिरिक्त सत्याणुव्रत के संरक्षण के लिये निम्नोक्त पांच कार्यों से सदा बचते रहना चाहिये—

१—विचार किये बिना ही अर्थात् हानि और लाभ का ध्यान न रख कर आवेश में आकर किसी पर तू चोर है, इस विवाद का तू ही मूल है, इत्यादि वचनों द्वारा मिथ्यारोप लगाना, दोषारोपण करना।

२—दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना। **अथवा** एकान्त में बैठ कर कुछ गुप्त परामर्श करने वाले व्यक्तियों पर राजद्रोह आदि का दोष लगा देना।

३—एकान्त में अपनी पत्नी द्वारा कही हुई किसी गोपनीय—प्रकट न करने योग्य बात को दूसरों के सामने प्रकट कर [1]देना। **अथवा** पत्नी, मित्र आदि के साथ विश्वासघात करना।

४—किसी को झूठ उपदेश या खोटी सलाह देना। तात्पर्य यह है कि लोक तथा परलोक सम्बन्धी उन्नति के विषय में किसी उत्पन्न सन्देह को दूर करने के लिये कोई किसी से पूछे तो उसे अधर्ममूलक जघन्य कार्य करने का कभी उपदेश नहीं देना चाहिए। प्रत्युत जीवन के निर्माण एवं कल्याण की बातें ही बतलानी चाहिए।

५—झूठे लेख लिखना, जालसाजी करना, तात्पर्य यह है कि दूसरे की मोहर आदि लगा देना या हाथ की सफाई से दूसरों के अक्षरों के तुल्य उस ढंग के अक्षर बना देने आदि प्रकारों से कूटलेख नहीं लिखने चाहियें।

३—अस्तेयाणुव्रत—इसे **स्थूलअदत्तादानविरमणव्रत** भी कहा जा सकता है। क्षेत्रादि में सावधानी से या असावधानी से रखी हुई या भूली हुई किसी सचित्त (गाय, भैंस आदि), अचित्त (सुवर्ण आदि) स्थूल वस्तु का ग्रहण करना जिस के लेने से चोरी का अपराध लग सकता है। **अथवा** दुष्ट अध्यवसायपूर्वक साधारण वस्तु को उस के स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण करना **स्थूल अदत्तादान** कहलाता है। खात खनना, गांठें खोल कर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा के खोल लेना, पथिकों को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना, आदि सभी विकल्प स्थूल अदत्तादान में अन्तर्गत हो जाते हैं। ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण और तीन योग से त्याग करना **स्थूल-अदत्तादानत्यागरूप** तृतीय **अस्तेयाणुव्रत** कहलाता है।

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुए साधनों के द्वारा पूर्ण करनी चाहियें। यदि प्रसंगवश दूसरों से कुछ लेने की

---

(१) पत्नी की गोपनीय बात प्रकट न करने में यही हार्द प्रतीत होता है कि वह अपनी गुप्त बात प्रकट हो जाने से लज्जा तथा क्रोधादि के कारण अपने या दूसरों के प्राणों को घातिका बन सकती है। इस लिये उस की गोपनीय बात को प्रकट करने का निषेध किया है।

आवश्यकता प्रतीत हो तो वह सहयोगपूर्वक मित्रता के भाव से दिया हुआ ही ग्रहण करना चाहिये। किसी भी प्रकार का बलात्कार अथवा अनुचित शक्ति का प्रयोग कर के कुछ लेना, लेना नहीं है प्रत्युत वह छीनना ही है, जो कि लोकनिंद्य होने के साथ २ आत्मपतन का भी कारण बनता है। अतः सुखाभिलाषी मनुष्यों को चौर्यकर्म की जघन्य प्रवृत्तियों से सदा बचते रहना चाहिये। इस के अतिरिक्त अस्तेयाणुव्रत के संरक्षण के लिये निम्नलिखित पांच कर्मों का त्याग अवश्य कर देना चाहिये—

१—चोर द्वारा चोरी कर के लाई हुई सोना, चांदी आदि वस्तु को लोभवश अल्प मूल्य में खरीदना अर्थात् चोरी का माल लेना।

२—चोरों को चोरी के लिये प्रेरणा करना या उन को उत्साह देना या उनकी सहायता करनी अर्थात् तुम्हारे पास खाना नहीं है तो मैं देता हूँ, तुम्हारी अपहृत वस्तु यदि कोई बेचता नहीं तो मैं बेच देता हूं, इत्यादि वचनों द्वारा चोरों का सहायक बनना।

३—विरोधी राज्य में उस के शासक की आज्ञा बिना प्रवेश करना या अपने राजा की आज्ञा में बिना शत्रुराजाओं के राज्य में आना तथा जाना या राष्ट्रविरोधी कर्म करना। अथवा कर—महसूल आदि की चोरी करना।

४—झूठे माप और तोल रखना, तात्पर्य यह है कि तोलने के बाट और नापने के गज़ आदि हीनाधिक रखना, थोड़ी वस्तु देना और अधिक लेना।

५—बहु मूल्य वाली बढ़िया वस्तु में उसी के समान वर्ण वाली अल्प मूल्य वाली वस्तु मिला कर असली के रूप में बेचना। अथवा असली वस्तु दिखा कर नकली देना। अथवा नकली को ही असली के नाम से बेचना।

४—**ब्रह्मचर्याणुव्रत**-इसे **स्वदारसन्तोषव्रत** भी कहा जा सकता है। विधिपूर्वक विवाहिता स्त्री में सन्तोष करना तथा अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त शेष औदारिकशरीरधारी अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च के शरीर को धारण करने वाली स्त्रियों के साथ एक करण एक योग से अर्थात् काय से परस्त्री का सेवन नहीं करूंगा, इस प्रकार तथा वैक्रियशरीरधारी—देवशरीरधारी स्त्रियों के साथ दो करण तीन योग से **मैथुनसेवनत्यागरूप** चतुर्थ **ब्रह्मचर्याणुव्रत** कहलाता है।

विषयवासनाएं जीवन का पतन करने वाली हैं और उन का त्याग जीवन को उन्नत एवं समुन्नत बनाने वाला है, अतः विवेकी पुरुष को इन्द्रियजन्य विषयों से सदा विरत रहना चाहिये। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न भोग दुःख के ही कारण बनते हैं। इस तथ्य का गीता में बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। वहां लिखा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय !, न तेषु रमते बुधः ॥ (अध्ययन ५/२२)

अर्थात् जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को भ्रम से सुखरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु ये निःसन्देह दुःख के ही कारण हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे कौन्तेय ! अर्थात् हे अर्जुन ! बुद्धिमान विवेकी पुरुष इन में रमण नहीं करता। इस के अतिरिक्त ब्रह्मचर्याणुव्रत के संरक्षण के लिये निम्नोक्त ५ कार्यों का त्याग अवश्य कर देना चाहिये—

१—कुछ काल के लिये अधीन की गई स्त्री के साथ, अथवा जिस स्त्री के साथ वाग्दान सगाई हो गया है उस के साथ, अथवा अल्प वय वाली अर्थात् जिस की आयु अभी भोगयोग्य नहीं हुई है ऐसी अपनी विवाहिता स्त्री के साथ संभोग आदि करना।

२—विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त शेष वेश्या, विधवा, कन्या, कुलवधू आदि स्त्रियों के साथ, अथवा जिस कन्या के साथ सगाई हो चुकी है, उस कन्या के साथ सभोग करना।

३—कामसेवन के जो प्राकृतिक अंग हैं, उन के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामसेवन करना। हस्तमैथुन आदि सभी कुकर्म इस के अन्तर्गत हो जाते हैं।

४—अपनी सन्तान से भिन्न व्यक्तियों का कन्यादान के फल की कामना से, अथवा स्नेह आदि के वश हो कर विवाह कराना। अथवा दूसरों के विवाहलग्न कराने में अमर्यादित भाग लेना।

५—पाचो इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध और स्पर्श म आसक्ति रखना, विषयवासनाओं में प्रगति लाने के लिये वीर्यवर्धक औषधियों का सेवन करना, कामभोगों मे अत्यधिक आसक्त रहना।

५—**अपरिग्रहाणुव्रत**—१—क्षेत्र—खेत, २—वास्तु—घर, गोदाम आदि, ३—हिरण्य—चादी की बनी वस्तुए, ४—सुवर्ण—सुवर्ण से निर्मित वस्तुए, ५—द्विपद—दास, दासी आदि, ६—चतुष्पद—गाय, भैस आदि, ७—धन—रुपया तथा जवाहरात इत्यादि, ८—धान्य—२४ प्रकार का धान्य, तथा ९—कुप्य ताम्बा, पीतल, कासी, लोहा आदि धातु तथा इन धातुओं मे निर्मित वस्तुये—इन नव प्रकार के परिग्रह की एक करण[1] तीन योग से मर्यादा अर्थात् मैं इतने मनुष्य, गज, अश्व आदि रखूगा, इन मे अधिक नहीं, इसी भान्ति सभी पदार्थो की यथाशक्ति मर्यादा करना अर्थात् तृष्णा को कम करना, **इच्छापरिमाणरूप** पञ्चम **अपरिग्रहाणुव्रत** कहा जाता है।

मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति का नाम परिग्रह है। दूसरे शब्दों में किसी भी वस्तु मे चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन या किसी भी प्रकार की हो, अपनी हो, पराई हो उस में आसक्ति रखना, उस मे बन्ध जाना, उस के पीछे पड कर अपने विवेक को नष्ट कर लेना ही परिग्रह है। धन आदि वस्तुए मूर्च्छा का कारण होने से भी परिग्रह के नाम से अभिहित की जाती हैं, परन्तु वास्तव में उन पर होने वाली आसक्ति का नाम ही परिग्रह है। परिग्रह भी एक बड़ा भारी पाप है। परिग्रह मानव की मनोवृत्ति को उत्तरोत्तर दूषित ही करता चला जाता है और किसी भी प्रकार को स्वपरहिताहित एवं लाभालाभ का विवेक नहीं रहने देता। सामाजिक एव राष्ट्रीय विषमता, सघर्ष, कलह, एवं अशान्ति का प्रधान कारण परिग्रह ही है। अत स्व और पर की शान्ति के लिये अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एव सग्रहबुद्धि पर नियन्त्रण का रखना अत्यावश्यक है। इस के अतिरिक्त अपरिग्रहाणुव्रत के सरक्षण एव सवर्धन के लिये निम्नोक्त ५ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये—

१—धान्योत्पत्ति की जमीन को **क्षेत्र** कहते हैं, वह सेतु—जो कूप के पानी से सीचा जाता है, तथा केतु—वर्षा के पानी से जिस मे धान्य पैदा होता है, इन भेदों से दो प्रकार का होता है। भूमिगृह-भोयरा, भूमिगृह पर बना हुआ घर या प्रासाद, एव सामान्य भूमि पर बना हुआ घर आदि वास्तु कहलाता है। उक्त क्षेत्र तथा वास्तु की जो मर्यादा कर रखी है, उस का उल्लघन करना। तात्पर्य यह है कि यदि भूमि दस बीघे की, अथवा दो घर रखने की मर्यादा की है तो उस से अधिक रखना। अथवा मर्यादित क्षेत्र या घर आदि से अधिक क्षेत्र या घर आदि मिलने पर बाड़ या दावाल वगैरा हटाकर मर्यादित क्षेत्र या घर आदि से मिला लेना।

२—घटित (घड़ा हुआ) और अघटित (बिना घड़ा हुआ) सोना चादी के परिमाण का एव

१—एक करण, एक योग से भी मर्यादा की जा सकती है। मर्यादा मे मात्र शक्ति अपेक्षित है। केवल तृष्णा के प्रवाह को रोकना इस का उद्देश्य है।

हीरा, पन्ना, जवाहरात आदि परिमाण का उल्लंघन करना। राजा की प्रसन्नता से प्राप्त धनादि नियत मर्यादा से अधिक होने के कारण व्रतभंग के भय से पुनः वापिस लेने के लिये किसी दूसरे के पास रख देना।

३—घी, दूध, दही गुड़, शक्कर आदि धन तथा चावल, गेहूं, मूंग, उड़द, जौ, मक्की आदि धान्य कहे जाते हैं। इन दोनों के विषय में जो मर्यादा की है, उस का उल्लंघन करना। **अथवा** मर्यादा से अधिक धन धान्य की प्राप्ति होने पर उसे स्वीकार कर लेना, परन्तु व्रतभंग के भय से उन्हें धान्यादि के बिक जाने पर ले लूंगा, यह सोच कर दूसरे के घर पर रहने देना।

४—द्विपद सन्तान, स्त्री दास दासी, तोता मैना आदि तथा चतुष्पद—गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, हाथी आदि के परिमाण का उल्लंघन करना।

५—सोने, चांदी के अतिरिक्त कांसी, पीतल, ताम्बा, लोहा आदि धातु तथा उन से निर्मित बर्तन आदि, आसन, शयन, वस्त्र, कम्बल, तथा बर्तन आदि घर के सामान की जो मर्यादा की है, उस का भंग करना। **अथवा** नियमित कांसी आदि की प्राप्ति होने पर दो दो को मिला कर वस्तुओं को बड़ी करा देना और नियमित संख्या क़ायम रखना। **अथवा** नियत काल की मर्यादा वाले का व्रतभंग के भय से अधिक कांसी आदि पदार्थों को न खरीद कर पुनः खरीदने के लिये उन के स्वामी को "—तुम किसी को नहीं देना, अमुक समय के अनन्तर मैं लेलूंगा—" ऐसा कहना।

पूर्वोक्त ५ अणुव्रतों के पालन में गुणकारी, उपकारक तथा गुणों को पुष्ट करने वाले व्रत **गुणव्रत** कहलाते हैं, और वे तीन हैं। उन की नामनिर्देशपूर्वक व्याख्या निम्नोक्त है—

१—दिक्परिमाणव्रत—दिक् दिशा को कहते हैं। दिशा—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् इन भेदों से तीन प्रकार की होती है। अपने से ऊपर की ओर को **ऊर्ध्व दिशा**, नीचे की ओर को **अधोदिशा**, तथा इन दोनों की बीच की ओर को **तिर्यक्दिशा** कहते हैं। **तिर्यक्दिशा** के—पूर्व पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ऐसे चार भेद होते हैं। जिस ओर सूर्य निकलता है वह पूर्व दिशा, जिस ओर छिपता है वह पश्चिम—दिशा, सूर्य की ओर मुंह करके खड़ा होने पर बाएं हाथ की ओर उत्तर दिशा और दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा कहलाती है। चार दिशाओं के अतिरिक्त चार विदिशाएं भी होती हैं, जो ईशान आग्नेय, नैर्ऋत्य और वायव्य इन नामों से अभिहित की जाती हैं। उत्तर और पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान, पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय, दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच के कोण को नैर्ऋत्य तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच के कोण को वायव्य कहा जाता है। इन सब ऊर्ध्व, अधः आदि भेदोपभेद वाली दिशाओं में गमनागमन करने अर्थात् जाने और आने के सम्बन्ध में जो मर्यादा की जाती है, तात्पर्य यह है कि जो यह निश्चय किया जाता है कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा में अथवा सब दिशाओं में इतनी दूर से अधिक नहीं जाऊंगा, उस मर्यादा या निश्चय को **दिक्परिणामव्रत** कहा जाता है।

आगे बढ़ना ही जीवन का प्रधान लक्ष्य होता है, परन्तु आगे बढ़ने के लिये चित्त की शान्ति सर्वप्रथम अपेक्षित होती है। चित्त की शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है—इच्छाओं का संकोच। जब तक इच्छायें सीमित नहीं होंगी तब तक चित्त की शान्ति भी नहीं हो सकती। इस लिये भगवान् ने व्रतधारी श्रावक के लिये दिक्परिमाणव्रत का विधान किया है। इस से कर्मक्षेत्र की मर्यादा बांधी जाती है अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है, उस निश्चित सीमा के बाहिर जा कर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का त्याग करना इस का प्रधान उद्देश्य रहा करता है। इस के अतिरिक्त दिक्परिमाणव्रत के संरक्षण के लिये निम्नलिखित ५ बातों का

विशेष ध्यान रखना चाहिये—

१—ऊर्ध्व दिशा मे गमनागमन करने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा में रखा है, उस का उल्लघन न करना।

२—नीची दिशा के लिये किये गये क्षेत्रपरिमाण का उल्लघन न करना।

३—तिर्यक् दिशा अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशा आदि के लिये गमनागमन का जो परिमाण किया गया है, उस का उल्लघन न करना।

४—एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम कर के उस कम की गई सीमा को दूसरी दिशा को सीमा में जोड़ कर दूसरी दिशा नहीं बढा लेना। इसे उदाहरण मे समझिए—

किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्व दिशा में गमनागमन करने की मर्यादा ५० कोस की रखी है, परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उस ने सोचा कि मुझे पूर्व दिशा में जाने का इतना काम नहीं पड़ता और पश्चिम दिशा में मर्यादित क्षेत्र मे दूर जाने का काम निकल रहा है, इस लिए काम चलाने के लिये पूर्व दिशा में रखे हुए ५० कोस मे से कुछ कम कर के पश्चिम दिशा के मर्यादित क्षेत्र को बढा लू। इस तरह विचार कर एक दिशा के सीमित क्षेत्र को कम कर के दूसरी दिशा के सीमित क्षेत्र में उसे मिला कर उस को नहीं बढाना चाहिये।

५—क्षेत्र की मर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे नही बढ जाना, अथवा मे शायद अपनी मर्यादित क्षेत्र की सीमा तक आचुका हूगा कि नहीं ? । ऐसा विचार करने के पश्चात् भी निर्णय किये बिना आगे नही बढना चाहिये।

ऊपर कहा जा चुका है कि गुणव्रत अणुव्रतों को पुष्ट करने वाले, उन में विशेषता लाने वाले होते हैं। दिक्परिमाणव्रत अणुव्रतों में विशेषता किस तरह लाता है ? इस के सम्बन्ध मे किया गया विचार निम्नोक्त है—

१—श्रावक का प्रथम अणुव्रत **अहिंसाणुव्रत** है। उस में स्थूल हिंसा का त्याग होता है। सूक्ष्म हिंसा का श्रावक को त्याग नही होता और उस मे किसी क्षेत्र की मर्यादा भी नहीं होती। सूक्ष्म हिंसा के लिये सभी क्षेत्र खुले हैं। दिक्परिमाणव्रत उसे सीमित करता है, उसे असीम नही रहने देता। दिक्परिमाणव्रत से जाने और आने के लिए सीमित क्षेत्र के बाहिर की सूक्ष्म हिंसा भी छूट जाती है। इस तरह दिक्परिमाणव्रत अहिंसाणुव्रत मे विशेषता लाता है।

२—श्रावक का दूसरा अणुव्रत **सत्याणुव्रत** है। उस मे स्थूल झूठ का त्याग होता है परन्तु सूक्ष्म झूठ का त्याग नहीं होता। वह सभी क्षेत्रों के लिए खुला रहता है। दिक्परिमाणव्रत सत्याणुव्रत के उस सूक्ष्म झूठ की छूट को सीमित करता है, जितना क्षेत्र छोड दिया गया है उतने क्षेत्र में सूक्ष्म झूठ के पाप से बचाव हो जाता है।

३—श्रावक का तीसरा अणुव्रत **अचौर्याणुव्रत** है। इस में स्थूल चोरी का त्याग तो होता है परन्तु सूक्ष्म चोरी का त्याग नही होता। इस के अतिरिक्त वह सभी क्षेत्रों के लिये खुली रहती है, दिक्परिमाणव्रत उसे सीमित करता है, उसे अमर्यादित नहीं रहने देता।

४—श्रावक का चतुर्थ अणुव्रत **ब्रह्मचर्याणुव्रत** है। इस मे परस्त्री आदि का सर्वथा तथा सर्वत्र त्याग होने पर भी स्वस्त्री की जो मर्यादा है वह सभी क्षेत्रों के लिये खुली होती है, उस पर किसी प्रकार का क्षेत्रकृत नियन्त्रण नहीं होता परन्तु दिक्परिमाणव्रत उसे भी सीमित करता है। दिक्परिमाणव्रत धारण करने वाला व्यक्ति मर्यादित क्षेत्र मे बाहिर स्वस्त्री के साथ भी दाम्पत्य व्यवहार नहीं कर सकेगा। इस प्रकार दिक्परिमाणव्रत ब्रह्मचर्याणुव्रत के पोषण का कारण बनता है।

५—श्रावक का पाचवां **परिग्रहाणुव्रत** है। इस मे भी दिक्परिमाणव्रत विशेषता उत्पन्न कर देता है क्योंकि दिक्परिमाणव्रत ग्रहण करने वाला व्यक्ति मर्यादित परिग्रह का सरक्षण, अथवा उस की पूर्ति उसी

क्षेत्र में रह कर कर सकेगा जो उस ने दिक्परिमाणव्रत में जाने और आने के लिये रखा है, उस क्षेत्र से बाहिर न तो मर्यादित परिग्रह का रक्षण कर सकेगा और न उस की पूर्ति के लिये व्यवसाय। इस प्रकार दिक्परिमाणव्रत सीमित तृष्णा को और सीमित करने मे सहायक एव प्रेरक होता है।

२—**उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत**—जो एक बार भोगा जा चुकने के बाद फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना, काम में लाना **उपभोग** कहलाता है। जैसे एक बार जो भोजन खाया जा चुका है या जो पानी एक बार पीआ जा चुका है, वह भोजन या पानी फिर खाया या पीया नहीं जा सकता, **अथवा** अगरचना या विलेपन की जो वस्तु एक बार काम में आ चुकी है, जैसे वह फिर काम मे नहीं आ सकती, इसी भान्ति जो २ वस्तुए एक बार काम मे आ चुकने के अनन्तर फिर काम मे नही आतीं, उन वस्तुओ को काम में लाना **उपभोग** कहलाता है। विपरीत इस के जो वस्तु एक बार से अधिक काम मे ली जा सकती है, उस वस्तु को काम मे लेना **परिभोग** कहलाता है। जैसे आसन, शय्या, वस्त्र, वनिता आदि। **अथवा** जो चीज शरीर के आन्तरिक भाग से भोगी जा सकती है, उस को भोगना **उपभोग** है और जो चीज़ शरीर के बाहिरी भागों से भोगी जा सकती है, उस चीज़ का भोगना **परिभोग** है। सभी उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओं के सम्बन्ध मे यह मर्यादा करना कि मैं अमुक अमुक वस्तु के सिवाय शेष वस्तुए उपभोग और परिभोग मे नहीं लाऊ गा, उस मर्यादा को **उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत** कहा जाता है।

इच्छाओं के सकोच के लिये दिक्परिमाणव्रत की अपेक्षा रहती है, जिस का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, उस के आश्रयण से मर्यादित क्षेत्र से बाहिर का क्षेत्र और वहा के पदार्थादि से निवृत्ति हो जाती है, परन्तु इतने मात्र मे मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों के उपभोग और परिभोग की मर्यादा नही हो पाती है। मर्यादाहीन जीवन उन्नति की ओर प्रस्थित न हो कर अवनति की ओर प्रगतिशील होता है। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए आचार्यों ने सातवें व्रत का विधान किया है। इस व्रत के आराधन से छठे व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों के उपभोग और परिभोग की भी मर्यादा हो जाती है। यह मर्यादा एक, दो, तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या यावज्जीवन के लिये भी की जा सकती है। उक्त मर्यादा के द्वारा पञ्चम व्रत के रूप में परिमित किये गये परिग्रह को और अधिक परिमित किया जाता है तथा अहिंसा की भावना को और अधिक विराट एव प्रबल बनाया जाता है। यही इस की अणुव्रतसम्बन्धिनी गुणपोषकता है।

उपभोग और परिभोग मे आने वाली वस्तुएं तो अनेकानेक हैं तथापि शास्त्रकारों ने उन वस्तुओं का २६ बोलों में सग्रह कर दिया है। इन बोलों म प्रायः जीवन की आवश्यक सभी वस्तुए सगृहीत कर दी गई हैं। इन बोलों की जानकारी से व्रतग्रहण करने वाले को बड़ी सुगमता हो जाती है। वह जब यह जान लेता है कि जीवन के लिये विशेषरूप से किन पदार्थों की आवश्यकता रहती है ?, तब उन की तालिका बना कर उन्हें मर्यादित करना उस के लिये सरल हो जाता है। अस्तु, २६ बोलों का विवरण निम्नोक्त है—

१—**उल्लणिया—विधिप्रमाण**—आर्द्र शरीर को या किसी भी आर्द्र हस्तादि अवयवों के पोंछने के लिये जिन वस्त्रों की आवश्यकता होती है, उन की मर्यादा करना।

२—**दन्तवणविधिप्रमाण**—दान्तों को साफ करने के लिये जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, उन पदार्थों की मर्यादा करना।

३—**फलविधिप्रमाण**—दातुन करने के पश्चात् मस्तक और बालो को स्वच्छ तथा शीतल करने के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन की मर्यादा करना, या बाल आदि धोने के लिये आवला

आदि फलों की मर्यादा करना या स्नान करने से पहले मस्तक आदि पर लेप करने के लिये आंवले आदि फलों की मर्यादा करना।

४—**अभ्यञ्जनविधिप्रमाण**—त्वचासम्बन्धी विकारों को दूर करने के लिये और रक्त को सभी अवयवों में पूरी तरह सचारित करने के लिये जिन तैल आदि द्रव्यों का शरीर पर मर्दन किया जाता है उन द्रव्यों की मर्यादा करना।

५—**उद्वर्त्तनविधिप्रमाण**—शरीर पर लगे हुए तैल की चिकनाहट को दूर करने तथा शरीर में स्फूर्ति एवं शक्ति लाने के लिये जो उबटन लगाया जाता है, उस की मर्यादा करना।

६—**मज्जनविधिप्रमाण**—स्नान के लिये जल तथा स्नान की सख्या का परिमाण करना।

७—**वस्त्रविधिप्रमाण**—पहनने ओढने आदि के लिये वस्त्रों की मर्यादा करना। वस्त्रमर्यादा में लज्जारक्षक तथा शीतादि के रक्षक वस्त्रों का ही आश्रयण है, विकारोत्पादक वस्त्र तो कभी भी धारण नहीं करने चाहिएं।

८—**विलेपनविधिप्रमाण**—चंदन, केसर आदि सुगन्धित तथा शोभोत्पादक पदार्थों की मर्यादा करना।

९—**पुष्पविधिप्रमाण**—फूल तथा फूलमाला आदि की मर्यादा करना, अर्थात् मैं अमुक वृक्ष के इतने फूलों के सिवाय दूसरे फूलों को तथा वे भी अधिक मात्रा में प्रयुक्त नहीं करूंगा, इत्यादि विकल्पपूर्वक पुष्प-सम्बन्धी परिमाण निश्चित करना।

१०—**आभरणविधिप्रमाण**—शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषणों की मर्यादा करना कि मैं इतने मूल्य या भार के अमुक आभूषण के सिवाय और आभूषण शरीर पर धारण नहीं करूंगा।

११—**धूपविधिप्रमाण**—वस्त्र और शरीर को सुगन्धित करने के लिये या वायुशुद्धि के लिये धूप देने योग्य अगर आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

ऊपर उन पदार्थों के परिमाण का वर्णन किया गया है जिन से या तो शरीर की रक्षा होती है या जो शरीर को विभूषित करते हैं। अब नीचे ऐसे पदार्थों के परिमाण का वर्णन किया जाता है, जिन से शरीर का पोषण होता है, उसे बल मिलता है तथा जो स्वाद के लिए भी काम में लाये जाते हैं—

१२—**पेयविधिप्रमाण**—जो पीया जाता है उसे पेय कहते हैं। दूध, पानी आदि पेय पदार्थों की मर्यादा करना।

१३—**भक्षणविधिप्रमाण**—नाश्ते के रूप में खाये जाने वाले मिठाई आदि पदार्थों की, अथवा पकवान की मर्यादा करना।

१४—**ओदनविधिप्रमाण**—ओदन शब्द से उन द्रव्यों का ग्रहण करना अभिमत है जो विधिपूर्वक उबाल कर खाये जाते हैं। जैसे—चावल, खिचडी आदि, इन सब की मर्यादा करना।

१५—**सूपविधिप्रमाण**—सूप शब्द उन पदार्थों का परिचायक है जो दाल आदि के रूप में खाए जाते हैं, तथा जिन के साथ रोटी या भात आदि खाया जाता है अर्थात् मूंग, चना आदि दालों की मर्यादा करना।

१६—**विकृतिविधिप्रमाण**—विकृति शब्द दूध, दही, घृत, तैल और गुड शक्कर आदि का परिचायक है, इन सब की मर्यादा करना।

१७—**शाकविधिप्रमाण**—शाक, सब्जी आदि शाक की जाति का परिमाण करना। ऊपर के

पन्द्रहवें बोल में उन दालों की प्रधानता है जो अन्न से बनती हैं। शेष सूखे या हरे साग का ग्रहण शाक पद से होता है।

१८—माधुरविधिप्रमाण— आम, जामुन, केला, अनार आदि हरे फल और दाख, बादाम, पिश्ता आदि सूखे फलों की मर्यादा करना।

१९—जेमनविधिप्रमाण—जेमन शब्द उन पदार्थों का बोधक है जो भोजन के रूप में क्षुधा के निवारण के लिए खाए जाते हैं, जैसे—रोटी, पूरी आदि। अथवा बड़ा, पकौड़ी आदि पदार्थ जेमन शब्द से सगृहीत होते हैं, इन सब की मर्यादा करना।

२०—पानीयविधिप्रमाण शीतोदक, उष्णोदक, गन्धोदक, अथवा खारा पानी, मीठा पानी आदि पानी के अनेकों भेद हैं, इन सब की मर्यादा करना।

२१—मुखवासविधिप्रमाण—भोजनादि के पश्चात् स्वाद या मुख को साफ करने के लिये प्रयुक्त किए जाने वाले पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

२२—वाहनविधिप्रमाण—वाहन अर्थात्—१—चलने वाले—घोड़ा, ऊंट, हाथी आदि, तथा २—फिरने वाले गाड़ी, मोटर, ट्राम, साइकल आदि, इन सब वाहनों की मर्यादा करना।

२३—उपानत्विधिप्रमाण—पैरों की रक्षा के लिये पैरों में पहने जाने वाले जूता, खड़ाऊं आदि पदार्थों का परिमाण करना।

२४—शयनविधिप्रमाण—शयन शब्द से उन वस्तुओं का ग्रहण होता है, जो सोने, बैठने के काम आती हैं, जैसे—पलंग, खाट, पाट, आसन, बिछौना, मेज़, कुर्सी आदि इन सब की मर्यादा करना।

२५—सचित्तविधिप्रमाण—आम आदि सचित्त पदार्थों की मर्यादा करना। तात्पर्य यह है कि पदार्थ दो तरह के होते हैं। एक सचित्त—जीवसहित और दूसरे अचित्त—जीवरहित। सचित्त और अचित्त दोनों ही अनेकानेक पदार्थ हैं। श्रावक यदि सचित्त का त्याग नहीं कर सकता तो उस को सचित्त पदार्थों की मर्यादा अवश्य कर लेनी चाहिए।

२६—द्रव्यविधिप्रमाण—खाने के काम में आने वाले सचित्त या अचित्त द्रव्यों की मर्यादा करना। तात्पर्य यह है कि ऊपर के बोलों में जिन पदार्थों की मर्यादा की गई है, उन पदार्थों को द्रव्यरूप में संग्रह कर के उन की मर्यादा करना। जैसे—मैं एक समय में, एक दिन में या आयु भर में इतने द्रव्यों से अधिक का उपयोग नहीं करूंगा। जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिये अलग मुंह में डाली जाएगी, अथवा—एक ही वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिये दूसरी वस्तु के संयोग के साथ मुंह में डाली जाएगी, उस में जितनी वस्तुएं मिली हुई हैं, वे उतने द्रव्य कहे जाएंगे।

उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थों की उपलब्धि के लिये धन की आवश्यकता होती है। धन के लिये गृहस्थ को कोई न कोई व्यवसाय चलाना ही होता है। अर्थात् कोई धन्धा—रोज़गार करना ही पड़ता है। बिना कोई धन्धा किए गृहस्थ जीवन की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं हो सकतीं। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जीवन को चलाने के लिये गृहस्थ को कोई न कोई व्यापार करना ही होगा। व्यापार आर्य—प्रशस्त और अनार्य—अप्रशस्त इन विकल्पों से दो प्रकार का होता है। प्रशस्त का अभिप्राय है—जिस में पाप कर्म कम से कम लगे और अप्रशस्त का अर्थ है—जिस में पाप अधिकाधिक लगे। तात्पर्य यह है कि कुछ व्यापार अल्पपापसाध्य होते हैं जबकि कुछ अधिकपापसाध्य। श्रावक अधिकपापसाध्य व्यापार न करे, इस बात को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने **उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत** के दो भेद कर दिये हैं।

एक भोजन से दूसरा कर्म से। भोजन शब्द से उपभोग्य और परिभोग्य सभी पदार्थों का ग्रहण कर लिया जाता है। भोजनसम्बन्धी परिमाण किस भान्ति होना चाहिए? इस के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। रही बात कर्मसम्बन्धी परिमाण की। कर्म का अर्थ है—आजीविका। आजीविका का परिमाण कर्मसम्बन्धी **उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये अधिकपापसाध्य—जिस में महा हिंसा हो, व्यापार का परित्याग कर के अल्प पाप—साध्य व्यापार की मर्यादा करना।

भोजनसम्बन्धी **उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत** के संरक्षण के लिये निम्नोक्त ५ कार्यों का सेवन नहीं करना चाहिये—

१—**सचित्ताहार**—जिस खान पान की चीज में जीव विद्यमान हैं, उस को **सचित्त** कहते हैं। जैसे—धान बीज आदि। जिस सचित्त का त्याग किया गया है उस का सेवन करना।

२—**सचित्तप्रतिबद्धाहार**—वस्तु तो अचित्त है परन्तु वह यदि सचित्त वस्तु से सम्बन्धित हो रही है, उस का सेवन करना। तात्पर्य यह है कि यदि किसी का सचित्त पदार्थ को ग्रहण करने का त्याग है तो उसे सचित्त से सम्बन्धित अचित्त पदार्थ भी नहीं लेना चाहिये। जैसे—मिठाई अचित्त है परन्तु जिस दोने में रखी हुई है वह सचित्त है, तब सचित्तत्यागी व्यक्ति को उस का ग्रहण करना निषिद्ध है।

३—**अपक्वौषधिभक्षणता**—जो वस्तु पूर्णतया पकने नहीं पाई और जिसे कच्ची भी नहीं कहा जा सकता, ऐसी अर्धपक्व वस्तु का ग्रहण करना। तात्पर्य यह है कि यदि किसी ने सचित्त वस्तु का त्याग कर रखा है तो उसे जो पूरी न पकने के कारण मिश्रित हो रही है, उस वस्तु का ग्रहण करना नहीं चाहिये। जैसे—छल्ली, होलके (होले) आदि।

४—**दुष्पक्वौषधिभक्षणता**—जो वस्तु पकी हुई तो है परन्तु बहुत अधिक पक गई है, पक कर बिगड़ गई है, उस का ग्रहण करना। **अथवा**—जिस का पाक अधिक आरम्भसाध्य हो उस वस्तु का ग्रहण करना।

५—**तुच्छौषधिभक्षणता**—जिस में क्षुधानिवारक भाग कम है, और व्यर्थ का भाग अधिक है, ऐसे पदार्थ का सेवन करना। **अथवा**—जिस वस्तु में खाने योग्य भाग थोडा हो और फेंकने योग्य भाग अधिक हो, ऐसी वस्तु का ग्रहण करना।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत का दूसरा विभाग कर्म है अर्थात् श्रावक को उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये जिन धन्धों में गाढ कर्मों का बन्ध होता है वे धन्धे नहीं करने चाहिए। अधिक पापसाध्य धन्धों को ही शास्त्रीय भाषा में **कर्मादान** कहते हैं। कर्मादान—कर्म और आदान इन पदों से निर्मित हुआ है, जिस का अर्थ है—जिस से गाढ कर्मों का आगमन हो। कर्मादान १५ होते हैं। उन के नाम तथा उन का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

१—**इङ्गालकर्म**—इसे **अङ्गारकर्म** भी कहा जाता है। अङ्गारकर्म का अर्थ है—लकडियों के कोयले बनाना और उन्हें बेच कर आजीविका चलाना। इस कार्य से ६ काया के जीवों की महान् हिंसा होती है।

२—**वनकर्म**—जंगल का ठेका ले कर, वृक्ष काट कर उन्हें बेचना, इस भान्ति अपनी आजीविका चलाना। इस कार्य से जहां स्थावर प्राणियों की महान् हिंसा होती है, वहां त्रस जीवों की भी पर्याप्त हिंसा होती है। वन द्वारा पशु पक्षियों को जो आधार मिलता है, उन्हें इस कर्म से निराधार बना दिया जाता है।

३—**शाकटिक कर्म**—बैलगाडी या घोडागाडी आदि द्वारा भाडा कमाना। **अथवा**—गाड़ा गाडी

आदि वाहन बना कर बेचना या किराए पर देना ।

४—भाटीकर्म—घोड़ा, ऊंट भैंस, गधा, खच्चर, बैल आदि पशुओं को भाड़े पर दे कर, उस भाड़े से अपनी आजीविका चलाना । इस में महान् हिंसा होती है, क्योंकि भाड़े पर लेने वाले लोग अपने लाभ के सन्मुख पशुओं की दया की उपेक्षा कर डालते हैं ।

५—स्फोटीकर्म हल, कुदाली आदि से पृथ्वी को फोड़ना और उस में से निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु, आदि खनिज पदार्थों द्वारा अपनी आजीविका चलाना ।

६—दन्तवाणिज्य—हाथी आदि के दान्तों का व्यापार करना । दान्तों के लिये अनेकानेक प्राणियों का वध होता है, इसलिये भगवान् ने श्रावकों के लिए इस का निषेध किया है ।

७—लाक्षावाणिज्य - लाख वृक्षों का मद होता है, उस के निकालने में त्रस जीवों की बहुत हिंसा होती है । इसलिये श्रावक को लाख का व्यापार नहीं करना चाहिये ।

८—रसवाणिज्य —रस का अर्थ है—मदिरा आदि द्रव पदार्थ, उन का व्यापार करना । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ मनुष्य को उन्मत्त बनाते हैं, जिन के सेवन से बुद्धि नष्ट होती है, ऐसे पदार्थों का सेवन अनेकानेक हानियों का जनक होता है, अत ऐसे व्यापार को नहीं करना चाहिये ।

९—विषवाणिज्य—अफीम, संखिया आदि जीवननाशक पदार्थों का व्यवसाय करना, जिन के खाने या सूंघने से मृत्यु हो सकती है ।

१० - केशवाणिज्य—केश का अर्थ है—केश वाला । लक्षणा से दास दासी आदि द्विपदों का ग्रहण होता है, उन का व्यापार करना केशवाणिज्य है । प्राचीन काल में अच्छे केश वाली स्त्रियों का क्रय, विक्रय होता था और ऐसी स्त्रिया दासी बना कर भारत से बाहिर यूनान आदि देशों में भेजी जाती थी, जिस से अनेकानेक जघन्य प्रवृत्तियों को जन्म मिलता था । इसलिये श्रावक के लिये यह निन्द्य व्यवसाय भगवान् ने त्याज्य एव हेय बतलाया है ।

११—यन्त्रपीडनकर्म यन्त्रों-मशीनों द्वारा तिल, सरसों आदी या गन्ना आदि का तेल या रस निकाल कर अपनी आजीविका करना । इस व्यवसाय में त्रस जीवों की भी हिंसा होती है ।

१२—निर्लाञ्छनकर्म बैल, भैंसा, घोड़ा आदि को नपुंसक बनाने की आजीविका करना । इस से पशुओं को अत्यन्तात्यन्त पीड़ा होती है, इस लिए भगवान् ने श्रावक के लिये इस का व्यवसाय निषिद्ध कहा है ।

१३—दवाग्निदापनकर्म—वनदहन करना । तात्पर्य यह है कि भूमि साफ करने में श्रम न करना पड़े, इसलिये बहुत से लोग आग लगा कर भूमि के ऊपर का जंगल जला डालते हैं और इस प्रकार भूमि को साफ कर या करा कर अपनी आजीविका चलाते हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति महान् हिंसासाध्य होने से श्रावक के लिये हेय है, त्याज्य है ।

१४—सरोह्रदतडागशोषणकर्म - तालाब, नदी आदि के जल को सुखाने का धन्धा करना । तात्पर्य यह है कि बहुत से लोग तालाब, नदी का पानी सुखा कर, वहां की भूमि को कृषियोग्य बनाने का धन्धा किया करते हैं, इस में जलीय जीव मर जाते हैं । अथवा बोए हुए धान्यों को पुष्ट करने के लिये सरोवर आदि से जल निकाल कर उन्हें सुखा देने की आजीविका करना, इस में त्रस और स्थावर जीवों की महान् हिंसा होती है । इसीलिए यह कार्य श्रावक के लिए त्याज्य है ।

१५—असतीजनपोषणकर्म—असतियों का पोषण कर के उन से आजीविका चलाना । तात्पर्य यह

है कि कुछ लोग कुलटा स्त्रियों का इसलिए पोषण करते हैं कि उन से व्यभिचार करा कर धनोपार्जन किया जाये, यह धन्धा अनर्थों का मूल और पापपूर्ण होने से त्याज्य है।

(३) **अनर्थदण्डविरमणव्रत**—क्षेत्र, धन, गृह, शरीर, दास, दासी, स्त्री, पुत्री आदि के लिए जो दण्ड-हिंसा किया जाता है, उसे **अर्थदण्ड** कहते हैं और बिना प्रयोजन की गई हिंसा **अनर्थदण्ड** कहलाती है। जैसे—रास्ते में जाते हुए व्यर्थ ही हरे पत्ते तोड़ते रहना, किसी कुत्ते आदि को छड़ी मार देना ..इत्यादि सभी विकल्प अनर्थदण्ड के अन्तर्गत हो जाते हैं। ऐसे अनर्थदण्ड को त्यागने की प्रतिज्ञा का करना **अनर्थ-दण्डविरमणव्रत** है। शास्त्रों में अनर्थदण्ड के ४ भेद पाए जाते हैं, जिन के नाम तथा अर्थ निम्नोक्त हैं—

१—**अपध्यानाचरित**—जो अप्रशस्त—बुरा ध्यान (अन्तर्मुहूर्त मात्र किसी प्रकार के विचारों में एकाग्रता) है, वह अपध्यान कहलाता है। तात्पर्य यह है कि [1]**आर्तध्यान** और [2]**रौद्रध्यान** के वश हो कर किसी प्राणी को निष्प्रयोजन क्लेश पहुंचाना **अपध्यानाचरित** कहा जाता है।

२—**प्रमादाचरित**—असावधानी से काम करना, तेल तथा घी आदि के बर्तन बिना ढके, खुले मुंह रखना आदि। **अथवा**—मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा ये ५ प्रमाद होते हैं। अहंकार या मदिरा आदि मद्य पदार्थ का **मद** शब्द से ग्रहण होता है। पांच इन्द्रियों के तेईस विषयों का ग्रहण **विषय** शब्द से किया जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों की **कषाय** संज्ञा है। **निद्रा** नींद को कहते हैं। जिन के कहने, सुनने से कोई लाभ न हो उन बातों की गणना **विकथा** में होती है। इन प्रमादों का सर्वथा त्याग संसारी व्यक्ति के लिये तो अशक्य होता है, इसलिए इस के निष्कारण और सकारण ऐसे दो भेद कर दिये गये हैं। सकारण प्रमाद अर्थदण्ड में है जब कि निष्कारण प्रमाद अनर्थदण्ड से बोधित होता है। **अनर्थदण्डविरमणव्रत** में निष्कारण प्रमाद का त्याग किया जाता है।

३—**हिंसाप्रदान**—बिना प्रयोजन तलवार, शूल, भाला आदि हिंसा के साधनभूत शस्त्रों को क्रोध से भरे हुए, **अथवा** जो अनभिज्ञ हैं उन के हाथ में दे देना।

४—**पापकर्मोपदेश**—जिस उपदेश के कारण पाप में प्रवृत्ति हो, उपदेश सुनने वाला पापकर्म करने लगे, वैसा उपदेश देना। तात्पर्य यह है कि बहुत से मनचले लोगों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे दूसरों को मारने पीटने की तथा राजद्रोह आदि की व्यर्थ बातें कहते रहते हैं। अनर्थदण्ड के त्यागी को ऐसा कम नहीं करना चाहिये।

अनर्थदण्डविरमणव्रत का इतना ही उद्देश्य है कि श्रावक ने अणुव्रत स्वीकार करते समय जिन बातों की छूट रखी है, उस छूट का उपयोग करने में अर्थ अनर्थ अर्थात् सार्थक और निरर्थक का वह अन्तर

---

(१) आर्ति दुःख कष्ट, या पीडा को कहते हैं। आर्ति के कारण जो ध्यान होता है उसे **आर्तध्यान** कहा जाता है। यह ध्यान —१—अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर, २—इष्ट वस्तु के वियोग होने पर, ३—रोग आदि के होने पर तथा ४—भोगों की लालसा के कारण उत्पन्न हुआ करता है। इस ध्यान के कारण मन में एक प्रकार की विकलता सी अर्थात् सतत कसक सी हुआ करती है।

२—हिंसा आदि क्रूर भावों की जिस में प्रधानता हो उस व्यक्ति को **रुद्र** कहते हैं। रुद्र व्यक्ति के मनोभावों को **रौद्रध्यान** कहा जाता है। रौद्र ध्यान वाला व्यक्ति हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और सम्प्राप्त विषयभोगों के संरक्षण में ही तत्पर रहा करता है और उस के लिए वह छेदन, भेदन, मारण ताड़न आदि कठोर प्रवृत्तियों का ही चिन्तन करता रहता है।

समझ ले और निरर्थक प्रयोग से अपने को बचा ले। गुणव्रत अणुव्रतों के पोषक होते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। पहले दिक्‌परिमाणव्रत ने अमर्यादित क्षेत्र को मर्यादित किया। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत में अमर्यादित पदार्थों को मर्यादित किया गया है और अनर्थदण्डविरमणव्रत ने पहले की छूटों को क्रिया से अर्थात् कार्य के अविवेक से पुनः मर्यादित किया है। तात्पर्य यह है कि अनर्थदण्डविरमणव्रत के ग्रहण से यह मर्यादा की जाती है कि मैं निरर्थक पाप से बचा रहूंगा और "—गृहकार्य मेरे लिये आवश्यक है या नहीं ?, इस काम को करने के बिना भी मेरा जीवन चल सकता है या नहीं ?, यदि नहीं चलता तो विवश मुझे यह काम करना ही पड़ेगा, प्रत्युत इस काम के किए बिना भी यदि मेरा जीवननिर्वाह हो सकता है तो व्यर्थ में उसे क्यों करूं ?, क्यों व्यर्थ में अपनी आत्मा को पाप से भारी बनाऊं ?—" इस प्रकार का विवेक सम्प्राप्त हो जाता है और अणुव्रतों के आगारों की निष्प्रयोजन प्रवृत्तियों को रोका जा सकता है। इस के अतिरिक्त अनर्थदण्डविरमणव्रत के संरक्षण के लिये निम्नलिखित ५ कार्यों का त्याग आवश्यक है—

१—**कन्दर्प**—कामवासना के पोषक, उत्तेजक तथा मोहोत्पादक शब्दों का हास्य या व्यंग्य में दूसरे के लिये प्रयोग करना।

२—**कौत्कुच्य**—आंख, नाक, मुंह, भृकुटि आदि अंगों को विकृत बना कर भांड या विदूषक की भान्ति लोगों को हंसाना। तात्पर्य यह है कि भाण्डचेष्टाओं का करना। प्रतिष्ठित एवं सभ्य लोगों के लिये अनुचित होने से, इन का निषेध किया गया है।

३—**मौखर्य**—निष्कारण ही अधिक बोलना, निष्प्रयोजन और अनर्गल बातें करना, थोड़ी बात से काम चल सकने पर भी व्यर्थ में अधिक बोलते रहना।

४—**संयुक्ताधिकरण**—कूटने, पीसने और गृहकार्य के अन्य साधन जैसे—ऊखल, मूसल आदि वस्तुओं का अधिक और निष्प्रयोजन संग्रह रखना। जिस से आत्मा दुर्गति का भाजन बने उसे अधिकरण कहते हैं अर्थात् दुर्गतिमूलक पदार्थों का परस्पर में संयोग बनाए रखना, जैसे—गोली भर कर बन्दूक का रखना, वह अचानक चल जाए या कोई उसे अनभिज्ञता के कारण चला दे तो वह जीवन के नाश का कारण हो सकती है, इसीलिए संयुक्ताधिकरण को दोषरूप माना गया है।

५—**उपभोगपरिभोगातिरिक्त**—उबटन आंवला, तैल, पुष्प वस्त्र, आभूषण तथा अशन, पान, खादिम और स्वादिम आदि उपभोग्य तथा परिभोग्य पदार्थों को अपने एवं आत्मीय जनों के उपभोग से अधिक रखना। उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत स्वीकार करते समय जो पदार्थ मर्यादा में रखे गये हैं, उन में अत्यधिक आसक्त रहना उन में आनन्द मान कर उन का पुनः २ प्रयोग करना अर्थात् उन का प्रयोग जीवननिर्वाह के लिये नहीं किन्तु स्वाद के लिये करना, जैसे—पेट भरा होने पर भी स्वाद के लिये खाना।

श्रावक जो व्रत ग्रहण करता है वह देश से ग्रहण करता है, सर्व से नहीं। उस में त्याग की पूर्णता नहीं होती। इस लिये उस की त्यागबुद्धि को सिंचन का मिलना आवश्यक होता है। बिना सिंचन के मिले उस का पुष्ट होना कठिन है। इसीलिये सूत्रकार ने अणुव्रतों के सिंचन के लिये तीन गुणव्रतों का विधान किया है। गुणव्रतों के आराधन से श्रावक की आवश्यकताएं सीमित हो जाती हैं और श्रावक पुद्‌गलानन्दी न रह कर मात्र जीवननिर्वाह के लिये पदार्थों का उपभोग करता है तथा जीवन में अनावश्यक प्रवृत्तियों के त्याग के साथ २ आवश्यक प्रवृत्तियों में भी वह निवृत्तिमार्ग के लिये सचेष्ट रहता है, परन्तु उस की उस निवृत्तिप्रधान चेष्टा को सदैव बनाये रखने के लिये और उस में प्रगति लाने के लिये किसी शिक्षक एवं प्रेरक सामग्री की

आवश्यकता रहती है। बिना इस के शिथिलता का होना असंभव नहीं है। इसीलिये सूत्रकार ने ४ शिक्षाव्रतों का विधान किया है। ये चार शिक्षाव्रत पूर्वगृहीत व्रतों को दृढ करने में एवं उन की पालना की तत्परता में सहायक होते हैं। उन चार शिक्षाव्रतों के नाम और उन की व्याख्या निम्नोक्त है

१—**सामायिकव्रत**—जिस के अनुष्ठान में समभाव की प्राप्ति होती है, राग द्वेष कम पड़ता है, विषय और कषाय की अग्नि शान्त होती है, चित्त निर्विकार हो जाता है, सावद्य प्रवृत्तियों को छोड़ा जाता है, तथा सासारिक प्रपंचों की ओर आकर्षित न हो कर आत्मभाव में रमण किया जाता है, उस व्रत अर्थात् अनुष्ठान को **सामायिक व्रत**[1] कहते हैं।

जैनशास्त्रों में सामायिक का बहुत महत्त्व वर्णित हुआ है। सामायिक का यदि वास्तविक रूप साधक के जीवन में आ जाए तो उस का जीवन सुखी एवं आदर्श बन जाता है। सामायिक जीवन भर के लिये भी की जाती है और कुछ समय के लिये भी। कम से कम उस का समय ४८ मिण्ट है। उद्देश्य तो जीवनपर्यन्त ही सावद्य प्रवृत्तियों के त्याग का होना चाहिये, परन्तु यदि यह शक्य नहीं है तो गृहस्थ को कम से कम ४८ मिण्टों के लिये तो अवश्य सामायिक करनी चाहिये। यदि मुहूर्त भर के लिये पापों का त्याग कर लिया जायेगा तो आंशिक लाभ होने के साथ २ इस के द्वारा अहिंसा एवं समता की विराट झांकी के दर्शन अवश्य हो जाएंगे, जो भविष्य में उस के जीवन को जीवनपर्यन्त सावद्य प्रवृत्तियों से अलग रखने का कारण बन सकती है। सामायिक दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को पापमल से हल्का करता है और अहिंसा, सत्यादि की साधना को स्फूर्तिशील बनाता है। अतः जहां तक बने सामायिकव्रत का आराधन अवश्य किया जाना चाहिये और इस सामायिक द्वारा किये जाने वाले पापनिरोध और आत्म-निरीक्षण की अमूल्य निधि को प्राप्त कर परमसाध्य निर्वाणपद को पाने का स्तुत्य प्रयास करना चाहिये। इस के अतिरिक्त सामायिकव्रत के संरक्षण के लिये निम्नोक्त ५ कार्यों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए—

१—**मनोदुष्प्रणिधान**—मन को बुरे व्यापार में लगाना अर्थात् मन का समता से दूर हो जाना तथा मन का सासारिक प्रपञ्चों में दौड़ना एवं अनेक प्रकार के सासारिक कर्मविषयक सकल्पविकल्प करना।

२—**वचोदुष्प्रणिधान**—सामायिक के समय विवेकरहित कटु, निष्ठुर, असभ्य वचन बोलना, तथा निरर्थक या सावद्य वचन बोलना।

३—**कायदुष्प्रणिधान**—सामायिक में शारीरिक चपलता दिखलाना, शरीर से कुचेष्टा करना, बिना कारण शरीर को फैलाना, सिकोडना या बिना पूंजे असावधानी से चलना।

४—**सामायिक का विस्मरण**—मैंने सामायिक की है इस बात का भूल जाना। अथवा कितनी सामायिक की हैं ? यह भूल जाना। अथवा—सामायिक करना ही भूल जाना। तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्य

---

(१) **जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।**
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं॥ (श्री अनुयोगद्वारसूत्र)

अर्थात् जो साधक त्रस स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं॥ (आवश्यकनिर्युक्ति)

अर्थात् जिस की आत्मा संयम में, तप में, नियम में सन्निहित–संलग्न हो जाती है, उसी की शुद्ध सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

को अपने दैनिक भोजनादि का ध्यान रहता है, वैसे उसे दैनिक अनुष्ठान सामायिक को भी याद रखना चाहिये

५—**अनवस्थितसामायिककरण**—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना, सामायिक की व्यवस्था न रखना अर्थात् कभी करना, कभी नहीं करना, यदि की गई है तो उस से ऊबना, सामायिकसमय पूरा हुआ है या नहीं ?, इस बात का बार २ विचार करते रहना, सामायिक का समय होने से पहले ही सामायिक पार लेना आदि।

२—**देशावकाशिक व्रत**—श्रावक के छठे व्रत में दिशाओं का जो परिमाण किया गया है, उस का तथा अन्य व्रतों में की गई मर्यादाओं को प्रतिदिन कम करना। तात्पर्य यह है कि किसी ने आजीवन वर्ष या मासादि के लिये "—मैं पूर्व दिशा में सौ कोस से आगे नहीं जाऊंगा—" यह मर्यादा की है, उस का इस मर्यादा को एक दिन के लिये, प्रहर आदि के लिये और कम कर लेना अर्थात् आज के दिन मैं पूर्व दिशा में दस कोस से आगे नहीं जाऊंगा, इस तरह पहली मर्यादा को सकुचित कर लेना या मर्यादित उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थों में से अमुक का आज दिन के लिये या प्रहर आदि के लिये सेवन नहीं करूंगा, इस भान्ति पूर्वगृहीत व्रतों में रखी मर्यादाओं को दिन भर या दोपहर आदि के लिये मर्यादित करना **देशावकासिक व्रत** कहलाता है।

उपभोग्य और परिभोग्य पदार्थों का २६ बोलों में सग्रह किया गया है, यह पूर्व कहा जा चुका है परन्तु श्रावक के लिये प्रतिदिन चौदह नियमों के चिन्तन या ग्रहण करने की जो हमारी समाज में प्रथा है वह भी इस देशावकासिक व्रत का ही रूपान्तर है। अत. यथाशक्ति उन चौदह नियमों का ग्रहण अवश्य होना चाहिये। इस नियम के पालन से महालाभ की प्राप्ति होती है, उन नियमों का विवरण निम्नोक्त है—

१—**सचित्त**—पृथ्वी, पानी वनस्पति, सुपारी, इलायची, बादाम, धान्य, बीड़ा आदि सचित्त वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग अथवा परिमाण करना चाहिये कि मैं इतने द्रव्य और इतने वज़न से अधिक उपयोग में नहीं लाऊंगा।

२—**द्रव्य**—जो पदार्थ स्वाद के लिये भिन्न २ प्रकार से तैयार किये जाते हैं, उन के विषय में यह परिमाण होना चाहिये कि आज मैं इतने द्रव्यों से अधिक का उपयोग नहीं करूंगा।

३—**विगय**—दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई ये पाच सामान्य विगय हैं। इन पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके उतनों का त्याग कर देना चाहिये, अवशिष्टों की मर्यादा करनी चाहिये।

मधु, मक्खन ये दो विशेष विगय हैं, इन का निष्कारण उपयोग करने का त्याग करना तथा सकारण उपयोग करने की मर्यादा करना। **मद्य और मांस** ये दो महाविगय हैं, इन दोनों का सेवन अधर्ममूलक एव दुर्गतिमूलक होने से सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

४—**पन्नी**—पाव की रक्षा के लिये जो जूते, मोजे, खड़ाऊं, बूट, चप्पल आदि चीज़े धारण की जाती हैं, उन की मर्यादा करना।

५—**ताम्बूल**—जो वस्तु भोजनोपरान्त मुखशुद्धि के लिये खाई जाती है, उन की गणना ताम्बूल में है। जैसे—पान, सुपारी, चूर्ण आदि इन सब की मर्यादा करना।

६—**वस्त्र**—पहनने, ओढने के वस्त्रों की यह मर्यादा करना कि मैं अमुक जाति के अमुक वस्त्रों से अधिक वस्त्र नहीं लूंगा।

७—**कुसुम**—फूल, इत्र (अतर), तेल तथा सुगन्धादि पदार्थों की मर्यादा करना।

८—**वाहन**—हाथी, घोड़ा, ऊंट, गाड़ी, तागा, मोटर, रेल, नाव, जहाज़ आदि सब वाहनों की

मर्यादा करना ।

९—**शयन**—शय्या, पाट, पलग आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

१०—**विलेपन**—शरीर पर लेपन किये जाने वाले केसर, चन्दन, तेल, साबुन, अजन, मञ्जन आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

११—**ब्रह्मचर्य**—स्वदारसन्तोष की मर्यादा को यथाशक्ति सकुचित करना। पुरुष का पत्नीससर्ग के विषय में और स्त्री का पतिसंसर्ग के विषय में त्याग अथवा मर्यादा करना।

१२—**दिशा**—दिक्परिमाणव्रत स्वीकार करते समय आवागमन के लिए मर्यादा मे जो क्षेत्र जीवन भर के लिये रखा है, उस क्षेत्र का भी सकोच करना तथा मर्यादा करना।

१३—**स्नान**—देश या सर्व स्नान के लिये मर्यादा करना। शरीर के कुछ भाग को धोना देश-स्नान है तथा शरीर के सब भागों को धोना सर्वस्नान कहलाता है।

१४—**भक्त**—भोजन, पानी के सम्बन्ध मे मर्यादा करना कि मैं आज इतने प्रमाण से अधिक न खाऊंगा और न पीऊंगा।

कई लोग इन चौदह नियमों के साथ **असि, मसि और कृषि** इन तीनों को और मिलाते हैं। ये तीनों कार्य आजीविका के लिये किये जाते हैं। आजीविका के लिये जो कार्य किये जाते हैं, उन में से पन्द्रह कर्मादानों का तो श्रावक को त्याग होता ही है, शेष जो कार्य रहते हैं उन के विषय में भी यथाशक्ति मर्यादा करनी चाहिये। असि आदि पदों का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

१—**असि**—शस्त्र-औजार आदि के द्वारा परिश्रम कर के अपनी आजीविका चलाना।

२—**मसि**—कलम, दवात, कागज के द्वारा लेख या गणित कला का उपयोग कर के जीवन चलाना।

३—**कृषि**—खेती के द्वारा या उन पदार्थों के क्रयविक्रय से आजीविका चलाना।

देशावकाशिक व्रत की एक व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है, परन्तु इस के अन्य व्याख्यान के दो और भी प्रकार मिलते हैं, जो कि निम्नोक्त हैं—

(१) जिस प्रकार १४ नियमों के ग्रहण करने से स्वीकृत व्रतों से सम्बन्धित जो मर्यादा रखी गई है, उस मे द्रव्य और क्षेत्र मे सकोच किया जाता है, इसी प्रकार ५ अणुव्रतों में काल की मर्यादा नियत कर के एक दिन रात के लिये आस्रवसेवन का त्याग किया जाए, वह भी **देशावकाशिक व्रत** कहलाता है, जिस को आज का जैन ससार **दया** या **छःकाया** के नाम से अभिहित करता है। दया करने के लिये आस्रवसेवन का एक दिन रात के लिये त्याग कर के विरतिपूर्वक धर्मस्थान मे रहा जाता है। ऐसी विरति त्यागपूर्ण जीवन बिताने का अभ्यासरूप है। दया उपवास कर के भी की जा सकती है। यदि उपवास करने की शक्ति न हो तो आयबिल आदि करके भी की जा सकती है। यदि कारणवश ऐसा कोई भी तप न किया जा सके तो एक या एक से अधिक भोजन कर के भी की जा सकती है। साराश यह है कि दया मे जितना तप, त्याग किया जा सके उतना ही अच्छा है।

दया मे किये जाने वाले प्रत्याख्यान जितने करण और योग मे करना चाहे कर सकते हैं। कोई दो करण और तीन योग मे ५ आस्रवसेवन का त्याग करते हैं। उन की प्रतिज्ञा का रूप होगा कि मैं मन, वचन और काया से ५ आस्रवों का सेवन न करूंगा, न दूसरे से कराऊंगा। यह प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति सावद्य कार्य को स्वय न कर सकेगा न दूसरों से करा सकेगा, परन्तु इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाले व्यक्ति के लिए जो वस्तु बनी है, उस का उपयोग करने से उस की वह प्रतिज्ञा नहीं टूटने पाती।

दया को एक करण तीन योग से भी धारण किया जाता है। एक करण तीन योग से ग्रहण करने वाला जो व्यक्ति आस्रव का त्याग करता है वह स्वयं आस्रव नहीं करेगा परन्तु दूसरों से कराता है, तथापि उस का त्याग भग नहीं होता क्योंकि उस ने दूसरे के द्वारा आरम्भ कराने का त्याग नहीं किया।

इसी तरह इस व्रत को स्वीकार करने के लिये जो प्रत्याख्यान किया जाता है वह एक करण और एक योग से भी हो सकता है। ऐसा प्रत्याख्यान करने वाला व्यक्ति केवल शरीर से ही आरम्भ के कार्य नहीं कर सकता। मन वचन से करने, कराने और अनुमोदने का उस ने त्याग नहीं किया, परन्तु यह त्याग बहुत अल्प हैं। इस में आस्रवों का बहुत कम अश त्यागा जाता है।

(२) थोड़े समय के लिये आस्रवों के सेवन का त्याग भी – **देशावकाशिक व्रत**—कहलाता है, आजकल इसे **सम्वर** कहते हैं। **सम्वर** करने वाला व्यक्ति जितने थोड़े समय के लिए उसे करना चाहे कर सकता है। जैसे सामायिक के लिये कम से कम ४८ मिन्ट निश्चित होते हैं, वैसी बात सम्वर के लिये नहीं है। अर्थात् इच्छानुसार समय के लिये आस्रव से निवृत्त होने के लिए सम्वर किया जा सकता है। आज कल देशावकाशिक व्रत चोविहार उपवास न कर के कई लोग प्रासुक पानी का उपयोग करते हैं और इस प्रकार से किये गये देशावकाशिक व्रत को पोषध कहते हैं, परन्तु वास्तव में इस तरह का पौषध देशावकाशिकव्रत ही है। ग्यारहवें (११) व्रत का पौषध तो तब होता है जब चारों प्रकार के आहारों का पूर्णतया त्याग किया जाए और चारों प्रकार के पौषधों को पूरी तरह अपनाया जाये, जो इस तरह नहीं किया जाता प्रत्युत सामान्यरूप से अपनाया जाता है उस की गणना दशम देशावकाशिक व्रत मे ही होती है। इस के अनुसार तप कर के पानी का उपयोग करने अथवा शरीर से लगाने, मलने रूप तेल का उपयोग करने पर दशवा व्रत ही हो सकता है, ग्यारहवा नहीं।

श्रावक अहिंसा, सत्य आदि अणुव्रतों को प्रशस्त बनाने एव उन में गुण उत्पन्न करने के लिये जो दिक्परिमाणव्रत तथा उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत स्वीकार करता है, उस मे अपनी आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार जो मर्यादा करता है, वे जीवन भर के लिये करता है। तात्पर्य यह है कि दिक्परिमाणव्रत और उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत जीवन भर के लिये ग्रहण किये जाते हैं और इसलिये इन व्रतों को ग्रहण करते समय जो छूट रखी जाती है वह भी जीवन भर के लिये होती है, परन्तु श्रावक ने व्रत लेते समय जो आवागमन के लिये क्षेत्र रखा है तथा भोगोपभोग के लिये जो पदार्थ रखे हैं उन सब का उपयोग वह प्रतिदिन नहीं कर पाता, इसलिए परिस्थिति के अनुसार कुछ समय के लिए उस मर्यादा को घटाया भी जा सकता है अर्थात् गमनागमन के मर्यादित क्षेत्र को और मर्यादित उपभोग्य परिभोग्य पदार्थों को भी कम किया जा सकता है। उन का कम कर देना ही देशावकाशिक व्रत का उद्देश्य रहा हुआ है। इस शिक्षाव्रत के आराधन से आरम्भ कम होगा और अहिंसा भगवती की अधिकाधिक सुखद साधना सम्पन्न होगी। अत. प्रत्येक श्रावक को देशावकाशिक व्रत के पालन से अपना भविष्य उज्ज्वल, समुज्ज्वल एव अत्युज्ज्वल बनाने का स्तुत्य प्रयास करना चाहिये। इस के अतिरिक्त देशावकाशिक व्रत के सरक्षण के लिये निम्नोक्त ५ कार्यों का त्याग आवश्यक है—

१—आनयनप्रयोग—दिशाओं का सकोच करने के पश्चात् आवश्यकता उपस्थित होने पर मर्यादित भूमि मे बाहिर रहे हुए पदार्थ किसी को भेज कर मगाना। तात्पर्य यह है कि जहा तक क्षेत्र की मर्यादा की है उस से बाहिर कोई पदार्थ नहीं मगाना चाहिये और तृष्णा का सवरण करना चाहिए। दूसरे के द्वारा मगवाने से प्रथम तो मर्यादा का भग होता है और दूसरे श्रावक जितना स्वयं विवेक कर सकता है उतना दूसरा नहीं कर सकेगा।

२—प्रेष्यप्रयोग—दिशाओं के संकोच करने के कारण व्रती का स्वय तो नहीं जाना परन्तु अपने को मर्यादाभग के पाप से बचाने के विचारों से कोई वस्तु वहा पहुंचाने के लिए नौकर को भेजना। पहले भेद मे आनयन प्रधान है जब कि दूसरे मे प्रेषण।

३—**शब्दानुपात**—मर्यादा में रखी हुई भूमि के बाहिर का कोई कार्य होने पर मर्यादित भूमि में रह कर छींक आदि ऐसा शब्द करना जिस से दूसरा शब्द का आशय समझ कर उस कार्य को कर देवे। इस में शब्द की प्रधानता है।

४—**रूपानुपात**—मर्यादित भूमि से बाहिर कोई कार्य उपस्थित होने पर इस तरह की शारीरिक चेष्टा करना कि जिस से दूसरा व्यक्ति आशय समझ कर उस काम को कर दे।

५—**बाह्यपुद्गलप्रक्षेप**—मर्यादित भूमि से बाहिर कोई प्रयोजन होने पर दूसरे को अपना आशय समझाने के लिए ढेला, कंकर आदि पुद्गलों का प्रक्षेप करना।

३—**पौषधोपवासव्रत**—धर्म को पुष्ट करने वाला नियमविशेष धारण कर के उपवाससहित पौषधशाला मे रहना **पौषधोपवासव्रत** कहलाता है। वह चार प्रकार का होता है। उन चारों के भी पुन देश और सर्व ऐसे दो २ भेद होते हैं। उन सब का नामपूर्वक विवरण निम्नोक्त है—

१—**आहारपौषध**—एकासन, आयबिल करना **देश-आहारत्यागपौषध** है, तथा एक दिन रात के लिए अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग करना **सर्व-आहारत्यागपौषध** कहलाता है।

२—**शरीरपौषध**—उद्वर्तन, अभ्यगन, स्नान, अनुलेपन आदि शरीरसम्बन्धी अलंकार के साधनों मे से कुछ त्यागना और कुछ न त्यागना **देश-शरीरपौषध** कहलाता है तथा दिन रात के लिए शरीर-सम्बन्धी अलकार के सभी साधनों का सर्वथा त्याग करना **सर्व-शरीरपौषध** है।

३—**ब्रह्मचर्यपौषध**—केवल दिन या रात्रि में मैथुन का त्याग करना **देश-ब्रह्मचर्यपौषध** और दिन रात के लिए सर्वथा मैथुन का त्याग कर धर्म का पोषण करना **सर्व-ब्रह्मचर्यपौषध** कहलाता है।

४—**अव्यापारपौषध**—आजीविका के लिए किए जाने वाले कार्यों मे से कुछ का त्याग करना **देश-अव्यापारपौषध** और आजीविका के सभी कार्यों का दिन रात के लिए त्याग करना **सर्व-अव्यापारपौषध** कहलाता है।

इन चारों प्रकार के पौषधों को देश या सर्व से ग्रहण करना ही **पौषधोपवास** कहलाता है। जो पौषधोपवास देश मे किया जाता है वह सामायिक (सावद्यत्याग) सहित भी किया जा सकता है और सामायिक के बिना भी। जैसे—केवल आयबिल आदि करना, शरीरसम्बन्धी अलकार का आंशिक त्याग करना, ब्रह्मचर्य का कुछ नियम लेना या किसी व्यापार का त्याग करना परन्तु पौषध की वृत्ति धारण न करना, इस प्रकार के पौषध (त्याग) दशवें व्रत के अन्तर्गत माने गये हैं प्रत्युत ग्यारहवा व्रत तो चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग सामायिकपूर्ण दिन रात के लिए करने से होता है, उसे ही प्रतिपूर्ण पोषध कहते हैं। प्रतिपूर्ण पौषध का अर्थ सक्षेप में—आठ प्रहर के लिए चारों आहार, मणि, सुवर्ण तथा आभूषण पुष्पमाला, सुगन्धित चूर्ण आदि तथा सकल सावद्य व्यापारों को छोड कर धर्मस्थान मे रहना और धर्मध्यान मे लीन हो कर शुभ भावों के साथ उक्त काल को व्यतीत करना—ऐसे किया जा सकता है।

प्रतिपूर्ण पौषधव्रत के पालक की स्थिति साधुजीवन जैसी होती है। इसीलिए उस में कुरता, कमीज, कोट, पतलून आदि गृहस्थोचित वस्त्र नहीं पहने जाते। पलग आदि पर सोया नहीं जाता और स्नान भी किया नहीं जाता, प्रत्युत कमीज आदि सब उतार कर शुद्ध धोती आदि पहन कर मुख पर मुखवस्त्रिका लगा कर तथा सासारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग रह कर साधुजीवन की भान्ति एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्मचिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र बनाना ही इस व्रत का प्रधान उद्देश्य रहता है। इस के

अतिरिक्त पौषधोपवासव्रत के संरक्षण के लिए निम्नोक्त ५ कार्यों को अवश्य त्याग देना चाहिए—

१—पौषध के समय काम में लिये जाने वाले पाट, बिछौना, आसन आदि की प्रतिलेखना (निरीक्षण) न करना। अथवा मन लगा कर प्रतिलेखना की विधि के अनुसार प्रतिलेखना नहीं करना, तथा अप्रतिलेखित पाट का काम में लाना।

२—पौषध के समय काम में लिये जाने वाले पाट, आसन आदि का परिमार्जन न करना। अथवा विधि से रहित परिमार्जन करना।

प्रतिलेखन और **परिमार्जन** में इतना ही अन्तर होता है कि प्रतिलेखन तो दृष्टि द्वारा किया जाता है, जबकि परिमार्जन रजोहरणी—पूंजनी या रजोहरण द्वारा हुआ करता है, तथा प्रतिलेखन केवल प्रकाश में ही होता है, जबकि परिमार्जन रात्रि को भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कल्पना करो दिन में पाट का निरीक्षण हो रहा है। किसी जीव जन्तु के वहां दृष्टिगोचर होने पर रजोहरणी आदि से उसे यतनापूर्वक दूर कर देना इस प्रकार प्रकाश में प्रतिलेखन तथा परिमार्जन होता है परन्तु रात्रि में अंधकार के कारण कुछ दीखता नहीं तो यतनापूर्वक रजोहरणादि से स्थान को यतनापूर्वक परिमार्जन करना अर्थात् वहां से जीवादि को अलग करना। यही परिमार्जन और प्रतिलेखन में भिन्नता है।

३—शरीरचिन्ता से निवृत्त होने के लिये त्यागे जाने वाले पदार्थों को त्यागने के स्थान की प्रतिलेखना न करना। अथवा उस की भलीभान्ति प्रतिलेखना न करना।

४—मल, मूत्रादि गिराने की भूमि का परिमार्जन न करना, यदि किया भी है तो भली प्रकार से नहीं किया गया।

५—पौषधोपवासव्रत का सम्यक् प्रकार से उपयोगसहित पालन न करना अर्थात् पौषध में आहार, शरीरशुश्रूषा, मैथुन तथा सावद्य व्यापार की कामना करना।

४—**अतिथिसंविभागव्रत** जिस के आने का कोई समय नियत नहीं है जो बिना सूचना दिये, अनायास ही आ जाता है उसे **अतिथि** कहते हैं। ऐसे अतिथि का सत्कार करने के लिये भोजन आदि पदार्थों में विभाग करना **अतिथिसंविभाग व्रत** कहलाता है। **अथवा**—जो आत्मज्योति को जगाने के लिये सांसारिक खटपट का त्याग कर संयम का पालन करते हैं, सन्तोषवृत्ति को धारण करते हैं, उन को जीवननिर्वाह के लिये अपने वास्ते तैयार किये गये १—अशन २—पान, ३—खादिम ४—स्वादिम, ५—वस्त्र, ६—पात्र, ७—कम्बल (जो शीत से रक्षा करने वाला होता है), ८—पादप्रोंछन (रजोहरण तथा रजोहरणी, ९ पीठ (बैठने के काम आने वाले पाट आदि), १०—फलक (सोने के काम आने वाले लम्बे २ पाट), ११—शय्या (ठहरने के लिये घर), १२—संथार (बिछाने के लिये घास आदि), १३—औषध (जो एक चीज़ को कूट या पीस कर बनाई जावे) और १४—भेषज (जो अनेकों के सम्मिश्रण से बनी है) ये चौदह प्रकार के पदार्थ निष्काम बुद्धि के साथ आत्मकल्याण की भावना से देना तथा दान का संयोग न मिलने पर भी सदा ऐसी भावना बनाये रखना **अतिथिसंविभागव्रत** कहलाता है।

भर्तृहरि ने धन की दान भोग और नाश ये तीन गतिएं मानी हैं। अर्थात् धन दान देने से जाता है, भोगों में लगाने से जाता है या नष्ट हो जाता है, जो धन न दान में दिया गया और न भोगों में लगाया गया उस की तीसरी गति होती है अर्थात् वह नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि धन ने जब एक दिन नष्ट हो ही जाना है तो दान के द्वारा क्यों न उस का सदुपयोग कर लिया जाये? इस का अधिक संग्रह करना किसी भी दृष्टि से हितावह नहीं है। अधिक बढ़े हुए धन को नख की उपमा दी जा सकती है। बढ़ा हुआ नख अपने तथा दूसरे के शरीर पर जहां भी लगेगा वहां घाव ही करेगा, इसी प्रकार अधिक बढ़ा हुआ धन अपने को तथा अपने

आसपास के दूसरे साथियों को तंग ही करता है, अशान्ति ही बढ़ाता है। इसलिये बुद्धिमान् बढ़े हुए नाखून को जैसे यथावसर काटता रहता है, इसी भान्ति धन को भी मनुष्य यथावसर दानादि के शुभ कार्यों में लगाता रहे। जैनधर्म धनपरिमाण में धर्म बताता है और उस परिमित धन में से भी नित्यप्रति यथाशक्ति दान देने का विधान करता है। जिस का स्पष्ट प्रमाण श्रावक के बारह व्रतों में बारहवां तथा शिक्षाव्रतों में से चौथा अतिथिसंविभागव्रत है। जो व्यक्ति जैनधर्म के इस परम पवित्र उपदेश को जीवनांगी बनाता है वह सर्वत्र सुखी होता है। इस के अतिरिक्त अतिथिसंविभागव्रत के संरक्षण के लिए निम्नोक्त ५ कार्यों का त्याग कर देना चाहिये :—

१—सचित्तनिक्षेपन—जो पदार्थ अचित्त होने के कारण मुनि - महात्माओं के लेने योग्य हैं उन अचित्त पदार्थों में सचित्त पदार्थ मिला देना। **अथवा** अचित्त पदार्थों के निकट सचित्त पदार्थ रख देना।

२—सचित्तपिधान—साधुओं के लेने योग्य अचित्त पदार्थों के ऊपर सचित्त पदार्थ ढांक देना, अर्थात् अचित्त पदार्थ को सचित्त पदार्थ से ढक देना।

३—कालातिक्रम—जिस वस्तु के देने का जो समय है वह समय टाल देना। काल का अतिक्रम होने पर यह सोच कर दान में उद्यत होना कि अब साधु जी तो लेंगे ही नहीं पर वह यह जानेंगे कि यह श्रावक बड़ा दातार है।

४—परव्यपदेश—वस्तु न देनी पड़े, इस उद्देश्य से वस्तु को दूसरे की बताना। **अथवा** दिये गये दान के विषय में यह संकल्प करना कि इस दान का फल मेरे माता, पिता, भाई आदि को मिले। **अथवा** वस्तु शुद्ध है तथा दाता भी शुद्ध है परन्तु स्वयं न देकर दूसरे को दान के लिये कहना।

५—मात्सर्य—दूसरे को दान देते देख कर उस की ईर्षा से दान देना, अर्थात् यह बताने के लिये दान देना कि मैं उस से कम थोड़े हूं, किन्तु बढ़ कर हूं। **अथवा** मांगने पर कुपित होना और होते हुए भी न देना। **अथवा** कषायकलुषित चित्त से साधु को दान देना।

श्रावक जो व्रत अंगीकार करता है वो सर्व से अर्थात् पूर्णरूप से नहीं किन्तु देश—अपूर्णरूप से स्वीकार करता है। इसलिये श्रावक की आंशिक त्यागबुद्धि को प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है। पांचों अणुव्रतों को प्रोत्साहन मिलता रहे इस लिये तीन गुणव्रतों का विधान किया गया है। उन के स्वीकार करने से बहुत सी आवश्यकताएं सीमित हो जाती हैं। उन का संवर्द्धन रुक जाता है। बहुत से आवश्यक पदार्थों का त्याग कर के नियमित पदार्थों का उपभोग किया जाता है परन्तु यह वृत्ति तभी स्थिर रह सकती है जब कि साधक में आत्मजागरण की लग्न हो तथा आत्मानात्मवस्तु का विवेक हो। एतदर्थ बाकी के चार शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। आत्मा को सजग रखने के लिये उक्त चारों ही व्रत एक सुयोग्य शिक्षक का काम देते हैं। इसलिये इन चारों का जितना अधिक पालन हो उतना ही अधिक प्रभाव पूर्व के व्रतों पर पड़ता है और वे उतने ही विशुद्ध अथच विशुद्धतर होते जाते हैं। सारांश यह है कि श्रावक के मूलव्रत पांच हैं, उन में विशेषता लाने के लिये गुणव्रत और गुणव्रतों में विशेषता प्रतिष्ठित करने के लिये शिक्षाव्रत हैं, कारण यह है कि अणुव्रती को गृहस्थ होने के नाते गृहस्थसम्बन्धी सब कुछ करना पड़ता है। संभव है उसे सामायिक आदि करने का समय ही न मिले तो उस का यह अर्थ नहीं होता कि उस का गृहस्थधर्म नष्ट हो गया। गृहस्थधर्म का विलोप तो पांचों अणुव्रतों के भंग करने से होगा, वैसे नहीं। सो पांचों अणुव्रतों की पोषणा बराबर होती रहे। इसीलिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत आचार्यों ने संकलित किये हैं। वे सातों व्रत भी नितान्त उपयोगी हैं। इसी दृष्टि से अणुव्रतों के साथ इन को परिगणित किया गया है।

—समणे भगवं०—यहां का बिन्दु—महावीरं आइगरं—इत्यादि पदों का परिचायक है । इन पदों का अर्थ ५४३ से ले कर ५४८ तक के पृष्ठों पर लिखा जा चुका है । अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद तृतीयान्त हैं जबकि प्रस्तुत में द्वितीयान्त । विभक्तिगत विभिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है ।

-जहा कूणिए—यथा कूणिक—इस का तात्पर्य यह है कि जिस तरह चम्पा नामक नगरी से महाराज कूणिक बड़ी सजधज के साथ भगवान को वन्दना करने के लिये गये थे, उसी भान्ति महाराज अदीनशत्रु भी हस्तिशीर्ष नगर से बड़े समारोह के साथ भगवान् को वन्दना करने के लिये गये । चम्पानरेश कूणिक के गमनसमारोह का वर्णन श्री औपपातिक सूत्र में किया गया है, पाठकों की जानकारी के लिये उस का सारांश नीचे दिया जाता है—

श्रेणिकपुत्र महाराज कूणिक मगधदेश के स्वामी थे । चम्पानगरी उन की राजधानी थी । एक बार आप को एक सन्देशवाहक ने आकर यह समाचार दिया कि जिन के दर्शनों की आप को सदैव इच्छा बनी रहती है, वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी चम्पानगरी के बाहिर उद्यान में पधार गये हैं । चम्पानरेश इस सन्देश को सुन कर पुलकित हो उठे । सन्देशवाहक को पर्याप्त पारितोषिक देने के अनन्तर स्नानादि से निवृत्त हो तथा वस्त्रालंकारादि से अलंकृत हो कर वे अपने सभास्थान में आये, वहां आकर उन्हों ने सेनानायक को बुलाया और उस से कहा कि हे भद्र ! प्रधान हाथी को तैयार करो तथा घोड़ों, हाथियों रथों और उत्तम योद्धाओं वाली चतुरंगिणी सेना को सुसज्जित करो । सुभद्राप्रमुख रानियों के लिये भी यान आदि बिल्कुल तैयार करके बाहिर पहुंचा दो और चम्पानगरी को हरतरह से स्वच्छ एवं निर्मल बना डालो । जल्दी जाओ और अभी मेरी इस आज्ञा का पालन करके मुझे सूचित करो ।

इस के पश्चात् सेनानायक ने राजा की इस आज्ञा का पालन कर के उन्हें सूचित किया । चम्पानरेश अपनी आज्ञा के पालन की बात जान कर बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर, महाराज कूणिक व्यायामशाला में गये । वहां पर नाना विधियों से व्यायाम करने के अनन्तर शतपाक और सहस्रपाक आदि सुगन्धित तैलों के द्वारा उन्हों ने अस्थि, मांस, त्वचा और रोमों को सुख पहुंचाने वाली मालिश कराई । तदनन्तर स्नानगृह में प्रवेश किया और वहां स्नान करने के पश्चात् उन्हों ने स्वच्छ वस्त्रों और उत्तमोत्तम आभूषणों को धारण किया । तदनन्तर गणनायक—गण का मुखिया, दण्डनायक—कोतवाल, राजा—माण्डलिक (किसी प्रदेश का स्वामी), ईश्वर—युवराज, तलवर—राजा ने प्रसन्न होकर जो पट्टबन्ध दिया है उस से विभूषित, माडम्बिक—मडम्ब (जो बस्ती भिन्न २ हो) के नायक, कौटुम्बिक—कुटुम्बों के स्वामी, मन्त्री-वजीर, महामन्त्री—प्रधानमंत्री, ज्योतिषी—ज्योतिष विद्या के जानने वाले, दौवारिक-प्रतिहारी (पहरेदार), अमात्य—राजा की सारसंभाल करने वाला, चेट-दास, पीठमर्द—अत्यन्त निकट रहने वाला सेवक अथच मित्र, नगर—नागरिक लोग, निगम—व्यापारी, श्रेष्ठी—सेठ, सेनापति—सेना का स्वामी, सार्थवाह—यात्री व्यापारियों का मुखिया, दूत—राजा का आदेश पहुंचाने वाला, सन्धिपाल—राज्य की सीमा का रक्षक—इन सब से सम्परिवृत—घिरे हुए चम्पानरेश कूणिक उपस्थानशाला—सभामंडप में आकर हस्तिरत्न पर सवार हो गये ।

जिस हाथी पर चम्पानरेश बैठे हुए थे उस के आगे आगे—१—स्वस्तिक, २—श्रीवत्स, ३—नन्दावर्त, ४—वर्धमानक, ५—भद्रासन, ६—कलश—घड़ा, ७—मत्स्य, ८—दर्पण—ये आठ मांगलिक पदार्थ ले जाए जा रहे थे । हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना यह चतुरंगिणी सेना उन के साथ थी तथा उन के साथ ऐसे बहुत से पुरुष चल रहे थे जिन के हाथों में लाठियां, भाले धनुष, चामर, पशुओं को बांधने की रज्जुएं, पुस्तकें, फलक—ढालें, आसनविशेष, वीणाएं, आभूषण रखने के डिब्बे अथवा ताम्बूल आदि रखने के डिब्बे थे ।

तथा बहुत से दण्डी—दण्ड धारण करने वाले, मुण्डी मुण्डन कराये हुए, शिखण्डी चोटी रखे हुए, जटी—जटाओं वाले, पिच्छी—मयूरपक्ष लिये हुए, हासकर—उपहास (दुःखद हंसी) करने वाले, डमरकर—लडाई झगड़ा करने वाले, चाटुकर—प्रिय वचन बोलने वाले, वादकर - वाद करने वाले, कन्दर्पकर —कौतूहल करने वाले, दवकर —परिहास (सुखद हंसी) करने वाले, भाण्डचेष्टा करने वाले अर्थात् मसखरे, कीर्तिकर—कीर्ति करने वाले ये सब लोग कविता आदि पढते हुए, गीतादि गाते हुए हंसते हुए नाचते हुए, बोलते हुए और भविष्यसम्बन्धी बातें करते हुए, अथवा राजा आदि का अनिष्ट करने वालों को बुरा भला कहते हुए, राजा आदि की रक्षा करते हुए, उन का अवलोकन देखभाल करते हुए, "—महाराज की जय हो, महाराज की जय हो " इस प्रकार शब्द बोलते हुए यथाक्रम चम्पानरेश कूणिक की सवारी के आगे २ चल रहे थे। इस के अतिरिक्त नाना प्रकार की वेशभूषा और शस्त्रादि से सुसज्जित नानाविध हाथी और घोडे दर्शन—यात्रा की शोभा को चार चांद लगा रहे थे।

वक्षःस्थल पर बहुत से सुन्दर हारों को धारण करने वाले, कुण्डलों से उद्दीप्त—प्रकाशमान मुख वाले, सिर पर मुकुट धारण करने वाले, अत्यधिक राजतेज की लक्ष्मी से दीप्यमान अर्थात् चमकते हुए चम्पानरेश कूणिक पूर्णभद्र नामक उद्यान की ओर प्रस्थित हुए, जिन के ऊपर छत्र किया हुआ था तथा दोनों ओर जिन पर चमर डुलाए जारहे थे एवं चतुरङ्गिणी सेना जिन का मार्गप्रदर्शन कर रही थी। तथा सर्वप्रकार की ऋद्धि से युक्त, समस्त आभरणादिरूप लक्ष्मी से युक्त, सर्वप्रकार की द्युति—सकल वस्त्राभूषणादि की प्रभा से युक्त, सर्व प्रकार के बल—सैन्य से युक्त, सर्वप्रकार के समुदाय —नागरिकों के और राजपरिवार के समुदाय से युक्त, सर्व प्रकार के आदर—उचित कार्यों के सम्पादन से युक्त, सर्व प्रकार की विभूति —ऐश्वर्य से युक्त, सर्वप्रकार की विभूषा—वेषादिजन्य शोभा से युक्त, सर्वप्रकार के संभ्रम —भक्तिजन्य उत्सुकता से युक्त, सर्वपुष्पों, गन्धों सुगन्धित पदार्थों, मालाओं और अलंकारों—भूषणों से युक्त इसी प्रकार [1]महान् ऋद्धि आदि से युक्त चम्पानरेश कूणिक शंख, पटह आदि अनेकविध वादित्रों—बाजों के साथ महान् समारोह के साथ चम्पानगरी के मध्य में से हो कर निकले। इन के सन्मुख दासपुरुषों ने भृंगार—झारी उठा रखी थी, इन्हें उपलक्ष्य कर के दासपुरुषों ने पंखा उठा रखा था, इन के ऊपर श्वेत छत्र किया हुआ था तथा इन के ऊपर छोटे २ चमर डुलाये जा रहे थे।

जब चम्पानरेश चम्पानगरी के मध्य में से हो कर निकल रहे थे तब बहुत से अर्थार्थी -धन की कामना रखने वाले, भोगार्थी—भोग (मनोज्ञ गन्ध रस और स्पर्श) की कामना करने वाले, किल्विषिक—दूसरों की नकल करने वाले नकलिए कारोटिक —भिक्षुविशेष अथवा पानदान को उठाने वाले, लाभार्थी—धनादि के लाभ की इच्छा रखने वाले, कारवाहिक - महसूल से पीडित हुए, शंखिक—चन्दन से युक्त शंखों को हाथों में लिए हुए, चक्रिक—चक्राकार शस्त्र को धारण करने वाले, अथवा कुम्भकार —कुम्हार और तैलिक—तेली आदि, नाङ्गलिक—किसान, मुखमाङ्गलिक—प्रिय वचन बोलने वाले, वर्धमान —स्कन्धों पर उठाए पुरुष, पूष्यमानव—स्तुतिपाठक, छात्रसमुदाय ये सब [2]इष्ट कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोऽम, मनोऽभिराम और हृदयगमनीय वचनों द्वारा, "—महाराज की जय हो, विजय हो —" इस प्रकार के सैकड़ों मंगल वचनों के द्वारा निरन्तर अभिनन्दन—सराहना तथा स्तुति करते हुए इस प्रकार बोलते हैं —

(१) प्रस्तुत में सब प्रकार की ऋद्धि से युक्त आदि विशेषण ऊपर दिये ही जा चुके हैं। फिर महान् ऋद्धि से युक्त आदि विशेषणों की क्या आवश्यकता है ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उस का उत्तर पृष्ठ ५०८ तथा ५०९ की टिप्पण में दिया जा चुका है।

(२) इष्ट, कान्त, प्रिय आदि पदों की व्याख्या पृष्ठ ४८९ पर की जा चुकी है।

हे समृद्धिशाली महाराज ! तुम्हारी जय हो, हे कल्याण करने वाले महाराज ! तुम्हारी विजय हो, आप फूले और फले । न जीते हुए शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें, जो जीते हुए हैं उन का पालन पोषण करें और सदा जीते हुओं के मध्य में निवास करें।

देवों में इन्द्र के समान, असुरों में चमरेन्द्र के समान, नागों में धरणेन्द्र के समान, ताराओं में चन्द्रमा के समान, मनुष्यों में भरत चक्रवर्ती के समान बहुत से वर्षों, बहुत से सैकड़ों वर्षों, बहुत से हजार वर्षों, बहुत से लाखों वर्षों तक निर्दोष परिवार आदि से परिपूर्ण और अत्यन्त प्रसन्न रहते हुए आप उत्कृष्ट आयु का उपभोग करें, इष्ट जनों से सम्परिवृत होते हुए चम्पानगरी का तथा अन्य बहुत से ग्रामों—गावों, आकरों—खानों, नगरों—शहरों, खेटों (जिस का कोट मिट्टी का बना हुआ हो उसे खेट कहते हैं), कर्वटों—छोटी बस्ती के स्थानों, मडम्बों—भिन्न २ बस्ती वाले स्थानों, द्रोणमुखों—जल और स्थल के मार्ग से युक्त नगरों, पत्तना—केवल जल के अथवा स्थल के मार्ग वाले नगरों, आश्रमों—तापस आदि के स्थानों, निगमों—व्यापारियों के नगरों, संवाहों—दुर्गविशेषों जहा किसान लोग सुरक्षा के लिये धान्यादि रखते हैं, सन्निवेशों—नगर के बाहिर के प्रदेशों, जहा आभीर—दूध बेचने वाले लोग रहते हैं अथवा यात्रियों के पड़ाव, इन सब का आधिपत्य,[1] अग्रेसरत्व, भर्तृत्व, स्वामित्व, महत्तरकत्व, आज्ञेश्वरसेनापत्य कराते हुए अथवा स्वयं करते हुए आप बहुत से नाटकों, गीतों, वादित्रों, वीणाओं, तालियों और मेघ जैसी आवाज करने वाले तथा चतुर पुरुषों के द्वारा बजाये गये मृदङ्गों के शब्दों के साथ विशाल भोगों का उपभोग करते हुए विहरण करें—इस प्रकार से कहने के साथ २ "—आप की जय हो, विजय हो—" ऐसे शब्द बोलते थे।

इस के अनन्तर हजारों नेत्रमालाओं—नयनपंक्तियों के द्वारा अवलोकित, हजारों हृदयमालाओं के द्वारा अभिनन्दित—प्रशंसित, हजारों मनोरथमालाओं के द्वारा अभिलषित, हजारों वचनमालाओं के द्वारा अभिस्तुत आप कान्ति और सौभाग्य रूप गुणों को प्राप्त करें। इस भांति प्रार्थित, हजारों नरनारियों की हजारों अंजलिमालाओं को दाहिने हाथ से स्वीकार करते हुए, अति मनोहर वचनों के द्वारा नागरिकों से क्षेम कुशल आदि पूछते हुए, हजारों भवनपंक्तियों को लांघते हुए श्रेणिकपुत्र चम्पानरेश कूणिक चम्पानगरी के मध्य में से निकलते हुए जहा पर पूर्णभद्र उद्यान था वहा पर आए आ कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के थोड़ी दूर रहने पर छत्रादिरूप तीर्थंकरों के अतिशय (तीर्थंकरनामकर्मजन्य विशेषताएं) देख कर प्रधान हाथी को ठहरा कर नीचे उतरते हैं और १—खड्ग—तलवार, २—छत्र, ३—मुकुट, ४—उपानत्—जूता, तथा ५—चमर, इन पाच राजचिह्नों को छोडते हैं, तथा जहा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहा पर पाच प्रकार के अभिगमों[2] के द्वारा उन के सन्मुख उपस्थित होते हैं। तदनन्तर भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना तथा नमस्कार करते हैं, तदनन्तर कायिक, वाचिक और मानसिक उपासना[3] के द्वारा भगवान् महावीर स्वामी की पर्युपासना—भक्ति करते हैं, यह है चम्पानरेश कूणिक का दर्शनयात्रावृत्तान्त जो कि **श्री औपपातिक सूत्र** में बड़े विस्तार के साथ वर्णित हुआ है। प्रस्तुत में इतनी ही भिन्नता है कि वहा हस्तिशीर्षनरेश महाराज अदीनशत्रु पुष्पकरण्डक उद्यान में जाते हैं। नगर, राजा, रानी तथा उद्यानगत भिन्नता के अतिरिक्त अवशिष्ट प्रभुवीरदर्शनयात्रा का वृत्तान्त समान है अर्थात् श्री औपपातिक सूत्र में चम्पानगरी, श्रेणिकपुत्र महाराज कूणिक, सुभद्राप्रमुख रानियों और पूर्णभद्र उद्यान का वर्णन है, जबकि सुबाहुकुमार के इस अध्ययन में हस्तिशीर्ष नगर, महाराज अदीनशत्रु, धारिणीप्रमुख रानियों पुष्पकरण्डक उद्यान का उल्लेख है।

---

(१) आधिपत्य आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ १९८ पर लिखा जा चुका है।
(२) पाच अभिगमों का तथा (३) तीन उपासनाओं का अर्थ पृष्ठ २९ पर लिखा जा चुका है।

तथा "—**सुबाहू वि जहा जमाली तहा रहेणं णिग्गते जाव**—" इस का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दों में "—**येन भगवतीवर्णितप्रकारेण जमाली भगवद्भागिनेयो भगवद्वन्दनाय रथेन निर्गत, अयमपि तेनैव प्रकारेण निर्गत इति, इह यावतकरणादिदं दृश्य—समणस्स भगवओ महावीरस्स छत्ताइच्छत्तं पडागाइपडागं विज्जाचारणे जंभए य देवे ओवयमाणे उप्पयमाणे य पासति, पासित्ता रहातो पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ**—" इत्यादि, इस प्रकार है। अर्थात्—भगवान् के भागिनेय—भानजा जमालि का भगवान् को वन्दना करने के लिए चार घंटों वाले रथ पर सवार हो कर जाने का जैसा वर्णन भगवती सूत्र में किया गया है, ठीक उसी तरह सुबाहुकुमार भी चार घंटों वाले रथ पर सवार हो कर भगवद्वन्दनार्थ नगर से निकला। इस अर्थ के परिचायक—**सुबाहू वि जहा जमाली तहा रहेणं णिग्गते**—ये शब्द हैं और **जाव-यावत्** शब्द —श्रमण भगवान् महावीर के छत्र के ऊपर के छत्र को, पताका के ऊपर की पताकाओं को देख कर विद्याचारण और जृंभक देवो को ऊपर नीचे जाते आते देख कर रथ से नीचे उतरा और उतर कर भगवान् को भावपूर्वक वन्दना नमस्कार किया, इत्यादि भावों का परिचायक है। तात्पर्य यह है कि भगवद्वन्दनार्थ सुबाहुकुमार उसी भाँति गया जिस तरह जमालि गया था। जमालि के जाने का सविस्तर वर्णन भगवती सूत्र (शतक ६, उद्दे० ३३, सू० ३८३) मे किया गया है, परन्तु प्रकरणानुसारी जमालि का संक्षिप्त जीवनपरिचय निम्नोक्त है—

ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर के पश्चिम मे क्षत्रियकुण्डग्राम एक नगर था। वह नगर नगरोचित सभी ऋद्धि, समृद्धि आदि गुणों से परिपूर्ण था। उस नगर मे जमालि नामक क्षत्रियकुमार रहता था। वह धनी, दीप्त—तेजस्वी यावत् किसी से पराभव को प्राप्त न होने वाला था। एक दिन वह अपने उत्तम महल के ऊपर जिस में कि मृदंग बज रहे थे, बैठा हुआ था। सुन्दर युवतियों के द्वारा आयोजित बत्तीस प्रकार के नाटकों द्वारा उस का नर्तन कराया जा रहा था अर्थात् वह नचाया जा रहा था, उस की स्तुति की जा रही थी, उसे अत्यन्त प्रसन्न किया जा रहा था, अपने वैभव के अनुसार प्रावृट्[1], वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म इन छः ऋतुओं के सुख का अनुभव करता हुआ, समय व्यतीत करता हुआ, मनुष्यसम्बन्धी पाच प्रकार के इष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध रूप कामभोगों का अनुभव कर रहा था।

इधर क्षत्रियकुण्डग्राम नगर के [2]शृङ्गाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख—चार द्वारों वाला प्रासाद अथवा देवकुलादि, महापथ और अपथ इन सब स्थानों पर महान् जनशब्द-परस्पर आलापादि रूप, जनव्यूह-जनसमूह, जनबोल—मनुष्यों की ध्वनि अव्यक्त शब्द, जनकलकल—मनुष्यों के कलकल—व्यक्त शब्द, जनोर्मि-लोगों की भीड़, जनोत्कलिका—मनुष्यों का छोटा समुदाय, जनसन्निपात (दूसरे स्थानों से आकर लोगों का एक स्थान पर एकत्रित होना) हो रहे थे, और बहुत से लोग एक दूसरे को सामान्यरूप से कह रहे थे कि भद्रपुरुषो! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जो कि धर्म की आदि करने वाले हैं यावत् सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी हैं, ब्राह्मणकुण्ड-ग्राम नामक नगर के बाहिर बहुशालक नामक उद्यान मे यथाकल्प—कल्प के अनुसार विराजमान हो रहे हैं।

हे भद्रपुरुषो! जिन तथारूप—महाफल को उत्पन्न करने के स्वाभाव वाले, अरिहन्तों भगवन्तों के नाम और गोत्र के सुनने से भी महाफल की प्राप्ति होती है, तब उन के अभिगमन—सन्मुख गमन वन्दन—स्तुति, नमस्कार, प्रतिप्रच्छन—शरीरादि की सुखसाता पूछना और पर्युपासना—सेवा से तो कहना ही क्या? अर्थात् अभिगमनादि का फल कल्पना की परिधि से बाहिर है। इसके अतिरिक्त जब एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन

---

(१) प्रावृट् आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ ५११ पर लिख दिया गया है।

(२) शृंगाटक आदि शब्दों का अर्थ पृष्ठ ६९ पर लिखा जा चुका है।

के श्रवण से महान् फल होता है तब विशाल अर्थ के ग्रहण करने से तो कहना ही क्या ? अर्थात् उस का वर्णन करना शक्य नहीं है । इसलिये हे भद्रपुरुषो ! चलो, और हम सब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की स्तुति करें, उन्हें नमस्कार तथा उन का सत्कार एवं सम्मान करें । भगवान् कल्याण करने वाले हैं, मंगल करने वाले हैं, आराध्यदेव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अत: इन की सेवा करें । भगवान् को की हुई वन्दना आदि हमारे लिये परलोक और इस लोक में हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी, मोक्षप्रद होने के साथ २ सदा के लिये जीवन को सुखी बनाने वाली होगी । इस प्रकार बातें करते हुए बहुत से उग्र—प्राचीन काल के क्षत्रियों की एक जाति जिस की भगवान् श्री ऋषभदेव ने आरक्षक पद पर नियुक्ति की थी, उग्रपुत्र—उग्रक्षत्रियकुमार, भोग—श्री ऋषभदेव प्रभु द्वारा गुरुस्थान पर स्थापित कुल, भोगपुत्र, राजन्य—भगवान श्री ऋषभ प्रभु द्वारा मित्रस्थान पर स्थापित वंश, राजन्यपुत्र, क्षत्रिय, क्षत्रियपुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणपुत्र भट—शूरवीर, भटपुत्र, योधा—सैनिक, योधपुत्र, प्रशास्ता—धर्मशास्त्र के पढने या पढाने वाला, प्रशास्तृपुत्र, मल्लकी—नृपविशेष, मल्लकिपुत्र, लेच्छकि—नृपविशेष, लेच्छकिपुत्र, इन सब के अतिरिक्त और बहुत से राजा, ईश्वर—युवराज, तलवर—परितुष्ट राजा से दिये गये पट्टबन्ध से विभूषित नृप, माडम्बिक—मडम्ब (जिस के चारों ओर एक योजन तक कोई ग्राम न हो) का स्वामी, कौटुम्बिक—कई एक कुटुम्बों का स्वामी, इभ्य—बहुत धनी, श्रेष्ठी-सेठ, सेनापति—सेनानायक; सार्थवाह—संघनायक आदि इन में कई एक भगवान् को वन्दना करने के लिये, कई एक पूजन-आदर, सत्कार, सम्मान, दर्शन, कौतुहल के लिये, कई एक पदार्थों का निर्णय करने के लिये, कई एक अश्रुत पदार्थों के श्रवण और श्रुत के सन्देहापहार के लिये, कई एक जीवादि पदार्थों को अन्वयव्यतिरेकयुक्त हेतुओं, कारणों, व्याकरणों अर्थात् दूसरे के प्रश्नों के उत्तरों को पूछने के लिये, कई एक दीक्षित होने के लिए, कई एक श्रावक के १२ व्रत धारण करने के लिये, कई एक तीर्थंकरों की भक्ति के अनुराग से, कई एक अपनी कुलपरम्परा के कारण वहां जाने के लिये स्नानादि कार्यों से निवृत्त हो तथा अनेकानेक वस्त्राभूषणों से विभूषित हो, कई एक घोड़ों पर सवार हो कर, इसी भाँति कई एक हाथी, रथ, शिविका—पालकी पर सवार हो कर तथा कई एक पैदल ही इस प्रकार उग्रादि पुरुषों के झुण्ड के झुण्डों नाना प्रकार के शब्द तथा अत्यधिक कोलाहल करते हुए क्षत्रिय—कुण्डग्राम नामक नगर के मध्य में से निकलते हैं, निकल कर जहां ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर था और जहां बहुशालक नामक उद्यान था, वहां पहुंचे और भगवान् के छत्रादि रूप अतिशयों को देख कर अपने २ वाहन से नीचे उतरे और भगवान् के चरणों में उपस्थित हुए, वहां वन्दना, नमस्कार करने के पश्चात् यथास्थान बैठ कर भगवान की पर्युपासना करने लगे ।

अपने महल में आनन्दोपभोग करते हुए जमालि ने जब यह कोलाहलमय वातावरण जाना तब उस के हृदय में यह इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि आज क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर में क्या इन्द्र का महोत्सव है ? अथवा स्कन्द—कार्तिकेय, मुकुन्द—वासुदेव अथवा बलदेव, नाग, यक्ष, भूत, कूप, तडाग, नदी, ह्रद, पर्वत, वृक्ष, चैत्य अथवा स्तूप का महोत्सव है ?, जो ये बहुत से उग्रवंशीय, भोगवंशीय आदि लोग स्नान, वस्त्राभूषणादि द्वारा विभूषा किये हुए तथा नाना प्रकार के वाहनों पर आरूढ़ हुए २ एवं अनेकानेक शब्द बोलते हुए क्षत्रियकुण्डग्राम नामक नगर के मध्य में से निकल रहे हैं । इस प्रकार विचार कर उस ने द्वारपाल को बुलाया और उसे बोला कि हे भद्र पुरुष ! आज क्या बात है ?, जो अपने नगर में यह बड़ा कोलाहल हो रहा है ?, क्या आज कोई उत्सव है ? जमालि के इस प्रश्न के उत्तर में वह बोला कि महाराज ! उत्सवविशेष तो कोई नहीं है किन्तु नगर के बाहिर बहुशालक नामक उद्यान में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे हुए हैं । ये लोग उन्हीं के चरणों में अपनी २ भावना के अनुसार उपस्थित होने के लिए जा रहे हैं । द्वारपाल की इस बात को सुन कर जमालि पुलकित हो उठा और उस ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को

बुला कर उन्हें चार घण्टों वाले अश्वयुक्त रथ को शीघ्रातिशीघ्र बिल्कुल तैयार कर के अपने पास उपस्थित कर देने की आज्ञा दी। कौटुम्बिक पुरुषों ने भी जमालि की इस आज्ञा के अनुसार रथ को शीघ्रातिशीघ्र तैयार कर उस के पास उपस्थित कर दिया।

तदनन्तर जमालि कुमार स्नानादि से निवृत्त हो तथा वस्त्राभूषणादि से विभूषित हो कर, जहां रथ तैयार खड़ा था, वहां पहुंचा, वहां पहुंच कर वह चार घण्टों वाले अश्वयुक्त रथ पर चढ़ा तथा सिर के ऊपर धारण किये गये कोरण्ट पुष्पों की माला वाला, छत्रों सहित, महान् योधाओं के समूह से परिवृत वह जमालि क्षत्रिय-कुण्डग्राम नामक नगर के मध्य भाग में से होता हुआ बाहिर निकला, निकल कर जहां ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक नगर का बहुशालक नामक उद्यान था वहां आया, आ कर रथ से नीचे उतरा तथा पुष्प, ताम्बूल, आयुध-शस्त्र तथा उपानत् को छोड़ कर एक वस्त्र से उत्तरासन कर और मुखादि की शुद्धि कर, दोनों हाथों को जोड़ मस्तक पर अंजलि रख कर जहां श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहां आया, आकर उस ने श्री वीर प्रभु को तीन बार आदक्षिणप्रदक्षिणा की तथा कायिक[1], वाचिक एवं मानसिक पर्युपासना द्वारा भगवान् की सेवा भक्ति करने लगा—यह है जमालि कुमार का वीरदर्शनयात्रावृत्तान्त, जिस की सूत्रकार ने सुबाहु-कुमार के वीरदर्शनयात्रावृत्तान्त से तुलना की है। जमालि और सुबाहुकुमार के दर्शनयात्रावृत्तान्त में अधिक साम्य होने के कारण ही सूत्रकार ने सुबाहुकुमार के दर्शनयात्रावृत्तान्त को बताने के लिए जमालि कुमार के दर्शनयात्रावृत्तान्त की ओर संकेत कर दिया है। अन्तर मात्र नामों का है। जैसे जमालि क्षत्रियकुण्डग्राम नगर का निवासी था जबकि सुबाहुकुमार हस्तिशीर्ष नगर का। इसी भांति जमालि कुमार ब्राह्मणकुण्डग्राम नगर के बहुशालक उद्यान में भगवान् महावीर के पधारने आदि का जनकोलाहल सुन कर वहां गया था जबकि श्री सुबाहुकुमार हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पकरण्डक उद्यान में प्रभु के पधारने आदि का जनकोलाहल सुन कर गया था। सारांश यह है कि नामगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है।

"**सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं जाव**"—इस पाठ में दिये गये **जाव—यावत्** इस पद से—**पत्तियामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं एवं रोएमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते!, तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते!, असंदिद्धमेयं भंते!, पडिच्छियमेयं भंते!, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते!, जं णं तुब्भे वदह त्ति कट्टु एवं वयासी**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। **सद्दहामि णं भंते!**—इत्यादि पदों का शब्दार्थ निम्नोक्त है—

हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखता हूं। हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर प्रीति—स्नेह रखता हूं। हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे अच्छा लगता है। हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन को मैं स्वीकार करता हूं। हे भगवन्! जैसा आप ने कहा है, वैसा ही है। हे भगवन्! आप का प्रवचन जैसी वस्तु है उसी के अनुसार है। हे भगवन्! आप का प्रवचन सत्य है। हे भगवन्! आप का प्रवचन सन्देहरहित है। हे भगवन्! आप का प्रवचन इष्ट है। हे भगवन्! आप का प्रवचन बारम्बार इष्ट है। हे भगवन्! आप जो कहते हैं वह इष्ट तथा अत्यधिक इष्ट है—इस प्रकार कह कर सुबाहुकुमार फिर बोले।

—**राईसर० जाव प्पभिइओ**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से—**तलवरमाडंबियकोडुंबि-यसेट्ठिसेणावइसत्थवाह**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। **राजा** प्रजापति को कहते हैं। सेना के नायक का नाम **सेनापति** है। अवशिष्ट **ईश्वर** आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १६५ पर लिखा जा चुका है।

---

(१) **कायिक** आदि त्रिविध पर्युपासना का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ २९ की टिप्पणी में किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे हस्तिशीर्ष नगर के बाहिर पुष्पकरण्डक उद्यान मे भगवान् महावीर स्वामी का पधारना, उन के दर्शनार्थ जनता तथा अदीनशत्रु आदि का आना और उन के चरणों में उपस्थित हो कर सुबाहुकुमार का देशविरति—श्रावकधर्म को अंगीकार करना आदि बातों का उल्लेख किया गया है। अब सूत्रकार आगम सूत्र मे सुबाहुकुमार के रूप लावण्य से विस्मय को प्राप्त हुए भगवान् के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी की जिज्ञासा के विषय में प्रतिपादन करते हैं—

मूल—[1]तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती जाव एवं वयासी—अहो णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे कंते कंतरूवे पिए पियरूवे मणुण्णे मणुण्णरूवे मणामे मणामरूवे सोमे सुभगे पियदंसणे सुरूवे। बहुजणस्स वि य णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे जाव सुरूवे। साहुजणस्स वि य णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्ठे जाव सुरूवे। सुबाहुणा भंते ! कुमारेणं इमा इमारूवा उराला माणुसरिद्धी किण्णा लद्धा ? किण्णा पत्ता ? किण्णा अभिसमन्नागया ? कोवा एस आसी पुव्वभवे ? जाव समन्नागया ?

पदार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय में। **जेट्ठे**—ज्येष्ठ—प्रधान। **अंतेवासी**—शिष्य। **इंदभूती**—इन्द्रभूति। **जाव**—यावत्। **एवं**—इस प्रकार। **वयासी**—कहने लगे। **अहो !**—अहो—आश्चर्य है। **णं**—वाक्यालंकार में है। **भंते !**—हे भगवन् !। **सुबाहुकुमारे**—सुबाहुकुमार। **इट्ठे**—इष्ट। **इट्ठरूवे**—इष्टरूप। **कन्ते**—कान्त। **कन्तरूवे**—कान्तरूप। **पिए**—प्रिय। **पियरूवे**—प्रियरूप। **मणुण्णे**—मनोज्ञ। **मणुण्णरूवे**—मनोज्ञरूप। **मणामे**—मनोम। **मणामरूवे** मनोमरूप। **सोमे**—सोम—सौम्य। **सुभगे**—सुभग। **पियदंसणे**—प्रियदर्शन, और। **सुरूवे**—सुरूप है। **भंते !**—हे भगवन्। **बहुजणस्स वि य णं**—और बहुत से जनों को भी। **सुबाहुकुमारे** सुबाहुकुमार। **इट्ठे जाव**—इष्ट यावत्। **सुरूवे**—सुरूप है। **भंते !** हे भगवन् !। **साहुजणस्स वि य णं**—साधुजनों को भी। **सुबाहुकुमारे**—सुबाहुकुमार। **इट्ठे**—इष्ट। **इट्ठरूवे**—इष्टरूप। **जाव**—यावत्। **सुरूवे**—सुरूप है। **सुबाहुणा**—सुबाहु। **कुमारेणं**—कुमार ने। **भंते !** हे भगवन् !। **इमा**—यह। **एयारूवा**—इस प्रकार की। **उराला**—उदार-प्रधान। **माणुसरिद्धी**—मानवी ऋद्धि। **किण्णा**—कैसे। **लद्धा ?**—उपलब्ध की ?। **किण्णा**—कैसे। **पत्ता ?**—प्राप्त की ? और। **किण्णा**—कैसे। **अभिसमण्णागया ?**—समुपस्थित हुई ?। **को वा**—और कौन। **एस**—यह। **पुव्वभवे**—पूर्वभव में। **आसि**—था। **जाव**—यावत्। **समन्नागया**—मानव ऋद्धि समुपस्थित हुई।

मूलार्थ—उस काल तथा उस समय भगवान के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम अनगार यावत् इस प्रकार कहने लगे—अहो ! भगवन् ! सुबाहुकुमार बालक बड़ा ही इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोम, मनोमरूप, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप—सुन्दर रूप वाला है। भगवन् ! यह सुबाहुकुमार साधुजनों को भी इष्ट, इष्टरूप यावत् सुरूप लगता है।

---

(१) छाया—तस्मिन् काले तस्मिन समये ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्यावदेवमवादीत्—अहो भदन्त ! सुबाहुकुमार इष्ट इष्टरूप कान्तः कान्तरूप प्रियः प्रियरूप मनोज्ञ मनोज्ञरूप मनोम, मनोमरूप, सोम सुभग प्रियदर्शन। बहुजनस्यापि च भदन्त ! सुबाहुकुमार इष्टो यावत् सुरूप। साधुजनस्यापि च भदन्त ! सुबाहुकुमार इष्ट इष्टरूप यावत् सुरूप। सुबाहुना भदन्त ! कुमारेणेयमेतद्रूपा मानुषर्द्धि केन लब्धा ?, केन प्राप्ता ?, केनाभिसमन्वागता ? को वा एष आसीत् पूर्वभवे ? यावत् समन्वागता ?।

भदन्त ! सुबाहुकुमार ने यह अपूर्व मानवी ऋद्धि कैसे उपलब्ध की ?, कैसे प्राप्त की ! और कैसे उस के सम्मुख उपस्थित हुई ! और यह पूर्वभव मे कौन था ? यावत् समृद्धि जिस के सन्मुख उपस्थि हो रही है !

टीका—भगवान के समवसरण—व्याख्यानसभा मे अनेकानेक परमपूज्य साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकायें उपस्थित थी। सुबाहुकुमार के वार्तालाप के समय भी उन मे से अनेकों वहा विद्यमान होंगे। सुबाहुकुमार के सौम्य स्वभाव और आकर्षक मुद्रा को देख कर कौन जाने किस २ के हृदय में किस २ प्रकार की भावनाए उत्पन्न हुई होगीं !, उन सभी का उल्लेख यहा पर नहीं किया गया, परन्तु भगवान् के प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूति जो कि गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं, को वहा बैठे २ जो विचार आए उन का वर्णन यहा पर किया गया है। सुबाहुकुमार की रूपलावण्यपूर्ण भद्र और मनोहर आकृति तथा सौम्य स्वभाव एव मृदु वाणी आदि को देख कर गौतम स्वामी विचारने लगे कि सुबाहुकुमार ने ऐसा कौन सा पुण्य किया है जिस के प्रभाव से इस को इस तरह की लोकोत्तर मानवी ऋद्धि सप्राप्त हुई है !, इसके अतिरिक्त इस की सुदृढ धार्मिक भावना और चारित्रनिष्ठा की अभिरुचि तो इस को और भी पुण्यशाली सूचित कर रही है। उस में एक साथ इतनी विशेषताए बिना कारण नहीं आ सकतीं—इत्यादि मनोगत विचारपरम्परा से प्रेरित हुए गौतम स्वामी ने इस विषय की जिज्ञासा को भगवान् के पास व्यक्त करने का विचार किया और भगवान् से सुबाहुकुमार मे एक साथ उपलब्ध होने वाली विशेषताओं का मूलकारण जानना चाहा। अन्त मे वे भगवान् से बोले—प्रभो ! सुबाहुकुमार इष्ट है, इष्ट रूप वाला है, कान्त है, कान्त रूप वाला है, प्रिय है, प्रिय रूप वाला है, मनोज्ञ है मनोज्ञ रूप वाला है, मनोम है, मनोम रूप वाला है, सौम्य है, सुभग है, प्रियदर्शन और सुरूप है। भगवन् ! सुबाहुकुमार को यह मनुष्य—ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई ?, यह पूर्वभव में कौन था !, इस का नाम क्या था !, गोत्र क्या था ?, इस ने क्या दान दिया था !, कौन सा भोजन खाया था ! क्या आचरण किया था !, किस वीतरागी पुरुष की वाणी को सुन कर इस के जीवन का निर्माण हुआ था !

इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोम, मनोमरूप, सोम, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप इन की व्यापकता के लिए मूल मे बहुजन और साधुजन ये दो पद दिये हैं। इस तरह उक्त इष्ट आदि १४ पदों का इन दो के साथ पृथक् २ सम्बन्ध करने से बहुजन इष्ट, बहुजन इष्टरूप, बहुजन कान्त, बहुजन कान्तरूप—इत्यादि तथा—साधुजन इष्ट साधुजन इष्टरूप, साधुजन कान्त, साधुजन कान्तरूप इत्यादि सब मिला कर २८ भेद होते हैं, इन सब का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

जिस का प्रत्येक व्यापार या व्यवहार अनुकूल हो, वह इष्ट होता है। सुबाहुकुमार का व्यावहारिक जीवन सब को प्रिय होने के नाते वह **बहुजनइष्ट** कहलाया और उस का (सुबाहुकुमार का) धार्मिक जीवन साधुओं को अनुकूल होने के कारण वह **साधुजनइष्ट** बना। जिसे जिस से स्वार्थ होता है अथवा जिस की जिस के प्रति आसक्ति होती है उसे उस का रूप इष्ट प्रतीत होता है, परन्तु सुबाहुकुमार का रूप ऐसा इष्ट नहीं था, इस बात को विस्पष्ट करने के लिए ही यहा साधुजन शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् सुबाहुकुमार का रूप साधुजनों को भी इष्ट था। साधुजन न तो स्वार्थपरायण होते हैं और नाहि आसक्तिप्रिय। फिर भी उन्हें जो रूप इष्ट प्रतीत होता है वह कुछ साधारण नहीं अपितु अलौकिक होता है। उस की इष्टता कुछ विभिन्न ही होती हे।

गौतम स्वामी ने सुबाहुकुमार के रूप को जो इष्ट बतलाया है, उस का आशय यह है कि जो रूप

दूसरों को कल्याणमार्ग में इष्ट प्रतीत हो और जिसे देख कर दर्शक की कल्याणमार्ग की ओर प्रवृत्ति बढ़े, वह रूप इष्ट है। जिस रूप पर दृष्टिपात होते ही पाप कांप उठता है या प्रस्थान कर जाता है और अन्तरंग में दबी हुई विशुद्ध धर्मभावना खिल उठती है, वह रूप इष्टकारी है। इस बात की पुष्टि के लिए पाठकों को अपने पूर्वजों के जीवनवृत्तान्त पर दृष्टिपात करना होगा। एक ओर वल्कलवस्त्रधारी महाराज राम हों और दूसरी ओर अनेक उत्तमोत्तम बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रावण हो, तब इन दोनों में किस का रूप इष्ट है ? सोचिये और विचार करिये कि राम का रूप इष्ट है या रावण का ? विचारक की दृष्टि में राम का रूप ही इष्ट हो सकता है, कारण कि उस में नैतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य है। उस की अपेक्षा रावण के कृत्रिम शारीरिक सौन्दर्य या विभूषा का कुछ भी मूल्य नहीं है। इसी दृष्टि से गौतम स्वामी सुबाहुकुमार के रूप को इष्ट, कान्त और मनोज्ञ शब्दों से विशेषित कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो—बहुजनसमाज को जो प्रिय लगता है, वह इष्ट कहलाता है—यह कह सकते हैं। जिस का रूप देख कर जनसमाज—यह मेरा है, २—कह उठे, पुकार उठे वह इष्टरूप है। इष्टकारी रूप नीतिज्ञता, सुशीलता और धार्मिकता पर निर्भर रहा करता है। जो व्यक्ति जितना नीतिज्ञ, सुशील और धर्मनिष्ठ होगा उस का रूप उतना ही इष्टकारी होता है। इस के विपरीत जिस व्यक्ति के देखने से दर्शक के हृदय में पाप वासनाओं का प्रादुर्भाव हो वह देखने में भले ही सुन्दर मालूम दे परन्तु वह इष्ट या कान्तरूप नहीं कहा जा सकता है।

इष्ट और कान्त में क्या अन्तर है ? इसे भी समझ लेना चाहिये। कोई वस्तु इष्टकारी तो होती है परन्तु वह किसी के लिये इच्छा करने योग्य नहीं भी होती, अथवा देशकाल के अनुसार कमनीय है मगर कभी २ कमनीय नहीं भी रहती। इसे उदाहरण से समझिये—

घी और दूध को लें। घी और दूध इष्टकारी माना जाता है, परन्तु पर्याप्त भोजन कर लेने के पश्चात् क्या कोई उस को चाहता है ? नहीं। उस समय घी, दूध कमनीय नहीं रहता, क्योंकि उस में रुचि का अभाव होता है, उस में रुचि नहीं होती। यह दोष श्री सुबाहुकुमार में नहीं था। वह कभी अरुचिजनक रूप वाला नहीं होता। उस का रूप सदैव आल्हादजनक रहता है। अत: सुबाहुकुमार इष्ट, इष्टरूप, कान्त और कान्त रूप वाला कहा गया है अर्थात् वह इष्टकारी होने के साथ २ सदा कमनीय भी है। इस से इष्ट और कान्त में जो विभिन्नता है, वह स्पष्ट हो जाती है।

इष्ट रूप अनुकूल होता है और कान्त मनोहरता को लिये हुए होता है तथा प्रिय और प्रियरूप का हार्द यह है कि कोई वस्तु इष्ट और कान्त होने पर भी प्रीति के योग्य नहीं होती। उदाहरण के लिये—एक बर्तन में पके हुए आमों का रस और दूसरे में मूंगी की पकी हुई दाल है। क्षुधातुर व्यक्ति के सामने दोनों के उपस्थित किये जाने पर दोनों में भूख को शान्त करने की समान शक्ति होने पर भी वह आम रस को चाहेगा। इसी तरह संसार में इष्ट और कमनीय तो बहुत हैं या होंगे परन्तु मुद्गरूप और आम्ररस में जो अन्तर है वही अन्य सांसारिक मनुष्यों और सुबाहुकुमार में दृष्टिगोचर होता है। जहां अन्य लोगों का रूप किसी को भाता और किसी को नहीं भाता है वहां सुबाहुकुमार सब को प्रिय लगता है। इसी प्रकार मनोज्ञ और मनोज्ञरूप के विषय में भी निम्नलिखित विवेक है—

कई वस्तुएं ऐसी होती हैं, जिन से प्रीति तो होती है परन्तु वे मनोज्ञ नहीं होती अर्थात् उन से मन और इन्द्रियों को शान्ति नहीं मिलती। कोई भोज्य वस्तु ऐसी भी होती है जो इष्ट—कमनीय और प्रिय होने पर भी खाने के पश्चात् विकार उत्पन्न कर देने के कारण मनोज्ञ नहीं रहती। जैसे आमातिसार के रोगी को प्रिय होने पर भी आम का रस हानिप्रद होता है। ज्वर के रोगी को गरिष्ट भोजन स्वादिष्ट होने पर भी अहितकर

होता है। साराश यह है कि ससार में अनेक वस्तुए हैं जो किसी के लिये मनोज्ञ और किसी के लिये अमनोज्ञ होती हैं। एक ही वस्तु मनोज्ञ होने पर भी सब के लिए मनोज्ञ नहीं होती, परन्तु सुबाहुकुमार इस त्रुटि से रहित है। उस का रूप तथा स्वयं वह सब के लिये मनोज्ञ है।

तदनन्तर गोतम स्वामी ने सुबाहुकुमार को मनोम और मनोमरूप कहा है, अर्थात् सुबाहुकुमार लाभदायक और लाभदायक रूप वाला है। इस का तात्पर्य भी स्पष्ट है। कोई वस्तु मनोज्ञ और पथ्य होने पर भी शक्तिप्रद नहीं होती। जिस वस्तु के सेवन मे शरीरगत अस्थियों – हड्डियों को शक्ति मिले, वे मोटी हों, रक्त और चर्बी में पतलापन आवे वे उत्तम होती हैं। इस के विपरीत जो वस्तु शरीरगत अस्थियों हड्डियों में पतलापन पैदा कर के, रुधिर आदि को गाढा बनाती है वह अधम अर्थात् अनिष्टप्रद होती है। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु शरीर के किसी अंग को लाभ पहुंचाती है और किसी को हानि, परन्तु सुबाहुकुमार सभी को लाभ पहुंचाने वाला है, उस के यहां से कोई भी निराश हो कर नहीं लौटता, इसीलिये वह मनोम और मनोमरूप कहलाया।

शीतल—सौम्य प्रकृति वाले को साम कहते हैं। सोम नाम चन्द्रमा का भी है। जिस प्रकार उस की किरणें सब को प्रकाश और शीतलता पहुंचाती हैं, उसी प्रकार सुबाहुकुमार भी अपनी गुणसमृद्धि से सब को सन्तापरहित करने में समर्थ है।

सौभाग्ययुक्त **सुभग** कहलाता है। जिस का रूप—आकृति सौभाग्य प्राप्ति का हेतु हो वह सुभगरूप है। चन्द्रमा देखने में प्रिय होता है, सब में शीतलता का संचार करता है परन्तु उस में सौभाग्यवर्धकता नहीं है। वह भूख के कष्ट को नहीं मिटा सकता किन्तु सुबाहुकुमार में यह त्रुटि भी नहीं थी। वह सब के दुःखों को दूर करने में व्यस्त रहता है, इसलिये वह सुभगरूप है।

उत्तमोत्तम स्वादिष्ट भोजन करना, बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनना और यथारुचि आमोदप्रमोद करना मात्र ही आकर्षक नहीं होता, उस के लिये तो प्रेम और अच्छे स्वभाव की भी आवश्यकता होती है। एतदर्थ ही सुबाहुकुमार के लिए प्रियदर्शन और सुरूप ये दो विशेषण दिये हैं। प्रेम का आदर्श उपस्थित करने वाली दिव्य मूर्ति का **प्रियदर्शन** के नाम से ग्रहण होता है और स्वभाव की सुन्दरता का सूचक **सुरूप** पद है।

भगवान् गोतम के कथन से स्पष्ट है कि श्री सुबाहुकुमार में उपरिलिखित सभी विशेषतायें विद्यमान थीं, वे उसे समस्त जनता का प्यारा कहते हैं। इतना ही नहीं किन्तु साधुजनों को भी प्रिय लगने वाला सुबाहुकुमार को बतला रहे हैं।

जनता तो कदाचित् भय और स्वार्थ से भी प्यार कर सकती है परन्तु साधुओं को किस से भय ? और किस से स्वार्थ ? उन्हें किसी की झूठी प्रशंसा से क्या प्रयोजन ? गौतम स्वामी कहते हैं कि सुबाहुकुमार साधुजनों को भी इष्ट कान्त, प्रिय मनोज्ञ, सौम्य और प्रियदर्शन है। इस से प्रतीत होता है कि वास्तव में ही वह ऐसा था। जो निस्पृह आत्मा आरम्भ से दूर हैं, जिन का मन तृण, मिट्टी मणि और कांचन के लिये समान भाव रखता है, जो कांचन, कामिनी के त्यागी हैं, जिन्हों ने संसार के समस्त प्रलोभनों पर लात मार रखी है, उन्हें भी सुबाहुकुमार इष्ट, कान्त और मनोज्ञ प्रतीत होता है। इस से सुबाहुकुमार की विशिष्ट गुणगरिमा के प्रमाणित होने में कोई भी सन्देह बाकी नहीं रह जाता।

"—इट्ठ—" आदि पदों की व्याख्या श्री अभयदेवसूरि के शब्दों में निम्नोक्त है—

इष्यते स्मेति इष्टः (जो चाहा जाये, वह इष्ट होता है) स च कृतविवक्षितकार्यापेक्षयापि स्यादित्याह—

इष्टरूप -इष्टस्वरूप इत्यर्थः (किसी की चाह उस के विशेष कृत्य को उपलक्षित कर के भी हो सकती है, इस इष्टता के निवारणार्थ इष्टरूप यह विशेषण दिया गया है, अर्थात् उस की आकृति ही ऐसी थी जो इष्ट प्रतीत होती थी) इष्ट इष्टरूपो वा कारणवशादपि स्यादित्यत आह - कान्त -कमनीय, कान्तरूपः -कमनीयरूप, शोभन शोभनस्वभावश्चेत्यर्थ. (इष्टता और इष्टरूपता किसी कारणविशेष मे भी हो सकती है, इस आपत्ति को दूर करने के लिए कान्त आदि पद दिये हैं, कान्त का अर्थ होता है—कमनीय,—सुन्दर और कान्तरूप का अर्थ है— सुन्दर स्वभाव वाला। सुबाहुकुमार की इष्टता मे उस का सुन्दर स्वभाव ही कारण था) एवंविधोऽपि कश्चित् कर्मदोषात् परेषां प्रीतिं नोत्पादयेदित्यत आह -'प्रिय -प्रेमोत्पादक', प्रियरूप.—प्रीतिकारिस्वरूपः (सुन्दर स्वभाव होने पर भी कर्म के प्रभाव से कोई दूसरों म प्रीति उत्पन्न करने मे असमर्थ रह सकता है, इस आशंका के निवारणार्थ प्रिय और प्रियरूप ये विशेषण दिये हैं। प्रेम का उत्पादक प्रिय और जिस का रूप प्रिय - प्रीति का उत्पादक हो उसे प्रियरूप कहते हैं) एवंविधश्च लोकरूढितोऽपि स्यादित्यत आह—मनोज्ञ.—मनसाऽन्तःसंवेदनेन शोभनतया ज्ञायत इति मनोज्ञ. एवं मनोज्ञरूप' (कोई २ लोगों के व्यवहार मे प्रियरूप होता है और वास्तव मे नहीं होता, इस आशंका के निवारणार्थ मनोजादि का प्रयोग किया गया है। आन्तरिक वृत्ति मे जिस की शोभनता अनुभव में आवे वह मनोज्ञ, उस के रूप वाला मनोज्ञरूप कहलाता है) एवंविधश्चैकदापि स्यादित्यत आह " मणामेत्ति " मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुन. संस्मरणतो यः स मनोम , एवं मनोमरूप' (किसी की मनोज्ञता तात्कालिक हो सकती है, यह ऐसा सुबाहुकुमार के विषय में न समझ लिया जाये, एतदर्थ मनोम विशेषण दिया है, जिस की सुन्दरता का स्मरण पुन पुन. — बारंबार किया जाए, वह मनोम और उस के रूप को मनोमरूप कहते हैं) एतदेव प्रपंचयन्नाह—" सोमे" त्ति अरौद्र सुभगो वल्लभः, " पियदंसणे" त्ति प्रेमजनकाकार' किमुक्तं भवति ? ' सुरूवे" त्ति शोभनाकार. सुस्वभावो वेति —(इस पूर्वोक्त सुन्दरता के विस्तार के लिये ही सोम इत्यादि पदों का सन्निवेश किया गया है । रुद्रतारहित व्यक्ति सोम—सौम्य स्वभाव वाला होता है और वल्लभता वाला —इस अर्थ का सूचक सुभगशब्द है, प्रेम का जनक —उत्पादक आकार और उस आकार वाला प्रियदर्शन कहलाता है। सुन्दर आकार तथा सुन्दर स्वभाव वाले को सुरूप कहते ह) एवविधश्चैकजनापेक्षयापि स्यादित्यत आह— ' बहुजणस्स य वि " इत्यादि (सुबाहुकुमार की सुन्दरता, प्रियता और मनोज्ञता आदि गुणमहति—गुणसमूह एक व्यक्ति की अपेक्षा भी मानी जा सकती है ?, इस के निराकरण के लिये बहुजन विशेषण दिया है अर्थात् सुबाहुकुमार किसी एक व्यक्ति को ही प्रिय नहीं था किन्तु बहुत से लोगों को वह प्रिय था) एवंविधश्च प्राकृतजनापेक्षयापि स्यादित्यत आह —" साहुजणस्स य वि " इत्यादि (अनेकों मनुष्यों की प्रियता का अर्थ प्राकृतपुरुषों —साधारण मनुष्यों तक ही सीमित हो, ऐसा भी हो सकता है। इस लिये सूत्रकार ने साधुजन विशेषण दे कर उस का भी निराकरण कर दिया है ।तात्पर्य यह है कि सुबाहुकुमार केवल सामान्य जनता का ही प्रियभाजन नहीं था अपितु साधुजनों को भी वह प्यारा था । साधु शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—१ — विशिष्टप्रतिभाशाली व्यक्ति, २—मुनिजन—त्यागशील या यति लोग। प्रकृत मे ये दोनों ही अर्थ सुसगत हैं।)

सुबाहुकुमार की उक्त रूपविशिष्ट गुणसम्पदा से आकृष्ट हुए गोतम स्वामी उस के चले जाने के अनन्तर भगवान् महावीर से पूछते हैं कि भगवन् ! सुबाहुकुमार ने ऐसा कौन सा पुण्य उपार्जित किया है, जिस के फलस्वरूप इसे इस प्रकार की उदार मानवी ऋद्धि की उपलब्धि—सम्प्राप्ति और समुपस्थिति हुई है ? । गोतम स्वामी के प्रश्नों को टीकाकार के शब्दों में कहे तो— किएणा लद्धा ?,केन हेतुनोपार्जिता?, किएणा

पत्ते ति ? केन हेतुना प्राप्ता—उपार्जिता सती प्राप्तिमुपगता ? । किएणा अभिसमन्नागया ? त्ति—प्राप्तापि सती केन हेतुना आभिमुख्येन सांगत्येन चोपार्जनस्य च पश्चात् भोग्यतामुपगतेति—अर्थात् किस कारण से इस ने उपार्जित की है, और किस हेतु से उपार्जित की हुई को प्राप्त किया है ? तथा उपार्जित और प्राप्त का उपभोग में आने का क्या कारण है ?—"ऐसा कहा जा सकता है। मूल में—"लद्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया"—ये तीन पद दिये हैं, जिन का संस्कृत प्रतिरूप—लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता—होता है। तब लब्धा, प्राप्ता और समन्वागता में जो अन्तर है अर्थात् अर्थविभेद है, उस को समझ लेना भी आवश्यक है। इन की अर्थविभिन्नता को निम्नोक्त एक उदाहरण के द्वारा पाठक समझने का यत्न करें—

कल्पना करो कि किसी मनुष्य को उस के काम के बदले राजा की तरफ से उसे पारितोषिक—इनाम के रूप में कुछ धन देने की आज्ञा हुई। द्रव्य देने वाले खजाची को भी आदेश कर दिया गया, पर अब तक वह पारितोषिक—इनाम उस को मिला नहीं। इस अवस्था में उस इनाम को लब्ध कहेंगे और जिस समय इनाम का वह द्रव्य उस को मिल गया हो, उस के हाथ में आगया हो तब उसे प्राप्त कहेंगे, अर्थात् इनाम देने की आज्ञा तक तो वह लब्ध है और उस के मिल जाने पर वह प्राप्त कहलाता है। यह तो हुआ लब्ध और प्राप्त का भेद। अब "समन्वागत" के अर्थविभेद को देखिये—लब्ध और प्राप्त हुए द्रव्य का उपभोग करना, उसे अपने व्यवहार में लाना अभिसमन्वागत कहलाता है। मानवी ऋद्धि के रूप में इन तीनों का समन्वय इस प्रकार है—मनुष्य शरीर की प्राप्ति के योग्य कर्मों का बांधना तो लब्ध है, और उस शरीर का मिल जाना है—प्राप्त और मनुष्य शरीर को सेवादि कार्यों में लगाना उस का अभिसमन्वागत है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि एक मनुष्य को राजा की तरफ से इनाम देने का हुकम हुआ और खजाने से उसे मिल भी गया, परन्तु बीमार पड़ जाने या और किसी अनिवार्य प्रतिबन्ध के उपस्थित हो जाने से वह उस का उपभोग नहीं कर पाया, उसे अपने व्यवहार में नहीं ला सका, तब उस इनाम का उपलब्ध और प्राप्त होना न होने के समान है। अत: प्राप्त हुए का यथारुचि सम्यक्तया उपभोग करने का नाम ही अभिसमन्वागत है अर्थात् जो भली प्रकार से उपभोग में आ सके उसे अभिसमन्वागत कहते हैं।

पूर्वोपार्जित पुण्य से सुबाहुकुमार को मानवशरीर की पूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है तथा उसे सुरक्षित रखने के साधन भी मिले हैं और वह उस सामग्री का यथेष्ट उपभोग भी कर रहा है। तब इस प्रकार के मानव शरीर में प्रत्यक्षरूप से उपलभ्यमान गुणसहति से आकर्षित हुआ व्यक्ति यदि उस के मूलकारण की शोध के लिए प्रयत्न करे तो वह समुचित ही कहा जाएगा। गौतम स्वामी भी इसी कारण से सुबाहुकुमार की गुणसहति के प्रत्यक्षस्वरूप की मौलिकता को जानने के लिए उत्सुक हो कर भगवान् से पूछ रहे हैं कि हे भगवन्! यह सुबाहुकुमार पूर्वभव में कौन था ? कहां था ? किस रूप में था ? और किस दशा में था ? इत्यादि।

—इन्दभूती जाव एवं—यहां पठित जाव-यावत् पद पृष्ठ १० की टिप्पणी में पढ़े गये—नाम अणगारे गोयमसगोत्तेणं सत्तुस्सेहे—से ले कर—झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—इन पदों का तथा—तए णं से भगवं गोयमे सुबाहुकुमारं पासित्ता जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए, उप्पन्नकोउहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए, समुप्पन्नकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ वंदइ नमंसइ वन्दित्ता नमंसित्ता णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे अभिमुहे विणएणं

पंजलिउडे पज्जुवासमाणे २ – इन पदों का परिचायक है । तए णं से भयवं गोयमे सुबाहुकुमारं– इत्यादि पदों का अर्थ निम्नोक्त है –

सुबाहुकुमार को देखने के अनन्तर भगवान गौतम को उस की ऋद्धि के मूलकारण को जानने की इच्छा हुई और साथ म यह संशय भी उत्पन्न हुआ कि सुबाहुकुमार ने क्या दान दिया था ?, क्या भोजन खाया था ?, कौन सा उत्तम आचरण किया था ?, क्या सुबाहुकुमार ने किसी मुनिराज के चरणों में रह कर धर्म श्रवण किया था या कोई और सुकृत्य किया था, जिस के कारण इन को इस प्रकार की ऋद्धि सम्प्राप्त हो रही है ?, तथा गौतम स्वामी को यह उत्सुकता भी उत्पन्न हुई कि देखें प्रभु वीर सुबाहुकुमार की गुणसम्पदा का मूल – कारण दान बताते हैं या कोई अन्य उत्तम आचरण ?, अथवा जब प्रभुवीर मेरे संशय का समाधान करते हुए अपने अमृतमय वचन सुनावेंगे तब उन के अमृतमय वचन श्रवण करने से मुझे कितना आनन्द होगा ?, इन विचारों से गौतम स्वामी के मानस में कौतूहल उत्पन्न हुआ ।

प्रस्तुत में जो जात, संजात, उत्पन्न तथा समुत्पन्न ये चार पद दिये हैं, इन में प्रथम जात शब्द साधारण तथा संजातशब्द विशेष का, इसी भांति उत्पन्नशब्द भी सामान्य का और समुत्पन्नशब्द विशेष का ज्ञान कराता है । तात्पर्य यह है कि इच्छा हुई, इच्छा बहुत हुई, संशय हुआ, संशय बहुत हुआ, कौतूहल हुआ, बहुत कौतूहल हुआ, इसी भाँति–इच्छा उत्पन्न हुई, बहुत इच्छा उत्पन्न हुई, संशय उत्पन्न हुआ, बहुत संशय उत्पन्न हुआ, कौतूहल उत्पन्न हुआ, बहुत कौतूहल उत्पन्न हुआ–इस सामान्य विशेष की भिन्नता को सूचित करने के लिए ही जात और उत्पन्न शब्द के साथ सम् उपसर्ग का संयोजन किया गया है । जात और उत्पन्न शब्दों में इतना ही अन्तर है कि उत्पन्न शब्द उत्पत्ति का और जात शब्द उस की प्रवृत्ति का संसूचक है । अर्थात् पहले इच्छा, संशय और कौतूहल उत्पन्न हुआ तदनन्तर उस में प्रवृत्ति हुई । इस भाँति उत्पत्ति और प्रवृत्ति का कार्यकारणभाव सूचित करने के लिये जात और उत्पन्न ये दोनों पद प्रयुक्त किये गए हैं । जातश्रद्ध आदि शब्दों का अधिक अर्थसंबन्धी ऊहापोह पृष्ठ १२ ले कर पृष्ठ १७ तक किया गया है । पाठक वहीं पर देख सकते हैं ।

जातश्रद्ध, जातसंशय, जातकौतूहल, संजातश्रद्ध, संजातसंशय, संजातकौतूहल, उत्पन्नश्रद्ध, उत्पन्नसंशय, उत्पन्नकौतूहल, समुत्पन्नश्रद्ध, समुत्पन्नसंशय तथा समुत्पन्नकौतूहल श्री गौतम स्वामी उत्थानक्रिया के द्वारा उठ कर जिस ओर श्रमन् भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उस ओर आते हैं, आकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दक्षिण दिशा से आरम्भ कर के प्रदक्षिणा करके वन्दन करते हैं, नमस्कार करते हैं, नमस्कार कर के बहुत पास, न बहुत दूर इस प्रकार शुश्रूषा और नमस्कार करते हुए विनय से ललाट पर अञ्जलि रख कर भक्ति करते हुए ।

–इट्ठे जाव सुरूवे–यहां पठित जाव-यावत् पद–इट्ठरूवे, कन्ते, कन्तरूवे, पिए, पियरूवे, मणुण्णे, मणुण्णरूवे, मणामे, मणामरूवे, सोमे, सुभगे, पियदंसणे, सुरूवे–इन पदों का तथा–इट्ठरूवे जाव सुरूवे–यहां पठित जाव–यावत पद–कन्ते, कन्तरूवे, पिए, पियरूवे, मणुण्णे, मणुण्णरूवे मणामे, मणामरूवे, सोमे, सुभगे, पियदंसणे–इन पदों का परिचायक है ।

–इमा एयारूवा–इन दोनों का अर्थ वृत्तिकार के शब्दों में–इयं प्रत्यक्षा एतद्रूपा, उपलभ्यमानस्वरूपैव अकृत्रिमेत्यर्थः–इस प्रकार है । अर्थात् यह प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध होने वाली अकृत्रिम–जिस में किसी प्रकार की बनावट नहीं–ऐसी उदार मानवी ऋद्धि सुबाहुकुमार ने कैसे प्राप्त की ?

–को वा एस आसि पुव्वभवे जाव समन्नागया–यहां पठित जाव-यावत् पद से–

किंनामए वा, किं वा गोएणं, कयरंसि वा [1]गामंसि वा, नगरंसि वा, निगमंसि वा, रायहाणीए वा, खेडंसि वा, कव्वडंसि वा, मडंबंसि वा, पट्टणंसि वा, दोणमुहंसि वा आगरंसि वा, आसमंसि वा, संवाहंसि वा, संनिवेसंसि वा, किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा, किं वा किच्चा, किं वा समायरित्ता, कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म सुबाहुकुमारेणं इमा एयारूवा उराला माणुसिड्ढी लद्धा ?, पत्ता ?, अभिसमन्नागया ?—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन पदों का भावार्थ इस प्रकार है—

भगवन्! यह पूर्वभव में कौन था ? इस का नाम और गोत्र क्या था ?, किस ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्वट, मडम्ब, पट्टन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, संवाध तथा किस सनिवेश में कौन सा दान दे कर, क्या भोजन कर, कौन सा आचरण करके, किस तथारूप (विशिष्टज्ञानी) श्रमण या माहन (श्रावक)[2] से एक भी आर्य वचन सुन कर और हृदय मे धारण कर सुबाहुकुमार ने इस प्रकार की यह उदार-महान् मानवी समृद्धि को उपलब्ध किया ? प्राप्त किया और उसे यथारुचि उपभोग्य—उपभोग के योग्य बनाया अर्थात् वह उस के यथेष्टरूप से उपभोग में आरही है ?

इस प्रश्नावली में बहुत सी मौलिक सैद्धान्तिक बातों का समावेश हुआ प्रतीत होता है। अत प्रसगवश उन का विचार कर लेना भी अनुचित नहीं होगा सक्षेप मे गौतम स्वामी के प्रश्नों को आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है—१—यह पूर्वभव म कौन था ?, २—इस का नाम क्या था ?, ३—इस का गोत्र क्या था ?, ४—इस ने क्या दान दिया था ?, ५—इस ने क्या भोजन किया था ?, ६—इस ने क्या कृत्य किया था ?, ७—इस ने क्या आचरण किया था ?, ८—इस ने किस तथारूप महात्मा की वाणी सुनी है, अर्थात् इस ने क्या सुना है ?

इन में नाम और गोत्र का पृथक् २ निर्देश सप्रयोजन है। एक नाम के अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। उन की व्यावृत्ति के लिये गोत्र का निर्देश करना भी परम आवश्यक है। इसी विचार से गौतम स्वामी ने नाम के बाद गोत्र का प्रश्न किया है। गोत्र कुल या वंश की उस सज्ञा को कहते हैं जो उस के मूलपुरुष के अनुसार होती है।

चौथा प्रश्न दान से सम्बन्ध रखता है अर्थात् सुबाहुकुमार ने पूर्वभव में ऐसा कौन सा दान किया था ? जिस के फलस्वरूप उसे इस प्रकार की लोकोत्तर मानवी विभूति की सप्राप्ति हुई है ?, गौतम स्वामी के इस प्रश्न में दान की महानता तथा विविधता प्रतिबोधित की गई है। जैनशास्त्रों मे दस प्रकार के दान प्रसिद्ध हैं। उन का नामनिर्देशपूर्वक अर्थसम्बन्धी ऊहापोह इस प्रकार है—

---

(१) १—ग्रसते बुद्ध्यादीन् गुणान् यदि वा गम्य —शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशाना कराणामिति ग्राम । २—न विद्यते करो यस्मिन् तन्नगरम् । ३—निगम —प्रभूततरवणिग्वर्गवास । ४—राजाधिष्ठान नगरं राजधानी । ५—पांशुप्राकारनिबद्धं खेटम् । ६—क्षुल्लप्राकारवेष्टित कर्वटम् । ७—अर्धगव्यूततृतीयान्तग्रामान्तररहितं मडम्बम् । ८—पट्टन—जलस्थलनिर्गमप्रदेश, (पट्टनं शकटैर्गम्य घोटकै नौभिरेव च । नौभिरेव तु यद्गम्यं पत्तन तत्प्रचक्षते), ९—द्रोणमुख—जलनिर्गमप्रवेश पत्तनमित्यर्थ । १०—आकरो हिरण्याकरादि । ११—आश्रम तापसावसथोपलक्षित आश्रमविशेष । १२—संवाधो यात्रासमागतप्रभूतजननिवेश । १३—सनिवेश:—तथाविधप्राकृतलोकनिवास ।

(राजप्रश्नीयसूत्रे वृत्तिकारो मलयगिरिसूरि)

(२) श्रावक—गृहस्थ को भी धर्मोपदेश—धर्मसम्बन्धी व्याख्यान करने का अधिकार प्राप्त है, यह बात इस पाठ से भलीभान्ति सिद्ध हो जाती है।

१—अनुकम्पादान। २—संग्रहदान। ३—भयदान। ४—कारुण्यदान। ५—लज्जादान। ६—गर्वदान। ७—अधर्मदान। ८—धर्मदान। ९—करिष्यतिदान। १०—कृतदान।

१—किसी दीन दुःखी पर दया करके उस की सहायतार्थ जो दान दिया जाता है उसे [1]अनुकम्पादान कहते हैं। जैसे—भूखे को अन्न, प्यासे को पानी और नंगे को वस्त्र आदि का प्रदान करना।

२—व्यसनप्राप्त मनुष्यों को जो दान दिया जाता है, उसे [2]संग्रहदान कहते हैं। अथवा बिना भेद भाव से किया गया दान संग्रहदान कहलाता है।

३—भय के कारण जो दान दिया जाता है, उसे [3]भयदान कहते हैं। जैसे कि ये हमारे स्वामी के गुरु हैं इन्हें आहारादि न देने से स्वामी नाराज हो जाएगा, इस भय से साधु को आहार देना।

४—किसी प्रियजन के वियोग में या उस के मर जाने पर दिया गया दान कारुण्यदान कहलाता है।

५—लज्जा के वश हो कर दिया गया दान [4]लज्जादान कहलाता है। जैसे—यह साधु हमारे घर आये हैं, यदि इन्हें आहार न देंगे तो अपकीर्ति होगी, इस विचार से साधु को आहार देना।

६—बात पर चढ कर अर्थात् गर्व या अहंकार से जो दान दिया जाता है वह [5]गर्वदान है। जैसे—जोश में आकर एक दूसरे की स्पर्धा में भांड आदि को देना।

७—अधर्म का पोषण करने के लिये जो दान दिया जाता है उसे [6]अधर्मदान कहते हैं। जैसे—विषयभोग के लिये वेश्या आदि को देना या चोरी करवाने अथवा झूठ बुलवाने के लिये देना।

८—धर्म के पोषणार्थ दिया गया दान [7]धर्मदान है। जैसे—सुपात्र को देना। त्यागशील मुनिराजों को धर्म के पोषक समझ कर श्रद्धापूर्वक आहारादि का प्रदान करना।

९—किसी उपकार की आशा से किया गया दान [8]करिष्यतिदान कहलाता है।

१०—किसी उपकार के बदले में किया गया दान [9]कृतदान है। अर्थात् इस ने मुझे पढाया है। इस ने मेरा पालनपोषण किया है इस विचार से दिया गया दान कृतदान कहलाता है। चौथा प्रश्न भगवान गौतम की—दस दानों में से सुबाहुकुमार ने कौनसा दान दिया था ?—इस जिज्ञासा का सूचक है।

पांचवां प्रश्न भोजन से सम्बन्ध रखता है। संसार में दो प्रकार के जीव हैं। एक वे हैं जो खाने के लिये जीते हैं, दूसरे वे जो जीने के लिये खाते हैं। पहली कक्षा के जीवों की भावना यह रहती है कि यह शरीर खाने के लिये बना है और संसार में जितने भी खाद्य पदार्थ हैं सब मेरे ही खाने के लिये हैं, इस लिये

---

(१) कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते। यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवद्दानम् ॥१॥
(२) अभ्युदये व्यसने वा यत्किञ्चिद्दीयते सहायार्थम्। तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥१॥
(३) राजारक्षपुरोहितमधुमुखमावल्लदण्डपाशिषु च। यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम् ॥१॥
(४) अभ्यर्थितः परेण तु यद्दानं जनसमूहमध्यगतः। परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद्भवेद्दानम् ॥१॥
(५) नटनर्तकमुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्यः। यद्दीयते यशोऽर्थं गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥१॥
(६) हिंसानृतचौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्यः। यद्दीयते हि तेषां तज्जानीयादधर्माय ॥१॥
(७) समतृणमणिमुक्तेभ्यो यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्यः। अक्षयमतुलमनन्तं तद्दानं भवति धर्माय ॥२॥
(८) करिष्यति कंचनापकारं ममाऽयमिति बुद्ध्या यद्दानं तत्करिष्यतीति दानमुच्यते।
(९) शतशः कृतोपकारो दत्तं च सहस्रशो ममानेन। अहमपि ददामि किञ्चित्प्रत्युपकाराय तद्दानम् ॥

खाने पीने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखनी चाहिये। इस भावना के लोग न तो भक्ष्याभक्ष्य का विचार करते है और न समय कुसमय को देखते हैं। भोजन की शुद्धता या अशुद्धता का उन्हे कोई ध्यान नहीं रहता। जो लोग भक्ष्य और अभक्ष्य के विवेक से शून्य होते हैं, उन के लिये ही अनेकानेक मूक प्राणियों—पशुपक्षियों का वध किया जाता है, ऐसे [1]मांसाहारी लोग इस बात का बिल्कुल ख्याल नहीं करते कि उन की भोजन-सामग्री कितने अनर्थ का कारण बन रही है ?, वास्तव में देखा जाये तो ससार मे पाप की वृद्धि भूखे मरने वालों की अपेक्षा खाने के लिये जीने वालों ने विशेष की है। यदि भक्ष्याभक्ष्य का कुछ विवेक रखा जाये तो इतना अधिक पाप न फैले। परन्तु इस कक्षा के लोग इन बातों को कहां ध्यान में लाते हैं ? जो लोग जीने के लिये खाते अर्थात् भोजन करते हैं, उन का ध्येय यह नहीं होता कि हम खाकर शरीर को शक्तिशाली बनावें और पापाचरण करें, किन्तु वे इस लिये खाते हैं कि जिस से उन का शरीर टिका रहे और वे उस के द्वारा अधिक से अधिक धर्म का उपार्जन कर सकें। उन को भक्ष्याभक्ष्य का पूरा २ ध्यान रहता है, तथा वे इस बात के लिये सदा चिन्तित रहते हैं कि उन के भोजन के निमित्त किसी जीव को अनावश्यक कष्ट न पहुंचे और वे उस दिन की भी प्रतीक्षा मे रहते हैं कि जिस दिन उन के निमित्त किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके। यद्यपि भोजन दोनों ही करते हैं परन्तु एक पापप्रकृति को बांधता है, जबकि दूसरा पुण्य का बन्ध करता है। इस प्रकार भोजन के लिये जीने वालों का आहार धर्म के स्थान में अधर्म का पोषक होता है और जीने के लिये खाने वालों का आहार पुण्योपार्जन में सहायक होता है। यही दृष्टि गौतम स्वामी के भोजन-सम्बन्धी प्रश्न मे अवस्थित है।

छठा प्रश्न सुबाहुकुमार के कृत्यविषयक है। यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। मानव के प्रत्येक कृत्य-कार्य से दोनों की प्रकृतियों अर्थात् पुण्य और पाप की प्रकृतियों का बन्ध होता है। कर्मबन्ध का आधार मानव की भावना है। मानवीय विचारधारा की शुभाशुभ प्रेरणा से आस्रव सवर और सम्वर आस्रव हो जाता है। वास्तव में देखा जाए तो मानव की बाह्यक्रिया मात्र मे वस्तुतत्त्व का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। आत्मशुद्धि या उस की अशुद्धि की मापादिका मानवीय भावना है। इसी के आधार पर शुभाशुभ कर्मबन्ध की भित्ति प्रतिष्ठित है। सांसारिक कृत्यों-कार्यों से पाप पुण्य इन दोनों का प्रादुर्भाव होता रहता है, परन्तु ज्ञानपूर्वक-विवेक के साथ जिस काम के करने में पुण्यकर्मबन्ध होता है, उसी काम को यदि अज्ञानपूर्वक अर्थात् अविवेक से किया जाये तो उस में पापकर्म का बन्ध होता है। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ उस की उन्नति एव अवनति का कारण बना करती हैं। इस लिए मनुष्य को चाहिये कि किसी भी कार्य को करने से पहले उस की कृत्यता तथा अकृत्यता का विचार कर ले। यदि कार्य कृत्यता से शून्य है तो उसे कभी नहीं करना चाहिये, चाहे कितना भी सकट आ पडे। [2]नीतिकारों ने इस तथ्य का पूरे जोर से समर्थन किया है, अत जीवन को पापजनक प्रवृत्तियों से बचाना चाहिये और धर्मजनक प्रवृत्तियों को अपनाना चाहिये। श्री गौतम स्वामी के प्रश्न का भी यही

(१) मांसाहार धार्मिक दृष्टि से निन्दित है, गर्हित है, अत हेय है, त्याज्य है तथा मनुष्य की प्रकृति के भी प्रतिकूल है आदि बातों का विचार पृष्ठ ३९२ तथा ३९३ पर कर आये हैं।

(२) कर्तव्यमेव कर्तव्य प्राणै कण्ठगतैरपि। अकर्तव्य न कर्तव्य प्राणै कण्ठगतैरपि ॥

अर्थात्—जब प्राण कण्ठ में आ जावें तब भी अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये, उस समय भी कर्तव्य को छोडना उचित नहीं है। इसके विपरीत चाहे प्राण कण्ठ में आ जावें तब भी अकर्तव्य कर्म का आचरण नहीं करना चाहिये। साराश यह है कि कर्तव्यनिष्ठा मे जीवनोत्सर्ग कर देना अच्छा है, परन्तु अक—र्तव्य—अकृत्य को कभी भी जीवन में नहीं लाना चाहिये।

अभिप्राय है कि सुबाहुकुमार ने विशुद्ध मनोवृत्ति से ऐसा कौन सा पुण्यजनक कृत्य किया ? जिस के कारण आज वह प्रत्यक्षरूप में जगद्वल्लभ बना हुआ है ?

सातवां प्रश्न उस के समाचरण —शीलसम्बन्धी है। अर्थात् सुबाहुकुमार ने ऐसे कौन से शीलव्रत का आराधन या अनुष्ठान किया है, जिस के प्रभाव से उस को ऐसी सर्वोच्च मानवता की प्राप्ति हुई है ? आजकल शील शब्द का व्यवहार बहुत सकुचित अर्थ में किया जाता है। उस का एक मात्र अर्थ पुरुष के लिए स्त्री-संसर्ग का त्याग ही समझा जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उस की अर्थपरिधि इस से बहुत अधिक व्यापक है। "स्त्रीसंसर्ग का त्याग" यह शील का मात्र एक आंशिक अर्थ है। इस से अतिरिक्त अर्थों में भी वह व्यवहृत होता है। समुच्चयरूप से उस का अर्थ निषिद्ध बुरे कामों से निवृत्त होना और विहित—अच्छे कामों में प्रवृत्ति करना है। अर्थात् शास्त्रगर्हित हिंसा झूठ, चोरी, व्यभिचार, द्यूत और मदिरापानादि से निवृत्त होना और शास्त्रानुमोदित—अहिंसा, सत्य अस्तेय और स्वस्त्रीसन्तोष एवं सत्संग और शास्त्रस्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति करना शील कहलाता है। परस्त्रीत्याग और स्वस्त्रीसन्तोष तो शील के अनेक अर्थों में से दो हैं। इतना मात्र आचरण करने वाला शीलव्रत के मात्र एक अंग का आराधक माना जा सकता है, सम्पूर्ण का नहीं।

गौतम स्वामी का आठवां प्रश्न श्रवण के सम्बन्ध में है। अर्थात् उस ने ऐसे कौन से कल्याणकारी वचनों का श्रवण किया है जिन के प्रभाव से उस को इस प्रकार की लोकोत्तर कीर्ति का लाभ एवं सम्प्राप्ति हुई है। इस कथन से त्यागशील धर्मपरायण मुनिजनों या गुरुजनों का बड़ा महत्त्व प्रदर्शित होता है, कारण कि धर्मगुरुओं के मुखारविन्द से निकला हुआ धर्मोपदेश जितना प्रभावपूर्ण होता है और उस का जितना विलक्षण असर होता है उतना प्रभावशाली सामान्य पुरुषों का नहीं होता। आचरणसम्पन्न व्यक्ति के एक वचन का श्रोता पर जितना असर होता है, उतना आचरणहीन व्यक्ति के निरन्तर किए गए उपदेश का भी नहीं होता। तपोनिष्ठ त्यागशील गुरुजनों की आत्मा धर्म के रंग में निरन्तर रंगी हुई रहती है, उन के वचनों में अलौकिक सुधा का सम्मिश्रण होता है, जिस के पान से श्रोतृवर्ग की प्रसुप्त हृदयतन्त्री में एक नए ही जीवन का नाद प्रतिध्वनित होने लगता है। वे आत्मशक्ति से ओतप्रोत होते हैं। जिन के वचनों में आत्मिक शक्ति का मार्मिक प्रभाव नहीं होता, वे दूसरों को कभी प्रभावित नहीं कर सकते। उन का तो वक्ता के मुख से निकल कर श्रोताओं के कानों में विलीन हो जाना, इतना मात्र ही प्रभाव होता है। इसलिए चारित्रशील व्यक्तियों से प्राप्त हुआ सारगर्भित सदुपदेश ही श्रोताओं के हृदयों को आलोडित करने तथा उन के प्रसुप्त आत्मा को प्रबुद्ध करने में सफल हो सकता है।

हाथी का दान्त जब उस के पास अर्थात् मुख में होता है, तो वह उस से नगर के मजबूत से मजबूत किवाड़ को भी तोड़ने में समर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि हाथी के मुख में लगा हुआ दान्त इतना शक्ति-सम्पन्न होता है कि उस से दृढ किवाड भी टूट जाता है, पर वह दान्त जब हाथी के मुख से पृथक् हो कर, खराद पर चढ चूड़े का रूप धारण कर लेता है तब वह सौभाग्यवती महिलाओं के करकमलों की शोभा बढाने के अतिरिक्त और कुछ भी करने लायक नहीं रहता। उस में से वह उग्रशक्ति विलुप्त हो जाती है। यही दशा धर्मप्रवचन या धर्मोपदेशक की है। चारित्रनिष्ठ त्यागशील गुरुजनों का प्रवचन हाथी के मुख में लगे हुए दान्त के समान होता है और स्त्रियों के हाथ में पहने हुए दान्त के चूड़े के समान चारित्ररहित सामान्य पुरुषों का प्रवचन होता है। एक अपने अन्दर उग्रशक्ति रखता है, जबकि दूसरा केवल शोभा मात्र है। सुबाहुकुमार पूर्वभव में किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रवचन से मार्मिक बोध को प्राप्त कर के तदनुसार आचरण

करता हुआ पुनीत होता है। इस का निश्चय उन के ऐहिक मानवी वैभव से होता है।

विशिष्ट बोधसम्पन्न व्यक्ति की दृष्टि मे आत्मा की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता है। अर्थात् "किसी समय मे उस की उत्पत्ति हुई होगी और किसी समय उस का विनाश होगा" इस साधारणजनसमत अतात्विक कल्पना को उन के हृदय में कोई स्थान नहीं होता। वे जानते हैं कि कोई पुरुष पुराने वस्त्र को त्याग नवीन वस्त्र धारण करने पर नया नहीं हो जाता, उसी प्रकार नवीन शरीर ग्रहण कर लेने पर आत्मा भी नहीं बदलता। आत्मा की सत्ता त्रैकालिक है। वह आदि, अन्त हीन और काल की परिधि से बाहिर है। शरीर उत्पन्न होते हैं और विनष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु शरीरी—आत्मा अविनाशी है। वह नानाविध आभूषणों में व्याप्त सुवर्ण की भाँति ध्रुव है। इस अबाधित सत्य को ध्यान में रखते हुए सुबाहुकुमार के पूर्वभव की पृच्छा की गई है। तथा "किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा"—इत्यादि अनेकविध प्रश्नों का तात्पर्य यह है कि ये सभी पुण्योपार्जन के साधन हैं। इन में से किसी का भी सम्यग् अनुष्ठान पुण्यप्रकृति के बन्ध का हेतु हो सकता है, परन्तु सुबाहुकुमार ने इन में से किस का आराधन किया था ? यही प्रस्तुत में प्रष्टव्य है।

प्रस्तुत सूत्र में सुबाहुकुमार को देख कर गौतम स्वामी के विस्मित होने तथा उसे प्राप्त हुई मानवी ऋद्धि का मूलकारण पूछते हुए उस के पूर्वभव की जिज्ञासा करने आदि का वर्णन किया है। इस के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ फरमाया अब सूत्रकार उस का प्रतिपादन करते हैं—

मूल—[1]एवं खलु गोतमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णामं णगरे होत्था, रिद्ध० । तत्थ णं हत्थिणाउरे णगरे सुमुहे णामं गाहावती परिवसति अड्ढे० । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसा णामं थेरा जातिसंपन्ना जाव पंचहिं समणसतेहिं सद्धिं संपरिवुडा पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा जेणेव हत्थिणाउरे णगरे जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छन्ति उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं धम्मघोसाणं थेराणं अन्तेवासी सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणगंसि पढमपोरिसीए सज्झायं करेति, जहा गोयमसामी तहेव सुहम्मे थेरे आपुच्छति, जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावतिस्स गिहं अणुपविट्ठे ।

(१) छाया—एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे हस्तिनापुरं नाम नगरमभूद्, ऋद्ध० । तत्र हस्तिनापुरे नगरे सुमुखो नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्य० । तस्मिन् काले तस्मिन् समये धर्मघोषा नाम स्थविरा जातिसम्पन्ना यावत् पञ्चभिः श्रमणशतैः सार्द्धं संपरिवृता पूर्वानुपूर्वी चरन्तो ग्रामानुग्रामं द्रवन्तो यत्रैव हस्तिनापुरं नगरं यत्रैव सहस्राम्रवणमुद्यानं तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य यथाप्रतिरूपमवग्रहमवगृह्य संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति । तस्मिन् काले तस्मिन् समये धर्मघोषाणां स्थविराणामन्तेवासी सुदत्तो नाम अनगारः उदारो यावत् तेजोलेश्यो मासमासेन क्षममाणो विहरति । ततः स सुदत्तोऽनगारो मासक्षमणपारणके प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं करोति, यथा गौतमस्वामी तथैव सुधर्मणः स्थविरात् आपृच्छति यावदटन् सुमुखस्य गाथापतेर्गृहमनुप्रविष्टः ।

पदार्थ—एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। गोतमा !—हे गौतम ! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय। इहेव—इसी। जंबुद्दीवे दीवे—जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत। भारहे—भारत। वासे—वर्ष में। हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर। णामं—नाम का। णगरे—नगर। होत्था—था, जो कि। रिद्ध०—ऋद्ध—भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित—स्वचक्र और परचक्र के भय से मुक्त और समृद्ध—धनधान्यादि से परिपूर्ण था। तत्थ णं—उस। हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर। णगरे—नगर में। सुमुहे—सुमुख। णामं—नाम का। गाहावती—गाथापति—गृहस्थ। परिवसति—रहता था, जोकि। अड्ढे०—बड़ा धनी यावत् अपने नगर में बड़ा प्रतिष्ठित माना जाता था। तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय। धम्मघोसा—धर्मघोष। णाम—नाम के। थेरा—स्थविर। जातिसंपन्ना—जाति-सम्पन्न-श्रेष्ठ मातृपक्ष वाले। जाव—यावत्। पंचहिं—पांच। समणसतेहिं—सौ श्रमणों के। सद्धिं—साथ। संपरिवुडा—सम्परिवृत। पुव्वाणुपुव्विं—पूर्वानुपूर्वी—क्रमशः। चरमाणा—विचरते हुए। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में। दूइज्जमाणा—गमन करते हुए। जेणेव—जहां। हत्थिणाउरे—हस्तिनापुर। णगरे—नगर था, और। जेणेव—जहां पर। सहस्संबवणे—सहस्राम्रवन नामक। उज्जाणे—उद्यान था। तेणेव—वहां पर। उवागच्छंति—आते हैं। उवागच्छित्ता—आकर। अहापडिरूवं—यथाप्रतिरूप-अनगारधर्म के अनुकूल। उग्गहं—अवग्रह-आश्रय-वस्ती को। उग्गिण्हित्ता—ग्रहण कर। संजमेणं—संयम, और। तवसा—तप के द्वारा। अप्पाणं—आत्मा को। भावेमाणे—भावित करते हुए। विहरंति—विचरण करते हैं। तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय में। धम्मघोसाणं—धर्मघोष। थेराणं—स्थविरों के। अन्तेवासी—शिष्य। सुदत्ते—सुदत्त। नाम—नामक। अणगारे—अनगार। उराले—उदार-प्रधान। जाव—यावत्। तेउलेस्से—तेजोलेश्या को संक्षिप्त किये हुए। मासंमासेणं—एक २ मास का। खममाणे—क्षमण—तप करते हुए अर्थात् एक मास के उपवास के बाद पारणा करने वाले। विहरति—विहरण कर रहे थे। तते णं—तदनन्तर। से—वह। सुदत्ते—सुदत्त। अणगारे—अनगार। मासक्खमणपारणगंसि—मासक्षमण के पारणे में। पढमपोरिसीए—प्रथमपौरुषी में। सज्झायं—स्वाध्याय। करेति—करते हैं। जहा—यथा। गोयमसामी—गौतमस्वामी। तहेव—तथैव। धम्मघोसे—धर्मघोष। थेरे—स्थविर को। आपुच्छति—पूछते हैं। जाव—यावत् भिक्षार्थ। अडमाणे—भ्रमण करते हुए उन्होंने। सुमुहस्स—सुमुख। गाहावतिस्स—गाथापति के। गिहं—घर में। अणुपविट्ठे—प्रवेश किया अर्थात् भ्रमण करते हुए सुमुख गाथापति के घर में प्रविष्ट हुए।

मूलार्थ—इस प्रकार निश्चय ही हे गौतम ! उस काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में हस्तिनापुर नाम का एक ऋद्ध, स्तिमित तथा समृद्ध नगर था। वहां सुमुख नाम का एक धनाढ्य गाथापति रहता था जोकि यावत् नगर का मुखिया माना जाता था।

उस काल और उस समय जातिसम्पन्न यावत् पांच सौ श्रमणों से परिवृत हुये धर्मघोष नामक स्थविर क्रमपूर्वक चलते हुए और ग्रामानुग्राम विचरते हुए हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्रवन नामक उद्यान में पधारे। वहां यथाप्रतिरूप अवग्रह-वस्ती को ग्रहण कर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विहरण करने लगे।

उस काल और उस समय श्री धर्मघोष स्थविर के अन्तेवासी—शिष्य उदार यावत् तेजोलेश्या को संक्षिप्त किये हुए सुदत्त नाम के अनगार मासिक क्षमण—तप करते हुए विहरण कर रहे थे, साधुजीवन बिता रहे थे। तदनन्तर सुदत्त अनगार मासक्षमण के पारणे में पहले पहर में स्वाध्याय

करते हैं। जैसे गौतमस्वामी प्रभु वीर से पूछते हैं वैसे ही ये श्री धर्मघोष स्थविर से पूछते हैं, यावत् भिक्षा के लिये भ्रमण करते हुए उन्हों ने सुमुख गाथापति के घर मे प्रवेश किया।

टीका—श्री गौतम अनगार के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सुबाहुकुमार के पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाना आरम्भ करते हुए काल और समय इन दोनों का कथन किया है। इस मे स्पष्ट सिद्ध है कि ये दोनों अलग २ पदार्थ हैं। जैसे—लोक में व्यापारी लोग खाते में सम्वत् और मिति दोनों का उल्लेख करते हैं। उस में केवल सम्वत् लिख दिया जाये और मिति न लिखी जाये तो वह वहीखाता प्रामाणिक नही माना जाता, उस की प्रामाणिकता के लिये दोनों का उल्लेख आवश्यक होता है। वैसे ही सूत्रकार ने काल और समय दोनों का प्रयोग किया है। काल शब्द सम्वत् के स्थानापन्न है और समय मिति के स्थान का पूरक है। तब उस काल और समय का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि इस अवसर्पिणी के चतुर्थकाल—चौथे आरे मे और उस समय जब कि सुबाहुकुमार सुमुख गाथापति के भव से इस भव में आया था।

जब तक स्थान को न जान लिया जावे तब तक उस स्थान पर होने वाली किसी भी घटना का स्वरूप भलीभाँति जाना नहीं जा सकता। इसलिए स्थान का निर्देश करना नितान्त आवश्यक होता है, फिर भले ही वह कही हो या कोई भी हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जम्बूद्वीपान्तर्गत भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नगर हस्तिनापुर का उल्लेख किया गया है।

हस्तिनापुर बहुत प्राचीन नगर है। भारतवर्ष के इतिहास मे इस को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह नगर पहले भगवान् शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ की राजधानी बना रहा है। फिर पाण्डवों की राजधानी का भी इसे गौरव प्राप्त रहा है। यहा पर अनेक तीर्थंकरों के कल्याणक हुए और हमारे चरितनायक सुबाहुकुमार के जीव ने भी अपने को सुबाहुकुमार के रूप में जन्म लेने की योग्यता का सम्पादन इसी नगर में किया था। सभवत इसी कारण प्राचीन हस्तिनापुर सुदूर पूर्व से लेकर आजतक भारत का भाग्यविधाता बना रहा है। इसी हस्तिनापुर में सुबाहुकुमार अपने पूर्वभव में सुमुख गाथापति के नाम से विख्यात था।

सुमुख—जिस का मुख नितान्त सुन्दर हो, जिस के मुख से प्रिय वचन निकले, अर्थात् जिस के मुख से अश्लील, कठोर, असत्य और अप्रिय वचनों के स्थान में सभ्य, कोमल, सत्य और प्रिय वचनों का निस्सरण हो, वह सुमुख कहा वा माना जाता है।

गाथापति—गाथा नाम घर का है, उस का पति—सरक्षक गाथापति—गृहपति कहलाता है। वास्तव मे प्रतिष्ठित गृहस्थ का ही नाम **गाथापति** है।

सुमुख गाथापति आढ्य—सम्पन्न, दीप्त—तेजस्वी और अपरिभूत था अर्थात् नागरिकों में उस का कोई पराभव—तिरस्कार नही कर सकता था। तात्पर्य यह है कि धनी, मानी होने के साथ २ वह आचरण-सम्पन्न भी था। इसलिये उस का तिरस्कार करने का किसी में भी साहस नही होता था। सुमुख गाथापति पूरा २ सदाचारी था, अतएव अपरिभूत था।

धन, धान्य की प्रचुरता से किसी मनुष्य का महत्त्व नही बढ़ता। उस की प्रचुरता तो कृपण और दुःशील के पास भी हो सकती है। सुमुख का घर धन, धान्यादि से भरपूर था, मगर उस की विशेषता इस बात मे थी कि उस का धन परोपकार में व्यय होता था। दीपक अपने प्रकाश से स्वय लाभ नहीं उठाता। वह जलता है तो दूसरों को प्रकाश देने के लिये ही। सुमुख गाथापति भी दीपक की भाँति अपने वैभव का विशेषरूप से दूसरों के लिये ही उपयोग करता था। उस की वदान्यता—दानशीलता देश देशान्तरों में प्रख्यात थी। उस की धनसम्पत्ति का विशेष भाग अनुकम्पादान और सुपात्रदान मे ही होता था।

धर्मघोष - सहस्राम्रवन नामक उद्यान मे ५०० शिष्यपरिवार के साथ पधारने वाले आचार्यश्री का धर्मघोष, यह गुणसम्पन्न नाम था। धर्मघोष का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—धर्म की घोषणा करने वाला। तात्पर्य यह है कि जिस के जीवन का एक मात्र उद्देश्य धर्म की घोषणा करना, धर्म का प्रचार करना हो, वह धर्मघोष कहा जा सकता है। उक्त आचार्यश्री के जीवन मे यह अर्थ अक्षरशः संघटित होता है और उन की गुणसम्पदा के सर्वथा अनुरूप है।

स्थविर—स्थविर शब्द का अर्थ सामान्यरूप मे वृद्ध-बूढा या बड़ा होता है। प्रकृत में इस का "-वृद्ध या बड़ा साधु —" इस अर्थ मे प्रयोग हुआ है। [1]आगमों मे तीन प्रकार के स्थविर बतलाये गए हैं —**जातिस्थविर सूत्र-श्रुतस्थविर और पर्यायस्थविर**। साठ वर्ष की आयु वाला जातिस्थविर श्री स्थानाग और समवायांग का पाठी—जानकार सूत्रस्थविर और बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला पर्यायस्थविर कहलाता है। यद्यपि धर्मघोष अनगार मे इन तीनों में से कौन सी स्थविरता थी? इस का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में नहीं और नाहिं टीका मे है, तथापि सूत्रगत वर्णन मे उन में उक्त तीनो ही प्रकार की स्थविरता का होना निश्चित होता है। पाच सो शिष्य परिवार के साथ विचरने वाले महापुरुष में आयु, श्रुत और दीक्षापर्याय इन तीनों की विशिष्टता होनी ही चाहिये। इस के अतिरिक्त जैनपरम्परा के अनुसार स्थविरों को तीर्थंकरों के अनुवादक कहा जाता है। तीर्थंकर देव के अर्थरूप संभाषण को शाब्दी रचना का रूप देकर प्रचार में लाने का काम स्थविरों का होता है। गणधरों या स्थविरों को यदि तीर्थंकरों के अमात्य – प्रधानमंत्री कहा जाए तो अनुचित न होगा। जैसे, राजा के बाद दूसरे स्थान पर प्रधानमंत्री होता है, उसी प्रकार तीर्थंकरों के बाद दूसरे स्थान पर [2]स्थविरों की गणना होती है, और जैसे राज्यसत्ता को क़ायम तथा प्रजा को सुखी रखने के लिये प्रधानमंत्री का अधिक उत्तरदायित्व होता है, उसी प्रकार अरिहन्तदेव के धर्म को दृढ करने और फैलाने का काम स्थविरो का होता है। तव तीर्थंकर देव के धर्म को आचरण और उपदेश के द्वारा जो स्थिर रखने का निरन्तर उद्योग करता है, वह स्थविर है, यह अर्थ भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

जातिसम्पन्न—धर्मघोष स्थविर को जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न और बलसम्पन्न आदि विशेषणों से विशेषित करने का अभिप्राय उन के व्यक्तित्व को महान् सूचित करता है। जाति शब्द माता के कुल की श्रेष्ठता का बोधक है और कुल शब्द पिता के वंश की उत्तमता का बोधक होता है। धर्मघोष स्थविर को जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न कहने से उन की मातृकुलगत तथा पितृकुलगत उत्तमता को व्यक्त किया गया है। अर्थात् वे उत्तम कुल और उत्तम वंश के थे, वे एक असाधारण कुल मे जन्मे हुए थे।

प्रश्न—एक ही नगर में एक साथ पाच सो मुनियों को ले कर श्री धर्मघोष जी महाराज का पधारना, यह सन्देह उत्पन्न करता है कि एक साथ पधारे हुए पाच सो मुनियों का वहा निर्वाह कैसे होता होगा? इतने मुनियों को निर्दोष भिक्षा कैसे मिलती होगी?

उत्तर—उस समय आर्यावर्त मे अतिथिसत्कार की भावना बहुत व्यापक थी। अतिथिसेवा करने को लोग अपना अहोभाग्य समझते थे। भिक्षु को भिक्षा देने में प्रत्येक व्यक्ति उदारचित्त था। ऐसी परिस्थिति मे हस्तिनापुर जैसे विशाल क्षेत्र मे ५०० मुनियों का निर्वाह होना कुछ कठिन नहीं किन्तु नितान्त सुगम था।

(१) तओ थेरभूमीओ पं० त०—जाइथेरे, सुत्तथेरे, परियायथेरे .. . वीसवासपरियाएणं समणे णिग्गंथे परियायथेरे (स्थानागसूत्र स्थान ३, उ० ३, सू० १५९)

(२) श्री ज्ञातासूत्र आदि मे गणधरदेवों को भी स्थविरपद से अभिव्यक्त किया गया है।

इस मे कोई आशका वाली बात नहीं है। अथवा पाच सौ मुनियों को साथ ले कर विचरने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि धर्मघोष आचार्य की निश्राय में, उन की आज्ञा में ५०० मुनि विचरते थे। दूसरे शब्दों मे उन का शिष्य मुनिपरिवार ५०० था जिस के साथ वे ग्रामानुग्राम विचरते और धर्मोपदेश से जनता को कृतार्थ करते थे। इस मे कुछ मुनियों का साथ म आना, कुछ का पीछे रहना और कुछ का अन्य समीपवर्ती ग्रामो मे विचरण करना आदि भी सभव हो सकता है। इस प्रकार भी ऊपर का प्रश्न समाहित किया जा सकता है।

साधुओं का जीवन बाह्य बन्धनो से विमुक्त होता है, उन पर —"आज इसी ग्राम में ठहरना है या इसे छोड ही देना है" इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, इसी बात को सूचित करने के लिये '**पुव्वाणुपुव्वि**" यह पद दिया है। अर्थात् धर्मघोष आचार्य मुनियों के साथ पूर्वानुपूर्वी—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरते थे। उन्हें किसी ग्राम को छोडने की जरूरत नहीं होती थी। वे तो जहां जाते वहां समपूवा की वर्षा करते, उन्हें किसी को वचित रखना अभीष्ट नहीं था। वास्तव में सयमशील मुनिजनों के ग्रामानुग्राम विचरने से ही धर्म को विशेष प्रोत्साहन मिलता है। इसीलिये साधु को चातुर्मास के बिना एक स्थान पर स्थित न रह कर सर्वत्र विचरने का शास्त्रों में आदेश दिया गया है।

धर्मघोष स्थविर के प्रधान शिष्य का नाम सुदत्त था। सुदत्त अनगार जितेन्द्रिय और तपस्वी थे। तपोमय जीवन के बल से ही उन्हें तेजोलेश्या की उपलब्धि हो रही थी। उन की तपश्चर्या इतनी उग्र थी कि वे एक मास का अनशन करते और एक दिन आहार करते, अर्थात् महीने २ पारणा करना उन की बाह्य तपस्या का प्रधानरूप था और इसी चर्या में वे अपने साधुजीवन को बिता रहे थे।

अन्तेवासी का सामान्य अर्थ समीप में रहने वाला होता है, पर समीप रहने का यह अर्थ नहीं कि, हर समय गुरुजनों के पीछे २ फिरते रहना, किन्तु गुरुजनों के आदेश का सर्वथा पालन करना ही उनके समीप रहना है। गुरुजनों के आदेश को शिरोधार्य कर के उस का सम्यग् अनुष्ठान करने वाला शिष्य ही वास्तव मे अन्तेवासी (**अन्ते समीपे वसति तच्छील**) होता है।

जिस में बहुत से सद्गुण विद्यमान हों, और उन सब का समुचित रूप से वर्णन न किया जा सकता हो तो उन में से एक दो प्रधान गुणों का वर्णन कर देने से बाकी के समस्त गुणों का भी बिना वर्णन किये ही पता चल जाता है। जैसे राजा के मुकुट का वर्णन कर देने से बाकी के समस्त आभूषणों के सौन्दर्य की कल्पना अपने आप ही हो जाती है। इसी प्रकार सुदत्त मुनि के प्रधानगुण —तपस्या के वर्णन से ही उन में रहे हुए अन्य साधुजनोचित सद्गुणों का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

प्रश्न—एक मास के अनशन के बाद केवल एक दिन भोजन करने वाले मुनि विहार कैसे कर सकते होंगे? क्या उन के शरीर में शिथिलता न आ जाती होगी? बिना अन्न के औदारिक शरीर, का सशक्त रहना समझ में नहीं आता?

उत्तर—यह शका बिल्कुल निस्सार है, और दुर्बल हृदय के मनुष्यों की अपनी निर्बल स्थिति के आधार पर की गई है, क्योंकि आज भी ऐसे कई एक मुनि देखने में आते हैं जो कि कई बार एक २ या दो २ मास का अनशन करते हैं और अपनी सम्पूर्ण आवश्यक क्रियाए स्वय करते हैं। तपश्चर्या के लिए शारीरिक सहनन और मनोबल की आवश्यकता है। जिस समय की यह बात है उस समय तो मनुष्यों का सहनन और मनोबल आज की अपेक्षा बहुत ही सुदृढ था। इसलिए श्री सुदत्त मुनि के मासक्षमण मे किसी प्रकार की आशका को अवकाश नहीं रहता। इस के अतिरिक्त आत्मतत्त्व के चिन्तक, तपश्चर्या की मूर्ति श्री सुदत्त मुनि

अनशन व्रत का अनुष्ठान करते हुए शिथिल हैं या सशक्त—मजबूत ? इस का उत्तर तो सूत्रकार ने ही स्वयं यह कह कर दे दिया है कि वे मासक्षमण के पारणे के लिये हस्तिनापुर नगर में स्वयं जाते हैं और भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए उन्हों ने सुमुख गृहपति के घर मे प्रवेश किया। इस पर से सुदत्त मुनि के मानसिक और शारीरिक बल की विशिष्टता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं रहता। दूसरी बात—तपस्या करने वाले मुनि को अपने शारीरिक और मानसिक बल का पूरा २ ध्यान रखना होता है। वह अपने में जितना बल देखता है उतना ही तप करना है। तपस्या करने का यह अर्थ नहीं होता कि दूसरों से सेवा करवाना और उन के लिये भारभूत हो जाना।

मास मास दो वार कहने का तात्पर्य यह है कि उन की यह तपस्या लंबे समय से चालू थी। वे वर्ष भर मे बारह दिन ही भोजन करते थे, इस से अधिक नहीं। आज श्री सुदत्त मुनि के पारणे का दिन है। उन के अनशन को एक मास हो चुका है। वे उस दिन प्रथम पहर म स्वाध्याय करते हैं, दूसरे मे ध्यान तीसरे में वस्त्रपात्रादि तथा मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करते हैं। तदनन्तर आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हो उन्हें सविधि वन्दना नमस्कार कर पारणे के निमित्त भिक्षार्थ नगर मे जाने की आज्ञा मागते हैं। आचार्यश्री की तरफ से आज्ञा मिल जाने पर नगर में चले जाते हैं, इत्यादि।

तपस्या दो प्रकार की होती है, बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन यह बाह्य तप—तपस्या है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप के बिना निजार्थ प्राय होता है। बाह्य तप का अनुष्ठान आभ्यन्तर तप के साधनार्थ ही किया जाता है। यही कारण है कि श्री सुदत्त मुनि ने पारणे के दिन भी स्वाध्याय और ध्यानरूप आभ्यन्तर तप की उपेक्षा नहीं की। वास्तव में देखा जाये तो आभ्यन्तर तप से अनुप्राणित हुआ ही बाह्य तप मानव जीवन के आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सकता है।

प्रश्न—पाच सौ मुनियो के उपास्य श्री सुधर्मघोष स्थविर के अन्य पर्याप्त शिष्यपरिवार के होने पर भी परमतपस्वी सुदत्त अनगार स्वय गोचरी लेने क्यों गये ? क्या इतने मुनियो म से एक भी ऐसा मुनि नहीं था जो उन्हें गोचरी ला कर दे देता ?

उत्तर—महापुरुषों का प्रत्येक आचरण रहस्यपूर्ण होता है, उस के बोध के लिए कुछ मनन की अपेक्षा रहती है। साधारण बुद्धि के मनुष्य उसे समझ नहीं पाते। उन की प्रत्येक क्रिया में कोई न कोई ऊचा आदर्श छिपा हुआ होता है। सुदत्त मुनि का एक मास के अनशन के बाद स्वय गोचरी को जाना, साधकों के लिये स्वावलम्बी बनने की सुगतिमूलक शिक्षा देना है। जब तक अपने में सामर्थ्य है तब तक दूसरों का सहारा मत ढूढो। जो व्यक्ति सशक्त होने पर भी दूसरो का सहारा ढूढता है वह आत्मतत्त्व की प्राप्ति से बहुत दूर चला जाता है। इसी दृष्टि से **श्री स्थानागसूत्र** के चतुर्थ स्थान तथा तृतीय उद्देश्य मे परावलम्बी को दुःखशय्या पर सोने वाला कहा है। वास्तव मे आलसी बन कर सुख म पडे रहने के लिये साधुत्व का अगीकार नहीं किया जाता। उस के लिये तो प्रमाद से रहित हो कर उद्योगशील बनने की आवश्यकता है। **श्री दशवैकालिकसूत्र** के द्वितीय अध्याय में स्पष्ट शब्दों मे कहा है—"—**चय सोगमल्लं**—" अर्थात् सुकुमारता का परित्याग करो। गृहस्थ भी यदि शक्ति के होते हुए कमा कर नहीं खाता तो घर वालों को शत्रु सा प्रतीत होने लगता है। साराश यह है कि गृहस्थ हो या साधु, [1]परावलम्बन सभी के लिए अहितकर है। वास्तव म विचार किया जाये तो बिना विशेष कारण

(१) स्वावलम्बन के सम्बन्ध में **श्री उत्तराध्ययन सूत्र** का निम्नलिखित पाठ कितना मार्गदर्शक है ?—

"—**संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?, संभोगपच्चक्खाणेणं जीवे आलम्बणाइं खवेइ, निरालंबस्स य आयट्ठिया जोगा भवन्ति, सएणं लाभेणं सन्तुस्सइ, परलाभं नो आसादेइ, परलाभं**

के पराश्रित होना ही आत्मा को पतन की ओर ले जाने का प्रथम सोपान है। इस की तो भावना भी साधक के लिये वाञ्छनीय नहीं है। बस इसी दृष्टि से श्री सुदत्त मुनि ने स्वयं पारणे के लिये प्रस्थान किया और वे हस्तिनापुर नगर के साधारण और असाधारण सभी घरों में भ्रमण करते हुए अन्त में वहां के सुप्रसिद्ध व्यापारी श्री सुमुख गाथापति के घर में प्रविष्ट हुए।

—रिद्ध०—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ ५६३ पर, तथा—अड्ढे०—यहां के बिन्दु से अभिमत पाठ पृष्ठ १२० पर लिखा जा चुका है। तथा—**जातिसपन्ना जाव पंचहि**—यहां पठित **जाव**—यावत् पद—**कुलसम्पन्ने बलरूपविणयणाणदंसणचरित्तलाघवसम्पन्ने ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसि जियकोहे जियमाणे जियमाये जियलोहे जियइन्दिए जियनिद्दे जियपरीसहे जीवियासमरणभयविप्पमुक्के तवप्पहाणे गुणप्पहाणे एवं करणचरणनिग्गहणिच्छयअज्जवमद्दवलाघवखन्तिगुत्तिमुत्तिविज्जामंतबंभवेयनयनियमसच्चसोयणाणदंसणचरित्तप्पहाणे उराले घोरे घोरव्वए घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउल्लेसे चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए**—इन पदों का परिचायक है। **जातिसम्पन्न** आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

धर्मघोष मुनिराज जातिसम्पन्न—उत्तम मातृपक्ष से युक्त, **अथवा** जिस की माता सच्चरित्रता आदि सद्गुणों से सम्पन्न हो, कुलसम्पन्न—उत्तम पितृपक्ष से युक्त, **अथवा** जिस का पिता सच्चरित्रता आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न हो, बल—शारीरिक शक्ति, रूप—शारीरिक सौन्दर्य, विनय—नम्रता, ज्ञान—बोध, दर्शन—श्रद्धान, चारित्र—संयम तथा लाघव—द्रव्य से अल्प उपकरण का होना तथा भाव से ऋद्धि, रस और साता के अहंकार का त्याग, से सम्पन्न—युक्त ओजस्वी—मनोबल वाले, तेजस्वी शारीरिक प्रभा से युक्त, वचस्वी—सौभाग्यादि से युक्त वचन वाले **अथवा** वर्चस्वी—प्रभा वाले, यशस्वी—यश वाले, जितक्रोध—क्रोध के विजेता, जितमान—मान को जीतने वाले, जितमाय—माया (छलकपट) को जीतने वाले, जितलोभ—लोभ पर विजय प्राप्त करने वाले, जितेन्द्रिय—इन्द्रियों के विजेता, जितनिद्र—निद्रा—नींद के विजेता, जितपरीषह—परिषहों (क्षुधा, पिपासा आदि) के विजेता, जीविताशामरणभयविप्रमुक्त—जीवन की आशा और मृत्यु के भय से रहित, तपप्रधान—अन्य मुनियों की अपेक्षा जिन का तप उत्कृष्ट था, गुणप्रधान—अन्य मुनियों की अपेक्षा जिन में गुणों की विशेषता थी ऐसे थे इसी भाँति वे धर्मघोष मुनिवर करण—पिण्डविशुद्धि (आहारशुद्धि), समिति, भावना आदि जैनशास्त्र के प्रसिद्ध ७० बोलों का समुदाय, चरण—महाव्रत आदि, निग्रह—अनाचार में प्रवृत्ति न करना, निश्चय—तत्त्वों का निर्णय आर्जव—सरलता, मार्दव—मान का निग्रह, लाघव कार्यों में दक्षता, क्षान्ति—क्रोध का न करना गुप्ति—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति आदि ३ गुप्तियें, मुक्ति—निर्लोभता, विद्या शास्त्रीय ज्ञान अथवा देवी से अधिष्ठित साधनसहित अक्षरपद्धति, मंत्र—हरिणगमेषी आदि देवों से अधिष्ठित अक्षरपद्धति, ब्रह्म—ब्रह्मचर्य अथवा सब प्रकार का कुशलानुष्ठान—सद् आचरण, वेद—आगम शास्त्र, नय नैगम आदि नय, नियम—अभिग्रहविशेष, सत्य—सत्यवचन, शौच—द्रव्य से निर्लेप—विशुद्ध और भाव से पाप के आचरण से रहित होना, ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि पञ्चविध ज्ञान, दर्शन—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन आदि चतुर्विध दर्शन, चारित्र—सामायिक आदि पञ्चविध चारित्र, इन सब में प्रधानता रखने वाले थे। तथा जो उदार—प्रधान, घोर—राग द्वेषादि आत्मशत्रुओं के लिये भयानक, घोरव्रत—दूसरों से दुरनुचर व्रतों—महाव्रतों के धारक, घोरतपस्वी घोर तप के करने वाले, घोरब्रह्मचर्यवासी—

नो तक्केइ, नो पीहेइ नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणस्सायमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलस्समाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। (उत्तराध्ययन अ० २९, सू० ३३)

घोर ब्रह्मचर्य व्रत के धारक, उच्छिन्नशरीर—शरीरगत ममत्व से सर्वथा रहित, संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्य—अनेक योजनप्रमाण वाले क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को भस्म कर देने वाली तेजोलेश्या घोर तप से प्राप्त होने वाली लब्धिविशेष को अपने में संक्षिप्त—गुप्त किये हुए, चतुर्दश पूर्वी—१४ पूर्वों के ज्ञाता तथा चतुर्ज्ञानोपगत—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान इन चार ज्ञानों को प्राप्त हो रहे थे।

—अहापडिरूवं—का अर्थ है शास्त्रानुमोदित अनगारवृत्ति के अनुसार, और—उग्गहं—अवग्रहम्—का अवग्रह या आवासस्थान रहने की जगह - यह अर्थ होता है। तथा —उगिरिहत्ता—का—ग्रहण करके—यह अर्थ समझना चाहिए। तब इस का सकलित अर्थ यह हुआ कि धर्मघोष स्थविर अपने शिष्य-परिवार के साथ सहस्राम्रवन नामक उद्यान में शास्त्रविहित साधुवृत्ति के अनुसार आवासस्थान को ग्रहण कर के वहां अवस्थित हुए।

—उग्गले जाव लेस्से यहां पठित—जाव—यावत् पद से—घोरे घोरगुणे घोरव्वए घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउ—इत्यादि पदों का ग्रहण करना चाहिये। घोर आदि पदों का अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना है कि वहां ये पद श्री धर्मघोष जी महाराज के विशेषण हैं, जबकि प्रस्तुत में श्री सुदत्त मुनि के। नामगतभिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है।

—जहा गोयमसामी तहेव सुहम्मे थेरे आपुच्छति जाव अडमाणे—इस में पारणे के दिन पहले प्रहर से लेकर हस्तिनापुर में भिक्षार्थ जाने तक का सुदत्त मुनि का जितना वृत्तान्त है, उसे [1] गौतम स्वामी के गतवृत्तान्त की तरह जान लेने का सूत्रकार ने जो निर्देश किया है, तथा जाव—यावत् पद से गौतमस्वामी के समान किये गये सुदत्त मुनि के आचार के वर्णक पाठ को जो संसूचित किया है, वह निम्नोक्त है—

—सुहम्मे थेरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सुहम्मं थेरं वंदइ नमंसइ, वन्दित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे मासक्खमणपारणगंसि हत्थिणाउरे नगरे उच्चनीयमज्झिमाइंकुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह, तए णं सुदत्ते अणगारे सुहम्मेणं थेरेणं अब्भणुण्णाते समाणे सुहम्मस्स थेरस्स अंतियाओ पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतरपलोयणाते दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे जेणेव हत्थिणाउरे णगरे तेणेव उवागच्छइ, हत्थिणाउरे णयरे उच्चनीयमज्झिमकुलाइं। इन पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

तपस्विराज श्री सुदत्त अनगार मासक्षमण के पारणे के दिन प्रथम पहर में स्वाध्याय करते, दूसरे में ध्यान करते, तीसरे पहर में कायिक और मानसिक चपलता से रहित हो कर मुखवस्त्रिका की, भाजन एवं वस्त्रों की प्रतिलेखना करते, तदनन्तर पात्रों को झोली में रख कर और झोली को ग्रहण कर सुधर्मा स्थविर के चरणों में उपस्थित हो कर वन्दना तथा नमस्कार करने के अनन्तर निवेदन करते हैं कि हे भगवन्! आप

---

(१) गौतम स्वामी का वर्णन पृष्ठ १२३ पर किया जा चुका है। पारणे के लिये जिस विधि से वे गये थे उसी विधि का समस्त अनुसरण सुदत्त मुनि करते हैं। अन्तर मात्र इतना है कि गौतम स्वामी भिक्षा के लिये वाणिजग्राम नगर में जाने से पहले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं, जबकि सुदत्त मुनि हस्तिनापुर में भिक्षार्थ जाने के लिये धर्मघोष या सुधर्मा स्थविर से आज्ञा मांगते हैं। नगरादि की नामगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है।

की आज्ञा होने पर मैं मासक्षमण के पारणे के लिये हस्तिनापुर नगर में [1]उच्च—धनी, नीच—निर्धन और मध्यम—सामान्य गृहों में भिक्षार्थ जाना चाहता हूं। सुधर्मा स्थविर के "—जैसे—तुम को सुख हो, वैसे करो, परन्तु विलम्ब मत करो—" ऐसा कहने पर वे सुदत्त अनगार श्री सुधर्मा स्थविर के पास से चल कर कायिक तथा मानसिक चपलता से रहित अभ्रान्त और शान्तरूप से तथा स्वदेहप्रमाण दृष्टिपात कर के ईर्यासमिति का पालन करते हुए जहां हस्तिनापुर नगर था वहां पहुंच जाते हैं, और नीच तथा मध्यम स्थिति के कुलों में—।

—सुहम्मे थेरे आपुच्छति सुधर्मणः स्थविरानापृच्छति। अर्थात् सुदत्त मुनि सुधर्म स्थविर को पूछते हैं। इस पाठ के स्थान में यदि " धम्मघोसे थेरे आपुच्छति—" यह पाठ होता तो बहुत अच्छा था। कारण कि प्रकृत में सुधर्मा स्थविर का कोई प्रसंग नहीं है कथासन्दर्भ के आरम्भ में भी सूत्रकार ने सुदत्त मुनि को धर्मघोष स्थविर का अन्तेवासी बतलाया है। अत यहां पर "—सुहम्मे—" यह पाठ कुछ संगत नहीं जान पड़ता और यदि "—स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया—" इस न्याय के अनुसार सूत्रगत पाठ पर विचार किया जाये तो सूत्रकार ने "सुधर्मा" यह 'धर्मघोष' का ही दूसरा नाम सूचित किया हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् सुदत्त अनगार के गुरुदेव धर्मघोष और सुधर्मा इन दोनों नामों से विख्यात थे। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने धर्मघोष के बदले "सुधम्मे-सुधर्मा" इस पद का उल्लेख किया है। इस पाठ के सम्बन्ध में वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि '—सुहम्मे थेरे—" त्ति धर्मघोषस्थविरमित्यर्थ। धर्मशब्दसाम्यात् शब्दद्वयस्याप्येकार्थत्वात्—इस प्रकार कहते हैं। तात्पर्य यह है कि 'सुधर्मा और धर्मघोष' इन दोनों में धर्म शब्द समान है, उस समानता को लेकर ये दो शब्द एक ही अर्थ के परिचायक हैं। सुधर्मा शब्द से धर्मघोष और धर्मघोष से सुधर्मा का ग्रहण होता है। यहां पर उल्लेख किये गये '—सुहम्मे थेरे—' शब्द से जम्बूस्वामी के गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी के ग्रहण की भूल तो कभी भी नहीं होनी चाहिये। उन का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सुमुख गृहपति के घर में प्रवेश करने के अनन्तर क्या हुआ? अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल—[2]ततेणं से सुमुहे गाहावती सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासति पासित्ता

(१) संयमशील समारम्भत्यागी मुनि की दृष्टि में धनी और निर्धन, ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र सब बराबर हैं, पर यदि इन में आचारसम्पत्ति हो। साधु के लिये ऊंच और नीच का कोई भेदभाव नहीं होता। उच्च, नीच और मध्यमकुल में भिक्षार्थ साधु का भ्रमण करना शास्त्रसम्मत है। अत उच्चकुल में गोचरी करना और नीच कुल में या सामान्य कुल में न करना साधुधर्म के विरुद्ध है। साधु प्राणिमात्र पर समभाव रखते हैं, किन्तु जो आचारहीन हैं तथा आचारहीनता के कारण लोक में अस्पृश्य या घृणित समझे जाते हैं, उन के यहां भिक्षार्थ जाना लोकदृष्टि से निषिद्ध है।

(२) छाया—ततः स सुमुखो गाथापतिः सुदत्तमनगारमायान्तं पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टतुष्टः आसनादभ्युत्तिष्ठति अभ्युत्थाय पादपीठात् प्रत्यवरोहति प्रत्यवरुह्य पादुके अवमुञ्चति अवमुच्य एकशाटिकमुत्त० सुदत्तमनगारं सप्ताष्टपदानि प्रत्युद्गच्छति प्रत्युद्गत्य त्रिवारमादक्षिण० वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा यत्रैव भक्तगृहं तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य स्वहस्तेन विपुलेन अशनपान० ४ प्रतिलम्भिष्यामीति तुष्टः ३। ततस्तेन सुमुखेन गाथापतिना तेन द्रव्यशुद्धेन ३ त्रिविधेन त्रिकरणशुद्धेन सुदत्तेऽनगारे प्रतिलम्भिते सति संसारः परीतीकृतः, मनुष्यायुर्निबद्धम्। गृहे च तस्य इमानि पञ्च दिव्यानि प्रादुर्भूतानि, तद्यथा—१—वसुधारा वृष्टा। २—दशार्द्धवर्णकुसुमं निपातितम्। ३—चेलोत्क्षेपः कृतः। ४—आहता देवदुन्दुभयः। ५—अन्तरापि चाकाशे अहोदानमहोदानं घुष्टं च। हस्तिनापुरे शृंगाटक० यावत् पथेषु बहुजनोऽन्योऽन्यं एवमाख्याति ४—धन्यो

हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयति ओमुइत्ता एगसाडियं उत्त० सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छति पच्चुग्गच्छित्ता तिक्खुत्तो आया० वदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सयहत्थेणं विउलेणं असणं पाणं ४ पडिलाभेस्सामि त्ति कट्टु तुट्ठे ३। तते णं तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेण ३ तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकते, मणुस्साउए निबद्धे, गिहंसि य से इमाइं पञ्च दिव्वाइं पाउब्भूताइं, तंजहा-१—वसुहारा वुट्ठा, २—दसद्धवण्णे कुसुमे निवातिते, ३—चेलुक्खेवे कते, ४—आहताओ देवदुन्दुभीओ, ५—अतरा वि य णं आगासंसि अहोदाणं अहोदाणं घुट्ठे य। हत्थिणाउरे सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवं आइक्खइ ४—धन्ने णं देवाणुप्पिया! सुमुहे गाहावती जाव तं धन्ने ५। से सुमुहे गाहावती बहूइं वाससताइं आउयं पालेति पालित्ता कालमासे कालं किच्चा इहेव हत्थिसीसए णगरे अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणीए देवीए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्ने। तते णं सा धारिणी देवी सयणिज्जंसि सुत्तजागरा [1]ओहीरमाणी २ तहेव सीहं पासति। सेसं तं चेव जाव उप्पिं पासादे विहरति। एवं खलु गोतमा! सुबाहुणा इमा एयारूवा मणुस्सरिद्धी लद्धा ३।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर। से—वह। सुमुहे—सुमुख। गाहावती—गाथापति। सुदत्तं—सुदत्त। अणगारं—अनगार को। एज्जमाणं—आते हुए को। पासति—देखता है। पासित्ता—देख कर। हट्टतुट्ठे—हृष्टतुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न हुआ २। आसणाओ—आसन से। अब्भुट्ठेति—उठता है। अभुट्ठित्ता—आसन से उठकर। पायपीढाओ—पादपीठ—पाव रखने के आसन से। पच्चोरुहति—उतरता है। पच्चोरुहित्ता—उतर कर। पाउयाओ—पादुकाओं को। ओमुयति—छोड़ता है। ओमुइत्ता—छोड़ कर। एगसाडियं—एकशाटिक—एक कपड़ा जो बीच में सिया हुआ न हो, इस प्रकार का। उत्त०—उत्तरासग (उत्तरीय वस्त्र का शरीर में न्यासविशेष) करता है, उत्तरासग करने के अनन्तर। सुदत्तं—सुदत्त। अणगार—अनगार के। सत्तट्ठपयाइं—सात आठ क़दम, सत्कार के लिये। पच्चुग्गच्छति—सामने जाता है। पच्चुगच्छित्ता—सामने जा कर। तिक्खुत्तो—तीनवार। आया०—आदक्षिण प्रदक्षिणा करता है, कर के। वंदति—वन्दना करता है। नमंसति—नमस्कार करता है। वंदित्ता नमंसित्ता वदना तथा नमस्कार कर के। जेणेव—जहां। भत्तघरे—भक्तगृह था। तेणेव—वहां पर। उवागच्छति उवागच्छित्ता—आता है, आकर। सयहत्थेण—अपने हाथ से। विउलेणं—विपुल। असणं पाण ४—अशन, पान

देवानुप्रिया! सुमुखो गाथापति यावद् तद्धन्यः ५। स सुमुखो गाथापति बहूनि वर्षशतानि आयुः पालयति पालयित्वा कालमासे काल कृत्वा इहैव अदीनशत्रो राज्ञो धारिण्या देव्याः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्नः। ततः सा धारिणी देवी शयनीये सुप्तजागरा (निद्रातो) २ हस्तिशीर्षके नगरे तथैव सिंह पश्यति। शेष तदेव यावत् उपरि प्रासादे विहरति। तदेव खलु गौतम! सुबाहुना इयमेतद्रूपा मनुष्यर्द्धिर्लब्धा ३।

(१) वारं वारमीषन्निद्रां गच्छन्तीत्यर्थः (वृत्तिकारः)

आदि चतुर्विध आहार का । **पडिलाभेस्सामि त्ति** दान दूंगा अथवा दान का लाभ प्राप्त करूंगा, इस विचार से । **तुट्ठे ३** — प्रसन्नचित्त हुआ अर्थात् अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त होता हुआ । **तते णं**—तदनतर । **तस्स**—उस । **सुमुहस्स** - सुमुख । **गाहावइस्स**—गाथापति के । **तेण** — उस । **दव्वसुद्धे ण** - शुद्ध द्रव्य से, तथा । **तिविहेणं**—त्रिविध । **तिकरणसुद्धेण** त्रिकरणशुद्धि से । **सुदत्ते** – सुदत्त । **अणगारे** —अनगार के । **पडिलाभिते समाणे** -प्रतिलम्भित होने पर अर्थात् सुदत्त अनगार को विशुद्ध भावना द्वारा शुद्ध आहार के दान से अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए सुमुख गाथापति ने । **संसारे** संसार को—जन्म मरण की परम्परा को [1]**परित्तीकते**—बहुत कम कर दिया, और । **मणुस्साउए**—मनुष्य आयु का—उत्तम मानव भव का । **निबद्धे**—बन्ध किया अर्थात् मनुष्य जन्म देने वाले पुण्यकर्मदलिकों को बाधा । **य**—और । **से**—उस के । **गिहंसि** —घर में । **इमाइं** —ये । **पंच** -पांच । **दिव्वाइं** दिव्य—देवकृत । **पाउब्भूयाइं**—प्रकट हुए । **तंजहा** – जैसेकि । १—**वसुहारा**—वसु—सुवर्ण की धारा की । **वुट्ठा**—वृष्टि हुई । २—**दसद्धवण्णे**—पांच वर्णों के । **कुसुमे**—पुष्पों को । **निवातिते** – गिराया गया । ३—**चेलुक्खेवे**—वस्त्रों का उत्क्षेप । **कते**—किया गया । ४—**देवदुंदुभीओ** —देवदुन्दुभियें । **आहताओ** -बजाई गई । ५—**आगासंसि अंतरा वि य णं** - और आकाश के मध्य में । **अहोदाणं अहोदाणं य**—अहोदान अहोदान, ऐसी । **घुट्ठे** —उद्घोषणा हुई । **हत्थिणाउरे**—हस्तिनापुर में । **सिंघाडग०**—त्रिपथ । **जाव**—यावत् । **पहेसु**—सामान्य रास्तों में । **बहुजणो**—बहुत से लोग । **अन्नमन्नस्स** —एक दूसरे को । **एवं**—इस प्रकार । **आइक्खइ ४**— कहते हैं, ४ । **धन्ने णं**—धन्य है । **देवाणुप्पिया !**—हे महानुभावो ! । **सुमुहे**—सुमुख । **गाहावती**—गाथापति **जाव**—यावत् । **तं**—वह । **धन्ने ५**—धन्य है, ५ । **से**—वह । **सुमुहे**—सुमुख । **गाहावती**—गाथापति । **बहूइं** —बहुत । **वाससताइं**—सैंकड़ों वर्षों की । **आउयं**—आयु की । **पालेति पालित्ता**—उपभोग करता है, उपभोग कर के । **कालमासे**—कालमास में । **कालं किच्चा**—काल कर के । **इहेव**—इसी । **हत्थिसीसए**—हस्तिशीर्षक । **णगरे**—नगर में । **अदीणसत्तुस्स**—अदीनशत्रु । **रण्णो**—राजा की । **धारिणीए**—धारिणी । **देवीए**—देवी की । **कुच्छिंसि**—कुक्षि में—उदर में । **पुत्तत्ताए**—पुत्ररूप से । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ—पुत्ररूप से गर्भ में आया । **तते णं**—तदनन्तर । **सा** —वह । **धारिणी**—धारिणी । **देवी**—देवी । **सयणिज्जंसि**—अपनी शय्या पर । **सुत्तजागरा**—कुछ सोई तथा कुछ जागती हुई, अर्थात् । **ओहीरमाणी २**—ईषत् निद्रा लेती हुई । **तहेव**—तथैव —उसी तरह । **सीहं**—सिंह को । **पासति**—देखती है । **सेसं**—बाकी सब । **तं चेव**—उसी भाँति जानना । **जाव** —यावत् । **उप्पिं पासादे** —ऊपर प्रासादों में । **विहरति** —भोगों का उपभोग करता है । **तं** —अत । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **गोयमा !** —हे गौतम ! । **सुबाहुणा** —सुबाहुकुमार ने । **इमा**—यह । **एयारूवा** —इस प्रकार की । **मणुस्सरिद्धि**—मानवी समृद्धि । **लद्धा ३**—उपलब्ध की है ।

मूलार्थ—तदनन्तर सुमुख गाथापति आते हुए सुदत्त अनगार को देखता है, देख कर अत्यन्त प्रसन्नचित्त से आसन पर से उठता है, उठ कर पादपीठ से उतरता है, उतर कर पादुका को त्याग कर एकशाटिक उत्तरासंग के द्वारा सुदत्त अनगार के स्वागत के लिये सात आठ कदम सामने जाता है, सामने जा कर तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करता है, करके वन्दना नमस्कार करता है, वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर जहां पर भक्तगृह है—रसोई है, वहां आता है, आकर आज मैं अपने हाथ से विपुल अशन, पानादि के द्वारा सुदत्त अनगार को प्रतिलाभित करूंगा अर्थात् सुपात्र में दान दूंगा, ऐसा विचार कर नितान्त प्रसन्न होता है । तदनन्तर उस सुमुख गृहपति ने उस शुद्ध द्रव्य तथा त्रिविध त्रिकरणशुद्धि से सुदत्त अनगार को प्रतिलम्भित करने पर संसार को संक्षिप्त किया

---

(१) परीतीकृतः । परि समन्तात् इतः—गतः इतिः परीतः । अपरीत. परीतः कृत इति परीतीकृतः, पराङ्मुखीकृत. प्रतिनिवर्तित इत्यर्थः । अल्पीकृत इति यावत् ।

और मनुष्य आयु का बन्ध किया, तथा उस के घर में—१—सुवर्ण वृष्टि, २—पांच वर्णों के फूलों की वर्षा, ३—वस्त्रों का उत्क्षेप, ४—देवदुंदुभियों का आहत होना, ५—आकाश मे अहोदान, अहोदान, ऐसी उद्घोषणा का होना—ये पाच दिव्य प्रकट हुए।

हस्तिनापुरनगर के त्रिपथ यावत् सामान्य मार्गों में अनेक मनुष्य एकत्रित होकर आपस मे एक दूसरे से कहते थे —हे देवानुप्रियो! धन्य है सुमुख गाथापति यावत् धन्य है सुमुख गाथापति।

तदनन्तर वह सुमुख गृहपति सैकड़ों वर्षों की आयु भोग कर कालमास में काल कर के इसी हस्तिशीर्षक नगर मे महाराज अदीनशत्रु की धारिणी देवी की कुक्षि मे पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। तदनन्तर वह धारिणी देवी अपनी शय्या पर किंचित् सोई और किंचित् जागती हुई स्वप्न में सिंह को देखती है। शेष वर्णन पूर्ववत् जानना यावत् उन्नत प्रासादों में विषयभोगों का यथेच्छ उपभोग करने लगा।

टीका—शास्त्रों में भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई गई है। पहली—सर्वसम्पत्करी, दूसरी वृत्ति और तीसरी पौरुषघातिनी। जिन मुनियों ने सासारिक व्यवहार का सर्वथा परित्याग कर दिया है, जो पाच महाव्रतों का सम्यक्तया पालन करते हैं और जिन का हृदय करुणा मे सदा ओतप्रोत रहता है, वे मुनि केवल सयमरक्षा के लिये जो भिक्षा लेते हैं, वह भिक्षा **सर्वसम्पत्करी** कहलाती है। यह भिक्षा लेने और देने वाले, दोनों के लिये हितसाधक और आत्मविकास की जनिका होती है। इस के अतिरिक्त यह भिक्षा स्वयं साधक की आत्मा में, समाज मे तथा राष्ट्र में सदाचार का प्रचण्ड तेज संचारित करने वाली होती है। जो मनुष्य लूला, लगंड़ा या अधा है, स्वय कमा कर खाने में असमर्थ है, वह अपने जीवननिर्वाह के लिये जो भिक्षा मांगता है वह **वृत्ति** भिक्षा कहलाती है। जैसे दूसरे लोग कमा कर खाते हैं उसी तरह वह भी भिक्षा के द्वारा अपनी आजीविका चलाता है। तात्पर्य यह है कि यह भिक्षा ही उस की आजीविका है इस लिये यह भिक्षा वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। जो मनुष्य हट्टा कट्टा और तन्दरुस्त है, बलवान् है, कमा कर खाने के योग्य है परन्तु कमाना न पड़े इस अभिप्राय से माग कर खाता है, उस की भिक्षा पुरुषार्थ की घातिका होने से **पौरुषघातिनी** मानी जाती है।

सुदत्त अनगार की भिक्षा पहली श्रेणी की है अर्थात् सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। यह भिक्षा के श्रेणीविभाग से अनायास ही सिद्ध हो जाता है। इस के अतिरिक्त इस भिक्षा में भी अध्यवसाय की प्रधानता के अनुसार फल की तरतमता होती है। भिक्षा देने वाले गृहस्थ के जैसे प्रणाम होंगे उस के अनुसार ही फल निष्पन्न होता है।

सुदत्त अनगार को घर में प्रवेश करते देख सुमुख गृहपति बड़ा प्रसन्न हुआ। उस का मन सूर्य-विकासी कमल की भाँति हर्ष के मारे खिल उठा। वह अपने आसन पर से उठ कर, नंगे पाव सुदत्त मुनि के स्वागत के लिये सात आठ कदम आगे गया और उस ने तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा कर के मुनि को भक्ति-भाव से वन्दन, नमस्कार किया। तदनन्तर श्री सुदत्त मुनि का उचित शब्दों मे स्वागत करता हुआ बोला कि प्रभो! मेरा अहोभाग्य है। आज मेरा घर, मेरा परिवार सभी कुछ पावन हो गया। आप की चरणरज से पुनीत हुआ सुमुख आज अपने आप की जितनी भी सराहना करे उतनी ही कम है। इस प्रकार कहते हुए उस ने श्री सुदत्त मुनि को भोजनशाला की ओर पधारने की प्रार्थना की और अपने हाथ से उन्हे निर्दोष आहार दे कर अपने आप को परम भाग्यशाली बनाने का स्तुत्य प्रयास किया। आहार देते समय उस के भाव इतने शुद्ध थे कि उन के प्रभाव से उस ने उसी समय मनुष्यभवसबधी आयु का पुण्य बन्ध कर लिया।

तपस्विराज मुनि सुदत्त का सुमुख गृहपति के घर अकस्मात् पधारना भी किसी गंभीर आशय का सूचक है। सन्तसमागम किसी पुण्य से ही होता है। यह उक्ति आबालगोपाल प्रसिद्ध है और सर्वानुमोदित है। फिर एक तपोनिष्ठ संयमी एवं जितेन्द्रिय मुनिराज का समागम तो किसी पूर्वकृत महान् पुण्य को प्रकट करता है। श्री सुदत्त मुनि अनायास ही सुमुख गृहपति के घर आते हैं, इस का अर्थ है कि सुमुख का पूर्वोपार्जित शुभ कर्म उन्हें —सुदत्तमुनि को ऐसा करने की प्रेरणा करता है। अथवा प्रभावशाली तपस्विराज मुनिजनों का चरण-न्यास वहीं पर होता है जहां पर पूर्वकृत शुभकर्म के अनुसार उपयुक्त समस्त सामग्री उपस्थित हो। वर्षा का जल किसी उपजाऊ भूमि मे गिरे तभी लाभदायक होता है। बंजर भूमि में पड़ा हुआ वह फलप्रद नहीं होता। यही कारण है कि श्री सुदत्त मुनि सुमुख जैसी उपजाऊ भूमि में अनुग्रहरूप वर्षा बरसाने के लिये सजल मेघ के रूप में उस के घर में पधारे हैं।

सच्चे दाता को दान का प्रसंग उपस्थित होने पर तीन बार हर्ष उत्पन्न होता है। १—आज मैं दान दूंगा, आज मुझे बड़े सद्भाग्य से दान देने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। २—दान देते समय हर्षित होता है, और ३—दान देने के पश्चात् सन्तोष और आनन्द का अनुभव करता है। साधु ने इतना आहार लिया! जिस के मन में ऐसे भाव आते हैं, उसने दान का महत्त्व ही नहीं समझा, ऐसा समझना चाहिये। देय पदार्थ शुद्ध हो, उस में किसी प्रकार की त्रुटि न हो, दाता भी शुद्ध अर्थात् निर्मल भावना से युक्त हो और दान लेने वाला भी परम तपस्वी एवं जितेन्द्रिय अनगार हो। दूसरे शब्दों में—देय वस्तु दाता और प्रति-ग्रहीता—पात्र ये तीनों ही शुद्ध हों तो वह दान जन्म मरण के बन्धनों को तोड़ने वाला और संसार को संक्षिप्त करने—कम करने वाला होता है—ऐसा कहा जा सकता है। सुमुख गृहपति के यहां ये तीनों ही शुद्ध थे, इसलिये उस ने अलभ्य लाभ को संप्राप्त किया।

वैदिकसम्प्रदाय में गंगा, यमुना और सरस्वती इन को पुण्यतीर्थ माना गया है। इन तीनों के संगम को पुण्य त्रिवेणी कहा है। इसी को दूसरे शब्दों में तीर्थराज कहा जाता है और उसे पुण्य का उत्पादक माना गया है। किन्तु जैनपरम्परा में शुद्ध दाता, शुद्ध देय वस्तु और शुद्ध पात्र ये तीन तीर्थ माने गये हैं। इन तीनों के सम्मेलन से तीर्थराज बनता है। इस तीर्थराज की यात्रा करने वाला अपने जीवन का विकास करता हुआ दुर्गतियों में उपलब्ध होने वाले नानाविध दुःखों से छूट जाता है। इस के अतिरिक्त वह मनुष्यों तथा देवों का भी पूज्य बन जाता है। देवता लोग भी उस के चरणों के स्पर्श से अपने को कृतकृत्य समझते हैं। सुमुख गृहपति ने इसी पुण्य त्रिवेणी में स्नान करके फलस्वरूप संसार को कम कर दिया और आगामी भव के लिये मनुष्य की आयु का बन्ध किया। इस के अतिरिक्त उस के घर में जो मोहरों की वृष्टि, पांच वर्णों के पुष्पों की वर्षा, वस्त्रों की वर्षा दुन्दुभि का बजना तथा "अहोदान अहोदान" की घोषणा होना—ये पांच दिव्य प्रकट हुए, यह विधिपुरस्सर किये गये सुपात्रदानरूप तीर्थ में स्नान करने का ही प्रत्यक्ष फल है।

जैसा कि प्रथम भी कहा गया है कि प्रत्येक कर्तव्य के पीछे करने वाले की जो अपनी भावना होती है, उसी के अनुसार कर्तव्य-कर्म के फल का निर्धारण होता है। मानव की भावना जितनी शुद्ध और बलवती होगी, उतना ही उस का फल भी विशुद्ध और बलवान् होगा यह बात ऊपर के कथासन्दर्भ से स्पष्ट हो जाती है। जीवन के आन्तरिक विकास में देय वस्तु के परिमाण का कोई मूल्य नहीं होता अपितु भावना का मूल्य है। देय वस्तु समान होने पर भी भावना की तरतमता से उसके फल में विभेद हो जाता है। मानव जीवन के विकासक्षेत्र में भावना को जितना महत्त्व प्राप्त है उतना और किसी वस्तु को नहीं। भावना के प्रभाव से ही, मरुदेवी माता, भरत चक्रवर्ती, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि और कपिलमुनि प्रभृति आत्माओं ने केवलज्ञान प्राप्त कर

निर्वाणपद को प्राप्त कर लिया था । तात्पर्य यह है कि मानव जीवन का उत्थान और पतन भावना पर ही अवलम्बित है । "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"—इस आभयुक्तोक्ति में अणुमात्र भी विसंवाद दिखाई नहीं देता, अर्थात् इस की सत्यता निर्बाध है ।

प्रश्न—सुदत्त मुनि ने महीने की तपस्या का पारणा किया, आहार देने वाले सुमुख के घर सुवर्ण की वृष्टि हुई, यह ठीक है परन्तु आजकल दो दो महीने की तपस्या होती है और पारणा भी होता है मगर कहीं पर भी इस तरह से स्वर्ण की वृष्टि देखी या सुनी नहीं जाती, ऐसा क्यों ?

उत्तर—सब से प्रथम ऐसा प्रश्न करने वालों या सोचने वालों को यह जान लेना चाहिये कि सुवर्णवृष्टि की लालसा ही उस वृष्टि में एक बड़ा भारी प्रतिबन्ध है, रुकावट है । जो लोग तपस्वी मुनि को आहार देकर मोहरों की वर्षा की अभिलाषा करते हैं, वे थोड़ा देकर बहुत की इच्छा करते हैं । यह तो स्पष्ट ही एक प्रकार की सौदेबाजी है, जिस की पारमार्थिक जगत् में कुछ भी क़ीमत नहीं । देव किसी व्यापारी या सौदेबाज के आंगन में मोहरों की वर्षा नहीं करते । मोहरों की वर्षा तो दाता के घर में हुआ करती है । सच्चा दाता दान के बदले में कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं करता, वह तो देने के लिये ही देता है, लेने के लिये नहीं । ऐसा दाता तो कोई विरला ही होता है और वसुधारा का वर्षण भी उसी के घर होता है ।

इस के अतिरिक्त अगर कोई पुरुष भूख से पीड़ित हो रहा है तो उस की भूख मिटाने के लिये उसे कुछ खाने को देना, उस की अपेक्षा वह अपने लिये अधिक लाभकारी होता है । तात्पर्य यह है कि दान लेने वाले की अपेक्षा दान देने वाला अधिक लाभ उठाता है, इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत में वर्णित सुमुख गृहपति के जीवन से अनायास ही हो जाता है ।

प्रश्न—जिस समय सुमुख गृहपति ने सुदत्त मुनि के पात्र में आहार डाला तो उस समय देवताओं ने वसुधारा आदि की वृष्टि की और आकाश से **अहोदान अहोदान** की घोषणा की, इस में क्या हार्द है ?

उत्तर—इस के द्वारा देवता यह सूचित करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, तुम को ही इस दान की योग्यता प्राप्त हुई है । हमारा ऐसा सद्भाग्य नहीं कि किसी सुपात्र को दान दे सकें । सब कुछ होते हुए भी हम कुछ नहीं कर सकते । तुम को ऐसा सुअवसर अनेक बार प्राप्त होता है, इसलिये तुम धन्य हो तथा तुम्हें योग्य है कि उस को हाथ से न जाने दो । सारांश यह है कि देवता लोग इस सुवर्णवृष्टि द्वारा शुद्ध हृदय से किये गये सुपात्रदान की भूरि २ प्रशंसा कर रहे हैं ।

प्रश्न—जिस समय श्री सुमुख गृहपति ने सुदत्तमुनि को दान दिया था वह समय भारतवर्ष का सुवर्णमय युग था, जिसे लगभग तीन हजार वर्ष से भी अधिक समय हो चुका है । उस समय जितना सस्तापन था उस की तो आज कल्पना भी नहीं कर सकते । ऐसे सस्तेपन के ज़माने में सुमुख गृहपति के द्वारा दिये आहार की कीमत भी बहुत कम ही होगी, तब इतनी साधारण चीज के बदले में देवों ने सुवर्ण जैसी महार्घ वस्तु की वृष्टि की इस का क्या कारण है ?

उत्तर—इस का मुख्य कारण यही था कि दाता के भाव नितान्त शुद्ध थे । इसी कारण दान का मूल्य बढ़ गया, अतः देवों ने स्वर्ण की वर्षा की । वास्तव में देखा जाए तो देय वस्तु का मूल्य नहीं आंका जाता, वह स्वल्प मूल्य की हो या अधिक की । मूल्य तो भावना का होता है । बिना भावना के तो जीवन अर्पण किया हुआ भी किसी विशेष फल को नहीं दे सकता । इस लिये दानादि समस्त कार्यों में भावना ही मूल्यवती है ।

प्रश्न—सुमुख गृहपति ने श्री सुदत्त मुनि को दान देने पर मनुष्य का आयुष्य बांधा, इस कथन से स्पष्ट

सिद्ध होता है कि उस ने मिथ्यात्व की दशा में दान दिया, दूसरे शब्दों में वह मिथ्यात्वी था या होना चाहिये।

उत्तर—श्री सुमुख गृहपति को मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि कहना भूल करना है। सयमशील मुनिजनों में इस की जैसी अनन्य श्रद्धा थी, वैसी तो आजकल के उत्कृष्ट श्रावकों में भी दृष्टिगोचर नहीं होती। इस प्रकार की आन्तरिक भक्ति सम्यग्दृष्टि में ही हो सकती है और इस के अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के जो २ चिन्ह होते हैं उन से वह सर्वथा परिपूर्ण था।

प्रश्न—श्री भगवती सूत्र शतक ३० उद्देश १ में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा पशु वैमानिक देवगति के अतिरिक्त अन्य किसी भी गति का बन्ध नहीं करता, परन्तु सुमुख गृहपति ने सम्यग्दृष्टि होते हुए भी मनुष्य आयु का बन्ध किया, देवगति का नहीं। इस से प्रमाणित होता है कि वह सम्यग्दृष्टि नहीं था। अगर सम्यग्दृष्टि होता तो वैमानिक देव बनता, मनुष्य नहीं।

उत्तर—श्री भगवतीसूत्र में जो कुछ लिखा है, उस से सुमुख गृहपति का सम्यग्दृष्टि होना निषिद्ध नहीं हो सकता। वहां लिखा है कि जो मनुष्य और तिर्यंच विशिष्ट क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि) होते हैं और निरतिचार व्रतों का पालन करते हैं वे ही वैमानिक की आयु का बन्ध करते हैं। इस से स्पष्ट विदित होता है कि भगवती सूत्र का उक्त कथन सामान्य सम्यग्दृष्टि के लिये नहीं किन्तु विशेष के लिये है।

प्रश्न—श्री भगवतीसूत्र में इस विषय का जो पाठ है उस में मात्र "क्रियावादी" पद है विशिष्ट क्रियावादी नहीं। ऐसी दशा में उस का विशिष्ट क्रियावादी अर्थ मानने के लिये कौन सा शास्त्रीय आधार है?

उत्तर—यहां पर विशिष्ट क्रियावादी का ही ग्रहण करना उचित है। इस के लिये [1]श्री दशाश्रुतस्कन्ध का उल्लेख प्रमाण है। वहां लिखा है कि महारंभी और महापरिग्रही सम्यग्दृष्टि नरक में जाता है। यदि श्री भगवती सूत्रगत क्रियावादी पद से विशिष्ट सम्यग्दृष्टि अर्थ गृहीत न हो तो उस का श्री दशाश्रुतस्कन्ध के साथ विरोध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि सामान्यरूप से सभी सम्यग्दृष्टि वैमानिक की आयु का बन्ध करते हैं—यह आशय श्री भगवतीसूत्र के उल्लेख का हो तो श्री दशाश्रुतस्कन्धगत आरम्भ और परिग्रह की विशेषता रखने वाले सम्यग्दृष्टि को नरकप्राप्ति का उल्लेख विरुद्ध हो जाता है जो कि सिद्धान्त को इष्ट नहीं है और यदि क्रियवादी से विशिष्ट क्रियावादी अर्थ ग्रहण करें तो विरोध नहीं रहता। कारण कि जो विशिष्ट सम्यग्दृष्टि है उसी के लिये वैमानिक आयु के बन्ध का निर्देश है न कि सभी के लिये। दूसरे शब्दों में कहें तो श्री भगवतीसूत्र में जिस सम्यग्दृष्टि के लिये वैमानिक आयु के बन्ध का कथन है, वह सामान्य क्रियावादी के लिए नहीं अपितु विशिष्ट क्रियावादी—सम्यग्दृष्टि के लिए है, और जो श्री दशाश्रुतस्कध सूत्र में महारम्भी तथा महापरिग्रही के लिये नरकप्राप्ति का उल्लेख है वह सामान्य सम्यग्दृष्टि के लिये है, विशिष्ट सम्यग्दृष्टि के लिए नहीं। उस में तो महारम्भ और महापरिग्रह का सम्भव ही नहीं होता

प्रश्न—क्या श्री दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के अतिरिक्त श्री भगवतीसूत्र में भी इस विषय का समर्थक कोई उल्लेख है?

उत्तर—हां है। भगवतीसूत्र में ही (श० १, उ० २) लिखा है कि विराधक श्रावक की उत्पत्ति जघन्य भवनवासी देवों में और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवों में होती है। श्रावक के विराधक होने पर भी उसका सम्यक्त्व सुरक्षित रहता है अर्थात् वह क्रियावादी होने पर भी वैमानिक देवों में उत्पन्न न हो कर भवनवासी तथा ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होता है। इस से भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि श्री भगवतीसूत्रगत उक्त क्रियावादी पद से

(१) देखिये—श्रीदशाश्रुतस्कन्ध की छठी दशा।

विशिष्ट क्रियावदी का ही ग्रहण करना अभीष्ट है, सामान्य का नहीं । इस लिये श्री सुमुख गाथापति के सम्यग्दृष्टि होने में कोई सन्देह नहीं है ।

प्रश्न—यदि श्री सुमुख गाथापति को मिथ्यादृष्टि ही मान लिया जाये तो क्या हानि है ?

उत्तर—यही हानि है कि सुमुख गृहपति का परित्तसंसारी—परिमितसंसारी होना समर्थित नहीं होगा और यह बात शास्त्रविरुद्ध होगी । मिथ्यादृष्टि जीव का सदनुष्ठान अकामनिर्जरा (कर्मनाश की अनिच्छा से भूख आदि के सहन करने से जो निर्जरा होती है वह) का कारण बनता है और वह—[१]अकामनिर्जरा वाला संसार को परित्त—परिमित नहीं कर सकता। संसार को परिमित करने के लिये तो सम्यक्त्व की आवश्यकता है । सम्यग्दृष्टि जीव का सदनुष्ठान—शुभ कर्म ही सकामनिर्जरा (कर्मनाश की इच्छा से ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने से होने वाली निर्जरा) का कारण है और उस से ही संसार परिमित होता है ।

दूसरी बात—अनन्तानुबंधी क्रोधादि के नाश हुए विना संसार परिमित नहीं हो सकता और अनन्तानुबंधी क्रोध का नाश सम्यक्त्व पाए विना नहीं हो सकता । तब सुमुख गृहपति को परित्तसंसारी प्रमाणित करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे सम्यग्दृष्टि स्वीकार किया जाये । इस के अतिरिक्त एक बात और भी ध्यान देने योग्य है वह यह कि मिथ्यादृष्टि और उस की क्रिया को भगवान् की आज्ञा से बाहिर माना है, जो कि युक्तिसंगत है । इसी न्याय के अनुसार सुमुख गृहपति की दानक्रिया को भी आज्ञाबाह्य ही कहना पडेगा, परन्तु वस्तुस्थिति इस के विपरीत है । अर्थात् सुमुख को मिथ्यादृष्टि और उस के सुपात्रदान को आज्ञाविरुद्ध नहीं माना गया है । अगर सुमुख मिथ्यादृष्टि है तो उस की दानक्रिया को आज्ञानुमोदित कैसे माना जा सकता है ? अतः जहां सुमुख की दानक्रिया भगवदाज्ञानुमोदित है वहां उस का सम्यग्दृष्टि होना भी भगवान् के कथनानुकूल ही है ।

प्रश्न—देवों का सुवर्णवृष्टि करना और "अहोदान अहोदान" की घोषणा करना क्या पाप-जनक नहीं है ?

उत्तर—नहीं । इसे एक लौकिक उदाहरण से समझिये । कल्पना करो कि कोई गृहस्थ अपने पुत्र या पुत्री की सगाई करता है यदि उस ने पुत्र की सगाई की है तो वह लड़की वालों के सम्मान का भाजन बनता है । लड़की का पिता उसे अपनी लड़की का श्वसुर जान कर उस का आदर, सम्मान करता है तथा सभ्य भाषण और भोजनादि से उसे प्रसन्न करने का यत्न करता है । इस सम्मानसूचक व्यवहार से लड़के का पिता यह निश्चय कर लेता है कि सगाई पक्की हो गई । इन्हें मेरा लड़का और मेरा घर आदि सब कुछ पसन्द है। इसी प्रकार लड़की की सगाई में समझिए । यदि वह अपनी लड़की के श्वसुर का सम्मान करता है और वह उस के सम्मान को स्वीकार कर लेता है तो सगाई पक्की अन्यथा कच्ची समझ ली जाती है । बस इसी से मिलती जुलती बात की पुनरावृत्ति देवों की सुवर्णवृष्टि और देवकृत हर्षघोषणा ने की है । हर्षध्वनि सुपात्रदान की प्रशंसासूचक है और सुवर्णवृष्टि उस की सफल अनुमोदना है । अब रही पुण्य और पाप की बात ? सो इस का उत्तर स्पष्ट है । जबकि सुपात्रदान कर्मनिर्जरा का हेतु है तो उस की प्रशंसा या अनुमोदना को पाप-जनक क्यों कर माना जा सकता है ? सारांश यह है कि स्वर्णवृष्टि और हर्षध्वनि से देवों ने किसी प्रकार

(१) श्री औपपातिकसूत्र के मूलपाठ में सम्वररहित निर्जरा की क्रिया को मोक्षमार्ग से अलग स्वीकार किया है । उस क्रिया का अनुष्ठान करने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव को मोक्षमार्ग का अनाराधक माना गया है । विशेष की जिज्ञासा रखने वाले पाठक **श्री स्थानांग सूत्र** (स्थान ३, उद्दे० ३) तथा **श्री भगवती सूत्र** के शतक पहले और उद्देश्य चतुर्थ को देख सकते हैं ।

के पाप का संचय नहीं किया प्रत्युत पुण्य का उपार्जन किया है।

इस कथासंदर्भ से यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि जो लोग यह समझते या सोचते हैं कि हाय! हम न तो करोड़पति हैं, न लखपति। यदि होते तो हम भी दान करते, वे भूल करते हैं। सुमुख गाथापति ने कोई करोडों या लाखों का दान नहीं किया किन्तु थोड़े से अन्न का दान दिया था। उसी ने उस के संसार को परिमित कर दिया अतः इस सम्बन्ध में किसी को भी निराश नहीं होना चाहिये। दान की कोई इयत्ता नहीं होती, वह थोड़ा भी बहुत फल देता है और बहुत भी निष्फल हो सकता है। दान की फलता और विफलता का आधार तो दाता के भावों पर निर्भर ठहरता है। देय वस्तु स्वल्प हो या अधिक इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, अन्तर का कारण तो भावना है। दान देते समय दाता के हृदय में जैसी भावना होगी उसी के अनुसार ही फल मिलेगा। भावना का वेग यदि साधारण होगा तो साधारण फल मिलेगा और यदि वह असाधारण होगा तो उस का फल भी असाधारण ही प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि पाप पुण्य और निर्जरा में सर्वप्राधान्य भावना[1] को ही प्राप्त है। भावनाशून्य हर एक अनुष्ठान निस्सार एवं निष्प्रयोजन है।

संसार में दान का कितना महत्त्व है? यह सुमुख गाथापति के जीवन से सहज ही में ज्ञात हो जाता है। वास्तव में दान के महत्त्व को समझाने के लिये ही इस कथासन्दर्भ का निर्माण किया गया है, अन्यथा गौतमस्वामी अपने ज्ञानबल से स्वयमेव सब कुछ जान लेने में समर्थ थे। ऐसा न कर सब के सन्मुख सुमुख गृहपति के जीवन को भगवान् से पूछने का यत्न करना निस्सन्देह सांसारिक प्राणियों को दान की महिमा समझाने के लिये ही उन का पावन प्रयास है, तथा दान के प्रभाव को दिखलाने के निमित्त ही सूत्रकार ने सुमुख गृहपति को, कई सौ वर्ष तक सानंद जीवन व्यतीत करने के अनन्तर मृत्युधर्म को प्राप्त हो कर महाराज अदीनशत्रु की सती साध्वी धारिणी देवी के गर्भ में पुत्ररूप से उत्पन्न होने और जन्म लेकर वहां के विपुल ऐश्वर्य का उपभोग करने वाला कहा है।

भगवान् कहते हैं—गौतम! इस सुमुख गृहपति का पुण्यशाली जीव ही धारिणी देवी के गर्भ में आकर सुबाहुकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ है। इस से यह सुबाहुकुमार पूर्वजन्म में कौन था? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भली भाँन्ति स्फुट हो जाता है। प्रस्तुत कथासन्दर्भ के उत्तर में गौतम स्वामी की ओर से किये गए प्रश्नों के उत्तर में भगवान ने जो कुछ फरमाया, उस से निष्पन्न होने वाले सारांश की तालिका नीचे उद्धृत की जाती है—

गौतमस्वामी	श्रमण भगवान् महावीर
१—प्रश्न—सुबाहुकुमार पूर्वभव में कौन था?	उत्तर—एक प्रसिद्ध गाथापति—गृहस्थ था।
२—प्रश्न—इस का नाम क्या था?	उत्तर—सुमुख गाथापति।
३—प्रश्न—इस का गोत्र क्या था?	उत्तर—(सूत्रसंकलन के समय छूट गया है)
४—प्रश्न—इस ने क्या दान दिया?	उत्तर—सुदत्त अनगार को आहार दिया था।
५—प्रश्न—इस ने क्या खाया था?	उत्तर—मानवोचित सात्त्विक भोजन।
६—प्रश्न—इस ने क्या कृत्य किया था?	उत्तर—भावनापुरस्सर दानकार्य किया था।

(१) भावना के सम्बन्ध में निम्नोक्त वीरवाणी मननीय है—

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले नावा हि आहिया।
नावा व तीरसपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥ (सूयगडांगसूत्र श्रुतस्कंध १ अ० १५, गाथा ६)

७—**प्रश्न** इस ने किस शील का पालन किया था ? **उत्तर** पांचों शीलों का।
८—**प्रश्न** इस ने किस तथारूप मुनि के वचन सुने थे ? **उत्तर**—तपस्विराज श्री सुदत्त मुनि जी महाराज के।

सुबाहुकुमार के पूर्वभवसम्बन्धी जीवनवृत्तान्त में अधिकृततया सुपात्रदान का महत्त्व वर्णित हुआ है, जोकि प्रत्येक मुमुक्षु जीव के लिये आदरणीय तथा आचरणीय है।

शास्त्रों में चार प्रकार के मेघ बतलाये गये हैं। जैसेकि—१—क्षेत्र में बरसने वाले, २—अक्षेत्र में बरसने वाले, ३—क्षेत्र अक्षेत्र दोनों में बरसने वाले, ४—क्षेत्र अक्षेत्र दोनों में न बरसने वाले। इसी प्रकार चार तरह के दाता होते हैं। जैसेकि—१—क्षेत्र—सुपात्र में देने वाले, २—अक्षेत्र—कुपात्र में देने वाले, ३—क्षेत्र अक्षेत्र—सुपात्र तथा कुपात्र दोनों में देने वाले ४—क्षेत्र अक्षेत्र—सुपात्र कुपात्र दोनों में न देने वाले। इस में तीसरी श्रेणी के दाता बड़े उदार होते हैं। वे सुपात्र को तो देते ही हैं परन्तु प्रवचनप्रभावना आदि के निमित्त कुपात्र को भी दान देते हैं। कुपात्र कर्मनिर्जरा की दृष्टि से चाहे दान के अयोग्य होता है परन्तु अनुकम्पा—करुणा बुद्धि से वह भी योग्य होता है। सभी दानों में सुपात्रदान प्रधान है, यह महती कर्मनिर्जरा का हेतु होता है, तथा दाता को जन्ममरणपरम्परा के भयंकर रोग से विमुक्त करने वाली रामबाण औषधि है। इस के सेवन से साधक आत्मा एक न एक दिन जन्म और मृत्यु के बन्धन से सदा के लिये छूट जाता है। इस के अतिरिक्त घर में आये हुए मुनिराज का अभ्युत्थानादि से किस प्रकार स्वागत करना चाहिए ? और उन को आहार देते समय कैसी भावना को हृदय में स्थान देना चाहिए ? एवं आहार दे चुकने के बाद मन में किस हद तक सन्तोष प्रकट करना चाहिए ? इत्यादि गृहस्थोचित सद्व्यवहार की शिक्षा के लिये सुमुख गाथापति के जीवनवृत्तान्त का अध्ययन पर्याप्त है।

हृष्ट तुष्ट—शब्द के १—**हृष्ट**—मुनि के दर्शन से हर्षित तथा **तुष्ट**—सन्तोष को प्राप्त अर्थात् मैं धन्य हूं कि आज मुझे सुपात्रदान का सुअवसर प्राप्त होगा, इस विचार से सन्तुष्ट। २—अत्यन्त प्रमोद से युक्त, ऐसे अनेकों अर्थ पाए जाते हैं। सिंहासन के नीचे पैर रखने के एक आसनविशेष की **पादपीठ** संज्ञा होती है। **पादुका** खड़ाओं का ही दूसरा नाम है।

—**उत्त०**—यहां के बिन्दु से—**उत्तरासंगं करेइ करित्ता**—इस पाठ का ग्रहण करना चाहिये। उत्तरासंग का अर्थ होता है—एक अस्यूत वस्त्र के द्वारा मुख को आच्छादित करना।

—**सत्तट्ठपयाइं**—**सप्ताष्टपदानि**—इस का सामान्य अर्थ—सात आठ पांव—यह होता है। यहां पर मात्र सात या आठ का ग्रहण न करके सूत्रकार ने जो सात और आठ इन दोनों का एक साथ ग्रहण किया है, इस में एक रहस्य है, वह यह है कि जब आदमी दोनों पांव जोड़ कर खड़ा होता है, तब चलने पर एक पांव आगे होगा और दूसरा पांव पीछे। चलते २ जब अगले पांव से सात कदम पूरे हो जाएंगे तब उसी दशा में स्थित रहने से एक कदम आगे और एक पीछे, ऐसी स्थिति होगी, और तदनन्तर पिछले पांव को उठा कर दूसरे पांव के साथ मिलाने से खड़े होने की स्थिति सम्पन्न होती है। ऐसे क्रम में जो पांव आगे था उस से तो सात कदम होते हैं और जिस समय पिछला पांव अगले पांव के साथ मिलाया जाता है उस समय आठ कदम होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक पांव से सात क़दम रहते हैं और दूसरे से आठ क़दम होते हैं। इसी भाव को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने केवल सात या आठ का उल्लेख न कर के—**सत्तट्ठपयाइं**—ऐसा उल्लेख किया है, जो कि समुचित ही है।

—**तिक्खुत्तो आया०**—यहां का बिन्दु—**हिणं पयाहिणं करेइ करित्ता**—इन पदों का संसूचक है। इन का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है। प्रस्तुत में पढ़े गये—**तिक्खुत्तो**—इत्यादि पद वन्दना—

विधि के पाठ का सक्षिप्त रूप है। वन्दना[1] का सम्पूर्ण पाठ निम्नोक्त है—

"—**तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेमि वंदामि नमसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाण मंगलं देवयं चेइय पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि**। अर्थात् मैं तीन बार गुरु महाराज की दक्षिण की ओर से ले कर प्रदक्षिणा[2] (हाथों का आवर्त —घुमाना) करता हू, स्तुति करता हूँ, नमस्कार करता हू, सत्कार करता हूं सम्मान करता हू, गुरु महाराज कल्याणकारी हैं, मगलकारी हैं, धर्म के देव हैं और ज्ञान के भण्डार हैं, ऐसे गुरु महाराज की मन, वचन और काया से सेवा करता हू, श्री गुरु महाराज को मस्तक झुका कर वन्दना करता हू।

—**सयहत्थेणं विउलेणं** [3]**असणं पाण ४**—यहा ४ के अक से **खादिम** और **स्वादिम** इन दो का भी ग्रहण जानना चाहिए। इस उल्लेख मे —**सयहत्थेणं**—का यह भाव है कि सुमुख गृहपति के मानस में इस विचार से परम हर्ष हुआ कि मैं आज स्वय अपने हाथों से मुनि महाराज को आहार दूंगा। आजकल के श्रावक को इस से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जब भी साधु महाराज घर पर पधारें तो स्वयं अपने हाथ से दान देने का सकल्प तथा तदनुसार आचरण करना चाहिये जो लाभ अपने हाथ से देने मे होता है, वह किसी दूसरे के हाथ से दिलवाने मे प्राप्त नहीं होता, यह बात श्री सुमुख गाथापति के जीवन से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। फलतः जो श्रावक नौकरों से ही दान कराते हैं, वे भूल करते हैं।

—**तुट्ठे ३**—यहा पर उल्लेख किये गये ३ के अक से—**पडिलाभेमाणे तुट्ठे, पडिलाभिए वि तुट्ठे**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिए। इन का भावार्थ है कि सुमुख गृहपति दान देते समय मुदित—प्रसन्न हुआ और दान देने के पश्चात् भी हर्षित हुआ। दान देने के पूर्व, दान देने के समय और दान देने के पश्चात् भी प्रसन्नता का अनुभव करना, यही दाता की विशेषता का प्रत्यक्ष चिह्न होता है।

—**दव्वसुद्धेणं ३**—यहा दिये गए ३ के अंक से—**गाहगसुद्धेण, दायगसुद्धेण**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिए। इन का अभिप्राय ग्राहकशुद्धि से और दाता की शुद्धि से है, अर्थात् दान देने वाला और दान लेने वाला, दोनों ही शुद्ध होने चाहिए।

दान के सम्बन्ध मे जैसा कि पहले बतलाया गया है, दाता, देय और ग्राहक—ये तीनों जहा शुद्ध होंगे वहां ही दान कल्याणकारी होता है। प्रकृत मे सुमुख गृहपति दाता, उस का आहार देय और श्री सुदत्त

---

(१) वन्दना के द्रव्य और भाव से दो भेद पाये जाते हैं। उपयोगशून्य होते हुए शरीर के—दो हाथ, दो पैर और एक मस्तक—इन पाच अगों को नत करना **द्रव्यवन्दन** कहलाता है, तथा जब इन्हीं पाचों अगों मे भावसहित विशुद्ध एव निर्मल मन के उपयोग से वन्दन किया जाता है तब वह **भाववन्दन** कहलाता है।

(२) पहले समय मे तीर्थंकर या गुरुदेव समवसरण के ठीक बीच में बैठा करते थे, अतः आगन्तुक व्यक्ति भगवान् को या गुरुदेव के चारों ओर घूम कर फिर सामने आकर पाचों अङ्ग नमा कर वन्दन किया करता था। घूमना गुरुदेव के दाहिने हाथ से आरम्भ किया जाता था, इन सारे भावों को **आदक्षिण प्रदक्षिणा**, इन पदों द्वारा सूचित किया गया है, परन्तु आज यह परम्परा विच्छिन्न हो गई है आज तो गुरुदेव के दाहिनी ओर से बाईं ओर अजलिबद्ध हाथ घुमा कर आवर्तन किया जाता है। आवर्तन ने ही प्रदक्षिणा का स्थान ले लिया है। आजकल की इस प्रकार की प्रदक्षिणा—क्रिया का स्पष्ट रूप आरती उतारने की क्रिया में दृष्टिगोचर होता है। अञ्जलिबद्ध हाथों का आवर्तन प्राचीन प्रदक्षिणा का मात्र प्रतीक है।

(३) **अशन, पान, खादिम** और **स्वादिम** इन पदों का अर्थ पृष्ठ ४८ की टिप्पणी मे दिया जा चुका है।

मुनि आदाता—ग्राहक हैं, ये तीनों ही शुद्ध थे। अर्थात् दाता की भावना ऊंची थी, देय वस्तु—आहारादि प्रासुक—निर्दोष थी और ग्राहक सर्वोत्तम था। इसलिये दान भी सर्व प्रकार से फलदायक सम्पन्न हुआ।

—**तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स** -यहां तृतीया के स्थान में—**हैमशब्दानुशासन** शब्दशास्त्र के—**क्वचिद् द्वितीयादेः** । ८—३—१३४। इस सूत्र[1] से षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

—**तिविहेणं—तिकरणसुद्धेणं**—(तीन प्रकार की करणशुद्धि से) इन पदों का भावार्थ है कि जिस समय सुमुख गृहपति आहार दे रहा था, उस समय उस के तीनों करण—मन, वचन और काया शुद्ध थे। आहार देते समय सुमुख गृहपति की मनोवृत्ति, वाणी का व्यापार, शारीरिक चेष्टा, ये तीनों ही संयत, प्रशस्त अथच निर्दोष थीं।

—**परित्तीकने**—इस का भावार्थ है—सुमुख गृहपति ने उक्त सुपात्रदान से संसार—जन्ममरणरूप परम्परा को परिमित—स्वल्प कर दिया। इस के अतिरिक्त जैनपरिभाषा के अनुसार "**परित्तसंसारी**" उसे कहते हैं, जिस का जघन्य (कम से कम) काल अन्तर्मुहूर्त हो और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) काल देशोन—थोड़ा सा कम, अर्धपुद्गलपरावर्तन हो। अर्थात् जिस का जन्ममरणरूप संसार कम से कम अन्तर्मुहूर्त का अधिक से अधिक देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तन[2] तक रह जावे उसे **परित्तसंसारी**—परिमित संसार वाला कहते हैं। संसार अपरिमित है। उस की कोई इयत्ता नहीं है। यह प्रवाह से अनादि अनन्त है। इस अपरिमित जन्ममरण-परम्परा को अपने लिए परिमित कर देना किसी विशिष्ट आत्मा को ही आभारी होता है। परिमित संसारी का मोक्षगमन सुनिश्चित हो जाता है, इसलिये यह बड़े महत्त्व की वस्तु है।

दिव्य का अर्थ है—देवसम्बन्धी या देवकृत। **वसु** का अर्थ है - सुवर्ण। उस की वृष्टि धारा कहलाती है। वास्तव में देवकृत सुवर्णवृष्टि को ही **वसुधारा** कहते हैं। कृष्ण, नील, पीत, श्वेत और रक्त ये पांच रंग पुष्पों में पाए जाते हैं। देवों से गिराए गए पुष्प वैक्रियलब्धिजन्य होते हैं। अतएव ये अचित्त होते हैं। यही इन की विशेषता है। **चेलोत्क्षेप**—चेल नाम वस्त्र का है, उस का उत्क्षेप—फैंकना चेलोत्क्षेप कहलाता है। आश्चर्य उत्पन्न करने वाले दान की **अहोदान** संज्ञा है। सुवर्णवृष्टि पुष्पवर्षण और चेलोत्क्षेप एवं दुन्दुभिनाद, ये सब ही आश्चर्योत्पादक हैं। इसलिये जिस दान के प्रभाव से ये प्रकट हुए हैं उसे **अहोदान** शब्द से व्यक्त करना नितरां समीचीन है।

—**सिंघाडग० जाव पहेसु**—यहां पठित—**जाव**—यावत्—पद से—**तियचउक्कचच्चर—महापह**—इन पदों का ग्रहण होता है। त्रिकोण मार्ग की **शृंगाटक** संज्ञा है। जहां तीन रास्ते मिलते हों उसे त्रिक कहते हैं। चार रास्तों के सम्मिलित स्थान की **चतुष्क**—चौक संज्ञा है। जहां चार से भी अधिक रास्ते हों वह चत्वर कहलाता है। जहां बहुत से मनुष्यों का यातायात हो वह **महापथ** और सामान्यमार्ग की

(१) **द्वितीयादीनां विभक्तीनां स्थाने षष्ठी भवति क्वचित्। सीमाधरस्स वन्दे । तिस्सा मुहस्स भरिमो। अत्र द्वितीयायाः षष्ठी । धणस्स लद्धो—धनेन लब्ध इत्यर्थः। चिरेण** ..(वृत्तिकारः)

(२) एक जीव जितने समय में लोक के समस्त पुद्गलों को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन शरीरों के रूप से तथा मन, वचन और काय के रूप में ग्रहण कर परिणमित कर ले अर्थात् लोक के सब पुद्गलों को औदारिक शरीर के रूप में, फिर वैक्रिय, फिर तैजस, फिर कार्मण शरीर के रूप में, फिर मन इसी भाँति वचन और काय के रूप में समस्त पुद्गलों का ग्रहण करके परिणत करे। उतने काल को **पुद्गलपरावर्तन** कहते हैं। उस के अर्धकाल को **अर्धपुद्गलपरावर्तन** कहते हैं। दूसरे शब्दों में—अनन्त अवसर्पिणी और अनन्त उत्सर्पिणी प्रमाण का एक कालविभाग **अर्धपुद्गलपरावर्तन** कहलाता है।

पथ संज्ञा होती है।

—एवं आइक्खइ ४—इस पाठ में उपन्यस्त ४ का अंक—एवं आइक्खइ, एवं भासइ, एवं पएणवेइ, एवं परूवेइ—इन चार पदों के बोध कराने के लिए दिया गया है। इस पर वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि कहते हैं कि 'प्रथम के–एवं आइक्खइ (इस प्रकार कथन करते हैं), एवं भासइ (इस प्रकार भाषण करते हैं—इन दोनों पदों के अनुक्रम से व्याख्यारूप ही—एवं पएणवेइ (इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं), एवं परूवेइ। इस प्रकार प्ररूपण करते हैं,—ये दो पद प्रयुक्त किये गए हैं। अथवा इन चारों का भावार्थ "—आइक्खइ—सामान्यरूप में कहते हैं। भासइ—विशेषरूप में कहते हैं। पएणवेइ—प्रमाण और युक्ति के द्वारा बोध कराते हैं। परूवेइ—भिन्न २ रूप से प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सुमुख गृहपति के विषय में हस्तिनापुर की जनता इस प्रकार कहती है, इस प्रकार से बोलती है, इस प्रकार से बोध कराती है और विभिन्नरूप से निरूपण करती है। यदि कुछ गम्भीरता से विचार किया जावे तो 'आख्याति, भाषते' इन दोनों के व्याख्यारूप में ही 'प्रज्ञापयति और प्ररूपयति' ये दोनों पद प्रयुक्त हुए हैं या होने चाहियें। वृत्तिकार का पहला कथन—एतच्च पूर्वोक्तपदद्वयस्यैव क्रमेण व्याख्यानार्थं पदद्वयमवगन्तव्यम्—कुछ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आख्यान और भाषण की प्रज्ञापन और प्ररूपण अर्थात् युक्तिपूर्वक बोधन और विभिन्न प्रकार से निरूपण—यही सुचारु व्याख्या हो सकती है।

—धन्ने णं देवा० सुमुहे गाहावती जाव त धन्ने ५—इस स्थान में उल्लिखित जाव-यावत् पद से तथा ५ के अंक से भगवतीसूत्रानुसारी—धन्ने णं देवाणुप्पिया! सुमुहे गाहावती, कयत्थे णं देवाणुप्पिया! सुमुहे गाहावती, कयपुराणे णं देवाणुप्पिया! सुमुहे गाहावती, कयलक्खणे णं देवाणुप्पिया! सुमुहे गाहावती, कया णं लोया देवाणुप्पिया! सुमुहस्स गाहावइस्स, सुलद्धे णं देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले सुमुहस्स गाहावइस्स, जस्स णं गिहंसि तहारूवे साधू साधुरूवे पडिलाभिए समाणे इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं तंजहा—१—वसुहारा वुट्ठा, २—दसद्धवएणे कुसुमे निवातिते, ३—चेलुक्खेवे कते, ४—आहताओ देवदुन्दुभीओ, ५—अन्तरा वि य णं आगासे अहो दाणमहो दाणं घुट्ठं य, तं धन्ने कयत्थे कयपुन्ने कयलक्खणे कया णं लोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले सुमुहस्स गाहावइस्स सुमुहस्स गाहावइस्स—इस पाठ की ओर संकेत कराया गया है। अर्थात् हे महानुभावो! यह सुमुख गाथापति धन्य है, कृतार्थ है—जिस का प्रयोजन सिद्ध हो गया है, कृतपुण्य–पुण्यशील है, कृतलक्षण है (जिस ने शरीरगत चिह्नों को सफल कर लिया है) इस ने दोनों लोक सफल कर लिये हैं, इसने अपने मनुष्य जन्म तथा जीवन को सफल कर लिया है—जन्म तथा जीवन का फल भलीभांति प्राप्त कर लिया है। जिस के घर में सौम्य आकार वाले तथारूप साधु (शास्त्रों में वर्णित हुए आचार का पालक मुनि) के प्रतिलाभित होने पर अर्थात् मुनि को दान देने से—१—सोने की वर्षा, २—पांच वर्ण के पुष्पों की वर्षा, ३—वस्त्रों की वर्षा, ४—देवदुन्दुभियों का बजना, ५—आकाश में अहो (आश्चर्यकारक) दान अहोदान—इस प्रकार की उद्घोषणा, ये पांच दिव्य प्रकट हुए हैं, इसलिये सुमुख गाथापति धन्य है, कृतार्थ है, कृतपुण्य है कृतलक्षण है, इस ने दोनों लोक सफल कर लिये हैं इस ने मनुष्य का जन्म तथा

(१) एवं आइक्खइ त्ति सामान्येनाचष्टे, इह चान्यदपि पदत्रयं द्रष्टव्यम्—एवं भासइ त्ति विशेषत आचष्टे। एवं पएणवेइ एवं परूवेइ—एतच्च पदद्वयं पूर्वोक्तपदद्वयस्यैव क्रमेण व्याख्यानार्थं पदद्वयमवगन्तव्यम्। अथवा आख्यातीति तथैव, भाषते व्यक्तवचनैः, प्रज्ञापयतीति युक्तिभिर्बोधयति, प्ररूपयति तु भेदतः कथयतीति। (वृत्तिकार)

जीवन सफल कर लिया है। प्रस्तुत में प्रथम धन्य आदि पद देकर पुनः जो धन्य आदि पद पठित हुए हैं व वीप्सा के सूचक हैं। एक पाठ को एक से अधिक बार उच्चारण करने का नाम वीप्सा है। प्रस्तुत में वीप्सा के रूप में ही उक्त पाठ को दोबारा उच्चारण किया गया है। सम्भ्रम[1] या आश्चर्य में वीप्सा दोषावह नहीं होती।

—तहेव सीहं पासति—यहां पठित तथैव यह पद "—वैसे ही अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में माता धारिणी ने स्वप्न में मुख में प्रवेश करते हुए सिंह को देखा था, उसी भांति यहां भी समझ लेना चाहिये—" इस अर्थ का परिचायक है। तथा बालक का जन्म, उस का सुबाहुकुमार नाम रखना, पांच धायमाताओं के द्वारा सुबाहुकुमार का पालनपोषण, विद्या का अध्ययन, युवक सुबाहुकुमार के लिये ५०० उत्तम महलों तथा उन में एक विशाल रमणीय भवन का निर्माण पुष्पचूलाप्रमुख ५०० राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण, माता पिता का ५०० की संख्या में प्रीतिदान—दहेज देना, सुबाहुकुमार का उस प्रीतिदान का अपनी पत्नियों में विभक्त करना तथा अपने महलों के ऊपर उन तरुण रमणियों के साथ ३२ प्रकार के नाटकों के द्वारा सानन्द सांसारिक कामभोगों का उपभोग करना, इन सब बातों को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने—**सेसं तं चेव जाव उप्पिं पासाए विहरति**—इन पदों का संकेत कर दिया है। इन सब बातों का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत अध्ययन के आरंभ में किया जा चुका है। पाठक वहीं देख सकते हैं।

—लद्धा ३—यहां पर दिये गये ३ के अंक से—**पत्ता अभिसमन्नागया**—इन शेष पदों का ग्रहण करना सूत्रकार को अभिमत है। इन पदों का अर्थ पूर्व पृष्ठ ६१० पर लिख दिया गया है।

इस प्रकार सुबाहुकुमार के अतीत और वर्तमान जीवनवृत्तान्त का परिचय करा देने के बाद अब सूत्रकार उस के भावी जीवनवृत्तान्त का वर्णन करते हैं—

मूल—[2] पभू णं भंते! सुबाहुकुमारे देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ

(१) शाकटायन व्याकरण में लिखा है कि सम्भ्रम अर्थ में पदों का अनेक बार प्रयोग हो जाता है। जैसे कि—५०९—सम्भ्रमेऽसकृत। २-३-१। **सम्भ्रमे वर्तमानं पदं वाक्यं वा असकृदनेकवारं प्रयुज्यते।** जय जय जय। जिन जिन जिन। अहिरहिरहिः। सर सर सर। हस्त्यागच्छति हस्त्यागच्छति हस्त्यागच्छति। लघु पलायध्वं लघु पलायध्वं लघु पलायध्वमित्यादि। इस के अतिरिक्त सिद्धान्त कौमुदी में लिखा है—"सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः" (वा० ५०५६) सर्प सर्प। बुध्यस्व बुध्यस्व सर्प सर्प सर्प। बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व। इत्यादि पद दिये हैं जो कि वीप्सा के समर्थक हैं। प्रस्तुत में नगरनिवासी मुमुक्षु गाथापति की जो पुनः २ प्रशंसा कर रहे हैं तथा इस में पदों का अनेक बार जो प्रयोग हुआ है, वह भी वीप्सा के निमित्त ही है।

(२) छाया—प्रभुः भदन्त! सुबाहुकुमारो देवानुप्रियाणामन्तिके मुंडो भूत्वाऽगारादनगारतां प्रव्रजितुम्? हन्त प्रभुः। ततः स भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं वन्दते नमस्यति वन्दित्वा नमस्यित्वा संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति। ततः स श्रमणो भगवान् अन्यदा कदाचित् हस्तिशीर्षाद् नगराद् पुष्पकरण्डोद्यानात् कृतवनमालयक्षायतनात् प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदं विहरति। ततः स सुबाहुकुमारः श्रमणोपासको जातः, अभिगतजीवाजीवो यावत् प्रतिलम्भयन् विहरति। ततः स सुबाहुकुमारोऽन्यदा चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपौर्णमासीषु यत्रैव पौषधशाला तत्रैवोपागच्छति उपागम्य पौषधशालां प्रमार्ष्टि प्रमार्ज्य उच्चारप्रस्रवणभूमिं प्रतिलेखयति प्रतिलेख्य दर्भसंस्तारं संस्तृणोति, दर्भसंस्तारमारोहति। अष्टमभक्तं प्रगृह्णाति। पौषधशालायां पौषधिकोऽष्टमभक्तिकः पौषधं प्रतिजाग्रत् २ विहरति।

अणगारियं पव्वइत्तए ? हंता पभू । तते णं से भगवं गोयमे समणं भगवं वंदति नमंसति वन्दित्ता नमंसित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । तते णं से समणे भगवं अन्नया कयाइ हत्थिसीसाओ णगराओ पुप्फकरंडाओ उज्जाणाओ कतवणमालजक्खायतणाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयं विहरति । तते णं से सुबाहुकुमारे समणोवासए जाते अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरति । तते णं सुबाहुकुमारे अन्नया चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जति पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेति पडिलेहित्ता दब्भसंथारगं संथरेइ दब्भसंथारं दुरूहति । अट्ठमभत्तं पगेण्हति, पोसहसालाए पोसहिए अट्ठमभत्तिए पोसहं पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे विहरति ।

पदार्थ—हे भंते !—हे भदन्त ! । सुबाहुकुमारे—सुबाहुकुमार । देवाणुप्पियाणं —आपश्री के । अंतिए—पास । मुण्डे भवित्ता—मुंडित हो कर । अगाराओ—अगार-घर को छोड़ कर । अणगारियं—अनगारधर्म को । पव्वइत्तए—प्राप्त करने में । पभू ?—समर्थ है ? । णं—वाक्यालंकारार्थक है । हंता—हां । पभू—समर्थ है । तते णं—तदनन्तर । से—वह । भगवं—भगवान् । गोयमे—गौतम । समणं—श्रमण । भगवं—भगवान् महावीर स्वामी को । वंदति—वन्दना करते हैं । नमंसति—नमस्कार करते हैं । वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना, नमस्कार कर के । संजमेण—संयम और । तवसा—तप के द्वारा । अप्पाणं—आत्मा को । भावेमाणे—भावित करते हुए । विहरति—विहरण करने लगे । तते णं—तदनन्तर । से—वे । समणे—श्रमण । भगवं—भगवान् महावीर स्वामी । अन्नया—अन्यदा । कयाइ—किसी समय । हत्थिसीसाओ—हस्तिशीर्ष । णगराओ—नगर के । पुप्फकरंडाओ—पुष्पकरंडक नामक । उज्जाणाओ—उद्यान से । कतवणमालजक्खायतणाओ—कृतवनमाल नामक यक्षायतन से । पडिनिक्खमति पडिनिक्खमित्ता—निकलते हैं, निकल कर । बहिया—बाहिर । जणवयं—जनपद—देश में । विहरति—विहरण करने लगे । तते णं—तदनन्तर । से—वह । सुबाहुकुमारे—सुबाहुकुमार । समणोवासए—श्रमणोपासक—श्रावक—जैनगृहस्थ । जाते—हो गया । अभिगयजीवाजीवे—जीव और अजीव आदि तत्त्वों का मर्मज्ञ । जाव—यावत् । पडिलाभेमाणे—आहारादि के दानजन्य लाभ को प्राप्त करता हुआ । विहरति—विहरण करने लगा । तते णं—तदनन्तर । से—वह । सुबाहुकुमारे—सुबाहुकुमार । अन्नया—अन्यदा । चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु—चतुर्दशी, अष्टमी, उद्दिष्ट—अमावस्या और पूर्णमासी इन तिथियों में से किसी एक तिथि के दिन । जेणेव—जहां । पोसहसाला—पौषधशाला—पौषधव्रत करने का स्थान था । तेणेव—वहां । उवागच्छति उवागच्छित्ता—आता है, आकर । पोसहसालं—पौषधशाला का । पमज्जति पमज्जित्ता—प्रमार्जन करता है, प्रमार्जन कर । उच्चारपासवणभूमिं—उच्चारप्रस्रवणभूमि—मलमूत्र के स्थान की । पडिलेहेति—प्रतिलेखना करता है, निरीक्षण करता है, देखभाल करता है । दब्भसंथारं—दर्भसंस्तार-कुशा का संस्तार—आसन । संथारेइ—बिछाता है । दब्भसंथारं—दर्भ के आसन पर । दुरूहति—आरूढ होता है । अट्ठमभत्तं—अष्टमभक्त—तीन दिन का अविरत उपवास । पगेण्हति—ग्रहण करता है । पोसहसालाए—पौषधशाला में । पोसहिए—पौषधिक पौषधव्रत धारण किए हुए वह । अट्ठमभत्तिए—अष्टमभक्तिक—अष्टमभक्तसहित । पोसहं—पौषध—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथि में करने योग्य जैन श्रावक का व्रतविशेष, अथवा आहारादि के त्यागपूर्वक किया जाने वाला धार्मिक अनुष्ठानविशेष का । पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे—पालन करता हुआ, २ । विहरति—विहरण करने लगा ।

मूलार्थ—भगवन् ! सुबाहुकुमार आपश्री के चरणों में मुंडित हो कर गृहस्थावास को त्याग कर अनगारधर्म को ग्रहण करने मे समर्थ है ?

भगवान्—हां गौतम ! है, अर्थात् प्रव्रजित होने मे समर्थ है ।

तदनन्तर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार कर संयम और तप के द्वारा आत्मभावना करते हुए विहरण करने लगे, अर्थात् साधुचर्या के अनुसार समय बिताने लगे ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने किसी अन्य समय हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पकरण्डक उद्यानगत कृतवनमाल नामक यक्षायतन से विहार कर अन्य देश मे भ्रमण करना आरम्भ कर दिया । इधर सुबाहुकुमार जो कि श्रमणोपासक—श्रावक बन चुका था और जीवाजीवादि पदार्थों का जानकार हो गया था, आहारादि के दान द्वारा अपूर्व लाभ प्राप्त करता हुआ समय बिता रहा था । तत्पश्चात् किसी समय वह सुबाहुकुमार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिनों मे से किसी एक दिन पौषधशाला में जाकर वहां की प्रमार्जना कर, उच्चार और प्रस्रवण भूमि का निरीक्षण करने के अनन्तर वहां कुशासन बिछा कर, उस पर आरूढ़ हो कर अष्टमभक्त—तीन उपवास को ग्रहण करता है, ग्रहण कर के पौषधशाला मे पौषधयुक्त हो कर यथाविधि उस का पालन करता हुआ अर्थात् तेलापौषध कर के विहरण करने लगा—धार्मिक क्रियानुष्ठान मे समय व्यतीत करने लगा ।

टीका—प्रस्तुत मूलपाठ में सुबाहुकुमार से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य—१—गौतम स्वामी का प्रश्न और भगवान् का उत्तर । २—सुबाहुकुमार का तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला सम्यक् बोध । ३—ग्रहण किये गये देशविरतिधर्म का सम्यक् पालन—इन तीन बातों का वर्णन किया गया है । इन तीनों का ही यहां पर क्रमशः विवेचन किया जाता है—

१—क्या भगवन् ! यह सुबाहुकुमार जिस ने आपश्री की सेवा में उपस्थित हो कर गृहस्थधर्म को स्वीकार किया है, वह कभी आपश्री से सर्वविरतिधर्म—साधुधर्म को भी अंगीकार करेगा ? वह सर्वविरतिधर्म के पालन मे समर्थ होगा ? तात्पर्य यह है कि आपश्री के पास मुण्डित हो कर अगार—घर को छोड़ कर अनगारता को प्राप्त करने—गृहस्थावास को त्याग मुनिधर्म को स्वीकार करने में प्रभु—समर्थ होगा कि नहीं ?, यह था प्रश्न जो गौतम स्वामी ने भगवान् से किया था । गौतम स्वामी के इस प्रश्न मे प्रयुक्त किये गये १—मुण्डित, २—अनगारता, ३—प्रभु । ये तीनों शब्द विशेष भावपूर्ण हैं । ये तीनों ही उत्तरोत्तर एक दूसरे के सहकारी तथा परस्पर सम्बद्ध हैं । इन का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह निम्नोक्त है—

१—मुण्डित—यहां पर सिर के बाल मुंडा देने से जो मुण्डित कहलाता है, उस द्रव्यमुण्डित का ग्रहण अभिमत नहीं, किन्तु यहां भाव से मुण्डित हुए का ग्रहण अभिप्रेत है । जिस साधक व्यक्ति ने सिर पर लदे हुए गृहस्थ के भार को उतार देने के बाद हृदय में निवास करने वाले विषयकषायों को निकाल कर बाहिर फैंक दिया हो वह भावमुण्डित कहलाता है । श्रमणता—साधुता प्राप्त करने के लिये सब से प्रथम बाहिर से जो मुंडन कराया जाता है वह आन्तरिक मुंडन का परिचय देने के लिये होता है । यदि अन्तर मे विषयकषायों का कीच भरा पड़ा रहे तो बाहिर के इस मुंडन से श्रमणभाव - साधुता की प्राप्ति दुर्घट ही नहीं किन्तु असम्भव भी है । इसीलिये शास्त्रकार स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि "—[1]न वि मुंडिएण समणो—" अर्थात् केवल सिर के मुंडा लेने से श्रमण नहीं हो सकता, पर उनके लिये तो भावमुंडित—विषयकषाय

(१) उत्तराध्ययनसूत्र अध्याय २५, गा० ३१ । तथा श्री स्थानाङ्ग सूत्र मे भी इस सम्बन्ध मे लिखा है—
दस मुंडा पं० तंजहा—सोइन्दियमुंडे जाव फासिंदियमुण्डे, कोहे जाव लोभमुण्डे सिरमुण्डे ।

रहित होने की आवश्यकता है। तब गौतम स्वामी के पूछने का भी यही अभिप्राय है कि क्या श्री सुबाहुकुमार भाव से मुंडित हो सकेगा? तात्पर्य यह है कि द्रव्य से मुंडित होने वालों, बाहिर से सिर मुंडाने वालों की तो संसार में कुछ भी कमी नहीं। सैंकड़ों नहीं बल्कि हजारों ही निकल आयें तो भी कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है परन्तु भाव से मुण्डित होने वाला तो कोई विरला ही वीरात्मा निकलता है।

२—**अनगारता**—गृहस्थ और साधु की बाह्य परीक्षा दो बातों से होती है। घर से और जर से। ये दोनों गृहस्थ के लिये जहां भूषणरूप बनते हैं वहां साधु के लिये नितान्त दूषणरूप हो जाते हैं। जिस गृहस्थी के पास घर नहीं वह गृहस्थी नहीं और जिस साधु के पास (२)घर है वह साधु नहीं। इस लिये मुण्डित होने के साथ २ घरसम्बन्धी अन्य वस्तुओं के त्याग की भी साधुता के लिये परम आवश्यकता है। वर्तमान युग में घरबार आदि रखते हुए भी जो अपने आप को परिव्राजकाचार्य या साधुशिरोमणि कहलाने का दावा करते हैं, वे भले ही करें, परन्तु शास्त्रकार तो उस के लिये (साधुता के लिये) अनगारता (घर का न होना) को ही प्रतिपादन करते हैं। गृह के सुखों का परित्याग कर के, सर्वथा गृहत्यागी बन कर विचरना एवं नाना-विध परीषहों को सहन करना एक राजकुमार के लिये शक्य है कि नहीं? अर्थात् सुबाहुकुमार जैसे सद्गुणसम्पन्न सुकुमार राजकुमार के लिये उस कठिन संयमव्रत के पालन करने की सम्भावना की जा सकती है कि नहीं? यह गौतम स्वामी के प्रश्न में रहा हुआ अनगारता का रहस्यगर्भित भाव है।

३—**प्रभु**—पाठकों को स्मरण होगा कि श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हो कर उन की धर्मदेशना सुनने के बाद प्रतिबोध को प्राप्त हुए श्री सुबाहुकुमार ने भगवान् से कहा था कि प्रभो! इस में सन्देह नहीं कि आप के पास अनेक राजा महाराजा और सेठ साहूकारों ने सर्वविरतिधर्म—साधुधर्म को अंगीकार किया है परन्तु मैं उस सर्वविरतिरूप साधुधर्म को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हूं। इसलिये आप मुझे देश-विरतिधर्म को ग्रहण कराने की कृपा करें, अर्थात् मैं महाव्रतों के पालन में तो असमर्थ हूँ अतः अणुव्रतों का ही मुझे नियम करावें। श्री सुबाहुकुमार के उक्त कथन को स्मृति में रखते हुए ही श्री गौतम स्वामी ने भगवान् से "—पभू णं भन्ते! सुबाहुकुमारे देवाणु० अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए—" यह पूछने का उपक्रम किया है। इस प्रश्न में सब से प्रथम प्रभु शब्द का इसी अभिप्राय से प्रयोग किया जान पड़ता है।

भगवान्—हां गौतम! है अर्थात् सुबाहुकुमार मुण्डित हो कर सर्वविरतिरूप साधुधर्म के पालन करने में समर्थ है। उस में भावसाधुता के पालन की शक्ति है। भगवान् के इस उत्तर में गौतम स्वामी की सभी शंकायें समाहित हो जाती हैं।

—हंता पभू—हंत प्रभुः—यहां हंत का अर्थ स्वीकृति होता है। अर्थात् हंत अव्यय स्वीकारार्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रभु समर्थ को कहते हैं।

—संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे—अर्थात् संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करना। संयम के आराधन और तप के अनुष्ठान से आत्मगुणों के विकास में प्रगति लाने का यत्न—विशेष ही आत्मभावना या आत्मा को वासित करना कहलाता है।

जनपद यह शब्द राष्ट्र, देश, जनस्थान और देशनिवासी जनसमूह आदि का बोधक है, किन्तु प्रकृत में यह राष्ट्र—देश के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

२—**से सुबाहुकुमारे समणोवासए जाते अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरति**—इन पदों में श्रमणोपासक का अर्थ और उस की योग्यता के विषय में वर्णन किया गया है। श्रमणोपासक शब्द

(२) यहां पर घर शब्द को स्त्री, पुत्र तथा अन्य सभी प्रकार की धन सम्पत्ति का उपलक्षण समझना चाहिए।

का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ क्या है ? तथा जीवाजीवादि पदार्थों का अधिगम करने वाला श्रमणोपासक कैसा होना चाहिये ? इन बातों पर विचार कर लेना भी उचित प्रतीत होता है ।

श्रमणों के उपासक को **श्रमणोपासक** कहते हैं। जो धर्मश्रवण की इच्छा से साधुओं के पास बैठता है, उस की **उपासक**[1] सज्ञा होती है । उपासक—१ द्रव्य, २—तदर्थ, ३—मोह और ४—भाव इन भेदों से चार प्रकार का माना गया है । जिस का शरीर उपासक होने के योग्य हो, जिस ने उपासकभाव के आयुष्कर्म का बन्ध कर लिया हो तथा जिस के नाम गोत्रादि कर्म उपासकभाव के सम्मुख आ गये हों, उसे **द्रव्योपासक** कहते हैं। जो सचित्त, अचित्त और मिश्रित पदार्थों के मिलने की इच्छा रखता है, उन की प्राप्ति के लिये उपासना (प्रयत्न-विशेष) करता है, उसे **तदर्थोपासक** कहते हैं। अपनी कामवासना की पूर्ति के लिये युवती युवक की और युवक युवती की उपासना करे, परस्पर अन्धभाव से एक दूसरे की आज्ञा का पालन करे तथा मिथ्यात्व की उत्तेजनादि करें उसे **मोहोपासक** कहा जाता है । जो सम्यग्दृष्टि जीव शुभ परिणामों से ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उपासक श्रमण-साधु की उपासना करता है उसे **भावोपासक**[2] कहते हैं । इसी भावोपासक की ही श्रमणोपासक सज्ञा होती है । तात्पर्य यह है कि भावोपासक और श्रमणोपासक ये दोनों समानार्थक हैं ।

प्रश्न—जैनसंसार मे श्रावक (जो धर्म को सुनता है—जैन गृहस्थ) शब्द का प्रयोग सामूहिक रूप से देखा जाता है । चतुर्विध संघ मे भी श्रावकपद है, किन्तु सूत्र में "श्रमणोपासक" लिखा है । इस का क्या कारण है ? और इन दोनों में कुछ अर्थगत विभिन्नता है, कि नहीं ? यदि है तो क्या ?

उत्तर—श्रावक शब्द का प्रयोग अविरत सम्यग्दृष्टि के लिये किया जाता है और श्रमणोपासक, यह शब्द देशविरत के लिये प्रयुक्त होता है । सूत्रों में जहा श्रावक का वर्णन आता है वहां तो "**—दंसणसावए-दर्शनश्रावक—**" यह पद दिया गया है और जहा बारह व्रतों के आराधक का वर्णन है वहा पर "**—समणोवासए—श्रमणोपासक—**" यह पाठ आता है । साराश यह है कि व्रत, प्रत्याख्यान आदि से रहित केवल सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला व्यक्ति **श्रावक** कहलाता है और द्वादशव्रतधारी की "**श्रमणोपासक**" सज्ञा है । यही इन दोनों में अर्थगत भेद है । वर्तमान मे तो प्राय श्रावकशब्द ही दोनों के लिये प्रयुक्त होता है । अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत दोनों का ही ग्रहण श्रावक शब्द से किया जाता है ।

—अभिगयजीवाजीवे[3]—इस विशेषण से श्री सुबाहुकुमार को जीवाजीवादि पदार्थों का सम्यग् ज्ञाता प्रमाणित किया गया है । चेतना विशिष्ट पदार्थ को **जीव**, और चेतनारहित जड़ पदार्थ को **अजीव** कहते हैं । इन दोनों का भेदोपभेदसहित सम्यग् बोध रखने वाला व्यक्ति **अभिगतजीवाजीव** कहलाता है । इस के अतिरिक्त श्री सुबाहुकुमार के सात्त्विक ज्ञान और चारित्रनिष्ठा एव धार्मिक श्रद्धा के द्योतक और भी बहुत से विशेषण हैं, जिन्हें सूत्रकार ने "जाव-यावत् पद से सूचित कर दिया है । वे सब इस प्रकार हैं—

---

(१) उप-समीपम् आस्ते-निषीदति धर्मश्रवणेच्छया साधूनामिति उपासकः । (वृत्तिकार)

(२) इन चारों की विशद व्याख्या के लिये देखो—जैनधर्मदिवाकर आचार्यप्रवर परमपूज्य गुरुदेव श्री आत्मा राम जी महाराज द्वारा अनुवादित **श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र**, पृष्ठ २७३ ।

(३) अभिगत सम्यक्तया ज्ञात जीवाजीवादिपदार्थः—पदार्थस्वरूपो येन स तथा । अर्थात् जिस ने जीव, अजीव प्रभृति पदार्थों का सम्यग् बोध प्राप्त कर लिया है, उसे **अभिगतजीवाजीव** कहते हैं। श्री सुबाहुकुमार को इन का सम्यग् बोध था, इसलिये उस के साथ यह विशेषण लगाया गया है ।

उवलद्धपुण्णपावे, आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिगरणबन्धमोक्खकुसले, असहेज्जदेवतासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे अहिगयट्ठे विणिच्छियट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमेट्ठे, सेसे अनट्ठे, उसियफलिहे अवंगुयदुवारे चियत्तंतेउरघरप्पवेसे वहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठमुदिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसह सम्म अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंवलपायपुंछणेण पीढफलगसिज्जासंथारएण ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणे अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरति । इन पदों का अर्थ निम्नोक्त है –

वह सुबाहुकुमार जीव, अजीव के अतिरिक्त पुण्य (आत्मप्रदेशों के साथ क्षीरनीर की भाँति मिले हुए शुभ कर्मपुद्गल) और पाप (आत्मप्रदेशों से मिले हुए अशुभ कर्मपुद्गल) के स्वरूप को भी जानता था। इसी प्रकार आस्रव,[1] सवर[2], निर्जरा[3], क्रिया[4], अधिकरण[5], वन्ध[6] और मोक्ष[7] के स्वरूप का ज्ञाता था, तथा किसी भी कार्य में वह दूसरों की सहायता की आशा नहीं रखता था। अर्थात् वह निर्ग्रन्थप्रवचन में इतना दृढ था कि देव असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवविशेष भी उसे निर्ग्रंथ प्रवचन से विचलित नहीं कर सकते थे। उसे निग्रन्थप्रवचन मे शका (तात्त्विकी शका) कांक्षा (इच्छा) और विचिकित्सा (फल में सन्देह लाना) नहीं थी। उस ने शास्त्र के परमार्थ को समझ लिया था, वह शास्त्र का अर्थ–रहस्य निश्चितरूप से धारण किये हुए था। उस ने शास्त्र के सन्देहजनक स्थलों को पूछ लिया था, उन का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, उन का विशेषरूप से निर्णय कर लिया था, उस की हड्डिया और मज्जा सर्वज्ञदेव के प्रेम-अनुराग से अनुरक्त हो रही थीं अर्थात् निर्ग्रन्थप्रवचन पर उस का अटूट प्रेम था। हे आयुष्मन् ! वह सोचा करता था कि यह निग्रथप्रवचन ही अर्थ (सत्य) है, परमार्थ है (परम सत्य है), उस के विना अन्य सब अनर्थ (असत्यरूप) हैं। उस की उदारता के कारण उस के भवन के दरवाजे की अर्गला ऊंची रहती थी और उस का द्वार सब के लिये सदा खुला रहता था। वह जिस के घर या अन्त पुर में जाता उस मे प्रीति उत्पन्न किया करता था, तथा वह शीलव्रत[8], गुणव्रत, विरमण-रागादि से निवृत्ति–प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण पौषधव्रत किया करता था। श्रमणों -निग्रन्थों को निर्दोष और ग्राह्य अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ, फलक, शय्या, सस्तार, औषध औरभेषज आदि देता हुआ महान् लाभ

---

(१) शुभ और अशुभ कर्मों के आने का मार्ग आस्रव होता है। २–शुभ और अशुभ कर्मों के आने के मार्ग को रोकना सम्वर कहलाता है। ३–आत्मप्रदेशों से कर्मवर्गणाओं का देशत. या सर्वत क्षीण होना निर्जरा कहलाती है। ४–कर्मवन्ध की कारणभूत चेष्टाओं को क्रिया कहते हैं और वह २५ प्रकार की होती हैं। ५–कर्मवन्ध के साधन–उपकरण या शस्त्र को अधिकरण कहते हैं। अधिकरण जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण भेद से दो प्रकार का होता है। ६–कर्मपुद्गलों का जीवप्रदेशों के साथ दूध पानी की तरह मिलने अर्थात् जीवकर्म-सयोग को वन्ध कहते हैं। ७–कमपुद्गलों का जीवप्रदेशों से आत्यन्तिक सर्वथा क्षीण हो जाना मोक्ष कहलाता है।

(८) शीलव्रत से पाचों अणुव्रतों का ग्रहण करना चाहिये। शीलव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों की व्याख्या इसी अध्ययन में ५७६ से ले कर ५९८ तक के पृष्ठों पर की जा चुकी है।

को प्राप्त करता तथा यथाप्रगृहीत तपकर्म के द्वारा अपनी आत्मा को भावित—वासित करता हुआ विहरण कर रहा था।

इस वर्णन में श्रमणोपासक की तत्त्वज्ञानसम्बन्धी योग्यता, प्रवचननिष्ठा, गृहस्थचर्या और चारित्रशुद्धि की उपयुक्त धार्मिक क्रिया आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का समावेश किया गया है। गृहस्थावास में रहते हुए धर्मानुकूल गृहसम्बन्धी कार्यों का यथाविधि पालन करने के अतिरिक्त उस का आत्मश्रेय साधनार्थ क्या कर्तव्य है? और उस के प्रति सावधान रहते हुए नियमानुसार उस का किस तरह से आचरण करना चाहिए? इत्यादि अनुकरणीय और आचरणीय विषयों का भी उक्त वर्णन से पर्याप्त बोध मिल जाता है।

(३) **पौषधोपवास**—धर्म केवल सुनने की वस्तु नहीं अपितु आचरण की वस्तु है। जैसे औषधि का नाम उच्चारण करने से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती और तदर्थ उस का सेवन आवश्यक है। इसी प्रकार धर्म का श्रवण करने के अनन्तर उस का आचरण करना आवश्यक होता है। बिना आचरण के धर्म से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब तक धर्म का श्रवण कर के पूरी श्रद्धा और विश्वास के साथ उस का आचरण न किया जावे तब तक उस से किसी प्रकार का भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसी दृष्टि से ज्ञान और दर्शन में कुशल श्री सुबाहुकुमार ने उन दोनों के अनुसार चारित्रमूलक पौषधोपवास व्रत का अनुष्ठान करने में प्रमाद नहीं किया। सुबाहुकुमार अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा इन पुण्य तिथियों में पौषधोपवासव्रत करता था और धर्मध्यान के द्वारा आत्मचिन्तन में निमग्न हो कर गृहस्थधर्म का पालन करता हुआ समय व्यतीत कर रहा था।

—**पोसह**—यह प्राकृत भाषा का शब्द है। इस की संस्कृत छाया [१]पोषध होती है। पोषधशब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ "—**पोषणं पोषः—पुष्टिरित्यर्थः, तं धत्ते गृह्णाति इति पोषधम्**" इस प्रकार है। अर्थात् जिस से आध्यात्मिक विकास को पोषण—पुष्टि मिले उसे **पोषध** कहते हैं। यह श्रावक का एक धार्मिक कृत्यविशेष है, जो कि पौषधशाला में जाकर प्रायः अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों में किया जाता है। इस में सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार के त्याग से लेकर मुनियों की भाँति सारा समय प्रमादरहित हो कर धर्मध्यान करते हुए व्यतीत करना पड़ता है। इस में आहार का त्याग करने के अतिरिक्त शरीर के शृंगार तथा अन्य सभी प्रकार के लौकिक व्यवहार या व्यापार का भी नियमित समय तक परित्याग करना होता है। इस व्रत की सारी विधि पौषधशाला या किसी पौषधोपयोगी स्थान पर की जा सकती है। इस के अतिरिक्त पौषधव्रत शास्त्रों में १—आहारपौषध, २—शरीरपौषध, ३—ब्रह्मचर्यपौषध और ४—अव्यवहारपौषध या अव्यापारपौषध, इन भेदों से [२]चार प्रकार का वर्णन किया गया है, ये चारों भी सर्व और देश भेद के से दो २ प्रकार के कहे हैं। इस तरह सब मिला कर पौषध के आठ भेद हो जाते हैं। इन आठों भेदों का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ ५९६ पर किया जा चुका है।

सामान्यरूप से तो इस के दो ही भेद हैं—**देशपौषध और सर्वपौषध**। देशपौषध का ग्रहण दसवें

---

(१) पोषध शब्द से व्याकरण के "**प्रज्ञादिभ्यश्च**। ५—४—३६ (सिद्धान्त कौमुदी) इस सूत्र से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने से **पौषध** शब्द भी निष्पन्न होता है। आज पौषध शब्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है। इसीलिये हमने इस का अधिक आश्रयण किया है।

(२) **पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा—आहारपोसहे, सरीरपोसहे, बम्भपोसहे अव्वहारपोसहे।**

व्रत में और ग्यारहवे व्रत मे सर्वपौषध का ग्रहण होता है। पौषध लेने की जो विधि है उस में ऐसा ही [1]उल्लेख पाया जाता है। सर्वपौषध मे पूरे आठ प्रहर के लिए प्रत्याख्यान होता है। इस से कम काल का पौषध सर्वपौषध नही कहलाता। सुबाहुकुमार का पौषध सर्वपौषध था और वह उसने पौषधशाला में किया था और वहां पर इस ने, अष्टमभक्त-तेला व्रत सम्पन्न किया था। यह बात मूलपाठ से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि श्री सुबाहुकुमार ने लगातार तीन पौषध करने का नियम ग्रहण किया, परन्तु इतना ध्यान रहे कि पौषधत्रय करने मे पूर्व उस ने एकाशन किया तथा उस की समाप्ति पर भी एकाशन किया। इस भांति उस ने आठ भोजनों का त्याग किया। कारण कि पौषध मे तो मात्र दिन रात के लिए आहार का त्याग होता है। दैनिक भोजन द्विसंख्यक होने से पौषधत्रय में छः भोजनों का त्याग फलित होता है। सूत्रकार स्वयं ही—**पोसहिए**—इस विशेषण के साथ—**अट्ठमभत्तिए**—यह विशेषण दे कर उस के आठ भोजनों का त्याग सूचित कर रहे हैं।

प्रश्न—पौषध और उपवास इन दोनों में क्या भिन्नता है ?

उत्तर—धर्म को पुष्ट करने वाले नियमविशेष का धारण करना **पौषध** कहलाता है। पौषध के भेदोपभेदो का वर्णन पीछे पृष्ठ ५९६ पर किया जा चुका है। और उपवास मात्र त्रिविध या चतुर्विध आहार के त्याग का नाम है। तथा उपवासपूर्वक किया जाने वाला पौषधव्रत पौषधोपवास[2] कहलाता है। पौषधव्रत में उपवास अवश्यभावी है जब कि उपवास मे पौषधव्रत का आचरण आवश्यक नहीं। **अथवा** पौषधोपवास एक ही शब्द है। पौषधव्रत मे उपवास—अवस्थिति **पौषधोपवास** कहलाता है।

पौषधशाला—जहा बैठ कर पौषधव्रत किया जाता है, उसे पौषधशाला कहते है। जैसे भोजन करने के स्थान को भोजनशाला, पढने के स्थान को पाठशाला कहते हैं उसी भाँति पौषधशाला के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिये। मलमूत्रादि परित्याग की भूमि को **उच्चारप्रस्रवणभूमि** कहा जाता है।

प्रश्न—सूत्रकार ने जो पुरीषालय का निर्देश किया है, इस की यहा क्या आवश्यकता थी ? क्या यह भी कोई धार्मिक अंग है ?

उत्तर—जहा पर मलमूत्र का त्याग किया जाता हो उस स्थान को देखने से दो लाभ होते हैं। प्रथम तो वहा के जीवों की यतना हो जाती है। दूसरे वहा की सफाई से भविष्य मे होने वाली जीवों की

---

(१) पौषध का सूत्रसम्मत पाठ इस प्रकार है—

एकारसमे पडिपुण्णे पोसहोववासवए सव्वओ असण—पाण—खाइम—साइम—पच्चक्खाणं, अबंभ—पच्चक्खाणं, मणिसुवण्णाइपच्चक्खाणं मालावन्नगविलेवणाइपच्चक्खाणं, सत्थमुसलवावाराइसावज्जजोगपच्चक्खाणं जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

इस पाठ मे चारों प्रकार के आहार का, सब प्रकार की शारीरिक विभूषा का तथा सर्व प्रकार के मैथुन एवं समस्त सावद्य व्यापार का अहोरात्रपर्यन्त त्याग कर देने का विधान किया गया है। प्रातःकाल सूर्योदय से ले कर अगले दिन सूर्योदय तक का जितना काल है वह अहोरात्र काल माना जाता है। दूसरे शब्दों मे पूरे आठ प्रहर तक आहार, शरीरविभूषा, मैथुन तथा व्यापार का सर्वथा त्याग **सर्वपौषध** कहलाता है।

(२) पोषणं पोषः पुष्टिरित्यर्थः तं धत्ते गृह्णाति इति पोषधः, स चासावुपवासश्चेति। यद्वोक्त्यैव व्युत्पत्त्या पोषधमष्टम्यादिरूपाणि पर्वदिनानि तत्रोप० आहारादित्यागरूपं गुणमुपेत्य वासः—निवसनमुपवास इति पोषधोपवासः। (उपासकदशांग संजीवनीटीका पृष्ठ २५७)।

विराधना से बचा जा सकता है और तीसरी बात यह भी है कि यदि किसी समय अकस्मात् बाधा (मलमूत्र त्यागने की हाजित) उत्पन्न हो तो जाय उस में झटिति निवृत्ति की जा सकती है । यदि उक्त स्थान को पहले न देखा जाय तो काम कैसे चलेगा ? बाधा को रोकने से शरीर अस्वस्थ हो जाएगा, शरीर के अस्वस्थ होने पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिबन्ध उपस्थित होगा ..इत्यादि सभी बातों को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने उच्चारप्रस्रवणभूमि के निरीक्षण का निर्देश किया है । इस से इस की धार्मिक पोषकता सुस्पष्ट है ।

—**सथार**—सस्तार, इस शब्द का प्रयोग आसन के लिये किया गया है । **दर्भ** कुशा का नाम है, कुशा का आसन **दर्भसंस्तार** कहलाता है । **अष्टमभक्त** यह जैनसंसार का पारिभाषिक शब्द है । जब इकट्ठे तीन उपवासों का प्रत्याख्यान किया जाये तो वहां अष्टमभक्त का प्रयोग किया जाता है । अथवा अष्टम शब्द आठ का संसूचक है और भक्त भोजन को कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जिस तप में आठ भोजन छोड़े जाएं उसे **अष्टमभक्त** कहा जाता है । एक दिन में भोजन दो बार किया जाता है । प्रथम दिन सायंकाल का एक भोजन छोड़ना अर्थात् एकाशन करना और तीन दिन लगातार छः भोजन छोड़ने, तत्पश्चात् पांचवें दिन प्रातः का भोजन छोड़ना, इस भांति आठ भोजनों को छोड़ना **अष्टमभक्त** कहलाता है ।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सुबाहुकुमार के धार्मिक ज्ञान और धर्माचरण का वर्णन करते हुए उसे एक सुयोग्य धार्मिक राजकुमार के रूप में चित्रित किया है । अब उस के अग्रिम जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूल—[1]**तए णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिते ४ समुप्पज्जित्था—धन्ने णं ते गामागर० जाव सन्निवेसा, जत्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरति, धन्ना णं ते राईसर० जे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडा जाव पव्वयन्ति । धन्ना णं ते राईसर० जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वतियं जाव गिहिधम्मं पडिवज्जन्ति । धन्ना णं ते राईसर० जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सुणेंति । तं जइ णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं**

(१) छाया—ततस्तस्य सुबाहो: कुमारस्य पूर्वरात्रापररात्रकाले धर्मजागर्यया जाग्रतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४ समुत्पद्यत—धन्यास्ते [1] ग्रामाकर० यावत् सन्निवेशा यत्र श्रमणो भगवान् महावीरो विहरति । धन्यास्ते राजेश्वर० ये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके मुंडा यावत् प्रव्रजन्ति, धन्यास्ते राजेश्वर० ये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पञ्चाणुव्रतिकं यावद् गृहिधर्मं प्रतिपद्यन्ते, धन्यास्ते राजेश्वर० ये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं शृण्वन्ति, तद् यदि श्रमणो भगवान् महावीरः पूर्वानुपूर्व्या यावद् द्रवन् इहागच्छेत् यावद् विहरेत्, ततोऽहं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके मुंडो भूत्वा यावत् प्रव्रजेयम् ।

(१) जहां महापुरुषों के चरणों का न्यास होता है वह भूमि भी पावन हो जाती है, यह बात बौद्धसाहित्य में भी मिलती है । देखिए—

गामे वा यदि वा रञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले ।
यत्थारहन्ता विहरन्ति, तं भूमिं रामणेय्यकं ॥९॥ (धम्मपद अर्हन्तवर्ग)

जाव दूइज्जमाणे इहमागच्छेज्जा जाव विहरिज्जा, तते णं अहं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वएज्जा।

पदार्थ—**तए णं**—तदनन्तर। **तस्स**—उस। **सुबाहुस्स**—सुबाहु। **कुमारस्स**—कुमार को। **पुव्वरत्तावरत्तकाले**—मध्यरात्रि मे। **धम्मजागरियं**—धर्मजागरण—धर्मचिन्तन में। **जागरमाणस्स**—जागते हुए को। **इमे**—यह। **एयारूवे**—इस प्रकार का। **अज्झत्थिते ४**-संकल्प ४। **समुप्पज्जित्था**—उत्पन्न हुआ। **धन्ना णं**—धन्य हैं। **ते**—वे। **गामागर०**—ग्राम, आकर। **जाव**—यावत्। **सन्निवेसा**—सन्निवेश। **जत्थ णं**—जहां। **समणे** श्रमण। **भगवं**—भगवान्। **महावीरे**—महावीर स्वामी। **विहरति**—विचरते हैं। **धन्ना णं**—धन्य हैं। **ते**—वे। **राईसर०**—राजा ईश्वर आदि। **जे णं**—जो। **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के। **अंतिए**—पास। **मुंडा**—मुंडित हो कर। **जाव**—यावत्। **पव्वयंति**—दीक्षा ग्रहण करते हैं। **धन्ना णं**—धन्य हैं। **ते**—वे। **राईसर०**—राजा और ईश्वरादि। **जे णं**—जो। **समणस्स भगवओ महावीरस्स**-श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के। **अंतिए**—पास। **पंचाणुव्वतियं**-पंचाणुव्रतिक। **गिहिधम्मं**—गृहस्थधर्म को। **पडिवज्जंति** स्वीकार करते हैं। **धन्ना णं**—धन्य हैं। **ते**—वे। **जे णं**—जो। **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के। **अंतिए**—समीप। **धम्मं** धर्म का। **सुणंति**—श्रवण करते हैं। **तं**—अत। **जइ णं**—यदि। **समणे**—श्रमण। **भगवं**—भगवान्। **महावीरे**—महावीर। **पुव्वाणुपुव्विं**—पूर्वानुपूर्वी—क्रमशः। **जाव**—यावत्। **दूइज्जमाणे**—गमन करते हुए। **इहमागच्छेज्जा**—यहां आ जावे। **जाव**—यावत्। **विहरिज्जा**—विहरण करें। **तते णं**—तब। **अहं**—मैं। **समणस्स भगवओ महावीरस्स**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के। **अंतिए**—पास। **मुंडे**—मुंडित। **भवित्ता**—हो कर। **जाव**—यावत्। **पव्वएज्जा**—प्रव्रजित हो जाऊं—दीक्षा ग्रहण कर लूं।

मूलार्थ—तदनन्तर मध्यरात्रि मे धर्मजागरण के कारण जागते हुए सुबाहुकुमार के मन मे यह संकल्प उठा कि वे ग्राम, नगर आकर, जनपद और सन्निवेश आदि धन्य हैं कि जहां पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते हैं, वे राजा, ईश्वर आदि भी धन्य हैं कि जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मुण्डित हो कर प्रव्रजित होते हैं तथा वे राजा, ईश्वर आदिक भी धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर के पास पञ्चाणुव्रतिक (जिस मे पांच अणुव्रतों का विधान है) गृहस्थधर्म को अंगीकार करते हैं, एवं वे भी राजा, ईश्वरादि धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप धर्म का श्रवण करते हैं। तब यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पूर्वानुपूर्वी यावत् गमन करते हुए, यहां पधारे तो मैं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास मुण्डित होकर प्रव्रजित होजाऊं—दीक्षा धारण करलूं।

टीका—दर्भसंस्तारक—[1]कुशा के आसन पर बैठ कर पोषधोपवासव्रत को अंगीकार कर के धर्मचिन्तन में लगे हुए श्री सुबाहुकुमार के हृदय में एक शुभ संकल्प उत्पन्न होता है। जिस का व्यक्त स्वरूप इस प्रकार है—

---

(१) सुबाहुकुमार का रेशम आदि के नर्म और कोमल आसन को त्याग कर कुशा के आसन पर बैठ कर धर्म का आराधन करना उस की धर्ममय मनोवृत्ति की दृढता को तथा उस की सादगी को सूचित करता है। साधक व्यक्ति मे देहाध्यास (देहासक्ति) की जितनी कमी होगी उतनी ही उस की विकासमार्ग की ओर प्रगति होगी। इस के अतिरिक्त कुशासन पर बैठने से अभिमान नहीं होता और इस में यह भी गुण है कि उस से टकरा कर जो वायु निकलती है, उस से योगसाधन में बड़ी सहायता मिलती है। वैदिकपरम्परा में कुशा को बड़ा महत्त्व प्राप्त है।

धन्य हैं वे ग्राम, नगर, देश और सन्निवेश आदि स्थान जहां पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का विचरना होता है। वे राजा, महाराजा और सेठ साहुकार भी बड़े पुण्यशाली हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में मुंडित हो कर दीक्षा ग्रहण करते हैं और जो उन के चरणों में उपस्थित हो पंचाणुव्रतिक गृहस्थधर्म को अंगीकार करते हैं, वे भी धन्य हैं। उन के चरणों में रह कर धर्मश्रवण का सौभाग्य प्राप्त करने वाले भी धन्य हैं तब यदि सद्भाग्य से अब के भगवान् यहां पधारेंगे तो मैं भी उन के पावन श्रीचरणों में उपस्थित हो कर संयमव्रत को अंगीकार करूंगा।

सुबाहुकुमार का संकल्प कितना उत्तम और कितना पुनीत है ? यह कहने की आवश्यकता नहीं। तरणहार जीवों के संकल्प प्रायः ऐसे ही हुआ करते हैं, जो स्व और पर दोनों के लिये कल्याणकारी हों। हृदय के अन्दर जब सात्त्विक उल्लास उठता है तो साधक का मन विषयासक्त न हो कर आत्मानुरक्त होने का यत्न करता है और तदनुकूल साधनों को एकत्रित करने का प्रयास करता है। पौषधशाला के प्रशान्त प्रदेश में एकाग्र मन से धर्मध्यान करते हुए सुबाहुकुमार के हृदय में उक्त प्रकार के संकल्प का उत्पन्न होना उस के मानव जीवन के सर्वतोभावी आध्यात्मिक विकास को उपलब्ध करने की पूर्वसूचना है। परिणामस्वरूप इस के अनुसार प्रवृत्ति करता हुआ वह अवश्य उसे प्राप्त करने में सफलमनोरथ होगा।

प्रश्न -श्री सुबाहुकुमार ने यह विचार किया कि यदि भगवान् हस्तिशीर्ष नगर में पधारेंगे तो मैं उन के पास दीक्षित हो जाऊंगा। इस पर यह आशंका होती है कि सुबाहुकुमार भगवान् के पास स्वयं क्यों न चला गया ? अथवा उस ने भगवान् के पास कोई निवेदनपत्र ही क्यों न भेज दिया ? जिस में यह लिख दिया होता कि मैं दीक्षा लेना चाहता हू, अतः आप यहां पधारें ?

उत्तर—सुबाहुकुमार न तो स्वयं गया और न उस ने कोई प्रार्थनापत्र भेजा, इस के अंदर भी कई एक कारण हैं। भला, एक परम श्रद्धालु व्यक्ति कोई ऐसा कृत्य कर सकता है जो सत्य से शून्य हो ? तथा निरर्थक हो ? सुबाहुकुमार समझता है कि यदि मेरी इस भावना पर भगवान् पधार जाएं तो मैं समझ लूंगा कि मैं दीक्षित होने के योग्य हूँ और यदि मेरे में दीक्षाग्रहण करने की योग्यता नहीं होगी तो मेरी इस भावना पर भी भगवान् नहीं पधारेंगे। कारण कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी हैं, वे जो कुछ भी करेंगे वे मेरे लाभ के लिये होगा। दूसरे शब्दों में भगवान् महावीर स्वामी के पधारने का अर्थ यह होगा कि मेरा मनोरथ सफल है, भवितव्यता मेरा साथ दे रही है और यदि भगवान न पधारें तो उस का यह अर्थ होगा कि अभी मैं दीक्षा के अयोग्य हूँ। सुबाहुकुमार के ये विचार महान् विनय के संसूचक हैं।

सुबाहुकुमार यदि अपने नगर को छोड़ कर अन्यत्र जा कर दीक्षा लेता तो उस का वह प्रभाव नहीं हो सकता था, जो कि वहां अर्थात् अपने नगर में हो सकता है। एक राजकुमार का दीक्षा लेने की अभिलाषा से अन्यत्र जाने की अपेक्षा अपनी राजधानी में दीक्षित होना अधिक प्राभाविक है। राजकुमार के दीक्षित होने पर वहां की प्रजा पर जो प्रभाव हस्तिशीर्ष में हो सकता है वह अन्यत्र होना सम्भव नहीं है। इसीलिये सुबाहुकुमार भगवान् के पास नहीं गया। निवेदनपत्र के विषय में यह बात है कि सुबाहुकुमार को यह मालूम है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। तब सर्वज्ञ से जो प्रार्थना करनी है वह आत्मा के द्वारा सुगमता से की जा सकती है और उसी के द्वारा ही करनी चाहिये। सर्वज्ञ के पास निवेदनपत्र भेजना, सर्वज्ञता का अपमान करना है और अपनी मूर्खता अभिव्यक्त करनी है। निवेदनपत्र तो छद्मस्थों के पास भेजे जाते हैं न कि सर्वज्ञ के पास भी। बस इन्हीं कारणों से सुबाहुकुमार न तो भगवान् के पास गया और न उन के पास किसी के हाथ प्रार्थनापत्र भेजने को ही उस ने उचित समझा।

—**धम्मजागरियं**—धर्मचिन्तन के लिये किये जाने वाले जागरण को **धर्मजागरिका** कहते हैं, तथा इस पद मे सूत्रकार ने यह भी सूचित किया है जो काल भोगियों के सोने का होता है वह योगियों के आध्यात्मिक[1] चिन्तन का होता है।

—**अज्झत्थिने ५**—यहां पर उल्लेख किये गये ५ के अंक मे —**चिंतिए, कप्पिए, पत्थिए मणोगए संकप्पे**—इन अवशिष्ट पदों का ग्रहण करना चाहिये। स्थूलरूप से इन का अर्थ समान ही है और सूक्ष्म दृष्टि से इन का जो अर्थविभेद है वह पृष्ठ १३३ पर लिखा जा चुका है।

—**गामागर० जाव सन्निवेसा**—यहां पठित जाव-यावत् पद से—**नगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणनिगमआसमसंवाहसन्निवेसा**—इन पदों का ग्रहण समझना चाहिए। ग्राम आदि पदों का अर्थ निम्नोक्त है—

ग्राम गांव को अथवा बाड से वेष्टित प्रदेश को कहते हैं। सुवर्ण एवं रत्नादि के उत्पत्तिस्थान को **आकर** कहा जाता है। **नगर** शहर का अथवा कर—महसूल से रहित स्थान का नाम **नगर** है। **खेट** शब्द धूली के प्राकार से वेष्टित स्थान—इस अर्थ का परिचायक है। अढाई कोस तक जिस के बीच में कोई ग्राम न हो—इस अर्थ का बोधक **मडम्ब** शब्द है। जल तथा स्थल के मार्ग से युक्त नगर **द्रोणमुख** कहलाता है। जहां सर्व वस्तुओं की प्राप्ति की जाती हो उस नगर को **पत्तन** कहते हैं। वह **जलपत्तन**—जहां नौकाओं द्वारा जाया जाता है तथा **स्थलपत्तन**—जहां गाडी आदि द्वारा जाया जाता है, इन भेदों से दो प्रकार का होता है। अथवा जहां गाड़ी आदि द्वारा जाया जाए वह **पत्तन** और जहां नौका आदि द्वारा जाया जाता है वह **पट्टन** कहलाता है। जहां अनेकों व्यापारी रहते हैं वह नगर **निगम**, जहां प्रधानतया तपस्वी लोग निवास करते हैं वह स्थान **आश्रम** कहा जाता है। किसानों के द्वारा धान्य की रक्षा के लिये बनाया गया स्थलविशेष **अथवा** पर्वत की चोटी पर रहा हुआ जनाधिष्ठित स्थलविशेष **अथवा** जहां इधर उधर से यात्री लोग निवास एवं विश्राम करें उस स्थान को **सवाह** कहते हैं। **सन्निवेश** छोटे गांव का नाम है **अथवा** अहीरों के निवासस्थान का, अथवा प्रधानतः सार्थवाह आदि के निवासस्थान का नाम **सन्निवेश** है।

—**राईसर०**—यहां दिए गए बिन्दु से—**तलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहपभियउ**—इस पाठ का ग्रहण समझना चाहिये। **राजा** प्रजापति का नाम है। सेना के नायक को **सेनापति** कहते हैं। अवशिष्ट ईश्वर आदि पदों का अर्थ पृष्ठ १६१ पर लिखा जा चुका है।

—**मुंडा जाव पव्वयंति**—यहां पठित जाव-यावत् पद से—**भवित्ता अगाराउ अणगारियं** (अर्थात्—दीक्षित हो कर अनगारभाव को धारण करते हैं)—इन पदों का ग्रहण करना चाहिए। तथा—"**पंचाणुव्वतियं जाव गिहिधम्मं**" इस मे उल्लिखित **जाव यावत्** पद से—**सत्तसिक्खावतियं दुवालसविहं**— इस अवशिष्ट पाठ का ग्रहण जानना चाहिए। इस का अर्थ है—पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत अर्थात् बारह प्रकार के व्रतों वाला गृहस्थधर्म। धर्मशब्द के अनेकों अर्थ हैं, किन्तु प्रकृत में शुभकर्म—कुशलानुष्ठान,

---

(१) **सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरन्ति।** (आचारांग सूत्र, अ० ३०, उद्दे० १)

अर्थात्—सोना और जागना द्रव्य एवं भावरूप से दो तरह का होता है। हम प्रतिदिन रात में सोते हैं और दिन में जागते हैं, यह तो द्रव्यरूप से सोना और जागना है, परन्तु पाप में ही प्रवृत्ति करते रहना भाव सोना है और धार्मिक प्रवृत्ति करते रहना भाव जागना है। इस प्रकार जो अमुनि है—पापिष्ट हैं दुष्ट वृत्ति वाले हैं वे तो सदैव सोए हुए ही हैं और जो मुनि हैं, सात्त्विक वृत्ति वाले हैं वे सदैव जागते रहते हैं। यही मुनि और अमुनि में अन्तर है, विशिष्टता है।

यह अर्थ समझना चाहिए। धर्म का संक्षिप्त अर्थ सुकृत है।

—पुव्वाणुपुव्विं जाव दूइज्जमाणे— यहां पठित **जाव—यावत्** पद से **—चरमाणे गामाणुगामं-** इन अवशिष्ट पदों का ग्रहण जानना चाहिये। अर्थात् ये पद "—क्रमशः चलते हुए और एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाते हुए—" इस अर्थ के बोधक हैं। तथा **—इहमागच्छेज्जा जाव विहरिज्जा—** इस वाक्यगत **जाव—यावत्** पद से **—इहेव णयरे अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे—** इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् यदि भगवान् महावीर यहां पधारें और इसी नगर में अनगारवृत्ति के अनुसार आश्रय स्वीकार कर के तप और संयम के द्वारा आत्मभावना में भावित होते हुए विहरण करें—निवास करें।

तथा **—मुंडे भवित्ता जाव पव्वएज्जा—** यहां पठित **जाव—यावत्** पद से **—अगाराओ अणगारियं—** इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ स्पष्ट ही है।

सारांश यह है कि मेरा शरीर सर्वाङ्गपरिपूर्ण है। किसी अंग में भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। ऐसा सर्वांगसुन्दर शरीर किसी विशिष्ट पुण्य के उदय से ही प्राप्त होता है। संसार में अनेकों प्राणी हैं। उन में यदि बोलने की शक्ति है तो देखने की नहीं, देखने की है तो सुनने की नहीं, सुनने की है तो सूंघने की नहीं, यदि सब कुछ है तो भले बुरे को पहिचानने की शक्ति नहीं। इसी प्रकार हाथ हैं तो पांव नहीं, कान हैं तो नाक नहीं और नाक है तो जिह्वा नहीं। अगर अन्य सब कुछ है तो प्रतिभा नहीं है। तात्पर्य यह है कि संसारी प्राणियों में प्रायः कोई न कोई त्रुटि अवश्य देखने में आती है, परन्तु मेरा शरीर सब तरह से परिपूर्ण है। तब इस प्रकार के अविकृत शरीर को प्राप्त करके भी यदि मैं जन्म मरण के दुःखजाल से छूटने का उपाय नहीं करूंगा तो मेरे से बढ़ कर प्रमादी कौन हो सकता है ? चिन्तामणि रत्न के समान प्राप्त हुए इस मानव शरीर को यूं ही कामभोगों में लगा कर व्यर्थ खो देना तो निरी मूर्खता है। ऐसे उत्तम शरीर से तो अच्छे से अच्छा काम लेने में ही इस की सफलता है। इस के द्वारा तो किसी ऐसे पुण्यकार्य का संपादन करना चाहिये कि फिर इस संसार की अन्धकारपूर्ण गर्भ की कालकोठरी में आने का अवसर ही न मिले। ऐसा कार्य तो धर्म का सम्यग् अनुष्ठान ही है। जन्म मरण के भय से त्राण देने वाला और कोई पदार्थ नहीं है परन्तु धर्म का सम्यक् पालन तभी शक्य हो सकता है जब कि आरम्भ और परिग्रह का त्याग किया जाए। गृहस्थ में रह कर आरम्भ और परिग्रह का सर्वथा त्याग करना तो किसी तरह भी शक्य नहीं है। वहां तो अनेकों प्रकार के प्रतिबन्ध सामने आखड़े होते हैं, जिन का निवारण करना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव सा हो जाता है। अतः इस के लिये सब से अधिक और सुन्दर तथा सरल उपाय तो यही है कि मैं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित हो कर संयमव्रत को अपना लूं, मुनिधर्म को अंगीकार कर लूं। इसी में मेरा हित है, इसी में मेरा मंगल और कल्याण है। पहिले तो कई एक कारणों से उस अनमोल अवसर से लाभ नहीं उठा सका परन्तु अब कि ऐसी भूल नहीं करूंगा। अवश्य जीवन को साधुता के सौरभ से सुरभित करूंगा और अपना भविष्य उज्ज्वल एवं समुज्ज्वल बनाने का प्रयास करूंगा। ये थे तेले की तपस्या के साथ आत्मचिन्तन करने वाले सुबाहुकुमार के मनोगत विचार, जिन के अनुसार वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने पर अपने आप को संयमव्रत के लोकोत्तर रंग में रंगने का स्वप्न देख रहा है। इस के अनन्तर क्या हुआ अब सूत्रकार उस का वर्णन करते हैं—

मूल— [1] तते णं समणे भगवं महावीरे सुबाहुस्स कुमारस्स इमं एयारूवं अज्झत्थियं

(१) छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीरः सुबाहोः कुमारस्य इममेतद्रूपमाध्यात्मिकं यावद्

जाव वियाणित्ता पुव्वाणुपुव्विं दूइज्जमाणे जेणेव हत्थिसीसे णगरे जेणेव पुप्फकरंडे उज्जाणे जेणेव कयवणमालप्पियस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति । परिसा राया निग्गते । तते णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स तं महया० जहा पढमं तहा निग्गओ । धम्मो कहिओ । परिसा राया गतो । तते णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे० जहा मेहो तहा अम्मापियरो आपुच्छति । निक्खमणाभिसेओ तहेव जाव अणगारे जाते, इरियासमिते जाव बम्भयारी ।

पदार्थ—तते णं—तदनन्तर । समणे—श्रमण । भगव—भगवान् । महावीरे—महावीर स्वामी । सुबाहुस्स—सुबाहु । कुमारस्स—कुमार के । इमं—यह । एयारूव—इस प्रकार के । अज्झत्थिय ५—संकल्प आदि को । जाव—यावत् । वियाणित्ता—जान कर । पुव्वाणुपुव्विं—पूर्वानुपूर्वी–क्रमशः । दूइज्जमाणे—भ्रमण करते हुए । जेणेव—जहां । हत्थिसीसे—हस्तिशीर्ष । णगरे—नगर था । जेणेव—जहां । पुप्फकरंडे—पुष्पकरंडक नामक । उज्जाणे—उद्यान था । जेणेव—जहां पर । कयवणमालप्पियस्स—कृतवनमालप्रिय जक्खस्स—यक्ष का । जक्खायतणे—यक्षायतन था । तेणेव—वहां पर । उवागच्छति—पधारे । अहापडिरूवं—यथाप्रतिरूप । उग्गहं—अवग्रह । उग्गिण्हित्ता—ग्रहण कर । संजमेणं—संयम से, तवसा—तप के द्वारा । अप्पाणं—आत्मा को । भावेमाणे—भावित—वासित करते हुए । विहरति—विहरण करने लगे । परिसा—परिषद् । राया—राजा । निग्गते—नगर से निकले । तते णं—तदनन्तर । तस्स—उस । सुबाहुस्स—सुबाहु । कुमारस्स—कुमार का । त—वह । महया०—महान् समुदाय के साथ । जहा—जैसे । पढमं—पूर्ववर्णित (नगर से निष्क्रमण था) । तहा—वैसे (वह) । निग्गओ—निकला । धम्मो—धर्म का । कहिओ—प्रतिपादन किया । परिसा—परिषद् । राया—राजा । गतो—चला गया । तते णं—तदनन्तर । से—वह । सुबाहुकुमारे—सुबाहुकुमार । समणस्स—श्रमण । भगवओ महावीरस्स—भगवान् महावीर के । अंतिए—पास । धम्मं—धर्मकथा को । सोच्चा[1]—सुन कर । निसम्म—अर्थ से अवधारण कर । हट्ठतुट्ठे०—अत्यन्त प्रसन्न हुआ २ । जहा—जैसे । मेहो—मेघ—महाराज श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार । तहा—उसी प्रकार । अम्मापियरो—माता पिता को । आपुच्छति—पूछता है । निक्खमणाभिसेओ—निष्क्रमणाभिषेक । तहेव—तथैव—उसी तरह । जाव—यावत् । अणगारे—अनगार । जाते—हो गया । इरियासमिते—ईर्यासमिति का पालक । जाव—यावत् । बंभयारी—ब्रह्मचारी बन गया ।

विज्ञाय पूर्वानुपूर्व्या द्रवन् यत्रैव हस्तिशीर्षं नगरं, यत्रैव पुष्पकरण्डमुद्यानं यत्रैव कृतवनमालप्रियस्य यक्षस्य यक्षायतनं तत्रैवोपागच्छति उपागत्य यथाप्रतिरूपमवग्रहमवगृह्य संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति । परिषद् राजा निर्गतः । ततस्तस्य सुबाहोः कुमारस्य तद् महता० यथा प्रथमं तथा निर्गतः । धर्मः कथितः । परिषद् राजा गतः । ततः स सुबाहुकुमारः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्ट० यथा मेघस्तथा अम्बापितरौ आपृच्छति । निष्क्रमणाभिषेकस्तथैव यावद् अनगारो जातः ईर्यासमितो यावद् ब्रह्मचारी ।

(१) सोच्चा—यह पद मात्र श्रवणपरक है । सुने हुए का मनन करने में "निसम्म" शब्द का प्रयोग होता है । अर्थात् सुना और उसके अनन्तर मनन किया, इन भावों के परिचायक सोच्चा और निसम्म ये दोनों पद हैं ।

मूलार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सुबाहुकुमार के उक्त प्रकार के संकल्प को जान कर क्रमशः ग्रामानुग्राम चलते हुए हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पकरण्डक उद्यानान्तर्गत कृतवनमालप्रिय नामक यक्ष के यक्षायतन में पधारे और यथाप्रतिरूप—अनगारवृत्ति के अनुकूल अवग्रह—स्थान ग्रहण कर के वहां अवस्थित हो गए।

तदनन्तर परिषद् और राजा नगर से निकले, सुबाहुकुमार भी पूर्व की भांति महान समारोह के साथ भगवान् के दर्शनार्थ प्रस्थित हुए। भगवान् ने धर्म का प्रतिपादन किया, परिषद् तथा राजा धर्मदेशना सुन कर वापिस चले गये।

सुबाहुकुमार भगवान् के पास धर्म का श्रवण कर उस का मनन करता हुआ प्रसन्नचित्त से मेघकुमार की भांति माता पिता से पूछता है। उस का (सुबाहुकुमार का) निष्क्रमण-अभिषेक भी उसी तरह (मेघकुमार की तरह) हुआ, यावत् वे अनगार, ईर्यासमिति के पालक और ब्रह्मचारी बन गये, मुनिव्रत को उन्हों ने धारण कर लिया।

टीका—पुरुष और महापुरुष में भेद करने वाली एक शक्ति है, जो परोपकार के नाम से प्रसिद्ध है। पुरुष स्वार्थी होता है, वह अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना जानता है, इस के विपरीत महापुरुष परमार्थी होता है, अपने हित से भी वह दूसरों के हित का विशेष ध्यान रखता है। दोनों के साध्य भिन्न २ होते हैं, इसी लिये दोनों विभिन्न साधनसामग्री को जुटाने का भी विभिन्न प्रकार से प्रयास करते हैं।

स्वार्थी पुरुष तो उस साधनसामग्री को ढूंढता है जिस से अपना स्वार्थ सिद्ध हो, उस में दूसरे की हानि या नाश का उसे बिल्कुल ध्यान नहीं रहता, उसे तो मात्र अपने प्रयोजन से काम होता है, परन्तु महापुरुष ऐसा नहीं करता, वह तो ऐसी सामग्री को ढूंढेगा कि जिस मे किसी दूसरे को हानि न पहुंचती हो, प्रत्युत लाभ ही प्राप्त होता हो। महापुरुषों का प्रत्येक प्रयास दूसरों को सुखी बनाने, दूसरों का कल्याण सम्पादित करने के लिये होता है। वे "—परोपकाराय सतां विभूतयः—" इस लोकोक्ति का बड़े ध्यान से संरक्षण करते हैं और अपनी धनसम्पत्ति या ज्ञानविभूति का वे दीन दुःखी प्राणियों के दुःखों तथा कष्टों को दूर करने मे ही उपयोग करते हैं। यही कारण है कि संसारसमुद्र मे गोते खाने वाले दुःखसन्तप्त मानव प्राणी ऐसे महापुरुषों का आश्रय लेते हैं और उन्हें अपना उपास्य बना कर जीवन व्यतीत करने का उद्योग करते हैं।

सुबाहुकुमार जैसे भावुक तथा विनीत व्यक्ति की अपने उपास्य के प्रति कितनी श्रद्धा एवं विशुद्ध भावना है? इस का वर्णन ऊपर हो चुका है। अपने उपासक की निर्मल भावना को जिस समय सुबाहुकुमार के परम उपास्य भगवान् महावीर ने जाना तो सुबाहुकुमार के उद्धार की इच्छा से भगवान् ने हस्तिशीर्ष नगर की ओर प्रस्थान कर दिया। ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् हस्तिशीर्ष नगर में पधारे और पुष्पकरण्डक नामक उद्यानगत कृतवनमालप्रिय यक्ष के मन्दिर में विराजमान हो गये। तदनन्तर उद्यानपाल के द्वारा भगवान् के पधारने की सूचना मिलते ही नगरनिवासी जनता को बड़ा हर्ष हुआ। भावुक नगरनिवासी लोग प्रसन्न मन से भगवान् के दर्शनार्थ उद्यान की ओर चल पड़े। इधर नगरनरेश भी सुबाहुकुमार को साथ ले कर बड़े समारोह के साथ उद्यान की ओर प्रस्थान करते हुए भगवान् की सेवा में उपस्थित हो जाते हैं तथा विधिपूर्वक वन्दनादि करके यथास्थान बैठ जाते हैं।

प्रश्न—क्या भगवान् महावीर स्वामी के पास शिष्य नहीं थे? यदि थे तो क्या वे भगवान् की सेवा नहीं करते थे? यदि करते थे तो केवल एक शिष्य की लालसा से उन्हें स्वयं पैदल विहार कर इतना बड़ा कष्ट उठा कर हस्तिशीर्ष नगर में आने की क्या आवश्यकता प्रतीत हुई?

उत्तर—भगवान् महावीर स्वामी के शिष्यों की कुल सख्या १४ हजार मानी जाती है और उन मे गौतम स्वामी जैसे परमविनीत, परमतपस्वी और मेधावी अनगार मुख्य थे। सब के सब भगवान् के चरण-कमलों के भ्रमर थे और भगवान् के हित के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने वाले थे। तात्पर्य यह है कि उनका शिष्यपरिवार पर्याप्त था और वह भी परम विनीत। अत उन की सेवा भी होती थी कि नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर अनायास ही समझा जा सकता है। अब रही शिष्यलालसा की बात, उस का उत्तर यह है कि भगवान् को शिष्य बनाने की न तो कोई लालसा थी और नाहि उन के आत्मसाधन मे यह सहायक थी। केवल एक बात थी जिस के लिये भगवान् ने वहा कष्ट उठा कर भी पधारने का यत्न किया। वह थी "—(१)जगतहित की भावना—"। सुबाहुकुमार मेरे वहा जाने से दीक्षा ग्रहण करेगा और दीक्षित हो कर जनता को सद्भावना का मार्ग प्रदर्शित करेगा तथा अज्ञानान्धकार मे पड़ी हुई जनता को उज्ज्वल प्रकाश देगा एव अपने आत्मा का कल्याण साधन करता हुआ अन्य आत्माओं को भी शान्ति पहुचावेगा और स्वात्मा के उत्थान मे अनेक पतित आत्माओं का उद्धार करने में समर्थ होगा .....इत्यादि शुभचिारणा से प्रेरित होकर ही भगवान् ने विहार कर वहा पधारने का यत्न किया। भगवान् के हृदय मे सुबाहुकुमार से निष्पन्न होने वाले दूसरों के हित का ही ध्यान था। तब इतने परम उपकारी वीरप्रभु के विषय में शिष्यलालसा की कल्पना तो निरी अज्ञानमूलक है। इस की तो वहा सभावना भी नहीं की जा सकती।

इस के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि हर एक कार्य समय आने पर बनता है, समय के आए बिना कोई काम नहीं बनता। यदि समय नहीं आया तो लाख यत्न करने पर भी कार्य नहीं होता और समय आने पर अनायास ही हो जाता है। भगवान् तो घट घट के ज्ञाता हैं, अतीत और अनागत उन के लिये वर्तमान है। वे तो पहले ही कह चुके हैं कि सुबाहुकुमार उन के पास दीक्षित होगा, उन की वाणी तथ्य से कभी शून्य नहीं हो सकती थी किन्तु उस की सत्यता या पूर्ति की प्रत्यक्षता के लिये कुछ समय अपेक्षित था। समय आने पर सुबाहुकुमार को न तो किसी ने प्रेरणा की और न किसी ने दीक्षित होने का उपदेश दिया किन्तु अन्तरात्मा से उसे प्रेरणा मिली और वह दीक्षा के लिये तैयार हो गया तथा भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।

मनुष्य की शुभ भावना और दृढ निश्चय अवश्य फल लाता है। इस अनुभवसिद्ध उक्ति के अनुसार सुबाहुकुमार की शुभभावना भी अपना फल लाई। जिस समय उस के किसी अनुचर ने पुष्पकरण्डक उद्यान में प्रभु के पधारने का समाचार दिया तो सुबाहुकुमार को जो प्रसन्नता हुई उस का व्यक्त करना इस क्षुद्र लेखनी की सामर्थ्य से बाहिर की वस्तु है।

भगवान् का आगमन सुनते ही वह पहले की तरह—जिस तरह प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में वर्णन किया गया है, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित हो जाता है और विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर भगवान् की पर्युपासना में यथास्थान बैठ जाता है। सब के यथास्थान बैठ जाने पर उन की धर्मामृतपान करने की बढ़ी हुई अभिलाषा को देख कर भगवान् बोले—

भव्यपुरुषो ! जिस प्रकार नगरप्राप्ति के लिये उस के मार्ग को जानने और उस पर चलने की आवश्यकता है। उसी प्रकार मोक्षमन्दिर तक पहुचने की इच्छा रखने वाले साधकों को भी उस के मार्ग का बोध प्राप्त करके उस पर चलने की आवश्यकता होती है। किसी प्रकार की लालसा का न होना मोक्ष का मार्ग है। जब तक

---

(१) भगवान् को "तिण्णाणं तारयाणं" इसीलिये कहा जाता है कि जहा भगवान् स्वय ससार सागर से पार होते हैं, वहा वे ससारी प्राणियों को भी ससार सागर से पार करते हैं। "तारयाणं" यह पद भगवान की महान् दयालुता, कृपालुता एव विश्वमैत्रीभावना का एक ज्वलन्त प्रतीक है।

लालसायें बनी हुई हैं तब तक मोक्ष की इच्छा करना, वायु को मुट्ठी में रोकने की चेष्टा करना है । इस लिये सर्वप्रथम सांसारिक लालसाओं से पिंड छुडाना चाहिये। लालसाओं से पीछा छुडाने के लिये सब से प्रथम महापिशाचिनी हिंसा को त्यागना होगा। बिना हिंसा के त्याग किये लालसायें विनष्ट नहीं हो सकतीं । हिंसात्याग के लिये पहले असत्य को त्यागना होगा। जहां झूठ है वहां हिंसा है । जहां हिंसा है वहां लालसा है। लालसा मिटाने के लिए हिंसा के साथ झूठ का भी परित्याग करना पड़ता है । इसी प्रकार झूठ के त्यागार्थ चोरी का त्याग करना आवश्यक है। चोरी करने वाला झूठ, हिंसा और लालसा का ही उपासक होता है। इस लिये झूठ के साथ स्तेयकर्म का भी परित्याग कर देना चाहिये और चोरी के त्याग के निमित्त ब्रह्मचर्य का पालन करना जरूरी है। बिना ब्रह्मचर्य पालन किये, बिना इन्द्रियों को वश में किये न तो चोरी छूट सकती है न असत्य—झूठ और ना हि हिंसा। इस लिये हिंसा से ले कर झूठपर्यन्त सभी दुर्गुणों के त्यागार्थ मैथुन का त्याग और ब्रह्मचर्य का पालन नितान्त आवश्यक है। जैसे हिंसादि के त्यागार्थ ब्रह्मचर्य का पालन अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह करना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के लिये परिग्रह का त्याग करना होगा। सब प्रकार के पापों का मूलस्त्रोत परिग्रह ही है। दूसरे शब्दों में इस आत्मा को जन्म मरण रूप संसार में फिराने और भटकाने वाला परिग्रह ही है। इसी से सर्वप्रकार के पापाचरणों में यह जीव प्रवृत्त होता है। इसलिये परिग्रह का परित्याग करो। उस के त्यागने से लालसा का अपने आप त्याग हो जाएगा । मूर्च्छा या ममत्व का नाम परिग्रह है। संसार की जिस वस्तु पर आत्मा का ममत्व है, आत्मा के लिये वही परिग्रह है। अतः मोक्षरूप आनन्दनगर में प्रवेश करने के लिये परिग्रह का परित्याग परम आवश्यक है । जो भव्यात्मा इस का—परिग्रह का जितने अंश में त्याग करेगा, उस की लालसाएं उतने ही अंश से कम होती जावेंगी और जितनी २ लालसाएं कम होंगी उतना २ यह आत्मा मोक्षमन्दिर के समीप आता चला जाएगा। मोक्ष में दुःख तो लेश मात्र भी नहीं। वह तो आनंदस्वरूप है। वहां पर आत्मानुभूति के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की दुःखानुभूति को स्थान नहीं है। अतः मोक्षाभिलाषी जीवों के लिये यह परम आवश्यक है कि वे इस सारगर्भित सिद्धान्त का मनन करें और उस को यथाशक्ति आचरण में लाने का उद्योग करें .. इत्यादि भगवान् की इस मर्मस्पर्शी देशना को सुन कर नागरिक लोग और महाराज अदीनशत्रु आदि जनता भगवान् को वन्दना तथा नमस्कार करके नगर को वापिस चली गई।

विश्ववन्द्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में उन के आज के उपदेश का विचारपूर्वक मनन करने और उस के अनुसार आचरण करने वालों में से एक सुबाहुकुमार का ही इतिवृत्त हमें उपलब्ध होता है। शेष श्रोताओं के मन में क्या २ विचार उत्पन्न हुए और उन्हों ने किस हद तक भगवान् के सदुपदेश को अपनाया या अपनाने का यत्न किया ? इस का उत्तर हमारे पास नहीं है । हां ! सुबाहुकुमार जी के जीवन पर उस का जो प्रभाव हुआ, वह हमारे सामने अवश्य उपस्थित है ।

(१) भगवान् की इस धर्मदेशना से सुबाहुकुमार के हृदयगत उन विचारों को बहुत पुष्टि मिली, जो कि उस ने तेले की तपस्या करते समय अपने हृदय में एकत्रित कर लिए थे। अब उस ने अपने उन संकल्पों को और भी दृढ़ कर लिया और वह शीघ्र से शीघ्र उन्हें कार्यान्वित करने के लिये उत्सुक हो उठा। तदनन्तर वह विधिपूर्वक वन्दना, नमस्कार करके भगवान् के चरणों में बड़े विनीतभाव से इस प्रकार बोला—

प्रभो ! आपश्री जब यहां पहिले पधारे थे, तो उस समय मैंने अपने आप को मुनिधर्म के लिये असमर्थ बतलाया था और तदनुसार आप से श्रावकोचित अणुव्रतों का ग्रहण कर के अपने आत्मा को सन्तोष

(१) भगवान् की धर्मदेशनारूप सुधा का विशेषरूप से पान करने वालों को श्री औपपातिक सूत्र का धर्मदेशनाधिकार देखना चाहिये ।

दिया था। वास्तव में ही उस समय मैं मुनिधर्म का यथाविधि पालन करने में असमर्थ था परन्तु अब मैं आपश्री के असीम अनुग्रह से अपने आप को मुनिधर्म के योग्य समझता हू। अब मुझ मे मुनिधर्म के पालन करने का सामर्थ्य हो गया है। ऐसा मैं अनुभव करता हूँ। इसलिये कृपा करके मुझे मुनिधर्म मे दीक्षित करके अपने चरणों मे निवास करने का सुअवसर प्रदान करने का अनुग्रह करें ? यही आपश्री के पुनीत चरणों म मेरी विनम्र प्रार्थना है। आशा है कि आप इसे अवश्य स्वीकार करेंगे।

तदनन्तर सुबाहुकुमार फिर बोले—भगवन्! मैंने अपने दूर तथा निकट के सासारिक सम्बन्धो पर अपनी बुद्धि के अनुसार खूब विचार कर लिया है। विचार करने के अनन्तर मैं इसी परिणाम पर पहुचा हू कि ससार में धर्म के अतिरिक्त इस जीव का कोई रक्षक नहीं है। माता, पिता, भाई और बहिन तथा पुत्रकलत्रादि जितने भी सम्बन्धी कहे वा माने जाते हैं, वे अपने २ स्वार्थ को लेकर सम्बन्ध की दुहाई देने वाले हैं। समय आने पर कोई भी किसी का साथ नहीं देता। साथ देने वाला तो एक मात्र धर्म है। प्रभो! अब मैं चाहता हू कि जिन कष्टों को मैं अनन्त बार सह चुका हूँ, उन से किसी प्रकार छुटकारा प्राप्त कर लू। दीनबन्धो! मेरी धर्म पर जैसी अब आस्था है, वैसी पहिले भी थी किन्तु उस को आचरण में लाने का इस से पूर्व मुझे बल नहीं मिला था। अब आप श्री की कृपा से वह मिल गया है। अब अगर इस सुअवसर को हाथ से खो दूं तो फिर यह मुझे प्राप्त होने का नहीं है और इसे खो देना मेरी नितान्त मूर्खता होगी। इस लिये मुझे अब मुनिधर्म में दीक्षित करने की शीघ्र से शीघ्र कृपा करें। इस के लिये यदि माता पिता की आज्ञा अपेक्षित है तो मैं उसे प्राप्त कर लूंगा। इस के उत्तर में "—जैसे तुम को सुख हो, वैसा करो, परन्तु विलम्ब मत करो—" भगवान् के इन वचनों को सुन कर प्रसन्नचित्त हुआ सुबाहुकुमार भगवान् को विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करने के अनन्तर जिस रथ पर आया था, उसी पर सवार होकर माता पिता से आज्ञा प्राप्त करने के लिये अपने महल की ओर चल दिया।

—अज्झत्थियं जाव त्तियाणित्ता—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से—**चिंतियं, कप्पियं, पत्थय, मणोगय, संकप्प**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिए। इन पदों का अर्थ पृष्ठ १३३ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना ही है कि वहा ये पद प्रथमान्त हैं जब कि प्रस्तुत मे द्वितीयान्त। अतः अर्थ में द्वितीयान्त पदों की भावना कर लेनी चाहिये।

—महया० जहा पढमं तहा णिग्गओ—ये शब्द सूत्रकार की इस सूचना को सूचित करते हैं कि प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में यह वर्णन किया गया था कि भगवान् महावीर स्वामी नगर में पधारे तो उस समय सुबाहुकुमार बडे वैभव के साथ जमालि[1] की तरह भगवान् के दर्शनार्थ नगर से निकला—इत्यादि सविस्तर वर्णन न करते हुए सूत्रकार ने सकेत मात्र कर दिया है कि सुबाहुकुमार जैसे पहिले बड़े समारोह के साथ भगवान् के चरणों म उपस्थित होने के लिये आया था, उसी प्रकार अब भी आया।

—हट्ठतुट्ठ० जहा मेहो तहा अम्मापियरो आपुच्छति, णिक्खमणाभिसेओ तहेव जाव अणगारे जाते—इस पाठ मे सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि सुबाहुकुमार का धर्म सुन कर प्रसन्न होना तथा दीक्षार्थ माता पिता से पूछना, निष्क्रमणाभिषेक इत्यादि सभी बातें मेघकुमार के समान जान लेनी चाहिए, तथा दीक्षार्थ निष्क्रमण और अनगारवृत्ति का धारण करना आदि भी उसी के समान जान लेना चाहिये। मेघकुमार का सविस्तर जीवनवृत्तान्त **श्री ज्ञाताधर्मकथांग** सूत्र के प्रथम अध्ययन में वर्णित है हुआ। विस्तारभय से

(१) श्री जमालि का दर्शनयात्रावृत्तान्त ६०२ से लेकर ६०४ तक के पृष्ठों पर लिखा जा चुका है।

उस का सम्पूर्ण उल्लेख तो यहां पर नहीं हो सकता तथापि प्रकृतोपयोगी स्थलमात्र का संक्षेप से यहां पर वर्णन कर दिया जाता है।

राजगृह नाम की सुप्रसिद्ध राजधानी में महाराज श्रेणिक का शासन था। उन की महारानी का नाम श्री धारिणीदेवी था। महारानी धारिणी की पुनीत कुक्षि से जिस पुण्यशाली बालक ने जन्म लिया वह मेघकुमार के नाम से संसार में विख्यात हुआ। मेघकुमार का लालन पालन प्रवीण धायमाताओं की पूर्ण देखरेख में बड़ी उत्तमता से सम्पन्न हुआ। सुयोग्य कलाचार्य की छाया तले बालक मेघकुमार ने ७२ कला[1] आदि का उत्तम शिक्षण प्राप्त किया और युवावस्था को प्राप्त करते ही वह अपने मानवोचित हर प्रकार के कर्तव्य को पूरी तरह समझने लगा और तदनुसार ही व्यवहार करने लगा।

मेघकुमार को युवक हुआ जान कर महाराज श्रेणिक ने उस के लिये आठ उत्तम महल और उन के मध्य में एक विशाल भवन बनवाया। तदनन्तर उत्तम तिथि, करण, नक्षत्रादि में आठ सुयोग्य राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण करवाया और प्रीतिदान में हिरण्यकोटि आदि अनेकानेक बहुमूल्य पदार्थ दिए और मेघकुमार भी बत्तीस प्रकार के नाटकों के साथ उन महलों में राजकुमारियों के साथ यथारुचि भोगोपभोग करने लगा।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते २ राजगृह नगरी में पधारे और गुणशिल नामक चैत्य—उद्यान में विराजमान होगए। सारे नगर में भगवान् के पधारने की खबर बिजली की भांति फैल गई। सब लोग भगवान् का दर्शन करने, उन्हें वन्दना नमस्कार करने तथा भगवान् के मुखारविन्द से निकले हुए अमृतमय उपदेश को सुनने के लिये गुणशिल नामक उद्यान में बड़े समारोह के साथ जाने लगे। इधर मेघकुमार भी अपने पूरे वैभव के साथ भगवान् को वन्दन करने तथा उन का धर्मोपदेश सुनने के लिये वहां पहुंचा। सारी जनता के उचित स्थान पर बैठ जाने के बाद भगवान् ने उसे धर्मोपदेश देना आरम्भ किया। उपदेश क्या था ? मानों जीवन के धार्मिक विकास का साक्षात् मार्ग दिखाया जा रहा था। भगवान् के सदुपदेश ने मेघकुमार के हृदय पर अपूर्व प्रभाव डाल दिया। उस के हृदयसरोवर में वैराग्य की तरंगें निरंतर उठने लगीं। उस के मन पर से मानवोचित सांसारिक वैभव की भावना इस तरह उतर गई जैसे सांप के शरीर पर से पुरानी कांचली उतर जाती है। तात्पर्य यह है कि भगवान् की धर्मदेशना से मेघकुमार के विषय—वासनावासित हृदय पर वैराग्य का न उतरने वाला रंग चढ़ गया। उस का हृदय जहां विषयान्वित था वहां अब वैराग्यान्वित होकर संसार को घृणास्पद समझने और मानने लगा।

सब के चले जाने पर मेघकुमार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के सम्मुख उपस्थित हो कर बड़े नम्रभाव से बोला—भगवन् ! आप श्री का प्रवचन मुझे अत्यन्त प्रिय और यथार्थ लगा, मेरी इच्छा है कि मैं, आपश्री के चरणों में मुण्डित होकर प्रव्रजित हो जाऊं, संयम व्रत को ग्रहण कर लूं। माता तथा पिता से पूछना शेष है, अतः उन से पूछ कर, मैं अभी उपस्थित होता हूं। इस के उत्तर में भगवान् ने—जैसे तुम को सुख हो, विलम्ब मत करो—इस प्रकार कहा, यह सुन कर मेघकुमार जिस रथ पर चढ़ कर आया था उस पर सवार होकर घर पहुंचा और माता पिता को प्रणाम करके इस प्रकार कहने लगा—

मैं ने आज भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशामृत का खूब पान किया। उस से मुझे जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह वर्णन में नहीं आसकता। उपदेश तो अनेकों बार सुने परन्तु पहले कभी हृदय इतना प्रभावित नहीं हुआ था, जितना कि आज हो रहा है। मां ! भगवान् के चरणों में आज मैं ने जो उपदेश सुना है,

(१) ७२ कलाओं का दिग्दर्शन १०८ से लेकर ११५ तक के पृष्ठों पर किया जा चुका है।

उस का मेरे हृदयपट पर जो पावन चित्र अंकित हुआ है उसे मैं ही देख सकता हूं, दूसरे को दिखलाना मेरे लिये अशक्य है ?

पुत्र के इन वचनों को सुन कर महारानी धारिणी बोली—पुत्र ! तू बड़ा भाग्यशाली है ? जो कि तूने श्रमण भगवान् महावीर की वाणी को सुना और उस मे तेरी अभिरूचि उत्पन्न हुई। इस प्रकार के धर्माचार्यों से धर्म का श्रवण करना और उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करना-किसी भाग्यशाली का ही काम हो सकता है। भाग्यहीन व्यक्ति को ऐसा पुनीत अवसर प्राप्त नही होता। इस लिये पुत्र ! तू सचमुच ही भाग्यशाली है ।

मां ! मेरी इच्छा है कि मैं भगवान् के चरणों मे उपस्थित हो कर दीक्षा ग्रहण कर लू । मेघकुमार ने बड़ी नम्रता से माता के सामने अपना मनोभाव व्यक्त किया और स्वीकृति मागी।

अपने प्रिय पुत्र मेघकुमार की यह बात सुनकर महारानी अवाक् सी रह गई। उसे क्या खबर थी कि उस के पुत्र के हृदयपट को श्रमण भगवान् महावीर की धर्मदेशना ने अपने वैराग्यरंग से सर्वथा रंजित कर दिया है, और अब उस पर मोह के रंग का कोई प्रभाव नही पड सकता, उसे मेघकुमार के उक्त विचार से पुत्रवियोगजन्य बहुत दुःख हुआ ।

माता पिता अपनी विवाह के योग्य पुत्री का विवाह अपनी इच्छा से करते हैं, तब भी विदाई के समय उन्हें मातृपितृस्नेह व्यथित कर ही देता है। इसी प्रकार मेघकुमार की धर्मपरायणा माता धारिणी देवी, दीक्षा को सर्वश्रेष्ठ मानती हुई भी तथा साधुजनों की संगति और सयम को आदर्श रूप समझती हुई भी मेघकुमार के मुख से दीक्षित होने का विचार सुन उस के हृदय को पुत्र की ममता ने हर प्रकार से व्यथित कर दिया। वह बेसुध हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ी । जब दास दासियों के उपचार से वह कुछ सचेत हुई तो स्नेहपूर्ण हृदय से मेघकुमार को सम्बोधित करती हुई इस प्रकार बोली—

पुत्र ! तू ने यह क्या कहा ? मैं तो तुम्हारा मुख देख २ कर ही जी रही हूँ। मेरे स्नेह का एक मात्र केन्द्र तो तू ही है। मैंने तो तुम्हे उस रत्न से भी अधिक सभाल कर रखा है, जिसे सुरक्षित रखने के लिये एक सुदृढ और सुन्दर डिब्बे की जरूरत होती है ? मैं तो तुम्हारे आते का मुख और जाते की पीठ देखने के लिये ही खड़ी रहती हू। ऐसी दशा मे तुम्हारे दीक्षित हो जाने पर मेरी जो अवस्था होगी उस का भी तू पुत्र ! गम्भीरता से विचार कर ? माता का भी पुत्र पर कोई अधिकार होता है। इसलिये बेटा ! अधिक नही तो मेरे जीते तक तो तू इस दीक्षा के विचार का अपने हृदय से निकाल दे। अभी तेरा भर यौवन है, इस के उपयुक्त सामग्री भी घर मे विद्यमान है, यह सारा वैभव तेरे ही लिये हैं, फिर तू इस का यथारुचि उपभोग न कर के दीक्षा लेने की क्यों ठान रहा है ? छोड़ इन विचारों को, तू अभी बच्चा है, संयम के पालने में कितनी कठिनाइये झेलनी पडती हैं, इस का तुझ को अनुभव नहीं है। सयमव्रत का ग्रहण करना कोई साधारण बात नहीं है। इस के लिये बड़े दृढ मनोबल की आवश्यकता होती है। तेरा कोमल शरीर, सुकुमार अवस्था और देवदुलभ राज्यवैभव की सम्प्राप्ति आदि के साथ दीक्षा जैसे कठोरव्रत की तुलना करते हुए मुझे तो तू उस के योग्य प्रतीत नहीं होता। इस पर भी यदि तेरा दीक्षा के लिये ही विशेष आग्रह है तो मेरे मरने के बाद दीक्षा ले लेना । इस प्रकार माता की और महाराज श्रेणिक के आ जाने पर उन की ओर से कही गई इसी प्रकार की स्नेहपूर्ण ममता-भरी बातों को सुन कर माता पिता को सम्बोधित करते हुए मेघकुमार बोले—

आप की पुनीत गोद में बैठ कर मैंने तो यह सीखा है कि जिस काम मे अपना और संसार का

कल्याण हो, उस काम के करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये। परन्तु आप कह रहे हैं कि हमारे जीते जी दीक्षा न लो यह क्यों ?, फिर क्या यह निश्चित हो चुका है कि हम में से पहले कौन मरेगा ? क्या माता पिता की उपस्थिति मे पुत्र या पुत्री की मृत्यु नहीं हो सकती ?

मेघकुमार के इस कथन का उत्तर माता पिता से कुछ न बन पड़ा। तब उन्हों ने उसे घर मे रखने का एक और उपाय करने का उद्योग किया। महारानी धारिणी और महाराज श्रेणिक बोले—

बेटा ! यदि तुम को हमारा ध्यान नहीं, तो अपनी नवपरिणीता वधुओं का तो ख्याल करो ! अभी तुम इन्हे व्याह कर लाये हो, इन बेचारियों ने तो अभी तक तुम्हारा कुछ भी सुख नहीं देखा। तुम यदि इन्हें इस अवस्था में छोड़ कर चले गये तो इन का क्या बनेगा ? इन को रक्षा करना तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है। इन के विकसित हुए यौवन का विनाश कर दीक्षा के लिये उद्यत होना कोई बुद्धिमत्ता नही। यदि साधु ही बनना होगा तो अभी बहुत समय है, कुछ दिन घर में रह कर सांसारिक सुखो का भी उपभोग करो। वंश-वृद्धि का सारा भार तुम पर है बेटा !

मेघकुमार बोला—यह कामभोग तो जीवन को पतित कर देने वाले हैं। स्वयं मलिन हैं और अपने उपासक को भी मलिन बना देते हैं। यह जो रूप लावण्य और शारीरिक सौंदर्य है, वह भी चिरस्थायी नहीं है, और यह शरीर जिसे सुन्दरता का निकेतन समझा जाता है, निरा मलमूत्र और अशुचि पदार्थों का घर है। ऐसे अपवित्र शरीर पर आसक्ति रखना निरी मूर्खता है। इस के अतिरिक्त ये शरीर, धन और कलत्रादि कोई भी इस जीव के साथ मे जाने वाले नहीं हैं। समय आने पर ये सब साथ छोड़ कर अलग हो जाते हैं। फिर इन पर मोह करना या विश्वास रखना कैसे उचित हो सकता है ! पूज्य माता और पिता जी ! इस अस्थिर सांसारिक सम्बन्ध के व्यामोह मे पड कर आप मुझे अपने कर्तव्य के पालन से च्युत करने का यत्न न करें। सच्चे माता पिता वे ही होते हैं, जो पुत्र के वास्तविक हित की ओर ध्यान देते हैं ! मेरा हित इसी मे है कि एक वीर क्षत्रिय के नाते कर्मरूप आत्मशत्रुओं को पराजित कर के आत्मस्वराज्य को प्राप्त करू। इस के लिये साधन है—संयम व्रत का सतत पालन। अत: यदि उस की आप मुझे आज्ञा दे दें, तो मे आप का बहुत आभारी रहूंगा। आप यदि सांसारिक प्रलोभनों के बदले मुझे यह आशीर्वाद दें कि, जा बेटा ! तू संयम व्रत को ग्रहण करके एक वीर क्षत्रिय की भाँति कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने मे सफल हो, तो कैसा अच्छा हो। मा ! मुझे शीघ्र आज्ञा दो कि मै भगवान् के पास दीक्षित हो जाऊ ! पिता जी ! कहो न, कि दीक्षा लेना चाहते हो तो भले ही ले लो, हमारी आज्ञा है।

मेघकुमार के इस आग्रह भरे वचनसन्दर्भ को सुनने के बाद उस की माता ने संयमव्रत की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए फिर कहा कि पुत्र ! संयमव्रत लेने की तेरे अन्दर जो लालसा है, वह तो प्रशंसनीय है, परन्तु जिस मार्ग का तू पथिक बनने की इच्छा कर रहा है, उस का सम्यक्तया बोध भी प्राप्त कर लिया है ! **संयम** कहने में तो तीन चार व्यञ्जनों का समुदाय है, पर इस के वाच्य को जीवनसात् करना—जीवन में उतारना, बहुत कठिन होता है। संयम लेने का अर्थ है—उस्तरे की धारा को चाटना और साथ में जिह्वा को कटने न देना, तथा नदी के प्रबल वेग के प्रतिकूल गमन करना, महान् समुद्र को भुजाओं से पार करना। इसी भाँति संयम का अर्थ है—बडे भारी पर्वत को सिर पर उठा कर चलना। इसलिये पुत्र ! सब कुछ सोच समझ ले, फिर संयम ग्रहण की ओर बढना ? कहीं ऐसा न हो कि इधर सांसारिक वैभव से भी हाथ धो बैठो और उधर संयम भी न पाल सको। माता धारिणी फिर बोली कि पुत्र ! संयमव्रत मे सब से बड़ी कठिनाई यह है कि उस में भोजन की व्यवस्था बड़ी अटपटी है। कच्चा पानी इस मे त्याज्य होता है।

संसार भर के जितने मधुर से मधुर एवं कोमल से कोमल फल फूल हैं, उन सब का ग्रहण इस में वर्जित होता है। भोजन के ग्रहण में भी बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। भिक्षा से जीवननिर्वाह करना होता है। इस विषय में तो इतनी अधिक कठिनाई है कि जो तेरे जैसे राजसी ठाठ में पले हुए सुकुमार युवक की कल्पना में भी नहीं आ सकती। नीरस भोजन, पृथ्वी पर सोना, दंशमशकादि का काटना और शीतातप का लगना आदि ऐसे अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं कि जिन की तेरे जैसे राजकुमार को कभी कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसे विकट मार्ग में गमन करने से पहिले अपने आत्मबल को भी देख लेना चाहिये। कहीं इस नवीन वैराग्य की बाढ में तरने के बदले अपने आप को खो देने की भूल न कर बैठना। तू अभी बच्चा है। तेरा अनुभव इतना विशद नहीं। प्रत्येक कार्य में उस के आरम्भ से पहले उस से निष्पन्न होने वाले हानि लाभ का विचार करना नितान्त आवश्यक होता है। इस लिये पुत्र! मेरी तो इस समय तेरे लिये यही सम्मति है कि तू अभी दीक्षा के विचार को स्थगित कर दे।

माता पिता के इस उपदेश का भी मेघकुमार के हृदय पर कुछ असर नहीं हुआ, प्रत्युत कठिनाई की बातों को सुन कर वह कुछ उत्तेजित सा होकर बोला कि माता जी! संयम महान् कठिन है, यह मैं जानता हूं और यह भी जानता हूं कि इस के धारक वीर पुरुष ही हो सकते हैं। यह काम कायरों और कमज़ोरों का नहीं, वे तो आरम्भ में ही फिसल जाते हैं। परन्तु मैं तो एक वीर क्षत्रियाणी का वीरपुत्र हूं और क्षात्रधर्म का जीता जागता प्रतीक हूं। वीरांगना के आत्मजों में दुर्बलता की शंका करना निरा भ्रम है। मां! एक सिंहनी अपने पुत्र को रणसंग्राम से पीछे हटने का उपदेश दे, यह देख मुझे तो आश्चर्य होता है। एक क्षत्रिय कुमार होता हुआ मैं संयम की कठिनता से भयभीत हो जाऊं, यह तो आप को स्वप्न में भी ख्याल नहीं करना चाहिये। **"तेजस्विनः क्षणमसूनपि संत्यजन्ति। सत्यव्रतप्रणयिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्"** अर्थात् तेजस्वी, धीर और वीर पुरुष अपने प्राणों का त्याग कर देते हैं परन्तु ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को भंग नहीं होने देते। भला मां! यह तो बतलाओ कि संसार में कोई ऐसा काम भी है जिस में किसी न किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़े? माता बच्चे को जन्म देते समय कितनी व्यापक वेदना का अनुभव करती है? यदि वह उस असह्य वेदना को सह लेती है तभी तो अपनी गोद को बच्चे से भरी हुई पाती है और "—मां!, मां!—" इस मधुर ध्वनि से अपने कर्णविवरों को पूरित करने का हर्षपूर्ण पुण्य अवसर प्राप्त करती है।

माता जी! मुझे संयम की कठिनाइयों से भयभीत करके संयम से पराङ्मुख करने का विफल प्रयास मत करो। मैं तो **"कार्यं[1] वा साधयामि देहं वा पातयामि"**—इस प्रतिज्ञा का पालन करने वाला हूँ। इस लिये मुझे संयम में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों से अणुमात्र भी भय नहीं है। आप इस विषय में सर्वथा निश्चिन्त रहें। आप का यह वीर बालक आप की शुभकीर्ति में किसी प्रकार का लाञ्छन नहीं लगने देगा। अब मुझे दीक्षाग्रहण करने की आज्ञा प्रदान करो? माता के चुप रहने पर वह फिर बोला—

वीर माता अपने पुत्र को रणक्षेत्र में जाने के लिये स्वयं सजा कर भेजती है, परन्तु आज न जाने उसे क्या हो गया? मां! मैं तो कर्मरूपी शत्रुओं के महान् दल को विध्वंस करने जा रहा हूं, मुझे उस के लिये स्वयं तैयार करो? योग्य माताओं के आदर्श को अपना कर अपने इस वीर बालक को संयमयात्रा की आज्ञा प्रदान करो? अब तो सौभाग्यवश मुझे श्रमण भगवान् महावीर जैसे सेनानायक का संयोग प्राप्त हो रहा

---

(१) कार्य को सिद्ध कर लूंगा या उस की सिद्धि में जीवन को अर्पण कर दूंगा, अर्थात् कार्य-सिद्धि के लिये इतनी दृढ़ता है तो उसके लिये मृत्युदेवी का सहर्ष आलिंगन कर लूंगा।

है। मैं उन के शासन मे अवश्य विजय प्राप्त करूगा। ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। इस लिये मा! उठो तुम स्वय चल कर मुझे भगवान् के चरणो में जाकर उन्हे अर्पण कर दो और अन्ततोगत्वा यही समझ लेना कि मेरा वीर पुत्र अपनी आन को बचाने की खातिर रणक्षेत्र में कूद पडा है।

मेघकुमार के पिता महाराज श्रेणिक बडे नीतिज्ञ थे। उन्हों ने सोचा कि कभी कभी अनेक युवक भावुकता के प्रवाह में बहते हुए अतरंग में स्थायी और दृढ सकल्पों के अभाव में भी स्थायी प्रभाव रखने वाले कार्यों में जुट जाते हैं। उस का फल यह होता है कि तीर तो हाथ से छूट जाता है मात्र पश्चात्ताप पल्ले रह जाता है। यद्यपि मेघकुमार बुद्धिमान और सुशील है तथापि युवक ही तो है। अस्तु, इस की दृढता की प्रथम जाच करनी चाहिये। यह सोच महाराज श्रेणिक मेघकुमार को सम्बोधित करते हुए बोले—

पुत्र! तू वीर है, ससार में वीरता का आदर्श उपस्थित कर तू सयमी - साधु बन कर दुनिया को कायरता का सन्देश क्यों देता है? ससार का जितना कल्याण तलवार से हो सकता है, उतना साधुवृत्ति से नहीं होगा। अपने ऊपर आने हुए गृहस्थी के भार से भयभीत ही कर भागना कायरो का काम है, तेरे जैसे वीरात्मा का नहीं! लोग तुझे क्या समझेंगे? तेरी शक्ति का ससार को क्या लाभ हुआ? यदि तू ससार का कल्याण चाहता है तो अपने हाथ शासन की बागडोर ले और प्रजा का नीतिपूर्वक पालन कर। ऐसा करने से तेरा और जगत् दोनों का हित सम्पन्न होगा।

पिता की यह बात सुन मेघकुमार बोला —पिता जी! यह आप ने क्या कहा? क्या सयम धारण करना कायरों का काम है? नहीं, नहीं। उस के धारण करने के लिये तो बड़ी शूरवीरता की आवश्यकता होतीहै। तलवार चलाने मे वह वीरता नहीं जो सयम के ग्रहण करने में है। तलवार के बल से जनता के मन को भयभीत किया जा सकता है, उसे व्यथित एव सत्रस्त किया जा सकता है परन्तु अपनाया या उठाया नहीं जा सकता। तलवार से वश होने वाले, तलवार की स्थिति तक ही वश में रह सकते हैं, पीछे से वे शत्रु बनते हैं और समय आने पर सारा बदला चुका लेते हैं। राम अकेला था, निस्सहाय था, जगल का विहारी था और रावण था लकेश, परन्तु प्रजा ने किस का साथ दिया? राम का न कि रावण का। साराश यह है कि तलवार चलाने मे वीरता नहीं, वीरता तो उस काम में है, जिस से अपना और दूसरों का हित सम्पन्न हो, कल्याण हो। दूसरी बात यदि बाहिरी शत्रुओं को जीता तो क्या जीता? इस में तो कोई असाधारण वीरता नहीं, वीरता तो आन्तरिक शत्रुओ की विजय में है। उन का दमन करने वाला ही सच्चा वीर है। काम, क्रोधादि जितने भी आन्तरिक शत्रु हैं वे तलवार से कभी जीते नहीं जा सकते, इन पर तलवार का कोई असर नहीं होता। उन के जीतने का तो एक मात्र साधन सयमव्रत है। सयम की तलवार मे जितना बल है उस से तो शताश या सहस्राश भी इस बाहिर की चमकने वाली लोहे की जड़ तलवार मे नहीं है। सयम की तलवार जहा अन्दर के काम, क्रोधादि को मार भगाने में शक्तिशाली है, वहा बाहिर के शत्रुओं को पराजित करने मे भी वह सिद्धहस्त है। मै तो इसी उद्देश्य से अर्थात् इन्हीं अन्तरग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने आप को सयम की तलवार से सन्नद्ध कर रहा हूँ, परन्तु आप उस में प्रतिबन्ध बन रहे हैं। क्या आप के हृदय मे मेरी इस आदर्श वीरोचित तैयारी के लिये प्रोत्साहन देने की भावना जागृत नहीं होती? अवश्य होनी चाहिये। क्या ही अच्छा हो, यदि आप अपने हाथ से मेरा निष्क्रमणाभिषेक करावे और प्रसन्नचित्त से मुझे भगवान् के हाथ समर्पित करें।

मेघकुमार के सदुत्तर ने महाराज श्रेणिक को भी मौन करा दिया और माता ने भी समझ लिया कि मेघकुमार अब रुक नहीं सकेगा। तब इस से तो यही अच्छा है कि इस के श्रेयसाधक कार्य में अब विशेष

प्रतिबन्ध उपस्थित न किया जाय। इस विचार के अनन्तर मेघकुमार को सबोधित करते हुए वह बोली—अच्छा, बेटा ! यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो जाओ, वीरोचित धर्म का वीरवेष पहन कर उस की प्रतिष्ठा को अधिक से अधिक बढाने का उद्योग करते हुए, इच्छित विजय प्राप्त करो, यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

दीक्षा के लिये उद्यत हुए मेघकुमार को इस तरह से माता पिता का समझाना भी रहस्य से खाली नहीं है। उस मे माता पिता के एक कर्तव्य की सूचना निहित है। इस के अतिरिक्त माता पिता इस बात की जाच करते हैं कि हमारा पुत्र किसी अमुक सासारिक बात की कमी से तो साधु नहीं बन रहा ? इस के अतिरिक्त जाच करने से "—अमुक का पुत्र अमुक कमी से साधु बन गया" इस अपवाद से अपने आप को बचाया जा सकता है। इसी लिये माता ने अन्य बातो के कहने के साथ २ अन्त मे यह भी कहा डाला कि बेटा ! कम से कम एक दिन की राज्यश्री का उपभोग तो अवश्य करो—ऐसा कहने से वह 'सयम को श्रेष्ठ समझता है या राज्य को ?—" इस बात का भी भली भाँति निर्णय हो जायेगा। इस के अतिरिक्त राज्य को त्याग कर सयम लेने से ससार पर विशिष्ट प्रभाव पडेगा और सयम के महत्त्व का ससार को पता लगेगा।

मेघकुमार भी माता के उक्त कथन (एक दिन की राज्यश्री का उपभोग अवश्य करो) का अभिप्राय समझ गया और जैसे सोने की असली परीक्षा अग्नि मे तपा कर ही होती है वैसे मुझे भी अपनी दृढता की परीक्षा राज्य लेकर देनी होगी। यह सोच उस ने राज्य लेने की स्वीकृति दे दी और माता के अनुरोध को शिरोधार्य कर उस की लालसा को पूरा किया।

दूसरे दिन मेघकुमार का बड़े समारोह के साथ राज्याभिषेक करके उसे राजा बना दिया गया। मेघकुमार राज्यसिंहासन पर बैठा और उसके ऊपर छत्र और दोनों तरफ चामर डुलाये जाने लगे। राज्यसत्ता मेघकुमार को अर्पण कर दी गई। दूसरे शब्दों में उसे राज्यशासन का सारा भार सौंप दिया गया। महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी अपने पुत्र को राजगृहनरेश के रूप मे देख कर अत्यन्तात्यन्त प्रसन्न हुए और सप्रेम कहने लगे कि पुत्र ! किसी वस्तु की इच्छा है ? तब मेघ नरेश ने उत्तर दिया—मुझे रजोहरण और पात्र चाहियें और शिरोमुडन के लिए एक नाई चाहिए।

महाराज श्रेणिक तथा माता धारिणी ने जब यह देखा कि मेघकुमार अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो गया है और अब उसे किसी ढंग से आपातरमणीय सासारिक कामभोगों मे फसाया नहीं जा सकता। अब तो यह प्रभु वीर के चरणों में दीक्षित होकर अपना आत्मश्रेय साधने में अत्यधिक उत्सुक एव उस के लिये सन्नद्ध हो रहा है तब उन्हो ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुला कर कहा कि भद्र पुरुषो ! राज्य के कोष में से तीन लाख मोहरें निकाल लो। उन मे से दो लाख मोहरों द्वारा रजोहरण और पात्र ले आओ, एक लाख मोहरे नापित—नाई का दे डालो, जो दीक्षित होने से पूर्व कुमार का शिरोमुण्डन करेगा।

कौटुम्बिक पुरुषों ने महाराज की इच्छा के अनुसार वह सब कुछ कर दिया तब दीक्षामहोत्सव की तैयारी होने लगी। सब से प्रथम मेघकुमार को एक पट्टासन पर बैठा कर सोने और चादी के कलशों मे स्नान कराया गया। शरीर को पोछ कर सुन्दर मे सुन्दर तथा बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनाये गये। सुगन्धित द्रव्यो का लेपन किया गया। तत्पश्चात् सेवकों को पालकी लाने की आज्ञा दी गई। आज्ञा मिलते ही सेवकवृन्द एक सुन्दर सुसज्जित और एक हजार आदमियों के द्वारा उठाई जाने वाली पालकी ले आये। उस पालकी मे पूर्व की ओर मुख कर के मेघकुमार बैठ गये। उन के पास ही महारानी धारिणी भी अच्छे २ वस्त्रालंकार पहन कर बैठ गई। मेघकुमार के बाईं ओर उन की धाय माता रजोहरण और पात्र ले कर बैठ गई। एक तरुण महिला छत्र लेकर उस के पीछे बैठ गई। दो युवतिये हाथों मे चवर लेकर वहा आईं और मेघकुमार को डुलाने लगीं। एक और तरुण सुन्दरी पखा लेकर पालकी मे आई और वहा मेघकुमार के

उष्णताजन्य संताप को दूर करने का यत्न करने लगी। एक स्त्री झारी लेकर वहां आई वह भी वहां पूर्व-दक्षिण दिशा की ओर खड़ी हो गई। ऐसे वैभव से मेघकुमार को उस पालकी में बिठलाया गया। पालकी की तैयारी होने पर महाराज श्रेणिक ने समान रंग, समान आयु और समान वस्त्र वाले एक हजार पुरुषों को बुलाया। आज्ञा मिलने पर वे पुरुष स्नानादि से निवृत्त हो, वस्त्राभूषण पहिन कर वहां उपस्थित हो गये। महाराज श्रेणिक की ओर से पालकी उठाने की आज्ञा मिलने पर उन्हों ने पालकी को अपने कंधों पर उठा लिया और राजगृह के बाजार की ओर चलने लगे।

एक राजा अपने राज्य को त्याग कर दीक्षा ले रहा है, ऐसी सूचना मिलने पर कौन ऐसा भाग्यहीन आदमी होगा जो इस पावन दीक्षामहोत्सव में सम्मिलित न हुआ होगा? सारे नागरिक दीक्षामहोत्सव को देखने के लिये जनप्रवाह की भांति उमड़ पड़े। राज्य की समस्त सेना भी उपस्थित हुई। सारांश यह है कि वहां महान् जनसमूह एकत्रित हो गया तथा सब लोग जय जय कार से आकाश को प्रतिध्वनित करते हुए दीक्षायात्रा की शोभा में वृद्धि करने लगे।

मेघकुमार की सहस्रपुरुषवाहिनी पालकी बड़े वैभवपूर्ण समारोह के साथ नगर के बीच में से होकर चली। सब के आगे सेना थी और महाराज श्रेणिक भी उसी के साथ थे। सेना के पीछे मंगलद्रव्य थे और उनके पीछे मेघकुमार की पालकी थी। पालकी के पीछे जनता थी। इस प्रकार धूमधाम से मेघकुमार की पालकी जहां महामहिम, करुणा के सागर, दीनों के नाथ, पतितपावन, दयानिधि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे उस ओर अर्थात् गुणशिलक उद्यान की ओर चली। वहां उद्यान के समीप पहुँचने पर पालकी नीचे रक्खी गई और मेघकुमार तथा उस की माता आदि सब उस में से उतर पड़े। मेघकुमार को आगे करके महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी जहां पर भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहां पहुँचे। सब ने विधिपूर्वक भगवान् को वन्दन किया। तदनन्तर मेघकुमार की ओर संकेत कर के महारानी धारिणी तथा महाराज श्रेणिक ने बड़े विनम्रभाव से भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—

भगवन्! हम आप को एक शिष्य की भिक्षा देने लगे हैं, आप इसे स्वीकार करने की कृपा करें। यह मेघकुमार हमारा [1]इकलौता बेटा है। यह हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है, परन्तु इस की भावना आप श्री के चरणों में दीक्षित हो कर आत्मकल्याण करने की है। यद्यपि यह राज्यवैभव के अनुपम कामभोगों में पला है तथापि कीच में पैदा हो कर कीच से अलिप्त रहने वाले कमल की भांति यह कामभोगों में आसक्त नहीं हुआ। जिन दुःखों को इस ने अतीत जन्मों में अनेक बार सहा है, उन से यह विशेष भयभीत है। अनागत में अतीत के समान दुःखों को न पाऊं, इस भावना से यह आपश्री के चरणों में उपस्थित हो रहा है। अतः इस की इस पुनीत भावना को पूर्ण करने की आप इस पर अवश्य कृपा करें। माता पिता के इस निवेदन के अनन्तर भगवान् महावीर स्वामी की ओर से शिष्यभिक्षा की स्वीकृति मिलने पर मेघकुमार भगवान् के पास से उठ कर ईशान कोण में चले जाते हैं, वहां जाकर उन्होंने शरीर पर के सारे बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को उतारा और उन्हें माता के सुपुर्द किया। माता धारिणी ने भी उन्हें सुरक्षित रख लिया। तदनन्तर माता और पिता मेघकुमार को सम्बोधित करते हुए बोले—

पुत्र! हमारी आन्तरिक इच्छा न होने पर भी हम विवश हो कर तुम को आज्ञा दे रहे हैं, किन्तु तुम ने इस बात का पूरा २ ध्यान रखना कि जिस कार्य के लिये तुम ने राज्यसिंहासन को ठुकराया

(१) माता धारिणी के एक ही पुत्र होने के कारण मेघकुमार को इकलौता बेटा कहा गया है।

है उस को सफल करने के लिए पूरा २ उद्योग करना और पूरी सफलता प्राप्त करनी। तुम क्षत्रिय कुमार हो, इस लिये संयमव्रत के सम्यक् अनुष्ठान मे कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने मे पूरी २ आत्मशक्ति का प्रयोग करना और अपने कर्तव्यपालन म प्रमाद को कभी स्थान न देना। उस से हर समय सावधान रहना। हम भी उसी दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब तेरी ही तरह संयमशील बन कर कर्मरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करने के लिए अपने आप को प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार पुत्र को समझा कर महाराज श्रेणिक और महारानी धारिणी भगवान् को वन्दना नमस्कार कर के अपनी राजधानी की ओर स्थित हुए

माता पिता के चले जाने के बाद मेघकुमार ने पंचमुष्टि लोच कर के भगवान् के पास आकर विधि-पूर्वक वन्दन किया और हाथ जोड इस प्रकार प्रार्थना की—

प्रभो ! यह संसार जरामरणरूप अग्नि से जल रहा है। जिस तरह जलते हुए घर में से सर्वप्रथम बहुमूल्य पदार्थों को निकालने का यत्न किया जाता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी अमूल्य आत्मा को संसार की आग से निकालना चाहता हूँ। मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मुझे इस अग्नि मे न जलना पडे। इसी लिये म आपश्री के चरणों म दीक्षित होना चाहता हू। कृपया मेरी इस कामना को पूरा करो।

मेघकुमार की इस प्रार्थना पर भगवान् ने उसे मुनिधर्म की दीक्षा प्रदान की और मुनिधर्मोचित शिक्षायें देकर उसे मुनिधर्म की सारी चर्या समझा दी तथा मेघकुमार भी भगवान् वीर के आदेशानुसार संयमव्रत का यथाविधि पालन करते हुए समय व्यतीत करने लगे।

यह है मेघकुमार का दीक्षा तक का जीवनवृत्तान्त, जिस मे श्री सुबाहुकुमार की दीक्षा तक की चर्या को उपमित किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस तरह मेघकुमार के हृदय म दीक्षा लेने के भाव उत्पन्न हुए तथा माता पिता से आज्ञा प्राप्त करने का उद्योग किया और माता पिता ने परीक्षा लेने के अनन्तर उन्हें सहर्ष आज्ञा प्रदान की और अपने हाथ से समारोहपूर्वक निष्क्रमणाभिषेक कर के उन्हें भगवान् को समर्पित किया उसी तरह श्री सुबाहुकुमार के विषय मे भी जान लेना चाहिये। यहा पर केवल नामों का अन्तर है और कुछ नहीं। मेघकुमार के पिता का नाम श्रेणिक है और सुबाहुकुमार के पिता का नाम अदीनशत्रु है। दोनों की माताए एक नाम की थी। मेघकुमार राजगृह नगर में पला और उस ने गुणशिलक नामक उद्यान मे दीक्षा ली, जब कि सुबाहुकुमार हस्तिशीर्ष नगर मे पला और उस ने दीक्षा पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में ली। शेष वृत्तान्त एक जैसा है।

—हट्ठतुट्ठे०—यहां के बिन्दु से—**समणं भगवं महावीरं**—इत्यादि पाठ का ग्रहण है। समग्रपाठ के लिये [1]**श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्ग** सूत्र के प्रथम अध्याय के २३वें सूत्र से ले कर २६वें सूत्र तक के पाठ को देखना चाहिये। इतने पाठ में श्री मेघकुमार का समस्त वर्णन विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है।

निष्क्रमण नाम दीक्षा का है और **अभिषेक** का अर्थ है—दीक्षासम्बन्धी पहिली तैयारी। तात्पर्य यह है कि दीक्षा की आरम्भिक क्रियासम्पत्ति को **निष्क्रमणाभिषेक** कहा जाता है। जिस ने घर बार आदि का सर्वथा परित्याग कर दिया हो, वह **अनगार**[2] कहलाता है। तथा—**इरियासमिते जाव बंभयारी**—यहा पठित **जाव-यावत्** पद से—**भासासमिते, एसणासमिते, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिते, उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपरिट्ठावणियासमिते, मणसमिते, वयसमिते, कायसमिते, मणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्ते, गुत्तिंदिये, गुत्तबंभयारी**—इन अवशिष्ट पदों का ग्रहण करना चाहिए। इन का अर्थ इस प्रकार है—

(१) आगमोदयसमिति पृष्ठ ४६ से ले कर पृष्ठ ६० तक का सूत्रपाठ देखना चाहिये।

(२) **न विद्यते अगारादिकं द्रव्यजातं यस्यासौ अनगारः**। (वृत्तिकार)

१—ईर्यासमिति[1]—युगप्रमाणपूर्वक भूमि को एकाग्र चित्त से देख कर जीवों को बचाते हुए यतनापूर्वक गमन करने का नाम ईर्यासमिति है ।

२—भाषासमिति—सदोष वाणी को छोड कर निर्दोष वाणी अर्थात् हित, मित, सत्य एव स्पष्ट वचन बोलने का नाम भाषासमिति है ।

३—एषणासमिति—आहार के ४२ दोषों को टाल कर, शुद्ध आहार तथा वस्त्र, पात्र आदि उपधि का ग्रहण करना । अर्थात् एषणा-गवेषणा द्वारा भिक्षा एव वस्त्र पात्रादि का ग्रहण करने का नाम एषणासमिति है ।

४—आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति—आसन, सस्तारक, पाट, वस्त्र, पात्रादि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देख कर एव रजोहरण से पोंछ कर लेना एवं उपयोगपूर्वक देखी और प्रतिलेखित भूमि पर रखने का नाम आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति है ।

५—उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापनिकासमिति—उच्चार—मल, प्रस्रवण—मूत्र, खेल—थूक, सिंघाण—नाक का मल, जल्ल—शरीर का मल इन की परिष्ठापना—परित्याग में सम्यक् प्रवृत्ति का नाम उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापनिकासमिति है ।

६—मन समिति—पापों से निवृत्त रहने के लिए एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् एव प्रशस्त मानसिक प्रवृत्ति का नाम मन समिति है ।

७—वच समिति—पापों से बचने के लिये एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् एव प्रशस्त वाचनिक प्रवृत्ति का नाम वच समिति है ।

८—कायसमिति—पापों से सुरक्षित रहने के लिये एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् एव प्रशस्त कायिक प्रवृत्ति का नाम कायसमिति है।

---

(१) ईर्या नाम गति या गमन का है । विवेकयुक्त हो कर प्रवृत्ति करने का नाम समिति है । ठीक प्रवचन के अनुसार आत्मा की गमनरूप जो चेष्टा है उसे ईर्यासमिति कहते हैं । यह इस का शाब्दिक अर्थ है । ईर्यासमिति के—आलम्बन, काल, मार्ग और यतना ये चार भेद होते हैं । जिस को आश्रित करके गमन क्रिया जाए वह आलम्बन कहलाता है । दिन या रात्रि का नाम काल है । रास्ते को मार्ग कहते हैं और सावधानी का दूसरा नाम यतना है । आलम्बन के तीन भेद होते हैं-ज्ञान, दर्शन और चारित्र । पदार्थों के सम्यग् बोध का नाम ज्ञान है । तत्त्वाभिरुचि को दर्शन और सम्यक् आचरण को चारित्र कहते हैं । काल से यहा पर मात्र दिन का ग्रहण है । साधु के लिये गमनागमन का जो समय है, वह दिवस है । रात्रि मे आलोक का अभाव होने मे चक्षुओं का पदार्थों मे साक्षात्कार नहीं हो सकता । अतएव साधुओं के लिये रात्रि मे विहार करने की आज्ञा नही है । मार्ग शब्द उत्पथरहित पथ का बोधक है । उसी मे गमन करना शास्त्रसम्मत अथच युक्तियुक्त है । उत्पथ मे गमन करने से आत्मा और सयम दोनों की विराधना सभवित है । यतना के-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार भेद हैं । जीव, अजीव आदि द्रव्यों को नेत्रों से देख कर चलना द्रव्य यतना है । साढे तीन हाथ प्रमाण भूमि को आगे से देख कर चलना क्षेत्र यतना है । जब तक चले तब तक देखे यह काल यतना है । उपयोग—सावधानता पूर्वक गमन करना भाव यतना है । तात्पर्य यह है कि चलने के समय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि जो इन्द्रियों के विषय हैं उन को छोड देना चाहिये और चलते हुए वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, धर्मकथा और अनुप्रेक्षा इन पाच प्रकार के स्वाध्यायों का भी परित्याग कर देना चाहिये ।

९—**मनोगुप्ति**—आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान रूप मानसिक अशुभ व्यापार को रोकने का नाम **मनोगुप्ति** है।

१०—**वचनगुप्ति**—वाचनिक अशुभ व्यापार को रोकना अर्थात् विकथा न करना, झूठ न बोलना निंदा चुगली आदि दूषित वचनविषयक व्यापार को रोक देना **वचनगुप्ति** शब्द का अभिप्राय है।

११—**कायगुप्ति**—कायिक अशुभ व्यापार को रोकना अर्थात् उठने, बैठने, हिलने, चलने, सोने आदि में अविवेक न करने का नाम **कायगुप्ति** है।

पूर्वोक्त ८ समितियों से, तीन गुप्तियों से युक्त और गुप्त—मन वचन और काया को सावद्य प्रवृत्तियों से इन्द्रियों को रोकने वाला और [1]गुप्तेन्द्रिय—कच्छप की भांति इन्द्रियों को वश में रखने वाला तथा ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने वाला।

प्रश्न—समिति और गुप्ति में क्या अन्तर—भेद है ?

उत्तर—योगों में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति का नाम समिति है और अशुभ योगों से आत्ममंदिर में आने वाले कर्मरज को रोकना गुप्ति कहलाती है। दूसरे शब्दों में मन समिति का अर्थ है—कुशल मन की प्रवृत्ति। मनोगुप्ति का अर्थ है—अकुशल मनोयोग का निरोध करना। यही इन में अन्तर है। सारांश यह है कि गुप्ति में असत् क्रिया का निषेध मुख्य है और समिति में सत् क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। अतः समिति केवल सम्यक् प्रवृत्ति रूप ही होती है और गुप्ति निवृत्तिरूप।

प्रश्न—महाराज श्रेणिक ने ओघे और पात्रों का मूल्य दो लाख मोहरें दिया तथा नाई को एक लाख मोहरें मेघकुमार के शिरोमुण्डन के उपलक्ष में दीं। इस में क्या रहस्य रहा हुआ है ?

उत्तर—एक साधारण बुद्धि का बालक भी जानता है कि एक पैसे के मूल्य वाली चीज एक पैसे में ही खरीदी जा सकती है, दो पैसों में नहीं। नीतिशास्त्र के परम पण्डित, पुरुषों की ७२ कलाओं में प्रवीण और परम मेधावी मगधेश साधारण मूल्य वाले पदार्थ का अधिक मूल्य कैसे दे सकते हैं ? तब ओघे और पात्रों की अधिक क़ीमत दो लाख मोहरें देने का अभिप्राय और है जिस की जानकारी के लिये मनन एवं चिन्तन अपेक्षित है।

मेघकुमार के लिये जिस दुकान से ओघा और पात्र खरीदे गये थे उस दुकान का नाम शास्त्रों में "[2]**कुत्तियावण—कुत्रिकापण**" लिखा है। कु नाम पृथिवी का है। त्रिक शब्द से अधोलोक, मध्यलोक

(१) —"**गुत्ता गुत्तिंदिय त्ति**"—गुप्तानि शब्दादिषु रागादिनिरोधात्, अगुप्तानि च आगमश्रवणेर्यासमित्यादिष्वनिरोधादिन्द्रियाणि येषां ते तथा। (औपपातिकसूत्रे वृत्तिकार)

(२) "—**कुत्तियावण इ त्ति**"—देवताधिष्ठितत्वेन स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणभूत्रितयसंभवि-वस्तुसम्पादक आपणो- हट्टः कुत्रिकापण। (औपपातिकसूत्रे वृत्तिकार)

इस का भावार्थ यह है कि देवता के अधिष्ठाता होने से स्वर्गलोक, मनुष्यलोक और पाताललोक इन तीन लोकों में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की जहां उपलब्धि हो सके उस दुकान को कुत्रिकापण कहते हैं।

अभिधानराजेन्द्र कोष में कुत्रिकापण की छाया कुत्रिजापण ऐसी भी की है। वहां का स्थल मननीय होने से यहां दिया जाता है—

कुत्रिकापण—कुरिति पृथिव्याः संज्ञा। कूनां स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिकं तात्स्थ्यात्तद्-व्यपदेशः इति कृत्वा लोका अपि कुत्रिकमुच्यते। कुत्रिकमापणायति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकापण। अथवा धातुमूलजीवलक्षण त्रिभ्यो जातं त्रिजं सर्वमपि वस्त्वित्यर्थः। कौ पृथिव्यां त्रिजमापणायति—व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजापणः।

और ऊर्ध्वलोक का ग्रहण होता है। अथवा पृथिवी शब्द से अधः, मध्य और ऊर्ध्व इन तीनों भागों का ग्रहण करना इष्ट है। तात्पर्य यह है कि जिस दुकान में भूमि के निम्नभाग तथा ऊर्ध्वभाग (पर्वतादि) एवं मध्य भाग (सम भूमि) इन तीनों भागों में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु उपलब्ध हो सके उसे **कुत्रिकापण** कहते हैं।

इस दुकान में एक ऐसा भी विभाग होता था जहां धार्मिक उपकरण होते थे जो सब के काम आते थे। वे उपकरण धार्मिक प्रभावना के लिये बिना मूल्य भी वितरण किये जाते थे। मूल्य देने वाला मूल्य देकर भी ले जा सकता था और उस मूल्य से फिर वही सामग्री तैयार हो जाती थी, जो कि धार्मिक कार्यों के उपयोग में आ जाया करती थी। इस के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी दान दे कर उस में वृद्धि की जा सकती थी। महाराज श्रेणिक ने दो लाख मोहरें देकर रजोहरण और पात्रों का मूल्य देने के साथ २ धर्मप्रभावना के लिये उस धर्मोपकरणविभाग में दीक्षामहोत्सव के सुअवसर में अवशिष्ट मोहरें दान में दे डालीं जो कि उन का दानभावना एवं धर्मप्रभावना का एक उज्ज्वल प्रतीक था, तथा अन्य धनी मानी गृहस्थों के सामने उन के कर्तव्य को उन्हें स्मरण कराने के लिये एक आदर्श प्रेरणा थी। ऐसा हमारा विचार है। **रहस्यन्तु केवलिगम्यम्।**

दीक्षा[1]—एक महान् पावन कृत्य है। महानता का प्रथम अंक है। इसीलिये यह उत्सव बड़े हर्ष से मनाया जाता है। इस उत्सव में विवाह की भांति आनन्द की सर्वतोमुखी लहर दौड़ जाती है। अन्तर मात्र इतना ही होता है कि विवाह में सांसारिक जीवन की भावना प्रधान होती है, जब कि इस में आत्मकल्याण की एवं परमसाध्य निर्वाणपद को उपलब्ध करने की मंगलमय भावना ही प्रधान रहा करती है। इसीलिये इस में सभी लोग सम्मिलित हो कर धर्मप्रभावना का अधिकाधिक प्रसार करके पुण्योपार्जन करते हैं और यथाशक्ति दानादि सत्कार्यों में अपने धन का सदुपयोग करते हैं। इसी भाव से प्रेरित हो कर महाराज श्रेणिक ने नाई को एक लाख मोहरें दे डालीं। लाख मोहरें दे कर उन्हों ने यह आदर्श उपस्थित किया है कि पुण्यकार्यों में जितना भी प्रभावनाप्रसारक एवं पुण्योत्पादक लाभ उठाया जा सके उतना ही कम है। इस के अतिरिक्त आगमों में वर्णन मिलता है कि जिस समय भगवान् महावीर चम्पानगरी में पधारते हैं, उस समय उन के पधारने की सूचना देने वाले राजसेवक को महाराज कोणिक ने लाखों का पारितोषिक दिया। यदि पुत्र-दीक्षामहोत्सव के समय खुशी में आकर मगधेश श्रेणिक ने नाई को पारितोषिक के रूप में एक लाख मोहरें दे दीं तो कौन सी आश्चर्य की बात है?

महाराज श्रेणिक ने जो कुछ किया वह अपने वैभव के अनुसार ही किया है, ऐसा करने में व्यवहारसम्बन्धी अकुशलता की कोई बात नहीं है। बड़ों की खुशी में छोटों को खुशी का अवसर न मिले तो बड़ों की खुशी का तथा उन के बड़े होने का क्या अर्थ? कुछ नहीं। संभव है इसी लिए आज कल भी दीक्षार्थी के केशों को थाली में रख कर नाई सभी उपस्थित लोगों से दान देने के लिये प्रेरणा करता है और लोग भी यथाशक्ति उस की थाली में धनादि का दान देते हैं। धार्मिक हर्ष में दानादि सत्कार्यों का पोषित होना स्वाभाविक ही है। इस में विसंवाद वाली कोई बात नहीं है।

प्रश्न—मेघकुमार की दीक्षा से पूर्व ही उसके माता पिता वहां से चले गये? दीक्षा के समय वहां उपस्थित क्यों नहीं रहे?

उत्तर—माता पिता का हृदय अपनी संतति के लिये बड़ा कोमल होता है। जिस सन्तति को अपने सामने सर्वोत्तम वेषभूषा से सुसज्जित देखने का उन्हें मोह है, उसे वे समस्त वेषभूषा को उतार कर और

(१) संस्कारविशेष या किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये आत्मसमर्पण करना ही **दीक्षा** का भावार्थ है।

अपने हाथों से केशों को उखाड़ते हुए भी देखें, यह माता पिता का हृदय स्वीकार नहीं कर सकता, यही कारण है कि वे दीक्षा से पूर्व ही चले गये।

प्रस्तुत सूत्र मे यह वर्णन किया गया है कि श्रमणोपासक श्री सुबाहुकुमार ने विश्ववन्द्य दीनानाथ पतितपावन चरमतीर्थंकर करुणा के सागर भगवान् महावीर की धर्मदेशना को सुन कर ससार मे विरक्त हो कर उन के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली—गृहस्थावास को त्याग कर मुनिधर्म को स्वीकार कर लिया। मुनि बन जाने के अनन्तर सुबाहुकुमार का क्या बना ? इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए अब सूत्रकार महामहिम मुनिराज श्री सुबाहुकुमार जी महाराज की अग्रिम जीवनी का वर्णन करते हैं—

मूल—[1]तते णं से सुबाहू अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अन्तिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जति, बहूहिं चउत्थ० तवोविहाणेहिं अप्पाणं भावेत्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कन्ते समाहिं पत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने। से णं ततो देवलोकाउ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति लभिहित्ता केवलं बोहिं बुज्झिहिति बुज्झिहित्ता तहारूवाणं थेराणं अन्तिए मुंडे जाव पव्वइस्सति। से णं तत्थ बहूइं वासाइं सामण्णं पाउणिहिति पाउणिहित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिं पत्ते कालगते सणंकुमारे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। ततो माणुस्सं। पवज्जा। बंभलोए। माणुस्सं। महासुक्के। माणुस्सं। आणए। माणुस्सं। आरणे। माणुस्सं। सव्वट्ठसिद्धे। से णं ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता महाविदेहे जाव अड्ढाइं जहा दढपतिण्णे सिज्झिहिति ५। तं एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि।

॥ पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

(१) छाया—तत स सुबाहुरनगारः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके सामायिकादीनि, एकादशाङ्गानि अधीते। बहुभिश्चतुर्थ० तपोविधानै आत्मानं भावयित्वा, बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा मासिक्या सलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा षष्टिं भक्तान्यनशनतया छेदयित्वा आलोचितप्रतिक्रान्त समाधि प्राप्त कालमासे काल कृत्वा सौधर्मे कल्पे देवतयोपपन्नः। स ततो देवलोकादायुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण अनन्तरं चयं त्यक्त्वा मानुषं विग्रहं लप्स्यते लब्ध्वा केवलं बोधिं भोत्स्यते बुद्ध्वा तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके मुण्डो यावत् प्रव्रजिष्यति। स तत्र बहूनि वर्षाणि श्रामण्यं पालयिष्यति पालयित्वा आलोचितप्रतिक्रान्त समाधिं प्राप्तः कालगतः सनत्कुमारे कल्पे देवतयोपपत्स्यते, ततो मानुष्य, प्रव्रज्या। ब्रह्मलोके। मानुष्य। महाशुक्रे। मानुष्य। आनते। मानुष्य। आरणे। मानुष्य। सर्वार्थसिद्धे। स ततोऽनन्तरमुद्वृत्य महाविदेहे यावदाढ्यानि यथा दृढप्रतिज्ञः सेत्स्यति ५। तदेवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सुखविपाकानां प्रथमस्याध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः। इति ब्रवीमि।

॥ प्रथममध्ययन समाप्तम् ॥

पदार्थ—**तते ण**—तदनन्तर । **से**—वह । **सुबाहू**—सुबाहु । **अणगारे**—अनगार । **समणस्स**—श्रमण । **भगवओ**—भगवान् । **महावीरस्स**—महावीर स्वामी के । **तहारूवाणं**—तथारूप । **थेराणं**—स्थविरों के । **अंतिए**—पास । **सामाइयमाइयाइं**—सामायिक आदि । **एक्कारस**—एकादश । **अंगाइं**—अगों का । **अहिज्जति**—अध्ययन करता है । **बहूहिं**—अनेक । **चउत्थ०**—व्रत, वेला आदि । **तपोविहाणेहि**—नाना-विध तपों के आचरण से । **अप्पाण**—आत्मा को । **भावेत्ता**—भावित—वासित करके । **बहूइं**—अनेक । **वासाइं**—वर्षों तक । **सामण्णपरियागं**—श्रामण्यपर्याय अर्थात् साधुवृत्ति का । **पाउणित्ता**—पालन कर । **मासियाए**—मासिक—एक मास की । **संलेहणाए**—सलेखना (एक अनुष्ठानविशेष जिस मे शारीरिक और मानसिक तप द्वारा कषायादि का नाश किया जाता है) के द्वारा । **अप्पाण**—अपने आप को । **झूसित्ता**—आराधित कर । **सट्ठिं**—साठ । **भत्ताइं**—भक्तों—भोजनों का । **अणसणाए**—अनशन द्वारा । **छेदित्ता**—छेदन कर । **आलोइयपडिक्कन्ते**—आलोचितप्रतिक्रान्त अर्थात् [1]आलोचना और प्रतिक्रमण को कर के । **समाहि**—समाधि को । **पत्ते**—प्राप्त हुआ । **कालमासे**—कालमास मे । **कालं किच्चा**—काल कर के । **सोहम्मे**—सौधर्म । **कप्पे**—देवलोक में । **देवत्ताए**—देवरूप से । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ । **से ण**—वह । **ततो**—उस । **देवलोकाउ**—देवलोक से । **आउक्खएण**—आयु के क्षय होने से । **भवक्खएणं**—भव के क्षय होने से । **ठिइक्खएणं**—और स्थिति का क्षय होने से । **अणतर**—अन्तररहित । **चय**—देवशरीर को । **चइत्ता**—छोड कर । **माणुस्स**—मनुष्य के । **विग्गहं**—शरीर को । **लभिहिति**—प्राप्त करेगा । **लभिहित्ता**—प्राप्त कर के, वहा । **केवलं**—निर्मल—शका, आकाक्षा आदि दोषों से रहित । **बोहिं**—सम्यक्त्व को । **बुज्झिहिति**—प्राप्त करेगा । **बुज्झिहित्ता**—प्राप्त करके । **तहारूवाण**—तथारूप । **थेराण**—स्थविरों के । **अंतिए**—पास । **मुंडे**—मुण्डित होकर । **जाव**—यावत् अर्थात् साधुधर्म में । **पव्वइस्सति**—प्रव्रजित—दीक्षित हो जाएगा । **से णं**—वह । **तत्थ**—वहा पर । **बहूइं**—अनेक । **वासाइं**—वर्षों तक । **सामण्ण**—सयमव्रत को **पाउणिहिति**—पालन करेगा । **आलोइयपडिक्कन्ते**—आलोचना और प्रतिक्रमण कर । **समाहि पत्ते**—समाधि को प्राप्त हुआ । **कालगते**—काल करके । **सणंकुमारे**—सनत्कुमार नामक । **कप्पे**—तीसरे देवलोक में । **देवत्ताए**—देवतारूप से । **उववज्जिहिति**—उत्पन्न होगा । **ततो**—वहा से । **माणुस्सं**—मनुष्य भव प्राप्त करेगा, वहा से । **महासुक्के**—महाशुक्र नामक देवलोक में उत्पन्न होगा, वहा से च्यव कर । **माणुस्स**—मनुष्य भव मे जन्मेगा, वहा से मर कर । **आणए**—आनत नामक नवम देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहा से । **माणुस्सं**—मनुष्यभव म जन्म लेगा, वहा से । **आरणे**—आरण नाम के एकादशवे देवलोक मे उत्पन्न होगा, वहा से । **माणुस्सं**—मनुष्य भव में जन्मेगा और वहा से । **सव्वट्ठसिद्धे**—सर्वार्थसिद्ध मे उत्पन्न होगा । **से णं**—वह । **ततो**—वहा से । **अणतर**—व्यवधानरहित । **उव्वट्टित्ता**—निकल कर । **महाविदेहे**—महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा । **जाव**—यावत् । **अड्ढाइं**—आढ्य कुल में । **जहा**—जैसे । **दढपतिण्णे**—दृढप्रतिज्ञ । **सिज्झिहिति ५**—सिद्ध पद को प्राप्त करेगा, ५ । **तं**—सो । **एवं**—इस प्रकार । **खलु**—निश्चय हो । **जंबू !**—हे जम्बू ! । **समणेण**—श्रमण । **जाव**—यावत् । **सपत्तेण**—सप्राप्त ने । **सुहविवागाण**—सुख-विपाक के । **पढमस्स**—प्रथम । **अज्झयणस्स**—अध्ययन का । **अयमट्ठे**—यह अर्थ । **पण्णत्ते**—प्रतिपादन

(१) **आलोचना**—शब्द प्रायश्चित्त के लिये अपने दोषों को गुरुओं को बतलाना—इस अर्थ का परिचायक है, और प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग प्राप्त करने के अनन्तर फिर से शुभयोग को प्राप्त करने तथा साधु और श्रावक के प्रातः साय करने के एक आवश्यक अनुष्ठानविशेष की **प्रतिक्रमण** संज्ञा है ।

किया है। त्ति—इस प्रकार। वेमि—मैं कहता हू। पढमं—प्रथम। अज्झयणं—अ ययन। समत्त'—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—तदनन्तर वह सुबाहु अनगार श्रमण भगवान महावीर स्वामी के [1]तथा-रूप स्थविरों के पास सामायिक आदि एकादश अगो का अध्ययन करने लगा, तथा उपवास आदि अनेक प्रकार के तपो के अनुष्ठान से आत्मा को भावित करता हुआ, बहुत वर्षो तक श्रामण्यपर्याय का यथाविधि पालन कर के एक मास की सलेखना से अपने आप को आराधित कर २६ उपवासों—अनशनव्रतों के साथ अलोचना और प्रतिक्रमण करके आत्मशुद्धि द्वारा समाधि प्राप्त कर कालमास मे काल करके सौधर्म नामक देवलोक में देवरूप स उत्पन्न हुआ।

तदनन्तर वह सुबाहुकुमार का जीव सौधर्म देवलोक से आयु भव और स्थिति का क्षय होने पर देव-शरीर को छोड कर व्यवधानरहित मनुष्यशरीर को प्राप्त करेगा। वहा पर काक्षा, आकाक्षा आदि दोषो से रहित सम्यक्त्व को प्राप्त कर तथारूप स्थविरों के पास मुंडित हो यावत् दीक्षित हो जाएगा, वहां पर अनेक वर्षो तक श्रामण्यपर्याय का पालन करके आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर समाधिस्थ हो मृत्युधर्म को प्राप्त कर सनत्कुमार नामक तीसरे लोक मे उत्पन्न होगा। वहा से च्यव कर मनुष्य भव को प्राप्त कर दीक्षित हो मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक नामक पाँचवे देवलोक मे उत्पन्न होगा। वहा से च्यव कर मनुष्य भव को धारण करके अनगारधर्म का आराधन कर शरीरान्त होने पर महाशुक्र नामक सातवे देवलोक मे उत्पन्न होगा। वहा से च्यव कर मनुष्य भव मे आकर दीक्षित हो, काल करके आनत नामक नवमे देवलोक मे जन्मेगा। वहा की भवस्थिति को पूरी करके फिर मनुष्य भव को प्राप्त हो दीक्षाव्रत का पालन करके मृत्यु के अनन्तर आरण नामक ग्यारहवे देवलोक मे उत्पन्न होगा। तदनन्तर वहा से च्यव कर पुन: मनुष्य भव को प्राप्त करेगा और श्रमणधर्म का पालन करके मृत्यु के पश्चात् सर्वार्थसिद्ध नामक विमान मे (२६ वे देवलोक मे) उत्पन्न होगा और वहा से च्यव कर सुबाहुकुमार का वह जीव व्यवधानरहित महाविदेह क्षेत्र मे किसी धनिक कुल मे उत्पन्न होगा। वहा दृढप्रतिज्ञ की भाँति चारित्र प्राप्त कर सिद्ध पद को ग्रहण करेगा। अर्थात् जन्म मरण से रहित होकर परम सुख को प्राप्त कर लेगा।

आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है। ऐसा मै कहता हू।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—सुबाहुकुमार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास साधुधर्म ग्रहण कर लिया है, यह पहले बताया जा चुका है। उस के पहले के और इस समय के जीवन में बहुत परिवर्तन हो गया है। कुछ दिन पहले वह राजकुमार था। घर मे नाना प्रकार के स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन किया करता था परन्तु आज वह अकिंचन है, सर्व प्रकार के राज्यवैभव से रहित है, रूखा सूखा भोजन करने वाला है वह भी पराये घरों मे माग कर। उस का शरीर इस समय राज्य वेषभूषा के स्थान मे त्यागशील मुनिजनों की वेषभूषा मे सुशोभित हो रहा है। जहा राग था, वहा त्याग है। जहा मोह था, वहा विराग है। इसी प्रकार खान पानादि का स्थान अब अधिकाश उपवास आदि तपश्चर्या को प्राप्त है। सागारता ने अब अनगारता का आश्रय प्राप्त किया है। यही उस के जीवन का प्रधान परिवर्तन है।

(१) तथारूप तथा स्थविर पद की व्याख्या पृष्ठ ९७ पर की जा चुकी है।

सुबाहुकुमार अहिंसा आदि पांचों महाव्रतों के यथाविधि पालन में सतत जागरूक रहता है । उस में किसी प्रकार का भी अतिचार—दोष न लगने पावे, इस का उसे पूरा २ ध्यान रहता है। जीवन के बहुमूल्य धन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भी वह विशेष सजग रहता है । कारण कि यह जीवन का सर्वस्व है । जिस का यह सुरक्षित है, उस का सभी कुछ सुरक्षित है । संक्षेप में कहें तो सुबाहु मुनि श्रमण भगवान महावीर स्वामी से प्राप्त हुए संयम धन को बड़ी दृढता और सावधानी से सुरक्षित किए हुए विचर रहा था ।

ज्ञान से ही आत्मा अपने वास्तविक उद्देश्य को समझ सकता है और तदनन्तर उसके साधनों से उसे सिद्ध कर लेता है । शास्त्रों में ज्ञान की बड़ी महिमा गाई गई है । श्री भगवती सूत्र में लिखा है कि परलोक में साथ जाने वाला ज्ञान ही है, चारित्र तो इसी लोक में रह जाता है । गीता" में लिखा है कि संसार में ज्ञान के समान पवित्र और उस से ऊंची कोई वस्तु नहीं है । '**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**" । अत छः महीने लगातार श्रम करने पर भी यदि एक पद का अभ्यास हो तब भी उस का अभ्यास नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि ज्ञान का अभ्यास करते २ अन्तर के पट खुल जाएं, केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाए, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

स्वनामधन्य महामहिम श्री सुबाहुकुमार जी महाराज ज्ञानाराधना की उपयोगिता को एवं अभिमत मान्यता को बहुत अच्छी तरह जानते थे । इसी लिये जहां उन्हों ने साधुजीवनचर्या के लिए पूरी २ सावधानी से काम लिया वहां ज्ञानाराधना भी पूरी शक्ति लगा कर की । पूज्य तथारूप स्थविरों के चरणों में रह कर उन्होंने सामायिक आदि ११ अंगों का अध्ययन किया , उन्हें याद किया, उन का भाव समझा और तदनुसार अपना साधुजीवन व्यतीत करना आरम्भ किया ।

एकादश अंग—जैनवाङ्मय अङ्ग, उपांग, मूल और छेद इन चार भागों में विभक्त है । उन में ११ अङ्ग, १२ उपांग, ४ मूल और ४ छेद हैं। इन की कुल संख्या ३१ होती है । इन में आवश्यक सूत्र के संकलन से कुल संख्या ३२ हो जाती है । ग्यारह अंगों के नाम निम्नोक्त हैं—

१—**आचारांग**—इस में श्रमणों—निर्ग्रन्थों के आचार-विहार तथा नियमोपनियमों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

२—**सूत्रकृतांग**—इस में जीव, अजीव आदि पदार्थों का बोध कराया गया है । इस के अतिरिक्त ३६३ एकान्त क्रियावादी आदि के मतों का उपपादन और निराकरण करके जैनेन्द्र प्रवचन को प्रामाणिक सिद्ध किया गया है । वर्णन बड़ा ही हृदयहारी है ।

३—**स्थानांग**—इस में जीव, अजीव आदि पदार्थों का तथा अनेकानेकों जीवनोपयोगी उपदेशों का विशद वर्णन मिलता है और यह दश भागों में विभक्त किया गया है । यहां विभाग शब्द के स्थान पर 'स्थान" शब्द का व्यवहार मिलता है ।

४—**समवायांग**—इस सूत्र में भी जीव, अजीव आदि पदार्थों का स्वरूप संख्यात और असंख्यात विभागपूर्वक वर्णित है ।

५—(१)**भगवती**—इस में जीव, अजीव, लोक, अलोक, स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले ३६ हजार प्रश्न और उनके उत्तर वर्णित हैं ।

६—**ज्ञाताधर्मकथांग**—इस में अनेक प्रकार की बोधप्रद धार्मिक कथायें संगृहीत की गई हैं ।

७—**उपासकदशांग**—इस में श्री आनन्द आदि दश श्रावकों के धार्मिक जीवन का वर्णन करते

(१) इसे विवाहपण्णत्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति भी कहते हैं ।

हुए श्रावकधर्म का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

८—**अन्तकृद्दशांग**—इस मे गजसुकुमाल आदि महान् जितेन्द्रिय महापुरुषों के तथा पद्मावती आदि महासतियों के मोक्ष जाने तक के कृत्यों का वर्णन किया गया है।

९—**अनुत्तरोपपातिकदशांग**—इस मे जाली आदि महातपस्वियों के एव धन्ना आदि महा-पुरुषो के विजय, वैजयन्त, आदि अनुत्तर विमानों में जन्म लेने आदि का वर्णन किया गया है।

१०—**प्रश्नव्याकरण**—इस में अगुष्ठादि प्रश्नविद्या का निरूपण तथा पाच आश्रवों और पाच सवरो के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया था, परन्तु समयगति की विचित्रता के कारण वर्तमान में मात्र पाच आश्रवों और पाच सवरों का ही वर्णन उपलब्ध होता है। अगुष्ठादि प्रश्नविद्या का वर्णन इस मे उपलब्ध नहीं होता।

११—**विपाकश्रुत**—इस में मृगापुत्र आदि के पूर्वसचित अशुभ कर्मों का अशुभ परिणाम तथा सुबाहुकुमार आदि के पूर्वसंचित शुभ कर्मों के शुभ विपाक का वर्णन किया गया है।

कालदोषकृत बुद्धिबल और आयु की कमी को देख कर सर्वसाधारण के हित के लिये अगों में से भिन्न २ विषयों पर गणधरो के पश्चाद्वर्ती श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों ने जो शास्त्र रचे हैं वे **उपाग** कहलाते हैं। उपाग १२ होते हैं। उन का नामपूर्वक सक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है—

१—**औपपातिकसूत्र**—यह पहले अङ्ग आचाराङ्ग का माना जाता है। इस में चपा नगरी, पूर्णभद्र यक्ष, पूर्णभद्र चैत्य, अशोकवृक्ष, पृथ्वी शिला, कोणिक राजा, राणी धारिणी, भगवान् महावीर तथा भगवान के साधुओं का वर्णन करने के साथ २ तप का, गौतमस्वामी के गुणों, सशयों, प्रश्नों तथा सिद्धों के विषय मे किये प्रश्नोत्तरों का वर्णन किया गया है।

२—**राजप्रश्नीय**—यह सूत्रकृताग का उपाङ्ग है। सूत्रकृताग मे क्रियावादी, अक्रियावादी आदि ६३३ मतों का वर्णन है। राजा प्रदेशी अक्रियावादी था, इसी कारण उसने श्री केशी श्रमण से जीवविषयक प्रश्न किये थे। अक्रियावाद का वर्णन सूत्रकृताग मे है। उसी का दृष्टान्तों द्वारा विशेष वर्णन राजप्रश्नीयसूत्र मे है।

३—**जीवाजीवाभिगम**—यह तीसरे अग स्थानाग का उपाग है। इस में जीवों के २४ स्थान, अवगाहना, आयुष्य, अल्पबहुत्व, मुख्यरूप से अढ़ाई द्वीप तथा सामान्यरूप से सभी द्वीप समुद्रों का वर्णन है। स्थानागसूत्र मे सक्षेप से कही गई बहुत सी वस्तुएं इस में विस्तारपूर्वक बताई गई हैं।

४—**प्रज्ञापना**—यह समवायागसूत्र का उपाग है। समवायाग मे जीव, अजीव, स्वसमय, परसमय, लोक, अलोक आदि विषयों का वर्णन किया गया है। एक २ पदार्थ की वृद्धि करते हुए सौ पदार्थो तक का वर्णन समवायागसूत्र में है। इन्हीं विषयों का वर्णन विशेषरूप से प्रज्ञापना सूत्र मे किया गया है। इस में ३६ पद हैं। एक २ पद मे एक २ विषय का वर्णन है।

५—**जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति**—इस मे जम्बूद्वीप के अन्दर रहे हुए भरत आदि क्षेत्र, वैताढ्य आदि पर्वत, पद्म आदि द्रह, गगा आदि नदिया, ऋषभ आदि कूट तथा ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का वर्णन विस्तार मे किया गया है। ज्योतिषी देव तथा उन के सुख आदि भी बताए गये हैं। इस मे दस अधिकार हैं।

६—**चन्द्रप्रज्ञप्ति**—चन्द्र की ऋद्धि, मडल, गति, गमन, सवत्सर, वर्ष, पक्ष, महीने, तिथि, नक्षत्र का कालमान, कुल और उपकुल के नक्षत्र, ज्योतिषियों के सुख आदि का वर्णन इस सूत्र मे बडे विस्तार से है। इस सूत्र का विषय गणितानुयोग है। बहुत गहन होने के कारण यह सरलतापूर्वक समझना कठिन है।

७—**सूर्यप्रज्ञप्ति**- यह उत्कालिक उपाग सूत्र है। इस मे सूर्य की गति, स्वरूप, प्रकाश, आदि

विषयों का वर्णन है। इस में २० प्राभृत हैं।

८—**निरयावलिका**—यह आठवां उपांग है इस के दस अध्ययन हैं और यह कालिक है।

९—**कल्पावतंसिका**—यह नौवां उपांग है, इस के दस अध्ययन हैं और यह कालिक है।

१०—**पुष्पिका**—यह सूत्र कालिक है और इस के दस अध्ययन हैं।

११—**पुष्पचूलिका**—यह सूत्र कालिक है, इस के दस अध्ययन हैं।

१२—**वृष्णिदशा**—यह सूत्र कालिक है और इस के बारह अध्ययन हैं।

मूलसूत्र ४ हैं, जिन का नामपूर्वक संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है—

१—**उत्तराध्ययन**- इस में विनयश्रुत आदि ३६ उत्तर—प्रधान अध्ययन होने से यह **उत्तराध्ययन** कहलाता है।

२—**दशवैकालिक**—यह सूत्र दश अध्ययनों और दो चूलिकाओं में विभक्त है। इस में प्रधानतया साधु के ५ महाव्रतों तथा अन्य आचारसम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है, और यह उत्कालिक है।

३—**नन्दीसूत्र**—इस में प्रधानतया मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवल—ज्ञान इन पाच ज्ञानों का वर्णन किया गया है और यह उत्कालिक (जिस का कोई समय न हो) सूत्र है।

४—**अनुयोगद्वार**—अनुयोग का अर्थ है—व्याख्यान करने की विधि। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इन चार अनुयोगों का जिस में वर्णन हो उसे **अनुयोगद्वार** कहते हैं।

छेदसूत्र भी ४ हैं। इन का नामपूर्वक संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है—

१—**दशाश्रुतस्कंध**—इस सूत्र में दश अध्ययन होने से इस का नाम **दशाश्रुतस्कंध** है और यह कालिक (जिस के पढने का काल नियत हो) है।

२—**बृहत्कल्प**—कल्प शब्द का अर्थ मर्यादा होता है। साधुधर्म की मर्यादा का विस्तारपूर्वक प्रतिपादक होने से यह सूत्र **बृहत्कल्प** कहलाता है।

३—**निशीथ**—इस सूत्र में बीस उद्देश हैं। इस मे गुरुमासिक, लघुमासिक तथा गुरु चातुर्मासिक लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन है।

४—**व्यवहारसूत्र**—जिसे जो प्रायश्चित्त आता है उसे वह प्रायश्चित्त देना व्यवहार है। इस सूत्र में प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। इस लिये इसे **व्यवहारसूत्र** कहते हैं।

ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल और चार छेद ये सब ३१ सूत्र होते हैं। इन में आवश्यक सूत्र के संयोजन करने से इन की संख्या ३२ हो जाती है। साधु और गृहस्थ को प्रतिदिन दो बार करने योग्य आवश्यक अनुष्ठान या प्रतिक्रमण **आवश्यक** कहलाता है।

सामायिक शब्द चारित्र के पंचविध विभागों में से प्रथम विभाग-पहला चारित्र, श्रावक का नवम व्रत आवश्यक सूत्र का प्रथम विभाग तथा संयमविशेष इत्यादि अनेकों अर्थों का परिचायक हैं। प्रकृत में सामायिक का अर्थ—**आचारांग**—यह ग्रहण करना अभिमत है। कारण कि मूल में—**सामाइयमाइयाइं**—**सामायिकादीनि**—यह उल्लेख है। यह—**एकारस अंगाइं**—**एकादशांगानि**—इस का विशेषण है। अर्थात् सामायिक है आदि में जिन के ऐसे ग्यारह अंग।

प्रश्न—सुबाहुकुमार को ग्यारह अंग पढाए गए—यह वर्णन तो मिलता है परन्तु उसे श्री आवश्यकसूत्र पढाने का वर्णन क्यों नहीं मिलता, जो कि साधुजीवन के लिये नितान्त आवश्यक होता है?

उत्तर—श्री आवश्यक सूत्र—, यह संज्ञा ही सूचित करती है कि साधुजीवन के लिये यह अवश्य

पठनीय, स्मरणीय और आचरणीय है। अत. उस के उल्लेख की तो आवश्यकता ही नहीं रहती। उस का अध्ययन तो सुबाहुकुमार के लिये अनिवार्य होने से बिना उल्लेख के ही उल्लिखित हो ही जाता है।

प्रश्न —ग्यारह अगों मे विपाक श्रुत का भी निर्देश किया गया है, उस के द्वितीय श्रुतस्कध के प्रथम अध्ययन मे सुबाहुकुमार का जीवनचरित्त वर्णित है। तो क्या वह सुबाहुकुमार यही था या अन्य ? यदि यही था तो उस ने विपाकसूत्र पढा, इस का क्या अर्थ हुआ ? जिस का निर्माण बाद में हुआ हो उस का अध्ययन कैसे सभव हो सकता है ?

उत्तर—विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध के प्रथम अध्ययन मे जिस सुबाहुकुमार का वृत्तान्त वर्णित है, वह हमारे यही हस्तिशीर्षनरेश महाराज अदीनशत्रु के परमसुशील पुत्र सुबाहुकुमार हैं। अब रही बात पढने की, सो इस का समाधान यह है कि भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधर थे, जो कि अनुपम ज्ञानादि गुणसमूह के धारक थे। उन की नौ वाचनाये (आगमसमुदाय) थी जो कि[1] इन्हीं पूर्वोक्त अगों, उपागों आदि के नाम से प्रसिद्ध थीं। प्रत्येक में विषय भिन्न २ होता था और उन का अध्ययनक्रम भी विभिन्न होता था। वर्तमान काल में जो वाचना उपलब्ध हो रही है वह भगवान् महावीर स्वामी के पट्टधर परमश्रद्धेय श्री सुधर्मा स्वामी की है। ऊपर जो अगों का वर्णन किया गया है वह इसी से सम्बन्ध रखता है। सुधर्मा स्वामी की वाचनागत विभिन्नता सुबाहुकुमार के जीवनवृत्तान्त से स्पष्ट हो जाती है। तथा सुबाहुकुमार के जीवन से यह भी स्पष्ट होता है कि सुबाहुकुमार का अध्ययन किसी अन्य गणधर की देख रेख में निष्पन्न हुआ और उस ने उस की वाचना के ही एकादश अग पढ़े, उन का अर्थ सुधर्मा स्वामी की वाचना मे भिन्न था। अतः सुबाहु कुमार ने जो विपाक पढा वह भी अन्य था जोकि आज दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध है।

आचार्यप्रवर अभयदेवसूरि ने भगवतीसूत्र की व्याख्या मे स्कन्दककुमार के विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का जो प्रदर्शन किया है वह मननीय एवं प्रकृत में उपयोगी होने से नीचे दिया जाता है—

नन्वनेन स्कन्दकचरितात् प्रागेवैकादशांगनिष्पत्तिरवसीयते पंचमांगान्तर्भूतं च स्कन्दकचरितमुपलभ्यते, इति कथ न विरोध ? उच्यते—श्रीमन्महावीरतीर्थे किल नव वाचना, तत्र च सर्ववाचनासु स्कन्दकचरितात् पूर्वकाले ये स्कन्दकचरिताभिधेया अर्थास्ते चरितान्तरद्वारेण प्रज्ञाप्यन्ते। स्कन्दकचरितोत्पत्तौ च सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानं स्वशिष्यमगीकृत्याधिकृतवाचनायामस्या स्कन्दकचरितमेवाश्रित्य तदर्थ प्ररूपणा कृतेति न विरोध। अथवा सातिशायित्वाद् गणधराणामनागतकालभाविचरितनिबन्धनमदुष्टमिति, भाविशिष्यसन्तानापेक्षया, अतीतकालनिर्देशोऽपि न दुष्ट इति। (भगवती सूत्र शतक २, उद्दे० १, सू० ९३) अर्थात्—प्रस्तुत में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि स्कन्दक चरित से पहले ही एकादश अगों का निर्माण हो चुका था। स्कन्दकचरित्र पचम अग (भगवती सूत्र) मे सकलित किया गया है। तब स्कन्दक ने ११ अग पढे, इस का क्या अर्थ हुआ ? क्या उस ने अपना ही जीवन पढा ? इस का उत्तर निम्नोक्त है—

भगवान् महावीर के तीर्थ-शासन मे नौ वाचनाए थीं। प्रत्येक वाचना मे स्कन्दक के जीवन का अभिधेय—अर्थ (शिक्षारूप प्रयोजन) समान रूप से अवस्थित रहता था। अन्तर इतना होता था कि जीवन के नायक तथा नायक के साथी भिन्न होते थे। साराश यह है कि जो शिक्षा स्कन्दक के जीवन मे मिलती थी, उसी शिक्षा

---

(१) आज भी देखते हैं कि सब प्रान्तों में शास्त्री या बीए आदि परीक्षाए नाम से तो समान हैं परन्तु उस की अध्ययनीय पुस्तक विभिन्न होती हैं एव पुस्तकगत विषय भी पृथक् पृथक् होते हैं। यह क्रम प्राचीनता का प्रतीक है।

को देने वाले अन्य जीवनों का संकलन सर्ववाचनाओं में मिलता था । सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी को लक्ष्य बना कर अपनी इस वाचना में स्कन्दक के जीवन से ही उस अर्थ की प्ररूपणा कर डाली, जो अर्थ अन्य वाचनाओं में गर्भित था । अतः यह स्पष्ट है कि स्कन्दक ने जो अंगादि शास्त्र पढे थे वे सुधर्मा स्वामी की वाचना में नहीं थे । अथवा दूसरी बात यह भी हो सकती है कि श्री गणधर महाराज अतिशय अर्थात् ज्ञानविशेष के धारक होते थे । इसलिये उन्हों ने अनागत काल में होने वाले चरित्रों का संकलन कर दिया । इस के अतिरिक्त अनागत शिष्यवर्ग की अपेक्षा से अतीत काल का निर्देश भी दोषावह नहीं है ।

दीक्षा के अनन्तर सुबाहुकुमार को तथारूप स्थविरों के पास शास्त्राध्ययनार्थ छोड़ दिया गया और श्री सुबाहुकुमार मुनि ने भी अपनी विनय तथा सुशीलता से शीघ्र ही आगमों के अध्ययन में सफलता प्राप्त कर ली, पर्याप्त ज्ञानाभ्यास कर लिया । ज्ञानाभ्यास के पश्चात् सुबाहुकुमार ने तपस्या का आरम्भ किया । उस में वे व्रत, बेला, तेला आदि का अनुष्ठान करने लगे । अधिक क्या कहें—सुबाहुमुनि ने अपने जीवन को तपोमय ही बना डाला । आत्मशुद्धि के लिये तपश्चर्या एक आवश्यक साधन है । तप एक अग्नि है कि जो आत्मा के कषायमल को भस्मसात् कर देने की शक्ति रखती है । "—तपसा शुद्धिमाप्नोति—" ।

अन्त में एक मास की संलेखना—२९ दिन का संथारा करके आलोचना तथा प्रतिक्रमण करने के अनन्तर समाधिपूर्वक श्री सुबाहु मुनि इस औदारिक शरीर को त्याग कर देवलोक में पधार गये । दूसरे शब्दों में श्री सुबाहुकुमार पर्याप्तरूप से साधुवृत्ति का पालन कर परलोक के यात्री बने और देवलोक में जा विराजे ।

—**चउत्थ० तवोविहाणेहिं**—यहां दिए गए बिन्दु से—**छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मास-द्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं**—इस अवशिष्ट पाठ का ग्रहण करना चाहिये । इस का अर्थ यह है कि व्रत, बेले, तेले, चौले और पचौले के तप से तथा १५ दिन, एक महीने की तपस्या से एवं और अनेक प्रकार के तपोमय अनुष्ठानों से ।

चतुर्थभक्त—इस पद के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं, जैसे कि—१—उपवास, २—जिस दिन उपवास करना हो उस के पहले दिन एक समय खाना और उपवास के दूसरे दिन भी एक समय खाना । इस प्रकार ये दो भक्त—भोजन हुए । दो भक्त उपवास के और दो आगे पीछे के । इस प्रकार दो दिनों के भक्त मिला कर चार भक्त होते हैं । इन चार भक्तों (भोजनों) का त्याग चतुर्थभक्त कहलाता है । आजकल इस का प्रयोग दो वक्त आहार छोड़ने में होता है जो कि व्रत के नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वसंचित कर्मों के नाश करने वाले अनुष्ठानविशेष की [1]तप संज्ञा है, उस का विधान तपोविधान कहलाता है । श्रामण्य साधुता का नाम है । पर्याय भाव को कहते हैं । श्रामण्यपर्याय का अर्थ होता है—साधुभाव—साधुवृत्ति ।

संलेखना—जिस तप के द्वारा शरीर और क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों को कृश—निर्बल किया जाता है उस तप के अनुष्ठान को [2]संलेखना कहते हैं ।

—**अप्पाणं झूसित्ता**—आत्मानं जोषयित्वा—यहां झूसित्ता का प्रयोग —आराधित कर के— इस अर्थ में किया गया है । संलेखना से आराधित करने का अर्थ है—संलेखना द्वारा अपने को मोक्षमार्ग के अनुकूल बनाना । महीने की संलेखना के स्पष्टीकरणार्थ ही मूल में—**सट्ठिं भत्ताइं**—षष्टिं **भक्तानि**—इस का उल्लेख किया गया है । अर्थात् महीने की संलेखना का अर्थ है—साठ भक्तों—भोजनों का परित्याग ।

प्रश्न—सूत्रकार ने—**मासियाए संलेहणाए**—का उल्लेख करने के बाद—**सट्ठिं भत्ताइं**—इस

(१) तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ । तवेणं जीवे वोदाणं जणयइ ॥ २७ । (उत्तरा० अ० २९)
(२) संलिख्यते कृशी क्रियते शरीरकषायादिकमनयेति संलेखनेति भाव. । (वृत्तिकार:)

का उल्लेख क्यों किया गया ? जब कि उस से ही काम चल सकता था, कारण कि मासिक संलेखना और साठ भक्तों का त्याग – दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं ।

उत्तर—शास्त्र का कोई भी वचन व्यर्थ नहीं होता, केवल समझने की त्रुटि होती है। प्रत्येक ऋतु में मासगत दिनों की संख्या विभिन्न होती है। तब जिस ऋतु में जिस मास के २९ दिन होते हैं, उस मास के ग्रहण करने की सूचना देने के लिये सूत्रकार ने-**मासियाए संलेहणाए**-ये पद देकर भी—**सट्ठि भत्ताइं**—ये पद दे दिये हैं जोकि उचित ही हैं। क्योंकि २९ दिनों के व्रतों में ही ६० भक्त—भोजन छोड़े जा सकते हैं।

—**आलोइयपडिक्कन्ते—आलोचितप्रतिक्रान्त.**—आत्मा में लगे हुए दोषों को गुरुजनों के समीप निष्कपट भाव से प्रकाशित कर के उन की आज्ञानुसार उन दोषों से पृथक् होने के लिये प्रायश्चित्त करने वाले को **आलोचितप्रतिक्रान्त** कहते हैं। इस पद का सविस्तर विवेचन पृष्ठ ९८ पर किया जा चुका है।

समाधि—इस पद का निक्षेप—विवेचन नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से चार प्रकार का होता है। १—किसी का नाम समाधि रख दिया जाय तो वह **नामसमाधि** है। २—समाधि नाम वाले व्यक्ति की आकृति-आकार को **स्थापना समाधि** कहते हैं। ३—मनोज्ञ शब्दादि पञ्चविध विषयों की सम्प्राप्ति पर श्रोत्रादि इन्द्रियों की जो तुष्टि होती है, उस का नाम **द्रव्यसमाधि** है। **अथवा**— दूध और शक्कर के मिलाने से रस की जो पुष्टि होती है उसे,**अथवा**—किसी द्रव्य के सेवन से जो शान्ति उपलब्ध होती है उसे **द्रव्यसमाधि** कहते हैं। **अथवा**—यदि तुला के ऊपर किसी वस्तु को चढ़ाने में दोनों भाग सम हो जावें उसे **द्रव्यसमाधि** कहते हैं। जिस जीव को जिस क्षेत्र में रहने से शान्ति उपलब्ध होती है, वह क्षेत्र की प्रधानता के कारण **क्षेत्रसमाधि** कहलाती है। जिस जीव को जिस काल में शान्ति मिलती है, वह शान्ति उस के लिये **कालसमाधि** है। जैसे—शरद् ऋतु में गौ को, रात्रि में उल्लू को और दिन में काक को शान्ति प्राप्त होती है, वह शान्ति-काल की प्रधानता के कारण काल समाधि कही जाती है। ४—**भावसमाधि**—भावसमाधि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन भेदों से चार प्रकार की कही गई है। १—जिस गुण-शक्ति के विकास से तत्त्व-सत्य की प्रतीति हो, अथवा जिस से छोड़ने और ग्रहण करने योग्य तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, वह **दर्शन भावसमाधि** है। २—नय और प्रमाण से होने वाला जीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध **ज्ञानभावसमाधि** है। ३—सम्यग् ज्ञान पूर्वक काषायिक भाव राग, द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूपरमण होता है वही **चारित्र भावसमाधि** है। ४—ग्लानिरहित किया गया तथा पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करने वाला तप नामक अनुष्ठानविशेष **तपभावसमाधि** है। साराश यह है कि जिस के द्वारा आत्मा सम्यक्तया मोक्षमार्ग में अवस्थित किया जाय वह अनुष्ठान **समाधि**[१] कहलाता है। प्रकृत में इसी समाधि का ग्रहण अभिमत है। समाधि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति **समाधिप्राप्त** कहलाता है।

कालमास—का अर्थ है—समय आने पर। इस का प्रयोग सूत्रकार ने अकाल मृत्यु के परिहार के लिये किया है। इस का तात्पर्य यह है कि श्री सुबाहुकुमार की अकाल मृत्यु नहीं हुई है।

[२]**कल्प**—इस शब्द के अनेकों अर्थ हैं—१—समर्थ, २—वर्णन, ३—छेदन, ४—करण, ५—

---

(१) **सम्यगाधीयते-मोक्षः तन्मार्गो वा प्रत्यात्मा योग्यः क्रियते व्यवस्थाप्यते येन धर्मेणासौ धर्मः समाधिः** । (श्री सूत्रकृताङ्गवृत्तौ)

(२) कल्पशब्दोऽनेकार्थाभिधायी—**क्वचित्सामर्थ्ये, यथा—वर्षाष्टप्रमाणः चरणपरिपालने कल्पः समर्थ इत्यर्थः । क्वचिद् वर्णनायाम्—यथा—अध्ययनमिदमनेन कल्पितं वर्णितमित्यर्थः । क्वचिच्छेदने—यथा—केशान् कर्तर्या कल्पयति—छिनत्ति इत्यर्थः । क्वचित् करणे—क्रियायाम्—यथा-**

सादृश्य, ६—अधिवास—निवास, ७—योग्य, ८—आचार, ९—कल्प शास्त्र, १०—कल्प—राजनीति इत्यादि व्यवहार जिन देवलोकों मे हैं वे देवलोक । इन अर्थों मे से प्रकृत में अन्तिम अर्थ का ग्रहण अभिमत है।

देवलोक २६ माने जाते हैं। १२ कल्प और १४ कल्पातीत। इन मे १—साधर्म, २—ईशान ३—सनत्कुमार, ४—महेन्द्र, ५—ब्रह्म, ६—लान्तक, ७—महाशुक्र, ८—सहस्रार, ९—आनत, १०—प्राणत, ११—आरण, १२—अच्युत, ये बारह कल्पदेव कहलाते हैं। तथा कल्पातीतो में पुरुषाकृतिरूप लोक के ग्रीवास्थान में अवस्थित होने के कारण १—भद्र,२—सुभद्र, ३—सुजात, ४—सुमनस, ५—प्रियदर्शन, ६—सुदर्शन, ७—अमोघ, ८—सुप्रतिबद्ध, ९—यशोधर ये ९ ग्रैवेयक कहलाते हैं। सब से उत्तर अर्थात् प्रधान होने से पाच अनुत्तर विमान कहलाते हैं। जैसे कि—१—विजय, २—वैजयत, ३—जयन्त, ४—अपराजित, ५—सर्वार्थसिद्ध।

सौधर्म से अच्युत देवलोक तक के देव, कल्पोपपन्न और इन के ऊपर के सभी देव इन्द्रतुल्य होने मे अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्य लोक में किसी निमित्त से जाना हुआ तो कल्पोपपन्न देव ही जाते आते हैं। कल्पातीत देव अपने स्थान को छोड़ कर नहीं जाते। हमारे सुबाहुकुमार अपनी आयु को पूर्ण कर कल्पोपपन्न देवों के प्रथम विभाग में उत्पन्न हुए, जो कि सौधर्म नाम से प्रसिद्ध है। साराश यह है कि सुबाहुकुमार मुनि ने जिस लक्ष्य को ले कर राज्यसिंहासन का ठुकराया था तथा ससारी जीवन से मुक्ति प्राप्त की थी, आज वह अपने लक्ष्य मे सफल होगए ? और साधुवृत्ति का यथाविधि पालन कर आयुपूर्ण होने पर पहले देवलोक मे उत्पन्न हो गए और वहा की दैवी सम्पत्ति का यथारुचि उपभोग करने लगे।

श्रमण भगवान् महावीर बोले - गोतम ! सुबाहु मुनि का जीव देवलोक के सुखों का उपभोग करके वहा की आयु वहा का भव और वहा की स्थिति को पूरी कर के वहा से च्युत हो मनुष्यभव को प्राप्त करेगा अ वहा अनेक वर्षों तक श्रामण्यपर्याय का पालन करके समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर तीसरे देवलोक मे उत्पन्न होगा। तदनन्तर वहा की आयु को समाप्त कर फिर मनुष्यभव को प्राप्त करेगा। वहा भी साधुधर्म को स्वीकार कर के उस का यथाविधि पालन करेगा और समय आने पर मृत्यु को प्राप्त हो कर पाचवें कल्प-देवलोक मे उत्पन्न होगा। वहा से च्यव कर मनुष्य और वहा से सातवें देवलोक मे इसी भाँति वहा से फिर मनुष्यभव में, वहा से मृत्यु को प्राप्त हो कर नवमें देवलोक मे उत्पन्न होगा। वहा से च्यव कर फिर मनुष्य और वहां से ग्यारहवे देवलोक मे जायगा। वहा से फिर मनुष्य बनेगा तथा वहा से सर्वार्थसिद्ध मे उत्पन्न होगा। वहा के सुखों का उपभोग कर वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहा पर तथारूप स्थविरों के समीप मुनिधर्म की दीक्षा को ग्रहण कर संयम और तप से आत्मा को भावित करता हुआ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्तया भावचारित्र की आराधना से आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को जला कर, कर्मबन्धनों को तोड़ कर अष्टविध कर्मों का क्षय करके परमकल्याणस्वरूप सिद्धपद को प्राप्त करेगा। दूसरे शब्दों में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, और परमात्मपद को प्राप्त कर के आवागमन के चक्र मे सदा के लिये मुक्त हो जायेगा, जन्म मरण से रहित हो जायेगा।

—आउक्खएणं, भवक्खएण, ठितिक्खएणं—इन पदों की व्याख्या वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि के शब्दों मे इस प्रकार है—

कल्पिता मयाऽस्याजीविका कृता इत्यर्थः। क्वचदौपम्ये—यथा—सौम्येन तेजसा च यथाक्रममिन्दुसूर्यकल्पा. साधव.। क्वचिदधिवासे—यथा—सोधर्मकल्पवासी शक्रः सुरेश्वरः। उक्त च—सामर्थ्ये वर्णनायां छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च कल्पशब्दं विदुर्बुधा ॥ (बृहत्कल्पसूत्रे भाष्यकारः)

—**आउक्खएणं त्ति—आयुष्कर्मद्रव्यनिर्जरणेण। भवक्खएणं त्ति—देवगतिनिबंधनदेवगत्यादिकर्मद्रव्यनिर्जरणेण। ठिनिक्खपण त्ति —आयुष्कर्मादिकर्मस्थितिविगमेन।** अर्थात् आयु शब्द से आयुष्कर्म के दलिकों (परमाणुविशेषों) का ग्रहण होता है। दलिकों या कर्मवर्गणाओं का क्षय **आयुक्षय** है। भव शब्द से देवगति को प्राप्त करने में कारणभूत नामकर्म की पुण्यात्मक देवगति नामक प्रकृति के कर्म-दलिकों का ग्रहण है, अर्थात् देवगति को प्राप्त करने में पुण्यरूप नामकर्म की देवगति प्रकृति कारण होती है। उस प्रकृति के कर्मदलिकों का नाश **भवनाश** कहलाता है। स्थिति शब्द से आयुष्कर्म के दलिकों की अवस्थानमर्यादा का ग्रहण है। अर्थात् आयुष्कम के दलिक जितने समय तक आत्मप्रदेशों से सम्बन्धित रहते हैं उस काल का स्थिति शब्द से ग्रहण किया जाता है। उस काल (स्थिति) का नाश **स्थितिनाश** कहा जाता है। यही इन तीनों मे भेद है।

—**अणंतरं**—कोई जीव पुरातन दुष्ट कर्मों के प्रभाव से नरक मे जा उत्पन्न हुआ, वहा की दु:ख-यातनाओं को भोग कर तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न हुआ, वहा की स्थिति को पूरी कर फिर मनुष्यगति में आया, उस जीव का मनुष्यभव को धारण करना सान्तर—अन्तरसहित है। एक ऐसा जीव है जो नरक से निकल कर सीधा मानव शरीर को धारण कर लेता है, उस का मानव बनना अनन्तर—अन्तररहित कहलाता है। सुबाहुकुमार की देवलोक से मनुष्यभवगत अनन्तरता को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने "**अणन्तर**" यह पद दिया है, जो कि उपयुक्त ही है।

भगवतीसूत्र में लिखा है कि ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना[1] (दर्शन—सम्यक्त्व की आराधना) और शका, काक्षा आदि दोषों से रहित होकर आचार का पालन करने वाला व्यक्ति कम से कम तीन भव करता है, अधिक से अधिक १५ भव-जन्म धारण करता है। १५ भवों के अनन्तर वह अवश्य निष्कर्म—कर्मरहित हो जाएगा। सर्व प्रकार के दु:खों का अन्त कर डालेगा। ऐसा शास्त्रीय[2] सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तसम्मत वचन से यह सिद्ध हो जाता है कि सुबाहुकुमार ने सुमुख गाथापति के भव मे एक सुदत्त नामक अनगार को दान देकर जघन्य ज्ञानाराधना तथा दर्शनाराधना का सम्पादन किया, उसी के फलस्वरूप वह पन्द्रहवें भव में महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो जाएगा। यह उस का अन्तिम भव है। इस के अनन्तर यह जन्म धारण नही करेगा।

देवलोकों का सख्याबद्ध वर्णन पहले किया जा चुका है। सर्वार्थसिद्ध से च्युत होकर सुबाहुकुमार का महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर सिद्धगति को प्राप्त होना, यह महाविदेह क्षेत्र की विशिष्टता सूचित करता है। महाविदेह कर्मभूमियों का क्षेत्र हैं। इस मे चौथे आरे जैसा अवस्थित काल है। महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर सुबाहुकुमार ने क्या किया, जिस से कि वह सर्व कर्मों से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त हुआ? इस सम्बन्ध में कुछ भी न कहते हुए सूत्रकार ने इतना ही लिख दिया है कि—**जहा दिढपतिण्णे**—अर्थात् इस के आगे का उस का सारा जीवनवृत्तान्त दृढप्रतिज्ञ की तरह जान लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेने के बाद सुबाहुकुमार ने वही कुछ किया जो कुछ श्री दृढप्रतिज्ञ ने किया था। इस से दृढ-प्रतिज्ञ के वृत्तान्त की जिज्ञासा स्वत. ही उत्पन्न हो जाती है। दृढप्रतिज्ञ का सविस्तर वर्णन तो औपपातिक सूत्र मे किया गया है। उस का प्रकरणानुसारी सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

---

(१) आराधना-निरतिचारतपानुपालना। (वृत्तिकार)

(२) **जहन्निए णं भंते! नाणाराहण आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंत करेति? गोयमा! अत्थेगतिए तच्चेण भवग्गहेणं सिज्झइ जाव अंत करेइ। सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ। एवं दंसणाराहण पि एवं चरित्ताराहणं पि।**-(भग० श० ८, उ० १, सू० ३११)।

गौतम—भदन्त ! अम्मड परिव्राजक का जीव देवलोक से च्युत हो कर कहां जायेगा ? कहां पर जन्म लेगा ?

भगवान्—गौतम ! महाविदेह नाम का एक कर्मभूमियों का क्षेत्र है। उस में अनेकों धनाढ्य एवं प्रतिष्ठित कुल हैं। अम्मड परिव्राजक का जीव देवलोक से च्युत हो कर उन्हीं कुलों में से एक विख्यात कुल में जन्म लेगा। जिस समय वह माता के गर्भ में आयेगा, उस समय उस के माता पिता की श्रद्धा धर्म में विशेष दृढ़ होने लगेगी। गर्भ काल के पूर्ण होने पर जब वह जन्म लेगा तो उस का शारीरिक सौन्दर्य बड़ा अद्भुत और विलक्षण होगा। उस के गर्भ में आने से माता पिता की धार्मिक श्रद्धा में विशेष दृढ़ता उत्पन्न होने के कारण माता पिता अपने नवजात बालक का दृढप्रतिज्ञ-यह गुणनिष्पन्न नाम रखेंगे। माता पिता के समुचित पालन पोषण से वृद्धि को प्राप्त करता हुआ दृढप्रतिज्ञ बालक जब आठ वर्ष का हो जाएगा तो उसे एक सुयोग्य कलाचार्य को सौंपा जाएगा। विनयशील दृढप्रतिज्ञ कुशाग्रबुद्धि होने के कारण थोड़े ही समय में विद्यासम्पन्न और कलासम्पन्न होने के साथ २ युवावस्था को भी प्राप्त हो जाएगा।

तदनन्तर प्रतिभाशाली युवक दृढ़प्रतिज्ञ को सांसारिक विषयभोगों के उपभोग में समर्थ हुआ जान कर उसे सांसारिक बन्धन में फसाने का यत्न करेंगे, परन्तु वह अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पर भी इस बन्धन में आने के लिये सहमत नहीं होगा। अपने ब्रह्मचर्य को अखण्ड रखने का वह पूरा २ ध्यान रखेगा। तदनन्तर किसी तथारूप श्रमण की संगति से उसे सम्यक्त्व का लाभ होगा। उस की प्राप्ति से उस में वैराग्य की भावना जागृत होगी और अन्त में वह मुनिधर्म को अंगीकार कर लेगा। गृहीत संयम व्रत का यथाविधि पालन करता हुआ मुनि दृढप्रतिज्ञ ज्ञान, दर्शन और चारित्र की निरतिचार आराधना से कर्ममल का नाश करके आत्मविकास की पराकाष्ठा—केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा।

भगवान् कहते हैं कि हे गौतम ! तदनन्तर अनेकों वर्ष केवली अवस्था में रह कर अनगार दृढप्रतिज्ञ मासिक संलेखना (आमरण अनशनव्रत) से शरीर को त्याग कर अपने ध्येय को प्राप्त करेगा। अर्थात् जिस प्रयोजन के लिए उस ने सब प्रकार के सांसारिक पदार्थों से मोह को तोड़ कर साधुजीवन को अपनाया था, उस का वह प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा। दूसरे शब्दों में सर्वप्रकार के कर्मबन्धनों का आत्यन्तिक विच्छेद कर वह कर्मरहित होकर जन्म मरण के दुःखों से सर्वथा छूट जायगा, आत्मा से परमात्मा बन जाएगा। यह है दृढ़प्रतिज्ञ का संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त। इसी वृत्तान्त की समानता बतलाने के लिये सूत्रकार ने—**जहा दिढ़पतिरणे**—यह उल्लेख किया है। सारांश यह है कि सुबाहुकुमार भी दृढप्रतिज्ञ की भाँति मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे।

—**भविए मुण्डे जाव पव्वइस्सति**—यहां पठित—**जाव**—यावत् पद से—**भवित्ता अणगारिअं**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। इन का अर्थ पदार्थ में दिया जा चुका है। तथा—**महाविदेहे जाव अड्ढाइं**—यहां के **जाव**—यावत् पद से—**वासे जाइं कुलाइं भवंति**—इन पदों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थ स्पष्ट ही है।

—**सिज्झिहिति ५**—यहां पर दिये गये ५ के अंक से—**बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिनिव्वाहिति, सव्वदुक्खाणमंतं करिहिति**—इन पदों को संगृहीत करना चाहिये। इन का अर्थ निम्नोक्त है—

सिद्ध होगा—सकल कर्मों के क्षय से निष्ठितार्थ—कृतकृत्य होगा। बुद्ध होगा, केवलज्ञान से सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व को जानेगा। मुक्त होगा—भवोपग्राही (जन्मग्रहण में निमित्तभूत) कर्मांशों से छूट जाएगा। परिनिवृत्त होगा—कर्मजन्य जो ताप (दुःख) है उस के विरह (अभाव) हो जाने से शान्त होगा। जन्म मरण आदि के दुःखों का अन्त करेगा। सारांश यह है कि सुबाहुकुमार का जीव अपने पुनीत आचरणों से जन्म

मरण आदि के दु.खो का अन्त करेगा। दूसरे शब्दों मे कहें तो सुबाहुकुमार का जीव अपने पुनीत आचरणों से जन्म तथा मरण रूप भवपरम्परा का उच्छेद कर डालेगा और वह सदा के लिये इस से मुक्त हो जाएगा तथा आत्मा की स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेगा जो कि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य —शक्ति रूप है"—यह कह सकते हैं।

सुपात्र दान की महानता और पावनता सुबाहुकुमार के सम्पूर्ण जीवन मे स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। सुमुख गाथापति के भव में उस ने सुपात्र मे भिक्षा डाली थी, उसी का यह महान् फल है कि आज वह परम्परा से सब का आराध्य बन गया है। इस जीवन मे भावना की मौलिकता भी विस्पष्ट हो जाती है। किसी भी कार्य में सफलता तभी प्राप्त होती है यदि उस मे विशुद्ध भावना को उचित स्थान प्राप्त हो। जब तक भावगत दूषण दूर नहीं होता तब तक आत्मा आनन्दरूप भूषण को हस्तगत नही कर सकता। अत श्री सुबाहुकुमार के जीवन को आचरित करके मोक्षाभिलाषियों को मोक्ष में उपलब्ध होने वाले सुख को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। यही इस कथासंदर्भ से ग्रहणीय सार है।

इस प्रकार सुबाहुकुमार के जीवनवृत्तान्त को सुनाने के बाद आर्य सुधर्मा स्वामी बोले कि हे जम्बू! इस प्रकार मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है। जम्बू! प्रभु वीर के पावन चरणों में रह कर जैसा मैंने सुना था वैसा ही तुम्हे सुना दिया, इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है। इस के मूलस्रोत तो परम आराध्य मंगलमूर्ति भगवान् महावीर स्वामी ही हैं। आर्य सुधर्मा स्वामी के इस कथन मे प्रस्तुत अध्ययन की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। सर्वज्ञभाषित होने से उस का प्रामाण्य सुस्पष्ट है।

—समणेण जाव संपत्तेण – यहा पर उल्लेख किये गये **जाव—यावत्** पद से अभिमत पदों का वर्णन ५४३ से ले कर ५४८ तक के पृष्ठों पर कर दिया गया है।

सुखप्राप्ति के लिये कहीं इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। उस की उपलब्धि अपने ही ओर देखने से, अपने में ही लीन होने से होती है। बाह्य पदार्थ सुख के कारण नहीं बन सकते, उन में जो सुख मिलता है, वह सुख नहीं, सुखाभास है, सुख की भ्रान्त कल्पना है। मधुलिप्त असिधारा (शहद से लिपटी हुई तलवार की धारा) को चाटने से क्षणिक सुख का आभास जरूर होता है किन्तु उस का परिणाम सुखावह नहीं होता है। मधुर रस के आस्वादन के साथ २ जिह्वा का भेदन भी होता चला जाता है। यही बात संसार की समस्त सुखजनक सामग्री की है। जब सुख के साधन अचिरस्थायी और विनश्वर हैं तो उन से प्राप्त होने वाला सुख स्थायी कैसे हो सकता है? इस के अतिरिक्त ज्ञानी पुरुषों का यह कथन सोलह आने सत्य है कि संसारवर्ती राजपाट, महल अटारी, गाड़ी घोडा, वस्त्राभूषण, और भोजनादि जितने भी पदार्थ हैं, उन में अनुराग या आसक्ति ही स्थायी दु.ख का कारण है। इन से विरक्त हो कर आत्मानुराग ही वास्तविक सुख का यथार्थ साधन है। मानव प्राणी इन बाह्य पदार्थों से जितना भी विमुख होगा, जितना भी मोह कम करेगा, उतना ही वास्तविक सुख की उपलब्धि मे अग्रेसर होगा और आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त करता चला जाएगा। सासारिक पदार्थों के संसर्ग में रागद्वेषजन्य व्याकुलता का अस्तित्व अनिवार्य है और जहा व्याकुलता है, वहा कभी सुख का क्षणिक आभास भले हो परन्तु सुख नहीं है, निराकुलता नहीं है। इस लिये स्थायी सुख या निराकुलता प्राप्त करने के लिये सासारिक पदार्थों के संसर्ग अर्थात् इन पर से अनुराग का त्याग करना परम आवश्यक है। बस यही प्रस्तुत अध्ययनगत सुबाहुकुमार के कथासन्दर्भ का रहस्यमूलक ग्रहणीय सार है।

श्री सुबाहुकुमार का जीवनवृत्तान्त साधकों या मुमुक्षु जनों को सर्वथा उपादेय है। शाश्वत सुख के अभिलाषियों के लिये सुप्रसिद्ध राजमार्ग है। जो साधक विकास की ओर प्रस्थान करने वाले हैं उन्हें इस के दिव्यालोक में सुख का वास्तविक स्वरूप अवश्य उपलब्ध होगा।

यह आत्मा सुख और आनन्द का अथाह सागर है। ज्ञान की अनन्त राशि है। शक्तियों का अखूट भंडार है। जिस को यह अपना वास्तविक रूप उपलब्ध हो जाता है, उस के लिये फिर कुछ भी अप्राप्य या अनुपलभ्य नहीं रहता। परन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये जिन साधनों को अपनाने की आवश्यकता होती है, वे सब प्रस्तुत अध्ययन के प्रतिपाद्य अर्थ में निदिष्ट हैं। जो साधक उन को आदर्श रख कर अपने जीवनपथ को निश्चित करेगा, वह महामहिम श्री सुबाहुकुमार की भांति एक न एक दिन अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेगा। यह निर्विवाद और निस्सन्देह है।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त॥

———

अथ द्वितीय अध्याय

अनेकविध साधनसामग्री के उपयोग से सुखप्राप्ति की वाञ्छा करने वाले मानव प्राणियों से भरा हुआ यह ससार सागर के समान है। जिस का किनारा मुक्तनिवास है। ससारसागर को पार कर उस मुक्तनिवास तक पहुचने के लिये जिस दृढ तरणी—नौका की आवश्यकता रहती है, वह नौका सुपात्रदान के नाम से ससार मे विख्यात है। अर्थात् ससारसागर को पार करने के लिये सुदृढ नौका के समान सुपात्र दान है और उस पर सवार होने वाला सस्कारी जीव-सुघड़ मानव है। तात्पर्य यह है कि भवसागर से पार होने के लिये मुमुक्षु जीव को सुपात्रदानरूप नौका का आश्रयण करना परम आवश्यक है। बिना इस के आश्रयण किये मुक्तनिवास तक पहुचना दुर्घट है।

मानव जीवन का आध्यात्मिक विकास सुपात्रदान पर अधिक निर्भर रहा करता है, पर उस मे सद्भाव का प्रवाह पर्याप्त प्रवाहित होना चाहिये। बिना इस के इष्टसिद्धि असभव है। हर एक कार्य या प्रवृत्ति मे, फिर वह धार्मिक हो या सासारिक, भावना का ही मूल्य है। काय की सफलता या निष्फलता का आधार एक मात्र उसी पर है। सद्भावनापूर्वक किया गया सुपात्रदान ही महान् फलप्रद होता है तथा जीवनविकास के क्रम में अधिकाधिक साहाय्य प्रदान करता है।

प्रस्तुत सुखविपाकगत द्वितीय अध्याय में राजकुमार भद्रनन्दी के जीवनवृत्तान्त द्वारा सुपात्रदान की महिमा बता कर सूत्रकार ने सुपात्रदान के द्वारा आत्मकल्याण करने की पाठकों को पवित्र प्रेरणा की है। भद्रनन्दी का जीवनवृत्तान्त सूत्रकार के शब्दों में निम्नोक्त है—

मूल—[1]बितियस्स उक्खेवो। एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभपुरे णगरे। थूभकरंडगं उज्जाणं। धन्नो जक्खो। धणावहो राया। सरस्सती देवी। सुमिणदंसणं, कहणा। जम्मं। बालत्तणं। कलाओ य। जोव्वणं। पाणिग्गहणं। दाओ। पासाद० भोगा य जहा सुबाहुस्स, नवरं भद्दनंदीकुमारे। सिरीदेवीपामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। सामिस्स समोसरणं। सावगधम्मं०। पुव्वभवपुच्छा। महाविदेहे वासे पुण्डरीगिणी णगरी। विजयकुमारे। जुगबाहू तित्थंगरे पडिलाभिते। मणुस्साउए बद्धे। इहं उप्पन्ने। सेसं जहा सुबाहुस्स जाव महाविदेहे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति,

---

(१) छाया—द्वितीयस्योत्क्षेपः। एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वृषभपुरं नगरम्। स्तूपकरण्डकमुद्यानम्। धन्यो यक्षः। धनावहो राजा। सरस्वती देवी। स्वप्नदर्शनम्। कथनम्। जन्म। बालत्वम्। कलाश्च। यौवनम्। पाणिग्रहणम्। दायः। प्रासाद० भोगाश्च, यथा सुबाहोः। नवरम्, भद्रनन्दीकुमारः। श्रीदेवी—प्रमुखाणां पञ्चशतानां राजवरकन्यकानां पाणिग्रहणम्। स्वामिनः समवसरणम्। श्रावकधर्म०। पूर्वभवपृच्छा। महाविदेहे, पुण्डरीकिणी नगरी। विजयकुमारः। युगबाहुस्तीर्थंकरः प्रतिलाभितः। मनुष्यायुर्बद्धम्। इहोत्पन्नः। शेषं यथा सुबाहोः यावत् महाविदेहे सेत्स्यति, भोत्स्यते, परिनिर्वास्यति, सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति। निक्षेपः।

॥ द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

परिणिव्वाहिति, सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति । निक्खेवो ।

॥ वितियं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**वितियस्स**—द्वितीय अध्ययन का । **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् जाननी चाहिये । **एव**—इस प्रकार । **खलु**—निश्चय ही । **जंबू !**—हे जम्बू ! । **तेणं**—उस । **कालेणं**—काल में । **तेणं समएणं**—उस समय में । **उसभपुरे**—ऋषभपुर नामक । **णगरे**—नगर था । **थूभकरंडयं**—स्तूपकरंडक । **उज्जाणं**—उद्यान था । **धन्ने**—धन्य नामक । **जक्खो**—यक्ष था । **धणावहो**—धनावह । **राया**—राजा था । **सरस्सती देवी**—सरस्वती देवी थी । **सुमिणदंसणं**—स्वप्न का देखना । **कहणं**—कथन—पति से कहना । **जम्मं**—बालक का जन्म । **बालत्तणं**—बाल्यावस्था । **कलाओ य**—कलाओं का सीखना । **जोव्वण**—यौवन को प्राप्त करना । **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण—विवाह का होना । **दाओ**—प्रीतिदान—दहेज की प्राप्ति । **पासाद०**—महलों में । **भोगा य**—भोगों का सेवन करने लगा । **जहा**—जैसे । **सुबाहुस्स**—सुबाहुकुमार का वर्णन है । **नवरं**—विशेष यह है कि । **भद्दनन्दी**—भद्रनन्दी । **कुमारे**—कुमार था । **सिरीदेवीपामोक्खाणं**—श्रीदेवीप्रमुख । **पंचसयाणं**—पांच सो । **रायवरकन्नगाणं**—श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ । **पाणिग्गहणं**—विवाह हुआ । **सामिस्स**—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का । **समोसरणं**—समवसरण—पधारना हुआ । **सावगधम्मं०**—श्रावकधर्म का ग्रहण करना । **पुव्वभवपुच्छा**—पूर्वभव की पृच्छा । **महाविदेहे**—महाविदेह क्षेत्र में **पुण्डरीगिणी**—पुण्डरीकिणी नाम की । **णगरी**—नगरी थी । **विजए**—विजय नामक । **कुमारे**—कुमार था । **जुगबाहू**—युगबाहु । **तित्थंगरे**—तीर्थंकर । **पडिलाभिते**—प्रतिलाभित किये । **मणुस्साउए**—मनुष्य आयु का । **बद्धे**—बन्ध किया । **इहं**—यहां । **उववन्ने**—उत्पन्न हुआ । **सेसं**—शेष । **जहा**—जैसे । **सुबाहुस्स**—सुबाहुकुमार का वर्णन है । **जाव**—यावत् । **महाविदेहे**—महाविदेह क्षेत्र में । **सिज्झिहिति**—सिद्ध होगा । **बुज्झिहिति**—बुद्ध होगा । **मुच्चिहिति**—कर्मबन्धनों से मुक्त होगा । **परिनिव्वाहिति**—निर्वाण पद को प्राप्त होगा । **सव्वदुक्खाणमन्तं**—सर्व दु:खों का अन्त । **करेहिति**—करेगा । **निक्खेवो**—निक्षेप की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये । **वितियं**—द्वितीय । **अज्झयणं**—अध्ययन । **समत्तं**—समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—द्वितीय अध्ययन के उत्क्षेप—प्रस्तावना की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये । जम्बू ! उस काल तथा उस समय ऋषभपुर नामक नगर था, वहां पर स्तूपकरंडक नामक उद्यान था, वहां धन्य नाम के यक्ष का यक्षायतन था । वहां धनावह नाम का राजा राज्य किया करता था । उस की सरस्वती देवी नाम की रानी थी । महारानी का स्वप्न देखना और पति से कहना, समय आने पर बालक का जन्म होना, और बालक का बाल्यावस्था में कलाएं सीख कर यौवन को प्राप्त करना, तदनन्तर विवाह का होना, माता पिता द्वारा दहेज का देना, तथा राजभवन में यथारुचि भोगों का उपभोग करना आदि सब कुछ सुबाहुकुमार की भांति जानना चाहिये । इस में इतना अन्तर अवश्य है कि बालक का नाम भद्रनन्दी था । उसका श्रीदेवीप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ । महावीर स्वामी का पधारना, भद्रनन्दी का श्रावकधर्म ग्रहण करना, गौतम स्वामी का पूर्वभवसम्बन्धी प्रश्न करना, तथा भगवान् का कथन करना—

महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नाम की नगरी में विजय नामक कुमार था, उस का युगबाहु तीर्थंकर को प्रतिलाभित करना, उस से मनुष्य आयु का बन्ध करना और यहां पर

भद्रनन्दी के रूप में उत्पन्न होना। शेष वर्णन सुबाहुकुमार के सदृश ही जान लेना चाहिए। यावत् महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर चारित्र पाल कर सिद्ध होगा, मुक्त होगा, निर्वाण पद को प्राप्त होगा और सर्व प्रकार के दु खो का अन्त करेगा। निक्षेप की कल्पना पूर्व की भॉति कर लेनी चाहिये।

॥ द्वितीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

टीका—राजगृह नगरी के गुणशिलक नामक उद्यान मे आर्य सधर्मा स्वामी अपने शिष्यपरिवार के साथ पधारे हुए हैं। उन के प्रधान शिष्य का नाम जम्बू अनगार था। जम्बू मुनि जी घोर तपस्वी, परममेधावी, परम सयमी, विनीत, साधुओं मे विशिष्ट प्रतिभा के धनी और परमविवेकी मुनिराज थे। आप प्राय: आर्य सुधर्मा स्वामी के ही चरणों में अधिक निवास किया करते थे। आप का अधिक समय शास्त्रस्वाध्याय में ही व्यतीत हुआ करता था। अभी आप सुखविपाक के सुबाहु नामक प्रथम अध्ययन का मनन करके उठे हैं। अब आप का मन सुखविपाक के द्वितीय अध्ययन के अर्थ को सुनने के लिये उत्कंठित हो रहा है।

आगे बढने वाले को आगे ही बढ़ना पसन्द होता है। उसे उदासीन होना नहीं आता। उस की प्रकृति ही उसे प्रगति के लिये बाध्य करती रहती है। श्री जम्बू मुनि भी इसी तरह प्रयत्नशील हुए और आर्य सुधर्मा स्वामी के चरणों में उपस्थित हो कर बोले—भदन्त! आप श्री के अनुग्रह मे मैंने सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का अर्थ सुन लिया है और उस का यथाशक्ति चिन्तन तथा मनन भी कर लिया है। अब आप उस के दूसरे अध्ययन के अर्थ का श्रवण कराने की भी कृपा करें? मुझे उस का अर्थ सुनने की भी बहुत उत्सुकता हो रही है। इसी भाव को सूत्रकार ने—**वितियस्स उक्खेवो**—इस सक्षिप्त वाक्य मे गर्भित कर दिया है।

—**उक्खेव**—उत्क्षेप प्रस्तावना का नाम है। प्रस्तुत सुखविपाकगत द्वितीय अध्ययन का प्रस्तावनारूप सूत्रांश निम्नोक्त है—

—**जइ णं भंते! समणेण भगवया महावीरेणं जाव सपत्तेणं सुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, वितियस्स णं भंते! अज्झयणस्स सुहविवागाण समणेण भगवया महावीरेणं जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते?** । अर्थात्—यदि भदन्त! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ वर्णन किया है तो भदन्त! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है?

जम्बू स्वामी की उक्त प्रार्थना पर दूसरे अध्ययन के अर्थ का प्रतिपादन करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी बोले कि हे जबू! ऋषभपुर नाम का एक समृद्धिशाली नगर था। उस के ईशानकोण में स्तूपकरंडक नाम का एक रमणीय उद्यान था, उस मे धन्य नाम के यक्ष का एक विशाल मन्दिर था। उस नगर के शासक-नृपति का नाम धनावह था। उस की सरस्वती देवी नाम की रानी थी। किसी समय शयनभवन मे सुख-शय्या पर सोई हुई महारानी सरस्वती ने स्वप्न में एक सिंह को देखा जो कि आकाश से उतर कर उस के मुख मे प्रवेश कर गया। वह तुरन्त जागी और उसने अपने पति के पास आ कर अपने स्वप्न को कह सुनाया। स्वप्न को सुन कर महाराज धनावह ने कहा कि इस स्वप्न के फलस्वरूप तुम्हारे एक सुयोग्य पुत्र होगा। महारानी ने महाराज के मगलवचन को बडे सम्मान से सुना और नमस्कार कर के वह अपने शय्यास्थान पर जा कर अवशिष्ट रात्रि को कोई अनिष्टोत्पादक स्वप्न न आ जाये इस विचार से धर्मजागरण में ही व्यतीत करने लगी।

समय आने पर महारानी सरस्वती ने एक रूप गुण सम्पन्न बालक को जन्म दिया। माता पिता ने उस का नाम भद्रनन्दी रक्खा। योग्य लालन पालन से शुक्लपक्षीय शशिकला की भाँति वृद्धि को प्राप्त करता हुआ वह शिशुभाव को त्याग युवावस्था को प्राप्त हुआ। इस के मध्य में उस ने सुयोग्य विद्वानों की देख–

रेख के कारण उचित शिक्षा में निपुणता प्राप्त कर ली। यौवनप्राप्त श्री भद्रनन्दी के माता पिता ने उस का एक साथ श्रीदेवीप्रमुख ५०० राजकन्याओं के साथ विवाह कर दिया और सब को पृथक् २ दहेज दिया। तदनन्तर उन राजकन्याओं के साथ उन्नत प्रासादों में रह कर सासारिक कामभोगों का यथेष्ट उपभोग करता हुआ भद्रनन्दी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

किसी समय ऋषभपुर नगर मे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी पधारे और शिष्यपरिवार के साथ स्तूपकरंडक उद्यान में विराजमान हो गए। नगर की भावुक जनता उन के दर्शन और धर्मोपदेश श्रवण करने के लिये उद्यान में आई। भगवान् ने सब की उपस्थिति में धर्म का उपदेश दिया। उपदेश सुन कर जनता अपने २ स्थानों को वापिस लौट गई। सब के चले जाने के बाद वहाँ धर्मश्रवणार्थ आये हुए भद्रनन्दी ने भगवान् के सम्मुख उपस्थित हो कर सुबाहुकुमार की भाँति साधुवृत्ति के ग्रहण में असमर्थता प्रकट करते हुए उन से पञ्चाणुव्रतिक गृहस्थधर्म का ग्रहण किया। जब गृहस्थधर्म का नियम ग्रहण करके भद्रनन्दी अपने स्थान को चला गया, तब गौतम स्वामी ने सुबाहुकुमार की तरह भद्रनन्दी के रूप, लावण्य और गुणसम्पत्ति की प्रशंसा करते हुए उस के पूर्वभव के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा कि भदन्त ! यह भद्रनन्दी पूर्वभव में कौन था ? तथा किस पुण्य के आचरण से इसने इस प्रकार की मानवी गुणसमृद्धि प्राप्त की है ? इत्यादि। गौतम स्वामी के उक्त प्रश्न के उत्तर मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो फरमाया, वह निम्नोक्त है—

गौतम ! महाविदेह क्षेत्र मे पुण्डरीकिनी नाम की एक सुप्रसिद्ध नगरी थी। वहा के शासक के पुत्र का नाम विजयकुमार था। विजयकुमार प्रतिभाशाली और त्यागशील साधु महात्माओं का बडा अनुरागी था। एक बार उस नगरी में युगबाहु नाम के तीर्थंकर महाराज पधारे। विजयकुमार ने बड़ी विशुद्ध भावना से उन्हें आहार दिया। आहार का दान करने से उस ने उसी समय मनुष्य की आयु का बन्ध किया। तथा वहां की भवस्थिति पूरी करने के बाद उस सुपात्रदान के प्रभाव से वह यहा आकर भद्रनन्दी के रूप मे अवतरित हुआ। तब भद्रनन्दी को इस समय जो मानवी ऋद्धि सम्प्राप्त हुई है, वह विशुद्ध भावों से किये गये उसी आहारदानरूप पुण्याचरण का विशिष्ट फल है। तदनन्तर गौतम स्वामी के-भदन्त ! क्या यह भद्रनन्दी मुनिधर्म मे भी प्रवेश करेगा ? अर्थात् मुनिधर्म की दीक्षा लेगा कि नहीं ?—इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् बोले—हा गौतम !, लेगा ? तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहां से अन्यत्र विहार कर गये।

एक दिन श्रमणोपासक भद्रनन्दी पोषधशाला में जा कर पौषधोपवास करता है। वहा तेले की तपस्या से आत्मचिन्तन करते हुए भद्रनन्दी को सुबाहुकुमार की तरह विचार उत्पन्न हुआ कि धन्य हैं वे नगर और ग्रामादिक, जहा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भ्रमण करते हैं, धन्य हैं वे राजा महाराज और सेठ साहुकार जो उन के चरणों में दीक्षित होते हैं और वे भी धन्य हैं कि जिन्हों ने भगवान् महावीर से पञ्चाणुव्रतिक गृहस्थधर्म को स्वीकार किया है। तब यदि अब कि भगवान् यहा पधारेंगे तो मैं भी उन के पास मुनिदीक्षा को धारण करूंगा—इत्यादि। तदनन्तर अपने उक्त विचार को निश्चित रूप देने की भावना के साथ २ गृहीतव्रत की अवधि समाप्त होने पर भद्रनन्दी ने व्रत का पारणा किया और वह भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा में समय बिताने लगा। कुछ समय के बाद भगवान महावीर स्वामी जब वहा पधारे तो भद्रनन्दी ने उन के चरणों में मुनिवृत्ति को धारण करके अर्थात् मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण करके अपने शुभ विचार को सफल किया, तथा गृहीत सयमव्रत के सम्यग् आराधन से आत्मशुद्धि द्वारा विकास को भी सम्प्राप्त किया। इस के अतिरिक्त निर्वाण पद प्राप्ति तक भद्रनन्दी का सम्पूर्ण इतिवृत्त सुबाहुकुमार की भाँति ही जान लेना चाहिये।

प्रथम अध्याय में सुबाहुकुमार के जीवन का जो विकासक्रम वर्णित हुआ है, वही सब भद्रनन्दी का

है। जहां कहीं कुछ विभिन्नता थी, उस का उल्लेख मूल में सूत्रकार द्वारा स्वयं ही कर दिया गया है। शेष जीवन, जन्म से लेकर मोक्षपर्यन्त सब सुबाहुकुमार के जीवन के समान ही होने से सूत्रकार ने उसका उल्लेख नहीं किया। इसी लिये विवेचन में भी उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया। कारण कि सुबाहुकुमार के जीवन—वृत्तान्तों में प्रत्येक बात पर यथाशक्ति पूरा २ प्रकाश डालने का यत्न किया गया है।

सूत्रकार ने पुण्यश्लोक परमपूज्य श्री सुबाहुकुमार के जीवनवृत्तान्त से स्वनामधन्य श्री भद्रनन्दी के जीवनवृत्तान्तों से अधिकाधिक समानता के दिखलाने लिए ही मात्र—**उसभपुरे णगरे थूभकरडग**—इत्यादि पद, तथा—**पासाद॰ सावगधम्मं॰**—यहां बिन्दु—**सुबाहुस्स जाव महाविदेहे**—यहां **जाव**—**यावत्** पद दे कर वर्णित विस्तृत पाठ की ओर संकेत कर दिया है। अतः सम्पूर्ण पाठ के जिज्ञासु पाठकों को सुबाहुकुमार के अध्ययन का अध्ययन अपेक्षित है। नामगत भेद के अतिरिक्त अर्थगत कोई अन्तर नहीं है।

—**निक्खेवो**—का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है। प्रस्तुत में उस से संसूचित सूत्रांश निम्नोक्त है—

—**एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं बितियस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि।** अर्थात् हे जम्बू ! यावत् मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के द्वितीय अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कथन किया है। मैंने जैसा भगवान् से सुना था, वैसा तुम्हें सुना दिया है। इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन में भी प्रथम अध्ययन की तरह सुपात्रदान का महत्त्व वर्णित हुआ है। सुपात्रदान से मानव प्राणी की जीवननौका संसारसागर से अवश्य पार हो जाती है। यह बात इस अध्ययन की अर्थविचारणा से स्पष्टतया प्रमाणित हो जाती है। इसलिये मुमुक्षु जीवों के लिये उस का अनुसरण कितना आवश्यक है ? यह बतलाने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

॥ द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण ॥

अथ तृतीय अध्याय

दान पद का निर्माण दो व्यञ्जनों और दो स्वरों के समुदाय से हुआ है। यह छोटा सा पद बड़े विशद और गम्भीर अर्थ से गर्भित एवं ओतप्रोत है। इस अर्थ को जीवन में लाने वाला व्यक्ति दानी कहलाता है। कोई २ व्यक्ति अपनी सेवा या प्रशंसा के उद्देश्य से भी दान देते हैं, परन्तु इस भावना से किया गया दान, दान के महत्त्व से शून्य होता है। वास्तविक दान में तो किसी भी ऐहिक स्वार्थ को स्थान नहीं होता। उस में तो नितान्त शुद्धि की आवश्यकता रहती है। दान देने वाला, दान लेने वाला और देय वस्तु, ये तीनों जहां शुद्ध हों, निर्दोष हों, किसी भी प्रकार के स्वार्थ से रहित हों, वहीं पर किया गया दान सफल निवडता है। प्रस्तुत तीसरे अध्ययन में भी ऐसी ही दानप्रणाली का वर्णन करने के लिए श्रद्धाशील दानी व्यक्ति श्री सुजातकुमार का जीवन संगृहीत हुआ है। जिस का विवेचन निम्नोक्त है—

मूल—[1]तच्चस्स उक्खेवो। वीरपुरं नगरं। मणोरमं उज्जाणं। वीरकण्हमित्ते राया। सिरी देवी। सुजाए कुमारे। बलसिरीपामोक्खाणं पञ्चसयकन्नगाणं पाणिग्गहणं। सामी समोसरिते। पुव्वभवपुच्छा। उसुयारे णगरे। उसभदत्ते गाहावती। पुप्फदत्ते अणगारे पडिलाभिए। माणुस्साउए निबद्धे। इहं उप्पन्ने जाव महाविदेहे सिज्झिहिति ५। निक्खेवो।

॥ ततियं अज्झयणं समत्तं॥

पदार्थ—तच्चस्स—तृतीय अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भांति जान लेना चाहिये। **वीरपुरं**—वीरपुर। **णगरं**—नगर था। **मणोरमं**—मनोरम। **उज्जाणं**—उद्यान था। **वीरकण्हमित्ते**—वीरकृष्णमित्र। **राया**—राजा था। **सिरीदेवी**—श्री देवी थी। **सुजाए**—सुजात। **कुमारे**—कुमार था। **बलसिरीपामोक्खाणं**—बलश्रीप्रमुख। **पंचसयकन्नगाणं**—पांच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण—विवाह हुआ। **सामी**—महावीर स्वामी। **समोसरिते**—पधारे। **पुव्वभवपुच्छा**—पूर्वभव की पृच्छा की गई। **उसुयारे**—इषुकार नामक। **णगरे**—नगर था। **उसभदत्ते**—ऋषभदत्त। **गाहावती**—गाथापति—गृहस्थ था। **पुप्फदत्ते**—पुष्पदत्त। **अणगारे**—अनगार। **पडिलाभिए**—प्रतिलम्भित किये। **माणुस्साउए निबद्धे**—मनुष्यायु का बन्ध किया। **इह**—यहां। **उप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **जाव**—यावत्। **महाविदेहे**—महाविदेह क्षेत्र में। **सिज्झिहिति ५**—सिद्ध होगा, ५। **निक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये। **ततियं**—तृतीय। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—समाप्त हुआ।

---

(१) छाया—तृतीयस्योत्क्षेपः। वीरपुरं नगरम्। मनोरममुद्यानम्। वीरकृष्णमित्रो राजा। श्रीदेवी। सुजातः कुमारः। बलश्रीप्रमुखाणां पञ्चशतकन्यकानां पाणिग्रहणम्। स्वामी समवसृतः। पूर्वभवपृच्छा। इषुकारं नगरम्। ऋषभदत्तो गाथापतिः। पुष्पदत्तोऽनगारः प्रतिलाभितः। मनुष्यायुर्निबद्धम्। इहोत्पन्नो यावत् महाविदेहे सेत्स्यति ५। निक्षेपः।

॥ तृतीयमध्ययनं समाप्तम्॥

मूलार्थ—तृतीय अध्ययन का उत्क्षेप पूर्व की भाँति जान लेना चाहिये। जम्बू ! वीरपुर नामक नगर था। वहां मनोरम नाम का उद्यान था। महाराज वीरकृष्णमित्र राज्य किया करते थे। उन की रानी का नाम श्रीदेवी था। सुजात नाम का कुमार था। बलश्रीप्रधान पाच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उस का—सुजात कुमार का पाणिग्रहण हुआ। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। सुजात कुमार का गृहस्थधर्म स्वीकार करना, भगवान् गौतम द्वारा उस का पूर्वभव पूछना। भगवान् का प्रतिपादन करना कि इक्षुसार नगर था। वहां ऋषभदत्त गाथापति निवास किया करता था। उसने पुष्पदत्त अनगार को प्रतिलम्भित किया—आहारदान दिया। मनुष्य की आयु को बान्धा। आयु पूर्ण होने पर यहा सुजातकुमार के रूप मे वीरपुर नामक नगर मे उत्पन्न हुआ। यावत् महाविदेह क्षेत्र मे चारित्र ग्रहण कर सिद्धपद प्राप्त करेगा—सिद्ध होगा। निक्षेप की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये।

॥ तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

टीका—प्रस्तावना तथा उपसहार ये दोनों पदार्थवर्णनशैली के मुख्य अंग हैं। इस सम्बन्ध मे पहले भी कहा जा चुका है प्रस्तुत में सूत्रकार के शब्दों में प्रस्तावना **जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं वितियस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। ततियस्स णं भंते ! अज्झयणस्स सुहविवागाणं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते** ? — इस प्रकार है। अर्थात् भदन्त ! यदि यावत् मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के दूसरे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ वर्णन किया है तो भदन्त ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के तीसरे अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

इसी प्रकार तीसरे अध्ययन का वर्णन करने के अनन्तर सूत्रकार ने **एव खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सपत्तेणं सुहविवागाणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि**। अर्थात् हे जम्बू ! इस प्रकार यावत् मोक्षसप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के तीसरे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है, इस प्रकार मैं कहता हू—यह कह कर निक्षेप या उपसहार संसूचित कर दिया है। सूत्रकार ने एक स्थान पर इन दोनों का निरूपण करके अन्यत्र इन के (उपक्रम और उपसंहार के) सूचक क्रमश **उक्खेवो** उत्क्षेप, और **निक्खेवो**—निक्षेप, ये दो पद दे दिये हैं। जिन में उक्त अर्थ का ही समाहार—संक्षेप है।

तीसरे अध्ययन का पदार्थ भी प्रथम अध्ययन के समान ही है। केवल नाम और स्थानादि का भेद है। प्रथम अध्ययन का मुख्य नायक सुबाहुकुमार है जब कि तीसरे का सुजातकुमार। इस के अतिरिक्त पूर्वभव मे ये दोनो सुमुख और ऋषभदत्त गाथापति के नाम से विख्यात थे। अर्थात् सुबाहुकुमार सुमुख गाथापति के नाम से प्रसिद्ध था और सुजात ऋषभदत्त के नाम से प्रख्यात था। इसी तरह सुबाहुकुमार को तारने वाले सुदत्तमुनि और सुजात के उद्धारक पुष्पदत्त हुए। इस के सिवा माता पिता के नाम को छोड़ कर बाकी सारा जीवनवृत्तान्त दोनों का जन्म से लेकर मोक्षपर्यन्त एक ही जैसा है। अर्थात्—गर्भ में आने पर माता का स्वप्न में मुख म प्रवेश करते हुए सिंह को देखना, जन्म के बाद बालक का शिक्षण प्राप्त करना युवा होने पर राजकन्याओं से विवाह करना। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पधारने पर उन से पञ्चाणुव्रतिक गृहस्थधर्म की दीक्षा लेना। उन के विहार के करने के अनन्तर पौषधशाला में धर्माराधन करते हुए मन मे शुभ विचारों का उद्गम होना और फलस्वरूप भगवान् के दोबारा पधारने पर मुनिधर्म की दीक्षा लेना और सयम का यथाविधि पालन करने के अनन्तर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होना तथा वहा से च्यव कर फिर मनुष्य भव को प्राप्त

करना और इसी प्रकार आवागमन करते हुए अन्त में महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो कर संयम व्रत के सम्यग् अनुष्ठान से कर्मबन्धनों को तोड कर सिद्धपद—मोक्षपद को प्राप्त करना, आदि से अक्षरशः समानता है ।

—उप्पन्ने जाव सिज्झिहिति ४—यहां पठित जाव—यावत् पद गौतम स्वामी का वीर प्रभु से सुजातकुमार आपश्री के चरणों में दीक्षित होगा कि नहीं ?—ऐसा प्रश्न पूछना तथा भगवान् महावीर स्वामी का उत्तर देना और अन्त में प्रभु का विहार कर जाना । सुजात कुमार का तेला पौषध करना, उस में साधु होने का विचार करना, भगवान् का वीरपुर नामक नगर में आना, सुजातकुमार का दीक्षित होना संयमाराधन से उस का मृत्यु के अनन्तर देवलोक में उत्पन्न होना वहां से सुबाहुकुमार की भांति अनेकानेक भव करते हुए वह अन्त में महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा, आदि भावों का परिचायक है । तथा ४ के अंक से अभिमत पद श्री सुबाहुकुमार नामक सुखविपाक के प्रथम अध्ययन के, पृष्ठ ६७७ पर लिखे जा चुके हैं । पाठक वहीं देख सकते हैं । नामगत भेद के अतिरिक्त अर्थगत कोई अन्तर नहीं है ।

॥ तृतीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

अथ चतुर्थ अध्याय

प्रत्येक अनुष्ठान मे विधि का निर्देश होता है। विधिपूर्वक किया गया क्रियानुष्ठान ही हितप्रद, लाभप्रद और फलदायक हो सकता है। विधिहीन अनुष्ठान से फलाप्राप्ति के अतिरिक्त विपरीत फल की सभावना भी रहती हैं और वह सुखप्राप्ति के स्थान में सकट का उत्पादक भी बन जाता है। दान भी एक प्रकार का पवित्र अनुष्ठान है। उसका भी विधिपूर्वक ही आचरण करना चाहिये। विधि का स्वरूप नीचे की पक्तियों में है

दान देते समय भावना उच्च और निमल हो तथा साथ में प्रेम का संचार हो। तभी दानविधि सम्पन्न होती है। किसी को अनादर या अपमान मे दिया हुआ दान दाता को उस के अच्छे फल से वचित कर देता है प्रस्तुत अध्ययन में इसी प्रकार के विधिपूर्ण दान और उस मे निष्पन्न होने वाले मधुर फल की चर्चा की गई है, जिस को जिनदास के जीवनवृत्तान्तों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। जिनदास का परिचय निम्नोक्त है—

मूल—[1]चउत्थस्स उक्खेवो। विजयपुरं णगरं। नन्दणवणं उज्जाणं। असोगो जक्खो। वासवदत्ते राया। कण्हा देवी। सुवासवे कुमारे। भद्दापामोक्खाणं पंचसयाणं जाव पुव्वभवे। कोसम्बी णगरी। धणपाले राया। वेसमणभद्दे अणगारे पडिलाभिते। इहं उप्पन्ने जाव सिद्धे। निक्खेवो।

॥ चउत्थं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**चउत्थस्स**—चतुर्थ अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भाँति जान लेना चाहिये। **विजयपुर**—विजयपुर। **णगरं**—नगर था। **नंदणवणं**—नन्दनवन नामक। **उज्जाणं**—उद्यान था। **असोगो**—अशोक नामक। **जक्खो**—यक्ष था। **वासवदत्ते**—वासवदत्त। **राया**—राजा था। **कण्हा**—कृष्णा। **देवी**—देवी थी। **सुवासवे**—सुवासव नामक। **कुमारे**—कुमार था। **भद्दापामोक्खाणं**—भद्राप्रमुख। **पंचसयाणं**—पाच सौ यावत् अर्थात् श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ। **पुव्वभवे**—पूर्वभवसम्बन्धी पृच्छा की गई। **कोसंबी**—कौशाम्बी। **णगरी**—नगरी थी। **धणपाले**—धनपाल। **राया**—राजा था। **वेसमणभद्दे**—वैश्रमणभद्र। **अणगारे**—अनगार को। **पडिलाभिते**—प्रतिलम्भित किया। **इह**—यहां। **उप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ। **जाव**—यावत्। **सिद्धे**—सिद्ध हुआ। **निक्खेवो**—निक्षेप—उपसहार पूर्व की भाँति जान लेना चाहिये। **चउत्थं**—चतुर्थ। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—चतुर्थ अध्ययन का उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भाँति जान लेना चाहिए। जम्बू ! विजयपुर नाम का का एक नगर था। वहां नन्दनवन नाम का उद्यान था। वहां अशोक नामक

(१) छाया—चतुर्थस्योत्क्षेपः। विजयपुरं नगरम्। नन्दनवनमुद्यानम्। अशोको यक्षः। वासवदत्तो राजा। कृष्णा देवी। सुवासवः कुमारः। भद्राप्रमुखाणां पञ्चशतानां यावत् पूर्वभवः। कौशाम्बी नगरी। धनपालो राजा। वैश्रमणभद्रोऽनगारः प्रतिलाभितः। इहोत्पन्नो यावत् सिद्धः। निक्षेपः।

॥ चतुर्थमध्ययनं समाप्तम् ॥

यक्ष का यक्षायतन था। वहां के राजा का नाम वासवदत्त था। उस की कृष्णादेवी नाम की रानी थी और सुवासव नामक राजकुमार था। उस का भद्राप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ। तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी पधारे। तब सुवासव कुमार ने उन के पास श्रावकधर्म को स्वीकार किया। गौतम स्वामी ने उस के पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा। प्रभु ने कहा—

गौतम ! कौशाम्बी नगरी थी, वहां धनपाल नाम का राजा था, उस ने वैश्रमणभद्र नामक अनगार को आहार दिया और मनुष्य आयु का बन्ध किया। तदनन्तर वह यहां पर सुवासवकुमार के रूप मे उत्पन्न हुआ यावत् मुनिवृत्ति को धारण कर के सिद्धगति को प्राप्त हुआ। निक्षेप की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

टीका—जम्बू स्वामी की—भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के चतुर्थ अध्ययन का क्या अर्थ वर्णन किया है ? उसे भी सुनाने की कृपा करें !, इस अभ्यर्थना के अनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी बोले—जम्बू ! विजयपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। उस के बाहिर ईशान कोण में नन्दनवन नाम का उद्यान था। उस में अशोक यक्ष का एक विशाल यक्षायतन था। वहां के नरेश का नाम वासवदत्त था। उस की कृष्णा देवी नाम की रानी थी। उन के राजकुमार का नाम सुवासव था। वह बड़ा ही सुशील तथा सुन्दर था। एक बार विजयपुर के उक्त उद्यान में तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी पधारे। तब सुवासव ने उन से गृहस्थधर्म के पञ्चाणुव्रतिक दीक्षा ग्रहण की। सुवासव के सद्गुणसम्पन्न मानवी वैभव को देख कर गणधर देव गौतम स्वामी ने भगवान् से उस के पूर्वभव को जानने की इच्छा प्रकट की। इस के उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम ! कौशाम्बी नाम की एक विशाल नगरी थी। वहां धनपाल नाम का एक धार्मिक राजा था। उस का संयमशील साधुजनों पर बड़ा अनुराग था एक दिन उस के यहां वैश्रमण नाम के एक तपस्वी मुनि भिक्षा के निमित्त पधारे। धनपाल नरेश ने उन को विधिपूर्वक वन्दन किया और अपने हाथ से नितान्त श्रद्धापूरित हृदय से निर्दोष प्रासुक आहार का दान दिया। उस के प्रभाव से उस ने मनुष्य आयु का बन्ध कर के उस भव की आयु को पूर्ण कर यहां आकर सुवासव के रूप में जन्म लिया। इस के आगे का प्रभु वीर द्वारा वर्णित उस का सारा जीवनवृत्तान्त अर्थात् जन्म से ले कर मोक्षपर्यन्त का सारा इतिवृत्त सुबाहुकुमार की भांति जान लेना चाहिए। इस में इतनी विशेषता है कि वह उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त हुआ, इत्यादि वर्णन करने के अनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के चतुर्थ अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत अध्ययन मे चरित्रनायक के नाम, जन्मभूमि, उद्यान, माता पिता, परिणीत स्त्रियें तथा पूर्वभवसम्बन्धी नाम और जन्मभूमि तथा प्रतिलाभित मुनिराज आदि का विभिन्नतासूचक निर्देश कर दिया गया है और अवशिष्ट वृत्तान्त को प्रथम अध्ययन के समान समझ लेने की सूचना कर दी है।

—**नंदण वणं**—इस पाठ के स्थान में कहीं —**मणोरमं**—ऐसा पाठ भी है। तथा —**उत्क्षेप** और **निक्षेप** शब्दों का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पीछे कर चुके हैं। प्रस्तुत में **उत्क्षेप** से—**जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं ततियस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते; चउत्थस्स णं भंते ! अज्झयणस्स सुहविवागाणं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?**—अर्थात् यावत् मोक्षप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने यदि भदन्त ! सुखविपाक के तृतीय

अध्ययन का यह अर्थ फरमाया है तो भगवन्! यावत् मोक्षप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के चतुर्थ अध्ययन का क्या अर्थ फरमाया है? इन भावों का, तथा निक्षेप पद—**एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि**—अर्थात् हे जम्बू! यावत् मोक्षप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के चतुर्थ अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है—इन भावों का परिचायक है।

—**पाणिग्गहणं जाव पुव्वभवे**—यहां पठित जाव-यावत् पद—सुवासवकुमार का अपने महलों में भद्राप्रमुख ५०० राजकुमारियों के साथ आनन्दोपभोग करना, भगवान् महावीर स्वामी का विजयपुर नगर में पधारना। राजा, सुवासवकुमार तथा नागरिकों का धर्मोपदेश सुनने के लिये प्रभु के चरणों में उपस्थित होना, धर्मकथा श्रवण करने के अनन्तर राजा तथा जनता के चले जाने पर सुवासवकुमार का साधुधर्म को ग्रहण करने में अपनी असमर्थता बतलाते हुए श्रावकधर्म को ग्रहण करना और वन्दना तथा नमस्कार करने के अनन्तर वापिस अपने नगर को चले जाना, आदि भावों का तथा सुवासवकुमार के पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त को पूछना, भगवान् का उसे सुनाना, अन्त में विजयपुर में अवतरित होना, इन भावों का परिचायक है।

—**उप्पन्ने जाव सिद्धे**—यहां पठित जाव-यावत् पद सुवासवकुमार के सम्बन्ध में भगवान् से गौतम का "यह साधु बनेगा या नहीं ?, ऐसा प्रश्न पूछना, भगवान् का—हां, बनेगा, ऐसा उत्तर देना। तदनन्तर भगवान् का विहार कर जाना, इधर सुवासवकुमार का तेलापौषध में साधु होने का निश्चय करना, अन्त में भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में दीक्षित होना तथा संयमाराधन द्वारा अधिकाधिक आत्मविकास करके केवलज्ञान प्राप्त करना, आदि भावों का परिचायक है। सुबाहुकुमार और सुवासवकुमार के जीवन-वृत्तान्त में इतना ही अन्तर है कि सुबाहुकुमार पहले देवलोक से मनुष्य भव करके इसी भांति अन्य अनेकों भव करके अन्त में महाविदेह क्षेत्र में दीक्षित हो सिद्ध बनेगा, जब कि श्री सुवासवकुमार ने इसी जन्म में सिद्ध पद को उपलब्ध कर लिया।

प्रस्तुत अध्ययन भी सुपात्रदान के महत्त्व का बोधक है। इस से भी उस की महिमा प्रदर्शित होती है। लोक में जैसे—नदियों में गंगा, पशुओं में गाय और पक्षियों में गरुड तथा वन्य जीवों में सिंह आदि महान् और प्रधान माना जाता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के दानों में सुपात्रदान सर्वोत्तम, महान् तथा प्रधान होता है। तब भावपुरस्सर किया गया सुपात्रदान कितना उत्तम फल देता है? यह इस अध्ययन से स्पष्ट ही है।

॥ चतुर्थ अध्ययन सम्पूर्ण ॥

अथ पञ्चम अध्याय

भारतीय धार्मिक वाङ्मय में दानधर्म का बड़ा महत्त्व पाया जाता है। दान एक सीढ़ी है जो मानव प्राणी को ऊर्ध्वलोक तक पहुँचा देता है। जिस तरह मकान के ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता होती है ठीक उसी तरह मुक्तिरूप विशाल भवन पर आरोहण करने के लिये भी सीढ़ी की आवश्यकता है। वह सीढ़ी शास्त्रीय परिभाषा में दान के नाम से विख्यात है। दान के आश्रयण से मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राप्त कर सकता है, परन्तु जिस प्रकार सीढ़ी के द्वारा ऊपर चढ़ने वाले को भी सावधान रहना पड़ता है, ठीक उसी भाँति मोक्ष के सोपानरूप इस दान के विषय में भी बड़ी सावधानता की जरूरत है। वह सावधानता दो प्रकार की होनी है। एक पात्रापात्र सम्बन्धी दूसरी आवश्यकता और अनावश्यकता सम्बन्धी। पात्र की विचारणा में दाता को पहले यह देखना होता है कि जिस को मैं जो वस्तु दे रहा हूं, वह उस का अधिकारी भी है या कि नहीं। दूसरे शब्दों में—मेरी दी हुई वस्तु का यहां सदुपयोग होगा या दुरुपयोग। पात्र में डाली हुई वस्तु जैसे अच्छा फल देने वाली होती है वैसे कुपात्र में डालने से उस का विपरीत फल भी होता है। इसी प्रकार ग्रहण करने वाले को उस की आवश्यकता भी है या कि नहीं ? इस का विचार करना भी जरूरी है। जैसे समुद्र में वर्षण और तृप्त को भोजन ये दोनों अनावश्यक होने से निष्फल होते हैं, उसी तरह बिना आवश्यकता के दिया गया पदार्थ भी फलप्रद नहीं होता। सारांश यह है कि जहां दाता और प्रतिग्राही—ग्रहण करने वाला दोनों ही शुद्ध हों वहां पर ही देय वस्तु से समुचित लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रस्तुत अध्ययन में दान के महत्त्वप्रदर्शनार्थ जिस जिनदास नामक भावुक व्यक्ति का जीवन अंकित हुआ है, उस में दाता, प्रतिग्रहीता और देय वस्तु तीनों ही निर्दोष हैं, अतएव वहां फल भी समुचित ही हुआ। प्रस्तुत अध्ययन के पदार्थ का उपक्रम निम्नोक्त है—

मूल— [1]पञ्चमस्स उक्खेवो। सोगन्धिया णगरी। णीलासोगे उज्जाणे। सुकालो जक्खो। अपडिहओ राया। सुकण्हा देवी। महचंदे कुमारे। तस्स अरहदत्ता भारिया। जिणदासो पुत्तो। तित्थगरागमणं। जिणदासपुव्वभवो। मज्झमिया णगरी। मेहरहे राया। सुधम्मे अणगारे पडिलाभिते जाव सिद्धे। निक्खेवो।

॥ पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—पंचमस्स—पंचम अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भाँति जानना चाहिये। **सोगन्धिया**—सौगन्धिका नामक। **णगरी**—नगरी थी। **णीलासोगे**—नीलाशोक नामक। **उज्जाणे**—उद्यान था। **सुकाले**—सुकाल नामक। **जक्खे**—यक्ष—यक्ष का स्थान था। **अपडिहओ**—अप्रतिहत। **राया**—राजा था। **सुकण्हा**—सुकृष्णा। **देवी**—देवी थी। **महचंदे**—महाचन्द्र। **कुमारे**—कुमार था। **तस्स**—उस की

(१) छाया—पञ्चमस्योत्क्षेपः। सौगन्धिका नगरी। नीलाशोकमुद्यानम्। सुकालो यक्षः। अप्रतिहतो राजा। सुकृष्णा देवी। महाचन्द्रः कुमारः। तस्य अर्हद्दत्ता भार्या। जिनदासः पुत्रः। तीर्थकरागमनम्। जिनदासपूर्वभवः। माध्यमिका नगरी। मेघरथो राजा। सुधर्मा अनगारः प्रतिलाभितो यावत् सिद्धः। निक्षेपः।

॥ पंचममध्ययनं समाप्तम् ॥

महाचन्द्र की। **अरहदत्ता**—अर्हदत्ता। **भारिया**—भार्या थी। **जिणदासो**—जिनदास। **पुत्तो**—पुत्र था। **तित्थगरागमणं**—तीर्थंकर भगवान का आगमन हुआ। **जिणदासपुव्वभवो**—जिनदास का पूर्वभव पूछना। **मज्झिमया**—माध्यमिका। **णगरी**—नगरी थी। **मेहरहे**—मेघरथ। **राया**—राजा था। **सुधम्मे**—सुधर्मा। **अणगारे**—अनगार। **पडिलाभिते**—प्रतिलंभित किये गए। **जाव**—यावत्। **सिद्धे**—सिद्ध हुआ। **निक्खेवो**—निक्षेप अर्थात् उपसंहार की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये। **पंचमं**—पाचवा। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—पञ्चम अध्ययन का उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् जानना चाहिये। जम्बू ! सौगन्धिका नाम की नगरी थी। वहा नीलाशोक नाम का उद्यान था उस मे सुकाल नामक यक्ष का यक्षायतन था। नगरी मे महाराज अप्रतिहत राज्य किया करते थे, उन की रानी का नाम सुकृष्णा देवी था और पुत्र का नाम महाचन्द्र कुमार था। उस की अर्हदत्ता भार्या थी, इन का जिनदास नाम का एक पुत्र था। उस समय तीर्थंकर भगवान का आगमन हुआ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी पधारे। जिनदास का भगवान् से पचाणुव्रतिक गृहस्थधर्म स्वीकार करना, गणधर देव श्री गौतम स्वामी द्वारा उस का पूर्वभव पूछना और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी प्रतिपादन करने लगे—

गौतम ! माध्यमिका नाम की नगरी थी। महाराज मेघरथ वहा के राजा थे। सुधर्मा अनगार को महाराज मेघरथ ने आहार दिया, उस से मनुष्य आयु का बन्ध किया और यहा पर जन्म लेकर यावत् इसी जन्म मे सिद्ध हुआ। निक्षेप—उपसहार की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये।　　　॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—प्रस्तुत अध्ययन मे जिनदास का जीवनवृत्तान्त सकलित किया गया है। जिनदास महाचन्द्र का पुत्र और अर्हदत्ता का आत्मज था। इस के पितामह का नाम अप्रतिहत और पितामही का सुकृष्णादेवी था। इस की जन्मभूमि सौगन्धिका नगरी थी। जिनदास पूर्वभव में मेघरथ नाम का राजा था। इस की राजधानी का नाम माध्यमिका था। मेघरथ नरेश प्रजापालक होने के अतिरिक्त धर्म में भी पूरी अभिरुचि रखता था। एक दिन उस के पूर्वपुण्योदय से उस के घर में सुधर्मा नाम के एक परम तपस्वी मुनि का आगमन हुआ। मुनि को देख कर मेघरथ को बडी प्रसन्नता हुई, उस ने बडे भक्तिभाव से मुनि को अपने हाथ से आहार दिया। विशुद्ध भाव और विशुद्ध आहार मे उक्त मुनिराज को प्रतिलाभित करने से मेघरथ ने मनुष्य आयु का बन्ध किया और समय आने पर मृत्युधर्म को प्राप्त करने के अनन्तर वह इसी सौगन्धिका नगरी में जिनदास के रूप में उत्पन्न हुआ।

किसी समय नीलाशोक उद्यान मे तीर्थंकर भगवान् महावीर का पधारना हुआ। उस समय यह जिनदास भी जनता के साथ भगवान् का दर्शन करने और धर्मश्रवण करने के लिये आया। धर्मदेशना को सुनकर उस के हृदय में धर्म के आचरण की अभिरुचि उत्पन्न हुई और उस ने भगवान् से गृहस्थधर्म की दीक्षा प्रदान करने की अभ्यर्थना की। भगवान् ने भी उसे श्रावकधर्म की दीक्षा प्रदान कर दी। तब से जिनदास श्रमणोपासक बन गया। इस के अनन्तर उस के श्रमणधर्म मे दीक्षित होने से लेकर मोक्षगमन पर्यन्त सारी जीवनचर्या श्री सुबाहुकुमार की तरह ही है।—" यह है पाचवें अध्ययन का पदार्थ जिस की जिज्ञासा श्री जम्बू स्वामी ने अपने परमपूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से की थी।

इस पाचवें अध्ययन के कथासन्दर्भ का तात्पर्य भी मानवभव प्राप्त प्राणियों को दानधर्म और विशेष कर सुपात्रदान में प्रवृत्त कराना है। शास्त्रकारों ने जो सुपात्रदान का फल मनुष्य आयु का बन्ध यावत् मोक्ष की

प्राप्ति लिखा है। उन को हृदयंगम कराने के लिये यह कथासन्दर्भ एक उत्तम शिक्षक का काम देता है।

—पडिलाभिते जाव सिद्धे— इस संक्षिप्त पाठ में जाव-यावत् पद से आहार देने से लेकर मोक्ष जाने तक के प्रथम अध्ययन में उल्लेख किये गये समस्त इतिवृत्त को संगृहीत करने की ओर संकेत किया गया है। विशेष बात यह है कि वह उसी भव में मोक्ष गया। इस के अतिरिक्त अध्ययन की प्रस्तावना में दान धर्म को मोक्ष का सोपान बतलाते हुए जो उस के महत्त्व का वर्णन किया था, प्रस्तुत कथासंदर्भ से उस की सम्यग् रूप से उपपत्ति हो जाती है।

उत्क्षेप का अर्थ है - प्रस्तावना। प्रस्तुत में प्रस्तावनारूप सूत्रांश - **जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। पंचमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?** —अर्थात् श्री जम्बू स्वामी अपने गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से कहने लगे कि यदि भदन्त ! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के चतुर्थ अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ फरमाया है तो भगवन् ! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के पञ्चम अध्ययन का क्या अर्थ फरमाया है ?"— इस प्रकार है।

निक्षेप का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है। निक्षेप शब्द से सूचित सूत्रपाठ निम्नोक्त है—

एवं खलु जम्बू ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं पंचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि। अर्थात् सुधर्मा स्वामी कहने लगे कि हे जम्बू ! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सुखविपाक के पञ्चम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। इस प्रकार मैं कहता हूं अर्थात् जैसा मैंने भगवान् से सुना है वैसा तुम्हें सुना दिया है। इस में मेरी अपनी कोई कल्पना नहीं है।

—पडिलाभिते जाव सिद्धे— यहां पठित जाव-यावत् पद —मेघरथ राजा का संसार को परिमित करने के साथ २ मनुष्यायु को बान्धना, मृत्यु के अनन्तर उस का जिनदास के रूप में अवतरित होना, गौतम स्वामी का भगवान महावीर से—जिनदास आप श्री के चरणों में दीक्षित होगा या कि नहीं ? —ऐसा पूछना, भगवान् का—हां होगा, ऐसा उत्तर देना तथा विहार कर जाना, जिनदास का तेला पौषध करना, उस में भगवान् के चरणों में साधु बनने का निश्चय करना, तदनन्तर भगवान् महावीर स्वामी का वहां पर पधारना तथा जिनदास का माता पिता से आज्ञा ले कर दीक्षित हो कर संयमाराधना में संलग्न होना तथा समय आने पर केवलज्ञान को प्राप्त करना, आदि भावों का परिचायक है। सुबाहुकुमार और जिनदास के जीवनवृत्तान्त में इतना ही अन्तर है कि श्री सुबाहुकुमार प्रथम देवलोक से च्युत हो कर अनेकों भव करके महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध पद प्राप्त करेंगे जब कि जिनदास उसी जन्म में सिद्ध हो गए।

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

अथ षष्ठ अध्याय

प्रथम अध्ययन मे लेकर पांचवें अध्ययन तक सुपात्रदान की महिमा को श्री सुबाहुकुमार आदि नाम के विशिष्ट व्यक्तियों के जीवनवृत्तान्तों मे समझाने का प्रयत्न किया गया है। उन्हीं अध्ययनों के विशद इतिवृत्त को ही इस अध्ययन मे संक्षिप्त कर के श्री धनपति के जीवनवृत्तान्त द्वारा सुपात्रदान का महत्त्व दर्शाया गया है, जिस का विवरण निम्नोक्त है—

मूल—[1]**छट्ठस्स उक्खेवो। कणगपुरं णगरं। सेतासोयं उज्जाणं। वीरभद्दो जक्खो। पियचंदो राया। सुभद्दादेवी। वेसमणे कुमारे जुवराया। सिरीदेवीपामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। तित्थगरागमणं। धणवती जुवरायपुत्ते जाव पुव्वभवे। मणिचइया णगरी। मित्ते राया। संभूयविजए अणगारे पडिलाभिते जाव सिद्धे। निक्खेवो।**

॥ छट्ठं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—छट्ठस्स—छठे अध्ययन का। **उक्खेवा**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भाँति जानना चाहिए। **कणगपुरं**—कनकपुर। **णगरं**—नगर था। **सेतासोय**—श्वेताशोक नामक। **उज्जाणं**—उद्यान था, उस में। **वीरभद्दो**—वीरभद्र नाम के। **जक्खो**—यक्ष का यक्षायतन था। **पियचन्दो**—प्रियचन्द्र। **राया**—राजा था। **सुभद्दा**—सुभद्रा नाम की। **देवी**—देवी थी। **वेसमणे**—वैश्रमण नाम का। **कुमारे**—कुमार। **जुवराया**—युवराज था। **सिरीदेवीपामोक्खाणं**—श्रीदेवीप्रमुख। **पंचसयाणं**—पांच सौ। **रायवरकन्नगाणं**—श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण हुआ। **तित्थगरागमणं**—तीर्थंकर भगवान का आगमन हुआ। **धणवती**—धनपति। **जुवरायपुत्ते**—युवराजपुत्र वहां उपस्थित हुआ। **जाव**—यावत्। **पुव्वभवे**—पूर्वभव की पृच्छा की गई। **मणिचइया**—मणिचयिका। **णगरी**—नगरी थी। **मित्ते**—मित्र। **राया**—राजा था। **संभूयविजए**—सम्भूतविजय। **अणगारे**—अनगार। **पडिलाभिते**—प्रतिलम्भित किये। **जाव**—यावत्। **सिद्धे**—सिद्ध हुए। **निक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये। **छट्ठं**—छठा। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—छठे अध्ययन का उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् जानना चाहिये। हे जम्बू! कनकपुर नाम का नगर था। वहां श्वेताशोक उद्यान था और उस में वीरभद्र नाम के यक्ष का मन्दिर था। वहां महाराज प्रियचन्द्र का राज्य था, उस की रानी का नाम सुभद्रा देवी था, युवराजपदालंकृत कुमार का नाम वैश्रमण था, उस ने श्रीदेवीप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह किया। उस समय तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी पधारे। युवराज के पुत्र धनपतिकुमार ने भगवान से श्रावक के व्रतों को ग्रहण किया। पूर्वभव की पृच्छा की गई। धनपतिकुमार पूर्वभव में मणिचयिका

१—छाया—षष्ठस्योत्क्षेपः। कनकपुरं नगरम्। श्वेताशोकमुद्यानम्। वीरभद्रो यक्षः। प्रियचन्द्रो राजा। सुभद्रा देवी। वैश्रमणः कुमारो युवराजः। श्रीदेवीप्रमुखाणां पंचशतानां राजवरकन्यकानां पाणिग्रहणम्। तीर्थंकरागमनम्। धनपतिर्युवराजपुत्रो यावत् पूर्वभवः। मणिचयिका नगरी। मित्रो राजा। सम्भूतविजयोऽनगारः प्रतिलाभितो यावत् सिद्धः। निक्षेपः।

॥ षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥

नगरी का राजा था, उस का नाम मित्र था। उस ने श्री सम्भूतविजय नाम के मुनिराज को आहार से प्रतिलाभित किया। यावत् इसी जन्म मे वह सिद्धगति को प्राप्त हुआ। निक्षेप की कल्पना पूर्व की भॉति कर लेनी चाहिये। ॥ छठा अध्ययन समाप्त ॥

टीका—प्रस्तुत अध्ययन में धनपतिकुमार का जीवनवृत्तान्त अंकित किया गया है। उस ने भी सुबाहुकुमार की तरह पूर्वभव मे सुपात्रदान से मनुष्यायु का बन्ध किया, तथा तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी से श्रावकधर्म और तदनन्तर मुनिधर्म की दीक्षा ले कर सयम के सम्यग् आराधन से कर्मबन्धनों को तोड़ कर निर्वाणपद प्राप्त किया।

इसभव तथा पूर्वभव मे नामादि की भिन्नता के साथ २ सुबाहुकुमार और धनपति कुमार के जीवन-वृत्तान्त मे केवल इतना ही अन्तर है कि सुबाहुकुमार तो देवलोकों म जाता हुआ और मनुष्यभव को प्राप्त करता हुआ अन्त म महाविदेह क्षेत्र में सिद्धपद प्राप्त करेगा जब कि धनपतिकुमार ने इसी जन्म मे कर्मों के बन्धनों को तोड़ कर निर्वाणपद प्राप्त किया और वह सिद्ध बन गया।

मूल में पढा गया उत्क्षेप पद—जइ णं भंते! **समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं पचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, छट्ठस्स णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?**—अर्थात् यदि भगवन्! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के पचम अध्याय का वह (पूर्वोक्त) अर्थ फरमाया है तो भगवन्! यावत मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के छठे अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है?—इन भावों का, तथा निक्षेप पद—**एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते**—अर्थात् हे जम्बू! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने छठे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है—, इन भावों का परिचायक है।

—**जुवरायपुत्ते जाव पुव्वभवे**—यहां पठित जाव—यावत् पद धनपतिकुमार का भगवान् महावीर स्वामी के चरणों मे धर्मोपदेश सुनने के अनन्तर साधुधर्म को अंगीकार करने मे अपना असामर्थ्य प्रकट करते हुए श्रावकधर्म को ग्रहण करना और जिस रथ पर सवार होकर आया था, उसी रथ पर बैठ कर वापिस चले जाना। तदनन्तर गौतम स्वामी का उस के पूर्वजन्मसम्बन्ध में भगवान् से पूछना और भगवान् का पूर्वजन्मवृत्तान्त सुनाना इत्यादि भावों का, तथा —**पडिलाभिते जाव सिद्धे**—यहां पठित जाव—यावत् पद—मित्र राजा का ससार को परिमित करने के साथ साथ मनुष्य आयु का बन्ध करना, और मृत्यु के अनन्तर युवराजपुत्र धन-पतिकुमार के रूप में अवतरित होना तथा राजकीय ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए जीवन व्यतीत करना। गौतम स्वामी का भगवान् महावीर से—धनपतिकुमार आपश्री के चरणों में साधु होगा, या कि नहीं? ऐसा प्रश्न पूछना, भगवान् का—हां गौतम! होगा, ऐसा उत्तर देना। तदनन्तर भगवान् महावीर का वहां से विहार करना। एक दिन धनपतिकुमार का पौषधशाला मे तेला पौषध करना, उस मे भगवान् के चरणों मे दीक्षित होने का निश्चय करना तथा भगवान् का कनकपुरनगर के श्वेताशोक उद्यान मे पधारना, राजा, धनपतिकुमार तथा नागरिकों का प्रभुचरणों में धर्मोपदेश श्रवण करने के लिये उपस्थित होना और उपदेश सुन लेने के अनन्तर राजा तथा नागरिकों के चले जाने पर साधुधर्म में दीक्षित होने के लिये धनपतिकुमार का तैयार होना, तथा माता पिता की आज्ञा मिलने पर भगवान् का उसे दीक्षित करना और मुनिराज धनपतिकुमार का बड़ी दृढता तथा संलग्नता से संयमाराधन कर के अंत मे केवलज्ञान प्राप्त करना, आदि भावों का परिचायक है।

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

अथ सप्तम अध्याय

यह अध्याय भी छठे अध्याय की भाँति सुपात्रदान की महिमार्थ ही वर्णित हुआ है। इस के मुख्यनायक श्री महाबलकुमार हैं। इन की जीवनगाथा इस में अंकित की गई है। इनका विवरण निम्नोक्त है—

मूल—[1]सत्तमस्स उक्खेवो। महापुरं णगरं। रत्तासोगं उज्जाणं। रत्तपाओ जक्खो। बले राया। सुभद्दा देवी। महब्बले कुमारे। रत्तवतीपामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। तित्थगरागमणं जाव पुव्वभवो। मणिपुरं णगरं। णागदत्ते गाहावती। इंददत्ते अणगारे पडिलाभिते जाव सिद्धे। निक्खेवो।

॥ सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—सत्तमस्स—सप्तम अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् जानना चाहिए। **महापुरं**—महापुर। **णगरं**—नगर था। **रत्तासोगं**—रक्ताशोक। **उज्जाणं**—उद्यान था। **रत्तपाओ**—रक्तपाद नामक। **जक्खो**—यक्ष का यक्षायतन था। **बले**—बल नामक। **राया**—राजा था। **सुभद्दा**—सुभद्रा नामक। **देवी**—देवी-रानी थी। **महब्बले**—महाबल। **कुमारे**—कुमार था। **रत्तवतीपामोक्खाणं**—रक्तवतीप्रमुख। **पंचसयाणं**—५००। **रायवरकन्नगाणं**—श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण-विवाह हुआ। **तित्थगरागमणं**—तीर्थंकर भगवान का आगमन हुआ। **जाव**—यावत्। **पुव्वभवो**—पूर्वभव की पृच्छा की गई। **मणिपुरं**—मणिपुर। **णगरं**—नगर था। **णागदत्ते**—नागदत्त। **गाहावती**—गाथापति था। **इंददत्ते**—इन्द्रदत्त। **अणगारे**—अनगार को। **पडिलाभिते**—प्रतिलाभित किया गया। **जाव**—यावत्। **सिद्धे**—सिद्ध हुआ। **निक्खेवो** निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये। **सत्तमं**—सातवां। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—सप्तम अध्ययन का उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्व की तरह जान लेना चाहिये। जम्बू! महापुर नामक नगर था। वहां रक्ताशोक नाम का उद्यान था, उस में रक्तपाद यक्ष का विशाल स्थान था। नगर में महाराज बल का राज्य था। उन की रानी का नाम सुभद्रा देवी था। इन के महाबल नाम का राजकुमार था। उस का रक्तवतीप्रधान ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण-विवाह किया गया।

उस समय तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी पधारे। तदनन्तर महाबल राजकुमार का

---

(१) छाया—सप्तमस्योत्क्षेपः। महापुरं नगरम्। रक्ताशोकमुद्यानम्। रक्तपादो यक्षः। बलो राजा। सुभद्रा देवी। महाबलः कुमारः। रक्तवतीप्रमुखाणां पंचशतानां राजवरकन्यकानां पाणिग्रहणम्। तीर्थंकरागमनम्। यावत् पूर्वभवः। मणिपुरं नगरम्। नागदत्तो गाथापतिः। इन्द्रदत्तोऽनगारः। प्रतिलाभितो यावत् सिद्धः। निक्षेपः।

॥ सप्तममध्ययनं समाप्तम् ॥

श्रावकधर्म भगवान से अंगीकार करना और गणधर देव का भगवान् से उस का पूर्वभव पूछना तथा भगवान का प्रतिपादन करते हुए कहना कि गौतम मणिपुर नाम का एक नगर था। वहां नागदत्त नामक गृहपति रहता था, उस ने इन्द्रदत्त नाम के अनगार को निर्मल भावनाओं के साथ शुद्ध आहार के द्वारा प्रतिलाभित किया तथा मनुष्य आयु का बन्ध करके वह यहां पर महाबल के रूप में उत्पन्न हुआ। तदनन्तर उस ने साधुधर्म में दीक्षित हो कर यावत् सिद्ध पद को—मोक्ष को प्राप्त किया। निक्षेप की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—छठे अध्ययन के अनन्तर सप्तम अध्ययन का स्थान है। सप्तम अध्ययन में श्री महाबल-कुमार का जीवनवृत्तान्त सङ्कलित हुआ। महाबल कुमार महापुर-नरेश महाराज बल के पुत्र थे, इन की माता का नाम सुभद्रा देवी था। माता पिता ने महाबल का शिक्षण सुयोग्य कलाचार्यों की छत्रछाया तले करवाया था। युवक महाबल का ५०० श्रेष्ठ राजकुमारियों के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था। ५०० रानियों में मुख्य रानी श्रीमती रक्तवती जी थीं जो कि परम सुन्दरी अथच पतिपरायणा थीं।

एक दिन चरम तीर्थंकर पतितपावन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का महापुर नगर के रक्ताशोक नामक उद्यान में पधारना हुआ। नागरिक तथा राजा एवं महाबलकुमार भगवान् के चरणों में उपस्थित हुए। भगवान् ने धर्मोपदेश किया। उपदेश सुनने के अनन्तर राजा तथा नागरिकों के चले जाने पर महाबल ने श्रावकोचित व्रतों का नियम ग्रहण किया। गणधरदेव के पूछने पर भगवान् ने उसके पूर्व भव का वर्णन करते हुए कहा कि वह पूर्वभव में मणिपुर नगर का गाथापति था। उस ने इन्द्रदत्त नाम के एक तपस्वी अनगार को आहारादि से प्रतिलाभित करके मनुष्यायु का बन्ध किया था, वहां की आयु समाप्त कर यह बलनरेश की धर्मपत्नी सुभद्रा देवी के गर्भ से महाबल के रूप में उत्पन्न हुआ। तथा इस भव में मुनिधर्म के अनुष्ठान से सुबाहुकुमार की भाँति सब प्रकार के कर्मबन्धनों का विच्छेद कर के इसी जन्म में मोक्षगामी बनेगा।

उत्क्षेप शब्द प्रस्तावना का बोधक है। प्रस्तावना सूत्रकार के शब्दों में—**जइ णं भन्ते! समणेणं-भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भंते! अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?**, अर्थात् जम्बू स्वामी अपने परमपूज्य गुरुदेव श्री सुधर्मा स्वामी से निवेदन करने लगे कि भगवन्! यदि यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के छठे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन्! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के सप्तम अध्ययन का क्या अर्थ फरमाया है?—इस प्रकार है। तथा **निक्षेप** शब्द उपसंहार का सूचक है। उपसंहाररूप सूत्रपाठ निम्नोक्त है—

एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। त्ति बेमि। अर्थात् श्री सुधर्मा स्वामी कहने लगे कि हे जम्बू! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के सप्तम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ फरमाया है। इस प्रकार मैं कहता हूं। अर्थात् हे जम्बू! मैंने जो कुछ कहा है वह प्रभु वीर के कथनानुसार ही कहा है, इस में मेरी अपनी ओर से कोई कल्पना नहीं की गई है।

—**तित्थयरागमणं जाव पुव्वभवो**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद—तीर्थंकर भगवान् के आने के पश्चात् बलनरेश तथा जनता एवं महाबल कुमार आदि का आना, उपदेश सुनना, उपदेश सुनने के अनन्तर

महाबल कुमार का भगवान् से श्रावकधर्म का अंगीकार करना आदि सुबाहुकुमार के अध्ययन में वर्णित विस्तृत कथासन्दर्भ का तथा''—पडिलाभिते जाव सिद्धे—''यहां पठित जाव-यावत् पद—नागदत्त गाथापति का इन्द्रदत्त मुनि का पारणा कराने के अनन्तर मनुष्य आयु का बांधना, संसार को परिमित करना और वहां से मृत्यु को प्राप्त हो जाने के अनन्तर महापुर नगर में महाराज बल के घर में महाबल के रूप में उत्पन्न होना और भगवान् महावीर स्वामी के पास दीक्षित होना आदि सुबाहुकुमार के अध्ययन में वर्णित वृत्तान्त का परिचायक है। अन्तर मात्र इतना ही है कि सुबाहुकुमार देवलोक तथा मनुष्य लोक में कई एक जन्म ले कर अन्त में महाविदेह क्षेत्र में साधु हो कर मुक्तिलाभ करेंगे जब कि महाबल कुमार प्रभु वीर के चरणों में दीक्षित हो कर इसी जन्म में सिद्ध हो गए।

ऊपर के कथासन्दर्भ से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि सुपात्र को दिया गया भावनापूर्वक निर्दोष आहार जीवन के विकास का कारण बनता है और परम्परा से इस मानव प्राणी को जन्म मरण के बन्धनों से मुक्ति दिलवाकर परमसाध्य निर्वाणपद को उपलब्ध कराने में महान सहायता प्रदान करता है। अतः मुमुक्षु प्राणियों को सुपात्रदान का अनुसरण एवं आचरण करना चाहिए, यही इस अध्याय में वर्णित जीवनवृत्तान्त से ग्रहणीय सार है।

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

अथ अष्टम अध्याय

इस अध्ययन की रचना भी सुपात्रदान के महत्त्वबोधनार्थ ही हुई है। धर्म का आराधन इस मानव प्राणी को कितना ऊंचा ले जाता है तथा उसे अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कराने में कितना सहायक होता है ? यह भद्रनन्दी के जीवनवृत्तान्तों से सहज ही में हृदयगम हो सकता है। भद्रनन्दी का विवरण निम्नोक्त है—

मूल—[1]अट्ठमस्स उक्खेवो। सुघोसं णगरं। देवरमणं उज्जाणं। वीरसेणो जक्खो। अज्जुणो राया। तत्तवती देवी। भद्दनंदी कुमारे। सिरीदेवीपामोक्खाणं पंचसयाणं रायवर-कन्नगाणं पाणिग्गहणं जाव पुव्वभवे। महाघोसे णगरे। धम्मघोसे गाहावती। धम्मसीहे अणगारे पडिलाभिते। जाव सिद्धे। निक्खेवो।

॥ अट्ठमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—**अट्ठमस्स**—अष्टम अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप – प्रस्तावना पूर्व की भान्ति जान लेना चाहिये। **सुघोसं**—सुघोष नाम का। **णगरं**—नगर था। **देवरमणं**—देवरमण नामक। **उज्जाणं**—उद्यान था। **वीरसेणे**—वीरसेन। **जक्खो**—यक्ष का आयतन—स्थान था। **अज्जुणो**—अर्जुन। **राया**—राजा था। **तत्तवती**—तत्त्ववती। **देवी**—देवी थी। **भद्दनन्दी**—भद्रनन्दी नामक। **कुमारे**—कुमार था। **सिरी-देवीपामोक्खाणं**—श्रीदेवीप्रधान। **पंचसयाणं**—५००। **रायवरकन्नगाणं**—श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण किया गया। **जाव**—यावत्। **पुव्वभवे**—पूर्वभव की पृच्छा की गई। **महाघोसे**—महाघोष नामक। **णगरे**—नगर था। **धम्मघोसे**—धर्मघोष। **गाहावती**—गाथापति था। **धम्मसीहे**—धर्म-सिंह। **अणगारे**—अनगार को। **पडिलाभिते**—प्रतिलाभित किया गया। **जाव**—यावत्। **सिद्धे**—सिद्ध हो गया। **निक्खेवो**—निक्षेप – उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिए। **अट्ठमं**—अष्टम। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—अष्टम अध्ययन का उत्क्षेप—प्रस्तावना की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये। सुघोष नामक नगर था। वहां देवरमण नामक उद्यान था। उस में वीरसेन नामक यक्ष का स्थान था। नगर में अर्जुन नाम के राजा का राज्य था। उस की तत्त्ववती रानी और भद्रनन्दी नामक कुमार था। उस का श्रीदेवीप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। उस समय तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी उद्यान में पधारे। तदनन्तर भद्रनन्दी का भगवान् से श्रावकधर्म स्वीकार करना। गणधरदेव गौतम स्वामी का भगवान् से उस के पूर्वभव के सम्बन्ध में पृच्छा करनी और भगवान् का उत्तर देते हुए फरमाना कि गौतम ! महाघोष नगर था। वहां

(१) छाया—अष्टमस्योत्क्षेपः। सुघोषं नगरम्। देवरमणमुद्यानम्। वीरसेनो यक्षः। अर्जुनो राजा। तत्त्ववती देवी। भद्रनन्दी कुमारः। श्रीदेवीप्रमुखाणां पंचशतानां राजवरकन्यकानां पाणिग्रहणम्। यावत् पूर्व-भवः। महाघोषं नगरम्। धर्मघोषो गाथापतिः। धर्मसिंहोऽनगारः प्रतिलाभितो यावत् सिद्धः। निक्षेपः।

॥ अष्टमाध्ययनम् समाप्तम् ॥

धर्मघोष नामक गाथापति रहता था। उसने धर्मसिंह नामक अनगार को प्रतिलाभित किया और मनुष्य आयु का बन्ध करके वह यहां पर उत्पन्न हुआ। यावत् उस ने सिद्धगति को उपलब्ध किया। निक्षेप की कल्पना पूर्व की भांति कर लेनी चाहिये।

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥

टीका—प्रस्तुत अध्ययन के चरितनायक का नाम भद्रनन्दी है। भद्रनन्दी का जन्म सुघोषनगर में हुआ। पिता का नाम महाराज अर्जुन और माता का नाम श्रीतत्त्ववती देवी था। भद्रनन्दी का पालन पोषण बड़ी सावधानी से हुआ। योग्य कलाचार्य के पास इस ने विद्याध्ययन किया। माता पिता द्वारा युवक भद्रनन्दी का श्रीदेवीप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुआ और भद्रनन्दी भी उन राजकुमारियों के साथ अपने महलों में सांसारिक सुखोपभोग करता हुआ सानन्द जीवन व्यतीत करने लगा।

एक दिन चरम तीर्थंकर पतितपावन भगवान् महावीर स्वामी संसार में अहिंसा का ध्वज फहराते हुए सुघोष नगर के देवरमण नामक उद्यान में विराजमान हो जाते हैं। भगवान् के पधारने की सूचना नागरिकों को मिलने की ही देर थी नागरिक बड़े समारोह के साथ वहां जाने लगे। राजा, भद्रनन्दी कुमार तथा नागरिकों के यथास्थान उपस्थित हो जाने पर भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुन कर लोग, राजा तथा नागरिक अपने २ स्थान को वापिस चले गये, तब भद्रनन्दी कुमार ने साधुधर्म को ग्रहण करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए भगवान् से श्रावकव्रतों को ग्रहण किया और तदनन्तर वह जिस रथ से आया था उस पर बैठ कर अपने स्थान को वापिस चला गया।

भद्रनन्दी के चले जाने पर गौतमस्वामी ने भद्रनन्दी की मानवी ऋद्धि के मूलकारण को जानने की इच्छा से भगवान् महावीर के चरणों में उस के पूर्वभव को बतलाने का निवेदन किया। गौतम स्वामी के विनीत निवेदन का उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे कि गौतम! यह पूर्वभव में महाघोष नगर का प्रतिष्ठित गृहपति था। इस का नाम धर्मघोष था। इस ने धर्मसिंह नाम के एक तपस्वी मुनिराज को श्रद्धापूर्वक आहार देने से जिस विशिष्ट पुण्य का उपार्जन किया, उसी के फलस्वरूप वह यहां आकर भद्रनन्दी के रूप में उत्पन्न हुआ और उसे सर्व प्रकार की मानवी सम्पत्ति प्राप्त हुई।

श्रावकधर्म और तदनन्तर साधुधर्म का यथाविधि अनुष्ठान करके श्री भद्रनन्दी अनगार ने बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा करके मोक्षपद को प्राप्त किया। इस का समस्त जीवनवृत्तान्त प्रायः सुबाहुकुमार के समान ही है, जो अन्तर है वह सूत्रकार ने स्वयं ही अपनी भाषा में स्पष्ट कर दिया है।

—**उक्खेवो**—उत्क्षेप पद प्रस्तावना का सूचक है। सूत्रकार के शब्दों में प्रस्तावना—**जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठमस्स णं भन्ते! अज्झयणस्स सुहविवागाणं समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?**, अर्थात् यदि भगवन्! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के सप्तम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन्! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के अष्टम अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है? इस प्रकार है। तथा—**निक्खेवो**—निक्षेप शब्द से अभिमत पाठ निम्नोक्त है—

एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि—अर्थात् हे जम्बू! इस प्रकार यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के अष्टम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। मैंने जैसा वीर प्रभु

सुना है वैसा ही तुम्हे सुनाया है । इस मे मेरी ओर से अपनी कोई कल्पना नही की गई है ।

—पाणिग्गहणं जाव पुव्वभवे—यहा पठित जाव-यावत् पद—श्रीभद्रनन्दी का श्री सुबाहुकुमार की भाँति अपने महलों में अपनी विवाहित स्त्रियों के साथ मानव सम्बन्धी कामभोगों का उपभोग करते हुए विहरण करना, भगवान् महावीर स्वामी का वहां आना, राजा, भद्रनन्दी तथा नगर की जनता का प्रभुचरणों मे उपस्थित होना तथा उपदेश सुन कर वापिस अपने २ स्थान को चले जाना । तदनन्तर भद्रनन्दी का साधुवृत्ति के लिये अपने को अशक्त बना कर भगवान् से श्रावकधर्म अंगीकार करना और वहां से उठ कर वापस अपने महलों में चले जाना इत्यादि भावों का तथा—पडिलाभिते जाव सिद्धे—यहां पठित जाव—यावत् पद—धर्मघोष गाथापति का ससार को परिमित करने के साथ २ मनुष्यायु का बान्धना, आयुपूर्ण होने पर महाराज अर्जुन के घर भद्रनन्दी के रूप में उत्पन्न होना । गोतम स्वामी का—भगवन् ! क्या भद्रनन्दी आपश्री के चरणों म दीक्षित होगा ?, यह प्रश्न करना, भगवान् का-हां में उत्तर देना । तदनन्तर भगवान् का विहार कर जाना, भद्रनन्दी का तेलापौषध करना, उस में भगवान् के पास दीक्षित होने का निश्चय करना । भगवान् का फिर पधारना, भगवान् का धर्मोपदेश देना, उपदेश सुन कर भद्रनन्दी का माता पिता से आज्ञा लेकर साधुधर्म को अंगीकार करना और उग्र साधना द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति करना—आदि भावों का परिचायक है ।

सुबाहुकुमार और भद्रनन्दी जी के जीवनवृत्तान्त मे इतना ही अन्तर है कि श्री सुबाहुकुमार जी देव-लोक आदि के अनेकों भव करने के अनन्तर मुक्ति में जायेंगे जब कि श्री भद्रनन्दी इसी भव में मुक्ति में पहुंच जाते हैं ।

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥

अथ नवम अध्याय

इस अध्ययन में श्री महाचन्द्र कुमार का जीवनवृत्तान्त वर्णित हुआ है। इस का पदार्थ भी पूर्व अध्ययनों के समान ही है, केवल नाम और स्थानादि में अन्तर है, जो कि नीचे के सूत्रपाठ से ही सुस्पष्ट हो जाता है –

मूल—[1]नवमस्स उक्खेवो। चम्पा नगरी। पुण्णभद्दे उज्जाणे। पुण्णभद्दे जक्खे। दत्ते राया। रत्तवती देवी। महचंदे कुमारे जुवराया। सिरीकंतापामोक्खाणं पंचसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। जाव पुव्वभवे तिगिच्छिया णगरी। जितसत्तू राया। धम्मवीरिए अणगारे पडिलाभिते जाव सिद्धे। निक्खेवो।

॥ नवमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—नवमस्स—नवम। **अज्झयणस्स**—अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्ववत् जानना चाहिए। **चंपा नगरी**—चंपा नाम की नगरी थी, वहां। **पुण्णभद्दे**—पूर्णभद्र नामक। **उज्जाणे**-उद्यान था, उस में। **पुण्णभद्दे**—पूर्णभद्र। **जक्खे**—यक्ष का स्थान था। **दत्ते**—दत्त नाम का। **राया**—राजा था। **रत्तवती**—रक्तवती। **देवी**—देवी—रानी थी। **महचंदे**—महाचन्द्र। **कुमारे**—कुमार। **जुवराया**—युवराज था। **सिरीकंतापामोक्खाणं**—श्रीकान्ताप्रमुख। **पंचसयाणं**—५००। **रायवरकन्नगाणं**—श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण हुआ। **जाव**—यावत्। **पुव्वभवो**—पूर्वभव की पृच्छा की गई। **तिगिच्छा**—चिकित्सिका नामक। **णगरी**—नगरी थी। **जितसत्तू**—जितशत्रु नामक। **राया**—राजा था। **धम्मवीरिए**—धर्मवीर्य। **अणगारे**—अनगार को। **पडिलाभिते**—प्रतिलाभित किया गया। **जाव**—यावत्। **सिद्धे**—सिद्ध हुआ। **निक्खेवो**—निक्षेप—उपसंहार की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये। **नवमं**- नवम। **अज्झयणं**—अध्ययन। **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—नवम अध्ययन का उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्व की भाँति जान लेना चाहिये। जम्बू! चम्पा नामक नगरी थी, वहां पूर्णभद्र नामक उद्यान था, उस में पूर्णभद्र यक्ष का आयतन-स्थान था। वहां के राजा का नाम दत्त था और रानी का नाम रक्तवती था, उन के युवराजपदालंकृत महाचन्द्र नाम का कुमार था, उस का श्रीकान्ताप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ था।

एक दिन पूर्णभद्र उद्यान में तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी पधारे। महाचन्द्र ने उन से श्रावक के बारह व्रतों का ग्रहण किया। गणधर देव गौतम स्वामी ने दत्त के पूर्वभव की पृच्छा की। भगवान् महावीर ने उत्तर देते हुए कहा कि चिकित्सिका नामक नगरी थी। महाराज

(१) **छाया**—नवमस्योत्क्षेपः। चम्पा नगरी। पूर्णभद्रमुद्यानम्। पूर्णभद्रो यक्षः। दत्तो राजा। रक्तवती देवी। महाचन्द्रः कुमारो युवराजः। श्रीकान्ताप्रमुखाणां पंचशतानां राजवरकन्यकानां पाणिग्रहणम्। यावत् पूर्वभवः। चिकित्सिका नगरी। जितशत्रू राजा। धर्मवीर्योऽनगारः प्रतिलाभितो यावत् सिद्धः। निक्षेपः।

॥ नवममध्ययनं समाप्तम् ॥

जितशत्रु वहां का राजा था। उस ने धर्मवीर्य अनगार को प्रतिलाभित किया। यावत् सिद्धपद-मोक्षपद को प्राप्त किया।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—अष्टम अध्ययन के अनन्तर नवम अध्ययन का स्थान है। नवम अध्ययन की प्रस्तावना को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने—**उक्खेव**—यह पद दे डाला है। उत्क्षेप पद से अभिमत प्रस्तावनारूप सूत्रांश-जइ णं भंते! **समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स णं भंते! अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?**—अर्थात् यदि भदन्त! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के अष्टम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है तो भगवन्! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के नवम अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है?—इस प्रकार है।

प्रस्तुत अध्ययन के पदार्थ में चरित्रनायक का नाम महाचन्द्र या महचन्द्र है। यह महाराज दत्त का पुत्र और रक्तवती का आत्मज तथा युवराज पद से अलंकृत था। इस का ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ था। इस की पटरानी का नाम श्री कान्तादेवी था। पूर्व भव में यह चिकित्सिका नगरी का जितशत्रु नामक राजा था। प्रजापरायण होने के अतिरिक्त यह धर्मपरायण भी था। इस ने धर्मवीर्य नाम के एक अनगार को श्रद्धापूर्वक आहारदान दिया। उस के प्रभाव से यह इस चम्पानगरी में महाचन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। जब तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी चम्पा के पूर्णभद्र उद्यान में पधारे तो महाचन्द्र ने श्रावक के बारह व्रतों का नियम ग्रहण किया, इत्यादि मोक्षपर्यन्त सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रथम अध्ययन गत सुबाहुकुमार के वर्णन के समान ही समझना चाहिए। केवल नाम और स्थानादि का अन्तर है। अन्त में यह इसी भव में सिद्ध गति को प्राप्त हो जाता है।

निक्षेप—शब्द का अर्थसम्बन्धी ऊहापोह पृष्ठ १८८ पर किया जा चुका है। प्रस्तुत में निक्षेप शब्द से अभिमत सूत्रपाठ निम्नोक्त है—

—**एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं सुहविवागाणं नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि**—अर्थात् आर्य सुधर्मा स्वामी फरमाने लगे कि हे जम्बू! यावत् मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुखविपाक के नवम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है। मैंने जैसा भगवान् से सुना था वैसा तुम्हें सुना दिया है। इस में मेरी अपनी ओर से कोई कल्पना नहीं की गई है।

—**पाणिग्गहणं जाव पुव्वभवो**—तथा—**पडिलाभिते जाव सिद्धे**—यहां पठित **जाव**-यावत् पद से संसूचित पदार्थ पीछे पृष्ठ ७०१ पर लिखा जा चुका है। अन्तर मात्र इतना ही है कि वहां श्री भद्रनन्दी का वर्णन है जब कि प्रस्तुत में श्री महाचन्द्र कुमार का। तथा वहां भद्रनन्दी के नगर का, माता पिता का, उस के पूर्वभवगत नामादि का उल्लेख है, जब कि यहां महाचन्द्र के नगर का, माता पिता का, तथा महाचन्द्र के पूर्वभवीय नाम आदि का। सारांश यह है कि नामगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है।

प्रस्तुत अध्ययन में भी सुपात्रदान को सर्वोत्तम प्रमाणित करने के लिये एक धार्मिक आख्यान की संक्षिप्तरूप से संकलना की गई है। यह नवम अध्ययन का पदार्थ है।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

अथ दशम अध्याय

यह दसवां अध्ययन भी पहले नौ अध्ययनों की भांति सुपात्रदान और संयमाराधन के परिणाम को हृदयंगम कराने के लिये एक धार्मिक कथासंदर्भ के रूप में अंकित किया गया है। इस अध्ययन में वर्णित हुए वरदत्तकुमार के जीवनवृत्तान्त का विवरण निम्नोक्त है—

मूल—[1]दसमस्स उक्खेवो। एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं साएयं णामं णगरं होत्था। उत्तरकुरू उज्जाणे। पासामिओ जक्खो। मित्तणंदी राया। सिरीकन्तादेवी। वरदत्ते कुमारे। वरसेणापामोक्खाणं पंचदेवीसयाणं रायवरकन्नगाणं पाणिग्गहणं। तित्थगरागमणं। सावगधम्मं। पुव्वभवो। सयदुवारे णगरे। विमलवाहणे राया। धम्मरुई अणगारे पडिलाभिते। मणुस्साउए बद्धे। इहं उप्पन्ने। सेसं जहा सुबाहुस्स कुमारस्स। चिन्ता। जाव पव्वज्जा। कप्पंतरे। ततो जाव सव्वट्ठसिद्धे। ततो महाविदेहे जहा दिढपतिण्णो जाव सिज्झिहिति ५। एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, त्ति बेमि। सेवं भंते!, सेवं भंते! सुहविवागा।

॥ दसमं अज्झयणं समत्तं ॥

पदार्थ—दसमस्स—दशम अध्ययन का। **उक्खेवो**—उत्क्षेप—प्रस्तावना पूर्ववत् जानना चाहिये। **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही। **जम्बू!**—हे जम्बू!। **तेणं कालेणं**—उस काल में। **तेणं समएणं**—उस समय में। **साएयं**—साकेत। **णामं**—नामक। **णगरं**—नगर। **होत्था**—था। **उत्तरकुरू**—उत्तरकुरु नाम का। **उज्जाणे**—उद्यान था, वहां। **पासामिओ**—पाशामृग नामक। **जक्खो**—यक्ष-यक्ष का यक्षायतन था। **मित्तणंदी**—मित्रनन्दी। **राया**—राजा था। **सिरीकंता**—श्रीकान्ता नामक। **देवी**—देवी अर्थात् रानी थी। **वरदत्ते**—वरदत्त नामक। **कुमारे**—कुमार था। **वरसेणापामोक्खाणं**—वरसेनाप्रमुख। **पंचदेवीसयाणं रायवरकन्नगाणं**—पांच सौ श्रेष्ठ राजकुमारियों का। **पाणिग्गहणं**—पाणिग्रहण—विवाह हुआ। **तित्थगरागमणं**—तीर्थंकर महाराज का आगमन हुआ। **सावगधम्मं**—श्रावकधर्म का अंगीकार करना।

---

(१) छाया—दशमस्योत्क्षेपः। एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये साकेतं नाम नगरमभूत्। उत्तरकुरु उद्यानम्। पाशामृगो यक्षः। मित्रनन्दी राजा। श्रीकान्ता देवी। वरदत्तः कुमारः। वरसेनाप्रमुखाणां पंचदेवीशतानां राजवरकन्यकानां पाणिग्रहणम्। तीर्थंकरागमनम्। श्रावकधर्मः। पूर्वभवः। शतद्वारं नगरम्। विमलवाहनो राजा। धर्मरुचिरनगारः प्रतिलाभितः। मनुष्यायुर्बद्धम्। इहोत्पन्नः। शेषं यथा सुबाहोः कुमारस्य चिन्ता। यावत् प्रव्रज्या। कल्पान्तरे ततो यावत् सर्वार्थसिद्धे। ततो महाविदेहे यथा दृढप्रतिज्ञो यावत् सेत्स्यति ५। एवं खलु जम्बू! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन सुखविपाकानां दशमस्य अध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः। इति ब्रवीमि। तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त!, सुखविपाकाः।

॥ दशममध्ययनं समाप्तम् ॥

पुव्वभवो—पूर्वभव की पृच्छा की गई । **सयदुवारे**—शतद्वार नामक । **णगरे**—नगर था । **विमलवाहणे राया**-विमलवाहन नामक राजा था । **धम्मरुई**—धर्मरुचि । **अणगारे**—अनगार को । **पडिलाभिते**—प्रतिलाभित किया गया, तथा । **मणुस्साउए**-मनुष्य आयु का । **बद्धे**—बन्ध किया । **इहं**-यहां पर । **उप्पन्ने**—उत्पन्न हुआ । **सेसं**—शेष वर्णन । **जहा**—जैसे । **सुबाहुस्स**—सुबाहु । **कुमारस्स**—कुमार का है, वैसे ही जानना चाहिये । चिन्ता-चिन्ता अर्थात् पौषध में भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में दीक्षित होने का विचार । **जाव**-यावत् । **पव्वज्जा**--प्रव्रज्या--साधुवृत्ति का ग्रहण करना । **कप्पंतरे**—कल्पान्तर मे—अन्यान्य देवलोकों मे उत्पन्न होगा । **ततो**—वहां से । **जाव**--यावत् । **सव्वट्ठसिद्धे**—सर्वार्थसिद्ध नामक विमान में उत्पन्न होगा । **ततो**—वहां से । **महाविदेहे**—महाविदेह क्षेत्र में जन्मेगा । **जहा**—जैसे । **दिढपतिण्णे**—दृढप्रतिज्ञ । **जाव**-यावत् । **सिज्झिहिति ५**--सिद्ध होगा, ५ । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही । **जंबू** !–हे जम्बू ! । **समणेणं**-श्रमण । **भगवया**—भगवान् । **महावीरेणं**—महावीर । **जाव**--यावत् । **संपत्तेणं**—मोक्षसंप्राप्त ने । **सुहविवागाणं**--सुखविपाक के । **दसमस्स**--दशम । **अज्झयणस्स**—अध्ययन का । **अयमट्ठे**—यह अर्थ । **पण्णत्ते**—प्रतिपादन किया है । **सेवं भंते** !—भगवन् ! ऐसा ही है । **सेवं भंते** !—भगवन् ! ऐसा ही है । **सुहविवागा**—सुखविपाकविषयक कथन । **दसमं**--दशम । **अज्झयणं**—अध्ययन । **समत्तं**—सम्पूर्ण हुआ । **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हू ।

मूलार्थ—**जम्बू स्वामी**—भगवन् ! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने यदि सुखविपाक के नवम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ वर्णन किया है तो भदन्त ! यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के दशम अध्ययन का क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

सुधर्मा स्वामी—जम्बू ! उस काल और उस समय साकेत नाम का सुप्रसिद्ध नगर था। वहां उत्तरकुरु नामक उद्यान था, उस मे पाशामृग नाम के यक्ष का यक्षायतन-स्थान था । साकेत नगर मे महाराज मित्रनन्दी का राज्य था । उस की रानी का नाम श्रीकान्ता और पुत्र का नाम वरदत्त था । कुमार का वरसेनाप्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण-विवाह हुआ था । तदनन्तर किसी समय उत्तरकुरु उद्यान मे तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का आगमन हुआ । वरदत्त ने भगवान् से श्रावकधर्म को ग्रहण किया । गणधरदेव के पूछने पर भगवान् महावीर वरदत्त के पूर्वभव का वर्णन करते हुए कहने लगे कि हे गौतम ! शतद्वार नामक नगर था । उस मे विमलवाहन नाम का राजा राज्य किया करता था । उसने धर्मरुचि नाम के अनगार को आहारादि से प्रतिलम्भित किया तथा मनुष्य आयु को बांधा । वहां की भवस्थिति को पूर्ण कर के वह इसी साकेतनगर मे महाराज मित्रनन्दी की रानी श्रीकान्ता के उदर से वरदत्त के रूप मे उत्पन्न हुआ । शेष वृत्तान्त सुबाहुकुमार की भांति समझना अर्थात् पौषधशाला मे धर्मध्यान करते हुए उसका विचार करना और तीर्थंकर भगवान् के आने पर दीक्षा अंगीकार करना । मृत्युधर्म को प्राप्त कर वह अन्यान्य अर्थात् सौधर्म आदि देवलोकों मे उत्पन्न होगा । वरदत्त कुमार का जीव स्वर्गीय तथा माननीय अनेकों भव धारण करता हुआ अन्त मे सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न होगा, वहां से च्यव कर महाविदेहक्षेत्र मे उत्पन्न हो दृढप्रतिज्ञ की तरह यावत् सिद्धगति को प्राप्त करेगा । हे जम्बू ! इस प्रकार यावत् मोक्षसंप्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने सुखविपाक के दशवे अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है। ऐसा मैं कहता हूँ ।

जम्बूस्वामी—भगवन् ! आप का यह सुखविपाकविषयक कथन जैसा कि आपने फ़रमाया है, वैसा ही है, वैसा ही है ।

॥ दशम अध्ययन समाप्त ॥

टीका—दसमस्स उक्खेवो—दशमस्योत्क्षेप — इन पदो मे सूत्रकार ने दशम अध्ययन की प्रस्तावना सूचित की है, जो कि सूत्रकार के शब्दो में—**जति णं भंते! समणेण भगवया महावीरेण जाव सपत्तेण सुहविवागाणं णवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स णं भंते! अज्झयणस्स समणेण भगवया महावीरेण जाव सपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते ?**, इस प्रकार है। इन पदों का अर्थ मूलार्थ में दिया जा चुका है।

प्रस्तुत अध्ययन का चरित्रनायक वरदत्तकुमार है। वरदत्त का जीवनवृत्तान्त भी प्राय सुबाहुकुमार के समान ही है। जहां कहीं नाम और स्थानादि का अन्तर है, उस का निर्देश सूत्रकार ने स्वय कर दिया है। यह अन्तर नीचे की पंक्तियों मे दिया जाता है –

सुबाहुकुमार—	**वरदत्तकुमार—**
१—**जन्मभूमि**—हस्तिशीर्ष।	१—**जन्मभूमि**—साकेत।
२—**उद्यान**—पुष्पकरडक।	२—**उद्यान**—उत्तरकुरु।
३—**यक्षायतन**—कृतवनमालप्रिय।	३—**यक्षायतन**—पाशामृग।
४—**पिता**—अदीनशत्रु।	४—**पिता**—मित्रनन्दी।
५—**माता**—धारिणी देवी।	५—**माता**—श्रीकान्तादेवी।
६—**प्रधानपत्नी**—पुष्पचूला।	६—**प्रधानपत्नी**—वरसेना।
७—**पूर्वभव का नाम**—सुमुख गाथापति।	७—**पूर्वभव का नाम**—विमलवाहन नरेश।
८—**जन्मभूमि**—हस्तिनापुर।	८—**जन्मभूमि** शतद्वार नगर।
९—**प्रतिलाभित अनगार**—श्री सुदत्त।	९—**प्रतिलाभित अनगार**—श्री धर्मरुचि।

इस के अतिरिक्त दोनों की धार्मिक चर्या मे कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही राजकुमार थे। दोनों का ऐश्वर्य समान था। दोनों मे श्रमण भगवान् महावीर की धर्मदेशना के श्रवण से धर्माभिरुचि उत्पन्न हुई थी। दोनों ने प्रथम श्रावकधर्म के नियमो को ग्रहण किया और भगवान् के विहार कर जाने के अनन्तर पौषधशाला मे पौषधोपवास किया तथा भगवान् के पास दीक्षित होने वालों को पुण्यशाली बतलाया एव भगवान् के पुन: पधारने पर मुनिधर्म में दीक्षित होने का सकल्प भी दोनों का समान है। तदनन्तर सयमव्रत का पालन करते हुए मनुष्य भव मे देवलोक और देवलोक से मनुष्यभव, इस प्रकार समान रूप मे गमनागमन करते हुए अन्त मे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर और वहा पर चारित्र की सम्यग् आराधना से कर्मरहित हो कर मोक्ष गमन भी दोनों का समान ही होगा। ऐसी परिस्थिति में दूसरे अध्ययन से ले कर दसवें अध्ययन के अर्थ को यदि प्रथम अध्ययन के अर्थ का सक्षेप कह दिया जाये तो कुछ अनुचित न होगा। दूसरे शब्दों मे कहे तो इन अध्ययन में प्रथम अध्ययन के अर्थ को ही प्रकारान्तर या नामान्तर से अनेक बार दोहराया गया है, ताकि मुमुक्षु प्राणी को दानधर्म और चारित्रधर्म में विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो तथा वह उन का सम्यग्रूप से आचरण करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त कर सके।

प्रश्न—सेसं जहा सुबाहुस्स—इतने कथन मे वरदत्त के अवशिष्ट जीवनवृत्तान्त का बोध हो सकता था, फिर आगे सूत्रकार ने जो —**चिन्ता जाव पव्वज्जा**—आदि पद दिये हैं, इन का क्या प्रयोजन ? अर्थात् इन के देने में क्या तात्पर्य रहा हुआ है ?

उत्तर—सेसं—इत्यादि पदों से काम तो चल सकता था, पर सूत्रकार द्वारा—**जहा—यथा**—शब्द से

—यत्तदो नित्यसम्बन्ध —इस न्याय से सम्प्राप्त **तहा** शब्द में जिन पाठों अथवा जिन बातों का ग्रहण करना अभिमत है, उन के स्पष्टीकरणार्थ ही ये —**चिन्ता** —आदि पदों का ग्रहण किया गया है। इस में उस समय की लेखनप्रणाली या प्रतिपादनशैली ही कारण कही या मानी जा सकती है।

—सावगधम्म० चिन्ता जाव पव्वज्जा—इत्यादि संक्षिप्त पाठों में मूलपाठगत आदि और अन्त के मध्यवर्ती पाठों के ग्रहण की ओर संकेत किया गया है। सूत्रकार की यह शैली रही है कि एक स्थान पर समग्र पाठ का उल्लेख करके अन्यत्र उसके उल्लेख की आवश्यकता होने पर समग्र पाठ का उल्लेख न करके आरम्भ के पद के साथ **जाव—यावत्** पद दे कर अन्त के पद का उल्लेख कर देना, जिस से कि मध्यवर्ती पदों का संग्रह करना सूचित हो सके। इसी शैली का आगमों में प्राय सर्वत्र अनुसरण किया गया है।

—सावगधम्मं०—यहां के बिन्दु पृष्ठ ५७० पर पढ़े गये—**पडिवज्जति २ त्ता तमेव रह**—इत्यादि पद का तथा—**चिन्ता जाव पव्वज्जा**—यहां पठित **जाव—यावत्** पद पृष्ठ ६४५ पर पढे गये—**धन्ने णं ते गामागर० जाव सन्निवेसा**—इत्यादि पदों का तथा—**ततो जाव सव्वट्ठसिद्धे**—यहां पठित **जाव-यावत्** से पृष्ठ ६६६ पर पढे गये—**देवलोयाउ आउक्खएणं भवक्खएणं**—इत्यादि पदों का संसूचक है।

—दिढपइण्णे जाव सिज्झिहिति—यहां पठित **जाव—यावत्** पद—औपपातिक सूत्र में वर्णित दृढप्रतिज्ञ के जीवन के वर्णक पाठ की ओर संकेत करता है। दृढप्रतिज्ञ का जीवनवृत्तान्त पीछे पृष्ठ ६७७ पर लिखा जा चुका है। तथा—**सिज्झिहिति ५**—यहां के अंक से भी अभिमत पाठ पृष्ठ ६७७ पर, तथा **महावीरेणं जाव सपत्तेणं**—यहां पठित **जाव-यावत्** पद से अभिमत—**आइगरेणं**—इत्यादि पाठ ५४३ से लेकर ५४८ तक के पृष्ठों पर वर्णित हो चुका है।

—सेवं भंते! सेवं भंते! सुहविवागा—इन पदों से जम्बू स्वामी की विनयसम्पत्ति और श्रद्धा—सभार का परिचय मिलता है। गुरुजनों के मुखारविन्द से सुने हुए निर्ग्रन्थप्रवचन पर शिष्य की कितनी आस्था होनी चाहिये?—यह इन पदों से स्पष्ट भासमान हो रहा है। जम्बू स्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! आपने जो कुछ फरमाया है, वह सर्वथा—अक्षरश यथार्थ है, असंदिग्ध है, सत्य है।

विपाकश्रुत के सुखविपाक नामक द्वितीयश्रुतस्कन्ध के दश अध्ययनों में भिन्न भिन्न धार्मिक व्यक्तियों के जीवनवृत्तान्तों के वर्णन में एक ही बात की बार २ पुष्टि की गई है। सुपात्रदान और संयमव्रत का सम्यग् आराधन मानवजीवन के आध्यात्मिक विकास में कितना उपयोगी है और उस के आचरण से मनुष्य अपने साध्य को कैसे सिद्ध कर लेता है? इस विषय का इन अध्ययनों में पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता है। विकासगामी साधक के लिये इस में पर्याप्त सामग्री है। सुपात्रदान यह दान के ऐहिक और पारलौकिक फल में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस लिये सुखविपाक के दशों अध्ययनों में इस के महत्त्व को एक से अधिक बार प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है।

अंगग्रन्थों में विपाकसूत्र ग्यारहवां अंगसूत्र है। विपाकसूत्र दुःखविपाक और सुखविपाक इन दो विभागों में विभक्त है। दुःखविपाक में मृगापुत्र आदि दस अध्ययन वर्णित हैं और सुखविपाक में सुबाहुकुमार आदि दस अध्ययन। प्रस्तुत वरदत्त नामक अध्ययन सुखविपाक का दसवां अध्ययन है। इस में श्री वरदत्त कुमार का जीवनवृत्तान्त प्रस्तावित हुआ है, जिस का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। इस अध्ययन की समाप्ति पर सुखविपाक समाप्त हो जाता है।

॥ दशम अध्याय समाप्त ॥

उपसंहार

सूत्रकार ने जैसे प्रत्येक अध्ययन की प्रस्तावना और उस का उपसंहार करते हुए उत्क्षेप और निक्षेप इन दो पदों का उल्लेख करके प्रत्येक अध्ययन के आरम्भ और समाप्ति का बोध कराया है, उसी क्रम के अनुसार श्री विपाकश्रुत का उपसंहार करते हुए सूत्रकार मंगलपूर्वक समाप्तिसूचक पदों का उल्लेख करते हैं—

मूल—(१)नमो सुयदेवयाए। विवागसुयस्स दो सुयक्खंधा—दुहविवागो य सुहविवागो य। तत्थ दुहविवागे दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जन्ति। एवं सुहविवागे वि। सेसं जहा आयारस्स।

॥ एक्कारसमं अंगं सम्मत्तं ॥

पदार्थ—नमो—नमस्कार हो। **सुयदेवयाए**—श्रुतदेवता को। **विवागसुयस्स**—विपाकश्रुत के। **दो**—दो। **सुयक्खंधा**—श्रुतस्कंध हैं, जैसेकि। **दुहविवागो य**—दुःखविपाक और। **सुहविवागो य** सुखविपाक। **तत्थ**—वहां। **दुहविवागे**—दुःखविपाक में। **दस**—दस। **अज्झयणा**—अध्ययन। **एक्कसरगा**—एक जैसे। **दससु चेव**—दस ही। **दिवसेसु**—दिनों में। **उद्दिसिज्जन्ति**—कहे जाते हैं। **एवं**—इसी प्रकार। **सुहविवागे वि**—सुखविपाक में भी समझ लेना चाहिये। **सेसं**—शेष वर्णन। **जहा**—जैसे। **आयारस्स**—आचारांग सूत्र का है, वैसे यहां पर भी समझ लेना चाहिये। **एक्कारसमं**—एकादशवां। **अंगं**—अंग। **सम्मत्तं**—सम्पूर्ण हुआ।

मूलार्थ—श्रुतदेवता को नमस्कार हो। विपाकश्रुत के दो श्रुतस्कंध हैं। जैसेकि—१—दुःखविपाक और २—सुखविपाक। दुःखविपाक के एक जैसे दश अध्ययन हैं जो कि दस दिनों में प्रतिपादन किये जाते हैं। इसी तरह सुखविपाक के विषय में भी जानना चाहिए अर्थात् उस के भी दश अध्ययन एक जैसे हैं और दश ही दिनों में वर्णन किये जाते हैं। शेष वर्णन आचारांग सूत्र की भांति समझ लेना चाहिये।

॥ एकादशवां अंग समाप्त ॥

टीका—मंगलाचरण की शिष्ट परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। ग्रन्थ के आरम्भ और समाप्ति के अवसर पर मंगलाचरण करना यह शिष्ट सम्मत आचार है। इसी शिष्ट प्रथा का अनुसरण करते हुए सूत्रकार ने सूत्र की समाप्ति पर—**नमो सुयदेवयाए**-नमः श्रुतदेवतायै—इन पदों द्वारा मंगलाचरण का निर्देश किया है। इन का अर्थ अग्रिम पंक्तियों में किया जा रहा है। किसी २ प्रति में यह पाठ उपलब्ध नहीं भी होता।

---

(१) छाया—नमः श्रुतदेवतायै। विपाकश्रुतस्य द्वौ श्रुतस्कन्धौ—दुःखविपाकः सुखविपाकश्च। तत्र दुःखविपाके दश अध्ययनानि एकसदृशानि दशस्वेव दिवसेषु उद्दिश्यन्ते। एवं सुखविपाकेऽपि। शेषं यथा आचारस्य।

॥ एकादशांगं समाप्तम् ॥

श्री विपाकश्रुत के १—दुःखविपाक और सुखविपाक ये दो श्रुतस्कन्ध[1] हैं। दुःखविपाक—जिस में दुष्ट कर्मों का दुःखरूप विपाक—परिणाम कथाओं के रूप में वर्णित हो वह दुःखविपाक है। सुखविपाक—जिस में शुभ कर्मों का सुखरूप विपाक-फल का विशिष्ट व्यक्तियों के जीवनवृत्तान्तों से बोध कराया जावे उसे सुखविपाक कहते हैं। दुःखविपाक के और सुखविपाक के दस २ अध्ययन हैं। इस प्रकार कुल बीस अध्ययनों में श्रुतविपाक नाम के ग्यारहवें अंग का संकलन हुआ है। विपाकसूत्र के पूर्वोक्त २० अध्ययनों के अध्ययनक्रम का भी सूत्रकार ने स्वयं ही स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। सूत्रकार का कहना है कि विपाकसूत्रगत दुःखविपाक के दस अध्ययन दस दिनों में बांचे जाते हैं और सुखविपाक के दस अध्ययन भी दुःखविपाक की भांति दस दिनों में प्रतिपादन किये जाते हैं।

उपसंहार में सर्वप्रथम सूत्रकार ने श्रुतदेवता को नमस्कार किया है। यह नमस्कार अभिमतग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति पर किया जाता है और यह मंगल का सूचक तथा ग्रन्थ के निर्विघ्न पूर्ण हो जाने के कारण उत्पन्न हुए हर्षविशेष का परिचायक है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि सफलता, सफल व्यक्ति को अपने इष्टदेव का स्मरण अवश्य कराया करती है। उसी के फलस्वरूप यह मङ्गलाचरण है।

श्रुतदेवता[2]—यह शब्द तीर्थंकर या गणधर महाराज का बोधक है। अर्थात् इन पदों से सूत्रकार ने अर्थरूप से जैनेन्द्र वाणी के प्रदाता तीर्थंकर महाराज तथा सूत्ररूप से जैनेन्द्रवाणी के प्रदाता गणधर महाराज का स्मरण करके अपने पुनीत श्रद्धासंभार का परिचय दिया है।

—एक्कसरगा—एक्कसरगाणि—इन पदों का अर्थ होता है-एक समान, एक जैसे। तात्पर्य यह है कि दुःखविपाक में जितने भी अध्ययन संकलित हैं वे सब एक समान हैं, इसी प्रकार सुखविपाक के दश अध्ययन भी एक जैसे हैं। यहां पर समानता परिणामगामिनी है अर्थात् प्रथमश्रुतस्कन्ध में वर्णित अध्ययनों का अन्तिम परिणाम दुःख और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वर्णित अध्ययनों का अन्तिम परिणाम सुख है। इस दुःख और सुख की वर्णित व्यक्तियों के जीवन में समानता होने से इन को एक समान कहा गया है। **अथवा** वर्णित व्यक्तियों के आचार में अधिक समानता होने की दृष्टि से भी ये एक समान-एक जैसे कहे जा सकते हैं। **अथवा** दस दिनों में इन दस अध्ययनों के वर्णन होने से इन की समानता सुतरां स्पष्ट हो जाती है। **अथवा** दुःखविपाक तथा सुखविपाक के अध्ययनों में वर्णित मृगापुत्र आदि तथा सुबाहुकुमार आदि सभी महापुरुष अन्त में परम-साध्य निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं। इस दृष्टि से भी ये सभी अध्ययन समान कहे गए हैं।

विपाकश्रुत के अध्ययनादि क्रम को विशेष रूप से जानने के लिये श्री आचारांग सूत्र का अध्ययन अपेक्षित है। यह बात—**सेसं जहा आयारस्स**—इन पदों में ध्वनित होती है। अतः जिज्ञासु पाठकों को श्री आचारांग सूत्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

सूत्रकार ने—**सेसं जहा आयारस्स**—यह कह कर जो विपाकसूत्र के शेष वर्णन को आचाराङ्ग सूत्र के समान सूचित किया है, उस से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सूत्रकार को आचाराङ्गसूत्र की विपाकसूत्र के साथ कौनसी समानता अभिमत है? तथा आचारांग सूत्र के कौनसे वर्णन के समान विपाकसूत्र का वर्णन

---

(१) श्रुत आगम या शास्त्र को और स्कन्ध उस शास्त्र के खण्ड या विभाग को कहते हैं अर्थात् आगम या शास्त्र के खण्ड या विभाग का नाम **श्रुतस्कन्ध** है। इस के अपर विभाग **अध्ययन** के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

(२) श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में श्रुतदेवता एक देवी मानी जाती है जो कि श्रुत की अधिष्ठात्री के रूप में उन के यहां प्रसिद्ध है।

समझा जाये ? इस सम्बन्ध में आचार्य अभयदेवसूरि भी मौन हैं। तथापि विद्वानों के साथ विचार करने से हमें जो ज्ञात हो सका है वह पाठकों की सेवा में अर्पित किये देते हैं। इस में कहां तक औचित्य है, यह पाठक स्वयं ही विचार करें।

नन्दीसूत्र आदि सूत्रों में वर्णित श्री उपासकदशाङ्ग आदि सूत्रों के परिचय में श्रुतग्रहण के अनन्तर उपधान तप का वर्णन किया गया है। उपधान के अनेकों अर्थों में से '—**उप समीपे धीयते क्रियते सूत्रादिकं येन तपसा तदुपधानम्। अथवा—अङ्गोपाङ्गानां सिद्धान्तानां पठनाराधनार्थमाचाम्लोपवास-निर्विकृत्यादिलक्षणं तपोविशेष उपधानम्।** अर्थात् जिस तप के द्वारा सूत्र आदि की शीघ्र उपस्थिति हो वह तप **उपधान तप** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि तप निर्जरा का सम्पादक होने से ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय तथा क्षयोपशम का कारण बनता है। जिस से सूत्रादि की शीघ्र अवगति हो जाती है तथा साथ में सूत्राध्ययन निर्विघ्नता से समाप्त हो जाता है। **अथवा** अङ्ग तथा उपाङ्ग सिद्धान्तों के पढ़ने और आराधन करने के लिये आयंबिल, उपवास और निर्विकृति आदि लक्षण वाला तपविशेष—" ये दो अर्थ उपलब्ध होते हैं, इन्हीं अर्थों की पोषक मान्यता आज भी प्रत्येक सूत्राध्ययन के साथ २ या अन्त में की जाती आयंबिल तपस्या के रूप में पाई जाती है। यह ठीक है कि वर्तमान में उपलब्ध आगमों में किस सूत्राध्ययन में कितना आयंबिल[1] आदि तप होना चाहिये ? इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं मिलता तथापि उन में उपधान तप के वर्णन से पूर्वोक्त मान्यता की प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। आगमों के अध्ययन के समय आयंबिल तप की गुरुपरम्परा के अनुसार जो मान्यता आज उपलब्ध एवं प्रचलित है, उस की तालिका पाठकों की जानकारी के लिये नीचे दी जाती है—

११—**अङ्गशास्त्र**—१—आचाराङ्गसूत्र ४० आयंबिल। २—सूत्रकृताङ्गसूत्र ३० आयंबिल। ३—स्थानाङ्गसूत्र १८ आयंबिल। ४—समवायाङ्गसूत्र ३ आयंबिल। ५—भगवतीसूत्र १८६ आयंबिल। ६—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र ३३ आयंबिल। ७—उपासकदशाङ्ग १४ आयंबिल। ८—अन्तकृद्दशाङ्ग १२ आयंबिल। ९—अनुत्तरोपपातिकदशा ७ आयंबिल। १०—प्रश्नव्याकरण ५ आयंबिल। ११—विपाकसूत्र २४ आयंबिल।

१२—**उपाङ्गशास्त्र**— १— औपपातिक ३ आयंबिल। २—राजप्रश्नीय ३ आयंबिल। ३—जीवाभिगम ३ आयंबिल। ४—प्रज्ञापना ३ आयंबिल। ५—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३० आयंबिल। ६—निरयावलिका ७। आयंबिल ७—कल्पावतंसिका ७ आयंबिल। ८—पुष्पिका ७ आयंबिल। ९—पुष्पचूला ७ आयंबिल। १०—वृष्णिदशा ७ आयंबिल। ११—चन्द्रप्रज्ञप्ति ३ आयंबिल। १२—सूर्यप्रज्ञप्ति ३ आयंबिल।

४—**मूलसूत्र** १—दशवैकालिक १५ आयंबिल। २—नन्दी ३ आयंबिल ३—उत्तराध्ययन २९ आयंबिल। ४—अनुयोगद्वार २९ आयंबिल।

---

(१) आयंबिल शब्द के अनेकों संस्कृतरूपों में से आचाम्ल, यह भी एक रूप है। आचाम्ल में दिन में एक बार रूक्ष, नीरस एवं विकृतिरहित एक आहार ही ग्रहण किया जाता है। दूध, घी दही, तेल, गुड़, शक्कर, मीठा और पक्वान्न आदि किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन आचाम्लव्रत में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस में लवणरहित चावल, उड़द अथवा सत्तू आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल किया जाता है। आजकल भूने हुए चने आदि एक नीरस अन्न को पानी में भिगो कर खाने का भी आचाम्ल प्रचलित है। इस तप में रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है। वास्तव में देखा जाए तो रसनेन्द्रिय का संयम एक बहुत बड़ा संयम है।

४ छेदसूत्र—१—निशीथ १० आयंबिल । २—बृहत्कल्प २० आयंबिल । ३—व्यवहार २० आयंबिल । ४—दशाश्रुतस्कन्ध २० आयंबिल ।

११ अङ्ग, १२ उपाङ्ग, ४ मूल और ४ छेद ये ३१ सूत्र होते हैं। आवश्यक ३२ वां सूत्र है, उस के लिये ६ आयंबिल होते हैं।

प्रस्तुत में विपाकसूत्र का प्रसंग चालू है। अतः विपाकसूत्र के अध्ययन आदि करने वाले महानुभावों के लिये गुरुपरम्परा के अनुसार आज की उपलब्ध धारणा में २४ आयंबिलों का अनुष्ठान अपेक्षित रहता है। इसी बात को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने विपाकसूत्र के अन्त में—**सेसं जहा आयारस्स**—इन पदों का संकलन किया है। अर्थात् विपाकसूत्र के सम्बन्ध में अवशिष्ट उपधान तप का वर्णन आचारांग सूत्र के वर्णन के समान जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि आचाराङ्गसूत्रगत उपधानतप तपोदाख्या समान है। जैसे आचारांग सूत्र के लिये उपधानतप निश्चित है वैसे ही विपाकसूत्र के लिये भी है, फिर भले ही वह भिन्न २ दिनों में सम्पन्न होता हो। दिनगत भिन्नता ऊपर बताई जा चुकी है।

किसी २ प्रति में **ग्रंथाग्र—१२५०** ऐसा उल्लेख देखा जाता है। यह पुरातन शैली है। उसी के अनुसार यहां भी उस को स्थान दिया गया है। ग्रंथ के अग्र को ग्रन्थाग्र कहते हैं। ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट है, और अग्र नाम परिमाण का है। तब ग्रंथ—शास्त्र का अग्र—परिमाण ग्रंथाग्र कहलाता है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थगत गाथा या श्लोक आदि का परिमाण का सूचक ग्रंथाग्र शब्द है।

प्रस्तुतसूत्र का परिमाण १२५० लिखा है अर्थात् गद्यरूप में लिखे गये विपाकश्रुत का यदि पद्यात्मक परिमाण किया जाए तो उसकी संख्या १२५० होती है। परन्तु यह कहां तक ठीक है? यह विचारणीय है। क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध विपाकसूत्र की सभी प्रतियों में प्रायः पाठगत भिन्नता सुचारुरूपेण उपलब्ध होती है, फिर भले ही वह आंशिक भी क्यों न हो।

उपलब्ध अंगसूत्रों में विपाकसूत्र का अन्तिम स्थान है तथा आप्तोपदिष्ट होने से इस की प्रामाणिकता पर भी किसी प्रकार के सन्देह को अवकाश नहीं रहता। तथा इस निर्ग्रन्थप्रवचन में जो शिक्षा प्राप्त होती है उस का प्रथम ही भिन्न २ स्थानों पर अनेक बार उल्लेख कर दिया गया है और अब इतना ही निवेदन करना है कि मानवभव को प्राप्त कर जीवनप्रदेश में अशुभकर्मों के अनुष्ठान से सदा पराङ्मुख रहना और शुभकर्मों के अनुष्ठान में सदा उद्यत रहना, यही इस निर्ग्रन्थप्रवचन से प्राप्त होने वाली शिक्षाओं का सार है। अन्त में हम अपने सहृदय पाठकों से पूज्य अभयदेवसूरि के वचनों में अपने के हार्द को अभिव्यक्त करते हुए विदा लेते हैं—

[1]इहानुयोगे यदयुक्तमुक्तं,
तद्धीधनाः द्राक् परिशोधयन्तु ।
नोपेक्षणं युक्तिमदत्र येन,
जिनागमे भक्तिपरायणानाम् ॥१॥

॥ विपाकसूत्र समाप्त ॥

(१) अर्थात् आचार्य श्री अभयदेवसूरि का कहना है कि मेरी इस व्याख्या में जो अयुक्त – युक्ति-रहित कहा गया है। जैनागमों की भक्ति में परायण—लीन मेधावी पुरुषों को उस का शीघ्र ही संशोधन कर लेना चाहिये, क्योंकि व्याख्यागत अयुक्त—युक्तिशून्य स्थलों की उपेक्षा करनी योग्य नहीं है।

प्राप्ति–स्थान

(१)

श्री जैनशास्त्रमाला कार्यालय

जेनस्थानक, लुधियाना (पंजाब)







(२)

लाला गूजरमल प्यारे लाल जैन

चौड़ा बाज़ार, लुधियाना (पंजाब)

श्री

विपाकसूत्र हिन्दीभाषाटीकासहित

का

परिशिष्ट विभाग

परिशिष्ट नं० १

प्रस्तावना तथा सूत्रव्याख्या में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१- अर्धमागधी कोष
२- अनुयोगद्वार सूत्र
३- अभिधानचिंतामणि कोष (आचार्य हेमचन्द्र)
४- अभिधानराजेन्द्र कोष
५- अष्टांग हृदय
६- अन्तकृद्दशांग सूत्र
७- आचारांग सूत्र
८- आत्मरहस्य (श्री रतनलाल जी जैन)
९- आवश्यकनिर्युक्ति
१०- इंजील (ईसाई धर्मग्रन्थ)
११- उत्तराध्ययन सूत्र (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज)
१२- उपासकदशांग सूत्र (पण्डितप्रवर मुनि श्री घासीलाल जी म०)
१३- ऋग्वेद
१४- औपपातिक सूत्र (सटीक)
१५- कबीरवाणी
१६- कर्मग्रन्थ (प० सुखलाल जी)
१७- कल्पसूत्र (सटीक)
१८- गरुड पुराण
१९- गुरुग्रंथ साहिब (सिक्ख धर्मशास्त्र)
२०- चक्रदत्त
२१- चरकसंहिता
२२- जम्बूचरित्र
२३- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र
२४- जवाहरकिरणावली (छठी किरण)
२५- जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह (अगरचंद भैरोंदान सेठिया बीकानेर)
२६- जैनसिद्धान्तकौमुदी (शतावधानी श्री रत्नचंद जी महाराज)
२७- तर्कसंग्रह
२८- तत्त्वार्थ सूत्र (पं० सुखलाल जी)
२९- तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य)
३०- दशवैकालिक सूत्र (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज)
३१- दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज)
३२- दीवाने अकबर
३३- देवागम स्तोत्र (समन्तभद्र आचार्य)
३४- धम्मपद (बौद्ध ग्रन्थ)
३५- धर्मवीर सुदर्शन (कविरत्न श्री अमरचंद जी महाराज)
३६- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
३७- नवतत्त्व
३८- नालन्दाविशालशब्दसागर (कोष)
३९- नंदीसूत्र (सटीक)
४०- पंचतन्त्र
४१- पद्मकोष
४२- प्रज्ञापना सूत्र (सटीक)
४३- प्रश्नव्याकरण सूत्र (सटीक)
४४- प्राकृतशब्दमहार्णव (कोष)
४५- भगवती सूत्र सटीक (श्री अभयदेव सूरि)
४६- भगवती सूत्र प्रथम शतक- ६ भाग (आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज)
४७- भगवती सूत्र (पं० श्री बेचरदास जी)
४८- भगवान महावीर का आदर्श जीवन (प्रसिद्धवक्ता श्री चौथमल जी महाराज)

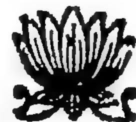
४६– भगवद्गीता
५०– मनुस्मृति (सटीक)
५१– महाभारत
५२– माधवनिदान
५३– मेघदूत
५४– योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र)
५५– राजप्रश्नीय सूत्र (सटीक)
५६– रामचरितमानस (तुलसीदास)
५७– लोक प्रकाश
५८– वंगसेन
५९– वाग्भट्ट
६०– वाणी संत तुकाराम जी
६१– वात्स्यायन कामसूत्र
६२– विपाकसूत्र (श्री अभयदेव सूरि)
६३– विपाक सूत्र (मुनि आनन्द सागर जी)
६४– विपाक सूत्र (पण्डितप्रवर मुनि श्री घासीलाल जी महाराज)
६५– विपाक सूत्र (अंग्रेजी अनुवाद सहित)
६६– वीतरागदेवस्तोत्र (आचार्य हेमचन्द्र जी)
६७– बृहत्कल्प सूत्र (सटीक)
६८– वैराग्य शतक (भर्तृहरि)
६९– बृहत् हिन्दी कोष
७०– शब्दस्तोममहानिधि (कोष)
७१– शब्दार्थचिन्तामणि (कोष)
७२– शाकटायन व्याकरण
७३– शार्ङ्गधरसंहिता
७४– शिवपुराण
७५– शिशुपालवध
७६– श्रमणसूत्र (कविरत्न श्री अमरचन्द जी महाराज)
७७– श्रावक के बारह व्रत (आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज)
७८– श्रावकाचार
७९– समवायांग सूत्र (सटीक)
८०– संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ (कोष)
८१– संक्षिप्त हिन्दीशब्दसागर (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित)
८२– सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र
८३– सिद्धहेमशब्दानुशासन (आचार्य हेमचन्द्र)
८४– सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजि दीक्षित)
८५– सुभाषितरत्नभण्डागार (संस्कृतश्लोकसंग्रह)
८६– सुश्रुतसंहिता
८७– सूयगडांग सूत्र (सटीक)
८८– सृष्टिवाद समीक्षा
८९– स्थानांग सूत्र (सटीक)
९०– हरिभद्रीयाष्टक
९१– हितोपदेश
९२– ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र (सटीक)



परिशिष्ट नं० २

विपाकसूत्रीय शब्दकोष

—:o:—



परिशिष्ठ नं० ३

श्री विपाकसूत्रीय शुद्धिपत्रक[1]

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पाउब्भूया	पाउब्भूया	१	५
वोपगत	वोपागत	१	२०
सम्पण्णे	सम्पन्ने	२	३
करोति	करेति	२	१९
पूर्व	पूर्वो	२	२५
आर	और	३	२
ग्यारवा	ग्यारहवा	३	४
बाघा	बाधा	३	१७
भी।	भी	४	३३
सूत्र	पाठ	७	५
वारय	वीरिय	७	१४
अवज्ज	अवज्झ	७	१६
व्रत	व्रत	७	२३
मनपर्यव	मन पर्यव	९	२
मन-पर्याय	मन पर्याय	९	३२
शिष्थ	शिष्य	१०	४
वन	वन	११	१३
विशिष्ठ	विशिष्ट	११	२०
ऋपभ	ऋषभ	११	३१
ऋपि	ऋषि	१४	२५
प्रचीन	प्राचीन	१४	२८
उसे	उस पर	१६	१५
की	को	१६	१५
की	का	१६	२३
प्रात	प्राप्त	१९	२३
ग्यारवे	ग्यारहवे	२०	२२
पट्टराणी	पटरानी	२२	१
सर्वर्तु०	सर्वतुक०	२२	२५
पगुलो	पगुलो	२२	२८
रहस्सियसि	रहस्सियसि	२३	२२
आकार	आकार	२४	१७
भाती	भाँति	२४	२३
निगछति	निगच्छति	२५	२०
कि ननु	कि	२६	२०
दक्षिण	दक्षिण	२६	२५
शीर्प	शीर्ष	२६	३०
भाव	भाव	२६	३४
निगच्छति्	निगच्छति	२७	५
तीयसे	तीसे य	२७	२०
तीव्र	तीव्र	२९	३३
सात्विक	सात्त्विक	३१	७
धमप्राण	धर्मप्राण	३१	१०
देना किया	देनी की	३१	१२
निष्कम	निष्कर्म	३१	१२
निगच्छन्ति	निगच्छन्ति	,,	२१
२७	के २७	,,	,,
स्त	न स्त	३२	२९
रयीन्त	रयन्ति	,,	३०
पधारने	पधारने का	३४	१३
पार	पर	,,	१६
हुआ रहा	रहा हुआ	३६	२३
तों	हो	३७	२
चापल्यभावात	चापल्याभावात्	,,	३२
अधे	अधे	३८	३४
वीत्थ	वत्थ	४०	३
श्रमण	यावत् श्रमण	४१	१
चतुविध	चतुर्विध	४३	३
पठान्तर्गत	पाठान्तर्गत	४६	३
तरिमन्	तस्मिन्	४६	१३
च हरति	चाहरति	४६	२३
सोणिय	सोणिय	४७	१
शोणिय	सोणिय	४७	२१
गातमस्स	गोतमस्स	,,	२३
स्वादिम	खादिम	४८	३२
भौंरे	भोंयरे	४९	१६
वलक	वालक	५०	११
शोणिय	सोणिय	५०	२४
रिद्ध	ऋद्ध	५२	२३

(१) प्रेस वालों की असावधानी से जो अर्धविरामचिन्ह, पूर्णविरामचिन्ह तथा संयोगचिन्ह आदि चिन्ह गिर गए है या अनावश्यक लग गए है, पाठक उन्हें स्वय सुधार कर पढने की कृपा करे। इस के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर मात्राये, ऊर्ध्वरेफ तथा अनुस्वार अस्पष्ट है या गिर गऐ हैं, पाठक उन्हे भी सुधार ले। मात्र दिग्दर्शन के लिये हम ने ऊपर मात्रा एव ऊर्ध्वरेफ से रहित कुछ शब्दों का शुद्ध रूप भी दे दिया है।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नही	नहीं	५२	३१
विजवद्धमान	विजयवर्द्धमान	५३	१५
कशचेपटा	कशाचपेटा	५३	३३
फरमया	फरमाया	५४	२७
रक्खे	रक्खे	५६	१२
ममाचर	समाचारः	५६	२४
गमेल्लोग	गामेल्लग	५७	७
तजहा	तजहा	५७	२१
यवहार	व्यवहार	५८	४
कार्यं	कार्य	५८	५
पदार्थ	मूलार्थ	५८	२१
आवयक	आवश्यक	५९	१०
निमत	निस्सृत	६०	१६
वताभिष्यन्द	वाताभिष्यन्द	६३	५
मेद	भेद	६३	२८
होता	होता है	६४	३
वणन	वर्णन	६४	५
विजववर्द्ध-	विजयवर्द्ध-	६४	२७
रट्ठकुडस्य	रट्ठकूडस्स	६५	६
यथाविध	यथाविधि	६६	८
रट्ठकुटस्स	रट्ठकूडस्स	६६	१७
सुदर	सुन्दर	६७	२८
अगमवादी	आगमवादी	७०	११
उर्व	ऊर्ध्व	७१	१४
चरक दि	चरकादि	७१	२०
वृंहणैं.	बृंहणैं	७३	३६
दुखी	दुःखी	७४	१६
याममय	यथासमय	७५	६
चिकीत्सत	चिकित्सित	७५	१६
दुखित	दुःखितः	७५	३४
दुखार्तो	दुःखार्तो	७५	३४
का	का प्राय.	७६	३
जप्पभिति	जप्पभिति	७६	११
पुव्वि	पुव्विं	७७	८
तप्पभिति	तप्पभिति	७७	६
खराणि	खाराणि	,,	१२
मग	मंग	७७	२६
गर्भ	जीव	७८	२
खराणि	खाराणि	७८	१३
दुखित	दुःखित	७९	१
अच्छितरेसु	अच्छितरेसु	८०	३
नडियो	नाडियों	८०	१०
भम्मक	भस्मक	८२	३१
अन्ध	अन्धं	८३	४
परिपूर्ण	लगभग परिपूर्ण	८३	८
उद्वग्न	उद्विग्न	८४	६
वहां	वहां	,,	१३
होन	होता	८६	४
हस्तात्तेप	हस्तक्षेप	८७	२०
तता	ततो	८९	११
ण	णं	८९	१३
चउरिदिग्गसु	चउरिंदिग्गसु	९२	५
अयन	अध्ययन	९२	३४
अधमी	अधर्मी	९३	४
भांती	भाँति	,,	३५
ओर	और	९४	१२
स्थिति	२स्थिति	९४	२३
त्रयोविशत्	त्रयस्त्रिंशत्	,,	३५
सगरोपम	सागरोपम	९५	४
गुनन	गुणन	,,	१२
उन	वहां	,,	२०
निष्कप	निष्कर्ष	,,	२१
समाचर	समाचार	९६	२४
स्थन	स्थान	,,	२६
यो नयों	योनियों	,,	३२
सूरी	सूरि	९६	३४
विचित्राकर.	विचित्राकार'	,,	३८
विरणाय	विरणाय	९७	१६-३५
सज्ञ	संज्ञा	,,	२४
आदेशानुसार अपने पाप निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त	सन्मुख अपने दोषों का निवेदन	९८	१७
का	को	९९	१
टीकाका	टीकाकार	,,	७
प्रसन	प्रसन्न	१०१	३
सक्षिप्त	संक्षिप्त	,,	१७
सक्षेप	संक्षेप	,,	२०
सव	सव	,,	२८
दुखविपाक	दुःखविपाक	१०१	३६
सेत्स्यत	सेत्स्यति	,,	३४
सर्वदुख	सर्वदुःख	,,	३६
अहिसा	अहिंसा	१०३	५
जम्बू !	जम्बू !	,,	२२
पौस्त्ये	पौरस्त्ये	,,	२३
त्रिशद्	त्रिंशद्	,,	३०
ऋद्धि०	रिद्ध०	१०४	
कणीरह-	कण्णीरह-	,,	११
स्मित	स्मितं	,,	२६
युक्त	युक्तं	,,	२७
विहित	विहितं	,,	२७
पट्टराणी	पटरानी	१०५	४
पटराणी	पटरानी	१०७	१३
शब्दो	शब्दों	,,	२०
साधरण	साधारण	,,	२८
के	की	१०९	२
महिलाओं	महिला	१११	७
जवदस्त	जबर्दस्त	,,	२७
पदाथा	पदार्थों	११२	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्ति
का	को	११२	१४
के	मे	११२	-३०
मन्तानोपादन	मन्तानोत्पादन	११३	१८
कला	कला	११४	१५
सपा	सर्पो	११४	२३
श्रीर	श्रौर	११४	३०
लिये	के लिये	११५	५
आदश	आदर्श	,,	३०
यर	यार	११६	१५
अथ	अर्थ	११८	५
सविवर्ण	सविवरण	,,	२८
आहेवच्च	आहेवन्च	,,	२६
महत्तरगत्व	महत्तरकत्व	,,	३१
ससारिक	सासारिक	११६	३
सुमद्रा	सुभद्रा	,,	३३
अधमर्णा	अधमर्णो	१२०	११
वणित	वर्णित	१२२	१
चलने	चलाने	,	१
क्रियाती	क्रियाति	१२२	२६
ओसारय	ओमारिय	१२३	१६
अन्या च	अन्याश्च	,,	२८
सत्रस्त	मत्रस्त	,,	३१
डाग	पडाग	१२४	१०
उभिक्तक	उज्भितक	१२५	१२
चुराहे	चौराहे	१२६	११
देखा	को देखा	१२८	१
गडा	गुडा	,,	४
वृत्तिकार	वृत्तिकार	,,	६
निम्नोक्त	इस प्रकार	१२६	३६
वद्धो	वद्धौ	१३०	१
दुव्यवहार	दुर्व्यवहार	१३०	२२
मुनादि	मुनादी	१३१	१७
सम्पूण	सम्पूर्ण	१३३	३
पाण	पाण	,	२१
रहावीर	महावीर	,,	२३
पासमि	पासामि	१३४	१
धम	धर्म	,,	२२
पदर्थो	पदार्थो	१३५	३
प्रत्यात्पाद-नाथम्	प्रत्ययोत्पाद-नार्थम्	,,	२५
मत्र	सूत्र	१३५	२५
सव	सर्व	१३६	१
ये	यह	,,	६
ज्ञनातिशय	ज्ञानातिशय	,,	११
वचनो	वचनो	,,	३२
नमक	नामक	१३८	४
गोशला	गोशाला	,,	८
वहा	वहा	,,	६
आखे	आखे	१३६	१४
तमि	तसि	१४१	८
देवाण०	देवाणु०	,,	१७
ए	ण	१४३	२
आमा	आसा०	,,	३
गड	गई	,,	२१
हो पूरे	पूरे हो	१४४	५
पुण्णाओ	सपुण्णाओ	१४४	१७
खजर	खजूर	१४५	१०
इक्छाओं	इच्छाओ	,	२१
हीणा	हीना	,,	२६
भेरे	मेरे	१४६	१०
सन्पन्न	सम्पन्न	१४८	३
पूति	पूर्ति	,,	७
सहायता	सहायका	,,	२०
जाने	जाने पर	,,	२५
वाछि-	वाञ्छि-	,,	२६
पोहदा	दोहदा	,,	३२
+	२	१४६	२२
कन्दन्	क्रन्दन्	१४६	२३
विपलन्	विलपन्	,,	२३
पूरे	लगभग पूरे	१५०	२
रखने लगे	रखते है	,,	११
पूरे	लगभग पूरे	१५१	१०
औद्र्वदैहिक	और्ध्वदैहिक	,,	२२
त्रिरला	त्रिशला	१५२	८
औद्र्वदैहिक	और्ध्वदैहिक	१५२	३१
जेणव	जेणेव	१५३	१२
वर्प	वर्षो	१५४	१८-३२
हस्तनापुर	हस्तिनापुर	१५५	५
सुख	सुखो	,,	२५
दोक	दोच्च	१५६	१२
परिपूर्ण	लगभग परिपूर्ण	१५७	१३
उभिक्तक	उज्भितक	१५८	२३
पूरे	लगभग पूरे	,,	१४
प्रचीन	प्राचीन	१५६	३१
सन्वन्ध	सम्बन्ध	,,	३२
मज्जनधात्री	मण्डनधात्री	१६०	१३
अन्तपुर	अन्त पुर	१६१	८
चउविह	चउव्विह	,,	१७
कुर्वाना	कुर्वाणा	,,	३२
विजयचित्र	विजयमित्र	१६४	४
ह्वो	हो	१६५	२४
लवणग्नद्र	लवणसमुद्र	१६३	२१
का	+	१६६	३
शृ घाटक	शृ गाटक	,,	२३
गया	गया था	१६७	७
महापाल	महीपाल	१६८	३२
अणाहट्टाग	अणोहट्टाग	,,	६
उालाड	उरालाड	१६६	२
उभियर्य	उज्भियय	,,	४
हीत्था	होत्था	,,	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अभ्युपन्नो।	अब्भुपपन्नो	१६६	२८
अत्यत	अत्यं त	१७१	५
भो	भा	१७२	७
नहीं	नहीं	,,	८
विक्रु	विकृत	,,	८
प्रमातिरेक	प्रेमातिरेक	,,	१२
अपनी	अपने	,,	१५
सन्दर्भित.	सन्दर्भित.	,,	२५
है। तत्पर्य कि कामध्वजा वेश्या गत अशुभ आत्म परिणाम सम्पन्न यह है होने से उज्झितकुमार	+	१७३	१५
पूति	पूर्ति	१७३	१६
कता	करता	१७४	११
गात्र	गात्रं	,,	३३
महितग	महितगत्तं	१७५	३
स्वप्नों	स्वप्नो	,,	२७
पवडवा	पकडवा	१७६	१५
आशुरोक्त'	आसुरोक्त'	१७७	१६
आशुरुक्त	आसुरोक्त	,,	१५
भिसमिमीमाण	मिसिमिसिमाण	,,	३७
परीच्छे	परोच्छे	१७८	२४
विएणाय	विएणाय	१७६	१०
विज्ञान	विज्ञक	,,	१६
या	यथा	,,	२७
समुदाचार	समाचार	,,	३०-३२-३३
भिएणे	भिन्न	१८०	१६
कमा	कर्मों	,,	२७
व्यतीत	सम्प्राप्त	१८१	१
विएणाय	विएणाय	,,	५
चूण	चूर्ण	,,	१०
माले	वाले .	,,	२१
तियग्भोगों	तिर्यग्भोगों	१८२	१७
वारह	वारहवें	,,	२२
व्यतीत	सम्प्राप्त	,,	२३
सौधम	सौधर्म	१८३	६
इछा	इच्छा	,,	२२
सग्रह	सग्रह	१८४	८
वासनाओ	वासनाओ	,,	२३
समुदायारे	समायारे	१८५	२८
के टिप्पण	की टिप्पणी	,,	२६
इतन	इतना	१८६	६
सत्कार	सत्कार	,,	१३
वोहिं	+	१८७	३२
स्कन्ध	श्रुतस्कन्ध	१८८	१७
प्राय	प्राय'	१८६	१५
पद्मीगण	पक्षिगण	,,	३१
स्वेछा	स्वेच्छा	,,	३३
दुख	दुःख	१६१	४
रहे	रहे	,,	१३
वणन	वर्णन	,,	२१
अध्ययन	अध्ययन	१६२	११
करते	कहते	१६७	२३
भिएण	भिन्न	२०१	६
वन	वन	,,	१८-२३
के टिप्पण	की टिप्पणी	२०३	१४
भान	मान	,,	२७
दुहितः	दुहितृ.	२०४	२६
शास्त्र	शास्त्र	,,	३२
अगर	नगर	२०७	३
दशनार्थ	दर्शनार्थ	,,	५
श्रशुर–	श्वशुर–	२०८	१८
शाल	श्याल	,,	१८
समायरे	समायारे	२१३	३४
का	के	२१४	६-१०
पंचविव	षड्विध	,,	१६
हुइ	हुई	२१५	४
पञ्चविव	षड्विध	,,	११
भित्र	मित्र	२१७	२६
विणेति	विणेन्ति	२१८	६
पाच	छ	२१६'	४
वार्णो	वाणों	२२०	१०
कन्धे	कन्धों	२२१	६
लिये	के लिये	२२२	१७
पचविध	षड्विध	२२५	७
के	की	,,	१५
परिपूर्ण	लगभग परिपूर्ण	,,	२२
नौ	लगभग नौ	२२६	५
सम्बन्व	सम्बन्धि	२२७	८
नौ	लगभग नौ	,,	१५
के टिप्पण	की टिप्पणी	२२८	१३
पदाथा	पदार्थों	२३१	१०
के टिप्पण	की टिप्पणी मे	,,	३४
कीयत	कियत्	२३५	२५
जीवचर्या	जीवनचर्या	२३६	२०
करे	करातं	२३८	१८
ग्रामों	ग्राम आदि	२३६	६
वहां	वहीं	२३६	२६
जीवगाह	जीवग्गाहं	२४५	१६
गये	जाते	२४७	२८
पंचविध	षड्विध	,,	३०
जासूस	जासूसों	२४८	१२
पांच	छ.	२४६	७
का टिप्पण	की टिप्पणी	२५०	३२
सेनओ	सेनओर	२५१	२४
का टिप्पण	की टिप्पणी	२५३	३५
सैनिकीं	सैनिकों	२५६	१४
अभितार्थ	अभिमतार्थ	,,	१६
महारज	महाराज	२६०	१७
दुमाध्य	दुस्साध्य	,,	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कूटकार	कूटाकार	२६१	५
विवर्ण	विवरण	२६२	२७
पाच	छ'	२६४	१८
पंचविघ	पड्विघ	,,	२७
पांच	छ	२६५	७
पचविघ	पड्विघ	,,	११
टिप्पण	टिप्पणी	,,	३४
आपति	आपत्ति	२६७	२७
चुका	चुका है	२६८	१४
सम्पति	सम्पत्ति	२७०	२४
नरेइग्गु	नेरइग्गु	२७१	२३
पर	के	२७३	१५
उस ने	उस के	२७४	१४
निसृत	निस्सृत	२७७	२५
निग्रथ	निर्ग्रंथ	२७९	३०
की	का	२८१	३३
कामों	कामों मे	२८३	१५
भेदलक्षण	दण्डलक्षण	,,	३०
वर्म	धर्म	२८४	३१
अमगारे	अणगारे	२८७	६
तस्म	तस्य	,,	३४
सहस्र	सहस्र	२८८	२०
अ गारेप	अगारेषु	,,	२६
णक	क	२८९	१०
पंचविघ	पड्विघ	२९०	३-३०
चर्या	चर्या	२९१	४
जाता	जाता है	,,	२०
जाना	जाते	,,	२७
करना	करते	,,	२८
देना	देने	,,	,,
निति	नीति	२९६	१७
पूर्वोजित	पूर्वोपार्जित	,,	१६
दस्स	तस्स	३००	२१
पचविघ	पड्विघ	३०१	३०
टिप्पण	टिप्पणी	३०३	३६
अल्यज्ञ	अल्पज्ञ	३०४	३४
विचारे	वेचारे	३०५	२
टिप्पण	टिप्पणी	३०६	४
'त्री	मत्री	,,	६
वर्ष	वर्षों	३०८	८
अम्मिग	अहम्मिए	३०९	६
अलिगित	आलिंगित	,,	२६
होगा	+	३१२	१३
के टिप्पण	की टिप्पणी	,,	१६
अधमर्पो	अधमर्णों	३१३	१८
गा	कह	३१५	२८
कल्याणेन्मु-खी	कल्याणोन्मु-खी	३१७	१५
मूख	मूर्ख	३२५	३४
के टिप्पण	की टिप्पणी	३२७	३४
वर्ष	वर्षों	३२८	२
तत.	+	,,	२३
अर्थी	अरथी	३३०	
कि	है कि	३३२	२१
वर्ष	वर्षो	३३५	११
वगान	वर्णन	,,	२४
को	+	३३६	२६
गया	+	३३७	१
पदाथ	पदार्थ	,,	४
रखना	खाना	३३९	७
ज्जो	जो	३४१	८
राज्ययोग्य	राजयोग्य	३४३	१
तिष्ठति	तिष्ठन्ति	३४५	२१
वह्य	वह्नय.	,,	२२
सर्वथा	लगभग	३४७	६
वणुलताओ	वेणुलताओं	३४८	२४
लिये	के लिये	३५१	१४
घाटति	घाटयति	,,	२८
ओधा	ऊंधा	३५३	१७
पाव	पाव	,,	२३
शरीर	शरीर मे	३५५	१६
मूइय	सूइयो	,,	१७
विन्नाय	विण्णाय	३६२	२
देवाणुप्पए	देवाणुप्पिए	३६४	५
लका	लङ्का	३७२	१७
ग	रग	,,	२७
अध्यय	अध्याय	३७४	६
पडलिसंडे	पाडलिसडे	,,	१५
सयय	समय	३७५	२
हाथो	हाथ	३७७	१८
पैरों	पैर	,,	,,
हाथ	हाथों	,,	,,
पैर	पैरों	,,	,,
देहविलका	देहवलिका	३८१	१५
पुारस	पुरिस	३८३	६
द्वाविंशत	द्वात्रिंशत	३८७	३२
प्राक्तनीय	प्राक्तन	३९०	१६
हो	ही	,,	२४
वाद	के बाद	३९१	३
से	मे भी	,,	१६
टिप्पण	टिप्पणी	,,	३६
के	से	३९६	३६
अवा	अम्बा'	३९६	१६
यग्रह	यग्रह	,,	२६
प्रजनिष्यति	प्रजनिष्यसि	,,	३०
सम्बन्धी	सम्बन्धि	३९९	२५
टिप्पण	टिप्पणी	,,	३५
हो	है	४००	२८
अद्ध	अर्द्ध	४०५	१५
न	+	,,	२७
पदों	पद	,,	२८
अ	आई	४०८	१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
प्रमाजन	प्रमार्जन	४०८	१४
३७	३६७	४०९	७
डवक्खड़ा	उवक्खड़ा	,,	१४
सबहु	सुबहु	,	२६
अथात्	अर्थात्	४११	२४
माताएं	सार्थवाह	,,	३५
सार्थवाह	माताएं	,,	३६
होना	होने	४१२	१८
के टिप्पण	की टिप्पणी	,,	३०
है	+	,,	३६
आसादन्ति	आसादेन्ति	४१३	१
हां	यहां	,,	६
विवर्ण	विवरण	,,	२१
अथ	अर्थ	,,	२३
रोगातक	रोगातङ्क	४१४	२३
शटित·त	शटितहस्त	,,	३३
दुखी	दुःखी	४१५	६
छ	कुछ	४१६	२४
रोगक्रान्त	रोगाक्रान्त	,,	२८
प्ररेणा	प्ररणा	४१९	२३
अनुभूति	अनुभूति	४२२	२६
सोचने	से सोचने	४२३	१७
की	को	,,	३३
तस्स	तस्य	४२६	३२
समद्र	समुद्र	,,	,
विवर्ण	विवरण	४२८	२५
टिप्पण	टिप्पणी	,,	२७
भरि	भूरि	४३०	१६
विवर्ण	विवरण	४३१	५
के	के कारण	,,	७
वर्ष	वर्षों	४३५	८
टिप्पण	टिप्पणी	,,	३६
का	के	४३७	१०
गभित	गर्भित	४३८	४
याज्य	त्याज्य	४४०	२६
क	का	४४१	३
लिये	के लिये	,,	६
अथ	अर्थ	४४२	४
निदित	निन्दित	,,	७
छुटता	से छूटता	,,	३४
विवर्ण	विवरण	४४५	६
शोरिक	शौरिक	४४७	२२
के टिप्पण	की टिप्पणी	४५०	३३
पाशेश्च	पाशैश्च	४५१	२६
शोरिक	शौरिक	४५६	६
व्यवहारिक	व्यावहारिक	४५७	३२
किकाल	त्रिकाल	४५८	६
पदो	पदों का	४५९	१०
विचारी	वेचारी	४६८	२७-२८
के टिप्पण	की टिप्पणी	४६९	१३
शरोभूपण	शिरोभूपण	४७०	३२
द्वीप	द्वीपों	४७१	३४
विवर्ण	विवरण	४७४	२८
किरणों	किरणे	४७५	६
आभूपण	आभूपणों	४७७	२
पृठ	पृष्ठ	४७९	८
अत	अत	४८१	३२
वाघाय	वाघाएं	४८२	१२
उतारु	उतारू	,,	३१
मिद्ध	सिद्ध	४८३	३
को	के	,,	१६
परिजणाइ	परिजाणाइ	४८४	१५
तच्छेय:	तच्छ्रेयः	,,	२३
कोवघर	कोवघरे	४८५	१३
रही	रही हो	४८६	३२
तथ	तथा	४८७	४
मरे	मेरे	,,	५
मे	ने	,,	२३
अदीपितानि	आदीपितानि	४९०	३०
वर्ष	वर्षों	४९१	३०
के टिप्पण	की टिप्पणी	,,	३५
वर्ष	वर्षों	४९२	१६
नही	नाही	४९३	२
अमोद	प्रमोद	,	१०
मानवता	दानवता	,,	१८
उतारु	उतारू	,,	२२
टिप्पण	टिप्पणी	४९४	५
उन	तज्जन्य	,,	५
टिप्पण	टिप्पणी	४९८	२-९-१०
पढ़े मे	मे पढे	,,	२
है	कि है	,,	४
पदों	पदों का	,,	२२
अणुगिहइ	अणुगिण्हइ	५००	३३
उज्जवल	उज्ज्वल	५०२	१५
अन्तगढ़	अन्तगड़	५०३	३६
१	२	५०४	१२-३२
वि	विउलं	५०५	५
दवदत्ता	देवदत्ता	५०७	२९
३७७३७	३७७३	५०७	३६
टिपण	टिप्पणी	५०८	१३
महती	महती १	,,	३२
सहस्त्र	सहस्त्र	५१०	१४
उद्वतन	उद्वर्तन	,,	१८
सहस्त्र	सहस्त्र	५१२	२७
त्वच	त्वचा	,,	१३
टिप्पण	टिप्पणी	,,	२४
जिज्ञासु	इच्छुक	५१२	३४
माज्जतां	मज्जितां	५१३	२२
आइ	आई	५१५	३३
किम्पक	किम्पाक	५१६	४
आकपण	आकर्पण	५१६	१९
राया	राजा	५२०	१२
सद्वि	सद्धि	५२०	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मन्वन्वि	सम्बन्धि	५२१	५
के टिप्पण	की टिप्पणी	,,	३१
उतारु	उतारु	५२४	२७
ओर	ओर	५२६	१४
धणदेवा	धणदेवो	,,	२२
समासरण	समोसरण	,,	२३
वधमानपुर	वर्धमानपुर	५२७	५
अस्थ	अस्थि	,,	३२
के टिप्पण	की टिप्पणी	५२६	४
वेसमणद	वेसमणदत्ते	५३०	११
वर्ष	वर्षा	५३१	३
अञ्जूश्री	अञ्जूश्री	,,	३१
टिप्पण	टिप्पणी	,,	३४
से	से उस	५३२	२३
प्रयोग	प्रयोक्ता	,,	३०
कथाङ्ग०	कथाङ्ग	५३४	२४
ह्रियड्डा	ह्रियउड्डा	५३५	२
विवर्ण	विवरण	५३५	५
टिप्पण	टिप्पणी	,,	,,
वस्तुत	अस्तुत	,,	२८
शृघाटक	शृंगाटक	,,	३२
एवमवदत	एव वदत	,,	३३
जाणिमूल	जोणिमूल	५३६	६
अजू	अञ्जू	,,	१७
गई	गई है	,,	१८
मुवशम	मुपशम	,,	२८
दश	दिशं	,,	२६
के टिप्पण	की टिप्पणी	,,	३०
उपशान्त	उपशान्त—	५३७	३
के पीड़ा	की पीडा	५३८	३
पयन्त	पर्यन्त	५४३	७
महव्वलो	महव्वलो	५५०	१६
गुणशील	गुणशिलक	५५१	२-२१
अथ	अर्थ	५५१	२४
सप्रा'त	सम्प्राप्त	,,	२६
उन	उस	५५२	१३
गुणशील	गुणशिलक	,,	१७
वालश्री	बलश्री	५५३	१०
जन	जैन	५५४	३६
टिप्पण	टिप्पणी	५५५	६
मुख	प्रमुख	५५८	२७
प्रातिदान	प्रीतिदान	५५८	२८
महारानी	रानी	५५६	१६
मगलकारी	मगलकारी	५५६	३०
भा	भी	५६१	५
पाकिस्तान	(पाकिस्तान	,,	२२
लिया	लिया)	,,	२६
वाहे	वाहे	५६३	१८
कुक्कुटो,	कुक्कुटो—	,,	१६
का	के	५६५	१
नाहि	नाही	,,	२२
की	को	५६७	५
सामान्य	उत्ताम	५६६	१४-१५
टिप्पण	टिप्पणी	५७२	३५
नाहि	नाही	५७३	२४
घमे	धर्म	५७५	६
अणव्रत	अणुव्रत	,,	१३
तात्पय	तात्पर्य	५७	७११
अनथ	अनर्थ	,,	१७
दखा	देखा	५८०	२
भूठ	भूठा	,,	१८
वतन्त	वन्त.	५८१	२६
आवश्यकनि-युक्ति	अनुयोग-द्वार	५६२	३३
उस	उस का	५६६	७
टिप्पण	टिप्पणी	६००	३४
भी	सभी	६०२	१६
भुरुडो	भुण्ड	६०३	२१
अभिसम-एणा	अभिसम-न्ना	६०४	२३
उपस्थि	उपस्थित	६०६	२
वधकता	वर्धकता	६०८	१६
आर्किपत	अकर्पित	६१०	२४
ले	से ले	६११	२०
श्रमन्	श्रमण	,,	२५
हु	हुए	६१७	१
अ	और	६२०	३३
क	की	,,	३०
कुच्छ	कुछ	६२१	४
नकस्कार	नमस्कार	,,	१२
सन्तुस्सद	सन्तुस्सइ	,,	३५
था	या	६२४	२५
लम्भिते	लाभिते	,,	३१
दिथा	दिया	६३२	३०
उठ	उठा	६३३	२८
गछेत्	गच्छेत्	६४५	२७
सुणान्ति	सुणेन्ति	६४६	१४
३०	३	६४८	३०
नाहि	नाही	६५२	६
,,	,,	६५३	६
हस	इस	६५८	२३
ववज्जि	उववज्जि	६६६	२६
लोक	देवलोक	६६८	१३
किचच्छेद	कचिच्छेद	६७४	३४
कचदो	कचिदो	६७५	३२
करेगा	करेगा और	६७५	१७
गोतम	गौतम	६८३	१३
क्रमश	क्रमश	६८६	२४
जिनदास	सुवासवकुमार	६८७	६
के	की	६८६	१६
उक्खेव	उक्खेवो	७०२	४
कुमारस्य	कुमारस्य।	७०४	२६
अध्ययन	अध्ययनो	७०६	२७
इस	इसी	७०७	,,
अन्तकृ-दशाङ्ग	अन्तकृद्दशाङ्ग	७१०	२८